चौथा संस्करण

बाराबकी के परम श्रद्धेय सत श्री प्रेम साहेब जी ने अपनी सभी पुस्तकें पारख प्रकाशक कबीर सस्थान इलाहाबाद को समर्पित कर दी है और सदैव के लिए सस्थान को प्रकाशन का अधिकार दे दिया है।

सटीक भवयान का यह चोथा संस्करण है। इस बार मैंने इसे आद्योपात दो बार पढकर भाषा सबधी सशोधन करने का प्रयास किया है।

मूल और टीका मे भक्ति, ज्ञान तथा वैराग्य रस भरा है और इसमे सामान्य मनुष्यो के व्यवहार के सुधार के लिए प्रचुर मात्रा मे सामग्री है। बीच-बीच मे रोचक दृष्टान्तो, कवित्तो, छदो एव गीतो द्वारा विषयो का जो स्पष्टीकरण किया गया है, अद्‌भुत है। सद्‌गुरु विशाल देव की मूल वाणी ही अपने आप मे अनुभव-सागर है, उसमे परम श्रद्धेय श्री प्रेम साहेब की जो भावनात्मक उत्ताल तरगे टीका-व्याख्या के रूप मे उछाले मार रही है, अत्यन्त आकर्षक एव बोधप्रद है। यह ग्रथ वैराग्यवान सत, सामान्य साधक, साधारण गृहस्थ, स्त्री, पुरुष, बालक— सबके लिए कल्याणकारी है। दूसरे मतो का खडन प्राय: न करते हुए सत्य को इतने सरल ढग से कह दिया गया है कि सहज ही हृदय मे उतर जाय। सुधी पाठक-पठिकाए इसका मनन करके अपना कल्याण करे।

कबीर सस्थान, इलाहाबाद
क्वार शुक्ल पूर्णिमा
२०५२ विक्रम

विनीत
अभिलाष दास

भूमिका

सद्गुरु श्री विशाल साहेब

ज्ञान की चर्चा तो प्राय. सब कर लेते हैं। अच्छी से अच्छी भाषा मे ज्ञान एव विवेक पर लच्छेदार भाषण कर लेना सरल काम है, परन्तु ज्ञान का सम्यक आचरण धारण करने वाले महापुरुष यदि हमारे बीच न हो, तो हम कल्याणार्थियो को आदर्श कहा मिलेगा। ज्ञान का व्यावहारिक पक्ष भी होता है—इस बात पर आस्था केसे होगी।

वस्तुत सारी ज्ञान-चर्चा आचरण ओर रहनी सम्पन्न सत पुरुषो की स्तुति हे और ऐसे महापुरुष ही मानवमात्र के लिए प्रकाशस्तम्भ हे। मानसिक ताप से उत्पीडित मानव को शीतलता पाने के आधार शीतल सत ही हे। जिनके सारे अहकार समाप्त हो जाते हं, ऐसे शीतल सन्तो द्वारा ही ससार के कल्याणार्थियो को सन्मार्ग की ओर अमोघ प्रेरणा मिलती रही हे। विश्व के प्राय· हर क्षेत्र मे समय-समय पर ऐसे महान सन्तो का प्रादुर्भाव होता रहता हे।

भारतवर्ष प्राय· सत-पुरुषो का देश है। यहा एक से एक त्यागी, तपस्वी एव ज्ञान की रहनी मे परिपूर्ण सत होते रहते हे, जिससे देश का कम-अधिक विभिन्न क्षेत्र प्रभावित होकर सन्मार्ग मे लगता रहता हे।

सद्गुरु श्री विशाल साहेब भारतवर्ष मे आधुनिक युग के ऐसे सतो मं से एक थे। आपका शारीरिक जन्म उत्तर प्रदेश के बाराबकी जिले के जफ्फरपुर ग्राम मे विक्रमी सम्वत १९४२ मे हुआ। आप श्री सीताराम वर्मा के आत्मज थे। आपका पालन-पोषण सरॅया गाव मे हुआ तथा निधन फाल्गुन कृष्ण षष्ठी विक्रमी सवत २०३[illegible] को मूजापुर ग्राम मे हुआ, जिसको अब 'विशाल नगर' नाम से भी कहा जाता हे।

श्री रघुवर साहेब नाम के सत आप[illegible] सद्गुरु थे जो बाराबकी जिले मे ही भ्रमण किया करते थे। आपको किशोरावस्था मे [illegible] श्री रघुवर साहेब मिल गये और गुरु के निर्देशन से आपकी दबी ज्ञान-वैराग्याग्नि प्रदी[illegible] हो उठी तथा आप गुरु से दीक्षा पाकर और घर-गृहस्थी का सर्वथा परित्याग करके स[illegible] के पास 'गुफा बाग' और 'बधिया बाग' नामक बाग मे साधना-तपस्या करने लगे।

बधिया बाग मे गुड पकाने का एक पुराना बडा कडाह पडा था। विशाल साहेब कभी-कभी कडाह के ऊपर आसन जमाकर बैठ जाते। आप कई दिनो भीगे हुए चना और गेहू चबाकर निभा देते और कभी-कभी कई दिनो तक नीम के कोमल पत्ते तथा अन्य फल-पत्ते और पानी पर निर्भर रहकर साधना मे लगे रहते।

आप कुछ दिनो के बाद 'बधिया बाग' छोडकर भ्रमण करने लगे। आप बाग-जगलो, नदी-तटो पर ज्यादा समय व्यतीत करते और समय-समय पर गृहस्थो के घर पर भी रह लेते

थे। आप भोजन लेने तथा उपदेश देने के लिए ही गृहस्थों के, यहां रुकते थे, शेष समय एकान्त मे व्यतीत करते थे।

आपने समाज को बैठाकर कभी उपदेश नही किया। आप जिस गाव मे जब जाते तब किसी इक्के-दुक्के विशेष समझदार व्यक्ति को ही बोध देने के लिए परिश्रम करते थे। एक तो आप किसी से विशेष बोलते नहीं थे और समझदार तथा श्रद्धालु व्यक्ति पा जाते थे तब उसे अकेले में, रात मे अर्थात एकांत मे अधिक समझाते थे। आप किसी काम को दीर्घकाल तक करने के आदी थे। अतएव जब किसी को समझाते तब उसे यदि अवसर हो तो दीर्घ समय तक समझाते रहते थे। कभी-कभी तो किसी-किसी जिज्ञासु को आपने रात को समझाना आरम्भ किया और चर्चा करते ही सुबह हो गया।

आप पहले तो दीक्षा ही नही देते थे, पीछे जब दीक्षा देने लगे तब भी शिष्यो की संख्या बढाने की चेष्टा आपने कभी नहीं की। आप गृहस्थो को भी काफी ठोक-बजा कर दीक्षा देते थे और साधु वेष देने मे तो आप बहुत सावधान थे। साधक ब्रह्मचर्य का नियम लेकर आपके पास दीर्घकाल रहकर साधना करते थे। आप विरक्त साधको को दस-दस वर्ष साधना मे कसकर साधु-वेष देते थे। आपने योग्यतानुसार किसी को इससे कम समय मे तथा किसी-किसी को इससे भी अधिक समय मे साधु-वेष प्रदान किया है।

आप किसी साधना-अभ्यास एव पुरुषार्थ को दीर्घकाल तक एकरस करने के आदी थे और यही मनुष्य की किसी भी दिशा मे सफलता की कुजी है। वे कहते थे कि किसी भी पुस्तक को अनेक बार पढ डालो तो उसका विषय हृदयगम हो जाता है। उनके लिए किसी भी पुस्तक को अनेक बार पढना सरल-सी बात थी। वे कभी-कभी एक आसन पर बैठे-बैठे वैराग्यशतक आदि ग्रथो का कई बार पाठ कर जाते थे।

वे कभी पाठशाला नही गये थे। वे जब बचपन मे वैरीसाल नाम से जाने जाते थे और माता-पिता के सरक्षण मे थे, तभी पुरोहित ने उन्हे नागरीलिपि की वर्णमाला का ज्ञान करा दिया था, बस इतनी ही उनकी पढाई थी, परन्तु निरन्तर अध्ययन, तपस्या, साधना तथा इन्द्रिय-मन के सयम के फलस्वरूप उनका अनुभवस्रोत खुल गया था। प्रतिभा के धनी थे ही, अतएव उनके रचित चार ग्रथ भवयान, मुक्तिद्वार, सत्यनिष्ठा तथा नवनियम कितने गुरुगभीर हैं—यह उनके पाठक जानते है।

वे किशोरावस्था से लेकर लगभग पचास वर्ष की उम्र तक स्वाध्याय तथा साधना मे ही प्राणपण से जुटे रहे, तब तक उन्होने कोई ग्रथ की रचना नही की थी। पचास वर्ष की उम्र के बाद वे भवयान के साखी-शब्द बोलने लगे और उन्हे शिष्यो ने लिख लेने की योजना बनाई। आप बहुत से साखी-शब्दो की रचना करके उन्हे याद कर लेते थे और उनका अनेक बार पाठ कर लेते थे तब बोल देते थे और शिष्य लोग लिख लेते थे। कहा जाता है, उन्होने पहले निम्न शब्द की रचना की थी—

हम कैसे अपना स्ववश करत नहि काम॥ टेक॥
भरमत फिरते सदा विषयन सग, चैन न आठौ याम।
जो तनधारी आप स्ववश नहि, तिन सग चहै अराम॥ १॥

विवश कामना जीव रहैं सब, इच्छा केरि गुलाम।
संस्कार मिलि योग परिश्रम, शत्रु मित्र बदलाम॥ २॥
मिलन बियोग अहे सयोगन, कस लटकत तजि धाम।
है प्रारब्धि भिन्न सबहिन कै, पुरुषारथ रहत सकाम॥ ३॥
आप आप को घात करैं सब, क्या नारी नर जीव तमाम।
महा भयानक है वन इनको, तिनसो रहौ अकाम॥ ४॥
जड कारज चल खण्ड प्रिया करि, चेतन अचल अकाम।
स्वत· अखण्ड खण्ड को पकडे, बरबस दुःख लगाम॥ ५॥
जल प्रवाह जड तत्व क्रिया यह, चेतन किये मुकाम।
देह धरत फिरि छूटत जावै, जलत कामना घाम॥ ६॥
जड की देह जडै मे मिलिगै, बदलत जेहि परिणाम।
प्रेरक चेतन जो जेहि घट मे, जानमात्र तेहि नाम॥ ७॥
सब देहन से मोह तजै अब, निज तन से उपराम।
कहैं कबीर स्ववश तब होवै, जब छोडे सुख बाम॥ ८॥

(भवयान, इच्छा परीक्षा, शब्द १०)

श्री विशाल साहेब के ग्रन्थो मे एक शब्द भी दूसरे का शोधा नहीं है। उनके ग्रथो के सारे पद उनके हृदय की मौलिक देन हैं।

विशालदेव सदैव एकान्तवासी थे। जब उनकी प्रसिद्धि बढ गयी और बहुत-से साधु तथा गृहस्थ उनके दर्शनार्थ आने लगे, तब वे सबसे एक बार मिलजुलकर और रात-बिरात सबकी नजरो से छिप कर कहीं अन्यत्र चले जाते थे। वे मनुष्यो का जमघट बटोरना नहीं चाहते थे। वे सदैव भीड को छाटने मे ही लगे रहते थे। उनके इस उदासीन व्यवहार से कितने ही आगतुको को कष्ट भी हो जाता था, परन्तु वे विचारते थे कि यदि हम इसमे सरलता का व्यवहार बरतेगे तो हमारा मार्ग रुक जाएगा। और हम स्ववश होकर ही दूसरे का हित कर सकते हैं, इसलिए जिसमे अपनी स्ववशता बनी रहे, वह निवृत्त जीवन ही श्रेयस्कर है।

इस प्रकार सबसे हटते-हटते भी विशाल देव के पास शिष्यो का एक मण्डल तैयार होने लगा। फिर शिष्यो ने विशाल देव से निवेदन किया कि कृपया आप हमसे दूर न भागे। हम लोग अलग भीड सम्हालेगे और आप कुछ दिन एक जगह स्थायी रहा करे। आपके रहने के लिए हम लोग अलग एकान्त पर्णशाला बनायेगे। शिष्यो तथा भक्तो की ओर से इस प्रकार ही प्रयास होने लगा।

जिस गाव मे श्री विशाल साहेब रहते थे, गाव के बाहर उनके लिए एक कुटिया तैयार कर दी जाती थी और वे उसमे अकेले निवास करते थे। शेष सत-ब्रह्मचारियो का निवास गाव के किसी भवन मे रहता था। पीछे-पीछे जब उनका शरीर अधिक वृद्ध होता गया तथा कुछ रोग भी लगते गये तब उनके निवास के आस-पास भी कुछ सत-ब्रह्मचारी रहने लगे।

वे जहा रहते थे वहा से भी नित्य प्रात मीलो दूर निकल जाते थे और घटो बाहर रहकर कुटी पर आते थे। वे एकान्तवास के बहुत प्रेमी थे ओर कहते थे कि यदि अधिक

एकान्त न रह मिले तो भी चौबीस घंटे मे कम से कम चार घंटे तो अवश्य एकान्त का सेवन करना चाहिए।

मनुष्य को अकेले मे ही अपनी सही दशा का ज्ञान हो सकता है। अपने गुण-दोषों का निरीक्षण, दूसरे मनुष्यो से व्यवहार मे निपटने की युक्ति, ससार की वास्तविकता के दर्शन तथा अपने चेतनस्वरूप की असगता का अनुभव, यह सब एकान्त मे ही संभव है। चाहे भौतिक विज्ञान हो, चाहे आध्यात्मिक, एकान्त तथा अकेले मे ही उन पर गहराई से विचार किया जा सकता है। इसीलिए साधन सम्पन्न संत तथा वैज्ञानिक, दोनो एकान्त प्रेमी होते हैं। अतएव मनुष्य यदि अपनी सत्यता को देखना चाहे तो वह एकान्त का सेवन करे।

जब उनकी प्रसिद्धि बढने लगी, तब दूसरे मत के साधु एवं विद्वान अपने मतवाद को लेकर उनसे लडने, उन्हे हराने या उनसे सत चर्चा करने भी आते थे और कितने लोग उनसे सत्यज्ञान-प्राप्ति की जिज्ञासा लेकर आते थे।

विशालदेव जिज्ञासु से भी सहसा बात नही करते थे। जब उसके हृदय को अच्छी तरह देख लेते थे तब उससे विशेष बात करते थे और फिर तो उसके बोध के लिए निर्णय की झड़ी लगा देते थे। जब तक जिज्ञासु के हृदय मे बात बैठ न जाय आपका अभंग परिश्रम चलता रहता था। किसी बात पर थोडी ही चर्चा करके रुक जाना आपका स्वभाव न था। भले ही कई दिन लग जाए, परन्तु जिज्ञासु के प्रति पूरा निर्णय करके ही आप अपना परिश्रम सफल समझते थे।

जो व्यक्ति उनसे विवाद करने या उन्हे हराने की मंसा से आता था, विशाल देव पहले उसका व्यवहार मे सत्कार कर-करवा देते थे। ऐसे मतवादी से जब बात करने की होती थी तब वे उसके सामने अपना सिद्धान्त निरूपण नही करते थे, अपितु उसकी बातो, सिद्धान्तो एव प्रश्नो मे प्रश्न तथा शकाएं उपस्थित करते थे।

वे किसी से जीवन पर्यन्त विवाद किये ही नही। वे निर्विवाद रहनी के प्रेमी थे, परन्तु जब कोई उनको घेर कर बात ही करना चाहता तब वे उसे अनेक प्रबल युक्तियो और तीखे तर्कों से मौन ही कर देते थे, परन्तु यह सब वे समता पूर्वक ही करते थे। उनसे प्रायः कोई दुखी होकर नहीं गया।

सद्‌गुरु विशाल साहेब बुद्धि के सागर और प्रतिभा के धनी थे। उनके प्रश्न और उत्तर दोनो स्पष्ट दर्पणवत होते थे। जब वे किसी विषय को समझाते थे, तब ऐसा लगता था कि वे हमे मानो उस तथ्य के निकट बैठा दिये हैं और मै उसका साक्षात्कार कर रहा हू। उनके अन्त.करण के प्रतिबिम्ब उनके चार ग्रन्थ हैं जिन्हे मनन करके उनकी गभीरता का आकलन किया जा सकता है।

सदगुरु विशाल साहेब का जीवन सरल और सादा था। वे जिस कमरे मे रहते थे खूटियो में रस्सी बधी रहती थी और उस रस्सी मे उनके सादे कपडे (अचला और अलफी) टगे रहते थे। खूटियो मे दो-तीन झाबे टंगे रहते थे जिनमे उनके लिए वनस्पति-औषधिया, फल, सत्तू आदि होते थे। वे मध्यवर्तीय खान-पान, पहनाव-ओढ़ाव के समर्थक एवं आचरण करने वाले थे।

सद्‌गुरु विशाल देव लगभग सौ वर्ष का जीवन व्यतीत करके शरीरान्त किये, परन्तु उन्होने अपने रहने के लिए एक भी आश्रम नही बनाया। पर उनकी सेवा मे उत्तर प्रदेश,

राजस्थान एव नेपाल (काठमाण्डू) मे करीब ५०-५५ कुटिया वन गयीं।

जसा कि सभी वैराग्यवानो की रहनी होती है, सद्‌गुरु विशाल साहेव प्रसिद्धि की कामना से रहित थे। जनसमूह से रहित लुकछिप कर रहने मे वे अच्छा मानते थे। वे प्रवृत्ति से सदैव डरते थे। वे एकान्त, निवृत्त ओर स्वच्छन्द जीवन के प्रेमी थे।

वे कहा करते थे कि कोई अपने आप को प्रपचासक्ति मे बाध कर न अपना कल्याण कर सकता हे और न दूसरे का। वही व्यक्ति स्व-पर का कल्याण कर सकता है जो स्वय मुक्त हो, स्वतत्र हो।

सबको अपने जीवन मे कोई-न-कोई शौक होता है और सद्‌गुरु विशाल देव को एकमात्र यही शौक था कि मै पूर्ण स्वतत्र एव निर्बन्ध रहू। इस शौक को उन्होने पूरा किया। गृहत्याग एव वेराग्य जीवन के आरभ से लेकर शरीरान्त तक वैराग्य की एकरस रहनी मे रहकर एव उत्तरोत्तर निष्काम स्वरूपस्थिति की गहन-गभीर अवस्था मे पहुच कर जीवन्मुक्त हो गये और लाखो मुमुक्षुओ के प्रेरणास्रोत बन गये।

पारखी सन्तों की परम्परा में विशालदेव का स्थान

सद्‌गुरु कवीर साहेब पारख सिद्धान्त के मूल आचार्य हैं। पारख सिद्धान्त का सक्षिप्त स्वरूप यह हे कि जो सबको परखता, जानता तथा थापता है, वह चेतन जीव है, अतएव वही पारख अर्थात ज्ञानस्वरूप है, वही परमसत्ता है। सद्‌गुरु कवीर ने अपने मौलिक एव अद्वितीय ग्रथ बीजक मे कहा है—

झगरा एक बढो राजाराम, जो निरुवारे सो निर्बान॥
ब्रह्म बडा कि जहाँ से आया, बेद बडा कि जिन्ह उपजाया॥
ई मन बडा कि जेहि मन माना, राम बडा कि रामहि जाना॥
भ्रमि-भ्रमि कबिरा फिरे उदास, तीर्थ बडा कि तीर्थ का दास॥

(बीजक, शब्द ११२)

अर्थात—हे मनुष्य। कोई मालिक ईश्वर है, इस बात का वहुत बखेडा बढ गया है। जो इसका निर्णय करे वही कृतार्थ होगा। मै पूछता हू ब्रह्म (ईश्वर) बडा है या इसकी कल्पना करने वाला मनुष्य जीव बडा है? यदि कहिए वेदो मे ईश्वर लिखा है, तो पूछना है कि वेद बडे हैं कि वेद के बनाने वाले मनुष्य? यदि आप कहे कि हम वेदो को अनादि तथा अपौरुषेय मानते हैं, तो मै पूछता हू कि यह मन से मानी हुई वस्तु बडी है कि मन का मानने वाला मनुष्य जीव बडा है? अतएव अब निर्णय करो कि ईश्वर वडा है कि ईश्वर को मानने वाला। भूले मनुष्य उदास होकर तीर्थो मे भटकते हैं कि वहा मेरा कल्याण होगा, परन्तु भाई, तीर्थ वडे हैं कि तीर्थो की स्थापना करके उन्हे मानने वाला मनुष्य वडा है?

उपर्युक्त पद के निष्कर्ष से सिद्ध हुआ कि सद्‌गुरु कबीर सबके कल्पक, स्थापक, ज्ञाता, द्रष्टा जीव को ही परम सत्ता मानते हैं। जीव का अर्थ यहॉ शुद्ध स्वरूप चेतन है। वह पारख रूप एव ज्ञान रूप है। जीव एक नहीं नाना हे। वे कारण-कार्य, अश-अशी, व्याप्य-व्यापक-भाव रहित शद्ध, बुद्ध, अविनाशी हैं। उनसे पृथक जड प्रकृति है, जो अपने गुण-धर्मों से

स्वचालित है और वह भी अनादि-अनन्त है। इस प्रकार जगत अनादि-अनन्त है।

जीव जड प्रकृति के अनादि सम्बन्ध मे अपने स्वरूप को भूलकर विषयासक्ति मे बधे है। सद्‌गुरु-सत्सग एवं स्वविवेक द्वारा अपने चेतन स्वरूप को जड प्रकृति से सर्वथा पृथक समझ कर जब जीव विषयो की आसक्ति से सर्वथा छूट जाता है, तब वह देह मे रहते हुए भी जीवन्मुक्त हो जाता है, और जीवन्मुक्त व्यक्ति ही देहान्त मे गमनागमन से छूट कर जड-प्रकृति से सर्वथा पृथक, निराधार एव असग हो जाता है। इस प्रकार स्वबोध प्राप्त कर जीव सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

पारख सिद्धान्त मे मनुष्य ही परम देव है तथा चेतन जीव ही परम सत्ता है। विषयासक्ति का त्याग ही भजन है तथा स्वरूपस्थिति की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ है।

सद्‌गुरु कबीर ने भूल निवृत्ति एवं मोक्षप्राप्ति के लिए पारख ही परम साधन एव औषधि कहा है—

भूल मिटै गुरु मिलै पारखी, पारख देहिं लखाई।
कहहिं कबीर भूल की औषध, पारख सबकी भाई॥

(बीजक, शब्द ११५)

इस पारख सिद्धान्त की बीजक भर मे पुष्टि है और भिन्न मतों की परख है।

सद्‌गुरु कबीर से लेकर पीछे-पीछे अगणित पारखी संत-भक्त होते रहे, परन्तु कबीर साहेब के बाद पारख सिद्धान्त के सशक्त लेखक विक्रम सवत १७००-१८०० मे फतुहा (बिहार) निवासी संत श्री गुरुदयाल साहेब हुए, जिन्होने 'कबीर परिचय' नामक पुस्तक की रचना की जो ३४६ साखियो एव ११ शब्दो से पूर्ण है। इस पुस्तक मे भी 'जीव ही परम सत्ता है'—इसका प्रतिपादन तथा मतान्तरो की समीक्षा है।

इसके वाद विक्रम सवत १७८२-१८६६ मे गया (बिहार) निवासी सत श्री रामरहस साहेब हुए जो उच्चकोटि के महात्मा होने के साथ शास्त्रो के निष्णात विद्वान थे। आपका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार फतुहा कबीर मठ और काशी कबीर चौरा से रहा है। आपने 'पंचग्रथी' नामक गहन गम्भीर एव विशालकाय ग्रथ लिखा है जो पचकोष, समष्टिसार, मानुषविचार, गुरुबोध और टकसार नामक पाच प्रकरणो में विभक्त है। इसमे परमतो का विशेष परिचय देकर सारासार विचार किया गया है और पारख सिद्धान्त का प्रबल प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रथ मे मानवधर्म, गुरुभक्ति, सतसेवा, सद्‌गुणग्रहण, दिव्यरहनी की विभूतिया एवं स्वरूपस्थिति का विस्तृत वर्णन है। पचग्रथी पारख सिद्धात की अद्‌भुत पुस्तक है जो विद्वानो को भी चकित कर देने वाली है। यह बीजक की भावात्मक टीका मानी जाती है। बीजक को समझने के लिए पचग्रंथी को समझना आवश्यक है।

इसी के बाद बिहार प्रदेशान्तर्गत ही पावा निवासी सत श्री कुजलदास जी साहेब ने पारख सिद्धान्त पर एक दूसरी पचग्रथी लिखी, जिसका कलेवर भी बडा है। वह सरल पुस्तक है।

इसी क्रम मे बुरहानपुर निवासी संत श्री पूरण साहेबजी (१८६२-१८९४) हुए, जिन्होने बीजक की त्रिज्या नाम से टीका की, तथा निर्णयसार, वैराग्यशतक एवं शब्दावली नामक मौलिक ग्रथो की रचना की। पारख सिद्धान्त के ये ग्रंथ बडे महत्व के हैं।

बुरहानपुर मे ही सत श्री काशी साहेब हुए (जिनका देहान्त सवत १९८१ मे हुआ) जिन्होने निष्पक्ष सत्यज्ञान दर्शन, तत्त्वयुक्त निजबोध विवेक, सत्यज्ञानबोध नाटक तथा जड-चेतन भेद प्रकाश लिख कर पारख सिद्धान्त के सत्सग का फाटक खोल दिया। श्री काशी साहेब के पहले के लेखक पारखी सत जीव की महत्ता और उसके मोक्षपथ पर जोर देने तथा जीव को तुच्छ कहने वाले मतो का जोरशोर से खण्डन करने की ओर ही प्रवृत्त थे। परन्तु श्री काशी साहेब ने जड-चेतन का भेद बताने तथा सिद्धान्त की प्रत्येक बात का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की।

जड से जीव कैसे पृथक है, जगत कर्तारहित अनादि कैसे है, बन्ध-मोक्ष किस प्रकार है वृक्षो मे जीव कैसे नही है (यद्यपि पचग्रथी मे इसका सूत्र है) इन सबका विवेचनात्मक वर्णन श्री काशी साहेब ने किया। इसी काल के आस-पास बुरहानपुर निवासी श्री नारायण साहेब से 'सखुनबहार दर्पण', श्री बडे प्रेम साहेब से 'तिमिर भास्कर' आदि ग्रथो की रचना हुई जो पारख सिद्धान्त की सपत्ति है।

सवत बीसवीं शतक मे अजगैवा (गोरखपुर) निवासी श्री निर्मल साहेब नामक सत बडे मेधावी तथा प्रतिभा सम्पन्न हुए। उन्होने निर्मल सत्यज्ञान प्रभाकर, न्यायनामा, बड़ा दीगर आदि लिखकर पारख सिद्धान्त को निखारने का प्रयत्न किया।

काशी कबीर चौरा के सत श्री मेही साहेब, सत श्री महाराज राघव साहेब ने बीजक-पचग्रथी आदि की टीका-व्याख्या करके पारख सिद्धान्त की बडी सेवाए कीं।

पारखी सतो एव ग्रथ रचयिताओ की परम्परा मे श्री विशाल साहेब वर्तमान युग के एक महान पुरुष है। आपके भवयान, मुक्तिद्वार, सत्यनिष्ठा एव नवनियम नामक ग्रथो मे परमत खण्डन का विषय एक प्रतिशत से भी कम है। हा, भौतिकवाद का खण्डन करके चेतनपक्ष का आपने विधिवत प्रतिपादन किया है।

भवयान, मुक्तिद्वार, सत्यनिष्ठा एव नवनियम (विशाल वचनामृत)—ये चार ग्रथ सद्‌गुरु श्री विशाल देव की आधुनिक युग मे पारख सिद्धान्त के लिए सशक्त देन है। श्री प्रेम साहेब रचित ''अपनी जागृति' तथा ''मुमुक्षु स्थिति शिक्षा प्रवाह'' के साधना एव बोधमय प्रसग सद्‌गुरु विशालदेव के अनुभव से नि सृत हैं जिन्हे उन्होने समय-समय पर मुमुक्षुओ के लिए व्यक्त किया है।

वैदिक परम्परा मे जैसे उपनिषदे अपना बडा महत्त्व रखती ह, वैसे पारख सिद्धान्त मे 'विशाल वचनामृत' अपना बडा महत्त्व रखता है। जितने दिन बीतेगे पारख सिद्धात के लेखक तथा आलोचक 'विशाल वचनामृत' के महत्व को समझेगे। विशाल वचनामृत पारख सिद्धान्त का विधिपरक ग्रथ है और उसमे सर्वांगीण शिक्षा का समावेश होते हुए आध्यात्मिकता एव स्वरूपस्थिति की गहन गभीरता की विस्तृत व्याख्या है।

सद्‌गुरु कबीर तो पारख सिद्धान्त के मूल ही हैं, परन्तु उनके बाद हम कह सकते हैं कि श्री गुरुदयाल साहेब, श्री रामरहस साहेब, श्री पूरण साहेब, श्री काशी साहेब, श्री निर्मल साहेब, तथा श्री विशाल साहेब पारख सिद्धान्त के महान व्याख्याता है। उनमे श्रीविशाल साहेब आधुनिकता के सदर्भ मे पारख सिद्धान्त के युगपुरुष है। दूसरो से छेडखानी न करते

हुए पारख सिद्धान्त की रहनी का आचरण एव उसका प्रचार किस प्रकार किया जा सकता है, इसका क्रियात्मक उपदेश विशाल देव ने मुझे दिया।

भवयान

सद्गुरु श्री विशाल साहेब ने भवयान, मुक्तिद्वार, सत्यनिष्ठा एव नवनियम—इन चार ग्रन्थो की रचना की है, और इन ग्रथो का नामकरण भी उन्होने ही किया है। परन्तु इन चारो ग्रथो का श्री प्रेम साहेब ने संयुक्त नाम दिया है—विशाल वचनामृत। यहा केवल भवयान पर कुछ चर्चा की जायगी।

भवयान पहला ग्रथ है जो अन्य तीनो से काफी बडा है। इसमे सात प्रकरण, इक्कानबे प्रसग तथा सैकडो पद एव साखियां है। इसके सातो प्रकरणो के नाम है—विनयविधान, भक्तिभरण, इच्छापरीक्षा, जगतजहर, वैराग्यवित्त, साखीसुधा-अपनाबोध तथा जड-चेतन निर्णय।

१-२. विनयविधान तथा भक्तिभरण

हर साधक को विनययुक्त (विनम्र) एव भक्तियुक्त (श्रद्धालु) होना चाहिए। साधक का हृदय बालकवत सरल होना चाहिए। मोक्षमदिर में पहुचने के लिए विनय और भक्ति प्रवेशद्वार हैं।

डॉक्टर बनने के लिए विनय एव श्रद्धायुक्त किसी डॉक्टर के पास रहकर डॉक्टरी की प्रैक्टिस करना पडता है, वकील बनने के लिए वकील के पास तथा विद्वान बनने के लिए विद्वान के पास रहकर अभ्यास करना पडता है। इसी प्रकार जीवन्मुक्त होने के लिए किसी जीवन्मुक्त के पास विनय एव भक्ति पूर्वक रहकर उनके आदेशो का पालन, आचरण एव ज्ञानाभ्यास करना पडता है। साधारण गृहस्थ भक्त तथा साधक मुमुक्षु दोनो को ससार-सागर से पार होने के लिए वैराग्यवान सतो की भक्ति ही सुदृढ नावका है। हमे विषयासक्ति से सर्वथा छूटने के लिए किसी पूर्ण अनासक्त सतपुरुष का आदर्श चाहिए और चाहिए उनमे अविचल श्रद्धा-भक्ति तथा साथ-साथ उनके प्रति सेवाभाव।

सच्चे साधक मुमुक्षु को जब पूर्ण वैराग्यवान सच्चे सत पुरुष मिल जाते है तब समझ लो उस मुमुक्षु का महाभाग्योदय हो गया। मुमुक्षु को चाहिए कि ऐसे पूर्ण अनासक्त सत पुरुष के चरणो मे अपने आपको डाल दे और बालकवत सरल बनकर उनकी गोद मे समर्पित हो जाय। किसी महात्मा पुरुष के शरणागत होकर जब साधक अपने मन को उनके मन मे मिला देता है और ऐसे सत पुरुष की रुचि ही उसकी रुचि हो जाती है, तब वह भवबधनो के जालो से ऊपर उठकर सुरक्षित हो जाता है।

जिनकी विषयासक्ति पूर्ण निवृत्त हो गयी है, जो सर्वत्र ममता और वैर से सर्वथा मुक्त है, जिनके शोक-मोह बीत गये है, जिनके मन से हानि नाम की वस्तु समाप्त हो गयी है, जो स्वरूपज्ञान की स्थिति मे महा शान्त हो गये हैं, ऐसे पूर्ण महात्मा के चरणो मे लिपट जाने का अवसर जिस साधक को मिल गया है, जो साधक ऐसे महापुरुष को अर्पित होकर विनय-भक्ति पूर्वक उनकी सेवा मे तत्पर हो गया है, वह धन्य है।

वैसे विशालदेव को गुरु के साथ रहने तथा उनकी सेवा करने का प्राय. अवसर नहीं पड़ा, परन्तु वे अपने पूर्व जन्मो मे न मालूम कितनी गुरुसेवा कर आये होगे। जैसे किसी पथिक को सो कर उठने के बाद चला हुआ रास्ता नहीं चलना पडता है, अपितु बचा हुआ रास्ता ही चलना पडता है, वैसे महान सस्कारी पुरुष चले हुए पथ से आगे बढकर शीघ्र स्वरूपस्थिति का साम्राज्य ले लेते हैं। हा, ऐसे महान सस्कारी पुरुष को भी किसी पूर्ण महात्मा के पास रहने और उनकी सेवा करने का अवसर मिल जाय, तो सोने मे सुगन्ध ही है। तीव्र सस्कारी पुरुष साधारण गुरु से भी प्रेरणा पाकर महान हो जाते हैं, परन्तु साधारण व्यक्ति महान सत की शरण पाकर ही महान बन सकता है।

श्री विशाल साहेब को अपनी साधना के आरम्भिक काल मे जिन सत-गुरुजनो के सग-साथ का अवसर पडता था, उनसे विनय-भक्ति पूर्वक व्यवहार करने मे वे निपुणता रखते थे। उनका हृदय विनय-भक्ति से पूर्ण था। श्रीविशाल साहेब गुरु से अभय दान की याचना करते हैं। वे कहते है—

"हे गुरुदेव! मुझे निर्भयता का दान दे दो, अर्थात मुझे पूर्ण निर्भय बना दो। मैं धन की चिंता न करूं, न शरीर की ममता रखू और मन की कमजोरियो को किंचित भी न रहने दू। हे गुरुवर! दुख-सुख और हानि-लाभ के जो मन मे संशय बने रहते हैं उन्हे स्वरूप बोध देकर दूर कर दीजिए ॥ १ ॥ जो लोग हमारे मन के अनुकूल हैं और हमारे शरीर की रक्षा करते हैं, उनके प्रति हमारे मन मे आसक्ति न हो। क्योकि सब प्राणी अपने-अपने हित के लिए काम कर रहे है। हमारा कोई साथी नहीं है ॥ २ ॥ मै तो अजर, अमर और अविनाशी हू। यह तो अपने स्वरूप की भूल से दृश्यप्रपच की अहता का महान भ्रम खडा हो गया है। इन देहादिक दृश्यप्रपचो के सम्बन्ध के कारण ही अन्य प्राणी-पदार्थो का सम्बन्ध है, परन्तु हे गुरुदेव! मेरा यह भार उतार लो ॥ ३ ॥ मैं अपने मोक्ष कार्य की सिद्धि मे परिश्रम से न डरू। जो मेरा मन सुखाध्यास-वश मान-भोग चाहता है, उसका शमन कर दू। मैं मान-भोग की इच्छा से विरत हो जाऊ ॥ ४ ॥ सारे अहकारो का मूल शरीर विवशतापूर्ण है और सब प्रकार से नाशवान है। इसका भोग अदृश्य है। किस क्षण इस शरीर पर क्या बला आ जाय, कौन जानता है! असख्य जन्मो के बीच मे भी मै 'सबसे निष्काम होकर स्वस्वरूप मे स्थित होना' रूपी अपना मुख्य काम नहीं सिद्ध कर सका। परन्तु इस काम मे आज किंचित भी ढिलाई न करू ॥ ५ ॥ असयम से तो रोग बुलाऊ ही नहीं, परन्तु प्रारब्ध वश शरीर पर आये हुए रोग जो कल्याण साधना के पुरुषार्थ मे विघ्न उपस्थित करते है, उनकी भी परवाह न करू। अपितु ज्ञान की अग्नि से उन सारे विघ्नो को भस्म कर दूं। स्वरूपस्थिति-प्राप्ति की अटल निश्चयता मे विषय-सुख की आशा अवश्य टल जायेगी। मैं अपने कल्याण के लिए अपने आपको पुरुषार्थ मे समर्पित कर रहा हू ॥ ६ ॥ मैंने उपर्युक्त जो कुछ कहा है, मै उसी प्रकार अपने कर्तव्यो मे उतारू। उसमे जरा भी न पछतावा करू और न पीछे हटू। हे गुरुदेव! मेरी उपर्युक्त अभिलापा पूर्ण करके मुझे ससार-सागर से पार उतार दीजिए ॥ ७ ॥ मूल वचन इस प्रकार है—

गुरु मोहि दान अभय दै डारो ॥ टेक ॥
धन की फिकिरि न तन की ममता, मन की आह निकारो।
दुख सुख हानि लाभ की सशय, दै सतबोध निवारो ॥ १ ॥

मन अवलम्बी तन के रक्षक, तिन असनेह संहारो।
निज निज हित को काज करैं सब, नहिं कोइ साथ हमारो॥ २॥
अजर अमर अविनाशी हम हैं, भूल दृश्य भ्रम भारो।
तेहि के हित संयोग सबन से, यह मम भार उतारो॥ ३॥
निज कारज के सफल होन मे, नहि परिश्रम निहारो।
सुखाध्यास हित मान चहौं जो, तेहि परवाह न धारो॥ ४॥
बिबश शरीर नाश सब बिधि से, तेहि को भोग अगारो।
जन्म जन्म के काज सिद्धि हित, नहि हम वार निवारों॥ ५॥
प्रारब्धि कष्ट पुरुषारथ रोकै, तेहि को ज्ञान से जारों।
निश्चय अटल टलै सुख आशा, निज हित निज को हारों॥ ६॥
जस यह कहौं करौं मैं तैसहि, नहिं पछिताव लहारो।
यह अभिलाष पूर करिं गुरुवर, भव से पार उतारो॥ ७॥

(भवयान, विनय विधान, शब्द ८)

उपर्युक्त शब्दो को कह देना कोई बड़ी भारी बात नहीं है। अनेक विद्वान् या साधारण लोग भी इससे अधिक सुगठित और सुव्यवस्थित ज्ञान-वैराग्य के पद कह सकते है और कहते रहते हैं। विशेषता यह है कि श्री विशाल साहेब इन शब्दो के अनुसार अपना जीवन बनाये थे। श्री विशाल साहेब के विनय तथा भक्ति के पदो मे भी ज्ञान तथा वैराग्य के रस पूर्ण है।

३. इच्छा परीक्षा

कुछ पाने की ललक इच्छा है। जीव से जो कुछ अलग है, सब विषय है। इन विषयो की इच्छाओ मे जीव निरन्तर भटकता रहता है। सारी विषय इच्छाए मृगतृष्णा मात्र हैं।

जीव अपने पूर्ण तृप्त स्वरूप को भूल कर विषयो की इच्छा करता है। इच्छा से भोगो मे प्रवृत्त होता है और भोगो को भोगने से इच्छाए बलवती होती हैं। इस प्रकार भूल से इच्छा, इच्छा से भोग तथा भोगो से इच्छाओ की वृद्धि, यह ऐसा भयकर चक्कर है कि इसमें पडे हुए व्यक्ति का न कभी उद्धार है न उसे सुख-शाति।

भोगो से इच्छाए पूरी नही होती, अपितु वे बढती हैं और इच्छाओ की धारा मे पडा व्यक्ति सुखी नही हो सकता, उन्होने कहा है—

जग सुख सब जेहि को मिलै, तबहुँ न इच्छा पूर।
जेहि उतपति तेहि से भई, ताहि मिले कस दूर॥

(मुक्तिद्वार, ६/३२)

अर्थात इस व्यक्ति को ससार के सारे सुख भोग मिल जाय, तब भी इसकी इच्छाए पूरी न होगी। क्योकि जिन इच्छाओ की उत्पत्ति भोगो से हुई है, उन्ही भोगो मे लगने से इच्छाए कैसे पूर्ण होंगी।

इस प्रकरण मे मन का सूक्ष्म विश्लेषण हे। आध्यात्मिक दृष्टि से मन की सूक्ष्म परख की गयी है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि की निरर्थकता पर विस्तृत विचार किया गया हे।

सब जीव सुख की इच्छा मे दुखी हैं ओर सद्गुरु विशाल साहेब कहते हैं कि विषयो मे सुख नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। बिना भूख के भोजन मे तथा विना प्यास के पानी मे सुख नही लगता। अघाये हुए व्यक्ति को भोजन तथा तृप्त को पानी दो, तो उसे वे बुरे लगेगे। बिना रोग हुए रोगनिवृत्ति जनित सुख कहा मिलेगा। क्या कोई व्यक्ति रोगनिवृत्ति जनित सुख के लिए पहले रोग को निमत्रण देगा।

वस्तुत इच्छा उठने पर जीव चचल होकर दुखी हो जाता है। जब उसे इच्छानुकूल भोग मिल जाते हैं ओर वह उन भोगो के भोगने मे लग जाता है, तब उस भोग-क्रिया मे इच्छाए दब जाती है और इस प्रकार इच्छाओ के शात होने से उसे सुख की अनुभूति होती हे। यह सुख है इच्छा की तृप्ति एव अपनी स्थिरता का, परन्तु व्यक्ति समझता हे कि सुख भोगो से आ रहा है, "है सुख निज स्थिरता केरा। मानत भूलि के विषयन हेरा॥"

भोग-क्रिया मे जो इच्छा की तृप्ति-सी लगती हे, वही इच्छा की वृद्धि का कारण है। जेसे एक दौडता हुआ आदमी थक कर रुक जाय ओर रुकने मे उसे विश्रान्ति लगे, परन्तु विश्रान्ति से पुन॰ शक्ति भरकर दौडने लगे, तो उसका रुकना दोडने के लिये शक्ति-ग्रहण (पावर चार्जिग) मात्र हुआ। इच्छा मे दौडता हुआ व्यक्ति भोग-क्रिया मे रुक कर पुन॰ इच्छाओ के पीछे दौडने के लिये शक्ति भरता है, और इस प्रकार भोगी व्यक्ति अपार इच्छाओ के जाल मे पडा हुआ भटकता रहता है। इसीलिये सद्गुरु विशाल साहेव ने कहा ह कि "भोगे सुख सव छिन रहत दुखी" (भवयान ३/४०)। अर्थात व्यक्ति मुख माने हुए विपयो का उपभोग हर क्षण करता हे, परन्तु हर क्षण दुखी भी बना रहता हे, क्योकि इच्छाए पूरी नहीं होतीं।

एक व्यक्ति खाली-खाली बैठा घबराता है और 'पने मन की वेचैनी समाप्त करने के लिए ताश खेलने लगता है। जब ताश खेलने मे उसकी आसक्ति बन जाती हे, तव उसे बिना ताश खेले रहा नही जाता। व्यक्ति ने जिम्र विषय को बेचेनी दूर करने का साधन वनाया, वही बेचैनी का कारण बन कर बेठ गया।

व्यक्ति भूल-वश यह नही जानता कि मेरा स्वरूप अजर, अमर, अखण्ड और निराधार (असग) है। जितनी इच्छाए हैं, मन के भीतर हैं और व्यक्ति के अपने शुद्ध चेतन स्वरूप से मन सर्वथा पृथक हे। इसलिए व्यक्ति का जो अपना सच्चा स्वरूप हे वह मन तथा इच्छाओ से सर्वथा रहित है। व्यक्ति जब इस भेद को तत्वत. समझ लेता है, तब वह इच्छाओ से ऊपर उठकर परम शान्ति का अनुभव करता है।

विषयो मे सुख का भ्रम होने से मनुष्य उनकी इच्छाओ के जाल मे फसता हे। जब उसे पता चल जाता है कि विषयो मे सुख की कल्पना एक धोखा हे, छलावा है, तव वह इच्छाओ को छोडकर सुखी हो जाता है।

ससार मे अनेक ऐसे पदार्थ है जिन्हे हम न सुने हे, न देखे हें और न भोगे है। उनके विषय मे हमे कोई इच्छा नहीं होती। परन्तु जिन विषयो को हमने देख, सुन तथा भोग लिया है उनके विषय मे हमे इच्छा हो जाती है। हम जिस विषय को जितना अधिक भोगते हैं

उसके विषय मे हमे उतनी ही अधिक इच्छा होती जाती है। अतएव हम निरर्थक आदतों को बनाकर इच्छा के जाल मे पड़े हैं।

जब व्यक्ति को अपने स्वरूप का ठीक ज्ञान हो जाता है और वह यह समझ लेता है कि मेरा स्वरूप मन तथा तज्जनित इच्छाओ के जाल से सर्वथा पृथक शुद्ध बुद्ध चेतन है और इस प्रकार समझदारी के अनुसार जब व्यक्ति दीर्घकाल तक साधना करके स्ववश हो जाता है तब वह अपने आपको इच्छाओ के जाल से छूटा हुआ पाता है।

मन को इच्छाओं से मुक्त करके स्वरूपस्थिति मे शान्त होने का साहस आपको निम्न पद मे मिल सकता है—

"हे मन! हम जानते हैं कि तुम हमे भुलाने के लिए ठेका (जिम्मेदारी) लेकर बैठे हो। परन्तु हम विषयो की इच्छाओं से तुम्हारा वैराग्य करायेगे। हम तुम्हे उन विषयो की परख करा देगे कि वे सारहीन, दुखपूर्ण एव क्षणभंगुर हैं। विषयो मे दुखदर्शन कराकर हम तुम्हे पदे-पदे सावधान करेगे। जो विषयो मे सुख की कल्पना की जाती है वह सर्वथा झूठी है। हे मन! यह सब जान जाने पर तुम विषय-भोगों की ओर कैसे जाओगे? ॥ १ ॥

"साधनापथ मे अनन्त स्थायी सुख है—इस लोभ मे हम तुम्हे बाध देगे। भोगरहित जीवन प्रपंचरहित जीवन है। अतएव हम तुम्हे निरुपाधि शय्या पर लेटा देगे और निश्चिन्तता के विधिवत पखे चलाकर तुम्हे सुला देगे, और इस निर्विषय, इच्छारहित, निरुपाधि, निश्चिन्त सुख का बारम्बार स्मरण करायेगे॥ २॥

"जब तुम उक्त स्थिति से चचल होने लगोगे, तब हम तुम्हे गुरुनिर्णय युक्त काम बतायेगे। जैसे सेवा, सत्सग, स्वाध्याय आदि। यदि तुम इसमे आनाकानी करोगे, तो तुमको खदेड कर पकडेगे और खीच लायेगे और उक्त साधनाओ में तुम्हे बलपूर्वक लगा देगे और हम इस हठ को नहीं छोडेगे॥ ३॥

"बीडी, तम्बाकू, गाजा, भाग, शराब, कबाब, नाच, रग, सिनेमा, फैशन, मैथुन आदि जिन विषयो मे तुम्हे सुख का निश्चय है तुम सदैव उन्हीं की खोज में रहते हो। उसी प्रकार प्राणपण से तुम्हे कल्याणमार्ग की साधना मे अर्पित होना पडेगा और इतना होना पडेगा कि तब शान्ति और उसकी साधना के अतिरिक्त तुम्हे कुछ अच्छा न लगे। हे मन! विषयो की सारी सारहीनता की परख कराकर हम तुमसे उन्हे दूर कर देगे॥ ४॥

"हे मन! तुम जहा अपना कल्पित लाभ देखते हो, वहा तुरन्त दौड जाते हो। तुम्हारा स्वार्थ पूर्ण होना चाहिए, फिर दूसरे को दुख मिले या सुख, उसकी हानि हो या लाभ—इसकी तुम्हे परवाह नहीं। परन्तु हे मन! हम तुम्हे ऐसा सच्चा पथ बता देगे कि अपने स्थिर गतव्य पर पहुच कर शान्त हो जाओगे ॥ ५॥

"हे मन! तुम्हारे मे पूर्ण विवेक उदय हो जाने पर जब तुम्हे विषय-विकारो मे कही किचित भी सुख का स्थान नही दिखेगा, तब तो विषयो से मुडकर तुम अपने आप शात हो जाओगे, और तुम्हारा भटकना समाप्त हो जायगा। हे मन! हम तुमसे यही करायेगे॥ ६॥

"हम! तुम्हारा सहारा लेकर ही बलपूर्वक तुम्हारा विनाश कर डालेगे, फिर तो वासना तथा तज्जनित गमनागमन कीं समाप्ति हो जायेगी। मन का देखने वाला स्वय मै शुद्ध चेतन

अपने आप ही स्थित हो रहूगा, फिर सारा उपद्रव समाप्त हो जायेगा और केवल मैं स्वतः पारख स्वरूप शेष रहूगा ॥ ७ ॥

"जहा तक इच्छाए चलती है, वे ही बधन हैं। साधक का काम है इन्हे परीक्षा कर-करके छोडता रहे। इच्छाए ही मन को बाहर भटकाती है। यदि वे छूट जाये तो मन कहीं चचल न होगा। इच्छारहित होने पर तो मन स्मरण रहित होकर शात रहता है ॥ ८ ॥

"मोक्षसाधक का काम है कि सारी मान्यताओ, अहता-ममताओ एव विषयो मे सुख की आशाओ का सर्वथा परित्याग करे और उनकी क्रिया (भोग) का भी सर्वथा त्याग करे। रहा शरीर निर्वाह । उसे आसक्ति रहित होकर बेगारवत वर्तमान कर दे। वासना-इच्छा ही जन्मादि का बीज है और उसे ज्ञानाग्नि से भस्म कर दे। फिर धोखे से अपनी मानी हुई देह का बन्धन कट जायगा और जीव मुक्त हो जायगा ॥ ९ ॥" *(भवयान, इच्छापरीक्षा, शब्द ९)*

४ जगत जहर

जो जायमान हो, गत हो—बने और बिगडे, उसे जगत कहते है। वह जगत जड, विकारी एव परिवर्तनशील है। परतु व्यक्ति का अपना चेतन स्वरूप शुद्ध शात एव जगत से सर्वथा रहित है। इसका आनुभविक प्रमाण सुषुप्ति तथा समाधि मे मिलता है।

ऐसा होते हुए भी भूलवश जगतमान्यताओ का जहर व्यक्ति पर चढा है। व्यक्ति का जो अपना नही है वह उसे ही अपना मानकर उसके अहकार का जहर अपने ऊपर चढा रखा है।

"श्री विशाल साहेब कहते हैं कि जगत के लोग एक दूसरे पर जगत का जहर चढाकर उन्हे दुख देते है। माता-पिता बच्चे की देह को पेदा करके मोह का पाठ पढाते ह और उन्हे बलपूर्वक कुसग मे प्रवेश कराते हैं। बालक, जवान, बुड्ढे, नर तथा नारी—सब प्राय: कुमार्ग की शिक्षा देने वाले होते है। विषयो के गीत बना कर उसे सुनाते हैं, सर्वत्र विषय चर्चा का बाजार गरम रहता है।

"माता-पिता शीघ्रातिशीघ्र बच्चे का विवाह देखना चाहते है और उसके तुरन्त बाद पोते-प्रपोते। छल, चोरी, लूट-खसोट कर धन सग्रह करना—इसको बुद्धिमानी मानते हैं। जो ऐसा करके धनी बन जाय उसे लोग लायक मानते हैं। जो सीधा, सदाचारी, भक्त हो, लोग उसे कुलबोरन कहते है। नाच, सिनेमा, जुआ, शराब, कुसग, कुकर्म मे यदि लडके जाय तो लोग बुरा नहीं मानते, परन्तु यदि लडका साधु-सगत मे बैठने लगे तो घर के लोग उससे घृणा करने लगते हैं। कितने लोग कहते हैं "यह कलकी पुत्र हमारी कोख मे जन्म लेकर हमारा नाम डुबा देगा। साधुओ के साथ बैठ-बैठ कर कुल को रसातल पहुचा देगा। हाय, न मैं मरता हू और न यह मरता है।" (शब्द १)

यह जगत तो एक मदिराशाला है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, राग, द्वेषादि का मद्य पीकर लोग अचेत हे, उन्मत्त है। कोई धन मे उन्मत्त है, कोई परिवार मे, कोई जवानी मे उन्मत्त है, कोई अधिकार मे, कोई विद्या मे उन्मत्त है तो कोई मान-बडाई मे। यह ससार ऐसा मालूम होता है कि मानो इसे पागलो का घर बनाया गया है। कितने ही लोग देवी-देवता की मान्यता मे उन्मत्त है, कितने लोग भूत-प्रेत के नशा मे, कितने ही लोग साप्रदायिक प्रमाद मे उन्मत्त हैं तो कितने लोग मोक्ष और ईश्वरदर्शन की ठेकेदारी मे। यहा सद्गुरु कबीर की बात

याद आती है—"सबही मद माते कोई न जाग।"

"विशालदेव कहते हैं कि जगत-की सारहीनता को समझो। मदार के भुआ (रोवाटा) के समान यहा सब कुछ निस्सार तथा चंचल है। आशा मात्र ही इसकी सत्यता है। सेमलफूल के समान ही यह केवल दिखाऊ है। जैसे शून्य भार नहीं पकड सकता, वैसे जगतभोगो मे मनुष्य की महत्वाकाक्षाए पूरी नहीं हो सकती। सुख रूप माने गये सारे पदार्थ क्षण-क्षण परवश हैं। स्त्री-पुरुष आदि के सारे सम्बन्ध झूठे हे। शरीर का अहकार एकदम खोखला है। जिन प्राणी-पदार्थों को अपना मानकर मनुष्य भूलता है और उनके लिए सारा अत्याचार करता है, वे प्रतिक्षण केवल कष्ट देने वाले हैं।

"जैसे दीपक की शिखा क्षण-क्षण बदलती है वैसे मनुष्यो का मन क्षण-क्षण बदलता है। ऐसे मनुष्यो से सुख की आशा करके उनके मोह मे बध जाना कितनी बेवकूफी है। पागल हाथी पर बैठकर कुशल चाहना तथा उन्मत्त मनुष्यो से अपने सुख-लाभ की आशा रखना दोनो नादानी है। जो लोग विषय-सुख और सम्मान को ही सब कुछ माने बैठे है, ऐसे सकामी जीवो से खतरा पैदा होने के सिवा और क्या हो सकता है।

"माना हुआ विषयसुख दुखपूर्ण और छीनाझपटी की वस्तु है 'इस मयकदे मे काम नहीं होशियार का' वाली कहावत है। खरगोश के सीग तथा कच्छप के पीठ पर रोम नहीं होते, वैसे ससार की वस्तुओ मे सुख नही है जिसके लिए प्रमादी लोग लड़ रहे हैं। सब विषयो मे पचपच कर मरते है और उनकी विषय पिपासा बढती जाती है। आपको सुनने मे यह बात असभव लगेगी कि विद्या और बुद्धि के बडे-बडे अहकारी भोग-सम्मान की मृगतृष्णा मे नाच रहे है। यद्यपि यह बन्धन अंधकार मात्र है जो विवेक-प्रकाश उदय होने पर सर्वथा समाप्त हो जाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह महात्माओ की शरण मे जाकर विवेक प्राप्त करे।" (शब्द ३)

"व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप को न जानकर तथा इस विकारी जगत को देखकर भटका हुआ है। इसने देह, नाम, रूप, वर्ण, आश्रम, माता, पिता, भाई, घर, धन, देश, जाति आदि कितने नाम लिये जाय अपना मान रखा है जो वस्तुतः झूठे है। शरीरादि विजाति वस्तुओ को अपनी मान-मान कर ही सारे बन्धन खडे हुए हैं। सभी चेतन अपने आप अनादि स्वरूप एक दूसरे से असग हैं। वस्तुतः कोई किसी का नहीं है। प्रपच सम्बन्ध स्वप्नवत है।" (शब्द ४)

"इस ससार मे रहते हुए बडी सावधानी से सबसे बचा-बचा कर चलो। पहले तो यह समझो कि इस ससार मे तत्वतः अपना कोई नहीं, कुछ नहीं है। अन्य अपने माने हुए लोग तुम्हे बन्धनो मे बाध कर अलग हो जायेगे। अपने मन.कल्पित सुख के लिए सब जीव अन्यायी है। वे दया, क्षमा, परोपकार बिलकुल भूल गये हैं। अपना ही मन जो रात-दिन साथ मे रहता है, भयकर है। जरा-सा असावधान हो जाओ तो यह कुवासनाओ और कुकर्मों मे डुबा देता है। ससारी देहस्वभाव-वश विषयासक्त हैं। वे अहंता-ममता में पागल हैं। वे नीति-अनीति का विचार छोडकर समता तथा सत्यता से दूर है। जो अपने तथा दूसरे के सच्चे हितकारी हैं ऐसे सन्तो की स्थिति का उनको ज्ञान नही है। न वे अपनी सच्ची हानि जानते हैं और न लाभ। वे सामने मिले हुए विषयो में लट्टू हैं और सुख के मूल स्वरूपस्थिति से दूर

है। हे मनुष्य! तू ऐसे ससार मे निवास कर रहा है जहा अपने ओर दूसरे शरीर के विकट वन है। यह जगत का जहर तभी नष्ट होगा जब व्यक्ति एकरस सावधानी और विवेक रूपी अमृत का पान कर लेगा।" (शब्द ६)

"जगत मे दुखनदी की धारा वह रही है। यहा सदैव दूसरे के मन को प्रसन्न रखने का भार पडता है। शरीर का कष्ट कुछ-न-कुछ बना ही रहता हे। यहा सब प्राणियो को सबसे भय बना रहता है और एक दूसरे को पीडित करते ओर पीसते रहते हें। जीवन-निर्वाह की चिंता मे जीव को विश्रान्ति नही मिलती। उसके लिए वह नित्य बोझा ढोता है। विषयासक्तिवश स्ती-पुरुष एक दूसरे की अधीनता स्वीकार करते रहते ह। पुत्री-पुत्रादि मे झगडा तथा राग-द्वेष देखकर माता-पिता जलते रहते हे। जहा दस आदमी ह, वहा सबकी समझ एव स्वभाव अनमिल तथा विरोध भी रहेगे ही। यदि ऐसी अवस्था मे क्षमा, समता, दया और सतोष का बरताव न बरता जाय तो रात-दिन जलते रहने के अलावा कोई चारा नहीं है। भूतपूर्व की स्मृतिया, वर्तमान की इच्छाए तथा भविष्य की कल्पनाए ये व्यक्ति को स्थिर नही रहने देती। इन्द्रिया अलग विषयो के लिए खींचती हें।

"ससार मे जड और चेतन दो ही वस्तुए हैं, तीसरी नहीं हे। जड और चेतन विपरीत स्वभाव वाले है। दोनो का कोई मौलिक सम्बन्ध नही, केवल भूल से यह सम्बन्ध ह। जड न तो जीव को पकड सकता हे न कुछ मान सकता है न अपनी ओर खींचने के लिए झगडा कर सकता है और जीव शुद्ध चेतन होने से इच्छारहित तथा अचल हे। दुख और सुख का कोई पृथक स्वत स्वरूप भी नही है, केवल भूल-वश जीव महान जलन मे पडा हे। व्यक्ति अज्ञान-वश हानि और लाभ मानता है, बहुत और थोडा मानता है, प्रेम तथा प्रेम का अभाव मानता है। सब अज्ञान की लीला है।" (शब्द ८)

"अज्ञान-वश प्राय मनुष्य सन्मार्ग की कठिनाइयो को नहीं सह पाता। आखिर मे उसे ससार मे रहकर चारो ओर सहना है। बिना सहे वह बच नही सकता। माता, पिता, भाई, बहन, भतीजे, भाभी, पुत्र, पुत्री आदि के रगडे-झगडे मे पडे हुए लोग उनकी सारी बातो को सहते ही है। विषयासक्ति मे पडकर व्यक्ति कहा-कहा की ठोकरे खाता रहता हे। वह अनेक विपत्तियो मे जलता रहता हे। वह अनेक इच्छाओ मे पडा हुआ राग-द्वेष मे डूबा रहता हे। मनुष्य सदैव काम-क्रोध मे जलता है और शत्रु-मित्र की मान्यता मे पस्त होता रहता है। वह लोभ-मोह के भ्रम-जाल मे उलझा हुआ दूसरे का ही गुलाम बना रहता है। परन्तु साधना-मार्ग की कठिनाइयो को नहीं सह पाता। यह उसका अज्ञान हे।" (शब्द १६)

"मनुष्यो! कल्याणकारी सद्‌गुण ग्रहण करते चलो। तुम अपने जीवन मे दुर्गुणो को रखकर कभी न सुख से सो सकते हो न निश्चिंत रह सकते हो। दुर्बुद्धि व्यक्ति का नाश करती है और पडोसी का भी। हित चाहने वालो! विचार करो, अपने और पराये की हानि करके तुम्हे सुख-शाति कैसे मिल सकती है! इसलिए हृदय मे सुबुद्धि को स्थान दो जो शुभगुणो की जननी हे। शुभगुण ही तुम्हे नित्य सुखी रख सकते हैं और कष्ट से बचा सकते है। अतएव अपने और दूसरे का सुधार करो। सन्त तुम्हे अच्छी बातें बताने वाले हे। वे सदैव सबके सहायक है। वे स्वय स्वच्छ मन के है तथा तुम्हारी स्वच्छता के प्रेरक है, क्योकि उन्होने अपने मन की परख करके उसे अपने वश मे कर लिया है।

''ऊची-नीची माया की स्थिति मे फूल-पचक कर मनुष्य ने चिंता-शोक बटोर रखा है। वह भ्रम के समुद्र मे पडा हुआ उसी लहर मे बहता तथा डूबता रहता है, स्थिर नही होता। वे मनुष्य बडे भाग्यशाली हैं जो सन्मार्ग को स्वीकार कर उस पर सदैव चलते है। वे पवित्रता पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए अतत: स्वरूप मे स्थित हो जाते हैं।'' (शब्द १७)

''हे मन! गुरुज्ञान का आधार पकडो। ससार का आधार लेकर रहते हुए तो तुम्हारे बहुत दिन बीत गये। उसमे तुम्हारा लाभ तो कुछ नही हुआ, हा अपने आपका सर्वनाश कर डाले। तुम्हे लाभ यही हुआ कि राग, द्वेष और तृष्णा का धन मिल गया और उसी के बीच पडे तुम मन के शिकार बने हो। उसी मे तुम दिन-रात सुख की आशा करते हो, परन्तु तुम्हे उसमे बरबस दुख ही मिलते है। हम अपने मूर्खता-वश सबके ऊपर अपना अधिकार चाहते है, जहा भय, परवशता और गुलामी है। हम शरीर, धन तथा मान्यताओ को सत्य समझ कर क्षणभगुरता की धारा मे बहते हैं।'' (शब्द १८)

५. वैराग्य वित्त

विषयो मे राग करके सब जीव निरन्तर पीडित है। वैराग्य से ही इस दुख का संहार हो सकता है। वैराग्य का अर्थ न तो केवल घर छोडकर कही चला जाना है और न कपडा बदलना मात्र है। वैराग्य कहते है मोह के सर्वथा परित्याग को। जो व्यक्ति घर-गृहस्थी मे हो, वह वहा अपने उचित कर्तव्यो का पालन करते हुए सबसे निर्मोह रहे तथा जो घर छोडकर साधु-संन्यासी वेष मे विचरता हो वह पुन. अपने माने हुए घर-परिवार का सम्बन्ध बिलकुल न रखते हुए अखण्ड वैराग्य का आदर्श स्थापित करे।

''सद्गुरु विशालदेव कहते है, सासारिक विषय-सुखो का परित्याग करो। सच्चा वैराग्य कोई दुख नहीं रहने देता। यह सबको अनुभव है कि गाढी नींद मे निश्चित सुख होता है। वहा न कोई भय है न चिन्ता, न दुख न पीडा। उसके सामने राजा-बादशाह भी कुछ नहीं है। परन्तु जाग्रत मे ही जो पुरुष इच्छाओ से मुक्त है उसके पटतर मे वह भी नहीं है। इच्छा-शून्य एवं शांत मन के सुख का दूसरा उदाहरण हो नही सकता। अतएव अपने मनेन्द्रियो को अपने वश मे करो जिससे रोज के दुखो की किचकिच मिट जाय। जैसे लोभी धन के लिए, कामी अनुकूल कामिनी के लिए, मोही प्रिय पुत्रादि के लिए अपने आपको अर्पित कर देते है, वैसे तुम वैराग्य एव त्याग के लिए जीवन को अर्पित कर दो। तुम्हे संसार भर को अपने कब्जे मे करके जो सुख पाने की लालसा है उससे अच्छा तो यह है कि तुम अपने आपको स्ववश कर लो, फिर अखण्ड सुखी हो जाओ। सबसे अनासक्त एव इच्छाजित व्यक्ति सर्वोच्च हो जाता है। निष्काम पुरुष के लिए कोई उपलब्धि शेष नही रहती। मनुष्य रोगी हो, ऋणी हो या अन्य विवशता मे जकडा हो, यहां तक महान भयकर दुखदायी घाव लग गया हो और प्राणान्त का समय ही क्यो न आ गया हो, परन्तु उसे वैराग्य एव निष्काम सुख को भूलना नहीं चाहिए प्रत्युत वैराग्य ही परम प्यारा होना चाहिए।'' (शब्द १)

''तुम्हारा कोई साथी नहीं है, सब जीव अपने मन के स्वार्थ मे बिके हुए है। वे अपनी इन्द्रियो के सुख स्वार्थ हित अदलते-बदलते रहते है, इसमे वे अपना-पराया नही समझते। हे पगले! नेत्र खोल कर देख, ऐसे मनवशी मनुष्यो का क्या भरोसा है! जिन वस्तुओ मे तुम सुख मानते हो और बडे कष्टपूर्वक उनका सग्रह करते हो, सब मनुष्य उन वस्तुओ की छीना-

झपटी करके अपनी-अपनी ओर उन्हे खींचने वाले हैं, अतएव ससार के माने गये सुख-भोगो मे छल, बलात्कार, तृष्णा और झगडा लगे हे। ससार के सभी पदार्थ विवशतापूर्ण ह, उनके छूटने मे देरी नही लगती। जो प्राणी-पदार्थ आज अपने हैं, वे ही कल विलकुल पराये हो जाते हैं। ससार के समस्त प्राणियो के शरीर एव समस्त पच विपय-भोग पदार्थ जड कारण-कार्य के अखण्ड प्रवाह की कडिया हैं। उनके स्थायित्व मे क्षण भी स्ववशता नहीं हे। फिर उन्हीं मे सत्यसुख मानकर आशा पकडने से दुख की क्या सीमा रहेगी।

"विषयासक्ति-वश धन, पुत्र, कुल, परिवार मे ममता वनाकर ओर नर-नारी परस्पर मोह मे आबद्ध होकर तथा कामाग्नि को उत्तेजित करके जलते हैं। व्यक्ति अपने मूढतावश क्षणिक विषयो मे सुख खोजता हे और उसके लिए जीवनपर्यन्त उद्योग का पर्वत सिर पर उठाकर प्रवृत्ति के वन मे भटकता हे। वस्तुत व्यक्ति का अपना स्वरूप विपयो से सर्वथा मुक्त एव अचल हे। अतएव जो विषयो का अभाव करके अपने स्वरूप मे स्थित हो जाता ह, वह कृतार्थ हो जाता हे।" (शब्द ६)

"तुम साधु का वेष धर कर भी ससार के चक्कर मे क्यो नाचते हो? किसलिए साधु वेष धारण किये थे और किस चक्कर मे जा रहे हो? तुम पुनः सव प्रकार की मान्यताओ को पकड कर बन्धन बना रहे हो और शरीर की आरामतलबी, धन का अनुचित सग्रह एव स्त्री की राग-धारा मे बहे जा रहे हो। अब तो तुम किसी को अपना प्रेमी मानते हो ओर किसी को वैरी। बस, राग-द्वेष मे पडकर कल्याण-साधना को छोड वठे हो आर ससार-सागर मे डूब-उतरा रहे हो। तुम क्या लक्ष्य करके साधुवेष धारण किये थे ओर अव क्या वन गये। इस ससार को किमने अपनी मुट्ठी मे बटोर रखा हे। कौन इसे कहा ले गया। सव जीव अपने-अपने मन के चक्कर मे वह रहे हे, कोई किसी के हानि-लाभ का भागीदार नहीं ह। हे वेषधारी। यदि तू वैराग्यमार्ग ढीला करके विषयासक्ति, कुटुम्ब के मोह तथा प्रपंचासक्ति मे फसता है तो तू सबसे वडा मूढ हे।" (शब्द ७)

"हमारे केवल हम हें—यह हमे स्मरण रहे। स्वरूप के बाद जितने स्मरण हो उन्हे हम व्यर्थ ही नही, पीडाप्रद समझ कर मिटाते रहे ओर स्वरूपविवेक तथा स्वरूप स्मरण मे निरन्तर निमग्न रहे। ससार की मान्यताओ मे न भटके। सम्पूर्ण सुखशाति अपने आप मे है, यह हमे अटल निश्चय हो। जो विषयाग्नि के समुद्र से ऊपर उठकर स्वरूप मे ही विश्राम पा गया हे वह पूर्ण साभाग्यशाली हे। स्वरूपस्थिति अविचल खजाना है। वह मिल गया है, अव छूटने न पाये, प्रत्युत सब समय उसी मे स्थिति हो। हम उस स्वरूपस्थिति को अनादिकाल से खोजते रहे, परन्तु नहीं मिली थी, अव आज मिलकर भी छूट जाय तो हमारी स्थिति कहा होगी?" (शब्द १८)

"मुझ चेतन के पास कोई विजाति वस्तु खोजने से भी नही मिलती। माता, पिता, भाई, वहन आदि समस्त सम्वन्धियो का जब स्मरण होता हे तव मालूम होता हे कि उनसे हमारा सम्बन्ध हे। यदि याद न हो तो उनका पता भी नही चलता। आखिर वे सब मेरे हे—यह मान्यता भी उलटी एव असत्य ही है। क्योकि देखते-देखते सबका सर्वथा वियोग हो जाता हे। इसी प्रकार गाव, देश तथा सारे दृश्यो का सम्वन्ध मान्यता ओर स्मरण मात्र है। इन सबसे हम सर्वथा पृथक आर अछूते हैं, क्योकि इनकी यदि याद न हो तो इनका कुछ सम्बन्ध नहीं।

"हम जहा-जहां गये, निवास किये और उनमे मोह किये उनका सम्बन्ध बहुत दिनो से छूट गया है। अब देखता हूं कि उनके बिना न हमारे शरीर-निर्वाह के कार्य मे कोई अडचन पडता है और न जीव की कल्याण-साधना मे। परन्तु यदि भावपूर्वक उनका आज भी स्मरण करूं तो उनके विषय मे सुख-दुख की तरगे आ सकती है। इस प्रकार मुझ चेतन का बाह्य दृश्यो से सम्बन्ध केवल मान्यता एव स्मरण का है, वस्तुत· नही।

"सारे रूप नेत्र तक, सारे शब्द कान तक, इसी प्रकार गन्ध नाक तक, रस जिह्वा तक और स्पर्श त्वचा तक ही पहुचते हैं। मुझ चेतन तक कोई विषय नहीं पहुचता। इसलिए मैं चेतन प्रत्यक्ष विषयो से भिन्न हू।

"जब मैं किसी स्मरण मे तदाकार होता हू, तब उसमे श्रवण, नेत्रादि कोई इन्द्रिय नही रहती, परन्तु सुख-दुखादि सारा ज्ञान होता है। इसलिए स्पष्ट हुआ कि हम जाग्रत अवस्था मे ही इन्द्रियो से पृथक रहते हैं। स्वप्न मे तो जाग्रत के व्यवहार का बिलकुल अभाव हो जाता है, परन्तु भीतर-भीतर सारा प्रपंच चलता है। इसलिए जाग्रत का व्यवहार मेरे मे बिलकुल नहीं है।

"फिर हम स्वप्न-जगत को भी छोडकर गाढी निद्रा मे पहुच जाते है, वहा स्मरण का कोई दृश्य नहीं रहता। वहा सब कुछ का अभाव हो जाता है। इसलिए सिद्ध हुआ कि मैं स्वप्न के जगत से भी भिन्न हू। परन्तु सबके अभाव को देखने वाला चेतन वहा भी विद्यमान है, तभी तो जाग कर कहता है कि मै सुख से सोया। मै ऐसा सोया कि कुछ नही जाना। जाग्रत तथा स्वप्न मे जाना, सुषुप्ति मे कुछ नही जाना, परन्तु कुछ नहीं को कौन जाना? मै ही तो। इसलिए तीनो अवस्थाओ का द्रष्टा चेतन उनसे पृथक है। ये तीनो अवस्थाए सिनेमा चित्रवत जीव के सामने बारम्बार आती-जाती रहती है। इसलिए तीनो अवस्थाओ तथा उनके व्यवहारो से जीव सर्वथा पृथक है। इस प्रकार केवल देहादि दृश्यो को मान-मान कर दुखी है। वस्तुतः चेतन मे शरीरादि दृश्यो का लेश भी नहीं है।" (शब्द १९)

"अतएव हे मन । अमृतमय मोक्ष की स्थिति अपनाओ और उसी का स्मरण करो। इस मोक्ष की महिमा सदाकाल से अपार रूप वर्णन किया गया है। सुर, नर, मुनि और क्रूर प्रवृत्ति के व्यक्ति भी उसको चाहते है, परन्तु बिना यथार्थ सद्गुरु के उसका रहस्य वे नही समझते। वस्तुत. जहा मन और उसकी सम्पूर्ण इच्छाए मूलसहित नष्ट हो जाती है और सारे विकार समाप्त हो जाते हैं, वही मोक्षतत्व है। जीव भ्रमित होकर उस अचल सुख को विषयो मे खोज रहा है। परन्तु भला मृग को धूप की लहरियो मे जल का सागर कहा मिलेगा?

"कोई किसी कल्पित ईश्वर मे मिलना मोक्ष मानता है, कोई जड-चेतन अभिन्न अग-जग व्यापक की कल्पना मे मोक्ष मानता है। परन्तु सद्गुरु ने बताया कि तुमसे पृथक माया है। तुम स्वय मुक्तस्वरूप हो। तुम बाहर से लौटकर अपने स्वरूप मे स्थित हो जाओ फिर उसमे व्यापार, चिंता, परवशता, असतोषादि नही है। वहां न परतत्रता है, न इच्छा, न राग-द्वेष और न शोक-मोह। वहा काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय—सबका अत्यन्ताभाव है। वस्तुतः जहा सारी कामनाओ का अन्त हो जाता है, वही मोक्षस्वरूप की स्थिति है।" (शब्द २०)

वैराग्य का फल मोक्ष है। किसी ने बडा सुन्दर कहा है—

मोक्ष विषय वैराग्य है, बन्धन विषय सनेह।
यह सदग्रथन को मता, मन माने सो करेह॥

६ साखी सुधा

साखी सुधा प्रकरण मे यह अनेक युक्तियो से निर्णय किया गया है कि विषयो मे सुख की कल्पना निराधार है। सुख नाम की वस्तु विषयो मे है ही नहीं।

"विषयो मे सुख की कल्पना ही व्यक्ति को दुख देती है। अन्य कोई दुखदाता नहीं है। यदि व्यक्ति विषय-वासनाओ को छोड दे, तो उसे स्वप्न मे भी दुख न हो। यदि कभी इन्द्रियजीत को भी कष्ट होता है, तो वह केवल शारीरिक है।

"सुख माने गये पदार्थ सामने होते हुए भी व्यक्ति के सुख की चाहना नहीं मिटती। वह क्षणमात्र विषयो मे लग कर भले सतुष्ट-सा लगता है, परन्तु पीछे पुन असतोष की धारा मे बहता रहता है। भोगक्रिया मे लगने से क्षणमात्र के लिए कामनाए मिट जाती हैं और व्यक्ति को सुख लगता है। यह सुख वस्तुतः कामना-नाश का है, परन्तु मूढ मानव समझता है कि विषय का है।

"ये सुख रूप माने गये पदार्थ अनेक मनुष्यो की खीचतान मे पडे हैं। वे क्षणभगुर तो ह ही। अपनी इन्द्रिया ठीक हो, भोग पदार्थ प्राप्त हो और उनके सहायक मनुष्य अनुकूल हो, तब कही व्यक्ति को ये क्षणिक सुख मिल भी पाते है, परन्तु शरीर-इन्द्रियो की शक्ति सीमित होने से वे भोगक्रियाए भी क्षणिक ही होती हे। वस्तुत· भोगपदार्थ क्षणभगुर, नाशवान, परतत्र और छूटने वाले है तथा उनके उपभोग से इच्छाए बन तथा पुष्ट होकर वे केवल दुखदायी बनती हे। अतएव भोगो मे सुख की कल्पना मृगतृष्णा मात्र हे। इस भोगावरण से हटे विना परमकल्याण एव मोक्ष असभव है।

"१ अन्तर-बाहर एकान्त, अर्थात भीतर मन शात होना और वाहर प्रपच से रहित रहना, २ स्वरूपस्थिति का दृढ अभ्यास करना, ३ अपने आपमे परीक्षा की शक्ति प्राप्त करना, ४ सद्ग्रथो का अध्ययन करना, ५ निष्काम महात्मा पुरुष की भक्ति करना, ६ सत्सग करना, ७ कुसग का त्याग करना, ८ विषयो से वेराग्य करना, ९ बन्धन निवृत्ति के लिए युक्ति, दावपेच और ठीक कायदा अपनाना, १० विघ्नो को हटा देना, ११ सयम रखना, १२ निर्मान रहना, १३ निर्विवाद रहना, १४ सतोष धारण करना, १५ आशा-रहित होना ओर १६ क्षमा को धारण करना, इन सोलह आचरणो को अपनाकर मनुष्य को चाहिए कि दुखो से मुक्त हो जाये।"

अपना बोध (साखी सुधा अन्तर्गत)

"जिसकी कभी उत्पत्ति नही हुई है, जो अनादि-अनन्त है, जो स्वत· हे, अकेला हे, जिसमे अन्य का किचित भी सम्बन्ध नही है, वह चेतन (मै) किससे मोह करे। मे अविनाशी हू और पच विषय दृश्य क्षण-क्षण उत्पन्न होकर मिटने वाला है। जड दृश्य मेरे सामने आते और चले जाते है। न वे मेरे साथ सम्बद्ध हें और न मेरे सदृश चेतन हैं। में तो ज्ञान रूपी सूर्य हू जिसमे ज्ञान प्रकाश है और दृश्य तो जडतारूपी अधकार से पूर्ण है। उस जड दृश्य के लिए दुखी होना अज्ञान के अतिरिक्त और क्या कहा जाय। मृगतृष्णा मे जल कहा। परिछाई मे सत्यता कहा। बाह्य कल्पनाओ मे आनन्द कहा।

"जहा कोई प्रतिकूलता ही नही है किसलिए क्रोध करे। मै तो दुख-सुख के प्रपचो से रहित, निष्काम स्वरूप हू। मैं लोभरहित हू, मेरे मे दुखो का किचित ताप नहीं है। जब दुख ही नही, तब किसे मिटाने के लिए वस्तुओ की इच्छा करे। न मेरे मे इन्द्रिया हे, न शरीर है

और न कोई कामना है। मेरे मे जडदेश का स्थान नहीं है, वहा काम के अधीन होकर गर्जी बनना नही है, क्योकि दुखपूर्ण शरीर का मेरे में गध भी नहीं है।

"मेरा विश्राम तो अभय स्वरूपदेश मे है। वहा भय की कोई वस्तु नही है। वह हानि-लाभ से परे अपने आप है। वह निर्भय, निष्काम, निर्लोभ, निर्मोह, निष्क्रोध और जगतप्रपच से शून्य है। वहा तो अचल स्वतन्त्र स्वराज्य है। वहा सारी बाधाए समाप्त है, क्योकि शुद्ध चेतन मन के आयाम से परे है। जिसका स्वरूप ऐसा महान और मायातीत है, वह ससार मे क्यो दीन बना भटक रहा है! यदि वह अपनी अपार ज्ञानशक्ति की याद करे तो उसे निर्भयता पूर्ण अखण्ड साहस की प्राप्ति हो। यदि जीव अपने शुद्ध स्वरूप को जान जाय-कि वह सबसे पार है, तो वह अवश्य भवधार से पार पा जाये। जीव मे अपनी निश्चयता की कमी है। निश्चय अपनी ओर हो जाने पर वह शिव (कल्याण) स्वरूप है।

"भूल गुरु के ज्ञान से मिटती है, मन की पीडा प्राणियो की भीड छोड देने से मिटती है। अतएव साधक को चाहिए कि सारी दुर्बलताओ को दूर करके अपने आप मे मुडे। दुखप्रद जानकर दुष्टो से दूर रहे, परन्तु सज्जनो से भी निष्काम रहे और जडसहित दुर्गुणो का नाश करे, तब व्यक्ति को अपना स्वरूपस्थिति-घर मिलता है। स्वरूपस्थिति का एक वृत्ति से दृढ अभ्यास करे और इसी मे लीन होकर शांत हो जाय। स्वरूपस्थिति का जब भाररहित सुख मिल जाय, तब व्यक्ति को भारसहित विषय-सुख तुच्छ हो जायगा। यह काम जिस प्रकार से बने रात-दिन उसी का शोधन करो। यह काम पूरा हुए बिना कभी दुखो का अंत नहीं होगा।

"उपर्युक्त प्रकार से विचार करके दुर्गुणो को मिटाने के लिए कमर कस लो, फिर कामादि कल्पित शत्रुओ के बीच मे तुम्हारी विजय निश्चित है। मै अजर-अमर और निर्विकार हू। न मेरा जन्म है न अन्त। मैं अब मन से अविचल युद्ध करूगा, फिर विजय क्यो नही होगी। उपर्युक्त प्रकार स्वरूप-स्मरण सारे दुखो का शमन करने वाला है। इससे कल्याण मार्ग मे धैर्य, साहस और शक्ति बढती है और मन की खीचतान का बन्धन टूट जाता है। कामादि मन-शत्रु से युद्ध करने मे ही विश्राम समझो। यदि युद्ध करना छोड दोगे तो शत्रु घेर लेगे और तुम दुखों मे फस जाओगे—ऐसी निश्चयता करके शीघ्र मन-शत्रु को जीतो।" (१-२४)

"मुक्ति-स्थिति मे हानि-लाभ, सुख-दुख, मिलन-विछोह, भूख-प्यास, नीद आदि का अत्यताभाव है। वह घट-बढ रूप विकार से सदैव परे है। जन्म, मरण, बाल्य, युवा, वृद्धता, स्त्री-पुरुष की देहे, चारो खानियो का चक्र—इनकी एकदम समाप्ति है। वह मोक्ष-दशा, काम, क्रोध, मद, लोभ, शोक, मोह, भय आदि से सर्वथा परे है। वहा दावानल के समान जलाने वाली ममता नहीं है और ससार के सारे उपद्रवो का नितात उपशमन है।

"मन-मान्यताओ मे लीन होकर जो क्रियाए की जाती हैं, उनकी वासनाएं सामने होती रहती है—यही शरीर का सम्बन्ध है। यदि जीव का प्रारब्ध-देह से सम्बन्ध न हो, तो उसका किसी से कोई प्रयोजन नहीं है। जीव अपने स्वरूप के भूलवश विषयो के सुख की आशा मे पडा हुआ दुखदायी आदतो मे उलझा है। अनेक भौतिक तत्त्व सब जड है। उनमे धर्म, गुण, शक्ति भिन्न है। इसलिए जड तत्त्वो मे परस्पर स्वाभाविक सयोग बना रहता है। परन्तु जीव जड से सर्वथा पृथक चेतन है। वह दृश्य नही, अपितु द्रष्टा है, दृश्य से परे है। इसलिए चेतन

का जड से स्वाभाविक सयोग नहीं है। यह बात स्वय प्रत्यक्ष हे कि पास की वस्तुए जिनका स्मरण नही ह उनसे जीव का कोई सम्बन्ध नही हे। परन्तु हजारो कोस की दूरी के प्राणी-पदार्थ जिनके प्रति ममता या वैर है स्मरण होते ही चित्त मे खटकने लगते हे। अतएव जीव का जड से सम्बन्ध केवल अहता-ममता तथा स्मरण मात्र है। जो कारण तत्त्व होता है वह निराधार रहता हे ओर उसका कार्य पदार्थ उसी के आधार मे रहता है। परन्तु जो चेतन किसी का न तो कारण ह आर न कार्य, वह किसी का सहारा न लेकर मोक्ष मे अपने आप रहता हे। अतएव जीव निराधार स्वरूप से अविचल हे। वह भूल दशा मे वासना-वश भ्रमता है, भूल आर वासनाओ से मुक्त होकर अचल स्थित हो जाता है। जैसे जडतत्त्व तीनो काल मे अपनी शक्ति से अपने आप रहते हैं, वंसे मुक्त चेतन भी अपनी शक्ति से अपने स्वरूप मात्र सदैव स्थित रहते हैं। जड तत्त्व ज्ञान रहित होने से उनमे स्वाभाविक क्रिया है। इसलिए उनकी क्रिया बन्द भी नही हो सकती। परन्तु जीव ज्ञान स्वरूप है, वह मान्यता करके क्रिया करता है। वह जब ज्ञानवान बनकर मान्यताओ के जाल को तोड देगा तब क्रियाओ से मुक्त हो जाएगा। जीव के तो धर्म, गुण, आकार—सब ज्ञान मात्र ही है। उसमे ज्ञान लक्षण छोड कर कुछ नही है। जीव केवल ज्ञान का अखण्ड स्वरूप हे।

''विषयो मे सुख की मान्यता तथा आसक्ति छोड देने पर जीव प्रारब्धात मे जड तत्वो के सम्बन्ध से सर्वथा अलग हो जाता हे। वहा शरीर, इन्द्रिय, मनादि का अत्यताभाव रहता है। अतएव वह दुख-सुख के चक्कर से मुक्त कल्याण रूप हे। फिर वहा कहा अहता-ममता, कहा भूल, कहा अपने-पराये का दुख, कहा मिलना-बिछुडना। वह तो जानने और जनाने के परे की दशा हे। जिस समय कुछ भी याद नही रहता (जैसे गाढी नीद मे) उस समय क्या दुख रहता है। शरीर, मन तथा मान्यताओ के बोझा से रहित शान्त मात्र मोक्ष सुख का घर है।

''मोक्ष साधक को चाहिए कि वह विषय-सुखो की आशा-वासना तथा जड पदार्थो का मोह छोड दे और अनासक्त होकर शारीरिक निर्वाह ले और स्वरूपस्थिति पूर्वक जीवन व्यतीत करे फिर तो उमका देहपात होने पर वह प्रकृतिजाल से पृथक शुद्ध स्वरूप चेतन मात्र रह जायेगा।'' (१४१-१५७)

''जीवन्मुक्त सत के लक्षण ये हैं—वे किसी को पीडा नहीं देते, निर्मान चित्त होते है, ज्ञान, वराग्य तथा सहनशीलता धारण करते है। वे दूसरे को कल्याण की बाते बताकर सुखी करते ह और उसके दुखो को हर लेते हैं। वे सबको सतोष देते हुए शरीर निर्वाह लेते है और मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को दुख नही देते। वे न तो किसी से वैर करते है और न मोह। वे जगत-भोगो से विमुख होकर वैराग्य साधना मे तत्पर रहते हैं। मोह और वैर दोनो विकट बन्धन हैं, जिसमे पडकर सब जीव पीडित है। इसी को त्याग कर और विवेकपूर्वक अच्छे आचरण मे चलकर साधु सुखी रहते है।

''विवेकवान मन के मोह को अधकाररूप जानकर त्याग देते हैं और मान-सम्मान की इच्छा से बहुत दूर रहते है। सम्मान-प्राप्ति की इच्छा रखना दुखो का घर है। उसमे अपनी स्ववशता छूट जाती है। कितने साधु-महत नामधारी जिस वैराग्य एव मोक्ष के लिए पहले घर-द्वार का त्याग करते ह, धन-सम्मान पा जाने से उसकी उन्हे याद नही आती और सासारिक प्रलोभनो के फदे मे पडकर बालक के समान बिलबिलाते है, परन्तु विवेकवान

सावधान होते है। उनकी बुद्धि स्थिर होती है। वे धैर्यवान होते है। वे मन के उद्वेग से रहित होते है। वे इधर-उधर से मन को समेट कर विवेकपूर्वक अपने कल्याणपथ पर चलते है। अनासक्त एव निष्काम महात्मा पुरुष को छोडकर साधु साधक का कोई सहायक नही है। अतएव साधक को चाहिए कि वह सारा प्रमाद छोडकर वैराग्यवान महात्मा की शरण ले और सब जगह सावधान रहे। विवेकवान अपने शरीर निर्वाह या किसी बात को लेकर अन्य किसी को कष्ट नही देते है। वे अपने साधना-मार्ग मे चलते रहते है और उनको कोई कमी नही रहती। ससार के सभी जीव राग-द्वेष के सर्प से डंसे जा रहे है। कोई साधु ही अपने शरीर, इन्द्रिय तथा मन को अपने वश मे करके उनसे बचते रहते है। वे अजर, अमर, अविनाशी स्वरूप का बोध तथा सद्गुण धारण किये हुए रहते है और उसी की अन्य से चर्चा करते हैं। जो व्यक्ति उनके अमृतवचनो का श्रवण करता है वह भी कृतार्थ हो जाता है।"(१५८-१६८)

७. जड-चेतन निर्णय

भवयान के सात प्रकरणो मे सोलह पाठ है। उनमे केवल सातवे प्रकरण जड-चेतन निर्णय मे पाच पाठ है। अतएव यह प्रकरण ग्रन्थ मे सबसे बडा है। इसमे जड-चेतन का भिन्न निर्णय किया गया है।

विशालदेव ने विविध प्रसगो मे यह बताया है कि जडतत्त्व केवल जड है। उनमे न चेतना है और इसलिए उनके सयोग से न चेतना आ सकती है। चेतना एक अलग गुण है। गुण किसी द्रव्य मे रहता है और वह द्रव्य चेतन है। चेतन जाति मे एक है, परन्तु व्यक्तित्व मे अनेक तथा एक दूसरे से सर्वथा पृथक हैं, वे सब चेतन अजर, अमर, अविनाशी है। वे किसी ईश्वर के न अश हैं न अशी, न कारण है न कार्य, न व्यापक है न व्याप्य, किन्तु वे सब निराधार एव असंग है। वासना वश वे भटकते है, वासना त्याग कर मुक्त हो सकते हैं। इस विषय को विस्तृत रूप से समझने के लिए तदस्थल ही देखना चाहिए।

इस प्रकरण मे जड-चेतन का विस्तारपूर्वक वर्णन है। वृक्ष-वनस्पतियो मे जीव नही होते इसका भी बृहत विवेचन इस प्रकरण मे किया गया है। यह ठीक है कि कुर्सी, टेबल, गेद आदि के समान वृक्ष-वनस्पति निष्क्रिय नही होते। उनमे उगना, बढना, पकना, गिरना आदि होते है। वस्तुतः जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति, सुख-दुख का अनुभव आदि एव मनेन्द्रियो का व्यवहार देहधारी जीवो मे होता है, परन्तु यह सब बाते वनस्पतियो मे नही है। अतएव वे निर्जीव है। बीजी असर तथा तत्त्वो के सयोग से उनकी उत्पत्ति तथा नाश होता है। जैसे शरीर मे बाल निर्जीव है, परन्तु बढते हैं, जैसे ककड, पत्थर बनते तथा बढते है, वैसे वनस्पतियां भी उगती और बढती है, परन्तु निर्जीव है।

साधक-बाधक तत्त्वो से वृक्षो का हरा-भरा रहना या सूख जाना होता है। जगदीश चन्द्र बसु ने वृक्षो मे जीव की व्याख्या करके दुनिया मे एक भ्रम पैदा कर दिया है। उन्होने तो ठोकर से कापते हुए सूखे काष्ट मे जीव की कल्पना कर डाली। वृक्ष-वनस्पतिया निर्जीव है—इसकी विस्तृत व्याख्या देखना हो, तो आप इस प्रकरण का तदूस्थल पर टीका सहित मनन करे।

इस प्रकरण मे जड-चेतन का निर्णय करते हुए विशालदेव ने जीवन के चतुर्दिक पहलुओ पर प्रकाश डालते हुए जीवन्मुक्ति रहनी का बडी बारीकी से विवेचन किया है और अन्तत

पारख सिद्धान्त प्रवर्तक सद्गुरु कवीर की वडी भक्ति भावना से स्मरण किया ह। पाठक इस ग्रन्थ मे स्वय प्रवेश करके इसका अवगाहन करे। प्रेम ओर ज्ञान धारा से तरगायित निर्मल अन्त करण, तप पृत श्रद्धेय श्री प्रेम माहेव की मुवोध एव सरल टीका-व्याख्या इस सुन्दर ग्रन्थ को समझने मे आपको अधिक महायक वनेगी।

श्रद्धांजलि

विरति-विवेक पूर्ण पथगामी, दया क्षमा समता के रूप।
शान्त दान्त एकान्त निवासी, निरत निरन्तर परख स्वरूप॥
प्रवृत्ति जाल से सदा निराशी, मन वच कर्म निवृत्त असग।
सगी साथी से निस्प्रेही, उदासीन आसीन अभग॥
निर्मोही निर्द्रोही निर्भय, निर्णय करने मे निष्णात।
विना हिचक तत्काल मानते, वालक की भी समुचित वात॥
निर्विवाद रहनी के प्रेमी, वाक्य सयमी सरल स्वभाव।
सादे सीधे रहन सहन मे, तडक भडक से सदा दुराव॥
उत्तम मध्यम मुक्ति पथिक के, रक्षा करने मे परवीन।
सावधान व्यवहार कुशल, नि'स्वार्थ सत्य निश्चय मे पीन॥
नहीं चाहते कभी किसी से, कुछ भी अपने सुख के हेत।
धन विभूति से सदा उदासी, हर्प शोक नहिं लेते देत॥
तप पृत सतोपी शीतल, सभी सद्गुणो से भरपूर।
निजस्वरूप मे प्रतिक्षण रमते, जगत दृश्य हन्ता से दूर॥
गुरु कवीर के पारख पथ के, थे वे मूर्तिमन्त स्तभ।
कथनी करनी ओर रहनी मे, सदा समान शुद्ध निर्दम्भ॥
जीवन्मुक्त विशालदेव थे, ऐसे पूर्ण उच्चतम सन्त।
श्रद्धाजलि उनकी स्मृति मे, करता हू करजोर नमन्त॥

पारख प्रकाशक कवीर सस्थान,
प्रीतम नगर, इलाहावाद
चेत मुदी १२, वि० २०३५

आप गुरुदेव का अनुचर
अभिलाष दास

प्रथम और द्वितीय संस्करण की भूमिका

निस्सदेह अनुभवयुक्त शुद्ध श्रेष्ठ विचारपूर्ण पद्यरूप यह सद्ग्रन्थ है। पर इस सद्ग्रन्थ के आशय एव अर्थभाव को जितना सर्व साधारण जनसमाज ग्रहण कर रहा है, उससे कही विशेष यथार्थ और सरलता से इसका आशय हृदयगम होवे, इसी ध्येय से इसकी टीका करने की आवश्यकता हुई। मुझ दास का यही पूर्ण लक्ष्य था कि ग्रन्थ रचयिता श्री सद्गुरुदेव के सम्मुख ही टीका हो जाये जिससे कि आपके वचनामृत का आशय आपके अनुकूल ही हो, प्रतिकूल न हो। हुआ भी ऐसा ही। आप कृपा करके जैसा-जैसा पदो का आशय झलकाये, वैसा-वैसा श्रवण-मनन करके समस्त गुरुभ्राता-सन्तजनो की यथायोग्य पूर्ण सहायता-द्वारा इस दास को भी यथाशक्ति सेवा-भक्ति करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसमे श्री सद्गुरुदेव के ही मुख्य कृपाकटाक्ष का आधार है।

रहा दृष्टांत योजनादि के बारे मे, तो देख, सुन, विचार करके अनुभव होता ही है। मुख्य सद्गुरु और सन्तो के सत्सग तथा सद्ग्रन्थ और स्वानुभव विवेकयुक्त दृष्टातो को लेकर यथायोग्य मिला दिया गया है। "बात-बात पर वर इतिहासा। सुनत श्रवण छूटहि भवपाशा॥" यद्यपि स्पष्ट शिक्षा और दृष्टातो से ग्रथ का आकार अवश्य बढ गया है, पर निश्चय है कि इनके द्वारा सूक्ष्म आशयो के समझने में जिज्ञासुजनो को विशेष सुविधा मिलेगी। अत्यधिक महिमा इस ग्रन्थ के साथ ही है, सुजन इसे पढकर ही जानेगे। अन्तिम निवेदन है कि सब कथन की अच्छाई, बडाई, निकाई बोधदाता सद्गुरुदेव की ही है और जो कुछ कहने-लिखने मे कहीं त्रुटि रह गई हो, वह दास की है, उसे आप क्षमा करेगे और यथायोग्य सुधार कर पढेगे।

इसके साथ ही कुछ ग्रन्थ पढने की चर्चा पर भी विचार करना आवश्यक है। आश्चर्य तो यह है कि कितने उसी सिद्धांत को मानने वाले सद्ग्रन्थो के तमाम निर्णय हितैषी वचनो पर ध्यान नही देते, किसी के हाथ से लेकर ग्रन्थ के एक-दो पृष्ठ उलटे-पलटे, यदि कही भी मन प्रतिकूल एकाध बात देखने मे आई कि बस उसी का सूत्र बनाकर सारे ग्रन्थ के सत्य सिद्धात और हितैषी भावो को यथाशक्ति लोप करने का प्रयत्न करने लग जाते है। यह उनकी अपने और दूसरे के लिए अहितकर चेष्टा नहीं तो और क्या है। यदि हित-विरोध न हो और एक-दो बात कम समझ मे आवे तो जितना समझ मे आवे उतना तो अगीकार करना चाहिए। गुणग्राही होने से ही आगे यथार्थ रहस्यो मे प्रवेश की शक्ति बढेगी, नही तो वृथा उखाड-पछाड मे ही अमृतमय जीवन नष्ट हो जायेगा। विशेष तो इस ग्रन्थ को आगे-आगे पढने से उत्पन्न हुई शकाए आप ही निर्मूल हो जाएगी।

पुनः विशेष मुमुक्षु प्रति कहना है कि जब राग-द्वेष विषयासक्ति आदि प्रपच मे हर्जा-खर्चा करके अज्ञ मनुष्य उसी मे लगे रहते है तो समझदार परमार्थी को अमूल्य पारख ज्ञान के लिए निरन्तर यथाशक्ति क्यो न प्रयत करना चाहिए। अवश्य करना चाहिए। प्रसन्नता पूर्वक सद्ग्रन्थ को लेकर सादर सुरक्षित रखना चाहिए। पुनः नित्य-नित्य पाये हुए अवकाश मे या

यथाशक्ति अवकाश निकालकर सादर प्रसन्नता पूर्वक पढे। अर्थभाव पर ध्यान देना चाहिए। जहा तक पढे वहा पर एक बार पूरा ग्रथ समाप्त करने के ध्येय से किसी स्वच्छ कागज या कपडा का चिह्न रखकर पुन दूसरे दिन उस चिह्न के आगे से पढना चाहिए। इस तरह करने से कुछ दिनो मे पूरा ग्रथ समाप्त हो जायगा। फिर उसको उसी प्रकार दूसरी बार चालू करना चाहिए। इस प्रकार कई बार पढकर हितैषी वाक्यो को भली प्रकार हृदयगम करना चाहिए। परम पद पारख स्थिति के अभिलाषियो को तो जब तक देह का सम्बन्ध है तब तक सत्सग और सद्ग्रथ का आधार छोडना ही नहीं चाहिए। अपने ओर अपने अधिकारियो, समीपियो तथा प्रेमियो को पवित्र रखने के लिए इस सद्ग्रन्थ के समग्र वचनो का पाठन-पठन करते हुए पारख सत्य सिद्धात धारण कर जीवन्मुक्ति को प्राप्त करते हुए अन्त मे विदेह मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं, यह निश्चय है और विशेष क्या कहना। आप सर्व सत-महात्मा तो सब जानते ही है। ये सब बाते उन्ही के लिए हे कि जो कल्याण के प्रेमी तो है, पर ठीक-ठीक सद्ग्रथावलोकन सहित यथार्थ ग्रन्थ के उपयोग करने का मर्म नहीं जानते।

इस सद्ग्रन्थ के प्रथम प्रकाशन मे सोलहवे पाठ की टीका नही थी सो अबकी द्वितीय बार के प्रकाशन मे कर दी गई है, अन्त मे मुक्तिद्वार के कुछ चुनित शिक्षासार भी हैं। निश्चय ही आप के परमार्थ मार्ग एव स्वरूपस्थिति मे इससे बल मिलता रहेगा। उस स्वबोध की महान शक्ति द्वारा जीते जी मनभव सकट से बच कर शात जीवन व्यतीत करेगे ओर प्रारब्ध पश्चात सदा के लिए निर्विकार पद मे शात निर्भान्त अचल हो रहेगे जिसके आगे नश्वर लाख-करोड सारी समृद्धि का कुछ मूल्य नही। जो अक्षय सर्वोपरि स्वदेश स्व-साम्राज्य हे वह महान लाभ इसके मनन से प्राप्त होगा। यह स्मरण रहे—''बर मानव धर्म का उच्च पताका श्री कबीर के क्षेत्र गडे। सत विशाल इस भारत थल मे दिव्य सदेशा रोप खडे॥ प्रेम सुजन बल पाय इसी से प्रकृतिवाद तम लॅघ जाओ। कथन बहुत क्या बुद्धिमान प्रति मनन कसौटी तुल जाओ॥''

साखी—पारख के सिद्धान्त का, निर्णय जहाँ अखेद।
ग्रन्थ सबै कल्याणप्रद, अर्थमूल सम भेद॥
सह महात्म्य सब ग्रन्थ रचि, सब शिक्षा परकाश।
सम सम दिव्य प्रकाश ले, अधकार तम नाश॥
नहि विछेप नहि भर्म कछु, नहि ममता मद पक्ष।
मधुकर इव गुण लेय करि, सत सुजन सब स्वच्छ॥

सद्ग्रन्थ प्रकाशन की आवश्यकता और निवेदन

अन्याय अनाचार बन्द कर दुख द्वन्द्व निवृत्ति एव सुख-शाति स्थापना के लिए करोडो रुपये वेतन आदि मे खर्चाकर थानेदार, इन्सपेक्टर, कप्तान, मजिस्ट्रेट-न्यायाधीश, जेलर सयुक्त पुलिस विभाग, न्याय विभाग, जेल, गुप्तचर दल का प्रबन्ध हो रहा है, फिर भी सुख इच्छा से विह्वल अन्ध प्राणी परधन, परदारा, परघात, द्रोह, उत्पात द्वन्द्व से थोडा रुक कर पुनः-पुन. अन्याय घात उत्पात करने-कराने का अवसर देख रहे है। एक तरफ तो वे अन्याय अशाति की रोकथाम करते दूसरी तरफ अज्ञान आसक्ति के प्रताप से फिर विषयानन्द मौज शौक के अहदी प्राणी फिर उसी चाट आसक्ति वश नाना भोग सुख द्रव्य उच्चता के लिए पाखी दीपवत आहुत हो रहे हैं। उनके लिए शिक्षा भी रोगी कुसयमवत उसी प्रकार आसुरी शिक्षा हो रही है। ऐसी शिक्षा लेकर स्वय और सर्व को उन्माद अन्ध बनाय बलात्कार, हिसा, परपीडन, नाना उत्पात, घात, द्रोह, अन्याय, चालाकी, चापलूसी, धर्म-शून्यता और अमानुषी व्यवहार बढा-बढा कर अशांति ज्वाला मे छोटे-बडे राजा-रक पढ-अपढ जलते-जलाते दिखाई दे रहे है। बिना स्वबुद्धि प्रकाश के किस आधार पर सन्मार्ग ग्रहण हो सकेगा।

अतएव ससारी कामनाओ से पृथक सच्चे हितैषी सतजनो को धन्य है जो नि.स्वार्थ अवेतनिक सहज स्वभाव से इन्द्रिय मन को स्वाधीन कर सर्व को सुख-शाति सुरक्षा के पुज सद्बुद्धि प्रदान करते है। आप सतजन के त्याग, वैराग्य, शाति, सन्तोष, सच्चाई पर मानव समूह अत्यन्त मुग्ध होकर आपकी ही शिक्षा के प्रभाव से पिघले हुए अन्तःकरण से सत्यता पूर्वक बिना दण्ड, बिना प्रयत्न ही जगत का लोभ-लालच छोडकर सादर सहर्ष सन्मार्ग पर चल रहे हैं। जहॉ कही सच्चे रूप से उत्पातो का पूर्ण निरसन और शांति सत्यता का विकास हुआ था, है, होगा, वहॉ सच्चे वैराग्यशील परोपकारी सन्त महात्मा का ही विश्वविदित प्रताप हे।

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि यतन जहॉ जो पाई॥
सो जानहु सतसग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ॥ मानस॥
दुख छूटन हित साधु ही, ज्ञान प्रगट करि दीन।
धर्म रच्यो जग साधु ही, रक्षा धर्म कि कीन ॥ भवयान॥

अत. सच्चे विचारशील सतो की शिक्षाओ को सुरक्षित रख कर तथा उसका सादर प्रकाश कर स्वय अध्ययन, दूसरे का भी अध्यापन कर-कराके तदनुसार जीवन बनाना मानव समाज की सबसे बडी सेवा उपकार एव महान कार्य है। क्या राजनैतिक दृष्टि से क्या पारमार्थिक दृष्टि से विचार सयुक्त देखा जाय तो सद्गुण सदाचार प्रेरक-उपदेशक-स्थापक सतजनो का विश्व पर अनन्त उपकार है। आपकी शिक्षा ही सर्व की प्रगति आगे हितमार्ग मे बढने-बढाने हेतु मूल मत्र एव सूर्योदय है। यो तो पुनर्जन्म, कर्मफल, जीव का नित्यत्व स्वीकार करने वाले सर्व मत के सद्गुण सम्पन्न विश्व उपकारी वैराग्यशील सत महात्मा ही है। उस पर भी सर्वांग सत्य पारख प्रकाशी विश्व विख्यात सद्गुरु कबीर साहेब का सर्वोत्तम जीव सिद्धात

बीजक तथा सत्सग परम्परा द्वारा विश्व मे प्रकाश ही हो रहा है। आपके सत्मत मे यथार्थ वेराग्यशील निर्दम्भता सम्पन्न अनेक सत महात्मा प्रसिद्ध हे। उनकी अमृतमयी शिक्षाए भी प्रकाशित है, उन्ही सतो मे से आज महात्मा विशाल साहेब की विश्व हितेपिता किसी से छिपी नही हे। आपके व्यवहार, आचरण, रहस्य, सिद्धात, एकातवास, समता, सयम सहित जो एकरस जीवन है वह किस मुमुक्षु को नहीं मुग्ध कर लेता हे? आपके द्वारा सर्व हितेपी ग्रन्थ भवयान तो निर्मित ही है, आपने और भी मुक्तिद्वार, सत्यनिष्ठा, नव नियम नामक सद्ग्न्थो की रचना की हे। उन ग्रन्थो मे भी सत्य सिद्धात का भाति-भाति प्रतिपादन हुआ हे। जगत-अनादि, धर्माधर्मविवेक, पुनर्जन्म, कर्म-फल, निजस्वरूप का विचार, जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, मनुष्य के गुण-लक्षण, लोक मे सदाचरण आदि सर्वधर्मागो का स्पष्ट विवेचन आपके द्वारा हुआ हे। ये सब प्रवन्ध शीघ्र ही दुराचरण छुडाय कर सदाचरण पर चलाय अक्षय स्वरूपस्थिति प्रदान करने वाले ह। ऐसे सर्व हितकारी प्रबन्ध सग्रह रूप भवयान सटीक को समस्त सेवक वर्ग मिलकर प्रथम व द्वितीय वार पकाशित करवाये थे। उन सबकी हार्दिक भावना है कि हम दासो को भी कृपया अपनी ओर आकर्षित रखे जिससे एकरस निर्विघ्न स्वरूपस्थिति प्राप्त कर हम सब जीवन सफल करे। हे गुरुदेव! सव प्रकार आप ही के आश्रित हम सब कल्याण मार्ग पर चल रहे हे, कृपया सदा आधार मे रखकर निज सिद्धात विचार का परम प्रेमी बनाये। बस यही आप से सानुरोध बारम्बार निवेदन ह।

छन्द

रिपु भी न कोई हे जिन्हे फिर सब स्वजाती जीव हे।
हाथ-पॉव उपाङ्ग सम सव रक्ष करुणातीव ह॥
शत्रु मित्र न पक्ष कोई नाविक स्वभाव सदीव ह।
परिवार अग जग जानकर हित शिक्षते सुख शीव हे॥ १॥
निस्स्वार्थ धृति शुचि शान्त चित सत पथ पथिक आदर्श हें।
निर्विघ्न युक्ती अनुभवी परिणामदर्शी शर्श हे॥
अति सहिष्णु समानचित उत्साह युत मग हर्ष ह।
इमि सद्गुरू सुविशाल पदरज दास वर्ग सपर्श हें॥ २॥

विनीत

टीकाकार और सत्यपाल, दाखबाई, गुनबाई आदि नेपाली व
राम सिह, धर्मेश्वर आदि बाराबकी के नेमी-प्रेमी वर्ग।

तीसरे संस्करण पर दो बातें एवं सद्भावना

एकात, शात, निर्भ्रान्त, निर्विकार स्वरूपलक्ष्य से जो बात सोची, समझी, कही एव बरती जाती है वह कितनी अकाट्य, अबाध्य, निज-पर हितैषी, सम्यक गुण-धर्म सयुक्त होती है, यह विचारवानो को विदित है। इसी प्रकार सकल्पो का द्रष्टा बनकर केवल पारख स्वरूप मे शाति पाने के लक्ष्य से इसमे सत्य निर्णयरूप सार शब्द अकित है।

प्रकारान्तर से सर्व सत्यन्यायी सत एक ही पारख बोध का सकेत देते है। सद्ग्रन्थो की शैली पृथक-पृथक होना सहज स्वाभाविक बात है। एक ही वक्ता द्वारा एक ही प्रसग चार बार कहने से न्यूनाधिक्य सरल एव कठिन होना प्रत्यक्षानुभव है। अब रह गया जिस सम्बन्ध से अपने को सद्बोध प्राप्त और पुष्टिकरण हो उसी से सच्चा प्रेम बनाकर कल्याण कर लेना विवेकी का काम है। केवल स्थिति के लक्ष्य से स्वय विवेक का आदर करना और उसी दृष्टि से सबके विवेक का आदर करना गुण ग्राह्यता का लक्षण है। जब भित्ति पर लिखी हुई बात को भी विवेकी जन हर्ष पूर्वक ग्रहण करते है तब विवेक सम्मत बात सबकी और अपनी, अपने गुरु के समान मानकर विरोध रहित सहर्ष स्वीकृत करना, बरतना ही कल्याणप्रद है।

सद्गुरु श्री विशाल देव के दर्श-पर्श सत्सग मे आते-जाते हुए और सतवर्य श्री बल्देव साहेब, श्री चेतन साहेब, श्री निराश साहेब आदि प्राचीन सन्तो से सर्व यथार्थ परिचय प्राप्त करने के पश्चात सन्त नीति प्रीतिरत कुशल प्रौढ लेखन एव सम्मोहन प्रभाषण प्रभावपूर्ण श्री अभिलाष साहेब द्वारा जो ग्रन्थ प्रवेश की आदि भूमिका लिखी गई है उसे पठन-मनन करके सहज ही जिज्ञासु जन मूल ग्रन्थकार और सद्ग्रन्थ भवयान का सार मर्म प्राप्त कर लेवेगे, फिर तो सम्पूर्ण भवयान सटीक वाटिका मे घूम-घूम कर परम उत्तम अमृत स्वरूपस्थिति रूप मिष्ठ फल का रसास्वादन करते ही रहेगे जिससे राग-द्वेष, कलह-कल्पना, अहकार एव कामना की ज्वाला शात होकर गुरुपद मे सदैव के लिए शीतल सतुष्ट एव शात हो रहेगे। जो सर्व सत्यन्यायी सतगुरु और स्वय-विवेक की समीचीन दिव्य भूमिका है उस सत्य देश मे अखिल सत-गुरु शात हुए है, उसी सत्य देश मे स्थिर रहने की सर्वखोजी प्रति आप सबका निर्देश है 'अबकी बार जो होय चुकाव। कहहि कबीर ताकी पूरी दाव'॥ बीजक॥

यह तो भूमिका विषयक निवेदन है, अब ग्रन्थ प्रकाशन विषयक कुछ कहना है। उपकारी निर्विकारी सन्तो, भक्तो, प्रेमियो के सहयोग बिना यह महान सत्कार्य नही हो सकता था। पूर्व मे भी सबका सहयोग था, अब भी है और आगे भी रहेगा। सद्गुरु चरण कमल के भ्रमर सतशरण दास जी नेपाली इस तृतीयावृत्ति प्रकाशन हेतु प्रथम से ही कुछ अर्थ प्रदान कर प्रोत्साहन देते रहे।

जब समय आया तब गुरुआज्ञा तत्पर आज्ञादास जी और श्री अभिलाष साहेब जी साथ ही इलाहाबाद आकर सब देख-भाल करके प्रकाशन कार्य प्रवाहित कर दिये। इधर गुरु विशाल देव के चरणारविंद के परम प्रेमी धैर्यवान परमार्थ दास जी सारी जिम्मेदारी लेकर वहा शोधन

कार्य के लिए निरत रहते हुए अपना स्वर्णिम समय दिये। ऐसे ही पुरुषार्थी हितैषी मनन दास जी का भी इसमे अथक प्रयत्न रहा है। और भी शुद्ध कल्याण साधन तत्पर सर्व गुरु-भ्राताओ के द्वारा प्रकाशन भावना की शक्ति सहायक हुई।

इधर मन, वच, कर्म, गुरुभक्ति-सेवा सलग्न 'पारख प्रकाशक कबीर सस्थान' इलाहाबाद के सहायक, उप सहायक कार्यकर्तागण लेखन शोधन एव सर्व उचित रक्षण कार्य मे सहयोग देते रहे हैं और भी जिनसे गुप्त-प्रकट सहायता मिली तिन सबके नि स्वार्थ परिश्रम प्रति हृदय मे अगाध स्नेह उमड पडता हे ओर स्मरण हो उठता हे—

सत हृदय नवनीत समाना। कहा कविन पै कहं न आना॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। परहित द्रवै सो सत पुनीता॥
(मानस)

अब तक दो बार भवयान सटीक प्रकाशित हो चुका हे। इस तीसरे प्रकाशन मे विशाल शरण (दस्तगीर) तस्य धर्मपत्नी सुगरा देवी और विशाल शरण के प्रिय बडे भ्राता मुहम्मद बशीर की अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त हुई तथा साथ ही अन्य सत-भक्त प्रेमियो का भी यथाशक्ति सहयोग प्राप्त हुआ जिसके फलस्वरूप यह विशालकाय सद्ग्रन्थ पूर्ण विशुद्ध पावन रूप मे प्रस्तुत हो पाया।

अपनी-अपनी शक्ति और सयोग के आधार पर मन, वाणी, कर्म ओर द्रव्य द्वारा जो सद्ग्रन्थ प्रकाशन करते हैं वे सब के सब निश्चय ही गुरुपद स्नेह भाजन बन कर कल्याण साधन तत्पर हो जाते हे, साथ ही अन्य पाठक वृन्द का भी हित होता रहता हे—

'है बडभागी जीव जो समुझत, मानत चलत सदैया।
शुभ जीवन से देह बितावे, स्वत. स्वरूप रहैया॥'
'यहि उतसाह भूलि सब जग को, मुक्त रहे नहि देह धरे॥'
(भवयान)

"जो सर्व परीक्षक परे दृश्य से पारख पद सद् प्यारा हे।
जो स्वय प्रकाशक भासक गुरुपद दुख द्वन्द्वो से न्यारा हे।
जो सतत प्राप्त निर्भय निश्चल निमल निज पद निर्धारा हे।
तिसमे होवे स्थिति यकरस यह सद्भाव हमारा हे॥"

सद्भाव चितक विनीत
प्रेमदास

पारख प्रकाशी सद्गुरु कबीर साहेब

विश्व-विख्यात, विश्व-वन्दनीय, निर्भयोपदेष्टा, पारखप्रकाशी, सद्गुरु कबीर साहिब के अविद्याहारक साखी-शब्दो की भनक किसके कानो मे न पडी होगी। सब सज्जन आपकी मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते हैं। आपके बनाये हुए साखी-शब्दो का परम प्रमाणरूप से उपयोग करते रहते हैं। आपने समस्त जनसमाज को सदाचरण रखने की शिक्षा दी। आपने कहा—

साखी—मानुष तेरा गुण बडा, मॉसु न आवै काज।
हाड़ न होते आभरण, त्वचा न बाजन बाज॥ १९९॥
कारे बड़े कुल ऊपजै, जोरे बड़ी बुधि नाहि।
जैसा फूल उजारि का, मिथ्या लगि झरि जाहि॥ ३३५॥

(बीजक, साखी)

हिन्दु की दया मेहर तुरुकन की, दोनो घट से त्यागी।
ई हलाल वै झटका मारे, आग दुनो घर लागी॥

(बीजक, शब्द १०)

इत्यादि अनीति पक्ष त्याग कराने के लिए सुन्दर-सरल-सुढंग खुले शब्दो मे सबको सन्मार्ग बताये। यदि आप जैसे सत्य शिक्षक की शिक्षा पाकर भी यह मन न चेते तो क्या उपाय।

इस पर भी आपने कहा है—

राह बिचारी क्या करे, जो पन्थि न चले बिचार।
आपन मारग छोडि के, फिरे उजार उजार॥ बीजक, साखी १९१॥

पर ऐसे भी कुछ मनुष्य हैं कि आपकी शिक्षा ग्रहण तो दूर रही, आपके पवित्र नाम से ही ऐसे कम्पित हो जाते है, जैसे मारीच राम के नाम से भयभीत हो जाता था। मारीच ने कहा है- "रा अस नाम सुनत दसकन्धर। रहत प्राण नहिं मम उर अन्तर॥" रा० ॥ जब कबीर साहिब के नाम से उनकी ऐसी दशा हो जाती है तब शिक्षा कैसे ग्रहण हो। कितने तो कबीर साहिब की सत्य शिक्षा सुधामृत पान करना छोडकर उनके जाति-पॉति, माता-पिता और जन्मभूमि जानने के लिए आकुल-व्याकुल रहते हैं। इन सब का समाधान थोडे मे ही करे तो हो सकता है। इस पर यह सम्वाद जो कोई मनन करे तो कबीर साहिब के बारे मे हृदयगत सन्देह दूर होने देर न लगेगी।

एक ने किसी सन्त से पूछा—आप किस पन्थ के हैं? सन्त ने कहा—सद्गुरु कबीर पन्थ के। मनुष्य—ओह! मै आपको भली प्रकार जानता हू कि आप तो विप्रवर—पण्डित सत्य-सागर हैं। आप कैसे इधर होकर निकले? अहो, बडे गजब की बात है, क्या आपको और कोई सम्प्रदाय न मिला? मै भी ब्राह्मण हूं, मेरी बीस विस्वा मर्यादा है अर्थात मै अत्यत प्रतिष्ठित हू

मेरा नाम पण्डित प्रभाकर है। मैने आपको अपना सजाति जानकर यह बात कही। सन्त सत्यसागर बोले—क्यो इतनी घृणा? इतना तिरस्कार क्यो? किस अपराध से? किस कारण से? पण्डित प्रभाकर—कबीर तो मद जाति के थे, इसलिए। सत्यसागर—बस, इतनी ही बात के लिए कबीर अनुयायियो से आपकी इतनी उखाड! इतनी पछाड!! बिना विवेक ही आप परशुराम हो रहे हैं! अच्छा! तो भी—

'क्षमहु चूक अनजानत केरी। चहिय ' ' ' एक तो आप जेसा कबीर साहिब के बारे मे समझते हे, वैसा है नही, वे जीवन पर्यन्त अखण्ड वेराग्यवान रहे। उन्होने स्वय अपनी जीवनी तो लिखी नहीं, उनके बारे मे मनभावन सब भिन्न-भिन्न कहा करते हैं। एक से एक विरोधी सब बात एक मे घटित होती नहीं। यदि आप जेसा समझते हो वेसा ही हो तो भी कबीर साहिब का सत सिद्धात पहाड मे रत्नवत लेना ही योग्य हे। क्यो पण्डित प्रभाकर! भगवान रामचन्द्र रघुवशी क्षत्रियकुल मे ओर कृष्णचन्द्र चन्द्रवशी यादव कुल मे, यहाँ तक कि बराह, मच्छ, कच्छ, नरसिंह ऐसे नीच पशुयोनियो मे भी कर्तार अवतार लिये ह न? फिर आप ब्राह्मण होकर उन तुच्छ वर्णज और पशुज अवतारो को क्यो श्रेष्ठ मान रहे हो? क्यो जी, ऐसा न्याय होना चाहिए? जो कहो वे परमात्मा तथा देव हें। उनका यह सब ऊपर का दिखावा मात्र है, वास्तविक उनका स्वरूप शुद्ध है, तो फिर ऐसे ही इधर समझिए, क्योकि विचार, वैराग्य, शीलादि सयुक्त स्वरूपबोध के ज्ञानी सन्त भी देहाभिमान से पृथक अविनाशी स्वरूपनिष्ठ होते हे। ऐसे यशस्वी सन्तो को आप राई-रत्ती कुछ समझते ह या नहीं? अच्छा! भगवान के वचन तो स्मरण करेगे—

चोपाई—"सप्तम सब मोहि मय जग देखै। मोते अधिक सन्त कहँ लेखै"॥ मानस॥

सोरठा—"ससृतसिधु अपार, ता मधि बूडत जीव सब।
तिन्हे उतारनहार, बोहित सन्त स्वरूप मम"॥ विश्रामसागर॥

देखिए! स्वय रामचन्द्रजी नवधाभक्ति मे कहते ह—यथार्थज्ञान, भक्ति, बेराग बिना जगत मे धन, बल, विद्या, वर्ण किसी की विशेषता नहीं हे। यथा—

चौपाई—"जाति पाँति कुल धर्म बडाई। धनबल परिजन गुण चतुराई॥
भक्ति हीन नर सोहैं कैसे। बिनु जल वारिद देखिय जैसे॥"

गीता मे जहा पर अर्जुन से कृष्णचन्द्र ने कहा हे कि इस रजोगुण से उत्पन्न काम-क्रोध ही आत्मा के परम शत्रु हैं। देह से परे इन्द्रिय, इन्द्रिय से परे मन, मन से परे बुद्धि, बुद्धि से परे आत्मा को अविनाशी शुद्ध जानकर हे अर्जुन! इस अजेय रिपु काम-क्रोध को मारकर सुखी होओ। विवेक करो! नरदेह के ही नाम, रूप, वर्ण, आश्रम हुआ करते ह न! फिर

चौपाई—"मूरख कि सु देह अभिमानी। मम स्वरूप जानै सोइ ज्ञानी"॥ विश्रामसागर॥

जैसे कोई नदी मे डूबने लगे अथवा अग्नि मे जलने लगे या सर्प, बीछी, विषेले वन-जन्तुओ से गस जावे और हा! हा! करने लगे उसी समय कोई अन्य दयालु-कृपालु पुरुष आकर अपनी सरल युक्तियो से उन सकटो का निवारण करने लगे तो क्या उस समय दुखिया मनुष्य दयालु-कृपालु की जाति-बिरादरी, माता-पिता और कितनी मर्यादा है आदि यही सब पूछ-जाच करेगा अथवा सकट से बचने की कोशिश करेगा? हा, जाति आदि का सम्बन्ध तो लौकिक व्यवहार मे किया जाता है, जिससे व्यवहार मे विक्षेप न हो, न कि सत्य सिद्धात के

बारे में। देखिए! विद्या पढने या कोई हुनर, ज्ञान, गुण, सिद्धात सीखने आदि कार्यों मे क्या केवल अपनी-अपनी बिरादरी वालो से ही सबंध किया जाता है? नहीं। वह विद्या, गुण ज्ञान जिस किसी के भी पास होगा वहाँ से ही ले लिया जाता है, इसका आप भली प्रकार विचार करे।

मात्र देह के नाम, रूप, वर्णाश्रम मे क्या कुछ ज्ञान-गुण भरा होता है? इन बातो मे पूर्व सस्कार तथा अबका पुरुषार्थ और सत्सग का योग ही प्रधान हेतु है, वर्णाश्रम हेतु नही। रात-दिन आप गीता, रामायण, भागवत आदि शास्त्रो को देखते हैं, कुछ उसमे से सार ग्रहण किये हैं या कोरा देह-अभिमान का ही प्रवाह चलेगा? समग्र धर्मशास्त्रो मे जहाँ आत्मा-अनात्मा का विवेचन हुआ वहाँ त्रिगुणात्मक प्रकृति का निषेध ही किया है। पुन. पूर्व ऋषियो की जड तो सोचिए—

"बालमीकि नारद घटयोनी। निज-निज मुखन कही निज होनी॥
सोई भरोस मोरे मन आवा। को न सुसग बडापन पावा॥"

शास्त्रो का कथन है—

जातो व्यासस्तु कैवर्त्या श्वपाक्याश्च पराशरः।
शुक्याः शुकः कणादाख्यस्तथोलूक्या. सुतोऽभवत्॥
(भविष्य पुराण)

धीवरी से व्यास,भगिनी से पाराशर, शुकी से शुकदेव तथा उलूकी से कणाद जन्म लिये। कैवर्तिन्यजनयद व्यासं कुशिकं चैव शूद्रिका॥ ९॥ विश्वामित्रं च चण्डाली वशिष्ठ चैव उर्वसी ॥ १०॥ धीवरी के पेट से व्यास, शूद्राणी के पेट से कौशिक, चाडालिनी के पेट से विश्वामित्र तथा उर्वशी के पेट से वशिष्ठ का जन्म हुआ।

इस पर यह उदाहरण स्मरण कीजिए कि अष्टावक बिलकुल कुरूप और आठ अंगो से टेढे थे। उन्हे देखते ही जनक और जनक के सभासद एकदम हँस पड़े। सबके साथ ही अष्टावक्र भी एकदम खिलखिलाकर हँस पडे। सभासदो ने अष्टावक्र से पूछा—आप क्यो हँस पडे? अष्टावक्र ने कहा—आप लोग पण्डित-समूह क्यों हँसे? पण्डितो ने कहा—आपकी महान कुरूपता को देखकर, फिर भी शास्त्रार्थ के हेतु आये हुए विचित्र चेष्टा पर हम लोग हँसे है।

अष्टावक्र ने कहा—तुम सब चमारो को एकत्रित देखकर फिर भी उच्चता, वर्णाभिमान की चेष्टाये, ऐसी तुम लोगो की मूढ़ता पर मै भी हँसा हूँ। तुम लोग पढ-लिखकर भी बेदुआ चमार बन बैठे हो। तुम लोगो की बिलकुल चर्मदृष्टि है। देखो! गन्ना टेढा होता है, परन्तु रस नही। कूप या नदी टेढी होती, पर जल नही। पिजरा, घर, मन्दिर चाहे जैसे हों पर साक्षी पुरुष शुद्ध ही है। ऐसे निर्भय वाक्य सुनकर सब बेदुआ पण्डित सन्न रह गये और नम्रतायुक्त जनक सहित सब पण्डितो ने अष्टावक्र को नमस्कार कर उच्चासन दिये।

किसी भी सत्पुरुष के शरीर के नाम, रूप, वर्ण जो कुछ भी हो, पर उनकी शिक्षा सर्वदा उच्च कोटि की हुआ करती है, उन्हे समझदार लोग सर्वदा ग्रहण करके सादर उसी सन्मार्ग पर चलकर कृतार्थ होते हैं। इससे समझदारो को शुद्ध लोक बरताव मे भी हानि नहीं होती, साथ

ही परमार्थ की सिद्धि भी होती है। यदि महात्माओ की शिक्षा ग्रहण न कर सके तो कम से कम उनसे द्वेष न माने तो भी कुछ कुशल हे। यह स्मरण रहे--

दोहा--"पर धन गुण यश रूप मे, होत ईरषा जाहि।
जलत रहे दुख अग्नि में, कौन बचावे ताहि॥"

इन बातो को सुनकर पण्डित लज्जित होते हुए बोले--हे साधु सत्यसागर! आप तो सत्य सागर ही है। अच्छा! यह तो बताइये कि आप सब देवो से बढकर कबीर देव को समझते हैं क्या? सत्यसागर बोले--इसमे आपको कुछ सन्देह है क्या? अच्छा! इसमे आपकी क्या राय है? प्रभाकर--हमारी राय से तो अपर देव भी श्रेष्ठ है। सत्य सागर--आप अपनी बुद्धि से ठीक ही कह रहे हैं--

"जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देंखी तिन तैसी॥" उक्त न्याय से विवेक न कर केवल पूर्व लोकविश्वास ही पर आप चले तो भी इस तरफ आपको त्रुटि न प्रतीत होना चाहिए। लोगो के मुख से सुना गया है कि एक बार कहीं तुलसीदासजी मथुरा गये, वहाँ कृष्ण-मन्दिर मे जाकर देखा तो कृष्णप्रतिमा के पूजकगणो ने उन्हे खूब शृगारित कर रक्खा था। तब तुलसीदासजी ने कहा--"कहा कहौं छवि आपकी, भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बान लेव हाथ॥" इससे यह स्पष्ट हो गया कि-

दोहा--निज निज इष्टहि सब नवें, जाहि जहाँ तक दर्श।
अपर राम को भजत हैं, राम शिवहि कहि शर्श॥

समझा आपने! कितने तो साहिब पद मे खिन्न होते हे, पर साहिब कहते ह श्रेष्ठ को। तुलमीदासजी ने भी अनेक जगह साहिब लिखा है--

यथा--"प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आप समान।
तुलसी कहूँ न राम से, साहिब शीलनिधान॥
गई बहोरि गरीब निवाजू। सरल सबल साहिब रखुराजू॥" (मानस)

अत. साहिब पद मे खिन्न होना निरर्थक हे। एक ही शब्द को भाषा के भेद से "साहिब-साहेब-साहब" नामो से लोग कहा करते हें। कितने कबीर साहिब को दूर से ही निन्दकी सुन लिये, इसलिए उनकी सद्शिक्षा से अनखाते हैं। पर आप विचारिये कि उलटा-पलटा कहना निन्दा कहा जाता हे। यथार्थ बात कहना निन्दा नहीं, बल्कि, निर्णय करना है। जो जिस बात को समझ नहीं पाता वह उसमे दोषारोपण ही किया करता हे। परन्तु "जसे को तसा कहे, सो तो निन्दा नाहिं॥"

हाँ! इसमे यह बात हे कि ज्यो-ज्यो ऊपर चढा जायगा त्यो-त्यो नीचे की सीढ़ी छूटती जायगी। स्वरूपज्ञान ओर स्वरुपज्ञान साधक साधुगुरु की उपासना ही कबीर साहिब का मुख्य निर्णय ज्ञान हे। देखिए पण्डितजी! वेदान्त शास्त्र मे भी आगे चलकर आत्मज्ञान की जगह से प्रतिमा पूजनादि बाहरी कर्मकाण्ड को कनिष्ठ ही कहा हे।

पूजा तीन भाँति की हेरी। प्रतिमा वैष्णव आतम केरी॥
उत्तम आतम मध्यम साधू। कछु कनिष्ठ प्रतिमा अवराधू॥ विश्राम सागर॥

पर उनका विचार न करे तो समझ मे कैसे आ सकता है। इसी प्रकार पारख विचार की बात तो अति सूक्ष्म है, बिना निष्पक्ष हुए और कुछ काल बिना पारखी गुरु का सत्सग किये पारख सिद्धात प्राप्त होना दुर्लभ है। देखिए पण्डित प्रभाकर। द्वैत-अद्वैत-विशिष्टाद्वैत किसी भी सिद्धात के अनुसार अहिसा, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियदमन, दया, दान, धर्मादि करते रहने से इहलोक और परलोकरूप पुनर्जन्म मे शरीर के सब अल्पसुख कर्म, काल, सस्काराधीन मिलते ही रहते है, पर सर्वथा जन्म-मरण की निवृत्ति के लिए यथार्थ स्वरूपज्ञान ही ग्रहण करना पडेगा। क्योकि "सग्रह त्याग न बिनु पहिचाने" यथार्थ सत्यासत्य की परीक्षा बिना असत्य का त्याग तथा सत्य ग्रहण कैसे होगा, और सत्य को ग्रहण किये बिना असत्यमूलक भ्रमजनित जन्म मरणादि की भी कैसे निवृत्ति होगी।

साखी—हीरा सोइ सराहिये, सहै घनन की चोट।
कपट कुरगी मानवा, परखत निकरा खोट॥ १६८॥
बलिहारी तेहि पुरुष की, जो परचित परखनहार।
साई दीन्हो खॉड को, खारी बुझे गॅवार॥ १३२॥
हरि हीरा जन जौहरी, सबन पसारी हाट।
जब आवै जन जोहरी, तब हीरो की साट॥ १६९॥
साहु चोर चीन्है नहीं, अधा मति का हीन।
पारख बिना बिनाश है, कर बिचार होहु भिन्न॥ १५९॥

(बीजक, साखी)

भूल मिटै गुरु मिलै पारखी, पारख देहि लखाई।
कहहि कबीर भूल की औषध, पारख सबकी भाई॥

(बीजक, शब्द ११५)

इस प्रमाण से यदि आप जन्म-मरणादि क्लेशो से निवृत्त होना चाहते हैं तो यथार्थ स्वरूपज्ञान को प्राप्त होइए। सत्य के आगे और पीछे असत्य होता है। दो-दो मिलकर चार सत्य है, परन्तु दो-दो मिलकर चार के आगे आठ या दस कह देवे तो झूठा है। यदि दो-दो चार से कम, दो-दो एक होता है ऐसा कह देवे तो भी झूठा ही है, और दो-दो चार बालक भी कह देवे तो मान लिया जाता है और दो-दो आठ वृद्ध, कुलीन, पडित भी कहे तो कोई नही मानता। पण्डित प्रभाकर बोले—अच्छा। यथार्थ पारख या सत्य सिद्धात कैसे प्राप्त होता है, क्योकि सिद्धातो मे बहुत मतभेद है। साधु सत्यसागर ने कहा—स्मरण कीजिए, बोध होने के प्रथम पारख प्राप्ति के लिए यह नियम होना चाहिए—"पारखी से सग करु, गुरु मुख शब्द विचार।"

साखी—अन्तस थिर ज्वाला रहित, अभय न चिन्ता जब्ब।
फिक्र रहित मन निरस जहॅं, शोध यथारथ तब्ब॥

(मुक्तिद्वार, स्वतत्त जीवशतक ७२)

धन विद्या कुल रूप प्रमादा। त्यागि सुसग करो अहलादा॥
सबै योनि मत पथन माहीं। भ्रमत अमर जिव पक्ष न चाही॥

ताते मत पथ पक्षहि त्यागो। निर्णय सहित झूठ से भागो॥
अपने पर का पक्षै छोडौ। देखा देखी ऑख न फोडौ॥
पैसे की हडी जब लेवो। ठोक बजाय दाम तब देवो॥
बहुत दाम का हीरा भाई। क्यो न परीक्षा करके लाई॥
घन प्रहार करि सॉचे हीरा। फूटि जाय तो काँचे खीरा॥
तैसे जो काटे कटि जावे। सो सिद्धात ठीक नहि भावै॥
जिसके आगे सब कटि जावै। काटि छाँटि के आपु रहावे॥
सो सिद्धात ठीक है भाई। जासे सबकी पारख पाई॥
वेद शास्त्र पुराण कुराना। पक्ष त्यागि निर्णय तब जाना॥
ताते बन्धु मोह तुम त्यागो। निर्णय सहित झूठ से भागो॥

उपर्युक्त बाते सुन कर पण्डित प्रभाकर ने कहा—साधु सत्यसागर! सद्गुरु कबीरसाहिब के बारे मे मेरा सब विक्षेप जाता रहा। आपकी सब बाते अक्षरश सत्य-सत्य है। अच्छा! कृपाकर आप सर्वशिरोमणि सद्गुरु कबीरसाहिब का पारखप्रदर्शक कोई कथा सुनाएगे? सन्त सत्यसागर ने कहा—अवश्य! आपको हम पारखज्ञान सत्य सिद्धातप्रदर्शक 'भवयान'' नामक सद्ग्रन्थ की कथा सुनाएगे। इसकी रचना कबीरसाहिब के पारख सिद्धात परिचायक बीजक के अनुकूल ही हुई है। यद्यपि पारख परिचय के लिए बीजक ही पर्याप्त है तथापि सन्तजन देश काल समयानुसार उसी सत्य ध्येय को प्रफुल्लित करने के लिए भाँति-भाँति की युक्तियो से सहजिक अनुभवयुक्त शब्द कहते ही रहते हैं।

जैसे बीजक के सिद्धात को ही स्पष्ट-पुष्ट, वृद्धि करने के लिए ''श्री पूरणसाहिब'' ने त्रिज्या टीका, निर्णयसार तथा शब्दावली की रचना की। ''श्री रामरहससाहिब'' ने पंचग्रन्थी की रचना की एव ''श्री काशी साहिब'' ने निष्पक्षादि की रचना की। ओर भी पारखनिष्ठ सन्त जनो ने अनेक ग्रन्थो की रचना की ओर कर रहे हैं। वेसे ही बीजक के सत्य-सिद्धात प्रफुल्लक पुष्टक विस्तारक ''परम विरागमूर्ति सद्गुरु विशाल साहिब'' के दिव्य अत करण से समय-समय पर निकले हुए साखी-शब्द वचनो का समूह रूप यह सद्ग्रन्थ ''भवयान'' है। जिन सद्गुरु की कृपा से पारख सिद्धात का प्रकाश हुआ उन सद्गुरु कबीर साहिब का ही बोध-रहस्य पूर्ण लेने से उन्हीं का नाम इसमे जगह-जगह शब्दो के अत मे छाप है। कैसा उत्तम सराहनीय अनुकरणीय आदर्श! सर्वशिरोमणि अमृतदाता के पारख ज्ञानदान को लेते हुए और जिज्ञासु के प्रति उसका विस्तार करते हुए अमृतदाता के ही पवित्र नाम को लेना कहना यह अति कृतज्ञता-दीनता का सूचक परिचय है, सीमा है। यह सारी शिक्षा-दीक्षा आप पारख प्रभु कबीरदेव की है। आपके ही बोध प्रकाश से हम अज्ञ बोधवान प्रकाशवान हुए हैं। अत. जिसका दान तिसका नाम इस श्रेष्ठ न्याय से आपका ही नाम स्मरण हो रहा है।

यो तो विनय-विधान भर मे गुरुदेव की अनन्त उपकारता और अपनी चिर कृतज्ञता का वर्णन है। फिर ग्रन्थान्त मे ग्रन्थकर्ता ने अपना खास नाम लेकर अपनी कृतज्ञता ओर सद्गुरु की उपकारिता को स्पष्ट कर दिया है। यथा—''दास विशाल को काज बनायो, प्राप्ति स्वत गम्भीर। दाता भिक्षुक कीन्ह एक सम, एकै आप कबीर॥ का उपकार कही की?'' इत्यादि। हे प्रभाकर! ऐसे परम पवित्र भवयान के सात प्रकरण और सोलह पाठ हैं। इसकी टीका शिक्षाग-

स्पष्टाग ओर दृष्टात सहित होने से पाठक और वक्ता को अलग से अधिक विवेचन की आवश्यकता नही पडेगी और सुनने वालो को सरलता से सत्य सिद्धात ग्रहण होते हुए दिनोदिन निर्णय-कथा मे श्रद्धा बढती जायगी। प्रतिदिन नियम पूर्वक प्रात., साय, मध्याह्न मे रुचि के अनुकूल कहते-सुनते-पढते पारखस्थिति मे नित नव प्रियता पुष्ट होती रहेगी।

अत: हे प्रभाकर! सत्सगाश्रम मे जैसे अन्य भावुक जिज्ञासुजन नित्य आते हैं वैसे आप भी आया करिए। जैसे शरीररक्षा या पुष्टि के लिए वही-वही अन्न-जल, गृह आवश्यकीय व्यवहार सब वही-वही उपयोग होता है, उसमे पुनरुक्ति नही होती, वैसे मानसिक सुधार के लिए जीवन पर्यन्त सत्यसिद्धात प्रेरक वही-वही ग्रन्थ, वही-वही रहस्य, वही-वही विचार, वही-वही ज्ञानकथा की वही-वही बात बारम्बार कहने, सुनने, पढने, गुनने से हृदय मे वही सब बात पुष्ट हो जाती है, उसमे पुनरुक्ति दोष नहीं होता। बल्कि इससे जन्म-मरणादि दुखो की निवृत्ति होती है।

जैसे जल और मीठा तथा सुवास लेने वाले नदी, कूप, गन्ना, मलयगिरि, गुलाब आदि की टेढाई कांटा आदि नहीं देखते, जैसे चावल लेने के लिए किसान पयाल से धान लेकर पुन. धान को भी कूट-छाट कर चावल ग्रहण करते है, वैसे ही कल्याणार्थी केवल सस्कृत वाक्यसौन्दर्य और भाषा के विवाद मे न पडकर मात्र सत्य निर्णय-बोधक सत्य ज्ञानप्रद शब्द को ग्रहण करते हे। क्योकि "निर्णय सो सबके हितकारी। जेहि परशे जिव होय सुखारी। नीर क्षीर का करे निबेरा। कहहिं कबीर सोई जन मेरा"॥

पण्डित प्रभाकर ने कहा—हम नित्य प्रति सादर 'भवयान' की कथा अवश्य सुनेगे। सन्त—

अच्छे-अच्छे ज्ञान सुनावैं। भटके जीव सुमारग लावैं।
समता शील सुमति उपजावैं। वैरिन कुमति को मारि भगावै॥
अविनाशी स्थिर पद पावै। वही यतन क्षण-क्षण सरसावै।
चूर धूर कर भूल हटावैं। आप तरे औरौ तर जावैं॥"

बीजक का एक मन्त्र

शब्द

बन्दे करिले आप निबेरा॥ १॥
आपु जियत लखु आप ठौर करु, मुये कहाँ घर तेरा॥ २॥
यह औसर नहिं चेतहु प्राणी, अत कोई नहिं तेरा॥ ३॥
कहहिं कबीर सुनो हो सन्तो, कठिन काल को घेरा॥ ४॥

(बीजक, शब्द ८०)

श्री विशाल जीवन दर्शन पदावली

[१] चले गुरुदेव विराग करन को, भूल जनित दुख द्वन्द्व हरन को॥ टेक॥
जफ्फरपुर मे जनम लियो है, ग्राम्य सरैंयाँ पलन को।
बाराबंकी जनपद माहीं, पोस्ट मझगवाँ कहन को॥ १॥

सीताराम वर्मेश पिताजी, जननी प्यार करन को।
प्रिय विशाल सुत पालि सयानो, शील बदन सो यतन को॥ २॥
रघुवर स्वामी आइ मिले है, तेरह वरष बदन को।
जीव जमा कहि दृष्टि विकास्यो, बोध विशाल ग्रहन को॥ ३॥
बीस और इक्कीस के माही, गुरु से भेष लहन को।
तृण सम कुटुम्ब जाल को तोडे, प्रेम अभय मन बन को॥ ४॥

[२] सन्त विशाल विशाल गुणन से, गति मति धीर गभीर सुजन से॥ टेक॥
गुफा बाग जगल मे बैठे, फल दल भूख सहन से।
बँधिया बाग एकान्त अधिक रहि, जीतेव इन्द्री मदन से॥ १॥
फाँसी हुकुम कोई को होवै, छूटै कोटि यतन से।
सन्त सजग त्यो उपशम जग से, विरति विवेक मथन से॥ २॥
बीस तीस चालिस मे प्रभु को, तप कृत तेज बढन से।
तज परवृत्ति जगत सुख आशा, विचरण भूमि सदन से॥ ३॥
बीते साठि रु पैसठि माही, रचि भवयान सुजन से।
मुक्तिद्वार सत्यनिष्ठा भाख्यो, प्रेम दास नव नेम तरन से॥ ४॥

[३] भारत भुवन प्रकाश करन मे, गुरुजी बसत नित शान्त सदन मे॥ टेक॥
अस्सी नब्बे वर्ष निकट अब, केते आये शरन मे।
सन्त भक्त विनवत कर जोरे, भीड लगी दरशन मे॥ १॥
दुख-सुख हर्ष-शोक मे स्थिर, पन्थी लक्ष्य स्वमन मे।
साहस हिम्मत लगन वीरता, जीवन्मुक्त गुणन मे॥ २॥
प्रेमी जन के मध्य प्रेम लघु, गुरुपंद चरित्र मनन मे।
सकल परीक्षक पारख अविचल, सोई विशाल विश्राम ग्रहन मे॥ ३॥

कवित्त

पर पीर हरण भ्रमण सु पथिक पथ, बानबे बरस बीच विश्ववन्द्य आइगे॥
मूँजापुर ग्राम्य मध्य भयो इतिवृत्त पूर्ण, वदत विशाल नग्र लोग दर्श पाइगे॥
आह जो अनन्त औ अगाध अश्रुस्रोतन सो, भवयान यान पै चढाय के तिराइगे॥
पारख स्वबोध थीर वीर से कबीर धीर, प्रेम सो विशाल मब धन्य अचलाइगे॥

दोहा—फाल्गुन वदि छठि छह बजे, होतहि प्रातःकाल।
सम्वत् तैंतिस युग सहस, तन तजि शान्त विशाल॥
कबीर सन्त विशाल गुरु, कर्णाधार महान।
भवतारक दृढ पोत ये, बीजक वित भवयान॥

विशाल रहस्य स्मृति पद

गुरु विशाल विशाल रहे, जन मानस के स्वर बोल उठे।
सद्भेव विशाल विशाल कहे, जन मानस के उर तोल उठे॥ १॥

गुरुदेव संत जो बोधक बोध दिये, जेहि मानस हस सुशोध लिये।
पद थीर गंभीर कबीर प्रिये, निज पारख बोध सुघोल उठे॥ २॥
सब आपन और बिरान कहाँ, जब दुक्ख छुडावन ध्यान जहाँ।
निर्बन्ध स्वपारख न्याय तहाँ, वहि देव विशाल अमोल उठे॥ ३॥
उन त्याग तपोधन एकवृत्ती, शुभ किर्ण कि पुंज बिखेरयती।
सब संग से नित्य असंग धृती, मन वेग के पर्दे पोल उठे॥ ४॥
इक दृष्टि पडी दुख हान लिये, भवयान सो अद्भुत यान दिये।
भवधार से पार किये जन को, प्रभु प्रेम हृदय विच डोल उठे॥ ५॥

ग्रन्थ-गौरव

भव भय भूल भगाने वाला, लखौ लखौ ये है भवयान।
सोते जीव जगाने वाला, पढौ पढौ ये है भवयान॥ टेक॥
विनय विधान विमद की जूटी, भक्तिभरण तो भक्ति कि घूँटी।
इच्छा पारख मन छल छूटी, जगत जहर जग दुख की बूटी॥
क्षण-क्षण सुमग लगाने वाला, लखौ लखौ ये है भवयान॥ १॥
ले वैराग्य वित्त वित अक्षय, साखीसुधा सुधा पी सुखमय।
जड चेतन निर्णय लखि निर्भय, जड से भिन्न अचल जीवहि जय॥
सातो सीढी ध्याने वाला, लखौ लखौ ये है भवयान॥ २॥
अनुभव ज्योति जगामग जागै, मोह मनोज चोर सब भागै।
हो वर वीर समर मे पागै, रिपुहिं अविद्या दलि मलि आगे॥
अजर अमर पद पाने वाला, लखौ लखौ ये है भवयान॥ ३॥
पारख सत-सिद्धात पताका, बंध-विनाशक विजयी शाका।
कायावीर कबीर प्रभाका, वर-विशाल अनुभवकृत टाका॥
बीजक-लक्ष्य सुझाने वाला, लखौ लखौ ये है भवयान॥ ४॥
पढै गुनै हम धुनैं विचारै, प्रेम सहित निज जीवन वारैं।
सद् रहस्य को पग पग धारै, जड ग्रन्थी को शीघ्र निवारैं॥
पूरण काम बनाने वाला, लखौ लखौ ये है भवयान॥ ५॥

दोहा—श्री गुरुदेव विशाल कृत, रवि रव निकर अबाद।
रोगी डूबत क्षुधित कहँ, औषध यान प्रसाद॥ १॥

टीका—वैराग्य रूपी श्री (ऐश्वर्य) विभूषित सद्गुरु विशाल साहेब द्वारा रचित यह सद्ग्रन्थ कैसा है कि रवि=सूर्यवत्, रव=शब्द रूप किर्ण, निकर=बहुत प्रसगो सहित, अबाद=प्रकाशित हो रहा है। यह मानसिक रोगी को, भ्रम सिन्धु मे डूबते को, तृष्णा भूख से व्याकुल को, श्रेष्ठ औषधी, यान-जहाज, और प्रसाद-यथेष्ठ अमृत भोजन के समान फलदायी एव कल्याणकारक है॥ १॥

सद्गुरवे नम·

सूची-पत्र

प्रथम प्रकरण—विनय-विधान

द्वितीय प्रकरण—भक्ति-भरण

तृतीय प्रकरण—इच्छा-परीक्षा

चतुर्थ प्रकरण—जगत-जहर

पंचम प्रकरण—वैराग्य-वित्त

षष्ठ-प्रकरण—साखीसुधा

अपना बोध

सप्तम प्रकरण—जड़-चेतन-निर्णय

स्वरूप शोधन

प्रार्थना

हम पतित को हे पतितपावन शात्पिद दरशाइये।
अज्ञान तम के हो दिवाकर ज्ञान सद् सरसाइये॥ टेक॥

जड भास औ अध्यास कल्पित मानने के धार में।
बहते हुए हम जा रहे भवयान यान चढाइये॥ १॥

क्या क्या किया नहि क्या सहा नहिं दुक्ख अगणित जग विषे।
मन वश रहे उलटे सदा हे बन्दिछोर बचाइये॥ २॥

अनमोल मानुष देह मम पशु भोग मे ही जा रही।
करि प्रेरणा सद्धर्म मे अविचल स्वमग ठहराइये॥ ३॥

मान सुख और जीत राजस पूर्व की आसक्तियॉ।
ये विघ्न बाधा बाध कर बोधेश बोध दृढाइये॥ ४॥

नित भक्षको के मार्ग मे कितने हि दिन भटके थके।
अब तो मिले रक्षक प्रभो। अवलम्ब नाथ। देवाइये॥ ५॥

शिशु की सकल विपरीतता क्षमि मॉ उठाती गोद में।
हे धर्म पितु मॉ। पालिये सरकार शरण लगाइये॥ ६॥

साहस सहन परयत्न सब नित आप ही की ओर हो।
ऐसी प्रबल दृष्टी मिलै जिससे न आप भुलाइये॥ ७॥

हृदि भाव को है जानते कुछ भी छिपा नहि आपसे।
निज मग प्रयत्न प्रदान करि आवागमन छुडवाइये॥ ८॥

यद्यपि दया बल आपके ही आपको हितकर लखे।
तद्यपि न पलटूॅ विघ्न बहु हे विघ्नहर उर आइये॥ ९॥

अविनाशि अमृत एकरस अविकार जो कि विशाल पद।
अब दे सदा आधार पदरज दीनबन्धु टिकाइये॥ १०॥

सबका परीक्षक एकरस सिद्धांत सत्य कबीर का।
दृढ़ ध्येय भाव अखंड निज यह प्रेम पाठ पढाइये॥ ११॥

विनय-विधान

हेतु-छन्द

हम सव हुए हं दीन दुखिया भूल वश अज्ञान से।
गुरुदेव सो पुरुपार्थ करि भ्रम तम विनाशे भान से॥
निज दीनता गुरु श्रेष्ठता की याद क्षण-क्षण ध्यान से।
भवग्रन्थि छेदन शस्त्र यहि गहिये विनय सु विधान से॥

साखी

विपति विदारण मदहरण, जडासक्ति कहँ काल।
कहे वचन ऐसे सुखद, विनय-विधान विशाल॥

सद्गुरवे नम

भवयान

प्रथम प्रकरण : विनय-विधान

मंगलाचरण

सोरठा—१

पारखरूप कबीर, सृष्टि मनोमय से पृथक।
हरौ महाँ भवभीर, बन्दीछोर उदार चित॥ १॥

टीका—जिसमे जडासक्ति, जड मानना, जडाध्यास, किसी भी बन्धन का लेश न हो, जो स्वय प्रकाश एकरस हो, उसे पारख स्वरूप कहते हैं। जिन्होने काया, इन्द्रिय, प्रकृति तथा मन की विकारी चालो को तोडकर एकरस स्वरूपस्थिति प्राप्त किया हो, उनको कायावीर कबीर कहते हैं और जो भूल से ही तेयार हो, ऐसे जन्म-मरण, हर्ष-शोक, चिन्ता, कामादिक विकारो को मनोमय सृष्टि कहते हे। शिष्य वन्दना कर रहा है—हे पारखरूप कबीर साहिब! आप मनोमय सृष्टि से अलग हे। अतएव आप मेरे महा विकराल भवभीर एव तन-मन उपाधि को हरण कर लीजिये, क्योकि आप खानि-बानी बन्धन छुडाने मे समर्थ बन्दीछोर ह और अभय दान देने मे उदारचित हे॥ १॥

संतशिरोमणि आप, पारख ज्ञान प्रकाश करि।
हर्‌यो मोह सताप, जीवन के उपकार हित॥ २॥

टीका—हे सतो के पूज्य शिरमौर अग्रगामी माननीय श्रेष्ठ श्री कबीर देव! आपने ही दिव्य पारख ज्ञान का जगत मे प्रसार कर दीन जीवो के अज्ञानजनित सकल देह दु.खो को हरण कर लिये। आप तो स्वरूप को प्राप्त कर स्थित ही हुए, साथ ही पारख ज्ञान का प्रचार जो आपने किया उममे केवल अन्य जीवो के कल्याण होने के लिए अहेतुक दयानिधान दया किये। धन्य-धन्य ऐसे नि स्वार्थ दानवीर को! ॥ २॥

सोइ रूप सब सत, जे निजरूप को प्राप्ति हे।
अजहूँ वोइ रहत, बन्दो शीश झुकाय तिन॥ ३॥

टीका—आपकी परम्परा से बोध स्थिति होते आये हुए पारखी सत पारख रूप ही हैं, जो अपने सत्य स्वरूप को जानकर उसी में ठहर गये तो भला उनका गुरुपद स्थिति में भिन्न कैसे कहा जाय? "पारख में जो है गयो थीरा। तिन पायो गुरु मत कबीरा" गुरुपद प्राप्त जीव गुरुपद रूप ही है। "लोहा कनक पारस करै, माहेब [illegible] समान"। [illegible] वर्तमान में भी जिस पारख भूमिका को प्राप्त पारखी सत विराजमान हैं, [illegible] को मैं [illegible] कबीर साहिब' के रूप ही मानकर तथा अपना इष्टदेव [illegible] आदर [illegible] करता हूँ ॥ ३ ॥

करो बोध परकाश, विषय विराग दिल मे धरो।
यही सदा मोहि आश, पार होऊं गहिके चरण ॥ ४ ॥

टीका—हे पारखरूप पारखी साधु गुरुदेव! आप स्वरूपबोध का प्रकाश कर दीजिये, जिससे मेरे दिल मे अनर्थकारक विषयो मे उपरामता दृढ़ हो जाय। बस यही मुझे एकमात्र लालसा है कि आप सत गुरु के चरण कमलो का आश्रय होकर जन्म-मरणादि संसार से मैं मुक्त हो जाऊँ ॥ ४ ॥

ध्यावो संत समाज, सदा सहायक एकरस।
मिलै अचल पद साज, कारज या उनसे सधै ॥ ५ ॥

टीका—पुनः संतसमाज का ध्यान करता हूँ, जो कि सदा एकरस सहायता देते रहते हैं। संतसमाज के अतिरिक्त कुटुम्बी, भूपाल, मित्र आदि जो हित [illegible] तो [illegible] हैं, पुनः पीछे से वे ही घात करने लगते हैं। पर संत-समाज बोध और [illegible] सदा के लिए मनोमय से पार करके एकरस अखंड स्वरूपस्थिति करा देते हैं, अतः [illegible] एकरस और सबसे श्रेष्ठ कही गई। सतो की कृपा से ही अचल स्वरूप-स्थिति और स्थितिरक्षक शुद्ध रहस्य, शुद्ध सग, शुद्ध बुद्धि आदि सामग्री मिलती है। यह [illegible] उन्ही सत-गुरु से हो सकता है, अन्य किससे यह सामर्थ्य है कि मनोमय से पार होकर दूसरो को पार करे ॥ ५ ॥

घोर रात्रि अज्ञान, नहिं जानत क्या करन मोहिं।
चिंता शोक दहान, इत उत भटकत कष्ट मे ॥ ६ ॥

टीका—निज स्वरूप को न जानना तथा जड विषयो मे सुख समझना ही अज्ञान है, यह अज्ञान भादो रात्रि के घोर अधकार के समान है। उसमे यह नही दिखाई देता कि मेरा हिताहित कर्तव्य क्या है। इसी प्रकार अज्ञानवश भोग-चिंता, मिलन-बिछोह की शोकाग्नि मे जलते हुए इधर-उधर ऊँचे-नीचे वासनावश दुख ही दुख के पथ मे यह जीव भटकता [illegible] रहा था। विषयभोग के अतिरिक्त आगे स्वरूपस्थिति का मार्ग नहीं सूझता रहा ॥ ६ ॥

---

१ चौ०—काया कुटिल कुचाल स्वभाऊ। ताहि जीति जो वीर रहाऊ।
तेहि गुरु परख कबीर करावा। निज पद जानि के भ्रम नशावा ॥
सो०—साइ बोध जो ताय, तिन्ह वही [illegible] रूप है।
भूप तख्त कोउ पाय, सोऊ भूप गुण शक्ति युत ॥
परख दृष्टि दृढ शोध, रक्षक सद्गुण [illegible]।
तेइ साधु गुरु बोध, सम जौहरी दृष्टि सम ॥ सत्य० ॥

धरो चरण मे माथ, गुरु रघुबर उर मे बसे।
दै असमय मे साथ, पार किह्यो भवसिधु से॥ ७॥

टीका—अब मै उन गुरुदेव के चरणो मे अपने सिर को धरता हूँ जिनका नाम श्री रघुबर साहिब है। रघु-इन्द्रियाँ, तिनको जीते हुए, बर-श्रेष्ठ, इन्द्रियो के सर्व विकारो को जीते हुए अविनाशी स्वरूप मे स्थित, श्रेष्ठ शुभ गुणो से विभूषित ऐसे बोधस्वरूप श्री रघुबर साहिब मेरे हृदय मे जब से आय बसे अर्थात अपना स्वरूपबोध मेरे मे प्रकाश किये, तभी से मेरा काम बना। अज्ञान-रात्रि मे नासमझी से भटकना ही मेरा असमय तथा दुर्दिन था। ऐसे दिन मे आप ही दयालु गुरुदेव मेरी सहायता करके भ्रमकृत खानि-बानी विपरीत निश्चय मानदियो के समुद्र से मुझे पार कर दिये॥ ७॥

जब लगि है यह देह, प्रारब्धि भुलावन पूर्व की।
तब लगि शत्रु मनेह, बिनय करौ यहि स्वार्थ हित॥ ८॥

टीका—हे गुरुदेव! जब तक पूर्व सकाम कर्म रचित यह स्थूल देह है, तब तक उसमे आवरण कर सुख झलकाने की शक्ति भी है और तभी तक हमारा यह शत्रु मन भी है। शत्रु मन का नाश हो इस प्रयोजन के लिए आपसे प्रार्थना करता हूँ॥ ८॥

करि इच्छा निर्मूल, शिक्षा आपके ज्ञान बल।
महाँ अँधेरी भूल, जीव हिये यह रोग बड॥ ९॥

टीका—मै आपकी शिक्षा और ज्ञान को धारण कर इच्छा दुश्मन को जडमूल से उखाडकर निर्मूल कर दूँ। बडी घनघोर रात्रि के समान जिसमे हिताहित कुछ नही सूझता सो विषयो मे सुख मानना, सुख इच्छा, भोग क्रिया, यही बडी भूल हे और यही जीवो के हृदय का भयकर रोग है, जिससे बार-बार जन्मना और मरना पडता है। वर्तमान मे भी अनन्त दुख इस कामना के वश ही भोगना पडता है॥ ९॥

यही एक अभिलाष, रण चढि जीतौ ताहि को।
नही हिचौ सुख त्रास, मेरे बल से वह बली॥ १०॥

टीका—बस यही एक मेरी दृढ लालसा है कि मनोमय शत्रुओ से समर ठान कर तथा सब साधन-सैन्य को लेकर उनको जीत लूँ। पुन सुख भावना झूलावेगवत अत्यन्त कायल करती हुई भोगजाल मे डालने को विवश करती है, तो उसके रोकने मे जो पहिले कष्ट होता है यही सुख का त्रास-कष्ट है, सो इस कष्ट को सहन कर मै अपने शत्रु मन से लडने मे न पछडूँ, क्योकि सुखाध्यास रूप मन-शत्रु मुझ चैतन्य की शक्ति पाकर् ही बलवान भया है। उसमे स्वतन्त्र शक्ति नही, यह निश्चय है॥ १०॥

है आदति की घात, दृष्टि तुम्हारी से लखे।
छलै मोहिं गफिलात, भास मात्र कल्पित असत॥ ११॥

टीका—आपकी पारख दृष्टि से यह जानने मे आता है कि जितने सुख है वे सब मिथ्या है। मिथ्या सुख होते हुए भी सत्य सुख भास होना आदत के ही कारण है। यह आदत का ही भुलावा है जो कि मुझे जड भोगो मे बार-बार सुख झलका के छल लेती हैं। जो छलती है वह मृगतृष्णा-वत देखने मात्र मेरी कल्पना से सिद्ध मनोमय-सृष्टि सर्वथा झुठी है॥ ११॥

सजग वीरता धारि, यकरस दृष्टि अवरण हरे।
तस पुरुषार्थ सँभारि, जस मेरो निज रूप है॥ १२॥

टीका—मिथ्या मनोमय सृष्टि का आवरण कैसे नष्ट हो? जब चौतरफ सजगता और वीरता तथा एकरस सतत पारख दृष्टि, तीनो धारण हो, तब सुखासक्ति का पर्दा टल जावे। हे गुरुदेव ऐसा ही पुरुषार्थ मे सँभाल कर धारण करूँ कि जैसा मेरा द्रष्टा स्वरूप सबसे पृथक है, शुद्ध है, एकरस है, कामना सुखाशा मल से रहित है॥ १२॥

ज्ञान स्वरूप अखड, सोई भाव रहस्य मे।
सो विजयी परचड, तृण सम बन्धन ताहि को॥ १३॥

टीका—जेसा जडतम से पार ज्ञानस्वरूप अखड एकरस अपना स्वरूप है, उसी प्रकार जडासक्ति रहित निष्काम, नैराश्य, निश्चल, निष्क्रिय भाव यदि रहस्य मे धारण कर लेवे तो वह जीव मनोमय को जीतकर अटूट पुरुषार्थी बन स्वरूप विचार मे बलवान हो जाय। ऐसे पुरुष के लिए सब बधन तृण के समान सहज ही मे टूट जाते हे। ऐसी ही शक्ति प्राप्ति के लिए गुरुदेव से प्रार्थना हे, क्योकि गुरुदेव स्वरूप ही मे स्थित है॥ १३॥

प्रसंग १—शरणागत

शब्द—२

शरण आये तुम्हरी गुरु हमै पार लगावो।
होवे कठिन टेक गुरु मारग, जस बन्धन मन भावो॥ टेक॥
जग से प्रेम हटाय गुरूजी, मेरा मेरे मे लावो।
उलटि आप मे आप समावो, तव उपकार मनावो॥ १॥
निज को हारि गये हम सब मे, होश न कबहूँ आवो।
सब दिन लाभ खोज मे भरमे, दुर्गति अमित कमावो॥ २॥
स्वसमाधि अविचल सुख तजिकै, जड मे टक्कर खावो।
विपधर अहि बॉबी सुख खोजत, कर मे भुवँग डसावो॥ ३॥
तुम्हरी कृपा जानि यह पाये, जो कुछ मुख से गावो।
सब छिन भोगि दुखहिं दुख अब तक, सुख की आश लगावो॥ ४॥
नहिं कहुँ जानि मिल्यो यह धोखा, जेहि मे जन्म गवॉवो।
अव तो आश तुम्हारी गुरुवर, यहि से जान बचावो॥ ५॥

टीका—हे गुरुदेव। म आपकी शरण मे आया हूँ, कृपया ससार-सागर से पार लगा दीजिये। हे गुरुदेव। मेरा हृदय-स्नेह आपके चरणो मे और आपके मार्ग मे उतना ही दृढता से पग जावे जितना वधनरूप विपयानन्द मन को प्रिय लगता हे। यथा—"जस कचन कामिनि सुक्ख रुचे। जम इन्द्रिय भोग विराम जँचे॥ तस होहु प्रिया मम देव खरो। गुरुदेव हमे यहि भाँति करो॥ टेक॥ हे गुरुदेव। मसार से मेरी प्रियता हटाकर मेरे सत्य स्वरूप मे लगा दीजिये, जिमसे कि जग जाल से घूमकर मे अपने आप अखड शुद्ध स्वरूप मे स्थिर हो रहूँ। यह अनत

उपकार सदा स्मरण रखते हुए आपका धन्यवाद मनाऊँगा॥ १ ॥ हे प्रभो! हमने अपने स्वरूप को इन्द्रिय सुखार्थ—कनक-कामिनी, कुल-परिवार, नात-गोत, जगह-जमीन, मान-बड़ाई इत्यादि मायाजाल मे बेच दिया है। अनादि से आज तक मुझे इस बात का कभी होश तक न लगा कि मै अपने आपको सब मे हार रहा हूँ। उलटे उसी कौडी मिट्टी नरक रूप मायाजाल को अपनाकर सुख लाभ की खोज मे भटकता रहा। तहाँ लाभ तो कुछ नही मिला प्रत्युत नाना प्रकार के लडाई-झगडा, मार-काट, हिसा, उत्पात, व्यभिचार, आसक्ति, कुचाल, छल, कपटादि अनत दुष्क्रिया कमाकर तिसके परिणाम मे बन्धन शोक-मोह, आधि-व्याधि-उपाधि जन्म-मरण दुसह दुख पाता रहा॥ २ ॥

मन का द्रष्टा होते हुए मन को शान्त कर हलचल रहित स्वरूप मे स्थित हो जाना पारख-स्थिति एव स्व-समाधि है, अथवा जगत से निष्काम होकर एकरस स्वरूप मे टिकने के लिए विवेक, वैराग्य, गुरुभक्ति मे जुटना स्व-समाधि है। ऐसी स्वरूपस्थिति का जो अचल सुख है, उसे छोडकर जड पाँचो विषयो मे धक्का खा रहा हूँ, सुख मानकर अपूर्ण विषय-जाल मे पच रहा हूँ। मेरी तो ऐसी ही दशा हुई कि जैसे कोई सर्प-दशित विषमाता विष उतारने के लिए विषधर सर्प की बॉबी मे ही हाथ डालकर सर्प से कटावे, तो उसकी सहज ही मृत्यु होवे। वैसे ही मै विषय इच्छा को बुझाने के लिए इन्द्रियो को प्रेरित करके फिर-फिर उन्हीं विषयो को भोगता हूँ जिससे मुझे बार-बार विषय-कामना रूप जहर जोरो से चढता है। यह मेरा महा अज्ञान नही तो क्या है! जिन इन्द्रियो के विषय-सेवन से विषयइच्छा का जहर चढा है उन्हीं से मिटेगा या बढेगा, इतना भी मुझे विचार नही है॥ ३ ॥ मे जो कुछ मुख से अपनी भूल को आपके आगे निवेदन कर रहा हूँ, वह सब आप ही की दयादृष्टि का फल है। मुझे इन बातो की कहाँ खबर थी! मै तो क्षण-क्षण विषय-भोक्ता बन कर दुख ही दुख को पाता रहा, फिर भी उसी मे सुख की आशा पकडता रहा॥ ४॥ आपके मिले बिना यह धोखे की टट्टी स्वय जानने मे कभी नही आई कि जिस मायाजाल मे फॅसकर मैं अपना जन्म व्यर्थ खो रहा हूँ, वह कुछ नही, मिथ्या है, दुखपूर्ण है। अब आप ही श्रीगुरु मिलकर बन्धन रूप अनादिकाल की फॉसी को परखा दिये। इसलिए हे श्रेष्ठ देवो मे देव श्रीगुरुदेव! एक आप ही की आशा-भरोसा लगा रक्खा हूँ। आप इस सम्पूर्ण जगत, देह तथा मन के बन्धनो से हमे छुडाकर स्वस्वरूप मे स्थित कर दीजिये॥ ५ ॥

शब्द—३

गुरु मुझे भक्ति शरण पद देवो॥ टेक॥

काया बीर कबीर गुरूवर, तिन सम और न देवो।
गहि कै शरण भरम सब त्यागौ, स्व स्वरूप रहि लेवो॥ १ ॥
बसन पात्र प्रभु योग्य भुम्मिका, स्वच्छ करौ मन तेवो।
जल प्रभाति अनकूल क्रिया करि, दिल अबिचार तजेवो॥ २ ॥
माफिक अशन बचन अनकूलहि, कहि कहि मोद लहेवो।
सुनि गुरु बचन मनन निदिध्यासन, हिय मे ताहि धरेवों॥ ३ ॥

धरिक चिह्न गरे उर माहीं, करि बन्दन नित धेवो।
तजि छल दम्भ प्रीति उर साँची, चरणकमल रज सेवो॥ ४॥
लहि संतोष करम मन बानी, इच्छा भूख मिटेवो।
ममता अह त्रास तजि जग की, ज्ञान ध्यान दिन ठेवो॥ ५॥
जन्म अनत सबे कुछ कीन्हे, नहिं गुरु भक्ति मिलेवो।
भाग्य उदे जो आजु मिले सोइ, दिन दिन अधिक रुचेवो॥ ६॥
ह्वै निरमान जोरि कर बिनवो, यह रुचि पूर करेवो।
दास शरण अनकूलहि करिये, भवनिधि सहज तरेवो॥ ७॥

टीका—हे गुरुदेव! मुझे अपनी भक्ति दीजिये। जो भक्ति आप की चरण-शरण मे रखने वाली ह, उसी भक्ति की मैं याचना करता हूँ॥ टेक॥ नख-शिख दस इन्द्रिय समूह जो काया है, उसकी सुखासक्ति जीत कर स्वरूपस्थ रहने वाले काया-वीर कवीर सब देवो से वढकर आप वोधक गुरुदेव हैं। आप कवीरदेव के समान पारखवोध दाता ओर देव कोई नहीं है। ऐसे श्रेष्ठ आप सद्गुरुदेव की शरण मे लगकर खानी-वानी के सब भ्रम भास मे छोड दूँ, साथ ही सर्व परीक्षक स्वय पारख सत्य स्वरूप मे प्रयत्न पूर्वक ठहर रहूँ, यही आप से माँगता हूँ॥ १॥ आपके सब वस्त्र, जलपात्र ओर भोजन के उपयोगी सब वर्तनो की तथा आप गुरुदेव के रहने के स्थान की मन देकर हम सफाई करे, जल भर लावे, दातून लाकर पहिले से हाजिर रक्खे आर भी हम सब सेवा के कार्य आपके अनुकूल करके हृदय मे जो अविचार अज्ञान जनित कुवासनाए हैं, उन्हे त्याग देवे। इस प्रकार श्रद्धा पूर्वक उपासना कृत सेवा के वाहरी सर्व कार्य करते हुए साथ ही अपने अदर से कुविचार त्याग कर हम अन्त करण पवित्र कर लेवे। यथा—"नीच टहल गृह की सब करिहों। पद विलोकि भवसागर तरिहा"॥ मानस॥ २॥ हम आप गुरु साहिब के अनुकूल भोजन वनावे ओर वचन भी नम्रता पूर्वक आपके अनुकूल बोलकर क्षण-क्षण प्रसन्न होवे, इमी से हम अपना जीवन सफल समझे। पुन आप गुरुदेव के वचनामृत को हम सुन-सुन कर वार-वार उसी का मनन करे, मनन के पश्चात निदिध्यासन कर आपके वाक्य मत्ररूप जानकर हृदय मे धारण करे॥ ३॥

आप वन्दीछोर के दिये हुए हितेषी भेष कण्ठी-हीरा गले मे पहिनकर उस भेष-चिह्न का हृदय मे सदव प्रेम बनाये रहे। आप साधु-गुरु की सादर त्रिबार बन्दगी तथा प्रणाम कर-करके नित्य नियमित गुरुस्तुति दीनता के वचन पाठ करते हुए मन मे आपका ध्यान करे। आपसे छल, कपट, दम्भ, दिखावा, ढोग को छोडकर हम हृदय से सच्ची प्रीति धारण कर आप गुरुदेव के चरणकमलो की धूलि सिर पर चढा कर सब अगो से सेवा करे॥ ४॥ पूर्वोक्त गुरुभक्ति के वाहरी सब अग पुष्ट करते हुए आपकी दया से हम भीतरी शुद्ध रहस्य को भी पुष्ट करे। स्वरूपस्थिति रहस्य के अतिरिक्त विद्या-अविद्या जनित सर्व तृष्णा मन-कर्म-वाणी से त्यागकर पूर्ण सतोपामृत का सेवन करे, जिससे कि कामनारूप भूख मिट जावे। जगत सम्बन्धी ममता, मोह, खिंचाव ओर तिनका अहकार त्यागे और जो जगज्जीव गुरुभक्ति करने मे नाना भय तथा कष्ट देते हैं तिनके सब विघ्नो को हम सहन कर आपके ज्ञान ओर ध्यान मे ही अमूल्य समय वितावे। यथा—"गुरु ग्रन्थ पढें गुरु ध्यान करे, गुरु वाक्य विवेक भवाब्धि तरे। यहि भाव करो यहि चाव भरो, गुरुदेव जु आपके पाँव परो"॥ ५॥

जिसकी गिनती न हो सके ऐसे अनत जन्मो तक सब कुछ किये, सबकी गुलामी, सबकी बशिता, सबकी बेगारी सहे, पर विवेकी गुरुदेव की भक्ति करने का सौभाग्य हमे नहीं मिला। यदि मिलता तो जन्म ही क्यो धारण होता! पूर्व अनत जन्मो से जो अप्राप्त वस्तु थी, वह आज आप सत गुरु की भक्ति करने को मिल जाय तो इससे बढकर और सौभाग्य क्या होगा! हे गुरुदेव! आपकी दया से हमारा जन्म-जन्म का भाग्य उदय हुआ, जो आज आपकी भक्ति करने का अवसर मिला। अब से आपकी दुर्लभ भक्ति मे मेरी रुचि, विश्वास तथा श्रद्धा दिनोदिन अधिक बढती ही जावे ॥ ६ ॥ विनम्रता पूर्वक हाथ जोडकर विनय करता हूँ कि हमारी पूर्व कही इच्छाओ को पूर्ण कर दीजिये। यह चरण किकर दास आपकी शरण है, इसे आप अपने अनुकूल बनाइये, जिससे कि यह अनुचर ससार-सागर से सहज ही पार पा जावे। "अस कछु कृपा करहु यहि ऊपर। गुरुपद तजि नहि भावै दूसर" ॥ ७ ॥

शब्द—४

शरण गुरु अपने राखौ निहोरि ॥ टेक ॥

मै मतिमन्द अधम भ्रम मारग, दीजै बन्धन छोरि ॥ १ ॥
भक्ति स्वभाविक मिलै अचल पद, कृपादृष्टि की ओर ॥ २ ॥
कष्ट अनन्त असह दुख पायों, त्राहि त्राह गुरु शरणा तोरि ॥ ३ ॥
नहिं कोइ समरथ और जहॉ मे, खानि बानि की लहरैं जोर ॥ ४ ॥
नहिं अस औसर मिलै कबहुँ गुरु, तन छूटै किधौ मन भटक्तोरि ॥ ५ ॥
जाऊँ बहा मै धार अपरबल, नहिं कहुँ स्थिति मोरि ॥ ६ ॥
जो कहुँ छूटि जाउँ तव पद से, कहॉ ठेकाना मोर ॥ ७ ॥
नमो नमो है नमो तुम्हारे, अरज दोऊ कर जोरि ॥ ८ ॥

टीका—हे इष्टदेव सद्गुरु! आप अपनी शरण मे मुझे कृतज्ञ बनाकर रखिये अथवा मै आपका अनन्य उपकार याद रखकर सदा के लिए कृतज्ञ[१] रहूँगा ॥ टेक ॥ मैं विवेक रहित अल्प

---

१ चौदहवे वर्ष अवधि के एक दिन शेष रह जाने पर रामचन्द्रजी जब वन से नही आये न उनका कुछ समाचार मिला, तब रामजी के परमप्रेमी भरतजी अनेक प्रकार चिन्तन करते हुए अन्त मे कहते है—

जो करणी समुझैं प्रभु मोरी। नहि निस्तार कल्प शत कोरी ॥
बीते अवधि रहै जो प्राना। अधम कौन जग मोहि समाना ॥

इस प्रकार राम के विरह रूप समुद्र मे भरतजी का मन डूबता-उतराता था कि इतने मे हनुमानजी ने आकर कहा—हे तपस्वी भरतजी! जिनका आप निरतर जप-तप, ध्यान कर रहे हे, वे रामचन्द्रजी अनुज लक्ष्मण और सीता सहित सकुशल आ रहे है। इतना सुनते ही भरतजी ने कहा—

को तुम तात कहॉ ते आये। मोहि परम प्रिय बचन सुनाये ॥
यहि सदेश सरिस जग माहीं। करि विचार देखा कछु नाही ॥
नाहिन तात उरिण मै तोही। अब प्रभु चरित सुनावहु मोहीं ॥

ऐसे ही गुरुदेव से अविनाशी स्वरूप के बोध पाने का और कल्याणकारी भक्ति मे लग जाने का

बुद्धि वाला अधम, वार-वार नीच कर्तव्य करने वाला तथा भ्रमपथ-विषयो की तरफ चलने वाला हूँ। आप कृपा करके मेरे भूल जनित खानि-वानी के सम्पूर्ण बन्धन छुडा दीजिये॥ १॥ आपकी कृपादृष्टि के सहारे एकरस स्वाभाविक भक्ति मुझ मे आ जाय। जेसे स्वभाव से शरीर के सुख भोग प्रिय लगते हैं, उसी भाँति आप जेसे सत्पुरुषो की सेवा, भक्ति, आज्ञा पालनादि मे सहज ही रुचि लगी रहे, जिसका फल अचल नित्यपद की प्राप्ति हे। "अविरल भक्ति विरति सत्सगा। चरण सरोरुह प्रीति अभगा"॥ रा०॥ तदनुसार अचल भक्ति भाव माँगता हूँ, सो आपकी दयादृष्टि का सहारा लेकर ही आपके पदकमल की ओर लगा रहूँगा, स्वय तो तुच्छ बुद्धि के कारण बहने का भय हे॥ २॥ मे इस मनोमय जगत चक्कर मे पडा हुआ सहनरहित अगणित दुखो को पाया, तिन दुखो से त्राहि-त्राहि करता हुआ बचने के लिए आपकी शरण मे आया हूँ, आपका आधार पकडा हूँ॥ ३॥

हमे दुखो मे छुडाने वाला ससार मे हे बन्दीछोर! आपसे पृथक और कोई समर्थ नहीं दिखाई देता, क्योकि सुत-दारा, जगत भोग ऐश्वर्यादि की तरफ आकर्षण ओर दूसरा मिथ्या कल्पित अनेक परोक्ष देवी-देवता कर्ता-धर्ता भास की कल्पना, दोनो धाराये बडी तेजी से बह रही हे, उन्ही मे हम ओर हमारे साथी सब पडे डूब रहे हें, केवल आप पारखगुरु ही इस धारा से पृथक हें, इसलिए आप हमे इस धारा से बचाइये॥ ४॥ इस दुखमय धारा मे पार होने के लिए ऐसा योग्य समय कभी नहीं मिल सकता। क्या पता आगे शरीर ही छूट जाय या कुसग के कारण मन ही पलट जाय। इसलिए हे गुरुदेव! मेरी बुद्धि सन्मार्ग मे लग कर लगन के साथ ऐसे पुरुषार्थ मे पगे कि एकरस पारख मे दृढ होकर परमार्थ स्वाभाविक प्रिय हो जाय और वही घेरा बनाये रहे जिससे किसी भी परिस्थिति मे हमे गुरुमार्ग से विचलित होने का अवसर ही न आवे। क्योकि—दोहा—"मानुष तन सद्‌गुरु मिलन, मोक्षहु इच्छा होय। दुर्लभ तीनो परम हे, पाय सुयोग न खोय॥" याते हे बन्दीछोर! कृपया इसी समय शरण मे लगाकर एकरस बुद्धि कर दीजिये॥ ५॥ जिसमे अपनी शक्ति युक्ति न चले, ऐसे खानि-वानी इन्द्रिय स्वभाव की प्रवल धारा मे म बहा जाता हूँ, उस मनोधारा मे मेरा कही अणु मात्र ठहराव नहीं है॥ ६॥ अमृत स्थिति हेतु जो आपका अविनाशी पद ह या भवतारक आपके चरणकमलो की सेवा, भक्ति ओर सत्सग है, उससे जो मैं आज छूट जाऊँगा तो फिर कृतार्थ होने की भूमिका मुझे कहाँ मिलेगी!॥ ७॥ अत हे सद्‌गुरुदेव! आपको सादर त्रयवार नमस्कार हैं, यह दास सिर झुका कर तथा दोनो हाथ जोड कर चरणो मे बलिहार हे। आप अपनी तरफ से इस बहेतू दास को शरण मे रक्खे रहिये॥ ८॥ कल्याण कार्य आगे के भरोसे न छोडे 'देर मे होव फेर'—

अनन्त उपकार शिष्य को भरत समान नहीं भूलना चाहिए। इस प्रकार हे गुरुदेव! में भी आपके उपकार को नहीं भूलूँगा।

"जो उपकार कियो प्रभु मोरे। कबहुँ न उत्रृण होव मैं तोरे॥"

सीता की खोज लगाकर हनुमान ने जब रामचन्द्रजी से सीता का सदेश कहा—तब रामचन्द्रजी बोले—

प्रति उपकार करों का तोरा। सन्मुख ह्वै न सकत मन मोरा॥
सुनु कपि तोहि उत्रृण में नाहीं। देख्यो करि विचार मन माहीं॥

इसी प्रकार अविनाशी शान्त स्वरूप सीता की सुधि देने वाले सद्‌गुरु आपका कृतज्ञ रहूँगा।

दृष्टांत—मोहनलाल और सोहनलाल दो भाई थे। मोहनलाल बडा भाई था। वह परमार्थ अनुरागी सज्जन सग का प्रेमी और सतो का सत्सगी होकर विवेक चेष्टा मे रुचि करने लगा था। वह अपने छोटे भाई को सत्सग करने की बात दृढाया करता था। छोटे भाई की इच्छा थी कि अबकी बार गुरुदेव पधारेगे या मै स्वय दर्शन करने जाऊँगा तो भली प्रकार सेवा-भक्ति करके कुछ परमार्थ का सस्कार पुष्ट कर बोध निष्ठा मे आरूढ़ होऊँगा। इतने मे अचानक सोहनलाल बीमार हो गया, अंत मे उसका शरीर छूट गया, मन की मन ही मे रह गई।

अब जो मोहनलाल था, उसको किसी झगडे के कारण सत समागम करने का अवसर बहुत दिन तक न मिला। बीच ही मे उसे किसी गॉजा, भॉग पीने-खाने वाले के सग-दोषवश विशेष नशा करने की आदत पड गई, साथ ही और भी दुराचरण की आदत बढ गई; जिससे वह वैराग्यवान सतो के आने पर भी समीप मे जाने से विशेष सकुचने लगा। धीरे-धीरे उसकी बुद्धि बदलकर पूर्व के सब दुर्गुण भर गये। फिर तो जो विवेक सम्पन्न सतो के लिए जान देता था, वह सामने मे सतो को देख जहॉ तक हो सके दूर होकर निकल जाता। उसकी इच्छा थी कि शिक्षक महात्मा लोग हमको न मिले। मिलने पर हमारे मन के उलटा ही तो कहेगे? इस प्रकार वह मन का अनुचर होकर सन्मार्ग से पछड गया। उसकी वही दशा हुई—

दोहा—*भक्ति पुरानी परि गई, फीका परिगौ ज्ञान।*
श्रद्धा रही सो घट गई, तासे जिव हैरान॥

शब्द—५

शरण गुरु राखौ जात बहे॥ टेक॥

तन मन इन्द्री धार बहे हम, पच विषय समहे।
जड तत्त्वन के घेरे चहुँ दिश, मिलन वियोग रहे॥ १॥
कहुँ अनुकूल मानि दुख पावै, लखि प्रतिकूल दहे।
भरमत सदा ताहि मे अपना, दुरगति अमित सहे॥ २॥
जड़ तत्त्वन मे क्रिया स्वभाविक, हानि लाभ बिनहे।
राखन चहत स्वबश हम तेहि का, जेहि विधि नहिं दुखहे॥ ३॥
ज्ञान विहीन स्वभाव से चचल, तत्त्व बिजाति अहे।
चेतन सदा एकरस अविचल, चंचल भूलि गहे॥ ४॥
कस नहिं दुख तब निज को होवै, साथ बिजाति नहे।
दुख तजि सुखहिं चहत हम तेहि मे, फिरि फिरि हठहिं लहे॥ ५॥
पूरण काम सदा जो निर्मल, सपनेहुँ दुख न जहे।
कॉच महल के तद्वत जानो, भूँकत श्वान तहे॥ ६॥
यह विपरीति लखा हम अपनी, तव कृपया जो कहे।
करौ दया जो तैसहिं ठहरै, मिथ्या भर्म ढहे॥ ७॥

निज स्वरूप मे ठहरि रहे हम, तजि अकाज सबहे।
एक अधार शरणागत तुम्हरी, छूटै दुख तबहे॥ ८॥

टीका—हे गुरु साहिब। यह दास मन की धारा मे विवश बहता जा रहा हे, इसे चरण कमल का आश्रय देकर ठहरा दीजिए, बहने से बचा लीजिए॥ टेक॥ आँख, कान, नाक, त्वचा, जिह्वा, ये पच ज्ञानेन्द्रियाँ और हाथ, पाँव, मुख, लिंग, गुदा, ये पच कर्मेन्द्रियाँ, इन सबो का समूह रूप नख से शिखा तक स्थूल देह और नाना प्रकार की मानन्दी, सो मन, यह बडी नदी के समान प्रबल धारा हे। इन्द्रिय-मन के वेग मे में बह रहा हूँ। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध, ये पच विषय रूप अनन्त पदार्थ सामने पड रहे ह, जो कि मनोधारा को प्रबल करने वाले हैं। में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु जड तत्त्वो के पाँच विषय कारण-कार्य क्रियाओ के बीच मे चारो तरफ से घिर गया हूँ, तिसमें किसी वस्तु का मिल जाना फिर बिछुड जाना ये दो उपाधि नित्य मुझे सताती रहती हे॥ १॥ उसी धारा मे कही तो अपने मन अनुसार सुख-सम्पत्ति व्यवहार को अनुकूल रखने के लिए दुखी होता रहता हूँ और कहीं मनमाने सुख न मिलने मे तथा सुखमय मानी हुई वस्तुओं के बिछुडने पर जला करता हूँ। उसी अनुकूल-प्रतिकूल राग-द्वेष मे सदोदित बावला-सा भटका करता हूँ, और उसी मे अनन्त दुर्गति सहता हूँ। शूकर, कूकर,पशु, पक्षी आदि देहे धारण कर काटा, मारा, पीटा, ठेला, हँसा, दुतकारा, फटकारा गया और अन्ध, बधिर, शूल, कुष्टादि रोगों से पीडित तथा काम-विरह, क्रोधाग्नि तथा लोभ दलदल मे फँस कर तन-मन कृत अनन्त दुर्दशाये सह रहा हूँ॥ २॥ जड तत्वो मे स्वाभाविक शक्ति सामर्थ्य से शीतोष्णादि की क्रिया हुआ ही करती ह। वे तत्व हानि-लाभ के ज्ञान-रहित जड पदार्थ हैं। ऐसे ज्ञान-रहित जड तत्वो को में अपने वशवर्ती करना चाहता हूँ, जड पदार्थ हमारे मन-अनुकूल ही क्रिया करे, शीत, गर्मी, बरसात हमारे अनुकूल हों, उनकी प्रतिकूल क्रिया द्वारा मुझे दुख न हो, पर ऐसा कब हो सकता हे?॥ ३॥

तत्व कारण-कार्य रूप अपने-पराये के ज्ञान रहित स्वभाव से क्रियाशील क्षण-क्षण मे रफ्तार बदलने वाले विजातीय जड रूप हे। उनसे भिन्न जो सबको जान-मान रहा है, वह अपने आप चेतन ह। चेतन का स्वरूप एकरस है। अर्थात भूत, भविष्य तथा वर्तमान मे घट-बढ रहित अखड आर अचल ह। सो चेतन अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर भोग ओर इच्छा वश नाना क्रिया रूप चचलता ग्रहण कर रहा ह॥ ४॥ विजाति जड सम्बन्ध से मुझ चेतन्य को दुख क्यो न मिले, जबकि विपरीत स्वभाव वाले विजातीय जड तत्वो के सम्बन्ध मे मिल रहा हूँ। बेर ओर केला साथ के समान तथा आगे के दृष्टान्त अनुसार दुख का अवसर ही प्राप्त होगा। फिर भी अपने अज्ञान से जड तत्वों के सम्बन्ध मे दुख नहीं लेना चाहता हूँ, प्रत्युत तिनसे सुख ही सुख की आशा करता हूँ। देह, गेह, शीतोष्ण, वर्षा आदि को अपने अनुकूल रखने की चाहना तथा प्रयत्न करते हुए भी तो अतिवृष्टि, झूरा, पाला, पत्थर आदि विषम क्रियायुक्त जड़ तत्व हमारे प्रतिकूल ही क्रियावान रहते हें, तिस जड सृष्टि और प्राणधारी को अनुकूल रखने के लिए उसी प्रकार बार-बार हठ करता हूँ, जेसे पानी पर कोई दीवाल उठाना चाहे।

विजाति से दुख होता हे

दृष्टात—एक नदी मे बाढ आयी थी। एक लोभी मनुष्य नदी के किनारे घूम रहा था। उसने देखा कि नदी मे एक कम्बल बहा जा रहा हे। बिना दाम का कम्बल लेना चाहिए, ऐसा

सोचकर वह नदी मे कूद पडा और बहते हुए कम्बल को बडी दूर जाकर पकडा। जिसको वह पकडा था, वह कम्बल न था, बल्कि बडे-बडे बाल वाला भालू था। फिर तो भालू ने उस मनुष्य को पकड लिया। दोनो उलटते-पलटते प्रवाह मे बहे जाते थे। यह तमाशा नौकारूढ एक मल्लाह देख रहा था। वह पुकारा कि भैया! कम्बल छोडकर चले आओ। उसने कहा—मै तो कम्बल को छोडना चाहता हूँ, पर यह ही मुझे नही छोडता। हाय! मैंने बहुत भूल की, जो लालच-वश इसमे कूदकर इस क्रूर को पकड लिया। अब जो न मेरी दुर्दशा हो वह थोडी ही है, क्योकि जड नदी और यह अबुध भालू कुछ विनय भी नही सुन सकते। अब कोई अन्य दयालु हो तो मुझे बचावे। फिर मल्लाह ने युक्ति से उसे बचाया। तद्वत यह जीव विषय सुख के लोभ वश जड प्रवाह सम्बन्ध मे चचल जगत प्राणियो तथा विषयो को पकड रक्खा है, इसलिए इसे जगत प्रवाह मे कामना करके दुख ही हुआ करता है। जब तक कि इसे सद्गुरु कृपा करके न छुडावे और स्वय दुख से छूटने की फिक्र न करे तब तक इसका जगत प्रवाह मे बहना बन्द नही हो सकता।

इस प्रकार हे गुरुदेव! भूल-वश विजाति विषयो को स्ववश करना चाहता हूँ और लोभ-वश उसी जड प्रवाह मे बह रहा हूँ, सो हे कर्णधार! बचाइये॥ ५॥ अपना चेतन स्वरूप निष्काम है, अज्ञान आसक्ति-मल से रहित निर्मल और एकरस सत्य है। उसमे स्वप्न मे भी हर्ष, शोक, हानि, लाभ, सुख, दुख, प्रतिकूलता आदि का किंचित भी दुख नहीं है। वह उसी भाँति अपनी भूल से दुख पा रहा है, जैसे काँच महल मे कुत्ता अपनी छाया देख भूँक-भूँक कर हैरान होवे। मै अपने सत्य शुद्ध तृप्त अखण्ड स्वरूप को भूलकर जड देह के सम्बन्ध मे स्त्री पुत्रादि पाँचो विषयो के लिए दुखी हो निरन्तर आवागमन की क्रिया करता रहता हूँ॥ ६॥ हे गुरुदेव! यह अपनी उलटी समझ जो पहिले आपकी दया से कहा हूँ, सो इस दास की ओर से निवेदन है कि हमारे ऊपर आप उसी प्रकार कृपा कीजिये जिस प्रकार अपना स्वरूप एकरस नित्य तृप्त शुद्ध स्थिर है, उसी प्रकार विजाति जडासक्ति रहित होकर मै स्थिर हो जाऊँ। विषयो मे सुख दृष्टि, विषय क्रिया, आशा, तृष्णादि सर्व विपरीतता समूह का आपकी दया से नाश हो जाय, या तिसके नाश करने मे मै समर्थ होऊँ॥ ७॥ हम नित्य तृप्त, निराधार अपने स्वरूप मे स्थिर हो रहे, साथ ही जगत की विषयासक्ति और सकाम कर्म वासनाये अकाज, अप्रयोजन, तृष्णारूप जानकर त्याग देवे। इस कार्य मे आधार देने वाले एक आप ही गुरुदेव है। आपकी दया से आपकी शरण होकर आप ही की युक्ति जब मुझे ग्रहण हो तब ही गरीबदास की भाँति इस अनुचर का दुख छूट सकता है और कोई उपाय नही॥ ८॥

दृष्टात—गरीबदास नामक मनुष्य की दो पत्निया थी। उनके कई पुत्र और पुत्रियाँ तथा पुत्रो के लडके थे। इस प्रकार वह एक बडा कुटुम्बवाला था। पहिले का वह धनी सुख साज सम्पन्न था, पर उसके आलस्य और खराब आचरण तथा पूर्व प्रारब्ध मन्दता के कारण सब धन चला गया। वह बहुत गरीब हो गया था। वह गरीबी हालत मे बहुतो का कर्जदार हो गया, ब्याज सहित कर्ज इतना बढा कि जन्म भर मे भी किसी प्रकार चुका नही सकता था। उसके देनदार उसे पकड-पकड कर काम लेने लगे। वे लोग भोजन और वस्त्र नहीं देते, अति ठडी, गर्मी तथा बरसात मे काम लेते। जब काम उससे नही सधे तो मारते भी थे। घर मे खाने भर जाने को छुट्टी देते, फिर पकड ले जाते थे। एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, तीसरे के बाद चौथा, इस प्रकार जिसका ही मौका पड जाय वही देनदार उसे पकड ले जाता, भाँति-

भाँति से धिक्कार देता। जरा सुस्ताता देख धडाधड पीटने लगते। अहो! कितना कष्ट! बेचारा जब भूखा, प्यासा, पीडित घर को आवे, तो हूला नामक स्त्री आर उसके पुत्र बहुत दुख देते, फटकारते थे। वे कहते धिक्कार हे तुझे, तेरे रहते हम लोगो को खाने-पहिनने का भी सुख नहीं हुआ, और सुख तो दूर ही हे। तू मर जा, निर्लज्ज हट जा! ऐसा कहकर वे मारते। वह रुदन करता हुआ बेठ जाता। हूला गरीबदास को शूला ही करती थी।

उसकी दूसरी स्त्री सत्यवती ओर तिसके लडके दयाराम, क्षमादत्त, शीलनिधि, धीरशमशेर, विचारविक्रम ही गरीबदास के सहायक थे, पर वे भी उस हूला के कुटुम्ब से निर्बल हो गये थे। उनकी कुछ चलती नहीं थी, तो भी कुछ मजदूरी आदि करके गरीबदास की रक्षा करते थे। कभी-कभी सत्यवती आर उसके पुत्रो को मजदूरी न मिलने से वे भूखे ही रहते थे। ऐसी दुर्दशा मे गरीबदास के मन मे होता था कि इस दुसह दुख मे मर जाना अच्छा है। एक दिन बहुत पीडित होकर रात्रि को गरीबदास घर से निकल पडा। भूख लगी हुई थी। वस्त्र रहित ठडी से कॉपता हुआ, सबसे सताया गया, सबसे अपमानित हुआ, अनाश्रय आर अनाथ ऐसा गरीबदास चारो तरफ दुख की अग्नि से जलता हुआ बचने के लिए भागा। पहिले तो उसने विष खाकर या पानी मे डूब कर मरने की कल्पना की, पर सोचा कि मर करके शुभ कर्म रहित फिर तो किसी न किसी दुख ही का भोक्ता होऊँगा। इससे अच्छी बात तो यह हे कि किसी प्रकार इस सकट का नाश कर उत्तम-उत्तम कर्म सचय करने के पीछे ही मरना श्रेष्ठ हे। ऐसा सोचकर वह रातो-रात चलकर अपने ग्राम से दूर एक जगल मे प्रवेश किया। ज्यो-ज्यो चले त्यो-त्यो गहन वन मे उसे बाघ-भालू का भय लगे, पर वह सबको भुलाकर चलते ही रहा। चलते-चलते सामने एक साधु ध्यानावस्था मे बेठे हुए दिखाई दिये। साधु के दर्शन होते ही मानो डूबते हुए को जहाज मिला इस प्रकार मन मे सुख पाकर गरीबदास सोचने लगा--"यहि सन हठि करिहों पहिचानी। साधु से होय न कारज हानी"॥ रा०॥ ऐसा विचार करते ही करते कुछ देर मे साधु की दृष्टि खुली। गरीबदास डरता हुआ साधु के चरणकमलो मे गिर पडा। थोडी देर पडा रहा, फिर उठकर अलग बेठा, बहुत देर तक कुछ बोल-चाल न हुई। दोनो शान्त बठे रहे। फिर महात्मा ही ने कहा—भाई! तुम कोन हो, किस कारण इस घोर जगल मे घूम रहे हो? इतना सुनते ही वह रोने लगा। साधु ने उसे धीरज देकर बार-बार दुख का कारण पूछा, तब वह अपने दुख का सब वृत्तात कह सुनाया।

सत बोले--हे भाई! तू धैर्य धारण कर। इष्टदेव की कृपा से तेरा दुख नष्ट होगा। अच्छा! हमारे पीछे-पीछे तू आ। साधु चलने लगे, पीछे-पीछे वह भी चला। कठिनता से जगल लॉघने के बाद एक पहाड मिला। पहाड की सीधी चढाई पर चढते-चढते बडे परिश्रम से पहाड की चोटी पर दोनो पहुँच गये। मार्ग मे दो-चार मनुष्य कुछ दुखी ओर मिल गये थे, वे भी पीछे-पीछे चले आये थे। महात्मा ने फल-फूल जडी-बूटी से सबको तृप्त किया। पुन गरीबदास आर अन्य दुखियो को पहाड की दूसरी तरफ ले जाकर रत्नो की एक खानि बताई ओर कहा कि तुम लोगो से जितना जा सके उतना हीरे रत्नो को ले लो। इसमे का एक-एक अमूल्य रत्न तुम लोगो की सब दरिद्रता को दूर करने वाला हे। गरीबदास सहित दुखी जनो ने रत्नो को अच्छी प्रकार बॉध लिया जिससे वे गिरे नहीं। फिर महात्मा सब दुखियो को साथ लेते हुए आश्रम पर आये। सत ने एक-एक तलवार आर गुप्ती नाम के दो-दो शस्त्र सबको दिये।

सत ने कहा—तुम लोग जिस मार्ग से जाओगे वहाँ विश्राम की भूमि मिश्रितपुर मिलेगा। वहाँ कुछ तो सज्जन और बहुत सख्या मे ठग-चोर मिलेगे। सज्जन शुभकर्मी मनुष्यो का ठगने का भाव नही है, अशुद्ध हृदय वाले ही ठगते है। जो इधर से जाते है उन्हे वे जान जाते हैं, बस युक्ति से उनके सब धन का हरण कर लेते है। धन हरण करके छोड दे तो फिर कुछ कुशल है। वे जिसका धन हरण करते है उसे अपना गधा बनाते ह। उस पर बोझा लादते और स्वय सब साथी मिलकर चढते है। जीवन पर्यन्त उससे बेगारी लेते है। ऐसा मिश्रितपुर होकर रास्ता हे और अन्य कोई रास्ता नही कि जिस तरफ से तुम लोग जा सको। उस ग्राम मे सत्यव्रती शाह भी है, पर उनकी वहाँ कम चलती है। दूसरे वे वहाँ बहुत कम रहते है। उन्ही की बनायी धर्मशाला मे पथिको को विश्राम मिलता है।

पहिले पहर मे सज्जन लोग मिलेगे, वे अपना धर्म जानकर और अपने अत करण के शुद्धि निमित्त आये हुए अतिथियो की यथायोग्य सेवा-भक्ति करते है, यहाँ तक कि वे सर्वस्व नाशमान पदार्थ अतिथिदेव को अर्पण कर कृतार्थ होते ह। क्योकि वे दया, दान, धर्म, सेवा तथा साधना करते है। वहाँ जो कोई विचार-रहित हो पदार्थो मे सुख मानकर सो जायेगा या मेरे दिये हुए दो शस्त्र न रखकर गाफिल बैठेगा, दूसरे पहर मे आये हुए ठग लोग उसके सर्वस्व धन का हरण कर उसे अपना गधा बना लेगे, इसलिये सावधान। जो सुखो मे गाफिल न होगा, सावधान रहेगा, वह किसी प्रकार ठगा नही जा सकता। उक्त बाते भली-भाँति समझाकर सत ने दुखियो को विदा किया। वे सब पहाड से उतरने के बाद गहन जगल मे साधु की बताई हुई युक्ति से चलते-चलते शाम को मिश्रितपुर पहुँचे। वे सब धर्मशाला मे जाकर टिक गये। सज्जनो ने आकर आदरपूर्वक सबकी यथायोग्य निर्छल भाव से सेवा की। उसमे से एक-एक कोठरी सबको मिली। उन कोठरियो मे राजाओ के रगमहल के समान विलास की सब सामग्री पूर्ण थी। कोमल से कोमल शय्या लगी थी। नेत्र के आगे मोहक चित्र टँगे थे। नासिका के अनुकूल भाँति-भाँति की सुगधित वस्तुये रक्खी थी। कानो को सुख देने वाले साजबाज सहित गाने निकलते थे। किसिम-किसिम की रसयुक्त वस्तुये धरी थी। गरीबदास यह सब देखते ही बहुत दुखी हुआ। वह सोचा—

बाहर बाघ-भेडिया का भय है, भीतर निद्रा कारक भोग वस्तुये रक्खी है, क्या करूँ। जो कही इन कोमल भोगो मे मोह जाऊगा तो वही पहिले का सब कष्ट, बल्कि उससे भी विशेष सब दुख मेरे सिर पर रक्खा जायेगा। गाफिल होते ही अवश्य मेरे धन का हरण हो जायेगा। ''क्षण सुख लागि जन्म शत कोटी। दुख न समुझि तेहि सम को खोटी॥'' ऐसे अनत दुख आने का अवसर देखकर सज्जनो को समझाते हुए गरीबदास ने कहा कि भाई लोगो ! मुझे एक असह व्याधि है, जो मे इन वस्तुओ को बिना विचार ग्रहण करूँ तो कुपथ्य ही हो जाय, तब मेरे कष्ट का वारापार न रहेगा। फिर हमारे दुख से तुम लोगो को भी कष्ट होगा, इसलिए उसने राजसी-तामसी वस्तुए हटवाकर शुद्ध सात्विक असन-बसन ग्रहण किये। कुछ परमार्थ चर्चा होने के बाद सब सज्जन सादर प्रणाम करके चले गये।

अब अर्द्ध रात्रि के उस पार ठगो की बारी आई। धन-वचन की इच्छा से ठग-ठगिनियो ने आकर देखा तो गरीबदास सावधान शस्त्र सहित जाग्रत हो बैठा हुआ है। वह किसी वस्तु मे मोह ग्रस्त नही है। किसी प्रकार यह मोहित होकर सो जाय तो धन पर घात लग जाय, ऐसा

सोचकर ठगो की अवलाये सब अग गहनो से सजाकर तथा चमकीले मोहक वस्त्र पहन कर मोह करने के भाव से गरीवदास को नमन करके सब सुख दर्शाते हुए अभेद भाव से ग्रहण करने को इशारा युक्त नाना हाव भाव करने लगीं। जब किसी प्रकार वह अपनी शाति वृत्ति से न डिगा, तब वे जवर्दस्ती करने की इच्छा करने लगीं। गरीवदास घवरा गया कि उवरना कठिन हे। उसे पहले का सब दुसह दुख स्मरण था, इसलिये उनके मोह से दुखो का होना समझकर महात्मा की दी हुई चमकती तलवार और गुप्ती नामक शस्त्र शीघ्र निकाला कि सब ठगिनियॉ जलती हुई भाग गई।

ज्यो-त्यो सबेरा हुआ। गरीबदास सावधानी से वचकर घर की तरफ चल पडा। अब ओर सब दुखियो का हाल सुनिये। उन सुखमय रमणीक पदार्थों के पाते ही वे सब के सब कोई रूप मे, कोई रस मे, कोई गध मे, कोई स्पर्श मे आसक्त होकर सो गये। एक दो ही उनमे सावधान रहे। सावधान को छोडकर शेष सबके धन ओर वस्त्र छीन लिये गये। सबेरा होते ही लोभे हुए मनुष्य वहॉ के गधे बनाये गये। उनके ऊपर सब भार लादा जाता था। ठग लोग उन पर सवार होते थे। शुद्ध अन्न-पानी के बदले जूठा मलिन अन्न-पानी जीवन-मात्र को देते थे। वे वेचारे दुखिया क्षणिक सुख के हेतु दुख भोग रहे हैं। गरीबदास और अन्य वचे हुए प्राणी ठगो के प्रलोभनो को त्याग कर घर आये। गरीवदास सबका कर्ज चुका कर कष्ट देने वाली हूला और तिसके लडको को अलग कर दिया और शुद्ध सत्यवती और तिसके पवित्र लडको के साथ न्याय नीति सहित निर्वाह करते हुए परमार्थ की ओर चित्त देकर चलने लगा। इस प्रकार उसका सब दुख दूर हो गया और वह रात-दिन साधु का उपकार स्मरण करने लगा। वह सतो की सेवा मे लीन होकर पारमार्थिक धन को भी प्राप्त किया।

अव इसको सिद्धात मे घटाते हे—गरीबदास यह जीव हे। यह कायारूप घर मे रहता है। इसकी प्रवृत्ति-निवृत्ति दो स्त्रियॉ हैं। प्रवृत्ति के काम-क्रोधादि पुत्र हें और निवृत्ति के दया-क्षमादि सर्व शुभ गुण पुत्र हैं। जीव अपने नित्य स्वरूप को भूलकर पॉच इन्द्रियो का भ्रम-वश कर्जदार हो गया है। इसलिये ये इन्द्रियॉ जीव से बेगारी लेती हें, सब प्रकार के कष्ट देतीं ह। अशुभ वृत्तियॉ विशेष कष्ट देती हैं। यह सब कष्ट पाकर जीव जब श्री गुरुदेव की शरण मे जाता है, तव गुरु उसको भक्ति, ज्ञान, सत्सगादि पहाडश्रृग पर चढाकर सत्य स्वरूपज्ञान रूप एक अमूल्य हीरा देते हैं और सब शुभगुण रूप रत्न देते हैं। तिसके रक्षक विवेक ओर वेराग्य दो शस्त्र देते हें। प्रारब्ध-पथ पूरा करते हुए मार्ग मे सब प्रकार के प्राणियो का सवध पडता हे। सतोगुणी सज्जन नर-नारियॉ तो रोक नहीं सकते। वे किसी भॉति परमार्थ के साधक ही होते हैं, पर उनमे भी विचार से बरते तब, नहीं तो उनकी भी आसक्ति ज्ञान धन को लूट लेने मे कसर नहीं रखती।

अन्य प्राणियो मे से रज और तम स्वभाव वाले मनुष्य परमार्थ-साधन को रोकना चाहते हें। अथवा स्वय मानसिक दुर्गुण—विद्या-अविद्या फिर-फिर ससार की मिथ्या वस्तुओ मे सुख झलका कर स्वरूपज्ञान हरण करना चाहते है। सवसे वलिष्ठ विद्या-माया ओर मैथुन-विपय-माया ये जबर्दस्ती ठगना चाहती हे। जब जिज्ञासु विशेष विवेक ओर वैराग्य सहित वर्ताव करता हे, तब ससार-सागर से पार पाकर विषयो की आसक्तिरूप वेगारी का नाश कर देता हे। वह प्रवृत्ति आर तिसके कुटुम्बी काम, क्रोध, लोभादिक को मार निकालता है। फिर

निवृत्ति सहित जीवन व्यतीत करते हुए सद्गुरु कृपा से परमपद को प्राप्त हो जाता है। पर जिस जिज्ञासु को अपनी देह और ससार सम्बन्ध का अनन्त कष्ट स्मरण नही रहेगा, वह जगत प्रलोभनो मे फँसकर स्वरूपज्ञान रहित हो अधकूप विषय मार्ग का बोझा ढोते हुए बूढे गधे के समान कष्ट पाता रहेगा। अत हे सद्गुरो! मुझ को जगत मे दुखदृष्टि पुष्ट कराय कृतार्थ कीजिये।

प्रसंग २—बन्ध हरण निवेदन

शब्द—६

गुरु जानि अनाश्रय अनाथ मुझे॥ टेक॥

मात पिता जो तन निर्मायो, माया मोह फँसाय मुझे॥ १॥
भ्राता मित्र साथ जो देवै, सो तौ दुक्ख देखाय मुझे॥ २॥
अबला अबल करै सब बिधि से, जगतके जाल बिछाय मुझे॥ ३॥
जो जो आय मिले मग भरमत, सो सो दूरि कराय मुझे॥ ४॥
करि पछितावो छोडि न पावों, कारण हाथ न आवै मुझे॥ ५॥
यह असमंजस में दुख पावो, सदा सतावै भर्म मुझे॥ ६॥
सुख दरशावे मोहिं भुलावै, यादि न आवे हानि मुझे॥ ७॥
अहै प्रवाह सदा यह घट मे, धारा अगम बहावै मुझे॥ ८॥
कारण हाथ में लाने लिये, करौ यकरस बृत्ति निराश मुझे॥ ९॥
दृष्टि परीक्षा वैसहिं दीजै, जस तव माहिं रहाय मुझे॥ १०॥
सुख के साथै दुख दरशावै, अस पुरुषार्थ कराय मुझे॥ ११॥
रहै स्वभाविक मति कह जैसी, यहि बिधि देव सहाँय मुझे॥ १२॥
दास सदा मन अर्पण होवै, आप को छोडि न जाय मुझे॥ १३॥
तबहिं सुफल तन मनुष भये का, नाही अफल रहाय मुझे॥ १४॥
करौ उपाय सोई गुरु हमरे, तुम बिन और न भावै मुझे॥ १५॥
शरण शरण मै शरण तुम्हारे, यह जग दु.ख हटाय मुझे॥ १६॥
भक्ति देव गुरु भक्ति देव गुरु, यह तजि और न आवै मुझे॥ १७॥

टीका—हे गुरुदेव! मुझे अनाश्रय और अनाथ जानकर आधार देते हुए मेरी रक्षा कीजिए। अनंत काल से खानि-बानी धारा मे मै बह रहा हूँ, तिस धारा से बचने के लिये जिस-जिस का आश्रय लिया वे भी उसी मनोमय मे बहने के कारण वे सब मेरे रक्षक कैसे हो सके! बहने वाले अन्य बहने वाले को किस प्रकार आश्रय दे सके! इस प्रकार इस दुखिया जीव को आधाररहित और अनाथ देखकर अपनाइये॥ टेक॥ माता-पिता ने जो कि इस शरीर का निर्माण किया है, वे शरीर के आधार और रक्षक होते हुए भी विषयासक्ति रूप मोह-जाल मे ही मुझे उलझा देते हैं॥ १॥ सगे भाई ओर समय-असमय मे साथ देने वाले मित्रजन यद्यपि शरीर-पालन मे सहायता देने वाले है, तो भी उनका स्वार्थमय सम्बन्ध आसक्ति हेतु होने से

मुझे दुख रूप ही दीखता है॥ २॥ अबला कहलाने वाली गृहिणी तो सब प्रकार से मेरी परमार्थशक्ति को निर्मूल ही कर देती है। वह पाँचो विषयो मे सुख प्रलोभन दिखा कर काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि अनन्त दुर्गुणो के बीच मे डाल चारो तरफ ठगी का जाल बिछा देती है, फिर तो जीव उसी प्रकार दीन हो जाता है जैसे चारा के लालच-वश जाल के बीच मे फँसा हुआ दीन पक्षी। यथा—"बुधि बल शील सत्य सब मीना। बशी सम त्रिय कहहि प्रवीना" ॥ रा० ॥ ३ ॥ पुत्र, पात्र, कुटुम्बादि तथा वाचाल धर्मिक मतवादी जो-जो आकर मार्ग मे मुझे मिले, वे सब भूले ही मिले। फिर तो सब अपनी भूली समझ और कर्तव्य द्वारा हमे परमार्थ से दूर ही करते गये। वे परमार्थ-मार्ग मे सहायक होना कौन कहे, निम्न दृष्टात अनुसार परमार्थ में रोकने ही की भरसक चेष्टा किये।

कवित्त

पालि पोषि जग रीति ब्याह को कराय दियो, जननी जनक काँ उरिण सु है गयो।
नारि आय मोद युत विषय विलास बाँधि, विविध सतान करि गृह रीति है गयो॥
भाई बन्धु मित्र सब आछो-आछो कह खूब, धन जन वाद कहि खेंचि-खेंचि ले गयो।
गुरु बिन काहू न प्रखायो सब बध साज, अहो! बहे इबे सब हमँ तहाँ है गयो॥

दृष्टात—एक सेठजी का युवक लडका नित्य सत आश्रम मे सत्सग करने जाया करता था। माता-पिता के बहुत मना करने पर भी वह सत्सग से जब नहीं रुका, तब सेठ-सेठानी को इस बात की बहुत चिन्ता बढी कि मेरा पुत्र कहीं ससार से विरक्त न हो जाय। इसलिये उसका विवाह कराय साथ ही स्त्री को विदा करा लाये और पुत्र से कहा कि अब अपनी घर-गृहस्थी सम्हालो। हम से कुछ वास्ता नहीं, हम दोनो अलग रहेंगे, तुम दोनो अलग रहो। समझदार पुत्र ने कहा—पिताजी! आपकी जैसी इच्छा हो हम उसी भाँति रहेंगे। पिता बोला—फिर हमारी इच्छा के विरुद्ध तुम सत्सग मे नित्य क्या जाते हो? पुत्र बोला—पिताजी! स्वार्थ की बातो मे आप माननीय है, स्वार्थ-कुशल होने पर भी अभी आप परमार्थ विद्या पढे नहीं। आप परमार्थ परीक्षक साधु-गुरु के समीप गये ही नहीं, दिन-रात नश्वर भोग सुख के ही लिये इतनी आयु खो दिये है। अभी आपने अमर जीवन के लिये परलोक की पूँजी कुछ नहीं इकट्ठी की। बीच ही मे पिता बोल उठा—

अरे! हम कितना धन, जमीन, महल और कुटुम्ब बढती किये है, तू छोकरा अभी क्या जाने! मुझसे ही पैदा हुआ, मुझे ही शिक्षा देता है! पुत्र बोला—यह मेरी ढिठाई है, आप क्षमा करे। समय पर उचित और हित की बात लडका, स्त्री या दुश्मन, जो कोई भी कह देवे तो मान लेने ही मे कल्याण होता है। कहा है—"सेवक सुत बड छोटहु जानी। हित की बात कहे तेहि मानी"॥ अनुचित बात वृद्ध, जननी-जनक किसी की कही हो, उसे मानने से अनर्थ ही उत्पन्न होता है। महात्माओ के सग से घर-गृहस्थी मे भी विशेष लाभ होता है। चोरी, जुआ, परस्त्रीगमन, आलस्य, हिंसा, अनीति सब पाप कर्मो से मन फीका पड जाता है। न्याय, धर्म, दया, पुरुषार्थ, समयानुकूल सतोष सहित बर्ताव, सद्गुण सब अपने मे प्रवेश कर लेते हैं। क्या सब सत्सगी विरागी ही हो जाते हैं! सच्चा वैराग्य प्राप्ति के लिये प्रथम बहुत काल तक गुरुदेव की भक्ति करनी पडती है। पूर्ण भक्ति भाव, विवेक, सत्सग, इन्द्रियो का साधन शक्ति

मुझे अभी प्राप्त ही नही है। बीच ही मे पिता बोल उठा—

यह सब प्रपंच है, मै सुनना नही चाहता, तू पृथक होकर रह, तब तुझे पता चलेगा। पुत्र पृथक रहने लगा, स्वय तथा एक बुद्धिशाली नौकर के पुरुषार्थ से अपने निर्वाहिक काम-धन्धाओ को पूर्ण कर वह नित्य-नित्य सत्संग मे जाया करता था। प्रत्युत पहिले से विशेष श्रवण-मनन मे लव देखकर उसके पिता-माता ने एक बार कुटुम्ब भोज किया कि अच्छे-अच्छे बडे मनुष्य आकर इस भूले लडके को समझा दे, जिससे कि यह सतसमागम मे न जाय, सद्ग्रन्थ न पढे। उसमे बहुत से विद्वान और चतुर वृद्ध धनवान मनुष्य थे, लड़के को बुलाकर योग्यता पूर्वक वन्दना नमस्कार के पीछे सब समझाना आरम्भ किये। वृद्धजन बहुत कुछ समझा कर अत मे कहने लगे—भइया! कुल मे कलक न लगा, वैरागी साधु वह बने जो रोगी, ऋणी तथा भूखा हो। तुम तो धन-धान्य समृद्धि सम्पन्न हो, फिर क्या कारण है कि तुम सत्सग मे इतना प्रेम करते हो! लडका हँसी रोककर सुनता रहा। इतने मे और विद्वानो ने अपनी-अपनी समझ के अनुसार जनकादि का दृष्टात देकर भोग-योग मोक्ष साथ ही बताते हुए अधिक रूप से सत्संग साधन की मनाही करते हुए स्वार्थपरायण होने की शिक्षा दी। सबकी बाते सुनकर लडका बोला—आप लोग हमारे परमार्थ साधक न होकर इतना बाधक क्यो हो रहे है? बडी उलटी बुद्धि है कि जब लडके कामी, क्रोधी, लोभी, मोही होकर चोरी, हिसा, परस्त्रीगमनादि करके सबको आपत्ति मे डालते हैं तब तो संसारियो को दुख नही होता और जब कोई सीधे सरल शुद्धरीति से सन्मार्ग पर चलने लगता है, तो इतनी उखाड, इतनी पछाड, किसी ने ठीक ही कहा है। दोहा—

"बैठत जौनी डार पर, काटत ताही डार। गिरन मरन को डर नहीं, ऐसी गति ससार॥
कल्पवृक्ष सत्सग है, सुबुद्धि धर्म दे गूढ। स्वारथ परमारथ सकल, तेहि को त्यागत मूढ॥"

इत्यादि सवाद होने के पीछे लडका अपने घर आया। उस दिन से उसे संसार से अधिक उपरामता हो गई। वह अधिक-अधिक सत्सग भक्ति सद्ग्रन्थ साधन मे जुटने लगा। यह देखकर उसके पिता-माता ने लडके की पत्नी से कहा—किसी प्रकार इसको वश करो, नहीं तो हाथ से निकल जायेगा। स्त्री बोली—आज तक यह बात हमसे क्यो नहीं बताये? अच्छा! आज से मै अपना काम सँभालूँगी। उसी दिन से स्त्री सब कार्य व्यवहार पुरुष के मन अनुसार करते हुए धीरे-धीरे पुरुष के मन को बाँधने लगी। वह जब तब कहने लगी कि आप धर्म, भक्ति, साधन सब कुछ कीजिये, पर सत्सग व सत आश्रम मे रात-रात भर बैठने का क्या काम है।

पहिले तो स्त्री की बात पर लडके का ध्यान कम जाता था, पर उधर मन का आकर्षण होने के कारण धीरे-धीरे सत्सग से रुक गया। सत्सग मे रुचि कम हो गई, परमार्थ दृष्टि मद हो गई, तब भक्ति साधन भी बने कैसे! दिनोदिन ढीला पडने लगा, परन्तु लडके को इस बात पर कभी-कभी बहुत पश्चाताप होता था, क्या कारण है कि मेरी पहिले की शुद्ध दशा घटती जा रही है! विचारने से मालूम हुआ कि इस स्त्री की आसक्ति ही से मेरा पतन हो रहा है। अहो! मेरा धर्म है कि मनुष्य देह मे अविनाशी वस्तु को प्राप्त कर स्थिर रहूँ, अपने साथी को भी नित्य परमार्थ की ओर लगाऊँ, पर इस बात का देह की आरामतलबी ने हरण कर लिया है। अच्छा! जिसके मोह से हम अपना परमार्थ छोड रहे है, देखे मेरी पत्नी का प्रेम व्यवहार कहाँ तक निष्कपट है! क्योकि तीव्र दोष दर्शन हुए बिना इस बन्धन से छूट नही सकते। ऐसा

विचार कर रोज-रोज भोजन कम करते हुए स्त्री से बोला—मुझे कोई असाध्य बीमारी हो गई है, अब मैं खाट मे पडने वाला हूँ, ऐसा कह कर खाट पर जाके लेट रहा।

स्त्री दुखी हुई, यथायोग्य दवा-पानी से सेवा करने लगी। पुरुष अन्न-पानी सर्वथा त्याग दिया। थोडे ही दिनो मे वह निर्बल हो गया। पुरुष के दुख से स्त्री रोया करती थी। पुरुष स्त्री को पास मे उदासीन बैठी देख कर बार-बार कहा करता था कि तू कुछ भोजन बना के नित्य खा लिया कर, मेरे साथ तू भी कमजोर हो जायेगी तो काम केसे चलेगा। ऐसे वचन सुनकर स्त्री अधिक रोने लगती और कहती कि आप के विना भोजन मुझे केसे रुचे। कुछ भी हो, में खा नही सकती। कितने झूठे वचन अधिक प्रेम परिचय के लिये कह देती, बाद मे जब पुरुष को देखे कि यह सो गया है, तब झट दूसरी तरफ हलुवा बनाकर खा लेती ओर कुछ रख छोडती। यही नित्य का उसका काम था। पुरुष भी परीक्षा के लिये ऐसे ही नेत्र मूँदकर कुछ देर पडा रहता। बाद मे स्त्री चरित्र को देख-देख कर उपराम होता था।

अशक्त दशा मे एक दिन पुरुष ने कहा—हे प्रिये। मेरा जीना कठिन है। स्त्री आतुर होकर बोली—हे प्राणेश। आप ऐसा न कहिये। अहो। अभी ससार का सुख हम दोनो कितने दिन भोगे हं। एक ही सन्तान है, धन-जायदाद भी तो आपके नाम से है। विना मेरा कोई ठीक ठेकाना लगाये दैव ऐसा स्वप्न मे भी न करे। यदि ऐसा खोटा दिन कभी सामने आवे तो आपके पहिले ही मैं मर जाऊँगी। आपसे रहित किस सुख के अर्थ म जीवित रह सकती हूँ। पुरुष ऐसे भेदक वचन सुनकर समता सहित उसे कुछ धीरज देते हुए शान्त हो गया। दूसरे दिन दोपहर को पुरुष ने कहा—बहुत दिन के बाद आज अचानक मेरा बुखार उतर गया। मुझे बहुत भूख लगी हे तू मेरे लिये कुछ भोजन दे। स्त्री प्रसन्नता पूर्वक बोली—मेरे भाग्य जगे, जो आपकी रुचि हो वह में तुरन्त तैयार कर दूँ। पुरुष बोला—बनाने मे तुझे परिश्रम पडेगा, मेरे सोने के बाद बनाया गया हलुवा जो कि आलमारी मे रक्खा हे, उसी को ला, मै खा लूँगा। स्त्री चौंक कर बोली—यह आप क्या कह रहे हैं? तब पुरुष ने कहा—मुझे इस बात की स्वप्न मे खबर पड गई है। पुरुष तुरन्त लाठी टेककर हलुवा ले आया और स्त्री के आगे रखकर बोला—देख यह क्या हे?

स्त्री बोली—आपकी माताजी आने वाली थीं, इसीलिये हमने हलुवा बना रक्खा था। पुरुष बोला—रोज-रोज किसका भोग लगता था? अरी छल-मूर्ति। तू स्त्रियो की श्रेणी मे कनिष्ठ स्त्री मुझे प्राप्त हुई है। कोई-कोई स्त्री ठीक-ठीक स्वार्थ चलाने के लिये पुरुषो से निर्छल बर्ताव करते हुए धर्मवादिनी होती है, सो उत्तम श्रेणी मे यश प्राप्त करती है, पर तू उनमे नहीं है। मुझे तेरे खाने पर शोक नही है, शोक है कर्तव्य छिपाने और बात बनाने पर। अहो। मैंने बहुत-बहुत हानि किया कि जो तेरे झूठे हाव-भावो मे मोहित होकर सत्सग, विवेक, भक्ति आदि को छोड बैठा, कुछ भी हो, कामना सहित लोलुप स्त्री-पुरुषो का यही हाल है। मुमुक्षु पुरुष के लिये अनुकूल बनिता तो अधिक-अधिक ममताफाँसी मे डालने वाली बन्धन हेतु ही है। अब मै अविनाशी वस्तु के लिये अवश्य सत्सग विवेक आदि लेकर मिथ्या आसक्ति का त्याग करूँगा। तुझे भी कल्याण करना हो तो कनिष्ठ स्त्रियो के दुर्गुण-चोरी, व्यभिचार, अशोच आदि को छोडकर प्रथम सज्जनो के सग मे प्रेम कर, एकव्रती हो सद्ग्रन्थ पढ, मन-इन्द्रियो को जीत के यथार्थ बर्ताव कर, सतोष को ग्रहण करके निरालस होकर, अन्य

प्राणी और कुटुम्बियो के साथ शील धर्म न्याय से बर्ताव कर। साथ ही शुद्ध स्वार्थिक जीवन के साथ परमार्थ साधन कर। इत्यादि बातें[१] कहकर वह सत्संगादि सन्मार्ग मे पुनः पहिले के समान जुट गया। फिर कभी जालिनी के जाल और अन्य के बहकाने मे न आया।

इस प्रकार हे गुरुदेव! सब भूले प्राणी परमार्थ से दूर करने वाले दीखते हैं, तिनसे आप ही बचाइये॥ ४॥ हे सद्गुरु! उन बाधको के संग से अपने कल्याण मार्ग से उलटी क्रिया विषयासक्ति बढ़ाकर पश्चाताप सहित सतापित होता हूँ। परन्तु पश्चाताप मूलक-विषयासक्ति—काम, क्रोध, लोभ, कुटुम्बादि की ममता, इन्द्रिय स्वभावो की आसक्ति को छोड नही पाता। इसका कारण मेरी भूल तथा विपरीत समझ ही है, सो मेरी पकड़ मे नहीं आती। अर्थात भूल-भ्रम करके विषयो मे जो सुख बुद्धि है, उसकी जगह एकरस यथार्थ परीक्षा होकर दुख निश्चय द्वारा सुखासक्ति से दृढ वैराग्य नही होता॥ ५॥ जिसमे जान पड़े कि हानि है, फिर भी उसके किये बिना रहा न जावे, ऐसी खींचतान का नाम असमजस है। हे गुरुदेव! ऐसी दुविधा मे पडकर मै दुख पाता रहता हूँ। भ्रम का अर्थ विषयो मे सुख प्रतीत होना, देह-गेह जड पदार्थ सत्य समझना, जड-पदार्थो को ही अपना स्वरूप निश्चय होना इत्यादि। भ्रम, विपरीत समझ रूप आवरण, मुझ जीव को सदोदित भुलावा देकर दुख दिया करता है॥ ६॥ मायासक्त जगजीव और मेरी विपरीत बुद्धि ही माया है, वह विजाति तुच्छ नश्वर भोगो मे सुख झलका कर मुझे जगत-जालो मे भुला देती है। जब मैं ही भूल गया तो हानि वाले पदार्थो मे हानि कौन देखे! उलटे भूल वश माया मोहनी मे फँसने से तृष्णा, परिश्रम, गर्ज, अतृप्ति, त्रिविध ताप आदि जो-जो हानियाँ होती है, उनका स्मरण नही होता। हानि स्मरण रहे तो मायासक्त क्यो होऊँ! ॥ ७॥ यही भूल भ्रम और विपरीत क्रिया की धारा अनन्त काल से इस शरीर सम्बन्ध मे आज तक चली आ रही है। यह भूल सम्बन्धी मनोमय की धारा अगम है। यही अगम अथाह खानि-बानी की धारा अनन्त औरेबो से मुझे बन्धन मे डुबाया करती है। "भूलन की गली है अमित, धारा भी जोर है। अब आप ही बचाइये, आश्रय न और है" ॥ ८॥ उक्त कारण भूल, भ्रम, आसक्ति नाश के लिये हे गुरुदेव! एकरस पारख दृष्टि देकर सदोदित इस दुख रूप जगत से मेरी नैराश्य वृत्ति करा दीजिये॥ ९॥

हे इष्टदेव! जैसे आप मे सर्वांग रहस्ययुक्त एकरस जगत दुख की परीक्षादृष्टि है, वैसे ही मुझे भी दीजिये, सो एकरस परीक्षादृष्टि का अर्थ—चौ० "निज तन केर उपाधी जानै। पर उपाधि सकलो पहिचानै॥ तन इन्द्री इन्द्रिन व्यवहारा। खानि बानि सकलो निरुवारा॥ सदा एक

१　ऊपर के दृष्टान्त से यह शिक्षा लेना चाहिए कि—(१) स्त्रियाँ स्व सम्बन्धियो के साथ मे यथायोग्य सत्यता, सरलता, निष्कपटता, सच्चे प्रेम के व्यवहार करे, नहीं तो उसी स्त्री के समान अपमानित होना पडेगा।

(२) यदि कुछ भूल हो ही जाय तो पीछे सुधारे।
"कहहिं कबीर जान दे बही, जब से चेते तब से सही।"

(३) मुमुक्षुओ को सासारिक प्राणियो के मिथ्या प्रलोभनो मे पडकर अपने सन्मार्ग से नहीं रुकना चाहिये।

(४) कोई अपना सम्बन्धी परमार्थ मे लगे तो उसे रोकना नहीं चाहिये, अपने से न सधे तो कोई अन्य धर्मार्थ करता हो तो उसे रोके भी नहीं, यही उसका धर्म है।

सम बुद्धि प्रकाशा। भाखै बचन न कल्पित आशा॥ ब्रह्म जगत अरु तन की आशा। त्यागि सदा पारख मे बासा'' ॥ पचग्रथी॥—इस प्रकार अभग एकरस पारख दृष्टि मुझे प्राप्त हो॥ १०॥ अज्ञान तथा आदत के वश सुख न होते हुए भी मुझे भोगो मे सुख प्रतीत होता रहता है, उनमे सुख निश्चय के बदले सदोदित दुख ही दुख देखने मे आया करे। ऐसा पुरुषार्थ कृपया हे गुरुदेव! मुझसे कराइये॥ ११॥ जैसे पूर्व मे कहा है कि सुखभ्रम की जगह दुखदृष्टि बनी रहे, यही बात मुझमे स्वाभाविक हो जाय। स्वाभाविक सहजिक, यथा—चौ०—''इन्द्रिय सुख औ जीत बडाई। सहज प्रिया हर्षित जिमि पाई॥ मो कहँ प्रिय लागहु गुरु वैसे। बहे धार महँ केवट जैसे॥'' इस प्रकार हे साहिब! ऐसी युक्ति प्रेरणा करके परमार्थ मार्ग मे सहायता कीजिये कि जिससे गुरुपद से भिन्न जगत मे कभी भी मेरी सुखबुद्धि न हो॥ १२॥ आपके विचार अनुसार ही इस दास की गति मति रुचि होकर अनुचर का मन आपको अर्पण हो जाय, आपके हाथ बिक जाय। क्योकि आप जैसे हितैषी विवेकसिन्धु सद्गुरुदेव को छोडकर अन्य जगह बिकने मे कल्याण नहीं दीखता, इसलिये आपके पद से छूट न जाऊँ, वही उपाय कीजिये। चौ०—''तब लगि मो कहँ होउ अधारा। तनु तजि होउँ न जब लगि पारा''॥ १३॥ नित्य गुरुपद मे मनसा, वाचा, कर्मणा से लीन रहे, अन्य मनोधार मे यह जीव न बहे, तभी इस जीव का मनुष्य देह धारण करना फलदायी है, नहीं तो मेरी मनुष्य देह गुरुपद रहित जन्मने और पालने का कष्ट सहते हुए भी ठीक-ठीक काज न करने से निष्फल हो जायगी ॥ १४॥ हे गुरुदेव! आप हमारे लिये उसी युक्ति की प्रेरणा कीजिये जो पूर्व कहा है। क्योकि आपको छोडकर हमे अन्य ठोर कल्याण नहीं सूझता तो ओर कोई मुझे कैसे इष्ट हो! आप मुझे किस प्रकार हितैषी प्रिय लगते रहे—

छन्द—*जिमि कामियो को बाम प्रिय जिमि लोभियो को दाम हे।*
अविवेकि जन आरामतलबी राग जेहि तेहि काम हे॥
तिमि आप गुरुवर नित रुचै मेरे हृदय तव धाम है।
जग चक्र मे बहु दुख लह्यो गुरु तव शरण आराम हे॥ १५॥

हे रक्षक गुरुदेव! म आपकी शरण हूँ, आश्रय आधार पकडा हूँ। विघ्नमय, परवश, नश्वर, विजाति दुखरूप जगत से हमारा सम्बन्ध छुडा दीजिये॥ १६॥ हे हितकर गुरुदेव! अपने चरण कमलो की भक्ति दीजिये! भक्ति दीजिये!! बार-बार यही याचना करता हूँ—

चौपाई—*गुरुपद पकज की सेवकाई। सिद्धि मूल सोइ सुजस सुहाई॥*
यथा बाल गति एकै माता। तथा मोहि रक्षक गुरु ताता॥

इसके अतिरिक्त ज्ञान बुद्धि आदि का अभिमान मुझे ग्रहण न हो, अथवा मे इतना ही जानता हूँ कि आपकी भक्ति से ही मेरा कल्याण होगा और ज्ञानादि अन्य युक्ति मैं कुछ नही जानता॥ १७॥

शब्द—७

गुरु दीनदयाल द्रवित गुरु हो॥ टेक॥

मेटहु दुख मानस जिय भरमै, काटो जाल हमार बरो॥ १॥
नहिं चाहत जग यादि करन हम, इन्द्रिय मन लाय करत खबरो॥ २॥

प्रारब्धि सरूप अज्ञान जो सनमुख, छोडत बन्ध करत झगरो॥ ३॥
देव दृष्टि नैराश्य एकरस, भोगि काटि प्रारब्धि को रगरो॥ ४॥
पुन बने प्रारब्धि न अब से, यह दुख यादि रहै सबरो॥ ५॥
सुख आशा गफिलायँ न कबहूँ, दीजै दृष्टि अपनि जबरो॥ ६॥

टीका—जगत-बन्धनो मे गिरे हुए लाचार निर्वल जीवो पर दया कर छुडाने वाले, हे सद्गुरु दीनदयाल! आप द्रवित होइये, मेरे दुखो को देखकर पिघलिये, करुणादृष्टि से सहायता दीजिये॥ टेक॥ जो अज्ञान से ही खडी है, उसका नाम मानसिक सृष्टि है। उस मानस कामादि कानन मे मे रास्ता भूले वत भटक रहा हूँ। इस भूल जनित दुख को मिटा दीजिये। हमारा ही बनाया हुआ भूलकृत वह मनोमय जाल हमे ही जकड रहा हे, उसको काट दीजिये! परखा कर छुडा दीजिये॥ १॥ खानि-बानी, हर्ष-शोक, हानि-लाभ, राग-द्वेष, पाँच विषय ऐसे-ऐसे जग प्रपच का मे स्मरण तक नही करना चाहता। पर मेरी इन्द्रियाँ और मन चचल घोडे के समान बाह्य जग प्रपच की वासना स्मरण करा के मेरे सामने कर देते हे, जिससे मैं फिर चचल हो जाता हूँ॥ २॥ जन्मातर के सचित कर्मों में से भोग के सम्मुख पडा हुआ जो वर्तमान शरीर है वह प्रारब्ध ही अज्ञान का रूप है, क्योकि स्वरूप के अज्ञान से विषयो मे सुख मानना, विषयो मे सुख मानने से सकाम कर्म, सकाम कर्म से सस्कार द्वारा पुनर्देह की प्राप्ति होती रहती है। इस प्रकार स्थूल देह अज्ञानरचित होने से अज्ञान का स्वरूप ही है, वह मेरे सामने है। जब मै विषयक्रिया सुखमानना बधन छोड़कर निर्बन्ध होने के लिये साधना करने लगता हूँ, तो ये अज्ञान के परिवार-इन्द्रिय-मन स्वभाव सब झगडा करते है, विघ्न डालते हैं, सुख झलकाते है, आगे बढने नही देते॥ ३॥ इसलिये हे गुरुदेव! अपनी पारखदृष्टि और विपयो से नैराश्यता, उपरामता तथा दृढ ग्लानि एकरस मुझे दीजिये। अर्थात जैसा एकरस अखण्ड अपना स्वरूप है, वैसे ही तिसमे टिकने के लिये एकरस चल-विचल रहित सदा नैराश्य और बोधदृष्टि भी चाहिये। जिस दृष्टि और नैराश्यता के बल से आवश्यक प्रारब्ध को तो भोग के निवारण कर दूँ और प्रारब्धि से फुरे सुखाध्यास आगामी कर्म मिल के जो सस्कार द्वारा पुनर्जन्म मे हेतु होता रहता है, उस प्रारब्धाकुर—सुखाध्यास काम, क्रोधादि सकाम कर्म को विवेक-वैराग्यरूप पुरुषार्थ से काट के निवृत्त कर डालूँ। इस प्रकार प्रारब्ध का कठिन बधन तिसे सहन, भोग और काट के मे नष्ट कर दूँ॥ ४॥ जिससे कि फिर प्रारब्ध-रूप शरीर की रचना न हो, यह शरीर धरने-छोडने का सब दुख बधन त्रिविध ताप परवशता मुझे सदा स्मरण रहा करे॥ ५॥ हे गुरुदेव! अब से मै कभी जगत मे सुखाशा करके न भूलूँ, न फसूँ ऐसी प्रबल पारख दृष्टि आप दीजिये॥ ६॥

शब्द—८

गुरु मोहि दान अभय दे डारो॥ टेक॥
धन की फिकिरि न तन की ममता, मनकी आह निकारो।
दुख सुख हानि लाभ की संशय, दै सतबोध निवारो॥ १॥
मन अवलम्बी तन के रक्षक, तिन असनेह सहारो।
निज निज हित को काज करै सब, नहिं कोइ साथ हमारो॥ २॥

अजर अमर अबिनाशी हम है, भूल दृश्य भ्रम भारो।
तेहि के हित सयोग सबन से, यह मम भार उतारो॥ ३॥
निज कारज के सफल होन मे, नहिं परिशर्म निहारो।
सुखाध्यास हित मान चहो जो, तेहि परवाह न धारो॥ ४॥
बिबश शरीर नाशि सब बिधि से, तेहिको भोग अगारो।
जन्म जन्म के काज सिद्धि हित, नहिं हम वार निवारो॥ ५॥
प्रारब्धि कष्ट पुरुपारथ रोकै, तेहिको ज्ञान से जारो।
निश्चय अटल टलै सुख आशा, निज हित निज को हारो॥ ६॥
जस यह कहो करो मे तेसहिं, नहिं पछिताव लहारो।
यह अभिलाप पूर करि गुरुवर, भव से पार उतारो॥ ७॥

टीका—हे गुरुदेव! निर्भय पद जो अपना स्वरूप हे, तिसमे स्थित होने के मव रहस्य रूप दान मुझ भिक्षुक को दया कर दे दीजिये॥ टेक॥ मुख्य बन्धनकारी धन प्राप्ति की चिंता मेरे दिल से निकल जावे। इस जड शरीर मे जो ममता आमक्ति हो रही हे, उम ममता को हम निर्मूल कर डाले, ओर जो मन के ऊपर दया करता रहता हूँ, जो-जो मन मॉगता हे उमकी पुरोती मे जुटा रहता हूँ, सो ऐसी दया कीजिये कि मनोद्वेगो को कालरूप जानकर तिनकी पुरोती न करूँ, विषय मनोरथो को हृदय से निकालता रहूँ। मेरा कैसे निर्वाह होगा, या अमुक हमारे साथी छूट गये इत्यादि देह सम्बन्धी दुख-सुख हानि-लाभ के सदेहो को हे गुरुदेव! आप अपना नित्य पारख बोध देकर विनष्ट कर दीजिये। देहकृत दुख-सुख हानि-लाभ की चिंता छोडकर हम सत्य स्वरूप की स्थिति ही मे मग्न रहे॥ १॥ जो नम्रता युक्त सादर मन अनुकूल भॉति-भॉति के वचन बोलने वाले व कार्य करने वाले ओर इस शरीर की अन्न, जल, धनादि से रक्षा करने वाले हैं, तिनमे जो मेरी ममता बॅध जाती हे वही सर्व बन्धन का हेतु हैं, तिनके ममता-प्रियता रूप कटक को आप मेरे हृदय से बाहर कर दीजिये। क्योकि अपने-अपने सुख सिद्धि अर्थ सब अपना-अपना काम कर रहे हे। हमारा सहायक कोई नहीं। अभी वे अपना काज सिद्धि न देखे तो सब भाग खडे हो, चिरोरी-विनती करने पर भी सामने नहीं आ सकते, इसलिए हमारे साथी हमारे सद्गुण रहस्य ही ह और कोई नहीं॥ २॥ हम चैतन्य कभी उत्पन्न नाश न होने वाले सदेव रहनहार अजर अमर हैं। हम अपने को भूल कर भ्रम से देह इन्द्रिय विषय समग्र दृश्य प्रपच मे सुख मानन्दी का वोझ लादकर वृथा दुखी हो रहे हैं। स्वप्ननदी मे डूबने वत भ्रम मात्र इस दृश्य जड देह के मिथ्या सुख अर्थ सबसे हमें सम्बन्ध लेना पडता है, सबसे गर्जी बनकर सवके विवश रहना पडता हे। हे गुरुदेव! यह बोझा मेरे सिर से कृपया उतार लीजिये, अर्थात परखा कर देह बीज सुख मानन्दी छुडा दीजिये, जिससे कि देह धरना न पडे॥ ३॥ तन-मन उपाधि की निवृत्ति, स्वरूपस्थिति की प्राप्ति या इन्द्रिय-मन की खैंच मिटाकर ज्ञान, वैराग्य, भक्ति के अभ्यास मे तदाकार होकर सदेव पारख स्वरूप में स्थिर रहना या जेसा अपना शुद्ध स्वरूप अचल निराधार निरीच्छ हे वेसे ही ठहराव वनाना जीव का कर्तव्य हे, यही अपना काज हे। ऐसे अपने कार्य के पूर्ण करने मे हम परिश्रम से न डरे। विविध साधन मे, विचार मे, साधु गुरु की सेवा उपासना करने मे मन न लुकावे। जब जो कार्य करने का सौभाग्य हमे प्राप्त हो तब सादर तन-मन से जुट जावे, कायर न बने और जो इन्द्रियो

के सुख भोगने के लिए जगत बडाई, प्रभुता या अपनी प्रसिद्धि चाहते है, इसके लिए नाना चपलता-चालाकी बाचाली सीखते रहते है, वह हानिकारी जानकर जगत मे मान बडाई पाने की चिता छोडकर हम निश्चिन्तता से स्वरूप भाव मे ठहरे रहे ॥ ४ ॥ यह जड शरीर निरा परवश है, पराधीन है, हर प्रकार से नष्ट होने वाला है। 'कोटिन यतन करो यह तन की, अंत अवस्था धूरी' ॥ बी० ॥ कोटि-कोटि रक्षा, पालन करते हुए भी अत मे यह देह धूल ही मे मिल जायेगी, जैसे-तैसे क्षणभगी शरीर का प्रारब्धिक भोग मेरे सम्मुख होते ही जा रहा है। अथवा इस शरीर की जैसी भवितव्यता होगी वैसा प्रारब्धाधीन आगे होता ही रहेगा, तो इस देह के दुख-सुख की फिक्र मे पडकर हम अपना साधन वैराग्यरूप कार्य न छोडे।[१] अनत जन्मो के कार्य पूर्ण करने का आज अच्छा अवसर हमे मिल गया, योग्य है कि ऐसे सुअवसर को पाकर अपना रत्न समय देह-फिक्र और जगत-प्रपच मे व्यर्थ नष्ट न करे, जिससे अनत जन्मो की फॉसी छूटे वही उपाय हम आपकी कृपा से करे ॥ ५ ॥ क्योकि जो प्रारब्धिक दुख है, जैसे—रोग व्याधि, अपमान, निर्वाहिक कष्ट आदि इन सबो के कारण परम पुरुषार्थ से मन रुकने लगता है, सो प्रारब्धिक हानि या कष्ट रूप तृण को स्वरूपज्ञान द्वारा जला देवे, अर्थात प्रारब्धिक कष्ट पाते हुए भी हम गुरुपद हेतु उस कष्ट को न गने। हे गुरुदेव! आपकी दया से हमारा निश्चय ऐसा हो कि किसी भी प्रकार टले नहीं, अटल हो, सदैव जगतप्रपच दुखपूर्ण ही दीखे और जो हमारी सुख की आशा जगत मे लग रही है वह नष्ट हो जावे। इस सुख-आशा से जान छुडा कर अपनी स्थिति के लिए हम बलि हो जाय, अर्थात हमारे माने हुए तन मन प्राण को भले ही जो कुछ कष्ट हो पर हम अपने शुद्ध स्वरूप के स्थिति-मार्ग से कभी डिगे नही। जब दुखपूर्ण भोगविलास के लिए अपने को हार जाया जाता है, तो भला अक्षय गुरुपद मे ठहरने के लिये अपने को क्यो न हारे! क्यो न निछावर हो! अवश्य, हे गुरुदेव! आपकी कृपा से ऐसी ही दृढ बुद्धि मेरी बनी रहे ॥ ६ ॥ जैसा हम आपके कृपाकटाक्ष से कह रहे है, वैसा ही कटिबद्ध होकर बर्ताव करे जिससे अत मे पछतावा न रह जाय, अर्थात शोक सताप न व्यापे, वही रहस्य हम सहर्ष अपनावे। हे सिरमौर पूज्य गुरुवर! हमारी अभिलाषा को पूर्ण कर इस असार ससार-सरिता से पार कर दीजिये जिससे फिर छल-बल पूर्ण जगत का दर्शन न हो ॥ ७ ॥

शब्द—९

मिटावो गुरू पच दुखन सुख ध्येय ॥ टेक ॥

ह्वै स्मरण तबहिं दुख होवै, सनमुख इष्ट न जेय।
मारत डंक बीछि तन जैसे, तस खड़कत दिल मेय ॥ १ ॥
बारम्बार यादि सोइ ह्वै ह्वै, मन ठहरन नहिं देय।
क्षण क्षण कलप सरिस ह्वै जावै, खैंचि खैंचि फिरि वेय ॥ २ ॥
शिघ्र उपाय प्राप्ति हित सोचे, अस निश्चय बिन भोग न क्षेय।
उलझनि परी दौरि चहुँ दिश मे, केहि बिधि तेहि को सेय ॥ ३ ॥

---

१ दो०—अपने-अपने अर्थ हित, सब जन सबके दास। बिना अर्थ अपनो कवन, कोउ न बैठे पास ॥

अनन्त भावना सनमुख ह्वै ह्वै, चलत प्रवाह रहेय।
कस न हटै यह जानि न जावै, बिन धीरज कहँ ठेय॥ ४॥
स्व स्वरूप हैता यह नाही, नहिं जड बस्तु सटेय।
नहिं गुण धरम शक्ति कोइ इसमे, जो निज को गहि लेय॥ ५॥
प्रिय अप्रिया सहन गति भेदहिं, अति लघु जस गढि एय।
कष्ट अकष्ट देय तस मिलि मिलि, हे न पदारथ केय॥ ६॥
तदपि मोह वश क्षोभ राखि तहँ, अरझि बोलावत तेय।
राखि गाफिली ध्येय न पलटत, और कादरपन एय॥ ७॥
दै बीरता छोडाय कदरता, नशि गाफिल सुख ध्येय।
दै दृढता गति मति को पलटौ, यह गुरु अरज सुनेय॥ ८॥

टीका—हे गुरुदेव! शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध इन पाँचो विषयो मे जो मेरा सुख निश्चय हो रहा हे उसे आप मिटा दीजिये॥ टेक॥ विषयो को भोगना तो दूर रहा, उनका स्मरण होते ही चचलता होकर दुख होने लगता हे। जिन विषयो की इच्छा होती ह, यदि वे इन्द्रियो के सम्मुख नही हे, तो भोगने की आतुरता मे उतना ही कष्ट होता है जितना किसी को विषभरी बीछी डक मार दे ओर उसको टपकै, किसी भाँति रहा न जाय, तेसे हृदय मे विषय भावना खटकती है॥ १॥ बारम्वार वे ही विषय स्मरण हो-हो कर मन को किसी प्रकार स्थिर नहीं होने देते, क्षण-क्षण काटना दुस्तर हो जाता हे, क्षण-क्षण मानो लाखो वर्ष या कल्प के समान हो जाता है, वृत्ति को खेंच-खेंचकर वही भोग स्मरण होते हैं, कव भोगूँ-कव भोगूँ, यह सनक सवार हो जाती है॥ २॥ तब उस विषय भोग की प्राप्ति के लिये अति शीघ्रता से युक्ति सोचता हे। उस समय यही निश्चय होता है कि बिना इच्छित भोग भोगे यह असह दुख का निवारण न होगा। यही उलझन होकर चारो दिशाओ मे भोग प्राप्ति हित अनेक प्रकार के परिश्रम करते हुए यह जीव दोडता रहता है। उस समय यही आतुरता रहती है कि किसी विधि भोग शीघ्र मिले[1] और उसे मै भोगूँ॥ ३॥ यद्यपि अनन्त भावनाओ की धाराएँ पथ में अनन्त झाड़-पहाड पडनेवत सम्मुख आ-आ कर सहज ही लुप्त होती रहती हें, वे नहीं सतातीं, परतु यह भावना जो कि जीव को कायल कर रही हे, आने-जाने वाली क्षणिक हे, पर सम्मुख चाहना के वशिता मे यह स्मरण नहीं होता कि यह भावना भी भोगे विना ऐसे ही चली जायेगी। क्योकि प्रिय भावना के वश धीरता ही नष्ट हो जाती है, जब धीरज ही नहीं तो भावनाओ को कैसे टाला जा सकता है! ॥ ४॥

विवेकयुक्त देखने से स्व-स्वरूप चैतन्य के समान यह सुख भावना कोई स्थिर पदार्थ नही है और न तो यह कुछ अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी के समान स्थूल-सूक्ष्म जड परमाणुओं की ढेरी ही है और न तो इस सुख भावना मे शीतत्व, उष्णत्व, कठोरत्व, कोमलत्व जड की शक्ति है और न कोई ज्ञातृत्व चैतन्य की शक्ति है, इस प्रकार जड और चेतन के समान

---

१ जेसे रामायण मे आतुरता का वर्णन है—"जप तप कछु न होय यहि काला। हे विधि मिलै कवन विधि वाला।" ऐसी दशा आसक्ति मे हो जाती है।

मानन्दी का कोई स्वतत स्वरूप नहीं है। ऐसी बन्ध्यापुत्र या मृग तृष्णावत मिथ्या भावना मुझ चैतन्य को पकड़ नही सकती, तो फिर क्या कारण हे कि इससे हम पराजित हो दुखी हो रहे हैं। ॥ ५ ॥

प्रिय-अप्रिय सहन के कारण ही कम-विशेष भावनाओ की खेच हुआ करती है। चैतन्य जीव ने विशेष व कम जैसा जड पदार्थों में सुख मान कर भावाभाव गढ रक्खा है और जेसा विशेष-कम भोगो के भावाभग्व होने मे सहनगति का अभ्यास बना लिया है, उतना ही कम और विशेष वासनाओ की तरफ खिंचाव होता रहता है। जिसमे विशेष सुख भावना युक्त प्रियता बन गई है और भोगने की आदत भी पड गई है उसके बिना छिन भर भी चैन नही पडती। उस प्रिय भावना की पूर्ति किये बिना जीव को सहन नहीं होता। जिस विषय मे केवल सुख तो माना है पर भोगने की आदत नही पडी है, उसके बिना कुछ काल तक रह सकता है और जिसमे सुख मानना भी दृढ नहीं, आदत भी नहीं, उसके लिए जिन्दगी भर आकर्षण नहीं होता। इस प्रकार पाचो भोगो मे सुख भाव और अभाव जैसा कम-विशेष हृदय में टिका रक्खा है और जैसा रोकने का, न रोकने का अभ्यास कर लिया है उसके लिए वैसा न्यून-अधिक देर तक सहन-असहन होता रहता हे। अप्रिय और अनाभ्यासिक भावनाएँ चाहे जितनी सम्मुख आवै पर उन भावनाओ को जीव हटा देता है। इस प्रकार वे भावनाएँ कुछ न होते हुए भी अपनी पूर्व भूल से कम-विशेष सुख मान लेने के बाद कम-विशेष आदत और न आदत की वजह से कम-विशेष खैच करके कष्ट और न कष्ट जीव को दिया करती हे।

दृष्टांत—एक मदिरा की दुकान पर तीन गरीब मनुष्य गये। तीनो मद्यपी थे, परन्तु पैसे न थे। तीनो ने मद्यवाले से कहा—हमें मद्य पिलाइये। वह गाली देकर बोला—दिन भर घास छीलो तब मद्य पिलाएँगे। तिनमे से एक मनुष्य तो जिसकी कम आदत थी वह बोला—मैं बिना मद्य पिये ही गुजर कर लूँगा, पर दिन भर ज्येष्ठ के ताप मे घास न छील सकूँगा, ऐसा कह कर वह तो चला गया। बाकी दोनो मद्यपी नगे पॉव उघारे सिर ज्येष्ठ के कठिन ताप मे घोडा-गधा के लिए घास छीलने गये। एक ने, जिसकी मध्यम नशे की आदत थी, थोडी देर घास छीला, फिर मद्य वाले के पास आया ओर मद्य की याचना की। मद्यवाले ने यह सुनकर पॉच कोडे जमाये और कहा—तू विना वक्त अभी क्यों आ गया। मै नहीं पिलाऊँगा। उसने मन मे कहा—धिक्कार है। इतना कष्ट सहकर मै नशा न पीऊँगा। तीसरा नशे का अधिक आदी था। उसने लालच वश खूब घास छीला। भूखा-प्यासा सन्ध्या समय आकर घास धर कर फिर याचना की। सुनते ही पिलाने वाले ने कहा—यह नही जानता था कि यह घास किसके लिये मॅगायी गयी है। जा, घोडो और गधो के आगे इस घास को झार, नन्ही-नन्हीं करके डाल आ। उसने सब कार्य करके फिर याचना की। फिर मद्य वाले ने उससे घर के सब जूँठे बर्तन मॅजवाये, अत मे थोडा मद्य पीने को दिया, मानो उसको सब पदार्थ मिल गया। इस प्रकार प्रिय और अप्रिय तथा सहनगति की आदत से कम-विशेष खिंचाव होता और नही भी खिंचाव होता और जो कोई किचिन्मात्र नशा नही खाता-पीता न उसमे सुख मानता है, कुछ भी खिचाव नही होता। बस ऐसे ही सब पदार्थो मे समझिये॥ ६ ॥

यद्यपि सुख भावना कोई पदार्थ नही है, इस प्रकार जानकर भी पूर्व अज्ञान वश तिसमें सुख प्रियता करके उन भावनाओ मे मिल कर फिर-फिर विषय भावनाओं को मित्र के समान

बुलाता हू। फिर-फिर उन्हीं कामनाओ मे सुख निश्चय करके मनन करता हूँ। पूर्व गाफिली एव अज्ञाननीद रखकर उस मिथ्या सुख निश्चय को नहीं पलटता हूँ, जब स्मरण करता हूँ तब विषयो में सुख का ही। चाहिये तो उस कामना को जन्म-जन्म की शत्रुणी जान कर उसे त्याग दे पर यह अपनी ही कादरता एव कमजोरी है॥ ७॥ हे गुरुदेव! आप मुझे वीरत्व भाव देकर मेरे हृदय की दुर्बलता को हर लीजिये, जिससे कि मेरी गाफिली छूट जाय। दुखप्रद पाँचो विषयो में सुख निश्चय होना ही गाफिली है। उस निश्चय को हटाने के लिये दृढता दीजिये। हिम्मत, साहस, धैर्य, पुरुषार्थ चेष्टा देकर विषय चेष्टा और विषय क्रिया को पलट दीजिये। बस यही दास की विनती है। इसे दयानिधान सुन कर स्वीकार कीजिये। क्योंकि मैने आपकी ही दया से इस सुख-भावना को मिथ्या जाना है। अब आप ही की दया से उसके छोडने मे मैं समर्थ होऊँगा, इसलिये आपकी दया का ही आधार है॥ ८॥

सार—सद्गुरुदेव से और याचना न कर कल्याणार्थी को पाचो विषयों के जडाध्यासो को नष्ट करने की दृढ शक्ति मिले यही माँगना चाहिये, क्योंकि विषयासक्ति सर्व दुखो की जड है और विषय रहित जीव शुद्ध अचल स्वय प्रकाश मुक्त रूप ही है।

प्रसंग ३—सद्गुरु दर्शन लाभ

शब्द—१०

सो गुरु गुरु गुरुवर दरश दियो॥ टेक॥

देह मान को मारि हटायो, मन से छीनि लियो॥ १॥
इन्द्रिन बिषय को कलिमल टार्‌यो, निर्मल जीव कियो॥ २॥
आशा तृष्णा चाह मिटायो, अबिचल कीन्ह जियो॥ ३॥
धर्म सिखाय अधर्म छोडायो, ज्ञान को दान दियो॥ ४॥
सकल भरम को छेदन करि के, निर्भय थान कियो॥ ५॥
मिलन बियोग क दुःख नशायो, शोक रु मोह क्षयो॥ ६॥
जड चेतन को भेद बतायो, अजर अमर अभयो॥ ७॥
गुरु कि कृपा से भयो बडभागी, तोष पियूष पियो॥ ८॥
सदा ऋणी यह दास गुरू का, चरण शरण में लियो॥ ९॥

टीका—अज्ञान तम हरन, बोध प्रकाश करन, श्रेष्ठ सद्गुरुदेव दर्शन दिये॥ टेक॥ आप सद्गुरुदेव दर्शन देकर मेरे देहाभिमान को जो कि सब अवगुणो का मूल है, उसे निर्मान शस्त्र से मार कर दुरा दिये। और मिथ्या कल्पना से उत्पन्न हुआ सुखाध्यास या विपरीत निश्चय वृत्तिरूप मन जो कि मुझे बलात्कार से जगत चक्र मे घसीटे लिये जाता था, उस छली डाकू से मुझे बचा लिये॥ १॥ पुन: मेरी इन्द्रियाँ और इन्द्रियो के पाँच विषय तिनकी आसक्ति ममता जनित कलिमल अज्ञान को हटाते हुए गुरुदेव मुझ जीव को शुद्ध स्वरूप कर दिये॥ २॥ स्वर्ग, सिद्धि आदि प्राप्ति की आशा और तृष्णा तथा राज्य, लक्ष्मी, लौकिक विद्या, अविद्या, बडाई आदि की चाहना से रहित कर मुझे अचल सत्य स्वरूप की प्राप्ति करा दिये॥ ३॥ धर्माचरण

की शिक्षा देकर अधर्म मार्ग परपीडनादि से छुडाते हुए जिस ज्ञान से पूर्ण बधन की निवृत्ति हो जाय, ऐसा यथार्थ ज्ञान का दान दे दिये ॥ ४ ॥ स्वय प्रकाश से भिन्न जो कुछ खानि-बानी मे सुख का भ्रम है उसका नाश करके मुझे निर्भय स्थान पारख भूमिका मे पहुँचा दिये ॥ ५ ॥ प्राणी और जड पदार्थों के मिल जाने, बिछुड जाने मे जो राग-द्वेष करके मुझे सर्व पीड़ा होती रही उसका हरण करते हुए जगत सम्बन्धी शोक, मोह, आसक्ति का नाश कर दिये ॥ ६ ॥ जिसमे ज्ञान मानन्दी सहित त्याग-ग्रहण न हो, जो एकरस न हो, वह जड का रूप है। ऐसे पृथ्वी आदि जड भूतो का जाननहार जड से भिन्न पृथक चेतन है। देहधारी जीवो के लक्षण—

दोहा— *हर्ष शोक औ दु.ख सुख, त्याग ग्रहण जहँ होय।*
इकरस ज्ञातापन जहाँ, विविध प्रयत्न लखोय ॥ १ ॥
क्रिय मानन्दी भूल से, भूल त्यागि ह्वै थीर।
सदा एकरस सत्य पद, ज्ञान स्वरूप अभीर ॥ २ ॥

इस प्रकार गुरुदेव ने जड-चेतन का भेद दिखाके मुझे स्वरूपज्ञान देकर शुद्ध रहस्य युक्त अजर अमर अभय कर दिये ॥ ७ ॥ गुरुदेव की दया से मै बडभागी हो गया, क्योकि सतोष रूप अमृत मुझे पीने को अब मिल गया ॥ ८ ॥

दोहा— *जाहि तोष को धन मिल्यो, चाह रोग नशि फाँस।*
विधि हरि हर सुख तुच्छ तृण, अविचल तृप्त निवास ॥ ३ ॥

इसलिये पूर्वोक्त सद्रहस्य और सद्बोध उपकार दाता गुरु का यह दास सदा कर्जदार है। तात्पर्य यह कि गुरुदेव का प्रत्युपकार करके यह दास उऋण नहीं हो सकता। बस इतने ही से दास की भलाई है कि गुरुदेव अपने चरण की शरण ले लिये ॥ ९ ॥

दृष्टान्त—एक सत यथार्थ सार ज्ञाता, परोपकारी, स्वय निर्भ्रान्त, परमार्थगामी, अखण्ड स्वय प्रकाश कर-कमण्डलु लिये हुए विचर रहे थे। कुछ दिन बाद वे एक विपरीत टापू मे पहुँच गये। विपरीत टापू उसका इसलिये नाम था कि वहाँ सब उलटा ही खेल हो रहा था। सत ने अपने दिव्यचक्षु से देखा तो वहाँ का राजा 'सुख भ्रम' सबको दुख ही दे रहा है। वहाँ पागल कुत्तो से कई काटे जा रहे है। कई बाघ, भेडिया आदि हिसक जतुओ से चबाये जा रहे है। कई बडे-बडे पत्थर-शिला से दबाये जा रहे हैं। कई चारो तरफ लगी हुई दावाग्नि में झोके जा रहे है। कई आँखो मे मजबूत पट्टी लगाये उलटे चलाये जा रहे हैं, जिससे वे खाई-खन्दक मे गिर कर त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। बहुतो के हाथ-पाँवो में बर्छी भाला छेदे जा रहे हैं। कई के गले मे पत्थर बाँधकर पानी मे डुबाये जा रहे है। कई दण्ड कोड़े मुगदरो के धडाधड मार से चिल्ल पुकार कर रहे हैं। कई के गले मे छूरी चलाई जा रही है। कई के देखते-देखते उनके प्रेमियो को जमीन में गाडा जा रहा है। कई लोहे के नुकीले कीलो के तख्तो पर लेटाकर ऊपर से मारे जा रहे हैं।

उस नगर मे सब नग्न देखे गये और सब परवशता की जजीर से बँधे हुए कौन ऐसा दुसह कष्ट नहीं है कि जिसको वे लोग न भोगते हो। अहो! ऐसा देखते ही साधु का अत करण करुणापूर्ण हो गया। सत ने 'अविवेक' मत्री 'कामादिक' सरदारो से जाकर कहा—आप लोग इनको दुसह दुख क्यो दे रहे है? उन सबो ने कहा—हम तो कोयला स्याही के समान अधकाररूप ही हैं, हमारे मे जब तक जिसका प्रेम रहेगा और हमारे राजा 'सुख भ्रम' के

अधीन जब तक प्राणी रहेगे, तब तक उन्हे ये सब निरन्तर कष्ट भोगने पड़ेगे। त्रिविध दुखो की निवृत्ति तो तब हो जब सुख भ्रम का मोह लोग छोडे, और कोई उपाय नहीं है।

सत वहाँ से हटकर उस विपरीत नगर के कुछ दूर जाकर एक निरुपाधि स्थान मे रहे। वहाँ से वे जब-तब विपरीत नगर के किनारे आया करते और सम्मुख आये प्राणियो को अपने वाक्यो द्वारा अपने पास आने को कहते, पर वहाँ कौन सुने। क्योकि सुखभ्रम ने भ्रम का पर्दा तानकर दुसह दुखों को झॉप रक्खा था। यद्यपि सब जीव उपरोक्त दुख भोग रहे हैं तो भी विवेक बिना यह नही जानते कि ये सब दुख सुखभ्रम से ही निकलते हे। बल्कि उलटे सुखभ्रम से ही मेरे सब दुख शमन होगे, इस विपरीत निश्चयता से सुखभ्रम की ही तरफ सब जीव अरुझ रहे हैं। यदि कोई पूर्व सुकृत सयोग से सुखभ्रम का मोह छोडकर सत के पास आ जाता, वे उसको एक ऐसा अजन लगा देते कि उसकी दृष्टि निर्मल हो जाती ओर उसे ऐसा वस्त्र उढा देते कि कोई भी किसी प्रकार की तात-बयार बाह्यान्तर नहीं लगती। अन्तस की तृष्णा, भूख, आशा, प्यास सब मिट जाती ओर उसे एक ऐसा शस्त्र दे देते कि कोई भी हिसक जतु उसके सामने ही न आवे। जिसे निर्मल परीक्षा दृष्टि, निराशा वस्त्र, क्षमा शस्त्र ग्रहण हो जाते वह विपरीत नगर के सब दुखो से बच जाता। कई जनो को उस विपरीत नगर से सत ने बचाया।

इस प्रकार का जगत ही विपरीत नगर हे, इसमे अज्ञान वश सब मे सुख मान-मान कर जीव त्रिविध ताप को विवशता से भोग रहे हैं। विषयो मे सुख मानना ही सब दुखो की जड है, परन्तु अनादिकाल से सब मनुष्य अन्धे विषयी पाँचो विषय रूप मद शिला से लदे हुए काम, क्रोध, लोभ, मोहादि जतुओ से ग्रसे गये पदार्थों के मिलन-बिछुडन अग्नि से झुलसे हुए शूकर खग मृग विविध योनियो मे पल-पल अशान्ति का अनुभव कर रहे हैं। इतने मे श्रीगुरु पारखीसत श्रेष्ठ निर्मल, महापूज्य दीन जीवो को मिलकर दया स्वभाव से परीक्षादृष्टि, क्षमा तथा नैराश्य अग देकर सब दुख द्वन्द्वो से छुडा लिये। धन्य-धन्य गुरु समान कौन है। इसलिये श्रीगुरु का दर्शन ही सब लाभपूर्ण हे, उस लाभ को लेकर यह दास अब गुरुदेव का अनुगामी होकर शरण मे रहेगा, और किस लायक यह दास है।

सार—ऐसा ही भाव परमपद इच्छुक को बनाना चाहिए। विवेकी साधु गुरु के दर्शन-पर्शन से बढकर और लाभ इसलिये नही है कि उनकी कृपा से ज्ञानचक्षु खुल जाते हे, सुमार्ग मे मन लग जाता है और जीव स्वस्वरूपस्थिति को प्राप्त कर लेता हे। इसीलिये कहा ह—

दोहा—*सत दरश अनमोल हे, मिले सुबुद्धि सुचाल।*
छिन में सब पातक टरै, भ्रम गढ टूटि निहाल॥

शब्द—११

सो गुरु गुरु गुरु ने धरम सिखाय॥ टेक॥

दान धरम सनमान धरम है, वचन हितैषी गाय।
सहित बिबेक सो रक्षा जीवन, निज पद छोड़ि न जाय॥ १॥
दया धरम औ धीरज धरमहिं, सत्य धरम दृढताय।
शील धरम औ क्षमा बिराजै, भक्ति धरम समुदाय॥ २॥

संतोष धरम औ शाति धरम है, मूल बिचार देखाय।
समता धरम को धारण करि कै, कारज बिघ्न हटाय॥ ३॥
संयम धरम नेम है धरमहिं, इन्द्री दमन बताय।
शम मन राखन धरम बिचारौ, परिणामदर्शिता भाय॥ ४॥
सतसंग धरम सदग्रंथ धरम हे, संत ध्यान दरशाय।
बैराग्य धरम नहिं राग किसी से, सत्य बिबेक जहाँय॥ ५॥
सजग धरम सब इन्द्री मन पर, भोगन दोष देखाय।
स्वबश धरम को पालन करि कै, देह मान बिनशाय॥ ६॥
कुसग त्याग फल शीघ्र देखावै, असमजस दुख जाय।
स्वरूपज्ञान फल प्राप्ति धरम है, पुरुषारथ सफल कराय॥ ७॥

टीका—मेरे पूज्य शिरमोर बोधदाता गुरुदेव मुझे धर्म का ज्ञान करा दिये॥ टेक॥ देश-काल के अनुसार सम्पूर्ण प्राणियो और सत्पात्र को अन्न, वस्त्र, धन, प्रिय वचन खर्च करके रक्षा करना 'दान' धर्म है। उत्तम पुरुषो से नम्रता युक्त भक्ति अग से सम्मुख होना और विविध सेवा करना 'सन्मान' धर्म है, ये दोनों धर्म के अग गहना चाहिये। निष्छल मद रहित पात्र देख कर सरल सार पूर्ण वचन कहा हुआ ही निज और सबके लिये हितकारी होता है। सर्व हितैषी वचन[१] कहना भी धर्म है जिसे गहना चाहिये। विवेक सयुक्त सर्व जीवो की रक्षा करते रहना चाहिये, जिससे अपने पद से विचलित न हो। जो कर्म करने से अपना पद छूट जाय वह कर्तव्य न करना चाहिये। यथा—"रीत प्रतीति प्रीति भल सोई। जेहि पाछे पछताव न होई" (मानस)॥ १॥ करुणाभाव से प्राणियो की रक्षा करना 'दया' है। "मूल दया जो आप सँवारै। सँभरै और जीव को तारै॥" दुख-सुख हानि-लाभ के समय फूलने-पचकने से रहित होकर सन्मार्ग मे एकरस कायम रहने और घबडाहट रहित अपना काज करते रहने का नाम 'धीरज' है। सदा एकरस रहनहार को 'सत्य' कहते हैं या ज्यो का त्यो यथार्थ हितैषी मन वाणी रहस्य रखना सत्य बर्ताव है, ऐसे दया, धैर्य और सत्य धर्म को गहना चाहिए। ये सब धर्म के अंगो को गुरुदेव मेरे मे पुष्ट कर दिये। मन-वच-कर्म से अयोग्य आचरण न करना, सब मे सहन और उपकार सहित बर्तना 'शील' धर्म है। अपराधियो के अपराध को गम खाकर उनका हित सोचना 'क्षमा' धर्म है। गुरुसाहिब की आज्ञा के अनुसार रहना 'भक्ति' धर्म है। जिस भक्ति के करने ही से सब धर्म के अग जानने और आचरने मे आते है सो मुख्य 'भक्ति' धर्म है। ये सब धर्म के अग रखना चाहिये॥ २॥

भोगो मे सुख कामना रहित और याचना रहित होकर अप्राप्ति की इच्छा न करना, प्राप्ति के आसक्ति रहित उदासीनता से बर्तना और स्वस्वरूप मे पूर्ण सुखी रहना, इसका नाम 'सतोष' धर्म है। 'शाति' भी धर्म है। भोगेच्छा विद्या अविद्या मान यहाँ तक कि सम्पूर्ण खानि-बानी का भ्रम सुख त्याग कर उपराम रहते हुए निरुपाधि युक्त स्थिर होना यह भी धर्म का ही अग है।

---

१. ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय। औरन को शीतल करै, आपौ शीतल होय॥
चींटी से हस्ती तलक, जितने लघु गुरु देह। सबसे निर्वैरहि रहो, दया दृष्टि हे येह॥

मुख्य बन्धन और बन्धनो के छुटकारा होने की दृष्टि को 'विचार' धर्म कहते हें, ''करहु विचार जो सब दुख जाई। परिहरि झूठा केर सगाई॥'' बी०॥ यह विचार ही सब धर्मो का सार गुरु की दया से देखने मे आता है। विपरीत प्राणियो को क्षमा करते हुए उनके प्रति हितेषी बर्ताव करना, हितैषी ही वचन बोलना 'समता' का रूप है। ऐसा समता धर्म धारण करने से अपने पुरुषार्थपथ मे रुकावट नहीं होती। रुकावट करने वाले दोष वैर, राग, कलह आदि समता से दूर हो जाते हे॥ ३॥ कुपथ्य के समान कुसग और राजसी-तामसी भोग वस्तुओ का त्याग करना 'सयम' धर्म है। नित्य नियम से कल्याण रहस्य घेरे का अभ्यास करना 'नेम' धर्म हे। ऑख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा, ये पंच ज्ञान इन्द्रिय और हाथ, पॉव, मुख, लिंग, गुदा, ये पच कर्म इन्द्रिय इन्हे दुराचरणो से रोक कर सन्मार्ग मे लगाना 'इन्द्रिय दमन' धर्म हे। मन के खोटे सकल्प पलट कर यथार्थ सकल्प करना या शुभाशुभ सकल्प रोक कर स्थिर होना 'शम' धर्म हे। हर एक कार्य का नतीजा सोचकर तब हितेषी कार्य आरम्भ करने का नाम 'परिणामदर्शिता' धर्म है। ये सब धर्म के अग जानना चाहिये॥ ४॥

रहस्यवान सतो के पास निरभिमान होकर बैठना सत्कथा वार्ता सुनना 'सत्सग' धर्म है। एकाग्रचित से ज्ञान-वैराग्य भक्तिभाव पूर्ण 'सद्ग्रन्थो का पढना' भी धर्म है। और सब से निवृत्ति लेकर वैराग्यवान सतो के चरणकमलो का रहस्य युक्त 'ध्यान करना' ये सब धर्म गुरुदेव की कृपा से देखने मे आते हैं। स्वस्वरूप से पृथक वस्तुओ मे सुख मानना त्याग कर उपरामता युक्त बर्तना 'वैराग्य' धर्म जानना चाहिये। जड चेतन तथा सत्यासत्य के यथार्थ निर्णय का नाम 'विवेक' धर्म है। सो जहॉ वैराग्य धर्म होता हे तहॉ ही विवेक धर्म रहता हे आर जहॉ विवेक धर्म है तहॉ वैराग्य धर्म का बासा जानना चाहिये॥ ५॥ प्राणी ओर जड सृष्टि तथा इन्द्रिय-मन मनसा सम्पूर्ण विजातीय आवरण करने वाले पदार्थो से सावधान रहने का नाम 'सजगता' धर्म है। पच विषयो के कोमल सुखो मे शूलवत दुख देखना 'भोग दुख दर्शन' यह भी धर्म हे। पुन. स्ववश धर्म को धारण करने से देहाभिमान दूर हो जाता हैं। क्योकि रहस्य युक्त स्वरूपज्ञान बिना स्ववश नही हो सकता, यथार्थ स्वरूपज्ञान से ही सर्व अभिमान नष्ट हो जाते हैं, अत स्वरूपज्ञान और रहस्य को लेते हुए इन्द्रिय-मन के खिचाव रहित रहना 'स्ववश' धर्म है या 'देहाभिमान दूर करना' भी धर्म है॥ ६॥ भ्रमिक-दुराचारी के सगो मे न जाना, न वेठना और खोटे भाव न मनन करना, ऐसा 'कुसग त्याग' भी धर्म है। इसका फल शीघ्र असमजस ऐचा-खैंची का दुख मिट जाना हे। अविनाशी सत्य 'स्वरूप ज्ञान करना' यह धर्म सार है, जिससे सब धर्माचरण करने का परिश्रम सफल हो जाता है॥ ७॥

साराश—स्वस्वरूप ज्ञान करना ही सब धर्मो का अतिम फल हे, तिसे प्राप्त करना चाहिये। इस प्रकार गुरु प्रताप से धर्म मार्ग जानकर उस पर चलते हुए गुरु पद (स्व-स्वरूप) मे विलीन होकर यह दास जीवन्मुक्त हुआ। जिस किसी को भी दुखो से छूटना हो वह इन धर्मागो को ग्रहण करे और गुरुदेव का गुणानुवाद गावे।

शब्द—१२

सो गुरु बल तुम्हरे काटौ जग पाश॥ टेक॥

राग प्रवाह रयनि दिन चलता, कबहुँ न चैन सुपास।
देउँ उखाडि ताहि को बरबस, राखि बिरागहिं खास॥ १॥

अहै बिराग स्वरूप को रक्षक, चाह अगिनि करि नाश।
निशदिन राखि ताहि को सनमुख, जग से होउँ निराश॥ २॥
खजुली कीट सरिस सुख सबहीं, पच विषय की भास।
जो कहुँ छुवत बहुत दुख होवै, ग्रहन बनै नहिं त्यागहिं तास॥ ३॥
है यह जीव अनारी मन बशि, फिरि फिरि ताहि कि आस।
बारम्बार भूलि तेहि दुख को, करत गाफिली जास॥ ४॥
करौं सजगता सह पुरुषारथ, भूलि न पर मन बास।
निशिदिन फिकिरि आपनी राखौ, तजि मन के बिशुवॉस॥ ५॥

टीका—जिज्ञासु कह रहा है कि हे गुरुदेव! आपकी सहायता से इस ससार बंधन रूप फॉसी को तोड डालूँगा, ऐसा मुझे निश्चय है॥ टेक॥ जल धारावत विषय स्नेह की प्रबल धारा अंत करण मे रात-दिन बह रही है, तिसके बीच मे मुझे एक क्षण भी स्ववशता नही मिलती। ऐसी दुखधारा को हठ करके मैं उखाड दूँगा। जैसे कोई जड मूल से वृक्ष उखाड देता है, वैसे वैराग्य का मुख्य बल लेकर प्रपचराग प्रवाह को जड़ मूल से नष्ट कर दूँगा॥ १॥ वैराग्य ही अपने स्वरूप की रक्षा करने वाला है, एक वैराग्य ही से कामना की अग्नि ठडी पडती है, अन्य उपाय से नही। अत: वैराग्य-सुख को रात-दिन सामने रखकर इस जगत-जंजाल से उदासीन होकर निर्वासना युक्त रहूँगा॥ २॥ खाजकरण कीट लग जाने के समान ही पॉचो विषयो के सुख है। पच विषयो मे सुख न होते हुए भी तिनके निरतर सयोग रहने के कारण मिथ्या अभ्यास से सुख भास हो गया है। जैसे खाज कीट छू जाता है तब सारे शरीर मे चुलचुली पैदा हो जाती हे। जो न खुजलावे तो रहा नही जाता, यदि खुजलावे तो खुजलाहट और बढ जाती है, ऐसा असमजस होता है। यद्यपि न खुजलावे तो वह थोडी देर मे शात हो जाती है, पर विवशता से न त्यागते बने न गहते॥ ३॥

यह जीव मन के वश हुआ अनाडी हो रहा है। जिनमे दुख पाया फिर-फिर उन्ही मे सुख की आशा कर दोड रहा है। पुन -पुन विषय जनित असह दुखो को भूलकर यह जीव फिर उन्हीं दुखप्रद प्रपचो मे गाफिली से मोह करता है॥ ४॥ ऐसी गाफिली का नाश करने के लिए सावधान होकर परम पुरुषार्थ मे मै लीन रहूँगा और साथ ही भूलकर भी बधनदायक पराये अत.करण के आधार न होऊँगा। रात-दिन अपने दुख छूटने की चिता रखते हुए इस छली मन का भी विश्वास न करूँगा। बस, इस प्रकार हे गुरुदेव! आपकी परीक्षा और रहस्यबल से मैं जगत बधन तोडकर सदा के लिए मुक्त हो रहूँगा॥ ५॥

[स्वयं उद्धार की फिक्र न करने से, पराये मन का विश्वास कर धर्म नीति युक्त न बर्तने से तथा विषयासक्ति रखने से अध:पतन ही होता है]

दृष्टात—एक बादशाह जगल को सैर करने गया, लौटते समय देर हो जाने के कारण एक स्थान पर ठहर गया। थोड़ी देर मे क्या देखता है कि एक बान बटने वाले का बान उलझ गया हे। उस बानवाले ने अपनी पत्नी से कहा—अगर यह मेरा बान (रस्सी) तू सुलझा दे तो मै तुझे टके-टके की चार बाते सुनाऊँ। स्त्री ने बान सुलझा कर कहा—अब आप वे चार बाते सुनाइये। पुरुष ने कहा—पहिले टके की बात तो यह है कि अपना काम किसी दूसरे के भरोसे

न छोडे, दूसरी बात—अपनी स्त्री को बहुत दिनों तक मायके या विजाति सग मे न रक्खे, तीसरी बात—कमीने की नौकरी न करे और चौथी बात—अपनी धरोहर कभी दूसरे के पास छिपाकर न रक्खे। इन चारो बातो को बादशाह ने ध्यान से सुनकर मन में सकल्प किया कि इनकी परीक्षा अवश्य करना चाहिये। यह सोचकर घर आते ही अपने राज्य का सम्पूर्ण काम मत्री आदि के सुपुर्द किया और अब छह मास तक मैं राज्य का काम बिलकुल न करूँगा, यहाँ तक कि मे हस्ताक्षर भी न करूँगा, यह कह कर बादशाह महल मे रहने लगा।

बादशाह की बीवी अपने मायके ही मे थी, इसलिये बादशाह ने सोचा कि मेरे लिये जो स्त्री प्राण तक निछावर करने को तैयार थी, उसका भेद अपनी ससुराल चलकर देखना चाहिये कि विशेष मायके मे रहने से क्या हानि होती हे। ऐसा विचार कर बादशाह ने एक हजार अशर्फी नकद ले लिया और एक लाल अपने जॉघिया के अन्दर रखकर भेष बदल ससुराल का मार्ग लिया। वहॉ पर पहुँचकर सराय मे जा ठहरा और अपनी एक हजार अशर्फी चुपके से भठियारिन के पास रख दी और उससे कहा कि आवश्यकता पडने पर मैं तुमसे ले लूँगा। बादशाह ने एक अत्यत दीन का भेष बनाकर केवल एक जाँघिया मात्र पहिने मेली देहयुक्त, शहर मे कोतवाल के पास जाकर हुक्का भरने मे केवल रोटियो पर ही नौकरी कर ली। उस कोतवाल के पास हुक्का भरने वाले बादशाह की स्त्री आया-जाया करती थी। एक रोज का वृत्तान्त हे कि बादशाह की स्त्री और कोतवाल दोनों एकत्र उपस्थित थे। इतने मे कोतवाल ने उस हुक्के वाले से कहा—अबे हुक्के वाले! जरा हुक्का भरकर रख जा। वह हुक्का भरकर रखने गया। बादशाह की स्त्री इसकी सूरत देखकर समझ गई, हो न हो यह मेरा पति बादशाह हे, मेरा हाल जानने के लिये इसने ऐसा स्वॉग रचा ह।

अत उस आरत ने कोतवाल से पूछा—यह आदमी आपने कब से नौकर रक्खा है? कोतवाल साहब ने उत्तर दिया—इसको रक्खे हुए अभी तो दस-पन्द्रह दिन हुए होगे। उस औरत ने कहा—इसे आप मरवा डालिये। कोतवाल ने बहुतेरा कहा कि इस बेचारे ने तुम्हारा क्या लिया है, खाली रोटियो पर सारे दिन मेहनत किया करता है। यह बेचारा बोलना भी तो नही जानता, क्योकि बौरा सा है और न कुछ सुनता ही है, क्योकि बहरा है। परन्तु बादशाह की स्त्री के बहुत हठ करने पर कोतवाल ने विवश होकर हुक्के वाले को जल्लादो के हवाले किया और जल्लादो से कह दिया कि अभी इसे जगल मे मार कर फेक आओ। जल्लाद उसको लेकर जगल मे पहुचे ओर अपने हथियार निकाल कर उसे मारने का इरादा किये। इतने मे उस हुक्का भरने वाले ने कहा—आप लोग मुझसे एक हजार अशर्फियॉ ले लीजिये और मुझे छोड दीजिये। बहुत वाद-विवाद के पेश्चात जल्लादो ने आपस मे यह निश्चय कर कहा—एक हजार अशर्फियॉ ला, तब तुझे छोड दे।

हुक्के वाला जल्लादो को लेकर सराय मे गया और भठियारिन से अपनी धरोहर एक हजार अशर्फियॉ मॉगी। तब मन्दाचारिणी भठियारिन ने डपट कर कहा—चल बे चल! कल तक तो हमारे कोतवाल के यहॉ रोटियो पर नोकरी कर पेट पालता रहा, तेरे पास अशर्फियॉ कहॉ से आई? तब वह बेचारा लाचार हो अपनी जाँघिया से लाल निकाल के जल्लादो को देकर अपनी जान बचा के घर आया। यहॉ से कुछ दिन के बाद अपनी ससुराल को पत्र लिखा कि फलॉ मिती को विदा कराने आवेगे। यह समाचार सुनकर बादशाहजादी को ज्ञात हुआ कि

हमारे बादशाह वह नही थे, जिनको हमने सदेह से मरवा डाला। बादशाह के श्वसुर ने विदा का पत्र स्वीकार कर लिया। बादशाह नियत तिथि पर विदा कराने पहुँच गया। दो-तीन दिन श्वसुर बादशाह ने अपने दामाद की बडी खातिर की, परन्तु दामाद कुछ गुमसुम-सा उदासीन वृत्ति धारण किये रहा, क्योकि इसके पेट मे तो और ही बात समाई हुई थी। उसके श्वसुर ने पूछा—आप उदासीन क्यों हैं? और आपने इस बार हमसे कोई चीज नहीं माँगी, जो आपकी इच्छा हो सो माँगिये। अपने श्वसुर का विशेष आग्रह देखकर उसने कहा—हमारे शहर का प्रबंध ठीक नही है, इसलिये आप अपने शहर के कोतवाल को हमारे यहाँ प्रबध करने के लिये हमे दे दीजिये। दूसरे हमारे शहर की सरायो मे बडी गडबडी मची रहती है, इसलिये आप अपने यहाँ की फलाँ भठियारिन को भी दे दीजिये। बादशाह का दामाद इन दोनो को दहेज मे ले विदा कराकर रुखसत हुआ।

कोतवाल तथा भठियारिन दोनो रास्ते मे बड़े प्रसन्न होते चले जाते थे कि अब तो हमारी खूब बन आई। वहाँ जाकर सैकडो हमारी मातहती मे रहेगे और हमारी बडी मर्यादा तथा तरक्की होगी। इधर बादशाह ने अपने शहर मे पहुँच कर दूसरे ही दिन आम दरबार किया और बान बटने वाले स्त्री-पुरुष को बुलवाकर पूछा—अमुक महीने की अमुक तारीख मे फलाँ वक्त जब तुमने अपना बान उलझने पर अपनी स्त्री से बान सुलझाने के एवज मे टके-टके की चार बाते बताई थी, वे कौन सी है? वह बेचारा डर के मारे कुछ बतला न सका। पुनः बादशाह ने उससे धीरज देकर कहा—तुम घबडाओ नहीं, बल्कि प्रसन्नता पूर्वक अपनी बाते कहो। बान वाले ने कहा—हुजूर! पहिली टके की बात तो यह थी कि अपना काम किसी के भरोसे पर न छोड़े। बादशाह ने जब अपने दफ्तर की जाँच की तो बड़ा ही उलट-पुलट और बडी गलतियाँ पाई, यहाँ तक कि करोडो रुपये लोग गायब कर गये थे। बादशाह ने उन सबको उचित दण्ड देकर बान वाले से कहा—तुम्हारी यह बात एक टके की नही किन्तु एक लाख की थी। पुनः बादशाह ने कहा—अब अपनी दूसरी बात सुनाओ। तब बान वाले ने कहा—हुजूर! दूसरी बात यह है कि अपनी युवती स्त्री को विशेष मायके या अन्य सगतो मे न रक्खे।

तब बादशाह ने अपनी बेगम को दरबारे आम मे बुलाकर कहा—क्यो हरामजादी! तू मायके मे रहकर कोतवाल से मोहब्बत करते हुए मुझसे इतनी विरुद्ध हो गई थी कि मेरे को मार डालने का हुक्म दे दिया था। सच है—"जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहि नारी" इतना कह बादशाह ने उसे प्राणघातक दण्ड दे दिया, और बानवाले से कहा—तुम्हारी दूसरी बात एक टके की नही बल्कि दो लाख रुपये की थी। अब तीसरी बात सुनाओ। बानवाला बोला—सरकार! तीसरी बात यह थी कि कमीने—धर्म नीति से न चलने वाले लोलुप की नौकरी कभी न करे। यह बात सुनकर बादशाह ने कोतवाल साहब को बुलाकर कहा—क्यो जी! जब मै आप के यहाँ नौकर था और हुक्का भरता था, तो आपने इस हरामजादी के कहने पर मुझे जल्लादो के सुपुर्द किस अपराध पर किया था? कोतवाल उत्तर ही क्या देता! अतः बादशाह ने कोतवाल साहब को जहन्नुम रसीद किया। पुनः बानवाले से कहा—यह तुम्हारी तीसरी बात एक टके की नही प्रत्युत तीन लाख की थी। अब चौथी बात बताओ। बानवाले ने कहा—महाराज! चौथी बात यह है कि अपनी धरोहर किसी के पास छिपा कर न रक्खे। यह बात सुन बादशाह

ने भठियारिन से पूछा—क्यो री। हमने तेरे पास एक हजार अशर्फियाँ इस शर्त पर रक्खी थीं कि समय पर ले लूँगा, पर जव मैं जल्लादो के साथ तेरे पास अशर्फियाँ माँगने गया, तव तू साफ इन्कार कर गई और ऊपर से मुझे आन तान बाते सुनाई। मन्दाचारिणी हाथ जोडकर क्षमा माँगने लगी। तब वादशाह ने कहा—उस समय तुझे मेरी जान नही प्यारी थी, तो इस समय मुझे तेरी जान क्यो कर प्यारी हो सकती है। अत बादशाह ने मन्दाचारिणी को कमर तक गडवा कर शिकारी कुत्ते उस पर छोड उसे नोचवा डाला और बानवाले से कहा—तुम्हारी यह चौथी वात एक टके की नहीं अपितु चार लाख की थी। इस प्रकार बानवाले को दस लाख रुपया दे विदा किया।

सिद्धात यह हुआ कि बादशाह ने अपना काम दूसरे के भरोसे छोड दिया इससे उसकी राज्यव्यवस्था मे घाटा ही घाटा आया। इससे अपने जीव के काज को दूसरे के भरोसे न छोडना चाहिये। बोझा आदि उठाना अपने बदले चाहे दूसरा उठा कर डाल आवे, पर दिशा भ्रम हो बुद्धि चक जाने पर और स्वप्न मे विविध मनकृत अग्नि लगने या वाढ आने पर जो अपने को दुख अनुभव हो रहा है, वह अपने ही जागने और बुद्धि ठिकाने करने पर दिग्भ्रम और स्वप्न सकट से अपना बचाव हो सकता है। दूसरे के जागने आदि से अपना दुख नहीं मिटने का, तद्वत अपनी भूलकृत जन्म-मरणादि रोग अपने ही स्वरूप देश मे जागकर नष्ट हो सकता है, इससे अपने कल्याण के लिये स्वय पुरुषार्थ करना चाहिये। दूसरी बात—भठियारिन के विश्वास और स्त्री के विश्वास मे बादशाह के धन और प्राण दोनो ही जाने वाले थे, इससे हमे मन वशवर्ती ससारियो के मन का विश्वास न करना चाहिये। तीसरी बात—कोतवाल, स्त्री तथा भठियारिन तीनो अपने-अपने मन के कहे मे आकर व्यभिचार और अनीत किये, जिससे वे तीनो फजीहत सहित जान से मारे गये, इससे अपने मन के सुख झलकाने पर भी मन का कहा न करना चाहिये। मन ही पूरा वैरी है यह बात भुलाना न चाहिये। चौथी बात—बादशाह को स्त्री और धन के सवध से ही सब असमजस सहना पडा, इससे जहाँ तक हो सके निरुपाधि पद चहीता को मायावी सबध नहीं करना चाहिये। हे सद्गुरुदेव। आपकी कृपादृष्टि के सहारे से मनवशवर्ती पराये का विश्वास, निज मन का विश्वास और आलस्य को त्यागकर मै स्वय परमपद का पथिक बन के जगत-बंधनो को काटकर पूर्व प्रकार से मुक्त हो रहूँगा, यही विचार हमारे में सदा पुष्ट कीजिये॥ १२॥

शब्द—१३

रटौ मन संत गुरू सुख खान॥ टेक॥

आशा बेरी ममता तोरी, तृष्णा दलहिं दहान।
क्रोध निकारै काम उजारे, मोह को खोदि ढहान॥ १॥
भय चिन्ता सताप नशावै, सशय दूरि बहान।
मन के फन्द काटि नित सुखिया, थिरता शाति लहान॥ २॥
हानि से छूटै कलह न घूटैं, अजर अमर पद भान।
शत्रु मित्र की क्रिया न जिनमे, दिल से जगत बिलान॥ ३॥

जाहि मिलै तेहि भाग्य उदे भइ, दिल की तपनि बुझान।
निज घर भेद पाय वह तिन से, करै दोष दुख हान॥ ४॥

टीका—हे मन! साधु और गुरु का नाम जो कि सब सुखो की राशि है उसे तू सादर स्मरण कर, पल भर भी साधु-गुरु का बोध और नाम तू मत भूल। वे साधु-गुरु कैसे है, उनसे क्या होता है, सो तू आगे स्मरण कर॥ टेक॥ देह और देह सम्बधी झूठे जगत मे सुख की आशा जो लग रही है वही कठिन बेडी है। उस आशा बेडी मे जीवो की ममता हो रही है, सो बन्धनदायक सुखाशा की बेडी को और जगत प्रपच की ममता खिचाव आदि को साधु गुरु तोड देते है।

तृष्णा का दल—कवित्त

और धन और विद्या और प्रभुतादि मान, और गज बाजि और महलहुँ और और।
देश देश देखूँ और बाटिका विमान और, स्वाद बाम पर्श मिलै नित नित और और॥
और और आगे आगे बढत बढत नित, निज रूप बाद सब थिर नाहि और और।
सतजन और और तृष्णा को मिटाय करि, आप हिये आप थिर रहै निज ठौर ठौर॥

उक्त तृष्णा समूह को सत जन नष्ट कर देते है, रक्तचूसक घट मे बसे क्रोध राक्षस को निकाल देते है, अष्ट मैथुनो[१] के भाव को तो उजाड ही देते है तथा जगतस्नेह वृक्ष को भी खोदकर जड मूल से ढहा देते हैं॥ १॥ भूत-प्रेतादि कल्पित बानी का भय और विषय पदार्थो के बिछुडने का भय, शरीर छूटने का भय, शतु-मित्र का भय तथा परिवार-समाज बनने-बिगडने वृद्धि की चिंता और वैर सम्बन्धी सताप, जलन इन सबो का नाश कर देते हैं। परोक्ष[२] प्रत्यक्ष[३] अनुमान[४] और कल्पना[५] रूप सशयो को दूर बहा देते हैं। अधिक सुख लाभ लोभ देकर धीरे-धीरे जगत जाल मे फँसा देना यह मन का फन्दा है। स्नेहियो मे आसक्ति, विरुद्ध पक्षियो की हानि करके सुख इच्छा, उद्दण्डता, राजस-मोहक वस्तुओ का सग, आरामतलबी, प्रमाद, सुखासक्ति, स्वरूपस्थिति के विरुद्ध कुसग सेवन, जगत ऐश्वर्य की इच्छा, वाचालता, चचलता, ये सब मन के फन्दे है। इन सबो को काटकर सत जन स्वरूपस्थिति धारण कर सदैव अखण्ड शात दशा मे रहते है॥ २॥

स्वस्वरूप बोध और स्थिति से पृथक चाहे जो मिले, चाहे जो बिछुडे, चाहे जो नष्ट हो, चाहे जिसकी उत्पत्ति हो, कुछ हानि नही है। क्योकि जीव का शुद्ध स्वरूप सर्व कामना और कर्तव्य रहित है, अखण्ड, अविनाशी है तो फिर तिसकी क्या हानि है। इत्यादि दृढ विचार कर सतजन हानि से पार रहते है। कलह उपाधि "जरै बरै अरु खिझे खिझावै। राग द्वेष मे

---

१ अष्ट मैथुन दोहा—श्रवण सुमिरन कीरतन, चितवन बात एकत।
दृढ सकल्प प्रयत्न पुनि, मैथुन अष्ट कहत॥ विचारमाला॥

२ परोक्ष—अपने से भिन्न जो बानी द्वारा अदृश्य माना जाय ईश्वरादि विशेष।

३ प्रत्यक्ष—जो भ्रमरहित इन्द्रियो द्वारा जाना जावे, जेसे मुख्य जड तत्त्व।

४ अनुमान—प्रत्यक्ष के पीछे इस प्रकार का होगा, सन्देह सहित माना जावे सो।

५ कल्पना—भोग सिद्धि हेतु हर्ष, शोक, भय, दीनता आदि।

जन्म गमावैं॥'' ऐसे आचरण सतजन नहीं ग्रहण करते। वे तो सब विक्षेपो को भीतर ही पचा कर कलह–वाद रहित रहते, साथ ही ज्ञान प्रकाश सहित अजर, अमर पारख स्वरूप मे सदेव स्थित रहते हैं। ''हार जीत मान अपमाना। इनसे रहित सत कर ज्ञाना॥'' शत्रु–मित्र का व्यापार उनमे नहीं है। सत–गुरु के हृदय से तो जगत प्रपच हेरा गया—लोप ही हो गया। किसी को घातक मान कर तिसके साथ अनीति, कटु बात, हिसा, क्रोध, उत्पात, चुगुली करना ये शत्रु की क्रिया हुई और मित्र की क्रिया—मोह, ममता, आसक्ति, लगाव, खिचाव, अविवेक, व्यर्थ कार्य, चिन्ता, मिलने–बिछुडने मे हर्ष–शोक ये दोनो व्यापार सत–गुरु मे नहीं होते। पूर्वोक्त राग–द्वेष, मित्र–शत्रु, कलह–कल्पना यही सब जगत का रूप हे, तिन सब जगत वृत्तियो का वे ऐसा नाश कर देते है मानो उनके लिये जग हे ही नहीं॥ ३॥

ऐसी रहनी युक्त साधु गुरु जिसे मिले उसका परम सोभाग्य उदय जानिये। साधु सगी के हृदय की तृष्णा ज्वाला मिट जाती हे। यथा—''पुण्य पुज बिन मिलहि न सता। सत्सगति ससृत कर अता''॥ रा० ॥ 'दोहा—सत बडे परमारथी, शीतल उनके अग। तपनि बुझावैं और की, लाय आपनो रग''॥ कबीर ब० ॥ पूर्वोक्त साधु गुरु का सगी साधक निज घर-शुद्ध चैतन्य पारख स्थिति का भेद तिन री प्राप्त कर जडासक्ति जड भावना नाना सकाम कर्म ये सब दोष पाप और जन्म–मरण दुखो का नाश कर देता है।

कवित्त

तोष पाय धीर पाय दुख औ दरिद्र गये, क्षमा पाय हिसा ओ लडाई को भगाइये।
ज्ञान पाय मोह अध दीनता विनाश भई, बोध पाय अमृत स्वरूप ठहराइये॥
विरति व भक्ति सब रक्षक रहस्य पाय, रात दिन मगन लगन प्रभु ध्याइये।
सब कुछ पायो अब नित्य प्राप्त थिर भयो, सतन से प्रेम करि सब सुख पाइये॥ ४॥

प्रसंग ४—याचना

शब्द १४

साहेब मोरि मनसा स्वबश रहाय ॥ टेक॥

युवति प्रेम तजि लोभ न रत हो, मोह फाँस नहिं भूलि बँधाय॥ १॥
काम दोष सब दृष्टि मे आवै, चाह कठिन ते बहुत डेराय॥ २॥
क्रोध कुमति हरि बिषय चतुर धरि, शोक मोह ममता बिसराय॥ ३॥
तन मन स्वबश सुखन स्मरणा, परबश सुख सब दुखहिं देखाय॥ ४॥
हर्ष शोक नहिं हानि लाभ जग, मिलन बियोग न मति बिचलाय॥ ५॥
राजस तामस सातस बृत्तिहिं, रहै बिलग नहिं जाय हेराय॥ ६॥
देह स्वभाव अध्यासन लखते, चले अचल गिरि आपु न जाय॥ ७॥
दास अनाथ सनाथ शरण ले, तन मन अर्पण लेहु कराय॥ ८॥

टीका—जो-जो भीतर विकारी चाहनाये, कामनाये, मनोमय रूप भावनाये उठा करती हैं, सो हे साहिब श्रेष्ठ देव! ऐसी कृपा कीजिये कि वह हमारी मनोमय धारा हमारे स्वाधीन

रहा करे। हमारे भीतर जो कुवासनाओ की धारा उठती है उसके विवश होकर मै न रहू। मनोवेग मे पडकर कोई अनर्थ न करूँ, आई हुई मन-वासनाओ को अपने वश मे रखकर विचारपूर्वक वरतूँ ॥ टेक॥ पॉचो विषयो से पूर्ण युवावस्था को प्राप्त युवती का सग विवेक-वैराग्यादि सर्व सद्‌गुण नाशक होने से उसे अनर्थकारी जान कर मैं तत्सम्बन्धी सुख प्रियता छोड दू, क्योंकि अष्ट मैथुन ही से ब्रह्मचर्य व्रत की हानि होती है। ब्रह्मचर्य के बिना मन वश मे नही आ सकता। मन वश किये बिना स्थिर पद नहीं मिल सकता। अत॰ मन विक्षेपक मोहक मूल योषित घटो से मुझे अन्दर-बाहर परम वैराग्य की प्राप्ति हो, ऐसी दया कीजिये। फिर लोभ मे मेरी वृत्ति न बँधे। क्योकि सपत्ति-सग्रह या भोग-सग्रह रूप लोभ ही से सब पाप हुआ करते है। पुन: मैं मोह रूपी फॉसी मे भूलकर भी न फसूँ, क्योकि मोह से सब प्रकार के बधन खडे हो जाते हैं॥ १ ॥

दम्पति स्पर्श सुख की जो चाहना और क्रिया है उस काम से जो-जो दुर्गुण उत्पन्न होते है, वे सब हमारे जानने मे आ जावे। "नारी नर मदन राग दुख दाई" इस पूरे शब्द का भाव मेरे हृदय मे बैठ जावे। विषय-क्रिया से तो मैं दूर ही रहूँ, बल्कि जो विषयो की चाहना है वही बहुत-बहुत दुख देने वाली है। यह चाहना ही तो तीर तलवार भाला के वार समान पहिले अत.करण मे दुख उत्पन्न करती है। सग-दोष से विषयो का मनन, मनन से सुखदृष्टि, सुखदृष्टि से इच्छा प्रेरित व्याकुल होकर जीव जो न अनर्थ करने मे प्रवृत्त हो जाय सो थोडा ही है। इससे हे सद्‌गुरुदेव! ये मोहादिक पॉचो की सुख चाहना मे अनत दुख जानकर उनसे मैं डरते हुए अत्यन्त सजग रहूँ आर चाहनाओ का नाश करते हुए परमार्थ चेष्टा मे लीन होऊँ। चाहना से उसी प्रकार डरूँ जैसे बाघ और भालू के डर से भाग कर प्राण बचाया जाता है॥ २ ॥ अपमान या किसी से हानि मान कर जो मुझे क्रोध होता है उस कुबुद्धि का आप हरण कर लीजिए और जो मे इन्द्रिय विषयो के सेवन मे चतुराई कर रहा हूँ, वह सब बधन और आपत्तियो का कारण है, सो आप छुडा दीजिये और स्वरूप मे भिन्न देह, भोग, परिवार, समाज बनने-बिगडने मे जो शोक-मोह-ममता करके मेरा खिंचाव,होता है उसको हम भुलाकर आपके चरणो का ही सेवन करे, ऐसी कृपा कीजिये॥ ३ ॥

हे साहिब! पुन इन्द्रिय ओर मन को अपने वश मे कर इन्द्रियजित रहने का स्वतत्र निर्भय और ऐचा-खेची रहित एकरस निष्कामता का सुख मुझे सर्वदा याद रहा करे। यावत सुख भोग पदार्थ मनुष्यो के आधार मे रहने वाले है, इसलिये वे परवश हैं। क्योकि उन मनुष्यो के वश मे रहे बिना भोग सुख कदापि नहीं मिल सकते, ऐसे परवश भोग आपकी कृपा से दुखरूप ही देखने मे आया करे॥ ४॥ हे गुरुदेव! अपने अखण्ड स्वरूप मे न कुछ हर्ष है, न तो कुछ शोक ही, न किसी प्रकार की हानि है तथा न तो कुछ लाभ ही है। तो भूल जनित हर्ष-शोक, हानि-लाभ रूप जगत तत्सवन्धी मित्र-बधु, बाधव, दास, दासी, गोष्ठीजन सबका सम्बन्ध नास्ति समझकर तिनके मिलने-बिछुडने पर अनुकूल-प्रतिकूल मानकर प्रमाद और दीन-हीन भाव को मै न प्राप्त होऊँ। जिससे हमारी वृत्ति एकरस गुरुपद से कभी विचलित न हो, ऐसी दया आपसे चाहता हूँ॥ ५॥ राजस इन्द्रिय सुख हेतु विषयासक्ति आदि कर्म ओर तामस अन्धकार रूप हिसा, घात, व्यभिचार आदि महामलिन कर्म और सातस न्याय, शील, दया युत शुद्ध व्यवहार सहित पालनादिक कर्म, सो हे गुरुदेव! तीनो प्रकार की वृत्तियो का

द्रष्टा होते हुए शुभाशुभ वृत्तियो का मैं परीक्षक हो तिनसे पृथक ही रहूँ। कहीं ऐसा न हो जाय कि उन वृत्तियो में फूलकर मैं अपने एकरस स्वरूप को भूल जाऊँ। राजस-तामस को तो सातस से निर्मूल करूँ और शुद्ध सातस को औषधवत ग्रहण करते रहे तो देहात मे वह भी आप ही छूट जावेगा, ऐसा जानकर सातस वर्ताव का भी प्रमाद हम न करे॥ ६ ॥

देह इन्द्रियो के स्वभाव सुख माने हुए उत्तम विषयो की तरफ खिंचना यथा—तोटक छन्द—"नेत्र तो सुन्दर रूप लखे। जीभ सुव्यजन स्वाद चखे॥ कान सुरीले तो शब्द सुने। खाल तो कोमल पर्श धुने॥ नाक सुचारु सुगन्ध रने। इनको मनुवा दिन रैनि गुने॥" इस प्रकार देह के स्वभाव तथा मन के स्वभाव काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि अध्यास समूह मनन होते हैं। सो हे साहिब! जो इन्द्रिय मन के स्वभाव द्वारा विषयासक्ति आदि हर्ष-शोक की चेष्टा उठकर तिनमे मेरा खिंचाव होने लगता है, सो चेष्टा उठते ही उन्हे दुखमय भ्रमरूप देखते हुए उन स्वभावो और चेष्टाओ मे म उसी प्रकार चलायमान न होऊँ कि जिस प्रकार आँधी-बौंडर से अडिग सुमेरु पहाड नहीं डिगता। यद्यपि पहाड जड और अनत परमाणु सम्बन्ध वाला होने से डिग भी जाय, परन्तु हम मन-इन्द्रियो के वेगो से कभी न गिरे, पहाड से भी अटल ध्येय स्थिरता मुझे प्राप्त हो, ऐसी कृपा कीजिये॥ ७ ॥

यह आपका चरण सेवक काम, क्रोध, लोभ, मोह, विषय चेष्टा, चतुराई तथा हर्ष-शोक हानि-लाभ, सुख-दुख, मन-इन्द्रियो के स्वभाव आदि धारा मे डूबते हुए अनाथ हो गया है, इसका कोई रक्षक नहीं है। जो सगे सम्बन्धी हैं, वे भी उसी मनसा सिंधु मे डूब रहे ह, सो ऐसे अनाथ दुखिया दास को मनसा धारा से खैंच कर सनाथ कर दीजिये। हमारा शरीर और मन जो घातको मे अर्पण हो रहा है, उसे आप अपनी ओर लगा लीजिये। ऐसी सुबुद्धि दीजिये कि मेरी इन्द्रियाँ और मन आपकी ही आज्ञा मे तदाकार हो जावे। इस प्रकार मेरे तन-मन को अपने चरणो मे खींच कर विवेकनिधि के समान कृतार्थ कीजिये॥ ८ ॥

दृष्टान्त—एक विवेकनिधि नामक मनुष्य था। जगत मे न्याय, धर्म, परोपकार, विचार से बरतने के कारण उसकी मर्यादा थी आर वह सत्यपद की खोज करता रहता था। इसलिये सत-महात्माओ की सगति मे जाता और उनको विनय पूर्वक बुलाकर सेवा भक्ति सत्सग मे लीन रहता। उसके पूर्व सस्कार शुद्ध होने के कारण उसे सद्गुरु सत्सग मिल जाने से अविनाशी सत्य स्वरूप का बोध प्राप्त हुआ, साथ ही जिस प्रकार अविनाशी वस्तु मे स्थिति हो उन सव रहस्यो को उसने जाना। विवेकनिधि के मन मे बार-बार यह खेद हुआ करे कि अहो! मैं अबोध दशा मे इन्द्रियो के भोगो की प्राप्ति के लिये जो अटूट परिश्रम करता रहा, वह भूले मार्ग चलने के समान तृष्णा और आसक्ति रूप बन्धन करके आपत्ति का घर बनाया। विशेष धन ही से अपना जीवन मानकर अपने नित्य अपरोक्ष धन को मैं भूल गया था। पूर्व भूल मे जो समय गया सो गया। अब म एक क्षण भी जगत-प्रपच मे न खोकर सत्साधन मे लीन रहूँगा, ऐसे अनन्त विचार करके वह परमार्थ साधन मे अटूट पुरुषार्थ करने लगा। वह सद्ग्रन्थ पढ़े, विवेक करे, सत्सग मे अधिक लव लगावे, ब्रह्मचर्य व्रत पालन करे। ऐसा बर्ताव देखकर कोई अच्छा कहे, कोई खराब कहे, कोई नाना उपाधि मचावे, कोई नाना प्रलोभन दिखावे। इन सबो की परवाह न कर वह सद्ग्रन्थो के मनन और सत्सग विचार मे लगा रहे और समयानुकूल सबको हितैषी बाते समझा दिया करे। जिससे उसके सामने तो कोई कुछ न कहे

पीछे से मन्द मति वाले मनुष्य घर के सम्बन्ध वालो से कहा करे कि यह विरक्त हो जायेगा। इस बात से विवेकनिधि की जो अविवेक दशा मे विवाही हुई दो स्त्रियाँ थी, वे दुखी होती थी। एक स्त्री शान्त और सतोगुणी होने के कारण प्रारब्ध पर सतोष करती। दूसरी रजो, तमोगुण से घिरी हुई विवेकनिधि की साधना में विघ्न डालने लगी। वह नाना हाव-भाव और शोक-मोह दिखाकर उनसे अपने मन के अनुसार कराने की चेष्टा करती, पर विवेकनिधि को कुछ काल साधन करते हो चुका था। उन्हे मन-इन्द्रियो के स्ववश करने का शात स्वतत्र सुख स्मरण रहता और विषयासक्ति के अनन्त कष्टो की याद हो आती, इसलिए वे साधन पथ मे पहाड से भी अडिग रहते, स्त्री क्या, किसी के डिगाये ब्रह्मचर्य से डिग नही सकते थे। वे स्त्री के हाव-भावो पर कुछ ध्यान ही नही देते, कभी-कभी कुछ-कुछ पारमार्थिक बात कह दिया करते। प्रारब्धानुसार वह स्त्री बीमार होकर कुछ काल मे मर गयी। मानो विवेकनिधि का रास्ता साफ हुआ।

दूसरी स्त्री सतोगुणी होने के कारण विवेकनिधि की आज्ञाओ का पालन करती। विवेकनिधि की जिधर रुचि थी, वह भी उधर ही रुचि करने लगी। शील, सतोष, सज्जन सग मे प्रेम, ये सब गुणो के सहित उस स्त्री का अतःकरण परमार्थ योग्य था, पर वह अभी परमार्थ को ठीक रूप से जान नहीं सकी थी। एक दिन वह विवेकनिधि से हाथ जोड कर बोली—हे स्वामिन! आप किस ज्ञान से एकरस रहते है? जगत के उत्तम-उत्तम धन, स्त्री भोग, मान, बडाई प्राप्त होने पर आपको हर्षित होकर आसक्त होते मै नही देखती तथा प्रिय से प्रिय वस्तु बिछुडने पर आप शोकित नही होते। इससे पृथक आप कौन-से हानि-लाभ समझ रक्खे हैं? जिस विशेष लाभ को पाकर हम सबको तुच्छ समझ कर जगत भोग से उदासीन रहते है, वह कोन-सा पदार्थ है? जिसको आप पाकर त्याग वृत्ति मे सुख मानते है तथा हर्ष, शोक, हानि, लाभ रहित नित्य संतुष्ट, निष्काम, निर्भय एकरस रहते हैं, उसी वस्तु का आप मुझे भी ज्ञान देकर इस दासी को अपने समान बनाइये। विवेकनिधि बोले—यह बात तुझे सत-महात्माओ से समझना चाहिये। स्त्री बोली—ठीक है, सत-गुरु तो समझाते ही हैं, उन्ही की कृपा से आप समझे है, पर हमारे लिये उन्ही के समान आप भी पूज्य है, इस समय आपसे ही सुनने की इच्छा है। विवेकनिधि कुछ विचार कर कहने लगे—हे सुमति! ध्यान देकर सुनो—

कवित्त

जाके सिरे और नहि जाके पाये और नहि, जाके जाने और नहि सोइ ज्ञान खास जू।
अज्ञ को शरीर भोग इन्द्रिय प्रत्यक्ष आहि, सुज्ञ को स्वय प्रत्यक्ष पारख प्रकाश जू॥
अज्ञ चाह नाश हित पच भोग भोगत है, सुज्ञ त्यागि त्यागि भोग इच्छा को विनाश जू।
अज्ञ फल जन्म-मृत्यु तीन ताप भवधार, ताहि लाँघि सुज्ञ जन अचल मे बास जू॥

जिस ज्ञान से बढकर और ज्ञान नही, जिसके पाने से और कुछ पाना नहीं रहता तथा जिसके जानने से अपर जानने की आवश्यकता नहीं रहती, वही मुख्य बोध कथन करता हूँ। अज्ञानी को अनादि अज्ञान के कारण नख से शिखा तक दस इन्द्रियो का समूह घर रूप जड शरीर और तिसके भोग पच विषय सत्य निश्चय हो रहे है। सत्सग से बोध प्राप्त हुए ज्ञानी का यथार्थ निश्चय यह है कि मै जड शरीर नही हूँ, बल्कि जड शरीर दस इन्द्रियो का समूह घर

या रथ के समान मेरे जानने मे आता है, इसका मैं द्रष्टा हूँ। इस शरीर, इन्द्रिय, मन द्वारा जाने हुए जहाँ तक पाँच विषय ह सब दृश्य जड अनित्य पर-प्रत्यक्ष ह। क्योंकि शुद्ध चेतन के ही होने से जड पदार्थ जाने जाते ह और म तो जानने वाला स्वय प्रत्यक्ष सबका परीक्षक पारख स्वरूप नित्य हूँ। ये सब जड पदार्थ--अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु कारणतत्त्व तथा उनके कार्य को इन्द्रियो द्वारा दृश्य रूप से मैं देखता हूँ, इसलिये मैं सबको देखनेवाला सबसे भिन्न ज्ञान मे स्वय द्रष्टा एकरस हूँ। द्रष्टा का शुद्ध स्वरूप एकरस पारख प्रकाश है। ज्ञानी का स्वरूप ही स्वय प्रत्यक्ष है। अज्ञानी मनुष्य तो अपनी चाहनाओ के नाश करने के लिए पाँचो विषय रूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध को मनमाने भोगते रहते हैं, जिससे उनकी आदत बढती ही जाती ह और ज्ञानी पुरुप भोगो को त्याग कर चाहना का नाश कर दते हैं। ज्ञानी समझते हैं कि जिन भोगो को नही भोगा गया, नहीं अनुभव किया गया, उनकी इच्छा कहाँ चलती है। या उनके न होते हुए भी कहाँ कष्ट प्रतीत होता है? इससे भोग भोग कर ही इच्छा पुष्ट कर लेने मे उसका दुख सताया करता ह, अत उन भोगो को विना त्यागे इच्छा पूर्ण हो ही नहीं सकती। देखा भी जाता ह कि भोगी मनुष्य कभी सतुष्ट नहीं होता, याते ज्ञानी पुरुप भोगो को त्याग कर इच्छाओं को निर्मूल करते ह। अज्ञानी का तो सब पुरुपार्थ गृहिणी, तनुज, सम्पत्ति वैभव रूप पाचो विपयो ही के लिये ह और बोधवानो का सब पुरुपार्थ दुख रूप विपयो से निराश होने के लिये हे। इसलिये अज्ञानी की क्रिया आशा सस्कार जनित होने के कारण जन्म, मरण, दैहिक, दैविक, भौतिक सर्व दुख भोग उसके पुरुपार्थ का फल है। इन दुखो से छूट जाना और एकरस अचल चेतन स्वरूप मे स्थिर हो जाना यही बोधवान के पुरुपार्थ का फल हे।

कवित्त

अज्ञकोप काम क्रोध लोभ मोह सुखाध्यास, सुज्ञ कोप दया शील सत्य सुविचार जू।
जननी जनक दार सुत वित उत भट, इत गुरु सत वृन्द सुभट सुमार जू॥
चाह भोग दुखद को राज्य मनोमय उत, इत चाह भोग त्यागि राज्य अविकार जू।
अज्ञचाल मनोमय ग्रन्थि रूप देखियत, सुज्ञ चाल दृष्टि स्वप्रकाश ग्रन्थि पार जू॥

अर्थात हे सुमति! अज्ञानी का खजाना—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि सुखासक्ति रूप जान और बोधवान ज्ञानी का अनत खजाना—दया, शील, सतोप, सत्य, विचार आदि सब सत्य साधन सहित सद्गुण हे, सो तू जान। भोग मे प्रेरणा करने वाले माता, पिता, स्त्रियाँ, लडके इत्यादि सर्व स्वार्थ सम्बन्धी व वचक लोग ये अज्ञ खजाना के रक्षक वडे-वडे योद्धा खडे हैं और सद्गुरु सत महात्मा सज्जन व जिनको सदगुरु कृपा से बोध रहस्य प्राप्त हुआ है ऐसे मनुष्य तथा सद्ग्रन्थ सार शब्द बोध प्रेरक ये ही सब इधर ज्ञानी के खजाना की रक्षा करने के लिए वडे-वडे योद्धा रक्षको को तू जान। पुन: उधर अज्ञान सृष्टि मे कामना और भोगो का ही पुरुपार्थ रूप राज्य मनोमय की सत्ता मे दिन-रात चल रहा ह, इधर ज्ञानी के राज्य मे भोगो के त्यागने ही का अटूट पुरुपार्थ प्रवाह चल रहा है जिसका फल अचाह, अभोग, निष्काम, निष्क्रोध, निर्लोभ, निर्मोह, निर्भय, निष्प्रपंच होकर सर्व जडाध्यास विकारो को त्याग निर्विकार, निराधार, एकरस स्वरूप मे टिक जाना है। अज्ञानी का ध्येय, सग, पुरुपार्थ जड-चेतन की ग्रन्थि को पुष्ट करने वाले नेत्रावरण अध मनुष्य के समान है। इस हेतु अज्ञानी का

जन्म-मरण बार-बार देह सम्बन्ध चालू है और सुज्ञजन विचारवान साधु के समागम से स्वयं स्वरूप के प्रकाश द्वारा सब रहस्य सकल्प बर्ताव ध्येय-ग्रन्थि छेदन के लिये ही करते है, जिससे बोधवान सदा के लिये मुक्त हो जाते है। इसलिये—साखी—"अज्ञ चाल को त्यागि कै, सुज्ञ चाल गहि लेय। परख दृष्टि सत्सग लहि, गुरु बचनामृत पेय॥"

बस यही मैं लाभ समझता हूँ। इसके अतिरिक्त अबोध कृत कर्तव्य ध्येय मे मै हानि समझता हूँ। इसी कारण हे सुबुद्धे! मैने इन तुच्छ भोगो को सदा के लिये त्याग दिया और उनके मिलने-बिछुडने मे हर्ष-शोक, हानि-लाभ को नहीं प्राप्त होता, बल्कि सुख सामग्री के मिलने ही मे आसक्ति-लत दोष उत्पन्न होते है, इस हेतु भोग सुख मिलना हानि और न मिलना ही लाभ जानता हूँ। मेरे सत्य स्वरूप से सब पदार्थ पृथक होने से तीनो काल मे बिछुडे ही हैं, फिर उनको जब पहिले ही से अलग समझ रक्खा हूँ तब उनके मिलने-बिछुडने मे क्या शोक-मोह! मनुष्य प्राणी का सारा पुरुषार्थ परमपद प्राप्ति ही के लिए होना चाहिये। ऐसे अमूल्य जीवन को भक्ति, ज्ञान, वैराग्य यथार्थ साधन मे अर्पण कर स्त्री-पुरुष सबको कल्याण का मार्ग बनाना चाहिये, न कि अमूल्य मणि धोखे मे खोना चाहिये। कहा भी है "उमरि सब धोखे मे खोय दियो" धोखे को त्याग गुरुपद को जान। वह गुरुपद या निजपद कैसा है कि न तो कभी जन्मता है, न कभी मरता है, बाल-वृद्धादि अवस्था से रहित एकरस अखण्ड है। शुद्ध चेतन होने से दुख-सुख, प्रिय-अप्रिय, मिलन-बिछुडन, हानि-लाभ, काज-अकाज, हर्ष-शोक, फूलना-पचकना, कम-विशेष ये सब द्वन्द्व उसमे नही है, न तो उससे कभी कोई मिलता ही है, न उसमे विछोह होने का डर ही है।

नित्य प्राप्त तृप्त अपरोक्ष होने के कारण उसके लिये कोई कर्तव्य करके कुछ प्राप्त करने को बाक़ी भी नही है। इन्द्रियो से जाने हुए पच विषय रूप दृश्य जड तत्त्व विकारी है, जो स्वरूप विषे तीन काल मे नहीं हैं। जो स्वय शुद्ध निर्विकार सर्व का परीक्षक अमृत स्वरूप है वह मै हूँ। रवि वर्ण मोह-माया से पार गुरुपद के हेतु हे सुमति! तू स्वय स्वरूप को जान। इन्द्रिय द्वार से ही पाँचो विषयो का ज्ञान होता है, ज्ञाता ही निज शुद्ध पद को भूल पाँचो विषयो मे सुख मानता है, इसी से ज्ञाता को स्वप्न के समान दुख-सुख, हानि-लाभ, जन्म-मरणादि प्राप्त हो रहा है। हे सुमति! यदि ज्ञाता जीव अपने को सर्व का परीक्षक सबसे भिन्न शुद्ध निश्चय करे तो इसका सब भ्रम मिट जाय। विषयो के भोगने मे इच्छा तृष्णा परिश्रम विघ्न देखकर सुखाध्यास मिटाते हुए शुद्ध गुरुपद मे आरूढ होना चाहिए। गुरुपद मे सदा स्थित होने के लिये सत्सग, सद्ग्रन्थ, सब साधन वैराग्य उपासना आदि धारण करके शात होना मुख्य काज है। ऐसे वचनो को सुनकर भी तेरा परमार्थ मे चित्त न लगे तो मै क्या करूँ! ऐसा कहकर विवेकनिधि चुप हो गये। स्त्री का पूर्व शुद्ध अत करण होने से विवेकनिधि के वचन उसे प्यासे को पानी के समान ग्रहण हुए। वह इन सब वचनो को सुनकर बोली—

ज्ञानाजन दै नयनावरणा। दूरि कियो प्रभु तुम्हरी शरणा॥
स्वामिन! मोर मोह सब गयऊ। तव कृपया मै निज पद लयऊ॥
पूत पतोह सगे सम्बन्धी। मानि अपन पौ सपन से बन्धी॥
स्वारथ हानि लाभ से रूखी। परमारथ की अब म भूखी॥
अहो! वृथा खोयों बय भोगी। इन्द्रिन मारि भयऊँ नहि योगी॥

वहे अधार भयउ तुम देवा। साधु गुरू सम इष्ट समेवा॥
अव मोहि कुछ कर्त्तव्य वतावहु। सदा एक सम मोहि ठहरावहु॥
कहत विवेक सुनहु हे भामिन। आश्रम युक्त होहु पद रामिन॥

दोहा —नहि परिणामी दृष्टि तव, इक अगी सहजेय।
घट स्वभाव आधारमय, स्वार्थ लोभ मद लेय॥

नारि जाति को विचरण अनुचित। वहु सम्बन्ध से दूषित गति मति॥
तेहि ते आश्रम सहित रहावहु। भक्ति विवेक विराग समावहु॥
पुरुषासक्ति तोहि दुख कारन। तजि निज घटहु स्वभाव को मारन॥
गहु पुरुषार्थ अटूट सुसगा। साधु कमल पद सेव अभगा॥

दोहा—हानि लाभ दुख स्वप्न यह, कुल कुटुम्ब परिवार।
मोह त्यागि आगे भले, देखिय दृश्य असार॥
जानि पथिक निज मोह गत, तरु छाया सब धाम।
नाव रेल सम खेल जग, शुद्ध ध्येय विश्राम॥
सुरभी सुत पनिहारि घट, ज्यो गरीब को दाम।
तेसे गुरुपद लागि के, सादर करु शुभ काम॥

'क्षणिक विराग से काज न पूरा। सदा विवेक करै सोइ शूरा॥'
जानि स्वरूप नित्य अविनाशी। दृश्य विलग करि होहु निराशी॥
बोध माहि थिर होहु सयानी। हानि लाभ तजि तजु मनमानी॥
शुद्ध जीविका राखु अधारौ। यतन सहित परमार्थ सुधारो॥
हमहूँ गृह तजि सूक्षम मोहा। दलि असक्ति निजपद मे सोहा॥
शम सतोष भक्ति सुखदायक। श्रद्धा भाव सुधीर समायक॥

दोहा—अस कहि शात विवेकनिधि, नारि उठी कर जोरि।
यदपि मोरि ममता हर्‌यो, तदपि मोह हैं तोरि॥
मोह हरण के प्रेम से, होवै मम कल्यान।
शरण-शरण उद्धार कर, तव गति मोहि न आन॥
सत्सगति साधन सकल, गुरुपद अघटित नेहु।
साधु सेव नित एकरस, यहि वरदान जु देहु॥

यहि विधि लीन सुमति परमारथ। तब विवेकनिधि कछु लखि स्वारथ॥
करन विचार लग्यो मन माही। सब अनुकूल माहि बॉधि जाहीं॥
अति अनुकूल नारि मोहि बॉधे। निवृत्ति मार्ग छूटत तिय राधे॥
सूक्षम सस्कार रहि जावै। तो मोहि फिरि योनिन भरमावै॥
यहि विचार सब तजि भयो पथी। साधि समाधि छुडावत ग्रथी॥
गृह तजि मन कसि सूक्षम मोहा। दलि असक्ति निज पद मे सोहा॥

दोहा—*रमत धरणि बहु विधि मनुज, पूजै मानै कोय॥*
गाली अकबक बकत कोऊ, क्षमा करत सब सोय॥
हर्ष शोक सुख दुःख मन, काम मोह गत थीर।
पायो अमर निवास पद, निश्चल नित्य गँभीर॥
विधि हरि-हर ब्रह्मादि सब, नेति नेति जगधार।
सो गुरु पारख की दया, भिन्न परख निर्धार॥
ऐसो पद मोहि देव गुरु, जेहि मे शोक न मोह।
सदा एकरस थीर पद, स्वय प्रकाशित सोह॥

शब्द—१५

परम गुरु हमको लेव छोडाय॥ टेक॥

आशा फॉस गॉस बिषयन की, मन के जाल लखाय।
भरमि रहा खुद जीव अनारी, फिरि फिरि जात भुलाय॥ १॥
चिता शोक फिकिरि सुख जग की, सब दिन यहि मे जाय।
वार पार नहि भरम समुन्दुर, पार न कबहूँ पाय॥ २॥
जब जब यादि करौ निज पद की, गुरु पद प्रेम जगाय।
तब तब भग होय यह मनसा, बिघ्न बहुत समुदाय॥ ३॥
शरण शरण मैं शरण तुम्हारी, निज मति देव सहॉय।
दृष्टि सामने होय सबै यह, ज्ञान से देउँ जलाय॥ ४॥
शान्ति स्वतः निज पद को पावो, तव कृपया दुख जाय।
लागि रहौं प्रभु बोध के कारज, जगत काज बिसराय॥ ५॥
रहौं रैनि दिन यकाएक मै, क्षणभंग प्रकृति हटाय।
तेहि ते बिलग लक्ष नहि होवै, आप मे आप रहाय॥ ६॥
इत उत दौरि बहुत दिन देख्यों, हाथ कछू नहिं आय।
मिथ्या खेल मे फैल किये सब, बिन काम के काम बनाय॥ ७॥
गुरुवर शरण आपकी लहिकै, जस का तसहि देखाय।
इन्द्रजाल को पार मिलै तब, निज स्वरूप दरशाय॥ ८॥

टीका—हे श्रेष्ठ सद्गुरुदेव! हमे बन्धनो से छुडा लीजिये॥ टेक॥ चौतरफ से विषयो के घेरे मे पडा तिसमे मिथ्या सुख की आशा फॉसी से फॅसा और नाना मानन्दी के भुलावे मे यह जीव जकडा हुआ दिखाई देता है। तिस कल्पित गॉस, फॉस और जाल मे हम स्वय स्वरूप को भूल अज्ञान वश भरमते तथा दुख पाते रहते है। फिर भी जिससे दुख पाते है उसी मे बार-बार मोह करके भूल जाते हैं, धोखा खाते है। ''एक बार ठगावे सो बावन बीर कहावे, बार-बार ठगावे सो गप्पूनाथ कहावे'' वाली मेरी दशा है, हम एक बार नहीं असख्य बार मन के जाल मे ठगाते रहते है॥ १॥ देह इन्द्रिय और उनके सम्बन्धी, बनिता, वित्त, बाधव, वत्स मे सुख

मानकर उसी मुख वाले पदार्थो की प्राप्ति रक्षा उपयोग की चिन्ता परिश्रम आदि में कल्याण योग्य मेरा रत्न समय व्यर्थ ही चला जा रहा है। यह सम्पूर्ण जगत-सुख भ्रम का समुद्र हे। उसका ओर-छोर नहीं मिलता। उसमे पडकर में उसको पार करना चाहता हूँ पर वह सुख कोई वस्तु हो तो इच्छा बुझे, वह तो मानन्दी मात्र ही ह। इसलिये भोग-क्रियाओं से उसकी कभी हद नहीं मिल सकती॥ २॥

हे प्रभो। जब-जब में स्वरूपस्थिति पारख भूमिका जो कि भ्रम समुद्र के पार है, उसका स्मरण करता हूँ ओर भवसिंधु नोकारूप गुरु साधु के सत्सग, सेवा का प्रेम तथा विरह भावना हृदय में जाग्रत करता हूँ, तब-तब वह मेरा विचार भग हो जाता हे। क्योंकि देह और देह सम्बन्धी विघ्न ममूह[1] तमाम हें, वही मुझे आकर घेर लेते हे, जिससे कि मेरी विचारधारा रुक जाती हें, तो परम पुरुषार्थ हो ही कहाँ से।॥ ३॥ इसलिये में आपकी शरण हूँ, सहारा पकडा हूँ। हे विघ्ननाशक। अपनी बुद्धि आर युक्ति का सहारा दीजिये, जिससे कि इस जगतमार्ग की सम्पूर्ण हानि दृप्टि के सामने रख कर म सब हानिकारी विघ्नो को ज्ञानाग्नि से भस्म कर दूँ॥ ४॥ फिर कामाग्नि रहित नित्य तृप्त स्वरूप अपनी पारख स्थिति को प्राप्त करूँ, इस प्रकार करने से आपकी दया से मेरा सब दुख दूर हो जायेगा। हे समर्थ गुरुदेव। प्रापचिक उद्यमो को छोडकर गुरुबोध ओर गुरुरहस्य के ध्येय से आप सद्गुरुदेव के भक्तिभाव परमार्थ चर्चा मे निरतर लगा रहूँ ऐसी दया कीजिये॥ ५॥

आपकी दया से म रात-दिन एकात मे रहकर तथा स्वत प्रकाशी होकर क्षणभगुर जड तत्वो की पच विपय वृत्तियो को हटाकर स्थित हो रहूँ। इस स्थिति से मेरा लक्ष्य कभी पृथक न हो, म अपने अविनाशी अमृतस्वरूप मे नित्य विराजूँ॥ ६॥ अमृतस्वरूप से पृथक इधर-उधर जगत-प्रपच बहु विषय ओर बहु हर्फ के कल्पित जालो मे बहुत दिन लगन सहित यत्न करके देखा, पर सार कुछ नहीं मिला। अहो। खानि-वानी के सुख झूठे झगडे वालखेल में मैंने क्या-क्या नीच कर्म नही किया। बिना काम का काम--विपय सुख की इच्छा ओर यत्न करता रहा, जिससे न तो कुछ तृप्ति ही हुई, न परिश्रम का अन्त ही हुआ। बिना प्रयोजन का प्रयोजन मानकर निरर्थक विपय-सुखो के लिए उत्पात करता रहा॥ ७॥ हे पूज्य श्री गुरुदेव। आपकी चरण शरण को प्राप्त होकर जमा का तेसा यथार्थ ज्ञान हो जाता ह, तब ही देखने मात्र भ्रम से मिद्ध मानसिक सृष्टि का पार भी मिल जाता हे और आप ही की दया से अजर, अमर, अविकार अपने सत्य स्वरूप की स्थिति प्राप्त होती हे, इसलिये आपसे प्रार्थना है कि मुझे जगत-बन्धनो से छुडा लीजिये॥ ८॥

शब्द—१६

दयानिधि पार किह्यो मोरि भक्ति॥ टेक॥

मन प्रवाह सम्भव मे थिर नहि, खेंचि किह्यो मोहि चरण असक्ति॥ १॥
भग चहा मे तव मनसा को, करो निर्मूल कुबुधि निज शक्ति॥ २॥
स्वारथ भरम देह सुख आशा, के प्रकाश करौ हानि असक्ति॥ ३॥

---

१ साखी—तात मात वनिता तनुज, लोक लाज कुलकानि।
साधु दरश को जब चले, ये अटकावे आनि॥

मै अभिमान जाल धन पाये, करौ गुलाम अपने बल शक्ति॥ ४॥
चतुर कपट दिल अहं न छूटै, मद मे भूलि न लखत अपत्ति॥ ५॥
श्री गुरुदेव हरौ अघ अवगुण, देहु अखण्ड बिचार बिरक्ति॥ ६॥

टीका—हे दया के समुद्र। नि स्वार्थ दया करने वाले गुरुदेव। हमारे भक्ति-भाव को आदि से अत तक पार लगा दीजिए॥ टेक॥ पॉचो विषयो मे सुख मानदी करके भोग अभ्यास से टिकी हुई अनत वासनाओ का समूह जो स्मरण हुआ करता है, वह एक बडी धारा है। मै उससे उत्पन्न हुए काम, क्रोध, लोभादि भँवरो मे पडा हुआ स्ववश नही हूँ। मेरी यह सामर्थ्य नहीं है कि जो चाहूँ सो कर सकूँ। ऐसी धारा की विवशता से आप ही अपनी युक्ति से खीचकर अपने चरणकमलो का अघटित स्नेह करा लीजिये। जेसे—

सवैया—*ज्यो जल डूबे को नाविक हो प्रिय, ज्यो बड रोगी को वैद्य विचारो।*
ज्यो शिशु मातहि के बल जीवत, ज्यो अध नैन को पाय जियारो॥
ज्यो नर अज्ञ विषय हित हो बलि, कोटिन कष्ट तऊ न हटारो।
इनसे बढिके गुरुप्रेम बढे नव, नाथ कृपा करि दास सँभारो॥ १॥

हे प्रभो। आपके पारमार्थिक विचार, ज्ञान, भक्ति, वैराग्यादि आशय को मै तुच्छ इन्द्रिय नश्वर सुखो के लिये नष्ट करना चाहता हूँ। आपकी पारमार्थिक मनसा के अनुसार चलने का प्रयत्न नही करता, उलटे अपनी नासमझी से अपने कल्पित मन के अनुसार आपको चलाना चाहता हूँ। यह भूला जीव मन के लिये गुरु पर क्रोध करता है, गुरु के लिये मन के दुश्चरित्रो पर क्रोध नही करता। ऐसी मेरी मन्दता पर न ख्याल कर हे दयालु। अपनी क्षमा, समता युक्ति से हमारी परमार्थघातक कुबुद्धि को जडमूल से नष्ट कर दीजिये॥ २॥

इन्द्रिय सम्बन्धी सुख-दुख, हानि-लाभ, मिलन-बिछुडन, घट-प्रियता आदि सम्पूर्ण मनोमय भ्रममात्र मिथ्या है। सब स्वार्थ की जड देह ही है, वह देह क्षणिक एव नाशवान होने से उसके सुख की आशा भी झूठी है। अर्थात विजातीय देह ओर देह सबधी बनिता, वित्त, बान्धवादि विषय व्यापार मे जो सुख की आशा है वह कल्पना ही है। क्योकि अनादि काल से आज तक इन्द्रिय सम्बन्धी विषय व्यापार करते रहने पर भी तृप्ति के बदले काम, क्रोध, मोह, राग, द्वेष आदि सकाम कर्म, जन्म-मरण आदि दुख के प्रवाह ज्यो के त्यो बढ रहे है। स्वरूप से पृथक कोई भी पदार्थ एकरस नही दीखता। इस प्रकार देहादि व्यापार बनते-बिगडते, मिलते-बिछुडते देखते हुए भी अपनी भूल से उन्हे मैं सत्य एकरस समझकर सुखाशा किये बैठा हूँ। यह सुखाशारूप महा ॲधियारी मेरे हृदय में छाई हे। हे गुरुदेव। अपना यथार्थ पारख प्रकाश देकर मेरे अन्धकारपूर्ण भ्रम और भ्रमजनित आसक्ति खिचाव ममता का नाश कर दीजिये। 'स्वारथ भर्म देह सुख आशा मिथ्या है' इस पर एक उपाख्यान मनन करिये।

दृष्टान्त—एक चिरजीव नामक धनवान मनुष्य था। उसकी दो पत्निया थी। पुत्र और नौकर-चाकर हाथी-घोडे सहित बडा कुटुम्बवाला वह राजस-तामस से घिरा हुआ महान अहकार लिये हुए स्वार्थ को ही सत्य समझने वाला था। इसलिये वह रात-दिन जगत प्रपच मे ही दिन बिताता था। ऊँचे-ऊँचे महल, सुन्दरी और नोकरो तथा इष्ट मित्रो और अशन, बसन, बासन, कचन आदि पदार्थो मे उसकी बडी आसक्ति थी। सब सम्बन्धो को वह सत्य समझता था और दूसरे के साथ मदान्ध हो अनीति आचरण करता तथा किसी को कुछ नही गिनता था।

पर किसी कारण वह महात्माओ से दबता रहा, कभी-कभी प्रतिष्ठा हेतु कथादि सुन लिया करता। उसका एक अतदास नामक भाई ससार से उदास होकर सतरूप मे विचर रहा था। "थोडे ही दिन उजेरी रात" के समान चिरजीव के स्वार्थ-प्रवाह की बाढ बढकर फिर घटने लगी। देखते ही देखते महा अँधेरा छा गया "चार दिनो की चाँदनी फेरि अँधेरी रात" वाली दशा हो गयी। एक बार हेजा की बीमारी मे कुटुम्ब के सब लोग शरीरात कर गये। सब धन-दौलत चोर-डाकू हरण कर ले गये। हाथी-घोडे, जगह-जमीन को आपस के कुटुम्बियो ने छीन लिया। नोकर-चाकर सब छोड बैठे। मकान यत्न रहित गिरने लगा। एकाएक यह सब आपत्ति देखकर चिरजीव के दुख की थाह न रही।

अब तो उसे नाना विचार होने लगे। अहो! हमने ससार, सम्बन्धियो ओर पदार्थो का बहुत भरोसा कर रक्खा था, वे सब क्या हो गये! हमारे रहते-रहते हमारे माने हुए पदार्थ क्यो छूट गये, क्या ये छूटने वाले ही थे? तो हमने उन्हे अपना मानकर वृथा आसक्ति क्यो बनायी! यह स्त्री और स्त्री के सम्पूर्ण हास-विलास तथा वे पुत्र-पुत्रियो के रूप-रग, धन-धान्य, इष्ट मित्रादि मुझे स्मरण मात्र स्वप्नवत भास हो रहे हैं। मेरी बाल ओर युवावस्था भी इस उतरी अवस्था मे स्मरण मात्र हो रही हे। अहो! वे सब क्या हो गये! क्या वे सब पदार्थ सत्य थे! अगर सत्य होते तो क्षण-क्षण मे बदलते हुए अत मे छूट क्यो जाते! तो मने उनका वृथा अहकार कर बडे-बडे अनर्थ क्यो किये! हाय! इन सब पाप आसक्तियो का केसे नाश हो! ऐसा सोचते हुए अपने भाई का स्मरण किया कि धन्य हे मेरे भाई अतदास! जो इन्हे त्यागकर अविनाशी वस्तु मे स्थिर हो रहे हे। वे कहाँ मिलेगे! या कोई यथार्थ वेराग्यवान बोधदायक समर्थ महात्मा पुरुष कहाँ मिलेगे! सत्य पदार्थ क्या है! जो मिलकर बिछुडे नहीं, जिसमे शोक, मोह, अनर्थ न हो, वही विशेष वस्तु मुझे चाहिये। अरे, मने जिनको पकड रक्खा था वे तो सब नाशवान तुच्छ वृथा क्षणिक भ्रमरूप ही ठहरे। ऐसे असख्य विचार करते-करते कई दिन बीते। उसका शरीर सूख कर पिजर हो गया। दिन-रात आँसुओ की धारा चलती रही। इतने मे डूबते हुए को जहाज मिलने के समान उसका भ्राता अतदास विचरण करते हुए बहुत दिन के पश्चात जन्मभूमि पर आ निकला। उसको देखते ही चिरजीव रोते हुए उसके चरणो पर गिर पडा। क्षण मूर्छा के पश्चात अतदास द्वारा उठाकर सादर पूछने पर अपना सब हाल कह के अर्ज किया कि हे भाई! मुझे ऐसा ज्ञान दो जिससे मेरा सब शोक-मोह निवृत्त हो जाय। अतदास बोला—

अहो भ्रात! बड भूल जु कीन्हे। जो सत्सग से सत्य न चीन्हे॥
वृथा देह जड भासत आगे। छिन्न-भिन्न सब अग मे रागे॥
तू द्रष्टा सब देखनहारा। जानि मानि सब धारत प्यारा॥
स्वार्थ सकल भ्रम रूप पिछानो। गो-गोचर जहँ लगि मन मानो॥
शोक निवृत्तिक गुनहु सँदेशू। ज्ञान रूप नित स्वत दिनेशू॥

दोहा— *जड चेतन को पृथक करि, स्वारथ मनभव भर्म।*
सृष्टि मनोमय झूठ लखि, नित्य स्वय पद पर्म॥

शोक निवृत्तिक छन्द

क्यो शोकित हो तुम जीव अरे! क्यो मोहित हो तुम तात अरे॥ टेक॥
नहि योग वियोग न शोक तम्हे नहि भोग न रोग न धोख तुम्हे।

दृक शुद्ध स्वरूप अखण्ड खरे, क्यो शोकित हो तुम तात अरे॥ १॥
नहि भ्रात सगे रमणी रमनम्, नहि जन्म रु मृत्यु भया शमनम्।
तुम हानि रु लाभ से नित्य परे, क्यो शोकित हो तुम तात अरे॥ २॥
तुम नित्य स्वप्राप्त सुतृप्त अहो, तुम गो-मन प्राण को भूलि गहो।
तम भूल को बोध प्रकाश हरे, क्यो शोकित हो तुम तात अरे॥ ३॥
तुम पच विषय जड तत्त्व नही, तुम भासिक भास हो दृश्य कही।
लत दुःख को मानि क्यो सुक्ख ढरे, क्यो शोकित हो तुम तात अरे॥ ४॥
तुम व्याप्य रु व्यापक शून्य परे, तुम सर्व परीक्षक सत्य खरे।
तुम अस्ति गुरूपद चैन भरे, क्यो शोकित हो तुम तात अरे॥ ५॥
जय जीव अखण्डित काह चहे? जो चहे सो कमी क्यो क्षिन्न लहे।
क्यो स्वप्न मे भूप हो भिक्षु मरे? क्यो शोकित हो तुम तात अरे॥ ६॥
क्यो मान्य क्रिया विद्यादि चहे? क्यो खानि रु बानि कि आश दहे?
सब लाभ को मूल स्वय तु धरे, क्यो शोकित हो तुम तात अरे॥ ७॥
जड ध्येय क्रिया भव सुक्ख तजै, चिद ध्येय जुटै गुरु साधु भजै।
कर्त्तव्य यही पुरुषार्थ करे, क्यो शोकित हो तुम तात अरे॥ ८॥
सब साधन संयम बोध गहे, सत्सग व सत कि भक्ति लहे।
वैराग्य सुखो महँ लीन चरे, क्यो शोकित हो तुम तात अरे॥ ९॥
निज स्थिति हेतु जु वीर बनै, दृढ भाव लहै वहि यत्न ठनै।
कबु साहस हिम्मत से न टरे, क्यो शोकित हो तुम तात अरे॥ १०॥
नित मोहक वस्तु से दूर रहे, क्यो छोडि के पारख तख्त बहे।
भवयान विशाल के भाव भरे, क्यो शोकित हो तुम तात अरे॥ ११॥
नैराश्य अचाह अभोग नितम, नित तृप्त अद्वन्द्व अरोग्य अजम।
यहि प्रेम सुध्येय भवाब्धि तरे, क्यो शोकित हो तुम तात अरे॥ १२॥

यह छन्द कहकर इसके अर्थो को समझाते हुए अतदास बोला—हे भ्रात! तुम्हे क्या देखने मे आया? चिरजीव बोला—

अहो भ्रात! मोहि ज्ञान प्रकाशे। सो सुनि गुनि मम भ्रम तम नाशे॥
मोहि अब जानि परत सब माया। छल प्रपच विपरीति सताया॥
सुत धन धाम बाम बहु भोगा। छुटत स्वप्न सब दीखत शोगा॥
सबसे भिन्न स्वरूप यथेष्ठा। कृपा तुम्हारी भयउँ बरेष्ठा॥
अब मोहि निज समान कर लेहू। साथहि भ्रमण करूँ तव नेहू॥
सतन के दरबार सुहावन। तहॉ टहल करि होय जिय पावन॥
यकरस वृत्ति करहु नित ऐसे। नित्य सत्य पद छूटि न जैसे॥

दोहा—अस सुनि तेहि को साथ लै, सत समाज मिलाय।
अतदास के साथ से, सोऊ अमर पद पाय॥ १॥

ऐसे श्री गुरुदेव जू, मोहि मे ज्ञान प्रकाश।
शरण-शरण हो रावरे, प्रेम सहित तव दास॥ २॥

हे गुरो! मेने अपनी भूल से अहकार ही का बडा धन प्राप्त किया हे। जेसे स्वार्थिक धन को स्वार्थ मे सहायक मानकर लोग इकट्ठा करते है, वैसे म कल्याण की इच्छा कर विद्या, तर्क, चतुराई, ऐश्वर्य रूप जो धन इकट्ठा कर रक्खा हूँ, सो विद्यादि अभिमान वश होकर सबको तुच्छ देखने से परमार्थ साधन नम्रता, धैर्य, विवेक, वैराग्यादि सद्‌गुण नष्ट हो रहे हे। 'विद्या वेद पढि करै हकारा। अतकाल मुख फॉके छारा॥' बी०॥ जिस विद्यादि को मेने परमार्थ साधक मानकर ग्रहण किया था, उलटे उससे अभिमान पुष्ट हो सत्सग से अभाव होने के कारण वह बानी ऐश्वर्य बधन हेतु जालरूप ही हुआ 'धन मदमत्त परम वाचाला। उग्र बुद्धि उर दम्भ विशाला॥' रा०॥ ऐसे बधनजाल के वृथा अभिमान को आप अपने प्रबल बोध ओर सद्‌गुण शक्ति से नष्ट कर अपने पवित्र चरणो का गुलाम बनाइये, यही म चाहता हूॅ। गुरु की गुलामी मे अहकार का कहॉ पता हे!॥ ४॥ में खानि-बानीरूप सुखाध्यास की चतुराई करके आपसे छिपाता हूॅ, आपसे कपट भेद-भाव अह नही छोडता। ऊपर से तो आपकी गुलामी की याचना करता हूॅ और भीतर-भीतर बहुभोग ऐश्वर्य विद्या-अविद्या बढावा आदि का अहकार छोडता नही। अहो! शोक हे कि मै अहकार मे फूलकर आगे आने वाले या शीघ्र बधन कष्ट मे पेरने वाले दुसह दुख को नही देखता॥ ५॥ हे हमारे इष्ट सद्‌गुरुदेव! मेरे हार्दिक भेद—मद, क्रोधादि पाप ओर दुर्गुण आदि का कृपया हरण कर लीजिये और एकरस सदा के लिए विचार वेराग्य देकर मेरे भक्तिमार्ग को जोवन पर्यन्त निबाह दीजिये यही आप से अर्जी हे॥ ६॥

प्रसंग ५—गुरु महिमा

गुरु उपकार स्तुति—१७

साखी—गुरु बिन ज्ञान न ऊपजै, नहि अज्ञान विनाश।
बन्दो गुरुवर देव को, जिनसे भ्रम तम नाश॥ १॥

टीका—जिस दृष्टि से सर्व बन्धनो की निवृत्ति हो जावे उस दृष्टि को पारख बोध या ज्ञान कहते हे। सो पारख ज्ञान गुरुकृपा बिना नहीं मिल सकता और न तो गुरु के विना विपरीत समझ ही नष्ट हो सकती है। इसलिए सर्व देवो से परम श्रेष्ठ गुरुदेव को नम्रतायुक्त बन्दगी या साष्टाग प्रणाम करता हूँ कि जिनकी कृपा मात्र से भूल भ्रमरूप अन्धकार नष्ट हो जाता है। भूल के छुडाने वाले गुरुदेव केसे है कि—

कवित्त

प्रथम दया को रूप भॉति-भॉति बोध दीन्हे, द्वितीय क्षमा को रूप मन मारि रहिये।
तृतीय जो सत्यरूप सतत है एकरस, तुर्य धीर अडिग सुमग नित गहिये॥
पचम विचार रूप जड जीव भिन्न करि, षष्ठम विवेकरूप स्थिति को लहिये।
सप्तम विरागरूप अष्टम उपास्यरूप, ऐसे गुरुदेव प्रभु नमो नमो कहिये॥ १॥

अष्ट सिद्धि श्री से युक्त साधु गुरु बन्दनीय, पटतर काहि सब तुच्छ जग जन्त जू।
राम कृष्ण सब मिलि कह्यो गुरुदेव पुज्य, गुरु की चरणरज सोउ अभिषंत जू।
ईश ब्रह्म देवी देव गणपति आदि सब, खुदा गॉड मानियत बहुत सिद्धन्त जू।
इष्ट तो अनेक सब पर गुरुदेव रवि, उदित महान ज्ञान भूल तम हंत जू॥ २॥

गुरु की कृपा भरम सब भागै। नित्य स्वरूप मे निशदिन जागै॥
गुरु की कृपा जानि अपने का। छूटै जग दुख अनित्य ठनेका॥

टीका—गुरु की दया से भरम तथा विपरीत समझ मिट जाती है और जीव निज पद मे विराजता है जो नित्य एकरस है। तिसमे रात-दिन जाग्रत रूप सावधान होकर टिक जाता है। गुरु की दया से अपने सत्य अजरामर स्वरूप को जीव जान जाता है और जो भूलवश अनित्य को नित्य मानकर दुख की क्रिया करता रहा, सो गुरु की दया से अनित्य जडासक्ति जनित सब दुख दूर हो जाते हैं।

गुरुकृपा से अखण्ड स्वरूप-धन की प्राप्ति

दृष्टांत—एक सेठ लक्षाधिपति सदाचारी, धार्मिक तथा भाव-भक्तिवाला था। उसका एक युवक पुत्र था। जब सेठ मर गया, तब लडका मनमानी करने लगा। दिन भर बेकार मनुष्यो के साथ बैठकर ताश, पासा, शतरज खेला करता, रात्रि मे वेश्या और भाडो का नृत्य देखता। वह चरस, गाँजा, अफीम, मद्य आदि नशाओं का आदती बन गया था। बुद्धिभ्रष्टता से पराई पीडा का ख्याल न कर मांस-मछली भी भक्षण करता और काम-काज की बिलकुल परवाह छोड दिन-रात देह और बाल सँवारा करता। वह दिनोदिन कुविषयो मे लोलुप होता गया। ऐसा करने से उसका सब धन थोडे ही दिनो मे नष्ट हो गया। उसकी कुचाल के कारण कोई कुछ माँगने पर भी न देता। अन्त मे दाना-दाना को मरने लगा, द्वार-द्वार कुत्ता के समान लसने लगा। कई बीमारियो से वह पीड़ित हो गया। रात्रि भर खाँय-खॉय किया करता, तब भी अपनी बुरी आदतो को नही छोडता। जब वह कई दिन तक कुछ भोजन न पाया तब जान पर आ पड़ी। वह रोने लगा। अपने पिता का बीजक उठाकर देखा तो उसमे लिखा मिला "बेटा! जब तुम्हे दुख पडे, आपत्ति आ जावे, तब तुम थम्भशाह से रुपये ले लेना, उनके कोष मे मेरी लाखो सुवर्ण मुद्राए जमा हैं"। वह अपने गाँव-देश मे जगह-जगह सबसे पूछते घूमा कि थम्भशाह कौन हैं, कहाँ रहते हैं, पर थम्भशाह का पता किसी से न पाया। अत मे उदास हुआ सेठ-पुत्र घर के द्वार पर टूटी खाट पर रोते हुए पडा रहा।

इतने मे एक महात्मा निकले। वे महात्मा सेठ के समय भी आया करते थे। लडके ने महात्मा को देख प्रणाम करने के बाद रोकर कहा—"महाराज! मैं थम्भशाह को ढूँढ़ता हूँ पर उनका कहीं पता नहीं लगता। सत ने उसकी दशा देखी ओर उसकी सारी कुचालो को जानकर उन्होने कहा—अरे! तू बिना प्रयोजन कार्यों मे उलझ कर ऐसी दीनता को प्राप्त हुआ है। यदि तुम्हे थम्भशाह मिल भी जायँ, बीजक के अनुसार सारा धन तुझे प्राप्त हो जाये तो तू फिर वैसे ही बेकार उड़ा देगा। "सेवक सुख चह मान भिखारी। व्यसनी धन शुभ गति व्यभिचारी॥ लोभी यश चह चारु गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी"॥ रा० ॥ सेठ-पुत्र अत्यन्त दुख पा चुका था, सत के दर्शन से और सत के समझाने से उसे पूर्व कुकृत्य पर पछतावा हुआ और

बोला—अब मैं कभी कुकर्म और बेकार कामो को नहीं करूँगा। सत विचार कर उसके साथ घर के भीतर गये, देखा तो ऑगन में एक बडा थम्भा गडा हुआ है। महात्मा ने लाठी से उसे ठोका, कुछ खन्न-सी आवाज आई। सत ने कहा—इसे खोदो। यही थम्भशाह है। लडके ने खोदा, उसके तल भाग मे डाट बन्द थी। उसे ज्यो ही खोला त्यो ही द्रव्यकोष निकल पडा। सत जी कई दिन उसके यहाँ रहे। उन्होने उपदेश द्वारा उसकी बेकार आदतो को छुड़ाकर उसे अच्छे मार्ग मे लगा दिया। अब वह प्रपच-पत्र, ताश, शतरज, जुआ की जगह भले-भले ग्रन्थों का पाठ करने लगा। नाचरग देखने की जगह नित्य सत्सग करने लगा। उसने तम्बाकू, गाँजा, मद्य सब अमल त्याग कर निर्वाह मात्र अन्न ग्रहण करके मन मारने मे ही सुख देखा। इस प्रकार सत की कृपा से वह कृतार्थ हो गया।

इस दृष्टातानुसार सेठ पुत्र के समान अज्ञानी मनुष्य इन्द्रिय-विषयो मे सुख निश्चय कर अति दीन हो गया है, विषय सुख के पीछे तीन तापो से दुख पाकर सुख की तलाश करता है। कहीं सुत वित्त प्रमदा मे सुख कल्पता है, तो कहीं तीर्थ, व्रत, योग, जप, तप मे सुख ढूँढता है। इतने मे इसको पारखी सदगुरु से भेट होती हे, तब श्री गुरुदेव बतलाते हैं कि स्थूल-सूक्ष्म, पिण्ड-ब्रह्माण्ड रूप पाँचो विषयो से दुख की निवृत्ति नहीं हो सकती। दुख की निवृत्ति करना हो तो इस थम्भरूप शरीर के अन्दर जो सर्व परीक्षकरूप अखण्ड कोष चैतन्य स्वरूप है, उसे पहिचान कर उसी मे स्थिर हो रहो। जीव ऐसा सुनकर विवेक करता है तब-जड इन्द्रिय प्रकृति मन से पृथक स्वरूप को पहिचान कर स्थिर हो जाता ह। फिर उसका सम्पूर्ण भटकना छूट जाता है। इस प्रकार नित्य प्राप्त स्वरूप को जो हम भूल रहे थे, वह गुरु कृपा द्वारा प्राप्त हुआ। प्राप्त होने का मतलब अपने ही आपकी सत्यता का ज्ञान हो जाना है। गुरुदेव अलग से कोई कृत्रिम पदार्थ नहीं देते, बल्कि अपने आप ही को बता देते हें, जिससे अनंत काल का दुख क्षण भर मे नष्ट हो जाता हे। धन्य श्री गुरुदेव! इसी से कहा गया हे—

दोहा—गुरु तो ऐसा कीजिये, ज्यो सिकलीगर होय।
जन्म-जन्म का मोरचा, पल मे डारें धोय॥
तथा "बिन गुरु दया सो लखि नहि पावे" इत्यादि॥

गुरु की कृपा गरज मिटि जावै। नहि सबके बश कबहुँ बिकावै॥
गुरु की कृपा जानि मन जाला। छूटि फन्द से होय निराला॥

टीका—जीव सुख इच्छावश भोगो के लिये प्राणियो से गर्जी बन दीन हो रहा है,और जहाँ-तहाँ सबके हाथो बिक रहा है। गुरु की दया होते ही भोग-सुखो की गर्ज मिट जाती हे। जब जगत-सुख की गर्ज ही नहीं, तो जगत-जीवो के हाथो क्यो बिके। जिन-जिन औरेबो से जीव जड बन्धनो मे फँस जाता है, उन-उन सुख-प्रलोभनो को मन का जाल कहते हैं। गुरु की दया से ही मन के भुलावे को मिथ्या धोखा जानकर उसके फन्दे से जीव पृथक हो जाता हे।

गुरु की कृपा अमर पद पावे। अमर आय अमरे रहि जावै॥
अभय दान गुरु वाक्य दिनेशा। भय भ्रम भागै गहत निदेशा॥

टीका—गुरु की दया से यह जीव जन्म-मृत्यु के बीज अज्ञान सुखासक्ति का नाश कर अमर एकरस पारख स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। जैसा इसका अमृत स्वरूप है, वैसे ही यह

अमृतस्वरूप अचल रह जाता है। स्वरूपज्ञान-दान देकर निर्भय करने वाले गुरुदेव के वचन सूर्य के समान है। गुरुवाक्य को सुनकर उनकी शिक्षा ग्रहण करने से सर्व भव-भय जडासक्ति नष्ट हो जाती है।

चिता रहित आप गुरु जैसे। करि निश्चित जीव कहँ तैसे॥
आशा फॉसी ते गुरु पारा। तैसहिं जीवन देत इशारा॥

टीका—अनुकूल-प्रतिकूल, हर्ष-शोक, जन्म-मरण, विषय सुख की कल्पना खानि-बानी जनित यावत चिंताये उठती है, उनके द्रष्टारूप सर्व चिताओ से रहित हे सद्गुरुदेव! जैसा आपका स्वरूप है, वैसे अपने शरणार्थियो को भी पारखबोध देकर आप निश्चिंत कर देते है। जगत के स्त्री, पुत्र, घर, धन, पच विषय, माने हुए स्वर्गादि मे सुख निश्चय आशा की फॉसी मे निरतर समग्र जीव लटक रहे हैं। उससे श्री गुरुदेव पार हैं। जैसे आप आशा की फॉसी से रहित हैं, वैसे समग्र प्राणियो को आशा रहित होने का इशारा देते रहते हैं। ये सब श्री गुरु साहिब मिलने के अनत लाभ कहे गये। अब गुरु के बिना जो हानियॉ होती हैं, उनको स्पष्ट किया जाता है—

साखी—सब जग मन के धार में, बहे जात बेहोश।
गुरु बिन कबहुं न पार है, कलह कल्पना जोश॥ २॥

टीका—बडी नदी के प्रबल प्रवाह के समान मनोमय की एक धारा है। उस धारा मे गाफिल होकर सब जीव बहे जा रहे है। उससे निकलने का यत्न करने पर भी गुरु पारख के बिना पार नहीं पाते। बल्कि सदोदित उसी धारा को पुष्ट करने वाले वैर, विरोध, लडाई, नाना विषय कल्पना की तरगो मे बल भरकर उसी मे फिर-फिर डूबते रहते हैं॥ २॥

गुरु बिन अपन आपको भूला। गुरु बिन झूलत काल को झूला॥
दुख छूटन की बुद्धि न पावै। जहॉ जाय तहँ दुखहिं बनावै॥

टीका—गुरु पारख प्राप्त न होने के कारण ही स्वय स्वरूप को जीव भूल रहा है। अज्ञान और मोहक वस्तुये उनके झूले जन्म, मरण, गर्भवास मे जीव तन धर-धर कर नाना प्रकार के कष्टो को भोगता रहता है। गुरुपद से भेट न होने से ही सर्व हानियॉ हो रही हैं। दुख छुडाने की समझ गुरु पारख बिना नहीं आती, उलटे विपरीत समझवश जहॉ कहीं भी खानि-बानी मे जाता है, वहॉ दुख ही दुख गढता रहता है। यह गुरु पारख से पीठ देने का फल है।

गुरु बिन लादि बिषय की लादी। जहँ-तहँ भरमत फिरत बिबादी॥
निज हित परहित कबहुं न जानै। जेहि बिन जानि न द्वद्व नशानै॥

टीका—गुरु पारख के मिले बिना यह जीव विषयासक्ति की लादी लादे हुए रासभ के समान जहॉ-तहॉ झगडा-झझट करते हुए भटक रहा है। जिस प्रकार अपनी और दूसरे की भलाई हो, कल्याण हो, सुख हो, वह भी पारख गुरु के बिना कभी जानने मे नही आता। जब अपने और दूसरे का हिताहित मार्ग ही नहीं दिखता, तो भला दुख-द्वन्द्वो से कैसे पीछा छूटे। गुरु शरण बिना कभी जन्म-मृत्यु, तन-मन उपाधियो से छुट्टी नही मिल सकती।

मोहि रहा जड़ गुण धरमन मे। होत रहै क्षण क्षण दुख मन में॥
छूटत मिलत चाह उपजावै। तृष्णा आगि में सदहि जलावै॥

टीका—जड तत्वो के पाँचो विषयो को अहं-मम मान-मान कर मोहित हो रहा है। इससे इसको क्षण-क्षण मे मनोद्वेगवश दुख हुआ करता है। जड़-भोग बिछुडने-मिलने मे दोनो प्रकार से कामना उत्पन्न करते हैं, न मिलने पर आशा करके और मिलने मे सदेव तृष्णाग्नि द्वारा जलाते रहते हें।

कवित्त

एक छिन रूप मे ललकि पॉखि है गयो, एक छिन स्वाद मीन बसी मे दुखान से।
एक क्षिन पर्श माहि श्वान से विधुन गयो, एक क्षिन गध माहि भ्रमर भुलान से।
एक क्षिन शब्द माहि सर्प मृग फँसि तान, यहि विधि क्षिन-क्षिन चचल समान से।
पारख प्रभू से मुख फेरने को फल यह, अब तो उलटि वृत्ति गुरु मग ध्यान से।

जड़ मे भरमत जीव अनारी। मानि बिपय सुख सहत वेगारी॥
गुरु बिन कवहूँ चेत न आवे। भोगि बिषय सुख आपु भुलावै॥

टीका—यह जीव अनाडी है। अनाडी इसलिये हे कि अपना अखण्ड सत्य स्वदेश छोडकर इन्द्रिय गोचर जडतत्व विजाति मे भटक रहा है। क्षणिक विपयो मे सुख की स्थिरता मान दुख-बोझ लाद कर बेगारी ढोता रहता है। जिससे जीव का कोई अर्थ न निकले, उलटे परिश्रम, परवशता, कामना, ताप सहना पडे, इसका नाम बेगारी है। सो वेगारी इन्द्रिय आसक्तिवश जीव धारण कर अचेत हो रहा हे। इसे गुरु पारख विना कभी सत्यासत्य की परीक्षा नहीं प्राप्त हो सकती। बिना गुरुदृष्टि पाये जड विषयो को ग्रहण कर-कर के अपने सत्य स्वरूप को भुलाते आया है। इस पर एक दृष्टात इस प्रकार है—

गुरुबोध विना दुखपूर्ण अज्ञान का नाश नहीं होता

दृष्टान्त—किसी ग्राम मे एक गरीब नासमझ मनुष्य था। वह अपने को बहुत चतुर समझता था। एक बार वह अपने एक बछडे को पाँच रुपये मे बेच कर अपने ग्राम को लौट रहा था। मार्ग मे एक तालाव देख कर वह जल पीने को गया। किनारे पर बहुत से मेढक थे, वे मनुष्य के पैर की आहट सुनकर ट्योक-ट्योक शब्द करते हुये तालाब में कूद पडे। 'एक' शब्द सुन कर उसने विचार किया, मैंने पाँच रुपये मे बछडा बेचा हे, उसकी मेढकों को खबर नही है। मैने एक रुपये मे बछड़ा बेचा है ऐसा समझकर बोलते हैं, इनकी भूल सुधारना चाहिये। ऐसा विचार कर वह मेढकों से कहने लगा—"हे मेढको! मैंने बछडे को एक रुपये मे नहीं बेचा है, पाँच रुपये मे बेचा है, देखो! ये पॉच रुपये मेरे पास हें।" कोई मेढक रुपये देखने नही आया, सब ट्योक-ट्योंक करते रहे। यह सुन वह नासमझ मनुष्य पुकार कर कहने लगा—"हे मूर्ख मेढको! क्या मेरे कहने पर तुम्हे विश्वास नहीं आता?" मेढको ने बोलना बन्द नहीं किया। वह बहुत क्रोधित हुआ और मेढको को गालियाँ देने लगा। मेढक वोलते रहे। वह गालियाँ देते-देते थक गया और कहने लगा—"हे मूर्ख जिद्दी मेढको! तुमको विश्वास नही आता तो में गिनता हूँ" यह कहकर पत्थर पर उसने एक-एक रुपया को डाल-

डाल कर ठन-ठन करके एक से पॉच तक गिन डाला। मेढको ने कुछ न सुना, ट्योक-ट्योक आवाज बन्द न हुई।

उसके नेत्रो मे जल भर आया और कहने लगा—"रे मेढको! मै तुम्हे किस प्रकार समझाऊँ? तुम मेरी नही मानते। अच्छा! लो रुपये गिन कर निश्चय कर लो।" यह कहकर उसने पॉचो रुपये तालाब मे फेक दिये। उसको निश्चय था कि मेढक रुपये गिनकर मुझे दे जायेगे। मेढक रुपये देने को न आये। अब दे जायेगे, अब दे जायेगे, इस प्रकार विचारता रहा। जब शाम हो आई तब मेढको को गालियॉ देता हुआ बोला—"मूर्खो! क्या तुम कभी पाठशाला मे पढने नही गये हो, क्या काला अक्षर भैंस बराबर ही है, पॉच रुपये गिनने मे इतनी देर! आधा दिन चला गया, ऐसा मालूम होता है कि तुम्हारी इच्छा मुझे रात्रि भर यही बैठा रखने की है, परन्तु मैं यहॉ पर रात्रि भर रह नही सकता हूँ। यदि तुम सच्चे हो तो रुपये लेकर मेरे घर पर आ जाना, मैं तो जाता हूँ।" ऐसा कहकर बहुत बुद्धि के गर्ववाला वह मनुष्य खाली हाथो ही अपने घर पर चला आया। घर मे कुछ खाने को था नही। स्त्री ने उसके नाम की रसिया गायी और लाठी से उसकी भली प्रकार पूजा भी की। हाय री मूर्खता! बेचारा अभी तक कष्ट भोग रहा है।

सिद्धान्त—नासमझ मनुष्यवत देहोपाधियुक्त स्वरूप को भूला हुआ यह जीव है। उसने अपने अन्त.करण रूप बछडे को बेचकर पॉच ज्ञानेन्द्रियरूप पॉच रुपये प्राप्त किये। उसे यह मालूम न रहा कि उनका सदुपयोग किस प्रकार होगा! मार्ग मे उसे कर्मरूप जल वाला और दुखरूप कीचडवाला तालाब मिला। उसमे वह जल पीने गया। उस तालाब मे शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध रूप मेढक रहते थे। अज्ञ जीव ने स्पर्शादि रूप मेढकों को अपने समान चैतन्य और बुद्धिवाला समझकर अपनी कल्पना से ही उनमे सुखाध्यास का आरोप किया और उनको सदैव एकरस रखने के लिए अनेक प्रयत्न किया, पर वे जड विजाति छिन्न-भिन्न ही होते रहे। ऐसा देखते हुए भी अपनी हठता-ममता न त्यागकर अज्ञ जीव ज्ञानेन्द्रियरूप पॉच रुपयो को खानि-बानी की क्रियारूप जल मे फेक दिया। शरीर की तीनो अवस्थाओ मे इन्द्रिय ज्ञान को विषयो मे लगा कर उनका दुरुपयोग किया। "जैसे श्वान कॉच मन्दिर मे, भरमित भूँकि मर्‌यो।" वाह री मूर्खता! गुरु पारख की प्राप्ति बिना विजातीय जड पाँचो विषयो को अपना स्वरूप मानकर यह चेतन जीव मनोमय सृष्टि मे वृथा दुखी हो रहा है। इस दुख की निवृत्ति का गुरु कृपा द्वारा स्वरूप ज्ञान की प्राप्ति के सिवाय और उपाय नही है। इसलिये गुरु की शरण मे जाकर अपने अज्ञान का नाश करना चाहिये।

साखी—बिषय भोग जड बुद्धि है, माया मोह अँधेर।
गुरू ज्ञान परकाश बिनु, कबहुँ न होय उजेर॥ ३॥

टीका—पॉचो विषयो के सपूर्ण भोग जड है। उनमे सुख निश्चयता ही जड़ बुद्धि है। वही माया का रूप है। मोह ही अधकार है। अधकार इसलिए है कि उसमे अपना सत्य स्वरूप और विजातीय जडतम का भिन्न-भिन्न ज्ञान नहीं रहता। अपना स्वरूप नित्य तृप्त स्वयं प्रकाश होते हुए भी इन्द्रियगोचर छिन्न-भिन्न जड वस्तुओ मे सुख मानता रहता है, जिससे कि इसको सिवा भटकना और दुख के कुछ प्राप्त नहीं होता। जड़ासक्ति अँधेरी रात्रि पारखी सद्‌गुरु के द्वारा ज्ञान प्रकाश प्राप्त किये बिना तीन काल मे भाग नहीं सकती। इसलिए ज्ञान उजेला तब

तक नहीं हो सकता, जव तक कि गुरुदेव की शरण न जाया जाय॥ ३ ॥

गुरु विन नहिं स्वारथ मे सुखिया। लहि परमार्थ न सव दुख छुटिया॥
हे उपकार अनत गुरू का। मेटे सव दुख लहि निज जिवका॥

टीका—देह और देह सम्वन्धी—कान्ता, कीर्ति, महल, मकान, सगे-सम्वधी, कार, व्यवहार, निर्वाहादि को स्वार्थ कहते हैं, सो स्वार्थ मे भी गुरु युक्ति विना जीव सुखी नहीं होता। गुरु सग विना काम, क्रोध, लोभ, अज्ञान अधिक वढ जाने से "पाँखी-दीप या राव शीरा-माखी" वाली उसकी दशा हो जाती है। अत· गुरुदेव विना स्वार्थ मे भी सुखी नहीं हो सकता तो परमार्थ मिले ही कहाँ से। परमार्थ की प्राप्ति विना देहोपाधि के सव दुख दूर नहीं हो सकते। देह से भिन्न परीक्षक स्वरूप को जान कर उसकी स्थिति के साधन ज्ञान-वेराग्य, भक्ति-सदाचरण मे रत रहने का नाम परमार्थ है। जिससे जगत की इच्छा ज्वाला वुझकर स्वरूप स्थिति हो जाये, वही परम काज परमार्थ हे। वह गुरुदेव की शरण गये विना नही मिल सकता। सव दुख देह सम्बन्ध मे ही आ जाते हैं और देह सम्वन्ध स्वरूपवोध विना न छूटने से त्रिविध दुख सदैव भोगना पडता हे। यह सव गुरु-विमुखता का फल ह। गुरुदेव का किया हुआ उपकार अनत हे। अनत इसलिये हैं कि अविनाशी जीव अनत काल से चक्कर काट रहा है। इसकी मिति नहीं कि कव से और कव तक अज्ञान-नदी मे वहा करेगा। इतने मे वहेतू जीव को वीच ही मे गुरुदेव मिलकर डूवने, फॉसी चढने, भटकने से ज्ञान देकर वचा लिये। तव तो अविनाशी जीव का अनादिकाल का वन्धन छिन मे छूटकर अनत काल के लिये छुटकारा मिल गया, इस प्रकार गुरु का उपकार अनत है। ऐसे अनत उपकारी गुरु को दाम, काम, समय, रत्न हर्जा-खर्चा, करके ढूँढे, प्राप्त करे। यथार्थ गुरुदेव की प्राप्ति के पश्चात उनकी शरण में जाकर अपने जीव का दुख—जडग्रन्थि एव विषयासक्ति का छेदन कर डाले।

है निष्काम देश गुरु केरा। गुरू शरण गहि तह वसेरा॥
राग द्वेष नहि दुख सुख जाला। त्यागि फिक्र जिव होय निहाला॥

टीका—गुरु का देश सर्व कामना-रहित हे। कामना भूल से होती हे। भूल गुरुवोध से छूट जाती ह, तव अपने स्वरूप मे सदा के लिये स्थिरता हो जाती है। गुरुदेव जगतवासना-रहित स्वरूप मे स्थित हें। इसी हेतु गुरु का देश पारखस्थिति हें, वह कामना मलरहित निर्मल हे। उस देश को गुरुशरण मे ठहरकर प्राप्त करना चाहिये। कामनारहित निष्काम देश मे टिकाव तभी हो सकता है जव गुरु की शरण मे जावे। गुरुकृपा मे निष्कामदेश—पारख भूमिका प्राप्त करने पर न तो जगत का राग रह जाता है, न वैर, न किसी प्रकार का दुख आर न विषयासक्ति रह जाती हे। यहाँ तक कि क्षणभगुर भोगो की प्राप्ति की फिक्र भी छूट जाती है। इस प्रकार जीव गुरु की कृपा से निहाल होकर साधन मार्ग सहित जीवन्मुक्ति में विराजता हैं।

गुरु विन मनुष देह भइ विरथा। धन सुत नारि भोग वे अरथा॥
वाल खेलवत निशदिन वीता। गुरु विन कवहुँ न होय सुवीता॥

टीका—जव तक सद्गुरु से भेंट होकर उनमें लगन न लगे, तव तक मनुष्य देह धारण करने से क्या लाभ। जेसे अनेक जाति के पशु कीट पतग आदि होते हें, वैसे ही गुरु ज्ञान विना मनुष्य को भी एक प्रकार का पढपशु ही जानना चाहिये। यद्यपि यह जीव वहुत सपत्ति, वहु

पुत्र और नव तरुणी, इन्द्रिय सम्बन्धी भोग सुख को प्राप्त कर अपना काज वनना मानता है, पर गुरुवोध बिना उन सबो की प्राप्ति से जीव का काज पूर्ण नहीं होता, वल्कि उनमे तृष्णा, काम, लोभादि अनर्थ ही की पुष्टि होती हे। यथा—''अर्व-खर्ब लगि द्रव्य जो होई। त्रिभुवन राज्य पाव जो कोई॥ जो पै मरण करण सुख कैसो। सपने की सपति भ्रम जेसो''॥ वि०॥ लड़कों के धूल खेल के समान चर्मेन्द्रिय सुखार्थ ही मे रात-दिन प्राणियो की आयु जा रही है। सो गुरुदेव मिले बिना मनमोदक वालवत भोगसृष्टि मे क्षणभर भी स्वतत्रता नही मिल सकती। यथा—''पडे जीव बूड़ैं उतराहीं। एकौ पल सुपास जहँ नाहीं॥'' वि०॥ याते जिसे स्वतन्त्रता लेना तथा अपना काज पूर्ण करना हो वह गुरु की शरण मे जावे।

गुरु विन कबहुँ न होवै शान्ती। गुरु विन छूटि सकै नहिं भ्रान्ती॥
गुरु विन सत पुरुषार्थ न वनता। दुख छूटन को काज अफलता॥

टीका—गुरुदेव बिना तीन काल मे शान्ति नहीं मिल सकती और न सदेहो का नाश हो सकता है। गुरु विना ठीक-ठीक परिश्रम भी नहीं सधता। यहाँ तक कि दुख छूटने के जितने साधन हैं वे भी गुरु बिना निरर्थक हो जाते हैं। अत. 'गुरु बिन भवनिधि तरै न कोई। जो विरचि शकर सम होई॥'

गुरुदेव से ही यथार्थ मार्ग सूझता है

दृष्टान्त—एक राज्य मे यह नियम था कि उसका प्रत्येक राजा दस वर्ष राज्य करने के पश्चात वन को निकाल दिया जाता था। एक राजा उस गद्दी पर वैठा, परन्तु इस दुख से वह इतना दुखी था कि जिसका पारावार न था। वह यही सोचता रहता था कि यह सब सामान अव केवल हमारे पास चार वर्ष है, दो वर्प हे, एक वर्ष है, छह मास है, और इसी दुख से राजा का खाना, पीना और सभी सुखचैन वन्द था। एक दिन अनायास ही राजासाहब के यहाँ एक महात्मा आ गये। महात्मा ने कहा—राजा! तू इतना क्यो दुखी है? राजा ने कहा—''महाराज! छह मास के पश्चात वन को भेज दिया जाऊँगा और ये राज्य के सम्पूर्ण पदार्थ छूट जायेगे, तव मुझे वड़ा कष्ट होगा, इस कारण दुखी रहता हूँ।'' महात्मा ने कहा—राजन! इसके लिये इतना दुख क्यो करते हो, यह तो थोडी सी वात है। आपको छह मास के वाद जिस वन को जाना है, अभी से निर्वाह के यथेष्ठ पदार्थ क्यो नहीं धीरे-धीरे उस वन को भेज देते हो, जिससे वहाँ कष्ट न हो। राजा ने वैसा ही किया। और वाद मे वह वन मे जाकर सुख से रहने लगा।

इसका सिद्धान्त यह है कि यह मनुष्य-देह थोड़े दिन की राजशाही है। कुछ दिनो के पश्चात कर्म-सस्कारो के अनुसार अन्य योनियो की प्राप्ति होती रहती है और इस शरीर व शरीर के साथ उपलव्ध पदार्थ और सम्बन्धियो के छूट जाने की चिंता से जीव दुखी होता रहता है और रात-दिन वृथा विषय-विलासो को एकरस रखने के लिए अपना अमूल्य अवसर गँवाता रहता ह। ऐसे जीव के लिए गुरुदेव कहते हे कि हे जीव! तू शोक-मोह से क्यो दुखी रहता हे! तू प्रथम सत्सग, भक्ति, परोपकारादि धारण करके अत.करण शुद्ध कर स्वरूप को जान, जिससे शरीर छूटे उपरान्त तुझे फिर क्लेश न हो। यदि शुद्ध आचरण सहित स्वरूपज्ञान द्वारा तेरी वासना ध्वस हो गई, तव तो तू देहोपाधि रहित होकर सदा के लिए निराधार स्थित

हो रहेगा और यदि कसर रही तो फिर उत्तम-उत्तम कर्मो द्वारा शरीरसुखो की प्राप्ति होगी, साथ ही परमार्थ में रुचि रखने से परमार्थ की भी प्राप्ति होगी। ऐसा गुरु वाक्य सुनकर जीव सत्सग-भक्ति आदि भले-भले मार्ग मे चलकर देह ओर देह के बाद भी सदा के लिये सुखी हो रहता है। ''सत्यसिंधु प्रभु दीनदयाला। नाशक अनुमय सहज कृपाला।'' ऐसे दयालु गुरुवर को धन्य। धन्य।।

कवित्त

गुरुजी दयाल ह्वै के कह्यो तू जीव सत्य, घूमि के विचार्‌यो तब आप-आप पायो मैं॥
अजर अमर अविकार अविनाशी जानि, एकरस अपरोक्ष आप-आप ध्यायो मैं॥
आप ही के भूल वश भूल दुख मेटन कूँ, खानि बानी गढि-गढि भूल मे रचायो मैं॥
अब वह भाग्य जागि आये हैं सुदिन मेरे, मिले गुरु पारख कृपा से भ्रम ढायो मैं॥

साखी—जो दुख द्वन्द बिनाश चहे, तौ गुरु शरण मे लीन।
गुरु बिन कबहुँ न चैन ह्वै, हे मन मूढ़ मलीन॥ ४॥

टीका—हे मन। जो दुनिया के दुख द्वन्द्व अर्थात सर्व आपत्तियो से छुटकारा चाहता है तो उपाय एक यही है कि अज्ञान विनाशक गुरुदेव के चरणो मे लीन हो जा। एकचित्त से गुरु की ही आज्ञा का पालन कर, क्योकि गुरु बिना अज्ञान नही जा सकता। अज्ञान गये बिना तीन काल मे शान्ति नहीं मिल सकती। हे विषयासक्त मन। तू यह बात सुनकर चेते, समझे और गुरु की शरण जावे, इसी मे भलाई है॥ ४॥

करत रह्यो मै तव अपकारा। मै बिषयी मतिमन्द गॅवारा॥
जो कहॅु ठौर मिलत मोहि स्वामी। तौ नहि लेतिउँ चरण गुलामी॥

टीका—गुरु की शरण हो गुरुबोध प्राप्त करके निहाल होकर शिष्य अपनी पूर्व भूल जनित करनी और गुरुदेव का उपकार याद करके निवेदन कर रहा है कि हे गुरुदेव! पहिले अज्ञान दशा मे आपकी निन्दादि ही की क्रिया करता रहा। अहो! मैं विषय-कीट ओछी बुद्धिवाला मूढ बना था, यदि आपको छोडकर अन्य कहीं अणुमात्र भी स्थिति मिलती तो आपके चरणो की सेवकाई कब स्वीकार करता।

जब मोहिं गरज लगी प्रभु केरी। तब तौ लीन्ह चरण रज तेरी॥
नहि तौ सपनेहुँ के मधि माहीं। कीन्ह सुरति कबहूँ प्रभु नाहीं॥

टीका—जब मुझे पारख प्रभु की गर्ज लगी तभी आपके चरणो की धूलि को मस्तक पर चढाया, नहीं तो सपने मे भी आपका स्मरण तक न किया।

स्पष्ट—इस तुच्छ जीव ने जब कहीं भी अपना छुटकारा न देखा, तब सबके धक्का-मुक्का खाकर तथा सबसे ढकेला जाकर बहते हुए आपके सम्मुख पड गया। तो आपने दया करके अपने स्वरूप को परखा दिया। दोहा—''बहे बहाये जात थे,भवसागर के माहि। दया करी परखाय सब, शरणाये गहि बाहि॥''

इस प्रकार यह दास दुखी होकर आपके पद का गर्जी बन गया। अब मुझे निश्चय हो गया कि गुरुपद की शरण बिना मेरा किसी प्रकार दुख छूट नहीं सकता। इस प्रकार जब मेरी गर्ज

आपसे लगी तब आपके चरणो की धूलि प्रयत्न से प्राप्त कर मस्तक पर चढा रहा हूँ। अपना स्वार्थ अटके बिना मैंने सपने मे भी आपका कभी स्मरण तक नहीं किया। जब स्वार्थ निकले तब ही देखै, आगे पीछे उसका ख्याल तक न करै, अहो! यह स्वार्थपरायणता की हद्द है! ऐसा मैं आपास्वार्थी हूँ।

साखी—अवगुण देखि न क्रोध करि, लीन्ह्यो हृदय लगाय।
जब समुझत प्रभु रीति को, तब जिय बहुत डेराय॥ ५॥

टीका—मेरे दुर्गुणो को देखकर तिरस्कार करना कौन कहे, उलटे अपनी समता, क्षमा से दया करके आप अपने हृदय मे लगा लिये, अपनी दृष्टि देकर अपने समान बना लिये। जब ऐसी आपकी एकतर्फी उदारता तथा निःस्वार्थता का ख्याल करता हूँ और अपनी विपरीतता, कुचाली, शठता का ख्याल करता हूँ तो हृदय मे बहुत घबरा जाता हूँ कि कहाॅ आपकी दया, कहाँ मेरा क्रोध, कहाँ आपके रक्षाहित बैन, कहाँ मेरी भोगहित हठता, कुटिलता, कहाॅ आपका निर्छल सत्योपदेश, कहाॅ मेरा मन के हाथ बिकना और सद्गुरु से दुराव। मेरी अधमता का ख्याल न कर जो आप ने अनंत उपकार दास पर किये है उसके लिये आपका दास सब प्रकार से कृतज्ञ बनकर शरण मे रहना चाहता है। जय जय श्री गुरुदेव!

छन्द—गुरु भक्ति है मन दु ख हर यहि हेतु मै भक्तिहि करौं।
दै दान वह गुरु बुद्धि श्रद्धा सत प्रेम दै मानै हरौ॥
साहस सहन औ नेम दो नहिं देह सुख आशा धरौ।
पद बन्दि बिनवो जोरि कर गुरु काज यह पूरा करौ॥ १॥

टीका—हे मन! सद्गुरु की भक्ति सम्पूर्ण दुखों को हरने वाली है, अतः मै वही करूँगा। इसी हेतु सद्गुरुदेव से विनय है कि उक्त प्रकार की भक्ति मे सुखनिश्चय कराइये और यही भक्ति का मुझे दान दीजिये। भक्तिसाधक गुरुपद की श्रद्धा, विश्वास, एकरस सच्ची प्रियता तथा निष्ठा देकर मेरी देहबुद्धि, वाणी, विद्यादि अभिमान का हरण कर लीजिये। पुनः भक्ति पूर्ण करने के लिए मुझे वैसे ही साहस, सहन और नियम दीजिये, जैसे अज्ञान हालत मे विषयो के लिये होता है। इसके लिये हम इन्द्रियसुखो की कामना को त्याग देवे। हाथ जोड सिर झुकाय, आप गुरुदेव के चरणो की वन्दना करते हुए केवल यही याचना करता हूॅ कि मेरे भक्तिमार्ग को एकरस पूर्णता से निपटा दीजिये।

कवित्त

कोटि बिघ्न सहि जैसे भोगी न तजत भोग, कोटि-कोटि यत्न कौडी चर्म हेतु कर है।
मान और जीत जैसे अनुकूल चहै नित, मन मनसा को सुख अति प्रिय धर है॥
जेल मार गार डाट फटकार दुतकार, दौड धूप यत्न सह परबश पर है।
ऐसे ही सहन परिशर्म नेम प्रेम देहु, गुरुपद हेतु बलि जाऊँ इमि तर है॥

सद्ग्रन्थ भवयान सटीक, प्रथम प्रकरण—विनय विधान समाप्त

फल रूप-छन्द

जेहि ज्ञान गुण सामर्थ्य कहने से सकल गुण आय है।
जेहि दर्श पर्श समीप से सद्बोध साधन पाय है॥
दिन दिन सरस शुचि नम्रता गुरु प्रेम नेम बढाय है।
सादर विनय यह गाय गुरु को ध्याय मन पद पाय है॥

चौपाई

पाठ करै यहि अर्थ लगावै। गुरु पद प्रेम नेम सो पावै॥
कर्म वचन मन शुद्ध स्वभावै। विनय-विधान सकल गुण लावै॥

जिज्ञासु बोला—सोरठा

कथा सुनायहु मोहि, अमृत भरी सुहावनी।
सुना चहौं अब वोहि, जो आगे गुरुवर कह्यो॥

भक्ति-भरण

हेतु-छन्द

भक्ती भरन दुख को हरन,
सब सुख करन उर मे धरैं।
गुरु के चरन निज देय मन,
पूजन भजन गुरु की करैं॥
भवपाश हन लहि दासपन,
बड भाग्य जन गुरुपद परैं।
दलि विघ्नघन ले मुक्तपन,
गुरु की शरन भव से तरैं॥

साखी

भक्ति अमोलक रत्न दे, दीन जीव प्रतिपाल।
भक्ति-भरण तम-हरण कहि, श्री गुरु दीनदयाल॥

सद्गुरवे नमः

भवयान

द्वितीय प्रकरण : भक्ति-भरण

प्रसंग १—गुरु लक्षण गुरु सहायता

शब्द—१

अरिदल बीच समर गुरु आये, है रणधीर जो शूर लखाये॥ टेक॥
बिवेक बिराग शस्त्र जो लीन्हें, नैराश्य बीरता छाये।
शम दम मन निग्रह से पूरण, बल जेहि अमित पार नहिं गाये॥ १॥
क्षमा तोष अरि शस्त्र निवारण, तेहि बल हानि कराये।
अनुभव शक्ति युद्ध की विद्या, पूरण सबहिं रहाये॥ २॥
राग के छेदन शत्रु के भेदन, करतब्य सुभट सोहाये।
संयम बिबिध कुमग नहिं ममता, बूटी दुःख चखाये॥ ३॥
अरोग्य स्वरूप जो बल से पूरे, देखत शत्रु लजाये।
हैं बिकराल सुभट अरि मर्दन, जयति पत्र को पाये॥ ४॥
दया बिचार सत्य ब्रत धारण, संत सुवेष दिखाये।
सकल ताप के मोचन करता, देखत दरश जुड़ाये॥ ५॥
मात पिता नारी सुत बन्धू, सब मिलि सबहिं बँधाये।
एक एक पर वार करै सब, जानि कोई नहिं पाये॥ ६॥
तिनके बीच परे हम घायल, सूझै न कोई उपाये।
अमित भाँति से छेदन करि कै, प्राण को संकट लाये॥ ७॥

सुख के तीरन तकि तकि मारै, जो दुख जहेर बुझाये।
तहँ पर सुभट मिले उपदेशक, शस्त्र अनंत चलाये॥ ८॥
तिनके घाव भ्रमित मति हमरी, मुर्छित धरणि गिराये।
तब लगि पहुँचि गयो गुरु सनमुख, दे निज हाँक जगाये॥ ९॥
सचित करम उदै निज ह्वैगे, दोष दृष्टि कछु पाये।
तब लग रक्षक सनमुख देखा, तेहि ते धीरज आये॥ १०॥
सजग होउ हम रक्षक तुम्हरे, यह गुरु बयन सुनाये।
सम्हर सम्हर कहि मोहि उठायो, दै निज शस्त्र जोराये॥ ११॥
बचन सजीवन उर मे पहुँचत, सब तन व्यथा गँवाये।
दै दै साहस खड़ा कियो मोहि, गाँसी भाल खिचाये॥ १२॥
देखि सैन सब बिचलि परान्यो, शोभित समर लखाये।
करत परस्पर उक्ति युक्ति बहु, कोई पार नहिं पाये॥ १३॥

टीका[१]—मनोमय रिपुदल के समर बीच गँसे हुए इस दास को देख कर सहायता करने के लिये सद्‌गुरुदेव आ गये। आप सद्‌गुरुदेव मनोमय रिपु के भीषण युद्ध मे न पछडने वाले तथा उसके नाश करने मे समर्थ, धैर्यवान और पूर्ण वीर देखने मे आ रहे हैं॥ टेक॥ जो विवेक और वैराग्य श्रेष्ठ शस्त्र धारण किये हैं, जिनके रोम-रोम मे निराशता और मनोनाश की वीरता व्याप्त हो रही है, जो शम-दम अर्थात अत.करण को शान्त करना और वाह्य इन्द्रियो को रोकना ये दोनो साधन युक्त मन को जीतने मे पूर्ण समर्थवान हैं, जिनकी सामर्थ्य को वाणी द्वारा वर्णन नही कर सकते, ऐसे सद्‌गुरुदेव हैं॥ १॥ मन-रिपु के चलाये क्रोधादि शस्त्र का क्षमा और

---

१ मन-इन्द्रियो को जीतकर स्वरूप मे एकरस टिकाव करने के पश्चात जीवन्मुक्ति दशा मे जिज्ञासु गुरुदेव की सहायता का स्मरण कर रहा हे। अज्ञान की फ्रौज—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार, आशा, तृष्णा, आसक्ति तथा वाहर उनके सहायक अविवेकी जगदासक्त प्राणी, इन्हीं की फौज के बीच मे हम पडे रहे, इनसे कभी पार नहीं पाते थे। पहिले तो मनोमय चक्र रूप रिपुओ को ही मित समझते थे, पर कुछ पूर्व के शुद्ध सस्कार उदय होने से कल्याण की इच्छा हुई, तिस कल्याण की इच्छा और कर्तव्य को अरिदल नाश करना चाहता था ओर में कल्याण करना चाहता था, ऐसे समय मे चारो तरफ से दुश्मनो के वीच पडा हुआ शक्तिहत होकर साहस छोड रहा था कि इतने मे इस रणक्षेत्र के मध्य परम सहायक गुरुदेव आ गये। आप गुरुदेव केसे हैं—

कवित्त

किये जिन मन हाथ इन्द्रिय को सव साथ, घेरि-घेरि अपनो ही नाथ सूँ लगाये हैं।
ओर हूँ अनेक वैरी मारे सव युद्ध करि, काम क्रोध लोभ मोह खोदि के वहाये हैं॥
कियो है सग्राम जिन दियो है भगाय दल, ऐसे महासुभट सुग्रथन मे गाये हैं।
सुन्दर कहत और. शूर यो ही खपि गये, साधु शूरवीर तेई जगत मे आये हैं॥
(सुदर विलास)

संतोष द्वारा नाश करते हुए मनरिपु के बल को नष्ट कर दिये। मनोमय समर की सब युक्तियाँ जानते हुए युद्धविद्या-अनुभवशक्ति[१] से सद्गुरु पूर्ण हैं। जो जैसा हो तैसा ही जानने का नाम अनुभव है। शत्रु के रेच-पेच को जानने वाले साम, दाम, दण्ड, विभेद रूप सर्वांग साधन सयुक्त विजय के पूर्ण अंगो से गुरुदेव विराज रहे हैं॥ २॥

प्रपच-स्नेह तथा सुखाध्यास-रिपु को नष्ट करने वाले नाना प्रकार से सद्रहस्य धारण करनेवाले श्रेष्ठ वीर सद्गुरु सर्वशिरोमणि शोभा को प्राप्त हो रहे हैं। जिसमे नाना प्रकार का सयम[२] है, कुमार्ग को त्याग कर मोह और माया से जो पृथक हैं, ऐसे गुरुदेव ने इस दास को जगत मे दुख दर्शनरूप बूटी पिला दी अर्थात ससार के सम्बन्धियो ने जो सुख के तीर मारे थे उनके निकालने के लिये ''जगत दुखपूर्ण है'' इस दुखरूप बूटी को खिलाकर गुरुजी बल भर दिये॥ ३॥ मानसिक व्याधि से रहित, सत्यस्वरूप ज्ञानबल से पूर्ण, ऐसे गुरुदेव को देखते ही

---

१ दृष्टान्त—एक ही कुटुम्ब के कौरव और पाण्डवो को युद्ध-विद्या सिखाने वाले द्रोणाचार्य सबके गुरु थे। द्रोणाचार्य ने ही सबको बाणविद्या सिखाई थी, पर बाणविद्या मे सबसे निपुण और अनुभवी अर्जुन निकले। कौरवो को गुरु द्रोणाचार्य पर बडा अमर्ष था कि गुरु ने अर्जुन को हम लोगो से विशेष विद्या पढा दी है, जिससे हम लोग हार जाते हैं। यह बात द्रोणाचार्य के जानने मे आ गई, तब द्रोणाचार्य ने कौरवो और पाण्डवो को बुलाकर कहा कि मैंने सबको निष्पक्ष भाव से बराबर ही विद्या पढाई है, कम-विशेष हो जाने मे अपने-अपने घट के पूर्व सस्कार ही सहायता देते हैं। यही कारण है कि एक ही गुरु से शिक्षा लेते हुए भी उसी बात मे किसी को विशेष अनुभव है, किसी को कम। यदि अर्जुन बाणविद्या मे सबसे विशेष हैं, तो उसका पूर्व कर्मरचित अन्त करण बलवान है, जिससे तुम लोगों के समान ही शिक्षा लेते हुए भी बाणविद्या मे तुम लोगो से विशेष अनुभवी हो गया है। यदि तुम सबो को इसमे सदेह हो तो मैं इसकी परीक्षा करा दूँ।

ऐसा कहकर द्रोणाचार्य ने आज्ञा दी कि एक बकरा लाओ, तुरन्त बकरा लाया गया। बकरे को कुछ दूर पर खडा कर दुर्योधन आदि कौरवो से द्रोणाचार्य ने कहा—इस बकरे के पीछे खडे होकर ऐसा निशाना मारो कि पहले मुख मे होकर पीछे मलद्वार से बाण निकल जाय। कौरवो ने देखा कि बकरे का पीछा भाग हमारे सामने है और मुख तो दूसरी तरफ है, बकरे के आगे की तरफ जाना मना है, पीछे से तीर मारने पर मुख मे कैसे जायेगा? यह बात कौरवो में से किसी के जानने मे न आई। फिर द्रोणाचार्य ने अर्जुन को बुलाया और बकरे के पीछे खडे होकर मुख मे तीर मारने की आज्ञा दी। सुनते ही अर्जुन विचार मे पड गये, दो क्षण बाद बुद्धि के यथार्थ निश्चय से अर्जुन तीर चढाकर बकरे के पीछे खडे हो धनुष की प्रत्यचा को कान तक खींचते हुए जोरो से ''अर्रे'' शब्द बोले, त्यों ही बकरा मुख घुमाकर अर्जुन की तरफ देखने लगा, बस अर्जुन ने उसी क्षण तीर छोड दिया, यह देख कौरव दग रह गये। द्रोणाचार्य ने कहा—देखा! विद्या तो हमने सबको बराबर ही सिखाई है, पर ''अर्रे'' की विद्या स्वय अनुभव है। इसी भाँति मन मे और बाहरी तरफ कुसग, कुभावना और सुखाध्यास जो-जो बन्धन होने के औरेब जिस-जिस प्रकार के आते हैं उसी-उसी प्रकार शीघ्र अनुभव की युक्ति से गुरुदेव मन का दमन कर देते हैं। ऐसे सर्वांग साधन अनुभव युद्ध की विद्या पूर्णरूप से गुरुदेव मे विराजमान है।

२ विषयरूप कुपथ्य का त्याग सयम है, कुसग का त्याग, प्रमाद रहित या देखने-सुनने, देने-लेने, चलने-फिरने, त्याग-ग्रहण सब क्रियाये केवल स्वरूपस्थिति ही के लिये करना। ''सद्गुरु वैद्य वचन विश्वासा। सयम यह न विषय की आशा''॥ रा०॥

मनोदलरूप शत्रु लज्जित हो जाते हैं। मनरिपु को जीतने मे वडे भयंकर गुरुवर शूरवीर हैं, उन्होने मन को जीतकर विजयपत्र ले लिया है ॥ ४ ॥ वे सद्‌गुरु दया, क्षमा, विचार, एकरस सत्य व्रत तथा पवित्र साधुवेषयुक्त प्रत्यक्ष दर्शित हो रहे हैं। तन-मन के सर्व तापो से छुड़ाने वाले हैं। उनके दर्शन करते ही हृदय ठडा हो गया। "चौ०—उदासीन पट अचला बाँधे। ब्रह्मचर्य कोपीन को साधे ॥ दया चिह्न इक कण्ठी राजे। नम्र दृष्टि सब शुभ गुण छाजे ॥ अहो! धन्य गुरु साधु सुपथी। इनहिं ध्यान धरि छूटत ग्रन्थी ॥ धन्य धन्य गुरुदर्शन पाये। पाप ताप सब दूरि वहाये ॥" ऐसे सद्‌गुरुदेव दैहिक, दैविक, भौतिक तीनो तापो से छुड़ाने वाले हैं जिनका दर्शन करते ही सशय सतप्त हृदय शीतल हो गया ॥ ५ ॥ सर्व कुटुम्वी स्वार्थवश एक-एक के मोहपाश मे जकड रहे हैं, वे सब सबके ऊपर काम-क्रोधादि शस्त्रो को चलाकर सब सबसे पीड़ित हो रहे हैं, पर गुरुदेव विना इस वात की किसी को पारख नहीं होती[१] इन प्रपच जालो मे कृपा कर सद्‌गुरु ही सम्मुख आये हुए निर्छल जिज्ञासुओं को छुडा देते हैं ॥ ६ ॥

पूर्वोक्त जगत-सम्वन्धियो मे हम भी मानसिक वेगो मे चोट खाये हुए वन्धन मे गिरे पडे हैं। इस जडाध्यास मोहादि वन्धन से छूटने की कोई युक्ति नहीं सूझती। क्योंकि वे ही अपने माने हुए सम्वन्धी विविध युक्तियों से मुझे वन्धन मे डाल रहे हैं। यहाँ तक कि परमार्थ का जो मुख्य प्राणाधार-गुरुभक्ति, शुभाचरण है, उन्हे धारण करने में भी वाधा डालते हैं। जव वे सत्सग भक्तियुक्त परमार्थ रूप प्राण ही हरण कर रहे हैं तो वैराग्य विवेकादिको से रक्षा कैसे

---

१ दृष्टान्त—क्षत्रियो के कई युवक लडके शहर गये। वे सव सलाह करके शराव की कई बोतले लेकर चले। घरवाले लोग जान न सके, इस कारण आपस का खेत जहाँ वारह बीघा गन्ना दूर तक लगा था, उसके वीच मे जहाँ-तहाँ खाली भूमि पडी थी। सव युवक सलाह कर उसी गन्ने के खेत मे गये और सबके सब खूब शराव पीकर मदमस्त हुए। पुन मदाध हो उपद्रव करने लगे। पूर्व के भावनावश उसी गन्ने मे अपनी-अपनी तलवार चलाते हुए कहते जाय कि "अस पियो कोइ जाने ना" "अस पियो कोइ जानै ना" ऐसा वकते हुए वारह बीघा गन्ने को ध्वस कर डाले, फिर भी नशा न उतरा। पश्चात उसी नशे में अपनी-अपनी तलवार चमकाकर आपस मे कहने लगे कि तुमने हमारा गन्ना क्यों नष्ट कर डाला? अच्छा रहो! वस खपाखप तलवार चलने लगी। कुछ घायल हुए, कुछ मरे। ऐसा होते ही गाँव मे पता चला तव सव क्षत्रिय लोग अपने लडको के मोहवश दौडे। उन लोगो ने समझा कि ये लडके दुश्मनी से लड रहे हैं। फिर क्या था, पूर्व क्षत्रियो का स्वभाव, उनमे तीर तलवार चलने लगे, जो जिधर के पक्षी थे उसके मोहवश दूसरे के पक्षी का गला काटने लगे। गाँव मे हलचल मच जाने से वडा भारी दगा हुआ। वाकी जो वचे थे सबके सब मरने-मारने पर उतारू हुए। इतने मे सरकार को खवर मिली। तुरन्त पुलिस ने आकर क्षत्रियो की लडाई को वन्द कराया।

भाव—ठीक ऐसे ही अज्ञानरूप मदिरा पिये हुए एक दूसरे को अपने माने हुए स्वार्थ मोहवश पहले तो शरावरूप विषय-नशा में प्रवृत्त कराते हैं, पुन स्वार्थविषय मे मतवाले होकर कौडी-कौडी, दमडी-चमडी तथा वीता भर जमीन के लिये झूठी-झूठी गवाहियाँ देकर मुकदमेवाजी करते हैं, हिसा, चोरी, व्यभिचार करते हैं। इतने मे भी जव नशा नहीं उतरता, तो पुन अपनी ही जाति सगे भाई-भाई, पिता-पुत्र, देश-गाव मे ही तीर, तलवार, वन्दूक आदि चलाकर लडते कटते हैं, यह वात सवको प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार अज्ञान-नशे मे मदमस्त हो मोहवश स्वार्थमय दुनिया गुरुदेवरूप सरकार की शरण गये विना अपना कुकर्तव्य छोड नहीं सकती।

कर सकेगे। अहो। ऐसी दशा मे जिज्ञासु को जो कष्ट होता है वह वही जान सकता है॥ ७॥
सुख और लोभ के तीर चढाकर इन्द्रियासक्त जगत-जीव मेरे हृदय मे ऐसा निशाना मारते हैं कि उनका निकलना दुस्तर है। वे विषय-प्रलोभन-रूप तीर सम्पूर्ण दुखरूप जहर से बुझाये गये हैं। जहर मे बुझाया हुआ तीर लगते ही शरीर भर मे विष फैला कर मार डालता है। वैसे वे भोगरूप तीर लगते ही मन-इन्द्रियो मे आसक्ति रूप जहर फैलाकर मेरे विवेक-वैराग्य जीवन-प्राण को नष्ट कर देते हैं। अहो। कितना कष्ट है। एक तो उन देह सम्बन्धी लोगो के चलाये गये तीरो से घायल था ही कि शत्रुओ के पक्षधर बडे-बडे सुभट अज्ञान-भ्रम विषयासक्ति को पुष्ट करने वाली नवयुवतियाँ और अनेक कुसगी पुरुष मिले तथा परमार्थ की ओट जगत-बन्धन ही को पुष्ट करने वाले अनेक देहवादी या भ्रमिक मतवादी मिले जो कि अपनी-अपनी तमाम युक्तियाँ करके विषयासक्ति से जीवन लाभ दिखाये। विषय विलासिक पदार्थो की उत्पत्ति-वृद्धि हेतु छल, कपट, विश्वासघात, वाक्यजाल मे बढना-बढाना इत्यादि अनत तीर अरिदल के पक्षी मेरे ऊपर चलाते भये॥ ८॥

उन परमार्थ बाधको के चलाये हुए वचनबाणो से मेरा हृदय घायल होकर मेरी बुद्धि परमार्थ से चलित हो गई। मै घायल हुआ सत्सग, साधन विचार से हिम्मत हारते हुए विषयासक्ति मे धँसने की इच्छा कर कल्याण मार्ग से मूर्छित हो गया। गुरुमार्ग से रुकने की तैयारी मे था कि इसी हालत मे सद्रहस्य लक्षणयुक्त सहायक श्री गुरु पहुँच गये। वे हमारे सामने आकर अपने यथार्थ निर्णयरूप शीतल वचनो से हाँक देकर अर्थात जोर देकर सम्यक सब बाते समझा के मुझे जगा दिये, जिस परमार्थ को मैं भूल रहा था उसे पुष्ट कर दिये॥ ९॥
पुन॰ उसी समय मेरे पूर्व जन्मो के कुछ सचित शुभ सस्कार भी उदय होकर सहायक हो गये। जिससे शत्रु के आये हुए सुखाध्यास रूप तीर के लगने पर भी ससार के विषयसुखो मे दुख ही दुख दिखाई देता था। इस दुखदृष्टि से परमार्थ श्रद्धारूप मेरे प्राण बच रहे थे। इतने मे परमार्थ धर्म रक्षक श्री गुरु को साधु भेष मे सामने देखकर मुझे भी धैर्य आ गया कि अब मेरा शत्रु मुझे मार नहीं सकता। बल्कि गुरुदेव के सहारे से लडने मे हिम्मत भर गई और धीरज के अग मेरे मे आ गये॥ १०॥

गुरुदेव ने पुकार कर कहा—हे जीव। तू सजग हो और कमर कसकर सम्हल जा, हम तेरी रक्षा करने वाले है। अरे। अजर, अमर, अविनाशी शुद्धस्वरूप तू है और तेरा शत्रु अज्ञान मनोमय भ्रममात्र है। तू मात्र सम्हल जा, शीघ्र सम्हल जा। अपने अविनाशी स्वरूप का ख्याल करके उठ-उठ, और ये हमारे सद्गुण शस्त्र ले। ऐसा कहकर गुरुदेव दयादि शुभगुणो को देते हुए विवेक, वैराग्य, नैराश्य आदि सम्पूर्ण शस्त्र सम्पन्न करके मेरे मे शत्रु नाश कर देने की पूर्ण सामर्थ्य भरते हुए मुझे शत्रुदल के सिर पर कर दिये। यथा—

कवित्त

जागु जागु पागु पागु लागु लागु गुरुमग, सनमुख शत्रु सब आय छाय लिये है।
देखु देखु चेतु चेतु हेतु हेतु जान निज, तेरेहि से शक्तिमान शत्रु सब जिये हैं॥
सेतु सेतु केतु केतु रेतु रेतु लत आदि, गुरुज्ञान प्रीतियुत पान करु हिये हैं।
धेतु धेतु एतु एतु लेतु लेतु बोध बल, करु निरमूल शत्रु अवसर दिये हैं॥ ११॥

गुरुदेव के निर्णयवचन रूपी सजीवनी रस हृदय मे पहुँचते ही विषय-मनोरथ रूप शरीर के सब दुख-दर्द दूर हो गये। गुरुदेव भोगेच्छा रूप दुख-दर्द दूर करते हुए पुन॰ साहस हिम्मत दे-देकर हमे परमार्थ मार्ग पर दृढता करके खडा किये, बन्धन देने वाले जगत-प्राणियो के जो आसक्ति ममतारूप चलाये बाण थे, जो कि मेरे हृदय मे धँस गये थे, गुरुदेव ने पारख रूप चुम्बक द्वारा इशारे मात्र से खींच लिया। किस प्रकार गुरुदेव साहस दिये, सो सुनिये—

सवैया

हे तव रूप अखण्ड परीक्षक, ये मन तेरोहि कल्पित खेला।
वन्ध्या के पूत शशा कर शृङ्ग जु, ये मन आदत सुक्ख झमेला॥
धर्महि मात से क्यो तू डरावत, बोध ले शोध जो शीघ्रहि ठेला।
अनत गुना बल याद करी निज, देख दे रोष से भागहि सेला॥

इस प्रकार जब गुरुजी बार-बार साहस दिये तब शत्रुनाशक शक्तियो से पूर्ण हो गया॥ १२॥ ऐसी शक्तियो से पूर्ण ज्यो ही मुझे देखा त्यो ही मोह शत्रु की सेना विचलित हो भाग गई। अब इस समय मे श्री गुरु और गुरु का चरणसेवक दोनों शत्रु त्रासरहित शूरवीर रूप शोभा को प्राप्त हुए समरक्षेत्र मे दिखाई दे रहे हैं। पूर्वोक्त दोनो दल [गुरु-विवेक सैन्य, उधर मोह सैन्य] निज-निज दावँ-पेच परस्पर चला रहे हैं, किन्तु मोह सैन्य का एक भी सैनिक दिग्विजयी गुरुदेव से विजय नहीं पा सका। सद्गुरु के सत्य पक्ष की सदा विजय निश्चित है॥ १३॥

दृष्टात—एक बहादुरसिह नामक क्षत्रिय शत्रुओ के मानमर्दन करने वाले युद्धविद्या मे कुशल और बडे शूरवीर थे। वे ब्रह्मचर्ययुक्त रहते थे। उनका दूसरा भाई शोभासिंह देश का राजा था। एक बार शोभासिंह के ऊपर दूसरा बलवान शत्रु प्रबल सेना सहित चढ आया। प्राण सकट से मोर्चे पर अपनी फौज सहित शोभासिंह जा अडा। थोडी देर तो फोज लडी, बाद मे सैन्य सरदार मार डाला गया। शोभासिंह की फौज भागने लगी। शोभासिंह घबराया। इतने मे बहादुरसिंह को किसी प्रकार यह खबर मिली। शीघ्र ही बहादुरसिंह श्रेष्ठ घोडे पर सवार होकर रणक्षेत्र की तरफ आये और भागते हुए मनुष्यो से कहा—अरे वीरो! भागते क्यो हो? वीरो ने कहा—सैन्य सरदार मारा गया, शत्रु बलवान है।

बहादुरसिह ने कहा—लडने वाले तो सब तुम्हीं हो, एक के मरने से क्या होता है! अरे, वीर पुरुषो को रण से भागकर जीने से रण मे मर जाना अत्यन्त श्रेष्ठ है, इतने दिन स्वामी का नमक खाकर कायर मत बनो। "सर्वस खाय भोग करि नाना। समरभूमि भा दुर्लभ प्राना॥" के समान मत करो। एकदम जोश भर कर शत्रु पर टूट पडो। बहादुरसिंह इतना कहकर सिंहनाद करते हुए शत्रुदल की ओर बढा, पीछे से सब सेना बल पाकर शत्रुदल पर टूट पडी। बहादुरसिंह के सिंहनाद एव अस्त्र-शस्त्र से शत्रु की सेना घबडाने लगी। उस समय लडाई मे शूरवीरो का क्षण-क्षण जोश बढता जाता था। कायर चुपके-चुपके भागने की तेयारी मे थे। बहादुरसिंह का अत्यन्त बल पाकर शोभासिंह को नवीन बल प्राप्त हुआ। बस वह भी वीररस मे भरा हुआ थोडी ही देर मे शत्रु के अस्त्र-शस्त्र काटकर शत्रुदल सहित चढे राजा को जडमूल से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उस समय बहादुरसिंह की सहायता से शोभासिंह ने रिपु पर विजय

कर ली। शत्रु-त्रासरहित सेना सहित अपने भाई शोभासिंह से युद्धविद्या का सब हाल कहते हुए बहादुरसिंह राजभवन मे आया। शोभासिंह बार-बार बहादुरसिंह के चरणो मे पडा और जीवनपर्यत शत्रु से बचाने का उपकार याद रखते हुए बहादुरसिह का चरण सेवक बना रहा।

सिद्धान्त—शोभासिंह जीव है। यह काम, क्रोध, विषय आदत लतो से घिर गया है। आसक्तिप्रेरक जगतजीव भी चारो तरफ से इसको घेर लिये हैं, जिससे कि यह जीव स्वय-स्थिति सन्मार्ग से पछाड खा रहा है। सन्मार्ग से हताश हुए इस जिज्ञासु जीव को प्रबल पुरुषार्थी सद्गुरुदेव सब बल देकर सन्मार्ग पर चलाते हुए मन पर विजय प्राप्त करा कर जीवन्मुक्त करा देते है। बस इसी प्रकार मुझको पारमार्थिक रणक्षेत्र मे मन राजा के सम्मुख हारकर भागते हुए सुखाध्यास मे गिरते पडते देखकर गुरुदेव ने सहायता दी। वह सहायता यही है कि जो जगत के पदार्थो मे सुख निश्चय हो रहा है, उसके बदले पूर्ण रूप से दुख निश्चय करा दिये। बोध तथा सब साधन रूप शस्त्र दिये, जिससे शिष्य उसी बूटी को पाकर बल भर जाने से अज्ञानरूप शत्रु को जीत लिया। पश्चात मुमुक्षु और सद्गुरु सग्रामभूमि मे विजय किये हुए परस्पर निर्णय की चर्चा कर रहे है। अब यह दास गुरुदेव के अनन्त उपकार को कभी नही भूलेगा, क्योकि स्वय पार होते हुए दूसरे को भी पार करने वाला गुरुदेव के अतिरिक्त और कोई नही दिखाई देता॥ १३॥

सवैया—२

काम को मारिकै धर्म सॅभारहिं, त्याग किये सब भोग जगै।
सत्य सहॉयक भर्म नशावन, आप स्वरूप के ज्ञान पगैं॥
जग पार बसै सब लोभ तजे, नहिं द्वेष के मारग जाय लगै।
मन राखि सदा अपने वशि मे, कहुँ लागि न जाय व जगत मगै॥

टीका—गुरुदेव कैसे हैं कि काम अष्ट मैथुन[१] की आई हुई वृत्तियो का नाश करते हैं। जिससे अपना और अन्य जीवो का दुख छूटे, सो दया, क्षमा, शीलादि शुभाचरणरूप धर्म को श्रीगुरु सॅभालते अर्थात स्वयं भली प्रकार गहते और अधिकारी के अनुसार अन्य को गहाते हैं, अच्छे माने हुए जगत के सुखभोग दुखपूर्ण जानकर छोड देते हैं। सद्गुरु सदा सत्य के सहायक हैं। मन, वाणी, आचरण द्वारा यथार्थ वस्तु व बर्ताव को ही पुष्ट करते हैं और जीव की विपरीत समझ का नाश करने वाले ऐसे गुरुदेव स्वय स्वरूपज्ञान की एकरस स्थिति बनाने ही मे तल्लीन रहते है, पुन· मनोमयरूप अन्तर जगत और बाहरी जगत के मायामोह से पृथक रहते हैं। भोग, मान, ऐश्वर्य, बढावा, सम्पत्ति-सचय आदि सब लोभ को छोडे रहते है तथा

१　(१) स्त्री को विषयासक्ति भाव से देखना। (२) उसके हाव-भावयुक्त शब्दो को सुनना। (३) सुन्दर घट ओर विषय क्रिया की याद करना। (४) भोग तथा घटो की सुन्दरता वर्णन करना। (५) भोग की गुप्त चर्चा करना। (६) विजातीय घट की भोग प्राप्ति का दृढ सकल्प करना। (७) उसके लिये प्रयत्न करना। (८) प्रत्यक्ष स्त्री-पुरुषों का आलिंगन। ये अष्ट मैथुन हैं, अथवा किसी भी प्रकार शक्ति नाश करके सुख मानना ये सब मैथुनान्तर्गत ही हैं। इनकी वृत्तियो का जडमूल से नाश कर स्वधर्म सम्हालते हैं।

वैर होने के मार्ग ही नहीं पकडते। बैर के पंथ अभिमान, वलात्कार, विषयासक्ति, कटुवचन, विवाद, विरोधीसग इनको गहना कौन करे इनकी भावना तक उठने नहीं देते। मन को स्ववश रखते हुए निरन्तर अटूट पुरुषार्थ गुरुदेव करते हैं कि जन्मने-मरने का मार्ग जो विषयासक्ति, राग-द्वेष सूक्ष्म कामना आदि है कहीं उनमे न मन लग जाय, अर्थात साधन अभ्यास से कृतकृत्य होने के पीछे भी विशेष सजग रहते है। ऐसे गुरु प्रत्यक्ष लक्षणो युक्त हम सरीखे कोटिन जीवो को कृतार्थ कर रहे हैं। दोहा—"जननि जनक नामौकरण, विद्या दान दे मंत्र। ब्रह्म वोध दै वीज भव, ये सव गुरुहि बदत॥ सर्व कार्य के गुरु वहुत, इक इक के सिरताज। खानि वानि परखावहीं, बिरले गरीब निवाज॥ विषयफंद से रहित जो, भर्म नहीं है कोय। निज स्वरूप मे थीर जो, सतगुरु कहिये सोय॥" चौ०—"गुरु दाता गुरु लक्षण ध्यावे। सदा एकरस गुरु पद पावै॥"

प्रसंग २—भक्ति का फल, हेतु और साधनादि

शब्द—३

करै गुरु भक्ति ज्ञान धन लूटै॥ टेक॥

धर्म करै तेहि सुख को भोगै, पुन. देह धरि जूटै।
भक्ति किहे से मुक्ति को लेवै, जग व्यवहार न घूटै॥ १॥
छोडि कुसग सुसग में लागै, मिथ्या खर्च से छूटै।
होवै शक्ति बिफल नहिं तनकी, निज कारज मन पूटै॥ २॥
तृष्णा रहित सो सुख को पावै, यकरस चाल अटूटै।
यश होवै तेहि भलेपने को, मग अधरम नहिं लूटै॥ ३॥
देह स्वभाव शुद्ध सब होवे, जिव अज्ञान न कूटै।
कहै कबीर सुफल तेहि काया, जन्म मरण तेहि टूटै॥ ४॥

टीका—पूर्वोक्त कहे गये लक्षण जिनमे वर्तमान हैं, ऐसे गुरुदेव की जो प्राणी भक्ति, आज्ञा पालन, सेवा आदि करता है उसको यथार्थ ज्ञानरूप अनंत धन लूटने को मिलता है। उसे इच्छा पूर्ति ज्ञानधन प्राप्त होता है। इसलिए हे नर-नारियो! ज्ञान-धन की प्राप्ति के लिए धन, मन, समय, शरीर, शक्ति सब खर्च कर गुरुभक्ति मे परिश्रम करो॥ टेक॥ जगत-सुख की इच्छा रख कर जो प्राणी धर्म करता है उसे पुनः देह धरकर जगत के इच्छित सुख प्राप्त होते हैं। साथ ही धर्म सस्कार से भक्ति मे मन लगता है, धर्म सहित भक्ति करते-करते मुक्ति मिल जाती है। यदि स्वरूपज्ञान सहित वासना ध्वस मे कुछ कसर रह गई हो तो भक्ति के प्रताप से एक-दो जन्म मे वासनाध्वस होकर जन्म-मरण रहित मुक्ति स्थिति अवश्य मिल जाती है। यथा—चौ०—"ज्ञान भक्ति सतन कर संगा। करत-करत सुकृत बढि अगा॥ बिपुल जन्म के सुकृत जागे। मिलै मोक्ष सयोग सुभागे॥" भक्तिमान मनुष्य का खिचाव जगत-व्यवहार के विकारो मे नहीं होता, अर्थात विकारी व्यवहारो को वह नहीं ग्रहण करता॥ १॥ सद्गुरु की भक्ति करने वाला मनुष्य कुसग मे नहीं धँसता, सत्सग मे उसकी लव लग जाती है। तव तो नाच, रग,

जुआ, मद्य-नशाग्रहण आदि उसकी व्यर्थ आदते सब त्याग होकर राग-द्वेष कृत अनेको आपत्तियो से वह छूट जाता है और अनर्थ के खर्चों से भी बच जाता है तथा उसकी शारीरिक शक्ति निष्फल नहीं जाती। इस शरीर से वह अविनाशी जीव का काज कर लेता है, मन भी उसका इधर-उधर न जाकर निज हित हेतु ज्ञान, भक्ति, वैराग्य मे दृढ हो जाता है॥ २॥

उसे तृष्णागत सतोषामृत का निर्मल सुख मिल जाता है, एकरस शुद्ध मार्ग मे अखण्ड लगन लगी रहती है। बड़े मनुष्यो में गणना होकर उसकी सुकीर्ति होती है। वह कभी अधर्म मे नहीं फँस सकता, यह सब भक्ति का फल है॥ ३॥ भक्ति करने से देह-इन्द्रियों के स्वभाव, विषयासक्ति आदि खराब आदते छूटकर शुद्ध स्वभाव धारण हो जाते हैं, इसलिए जीव को अज्ञान रूप यमराज फिर नहीं कूट सकता। सद्गुरुदेव कहते हैं कि उसका देह धरना सफल हो जाता है, पुन: देह धरने और छोड़ने के दुखो से वह पार होकर सदा के लिये सतुष्ट हो जाता है। जो कोई भक्ति-मार्ग ग्रहण करता है उसे ये सब फल मिलते हैं॥ ४॥

दृष्टांत—एक सतलाल नामक मनुष्य गृहस्थाश्रम मे रहता था। वह संतो का सत्सगी, सत्य स्वरूप का जानने वाला, सबके साथ शील, दया, धर्म से बर्तनेवाला सद्गुरुदेव का परम भक्त था। जैसा वह था वैसी ही उसकी पत्नी भी सुशीला, सतोषी और समझदार थी। दोनो का स्वार्थ-धन परमार्थ सौदा के ही लिए था। उसके शुभाचरण न्यायप्रिय सादगी बर्ताव से शत्रु-मित्र सब उसको अच्छा समझते थे। एक बार का हाल सुनिये, उसी गाँव में एक दुराचारी मनुष्य था, जो कि अन्य के खेतपात, घर, धन, सुन्दर स्त्रियो के हरण करने की इच्छा से सब जगहो में दूसरे के साथ अन्याय तथा जबर्दस्ती से बर्तता था। समय पा जाने पर मारकाट, लूटफूँक, विश्वासघातादि से वह डरता नहीं था। उसे निश्चय था कि इन्द्रियो के भोग सत्य हैं, जो-जो मन मे उठे उसे हम पूरा करेगे। संसार के सब सुख हमहीं को चाहिये, दूसरा उसको क्यों भोगे! इस इच्छा से वह दिन-रात वायुवेग के समान धर्माधर्म की परवाह त्यागकर धन एकत्र करता था। इसीलिए वह लोभ और तृष्णा का रूप बना हुआ सब ग्रामवासियो को सताने से ग्राम भर का बैरी बन चुका था। वह सबके दिल मे खटकता रहा।

एक दिन गेहूँ से भरी हुई उसकी बैलगाडी किसी तराई के दलदल मे फॅस गई। उसने क्रोधवश बैलों को मारते-मारते बेदम कर दिया। सन्ध्या होकर अँधेरा होने लगा था। वहाँ चोरो का भय था। वह दोपहर से सन्ध्या तक उसी बैलगाडी को निकालता रहा तो भी गाडी न निकली। यह बात सतलाल ने सुनी। उसके ऊपर भारी विपत्ति देखकर अपने विश्वासी मित्र को समझाते हुए मजबूत चार बैलो को ले गया और उससे कहा—आप अलग होइये, मैं आपकी गाडी निकाले देता हूँ। वह तुरन्त उन बैलो को गाडी मे लगाकर हॉकते हुए स्वय जोर भर कर कहा—आप भी पीछे से जोर लगाइये। बस बैलगाडी दलदल से निकल गई। वह मन मे सकुच गया कि मैंने इन भक्तराज के साथ भी बहुत बार अनीति की थी तो भी इन्होने उसका ख्याल न कर हमारी सहायता की है, धन्य-धन्य ऐसे प्राणी को! अन्य लोग भी कहने लगे कि भाई हम लोगो से ऐसा सधना कठिन है, जैसे सतलाल ने इसके साथ भलाई की है।

एक बार उस मनुष्य से ग्रामवासी बहुत दुख पाकर उसे मार डालने की तैयारी मे थे। सतलाल यह बात जानकर मारने वालो मे मुख्य प्रधानो को समझाकर कहा कि आप लोग हिसा मत कीजिये। आप लोगो को कुछ कष्ट मिलने का प्रारब्ध होगा तो एक के मरने पर दूसरा

कष्ट देनेवाला पैदा हो जायेगा। सहन करने से तप की पुष्टि होती है, तप से मनुष्य का कल्याण होता है। इस वात को अगर न मानोगे तो इस हिसारूप घोर पाप से कष्ट ही होगा, अतः मेरी सम्मति तो यह है कि आप लोग सरकार से ही अपना फेसला कराइये। यदि यह सम्मति न मान कर हिसा ही करोगे, तो तुम लोगो को भी फाँसी-जेल सजा की नोवत आयेगी, इससे फल ही क्या होगा! सदा भयभीत रहना पडेगा। इत्यादि बाते समझाकर उन लोगों को हिसा करने से वचा लिया। एक बार सतलाल कहीं जा रहे थे, रास्ते मे प्यास लगने से एक कुआँ पर पानी भर कर पिया। फिर उसने वहाँ एक थैली पडी देखी, उसको उठाया, खोलकर देखा तो उसमे पाँच सो रुपये के नोट वन्द थे। वह विचारने लगा, यह द्रव्य जिसका है वह खोया जानकर वहुत दुखी होगा। वहाँ ही पक्की सडक थी, सडक से कई वैलगाडियाँ दूर जाती दिखाई दीं। सतलाल ने विचार किया कि इन्हीं मे से किसी की यह थेली भूल से रह गई है। वे दोड़े। दौडते-दोडते गाडीवालो से पूछा कि भाई! तुममे से किसी का कुछ सामान तो नहीं रह गया है? इतने मे गाडीवालो मे से एक मनुष्य चाक पडा कि अरे! हमने कुआँ पर नोट की थैली निकाल कर रक्खी थी वह वहा ही रह गयी है। शीघ्र अपनी गाड़ी रोककर कहा—भाई साहव! मैं गुड बेचकर आ रहा हूँ, उसी का मिला हुआ दाम पाँच सौ रुपये हमारे वहाँ रह गये हें। सतलाल ने तुरन्त थैली पकडा दी और कहा कि भूल हो ही जाती है, पर ऐसी गाफिली न करनी चाहिये। उस गाडीवान ने सतलाल को सादर प्रणाम किया और कहा कि धन्य-धन्य आप साधुरूप हैं। एक वे पुरुष हैं कि दूसरे के द्रव्य को जबर्दस्ती छीन लेते हैं और पराई धरोहर को गुम कर जाते हैं, ओर एक वे पुरुष हैं कि जो पाये हुए द्रव्य को भी जिसका है उसी को सॉप देते हैं।

सतलाल ने कहा—इसमे हमारी विशेषता कुछ नहीं है, वात यह है कि मुझे सद्‌गुरुदेव की भक्ति प्रिय है, भक्ति से यथार्थ ज्ञान होता है, ज्ञान से ही हमे यथार्थ सतोष की प्राप्ति हुई है। दूसरे की वस्तु कौन कहे, मैं अपनी ही वस्तुओ को त्यागने योग्य समझता हूँ। मेरा यह निश्चय हे कि आश्रम मे रहते हुए साल-माल मे कुछ सत सेवादि परोपकार तथा सम्वन्धियो आर अपने तन ढाकने के वस्त्र, पेट भरने मात्त अन्न, शुद्ध निर्वाह मात धन का व्यवहार, कामधन्धा मनुष्यो को काफी है और विशेष धनादि तो तृष्णा उत्पन्न करके राग-द्वेष मे जलाया ही करते हैं। जिससे रोग ही न मिटे वह दवा काहे की! जिससे तृष्णा ही न वुझे वह धन-जन काहे का! इतना कहकर सतलाल अपने घर चला गया। इस प्रकार दया, धर्म, परोपकारादि भक्ति के प्रताप से सव शुभ गुण संतलाल में विराज रहे थे, जिससे उसका निष्कलक यश फैल रहा था। धीरे-धीरे वह सत्संग करते-करते इन्द्रियो को वशकर साधन सहित अत मे गृहजाल की सूक्ष्म जडासक्तियो को त्याग कर नित्य स्वरूप मे ठहर गया। ऐसे श्रेष्ठ संतोष, एकरस वर्ताव, सुकृतरूप सुयश सहित, पापरहित ये सब गुण गुरुदेव की उपासना से सहज ही मे आ जाते हैं। इसलिए हम लोगो को भक्ति मे मन लगानाा चाहिये। इस पर यह साखी स्मरण रहे—

साखी—*हाथी घोडे धन घना, चन्द्रमुखी वहु नारि।*
भक्ति बिना सब स्वप्नवत, तृष्णा दव की बारि॥

शब्द—४

करो गुरुभक्ति रोग मन छीजै॥ टेक॥

बिन गुरुभक्ति रोग मन बाढै, सब उतपात करीजै।
गुरु की भक्ति सरल मृदु कोमल, बिषय कठोर न लीजै॥ १॥
निज मन को जनि उनहिं करावो, तिन परिशर्म न दीजै।
न्याय धरम को पालन करिकै, गुरु से ज्ञान लहीजै॥ २॥
निज मन को तुम मेटि चलो तहँ, आपनि हानि न कीजै।
गरजी बनि तुम सेवो उनको, निज मन भार न दीजै॥ ३॥
नहिं कोइ हेतु जानि जब उनका, भक्ति सुधामृत पीजै।
सुफल होय तब देह तुम्हारी, मन कृत रोग नशीजै॥ ४॥
नाशमान तन सेवा तुम्हरी, बोध अनाशी चीजै।
लाभ अचल पद मिला तुमहिं जब, समता कौनि करीजै॥ ५॥
शुद्ध स्वरूप सदा गुरु निर्मल, जड़ सम्बन्ध नहींजै।
करहु काह तुम पूरण उनको, श्रद्धा कर्म लहीजै॥ ६॥
त्याग होय सब बंधन तुमसे, या हित धर्म करीजै।
सकाम करम करि जग सुख भोगै, सब बिधि काज सरीजै॥ ७॥
भक्ति सजीवन के बिन धारण, दुःख न कबहुँ मिटीजे।
कहैं कबीर मुख्य यह दिक्षा, ऐसी रहनि रहीजै॥ ८॥

टीका—हे दुख न चाहने वाले! श्री गुरुदेव की भक्ति धारण करो जिस भक्ति के करने से मन के रोग—काम, क्रोध, लोभ, मोहादि सब नष्ट हो जाते हैं॥ टेक॥ गुरुदेव का आज्ञापालन आदि भक्ति न करने से यथार्थ विवेक साधन नहीं होता, विवेक साधन बिना मन के रोग बढ जाते हैं। कामादि मनोविकार बढ जाने पर आसक्तिवश जगत के अधर्म, अनीति, जबर्दस्ती, हिसा, घात आदि सब उत्पात करना पडता है। जिसका फल अपमानादि प्रत्यक्ष बन्धन, चिंता, कल्पना यहाँ तक कि कारागार के कठिन दण्ड भोगने का प्रसंग आ जाता है। गुरुदेव की भक्ति सीधी, हितैषी और कोमल है। उस भक्ति को धारण करने के लिए विषय ग्रहण रूप कठोरता नहीं लेना चाहिये॥ १॥ गुरुदेव को अपने मन के अनुसार न चलाओ, बल्कि तुम्हीं गुरुदेव की इच्छा के अनुसार बर्ताव करो। गुरुदेव को अपनी तरफ से परिश्रम का भार न दो। शिष्य का जो धर्म है उसे धारण कर नाना प्रकार से सेवा भक्तियुक्त दया, क्षमा आदि न्यायपूर्वक बर्तते हुए सद्गुरुदेव से शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करो॥ २॥ गुरुभक्ति मे अपनी मनसा को मिटाकर गुरुदेव जैसी आज्ञा दे या जैसी उनकी मनसा अपने प्रति जान मिले उसी प्रकार तुम चलो। प्रपंचासक्तिवश गुरुमार्ग से विरुद्ध होकर अपनी हानि मत करो। बल्कि अपना गुरु-मार्ग से कल्याण निश्चय करके गर्जी होकर गुरुदेव की निरन्तर सेवा करो और गुरु के प्रतिकूल मनमाने बर्ताव करके गुरु को किसी प्रकार का अपनी तरफ से सकोच, भार, परिश्रम न दो। जो सेवक दासपनयुक्त आज्ञापालन छोडकर मन, वाणी, कर्तव्य द्वारा स्वामी को सकोच मे डालता हे ओर पुनः तिनसे अपना कल्याण चाहता है उसकी मति ओछी हैं। इसलिए जिस प्रकार गुरुदेव को संकोच न पडे उसी भाँति बर्ताव करो॥ ३॥

जब सेवक के मन मे यह निश्चय हो जाय कि हमसे गुरुदेव का कोई स्वार्थ सम्बन्ध नहीं है, बल्कि गुरु से खास कल्याणरूप स्वार्थ की गर्ज हमारी ही है। "गुरुदेव बिना को बोध करै" ऐसा जानकर गुरुभक्तिरूप अमृत का पान करो। इस प्रकार गुरुभक्ति करने से तुम्हारा शरीर धारण करना सफल हो जायेगा। जिसके लिये तुम्हे नरजन्म मिला था वह गुरुभक्ति करने से सहज ही ज्ञान, भक्ति, वैराग्य शुभ साधन प्राप्त हो जायगे। मन से उत्पन्न हुए कामादि रोगकृत वार-बार देह धरना-छोडना, सुख-दुख, हर्ष-शोक, मिलन-विछोह आदि सर्व दुख-द्वन्द्व समूलता से नष्ट हो जायेगे॥ ४॥ तुम जो सेवकाई करते हो उसका भी अभिमान ग्रहण न करो, क्योकि नश्वर शरीर की सेवकाई होने से उसका अन्त है और गुरुदेव जो बोध देते हैं वह स्वय अविनाशी अनत धन अपरोक्ष है। गुरुदेव की ओर से शुद्ध चैतन्य अचल अनत धन मिल गया, तब हम लोग क्या देकर गुरु के उपकार की तुलना कर सकते हैं। सेवकाई आदि तो हम अपने अत करण की शुद्धि निमित्त करते हैं॥ ५॥

अज्ञान और आसक्ति मलरहित सूर्यवत ज्ञानवर्ण शुद्ध चैतन्य गुरुदेव का विमल स्वरूप है, जिनमें भास, अध्यास, अनुमान, कल्पना रूप तम का अत्यन्त अभाव है। ऐसे गुरुदेव रूप महान भूपति को हम लोग किस प्रकार पूर्ण सतुष्ट कर सकते हैं। गुरु तो स्वय सतुष्ट बोध स्वरूप तृप्त हैं, उनके द्वारा ही हम जीवो का बेडा पार होता है। कुछ सेवा साधन आज्ञापालन आदि व्यवहार गुरुदेव का जो हम कर रहे हैं, वह भी उन्हीं की दी हुई दृष्टि का प्रताप है। यदि गुरुदृष्टि न होती तो गुरुमार्ग मे हित जानकर सेवा साधन कैसे किया जाता। जैसे कोई लाख रुपये हमे दे और हमने उसी मे से एक रुपया भँजाकर उनका सत्कार कर दिया, तो अपनी तरफ से क्या किया। पर अपना धर्म पालन करने से अत करण पवित्र हो जाता है। स्वामी के प्रति जो कुछ दास का कर्तव्य है उसको धारण करने से दास का कल्याण हो जाता है। इसलिए हमको चाहिये कि अनादि धन देने वाले गुरुदेव मे अटूट श्रद्धा-प्रेम करके सर्वांग सेवकाई साधन रूप सब शुभाचरण प्राप्त करे, जिससे कृतघ्नतादोष नाश होकर अपने अंत.करण की शुद्धि हो। किये हुए उपकार को भुला देना यह महापाप है, तिस पाप की निवृत्ति सेवा, भक्ति, गुरुमनसा-पालन से ही हो सकती है, अन्य उपाय से नहीं। यद्यपि गुरुदेव स्वयं प्रकाशी सब प्रकार से पूर्ण है, तथापि अपना अत.करण शुद्ध होने के लिए गुरुदेव की भक्ति आज्ञा पालन सेवादि कर्म अवश्य करना चाहिये॥ ६॥

जिससे जीव की जडासक्ति, कुसग, इन्द्रियो के खराब स्वभाव इत्यादि सब विजातीय बन्धन छूट जावे और वह नित्य निर्बन्ध मुक्त हो जाय, इसी ध्येय से तन, मन, धन, वचन समय सब खर्च कर गुरु-उपासनारूप धर्म और बाह्य जीव रक्षादि धर्म करना चाहिये। किया हुआ धर्म-कर्म "खेत बीज[१] के समान" कभी निष्फल नहीं जाता। यदि बन्धन से छूटकर

---

१ जैसे खेत को तो कुछ हानि-लाभ नहीं पर खेत मे परिश्रम करके बीज बोकर किसान लाभ लेता है, तैसे ही भक्ति से लाभ समझे। अथवा पुत्रादि के विवाह होने मे या राजा बादशाह तथा किसी बडे पुरुषो के आने मे स्वागत सहित लोग पैसे, अन्न, वस्त्रादि लुटाते हैं, उसमे राजा आदि को तो कुछ लाभ नहीं पर निछावर करने वालो को विशेष प्रियता के सस्कार पुष्ट हो जाते हैं। तद्वत श्रीगुरु द्वारा नित्य वस्तु की प्राप्ति होने के अत्यत हर्ष मे मोद से सब कुछ निछावर होना चाहिए। जिसका फल अत - करण शुद्ध होकर मोक्षमार्ग की तरफ मन लग जाना है।

मुक्त होने की इच्छा हो तो वे ही धर्मादि मोक्ष मे सहायक हो जाते हैं और यदि स्त्री, पुत्र, घर, धन, सुन्दर शरीर आदि जगत-सुख की इच्छा से इष्टदेव की भक्ति, धर्म-कर्म किया गया तो उससे जगत का सब सुख मिलता है। इस प्रकार "दुहूँ हाथ मनमोदक मोरे" जानकर शुभाचरण सहित गुरुभक्ति को ग्रहण करो॥ ७॥ भक्ति रूप सजीवनबूटी यदि ग्रहण न की गई, तो केवल बचक ज्ञान से अज्ञान और अज्ञान सम्बन्धी जन्म-मरणादि दुख कभी नहीं मिट सकते। गुरुदेव कहते हैं कि मुख्य यही मत है, जिसको दुख-द्वन्द्वों से छूटने की तथा इन्द्रिय, मन, मनुष्यो की परतंत्रता जनित असह कष्टो को निवृत्ति करने की इच्छा हो वह पूर्व कहे अनुसार भक्ति मार्ग ग्रहण करके वैसे ही रहस्य धारणा बनावे॥ ८॥

शब्द—५

हमारे मन गुरुपद शिरहिं धरौ॥ टेक॥

जो कुछु कहैं करौ वहि कामहिं, सुख तजि कर्म करौ।
मन को राखौ गुरु के चाकर, उनके मग बिचरौ॥ १॥
मन राखौ गुरु ज्ञान मनन में, बचन कहो जो शोधि धरौ।
काम करौ जगजाल कटै जेहि, शुद्ध स्वरूप खरौ॥ २॥
कानन श्रवण करौ गुरु निर्णय, मुख से गुरु उचरौ।
हाथन टहल करौ उन बपुकी, तन परिशर्म धरौ॥ ३॥
पाँवन चले जाव गुरु दर्शन, भरमण महि ठहरौ।
रसना गुरु बिबेक से राखौ, ग्रहण प्रसाद करौ॥ ४॥
त्वचा परश सुख रहित रहौ तुम, मनसिज त्याग करौ।
दस इन्द्रिन उपराम बनावो, जिनसे प्रथम भरौ॥ ५॥
तन मन से गुरु कारज लागौ, अन्त नहीं बिहरौ।
तन की शक्ति बनै जो तुम में, यहि मग खर्च करौ॥ ६॥
ज्ञान बिराग मे मनहिं लगावो, प्रेम से काज सरौ।
गुरु की भक्ति में निशदिन बीतै, मानौ जग उजरौ॥ ७॥
सब बिषयन से भागि चलौ जब, निज स्वरूप ठहरौ।
पूरण भक्ति करौ यहि बिधि से, जस तेहि नाम परौ॥ ८॥

टीका—मन कहने से मन सम्बन्धी जीव को उपदेश है, हे मन! गुरुदेव के चरण कमलो मे अपने सिर को धर दे, झुका दे। तिबार सादर बन्दगी-वन्दना करके उनकी प्रसन्नता के निमित्त सब कार्य करे। क्योकि नित्य पद लाभ के लिये गुरुभक्ति का कर्तव्य कुछ कठिन नही[१] है, अतएव स्वकार्य मे समर्पित होवे॥ टेक॥ हे जीव! गुरुदेव जो कुछ आज्ञा देवें, तू

---

१ साखी—मिट्टी मलिन कुठॉव अघ, सिर देकर नर लेत। सिर सॉटे भक्ती मिलै, तो कुछ तेज न चेत॥ भाव—मिट्टी के ढेले-जमीन राज्यादि के निमित्त या मिट्टी के कार्य—सोना, चाँदी, रुपये पैसे के

वही कार्य कर। जगत के स्त्री, पुत, धन, विद्या, अविद्या, ऐश्वर्य आदि का लोभ, इन्द्रियो की आरामतलबी तथा मान-अपमान त्यागकर गुरु आज्ञानुसार सकल पुरुषार्थ धारण कर[१] अपने मन को गुरु का आठो पहर टहलुआ बना दे। इस प्रकार गुरुदेव के ही पथ मे तू विचरण कर॥ १॥ मन को गुरु पारख विचार मे लीन करो। बचन बोलो तो यथार्थ तोल कर गुरुमत के अनुसार और परिश्रम वह करो जिससे जीव का बन्धन छूटे[२]। इस भाँति तुम शुद्ध पारख स्थिति मे टिक जाओ॥ २॥ कानो से प्रपच सुनना त्यागकर, जिससे विजातीय बन्धन छूटता है, स्वरूपस्थिति होती है, ऐसे पारख युक्त निर्णय शब्दो को तू सादर सुन, सप्रेम गुरुदेव के गुण-लक्षण स्मरण करते हुए गुरु-गुरु ऐसे परम पवित्र नाम का बार-बार उच्चारण कर। हाथो से गुरुदेव की आर गुरु के समान सत-महात्माओ की योग्य सेवा टहल कर। शरीर की अमीरी त्यागकर, भली प्रकार गुरुभक्ति के सर्व कार्य करने मे खूब परिश्रम कर॥ ३॥

हे मन! पॉवो से तू तीर्थरूप[३] गुरु-सत के दर्शनार्थ जाया कर। गॉव, घर, कुटुम्ब की आसक्ति त्यागकर तथा रास्ते ही मे अपना ठहराव समझकर भूमण्डल पर विचरण कर। आश्रम सयुक्त रहे तो भी धर्मशाला के समान समझ कर आसक्ति रहित वर्ताव कर। अभक्षसेवन से तो दूर ही रह, निर्वाहार्थ अकुरज मे भी जिह्वा को खट्टे, मीठे, चर्फरे स्वादो मे आसक्त मत कर, गुरु विवेक से निर्वाहार्थ आसक्ति रहित इन्द्रियजित होकर भोजन कर॥ ४॥ हे मन! चमडी का विषय स्पर्श, कोमल-कोमल आराम देने वाली सेज की आसक्ति छोडकर साधन युक्त रहा कर

हेतु और मलिन कुठाँव-स्त्रीसभोग के लिये सिर देकर या जीवनपर्यन्त गुलामी मजूर कर स्त्री, धन, पृथ्वी का राज्य (जमीन) मनुष्य ले लेता हें, जिसका फल उभय लोक मे दुख ही दुख है। यदि सिर देने के बदले मे भक्तिमार्ग मिल जाय तो कुछ तेज भाव न जानना चाहिये, क्योकि तिस भक्ति का फल शुद्ध चैतन्य होकर सदा के लिए मोक्षपद मिलता है।

१ दुख सुख मानामान जो, हानि लाभ चहुँ ओर।
क्यो नहि मन गुरुपद भजे, जेहि मे अविचल ठार॥

२ मेहनत साधन दासपन, सब प्राणिन सिर जान। तो गुरु ओरहि लागु मन, जेहि ते भव दुख हान॥

३ सद्‌गुरु देव के दर्शन की महिमा तीर्थ-व्रतादि से अधिक श्रेष्ठ इसलिये है कि श्रीगुरु चैतन्य ज्ञानमूर्ति सद्‌गुणधाम हें। उनकी शिक्षा, दर्शन-पर्शन का असर अन्त करण पर इतना पडता है कि हृदय के तमाम कुतर्क, कुभावनाये, कलिमल क्षण मे दूर होकर ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं, परमार्थ सूझने लगता है। इसीलिये सब परमार्थी गुरु-सत की महिमा विशेप कहते हैं—

चौ—"मुद मगलमय सतसमाजू। जो जग जगम तीरथराजू॥
दोहा—सुनि समुझहि जन मुदित मन, मज्जहि अति अनुराग।
लहहि चारि फल अछत तनु, साधुसमाज प्रयाग॥
सतसग अपवर्ग कर, कामी भव कर पथ।
श्रुति पुराण कवि कोविद, कहहि सकल सदग्रथ॥ रा०॥"

साखी—"जाको सद्‌गुरु ना मिला, व्याकुल दहुँ दिश धाय।
आँखि न सूझे वावरा, घर जरे घूर बुताय॥ बीजक॥
साँचा साहेब पाय के, नहिं कीन्हा दृढ नेह।
काल फन्द भुगते सोई, चौरासी की खेह॥ पचग्रथी॥

और मुख्य बन्धन काम विषय को जडमूल से त्याग दे। अष्ट मैथुन छोड कर पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का पालन कर। इस प्रकार दसो इन्द्रियो को विषयो से उपराम करना चाहिये, आवश्यक निर्वाह के अतिरिक्त बाकी सुखभोग के लिये क्रिया और इच्छा दोनो त्यागकर प्रारब्धात तक सयम करते हुए इन्द्रियजित होकर ठहरना चाहिये। बिना इन्द्रियजित भये नित्य वस्तु मे टिक नही सकते, इसलिए जिन इन्द्रियो से पूर्व काल मे अज्ञान द्वारा विषयासक्ति वश क्रिया करके अध्यास-मानन्दी भर लिया है, उन्ही इन्द्रियो को जग-प्रपच से घुमाकर गुरु की तरफ लगा के निर्बन्ध-स्वतन्त्र मुक्त हो रहो ॥ ५ ॥

इस प्रकार इन्द्रिय और मन द्वारा गुरु के सिद्धान्त, गुरु के रहस्य, गुरु के न्याय अनुसार बर्ताव करके जीव के कल्याण कार्य मे लग जाओ। गुरुपद छोडकर हे मन! अन्य जगत-कर्तव्यो को न करो, न उनमे सुख मानो। देखो गुरु-पारख को छोडकर अन्य कर्तव्यो मे सुख मानने से निवृत्ति न होगी। अत· सर्व ओर से चित्त समेटकर अपने शरीर की सम्पूर्ण शक्ति-तन, मन, धन, वचन को गुरु-पारख मार्ग पर ही निछावर किया करो ॥ ६ ॥ यथार्थ स्वरूपज्ञान और तिसके ठहराव हेतु वैराग्य मे मन को जोड दो और यही निश्चय रक्खो कि हितैषी साधु गुरु ही के प्रेम भाव से मेरे सब कार्य सिद्ध होगे। बस यही गुरुभक्ति है। गुरु ऐन के घेरे मे विराजते हुए रात-दिन व्यतीत करो। इस प्रकार पुरुषार्थ करने मे स्वार्थासक्त जगपाल के तद्वत परमार्थ को गहो, चलो। मानो अपने लिये जगत-प्रपच उजाड हो गया, अर्थात है ही नही ॥ ७ ॥

शरणागत पारख लौ लाये। यम के फन्दा चलहु मिटाये॥
बाचहि ते जे परम सयाने। सुरति समेटि प्रभुपद लपटाने॥
पारख शब्द सुरति करै जीवा। होय अशक शरण सम कीवा॥ पचग्रथी॥

दृष्टांत—एक गॉव मे जगपाल नामक एक मनुष्य मुखिया जागीरदार था। देह और देह सम्बन्धी व्यवहार सत्य निश्चय के कारण धन कमाने, कुटुम्ब, महल और भॉति-भॉति के पदार्थ हाथी, घोडे, राज्य, सपत्ति, जमीन के बढाने मे उसको दिन-रात मालूम नही होते थे। सरकार दरबार मे एक न एक मुकदमा उसका चलता ही रहता था। अति लोभ के कारण कभी वह शान्तिपूर्वक स्नान, ध्यान, खान-पान भी नहीं कर सकता था। बहुत बार तो उसे कही सध्या तक ही भोजन करने का प्रसंग आता था। उसकी स्त्री कुछ धर्मशीला थी, जब-तब वह कहा करती थी कि रमैयाराम मे स्थिति के लिये सत-सज्जनो का सत्सग, गुरुजनो की सेवा-भक्ति और सत्कथाश्रवण करते कभी आपको मैं नहीं देखती। मनुष्य देह मिली है, तब इससे न बहुत सधे तो कुछ भक्ति-धर्म का सस्कार अवश्य टिकाना चाहिये। क्योकि अविनाशी जीव को वासनानुसार कर्मफल भोगना अवश्य है। जब देह छुटेगी तो आपका एकत्र किया हुआ ऐश्वर्य कोई काम न देगा, सब छूट जायेगा। इसलिये प्रतिदिन दो-चार घण्टे शान्तचित्त होकर सद्ग्रन्थ पढना, प्रभु का ध्यान, महात्माओ का सन्मान कर लिया करिये। इत्यादि बाते सुनकर मुखियाजी कह दिया करते थे कि मुझे इतनी छुट्टी कहॉ है! तेरी इच्छा हो तो धर्म कर। यदि मै भी कभी स्वतन्त्र हो जाऊँगा तो धर्म-भक्ति-सत्सग करते चलूँगा। अभी हमे खाने तक की छुट्टी नही मिलती, इत्यादि बाते कह कर स्त्री की बात को टाल देते थे।

अब आगे का हाल सुनिये—एक नट उसी गाँव मे रहता था। हरिश्चन्द्र, भर्तृहरि आदि का धार्मिक चरित्र करना उसका पेशा था। नट जब-तब मुखियाजी से कहा करे कि आप कभी

मेरे धार्मिक चरित्र को देखे, तब मुखियाजी कह दिया करते कि जब किसी दिन छुट्टी मिलेगी तो तुम्हारा कीर्तन, भगवत-चरित्र देखूँगा। जब-जब वह मिले तब-तब कहने पर वही उत्तर देते थे। बहुत दिन बीत गये मुखियाजी को किसी दिन छुट्टी न मिली। अत मे एकाएक मुखियाजी बीमार पड गये, उन्हे फेफडे की बीमारी होने से श्वास रुकने लगा। सब लोग एकत्र हो गये, नट भी पता पाकर आ गया। नट ने कहा—मुखिया जी! आपकी क्या दशा है? आज आप सबसे छुट्टी लेकर इस दशा को क्यो प्राप्त हो गये हैं? हमसे क्या कबूल किये थे? मुखिया जगपाल की जबान लगने के कारण वह रुक-रुक कर कहने लगे—अ-ब-भ-ही-या-अन्न-ती-म-स-म-य। नट ने कहा—अच्छा! अन्तिम समय है तो एक जगत-मोहनिवारक भजन तो सुन लीजिये! आपकी और हमारी प्रतिज्ञा पूरी हो जाय। आपको शुद्ध सस्कार भी ठहर जाय, ऐसा कहकर नट गाने लगा—

भजन

महतो! आजु भई सत्तारी, तबला बाजे धुँधुवाकारी॥ टेक॥
खेल खाय के बाल भुलइया, ज्वानी चढ्यो रम्यो रमनैया।
छल प्रपच करि धनहि कमइया, कछु ना कियो बिचारी॥ १॥
मोह बिवश जेहि आपन मानै, स्वारथ सहित सो होत बिरानै।
राग-द्वेष झगडा अति ठानै, तिन्हे मानत अपन अनारी॥ २॥
जग आडम्बर बहुत बढाया, तहाँ स्वप्न सपूत कहाया।
जब अत कि बेरिया आया, सब रोवत रहिगे हारी॥ ३॥
कभी सुकृत सुसग न कीन्हे, निज नित्य स्वरूप न चीन्हे।
क्या उटवा बडतनु लीन्हे, मद लादि मरे खर धारी॥ ४॥
देखो अब तो ऐसे सोये, जनु फिकिर सकल की खोये।
कोइ यादहुँ करत न रोये, पुनि भोगहु ब्याज अगारी॥ ५॥

यह भजन सुनकर जगपाल को कुछ होश तो हुआ पर अब क्या कर सकता था! अत मे जगपाल जगत की आसक्ति ही लेकर मरा, जिससे पुनः जगत प्रपच के चक्कर मे गोते लगाता रहा। इसका सिद्धान्त यह हे कि नाद-बिन्दरूप जगत का पालन करने वाला यह जीव जगपाल है। इसे सत्सग विचार करने की पलमात्र छुट्टी नहीं है। आखिर सब छूट जाते हैं। इसने निज स्वरूप के भूलवश इन्द्रियो की भोगक्रिया द्वारा जगत की आसक्ति भर ली है, इसी हेतु इसे जन्म-मरण के चक्कर मे रहना पडता है। यदि इसे जन्म-मरण से छुट्टी लेना हो तो सत्सग-द्वारा सत्यस्वरूप का निश्चय कर तन-मन से पारमार्थिक कार्यो मे इतना आसक्त हो जाय कि पलभर भी छुट्टी न ले। बस, ससार की भरी वासनाये निकल कर मुक्त हो जायेगा। जैसे अविवेकी जगपाल को परमार्थ लाखो कोस दूर था, इसी प्रकार धर्मपाल मुमुक्षु को भी गुरुपद के घेरे मे अटूट लव लग जाने से जगत की आसक्ति लाखो कोस दूर हो जायेगी। इस कथनानुसार तन, मन, वचन द्वारा गुरुपद के सर्वांग रहस्यो को ग्रहण करना चाहिये।

इस प्रकार मन-इन्द्रियो को गुरुदेव की तरफ करके हे जीव! सर्व विषय-भोगो से पीठ देकर दूर भागो, उन्हे त्यागो, बस तुम्हारा जो शुद्ध स्वरूप चेतन है, वह विषय-कामना रहित

होकर स्थिर अचलरूप से ठहर जायेगा। इस प्रकार सर्व अगो से गुरुदेव की भक्ति करनी चाहिये। "भक्ति न जाने भक्त कहावै, तजि अमृत विष कैलिन सारा"॥ ऐसा मत करो, बल्कि जेसा उसका नाम है वैसा भक्ति ही करके दिखाना चाहिये। भक्ति है "विजाति बन्धनो से भागकर गुरुपद रहस्यो मे स्थित हो जाना", सोई करना चाहिये॥ ८॥

शब्द—६

हमारे मन कस न चलै गुरु ऐन॥ टेक॥

जीव स्वजाती घट-घट देखौ, नारि पुरुष मन हैन।
घट आकार मानि सुख लीन्ह्यो, तेहिते यह तन लैन॥ १॥
बिन मानन्दी ज्ञान न होवै, ज्ञान बिना नहिं चाल।
बिना क्रिया के तन नहिं धारै, यह सब मन का हाल॥ २॥
पच बिषय की सुख मानन्दी, तेहि मे जीव बेहाल।
यहि बिन नारि पुरुष नहिं कोई, समुझि तजौ यहि काल॥ ३॥
निज स्वरूप के ज्ञान बिना यह, जड़ चेतन नहिं जान।
बिपरीति समझ तेहि कारण होवै, औरहिं और को ठान॥ ४॥
कहै कबीर जो समझै धारै, पावै अविचल ठौर।
दुख सुख झगड़ा दुर्मति नाशै, मिटै कामना दौर॥ ५॥

टीका—हे मनवशवर्ती जीव! तुम सद्गुरु के ऐन पारख रहस्य मे क्यो नहीं चलते हो जो सर्व दुखरहित सदा एकरस नित्य स्थिरपद हे। यह स्मरण रहे "परख परे नहि और ठेकाना। धोखे मा मति फिरहु भुलाना"॥ प० ॥ टेक॥ जितने देहधारी जीव दिखाई दे रहे हैं वे तुम्हारे समान ही सजातीय शुद्ध ज्ञानमात्र है और जो स्त्री-पुरुषो का घट बन गया है, वह मानन्दी मात्र मन का रूप कल्पित झूठा है। जो तुम परिणामी जड तत्वो के बने हुए नर-नारियो की आकृति, चमक-दमक, गति, मिथ्या ढॉचे को देखकर सुख मान लिये हो, इसी से यह तुम्हारी तापमय देह धारण हुई है॥ १॥ पॉच ज्ञानेन्द्रियो द्वारे जो बाह्य विषयो को देख, सुन, भोग व स्पर्श करके सुख मान-मान कर मानन्दीरूप चित्त खीच लिया गया है वही मानन्दी है, सो मानन्दी के बिना किसी प्रकार का बाह्य ज्ञान जीव को नहीं होता और बाह्य ज्ञान बिना जीव मे चचल होने की क्रिया नही हो सकती तथा मनोवासनायुक्त आवागमनरूप क्रिया के बिना देह भी नही बनती। इससे स्पष्ट होता है कि देह धरने का मुख्य कारण मनोवासना ही है। याते विवेकयुक्त जड़-चेतन को अलग-अलग कर देखने से स्त्री-पुरुष चार खानियो के घट सब मनोवासना मूलक होने से मिथ्या ही है, उनका विवेक और सद्रहस्य द्वारा अभाव करो। यथा—"नारि पुरुष होय कौन समाना। परखहु तेहि सुनु सत सुजाना"॥ २॥

शब्द, रूप, रस, गध, स्पर्श इन पॉचो विषयो मे सुख मान-मानकर ही यह जीव व्याकुल हो रहा है। पच विषयो मे सुख मानन्दी के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष घट आकार, सुन्दरता कुछ नही है, स्त्री-पुरुष के घटो मे परस्पर सुख देखना ही काल है। जिससे सर्व दुख, बन्धन, शोक, मोह बने रहे उसे काल कहते हैं। ऐसे काल को समझ-बूझकर त्याग करो। घटो की

चमक-दमक मे सुख मत मानो। "नारि पुरुष के भाव मिटाई। कपट चतुरता सकुच नशाई॥ शरणागत प्रभु के दृढ गहहू। पारख पाय अभयपद लहहू" ॥ पचग्रथी॥ अपने स्वरूप को जड तत्वो से भिन्न किये विना इस जीव को द्रष्टा-दृश्य तथा चेतन्य-जड की पृथकता का ज्ञान नहीं होता। जड-चेतन का पृथक-पृथक ज्ञान न होने ही से सव कुछ उलटा प्रतीत होता है। यही कारण हे कि भूल-भ्रम करके उलटा जड तत्वो मे सुख निश्चय हो रहा हे। इसी सुख निश्चय से चाहिये तो करने को कुछ और तो कर कुछ ओर ही रहा हे। मनुष्य-देह में स्वरूपस्थिति करना चाहिये सो स्थिति के बदले दिनोदिन जड विषयो मे ही धँसता जा रहा हे। यह जीव की उलटी समझ नहीं तो क्या है।॥ ४॥ गुरुदेव कह रहे हे कि जो इस वात को ध्यान देकर समझे ओर यथार्थ समझ के अनुसार रहनी वनावे तो उसे अचल पारखस्थिति प्राप्त होगी और क्षणिक दुख-सुख के झगड़े-रगडे, दुर्वुद्धि-दुर्भावना नष्ट हो जायेगी। फिर तो सव प्रकार संतुष्ट होकर वह स्थिर हो रहेगा। इसलिये गुरुदेव के ऐन मे चलना चाहिये॥ ५॥

विना यथार्थ गुरुवोध के सकट नहीं टल सकता

दृष्टात—पूर्व मे सुखपाल नामक एक राजा हुआ हे। वह शरीर और शरीर के भोगो को सत्य समझकर उसी मे लीन रहता था। उसका मोहन कुमार नामक एक ही पुत्र था। वह जव सोलह साल का हुआ तव अचानक वीमार हो गया, वहुत दवा हुई, पर प्रारव्धान्त मे कोन दवा। अन्त मे मोहन कुमार की मृत्यु हो गयी, राजा को वड़ा शोक हुआ। यह शोक सिर पर सवार ही था कि इतने मे राजा की आज्ञाकारिणी पतिव्रता स्त्री भी वीमार हो गयी। वहुत दवा करने पर भी प्रारव्धान्त के कारण वह भी परलोक को सिधारी। अव तो राजा के शोक-मोह का ठिकाना न रहा। वे मोहवश पीडित होकर स्त्री की लाश के साथ जाकर स्वय भी भस्म होने के लिये तैयार हुए। लोगो मे हाहाकार मच गया। मत्री आदि के वहुत समझाने पर भी राजा ने कहा—इस दुसह दुख को सहकर जीने से तो अग्नि मे जलकर मरना मैं लाख गुना अच्छा समझता हूँ। ऐसा कहकर "हाय मेरी प्राण प्यारी रानी—हाय मेरी प्राण प्यारी रानी" कहते हुए क्षण काल वेहोश हो गये। जव नेत्र खुले तो क्या देखते हैं कि एक महात्मा जी फटी चीधी लपेटे, हाथ मे हण्डी लिये हुए राजा के सामने खडे हैं। देखते ही देखते साधु के हाथ से हण्डी गिर गई। गिरते ही हण्डी फूटकर चकनाचूर हो गई। यह देखते ही महात्मा गिर पडे ओर कहने लगे—"हाय मेरी प्राण प्यारी हण्डी—हाय मेरी प्राण प्यारी हण्डी" मुझे छोड़कर कहाँ सिधारी। तेरे समान मेरी प्यारी यारी कोन निपाटे। "हाय हण्डी-हाय हण्डी"।

राजा साधु की यह दशा देखकर वोले—अरे! आप सत होकर इस तुच्छ हण्डी के लिये इतनी करुणा क्यो कर रहे हैं? मुझे तो असह दुख हे। साधु वोले—अरे। तू राजा चैतन्य होकर तुच्छ स्त्री-पुत्र के लिये क्यो दुखी होकर जलने जा रहा हे? राजा—क्या आप अपनी तुच्छ हण्डी और मेरी प्राणप्यारी रानी की एकता कर रहे हैं? साधु—राजा! तू तो वडा ज्ञानी मालूम होता है। ज्ञानी होते हुए भी अपनी रानी से मेरी हण्डी को तुच्छ वताता हे, यही मुझे अत्यन्त शोक है। मैं तो अपनी हण्डी से भी तुच्छ स्वार्थरूप तेरी अशुचि-विकारी रानी को समझता हूँ। राजा ने चिढकर कहा—ऐसी हण्डियाँ कहिये लाखो मँगा दे। परन्तु ऐसी रानी के समान दूसरी स्त्री कहाँ मिलेगी? वह काय-वचन से मेरी आज्ञा का पालन करती थी। साधु—यह तो तेरे मन की वात है, अभी दूसरी स्त्री मे तेरा मन लग जाय वस उसी के हाथ विक जाय। जगत

मन के हाथ बिका हुआ है। सेवा करने वाली ऐसी अनेक दासी तेरी होगी। "हाय मेरी हण्डी—हाय मेरी हण्डी" तेरे समान दूसरी हण्डी मुझे कहाँ मिलेगी। राजा—एक-दो नहीं सैकड़ो मिलेगी। साधु—हाय! मैं दूसरी हण्डी अगीकार करना नहीं चाहता। राजा—अहो! आप अविवेकमूर्ति बनकर आये हैं क्या? कौन ऐसे विशेष गुण इसमे थे? साधु—सारे शरीर को सुरक्षित रखनेवाली मेरी प्राणप्यारी यही हण्डी ही तो थी। इससे मैं जल पीता था, इसमे भिक्षा माँगकर खाता था। शौच के समय मैं इसी मे जल लेकर जाता था, पचासो वर्ष से गुप्त-प्रकट अगो को पवित्र करनेवाली मेरी प्राणप्यारी हण्डी ही तो थी। मै अब दूसरी हण्डी को लेना नही चाहता, मैं इस हण्डी के पीछे प्राण त्याग करूँगा। "हाय हण्डी-हाय हण्डी।" इत्यादि विलाप सुनकर राजा आश्चर्यित हो गया। राजा की मूँदी आँखे खुल गयीं, वे महात्मा के चरणो मे पडकर बोले—आप मुझ दीन को चेताने के लिए दर्शन दिये हैं।

साधु—हे राजन! जिसके मोह मे तू प्राण छोड रहा है, विचार कर यह कितना पाप है! मनुष्य-देह मनोमय सागर से तरने के लिये सुदृढ जहाज है। श्रीगुरुदेव का पवित्र उपदेश सुन्दर जहाज चलाने की युक्ति है। तिसे ग्रहण कर जरा, व्याधि, मृत्यु, त्रयताप, मानसिक व्याधि से पार पाकर अविनाशी स्वरूप मे सदा के लिये विराजना चाहिये। आँखे फूट जाये, कान बधिर हो जाये, प्राण रुक जाये तो लाखो रुपये खर्च करने पर कान-आँख बन नहीं सकते, इसलिये ये अनमोल इन्द्रियॉ, जिनसे अविनाशी का शोध-बोध होता है, उनसे तू नश्वर ससार के साथ नाता जोड रहा हे। अरे ! जिस सत्य चैतन्य की सत्ता से तन-मन बनकर तैयार है, उसको तू नहीं पहचानता! दो-चार मिनट सुख का लालच दिखाकर सदा विरहभावना मे तडफाने वाली स्त्री के पीछे मरने को तैयार है। एक बूँद वीर्य से खड़ा हुआ पुत्र-शरीर के मोह मे तू तडप रहा हे, अहो! तू विचार कर, इन सबो का सम्बन्ध कैसा और कितनी देर के लिये है! सरासर जो अपने स्वरूप से भिन्न दिखाई दे रहे हैं उनके बिछुडने मे क्या आश्चर्य! वे तो पहिले ही से बिछुडे-बिछुडाये ही है। तुझे जड-चैतन्य का बोध नही है। तू अज्ञान के वश पहिले अपने शरीर ही को सत्य समझकर मोहावरण से आच्छादित है। कठिन काष्ठ को छेदनेवाला भौरा कोमल कमल की पॅखुडियो को भी मोहवश न काटकर उसी मे बँध कर मरता है, वैसे ही तेरी दशा हे।

राजा—जड और चैतन्य क्या है? साधु—जहॉ तक इन्द्रिय-मन से प्रतीत होता है वह सब जड प्रकृति है और जो इन सबो का ज्ञाता है वह सबसे भिन्न चैतन्य है। उसी ने अपने को भूलकर नाशवान शरीर को सत्य समझ लिया है, जिससे शरीर के पीछे सब कुछ मान-मानकर हरक्षण पीडा से कलहता रहता है। पच विषय, जड तत्वो की प्रकृतियाँ, चित्त चतुष्टय, इन सबका साक्षी सबसे भिन्न स्वय अपने आप है। अपने आप को अनंत दुख देनेवाली, जडग्रंथि ही है उसकी निवृत्ति के लिये प्राणी प्रयत्न नही करते। दस-बीस रुपये नौकरी देनेवाले की निरन्तर चाकरी बजाई जाती है और जिससे अनत धन स्वरूपज्ञान प्राप्त होता है उसके लिये दो-चार मिनट लगाना भी भारू हो रहा है। इसलिये इस जीव की सब दुर्दशा भी हो रही है। तू विचार कर! जो अविनाशी है, उसका नाश नहीं होता और जो परिणामी, नश्वर, चचल माया-काया का रूप है, वह तो पहले ही से विनष्ट हो रहा हैं। देख! तेरा शरीर पहिले बालरूप मे था, अब जवान होकर वृद्धता की ओर जाकर एक दिन मिट्टी मे मिल जायेगा, ऐसे ही सबका

शरीर तू जान। तिसका मोह तू छोडकर सब दुखहारक परम प्रकाशी स्वरूप मे थीर हो। उसमे थीर होने के लिये पारखी सद्गुरु के ऐन मे चल। पारखी गुरु का ऐन यही है कि यथार्थ पारखदृष्टि और उसके सहायक शील, विवेकादि यथार्थ रहस्य ग्रहण कर और द्रष्टा-दृश्य, चेतन-जड को पृथक-पृथक करके देहादि प्रपच और सुखादि को तू कल्पित जानकर निःसशय हो जा।

ऐसे सब वचन सुनकर राजा का मोह निवारण हो गया। वे गुरु का बोध और रहस्य धारणकर अपने को कृतार्थ कर लिये। हमे भी गुरुऐन मे चल कर सुखी होना चाहिये, क्योकि बिना चले कहने मात्त से रास्ता समाप्त नहीं होता।

साखी—*जैसी कहै करे जो तैसी, राग द्वेष निरुवारै।*
तामे घटे बढे रतियो नहि, यहि विधि आप सँवारै॥ बी०॥

चौ०—*भक्ति हेतु फल साधन बरनी। गहै विविध विधि भव से तरनी॥*

प्रसंग ३—सद्गुरु-शुभागमन

शब्द—७

हमारे गुरु आये है आजु घरे॥ टेक॥

भयो मनोरथ पूरण सबहीं, जब गुरु आय के चरण धरे॥ १॥
दरश पाय मन हरष भये है, सुफल जनम शिर चरण परे॥ २॥
करि आसन गुरु चरण पखारे, सोइ चरणामृत मुखहिं धरे॥ ३॥
मन अर्पण जलपान कराये, त्रिवार बन्दगी हाथ धरे॥ ४॥
करत बन्दना पूजन गुरु की, सर्बस दै मन भेट धरे॥ ५॥
यहि उतसाह भूलि सब जग को, मुक्त ग्हे नहिं देह धरे॥ ६॥

टीका—अज्ञानहरन-बोधप्रकाशकरन श्रीगुरुदेव आज हमारे आश्रम मे आकर दर्शन दिये हैं॥ टेक॥ योग्य तो यह है कि दास स्वय चलकर साहिब के चरणकमलो के दर्शन करे, पर दास के ऊपर अत्यन्त दया करके जब सद्गुरु स्वय आकर अपने भवतारक चरणो को मुझ दीन सेवक की भूमिका पर रख दिये तब हमको सब कुछ मिल गया, हमारी सब इच्छाये पूर्ण हो गयीं। यथा—"सफल जन्म भा आजु हमारा। जो निकेत रौरे पगु धारा"॥ १॥ गुरुदेव के दर्शन पाकर मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ, उनके चरणो में अपना सिर धरकर मेंने जीवन सफल कर लिया। जो कुछ मुझे मनुष्यतन मे करना चाहिये वह सद्गुरुदेव के चरणो मे सिर धर देने से पूर्ण हो गया। "नाथ देखि पद कमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे"॥ रा०॥ २॥ श्रेष्ठ स्वच्छ आसन बिछाकर सद्गुरु के चरणो को सादर धोकर वही चरणामृत मुख मे धारण कर लिया। दोहा—"गग नहाये सहस बर, द्वारावति शत जान। सत चरण जल जो पिये, तुलै न तेहि सम आन"॥ बि०॥ ३॥

हम अपना मन सद्गुरुदेव की भेट मे दे दिये। जब मन ही दे दिये तो बाकी क्या रहा। मन को देना यह है कि गुरुदेव की मनसा के विरुद्ध अपने मन को न रखकर उनके आज्ञानुसार

बर्ताव करना। इस प्रकार मन देकर गुरुदेव को उत्तम पवित्र जलपान-भोजन आदि शरीर के रक्षार्थ सब प्रबन्ध कराकर यह अनुचर गुरुदेव के चरणो का दर्शन करते हुए सादर भिक्षा मॉगनेवत अजुली बॉध हाथ धर सिर झुका कर तीन बार बन्दगी कर रहा है। "त्रिविध बन्दगी हरै त्रितापा। बडी भाग्य भेट्यो गुरु आपा"॥ ४॥ पुन. यह दास नाना प्रकार से गुरु की विनययुक्त बदना, पूजा, आरती करते' हुए अपना सर्वस्व तन, मन, वचन निछावर कर मन सहित स्वय अर्पित हो रहा है॥ ५॥ इस प्रकार सद्गुरुदेव के भाव, भक्ति, उत्साह, अतिप्रेम मे तल्लीन होने से इस अनुचर की सब जगत-वासनाये भूल गयीं, अभाव हो गयीं। फिर तो यह किकर गुरुभक्ति के प्रताप से थोडे ही परिश्रम मे जीवन्मुक्ति दशा को प्राप्त हुआ। देह धरने-छोडने के सकट से सदा के लिये बच गया, यही गुरुदेव के चरणो मे प्रेम करने का फल है॥ ६॥

सोरठा—*सुलभ पंथ परमार्थ, सुलभ स्वरूप को ज्ञान भौ।*
सुलभ भयो हित स्वार्थ, श्री गुरु दाया सुलभ सब॥

दृष्टात—एक सेठजी धन-धान्य-सम्पन्न थे। उनकी कई भारी-भारी दुकाने चलती थी। कपडे की भारी कोठी थी। सेठजी और उनकी पत्नी दो ही प्राणी थे। तीसरा कोई खास कुटुम्बी न था। आगे-पीछे कोई न होते हुए भी सेठ अधिक तृष्णालु थे। सेठजी भक्त तो हो गये थे, परन्तु भक्ति के सब लक्षण उनमे न थे। स्त्री कुछ समझदार धर्म सस्कार वाली थी। एक बार घर पर गुरुदेव पधारे। सेठजी को किसी सामान्य कुटुम्बी के आने पर जितनी प्रसन्नता होती है उतनी भी प्रसन्नता न हुई। सेठजी "जय श्री हरि" कहकर दूर ही से हाथ उठा दिये और पूछा—महाराज! आज आप किधर से पधारे? विचारवान गुरुदेव जिधर से आये थे उधर से बतला दिये। सत नैराश्य, वैराग्यशील थे, मास-नशा आदि छुडाने के लिये और धर्ममार्ग मे लगाने के लिये ही सेठजी को भक्त बना लिये थे। सेठ का अभक्ष्य सेवन तो छूट गया था, परन्तु धर्म मे अभी रुचि नही हुई थी, तब स्वरूप का विवेक हो ही कहॉ से! विषयासक्तिवश स्त्री की ममता और लोभ ही सेठ के अज्ञान का कारण था। सेठजी स्त्री आदि से गुरु की सेवा करने को कहकर शहर के भीतर दुकान पर चले गये। बाद मे सेठानी ने दासी सहित आकर महात्मा को सादर प्रणाम किया, खान-पान की व्यवस्था कराया। जब महात्माजी प्रसाद पाकर बैठ गये तब सेठानी हाथ जोडकर बोली—हे गुरुदेव! भक्ति क्या है, भक्ति करने से क्या होता है, भक्ति किनकी और किस प्रकार करनी चाहिये?

सत—दृढ प्रेम-भाव का नाम भक्ति है। भक्ति गुरुदेव व सतो की करनी चाहिये। जैसे धनादि स्वार्थ को चाहने वाले मनुष्य ससार के राजा, धनवान आदि की सेवा-चाकरी करते हैं, वैसे ही अविनाशी स्वय प्रकाशी सत्यपद प्राप्त करने के लिये, शुद्ध रहस्य आने के लिये, लोक-परलोक मे जीव को सुख होने के लिये सतो मे दृढ भाव प्रेम सहित आज्ञा पालन सेवा आदि करना भक्ति है। थोडा भी छल करने से निष्काम भक्ति नही बन सकती। भक्ति मे मुख्य मन दे देना पडता है। अर्थात मन की कुभावनाओ को त्यागकर सद्भावना, सत्सग, सन्मान, इष्ट का ध्यान इत्यादि अगो को धारण करने से भक्ति होती है। जिस भक्ति का फल भूल-भ्रम, शोक-मोह का छेदन, कुसग का त्याग, नाशवान भोगो से अरुचि, क्षमा-सतोषादि की प्राप्ति, तृष्णा की निवृत्ति, सम्पूर्ण मनोरथो की पूर्ति का यत्न, ज्ञान, वैराग्यादि सब सुख उसे प्राप्त

सवैया

धन धाम तिया सुत मान जितै सब अत मे एक सु काम न अइहैं।
पथी को मेल भयो यहि गैल मे यामे न बास सबै छुटि जइहै॥
याते सुबोध करै तदबीर जु जाहि ते सद्गति हो सुख पइहै।
भूल मे बीति गई सो गई अब राख रही जो करै सो भरै हैं॥ १॥
इन्द्रिन साधि न शाति लिये कुछ ना सतसग कियो मनलाई।
कियो कुछ हर्ष समेत न दानहि ना किहु के दुख मे जु सहाई॥
ना कबहूँ मन मारि के आसन सत्य स्वरूप मे ध्यान लगाई।
अहो पति देव! जु गोबर कीट से भोग सुखो महँ जन्म गँवाई॥ २॥

स्त्री के ऐसे अनत सुधामय वचन सुनकर सेठजी सकुच गये और मन मे अपने को धिक्कारने लगे। सेठानी ने गुरुदेव के पास आकर सब चरित्र कहा और जलते से बचाये उन रेशम के टुकड़ो को दिखाया। सेठजी लज्जित होकर गुरु के चरणो मे गिर पड़े और रोने लगे, अपनी भूल की माफी माँगी। अब तो सेठजी के शुभ सस्कार जगे, नित्य प्रति सत्सग मे बैठने लगे, गुरुबोध पाकर उनकी आसक्ति निवृत्त हो गई। स्त्री भी पूर्णरूप से साधना भक्ति मे जुट गई। दोनो स्वरूपज्ञान पाकर तथा विषयासक्ति को त्यागकर विशेष सद्ग्रन्थ विवेक सत्सग मे लगे रहे। उन दोनो के सत्याचरण से कई स्त्री-पुरुष अपने-अपने दुर्गुणो को त्यागकर पूरे गुरुभक्त बन गये। अब तो सेठ को बिना सतो के दर्शन एक दिन भी कठिन मालूम होने लगा। "हमारे गुरु आये है आजु घरे" इस पूरे शब्द के भाव अनुसार ही सेठ का मन बन गया। सेठ का घर एक सतआश्रम के समान हो गया। वहाँ पर पूर्व कहे प्रमाण सब अगो से भक्ति करते रहने से कई जिज्ञासु नित्य स्वरूप मे स्थित हुए। यह सब सत्संग-समागम का प्रभाव है। इसलिये गुरुदेव से यही एक वर माँगना चाहिये कि मुझे सदा अखण्ड भक्ति मिले। इस पर यह पद स्मरण रहे—"सुत दारा औ विपुल सपती यौवन सुन्दर रूप महा। दुखदा नश्वर क्षणिक जानि के चतुर सयाने ज्ञान गहा॥ इच्छापूर्ति होत नही कहुँ बिन श्रीगुरु के शरण यहाँ। काय बचन मन गुरुपद सेवै सो भवसिधु से पार लहा॥"

साखी— *चाह पूर्ति हेतुक सबहि, कौन काहि जग मीत।*
वृथा विमोहत जगत मे, कर गुरुपद मे प्रीत॥

शब्द—८

आये गुरुदेव सुभाग्य के करना॥ टेक॥

सतपद प्रेम नेम औ साहस, जीव दया उर गहना।
संत सेव गुरुभक्ति सिखाये, बिषय बिराग परखि मन रहना॥ १॥
धर्म ज्ञान सत दान दृढ़ाये, तन मन इन्द्री कसना।
बीर भाव दै सुमग चलाये, कुमंग कुचाल बिषय सुख तजना॥ २॥
सुसंग कुसंग की परिचय दे कै, हानि लाभ तेहि बरना।
स्वबश स्वतन्त्र स्वरूप चिन्हावै, तजि उनमाद सजग सोइ लहना॥ ३॥

होते है, अत मे भक्तिवान प्राणी देहादि दुखो से रहित होकर मुक्त हो जाता है। सेठानी बोली—फिर सेठजी आपसे दीक्षा लेकर भी आपकी भक्ति क्यो नहीं करते? खेद है, वे पाये हुए करतल रत्न को खो रहे हैं। सत—कोई कारण होगा। सेठानी—और क्या कारण होगा, मायिक भोग पदार्थों मे ही उनकी विशेष आसक्ति है, तो आपके केसे हो सके? मं उनसे धर्म-भक्ति करने को कहा करती हूँ, पर वे उसका कुछ ख्याल नही करते। अव आपकी कृपा से सेठजी के अज्ञान का प्रत्यक्ष कराते हुए किसी प्रकार उनको आपके चरणो मे लगाऊँगी तथा स्वय में आपकी चरण किकर होऊँगी।

सत कुछ न बोले। सेठानी ऊपर कमरे मे जाकर तीसरे पहर से लेट रही। सेठ दुकान से आये, घर मे नोकरो द्वारा सुने कि 'सेठानी दुख मे ह' यह वात सुनते ही तुरन्त वहाँ जाकर देखा तो वह किसी दुख से हाय-हाय कर रो रही है। सेठ ने दुखी होकर कहा—हे प्रिये! तुम्हे कौनसा दुख है? सेठानी—मेरे नेहर में यह रोग हुआ था, वही अब उभडा है, यह रोग मेरा प्राणघातक है। सेठजी—तो कोनसी दवा से उस समय तू अच्छी हुई थी? सेठानी—वह दवा आप मेरी केसे कर सकेगे? सेठ—कह तो सही। सेठानी—क्या कहूँ, जव खास जीव के हितेषी ज्ञानदाता, सशय-भ्रम छेदनहार गुरुदेव को आप एक कोपीन तक नहीं दे सकते तो हम जेसे स्वार्थ सम्बन्धी तुच्छ प्राणी के लिये क्या कर सकते हं? सेठ—तू मुझे गुरुदेव से भी प्रिय है, जो कुछ कहे तिसे मे हजार बार करने को तेयार हूँ, तू मुझको सुख पहुँचाने वाली है इसीलिये तुझ पर म वार-वार वलिहार हूँ। सेठानी—नेहर मे दो थान रेशम जलाकर उसका धुँआ लगने से में चगी हो गयी थी।

सेठजी वडे हर्ष से तुरन्त दो थान उत्तम रेशम लाकर जला दिये। कुछ अधजले वस्त्र सेठानी ने ले लिये, वाद मे वह वोली—मं चगी हो गई। पुन. सेठ से कहने लगी—आप गुरु के शिष्य होकर कुछ विचारे, प्रतिकूल कुटुम्वी दुखदायक होते ही हैं, पर अनुकूल कुटुम्वी व जगत के सर्व सुखभोग भी नश्वर, राग-द्वेष तृष्णा आदि करके आसक्तिजनक दुखपूर्ण ही हैं। श्री गुरु की कृपा से अजर, अमर, सत्य पदार्थ का ज्ञान होता है, सतोषादि नित्य निर्द्वन्द्व सुख मिलते है। ससार के सर्व दुख—तृष्णा, सताप, परवशता, कमी, हानि इत्यादि नष्ट होकर बिना भोग-क्रिया ही मन सदा के लिये ज्ञान-द्वारा सतुष्ट हो जाता है, इसलिये ऐसे गुरुपद मे आप प्रेम करे। हमारे मे प्रेम आपके इन्द्रिय-मन मे दोष उत्पन्न कर भ्रमानेवाला है। गुरुदेव के प्रेम हम-आप सवको अज्ञानरूप मनोमय दुख-द्वन्द्वो का विनाश कर अखण्ड सुख देनेवाला है। आप गुरुदेव की पुरानी कोपीने देखते हैं फिर भी नवीन एक कोपीन देने मे कितना सकोच! वस्त्रो से कोठियाँ पूर्ण ह तव भी कहने पर आप कहते थे कि थान से छीरा जब बचे तव गुरु को दे ओर मेरे लिये इतने उदार कि रेशम के दो-दो थान जला दिये। अहो! खेद है आपकी वुद्धि पर, आप पुरुष हें में स्त्री हूँ, आपको तो चाहिये कि काय, वचन, मन से भक्ति करे, मुझे भी भक्ति मे लगाकर कुछ जीवन सुधारे। पर आप तो पॉखी की दशा धारण कर मेरी चमडी की चमकरूप दीपक पर निछावर हो रहे हें। इन्द्रिय ओर मन के वशवर्ती राजस-तामस से युक्त थोडे ही सुख के लोभ से क्षण मे घूमनेवाली, पेट ओर भोग ही सत्य जाननेवाली ऐसी स्त्री मे जो आसक्त होता है, वह पुरुप भी स्त्री ही है। "कहहि कवीर सुनो हो सन्तो, पुरुष जन्म भो नारी"। अहो! आप अपनी तो हानि किये ही मुझे भी भोगासक्त किये, क्या कहा जाय! बडे दुख की बात है।

मन भव जगत कुभाग्य दुराशा, दु ख सरूप को टरना।
गुरु की कृपा अचल पद पाये, शोक मोह सशय भ्रम हरना॥ ४॥

टीका—जिससे सदा के लिये चाह-दरिद्रता से पीछा छूट जाय और अचल स्वरूप की स्थिति हो जाय, ऐसे सब साज को पा जाना ही सोभाग्य है। शिष्य कह रहा है कि इस अभागे जीव को भाग्यशाली करने वाले सद्गुरुदेव आकर दर्शन दिये। भाव यह है कि बडभागी होने के जो सद्गुण हैं वे सब गुरुदेव की कृपा से ही प्राप्त होते हैं॥ टेक॥ सत्य जीव है। उसकी स्थिति की भूमिका पारख है। गुरुदेव पारखस्थिति मे अटूट श्रद्धा दिये और जिस प्रकार उस स्थिति की रक्षा हो ऐसे नियम बताये। वे कल्याणकृत कार्य का प्रतिज्ञापूर्वक नित्य नियमित समय पर अभ्यास करने, सद्ग्रन्थ को पढने, सन्ध्यापाठ, मनोद्रष्टा, उपासनादि सब अंगो का समय-समय पर अचूक आचरण करने का नियम बता दिये। सन्मार्ग पर चलने के लिये साहस ग्रहण कराये। साथ ही सर्व जीवो से निर्वैर रहकर उनकी हितैषिता से बर्तने के लिए दया का उपदेश दिये। उन्होने विवेकी सतो की सेवकाई ओर बोधदाता सद्गुरुदेव का आज्ञापालन, ऐसी भक्ति करने की शिक्षा दी और सुख माने हुए दुखपूर्ण विषयो मे त्रिकाल दुख दिखाकर वैराग्य दृढा दिये। मन-मानदीकृत सकल स्मरणो को सदा परख-परख कर त्यागते हुए स्ववश रहने की गुरुदेव ने शिक्षा दी॥ १॥

जिन रहस्यो से अपने और दूसरे का परिणाम मे हित हो, हानि न हो, उन दया, शील, सत्यादि सद्गुणो के आचरण का नाम धर्म[१] है। सद्धर्म धारण करने वाली समझ गुरुदेव प्रदान किये। जो कुछ अन्न, वस्त्र, धन अपने पास हो उसे उदार होकर उत्तम सात्विकी पात्र को सन्मान युक्त देना सत्य श्रेष्ठ दान है। इन लक्षणो के बिना जीव अभागा हो रहा है। गुरुदेव ने कृपा करके धर्म का ज्ञान और सत्य श्रेष्ठ दान करने का उपदेश दिया। साथ ही उन्मत्त इन्द्रिय और मनरूप अश्व को वश करने की युक्ति बताये। धैर्य, सहिष्णुता, कार्यतत्परता, शत्रु के भेदो को जानकर तिनके नाश की ही चेष्टा मे (तद्गत) रहना, वीर के लक्षण हैं। कोई स्तुति करे या निन्दा, मारे, पीटे, ताडे, छेदे, निर्वाहिक वस्तुओ की हानि करे, पर हम सत्यमार्ग से तिल भर भी विचलित नहीं हो सकते, साथ ही काम, क्रोध, इन्द्रिय स्वभाव आदि रिपुओ को अवश्य जीत लेगे, ऐसे वीरभाव[२] देकर जीव के काज हेतु भले मार्ग पर गुरुदेव मुझे चलाये। चोरी,

---

१ दो०—"दुख दायक कुत्सित क्रिया, अघ जग निदित कर्म।
सब विधि सुख दायक सुकृत, ताहि कहत मुनि धर्म॥
पाप न परदुख देन से, अधिक और कुछ जान।
पुण्य न पर उपकार सम, वर्णत वेद पुरान॥"

हमारा कोई धन छीने, मान भग करे, हमारे सम्बन्धियो से अनीति करे तब हम को दुख होता है। हम भी दूसरो के साथ वैसा ही बर्ताव करेगे तो दूसरो को पीडा होगी, अत हम जैसा दूसरो से अपने लिये चाहते हैं वैसा ही दूसरे के साथ बर्ते, यही धर्ममार्ग है। विशेष धर्म के लक्षण "सो गुरु गुरु गुरु ने धरम सिखाय" इसकी टीका मे देखिये।

२ सवैया—ज्यो गज मस्त चले निज मारग, श्वान के भूकन को नहि ध्याना।
ज्यो रिपु चोट अँगे बढि आगेहि, घूमत ना वरबीर सुजाना॥

व्यभिचार, हिसा, घात कुमार्ग-कुचाल हैं। इनकी जड विषय सुख है, गुरुदेव ने इन सबो का त्याग करा दिया॥ २॥ भले सग और खोटे[१] संग की भी परीक्षा कराये, साधु सज्जन-भक्तजनो के संग से जो सद्गुणो का लाभ होता है और हिसकी, क्रूर, कुटिल भ्रमिक जनो के संग से जो दुर्गुण बढकर हानियाँ होती हैं, सो सब विस्तार से वर्णनकर मुझ दास को परखा दिये, जिससे कुबुद्धि-कुचाल तथा कुसंग से अरुचि हो गई और सुबुद्धि-सुचाल हेतु सत्सग मे हमारी लगन लग गयी, यह सब गुरु की ही कृपा का फल है। जड से पृथक, चाहरोग रहित, स्वतन्त्र, स्वयं प्रकाश, अमृतस्वरूप अपने आपको लखा दिये। साथ ही गाफिली या अष्टमद-मोहक सम्बन्ध त्यागकर प्रारब्ध-सुख नशा के आवरण से सजग सावधान होकर अपने स्वतन्त्र स्वरूपस्थिति को प्राप्त करना चाहिये, यह भी बताये॥ ३॥

मनोवासना से उत्पन्न चार खानियो की देहे धारणकर सब दुख भोगना ही मनसम्भव जगत का रूप है। उस जगतजाल मे सुख मानकर स्वरूपस्थिति से दूर रहना दुराशा है। जो कभी पूर्ण न हो ऐसे जगत प्रपच की सुखाशा ही दुर्भाग्य है जो कि सर्व दुखो को घसीट लाती है। ऐसी दुखपूर्ण दुराशा से अपना गला छूटे इसकी सब युक्ति भी गुरुदेव बता दिये। भोगो मे पूर्ण दुख देखना ही दुराशा से छूटने की प्रबल कुजी है। इस प्रकार दुर्भाग्य से बचाकर साथ ही बड़भागी होने के सब शुभ लक्षणो को ग्रहण करा दिये। गुरुदेव की दया से अचल नित्य तृप्त पारख स्थिति को पा गये, जिससे हमारे शोक, मोह, सदेह, भूल-भटक विक्षेप नष्ट हो गये। "शोक मोह विक्षेप भटक हर। नमो नमो तव शरण गुरुवर"॥ ४॥

दृष्टांत—एक कुबेरभाई नाम का सेठ था। उसे सुन्दर सुरीले गायन, अनुकूल सुगन्ध, सुरस व्यजन, मोहक शृंगार, नरम-नरम बिछौने, नवीन-प्रवीन बालाएं, उत्तम पक्की फैसनी कोठियॉ, बहुत-बहुत रक्षक कुटुम्ब और विपुल सम्पत्ति, यहॉ तक कि इन्द्रिय सम्बन्धी मोहक सुखदायक सब चीजे प्राप्त थीं। उसे लोग कहते थे इसका बडा भाग्य है। एक बार सेठजी सप्त महलो के ऊपर मखमली गद्दे पर लेटे हुए थे कि अचानक उनको गर्मी छा गई। मृगी, उन्माद और शूल तथा आठो पहर शरीर मे ऐसी पीडा होने लगी कि उनसे रहा ही न जाय और नेत्रो पर माडा छा गया। वे अधा होकर हाय-हाय करके जहॉ-तहॉ दौडने-भागने लगे। जितने वैद्य-डाक्टर आये वे सब दवा तो किये पर ठीक-ठीक निदान न जानने से रोग वृद्धि पाकर पीडा और बढ गई। बहुत से ओझा, नाउत, पडित देवबाधा, प्रेतबाधा बताकर दुर्गापाठ, सप्तशती, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र उपयोग किये, परन्तु एक भी काम न दिया। निदान परमेश नामक एक सत्सगी मनुष्य आया जो कि सेठ का मित्र था। वह सेठ जी की क्रियाओ को ध्यान से देखने लगा। कुबेरभाई को अपने दॉतो से अपने ही अग को काटते देखा। उसे लोग जजीर से बॉध रक्खे थे। क्षण मे वह कहे कि अच्छा मेरे समान सुखी कौन है। अनुपम सुन्दरी और पुत्र सम्पत्ति से मै पूर्ण हूँ। ऐसा कहकर क्षण मे हॅसे, क्षण मे रोवे, क्षण मे माथा कूटे, क्षण मे सिर को जमीन पर दे मारे। उसके अग सब छिल कर मास दीख पडता और खून की धारा बह

त्यो जग स्तुति निन्दा भले कर, पै गुरु पारख हेतु विकाना।
कोटिन विघ्न सहै पर घूमि न, वीर के भाव लिए दुख हाना॥

१ सोरठा—बुद्धि ऑखि ढकि देत, अघ कुसग से सकल दुख।
दिव्य दृष्टि करि देत, तेहिते सुख हित सुसग करु॥

रही थी। कभी-कभी कहा करे—हाय! मुझे बचाओ, मेरे ऊपर तलवार चल रही है, वज्र, त्रिशूल, भाला, बर्छी से मैं छेदा जा रहा हूँ। हाय! मेरी सुखदा-वस्तुओ को शत्रु लोग छीन रहे है। अहो ! मेरा वेरी बड़ा बलवान है। वह मुझे पत्थर बॉधकर पानी मे डुबा रहा है। मैं अग्नि मे जलाया जा रहा हूँ। मेरे सब अग छूरियो से छीले जा रहे हैं।

इन सब क्रियाओ को देखकर मित्र परमेश विचार मे पड गया ओर सेठ के दास-दासियो से पूछा कि ये उन्माद होने के पहले क्या करते थे? दास-दासियो ने कहा—सुख शय्या पर लेटे थे, कुछ ऊँघते-जागते ही इनकी ये दशा हो गई। परमेश ने पूछा—ऊँघने के पहिले क्या-क्या वार्ता हुई। दासो ने कहा—एक बडे राजा का इतिहास पढा जा रहा था। उसमे दो राजाओ की लडाई थी। यह बात सुनकर परमेश ने मनोवासना के चरित्र का विचार किया, और सेठजी के रोग का पता लग गया। वह एक पत्र लिखकर आज्ञावर्ती दास से बोला—जाओ जल्दी राजदरबार मे राजा साहब को यह पत्र देना। दास तुरन्त जाकर राजा को पत्र दिया। उसमे लिखे अनुसार राजा वहॉ गया जहॉ कठिन अनीति करनेवाले को फॉसी दी जाती थी। ऐसे फाँसी घर से एक सिर कटा हुआ लेकर अपने परम मित्र के यहॉ भेज दिया। परमेश उस सिर की चोटी पकड़कर कुबेरभाई सेठ के सामने ले जाकर कहा कि हे मित्र! जो आपका प्रबल वेरी था उसका सिर काट लिया गया। देख लीजिए—भली तोर पहिचान लीजिए। यह वही है, इसकी सेना भी मार डाली गई, अब आपका वेरी कोई नहीं हे।

इतना सुनते ही सेठजी का रग-ढग कुछ और हो गया। झट सचेत होने लगा। गर्मी का आवरण भी दूर होने लगा। पागलपन भी मिटने लगा। सिर मे जो पीडा थी वह न मालूम कहाँ चली गयी। जो दृष्टि पर माडा पड गया था वह भी गर्मी का आवरण हट जाने से साफ हो गया। वह थोडे ही समय मे पूर्व के समान आरोग्य होकर बोला—अहो! मेरे सोभाग्य उदय करनेवाले हे मित्र! आप मिल गये, नही तो मेरे हृदय का रोग कोटि उपाय से भी दूर न होता। परमेश ने कहा—आप इन्द्रिय सम्बन्धी वस्तुओ मे ममता करके मै-मेरी मानकर आसक्त थे। साथ ही दूसरे राजा के विनाश की चर्चा सुनकर आपके भी सूक्ष्म भय का संस्कार जम गया। निद्रादोष से आपको बलवान शत्रु द्वारा प्रिय वस्तुओ का विछोह मालूम हुआ। उस विछोह के सताप से इतना सतप्त हुए कि जाग्रत होते हुए आप पागल हो गये। इसका हेतु अज्ञान ही है। जो नाशवान हे, क्षणभगुर और ऐचा-खेंची मे है, बहु विघ्नो से घिरा हुआ, मिलने-बिडुडने वाला है, उसको आप सत्य और अपना मानकर एकरस भोगना चाहते हे, यही सब अनर्थ का मूल है। नाशवान वस्तुओ को पहले से ही नाशवान जानना चाहिये। दृश्य पॉचो विषयो के ठाट और तिनके व्यवहार एकरस नहीं रहते और जीव से इनका कोई खास सम्बन्ध नहीं है, मात्र अपने को भूलकर झूठे स्वप्न के समान सुख की आशा ही करके जीवो ने इसे पकड रक्खा है। इसी सुख-आशा ने चेतन द्रष्टा को ढक रखा है।

सिद्धान्त—कुबेरभाई सेठ के समान दुराशा के ढक्कन से ढके हुए जीव को मानसिक उन्माद हो गया है। अपने सत्यस्वरूप की स्थिति और सब शुभ गुण, धर्म-कर्म योग्य साज सहित मानुष देह को पाकर भी जीव अज्ञान-उन्मादवश इन्द्रिय भोग सुख के लिये दूसरे को पीडा देता है। जैसे देह मे कोई असह पीडा हो तो उस समय मैथुन, स्वाद, सौंदर्य, गन्ध, मीठे वचन सुख नही दे सकते, वैसे जब तक स्वरूप का अज्ञान है और बाहरी मायावी पदार्थों मे

सुख निश्चयता है, तब तक वासना रोग से पीडित सर्वदा चेतन चचल रहेगा। जहाँ चचलता है, वहाँ सुख का नामोनिशान ही कहाँ! शरीर धरकर किसकी परवशता नहीं लेनी पडती! उपाधियो या विघ्नो के समूह किसको त्रास नहीं देते! सब परवशता की जंजीर मे जकडे हैं। ऐसा देखते हुए भी मोह के वश मनुष्य को अपने अविनाशी स्वरूप का न विचार है, न तो कुछ सत्संग मे प्रेम ही है और न दया धर्म की रीति ही सँभालने मे लक्ष्य है। ऐसे मन-इन्द्रिय परायण तन-मन के ताप से सन्तप्त यह दुखिया जीव जब किसी प्रकार परमेशरूप परम मित्र सद्‌गुरुदेव के सम्मुख पड जाता है, तब वे कृपा करके युक्ति से मनोमय सृष्टि को मिथ्या बताकर जीव के कामादि उन्माद को हर लेते हैं और जीव सदा सुखी हो जाता है।

शब्द—९

आये गुरुदेव जगाये मुझे सोवते॥ टेक॥

मात पिता भइया संग सोये, भय अरु शोक मोह में जरते॥ १॥
तन मन के दुख अमित दरेरे, तेहि संताप न कबहुँ उबरते॥ २॥
बालक साथी मित्र कुमित्रव, खेल कि हारि जीत में पचते॥ ३॥
कुटिल कुचाल हेतु बिन बिग्रह, ऐसे जे जे बाल देखि भय पवते॥ ४॥
जिन जिन के गृह मनुष बिरोधी, निज मनसाय भंग पडि मिलते॥ ५॥
धन्य धन्य गुरुवर उपकारी, लखाये दुख दोष बचाये जग दुखते॥ ६॥

टीका—मोहनिद्रा मे सोते हुए मुझ दास को गुरुदेव आकर जगा लिये॥ टेक॥ मैं जननी, जनक, भ्राता तथा अन्य सगे-सम्बन्धियो की ममतारूप निद्रा मे सोता रहा, क्षण-क्षण सम्बन्धियो के डर और मोह मे जकडा हुआ मिलन-विछोह की शोकाग्नि मे जलता रहा॥ १॥ शरीर की नाना व्याधियो, इन्द्रियो की खैंच और मन की अमित कामनाओ की भीड मे पड कर सब अवदशा सहता रहा। यहाँ तक कि शारीरिक-मानसिक उपाधि की भीडो से मुझे किसी समय शान्ति नहीं मिलती रही॥ २॥ पूर्व मे हमारे बालपन के साथी खेलने वाले खेलते-खेलते बलवान विरोधी बालक मुझे मार-पीट कर दुख देते रहे। उस समय खेल मे हार जाने का दुख और जीत जाने का हर्ष क्षण-क्षण सताते रहे॥ ३॥ टेढे चलने वाले, क्रूर, बिना अपराध ही वडी निठुराई से मारने-पीटनेवाले, नाना कुकर्म सिखानेवाले, बिना प्रयोजन ही झगडा करने वाले, कुटिल और कुचाली लडको को देखकर हम बहुत भय पाते रहे॥ ४॥ अपने माता-पिता के विरोधी टोला-पडोस मे जो-जो स्त्री और पुरुष थे वे अपने विरोधी की सतान जानकर निरपराध मुझे देख-देखकर डाह करते, अवसर पाकर नाना प्रकार सताते रहे। इस रीति से मैं अपनी मनसा के विपरीत मिलनेवालो से सदा दुख पाता रहा॥ ५॥ धन्य-धन्य श्री गुरुदेव! महान परोपकारी जो कि जगत और जगत के सम्बन्धियो मे दुख को दिखा दिये, क्योकि मैं मोहनिद्रा मे दुख पाता हुआ भी दुख न गिनकर उसी मे सोता रहा, बार-बार देह धरने का बीज बो रहा था। यह तो श्रीगुरुदेव की ही कृपा का फल है कि जगत का मोह छुडाकर बाल-यौवन-वृद्धादि के सब दुख-द्वन्द्वो से रहित करके पारख ज्ञान देकर जन्म-मरण से पृथक कर दिये। गुरुबोध प्राप्त करके देह वासना रहित आगे देह न बनने से देह सम्बन्धी बाल, युवा, वृद्धादि का दुसह दुख सहज ही छूट जाता है। यह सब गुरुकृपा का फल है॥ ६॥

प्रसंग ४—गुरुपद प्रीति दृढ़भाव कर्तव्य

शब्द—१०

मिले गुरु संगी तजब मन मानी ॥ टेक ॥

गुरु के बयन सुनब चित धरि कै, छोड़ि जगत की बानी ॥ १ ॥
युवति रिझावन टहल न करिबै, गुरु के हाथ बिकानी ॥ २ ॥
मत मजहेब भ्रम ग्रन्थ न देखिबै, पढिबै गुरुमुख बानी ॥ ३ ॥
गुरु के ज्ञान मनन तद ह्वै कै, लेबै रहस्य निशानी ॥ ४ ॥
ताल राग स्वर धुनि सब तजि के, गुरु की सुनब कहानी ॥ ५ ॥
मन के चरित लखत थकि बैठे, गुरु कै सुमति लोभानी ॥ ६ ॥
मन रक्षण कोइ बस्तु न खइवै, तन हित खाद्य वखानी ॥ ७ ॥
बिषय अगिनि से जलति बचावो, गुरु के दरश जुड़ानी ॥ ८ ॥
धन संपति दुख साज न सजिबे, गुरु के ज्ञान समानी ॥ ९ ॥
मोह मिलावन भार न धरिबे, होइहे सकल दुख हानी ॥ १० ॥
गुरुब्रत गहि अर्पण करि मन को, भव के पार ठेकानी ॥ ११ ॥

टीका—अब हमको परम सहायक श्रीसद्‌गुरुदेव मिल गये, जिससे दुखप्रद मन की झूठी मानी हुई सुखाशारूप अनत कल्पनाओ और क्रियाओ को हम छोड देगे ॥ टेक ॥ अव हम इस मन के फन्दे से बचने के लिये जगत के रसिक काव्य शृगारादि प्रपच की बानी सुनना छोडकर गुरुदेव के ही निर्णयरूप वचन सुनेगे ॥ १ ॥ पाँचो विषय से पूर्ण इन्द्रिय-सुख को चाहनेवाली, हठता ओर मदन की खानि, परमार्थ मे बाधकरूप प्रमदा के प्रसन्नता-निमित्त कोई भी बन्धन हेतु कार्य नहीं करेगे। क्योकि जीव एक ही है, वह अब गुरु के हाथ बिक गया हैं, तो गुरु के अनुसार साधन-विचार करे या वाम-विनोदार्थ काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मे आसक्त होवे। यथा कहा है—"बिके बिना नहि बाचिहौ, चाहे जहाँ विकाव। गुरु के बिके बिकन नशि, मन के बिके बिकाव" ॥ सब मनुष्यो को कहीं न कही विकना अवश्य पडता है, चाहे सकामी स्त्री-पुरुषो के वश और इन्द्रिय-मन, विषय-वासनाओ के वश हो नाना नाच नाचे और चाहे श्रीगुरु की शरण मे विककर शुद्ध-सत्य ध्येय सहित साधन मे तन-मन लगा दे। पर स्मरण रखना चाहिए कि सकामी नर-नारियो की ओर बिककर बिकना बन्द नहीं होगा। बार-बार सब कही बिकना ही पडेगा, सब दुर्दशा भोगना ही पडेगा, परतु गुरु के हाथ बिककर बडे दरबार का चाकर हो जाने से कामादि शत्रु का मजाल है कि आँख उठा सके। इससे गुरु के हाथ बिकना ही श्रेष्ठ है।

दृष्टान्त—एक देवदत्त नामक पडित सद्‌भक्त, सदाचारी और सत्संगी था। वह सतो का सत्सग ओर भक्ति ही अपने आश्रम मे मुख्य समझता था। इसलिये एक न एक विवेकी साधु को बुलाकर विविध प्रकार से सेवा करता और सद्‌शिक्षा सुनकर शम, दमादिक साधन युक्त रहता था, पर उसकी स्त्री बिलकुल नासमझ थी। वह अपने क्षणिक भोगसुख के लिये पुरुष

के सत्यव्रत का नाश करना चाहती थी। इसलिये वह अनेक उपाय करती रही कि देवदत्त सत्सग, विवेक और साधन से रुक जावे, पर देवदत्त को जगत दुखो से छूटने की पूर्ण इच्छा थी, अतः वह अपने साधना मार्ग से कभी विचलित नहीं होता था। एक दिन स्त्री और देवदत्त का इस प्रकार प्रश्नोत्तर हुआ—

प्रश्नोत्तर—साखी—*क्यो बैठत सत्सग मे, सेवत क्यो परलोग।*
जीव काज के कारणे, करत सेव संयोग॥

स्त्री बोली—अहो! आप साधुसग मे क्यो बेठते हैं? साधुओ से न तो कोई रिस्ता, न वास्ता, फिर क्यो बिराने की सेवा करते है? तब पुरुष बोला—देह से भिन्न जो स्वय अमर चेतन है, उसकी संसारियो के सम्बन्ध से विपरीत-समझ हो रही है, सो विपरीत समझ मिटाने के लिये हम साधु सत्सग करते हैं। जगत-प्राणियो का भी सम्बन्ध अपने-अपने मन सुख के लिये ही है। अपने-अपने मन का जिस दिन नही पाते उसी दिन सब-सबके शत्रुरूप होकर बर्ताव करते दिखाई देते है। जब तुच्छ इन्द्रिय-भोग के लिये सब रिस्तेदारो से वास्ता मान लिया जाता है, जिनकी ममता का फल जन्म-मरणादिरूप नर्कवास हे, तो अविनाशी स्वरूपज्ञान गुण साधन विचार के लिये विवेकी सतो से क्यो न नाता जोडा जाय! सच्चे हितैषी साधु-गुरु ही है, जिनके प्रेम का फल मानसिक रोगो की निवृत्ति है। सच्चे हितैषी सम्बन्धी सत्यशिक्षक ही होते हैं। तुझे इन बातो का ज्ञान नहीं है। हम जीव के कृतार्थ हेतु परिश्रम कर सेवा और सत्सग करते रहते हैं, यथा—

"सतन मे जेहि प्रीति अभगा। मोक्ष होन को ताहि प्रसगा"॥

प्रश्नोत्तर—साखी—*सबहि बिरक्ती लेयँ जो, तौ सब सृष्टी छिन्न॥*
तो यामे है हानि क्या, वृथा होति तैं खिन्न॥

स्त्री—सब वैराग्यवान तथा त्यागी हो जायें तो सृष्टि ही न रह जायेगी। पुरुष—तो इसमे तेरी या किसी की हानि ही क्या है! हानि तो तुझे मन से मालूम होती है। जब तू अचेत निद्रा मे सो जाती हे, स्वप्न भी जब नही देखती उस समय तुझे कुछ भी दुख नही मालूम होता। विना देखी-सुनी हुई बाते मनन न होने से तिसके सम्बन्धी हानि कहाँ प्रतीति होती है! अथवा जिसमे मोह, आदत, अपनैयत नहीं मानी है उसके न मिलने या हानि होने पर कहाँ दुख होता है! इससे सिद्ध हुआ कि हानि या दुख का मूल मनोद्वेग ही है। सो मन देह-इन्द्रियो के सम्बन्ध से है। विषयासक्ति-त्याग द्वारा देह न बने तो मन कहाँ! यदि मन ही नहीं तो दुख या हानि ही क्या! जब कोई दुख ही नही, तो सृष्टि न होना सुख रूप हुआ या दुखरूप! अरे! तू बिना समझे ही स्वप्न-जल मे डूबकर वृथा ही दुखी हो रही है। रोग ही के लिये दवा की जाती है, बिना दवा ही रोग चला जाय तो क्या पूछना! "बिन मारे बैरी मरै, ठाढे ऊख बिकाय।" वाली दशा हो जाय। मन के अन्दर जो काम-क्रोध की वासनाये हैं, वही ससार है। विना उस ससार के मिटे बाह्य ससार कैसे मिटेगा! पहिले अपना मन काबू कर, तब फिर सृष्टि भर की चिन्ता कर। तेरा कहना तो ऐसा हुआ कि "दोहा—रोगी कोषै वैद को, सबै अरोगी होय। तो वैदाय बेकाम भौ, भला कहे अस कोय!"॥ जैसे उन्मादी रोगी सद्वेद्य को कोसने लगे कि तेरी दवा से सब रोग रहित हो जायँ तो तू किसकी दवा करेगा? या तेरा कार्य कैसे

चलेगा? तब सद्वैद्य कहते हैं अरे। तेरे समान पागल की सी बाते कोन कहेगा! कोन रोग पीडित मनुष्य रोग से छुटकारा नहीं चाहता है। यदि रोग न होता तो वैद्य की आवश्यकता ही क्या है। तब तो तेरा परिश्रम ही पूर्ण हो जाय, वैदाय की फिर जरूरत ही न पडे। काम-क्रोधादि यही बडे रोग है। जन्म, जरा, व्याधि, मृत्यु बार-बार इसी वासना से होते हैं। यदि सबकी कामनाये नष्ट हो जायँ तो फिर इससे बढकर और क्या है। पर इन बातो की तुझे कहाँ समझ है। क्योकि परमार्थ भी एक विद्या है, उसको सतो के सत्संग विना तू क्या, कोई भी समझ नहीं सकता। अभी से तू साधु सत्सग मे प्रेम करे तो भी यथार्थ समझ होकर सुख मिल जाय।

प्रश्नोत्तर—साखी—*राख पडै वहि समझमे, मनको राखै गारि।*
मनतो मारन सबहिको, परवश या वश टारि॥

स्त्री बोली—धूल पडे, अगार लगे, मैं उस बात को नहीं समझना चाहती जिसमे मन को मारकर रखना पडे, तुम्हीं इसमे मरो। पुरुष—अरी अबले। तू क्या। ससार ही इस मनको मारने के लिये हैरान है। मन सबको मारना पडता है। तू अपने मन ही के पूर्ण करने के लिये सब कार्य करती है। चाहे कुछ दौड के आगे हद्द न देख गिरकर रुके या पहिले ही से विषय-सुख मिथ्या जानकर रुक जाय। पर मन की चालो को मिथ्या समझते हुए जो अपने को अपने वश रखकर इच्छाओ को हटा देता है वह सदा के लिये आरोग्य होकर मन की बेगारी से छुट्टी पा जाता है और जो विषयो को भोग-भोग कर शक्तिहत होने से रुकता है, वह हदरोगी के समान दुखी ही रहता है। जैसे कोई नाच देख-देख कर नेत थकने पर रुक जाता है, पर यह रुकना पूर्ण होकर नहीं है, क्योकि इससे फिर चौगुनी इच्छा बढेगी और जो समझ लिया कि इच्छा होना दुख है, इच्छा मिट जाना ही सुख है, तो इच्छा हमारी पहले ही से बुझी बुझाई है, मे क्यो आदत बनाऊँ। अथवा बनी हुई आदत को त्याग द्वारा ही मिटाकर मैं सुखी होऊँगा, ऐसे विचारशील की इच्छा सदा के लिये पूर्ण हो जाती है। हे मोहजाले। तू समझती है कि मन न मारना पडे तब सुख हो, यह तेरी भूल ही तुझे अनत कष्ट देती है। तू चेत! मन तो जितना चाहता है और जितना पायेगा उतना ही बढेगा। फिर मन विषयो को रात-दिन चाहता है, सबका धन, सबका रूप, सबकी प्रभुताई, सबका सुख, यहाँ तक कि ब्रह्माड भर जो तेरे आगे रख दे तो भी मन मारना ही पडेगा, क्योकि मन की कल्पनाये अनत हैं। जितना ही जो मनका कहा करता है उतना ही उसको मन मारना पडता हे। उसका मन बालक के समान सर्वदा सहन रहित हो जाता है। अब मैं तुझसे विशेष क्या कहूँ, तुझे सुख पाना हो तो तू अपने मन को जीत और सुखी हो, मैं तेरे हितकर वचन कहता हूँ।

स्त्री ऑखें चढाकर क्रोधभरे वचन बोली—मै बहुत प्रपच नहीं जानती, न सुनना चाहती हूँ, मै तुम्हारा त्याग आगे बताऊँगी। इससे तो अच्छा हे मर जाओ, न रह जाओ, कहीं चले जाओ। पुरुष बोला—तू दुख मत मान। मै मरने ही का ठाट ठट रहा हूँ। फिर जैसा हो, इत्यादि बाते स्त्री-पुरुष मे चलती थीं। कामी नर-नारियो को धन, वस्त्र, भोजन, मान, सत्सगादि का चाहे जो सुख हो, पर एक जगत मूलक भ्रमसुख न पावे तो वे कभी सतुष्ट नहीं होते। त्यागवृत्ति के कारण देवदत्त से स्त्री सदा असंतुष्ट रहती थी। स्त्री को निश्चय था कि साधु-महात्माओ के सग से ही इनकी मति भ्रष्ट हो गई है। अतः विशेष कोप उसका सतो पर

रहा। परन्तु सबसे अधिक कोप तो देवदत्त के गुरु पर ही था। "वैष्णव कत अवैष्णव नारी। ऊँट बैल की जोत विचारी॥" देवदत्त दिन बिताते रहे। कथा-वार्ता सत्संग मे ग्राम के अनेक स्त्री-पुरुष आते थे, शिक्षा के अनुसार अपने सुधार निमित्त पूर्ण प्रयत्न मे सब लग रहे थे, पर घर की स्त्री को कुछ भी सत्सग का असर न पड़ा। "कहुँ श्रद्धा बिन शिक्षा लागत" के अनुसार उसको तो सत महात्मा बैरी जान पडते थे।

एक दिन देवदत्त कहीं गये थे। संयोगवश गुरुदेव आ गये। उन्होने पूछा कि देवदत्त कहाँ है? देखते ही स्त्री जल गई। फिर भी धीरज धरकर बोली—महाराज प्रणाम! थोडा सोचकर तुरत स्त्री बोली कि महाराज! आपके शिष्य तो न जाने किस कारण से पागल हो गये हैं। वे पहिले जिन-जिन इष्टमित्र-गुरुजनो से प्रेम करते रहे, अब कहते हैं कि उन्हे मै मार डालूँगा, इस प्रकार बकते हुए आपके शिष्य कुल्हाडी लिये घूमते हैं। कहीं ऐसा न हो कि आप मिल जाय तो मार डाले। सिडी-सौदाई का क्या ठिकाना! गुरु—यह बात साँच है? स्त्री—अरे महाराज! आप से भी झूठ! उनके गुरु तो हमारे भी गुरु! "गुरु से कपट साधु से चोरी। की होय निर्धन की होय कोढी"। इतना सुनते ही गुरु महाराज पोथी, आसन पात्र सब उठाकर चल दिये। इतने मे देवदत्त घर को आये। स्त्री बोली—तुम्हारे गुरु आये थे। पुरुष ने कहा—तो क्यो सम्मान नहीं किया? स्त्री—सम्मान क्यो न करती! पर वे एक कुल्हाडी माँगते थे, कोई उनका काम होगा, मैने तुम्हारे बिना नहीं दी। पुरुष—अहो! तूने बडी भूल की, कुल्हाड़ी क्या मेरा तन-धन आदि सर्वस्व गुरुदेव को निछावर है। स्त्री—यह सब मुझे नहीं मालूम! अभी बहुत दूर नहीं गये होगे। पुरुष कुल्हाडी हाथ मे लेकर दौडा। दौडते-दौडते गुरु को गाँव की सीमा पर दूर से देखा। हाथ उठाकर कुल्हाडी दिखाते हुए देवदत्त पुकारता जाय गुरू! गुरू!! स्वामी ठहरो! ठहरो!! कुल्हाडी ले लो। घूम कर गुरु ने देखा, तो स्त्री की बात ठीक निश्चय हो गई। गुरु प्राणसंकट जानकर पात्र, आसन, पुस्तक सब जल्दी मे डालकर भाग खडे हुए। देवदत्त गुरु के भागने का कुछ हिसाब जान न सका। गुरु की सब वस्तुये घर लाकर स्त्री से गुरु के भागने का कारण पूछा। स्त्री बोली—तुम जानो, गुरु जाने, मै कुछ नहीं जानती।

पडित उदास होकर गुरुस्थान मे आ गया, तब भी गुरु उससे डरते रहे। देवदत ने पूछा—आप क्यो भयभीत हैं? गुरुदेव ने पूर्व का सब हाल कहा। देवदत्त स्त्री के बर्ताव को सुनते ही अधिक कष्टित हो, हाय! करके रह गया। माया-चरित्र कोई सुनता है मेरे सिर पर बीतता है, ऐसी दशा मे तो वह मार तक सकती है। मुझे धिक्कार है कि जो छलमूर्ति माया की ममता कर मैं गृहजाल मे फँसा पडा हूँ।

पडितजी अपने मन से कहने लगे कि हे मन! तू स्त्री के बाहरी प्रेम मे मत भूल। यह बिजली व नदी के प्रवाह की भाँति अति चचल है। अहो! इन्द्रियो के वशवर्ती इस संसार मे कामी नर-नारियो का विश्वास नहीं है। जो आज अपने हैं, दूसरे क्षण मे पराये हो जाते है। हे मन! यह सीख स्मरण रख। दोहा—"उरग तुरग नारी नृपति, नर नीचो हथियार। तुलसी परखत रहब नित, इनहि न पलटत बार॥" तु० सतसई॥ इस प्रकार देवदत्त विचार कर रहा है कि गुरु से भेद कराने वाली, मोह करके विषय-प्रपच मे बाँधनेवाली, शोक-मोहमूलक योषित का अब तो सर्वथा त्यागकर कल्याणपथ मे आरूढ होऊँगा। ऐसा दृढ निश्चय कर वह निज स्वरूप के स्थिति-साधन मे एकचित्त से लग गया। विशेष करके नारियो को परमार्थ ज्ञान पुष्ट न

होने से वे परमार्थ मे काम, क्रोध, लोभादि वढाकर रुकावट करती हैं। इसलिये यहाँ मुमुक्षु पुरुष कहता है कि वामविनोदार्थ कार्य नहीं करूँगा। परन्तु अज्ञानी पुरुष भी स्त्री से कम नहीं हैं। यदि स्त्री को मोक्ष की तीव्र इच्छा हो तो पुरुषासक्ति युक्तिपूर्वक हटानी पड़ेगी। दोनो के लिये युवति का भाव हुआ' मैथुन व पाँचो विषयो की चाह और क्रिया, सो कल्याणार्थी नर-नारी दोनो को वधनदायक क्रिया से अलग होना चाहिये॥ २॥

भास, अध्यास, अनुमान, कल्पना, मिथ्या सिद्धान्तो को पुष्ट करने वाले या विषय वृत्ति को वढानेवाले ग्रन्थो को हम नहीं पढेगे, केवल गुरुमुख वाणी का ही पठन-पाठन करते रहेंगे। "सार शव्द निर्णय को नामा। जाते होय जीव को कामा" ॥ प०॥ मुख्य अपने कल्याण के लिये तो गुरुमुख वाणी का मनन ही काफी है, यही सिद्धांत अटलरूप से जिज्ञासुओ को ग्राह्य है। हाँ! भ्रमिक सिद्धान्तो को त्यागकर केवल रहस्य साधक वाते सर्व को ग्राह्य हैं, क्योकि—दोहा—"ग्रन्थ पन्थ वहु भाँति के, प्रचलित हैं जग माहि। वृथा सकल सत असत के, जहँ विचार कछु नाहि"॥ सतो० ॥ ३॥ अव तो हम गुरु के पारखज्ञान का ही मनन-चिंतन करते-करते उसी मे तदाकार हो रहेगे और जितने गुरुदेव के कल्याणकारी रहस्य, रहनी और वाह्य भेषचिह्न हैं उन सबको हम वडे प्रेम से धारण करेगे॥ ४॥ कानो को अच्छे लगनेवाले जगत की राग-रागिनी, विषयासक्ति को पुष्ट करनेवाले अनेक छन्द-प्रवन्ध, श्लोकादि की व्याख्या, सितार, तबला, मॅजीरो की झनकारो से काम क्या बनेगा सिवा आसक्ति बन्धन बढने के। अत. उन्हे त्यागकर हम गुरुदेव के श्रीमुख से निकली हुई देशी-निर्मान भाषा की ही कथाओ को बडे प्रेम से सुनेगे और ग्रहण करेगे। साखी—"नित्य रूप जेहि वाक्य से, जाने ठहरै रूप। सोइ विद्या गुरुदेव की, हरत सकल भ्रम कूप" ॥ ५॥

हम गुरु की दया से मन की अटपटी चालो को देख-देख कर थक गये हैं, कायल हो गये हैं, अव हमने निश्चय कर लिया है कि इस दगावाज मन का एक भी कहा न मानेगे। अव तो गुरुदेव की दी हुई जो सद्विवेकरूप सुबुद्धि है उसी मे लुब्ध हो रहे हैं। बस अब गुरुबुद्धि, गुरु विचार ही से हमारा कल्याण हो जायेगा। क्योकि—साखी—"कबीर यह मन लालची, समझै नहीं गॅवार। भजन करन को आलसी, भोजन को हुशियार॥ जेती लहरि समुद्र की, तेती मन की दौर। सहजै हीरा नीपजै, जो मन आवै ठौर" ॥ साखी ग्रन्थ॥ ऐसे मन का कहा न मानकर गुरु-विवेक से ही कार्य करेगे॥ ६॥ जैसे अच्छी या न अच्छी लगने के लिये औषधि नहीं खाई जाती, वल्कि रोगनिवृत्ति के लिए ही कटु और मीठी योग्य औषधि ग्रहण की जाती है, तद्वत केवल मन को अच्छा लगने के लिये ही हम खाद्य वस्तुओ को ग्रहण नहीं करेगे, वल्कि देह-रक्षार्थ स्वादिष्ट अथवा साधारण पदार्थो मे भी सतोषपूर्वक आसक्तिरहित विचार सयुक्त शुद्ध अकुरज मात्त भोजन ग्रहण करेगे॥ ७॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध पॉचो विषय अग्नि के तुल्य जीव को जलाते रहते है। अग्नि जब छू जाय तब ही जलाती है और इन विषयो की वासना तो अनादिकाल से आज तक जलाती ही रही है और आगे भी विषयाग्नि का सम्वन्ध रखने से जलाती ही रहेगी। अत. अव गुरुदेव के मिल जाने से हम अपने को विषय-वासनारूप अग्नि से बचा लेगे। जलते हृदय को गुरुदर्शन रूप जल से सतोष रूप शीतलता आ गई। इसलिए हमे गुरुदर्शन ही नित्य चाहिये॥ यथा—"करि हरि मीन कुरग पतगा। इक इक बशि विसरत सब अंगा॥ सव के बशि सो किमि सुख पावै। तेहि ते मो मन

दूरि रहावै ॥ बि० ॥ ८ ॥

धनसग्रह[१] और अन्य ऐश्वर्य दुख की सामग्री है। उस दुख-सामग्री को हम एकत्र नही करेगे, क्योकि श्रीगुरु के प्रताप से मुझे अजर, अमर, अखण्ड संतोष रूप ज्ञान-धन की प्राप्ति हुई है, उसी मे अब हम मस्त है। कहा भी है—"दोहा—जब कौडी की रुचि भई, तब कौडी को होय। जब कौडी की रुचि गई, तब कोटिध्वज सोय"॥ सतो० ॥ किसी भी मन के अनुकूल दास-दासी या अन्य मायिक पदार्थो मे हम ममता न बॉधेगे। ममता-मोह ही बोझा है, सब बन्धनो की जड है। सब जालो मे धॅसा देने की मोह मे शक्ति है, अतएव मोह को गुरु की दया से त्याग देगे, जिससे मोह सम्बन्धी सर्व दुखो से हमारा पीछा छूट जाय ॥ १० ॥ पूर्वोक्त मन की चालो को त्याग और गुरुमतानुसार साधन सयम सहित स्वरूपबोध मे टिकाव ही गुरुव्रत है। ऐसे गुरुव्रत को ग्रहण कर गुरु के चरणों मे अपने मन को भेट देकर हम ससार-चक्कर से पार पाकर मोक्षरूप घर मे सदा के लिए अपने ठौर-ठिकाने अचल निराधार हो रहेगे। जिससे फिर दुखार्णव मनोमय से भेट न होगी। यह सब बन्दीछोर के मिलने का ही प्रताप है। धन्य-धन्य गुरुदेव, जय-जय गुरुदेव ॥ ११ ॥

शब्द—११

बरत यह गुरु का काज निजैसी ॥ टेक ॥

जग की बात न मुख से भाखौ, जब बोलौ तब परखि मिटैसी ॥ १ ॥
पंच बिषय दुख मुक्त तुम्हारे, मॉगत देव न जानि ठगैसी ॥ २ ॥
भूल त्यागि निर्भूल परखि रहौ, बिषय क्रिया तजि काज सतैसी ॥ ३ ॥
कहै कबीर बिलग ह्वै जग से, स्वत· स्वरूप रहैसी ॥ ४ ॥

टीका—हे जिज्ञासु! जो व्रत रहने से जीव का काज सिद्ध हो जाता है, वही गुरुव्रत आगे निरूपण करते है, उसे सुनो और गुनो ॥ टेक ॥ जगत-प्रपच की बातो का मुख से मत उच्चारण करो। जिससे राग-द्वेष, विषयासक्ति, झगडा, बधन अपने और दूसरे के सिर पर मढ जाय ऐसे वचन भूलकर भी न बोलो। कहा भी है—"भवबंधन जाते ह्वै रूढा। ऐसी बात कहै सो मूढा" ॥ पं० ॥ जब कभी बोलो तब निर्णय, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति सने शब्द बोलो, जिससे काल-कल्पना की परीक्षा होवे। अन्तःकरण से उठे हुए तथा बाहर से आये हुए प्रपच के शब्दो का विष मिट जाय, बस ऐसे ही शब्द बोलो ॥ १ ॥ पॉचो विषय तो तुम्हारे स्वरूप मे हैं नही, उस

१　अधिक धनवृद्धि और तिसके रक्षण मे लगे रहने से साधु-सग करने का मौका ही नहीं मिलता। सत्सग बिना सद्गुणो की प्राप्ति नहीं होती, इसलिए अधिक धन की तृष्णा छोडकर निर्वाह के लिए सामान्य व्यवहार लेकर हानि-लाभ मे सतोष रखते हुए सत्सग से हम कल्याण करेगे। कल्याणार्थी विचारे—"दोहा—तीन गती हे द्रव्य की, दान भोग औ नाश। कोपै ताडै भ्रात लय, जहाँ न जेठा बास ॥ १ ॥ लोभ तजे बिन सुख नही, जिमि पानी को नाव। ह्वै उदार शुचि उल्चिये, नहि तो डूबी जाव" ॥ २ ॥ इससे आश्रमवान सम्पत्तिवालो को उदार होकर दान-धर्म तथा पर सम्मान करना चाहिए, जिससे कि दुर्गुणो से बचावा होकर सन्मार्ग ग्रहण होता है और विरक्त को तो सर्वथा लोभ-रहित होना चाहिए।

दुख से तुम मुक्त हो। पर भूल से जो बन्धन बना लिये हो उस वन्धनरूप पाँचो विपयो की आसक्तिकृत दुख से नि सन्देह तुम छूट जाओगे, जो यह यत कर लो कि जब-जब तुम्हारा मन विषयो को माँगे तब-तव उन्हे मत दो। मन को तुम पूर्ण ठग जान लो। भ्रम-सुख की हरी-हरी टट्टी दिखाकर यह मन तुम्हे दुख-लासा से लसा देगा, इसलिए इस मन की ठगाई से हे जीव! तुम बचो, मन का कहा न मानो॥ २॥

निज स्वरूप से पृथक देह ओर देह सम्बन्धी पाँचो विपयो मे सुख मानना आर ग्रहण करना भूल है। भूल का शरीर सम्बन्ध रहने से भूल के ही अकुर होते रहते हें। उस भूल-भ्रम को परख-परख कर त्यागते हुए भूल रहित पारख स्वरूप मे स्थिर रहो। सुख मानदी युक्त जो विषयभोग है उन्हे छोड दो तब अपने सत्य स्वरूप मे तुम्हारा ठहराव हो जायेगा, फिर तुम्हारा काम बन जायेगा॥ ३॥ गुरुदेव कहते हैं कि पूर्वोक्त प्रकार ससार के प्रपच से पृथक होकर स्वय स्वतन्त्र नैराश्यतायुक्त निज स्वरूप मे ठहरो, बस यही पूर्ण व्रत[१] हे। इसको तन-मन मे कष्ट सहकर पालन करो॥ ४॥

शव्द—१२

मनन करौ गुरु का ज्ञान हितेषी॥ टेक॥

बिषयन यादि न मन मे लावो, जबरन आवत मारि भगैसी॥ १॥
जब देखो तव दोपहिं देखो, सुख छल जानि तजेसी॥ २॥
बहुति जाल मन काल के दरशे, सब लखि यादि रखैसी॥ ३॥
कहै कवीर आजु यह औसर, फिरि पछताये न पार मिलैसी॥ ४॥

टीका—हे मुक्ति-इच्छुक! सद्गुरुदेव के यथार्थज्ञान का वारम्बार मनन करो। देखो! जगत मे ज्ञान तो अनत प्रकार के है, परन्तु वे ज्ञान अनुमान, कल्पना ओर विपयजालो को ही पुष्ट करने वाले हे। एक गुरु का ज्ञान ही सर्व भ्रम तथा विपयजालो से बचाकर जीव का कल्याण करने वाला हे॥ टेक॥ पाँचो इन्द्रियो द्वारा अनुभव होते हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गध मे सत्यता ओर सुख का स्मरण मत करो। पूर्व के टिके हुए सस्कार यदि उठ पडे, तो हठपूर्वक विपयो की असारता का विचार कर विषयवृत्ति को उसी भाँति भगा दो, जैसे सर्प या बीछी को भयदायक जान कर भगा दिया जाता है॥ १॥ जव विषयो का स्मरण हो तव दुख ही दुख विचारो और जो उनमे सुख प्रतीत होता हे, वह मन की ठगाई और भूल-भ्रम ही समझो, क्योंकि जब वह मान्यता सामने से हट जाती है तब उसमे कुछ सुख नहीं प्रतीत होता। न उसके बिना कुछ हानि या दुख ही प्रतीत होता है। इससे सुख प्रतीत होना धोखा मात्र है।

---

१ एकादशी व्रत नहि जाने। भूत-प्रेत हठि हृदय धरे॥ बी०॥ गुरु के न्याय विचार से दस इन्द्रिय तथा ग्यारहवे मन को विषयो से रोककर उन्हे सयम से रखना एकादशीव्रत है। यह व्रत न कर वृथा भूत-प्रेत की कल्पना मे जीव उलझे हैं। इस प्रमाण से गुरु रहस्य दया-क्षमादि को हर समय मे ग्रहण करना ही दिव्य व्रत हे। अल्पाहार, व्रह्मचर्य, दृढसकल्प, सर्वांग रहस्ययुक्त गुरुदेव की उपासना, सत्सगादि, ये सब रहस्य गुरुव्रत मे साधक हे। कहा हे—"माया मन ठगिनी वरत, वरत विविध सह कष्ट। गुरू बरत रहि सकल सुख, गुरू बरत बिन भ्रष्ट"॥

भोगो मे सुख है ही नहीं ऐसा जानकर मन के धोखे मे मत पडो, भोगो को त्याग दो॥ २॥

दुखदायी मन-वासनाओ के अनत भुलावे तथा चक्कर है, उन्हे गुरुपारख से देख-देखकर सावधान रहना चाहिये। मन काल ने जिन-जिन भुलावे तथा सुख-प्रलोभनो की आशा दे-देकर धोखा दिया है, जिसका कष्ट बहुत बार वर्तमान ही देह मे जीव भोग चुका है, उन सब बातो का और उन-उन समयो का वर्तमान-भविष्य के लिए लेखा रखना चाहिये। लेखा और परीक्षा के साथ ही दृढ ग्लानि रखते हुए मन के भुलावे को ध्यान मे रखकर उससे सदा सावधान रहना चाहिये, जिससे फिर मन के चक्कर मे न गिरना पडे॥ ३॥ गुरुदेव कहते हैं कि आज कल्याण करने का अच्छा मोका है, इस समय चूक जाने से अत मे पछताने पर भी इस असार ससार का उल्लघन नहीं कर सकते, पश्वादि योनियो मे बार-बार जन्म-मृत्यु की लहरो मे बहना पडेगा, अतः सावधान॥ ४॥

दृष्टांत—एक जगदीश नामक युवक किसान था। वह आषाढ महीना मे अपनी ससुराल गया। वह आरामतलब तथा आलसी था। उसने ससुराल मे अच्छे-अच्छे भोजन तथा सम्मान पाकर आसन जमा दिया। चार-छह दिन के बाद खाते समय उसकी सास बोली—भैया! कुछ और लोगे? दामादजी ने कहा—हाँ, थोडा भात दे दो। सास भात परोसते हुए बोली—"यही भात से भात है, भर पेट ले लीजिये।" जगदीश बोला—यह कैसे? सास ने कहा कि आषाढ महीने मे आप यहाँ बैठे आराम कर रहे है, पानी की वर्षा खूब हुई है, किसान के सालोमाल का प्रबध इसी महीना मे पानी बरसने से चालू होता है। आपके खेत मे धान के बीज कौन बोवेगा? धान न बोया जायेगा तो रकम कहाँ से होगी? फिर आप क्या खायेगे? क्या आपने सुना नही है कि "तेरह कातिक, तीन आषाढ।" आषाढ मे जलवृष्टि के तीन दिन मे जो चूका सो किसान साल भर के लिए गया। इस चेतावनी से जगदीश को होश हुआ, वह चल दिया। सास-श्वसुर ने कुछ वस्त्र, उत्तम-उत्तम पदार्थ और कुछ रुपये भेट देकर विदा किया। जगदीश के मार्ग मे एक मायानगर पडता था, घर दूर था इसलिये मायानगर मे रात्रि को ठहरना पडा। जैसा नाम तैसा ही उस शहर मे माया भी होती थी। वह नगर पॉचो विषयो से पूर्ण था, कहीं भॉति-भॉति के खेल, कही नाटक, कहीं नाचरग, कहीं चोसर इत्यादि होते थे।

जगदीश जिस स्थान पर ठहरा था, वहाँ एक ठग हितैषी मित्ररूप मे मन हरण करके जहाँ जुआ होता था वहाँ ले जाकर जगदीश को खड़ा कर दिया और आप दाव पाकर बैठ गया। जगदीश के देखते ही क्षण मे दस से पचास रुपये उसने जीत लिये। फिर मित्र से बोला—जगदीश प्रसाद! आप क्या देखते हैं? दाव लगा दीजिये। जगदीश को लालच लगा, उसने पचास रुपये दावं पर धर दिये। पासा फेका गया, जगदीश की जीत हुई। पचास के सौ रुपये हो गये। जगदीश का मन "जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई" के समान बढ गया, दाव पर दावं अधिक-अधिक धरने लगा। अब उन दलालो ने उसको हराना आरम्भ किया। एक बार जगदीश ने पास के सब रुपये लगा दिये। पासा चलाते ही उसका दाव खाली पड गया। लाभ क्या, जमा भी गायब। अब वह उधार लेकर खेलने लगा। हारते-हारते अत में कर्जी हो गया। उधार देने वालो ने कहा—रे परदेशी! तू अपने जूते, छाता, उत्तम-उत्तम सब कपडे उतार के धर। वह उतारना नहीं चाहता था, इसलिये उस पर पडापड जूतो की मार पडने लगी, तब पोशाक ओर पदार्थ सब धर दिया, दलालो ने ले लिये। वह जब विनय करके कुछ

मॉगने लगा, तो चार थप्पड और लगाकर दलालो ने कहा—चल बे। जीत जाता तो किसको देता। हार गया तो कौन साझी। वह रोता हुआ घर को आया, किसानी का समय भी वीत जाने से बीज न बो सका। "तब पछितायें होत क्या जब चिडियॉ चुन गयीं खेत" सब प्रकार जगदीश को दुख ही दुख भोगना पडा।

सिद्धान्त—जगदीश जीव है। कुछ शुद्ध कमाई से मनुष्य देह पाया हे। पर यह भूला हुआ भोग सुखो को चाहता है। इसे सतजन तथा सद्ग्रन्थ चेताते हैं कि कुछ उस जन्म मे सुकृत किये थे तो अब खाने-पीने आदि जगत का सुख मिला ह। इन क्षणभगुर पदार्थों मे आसक्त होकर अविनाशी पद प्राप्त करने योग्य मनुष्य-चोला को अकारथ न गवाँवे। इसमे जीव के कल्याण हेतु साधन धर्म-सत्सग से घनिष्ठ प्रेम और सम्बन्ध रक्खे। साखी—"जो तू आया जगत मे, तो ऐसा करि लेय। कर साहेब की बन्दगी, भूखे को कछु देय॥" यह सदुपदेश सुनकर जीव परमार्थरूप घर की तरफ चलता है। परन्तु वीच मे मायानगर पाँचो विषयो के भ्रमसुख मे ललचाकर पुनः इन्द्रिय-सुखों का जुआ खेलने लगता है, इसलिए क्रोध, लोभ, मोहादि ठगो द्वारा विवेकादि साधन सामग्री और परमार्थदृष्टि हरण हो जाती है, जिससे मनुष्य देहरूप, पोशाक का भी हरण होकर इसे कूकर-शूकरादि चौरासी मे असह क्लेश होता है, तब दुख छूटने की इच्छा होते हुए भी कोई उपाय नहीं चलता। इसलिये सबको कल्याण के साधन मे मन देना चाहिये, जगदीश की भाँति ठगाना न चाहिये। भोग प्रवृत्ति, मनोरजन क्रिया, विषयोत्पादक सग और सब सूक्ष्म जगत-वासनाये छोडकर युक्ति से सत्यपद मे लगना चाहिये। क्योकि "गया वक्त फिर हाथ आता नहीं हे॥"

शब्द—१३

सरल मग सुख की चाह छुटेसी॥ टेक॥

काम तजौ जग शत्रु विजय ह्वै, निज पर कुशल भलेसी।
भय असमजस बशिता छूटै, भरम पहाड़ टलैसी॥ १॥
लोभ तजो सब सम्पति तुम्हरे, सब दुख गर्ज जलैसी।
छल प्रपच उनमादिक तृष्णा, इर्षा कुसँग हटैसी॥ २॥
मोह तजौ निश्चिंत शरण ह्वै, नहिं कोइ काज सबैसी।
स्वत अकेलि बिजाति सकल दुख, छुटहा साथ कसैसी॥ ३॥
क्रोध तजो नहिं दखल किसी पर, सरल त्रिताप बुझैसी।
गुरु के बचन समुझि गहि जिय मे, लाभ अचल निरभैसी॥ ४॥

टीका—सब जीव दुखिया हैं। वे दुखो से छूटना चाहते है। गुरुदेव दुखो से छूटने का बहुत सीधा तथा सहज उपाय वतला रहे है कि जो तुम इन्द्रिय-सुखो की इच्छा करते हो, उन्हे छोड दो, बस तुम्हारा दुख छूट जाय॥ टेक॥ सबसे विशेष सुख काम-भोग को समझा जाता है। नर-नारी परस्पर भोग मे जो आनन्द मानते हैं, वह काम ही दुखसृष्टि है, उस मैथुन प्रसग को हे कल्याणार्थी! तुम त्याग दो, बस तुम्हारा कोई भी शत्रु न रह जायेगा। अन्दर-बाहर के शत्रु इस विषय-विलास के पीछे खडे हो जाते है। केवल तुम कामरूप शैतान को वश कर

लो, फिर चारो तरफ जीत ही जीत है। कामजित होने पर अपनी तो भलाई होती ही है, साथ ही दूसरे का भी हित होता है। विषयजित रहने पर भय किसका! सबकी ऐचाखैची और सबकी विवशता भी किसलिये! साराश यह कि काम त्याग कर ब्रह्मचर्य युत रहने से असमजस, ऐचाखैंची, परतन्त्रता, भय, जगत की सब गुलामी छूट जाती है। जिसके कारण से बनना-बिगडना, अपना-पराया, शोक-मोह तमाम भ्रम का पहाड लदा रहता है, वह काम ही है। उस काम को वश कर लेने पर पूर्वोक्त भ्रम का पहाड उतर जाता है॥ १॥ दूसरा लोभ है जिसमे सुख मान रक्खे हो, सो उलटा है। माया सग्रहरूप लोभ को छोड दो। लोभवृत्ति छोड देने से तुम्हे सतोषरूप पूर्णधन मिलेगा। लौकिक धन सब इच्छाओ को पूर्ण करने वाला मालूम होता है, परन्तु वह तृष्णा बढा देता है, इससे फिर कमी ही रह जाती है। धन का लोभ छोड देने से जब सतोष आ जाता है तब इच्छाये छूटकर परम शान्ति हो जाती है। फिर उसे सब धन का फल पूर्ण तृप्ति मिल जाती है, निर्वाह मे भी कमी नहीं रहती। मुख्य तो सब दुखो का मूल दूसरे से गर्जी होना है, सो लोभ छोड देने से रजोगुणी-तमोगुणी मनुष्यो के सामने गर्जी बनना नही पडता, दूसरे से छल, दम्भ और मिथ्या बाते बनाना नही पडता, अनर्थकारी उन्माद तथा अहकार भी नही होता। हृदय जलाने वाली, त्रैलोक्य वैभव से न बुझने वाली तृष्णा भी नहीं सताती। दूसरे के सुख को देखकर जलन होना ईर्ष्या है, सो ईर्ष्या का रोग भी नहीं लगता। सकामी-दुष्कर्मी मनुष्यों का कुसग भी नहीं करना पडता, इत्यादि बाते लोभ छोड देने से छूट जाती हैं॥ २॥

तुम्हारा तीसरा भक्षक मोह है। जो तुम सुख के लिए कुटुम्ब और अनुकूल पदार्थो से ममता बॉध रखे हो वही दुखरूप मोह है। विवेक पूर्वक मोह को तुम छोड़ दो, बस तुम्हारी चिंताये मोह के साथ ही बिदा हो जायेंगी। फिर निश्चिंतता से एकचित्त होकर वैराग्यमूर्ति गुरुदेव की शरण जाने पर तुम्हे अटल सुख-शान्ति मिलेगी। ससारियो से मोह बॉधकर तुम्हारा कुछ अर्थ न बनेगा। जीव तो स्वत: है, अपने आप अकेला है। उसको दूसरे की ममता ही भटका रही है। भला जो दूसरा है, छूट जानेवाला है, उसका साथ और सच्चा नाता भी कैसा! फिर छूटनेवाली वस्तु का मोह कर उसे सदा साथ रखने की इच्छा करना दुख लेना नहीं तो क्या है! इन बातो को विचार कर मोह त्याग करो॥ ३॥ चौथा क्रोध काल तुमको गॉसे है। क्रोध अभिमान से होता है। सदा सुख चाहो तो मद और क्रोध को छोड दो। प्राणी और पदार्थो पर बलात्कार कब्जा मत करो, सरलता धारण करो। यह जान लो कि स्वरूप से पृथक किसी पर हमारी कुछ स्ववशता नहीं है, फिर क्या प्रमाद लेकर हम किसी पर क्रोध करें! नम्रता, क्षमा और शीतलता धारण करने से तीनो तापो की अग्नि ठडी पड जाती है और तन, मन, वचन के दोष-दुखो से छुट्टी मिल जाती है। गुरुदेव के हितकर वचन समझकर हृदय मे धारण कर लो तो तुम्हे ऐसा लाभ मिल जायेगा जो अटल है, एकरस है, निर्भय है, सदा अपने आप है, जिसे पाकर फिर कुछ पाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसे नित्यपद मे स्वयं सदा के लिये ठहर रहोगे ॥ ४॥

दृष्टांत—गुरु का दरबार लगा है। सवैया—पारखरूप अनूप सु भूप हैं मन्त्रि विराग विवेक सुहावन। निवृत्त इकत सुबाग सुमारग देश यही गुरु को अतिपावन॥ सयम साधन सैन्य महा भट शान्ति तिया शुचि जो मनभावन। मनोज महा दल जीति अकटक राज्य करैं गुरुदेव सुठावन॥ १॥ ऐसे गुरु दरबार मे एक अमरसिंह नामक मनुष्य हाँफता-काँपता पसीने से भीगा

गिडगिडाता श्रीगुरु के सामने खडा हुआ। श्रीगुरु उसे दुखी देखकर बोले—हे भाई! तुम कान हो, तुमको किसने सताया हे, तुम्हे क्या दुख हे? कहो तो सही डरो मत, यहाँ शाति का दरबार हे। अमरसिंह हाथ जोडकर प्रार्थनायुक्त अपना दुख बताने लगा।

गजल—अपनी शरणो मे आप लगालो मुझे। जग के दुखो से आप बचालो मुझे॥ टेक॥ गुरुपद विमुख मे होय कर इस देह युत दुख ही सहा॥ गर्भ मे उलटे टँगे जठराग्नि मे जलता रहा॥ झिल्लि विच टसमस न कस दुर्गन्धि मे पचता रहा॥ पुनि कुछ समय के बाद लघु मग कष्ट से बाहर अहा॥ ऐसे कष्ट अनतो जलावे मुझे॥ १॥ मल मूत का कुछ भान नहि परवश सदा रोता रहा॥ रोग व्याधि-उपाधि वश कुछ कह सका नहि गो रहा॥ पुनि आर आगे खेलकूद मे धूल भूल समा रहा॥ सब वस्तु लखि ललचावता हठता अधीरज मे वहा॥ बालापन के ये द्वन्द्व सतावें मुझे॥ २॥ किशोर ज्वानी धार मे यह काम भॉर सजोर है। अति दूर ही से खेंच कर यह काम कुण्ड मे बोर हे॥ चमडी सजन रमणी मनावन पाप ताप जु घोर हे॥ छल बल झुलसि पाँखी बने अति कष्ट लहि कहि थोर हे॥ सतत ममता घडियाल चबावें मुझे॥ ३॥ पुनि वृद्धता है आ गई सब इन्द्रियाँ निर्बल भयीं॥ दाँतो गिरे कम कम दिखै बधिरौ व शान हेरा गई॥ टुट खाट पर तृष्णाग्नि मे बहु भूख प्यास सतावई॥ लखि श्वान पागल से दुरे निज प्राणप्रिय धिक्कारई॥ ऐसे असमय मे चिन्ता जलावे मुझे॥ ४॥ इस तरह संचित लिये उर भुम्मि कर्म अपार मे। अहि श्वान खग मृगयोनि भ्रमि नट स्वाँग ले अवतार मे॥ जाग्रत व स्वप्न सुषुप्ति मे अध्यास वश ससार मे॥ जडग्रन्थि मे भ्रमते रहे मन चर्ख माल अजार मे॥ ऐसी मन भव की सृष्टि नचावे मुझे॥ ५॥ डूब जल बल फाँस गँसि भ्रमि ठेल जेल सहा रहा॥ रोय लडभिड रोगि अध रु पगु गुँग भिखारि हा॥ साथी मेरे हम सम मिले सब स्वार्थ अर्थ सता रहा॥ सब दर क भिक्षुक ऊवि सबसे प्रेम अब गुरुपद लहा॥ गुरुवर पद सुकमल मे टिका लो मुझे"॥ ६॥

इतना विनययुक्त अपना दुख सुनाकर अमरसिंह कह रहा ह कि हे सद्गुरुदेव! अमर होने से में मरा नहीं, बाकी सब दुर्दशा सहा। इसी बीच मे कुछ पूर्व सुकृत के फल उदय हुए, कि एक सत मिल गये थे, वे मेरे दौडते ही दाडते मे कहे कि हे सजातिय! तुम क्यो दोड रहे हो! मैंने कहा कि इतना बताने का मुझे समय ही कहाँ हे! एक क्षण रुक जाऊँ तो सर्वस्व हानि हो जाय। सत—ठहरो ठहरो!! अमरसिंह—सुखभोग पदार्थों की हानि होगी। सत—सुकृत सुसग से तुम्हे एकरस अनन्त सुख मिलेगे, कुछ सुनो तो सही। अमरसिंह—अच्छा जल्दी कहिये। सत—तुम्हे सब सुखो की प्राप्ति हो, यही आशीर्वाद, जाओ तुमको जल्दी है। मैं चल दिया। सब कामकाज करते-करते कार्यो की अपूर्णता ही वश दौडते हुए उसी रास्ते से फिर निकला, सत मिल गये। सत—ठहरो! ठहरो!! अमरसिंह—अरे महाराज! मेरी लाखो की सम्पत्ति चाहे डूब जाय, चाहे जीवन ही व्यर्थ हो जाय, परन्तु अच्छे-अच्छे शब्द, रूप, रस, गध और मुख्य सुखधाम वामाको एक क्षण भी अलग नहीं करना चाहता। मैं एक जगह उनसे मिल आया था, उनके बदल जाने के कारण अन्य जगह व्यथित चित्त से मिलने दौडा जा रहा हूँ। सत—अच्छा मिल लेना, जरा मेरी तरफ भी एक दृष्टि करके देखो।

अमरसिंह—मैंने ध्यान देकर देखा तो ऐसा सुख मालूम होने लगा कि इतना सुख तो मैंने कहीं कभी नहीं पाया है। उन सत की शोभा क्या कही जाय! जिनको देखते ही मेरे हदय मे

एक ऐसी ठडक पैदा हुई कि आज तक स्मरण होते ही हृदय की ताप बुझ जाती है। मैं सत के पास मे और ठहरने वाला था कि इतने मे मेरे साथी इष्ट मित्र सब दोडते आये, वे मेरा उधर देखना छुडाकर धक्का देते हुए फिर मुझे अपने साथ मोह करके दोडाने लगे। मेरा एक वही मार्ग था, सत जिस स्थान पर मिलते और रहते थे। वहाँ कुछ दूर तक मदान पडा हुआ था, कूप और सुस्ताने के आश्रम बने थे। फिर में जब उधर से दौडते-दौडते निकला, फिर सत ने कहा कि ठहरो! ठहरो!! मैने कहा—महाराज! मुझसे रहा नही जाता। अच्छी से अच्छी चन्द्रमुखियो से मिलना है, बहुत-बहुत शत्रु है, उनको मारना है, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा षटऋतुओ पर जहाँ तक बने तहाँ तक कब्जा करने का दिमाग बढाना है, दिन-रात को अपने इच्छानुसार स्वाधीन करना है, सब खानियो को अपने अधीन चलाना है, नही बने तो मनुष्य मात्र को गुलाम अवश्य बनाना है, सब विद्याओ, सब चालाकियो को पढना है, इच्छा पूर्ण करने के लिये पूर्ण प्रबन्ध करना है। हाय! हाय!! मैंने अभी मन के अनुसार तो कुछ नही कर पाया, मेरा जी चाहता है कि मनोहारिणी विलासिनी हमसे पृथक कभी न हो। मेरे इष्ट मित्र, पुत्र-पुत्री आदि सर्व प्राणी इच्छानुकूल चले, मेरे बैरी न रह जाय, जिह्वा को अच्छी लगनेवाली रसीली वस्तुओ से जीभ अलग न हो, नेत्र, कान, त्वचा और नाक को अच्छे लगनेवाले भाँति-भाँति के सुन्दर पदार्थ मधुर शब्द, सुगन्ध और स्पर्श ये सब अनतरूप से प्राप्त हो और मन व इन्द्रियो मे इतनी शक्ति प्राप्त हो कि मैं निरन्तर दिन-रात पाँचो विषय भोगा ही करूँ, फिर भी शक्तिहत न हो। भाव यह कि सब मनमाना कार्य पूर्ण हो जाय, बस इसी प्रबन्ध के लिये मे दोड रहा हूँ, मस्तिष्क बढा रहा हूँ। सम्भव है कि मेरे सर्व मनोरथ पूर्ण हो जाय।

सत हँसते हुए—अरे! तू यह सब क्या कह रहा है! अच्छा जरा सुस्ता ले, मेरी तरफ देख तो सही, तेरे सब मनोरथ पूर्ण होगे। मेने (अमरसिह) फिर देखा, अहो धन्य! मैं पूर्व मे देखकर जितना जुडाया था उससे कई गुना शीतल हो गया। मेरे हृदय की इच्छा अग्नि बहुत कुछ शात हो गई। सत ने कहा—मैं तुझे दिन-रात दौडते ही देखता हूँ। तू क्यो दौड रहा है? अमरसिह—पूर्व बातो के लिये। सत—पूर्व बाते जैसे तू कह रहा है उनको अनादिकाल से आज तक तेरे सहित सर्व जीव इच्छा और इच्छापूर्ति का प्रयत्न करते आये हैं, तो क्या कारण है कि घट-बढ उसी प्रकार अतृप्त अपूर्ति की रफ्तार चल रही है! तू समझ कि किसके द्वारा दुख होता है! जैसे शहर जाने की इच्छा जब तक नहीं सम्मुख होती है, तब तक शहर गये बिना दुख कहाँ मालूम होता है! जब शहर जाने की इच्छा प्रबल उठ पडती है तब बिना गये रहा नहीं जाता। इससे सिद्ध है कि इच्छा ही से जीव को सब कमी प्रतीत होती है। इच्छा सम्मुख न हो तो कुछ कमी ही नहीं। ख्वाहिश ही कमी रूप है। इच्छा परीक्षा (३४) के "सहि न सकै सनमुख जिव इक्ष्या" पूरा शब्द और अर्थ स्पष्ट करते हुए गुरुदेव ने कहा—अरे हे जीव! तू अखण्ड नित्य सत्य स्वयप्रकाश अपरोक्ष है, फिर दूसरे विषयो से तू क्यो तृप्त होना चाहता है! इन्द्रियाँ-पचविषय, पिण्ड-ब्रह्माण्ड, इच्छा-वासना रूप खण्ड-खण्ड को जानने वाला सबसे भिन्न तू अजर, अमर अखण्ड है। अरे! तू भोगो की क्यो चाहना करता है! सब भोगो को त्यागने का यत्न करके स्वरूप-ज्ञान दृढ कर। इतना सुनते ही मानो मेरा सब दुख-दर्द हरण हो गया। इस प्रकार सुखी होकर फिर मैंने सत से कहा कि हे प्रभो! इस आकाश-पाताल मे भ्रमने वाले जीव को ठौर ठिकाना बताइये। अभी मेरे साथी इसी मार्ग से आ रहे हैं, वे मुझे आसक्तिरूप कोडो से मारकर खींच ले जायगे।

सत--तू जल्दी से गुरु दरबार मे उपस्थित हो जा, वहाँ तेरे को विश्राम की जगह मिलेगी, और तेरी सब इच्छाये पूर्ण होगी। में गुरुमार्ग की तरफ चलने लगा, इतने मे उसी पास के रास्ते मे पूर्व सम्बन्धी मिले। वे मुझे देखते ही पकड़ने लगे और कहने लगे, अबे अमरसिह! हम लोगो के साथ चल, खूब दिल लगाकर दुनिया के आनन्द प्राप्त कर ले, भोग सब सुखरूप हैं। मैंने कहा--भैया! अब मैं इस दुनिया के सुख और तुम लोगो से भर पाया, दाम-दाम अघा गया हूँ। अब तक मेरी कोई अवदशा बाकी नही रही है। में तुम्हारे साथ नहीं चलूँगा। इतना सुनते ही वे सब मेरे ऊपर प्रहार कर दिये। मेरे ज्ञान-विचाररूप हाथ-पग बॉधकर फिर उसी भोग-ग्राम की जगह ले जाने लगे। मैंने कहा--भाई! मुझे एक संत ज्ञान दिये थे, अब मुझे छोड दो, तुम्ही लोगो का होके रहूँगा। वे लोग सत को गाली देते हुए मुझे और कसकर बाँध लिये, कुछ दूर ले जाकर मोह-प्रेम का बधन ढील कर दिये, परन्तु मै ही तिनमे अधिक मोह वश हुआ फिर चक्कर लगाते-लगाते उसी मार्ग से निकला। संत ने कहा--ठहरो! ठहरो!! मुझको कुछ कष्ट अनुभव हुआ, पर सत का प्रेम मेरे मे समा गया था इसलिये ठहर गया। सत--अरे! तू क्या गुरुदरबार मे नहीं गया? अमरसिंह--मैं जाता तो था पर मेरे साथी मुझे पकडकर गुरुमार्ग से अलग कर दिये। सत--ओफ! तूने कामना वाले विषयासक्त प्राणियो के मिथ्या प्रेम को अभी नहीं समझा। इस जगत मे जब तक धर्म और यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होता तब तक प्राणियो का सम्बन्ध मोहादि उस बलिपशु के समान है जिसको अच्छे-अच्छे मिष्ठान्न खिला कर कल्पित देवी को भेट देते हैं। सच्चा प्रेम और सहायता वही कर सकते हैं जो धर्म और विवेकसम्पन्न हैं। अच्छा! ले, मैं विवेक और वैराग्य ये दो शस्त्र देता हूँ, इनको हाथ मे लेकर गुरु की तरफ चला जा। अब तेरे साथ कोई जबर्दस्ती करे तो इन्हीं को दिखा देना।

मै चल पडा, फिर रास्ते मे पहले के मित्र मिले वे रोक-टोक किये, मैंने वही दो शस्त्र उनको दिखा दिये, वे सब भाग गये। पर सत ने कहा था, सोना नहीं, जल्दी जल्दी जाना, नहीं तो फिर गुरुदरबार तक नही पहुँच सकेगा। गुरुदेव! मैं जल्दी-जल्दी आपके दरबार मे उन सन्त की कृपा से प्रविष्ट हुआ। मुझको मन, वासना, इन्द्रियो के विषय सता रहे हैं। मैंने मन के गुलाम जगत-जीवो के चक्कर मे पडा हुआ सब कष्टो का अनुभव किया, अभी मेरे पीछे-पीछे वे शत्रु दौडते आये हैं। जो मे उन पूर्व सम्बधियो से बाते करता या उनको देखता तो अवश्य मोह जाता और ये सन्त के शस्त्र भी वे लोग छीन लेते। इसलिये मैं आपके यहाँ भागते-भागते आया हूँ। श्रीगुरु जीव की ऐसी दुर्गति देख, मन से सताया जानकर जीव की तरफ अपनी अपार शीतल करुणा भरी दृष्टि फेकी और अपने "भवयान" बोधवर्षा से जगत के पाँचो विषय पदार्थ, देह तथा मन के भ्रम-सुखो की जगह दुख दृढ करके इस दास को दिव्य स्वरूप मे स्थिर कर दिये। इस प्रकार मनोनाश द्वारा जीव कृतार्थ हो गुरुदेव का धन्यवाद मनाने लगा।

भजन

श्री गुरुचरण कमल के दरशन, पाय गयो बड़ भागी रे॥ टेक॥
शम दम दया दान सत्सगति, निर्णय मे रुचि पागी रे।
जगत कहै तव मति गइ मारी, सपना कौहट लागी रे॥ १॥

गुरु की दया लह्यो निज रूपहि, सोवत से अब जागी रे।
क्षणभंगी सुख माहि जगत पचि, भूल भरम से तागी रे॥ २॥
जग सुख मे है लाभ कवन जो, मनुवाँ झुलसत आगी रे।
विमल विराग उदय भयो मोरे, सहज उदास अरागी रे॥ ३॥
परम विशुद्ध ध्यान मुद मंगल, मन द्रष्टा अनुरागी रे।
श्रेष्ठ हितैषी भूलि न जावैं, मन गति अटपट नागी रे॥ ४॥
श्री गुरु गुरुवर देव आपसे, प्रेम विनययुत मांगी रे।
मिलै स्वभाविक भक्ति अचल पद, और न मन मे रागी रे॥ ५॥

साखी—*जड चेतन को भिन्न करि, स्वादन से मन टूट।*
निज मे जब सतुष्ट नित, गयो जगत से छूट॥

प्रसंग ५—गुरुपद-विमुख-सम्मुख से हानि-लाभ

शब्द—१४

गुरु ज्ञान बिना मन भटकै हो॥ टेक॥

देखै सुनै नारि नर परशै, रसना रस गंध को लटकै हो॥ १॥
रूप देखि मन ध्यान बनावै, सबल बासना झटकै हो॥ २॥
मुख से बचन सुरस मन भावै, भाव जानि दिल खटकै हो॥ ३॥
थूल परशि परबश बिकि मन के, शक्तिहीन बनि फटकै हो॥ ४॥
फिरि-फिरि गुनै होय तद लपकै, चलत प्रबाह भोग दुख पटकै हो॥ ५॥
रसना भोग सुरस रस खटकै, अमल सहित हिंसा मद रटकै हो॥ ६॥
भ्रम मन तूरि स्वत गुरु परगट, बिमल बिबेक बिराग निकटकै हो॥ ७॥
लख्यो कबीर जगत जिव दुर्गति, कह्यो बिराग बस्तु मन घटकै हो॥ ८॥

टीका—स्वरूपबोध और स्वरूपबोध के ठहराव के साधन विवेक, वैराग्य, भक्ति आदि को त्यागकर यह जीव मन के जालो मे अनादिकाल से भटकता रहा है। कहॉ भटकता है? इसी पच विषय-आरण्य मे। कैसे भटकता है? आगे ध्यान दीजिये॥ टेक॥ देखता है, सुनता है, स्त्री-पुरुष मानकर स्पर्श करता है, जिह्वा से स्वाद लेकर और नाक से विविध गध ग्रहणकर उनमे आसक्त रहता है॥ १॥ स्त्री पुरुष के रूप को और पुरुष स्त्री की बाहरी चमक-दमक को आठो पहर देख-देखकर हृदय मे ध्यान जमा लेते है। जब ध्यान बैठ गया तो वासना बलवती होकर जीव को बार-बार उधर ही प्रवृत्ति हेतु अत:करण मे धक्का दे-देकर विह्वल करती रहती है॥ २॥ नर-नारी एक-दूसरे के मुख से मधुर तथा मोहक वचन सुनकर मन मे बहुत प्रसन्न होते हैं, पीछे से वे उन्हीं वचनो के भाव तथा कामरस के तात्पर्य का स्मरण करते हैं। वे भाव उनके हृदय मे बाण या कॉटे के समान खटका करते और बार-बार खिंचाव करते हैं॥ ३॥ रूप और शब्द के सहारे से कामसस्कार उत्तेजित होते ही स्त्री-पुरुष परस्पर स्पर्श करके मन के हाथ बिक जाते हैं। शरीरबल और विचारबल दम्पती-मोद मे स्वाहा कर निर्बल

तथा लाचार हो जगत-जजाल मे तडफते रहते हैं। मृगीरोग वा उन्माद के समान विवश हो हिताहित सम्हालने से रहित हो जाते हैं, तब सिवा दुखवृद्धि के दुख छूटने का कोई उपाय नहीं बन पडता। "चौ०—पगु अध निर्बल सम भोगी। सत मारग तजि नित नव शोगी"॥ ४॥

जीव बार-बार उन्हीं विषयो का मनन करते हुए भोग वृत्ति मे तन्मय हो जाता है। वैसे ही भाव दृढ कर हरहट गौ के समान नाना दण्ड सहते हुए भी उधर ही लपकता रहता है। वही भोगवासना प्रबल हो बार-बार पूर्वोक्त भोगी के लिए विषयभोग नित्य का धधा हो जाता है, तब भोगवासना प्रबल होकर उसे जबरन सताप-धारा मे बहाया करती है॥ ५॥ जिह्वा से खट्टे, मीठे, चरफरे व्यजन चखकर उनमे सुख-निश्चयता द्वारा हृदय मे रसास्वादो का चिंतन हुआ करता है। कितने तो औषधवत अकुरजमात से देह-निर्वाह का लक्ष्य न रख स्वाद के वशीभूत होकर परपीडा करके मास-मछली अभक्ष्यसेवन करते है। कोई तो बुद्धिभ्रष्ट कारक मद्य, ताडी, चरस, गॉजा, अफीम आदि का सेवन करते हैं। "जहाँ लो अमल सो सबै हरामा" ऐसा न जानकर मन मे उसी की धुन बॉधे रहते हैं, यह गुरुदृष्टि प्राप्त न होने का फल है॥ ६॥ जहाँ तक निज स्वरूप से पृथक परोक्ष-प्रत्यक्ष भास है उन सर्व बन्धन रूप मानदियो को परीक्षा और वैराग्य बल से काटकर जो स्वत. पारख प्राप्त किये उन्हे ही परमपारखी स्वय सद्गुरुदेव कबीरसाहिब जानना चाहिए। आपने जड-चेतन का पृथक-पृथक निर्णयरूप निर्मल विवेक और स्वरूप से पृथक विषयो से वैराग्य रूप अक्षय धन जीव के समीप मे निर्णय कर लखा दिये। "जो जानहु जग जीवना, जो जानहु सो जीव"॥ ७॥ स्वयं पारख प्रकाशी कबीरसाहिब जगजीवो के उपरोक्त मायाजाल मे सब अवदशा निहार कर उनका दुख छुडाने के लिये पाँच विषय, खानि-वानी की सर्व मानदी तथा चार खानि नर-नारियो की देहो मे दुख दिखाकर इनसे पूर्ण वैराग्य का उपदेश दिये तथा इनकी कामना-प्रियता छुडाकर स्वरूपस्थिति में प्रियता करा दिये, जिससे आपके शरणार्थियो का भटकना बन्द हो गया॥ ८॥

दृष्टात—एक मन्मतपुरी मे भॉति-भॉति के प्राणी भरे पडे थे। वहाँ का सब कार्य उलटा ही चल रहा था। सबकी दृष्टि पर आवरण था। वहॉ सब प्राणियो को विपरीत दीखता था। सब प्राणियो का स्वरूप अखण्ड-तृप्तरूप होते हुए भी वे अपने आप स्वरूपदेश को छोडकर बिराने देश मन्मतपुरी मे भटक रहे थे। सर्वदा दुखरहित होते हुए भी सतत दुख का अनुभव कर रहे थे। उनकी कभी तृप्ति नही होती थी। पर उन्ही मे से एक ऐसा मनुष्य जो कि असह दुख से व्याकुल बहुत दिनो से इस खोज मे था कि मुझे कोई ऐसी दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जिससे ठीक-ठीक दीख पडे और मेरे सर्व दुखो की निवृत्ति हो। इसीलिये उसने मन्मतपुरी के बहुत से अॅजनो को लगाया, परन्तु उसकी दृष्टि पर विकार बढता ही गया। उसे सूझ न पडने से अत्यत दुखी होकर मन्मतपुरी के आसपास भटकते हुए सयोगवश पहाड पर चढ़ गया। वहॉ इधर-उधर घूमते-घूमते अचानक एक अलौकिक दिव्यमणि के दर्शन हुए। उसने उसको उठा लिया। दिव्यमणि के तेज से उसके नेत्र का आवरण टल गया। नेत्रो का मल दूर होते ही ज्यो-का-त्यो देख पडने लगा। फिर उसे इतनी सुख-शाति प्राप्ति हुई कि जिसका वारापार न रहा। जब उसने घूम कर मन्मतपुरी की तरफ देखा तो उसे अपने निर्मल नयन से मन्मतपुरी का कारखाना उलटा दीख पडा। सत्यपरीक्षक आश्चर्यित होकर देखने लगा, अहो! यह कैसा भयानक दृश्य है! मन्मतपुरी के सब मनुष्य कैसे है! मन्मतपुरी के चारो तरफ एक बडी

ज्वाला उठ रही है। उसी ज्वाला से व्याकुल हुए सब प्राणी एक-एक को जकड रहे हैं। अपनी शक्ति भर सब सबको पकडे हुए कोई किसी को मारकर खा रहा है, कोई किसी को बॉध रहा है, कोई तीर-तलवार से कट कर घायल हो रहा है।

वहॉ एक विहार-वाटिका है जिसमे कुछ उलटा ही खेल है। अहो! उसमे एक डाकिनी है, जो कि हाथ मे बडे-बडे पाश और भाला-त्रिशूल लिये हुए सब पर अपना वार करती हुई दिख रही है। वहॉ के सब प्राणी उसके त्रास से पीड़ित हुए उसके चरणो मे पड़े हैं, उसके शैतानरूप लडको की सेवा करते रहते हैं। वहॉ के लोगो को वह डाकिन अमृत तथा कोमलरूप भासती है। उसी के स्थान से वह प्रबल ज्वाला अधिक-अधिक बढती दिखाई दे रही है। अहो! ये प्राणी कैसे अंधे हे कि जिस ज्वाला से जलते हैं फिर उसी मे घुस रहे है! ये लोग आगे नहीं चलते, उलटे पीठ की तरफ चलते हुए सब गिरते-पडते-तडपते दिखाई दे रहे हैं। यही तो उलटा खेल है कि समीप का अमृतपान छोडकर बालू-रेत पर धूप की चमक देखते ही पानी मानकर तृषा-शाति के लिये सबके सब दौडे जा रहे हैं। इस नगर मे तो कोई किसी का मित्र नहीं दिखाई दे रहा है। अपनी-अपनी ज्वालाओ से जलते हुए अपने-अपने साथी को भी जला रहे है। इन लोगो का जबरन, छल, कपट, विषय, व्यभिचार, अनीति आदि मुख्य काम दीखने मे आ रहा है।

सत्यपरीक्षक ने मन्मतपुरी की बहुत उलटी दशा देखी और बनावटी रूप के मोह मे पॉंखी के समान सबको जलते हुए देखा। कुत्ते और कुत्तियो के समान सबको काम मे उलझे हुए पीडित देखा। मछली के समान रसना-रस बशी मे सबो को फटकते हुए देखा। उनकी परस्पर ऐसी दशा है जैसे जाल मे आई हुई बडी मछलियॉ छोटी मछलियो को खाने लगती हैं, अपनी मृत्यु सिर पर नहीं देखतीं। इसी प्रकार थोडी जिन्दगी मे मनुष्य परपीडा करके मासादि खा रहे हैं। बसी मे फॅसी मछली के समान सबकी कुबुद्धि देखने मे आई। जैसे मृग तथा सर्प शब्द मे आसक्त बधिक के सम्मुख प्राण अर्पितकर खडे हो जाते है, वैसे ही लोग शब्द मे मोहित हो प्राण निछावर कर देते हैं और बन्दर वत क्षणिक सुख चारा के लोभ वश सदा दुख मे नाचते हैं, ऐसे अनंत दुख क्षण-क्षण भोग रहे है। उस देश मे कभी भूख बुझती ही नहीं, चौतरफ कमी बनी रहती है। तो भी लोग अपने को अधिक चतुर समझते हैं, मारे अभिमान के दूसरे की कुछ सुनते ही नहीं।

बडे-बडे विद्वान, शूर, सामत, पदार्थ तथा यत्न-तत्वशोधको मे एक बडा आश्चर्य दिखाई दे रहा है कि कोई उत्तम कुर्सी पर बैठे हैं, कोई मोटर, हवाई जहाज, घोडे, हाथी पर बैठे है, पर सब एक-एक बडी-बडी ऐसी शिलाओ को सिर पर लादे हैं जिनसे उनका सिर नीचा होता चला जा रहा है। बडा आश्चर्य है कि यह बात कैसी है! ये लोग तो खुशी से अधे बनकर अपना सिरतोड बोझा ले रहे है। मन्मतपुरी का और भी बहुत उलटा खेल देखने मे आ रहा है। अहो! ये लोग श्रेष्ठ निर्विषय स्वच्छ समीप का जल छोडकर गन्दी मोरी के मलकीट क्यो बन रहे है! मालूम होता है कि यह दुखमय मन्मतपुरी की स्थिति इसी से है। यहॉ के लोग मोह-मद से उन्मत्त बालक के समान सब उलटे ही कार्य कर रहे हैं। जो कुछ इन लोगो मे चातुरी है वह सब मन्मतपुरी की ही पुष्ट करने वाली है। यह सब विपरीत दशा देखकर सत्यपरीक्षक ने विचार किया कि ओफ! मैं भी इन्ही दुखियो मे था, पर किसी प्रकार दुखमय नगरी से अलग हुआ। इतने मे उसने घूमकर दूसरी तरफ देखा तो एक शातिसम्पन्न स्थान

दिखाई दिया। वहाँ न तो किसी अग्नि की ज्वाला है, न कमी है, न कुछ गमी है, न कुछ मन्मतपुरी के समान उलटा चरित्र ही है, सदा स्वतः प्रकाश एकरस है। वहाँ शोक, मोह और दुख का लेश नहीं, मन्मतपुरी के दुखो का सचार नहीं।

उस स्थान के अवलोकन करते ही सत्यपरीक्षक आरोग्यस्वरूप अकथित शाति को प्राप्त हुआ। फिर उसने विचार किया कि यदि इस मन्मतपुरी के दुखी मनुष्यो को भी उसी शाति-स्थान मे ले चलूँ तो हमारे साथ इन लोगो का भी दुख छूट जाय। ऐसी दयादृष्टि धारण कर वह फिर पहाड से उतरा और मन्मतपुरी के निकट जाकर उस नगरी के किनारे आये हुए मनुष्यो को समझाने लगा। सत्यपरीक्षक के मन, वाणी ओर काया मे विलक्षण शक्ति थी। उसकी शिक्षा के प्रभाव से बहुत मनुष्यो का आवरण दूर होने लगा। वहाँ का रहना अच्छा न समझकर, भागते हुए सत्यपरीक्षक ने सबसे पुकारकर कहा—भाइयो! यहाँ से भागो-भागो, चारों तरफ से आग लग रही है। इस विपत्ति-देश मे तुम लोग सुख क्यो मान रहे हो! सब हमारे पीछे चलो। तुमको हम सत्य-शाति-धाम मे सुखपूर्वक पहुँचा देगे, जहाँ न तो कोई जलन है, न रोग हे ओर न शोक है। इन वचनो को सुनकर कुछ लोगो ने कहा—ठहरो! ठहरो!! हम कुछ काम कर लें तब चले। सत्यपरीक्षक ने कहा—यहाँ का सब काम अपूर्ण है, राग-द्वेष ओर कामना से घिरा है। तुम लोगो की लपट हमारे पास तक आ रही हे। भागते हुए तुम लोग भी हमारे पीछे चले आओ। चलते-चलते ही सत्यपरीक्षक ने कहा—पाँच कोस के बाद शाति स्थान आयेगा। बीच के मार्ग मे एक मैदान आयेगा, जहाँ एक बाजीगर का बडा तमाशा हे। वहाँ क्रम से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध ये अनत पदार्थ तुमको पुनः मिलेंगे। तुम लोग उनमे भूलना नहीं। अगर भूलोगे तो उसी ज्वाला मे फिर जलना पडेगा ओर उस शाति-स्थान को न पहुँच सकोगे। सत्यपरीक्षक के इन वचनो को सुनकर बहुत से स्त्री-पुरुष, बालक, जवान और बूढे सब साथ मे दोडने लगे।

इतने मे शाम हुई। सबके सब जहाँ बाजीगर का तमाशा हो रहा था वहीं होकर निकले। कारण, वही रास्ता था। वहाँ की दशा तो परम मोहक और पूर्ण सुखदायक[१] मालूम होती थी,

---

१ चौ०—परम मनोहर सुन्दर नारी। बोलत मनहुँ हरत मन सारी॥
सब भाँतिन से सुख दरशावें। कहत बन नहि जिय ह्वै जावें॥
नारिन हूँ के पुरुष सलोने। मन अनरूपित प्रिय जिय सोने॥
कर जोरे माँगत अनुशासन। निश्छल अमद दासि जनु दासन॥
शब्द मधुर पिकवयनि लजावन। सुनत हृदय थिर रहत न पावन॥
पट भूषण वासन अरु असना। गध माल सुखधाम सु डसना॥
रूपहुँ रस औ पर्श जु कोमल। भिन्न-भिन्न लखि को नहि मोहल॥
विषय मोहवश मन नहि थीरा। छल विपरीत करत म[illegible]॥
ठौर-ठौर इक इक कूँ प्रानी। काटत मारत बाँधत जानी॥
जे सब दीखत परम हितेषी। मन सुख हेतु बने बड द्वेषी॥
इक क्षण मे जो रक्षक प्यारी। वहे घात करि निर्दय भारी॥
बडे छोट को निशदिन त्रासैं। छोटउ घात पाय तेहि नासैं॥
विषय कामनावश नरनारी। कौन अनर्थ न करहि अनारी॥

परन्तु इसके विपरीत वह स्थान छल-कपट, राग-द्वेष, विश्वासघात और अशाति से पूर्ण था। सो सब सत्यपरीक्षक को ठीक केले के स्तभ के समान नि:सार और छलमय ही देखने मे आया। वह अपने साथियो से कहता ही रहा—प्रिय बन्धुओ! यहाँ चारो तरफ से अग्नि लग रही है, भागो-भागो ! परन्तु जिन्होने सत्यपरीक्षक के वचनो पर ध्यान नही दिया वे लोग उसी खेल मे मोहवश जहाँ-तहाँ उलझे रहे, अर्थात तरुण तरुणियो मे, बालक खेलो मे और वृद्ध मान-मर्यादा मे फँस गये। सत्यपरीक्षक की आज्ञा के अनुसार पीछे चलने वाले दो-चार ही मनुष्य रह गये। सत्यपरीक्षक ने कहा—हे प्रिय जिज्ञासुओ! यदि भाग सको तो यहाँ से जल्दी भागो, मेरे पीछे-पीछे चले आओ। देखो, यहाँ दसो इन्द्रियो को समेटे रहो, इधर-उधर न बहने दो। जो कोई इस तमाशे को ठहर-ठहर कर देखने लगेगा वह इसके मोह मे मारा जायेगा। फिर दुखरूप मन्मतपुरी का बँधुवा होगा। 'भागो-भागो! चलो-चलो ! अग्नि के त्रास से बचो !' ऐसा कहते हुए सत्य परीक्षक और उसके पीछे चलने वाले बचे साथी पाँच कोस के पार निकल गये। इसके बाद देखते क्या हैं कि उनके लिए मन्मतपुरी और तमाशे की दुख-द्वन्द्व-रूप लपट सब नष्ट हो गई। शीतल, एकरस, सदा सन्तुष्ट, स्वय प्रकाश स्वरूप अपने आप रह गया। न वहाँ कोई इच्छा है, न वासना, न शत्रु का भय है, सदा निराधार स्थिति थी। जैसी सत्यपरीक्षक की स्थिति, वैसी ही उनके अनुगामियो की गति हो गई।

सिद्धात—मन्मतपुरी मनोमय-प्रपच मे फँसे हुए सब प्राणियो का समूह-रूप ससार है। सब जीव अनादिकाल से अपने नित्य सतुष्ट सत्य स्वरूप को भूलकर पच विषयो मे भटक रहे है। तृष्णाग्नि लौ चारो तरफ से लग रही है। बडे-बडे धनवान, बडे-बडे बलवान, सबके ऊपर शासन करने वाले जो जितना ही दर्जे मे ऊँचा है उतना ही वह अहकार रूप शिला से दबता हुआ नीचे चला जा रहा है। स्वरूपस्थिति धारण न कर तुच्छ विषयो की तरफ चलना ही उलटी चाल है, काम विषय ही गन्दा नाला है। वह विषयाकार बुद्धि ही रक्त-शोषण करने वाली पिशाचिनी है। वासना के चक्र पर चढे हुए जीवो की एक क्षण स्थिति नहीं। धन-जन, ऐश्वर्यादि पदार्थ भी चलायमान है। इसी मे सब जीव दुर्दशा को प्राप्त हो रहे हैं। ऐसी दशा से विरत होकर कोई सुकृतमूर्ति पुरुषरत्न ही मनोमय के पार जाना चाहता है। वह खोज करते-करते बोध की योग्यतारूप पहाड पर चढ जाता है। बोध की योग्यता है—१ विषयसुखो मे तृष्णा की शाति न देख उनसे पृथक होने की दृढ चेष्टा। २ अखण्ड सुख की इच्छा। ३ दुख का सहन न होना तथा दुख रहित होने का यथार्थ पुरुषार्थ। ४ विविध सग से विविध ज्ञान। ५ सामने आते ही सब पदार्थो की असारता का निश्चय। ६ मोक्ष की इच्छा। ७ पूर्वजन्मो के शुद्ध सस्कारो का उदय। इस बोध की योग्यतारूप पहाड पर चढते ही दिव्य स्वरूप की झलक रूप अलौकिक पारसमणि मिल जाती है। स्वरूप के बोध होते ही दृष्टि अपनी तरफ उलट जाती है और उसे ज्यो का त्यो दिखाई देने लगता है। उसे मन्मतपुरी की सारी क्रिया उलटी ही दीख पडती है। ऐसे ही आवरण-रहित पुरुषरत्न काया मे बीर कबीर साहिब है जिन्होने पाँचो विषय, मन की चाल तथा चार खानियो तथा नर-नारी घटो की सुन्दरता-मोहकता का पर्दा खोलकर उनको मिथ्या तथा दुखरूप दर्शा दिया। यद्यपि गुरु के

साखी—चपला चपल न थिर क्षणिक, यौवन भोग तमाम।
कछु न मनोरथ पूर्ण है, दुख भोगन सब ठाम॥

वचन सुनने वाले सब जीवो को मन्मतपुरी जगत से उपरामता होती है, तथापि वोध के पीछे देह सम्बन्ध रहने से पाँचो विषय रूप खानि-बानी का तमाशा हो रहा है, तिसमे नासमझ लोग फिर उलझ जाते हैं। पर कोई-कोई सुज्ञ जीव सत्यपरीक्षक गुरुदेव के निर्णयशब्द के पीछे-पीछे चलने वाले किसी जगह आसक्त न होते हुए मन्मतपुरी से पार पाकर सदा के लिये शोक-मोह से रहित मुक्त हो जाते हे। इससे यह सार ग्रहण करना चाहिए कि मनोमय सृष्टि सब कल्पनामात्र तृष्णारूप हे। गुरु की सहायता द्वारा उसे नाश करके सुखी होना चाहिए तथा पारख प्रकाशकर्ता स्वय प्रकाशक श्रीसद्‌गुरु कबीर साहिब का धन्यवाद मनाना चाहिए।

शब्द—१५

बिन गुरुदया सो लखि नहिं पावै॥ टेक॥

तन मन से जो कष्ट बने सोइ, चेतन काहि सतावै।
ताहि मिटावन लतहिं अधारित, सो दुख और बनावे॥ १॥
है प्रारब्धि देह दुख सनमुख, बरबस सोई भोगावे।
हे मानन्दी ताहि अधारित, तेहि अज्ञान बनावै॥ २॥
बिना काम के काम यही है, रचि रचि जाल विछावै।
तेहि मे फँसत फँसावत ओरहिं, छूटि न कवहूँ जावे॥ ३॥
गुरू ज्ञान से लखै आपको, मन को चीन्हि रहावें।
बिना काम के काम मिटे तब, मन पर अदल चलावे॥ ४॥

टीका—गुरुदेव कृपादृष्टि कर जो समझाते हे वह समझ लेना ही गुरु की दयादृष्टि प्राप्त करना है। जव तक गुरु की दया प्राप्त न करे, तव तक उसे यथार्थ ज्ञान नही हो सकता। यथा—दोहा—"चारि बरण लघु भूप कोउ, नर नारी विद्वान। गुरुपद नौका शरण बिन, परे सिंधु भय खान"॥ टेक॥ इन्द्रियॉ और मानन्दीजनित जो दुख होता है वह चेतन को ही होता है। चेतन इन्द्रिय और मन के सम्वन्ध से ही चचल होकर दुखी होता रहता हे। चचलता रूपी दुख मिटाने के लिए जो पूर्व विषयासक्ति का स्वभाव पड गया है, जीव इच्छा चलने पर स्वाभाविक ही उसी के वश होकर भोगो को ग्रहण करके पुन कामना पुष्ट कर लेता है। इस प्रकार कामना-पुष्टि से दुखो की विशेष बढती कर लेता हे॥ १॥ प्रारब्धकृत देह का दुख जो आज सम्मुख भोग हो रहा है, जिसे विवशता से भोगना पडता हे वह भोग से ही समाप्त होगा, परतु उसी प्रारब्ध के आधार से रही हुई मानन्दी अज्ञान युक्त पुष्ट होकर आगामी कर्मों को उत्पन्न करती है, जिससे फिर दुख रूप देह बन जाती है॥ २॥

यही बिना काम का काम हे। स्वरूप से चेतन शुद्ध नित्य तृप्त है, परन्तु अपने को भूलकर "बिना फॉसी की फॉसी" की तरह विषयो मे सुख मानता है। इससे इच्छा चलती हे ओर पुन: विषयो को भोगता है। फिर वही इच्छा पुष्ट हो जाती है। विषयो की इच्छा से देह और देह से पुन विषय-इच्छा, इस प्रकार स्वय जाल रचकर नर-नारी घटो का विस्तार करता है। फिर उन्हीं मे अपना फँसता तथा दूसरे को फँसाता है। यही कारण है कि जगत-बन्धनो से कभी

नहीं छूटता॥ ३॥ यदि गुरु की शिक्षा लेकर अपने शुद्ध स्वरूप चैतन्य को जाने और मन के फन्दे रूप सुखाध्यास को परख कर उससे पृथक रहे, तो निष्प्रयोजन धन्धा छूट जाय और मन-शत्रु पर विजय हो जाय और जीव आवागमन से रहित हो जाय॥ ४॥

बिना काम का काम और यथार्थ काम का परिचय

दृष्टांत—एक न्यायशील राजा ने अपने बुद्धिमान मन्त्री के साथ शहर मे घूमते हुए किसी बुड्ढे के मुख से यह बात सुनी "तू बिना काम का काम किया करता है, पढने नही जाता। रह तेरी डडों से खबर लेता हूँ।" राजा ने मन्त्री से पूछा—जो कोई कुछ भी करता है, प्रयोजन ही सोच कर करता हे। मुझे तो बिना काम का काम कुछ नही जान पडता। बिना काम का काम किसे कहते हे? चतुर मन्त्री ने कहा—इसका समाधान कल करेगे। सबेरा होते ही फिर दोनो टहलने निकले। शहर के बाहर देखा, सब लडके खेल रहे है। राजा को मन्त्री वहॉ ले गया और एक जगह बैठकर कहने लगा कि इनके चरित्र दूर से देखिये। उनमे कई लडके अन्य लडको को घोडा-हाथी बना रक्खे थे। मुँह और हाथो मे रस्सी बॉधकर एक दूसरे पर चढ कर झूठे ही कोडे मार रहे थे। घटो वही खेल खेलते रहे। उनमे एक लडका, जो बलवान तथा अति चचल था, वह घोडा बना था। अपने ऊपर चढने वाले को अचानक पटक दिया। ऐसा करने से दूसरा भी क्रोधित हो गया। दोनो ने युद्धकाण्ड प्रारम्भ कर दिया। उन लडको मे दो भाग हो गया। प्रतिपक्षी एक दूसरे को दॉतो से भी काट लेते थे। इस प्रकार सबसे सब दलेमले गये। किसी के पेर टूटे, किसी के हाथ टूटे, किसी की ऑख फूटी, तो किसी के कान फटे।

इतने मे वहॉ ही मधुमक्खियो का एक बडा छत्ता लगा था। एक लडके ने उस छत्ते मे इस विचार से पत्थर मार दिया कि ये मधुमक्खियॉ सब लडको को काटे तो मै देखूँ। मधुमक्खियॉ उडी, पहले तो पत्थर मारने वाले को लिपटकर डक मारने लगीं, फिर सब लडको को काटने लगी। सब लडके गिरते-पडते भागे। राजा और मन्त्री दूर से यह तमाशा देखते थे, वे भी आपत्ति जानकर भागे। मन्त्री ने कहा—अब आप क्यो भाग रहे है? यह भी तो काम हे। राजा ने कहा—यह तो बिना प्रयोजन का काम—घर की जमा खोने वाला है। मन्त्री ने कहा—देखिये जिसमे समय भी व्यर्थ जावे, दुख हो और अपने घर की जमा भी गमावे, वही बिना काम का काम है। बस, यही धन्धा दुनिया मे हो रहा है। राजा ने कहा—ये बालक तो अनजान है "बिना काम का काम" किये, परन्तु सयाने ओर बूढे कैसे बिना काम का काम करते है? मन्त्री सतो का सत्सगी था। उन्होने कहा—जब तक सत्सग द्वारा ज्ञान की प्राप्ति और शुद्धरहस्य न धारण करे तब तक सब निष्प्रयोजन ही दिन काट रहे है। चलिये, अपने गुरुदेव से आज यही प्रश्न कीजिये। राजा ने जाकर गुरु जी से यही प्रश्न किया। गुरुदेव बोले—चलो हमारे साथ, हम प्रश्न का उत्तर देगे। गुरुदेव ने शहर मे ले जाकर मदिरा की बडी दूकानो को दिखाया। जहॉ से मद्य पीकर निकले हुए मनुष्य बलबलाते हुए एक दूसरे पर चढते और गिरते-पडते दीख पडते थे। गुरुजी बोले—देखो, इन लोगो ने "बिना काम का काम" की आदत बना ली ह। नित्य नई आपत्तियॉ मोल लिया करते हे। गुरुजी वहॉ से आगे चलकर जहॉ लोग चरस, गॉजा और अफीम पी रहे थे, दिखाया। उनमे से एक वृद्ध ने ज्यो ही गॉजे की दम मारी त्यो ही उसे खॉसी आने लगी। खॉसते-खॉसते मारे बलगम के मुख भर गया, वह

सँभाल न सका, सब वलगम उसके ऊपर ही गिर गया। फिर भी खाँसी बन्द न हुई। खाँसते-खाँसते टट्टी भी हो गई, महा अपराध।

गुरुजी बोले—इससे भी वढकर इन लोगों की दुर्गति होती है। मुख्य तो तामसीबुद्धि होकर ज्ञान-नेत्र ही नष्ट हो जाते है। फिर अनेक उत्पात कर लोग अनन्त दुख पाते हैं। फिर उन्हे वेश्यागृह को दिखाते हुए कहा कि वेश्या तो प्रवल अग्नि-कुण्ड है और कामी पुरुष अपना धन, यौवन, कान्ति, बुद्धि सब उसी मे स्वाहा करते है। जिससे और कामाग्नि बढकर "न वे दुनिया के रहे न दीन के" दोनो सुखो से नष्ट हो जाते ह। फिर श्री गुरुजी राजा को शृगारालय मे ले गये, जहाँ पर युवक-युवतियो के ठाट बनाने की सब सामग्री मौजूद थी। एक तरफ युवक लोग भाँति-भाँति से बालो को कटवाकर तेल-फुलेल लगाये कघियो से माँग सँवार कर भाँति-भाँति के बेलबूटे और कालरदार कपडो से अपने को सजा रहे हैं। दूसरी तरफ स्त्रियाँ हाथ-पाँव और ओठो को रगकर, भाँति-भाँति के चमकदार गहनो और कपडो से अपने को सजा रही हैं। गुरुजी ने कहा—देखो, शरीर का अधिक शृगार करने का यही प्रयोजन है कि हम बहुत सुन्दर लगे। परन्तु सदाचरण के बिना बाह्य सान्दर्य नरक मे ही पटकने वाला है। पुनः सिनेमाघर, प्रपचपत्रिका, चाटघर, विविध खेल, पासागृह, नृत्य, रसिक, मनोरजक और फैशन कलागृह सब विषय-वासना के विष को अधिकाधिक बढाने वाले हैं। आजकल के धर्म-रहित खेल नर-नारियो का ध्येय हो रहा है। उन लोगो ने इससे बुद्धि गौरव बढाना निश्चय कर लिया है।

युवक-युवतियो के अभेद वर्ताव, रग-विरग फेशनो का बढाव, स्त्रियो मे अधिक राजस फैलाव, सब काम-कला को बढाने वाले हैं। पूर्वोक्त शृगार की वढती करके जब स्त्री-पुरुष विषय-वासना से मतवाले हो जाते हैं, तव प्रगट है कि क्या-क्या अनर्थ नहीं करते। राजस से काम की बढती, अधिक काम से व्यभिचार की वृद्धि, व्यभिचार से हिसा, छल-कपट और विश्वासघात बढ जाते है। इस प्रकार ये लोग बिना काम का काम कर सुधार के बदले शारीरिक बल-वीर्य, आरोग्यता, मानसिक बुद्धि-विचार आदि का नाश करके अपने दुख की वृद्धि कर रहे है। जगह-जगह छल-कपट, विश्वासघात, लडाई-झगडा, मुकदमेवाजी, जेल, फाँसी, कालेपानी आदि की अधिकता क्यो दिखाई दे रही है। फैशनबाजी और प्रपच पत्रिकावलोकन से कामरस की वृद्धि ही समाज के पतन का हेतु हो रहा है। इस कामवासना में पचते-पचते जव वृद्ध हो जाते हे, तब लोभ-मोह से पीडित जिस विषय लालसा मे अपना जीवन नष्ट किया, उसी मे लडके तथा बालक-बालिकाओ को हर प्रकार से फाँसते रहते हैं। हे राजन। विवेकयुक्त देखो। कामना-निवृत्ति करना ही सव जीवो का ध्येय हे। जव भोगो से कामना निवृत्ति के बदले वह बढती ही जाती है तब जिस दवा से रोग की वृद्धि हो वह दवा काहे की। उसके हेतु परिश्रम ही निष्प्रयोजन है। अतः अनतकाल की भूलजनित विषय-वासना का त्याग ही परम प्रयोजन जानना चाहिये। राजा ने कहा—

दोहा—*धन्य-धन्य श्री सद्गुरु, मोहि दियो निज ज्ञान।*
जाहि ज्ञान लहि तुच्छ सब, जगत क्रिया दुखदान॥
अब मोहि कहहु यथार्थ क्रिय, जाते हो ठहराव।
सुनि श्रीगुरु बोलत भये, सुने गुने सुख पाव॥

चौपाई—देह निर्वाह मात करि काजा। सतसगति मे लागहु राजा॥
सद्ग्रन्थन को नित्य विचारौ। सत्य शब्द नित ही निरुवारौ॥
शील दया साधन गहि नाना। और अहिसा कर्म को ठाना॥
यह भवयान सकल करि कठा। लहहु परम पद को उत्कठा॥
काम वेग की चोट सहन करु। क्रोध वेग को हनन तुरत करु॥
मद मुँहजोरी तजि बकवादा। पच विषय के पार रहादा॥
स्वय प्रकाश जो सर्व परीक्षक। तहँ ठहरौ सादर नित स्वच्छक॥
तेहि साधन गुरु पारख सता। लहि दृढ भक्ति विराग गहता॥

सोरठा—ऐसे सुनि शुचि बैन, सकल काज हितकर गहे।
भूप मुक्त भौ चैन, ठहर्यो जीवन्मुक्ति मे॥
जो चाहै कल्यान, तौ सब तजै विकार सुख।
सत्सगति लपटान, भक्ति भाव गहि मुक्ति हो॥

शब्द—१६

जइये गुरु पास बिमल तन मन से॥ टेक॥

कर मृतिका जल शौच सुधारौ, पट तन शुद्ध करौ नित जल से॥ १॥
प्रिय बानी निर्छल निर्मानै, शुद्ध ध्येय रखि बिचलि न चल से॥ २॥
मन प्रतिकूल सहन करि हित से, सेय निदेश कुमग तजि दिल से॥ ३॥
तन असार रुचि ताहि दुखद लखि, करि परियत्न स्वतः हित सुख से॥ ४॥

टीका—दुख-द्वन्द्व न चाहने वाले हे मुक्ति-इच्छुक! अपने शरीर और मन को पवित्र करते हुए सद्गुरुदेव की शरण मे जाओ॥ टेक॥ मलत्याग-क्रिया के अत में जल-मृत्तिका सयुक्त शौच करके पुनः मिट्टी और जल से हाथो को स्वच्छ करना। फिर दतधावन कर अपने शरीर ओर कपडो को नित्य शुद्ध जल से स्वच्छ रक्खो, अर्थात स्नान आदि क्रिया करके हमेशा शरीर और वस्त्रो को पवित्र रक्खो, क्योकि बाह्य पवित्रता से अन्तर पवित्रता मे सहायता मिलती है॥ १॥ वचन को इस प्रकार पवित्र करो कि जब बोलो, तब छल-कपट छोडकर प्रिय, मधुर, नम्रतायुक्त बोलो। सद्गुरु कबीर ने कहा है "साखी—बोल तो अमोल है, जो कोई बोलै जान। हिये तराजू तौल के, तब मुख बाहर आन॥ मधुर बचन है औषधी, कटुक बचन है तीर। श्रवण द्वार ह्वै सचरै, सालै सकल शरीर॥ शब्द-शब्द बहु अतरे, सार शब्द मथि लीजै। कहहि कबीर जहँ सार शब्द नहि, धृग जीवन सो जीजै"॥ बीजक॥ वाक्य और मन मे जगत-बधन से छूटने का लक्ष्य रखो, स्वरूपज्ञान और सद्रहस्य से कभी विचलित न होओ, क्षणभगी स्वभाव त्यागकर गभीर तथा एकरस स्वभाव बनाओ। छिन मे किसी से प्रेम करना, छिन ही मे पलट जाना, छिन ही मे सन्मार्ग गहना, छिन मे छोड देना, इस प्रकार की ओछाई तथा बहु स्वागीपन त्यागकर सदा एकरस शक्ति भर सन्मार्ग पर जुटे रहो॥ २॥

गुरु या सत-समाज मे जो कुछ अपने मन के उलटा जान पडे उसको सहन करने मे ही अपना हित व कल्याण समझकर मन की प्रतिकूलता सह लो। गुरुदेव की पारखयुक्त शिक्षा

श्रवणकर उनकी आज्ञा का पालन करो और चोरी, व्यभिचार, मिथ्या, राग-द्वेष, कुदृष्टि, कुभावना सर्व कुमार्ग के कूडा-करकट को हृदय से बुहार दो॥ ३॥ शरीर नाशवान है, इसके भोग-सुखो की रुचि ही सब दुखो की जड है। देह धरकर सव दुख भोगना पडता है। देह बनने का बीज देह का सुखाध्यास ही है, इसलिए उससे बचकर स्वत: स्वरूप की स्थिति के लिए प्रसन्नतापूर्वक प्रयत्न करो। इस प्रकार गुरुदेव के निकट जाकर मनुष्य जन्म सार्थक कर लो॥ ४॥

गुरु दरबार मे प्रतिकूलता न सहने से सन्मार्ग नहीं प्राप्त होता

दृष्टात—एक बार एक सेठजी सत-आश्रम मे आये, जहाँ नित्य सत्सग हुआ करता था। वहाँ सद्गुरु के दर्शन करके सर्व मुमुक्षुजन दूर बैठे थे। चारो तरफ पवित्र भूमिका दूर तक दृश्यमान हो रही थी। सेठजी जूता पहिने हुए गुरुदेव के समीप चले गये। कुछ सोचकर वहाँ ही जूता निकाल कुछ हाथ जोड बैठ गये। देर तक बेठे रहे। एक सेवक ने कहा कि अव आप चलकर वहाँ बेठिये जहाँ कि सत्सग चर्चा हो रही हें। यहाँ गुरुदेव विशेष नि.सम्वन्ध ही रहते है। सेठजी को यह बात अनुकूल न लगी। वे कुछ कह न सके। खैर, कुछ कसमसाते हुए उठकर जहाँ सत-भक्त सज्जनो के सहित सत्यासत्य का निर्णय हो रहा था, वहाँ आकर खडे हो गये। सेठ से लोगो ने कहा—बेठ जाइये। सेठ के मन मे उच्चासन की तीव्र इच्छा थी, परन्तु वहाँ जिस सामान्य स्थिति मे सब बेठे थे, वेसे ही सेठ को चटाई पर बैठना पडा। सेठजी का मन वहाँ पर विलकुल न लगा, किन्तु किसी कारणवश बैठे रहे। सत्संग-चर्चा समाप्त होने के पश्चात, सेठजी घर को चले गये। दूसरे दिन एक सतप्रेमी ने कहा—सेठजी, आज सत्सग मे चलेगे? सेठ ने कहा—में ऐसे सत्सग मे नहीं जाता। मेरी कोई वहाँ मर्यादा ही नहीं। जिस जगह मर्यादा न हो वहाँ जाना ठीक नहीं। सत्संगी ने कहा—छोटो और बरावरी मे मर्यादा देखी जाती है, श्रेष्ठ जनो के पास अपनी मर्यादा नहीं देखी जाती। अच्छा! बताइये आपको वहाँ क्या अमर्यादा प्रतीत हुई?

सेठ ने कहा—एक तो मै जब तक बैठता तब तक उन्ही सर्वशिरोमणि सन्त के पास बैठता। मुझे अन्य लोग वहा बैठने नहीं दिये। दूसरे, जहाँ सत्सग हो रहा था वहाँ सामान्य मनुष्य बैठे थे, उन्हीं चटाइयो पर मुझे भी बैठना पडा। तीसरे, मेरे निकाले हुए जूतो को एक ने उठाकर दूर रख दिया। चोथे, मेरे लौटते समय किसी ने यह न कहा कि फिर कल आना। इस प्रकार सतजन मुझे नि स्वार्थी ज्ञात होते हैं, अत· मुझे भी उनसे कोई स्वार्थ नहीं है। सतप्रेमी ने कहा—आपको गुरुदरबार को सहन करने का लाभ विदित नहीं है। नहीं तो आप क्या, आपसे भी बढकर अमीर, राजा, बादशाह लोग गुरु की चरणरज मस्तक पर चढाते हैं और उनके सामने धूल मे लोटते हैं। उनका चरणजल पीते हें। कहा भी है—दोहा—''राम कृष्ण से को बडा, तिनहूँ तो गुरु कीन। तीन लोक के वै धनी, गुरु आगे आधीन''॥ गु०॥ जैसे यह जीव कामवश बनिताओ की, लोभवश धनिको की, मोहवश कुटुम्बियो की, अहकारवश नरकरूप देह की और स्वार्थवश जने-जने की गुलामी करता है, वेसे ही अज्ञानरूप माडा हटाने और अक्षय ज्ञान-धन की प्राप्ति हेतु गुरु का दास बन जाय तो इसका बहुत शीघ्र सुधार होकर कल्याण का रास्ता मिल जावे।

"कपट चतुरता सकुच नशाई। करु गुरु भक्ति जु चाह भलाई॥"
"कहहि कबीर तेई जन उबरे। जेहि गुरु लियो जगाई"॥ बी०॥

ये सब बाते धनमद मस्त सेठजी को एक भी न सुहाई। निदान सेठजी का दुर्भाग्य समझकर संतप्रेमी सत्सग मे चला गया। अब आप विचार करे कि बंदरिया और भालू के नाच मे, नट, भॉड, वेश्याओ, सिनेमा, नाटक के बहार आदि मे चाहे जितना धक्का-मुक्का सहना पडे यह मन खुशी से स्वीकार लेता है और गुरुदरबार मे थोडा भी मन के प्रतिकूल नही सहता। इसी से इसकी खूब अधोगति भी होती है। "पच विषय के जाल मे, ललना को ललचाय। गुरु खैंचे आवत नहीं, हाय-हाय चिल्लाय॥" इस कथा से यह बात लेना है कि सेठ के समान सतसमाज या गुरुदरबार मे आकर असहन प्रकृति न बनाना चाहिए। स्वय गर्जी बनकर गुरुदरबार की पदरज लेकर सेवको का भी सेवक बनकर रहना चाहिए और सब सेवकाई वाले कार्यो को दौड-दौड़ प्रसन्नतापूर्वक करना चाहिए। जब स्त्री की आसक्ति मे जाति, मर्यादा, सुख-आराम, छल-भेद, पर्दा सब जगज्जीव निछावर कर देते है जो कि नरक मे पटकने वाली है तो सद्‌गुरु, जो कि मुक्तिदाता और नरक से निकालने वाले है, उनकी प्रियता के निमित्त क्यो न सब मान छोडकर निर्मान हो रहे।

पद—*तन मन धन कुल मान तजे इक नारि विषय के हेतु अरे।*
गुरुदरबार से मुक्ति मिलै जहँ तहवाँ तू बड मान करे॥
भूल तेरी यह शूल महा है इसको तज दे शीघ्र खरे।
हो जा तू निर्मान सरल बस तेरा सब दुख द्वन्द्व टरे॥

प्रसंग ६—अहिंसा, समतादि रहस्य

शब्द—१७

धारौ मन जीव अहिंसा धरमः॥ टेक॥

मदिरा मास को शिघ्रहिं त्यागौ, हरै बुद्धि अघ बढै कुकरमा॥ १॥
तृष्णा शोक कठोर हृदयँ ह्वै, सबहिं सताय सहै दुख घरमा॥ २॥
राग द्वेष करि बृद्धि जलै नित, एकहि एक नशाय सुख हरमा॥ ३॥
छलबल करिकै चहै मनहिं सुख, सो मन भूत भरमावै छिन छिन मा॥ ४॥
चोरी जुवा परश चहै बेश्या, करन गुलामी परै तजि बरमा॥ ५॥
यहि अघ कर्म जाय बुधि सबही, ह्वै उनमाद कुसंगति जरमा॥ ६॥
जीव बधे बिन मांस मिलै नहिं, लेय खरीदि य घात अधरमा॥ ७॥
दया छोड़ि निर्दय मन राक्षस, बनि बेपीर स्वभाव कुटिल मा॥ ८॥
ये सब लक्षण जाहि मनुष्य के, सोवै नहिं सुख वह एक सो पलमा॥ ९॥
वही बासना दिल मे धारै, ह्वै अध्यास न चैन स्वपन मा॥ १०॥
मारि लूटि सब को वह दुखवै, वहि को दुखहि देयँ जग भरमा॥ ११॥
रहम करे तेहि पर नहिं कोई, दै दै दुक्ख प्राण तेहि हरमा॥ १२॥

निज मनसा फल जन्म धरावै, वैसहिं भोग तहँ मिलै अटरमा॥ १३॥
वर्तमान मनसा फल होवे, जस दिल तैस मिलै भूतल मा॥ १४॥
राजस तामस जैस मतलबी, तैसहिं ताहि योग परि मिलमा॥ १५॥
सातस हिय निर्भय सुख शांती, तृष्णा शोक न राग द्वयष मा॥ १६॥
जस करतवि सयोग वाहि तस, दै सब सुखहिं प्राण जस निजमा॥ १७॥
प्रारब्धि भोग बिन दुख नहिं तेहिको, भूत भविष्य बर्तमान सो लखमा॥ १८॥
सतन मत सदग्रथ इशारा, गुरु की कृपा ज्ञान भयो निज मा॥ १९॥
निज हित मनन ज्ञान यह गुरु का, धारण करै सो राजै स्वपदमा॥ २०॥

टीका—हे दुख न चाहने वाले मनुष्यो! तुम मन मे अहिंसा धर्म अर्थात जीवरक्षारूप धर्म को, जो सब धर्मो का मूल है, धारण करो॥ टेक॥ मदिरा और मास को जल्दी से त्याग दो, क्योकि मद्यादि नशा पीने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और मास खाने से परपीडारूप पाप बढकर व्यभिचारादि कुकर्मो की बढती हो जाती है॥ १॥ कुकर्म बढ़ जाने से भोगो की प्रबल तृष्णा और चिंता बढ जाती है, साथ ही हृदय कठोर हो जाता है। फिर तो वह सबको सताने का धंधा उठा लेता है। जो सबको सतायेगा वह दूसरे लोगो से सताया ही जावेगा। विशेष तृष्णालु अपने घर ही मे अनीति करके घरवालो से रात-दिन सताया जाता है, घरवाले भी उसे काटते-मारते हैं॥ २॥

दृष्टात—एक पढे-लिखे पडितजी विद्वान सस्कृतज्ञ होने से भागवत, महाभारत, हरिवंश आदि पुराणो की कथा रोचकता से लोगो को प्रतिदिन सुनाते थे। जहाँ-तहाँ दया-धर्म-अहिसा के प्रसग मे लोगो को दया-धर्म की रीति भी विस्तार से समझाते थे। परन्तु स्वय मासभक्षी थे। विना मछली के उनका कौर नहीं उठता था। मास-भक्षण के कारण उनका हृदय कठोर हो गया था। वे अत्यन्त कामी साथ ही लोभी भी थे। "अतर शाक्त मस्तक तिपुण्ड, बैष्णव सभा के मध्य। नाना वेष बामिक धरे, करनी नर्क के सध्य॥" इस वाक्यानुसार उनके आचरण थे। इतने पर भी जाति और विद्वता का इतना गर्व था कि किसी वैराग्यवान सत से "सीता-राम" तक कह नहीं सकते थे। "तामस बेधे बाभना, मास मछलियॉ खायें। पॉय लगे सुख मानई, राम कहे जरि जायें॥" अथवा "छीजै साहु चोर प्रतिपालै सतजना की कूटि करै" ऐसे ईर्ष्यालु थे। उसी गाँव मे एक सतआश्रम था। उसमे विवेकी सत आया करते थे। जब-जब पण्डितजी उधर होकर निकलते थे तब-तब सत्सग मे बैठना तो दूर रहा, "रामजोहार ही नही तो प्रणाम-बन्दगी कैसे?" भूले-भटके खडे-खडे संतो की निन्दा करके चल देते। भला, अभ्यासी सतो के सत्सग बिना शील और अन्य सद्गुण कैसे आ सकते हैं।

सत्सग मे प्रेम न होने ही के कारण उनको दया, धर्म तथा कोमलता छू नहीं गई थी। केवल शिव और शक्ति का पूजन करते, तिलक लगा रुद्राक्षमाला पहन कर राक्षस ही बन रहे थे। पडोस के अत्ताइयो के टोले मे कई एक ने बकरियॉ पाल रखी थी। जिससे कभी-कभी बकरियो के बच्चे कूदते-कूदते पण्डित के ऑगन मे आ जावे, तो पण्डितजी चुपके से उसको मारकर खा जाते थे। इसी प्रकार वे कई बकरो को हजम कर गये थे। चोरी खुले बिना रह नही सकती। एक दिन पण्डितजी के घर मे मछली-मांस नहीं थे। पण्डितजी ने कहा—आज कैसे

बीतेगा। चटपटा तो नहीं है। इतने मे एक बकरा बाहर से दौडता हुआ आँगन मे आ गया। पडित ने कहा—मानो दुर्गा देवी सुनती ही थी। पत्नी से कहा—ला परशा। बस, तुरत दोनो ने उसकी हत्या कर दी। उस अभक्ष्य को एक थाल मे रख दिया और पण्डितानी से कहा—इसे जल्दी रींधो, मै स्नान करके तनिक दुर्गा-स्तुति कर लूँ। पण्डित दुर्गा-स्तुति कर रहे थे कि इतने मे जिसका बकरा खो गया था, वह स्त्री ढूँढती हुई पण्डित के घर मे घुस आई। पण्डितजी देख गये। उधर परात मे लोहूलुहान मास रक्खा था। पण्डितजी कुछ सन्देह मानकर पाठ करते ही मे इस प्रकार बानी जोडकर बोले—

"सर्वक्लेशहारिणी, सर्वसहारकारिणी। दुर्गे नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमो नमः॥ जिसकी मारी मेमनियॉ, वह तो ठाढी आँगनियाँ। पण्डिताइन तुम झॉपनियॉ-झाँपनियॉ॥ नमस्तस्यै, नमस्तस्यै, नमस्तस्यै नमोनमः॥" पण्डितानी यह बात समझकर तुरंत कपडा झॉपने लगीं, तब वह स्त्री भी जान गई और झगडती हुई कहने लगी—"अरे पण्डित। हम नाही जानत रहली कि तुम पूर बकडकसाई हमरे टोलवा माही बसेलो।" पण्डित जी तुरत एक-दो रुपये निकालकर देने लगे और बोले कि तू किसी से कहियो नही। स्त्री बोली—"औरो बकडवा तुम मारि खाय लिहल, हम जाइतानी पंचन मे नालिस करब" बस गाँव के मुखिया के पास गई, पण्डितजी की सब बाते कह कर अर्जी की। पण्डितजी के घर मे तलाशी ली गई। उस बकरे का ताजा मांस और बहुत से बकरो के चाम मिले। पण्डित का कसाईपन साबित हो गया। पचो के कानून अनुसार कई कोडो की मार पडी और पचासो रुपये जुर्माना देना पडा। पण्डितजी का जातित्व का अभिमान और वाक्य की निपुणता उड गई। लोगो की उनसे श्रद्धा उठ गई। इस प्रकार मासाहारी यदि विद्वान तथा उच्च कही जाने वाली जाति का हो तो भी राक्षस ही हो जाता है, ऐसा सोच-विचार कर कुलीन या नीच-ऊँच कोई भी समझदार मनुष्य मास नहीं खाता न किसी को खाना चाहिए। "साखी—अकुर भखै सो मानवा, मांस भखै सो श्वान। जीव बधै सो काल है, सदा नरक परमान॥ पच०॥ धर्म करे जहॅ जीव बधतु है, अकरम करै मोरे भाई। जो तोहरा को ब्राह्मण कहिये, तो काको कहिये कसाई॥ बी०॥" मास भखै मदिरा पिवै, वेश्या धन दे जाय। जुआ खेल चोरी करै, अत समूला जाय॥ कबीर सोई पीर है, जो जानै परपीर। जो परपीर न जानहीं, सो काफिर बेपीर"॥ सा० स०॥ इसलिये—

"एक दुखी सब यह ससारा। दुःख　दिये　ते　कौन　बिचारा॥
निर्बैरी　बर्तै　जग　माहीं। मन बच कर्म घात कोउ नाहीं"॥ प०॥

हिसा घात करने वाला मनुष्य ममता और बैर की वृद्धि कर रात-दिन जलता रहता है। जैसे को तैसे ही मिलते रहते हैं, अतएव परस्पर अविचारी मनुष्य दूसरे को पीडा पहुँचा कर अपने ही शाति-सुख का नाश कर डालता है॥ ३॥ वह नाना प्रकार से दूसरे के साथ छल-कपट का पाशा फेककर मिथ्या मनमाने भोग सुख लेना चाहता है। जिस मन का साथ उसने किया है, वह मनरूप भूत इस जीव को प्रतिक्षण कूकर-शूकर के समान भटकाया ही करता है। इसकी तृप्ति तो कभी होती ही नही॥ ४॥ जब प्राप्त वस्तु से मन नहीं छकता तब परद्रव्य हरण के लिए चोरी करता है, जुआ खेलता है, वेश्या या परस्त्रियो की गुलामी करता है। जिस समय मन अपना फन्दा डाल कर जीव से कुकर्म कराता है उस समय श्रेष्ठत्व-ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व या किसी प्रकार की महत्ता नही रह जाती॥ ५॥ ऐसे घोर हिसादि पाप करने से

व्यावहारिक-पारमार्थिक दोनो प्रकार की शुद्धबुद्धि नष्ट हो जाती है। फिर तो हिसा करने वाला मनुष्य उन्मादी बनकर धर्माधर्म, नीति-अनीति विचाररहित होकर तथा कुसगति मे धँस कर अन्दर-बाहर जला ही करता हे॥ ६॥ मास मोल लेकर खाया जाय, तो भी विना जीववध किये कैसे मिलेगा! खरीदने वाले मास छोड दे तो कसाई जीव-हत्या क्यो करे! इसलिए स्वय जीव हत्या करना तो पाप ही है, खरीदकर खाना भी स्वय मारने से कम नहीं[१]॥ ७॥

अहो! अन्य जीव की अपने समान पीडा न जान दया धारण न करने वाले का मन निर्दय हो जाता है। मासाहारी मनुष्य प्रत्यक्ष राक्षस बन जाता है। दूसरे के दुख को न ख्याल करने वाला बेपीर कहा जाता है। निर्दयता धारण करने से सरलता छूटकर कुटिलता आ जाती है दूसरे के सताने के लिए नाना उत्पात करना ही उसका व्यवसाय हो जाता है॥ ८॥ ऐसी राक्षसी वृत्ति जिस मनुष्य की हो जाती है, वह एक क्षण भी सुख की नींद नहीं लेता। रात-दिन दूसरे को सताना और सबसे अपना सताये जाना, ऐसो को भला कहाँ विश्राम!॥ ९॥ कुटिलता की वासना धारणकर स्वप्न मे भी सुख की नीद नहीं आती, सोते मे भी उसे भय सवार रहता हे। कपटी, कुटिल, जीवघाती की प्रकृति सहनरहित हो जाती हे, जिससे वह किसी की न सहकर प्रतिक्षण सोते-जागते नये-नये झगडे मोल लेकर दुखी होता रहता है॥ १०॥ घात की वासना रखते-रखते खून सवार हो जाता है। वह सवका मारकाट करके धन हरण कर पीडा देता, जिससे देश या विदेश चाहे जहाँ छिपे उसे जगत भर मे लोग ढूँढ-ढूँढ कर दुख देते हैं।

छन्द—*बडे बेरहम जो कि लूटैं व फूँकैं, हरे द्रव्य परदार ता लोग थूकैं।*
वो अग्नी मे घुस खैर कब तक मनावैं, तिन्हे लोग पकरैं व पीटैं दुखावैं॥
लगैं बेत जूते व कोडे धडाधड, पडी बेडियाँ हाथ होती खडाखड।
बहै रक्त आँसू जलै उर मे भट्ठी, तिन्हो की है जेलो मे बर्बाद मिट्टी॥
अभी चेत कर! साधु गुरुजी जगावैं, गहो धर्म दाया न कोई दुखावैं॥ ११॥

ऐसे मनुष्य पर कोई भी रहम नहीं करता, लोग असह दुख दे-देकर उसके प्राण हरण कर लेते हैं॥ १२॥ इस प्रकार जन्म भर दुख पाता हुआ शरीर छोडकर वह अपनी क्रूर कुटिल हिसकी वासना के अनुसार जब शूकर, कूकर, मुर्गा, बकरा आदि की योनियो मे जन्म लेता है, तब फिर उसकी भी प्रतिहिसा होती हे, यह अटल नियम है कि "जैसा आहार वैसी डकार" न्याय जैसा बोवेगा वैसा काटेगा॥ १३॥ और वर्तमान मे भी सबको यह प्रत्यक्ष है कि

---

१ चौ०—आठ जो हिसा के गृह जानो। सो मनुस्मृति साखि वखानो॥
जीव वधन इक आज्ञा देई। दूजो मारै त्रय गहि लेई॥
चाथो सुनो सँवारन हारा। पचवाँ वेचनहार निहारा॥
छठो रसोई जोन चढावै। सतवो सो जो परसि जिमावै॥
अठवाँ खावनहार जो होई। परैं नरक महँ आठौं सोई॥
दो०—मोल मँगावे घर हतै, ताहि द्रव्य दे कोउ।
सुख सम्पति सब नास हो, मोक्ष लहै नहि सोउ॥
अत उक्त वातो को विचारकर मास-मछली न खाना चाहिए और न जीवहिसा का मन, कर्म, वाणी मे भाव रखना चाहिए।

जैसा अपना स्वभाव होता है उसी के अनुसार उसे भूमण्डल मे सर्वत्र प्रतिफल मिलते रहते हैं। क्योकि जैसी अपनी मनसा होती है वैसी-वैसी क्रिया होकर वैसे-वैसे सग-आचरण द्वारा वैसे ही उसको प्रतिफल, प्रतिसग अवश्य मिलता है, दिली वासना का स्वप्न भी होता रहता है। यदि मनुष्य इस देश को छोडकर दूसरी भूमिका को चला जाय या इस चोला को छोडकर दूसरा चोला धारण करे तो भी अपनी मनसा, क्रिया तथा सग के अनुसार ही दुख-सुख प्राप्त करता है। यथा—"ज्यों दर्पण को थाप उठावै। तैसी थाप ताहि बनि आवै॥ बोलै गिरा कूप को जैसी। वाही समय मिलै पुनि तैसी॥ कर्म बीज होना फल अता। तेहि निरवन्त होत कोइ सता" ॥ बि० ॥ इस प्रकार प्रतिफल आगे अवश्य मिलता है ॥ १४ ॥ राजस या तामस जैसा आचरण दूसरे के साथ कर अपना स्वार्थ सिद्ध किया जायेगा, उसी के समान दूसरा भी मिलकर वैसे ही व्यवहार करके दुख देता रहेगा। देखा भी जाता है कि—

छन्द—*दयावन्त को दया मिलै सब ठौर है। शीलवन्त को शील देखु करि गौर है॥*
विषयी को विष मिलै रागी को राग है। निर्विषयी को मिलै विमल वैराग है॥
तापवन्त को तापवन्त मिल जायेगे। पापवन्त को पापवन्त धरि खायेगे॥
छल बल को छलबली बली को बली है। अपयश को अपयशी भलेको भली है॥
(निर्मल सत्यज्ञान प्रभाकर)

जो मदिरा, मास तथा परपीडन त्यागकर शुद्ध दया, क्षमा एव शीलवृत्ति सहित सतोगुणी आचरण करते है, उनका हृदय भयरहित हो जाता है। जब वह किसी को घातक क्रिया द्वारा भय नहीं देता तब दूसरे से भय नही पाता। सदाचारी का हृदय निर्भय नित्य सुख-शाति से पूर्ण रहता है। तृष्णा डाकिनी और जगत के शोक-मोह, बैर-प्रीति जनित सब दुख उसके दूर हो जाते हैं॥ १६ ॥ जैसा जिसका आचरण, तैसा तिसका सयोग पड जाता है। सबकी भलाई चाहने वाले मन, वचन, कर्म से छोटे-बडे देहधारी जीवो को पीडा न पहुँचाने वाले ऐसे नररत्न को अन्य मनुष्य सब प्रकार का सुख पहुँचाते है, हर प्रकार सहायता कर अपने प्राण के समान उसकी रक्षा करते है॥ १७ ॥ हिसा न करने वाला पुरुष प्रबल प्रारब्ध भोग बिना तीनो काल मे किसी के द्वारा दुखाया नही जा सकता। सच्ची अहिसा वृत्ति पालने वाले से सब वैरभाव छोड देते है। परम दयालु-कृपालु को भूत, भविष्य, वर्तमान तीनो काल मे कोई भी दुख नही दे सकता। यदि न विश्वास हो तो पूर्ण सच्चे दिल से दयावृत्ति धारण कर देख लीजिये। यदि पूर्ण कृपालु को कोई अचानक दुख आ जाय, तो उसे पूर्व जन्म के कर्मो का फलरूप प्रारब्ध भोग उदय हुआ जानना चाहिए सो भोग से आप ही समाप्त हो जायेगा॥ १८ ॥

विवेकवान सन्तो का सिद्धान्त लेकर, सद्ग्रन्थ का भाव धारण कर तथा श्रीगुरुदेव की दया से जीवरक्षा रूप अहिंसा धर्म का श्रेष्ठ ज्ञान अपने को प्राप्त हुआ॥ १९ ॥ इस ज्ञान का मनन और चिंतन करने से अहिंसा-धर्म पालने मे हमारी दिनोदिन रुचि बढकर हमे शांति-सुख मिल रहा है। साथ ही दूसरा और कोई भी इस ज्ञान को सुनकर अहिसाव्रत धारण कर ले तो वह भी अपने अनिवाशी अचलरूप मे टिक रहेगा। वह देह रहे तक निर्भय जीवन्मुक्ति मे विराजेगा और वर्तमान मे यथार्थ सतोषकृत सब सुख प्राप्त करेगा तथा प्रारब्ध के पश्चात तो आवागमन से रहित होकर सदा के लिए स्थिर हो जावेगा, बस यही अहिंसाव्रत का फल है। इसलिए अहिसाव्रत पालन करना हमारा परम धर्म है॥ २० ॥

दृष्टान्त—पूर्व काल मे एक विजयबहादुर नामक क्षत्रिय धनवान था। वह खूब मद पीता, वेश्याओ के साथ घूमता, मास खाता, शिकार करता, अपनी-पराई स्त्री का विचार नहीं करता। जब जिसको मन भावे उसी को मरवा डालता, लुच्चे-लबारो के गिरोह मे रहा करता, इसी से वह अपनी रक्षा समझता था। एक दिन वह शिकार करने गया। उसने वन में एक वडेल को देखकर रपटाया। वह शिकार भागते ही गया। विजयबहादुर वन मे इधर-उधर उसी के पीछे दोडते-दौडते थक गया। पसीने से तरबतर हो प्यास से उसकी साँस रुकने लगी। साथी भी वहाॅ कोई नही, कोई आधार भी नहीं। अब उसका दिमाग ठडा होने लगा। मदमस्त मनुष्य अति दुख ही पडने पर समझता है। उसे और कोई नहीं समझा सकता। वह दुखी, दीन तथा आतुर हुआ पानी का आधार ढूँढने लगा। नम्र होकर कहने लगा—जो कोई ससार मे शक्तिमान जीवो का रक्षक हो, वह मेरी रक्षा करे। मै उसकी शरण हूँ, जिन्दगी भर उसका उपकार मानूँगा। हाय! हे समर्थ देव, मै आपकी शरण हूँ, इस घोर जगल मे मेरा कौन सहायक है। शाम हो गई, अॅधेरा हो रहा है। भयानक जतुओ का भी भय है, जगल घनघोर है। हाय! मेरे साथी किधर गये। ऐसा कहकर रोते हुए भटकने लगा। इतने मे किसी के गाने की आवाज सुनाई पडी। जिधर से वह सुन्दर आवाज आ रही थी, उधर ही वह गया।

चलते-चलते उसे एक साधु दिखाई दिये। उसने साधु के चरणो मे सिर झुकाया। प्यास के मारे बोल न सका, इशारा देकर जल पिया। सत ने उसे यथाप्राप्त फल-मूल दिये। जब वह सतुष्ट हुआ तब सन्त ने पूछा—तुम कौन हो? यहाँ इस घोर जगल मे क्यो आये हो? विजयबहादुर ने अपना नाम बतलाया और कहा कि मैं शिकार करने आया हूँ, यह दुर्दशा हुई, यदि आप न मिलते तो मेरी मौत ही धरी थी। सन्त बोले—नाम तो तुम्हारा इतना श्रेष्ठ है, परन्तु करनी इतनी क्यो भ्रष्ट है? विजयबहादुर बोला—क्या करनी भ्रष्ट है? सन्त—अभी तुम्हारी नीद नहीं खुली। यदि मेरे वचनो का ख्याल करो, सुनना चाहो, तो मै सुनाऊँ, यदि तुम्हारी इच्छा न हो तो वृथा बोलने का परिश्रम क्यो करूँ! दूसरी बात अनधिकार शिक्षा करने से वक्ता और श्रोता दोनो के गले द्रोह-उपाधि मढ जाती है। विजयबहादुर—मैंने पूर्व मे निश्चय किया था कि जो इस समय मेरी रक्षा करेगा, उसका मैं अनुचर बनूँगा। आप कुछ भी कहे, मैं सुनूँगा। सन्त—जैसे तुमको पीडा या दर्द मे रहा नहीं जाता, वेसे ही जितने पशु-पक्षी, कीट, गज-केहरि इन्द्रियसयुक्त जन्तु हैं, सब ही को पीडा होने पर रहा नहीं जाता। तब स्वय उपाय करते है या आश्रय ढूँढते हैं। जेसे तुम दुख मे आश्रय पाकर सुखी होते हो, वैसे ही किसी भी प्राणी के दुखनिवारण कर देने से वे सुखी होते हैं, पुन: उस दयाभाव से अपने भीतर पुण्य के सस्कार जमते हैं। जब तुम अपने लिए दुख नहीं चाहते और दूसरे को बाण-तलवारो से दुख दे रहे हो तब परिणामस्वरूप तुम्हारी क्या दशा होगी।

सब चेतन वासना के अनुसार ही क्रिया करते है। क्रिया के अनुसार उन्हे फल मिलता है। अपने शरीर-सुखो के लिए मन, वचन, कर्म से दूसरो को पीड़ा देना ही पाप है, जिसका फल नाना प्रकार के रोग, व्याधियॉ, त्रिविध तापमय सब दुख है। यथाशक्ति सब प्राणियो की रक्षा करते हुए अन्न, वस्त्र, धन और प्रिय वचनो से हित करना पुण्य है जिसका फल निरोग, अनुकूल स्त्री, पुत्र-धनादि सब सुखो की प्राप्ति है। यदि तुम्हे ससार के सुखो की इच्छा हो तो सब पापो को छोड दो, पुण्यमार्ग ग्रहण करो। यदि मोक्ष की इच्छा हो तो सर्वांग शुद्ध आचरण

को गहो, जिससे अन्तःकरण निर्मल होकर मोक्ष अग धारण हो। देखो कहा है—"क्षत्री सो जो कुटुम सो जूझै। पाँचो मेटि एक को बूझै"॥ बीजक॥ अर्थात क्षत्रिय वही है जो इन्द्रिय-मन आदि शत्रुरूप कुटुम्बियो से समर ठाने और पाँचों विषय या काम, क्रोध, लोभ, मद और मत्सर पाँचो रिपुओ का दमनकर अपना उद्धार करे, न कि लोमडी, सियार, शशा, सिंह आदि गरीब पशुजीवो की हत्या करे। देखो ! मनुष्य सबका न्याय करने वाला है, ऐसी उत्तम देह अन्याय मे न गुमाओ। कहा है—"नर शरीर धरि जो परपीरा। करहि ते सहहिं महा भवभीरा"॥ रा० ॥ इतना सुनते ही विजयबहादुर के शुभ संस्कार चमक उठे। वह कहने लगा—हे गुरुदेव! मैंने अभी तक कुछ न जाना। आज मैं जो-जो प्रश्न करूँ आप कृपा कर समझा दीजिये, जिससे मेरा अज्ञान दूर हो जाय।

प्रश्न —१—कौन देव सर्वोपरि कहिये। २—केहि की शरण जाय सुख लहिये॥
३—मनुज धर्म कहि कछु समझावहु। हौं अचेत तव दास जगावहु॥
४—शत्रु कौन दुख देत सुझावहु। ५—तेहि मारन की युक्ति बतावहु॥
६—सदा एकरस कहँ विश्रामा। जहँ ठहरे दुख मिटै तमामा॥
७—सत्य असत्य काहि को कहिये। ८—तेहि की समझ कौन बिधि लहिये॥
९—कौन लाभ है जीवन केरा। १०—साथहि हानि की करौ निबेरा॥

दोहा—यह सब प्रश्न सुझावहु, तुम जीवन प्रतिपाल।
बडे भाग्य तव दरश भो, साधु-साधु दुखटाल॥

उत्तर— { सुनु उत्तर संक्षेप महँ, जेहिते हो भ्रम नाश।
अस कहि सत सुथीर है, वचन विवेक प्रकाश॥

१—श्रेष्ठ-देव { कामादिक ले साथ, मन रावण पीड़त सबहि।
तेहि मारे कोइ साध, सोई राम बरदेव हैं॥

२—शरण जाने योग्य { क्षमा बोध नैराश, सहित साधु गुण गुरु सदा।
तिनकी शरण सुपास, गहै अमद जो भल चहै॥

३—धर्म { शील क्षमा शुचि धीर, नम्र दया दम ज्ञान लै।
समता सुसग सुवीर, कर्म अहिंसा धर्म गहु॥

४—शत्रु { शत्रु महा अज्ञान, क्रोध लोभ मद कुटुम्ब लै।
तृष्णाजाल फँसान, देत दुक्ख सब जीव कहँ॥

५—शत्रु दमन की युक्ति { तेहि नाशन की युक्ति, धर्म अग सब ही गहै।
पावै तबहीं मुक्ति, ज्ञान भक्ति बैराग्य से॥

६—एकरस विश्राम के स्थान { निज स्वरूप विश्राम, जहँ ठहरे दुख मिटत है।
अविनाशी थिर धाम, गुरुपद तख्त सुरक्षिये॥

७—सत्य-असत्य { जड चेतन दुइ वस्तु, दृश्य सकल जडभूत हैं।
द्रष्टा चिद सद् अस्तु, सत्यवाद परिणामि जग॥

८—बोध की कुजी
समझ होन की रीति, सदा पारखिन सग करु।
सदग्रन्थन नव प्रीति, कुसग त्याग सब गुन लहै॥

९—मुख्य लाभ
लाभ एक सत्सग, सुबुधि सुचाली जहँ लहै।
सकल कुमति हो भग, सन्त दरश अनमोल है॥

१०—हानि
हानि एक दुःसग, जेहि ते कुबुधि कुचाल दुख।
छिन-छिन मन के रग, नट मर्कट सम नित दुखी॥

प्रश्न सार सक्षेप, उत्तर तेहिको सब दियो।
मिटि गयो ताहि विछेप, कर जोरे स्तुति करत॥

गजल

अज्ञानबश अहो मैं, अब तक न कुछ सम्हारा।
अब तो खुले हैं चक्षू, धनि साधु सग प्यारा॥ टेक॥
मैं देह ही को मानी, भोगो को सत्य जानी।
कामिनि कनक के ध्यानी, कुछ और ना विचारा॥ १॥
कुछ भाग्य अब जगे हैं, जो आप मिल गये हैं।
सुनि सीख चित दिये है, अब ना बहूँ मैं धारा॥ २॥
सब कुछ अनर्थ कीन्हा, हिसा व भोग लीन्हा।
पापी महा हौं चीन्हा, तेहि को प्रभू सुधारा॥ ३॥
हिसा न अब करूँगा, सतधर्म आचरूँगा।
गुरुके चरण पडूँगा, सब त्यागि के असारा॥ ४॥
मन के कहे मे जैसे, छिन-छिन बिकूँ हूँ तैसे।
गुरुदेव ऐन ऐसे, सतत रखूँ अधारा॥ ५॥
श्री गुरु विशाल देवा, मन काल जाल छेवा।
अब प्रेम रक्ष लेवा, अब से करो किनारा॥ ६॥

दोहा—विजयबहादुर विनय करि, अज्ञा शीश चढाय।
मनुज धर्म आचरत शुचि, सत्सगति बल पाय॥
तिविध ताप दुर्बुद्धि सब, हरत सद्य सतसग।
कस न करै अस जानि नर, जन्म मरण हो भग॥

शब्द—१८

भोगै दुख जीव करम बशि अपने॥ टेक॥

वह दुख रच्यो भूल से अपने, तेहि सम होय न बीज को बोवने॥ १॥
दुख न देव तिनको मन कबहूँ, जानि स्वजाति दया गहौ तुमने॥ २॥

दुखिया दुखहिं देन कम अकिली, बुद्धिमान तुम धरौ रहमने॥ ३॥
अंकुर खाद्य मनुष्य को धर्मा, तजि पशु भोग मनुष्य ह्वै रहने॥ ४॥
निर्दय खाद्य मांस दुखदाई, धरि दिल दया रहौ सुख चहने॥ ५॥
रद नख जिनके रूप भयावन, लखि उन खाद्य जो पशु तन रहने॥ ६॥
लखि अपवित्र मनुष्य गति मति से, श्रेष्ठ अहौ तुम घात न करने॥ ७॥
जाय आवरण भ्रम तम दिलको, शुद्ध स्वरूप ठहरि दुख तजने॥ ८॥
वाक्य घात नहिं तन से दुखवो, मन से कष्ट चहौ नहिं सपने॥ ९॥
जो कुछ करै सो भोग भरै वह, खीझि खिझाय न दुखको रचने॥ १०॥
यहि कर फल तुम अभय बिराजौ, यकरस चाल स्वच्छ मन रखने॥ ११॥
हानि लाभ दुख सुखहिं तजन करि, आपहिं आप रहौ जग तजने॥ १२॥
द्वन्द्व क्रिया परबशता तजि कै, होउ स्वच्छन्द आप में रहने॥ १३॥
काम क्रोध ममता की बेरी, यहि के बिबश दुखाय दुखितने॥ १४॥
सकल जीव भरमत जग बन में, तेहिते पृथक ज्ञान यह सिखने॥ १५॥
लाभ महाँ फिरि हानि न कबहूँ, सोइ मत सिद्धि स्वबशता रखने॥ १६॥
संत सरल सिख दीन्ह जो मुझको, बर्णन ताहि सुखी गुनि धरने॥ १७॥

टीका—वासना-रचित देह धारण कर सब जीव, अपने ही पूर्व जन्मो की करनी त्रिविध ताप का दुख स्वय भोग रहे हैं॥ टेक॥ वे सब अपने स्वरूप और शुद्ध रहस्य को भूलकर क्षणभगी इन्द्रिय-सुख के लिये अनेक हिसादि अनीति पापकर्म पहिले कर लिये हैं जिससे वे देह धारण कर न चाहते हुए भी भाँति-भाँति के दुखो से पीडित हो रहे हैं। इस प्रकार अपनी भूल से सब जीव दुख बना लिये हैं। अब उन्हीं के समान अज्ञानी बन उनको दुख पहुँचा कर अपने लिये दुख का बीज बोना बुद्धिमान का काम नहीं है। यथा—"एक दुखी सब यह ससारा। दुक्ख दिये तो कौन विचारा"॥ प०॥ १॥ हे मन! उन देहधारियो को कभी किसी प्रकार पीडा न पहुँचाओ, उनको अपने सरीखे सजाति जानकर अपने समान ही उन पर दया धारण करो, यथाशक्ति रक्षा करो, यदि रक्षा न कर सको तो उनका जान-बूझकर किसी प्रकार घात न करो॥ २॥ जो आप ही दुखी, कायल तथा दीन है उसको दुखी करना कम समझ की बात है। हे मनुष्य! तुम हानि-लाभ को जानने वाले बुद्धिमान हो, श्रेष्ठ मानव शरीर मे हो, तुम्हे सदैव छोटे-बडे सब जीवो पर दया करना चाहिये॥ ३॥

मनुष्य का निर्वाह अकुर से उत्पन्न शाक, फल-फूल और अन्न ही से है। उसे फल-मूल और अन्न से ही अपना निर्वाह करना धर्म है। क्योकि अकुरज मे जीव नही है, इसीलिये अकुरज पदार्थ खाने मे कोई पाप और दोष नही है। इसका विस्तार जड़-चेतन-निर्णय सातवे प्रकरण मे है, वहाँ पर देखिये। इसलिये गिद्ध-सिंह इत्यादि पशुओ के समान मासभक्षण छोडकर मानुषचाल ग्रहण करना चाहिये॥ ४॥ देखो! मांस खाना निर्दय चाल है, वह दूसरे के और अपने लिये दुखदायक है। इसलिए सुख चाहने वाले प्राणी को उचित है कि दया धारण कर मास-मछली आदि भक्षण छोडकर अकुरज से निर्वाह करे जिससे परिणाम मे दुख भोगने

का पश्चाताप सहना न पडे ॥ ५ ॥ जिनके बड़े-बडे कठोर पैने दाँत हैं और बड़े-बडे नख-चंचु हैं, उन बाघ, भालू और गिद्ध-बकुलादिको का जीवन मास पर निर्भर है, जो पशु आदि देह में केवल विवशता से जीवन व्यतीत कर रहे हैं ॥ ६ ॥ देखो, मनुष्य के आचरण और बुद्धि की विशेषता को देखते हुए जीवहत्या और मासाहार अपवित्र है। ऐसा उत्तम चोला पाकर उत्तम ही कार्य करना चाहिये। हिसकी, नीच, क्रूर, अधम क्रिया और बुद्धि देखकर मनुष्यो ने ही इन्हे पशु कहा है और आप तो सब योग्य-अयोग्य जानने वाले मनुष्य-खानि को प्राप्त हुए श्रेष्ठ हो, ऐसे श्रेष्ठ भले मनुष्य का धर्म यह नहीं है कि वह अपने सुख के लिए दूसरे का घात करे। घात करने से पशु-वृत्ति होकर मनुष्यत्व-श्रेष्ठत्व कैसे रह जायेगा। इससे मासादि अभक्ष्य पदार्थ त्यागकर शुभाचरण से अपनी श्रेष्ठता सँभालो।

दृष्टांत—दयापाल वर्मा का एक पुत्र था, जो कि अग्रेजी और सस्कृत विद्या मे कुशल था। विद्या के साथ ही उसे मास-भक्षण और शिकार करने का शौक था। उसकी प्रकृति मे तनिक भी सहन न था। पिता दयापाल परम दयालु और अहिसाव्रती थे। एक बार पुत्र को अपने अनुकूल देखकर हितोपदेश देने लगे। हे प्रिय पुत्र! मेरे हितकर कथन पर ध्यान दो। दया, अहिंसा और सतोगुण ये तीनो परस्पर साधक होने से विवेकवान इन्हे अच्छी प्रकार धारण कर जगत मे सूर्य और चन्द्र के समान सबका हित करते हे। स्वय तो वे कल्याण के रूप ही हैं। जिनका कोई वैरी नही, जिन्हे किसी इन्द्रियसुख के लिए किसी का घात करने की इच्छा नहीं है, जो अशुद्ध गुणो के बदले शुद्ध गुणो द्वारा ही अपना जीवन निश्चय कर लिये हैं, ऐसे पुरुष इस बात का सदोदित ध्यान रखते हैं कि किसी भी प्राणी को हमसे कष्ट न पहुँचे। विवेकवान सत्य सकल्प करते हैं कि इस रोग-शोक ग्रसित क्षणभगी शरीर की भले कोई निन्दा करो, दुख देवो, मारो-काटो, कटु वचनो की वर्षा करो, निर्वाहिक वस्तुये छीनो, परन्तु चेतन देहधारियो का प्राण हरण करना, मन, वच, कर्म से पीडा देना या किसी भाँति से किसी को झगडे मे डालकर हम किसी प्रकार का सुख लेना नहीं चाहते। वे हिसा कर देह पालन करना तो शूकर, श्वान, बन्दर या मुर्गा आदि पशुओ से भी नीच कर्म समझते हैं। जेसे शूकर, कूकर, मुर्गा आदि पशु लड-भिड कर वमन, मैला और गदे पदार्थ भक्षण करते हैं ओर खुनियाखून करके कितने पराये जीवो का झपटकर आहार करते ह, यदि वैसे सब खानियो से श्रेष्ठ और सद्विद्या-बोधज्ञान के अधिकारी मनुष्य भी करने लगे तो मनुष्य ओर पशु मे क्या भेद।

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह किसी को पीडा न पहुँचावे। उसकी सद्गुणो के उद्योग द्वारा निर्वाह करते हुए सत्य-स्वरूप की स्थिति की ओर चलने ही मे वडाई है। कठोर हिसा, असत्यादि द्वारा अज्ञानी जीव अपना सुख चाहते हैं, परन्तु उलटे उन्हे नित्य दुसह दुख ही हाथ आता है। और विवेकी क्षमा, शील, सहन, सत्य आदि आचरण द्वारा निर्भयतायुक्त अपना निर्वाह करते हैं। जैसे एक महानदी को पार करना है। विवेकवान तो उस घाट पर जाते हैं जहाँ अथाह कुण्ड न हो, घडियाल आदि का वासा न हो और जल थोड़ा हो, ऐसा स्थान ढूँढकर सहज ही नदी पार कर जाते हैं और अविवेकी प्रमादवश इस बात का विचार न कर अथाह जल मे कूदकर भँवरो मे और घडियालो के मुख मे जाकर बीच ही मे नष्ट होते हैं। विचारवान जीवन-नौका को शील, क्षमा, सहन, दयादि विवेक द्वारा सुख से पार कर देते हैं। अज्ञानीजन भाँति-भाँति के लडाई-झगडा और परपीडन मोल ले-लेकर रात-दिन भयभीत

रहकर उसी मे मर मिटते हैं। फिर इसी वासनानुसार अगले जन्म मे हिसक और क्रोधी होकर अनंत दुखो का अनुभव करते हैं। विचार कर देखो! मनुष्य का खाद्य पदार्थ अकुरज मात्र है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुख तथा ज्ञान रहित निर्जीव अंकुरज व अमद्य पदार्थ खाने मे कोई पाप नहीं है, क्योकि कहा है—दोहा—"इच्छा क्रिया अवस्था, ज्ञान अमरता होय। ये लक्षण जहँ पाइये, जीव जानिए सोय॥" नाना प्रकार से सुखो और इच्छाओ के सहित इन्द्रिययुक्त चलना-फिरना, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था, सुख-दुख का ज्ञान तथा अपनी सत्ता का ज्ञान, अपने सुख के लिये साधन के अनुसार अनेक उपाय, ये सब चैतन्य देहधारी जीवो के लक्षण हैं। जहाँ ये सब लक्षण नहीं है, केवल बीज-वृक्षादि, हरे-भरे या सूखे-जले जड के लक्षण हैं। अत: हे पुत्र! तुम सत्कर्मों द्वारा प्रयत्न करके अकुरज मात्र का आहार करो, किसी को पीडा मत दो, जिससे तुम्हारे सिर पर दुसह दुख का बोझा न लदे। इसी मे तुम्हारी विद्वता या विशेषता है। पिता के इन विचारमय वचनो को सुनकर पुत्र के हृदय मे एकाएक चौंक पैदा हो गई। उसे अपने पूर्व किये हुए पापो पर महान पश्चाताप होने लगा। भविष्य के लिये उसने दृढ सकल्प किया कि "जान जावे तो जावे परन्तु हम कभी किसी को पीडा न पहुँचायेगे, न मासाहारी बनेगे और न शिकार करेगे। समस्त दुष्कर्मो को त्यागकर पिता के वचनानुसार सत्कर्मी होकर विवेक द्वारा इस असार ससार से अपना उद्धार करेगे"॥ ७॥

जिस शुभाचरण से आपके हृदय का अज्ञानरूप अन्धकार व भ्रम का पर्दा दूर हो जाय, वही विचार करो। हे दुख न चाहने वाले! सत कर्तव्य धारण कर अपने शुद्ध स्वरूप मे ठहर रहो॥ ८॥ कभी वाक्य द्वारा किसी का घात न करो। शस्त्र या किसी क्रिया द्वारा अथवा शरीर से भी दूसरे को पीडा न पहुँचाओ। मन से किसी का स्वप्न मे भी अनिष्ट चिंतन न किया करो ॥ ९॥ देखो! दूसरा जो कुछ हमारे साथ क्रूरता और अनीति से बरतता है वह अपने ही लिये दुख का बीज बो रहा है, जिसके परिणाम मे वह बेचारा भूल वश स्वय दुख का भागी होगा। आप उसके खिजाने से क्यो खिजते हैं! यदि उसको अनुचित करते देख आप भी खीजकर अनुचित करने लगेगे तो फिर उसी के समान आप भी नीचता को प्राप्त होकर दुखभोक्ता होगे। अत: किसी का अपने साथ गलत बर्ताव देखकर भी क्रोधयुक्त कभी घातक क्रिया न करो, जिससे स्वय तो आगे के दुखो से छूट जाओ॥ १०॥ इस क्षमा और नम्रता का फल तुम्हे "नकद दाम, तुरत सौदा" के समान प्रथम सहन, क्षमा और अहिसा-वृत्ति धारण करने से आप निर्भरता से विचरोगे। शत्रु का भय जाता रहेगा। दूसरे, आपका मन पवित्र होकर एकरस शुद्ध रहस्य मे स्थिर हो जायेगा। फिर इससे बढकर और क्या लाभ चाहते हो!॥ ११॥ इसलिये हे जगत से हटने वाले! जगत की तुच्छ वस्तुओ के मिलने-बिछुडने से जो प्रतिक्षण हानि-लाभ, सुख-दुख और फूलना-पचकना आदि बना रहता है वह सब प्रपच छोडकर अपने स्वरूप मे स्थिर रहो॥ १२॥ पुन: हिसा, क्रोधादिकृत तमाम राग-द्वेष की उपाधि, व्यर्थ राजस हेतु परिश्रम का भार, परतन्त्रता, ये सब सिर से बोझा डालकर अपने मे स्वतन्त्रता से ठहर जाओ॥ १३॥ देखो! स्वरूपस्थिति के उलटे अष्ट मैथुन तथा क्रोध, हिसा और मोहासक्ति की कठिन बेडियो से जकडे गये प्राणी स्वय दुखी होते है, तथा इसी के वश दूसरे को पीडा पहुँचाते हैं॥ १४॥ इस प्रकार जगत रूप विकट वन मे सब जीव परस्पर भटक-भटककर ठोकरे खा रहे हैं। उन जगत-जीवो के अज्ञान से भिन्न अहिंसा व्रत सहित स्वरूपस्थितिरूप गुरुज्ञान को सीखना चाहिए ॥ १५॥ इस गुरुज्ञान को सुन-समझकर धारण करने से महालाभ मिल जाता है। जिसमे कभी

हानि का संशय न हो, वह श्रेष्ठ सिद्धात जानना चाहिए। जैसा स्वरूप से नित्य निराधार स्वतत्र है वैसा ही ठहर जावे। स्वरूप और स्वरूपस्थिति के रहस्य-क्षमा, दया आदि हीं श्रेष्ठ सिद्धान्त जानना चाहिए॥ १६॥ हितगति, नीति, क्षमा, सम और शील जिसमे हो उसे सरल कहते हैं। ऐसे सरल सन्तगुरु ने जो मुझे उपदेश दिये हैं, वही वर्णन किया हूँ। इस प्रसग का बार-बार मनन कर रहस्य धारण करने वाला सदा सुखी रहता है॥ १७॥

शब्द—१९

लहौ मन समता क्षमा अमान॥ टेक॥

दया धरौ तब दया तुमहिं पर, निरदय क्रूर सदै दुख दान।
यथा बिबेक से ताहि निरखि करि, निज हित परहित को मनमान॥ १॥
शील गहौ निरशील जलनि तजि, शाति मनन पुरुषारथ ज्ञान।
तोष सदा निरबाह मे राखौ, होउ स्वतंत्र महान॥ २॥
सत्य तुमहिं निज पद पहुँचावै, क्षण-क्षण दु ख दहान।
यकरस बृत्तिको धारण करि कै, मिलै सुगम निज थान॥ ३॥
धीरज साहस जोर वढावै, छाँड़ि अधीर नदान।
यहि धारण बिन काम न पूरा, कोटिन यतनि करान॥ ४॥
बीरभाव बैराग्य राग जित, तेहि पावक लै बन्ध नशान।
रहो उदार कामना तजि कै, डारौ मान लदान॥ ५॥
भक्ति सरल निर्छल मल नाशन, इष्ट सुलभ फलदान।
पाय अचुक धन सब दुख जावै, संत सहाँय लहान॥ ६॥

टीका—हे मन। समता, क्षमा और निर्मानता सद्‌गुण प्राप्त करो। समता से तुम्हारे मन का द्वेष, असहनशीलता, मनमाने वर्ताव, पश्चाताप, दोष और कलक दूर हो जावेगे। गम खाकर रहने से वेर-विरोध, झगडा, उत्पात, हिसा और अनीति, सब पाप कर्म छूट जायेगे। अभिमान रहित रहने से भूल-भ्रम, आसक्ति, बडप्पन का प्रमाद, चिन्ता, शोक, मोह और व्यर्थ की उलझन जाते रहेगे। अत इन सद्‌गुणो का सादर सेवन करो॥ टेक॥ जब तुम सब पर दया भाव रक्खोगे, तव तुम पर भी दया होगी। निर्दयता, कठोरता और कुटिल आचरण से अपने और दूसरे को सदैव दुख ही होता है। जिससे अपना और पराया कल्याण हो, ऐसी दया विवेक से तौल कर धारण करो, जिससे अपने और पराये हित का घात न हो, अत· दया के साथ ही विवेक रक्खो॥ १॥ शील धारण करो और नि शीलता के अग—कठोर ईर्ष्या-द्वेषादि की जलन का परित्याग करो। शील धारण करने से दुर्गुणकृत जलन आप ही नष्ट हो जायेगी। शील के साथ ही विक्षेप रहित शाति और यथार्थ हितैषी वचनो का मनन तथा यथार्थ साधन मे पुरुषार्थ और स्वरूपज्ञान ग्रहण करो। पूर्ण शीलरहस्य के पालन करने से सब सद्‌गुण प्राप्त हो जायेगे। शरीर-रक्षा मे सदा सतोष का सेवन करो, जिससे तुम्हारी मायावी याचना कृत गरीवी तथा तुच्छता नष्ट होगी और तुम महान हो जाओगे॥ २॥

हे कल्याणार्थी! अपने हितैषी सत्य को धारण करो। सत्य का आश्रय लेने से नीच मनकृत क्षण-क्षण मे आये हुए दुर्गुणो का सदा ही निवारण होता रहेगा। इस प्रकार सत्य अपनी भूमिका से डिगने न देगा। सत्यप्रतिज्ञ और सत्यव्रती ही अडिग्ग होते हैं। देखो! सत्य के धारण किये विना कोई असत्य को त्याग नहीं सकता। "साँच बिना सुख नाहिना, कोटि करै जो कोय।" इस प्रकार सत्यकृत एकरसवृत्ति धारण करने से सरलतापूर्वक अपनी स्वत. स्थिर भूमिका प्राप्त हो जाती है, अतः एकरस सत्य का सेवन करो॥ ३॥ धैर्य तो तुम्हारे परमार्थमार्ग के साहस और बल को बढा देगा। कोई भी विघ्न आने पर पारमार्थिक कार्य के यत्न से न पछडना, ऐसे धीरज से ही अज्ञान और अधैर्य त्याग हो जाता है। धैर्य के बिना पारमार्थिक कार्य कभी पूर्ण नहीं हो सकता, चाहे करोडो उपाय करो॥ ४॥ वीरतासहित जो वैराग्य है, वही राग को जीतनेवाला है। वीरभाव सहित वैराग्यरूप अग्नि से सर्व बन्धनरूप मनोमय तृण भस्म हो जाते हैं, तब जीव निर्बन्ध होकर विराजता है। सर्व जगत की कामना और लोभ को छोड़कर उदारता ग्रहण करो और जो अपने ऊपर विजाति विषयाभिमान का बोझा लादकर गरुवा रहे हो, सब बन्धन बना रहे हो, उसको डालकर स्वरूपविचारयुक्त हलके हो रहो॥ ५॥ सद्गुरु की भक्ति करने से हृदय सरल हो जाता है और अतःकरण के छल-कपट दूर हो जाते है। भक्ति मे कठोरता और छल-कपट नहीं होते। गुरुभक्ति से कुबुद्धि, कुभावना और जडासक्तिरूप मल नष्ट हो जाते हैं। सदैव श्रीगुरुसाहिब को सुलभता से अनुकूल करके इच्छित कल्याण पद सरलता से प्राप्त कराने की साधना भक्ति ही है। इस प्रकार भक्तिसहित सद्गुरु-कृपा द्वारा अक्षय स्वरूपज्ञान धन पाकर जन्म-मरणादि सर्व दुखो की निवृत्ति हो जाती है। भक्ति के प्रभाव से ही कल्याण के सहायक विवेकवान सन्त भी प्राप्त होते रहते हैं, अतएव भक्ति-पथ का सदा अवलम्ब रक्खो॥ ६॥

सत्संग के प्रताप से शुभ गुणों की प्राप्ति

दृष्टात—एक राजा का नाम सुमनसिंह था। सन्तो के समागम मे रुचि रखने से उसे सत्यस्वरूप का विवेक था। मैं शुद्ध चैतन्य हूँ, ज्ञान-स्वरूप हूँ, मेरे से पृथक सब प्रपच अनित्य और दुखपूर्ण हैं, सर्व भोगो का त्याग ही निर्वासना करके मुक्ति देता है, मुझे अधिक भोगसुख न चाहिये, बल्कि जो मुझे प्राप्त है वही मेरे लिए बन्धन, जाल या फाँसी है, यदि उसका किसी प्रकार त्याग हो तो मैं उपाधि रहित होऊँ। त्यागवृत्ति के लिये सद्गुरुदेव से मैं प्रार्थना करता हूँ, उपासना-भक्ति मुझे पूर्णरूप से पालन हो, सुखाध्यास का सर्वस्व त्याग हो, यही गुरुदेव से मै याचना करता हूँ, इस प्रकार सुमनसिंह को दृढ निश्चय था। सुमनसिह की राज्य-सीमा के ऊपर एक दूसरा राजा अचानक चढ आया और सन्देश भेजा कि हे सुमनसिंह! या तो आप लडे, या अपना समस्त राज्य दे। यह सन्देश सुनकर सुमनसिंह के मन्त्री ने कहा—आप सेना को आदेश दे कि शत्रु चढ़ आया है। सुमनसिंह बोला—मुझे राज-काज और जगत-भोगो की इच्छा पहिले ही से नहीं है, आपकी जो इच्छा हो सो करे। मैं लोहू से सना हुआ हजारो का गला काटकर कुत्ता और बाघ या बाज आदि पशु-पक्षियो के समान जीवन-निर्वाह नहीं करना चाहता। धिक्कार है उन धन, ऐश्वर्य और सुखभोगो को जिनसे अतःकरण मे क्रोध, लोभ, काम, प्रमाद, भय और मत्सर की बढती हो। हे मन्त्री! एक तो पृथ्वी ऐसे ही सीमित होने से अल्प है, दूसरे जल, पर्वत और जगलो से घिर गयी है। बचे-बचाये कुछ मिट्टी के ढेले पर अधिकार कर राजा लोग गर्व करते हैं। इसके लिये लाखो के सिर काटकर अपने लिये अनत

जन्मो के दुखों को एकत्र कर लेते हैं। देखो! हमारे पिता-प्रपिता सब कहाँ चले गये, कुछ तो अपने साथ न ले गये।

जीव तो केवल वासनावश भ्रमण करने वाला पथिक है। उसके मलिन पापकर्मों की वासना यम-दण्ड के समान अनत पीडा देती है और शुद्ध वासना अनन्त सुख देती हे। यहाँ तक कि शुद्ध वासना-सहित निष्काम अतःकरण हो जाने पर स्वय सत्यज्ञान द्वारा मुक्ति भी हो जाती है। अनन्त काल की वासनाये एकाएक त्यागी नहीं जा सकतीं, इसी कारण वासनाओ को सर्वथा निर्मूल करने के लिये विशेष सद्गुरु सत्सग और उपासना की दीर्घकाल तक आवश्यकता होती है। मैने सत्सग से स्वरूपज्ञान और तिसकी स्थिति के लिए सत्साधन उपासना रूप धन कमाने के अर्थ कुछ दिन के लिये गृहस्थ-आश्रम स्वीकार किया। अव मुझे गुरुदेव की कृपा से बोध की प्राप्ति हुई है। जिस राजकाज को सतजन उपाधि समझ सहज ही त्यागकर चल देते हैं, उस उपाधि का हमे सकट पडने पर त्याग करना चाहिये।

राजा पहाड की तराई मे जाकर शातचित्त से रहने लगा। मन्त्री ने कुछ विचार कर आक्रमणकारी राजा से लडना अनुचित समझकर उसके पास एक पत्र भेजा और कहा आइये! आपका ही राज्य है। कृपया राज्य कीजिये, यहाँ के राजा राज्य त्यागकर चले गये। ऐसी वात सुनकर आक्रमणकारी राजा ने सहज ही सुमनसिंह के राज्य पर अधिकार कर लिया और उसके ऐश्वर्य को भोगने लगा।

एक दिन नये राजा के मन मे आया कि शत्रु अग्नि के समान होता है, उसको निर्मूल कर देना चाहिये, नहीं तो आगे समय पाकर वदला लेगा। यह सोचकर उस राजा ने आज्ञा दी कि जो सुमनसिंह को पकड लावे, उसको दस हजार रुपये पारितोषिक दिया जावेगा। यह वात सारे राज्य मे फैल गई। सिपाहियो ने जगह-जगह सुमनसिंह की वहुत तलाश की, पर वह कहीं न मिला। एक वार पहाड की तराई मे एक वुड्ढा गउएँ चरा रहा था। उसके लिये भोजन ले आनेवाली बुड्ढी अपने पुरुष से वोली—पहिले का राजा यहीं कहीं रहता है, ऐसा मैंने सुना है। यदि तुम उसको पकडा दो तो दस हजार रुपये राजा से गिना लो। बुड्ढा वोला—चुप रह कुबुद्धिनी! पहिले का राजा अत्यन्त धार्मिक, न्यायप्रिय, परमभक्त और दयालु था। उसके चलते हम लोगो को कुछ भी दुख न हुआ। ऐसे सुशील राजा को पकडा देना महान पाप है, जिसका फल हम लोगो को अनत जन्म तक भोगते न चुकेगा। यह वात सुमनसिंह सुन रहा था। राजा ने निर्धन पर उपकार करना सोचकर शीघ्र उस वृद्ध के सामने आकर कहा—मैं ही छिपा हुआ पूर्व का राजा हूँ, मुझे नवीन राजा के यहाँ ले चलकर पकडा दो, तुम्हे रुपये भी मिल जायेगे, हम भी उससे निर्भय हो जायेगे। उसकी जो इच्छा होगी, मेरे लिये कर देगा, तुझे तो सुख हो जायेगा।

बुड्ढा गोपाल बोला—नहीं महाराज! हमारी निर्धनता प्रारव्धकृत है, यह तो भोगना ही पडेगा। इस बुड्ढी की "साठी तो वुद्धि नाठी" वाली दशा है। भूखे मर जाना मुझे स्वीकार है, परन्तु आप जैसे धर्मराज को शत्रु के हाथ कर देना स्वीकार नहीं है। इस प्रकार राजा अपने को बुड्ढे से कहता है ले चलो, और गोपाल इनकार कर रहा है। उसी समय वर्तमान राजा के भेजे हुए पाँच दूत आ पहुँचे। इन पाँच दूतो ने राजा को पहिचानते ही पकड लिया और वर्तमान राजा के सामने उपस्थित किया। गोपाल भी बुड्ढी से गउएँ घर ले जाने को कहकर राजा के साथ

ही चला आया। वर्तमान राजा ने पाँचो दूतो से पूछा—तुम मे से इस राजा को किसने पकडा है? इनाम के लालच से पाँचो ने दावा किया कि मैने ही इस राजा को पहिले पकड़ा है। वर्तमान राजा को ठीक निश्चय न हुआ। तब पूर्व राजा से वर्तमान राजा ने पूछा—तुम्हीं बताओ, तुमको प्रथम किसने पकडा है? सुमनसिंह बुड्ढे की तरफ इशारा करके बताया कि यही मुझे पकड लाया है। वर्तमान राजा ने पूछा—क्यो बुड्ढे, तूने ही इन्हे पकडा है? बुड्ढे ने कहा—नहीं महाराज, ये राजा आप ही आप आये हैं। ऐसा कहकर बुड्ढे ने सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक कह सुनाया। राजा यह वृत्तान्त सुनते ही कॉप उठा। उसका पत्थर-सा कठोर हृदय तुरन्त पिघल गया। सुमनसिंह के सन्तोष, क्षमा, धैर्य, परोपकार आदि सद्गुणो ने उसके हृदय को पानी-पानी कर दिया।

वर्तमान राजा शीघ्र गद्दी से उठकर सुमनसिंह के चरणो मे पड गया और सादर उन्हे गद्दी पर बैठाकर कहने लगा कि आप मेरे अपराधो को क्षमा कीजिये। आप पूर्ण सन्तोष, क्षमा, सत्य, धैर्य और परोपकार की पत्यक्ष मूर्ति हैं। पूर्ण समर्थ होते हुए भी आप ने हिसा के भय से मुझ तुच्छ राजा से समर न ठाना। आपने अपने प्रारब्ध पर सन्तोष कर सर्वस्व त्याग किया। आप दूसरे का हित करने के लिये स्वय मुझ शत्रु के सामने आये। आपके समान कौन होगा। धन्य। धन्य।। जैसा मैंने आपका यश सुना था, वैसा आज प्रत्यक्ष हुआ। ऐसा कहकर सुमनसिंह को सब राज्य-भार सौप दिया, और उन पाँचो दूतो को दण्ड दिया तथा बुड्ढे को नियत पुरस्कार दिया। सुमनसिंह एकान्तवास और स्वरूपस्थिति का अत्यन्त लाभ पा चुका था, इसलिए वर्तमान राजा की बात सहसा न काटते हुए समता सहित उसे शुभगुणो और यथार्थ ज्ञान से समझाकर धार्मिक-सत्यज्ञान का निष्ठक बना दिया और उनसे राज्य-भार न लिया। फिर उनसे विदा होकर वैराग्यपूर्वक भ्रमण करते हुए स्वरूपस्थिति मे शान्त हुआ। सुमनसिंह विवेकवान है। विवेकवान का चाहे सर्वस्व हरण हो जाय, चाहे कोई उसके ऊपर तलवार ही क्यो न चलावे, चाहे जगत के अच्छे से अच्छे भोग-पदार्थ मिलने का लालच भी दे, पर वे कभी सन्तोष, क्षमा और धैर्य गुण को नहीं छोडते। इसी कारण उन्हे स्वरूपस्थिति का साम्राज्य सहज ही मिल जाता है और सब कमी घटी तथा हार रहित वह पद मिल जाता है, जिससे लाभ ही लाभ—विजय ही विजय हो। ऐसे पूर्वोक्त सद्गुणो का हमे भी सेवन करना चाहिए।

सद्ग्रन्थ भवयान सटीक, द्वितीय प्रकरण भक्ति-भरण समाप्त

फल रूप-छन्द

वराग्य और सुविवेक हेतू भक्ति ही मन मान ले।
साधु गुरु की रीति मनसा पूर्णता से ठान ले॥
विन गुलामी बच सकै नहि तव तो गुरुपद थान ले।
पाठ कर भक्ती भरण का भाव दृढ युत ध्यान ले॥

चोपाई

कैसेउ पापी अधम अलीना। गृहासक्त जो प अति दीना॥
सोउ होवे शुचि परख प्रवीना। भक्तिभरण नित जो गहि लीना॥

सोरठा

उपज्यो नित नव नेह, पारख पभु के चरण मे।
कथा पुनीत सु येह, और सुनावहु करि कृपा॥

इच्छा-परीक्षा

हेतु-छन्द

इच्छा परीक्षा के बिना भवधार में हम बह रहे।
इच्छा व इच्छुक एक करि सुख मानि दुख में दह रहे॥
करुणानिधे लखि दुर्दशा इच्छा परीक्षा तब कहे।
सादर इसे मन मनन करि भव में नहीं अब तू दहे॥

साखी

बहत देखि उर धार में, साधु द्रवित तत्काल।
ईह परीक्षा सकल कहि, हरे त्रिविध जंजाल॥

सद्गुरवे नम

भवयान

तृतीय प्रकरण : इच्छा-परीक्षा

वन्दना

सोरठा

युक्ति देव गुरु आप, मोह लोभ मद काम हर।
मन मानन्दी पाप, भस्म करै तव बोध बल॥ १॥

टीका—मोह, लोभ, अभिमान, काम आदि विकारो को हरने वाले हे सद्गुरुदेव! आप ऐसे उपाय एव रहनी दीजिए जिससे मुख मानन्दी, जो कि सर्व पापो की जड है और आवागमन का मुख्य बीज है, उसे हम जलाकर निर्मूल कर डाले॥ १॥

स्व स्वरूप को फेरि, स्वत निबैरै बल स्वत।
अस प्रताप तव हेरि, प्रगट किये रुचि आपनी॥ २॥

टीका—अपने को मानन्दीधार से घुमाकर अपने स्वरूप के पारख-बल से सर्व बन्धनो को स्वय निवृत्त करे। ऐसी 'स्वय कृपा' आप गुरुदेव के ही कृपाकटाक्ष से सिद्ध होती है। आप गुरुदेव मे वैराग्य-बोध की प्रबल सामर्थ्य देखकर आपके आगे यह दास अपनी लालसा प्रगट करता है, कृपया इसे पूर्ण कीजिये॥ २॥

प्रसंग १—मन-दमन

शब्द—१

देखौ मन काल जाल बरियारा॥ टेक॥
करै मितता जीव से ऐसी, मानौ दुख निरुवारा।

क्षण क्षण सुखहिं सामने लावै, बाँधे फन्द अपारा॥ १॥
चेतन काज मे आलस लावै, निज के हित हुशियारा।
मनन करत मे बार न लावै, करत क्रिया नहिं हारा॥ २॥
रहत छिपाय सदा निज हित को, पाय समय विस्तारा।
गाफिल करै जीव को तवहीं, लाय भरम अँधियारा॥ ३॥
तव पचितावै चेतन भूला, मित्र के छल से हारा।
युक्ति अनेक करे तब मनुवाँ, बहु विधि ताहि दुलारा॥ ४॥

टीका—परख करके देखो तो यह मन ही जीव का काल है। काल इसलिए है कि इस मन ही द्वारा सर्व आपदाये जीव के सिर पर पडती रहती हैं। ऐसे कालरूप मन का फन्दा वडा ही कठिन है। कठिन इसलिए है कि एक तो इसका फन्दा जानने मे नहीं आता। यदि जाना भी जाय तो जल्दी छुडाए नहीं छूटता। इसके कठिन फन्दो की परीक्षा गुरुदेव आगे कराते हैं, ध्यान से सुनिये॥ टेक॥ पहिले तो यह मन जीव का ऐसा हितैषी वनकर सामने आता हे कि मानो इसकी सलाह मानने से दुख का लेश भी न रह जायेगा। यह क्षण-क्षण सुख की आशा देकर अनन्तो भुलावारूप फन्दे रच कर जीव को चक्कर मे डालता रहता है॥ १॥ पारखज्ञान, वैराग्य, गुरुभक्ति, नाना साधन, सयम आदि रहस्यो से चेतन जीव का कार्य वनता है, स्थिति होती है, परंतु इन कार्यों मे मन सर्वदा पीछा खींचता रहता है। गुरुभक्ति मे आलस्य, असहन और प्रमाद धारण करता है। आज नहीं, कल नहीं, परसो नहीं, इस प्रकार जीव को नित्य कल्याण के काज से पछाडे रहता हे और अपने माने हुए मिथ्या विषय-सुखो को भोगने के लिए वडी चतुरता रखता है। भोग चिन्तन करने मे वह पल भर भी विलम्व नहीं करता, सर्वदा भोग-सुख का जाप जपा ही करता है और निरन्तर भोगने से पछाड नहीं खाता। प्रपंच के कार्यों में न तो आलस करता, न ऊवता और न लज्जा ही करता है॥ २॥ अरे! यह मन सदैव पूर्व सुखाध्यास एव कुभावना को छिपाकर सचित रखता हे, फिर अवसर पाते ही तुरत अपनी सुख मानी हुई क्रियाओ का भोगयुक्त फैलावा करता है, वारम्वार जीव के सम्मुख सुख का स्मरण दिलाकर उसे भुलाता रहता है। विषयो में सुख का निश्चय कराकर महान अन्धकार फैला देता है और जीव की दृष्टि अन्धी वनाकर उसे अनेक दुष्कर्तव्यो मे डाल देता है॥ ३॥ तव जीव विषयासक्ति वश मानसिक दुखो में पडकर पछतावा करता है। पर क्या हो, सवका ज्ञाता चेतन अपने मित्र मन की ठगाई से हार खा रहा है, धोखे मे पड रहा है। कपटी मित्र की ठगाई जल्दी जानने मे नहीं आती। कुछ सत्सग-विचार द्वारा मन के छल को जानकर जव जीव उससे उदास होने लगता है, तव जीव को जो कुछ |पारमार्थिक विचार निश्चय है मन उसी मे मिलकर अनेक प्रकार के उपाय से जीव को वडाई देकर कहता है कि अच्छा! आपके पारमार्थिक विचार कर्तव्यों मे त्रुटि न होगी, आप दुखी क्यों होते हैं, यह व्यवहार और स्वार्थ मे साधक ही है, आगे आपके विचार पूर्ण हो, जायेगे। इस प्रकार जीव के ध्येय मे मिलकर मनुवा ठग धीरे-धीरे उसे नीचे मार्गों मे डाल देता है॥ ४॥

मन-वश सत्संग से अरुचि

दृष्टात—एक सत्सगी मनुष्य जाकर अपने सोते हुए मित्र से बोला—चलो-चलो मित्र!

देखो तुम्हारे सामने सत्संग और ज्ञानरूपी नदी की प्रबल धारा बह रही है। चलो-उठो, उसमे स्नान करके मन के मैल को धोओ और मनुष्यदेह सार्थक करो। जीव ने आँख खोलकर देखा और कुछ विचार किया कि उठे। शीघ्र मन ने सलाह दी—आँखे मूँद-मूँद, यह प्रत्यक्ष आराम छोड़कर कहाँ जाता है। जीव—अरे मन! तू क्या जाने, सत्सग से सत्यासत्य जाना जाता है। फिर सत्य अविनाशी को ग्रहणकर मिथ्या नाशवान सुखो का त्याग कर अनन्त सुख मिलता है, अतः सत्सग अवश्य ही करना चाहिए। मन—ठीक-ठीक सरकार! अच्छा! तो कल सत्सग कर लेना, आज तो कुछ देर भी हो गई है और आपने परिश्रम भी खूब किया है। सत्सग मे कल अवश्य चलना, आज तो यही ठीक है। मै तो आपका निरन्तर साथी हूँ, मुझमे और आपमें भेद ही क्या है, फिर मित्र की थोडी सी बात मे भी टालाटूली! जीव—ठीक है, अच्छा आराम ही कर ले। इतना निश्चय होते ही आँखे मूँद एकदम सो गया। सत्संगी ने कहा—क्यो भाई साहब! चलेगे? दो-तीन बार जोरो से कहने पर वह सोने वाला मित्र क्रोध करके बोला—आप क्या छेडबाजी करते हैं, जाइये, मैं कल सत्सग मे आऊँगा।

सत्सगी मित्र चला गया। इतने मे गाँव के दूसरे किनारे एक वेश्या नृत्य कर रही थी। एक मनुष्य आया और इस सोते मनुष्य को जगाकर कहा—चलो-चलो! सुन्दर नाच हो रहा है, वेश्या भी अलबेली-मनोहारिणी है। इतना सुनते ही मन जीव के सम्मुख पूर्व देखी-सुनी वेश्याओ के रूपो का स्मरण कराकर कह रहा है—चलो-चलो-चलो! सुख-सुख-सुख! सोना तो रोज है, यह मौज फिर कहाँ, चलो! चलो! जीव—अरे! नाच-रग से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, ठीक नहीं है। मन—सुन्दर-सुन्दर रूप, मधुर-मधुर शब्द, ठमक-ठमक विषय क्रिया का दृश्य फिर देखने का सौभाग्य कहाँ से मिलेगा! जीव झट चल पडा। वहाँ जाकर उसने वेश्या और भाँडो का नाच-रग देखा। युवक मित्रो के साथ प्रसन्नतायुक्त बाते करते हुए तरह-तरह की विकारोत्पादक वार्ता से बुद्धि भ्रष्टकर मन ने इन्द्रिय भोगो मे सुख दर्शाकर जीव को बिलकुल सत्सग से पृथक करवा दिया।[१] भालू-बन्दरो के नाच देखने मे, दस-पाँच मनुष्यो के पास

---

१ बाल, जवानी व वृद्धापन मे मन की धोखेबाजी—

कवित्त

खेलो-खेलो, कूदो कूदो बाल माहि मन कह्यो, यौवन को बेग आयो नारि-नारि रट रे।
करत है भावना जु भामिनी मिलेगी जब, तब हम मन भर भोग माहि डट रे॥
एक छिन तिय से न जिय को पृथक करौं, भूषण बसन बहु रग-राग चट रे।
अमुक-अमुक भाँति धन को बढाय अति, महल व गज बाजि सब सुख सट रे॥ १॥

पुत्र जब होयगो सिखाइहौं विविध नीति, विद्या हुँ पढाय तिन व्याह को रचाइहौं।
अति उत्साह फिर जीवन को लाभ यहि, आई है बधू हि निज भाग्य को सराहिहौ॥
पुनि बड पुत्र हूँ को घर-काज सौंपि सब, आप सुख माहि सोय प्रिया मन भाइहौं।
अब ही तो भोग को वयस मम यौवन है, सतसग बोध को बुढापे माहि ध्याइहौं॥ २॥

अमुक है बैरी मेरो मारन को बाकी अहे, अमुक है भूमि मेरी पर से छिनाइहौं।
अमुक हमारो होय काहे विपरीत भयो, ऐसे ही पचत बूढपन नियराइहौं॥
बूढहू कहत भगवान नाति पोता देखे, पोताहूँ को व्याह देखि तब तोहि ध्याइहौं।
दान धर्म परउपकार करौं आगे साल, अबही तो खर्च बहु आगे जु बढाइहौं॥ ३॥

बैठकर रात-रात बिना सिर-पैर की बाते करने मे, भाँति-भाँति से केश-चर्म के सँवारने मे, प्रमदाओ की सुन्दरता की ओर सर्वदा खिंचने मे तथा परमार्थ-पथ मे अधिक मान और प्रभुता विस्तार के प्रचार मे यह मन ही सुख दर्शा देता है। ऐसे-ऐसे प्रलोभनो से मन सत्संग, सद्ग्रन्थ और सत्साधन के मार्ग से जीव को हटा देता है।

शब्द—२

सजग रहौ अपने मन के बीच॥ टेक॥

इत उत धावै तुमहिं भुलावै, लैकै डारै कठिन के बीच॥ १॥
दै बिश्वाँस दगा करि जावै, जीव न जानै नीच॥ २॥
परम सनेही निजहिं जनावै, काम शत्रु के घीच॥ ३॥
शुद्ध स्वरूप मे मलहिं लगावै, छल करि राखै खीच॥ ४॥
बिना काम के काम बतावै, नित भरमावै नीच॥ ५॥
नहि बैठै नहिं सोवै कबहूँ, नहि गाफिल कहुँ हीच॥ ६॥

टीका—हे परमपद के अभिलाषी। मन-मानन्दीरूप स्मरणो के बीच मे सावधान रहो, क्योकि यह मन बडा चचल और अधम है॥ टेक॥ यह मन कभी कोई सुखाध्यास, कभी कोई सुखाध्यास जीव के सम्मुख लाकर वही हानि-लाभ सुझाया करता हे, यथार्थ ध्येय से गाफिल कर देता है और शुभ-अशुभ स्मरणो मे कहीं शुभ के आधार से अशुभ, कहीं उपकार के आधार से अपकार, कहीं राग के आधार से द्वेष, इस प्रकार एक के आधार से दूसरे मे भुलावा देकर

यहि विधि तीन पन खोय चले मन हेतु, बहु विधि कर्मवीज सचि के भ्रमतु है।
पशु खग मृग कीट कोल खर अहि अश्व, दुर-दुर विल-बिल होय के तपतु है॥
ऐसी तो दशाये लखौ बिन सत्सगिन की, जनम-जनम मन दुख मे दहतु है।
आगे सत्सगिन को अथवा विरागिन को, मन राज बहु विधि आय के ठगतु है॥ ४॥

अर्द्ध सत्सगिन को धोखा देत बार-बार, देखो तव सनमुख जगत बहार है।
इतने मे हर्ज नाहि जानि कोई पावे नाहि, इत जग सुख लेवो फेरि शीघ्र टार है॥
आगे सत्सग किह्यो आगे पढि गुनि लिह्यो, आगे सब साधि मन कियो जो विचार है।
आज यह स्वार्थ करौ काल यह काज धरौ, परौं नरों हौंय पूरो ऐसे ही खुवार है॥ ५॥

कछुक जो साधु गुरु सगति को जोर भयो, मनमथ दु खपूर्ण जानि जग त्याग जू।
त्याग तप देखि सब पूज्य भाव देन लागे, घात पायो मनराज सुख भाव राग जू॥
साधु गुण पूरो मद लहि के अधूरो कियो, निवृत्ति के ओट माहि प्रवृत्ति मे पाग जू।
सवको हि खिचत-खिचत आप खींच गयो, देखो-देखो मन छल बचे सोइ जाग जू॥ ६॥

अनुभवी परम विरागवान जौन सत, तिनके तो आगे यह मृत सस्कार हे।
देखते हि देखते बिलात जात क्षण-क्षण, दिन रात मन-रिपु जीतने को कार है॥
एक छिन एक पल मन वेग रुक्यो जैसे, वैसे पुरुषार्थ करि हरदम वार है।
फाँसी रोग डूबे अरि बीच से बचाय आप, गाफिल न होय क्षण जानै मन मार है॥ ७॥

दोहा—ऐसे मन जित सत से, निष्ठा प्रेम बढाय। मन रिपु के सब दाव लखि, विजयी बध नशाय॥

ऐसे कठिन झगड़ा वाले कुकर्तव्यो मे डाल देता है कि न रोते बने, न भोगते।

कवित्त

काम को जगाय करि कामिनी भ्रमर बीच, क्रोध को जगाय करि हिसा अनरीत जू।
लोभ प्रगटाय करि छल दम्भ भाँति-भाँति, मोह को बढाय करि बन्धन सभीत जू॥
शब्द रूप रस गध पर्शहूँ के बीच बिकि, दौडत रहत नित करत अनीत जू।
ठग बरवार चोर घातक कुटिल मन, मनसा को जीत तब होइए अभीत जू॥ १॥

जिन-जिन क्रिया, पदार्थ, भूमिका और सगतो के आधार से जैसे-जैसे कुकर्तव्यो की लते तथा मनकृत आदते पड गई हैं, वर्तमान मे जीव की उधर जाने की इच्छा न होते हुए भी मन वहॉ न ले जाने का विश्वास देकर कोई न कोई लाभ दिखा करके पुनः उन्हीं दुष्कृत्यो कुसगादि साधनो को प्राप्त करा देता है। ऐसा होते हुए भी मन की धोखेबाजी की खबर जीव को नहीं है, खबर न होने मे कारण है खोटे मन की स्नेह-प्रियता का भरोसा॥ २॥ जीव का प्रेमी, सुखदाता तथा परमहितैषी मित्र बनकर यह दुश्मन का काम करता और रक्षक बनकर गर्दन मारता है, ऐसा यह मन घात करने वाला है॥ ३॥ जो देह, इन्द्रिय, विषय, मन और सॉस से पृथक सबका परीक्षक शुद्ध चैतन्य मात्र है, उसको भूल-भ्रम-अज्ञान और क्रोध, लोभ, मद आदि मल मन ही लगा देता तथा आवरण कर देता है। यह जीव को सुख-भास का भुलावा देकर बारम्बार छलपूर्वक खींच-खींचकर नित्य अपने मनोमय घेरे के भीतर ही रखता है॥ ४॥ जिन से देह का निर्वाह और पारमार्थिक कुछ प्रयोजन न निकले, वे निरर्थक काम हैं, जैसे नाच, सिनेमा, शतरज, नाना खेल, नशा आदि। राजस-तामस-युक्त समस्त दुर्व्यसन सम्बन्धी विषय व्यापार अनावश्यक कार्यो मे आवश्यकता बतलाकर यह नीच मन अचल जीव को चलायमान करके सदैव भ्रमाता रहता है॥ ५॥ न तो मन बैठता है, न तो सोता है, न बार-बार ठगाई करने मे चूकता है और न अपने बन्धन रूप दावॅ फेकने से ही पिछडता है, ऐसा यह अधम है। ऐसे नीच मन से सदा सजग रहकर उसे अवश्य जीतना चाहिए॥ ६॥

दृष्टांत—एक बनिया सौ रुपये लेकर सौदा तौलाने के लिए एक ग्राम को जा रहा था। दो ठग इस बनिये को द्रव्य वाला जानकर ठगने की भावना से आगे रास्ते मे कुछ दूर-दूर बैठ गये। बनिया आगे बढा, इतने मे एक ठग उसी मार्ग मे चिंतातुर कुछ इधर-उधर ढूँढ रहा था। बनिया ने कहा—भाई! क्या ढूँढ रहे हो? ठग ने कहा—मेरा एक सोने का कडा यहॉ ही कही गिर गया है। मैं चलते-चलते दूर निकल गया था, लौटकर यहॉ तक आया तो कहीं नहीं मिला। बनिये ने समझाकर कहा—फिर सतोष करो, चिता करने से क्या होगा! ऐसा कहकर आगे बढा तो फिर दूसरा ठग मिला। वह ठग 'बनिया' को बुलाकर कहने लगा कि मैंने एक सोने का कडा पाया है। साह ने कहा—एक मनुष्य मार्ग मे व्याकुलता से ढूँढ रहा है, निश्चय है कि उसी का कैडा होगा। ठग ने कहा—होगा! अब तो जो पाया तिसका हुआ, एक हजार का माल है क्या तुम जानते नहीं! ऐसा कहकर उस सोने के कड़े को दिखाया और कहा कि उसको तो नहीं दूँगा, आप चाहे तो आधे दाम पर बढिया सोने का कडा दे दूँ।

साहजी लालच मे आकर शीघ्र लौट पड़े। अपने पास के सौ रुपये और चार सौ रुपये कर्ज लाकर ठग को देकर उस कडे को ले लिया। साह बहुत प्रसन्न हुआ कि दुगुना लाभ मिल

गया। यह हुलास करते-करते उस कडे को सोनार के पास ले गया। सोनार ने देखते ही कहा—अरे! यह तो मध्यम पीतल है, एक रुपया का भी नहीं। इस पर केवल सोने का पानी चढा हुआ है, आप कहाँ ठगा गये! साह रोने लगा, अब क्या हो! लोभ-लालच मे पड़ने से घर की जमा भी गई और कर्ज ऊपर से हुआ। बस इसी प्रकार मन पूरा ठग है। वह इन्द्रियो के सहित जीव के कल्याण-मार्ग मे बहुत से फन्दे रचकर रुकावट डालता है। मन जीव के विचार मे थोडा-थोडा मिलकर, फिर उधर से घुमा कर स्वार्थ भाव ही मे विशेष लाभ दिखाकर और सुखासक्ति मे फँसा कर गुरुमार्ग से तो छुडा ही देता है, स्वार्थ में भी न्याय और धर्म से विमुख करके सब प्रकार खोटे विषयो मे लीन कर देता है। ऐसे छली मन से सदा सावधान रहने वाला प्राणी ही स्वार्थ-परमार्थ मे सुखी रह सकता है।

शब्द—३

लगाये सुख बाजी खेलै मन खेल॥ टेक॥

किसिम किसिम के खेल रचे तहँ, एक से एक नवेल।
खेलत खेल हारि सब निज को, मन के हाथ नकेल॥ १॥
बचपन देह चरित्र जिव अरुझे, तरुण स्वाँग निज हेल।
किसिम किसिम के लाभ मानि नित, विपति अनेक सकेल॥ २॥
तेहि मे जीति लियो मन जीवहिं, खुद घर दीन्हा ठेल।
सबै खेलारी खेलत इसमे, वड़े वडे जीव झमेल॥ ३॥
देखि देखि लालच तहँ उपजै, खेलत वरवस पेल।
बृद्धापन मन चित्र रचा जो, दावं मोह मन मेल॥ ४॥
तन के भोग परिश्रम झेलत, तजत न जानि अकेल।
चिता अमित खेल की होवै, पचि पचि देह तजेल॥ ५॥
पुनि पुनि संस्कार गहि जनमत, घूमि लखत नहिं जेल।
ऐसा चतुर खेलारी साथै, सर्वस हारि न तबहुँ ढकेल॥ ६॥

टीका—धन की बाजी लगाकर जैसे जुआ खेलते हैं, जो हारे उसका धन जाय, जो जीते सो दुगुना पावे, वैसे ही सुख पाने की बाजी देकर जीव से यह मन चोसर खेल रहा है। मन समझा रहा है कि हमारे कहने के अनुसार चलो तो तुम्हे सब तरह के सुखो की प्राप्ति होगी॥ टेक॥ उस चौसर मे पंच विषय-व्यापार के बहुत से खेल मन ने रच रक्खा है, उनमे एक से एक रूप बदल-बदल कर नित नये-अनोखे खेल रचता रहता है। उसी मनोमय खेल को देखकर सम्पूर्ण प्राणी विषय-खेल मे उलझ कर अपने ही को हार रहे हैं, निज स्वरूप को भूल रहे हैं। जैसे ऊँट की नकेल मनुष्य के हाथो मे है तो वह चाहे जिधर घुमावे, वैसे ही मन के हाथो मे जीव की नकेल[१] है। वह चाहना सम्मुख करके चाहे जिधर नचावे। इस प्रकार

---

१ पैठा है घट भीतरे, बैठा है साचेत। जव जैसी गति चाहै, तब तेसी मति देत॥ बीजक॥
कवित्त—रक कूँ नचावे अभिलाष धन पाइवे को, निशदिन सोच करि ऐसे ही पचत है।
राजा हूँ नचावे सब भूमिहू को राज लेवे, औरहू नचावै जोई देह से रचत है॥

मनवश जीव की सारी स्ववशता नष्ट हो रही है ॥ १ ॥ लडकपन के तमाशे मे तो देह के वश निरा पराये अधीन होकर पडा रहता है। स्वय मल-मूत्र की सफाई और देह का निर्वाह भी नही कर सकता। वहॉ माता-पिता तथा सरक्षकजन उसे सॅभालते है। थोडा बडा होने पर खेल-कूद, दौडने-गिरने, लडने-झगडने की चचलता इतनी भर जाती है कि क्षणमात्र हाथ-पॉव ठिकाने रखकर बैठ नही सकता। खाने-पीने मे अधैर्य तथा बात-बात मे लालचवश अज्ञानी बनकर बिना प्रयोजन मिट्टी के खेल मे ही अमूल्य समय खोता रहता है। लडकपन के पश्चात पुन· जवानी का स्वॉग रचा, उसमे तो मन ने जीव को अपना रूप ही बना लिया। अपने सत्य स्थिति योग्य समय को मैथुन, शृगार, हँसी आदि ही मे खो दिया। जवानी मे पाँचो विषयो के अन्दर[1] भॉति-भाँति के लाभो की कल्पना करके अनन्त आपदाओ को बटोरता रहता है ॥ २ ॥

जवानी के खेल मे मन ने जीव को जीत लिया, अपने वश मे कर लिया। शुद्ध स्वरूप नित्य तृप्त निराधार स्थिति को ठेल दिया, भुला दिया। बडे-बडे नामी, बडे-बडे श्रीमान-धनवान, कवि-कोविद, तपसी-विज्ञानी अपने को बडो की गणना में मानने वाले खिलाडी इसी मन के फन्दे मे मिथ्या प्रपच का खिलवाड रच-रच कर खेल रहे हैं। यथा—"तीन लोक टीडी भया, उडा जो मन के साथ। हरिजन हरि जाने बिना, परे काल के हाथ" ॥ बी० ॥

छन्द—*अति मोद से नट स्वॉग रचि ज्यो नारि बनि नाचा करै।*
सुख लाभ निश्चय कर सही त्यो जीव यह धोखा धरै॥
सुनि सीटियाँ तीतर फुले ज्यो वाहबग्घा से परे।
त्यो जीव यह मन फन्द मे सुख आश मे पचि पचि मरे॥

इस प्रकार बडे-बडे खेलने वाले मन के फन्दे मे नाना प्रकार नाच रहे हैं ॥ ३ ॥ यहाँ तक कि जिन्हे भोग प्राप्त है, वे और जिन्हे नही प्राप्त हैं, वे सब इस विचित्र मोहक कोमल मन के खेल को देखते ही देखते भुलावे मे पडकर खेलने के लिए ललचाने लगते है, मोहवश हठ करके प्रयत्न पूर्वक फिर-फिर उसी खेल मे घुसकर विषय भोग रूपी खेल खेलने लगते हैं। अरे! यह मन जबर्दस्ती पूर्व के अज्ञान-रचित सस्कारो को जीव के सामने करके आकर्षण करने लगता है। फिर यह मन जवानी के आगे बुढापा का खेल रचा, वहॉ केवल शारीरिक निर्बलता से पीडित करके मोहासक्ति की बाजी रक्खा अर्थात उसमे रोग, व्याधि, अपमान, शासन और मृत्यु का सब दुख सम्मुख रखकर तथा केवल अज्ञान वश सम्बन्धियो के बनने-बिगडने की चिन्ता बढ़ाकर जीव को दुखाया कि बूढे के दिन-रात शोक-सताप ही मे जाते हैं। "निशदिन चिंता करत अपारा। सबन केर मोसे प्रतिपारा" इत्यादि ॥ ४ ॥

---

१ कवित्त—नेत्र तो चलित किये रूप मे ललचि पचि, कान तो चलित किये शब्द के बहार मे।
जीभ तो चलित किये स्वादन मे बहु भाँति, नाक तो चलित किये गध के ठहार मे॥
त्वचा तो चलित किये भाँति-भाँति पर्श माहि, भोग सिद्धि हेतु धन चाहत अपार मे।
कुल पुत्र नारि लाभ शत्रुन सहार लाभ, स्वबश समाज हेतु तपत दुखार में॥
देवता असुर सिद्ध पन्नग सकल लोक, कीट पशु पच्छी कहु कैसेक बचत है।
सुन्दर कहत कोई सत की न कही जाय, मन के नचाये सब जगत नचत है॥ सु० ॥

जीव पूर्व कर्म-रचित प्रारब्ध शरीर की असह्य व्याधियो मे हाय-हाय करके और निर्वाहार्थ नाना परिश्रम का कष्ट स्वय अकेले भोगता रहता है। इसमे कोई प्रेमी तथा कुटुम्बी हिस्सेदार नही होता। ऐसा देखते और जानते हुए भी वह विजाति मोह-ममता का त्याग नहीं करता, उलटे ससार को दिनोदिन अपना मानकर तथा उसी मे सुख के लिए अनन्त कल्पना लादकर शरीर और मन के रोगो के खेल मे पचते-पचते शरीर छोड देता है॥ ५॥ देह छोडने पर भी खेलने का अध्यास रूप मन साथ नहीं छोडता। वह सूक्ष्म सस्कार रूप होकर जीव के साथ रहता है। जीव उसे अत करण मे ग्रहण करके बारम्बार माता के गर्भ मे शयन कर पुनः तापमय देह धारण करता है। इस परवशी देह रूपी कारागार के दुखो का भी जीव विचार नहीं करता। विचार किस प्रकार करे, जीव के साथ ऐसा कपटी तथा घातक खिलाडी मन मित्र बनकर लगा हे कि सुख के लालच से उसे सब समय रुलाते हुए हर्ष-शोक, मान-अपमान, जन्म-मृत्यु और शोक-मोह के वश करके अपने ऐन ही मे रखता है। इस मन से रचित खानि-बानी रूप पच विषय तमाशे मे जीव सर्वस्व हार गया है, अपना सत्य स्वरूप और उसके ठहराव के लिए विवेक, वैराग्य, गुरुभक्ति धन खो बैठा है, और कामी-क्रोधी हो तड़फ रहा है, तो भी इस मन को अपना जन्म-जन्म का बैरी जानकर नही त्यागता, इस प्रकार जीव मन के वश हो रहा है॥ ६॥

दृष्टांत—एक सम्पत्तिशाली ग्राम मे ठगो ने धन हरण करने के लिए एक चरित्र रचा। कुछ ठगो ने गॉव के बाहर सुन्दर नाच-गान आरम्भ कर दिया, जिसमे गॉव के बहुत से नर-नारी देखने के लिए इकट्ठा हुए। कुछ ठगो ने एक बुढिया के घर मे जाकर धन-माल लूट लिया। जब बुढिया कुछ बोली तब उसे खाट मे बॉध और मशाल जलाकर चार ठग उसे उठा ले चले। बुढिया बार-बार कहती कि "भैया ई सब चोर हैं—भैया ई सब चोर हैं" तो वे चारो ठग और दो-चार उनके साथी ताल लगाते हुए कहते जायँ "बुढिया कहती तो सत्य, पर सुनता हे कौन—बुढिया कहती तो सत्य, पर सुनता है कौन।" जब बुढ़िया कहती "भैया ई सब चोर हैं—भैया ई सब चोर हैं" तब ठग ताल लगावे और कहते जाय—"बुढिया कहती तो सत्य पर सुनता है कौन—बुढिया कहती तो सत्य पर सुनता है कौन।" इस प्रकार गाँव मे द्वार-द्वार पर घुमाते हुए उन ठगो ने बचे-बचाये मनुष्यो को भी उलझा लिया। लोग तमाशे मे खूब मस्त होकर कहने लगे—वाह! खूब मनभावन खेल देखा गया। जब सब भीतर-बाहर तमाशे मे उलझ गये, तब उधर कुछ ठग सब घरो का धन, माल, बेशकीमती गहने और कपडे बटोर कर ले भागे। बाद मे वे सब के सब तमाशा बन्द करके बुढिया को भी पटककर तुरन्त चले गये। इधर लोग जब अपने-अपने घरो को गये तो देखा कि घरो मे कुछ नहीं है। "हाय! तमाशा देखने का यह फल मिला" ऐसा कह कर हाथ मलते रह गये। इस प्रकार खेल मे उलझ करके लोग मिथ्या मे अपना सर्वस्व हार गये।

ठीक इसी प्रकार ससार-नगर मे पंच विषयो की अनन्त आसक्ति समूह लेकर तथा मान और सुख का विपरीत पर्दा तान कर जरा-मृत्यु-गर्भवास की सडक पर इस मन ही ने स्त्री-पुरुष, बाल, युवा, वृद्धता का तमाशा रच रक्खा है। भीतर-बाहर पाँचो विषयो के क्षणिक तमाशे मे भूलने से मनुष्य-देह का जमा और लाभ—स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति हेतु दयादि सर्वस्व हरण हो जाते हैं, जिससे जीव को सर्वदा दुख बना रहता है, अतएव कुशल चाहने

वाले जिज्ञासुओ का कर्तव्य है कि मनोमय तमाशे मे न उलझकर उसका एकदम अभाव कर दें।

शब्द—४

मनुवाँ अजब तुम्हारो खेल, इत उत जीवहिं देत ढकेल॥ टेक॥
झूँठ को साँच देखावै क्षण क्षण, बरबस अपना पेल।
कही सुनै नहिं टेक धरे निज, दुख को सुखहिं कथेल॥ १॥
लेते भौरै शक्ति यह तुम मे, बालक अबला खेल।
जेहि के प्रिया ताहि को मारै, देते पॉवन ठेल॥ २॥
तनिक आह नहिं तेरे आवै, कोमल ठग अलबेल।
नट बेश्या भाँड़न के सादृश्य, सम बृजवासिनि मेल॥ ३॥
मन धन बीर्य हरन करि सुखसे, सब सुख स्ववश नशेल।
जान सरिस ह्वै हितू रहावे, नहिं अस शत्रु हमेल॥ ४॥

टीका—हे मन! तुम्हारी करनी विचित्र है, अटपटी है, क्योकि न्याय से तो अपने साथी की रक्षा की जाती है और तुम तो उलटे जीव-मित्र को मिथ्या कल्पित 'इत' खानीजाल—इन्द्रिय, बनिता-विषय भोग आदि आरण्य मे, 'उत' बानीजाल—नाना स्वर्गादि कल्पना के गड्ढे मे ढकेल देते हो॥ टेक॥ जो छिन-छिन मे अदल-बदल जाय, जिसमे रत्ती भर स्ववशता न हो तथा जो एकरस न हो वह सब पच विषय जड का ठाट—देह भोगादि प्रपच मिथ्या है। पर यह मन ही क्षण-क्षण बदलने वाली वस्तुओ को सत्यरूप प्रतीत कराया करता है, जीव की विवेक पूर्ण निश्चयता को हटा-हटाकर बलात्कार अपनी ही निश्चयता रखकर उसको झूठे ही मार्ग मे क्षण-क्षण प्रेरित करता रहता है। यह जीव के यथार्थ विचार जनित सलाह को सुनता ही नही। बस अपना ही हठ पकडता हे तथा हठी बालक के समान अनहोनी कराता रहता है।[१] मन बार-वार प्रपच-स्मरणो के ही तान-बान मे लगा रहता है,

---

१ दृष्टात—एक बार अकबर की सभा मे बीरबल को उपस्थित होने मे देर हो गयी। बीरवल के आते ही अकबर ने पूछा—बीरवल! इतनी देरी क्यो? बीरबल बोला—हुजूर! लडके को मनाने मे मुझे देर हो गई। अकबर ने कहा—लडके को मनाने मे कितनी बात! बीरबल बोला—मान लीजिए, में बालक हूँ। आप मुझे मनाइए। अकबर ने कहा—क्या चाहते हो? बीरवल ने कहा—लोटा और हाथी। अकबर ने दोनो मँगा दिये। बीरबल ने कहा—हाथी को लोटा मे बैठा दो। अकबर ने कहा—यह नामुमकिन है, और उन्होने हँसकर अपनी हार मान ली। मन तो लडको से भी गया बीता है। इस मन की इच्छा मे जो पडा सो गया। विपय-भोगो से मनुवा शाति चाहता है, सुख माने हुए पदार्थों को अपने भीतर कर लेना चाहता हे, दुर्गुणो को धारणकर सुख चाहता है, सद्गुण, सत्सग, सद्ग्रथ, गुरु-भक्ति आदि सेवन मे आलस्य करता हे। इसलिए मन से सावधान हो उसको गुरुन्याय मे लगाकर कल्याण करना चाहिए।

कवित्त—"जगत प्रपच माहि आलस न नेक करै, दाम काम हानि करि रार ठानिबौ करै।
देखिवे मे सूँघिबे मे खाइबे मे सुनिवे मे, पर्शिवे मे काहू से कमी न चाहिबौ करै॥

जगत-स्मरण, पच-भोग विहार, मनोरजन, विविध तमाशा आदि जो दुसह दुखरूप हैं उन्ही को सुखरूप रटा करता है॥ १ ॥

हे मन! तू अमर जीव को बहका लेता है। जेसे छोटे-छोटे बालको और नवयुवतियो मे स्वाभाविक आकर्षण कर लेने की शक्ति होती है, सहज ही सबके लक्ष्य उधर ही खिंच जाते हैं, वैसे ही स्वरूपज्ञान से गाफिल करके विषयो की ओर चचल कर देना तुम्हारी सामर्थ्य है, तुम्हारी मोहकता तो बालक और नवयुवती से भी विशेष है। जैसे बालक को माता पालती और रक्षा करती हे, परतु जब कभी बालक क्रोधित हो जाता है तब उसी को पैरो से मारता और ढकेलता है, वेसे ही तेरी दशा है। जैसे कोई स्त्री जिस पुरुष से प्रेम करके नाना क्रीडा रचती है और पुरुष उसका सब प्रकार से लालन-पालन आदि करता है, अपना तन-मन-धन सब अर्पण कर देता है, किन्तु जब पुरुष से स्त्री का मन बदल जाता है तब उसे ही निर्दयता से स्वय मार डालती या दूसरे से मरवा डालती अथवा उसे पाँवो से कुचल करके सडे फल के समान फेक देती है। हे मन! वैसे ही तेरी करनी है कि जिस जीव की शक्ति से तू सिद्ध हो रहा है, तेरा अस्तित्व है, उसी अमृत जीव को बार-बार जन्म-मरण और तिविधि तापो का अनुभव करा रहा है। सर्वशिरोमणि जीव को जडाध्यासी बनाकर इच्छारूप लातो से जगतरूप अन्धकूप मे पतित कर रहा है॥ २ ॥ अरे हे मन! तुझे दूसरे का गला काटते हुए रचमात्र भी दया नहीं आती। तू जितना ऊपर से सरल तथा हितैषी दिखता है, उतना ही भीतर से कठोर, बेपीर, कसाई तथा अपकारी है। तू ठगाई कर लेने मे अनोखा है। बहुरूपिया नट या बहुरूपिणी वेश्या के सदृश नक्काल, भाँड़ और वृजवासिनियो के समान तेरी दशा है[1] ॥ ३ ॥

जैसे नट, वेश्या आदि नृत्य, मोहक गान-तान, हाव-भाव तथा विविध तमाशे दिखाकर राजा-बाबुओ का पहले मन हरण कर लेते हे। फिर जब मन ही हरण हो गया तो अपनी प्रसन्नता से वे धन तथा शरीर की शक्ति देकर स्ववशता का सब सुख नष्ट कर डालते हैं। इसी तरह हे मन! जड मे सुख झलका कर तथा विवेकधन और परीक्षाबल का हरणकर स्वरूपस्थिति रूप सर्वस्व सुख का तू नाश कर देता है। मन जीव मे मिलकर जीव का जीव बन बैठा है। भाव यह है कि जीव ने मन को ऐसा पाल रक्खा है कि उसे अपने स्वरूप से पृथक नहीं समझता, न मन की सलाह को दुखरूप देखता है। यहाँ तक कि गुरु और सद्ग्रन्थ की सम्मति चाहे भले छूट जाय, परन्तु जीव मन की सम्मति अवश्य मानता है। गले का हार बना ऐसा शत्रु नहीं देखा गया। मन अचूक दुश्मन होते हुए भी कभी सग नहीं छोडता और जल्दी पहिचान ही मे नहीं आता तो उसका अभाव कैसे हो! पर इसकी चालाकी जानते ही

कामिनी और कचन औ मान भोग हेतु कभी, गारी मार परिशर्म नाहि गानिबौ करै।
चर्ममय स्थूल ही के भोग मे पचै लबार, और कछू ज्ञान ध्यान नाहि जानिबौ करै॥ १ ॥
उत भोग शूर भयो इत क्रूर साधन में, उत गहे अगुण न इत गुण को गहै।
उत सब सहि-सहि पचि-पचि खर वत, इत गुरु बैन सुनि मूढ हिय सो दहै॥
उत नाहि ऊघत थकत नाहि सकुचत, इत सत्सग औ सुपथ माहि लौ नहै।
उत नाश देखत हूँ सत्य-सत्य माने विष, इत निजरूप साँच अमृत न सो लहै"॥ २॥

[1] नाच-गान करके जीविका करने वाली एक जाति होती है जिसे वृजवासिनि कहते हैं।

गुरुज्ञान से इसका नाश हो जाता है। इसीलिए गुरुदेव इस मन के फन्दे की बार-बार परीक्षा कराते हैं। "कहहि कबीर ठग सो मन माना। गई ठगौरी जब ठग पहिचाना" ॥ बीजक ॥ ४ ॥

शब्द—५

है मनुवाँ तेरे काम बिना सब काम॥ टेक॥

बिना हेत स्मरण उठावै, हित अनहित तजि बाम।
जो जो चाल चलै घट भीतर, नहिं निर्णय से लाम॥ १॥
जाहि मनन करि जलै जलावै, प्राप्ति अप्राप्ति सकाम।
मानत सुखहिं ताहि मे फिरि फिरि, जो अध्यास लगाम॥ २॥
जानि परिश्रम फेरि सके नहिं, जो स्मरण उठाम।
लघु परिशर्म बहुत दुख मानै, अति परिशर्म सहाम॥ ३॥
यह बिपरीति कुमति तोहिं घेरे, मानि सुबुद्धि सुधाम।
कहँ लगि कहौं तुच्छता तेरी, परा नीच से काम॥ ४॥
जो स्मरण उठै सो बोलै, नहिं परवाह रखाम।
मानि अहं सुख ताहि में निशदिन, जलै दुखहिं के धाम॥ ५॥
निज समान मन और न जानत, तेहि दुख ते नहिं काम।
राजस तामस शक्तिमान जो, देय तुरत फल भाम॥ ६॥
सहनशील सहि आप सुधारैं, शक्ति बढ़ाय अकाम।
मिलै तोहिं फल बिन परवाही, अकरम बढै तमाम॥ ७॥
भोगे चुकै न अब तब कबहूँ, हे मन मूढ लखाम।
जो भल चहै तो चेतै अबही, नहिं पावै भरि दाम॥ ८॥
संत संग सद्ग्रन्थ सजग फल, जो लहि सीख रहाम।
सो कहि दिये जानि हित तेरे, हानि लाभ परखाम॥ ९॥

टीका—हे मन! तेरे सारे काम बेकाम हैं। तू निरर्थक ही उछल-कूद करता है॥ टेक॥ जीव का कुछ प्रयोजन न होते हुए भी यह मन जगत-प्रपच की याद दिलाता है। जीव के कल्याण और अकल्याण का विचार छोडकर उसे नीचे ही मार्ग मे ले जाता है। हे मन! तू जो-जो अतःकरण मे चाल चलता है, स्मरण करता है, वह निर्णय से ठीक नहीं रहता॥ १॥ तू जिस प्रपच का चितन-मनन करके अग्नि उद्गारता है, उसमे आप जलता है और दूसरे को भी जलाता है तथा भोग मिलने और न मिलने पर दोनो भाँति कामना-तृष्णा बनाये रहता है, कभी निष्काम होकर तृप्त नही होता। अरे! जहाँ निष्कामता तथा तृप्ति का लेश नही, उन्ही विषयो मे बार-बार सुख मानता है, जिससे आसक्ति पुष्ट हो जाती है, कभी साथ छोड़ती नहीं॥ २॥

हे जीव! जो तू उठे हुए स्मरणो के रोकने मे परिश्रम समझता है, तो देख! स्मरणो के रोकने मे थोडा ही परिश्रम है। थोडे परिश्रम को सहन नही कर पाता और स्मरणो मे मिलकर बाह्य विषय-प्रपच मे स्वय सदा जलना तथा जलाना रूप अति परिश्रम तुझे स्वीकार है॥ ३॥

ऐसी उलटी बुद्धि तुझे प्राप्त हो रही है, फिर भी अपने को बडा बुद्धिमान, कुलीन, विद्वान, सद्गुणसम्पन्न और श्रेष्ठ गिनता है। अरे! तेरी अधमता कहाँ तक कहे, सदैव तू चर्म, मिट्टी और कौडी के लिए चिंतित रहता है। अहो! खेद है, ऐसे नीच मन से मेरा साथ पड गया है[१] ॥ ४॥ जो कुछ अंत.करण मे उठ पडता है उसका हेतु-कुहेतु, लाभ-हानि विचारे बिना झट

---

१ दृष्टांत—एक लालाजी का बुद्धू नाम का नौकर था। घर मे कुछ ठीक काम करते न देखकर लालाजी ने कहा—बुद्धू! मेरे साथ कचहरी मे चला कर! जो कार्य मैं बताऊँगा वह किया करना। उसने कहा—अच्छा। घोडे पर सवार होकर लालाजी कचहरी चल दिये। पीछे-पीछे बुद्धू चला। मार्ग मे कुछ रुपये सहित कोट और रेशमी रूमाल घोडे पर से खिसककर नीचे गिर गये। कचहरी पहुँचकर लाला ने देखा, तो कोट और रूमाल है ही नहीं। पूछने पर बुद्धू ने कहा—मैंने देखा तो था, पर बिना आपके कहे उठाया नहीं। लालाजी बहुत क्रोधित हुए और दूसरे दिन चलते समय एक नयी रूमाल देकर कहा कि मार्ग मे जो कुछ गिरे उसे बाँध लेना। चलते-चलते मार्ग मे घोडे ने लीद की, उसको बुद्धू ने बाँध लिया। लालाजी मुकाम पर पहुँचकर कचहरी मे चले, तो बुद्धू ने गठरी पकडा दी। गठरी मे लीद देखते ही लाला जी अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोले—अरे नादान! तू अभी घर जा, मेरे साथ रहने योग्य नहीं है। घर मे जब कोई खास बात हो तो मुझे सदेशा देना।

बुद्धू घर लौट आया। इतने मे लालाजी की पत्नी को पुत्री पैदा हुई। यह नवीन बात जानकर बुद्धू दोडते-दोडते गया और फाटक पर से ही जोर-जोर पुकार कर कहा—लालाजी! लालाजी! आपको पुत्री पैदा हुई है, चलिए। लालाजी ने सकुचते हुए उसे फटकार कर कहा—कम्बख्त! इतनी जोर से बात नहीं कही जाती। अब से जो बात कहना हो वह धीरे से मेरे कान मे कहना, वह भी जब मैं इशारा करूँ तब। दूसरे दिन घर मे आग लग गई। बुद्धू दौडकर आया। कचहरी मे लालाजी कुछ लिख रहे थे। घन्टो सिर नही उठाये। देर मे सिर उठाकर देखा तो बुद्धू खडा है। 'क्या है?' पूछने पर बुद्धू ने लालाजी के कान मे बहुत धीरे से कहा कि घर मे आग लग गई है। लालाजी ने कहा—अरे नीच! यह बात जोरो से चिल्ला कर कहनी थी। घर आकर देखा तो सब घर जल-बल कर स्वाहा हो गया। लालाजी ने कहा—हाय! ऐसे नीच अधम-अज्ञानी से काम पडा है कि जिससे मेरा सर्वस्व नाश हो गया तो भी इसकी ममता मैं नहीं छोडता, धिक्कार है मुझे! फिर अत मे उस बुद्धू नौकर को सदा के लिए परित्याग कर दिया और उसकी जगह पर दूसरा समझदार, चतुर और हितेषी नौकर रक्खा, तब उसके गये दिन धीरे-धीरे फिर बन गये।

सिद्धात—लाला जीव है। नासमझ बुद्धू रूप मन नोकर मिल गया है। यह सारा कार्य उलटा ही करता है। जो जगत-प्रपच दुखरूप त्याज्य है, उधर नित्य चाव-चपट करता है। जो सत्सग-साधन अमृततुल्य, धारण करने योग्य है उसका अभाव करता है, उसमे नाना दोष देखता है। इस तुच्छ मन का साथ करने ही से जीव की सब दुर्दशा हो रही है। जब मन के सम्बन्ध से अपनी दुर्दशा का विचार कर जगत की सुख-मानदी को त्यागकर उसकी जगह शुद्ध विचार का आश्रय लेता है, तब जीव सुखी हो जाता है। यही सोच-समझकर विचारवान कहते हैं—ऐसे नीच मन से मेरा साथ हुआ कि क्या कहूँ! यथा—"समुझाये समुझे नहीं, पर हाथ आपु बिकाय। मैं खैंचत हौं आपको, चला सो जमपुर जाय"॥ बीजक॥

बोल उठता है, दूसरे के दर्द का कुछ विचार ही नहीं करता। मनमानी बातो की वर्षा करने मे सुख निश्चय कर अपनी विशेषता मान रात-दिन अहकार लेकर फिरता है। इसका फल यह मिलेता है कि दुख की प्रबल अग्नि मे नित्य जलना पडता है॥ ५॥ अपनी हस्ती, बल तथा जोश के आगे दूसरे को कुछ गिनता ही नहीं। यहाँ तक कि दूसरे को चाहे जो दुख हो जाय, उसका ख्याल न कर कठोर वाक्य, हिसा तथा निन्दाकृत बर्ताव करता रहता है। यदि ऐसे अविचारी को रजोगुणी-तमोगुणी कोई बलवान या धनवान राजा आदि मिल जाते हैं तो उनके प्रतिकूल जहाँ कुछ किया कि वैसे ही वे उसका फल शीघ्र दे देते हैं, वे मरने-जीने का विचार भी नहीं करते।

दृष्टांत—गुजरात के एक थानेदार बड़े अभिमानी और क्रूर स्वभाव के थे। सबको बिना जरूरत ही गाली दिया करे और जिसको चाहे पिटवाया करे, जहॉ चाहे तहॉ दुर्जनो को चोरी ओर लूट-फूँक भी करने की गुप्त आज्ञा दे दे। उनके व्यवहार से वहाँ की सारी प्रजा बहुत दुखी हो गयी। एक सेठजी के यहाँ भी इन्होने डाका डलवाया। पर सेठजी का कुछ माल न गया। उन्होने कुछ सोचकर एक बार थानेदार को निमन्त्रण दिया। बड़ी धूमधाम से चौमहला के ऊपर ले गये। वहॉ छत के एक किनारे ऊँची गद्दी पर बैठाने के बाद कुछ वार्तालाप होने लगा। थानेदार की बिना सोचे-समझे बोलने की आदत थी ही। बातो बात मे सेठ को गाली देने लगे। सेठ ने 'आप किसी के दुख का ख्याल नही करते इसलिए इसका फल चखिये' ऐसा कहकर नोकर की तरफ इशारा कर दिया। इशारा पाकर नौकर ने बडे जोर से थानेदार को ढकेल दिया। नीचे जमीन मे बडी दूर तक काँच के टुकडे थे जो पहिले ही से गाडे रक्खे थे। थानेदार के गिरते ही सारी देह मे वे धॅस गये। वे उसी मे पडे-पडे हाय-हाय करके मर गये। इस प्रकार राजसी-तामसी बलवान अविचारी को शीघ्र फल दे देते हैं। मनमाने व्यवहार करने से उसके साथ भी वैसा ही बर्ताव होकर बड़ा कष्ट मिलता है॥ ६॥ जो राजस-तामस स्वभाव रहित शुद्ध सात्विक[1] पुरुष हैं, वे अविचारी मनुष्यो की सारी कुटिलता सह लेते हैं,[१] यही वे अपनी तपस्या समझते है। अविचारी उनकी चाहे जो बुराई करे, परन्तु वे कभी भूलकर भी बुराई का भाव मन मे नहीं उठने देते, सदा मन्द आचरणवालो के साथ समता, क्षमा तथा हितैषिता से ही बर्तते हैं। इस प्रकार वे सहनशील बनकर अपने को शुद्ध कर लेते हैं और कामना रहित होकर निष्काम बल को बढ़ा लेते है। जिस निष्काम्-नैराश्यता का फल प्रत्यक्ष नित्य तृप्त, सदा शात, इच्छापूर्ण अचल, अविकार, निर्भय, निराधार और स्वय प्रकाश होकर स्थिर हो रहना है। ऐसी ही निष्काम शक्ति और सहनशीलता बनाकर सदा के लिए अपने को दुख से छुडा लेते है। हे मन! जो तू निष्काम ओर सहनशील नहीं होता, उलटे मनमाने व्यवहार करता है तो दूसरे के दुख को न ख्याल करने वाला हे बेपरवाही मनुवॉ! तुझे फल भी खूब मिलता है, अर्थात जो तू दूसरे के दुख पर ध्यान नही देता, इसलिए हिसा, घात, अन्याय, अधर्ममय समस्त दुष्कर्म तुझसे तो बन ही जाते हैं, तेरे साथ औरों की भी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। पाप कर्म बढने का हेतु तेरी लापरवाही और अविचार ही है॥ ७॥

---

१ निन्दक हैं उपकारी मेरे। सदा सजग करते बहुतेरे॥
दुख बदले सुख उनको देना। शत्रु मित्र वर शिक्षा लेना॥

तिस अविचारकृत दुष्कर्मों का फल—बन्धन, ताप, शोक और मोह अब वर्तमान मे भी हाय-हाय करते, दुख भोगते नही सिराता और आगे जन्मो मे भी भोगते-भोगते दुखों का अन्त नही मिलता। हे अविचारी मन! वर्तमान मे ही अपनी संकट स्थिति देख ले, जो अपना भला चाहे, तन-मनकृत अनन्त दुखो से रहित होना चाहे तो अभी, इसी क्षण से चेत कर, समझ और विचार कर, नही तो "दाम-दाम भर पायेगा।" अर्थात विचार न करने से तुझे इतना दुख होगा कि जितना तू दूसरे को सतायेगा उसके कोटि गुना होकर तुझे दुखी होना पडेगा। तब तू आप ही पछतायेगा, रोयेगा और तडफेगा, परन्तु दुख छूटने का कोई भी साधन न मिलेगा। अत· आज ही चेत करके दुष्कर्मों का त्याग कर दे। यथा बीजक में कहा है—"आजु बसेरा नियरे हो रमैया राम। काल बसेरा बडि दूर हो रमैया राम॥ जइहौ विराने देश हो रमैया राम। नैन भरोगे दूर हो रमैया राम"॥ ८॥ विवेकवान सन्तो का सत्सग, सद्ग्रन्थो का पठन, सावधानी, स्थिति, मन-इन्द्रियो को जीत सद्रहस्य को अपनाकर जो विचार मुझे प्राप्त हुआ है वह सब तेरे कल्याण के लिए कह दिया। अविचार, असहन व मनमाने बोलचाल की हानियाँ और सुविचार, सहनशीलता तथा धीरता सहित विवेकयुक्त बोलचाल के लाभ की परीक्षा स्पष्टरूप से करा दी गई है॥ ९॥

शब्द—६

करम मन जीवन साथ न छोड़ै॥ टेक॥

जो मानन्दी निश्चय जेहि के, हानि लाभ सोइ कोड़ै।
बरबस पकरि चलावे उतही, सब बल पौरुष जोड़ै॥ १॥
वर्तमान मे ऐसी देख, नहिं अनुमान लखोड़ै।
खास विवश जब तेहि के होवैं, तब कस ताहि न मोड़ै॥ २॥
दुख सुख हानि लाभ विपरीतहिं, मानि प्रयत्न रचोड़ै।
ममता अह मोह की वशि मा, विषय चाट झकझोड़ै॥ ३॥
काम विवश व्यभिचार विविध विधि, हिंसा घात करोडै।
कहुँ बरबस परनारि हरण करि, दुखित दुखाय न थोडै॥ ४॥
कहुँ चोरी कहुँ जबरन करि कै, धन को खैंचि लहोड़ै।
ह्वै उनमाद करै अघ नाना, पच विषय की ओडै॥ ५॥
करम करे तस धरे वासना, मान न मान बतोड़ै।
सुखाध्यास वश उतही खेंचे, जो अभ्यास लगोड़ै॥ ६॥

टीका—कर्मफाँस मानन्दीरूप मन ही ह। जब तक जीव के साथ सुखाध्यास रूप मन हैं तब तक कर्म साथ नहीं छोड सकता, क्योकि सब क्रियाओ का अध्यास मन मे लीन रहता है। अर्थात सुखाध्यास के वश मनोमय के चक्कर मे बारम्बार देह धारण करके दुख अवश्य भोगना पडेगा॥ टेक॥ जिसको जसी मानन्दी आर सुख निश्चय है, उसको वैसे ही हानि और लाभ के कोडे लगते रहते हे। मानन्दी आर सुखनिश्चयता बलात्कार से अपनी ओर चलाने के लिए

विवश करती रहती है। विद्या, बल, बुद्धि, धन तथा देह की सब शक्ति उधर[1] ही सहायक हो जाती है॥ १॥ वर्तमान ही मे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, यह कोई अनुमान, अदेख या कल्पित बात नही है। जब मानन्दी और निश्चयता मे इतनी शक्ति है कि वह सबको जाग्रत अवस्था ही मे विवश कर रही है, तो जहॉ खास उसी के वश जीव हो जायेगा, वहॉ भला वह अपने चक्कर मे क्यो न डालेगी। अर्थात जहाँ (जाग्रत मे) मानन्दी-निश्चयता को रोकने या बदलने की शक्ति सामग्री मौजूद है, वहॉ तो वह जीव को अपनी ओर ही लिए जा रही है, तो स्वप्न, सुषुप्ति तथा आवागमन, गर्भ, बाल और विवश अवस्थाओ मे क्यो न अपनी ओर ले जायेगी। अवश्य ले जायेगी॥ २॥

प्रत्यक्ष अनुभव करके देखो। स्वय ज्ञानस्वरूप चेतन से पृथक विपरीत निश्चय से माने हुए दुख-सुख, हानि-लाभ असत्य भूल-भ्रम मात्र होने से कुछ नहीं हैं। परन्तु उन्ही बातो को सत्य-सुख मानकर पुरुषार्थ रचता रहता है। देह और देह सम्बन्धी—युवती, पुत्र, धन, धाम, मान-ऐश्वर्य की ममता और अहकार धारणकर उनके मोहवश रहता है। उसी चक्कर मे पच विषयो की जो-जो आदते पड गई है वही बार-बार हृदय मे झकझोरती है, धक्का दे-देकर जीव को जहॉ-तहॉ खींचती रहती है। यथा—"भॅवर बिलम्बे बाग मे, बहु फूलन की बास। ऐसे जीव बिलम्बे विषय मे, अन्तहु चले निरास"॥ बी०॥ ३॥ कही तो काम भावना के हाथ बिककर हर तरह से व्यभिचार करता है। यदि उस व्यभिचार मे कोई रुकावट डाले तो उसके प्राण का ग्राहक बन जाता है। जब एक स्त्री मे सतुष्टि नहीं होती तब जबरन दूसरे की स्त्री को छीनता है। उसके लिए अपना तो दुखी ही होता है, दूसरे को भी अनन्त कष्ट देता है। स्पष्ट है कि परनारी के पीछे छल-कपट, विश्वासघात, हिसा, उत्पात आदि कौन-कौन से द्वन्द्व खडे नहीं होते। कहा है—"परनारी रत पुरुष जो, परनर रत जो नार। शाति न पावै एक क्षण, चिन्ता शोक अपार"॥ सतो०॥ कामी पुरुषो की अनन्त दुर्दशाये छिपी नही हे। उनको और उनके सगियो को थोडा दुख नही होता, बल्कि शोक-सताप और अनन्त दुख ही मे दिन-रात बीतते हैं। विशेष अविचारी का दुख "अपना बोध-साखी-१००" मे चक्करदीन के दृष्टान्त से स्मरण कीजिए॥ ४॥ कही लोभवश छिप करके छल से चोरी तथा जबरन, लूट-फूॅक और नाना प्रकार की पीडा पहुँचाकर दूसरे का धन हरण करता है। फिर उस धन को पाकर पागल के समान और भी उन्मत्त हो जाता है। मनमाने अनीति, हिसा आदि इतना पाप करता है जिसकी थाह नही। इस प्रकार पच विषयो मे सुख प्राप्ति का आधार लेकर कौन ऐसे कुकर्म नहीं कर

---

१ जैसे किसी को इस्लाम धर्म मे सुख निश्चयता है, तो वह नमाज पढना, मक्के-मदीने जाना, मस्जिद बनवाना, कुरान कठ करना आदि लाभकर मानता। इन्हे करने को न मिले या कोई इनका खण्डन करे तो वह दुखी होता है और अपनी सारी शक्ति मुसलमानी रीति मे ही लगा देता है। इसके अलावा हिन्दू धर्म मे उसकी सुख निश्चयता और मानन्दी न होने के कारण हिन्दूधर्म-सबधी हानि-लाभ उसे नही होता और न तो अपनी शक्ति को उधर लगाना चाहता है। ऐसे ही हिन्दू भी अपनी मानन्दी और सुखनिश्चयता की ओर चलता रहता है। आर्य समाजी, सनातनी, जैन, इसाई कोई भी क्यो न हो, सबका पुरुषार्थ अपनी-अपनी सुखनिश्चयता तथा मानन्दी की ओर ही रहता है। इससे सिद्ध हुआ कि मानन्दी के आधार क्रिया, क्रिया के आधार कर्मफल भोग होता रहता है।

डालता अर्थात बडे-छोटे सब प्रकार के कर्म करता रहता है ॥ ५ ॥

इससे स्पष्ट हो गया कि जीव पाप-पुण्य और शुभ-अशुभ जैसा कर्म करता हे, वैसा ही उसको कर्म-सस्कार की वासना टिक जाती है। बाचाल मनुष्य इस कर्मफल तथा आवागमन को माने या न माने, परन्तु यह सबको प्रत्यक्ष अनुभव हे कि जिसकी जिसमे सुखासक्ति टिक गई हे उसके वश होकर अनेक कष्ट पाते हुए भी जब जाग्रत ही मे जीव को वह सुखासक्ति अपनी ओर आकर्षित कर रही है और जहॉ-तहॉ नचाती रहती है, तब शरीर छूटने के बाद क्यो न दूसरी अनेक देहे धारण कराकर भटकाती रहेगी। अर्थात अवश्य भटकाती रहेगी।

साराश—जैसा कर्म करेगे वैसी वासना टिककर अवश्य पुनर्जन्मो मे उसी के अनुसार कर्मफल की प्राप्ति होती ही रहेगी, यह निश्चय है। ऐसा जानकर प्रथम सर्व पापकर्मों को छोडकर शुद्ध स्वभाव धारण करे। जिससे अन्य जन्मो मे विशेष दुखो की प्राप्ति न हो ओर यदि साथ ही अन्त करण की शुद्धि द्वारा नित्य तृप्त स्वरूप मे ठहर के वासनावीज दग्ध कर दिया जावे तो व्यर्थ तापमय देह धारण करना छूट जायेगा, यही करना चाहिए॥ ६ ॥

शब्द—७

भरमावै मन मनसा जगत भव मे ॥ टेक ॥

देखत सुनत गुनत निशिवासर, थिति न लहत कहुँ तन मग मे ॥ १ ॥
चहत अचलपद अपन हमेशा, दुखित बृत्ति चल तेहि सॅग मे ॥ २ ॥
दुख छूटन हित बिबिधि उपाई, करत चलत वहि भुले पथ मे ॥ ३ ॥
जानत भूलत ध्यास तजे बिन, बहे जात वहि माने सुख बल मे ॥ ४ ॥
फेर करै मन प्रथम प्रिया जो, यहि औसर दुख छुटै यहि मे ॥ ५ ॥
बिना उपाय प्राप्ति गहि ठहरौ, किञ्चित श्रम दुख छुटै छिन मे ॥ ६ ॥
करि गाफिल बिलमाय अपन करि, यह मन दाव लखै जो सजग मे ॥ ७ ॥
यहै गाफिली नित भरमावै, छूटै न दुख जेहि हित लग मे ॥ ८ ॥
बृद्धि किह्यो दुख छल मन करिकै, दहि सताप स्वबश तजि मे ॥ ९ ॥
लस न राखि जहँ भूल योग्यता, है प्रारब्धि जो यहि तन मे ॥ १० ॥
रहौ न निरर्थक राग जगत मे, नहिं छलि जाव फँसत बरबस मे ॥ ११ ॥
जो सुख स्वत स्वतंत्र दुखहि तजि, बास करौ तहॅ जेहि चह मे ॥ १२ ॥
यहि हित करि अभ्यास बृत्ति थिर, यकाकार रहि चल तजि मे ॥ १३ ॥
चल बृत्ति दुख जस गुखुरू बिछुवा, पग चुभि चौरस महितल मे ॥ १४ ॥

टीका—मन और मन से माने गये नाना असत मार्ग इन्द्रियासक्ति, कुसग, विपरीत निश्चय सुखभ्रम की कल्पना ही जीव को जगत चक्कर मे भ्रमाया करती है॥ टेक ॥ रात-दिन विषयो को देखता है, सुनता है, उसी का मनन करता है, फिर भी भोगो मे पडकर कभी क्षण मात्र विश्राति नहीं पाता ॥ १ ॥ सर्व परीक्षक जीव का स्वरूप अचल है, इससे वह सर्वदा अचल होना चाहता है, परतु नाना प्रकार की मनोवृत्तियो का साथ करके चचल होकर दुखी होता

रहता है ॥ २ ॥ उक्त चचलता-दुख मिटाने के लिए इन्द्रिय भोग-विलास रूप अनेक उपाय करता है। जिन विषय सामग्रियो को ग्रहण करने से चचलतावश कामना प्रगट हुई थी, घूमकर वही क्रिया, वही मार्ग फिर-फिर पकड कर भूलता रहता है ॥ ३ ॥ विवेक से ऐसा जानता है कि विजाति जडाध्यास त्याग किये बिना हमारी चचलता मिट नही सकती, तो भी बारम्बार भूल हुआ करती है, क्योकि विवेक साधन सयुक्त उन भोग क्रिया के अध्यासो का परित्याग करने का अभ्यास नही करने से वही पूर्व सुखमानन्दी के जोश मे बह जाता है ॥ ४ ॥ अज्ञान दशा मे जो तुच्छ इन्द्रिय-भोग प्रिय थे, मन भुलावा देकर पुन. उन्ही मलिन भोगो मे प्रियता करा देता है। मन कहता है कि इस औसर मे सम्मुख भोगो को भोगने से कामना मिट जायेगी और जो तुम विवेक युक्त भोगो को त्याग करना चाहते हो सो आगे कर लेना ॥ ५ ॥

मन धोखा देता है कि हे जीव। निर्यत्न प्राप्त यथेष्ट भोग-सामग्री तुम्हारे सामने है, इसे भोग करके कामना की ज्वाला बुझा लो। देखो, तुम्हे विशेष परिश्रम करना नही है, भोग मात्र कर लेना हे, फिर सहज ही थोडे परिश्रम से यह कामनाजन्य दुख क्षण मात्र मे मिट जायेगा ॥ ६ ॥ इस प्रकार जीव को भुलावा देकर त्याग मार्ग और स्वरूपस्थिति से रोक कर मन ने उसे अपना रूप बना लिया है, विषवत त्याज्य भोगो को अमृत के समान ग्राह्य समझा दिया। जब जीव ने मन को अपना हितैषी मान लिया तो गिर जाने मे कितनी बात। इस प्रकार मन के दावॅ-पेच को देखकर जो इसे सदैव ठग जानकर सावधान रहे वही बच सकता है ॥ ७ ॥ पूर्व कही हुई गाफिली जीव को जन्म से मरण पर्यन्त भटकाया करती है। जिस आसक्ति, अज्ञान, बन्धन तथा दुख को मिटाने के लिए जीव रात-दिन लगा है और कल्याण मार्ग की प्राप्ति चाहता है, वह मन के चक्कर मे पडने से नहीं हुआ ॥ ८ ॥ मन ने जीव को पूर्वोक्त निर्यत्न सुख का लोभ देकर छल लिया। आरोग्य सत्य स्वरूपस्थिति के ध्येय पर पर्दा डाल कर जीव के कामना-दुख की बढती कर दिया। फिर तो जीव स्ववश स्थिति-मार्ग को छोड कर बनिता, वित्त और विषय-प्रपच मे फॅसकर इन्द्रियासक्त हो नित्य सतप्त होता रहता है ॥ ९ ॥ अत. जहॉ-जहॉ जिस-जिस भूमिका और प्राणधारियो के सबध मे भूल हो जाने की सम्भावना है, वहा से किचित भी सम्बन्ध मत रक्खो, उसका भलीभॉति त्याग करो। क्योकि भुलावा डालने मे समर्थ सकामकर्म-रचित इस प्रारब्ध-शरीर मे तुम्हारा निवास है। जिसमे तुम्हारा निवास है, वह जगत-प्रपच की ओर ही आकर्षित करने वाला है। इसलिए शरीर तथा शरीर सबधी अनुकूल सुखो के भुलावा से सावधान रहो[१] ॥ १० ॥

---

१ अनुकूल सुखो मे भूलकर धीरे-धीरे फॅसकर कैसे विनाश होता है, इस पर एक दृष्टात है—एक पहलवान का दृढ सकल्प था कि हम कभी स्त्रीप्रसग या अन्य किसी प्रकार से शरीर की शक्ति क्षीण न करेगे। उसने कई दगलो मे पहलवानो को जीत लिया, इसलिए वह पहलवानो मे प्रसिद्ध था और उसे मल्लयुद्ध मे विजयपत्र भी मिला था। उसके आगे कोई शत्रु सिर नहीं उठा सकता था। वह अपने शरीर को शुद्ध रखने की भावना से जीवन भर ब्रह्मचर्य रखना चाहता था। इतने मे एक नवयुवती जो कि इसके समीप मे रहती थी, इसके घर मे कभी-कभी आने-जाने लगी। उस स्त्री की इच्छा थी कि यह मेरी ओर खिंच जाय। पहलवान ने पहिले तो उसका बहुत तिरस्कार किया, परन्तु उसने लगातार आना-जाना न छोडा। वह नवयुवती सौन्दर्यवती-मनमोहिनी-मधुरभाषिणी

अन्दर-बाहर मोहक-स्नेहमय इस जगत मे पारमार्थिक कार्य-रहित निरर्थक-निठल्ले मत बैठो और न तो प्रयोजन-रहित जगत-प्रपच के कार्यो मे उलझो। सर्व प्रापचिक कार्यों को छोडकर जीव के एक न एक हितकर कार्य मे एकवृत्ति से जुटे रहो, नहीं तो न चाहते हुए भी जगत के चक्कर मे तुम्हे फॅस जाना पडेगा, सयम और गुरुमार्ग के पुरुषार्थ बिना तुम्हारे ज्ञान की अधिकता काम न देगी, विषयो मे दीन हो जाना पडेगा॥ ११ ॥ इसलिए जो स्वरूपस्थिति का स्थायी स्वतन्त्र सुख है, जिसमे जगत-दुख का किचित लेश नही है, जो राग-द्वेष, कामना और उपाधि-रहित भूमिका है, उसी का दृढ ध्येय रखकर स्वरूपस्थिति मे सत्साधन द्वारा ठहर रहो। कामनापूर्ति की अनादिकाल से तुम्हे आशा लग रही है, वह कामनारहित स्वरूपस्थिति मे टिकते ही पूर्ण हो जायेगी॥ १२ ॥ स्थायी स्वरूपस्थिति के लिए सत्साधन मे निरतर अभ्यास करो। अपनी बाह्य वृत्ति को अतर गुरु विचार मे थीर कर दो, द्रष्टापने का अभ्यास करो, चचलता त्याग कर एकाग्र हो जाओ। गुरु-रहस्यो मे वृत्ति इतना एकाग्र हो जाय कि दूसरा सकल्प उठने का समय ही न मिले। एकवृत्ति का अभ्यास इस प्रकार से करे कि

कार्य-कुशल थी। जब-जब वह आवे तब-तव उसके घर का चौका-टहल कर सब स्वच्छकर उसकी मनसा के अनुसार कभी-कभी भोजन भी बना दिया करे। इन वातो से पहलवान ने अपना विगाड न समझा।

वह धीरे-धीरे घर मे रहने की आज्ञा माँगने लगी, फिर तो कभी-कभी रह भी जाय। दोनो की समान अवस्था, एकान्तस्थल, इन्द्रियअज्ञान का आवरण, अन्त मे उसकी ओर पहलवान का खिचाव हो गया। यह स्त्री पहिले किसी कारण एक मनुष्य से अत्यन्त द्वेष मानती थी। अव घात पाकर अपने अनुचर पहलवान से बोली—अमुक मनुष्य को आप किसी प्रकार मार डाले तब तो हमारा और आपका सम्बन्ध रहेगा, नही तो नही। पागल और स्वार्थी दोनो बराबर होते ही हैं। निदान पहलवान ने बिना सोचे-विचारे स्त्री की प्रसन्नता के लिए उसको मार डाला। "पहलवान ही ने मारा है" यह बात सबको विदित हो गई। मुकदमा चल रहा है, रात-दिन पहलवान को फाँसी का भय सवार है। अब उसके लिए सारा ससार शत्रु हो रहा है। अव उसकी विशेषता नष्ट हो गई। बल, वीर्य, यश, प्रताप सब जाता रहा। रात-दिन वे सब शत्रु सताने लगे जिनके आगे वह कभी दीन नहीं होता था, उन सबो के पॉव पडने का समय आ गया, यहाँ तक कि भोजन-वस्त्र की भी उसे कठिनता हो गई।

सिद्धान्त—यह जीव गुरुमार्ग विवेक निश्चययुक्त पहलवान तथा यशी-प्रतापी-स्वछन्द होकर वैराग्य सुख मे शाहशाही भोगता है। निवृत्तिमार्ग पर चल मन को जीतकर परमसुख से रहता है। पर वही जीव जब पहलवान के समान अहकार, प्रमादवश मनशत्रु को मित मानकर लोभवश अधिक-अधिक सुख की आशा से कुसग-धारा मे धीरे-धीरे पतित होकर सब विषयासक्तियो को ग्रहण कर लेता है तब उसकी सब विशेषता नष्ट हो जाती है ओर अपने कल्पित काम-क्रोध आदि शत्रुओ से दीन हुआ बिललाता-पछताता हाय-हाय करता रहता हे। अब क्या हो, उसकी धीरता-वीरता भी तो मनशत्रु हर लेता हे। इतना भी स्मरण नही होता कि मुझे बन्धन से ही तो छूटना है, यथार्थ भावयुक्त जब से चेतै तभी से परमार्थ का पहिला दिन है। इसलिए पहिले ही से विनाशकारी कुसग से लगाव न रखना चाहिए। यथार्थ कार्यों मे सावधानी ही साफल्यकारक है।

भीतर-बाहर चंचलता त्याग कर जब सद्ग्रन्थ पढे तब देर तक, विराग मूर्ति का ध्यान करे तो भी एकाकार होकर भली प्रकार, जब मन को देखे तब एकाकार होकर मन मिटा कर देर तक ठहरने का अभ्यास बनावे, जब कोई निर्णय का प्रसंग कथन करे तो भी एकाकार-सावधान होकर करे, इस प्रकार एकाग्रता वृत्ति के शमन का मुख्य साधन है। जब स्वरूपस्थिति-साधक कार्यों मे एकवृत्ति से देर तक ठहरने का अभ्यास बन जाता हे तब मन के दमन करने मे बडी सरलता हो जाती है इसलिए चचलता छोडकर गुरु मार्ग मे एक वृत्ति का अभ्यास करो। इस प्रकार जब अभ्यास पुष्ट हो जायेगा तब ऐसी स्वतन्त्र स्थिर वृत्ति के आगे विषयवृत्ति सहज ही निर्मूल हो जायेगी॥ १३ ॥

स्थिर-वृत्ति का अभ्यास करते-करते जब तुम्हे इस प्रकार साक्षात्कार होने लगे कि कामना वश होकर चचल वृत्ति मे ऐसे ही महान दुख है, जैसे बराबर भूमि मे गुखुरू और बिछुवा के कॉटे जो कि वडे पैने होते हैं, चारो ओर दूर तक पडे हो, उसी जगह अँधेरे मे कोई पथिक जा पहुँचे तो जहाँ पग रक्खे, वहाँ ही वे गड जायँ। जो कहीं बैठ जाय तो और भी आपत्ति, जो चले तो भी पग भर मे चुभ जायँ। जैसी उस समय उसकी अकथ दुर्दशा होती है वैसे ही जीव को भावनाओ के वश चंचल होकर बाह्यवृत्ति मे अकथ दुर्दशा होती है। यदि इच्छित भोग न भोगे तो मन दुखाया करता है, और यदि भोगे तो तृष्णा बढ जाने से मन और भी दुखाया करता है। ये कामनाये तथा चलवृत्ति काँटे के समान चुभती हैं। ऐसा जानकर जगत-कामना त्यागकर दिनोदिन निवृत्ति का अभ्यास करके स्थिर हो जाना चाहिए जिससे मन के फन्दे से बचावा होकर दुखालय का फिर दर्शन न हो॥ १४॥

दृष्टांत—मन और मन की कुवृत्तियाँ—काम, क्रोध आदि को जीतने का पुरुषार्थ करना ही मनुष्यजन्म की सार्थकता है। इस पर एक उदाहरण ऐसा है कि—एक सत से एक मनुष्य ने कहा—मुझे कुछ शिक्षा दीजिए। सत ने कहा—शिक्षा इतनी ही है कि केवल सईसी न करना चाहिए बल्कि रईसी करना। उस मनुष्य ने पूछा—सईसी-रईसी का क्या अर्थ होता है, कृपा करके कहिए? सत ने कहा—इसका अर्थ भी सुनो! सईस कहते हैं घोडा की सेवा करने वाले नौकर को और रईस कहते हैं घोडा पर बैठने वाले मालिक को। ऐसे ही मन का गुलाम सईस, मन-विजयी रईस है। सईस घोडे के लिए घास छील कर सुन्दर घास, दाना-पानी खिला कर लीद साफ करके पीठ ठोकता, टहलाता, देह की मोटाई को निहारता, उसे घुँघुरू-फुलरा आदि द्वारा साज सहित चारजामा कसकर तैयार करता है। रईस उस घोडे पर सवार होकर थकने न थकने के ख्याल रहित चाबुक के इशारे से शीघ्र अपने नियत स्थान पर पहुँच कर घोडा सईस को सौंप देता हे। सईस घोडा लेकर पहिले की तरह फिर देख-रेख के साथ उसकी सेवा करता है।

बहुत मनुष्य तो इन्द्रियरूपी घोडो की केवल सईसी ही करते है। जितने मे शरीर कुशलतापूर्वक सुरक्षित रहे, उतना खान-पान आचार-विचार न कर दिन-रात राजस-सामग्रियो के भोग को ही जीवन-फल मानते हैं, जिससे उनका अमूल्य अवसर व्यर्थ चला जाता है और उन्हे आगे जन्मो मे भी इसी आसक्ति वश दुख भोगना पडता है। अब दूसरे वे हैं जो शरीर के आवश्यक कार्य करके सादगी शील-स्वभाव धारणकर ठीक-ठीक सचाई के साथ इन्द्रियो को शम-दम कोडे लगा विपयो से घुमा लेते हैं और मन को कडाई के साथ गुरुनिर्णय की ओर

लगाकर अपने प्रारब्धरूप पथ को तय करके सदा के लिए स्वरूपस्थिति में पहुँच जाते हैं जिससे कि उनको थोडे ही परिश्रम से अनन्त लाभ मिल जाता है। यही लाभ सबको लेना चाहिये। यह लाभ मन को जीते विना नहीं मिल सक्ता। मनोनाश करना हो तो शरीर के सुखों पर किंचित ध्यान न दीजिये। देह स्थितिमात्र वस्तुए लेकर साधना मे ऐसा लग जाइये कि मन से जडाध्यास-जड संस्कार निकलकर केवल स्वरूप का ही विवेक पुष्ट हो जाय, बस जीवन लाभ मिल गया।

शब्द—८

सजग हम मन से क्यो न रहैं॥ टेक॥

लघु दुख छूट अह गहि तेहिको, गाफिल हर्ष लहैं।
जो अभ्यास आय सो तुरतै, सुख मानन्दि ठहै॥ १॥
तव सह खटक गहे तेहि कुछ कुछ, शक्ति विवेक ढहै।
सुखाध्यास ह्वै जीव के सनमुख, ग्रासित भर्म दहै॥ २॥
सम्पति परी प्राप्ति तेहि समझै, पूरण ताहि चहै।
भोग बिवश ह्वै भूलि आप को, सुख से भवहिं वहै॥ ३॥
जव सुधि होय समुझि मन करनी, निरदय जौनि अहै।
सो निज भूल कहे वह केहि से, रचि रचि दुखहि सहै॥ ४॥

टीका—हम मन से क्यो न सावधान रहे। दुर्गुणो को त्यागने की चिन्ता क्यो नष्ट हो जाती है। इसका उत्तर है— ॥ टेक॥ कुछ विवेक मार्ग मे लगते ही मोटे कुकर्मों का अभाव होकर थोडा दुख छूट जाता है, बस थोडे ही मे अपने को पूर्ण मान लिया तथा उच्चता का अभिमान धारण कर लिया जाता है। इस प्रकार हम थोडे ही मे हर्षित हो फूल कर गाफिल हो जाते हैं, आगे साधन-अभ्यास करने से रुक जाते हैं और विवेक से रहित होकर सूक्ष्म वासनाओ में मिलने लगते हे। इतने मे पूर्व की आदते शीघ्र सम्मुख आकर सताने लगती हैं, फिर तो सम्मुख मनोवासनाओ मे ही सुख निश्चय करके हम उनमे उलझ जाते हैं ओर मनोवासनाओ का ही मत स्वीकार करने लगते हैं॥ १॥ सत्सगादि साधन द्वारा कुछ बोध मिला था, जिससे कुछ-कुछ संदेह तो होता हे कि वासनाएँ दुख-रूप हे, इनके वश मे पडकर जो हम जगत-विषय मे मोह करेगे तो गिर जायेगे, हमारा कल्याणमार्ग छूट जायेगा। ऐसा खटका होने पर भी अहकार तथा गाफिली वश "इतने से हमारी क्या हानि होगी" इस प्रकार अपने को शक्तिमान समझकर थोडा-थोडा वासनाओ मे मिलते-मिलते अन्त मे विवेकशक्ति बिलकुल नष्ट हो जाती ह। फिर तो अज्ञान दशा की भाँति विषयो मे पूर्ण सुख निश्चय होकर सुखाध्यास जीव को ढक लेता है, तव भूल-भ्रम मे फँसकर विषयासक्ति के उपभोगरूप क्रिया और भावनाओ मे जीव तडफने लगता हे॥ २॥

गिरावट आने पर तो जो विषय-कामनाएँ बिलकुल शत्रु और कटक के समान लगती थीं वे ऐसी सुखमय लगने लगती हैं कि जसे कोई निर्धन मनुष्य पडा धन पाकर अत्यन्त प्रसन्न हो जाय। फिर तो वह कामना के अनुसार परिश्रम करके वनिता आदि पॉचो विषयो के भोगवश अपने कल्याण-मार्ग को भूल जाता है, और अपनी प्रसन्नता से हर्ष पूर्वक वनिता, सुत, वित्त

आदि के ममतावश मनोमय की धारा मे बहने लगता है ॥ ३ ॥ जब कभी अपने निवृत्तिमार्ग का स्वतत्र सुख स्मरण होता है या स्वरूपस्थिति का स्मरण होता है तब यह ग्लानि होती है कि यह सब फॉसी मन की ठगाई मे आकर हमने ही गढ ली है। अहो! मन की चाल तो हमारे लिए अत्यन्त घातक है, सो हमारी असावधानी से ही खडी हो गई है। "अपनी भूलकृत करनी, अपने को शूलकृत भरनी"। हाय! अब किसको उलाहना दी जाय! किसके सिर यह अपनी उपाधि मढ़ी जाय! इस प्रकार यह जीव प्रमादवश अपने स्थितिमार्ग को त्यागकर अपने हाथो बन्धन गढ-गढ कर मनधारा मे अनन्त दुख भोगता रहता है। अतः कभी भी प्रमाद न करे। जब तक देह का सम्बन्ध है, तब तक मन से असावधान न रहे, पारख ऐन कभी न छोडे। नहीं तो सत्य-मार्ग का पुरुषार्थ रुक जाने से वैराग्य भेष युक्त कल्याणपथ मे तत्पर होते हुए भी विषयासक्त मनुष्य की सी दशा हो जायेगी, अतः सावधान! ॥ ४ ॥

शब्द—९

ठेका तुम्हार भुलावै का, हम जानै तुम्हारि चलॉकी मन ॥ टेक ॥
बेराग कराय बिषय की ख्वाहिश, परचय तेहि की लाय।
बात बात में फहम गहाउब, दुख के दरश कराय ॥
सुख मिथ्या बतलाय कसिस ठन ॥ १ ॥
सत पथ के सुख लोभ से बाँधब, निरुपाधि सेज पौढ़ाय।
न फिकिर पंखिया चलवाय भली बिधि, देबै तुमहि सोवाय ॥
फिरि फिरि यहि सुख गन ॥ २ ॥
जब जागौ तब काम बतावैं, गुरु निर्णय करवाय।
धारण ताहि कराउब तुमको, खेदि पकरि घिरिराय ॥
बरबस हठ न तजन ॥ ३ ॥
सुख के खोजी रहौ हमेशा, जस निश्चय तुमकाय।
तैसहि मानि होउ तहँ अर्पण, नहिं कछु अन्य सोहाय ॥
सोइ परखाय छोडइहै तुम सन ॥ ४ ॥
जैसी लाभ देखि जहँ पावै, तैसी दौरा जाय।
दुख सुख हानि लाभ नहिं देखै, कबहुँ किसी की भाय ॥
जहँ के तहै रखै सन ॥ ५ ॥
तब का करौ संधि जब नाहीं, सुख की कहूँ देखाय।
तब तौ घूमि आय फिरि बैठो, भटकब जाय भुलाय ॥
ऐसै करइहैं तुम सन ॥ ६ ॥
तुम लै तुमहिं संहारौ बरबस, संसृत अन्त लखाय।
स्वत· लखइया आप आप मे, सब उतपात नशाय ॥
पारख स्वतः रहन ॥ ७ ॥

बन्धन परखि परखि सब छोड़ै, जहँ तक चाह चलाय।
चाहै बाह्य लक्ष लै जावै, तेहि विन कहूँ न जाय॥
तजि स्मरण रहन॥ ८॥
गत मानन्दी नहिं सुख आशा, औ तेहि क्रिया हटाय।
निरस वेगारी तन वरतावै, तेहि को वीज भुनाय॥
मानी देह छुटन॥ ९॥

टीका—हे मन! तेरी धोखेवाजी को हम भली-भाँति जानते हैं। पल-पल जीव को भुला देना, तेरा ठेका है। भुलाने मे तू अधिष्ठाता है, इसलिए तेरा ही नाश करना हमारा परम कर्तव्य है॥ टेक॥ तुझे जो विषयो की इच्छा हो रही हे, उनमे छल, अतृप्ति तथा दुख का परिचय देकर तुझे विषयो से वैराग्य करावेगे, विषय की कामना छुडावेगे, साथ ही जो तेरी वात-वात मे भूलने की आदत पड गई हे, उस आदत को छुडा कर हर समय सावधानी ग्रहण करा परिणामदर्शी होकर तुझे जगत-प्रपच मे दुख ही दुख दिखावेगे। वन्ध्या पुतवत भोगसुख मिथ्या होते हुए भी तुझे सत्य प्रतीत हो रहा हे। उस सुखप्रतीति को नष्ट करने के लिए हम पूर्ण प्राणपण से सावधानता सहित प्रयत्न करेगे। जव तुझे जगत मे दुख ही दुख दीख पडेगा, तो आप ही तू उस दुख से वचने के लिए वात-वात मे सचेत रहेगा। अत तुझे विषय सुख झूठा समझाने के लिए हम भली प्रकार सत्सग, सद्ग्रन्थ, सद्अभ्यास द्वारा प्रयत्न करेगे॥ १॥ स्वय सत्य अविनाशी स्वरूप के स्थितिहेतु क्षमा, शील आदि सद्रहस्यो को ग्रहण कर सत्य मार्ग मे चलते रहने से इच्छा ओर भार-रहित नि.स्वार्थ, निष्प्रपच, एकरस, अक्षय तथा स्ववश सुख मिलता हे। भय, विक्षेप तथा वृथा परिश्रम मिटकर स्ववश परम शाति की प्राप्ति होती है। ऐसे स्वतत्र सुख की जव हम प्राप्ति करायेगे तो तुझे आप ही उस सुख मे लोभ वढेगा, फिर तेरी चचलता मिट जायेगी। इस युक्ति से हम तुझे वाँध लेगे, विषय-मार्ग मे दौडने न देगे। फिर जगत-उपाधि रहित निरुपाधि-सेज पर तुझे लेटायेगे, पुन जगत सवधी हानि-लाभ से निश्चिंत होकर वेफिक्री का श्रेष्ठ पखा चित्तवृत्ति से चलवा कर तुझे जगत भोगो से चितारहित वना कर निरुपाधि-सेज पर सुला देगे, शात कर देगे और पुन -पुन· वही अखण्ड शाति सुख का तुझ से गुनावन करायेगे। दोहा—"जिमि रिपुदल नृप जीति के, मभा सेज सुख पाय। तिनहूँ से हे अकथ मम, स्वसमाधि सुख भाय॥" अथवा "कहा मन्दिर सम्पत्ति कहा, कहा तियनके भोग। ये सवहीं क्षणभग हैं, अचल समाधी योग" ॥ वै०॥ २॥

जव कभी तू निरुपाधि-सेज से जागकर चचल होने लगेगा तव तुझे एक न एक काम मे लगा देगे। हर समय तुझसे गुरुपद का निर्णय करावेगे। परीक्षा दृष्टि के साधक—सत्सग, सद्ग्रन्थ, सद्भावना, सद्विवेक, सदाचरण, गुरुसेवा आदि के भीतर तुझे रक्खेगे। गुरुरहस्य की धारणा व विवेक-वैराग्य आदि तुझे गहावेगे। यदि तू गुरु-रहस्य से भागेगा तो तुझे खेदकर अभ्यास द्वारा पकड तथा घसीटकर निरुपाधि सेज पर फिर सुलायेगे। यदि तू इसमे दया चाहेगा तो तेरे ऊपर दया-मया छोड कर हठपूर्वक तेरी चचलता का नाश करने मे हम चौकस रहेगे॥ ३॥ हे मन! तू हरदम सुख का ही तो गर्जी रहता ह। जैसा भोगो मे अधिक सुख निश्चय कर रक्खा हे, उन भोगो मे वैसा ही मानन्दी वश तू विक जाता है। भोग-भावना के समय दूसरा तुझे कुछ नहीं अच्छा लगता। तो जव हम "चढावे जीव जहेर विषय सुख भोग"

तथा "परखु निज रूपहि शोध लगाय" इत्यादि शब्दो के मनन द्वारा भोगजालो की ठीक-ठीक परीक्षा कराकर दिखा देगे कि भोगविषयो मे तीन काल मे सुख है ही नहीं, उलटे वे जहर से भी अधिक भयानक है, तब फिर तू उधर जायेगा ही क्यो। क्या दुख लेने के लिए। कदापि नही। तू दुख चाहता ही नहीं॥ ४॥ तू जिधर अपना लाभ देखता है, उधर ही दौडता है, वही कार्य करने मे एकवृत्ति से तत्पर हो जाता है। अपने लाभ के आगे दूसरे के हानि-लाभ और सुख-दुख की कभी तू परवाह नही करता है। जब यह तेरा स्वाभाविक धर्म है, तो हम "करौ विराग धरौ मन दृढता" तथा "गहौ मन मोक्ष को भाव अमी" इत्यादि शब्दो के मनन द्वारा अपनी स्वरूपस्थिति मे ही स्थायी सुख-शाति जचाते हुए एक वृत्ति से स्वरूपस्थिति के साधन मे तल्लीन कराके हृदय मे तुझे शात कर देगे॥ ५॥ जब पारखदृष्टि से जगत मे कही रचमात्र सुख न दीख पडेगा और साथ ही अपने स्वरूप मे नित्य विश्राति मिल जायेगी, तब तो तुझे अन्तत घूम-घुमाकर शात होना पड़ेगा और तेरी विषय-इच्छा भूल जायेगी। बस, हम तुझसे यही धन्धा करावेगे॥ ६॥

हे मन। हम तुझको बलपूर्वक तुम्हारे ही द्वारा नष्ट कर डालेगे। अशुद्ध एव विषयासक्त मन बन्धनकारी है, शुद्ध एव निर्विषय हुआ मन मुक्त करने वाला है। अशुद्ध मन के स्थान पर शुद्ध मन बनाकर तिस शुद्ध मन का द्रष्टा होते रहने से देहरूप बेगार समाप्त होने के पश्चात फिर शुद्ध मन भी आप ही निर्मूल हो जायेगा। जंगल मे से लिया गया कुल्हाडी का बेंट जैसे जगल का ही काल हो जाता है, वैसे ही पूर्व प्रकार शुद्ध मन से अशुद्ध मन का नाश कर देने से हमारे जन्म-मरण का अन्त हो जायेगा और हम सर्व मानन्दी के वेग को देखने वाले पारखस्वरूप अपने आप मे स्थित हो रहेगे। इस प्रकार सर्व मनसम्भव उत्पात—कामादि विकारो को नष्ट करके हम स्वतंत्र, अक्षय, पारखस्वरूप, निराधार रह जायेगे॥ ७॥ हे मन। अतःकरण मे जहाँ तक तेरी छलबल भरी दौड है, तू वहाँ तक चाहना करके बन्धन बनाता रहता है, परतु हम परीक्षा करके स्मरणप्रवाह का निरसन करते हुए उसे मृतसस्कार या दग्धबीज के समान करके सब कामनाओ को नष्ट कर देगे, फिर मेरे लिए बन्धन ही क्या रहेगा। क्योकि कामना ही बाहरी तरफ लक्ष्य चंचल करती है। तो जब पूर्वोक्त परीक्षाबल से चाहनाये सम्मुख न रह जायेगी, तब जीव के चल-विचल होने मे कोई हेतु ही नहीं है। इस युक्ति द्वारा स्मरणो के बन्धन से पार हो जायेगे, फिर तो स्मरण कभी खीच न सकेगे॥ ८॥ निजस्वरूप से भिन्न सर्व मानन्दियो की फॉसी और जगत-सुख की आशा तथा विषयक्रिया को त्यागकर निरस बेगार भरने की तरह शरीरयात्रा पूरी करते हुए आगामी शरीर धारण करने के सस्कारबीजो को बोधाग्नि द्वारा दग्ध करके पूर्व प्रारब्धरूप मानन्दी का रूप देह, सो विवेकयुक्त भोग से आप ही शात हो जायगी। फिर तन-मन उपाधि-रहित सदा के लिए हम विदेहमुक्त निराधार रह जायेगे। बस मनोनाश करने का यही अन्तिम फल है॥ ९॥

चौपाई—*पूर्ण भयो मन दमन प्रसगा। याहि मनन करि विजय अभगा॥*

प्रसंग २—मोह-भंजन

शब्द—१०

हम कैसे अपना स्वबश करत नहि काम॥ टेक॥

भरमत फिरत सदा विषयन सँग, चैन न आठौयाम।
जो तनधारी आप स्वबश नहिं, तिन सँग चहै अराम॥ १॥
बिबश कामना जीव रहै सब, इच्छा केरि गुलाम।
सस्कार मिलि योग परिश्रम, शत्रु मित्र बदलाम॥ २॥
मिलन वियोग अहै संयोगन, कस लटकत तजि धाम।
है प्रारब्धि भिन्न सबहिन कै, पुरुषारथ रहत सकाम॥ ३॥
आप आप को घात करै सब, क्या नारी नर जीव तमाम।
महा भयानक है बन इनको, तिनसों रहौ अकाम॥ ४॥
जड कारज चल खण्ड प्रिया करि, चेतन अचल अकाम।
स्वत· अखण्ड खण्ड को पकडे, बरबस दु·ख लगाम॥ ५॥
जल प्रबाह जडतत्त्व क्रिया यह, चेतन किये मुकाम।
देह धरत फिरि छूटत जावै, जलत कामना घाम॥ ६॥
जड की देह जड़े मे मिलिगै, बदलत जेहि परिणाम।
प्रेरक चेतन जो जेहि घट मे, जान मात्र तेहि नाम॥ ७॥
सब देहन से मोह तजै अब, निज तन से उपराम।
कहे कबीर स्वबश तब होवै, जब छोडै सुख वाम॥ ८॥

टीका—वासना-वश जीव और जडतत्वो से जो दुख होता है, उसकी स्वरूपज्ञान द्वारा यथावत परीक्षा करके कल्याणार्थी उपरामता दृढ कर रहे हे—हम स्ववश-स्वतन्त्र होने के लिए निर्मोह, नैराश्य, सबो के आशारहित स्वरूपस्थिति के अपने कार्य क्यो नहीं करते। ॥ टेक॥ हम शब्दादि विषय आरण्य मे सदा से भटकते रहते हैं, जिसमे आठो पहर किसी क्षण विश्राम का नाम नही है, यह कैसी भूल है। जहाँ तक देहधारी जीव हे, वे सब सुखाध्यास-वश स्वय स्ववश स्वतन्त्र न रहकर इन्द्रिय और मन के विवश हें, फिर उनके सम्बन्ध से हम जो एकरस तथा अखण्ड सुख चाहते हैं, वह कैसे प्राप्त होगा। "चलती रेल की छाया से विश्राम कभी मिलता भि नही। मनमय चचल जग से लख लो सुख शान्ति कभी होता भि नही"॥ १॥ सब जीव सुख-कामना के वश हैं। वे अपनी इच्छा वासना की ही गुलामी करते हें। वे जो-जो मन मे आता है वही-वही करते हैं, दूसरा नहीं, ऐसे पराये चाकर को अपने स्ववश समझकर मोह करना महान अज्ञान नहीं तो फिर क्या है। देहधारियो की विवशता के तीन कारण है—सस्कार, योग तथा पुरुषार्थ। पाँचो इन्द्रियो के सामने देश-काल, सज्जन-दुर्जन, सुख-दुख, मनुष्य-पशु-पक्षी, विविध वार्ता इत्यादि देहधारी जीव और जडतत्वो का सग पकड कर जो पूर्व के टिके अध्यास स्मरण होते रहते हैं यही 'सस्कार' जानिये और जिस सग से विविध सस्कार उठे और बदले, उनका सग पडने का नाम 'योग' है। फिर जब बाह्य योग्यता से सस्कार उठ पडते हैं, तब उनमे हानि-लाभ का मनन हो-हो कर जो क्रिया करने लगते है, उसका नाम 'पुरुषार्थ' हे। तो १ सस्कार, २ वस्तु तथा प्राणियो के सग की योग्यता और ३ पुरुषार्थ—इन तीनो के बीच मे पडे हुए शत्रु से मित्र, मित्र से शत्रु

उलट-पलट हो रहे हैं। जो आज अपने लिए जान देता है, कल कुसग या कुबुद्धि अथवा किसी अन्य योग्यता से संस्कार बदलकर अपने को अनेक कष्ट देने पर कटिबद्ध हो रहा है। जो आज हमारा वैरी है, वह कल उक्त तीनो सयोग से मित्र हो जाता है। इस प्रकार जगत मे उलट-पलट प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है॥ २॥

सगे-सम्बन्धी, दास-दासी, सेवक आदि मिलना और बिछुडना, पूर्व कहे हुए सस्कार, योग और परिश्रम इन तीनों के संयोगाधीन है। जब सासारिक जीवो पर अपनी कोई स्ववशता नही है, तब हे जीव! स्वतन्त्र स्थिति पारख धाम की प्राप्ति का पुरुषार्थ छोडकर तू जगतमोह मे क्यो उलझ रहा है! जो तू हित-सहायको का मोह बॉध कर सदा उन्हे एकल रखना चाहता है, तो सबके शरीर का प्रारब्ध भोग पृथक-पृथक होने के कारण न सब एक साथ, एक देश तथा एक काल मे जन्म लेते है, न उनका एक साथ भोग है, न मृत्यु। ऐसा सोचकर करने योग्य हितकार्य करते हुए रास्ते मे मिल जाने की भॉति सबका साथ जानकर तू किसी का मोह न कर। फिर एक श्रेणी का सबका पुरुषार्थ भी नहीं है। एक श्रेणी मे रहते हुए भी किसी की एकरस निष्कामवृत्ति, तो किसी की चल-विचलवृत्ति, इस प्रकार से जब एक श्रेणी मे ही भेद है, तो कहॉ कल्याण चाहने वालो का निष्काम पुरुषार्थ और कहॉ ससारी जीवो का ससारसुख के लिए सकाम पुरुषार्थ, इसलिए पुरुषार्थ और प्रारब्ध दोनो भिन्न-भिन्न होने से तेरा और ससारी जीवो का सदा साथ कैसे रह सकता है! ॥ ३॥ क्या स्त्री क्या पुरुष! सब प्राणी एक दूसरे के मोहवश अपनी-अपनी हानि कर रहे है। हानि करना यह है कि जिस मनुष्य-देह से अविनाशी जीव के अनन्त काल की विषयासक्ति को छुडाकर अक्षय अविनाशीपद के साधन मे लगना चाहिये, उस मनुष्य-देह मे अपने-अपने इन्द्रिय-सुख के लिए मन, कर्म, वाणी से नर-नारी सब सबको सताते हैं। बलात्कार, धन हरण, दूसरे की हत्या, कठोर वचन, व्यभिचार इत्यादि घोर अनीति करके उसी सस्कार द्वारा अब और आगे जन्मो मे दुख ही दुख का अनुभव करते हैं। इस प्रकार "आप आपको घात करैं सब" ऐसे नर-नारियो का जगत-समूह छल-छिद्रमय महाभयानक घनघोर जगल है। इस दुखदायी वन से सुख की आशा त्यागकर उससे निष्काम नैराश्य हो जाना चाहिये, नही तो तेरी भी गति उन्हीं ससारी जीवो के समान ही होगी॥ ४॥

तत्वो के जड-कार्यरूप, चलायमान, खण्ड-खण्ड विजाति क्षणिक देहो को जीव प्रिय मानता है और अपने स्वरूप का स्मरण नहीं करता। अरे! आप जीव तो चैतन्य है, स्वरूप से अचल और सर्व कामनारहित है, किसी कर्ता या कारण से रहित अनादि नित्य अखण्ड है। ऐसा चैतन्य अपने को भूलकर जड, खण्ड, चलायमान तत्वो के कार्य अनन्त पदार्थो और जड देहो मे सुख मानकर मोह बॉध रक्खा है, इसीलिए न चाहते हुए भी इसे दुख लगा रहता है॥ ५॥ हे जीव! अपनी और दूसरे की स्थूल देह मे तथा तरह-तरह के पदार्थों मे मोह-ममता करके जो व्याकुल हो रहे हो, सो सब जड पदार्थ सतत वैसे ही चालू हैं, जैसे गम्भीर नदी का जल सदैव बहा करता है, वैसे ही सब तत्व सर्वदा रफ्तार बदलने वाले परिवर्तनशील हैं। ऐसे विजाति चल-विचल जडदेश मे चेतन जीव सदा के लिए अपना अचल-धाम मानता है, इसीलिए जडाध्यास वश बारम्बार देह धारण करता और छोडता भी है, साथ ही सुखकामना के ताप मे सदैव जला करता है। चाहे जहॉ रहे जब तक पारखस्वरूप मे स्थिर न हो तब तक

कामाग्नि सर्वदा जीव को पीडित किये रहती है ॥ ६ ॥ वह देह, जिसमे अपना मोह था जडतत्वो की होने से जडतत्वो मे मिल गई। वे परिणामी जडतत्व सामने बने ही हैं, फिर क्या मोह! और जो उस घट मे प्रेरक चैतन्य जीव था, वह ज्ञानमात्र विवेक से तव भी जाना जाता था ओर अव भी वासना वश या वासना त्यागकर कहीं भी रहे उसका कभी नाश होता नहीं, फिर जड-चेतन दोनो विवेक से बने ही हैं। और बीच की वासनादि सो सब मिथ्या ही हे, फिर इस विचार से किसका-क्यो मोह व विरह करके गुरुपद स्थिति से डिगे! विछोह हुआ तो किसका तथा मिला तो कौन! जो जेसा रहा सो वैसा ही है ॥ ७ ॥ पूर्वोक्त बाते विचार करके अपने सगे-सम्बन्धी, दास-दासी, इष्ट-मित्र, पशु-पक्षी आदि समग्र शरीरधारियो और सव जडपदार्थो की मोहासक्ति त्यागकर साथ ही अपने स्थूल देह की भी अहता-ममता त्याग कर उपराम हो जाना चाहिये। गुरु कहते हैं कि तभी जीव स्ववश-स्वतन्त्र हो सकता हे, जव वनितासुख तथा सर्व पाँचो विषयो के सुखाध्यासो को मिथ्या जानकर छोड दे और अविनाशी पारखस्वरूप मे थीर रहे ॥ ८ ॥

शब्द—११

तजि दियौ मोह स्वबश करी मन को ॥ टेक ॥

मोह किहे से मारग छूटै, अवगुण उपजें तन को।
जोनि जीव सब मन के बॅधुवा, हानि न जानैं वह निजको ॥ १ ॥
उनके बिबश रहौ मति संतौ, जो नहिं जीते मन को।
आपनि हानि किहे वह पहिले, घालि चलै वोइ तुमको ॥ २ ॥
गुरु बिबेक से चलौ चलावो, मोह न राखौ उनको।
यहि में हित है तुम्हरो सबको, जो जानौ सति मत को ॥ ३ ॥
नहिं तौ भरमौ जस मन भावै, रोकि सकै को तुमको।
गुरु की दया साधु की सगति, कहत सदा यहि हित को ॥ ४ ॥

टीका—हे जीव! जगत-प्रपच का मोह छोडकर अपने मन को अपने वश मे करो ॥ टेक ॥ जिसमे मोह हो जाता है, दिन-रात उसके मन की पूर्ति मे लगे रहने से अपने कल्याण-मार्ग के पुरुषार्थ करने का अवसर न मिलकर जीव का परमार्थपथ सहज ही छूट जाता है। मनवशवर्तियो के संवध मे रहने से अपने देह के दुर्गुण—काम-क्रोध आदि पूर्व स्वभाव सब जग जाते हैं। उन स्वभावो के वश हो जाने से अपनी सहज ही हानि हो गई और जो ससारी मनुष्य मन के वश बन्धन मे पडे हैं, जो मन को स्ववश नही किये तथा न करते हैं, वे मोहजनित हानि को क्या जाने! हानि जाने बिना वे मोह का त्याग कैसे करेगे! मोहवश उनकी भी हानि हुई और अपनी तो होती ही है। इस प्रकार मोहवश अपना और दूसरो का भी अहित ही होता हे ॥ १ ॥ हे सतजन! इस असार-ससार से मुक्ति चाहने वाले तुम लोग जगज्जीवो के मोह[1] मे पडकर उनके वश मे मत बिको। उनका कहा मत मानो, क्योकि जो

---

१ एक नेहके कारणे, भरत धरी दुइ देह। तुलसी उनकी कौन गति, जिनके नाना नेह ॥

प्राणी अपने मनको स्ववश नहीं किये, वे अपनी हानि तो पहिले ही किये बैठे हैं, तुम्हे क्या लाभ देगे। मन की इच्छा ही इन्द्रिय-सुखो में फंसाकर आसक्ति उत्पन्न करती है। उस आसक्ति से सब पाप होते रहते हैं। तो भला, मन्न की विवशता से बढकर और हानि क्या है। हानिमार्ग पर चलने वाले मनुष्य तुमको भी घसीटकर हानिमार्ग मे डाल देगे, इसलिए उनसे सावधान!॥ २॥

जो बात गुरु के निर्णय-विचार से ठीक हो उसी पर आप चलिए और दूसरे को भी शक्ति भर चलाइए, उनमे वृथा मोह बाँधने से क्या लाभ। जो इस सत्य सिद्धात को मानो तो इस सद्बुद्धि को प्राप्त करो। गुरुनिर्णय पर चलने-चलाने ही से अपना और दूसरे प्राणियो का हित होगा, यह स्मरण रक्खो॥ ३॥ जो इस बात को न मानो तो तुम्हारी इच्छा की बात है, मन के वश होकर चाहे जहाँ भ्रमण करो, इसके सिवा और क्या कहा जा सकता है। भला, जिस मार्ग मे स्वय चलना न चाहे और न दूसरे की बात ही अगीकार करे, तो उसको कौन रोकने वाला है। उसको सिवा पश्चाताप के और क्या हाथ आवेगा। मुझ दीन पर गुरुदेव की असीम दया हुई और शिरोमणि विवेकी सतो की सगति मिली, जिनके प्रताप से सदैव अपने और अन्य को कृतार्थ करने वाला हितैषी निर्णय कह दिया है॥ ४॥

शब्द—१२

तजौ जग बैर प्रेम दुखदाई।

प्रेम के रक्षण अति दुख होवै, चिता फिकिरि सदाई॥ टेक॥
जब जब सनमुख प्रेमी होवै, तेहि रक्षण मन लाई।
नहिं तौ अरुचि होय तेहि मन में, उलटि द्वेष बनि जाई॥ १॥
मन का बोलौ मन का बरतौ, जेहि ते दुक्ख न पाई।
तेहि के मनहिं राखि निज शिर पर, निज मन देव मिटाई॥ २॥
रक्षति रहौ सदा तेहि मन को, जेहि बिधि यह समझाई।
नहिं तौ बिलग होय सब दिन को, चूकत मन पछिताई॥ ३॥
समय परे जो काम न आवै, ख्याल होय बहुताई।
तन मन धन हम अर्पण कीन्हे, वह तौ हमैं भुलाई॥ ४॥
जो कहुँ छूटि जाय निज प्रेमी, तबहूँ दुख उपजाई।
प्रेम को ख्याल होय दुख मन मे, पुनि वह द्वेष बनाई॥ ५॥
चंचल होय सदा दिल अपना, प्रेमी मनहिं सोहाई।
निज सिद्धान्त बिराग को अनुभव, तेहि मे घटी लगाई॥ ६॥
हानि करै तेहि की जब कोई, तब असमजस आई।
लाभ देखि निज को अति भावै, मन अभिमान बढाई॥ ७॥
तेहि के मित्रन दुख सुख सनमुख, ममता दिल फैलाई।
मित्न के रोग व्याधि जो तन मे, तेहि पछिताव सताई॥ ८॥

करन उपाय ताहि मे चहिये, शक्ति जहाँ तक जाई।
नहिं तो जान मित्रता झूँठी, मित्र कि रीति न आई॥ ९॥
तेहिके दुर्गुण अपने मे आवैं, होय प्रेम अधिकाई।
जो वह निन्दित करै करम कोइ, सुनि अपमान दुखाई॥ १०॥
धन सम्पति जो कमती वहि के, कुटुम के लोग दुखाई।
करन सहाँय मानि मन अपना, भार परिश्रम लाई॥ ११॥
यह असमजस परै चित्त मे, बहुतक दुक्ख सताई।
होय बिछोह देह जब तेहि की, समुझि प्रेम दुख पाई॥ १२॥
बार बार तेहि चितन होवै, मन उदवेग उठाई।
जब जब ख्याल होय तेहि बातन, दिल को चेन न आई॥ १३॥
याते बैर प्रेम नहिं करिये, स्वत. मे लक्ष रहाई।
शुभ लक्षण से रक्षो सबको, निज पद छोडि न जाई॥ १४॥
कहे कबीर जो ऐसे बरते, सबको सुख पहुँचाई।
राग द्वेष जो शिर पर राखै, कष्ट असख्यन पाई॥ १५॥

टीका—जीवो से वैर तो छोड ही देना चाहिए, परन्तु उनमे स्नेह करना भी कम दुखदायी नहीं है, वल्कि द्वेष की जड जगत-स्नेह ही है। इसलिए राग और द्वेष दोनो ही दुख देने वाले हैं, अत उनका परित्याग करना चाहिए। प्रेम पालन करने मे बहुत कष्ट होता है, यहाँ तक कि सदेव चिन्ता ओर खटका सवार रहते हैं॥ टेक॥ जव-जव प्रिय सामने होता है, तव-तव उसके मन की रक्षा करनी पडती है। यदि प्रिय के मन की रक्षा न करो, उसके मन के अनुसार कुछ मनोरजन क्रिया न करो तो उसकी अपनी ओर से अश्रद्धा उत्पन्न होती हे, और वह अपने मन मे प्रेम के बदले वेर बना लेता है॥ १॥ ऐसा जानकर प्रिय के मन के अनुसार वोलना-चालना, उठना-बेठना आदि वर्ताव करना पडता ह। वह जिस प्रकार दुखी न हो वही उपाय करना पडता हे। जेसे कोई अति प्रिय वस्तु तनिक असावधानी मे हरण या नाश हो जाने वाली हो तो, ऐसी प्रिय वस्तु को अपनी हथेली पर लेकर वडी सावधानी से देखा करने मे जितना परिश्रम होता है, उससे कही विशेप परिश्रम प्रिय के मन को देखने मे होता है। कहाँ तक कहा जाय, प्रिय का मन अपने ऊपर लाद कर अपने मन को मिटा देना पडता हे तब कहीं दूसरे से प्रेम निपटता ह॥ २॥

जिस प्रकार यह कहा गया हे, उसी प्रकार प्रिय के मन की जीवन भर रक्षा करनी पडती है। यदि उसके प्रेम की रक्षा न की जाय तो वह सब दिन के लिए पृथक हो जाता हे। इसलिए प्रिय के साथ वर्ताव मे चूक जाने पर सर्वदा के लिए पछतावा हो जाता हे, कि क्या कहे, उस के मन के अनुसार नही वरत पाये, अव तो वह हम से सदा के लिए छूट गया॥ ३॥ यदि प्रिय हमारे रोग-व्याधि या कोई भी सकट या असमय आने पर मिलने न आवे या सहायता न देवे तो उसकी बार-वार खटक हुआ करती है, कि देखो! हम तन-मन-धन देकर सब प्रकार उसे अपना करके मानते रहे, और वह आज हमे भुला रहा है॥ ४॥ यदि अपना प्रिय किसी कारण

अभाव करके पृथक हो जावे, प्रेम न माने, तो प्रेम सम्बन्धी दुख बार-बार खटकता रहता है। उसके पूर्व के प्रेम को याद कर-करके मन में दुख होता रहता हैं और वह प्रेमी भी जितना पहिले प्रेम करता, फिर प्रेम तोड़ने पर उसका कई गुना द्वेष बनाकर नाना तरह के उत्पात भी खड़ा करता है॥ ५॥ प्रेमासक्ति के कारण सदैव मन चंचल रहा करता है। घूम घुमाय हाय प्रेमी। हाय प्रेमी। यही अच्छा लगता है। आठो पहर प्रेमी का ध्यान बना रहता है। उसी आसक्ति मे अपने कल्याणप्रद वैराग्य का ध्येय, लक्ष्य निवृत्ति, साधन, विचार और अनुभव छूट जाते है। इस प्रकार जगत-स्नेह से वैराग्य मे घाटा आ जाता है। प्रकट है कि स्वार्थ तथा ममता के कारण ही कितने परमार्थ से चलित हो जाते हैं॥ ६॥

जब कोई हमारे प्रिय का नुकसान करता है, तब हृदय मे असमंजस का धक्का लगता है, अन्त करण मे बेचैनी होती है। यदि उसका कोई लाभ हो जाता है तो अपने को बडा हर्ष होता है। हमारे मित्र श्रीमान है, हमारे समान कौन है, इस प्रकार वृथा अभिमान की बढती करता है। मोहबल से दूसरे के मिथ्या हानि-लाभ को देखकर अपने को सर्वदा हर्ष-शोक होते रहते है॥ ७॥ जिस प्रकार अपने प्रिय की हानि-लाभ मे दुखी-सुखी होना पडता है, उसी प्रकार प्रिय के प्रिय मे भी ममता फैल जाती है, तब उनके भी हानि-लाभ, बनने-बिगडने मे दुख-सुख सताया करते है, इस प्रकार जगत-ममता वाले को दुख से छुट्टी नही मिलती। स्नेहियो के शरीर मे जब कोई शूल या दर्द अथवा किसी प्रकार की व्याधि हो जाती है, तब उसका पछतावा अपने को होता रहता है॥ ८॥ प्रिय के रोग-व्याधि निवारणार्थ अपनी शक्ति भर उपाय करना चाहिए। यदि असमय मे सहायता न दी जाय तो सच्ची मित्रता नही। मित्र का व्यवहार तो असमय मे विशेष सहायता देना ही है॥ ९॥ पुनः जिसमे विशेष स्नेह होता है उसमे जो-जो दुर्गुण है, वे बडी शीघ्रता से अपने मे घर कर लेते हैं। यदि अपना मित्र कोई व्यभिचार-हिसादि जगत-निन्दित कर्म करे तो उसका अपमान सुनकर अपने को बडा कष्ट होता है, साथ ही अपना भी घोर अपमान और निन्दा होती है। लोग कहते है—देखो तुम्हारा साथी ऐसा-ऐसा नीच कर्म किया तो तुम कैसे अच्छे होओगे।॥ १०॥ यदि अपने स्नेही के रुपये-पैसे, जमीन, मान-बडाई आदि की कमी हो या उसको गॉव-देश वाले अथवा सम्बन्धी आदि सताते हो तो उसकी सहायता करने का निश्चय होता है। फिर उसका पक्ष लेकर दूसरे से वेर-विरोध करके नाना परिश्रम का बोझ लादना पडता है, जेसे मुकदमेबाजी, झूठी गवाहियॉ, मारपीट इत्यादि ॥ ११॥

इस प्रकार ऐचाखैची चित्त मे होने लगती है और भॉति-भॉति के मोह-ममता सम्बन्धी दुख भी अपने को व्यापने लगते है। प्रेमियो के शरीर रहते-रहते पूर्व कहे अनन्त भार लेना पडता है, और जब स्नेहीजन का शरीर छूट जाता है तब उसके मोहवश पहिले के भाव याद होकर इतना कष्ट होता है कि पल-पल करोडो वर्ष के समान कटता है॥ १२॥ पुनः उसी की चिन्ता होती है, मन मे वही उद्वेग उठता रहता है। चलते-फिरते, खाते-पीते जब-जब उस प्रेमी की बाते और आचरण का ख्याल होता है, तब-तब दिल तडफने लगता है॥ १३॥ अतएव पहिले तो सर्व दुखमूलक स्नेहासक्ति किसी से न करनी चाहिए, न वैर ही करे, वैर-प्रेम का द्रष्टा वैर-प्रेम से पार है, ऐसा अपने आप शुद्ध चैतन्य मे ठहराव का लक्ष्य बनावे। राग-द्वेष-रहित दया, क्षमा, शील, सन्तोष आदि सद्‌गुणो द्वारा सबकी रक्षा करनी चाहिए। उन

सद्‌गुणो का बर्ताव औषध मात्र उतना ही रखना चाहिए कि जिससे अपने कल्याण की भूमिका—स्वरूपस्थिति न छूटे, तभी अपना और दूसरो का हित होकर ठहराव हो सकता है॥ १४॥ गुरुदेव कहते हैं कि इस प्रकार बर्ताव करते हुए जो शत्रु-मित्र और राग-द्वेष से रहित होकर सबसे विवेक और हितैषितायुक्त वर्ताव करेगा, वही सबको सुख पहुँचाकर आप भी सुखी रहेगा। जो किसी के वैर-प्रेम को सिर पर लादेगा, उसको अभी प्रत्यक्ष मे अपरिमित दुख प्राप्त होगे, आगे जन्मान्तर मे भी अनन्त-असह्य दुख भोगने पडेगे॥ १५॥

शब्द—१३

छाँड़ौ जग मोह चहो जो बचावा॥ टेक॥

मोह को हेतु कोई नहिं तुम मे, जो समझौ निज कावा।
आपको भूलि भटकि चहुँदिश मे, सब सों गरज लगावा॥ १॥
मोह करत केहि को सो कहिये, काहि तुम्हारो दावा।
कौन तुम्हारो तुम हौ केहिके, सो मुझ से बतलावा॥ २॥
पच विषय सो जड़ के कहिये, चेतन भिन्न लखावा।
जड हित लोभौ क्षोभ महा है, भूलि भरम भटकावा॥ ३॥
चेतन हेत कहो सो घट घट, विषयन पार बतावा।
भटकत काह मिलै सो कहिये, दुख से अधिक दिखावा॥ ४॥
बहुत काल तेहि रमि के देखे, सहे बहुत पछितावा।
अब तक सूझ भई नहिं तुझको, यह फल मनहिं भुलावा॥ ५॥
अपन परार कहौ को इसमे, जीव स्वजाती गावा।
बैर प्रेम कासो अब करिये, निज से भिन्न देखावा॥ ६॥
निज निज करम भोग है सब को, तुम तहँ काह बनावा।
तेहिते सिमिटि सुधारौ निज को, नहिं तुम हूँ भरमावा॥ ७॥
परख स्वरूप परखि अब रहिये, दृश्य से करौ अभावा।
सद् शिक्षा गुरु पर उपकारी, सो तोहिं पार लगावा॥ ८॥
निर्णय बचन सो सबके हित को, शुद्ध दया निरमावा।
जो हित चहै सो धारै तेहि को, यह उपकार बतावा॥ ९॥
तजि के मोह करो निज हित को, सब जिव मनहिं बिकावा।
तामस दया मोह करि ममता, फँसिहो जाल न कतहुँ बचावा॥ १०॥
कहै कबीर जगत की फाँसी, मोह रूप परखावा।
जो भल चहौ तौ छूटौ यहि से, बिलग बिलग दरशावा॥ ११॥

टीका—यदि दुखसागर से अपना उद्धार चाहते हो तो ससार का मोह छोड दो॥ टेक॥ जैसा अपना शुद्ध स्वरूप है वैसा जानो तो इस असार ससार मे मोह करने की कोई आवश्यकता

ही नही दिखती है। अपने शुद्धस्वरूप को भूलकर ही इन्द्रियो द्वारा पाँचो विषयो मे सुख मानकर चारो ओर यह जीव भटकते-भटकते स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब आदि सबकी इच्छा करके दीन-अधीन हो गया है॥ १॥ सब जीव मनवश सुखार्थी हैं, वे जिधर सुख देखेगे उधर ही हो रहेगे, तुम्हारा कोई नहीं है। तो भला इन सर्व प्राणधारियो मे तुम किसका मोह करते हो! किस पर तुम्हारा अधिकार है! इन सबो मे तुम्हारा कौन है और तुम किसके हो, सो हम से विवेकपूर्वक कहो ॥ २॥ इन सर्व प्राणधारियो के जो शरीर है, वे पच विषययुक्त जडतत्वो के हैं और जो उनमे चेतन है, वे दृश्य जडदेहो से पृथक हैं। यदि उन पच विषययुक्त जडदेहो मे मोह-ममता करो तो यह तुम्हारा घोर अज्ञान है, क्योकि विजाति जडदेहो मे मोह करने से ही तुम अपने शुद्धस्वरूप को भूल कर चल-विचल जड विषयो मे चचल होकर सदा से चक्कर काट रहे हो, इससे प्राणधारियो की देहो मे ममता करना अयोग्य है॥ ३॥ यदि कहो समग्र देहधारियो मे जो चेतन है, उनके प्रति हम मोह-ममता करते हैं, तो वे पच विषयो से पृथक है, वे किसी इन्द्रिय द्वारा दृश्यमान नहीं होते। जब वे किसी इन्द्रिय द्वारा दृश्यमान होते ही नही तब किस प्रकार तुम उनमे मोह-ममता बॉध सकते हो! वे सब चेतन अपने-अपने स्वरूप से पृथक-पृथक नित्य अखण्ड अनंत हैं, तो अन्य जीवो से भी तुम्हारा कोई विशेष सम्बन्ध नही है। अब विचार पूर्वक देखो तो तुम्हारा मोह निरर्थक ज्ञात होता है। मिथ्या कल्पना करके सबको अपना मान-मानकर तुम झूठी मानन्दी ही मे भटकते रहते हो। भला, इस कुटुम्ब आदि की ममता मे भटकने-चचल होने से तुम्हे सदा दुसह दुख के सिवा और क्या हाथ आया! मोहवश त्रिविध दुखो के भागी ही तो बन रहे हो!॥ ४॥

अरे हे जीव! अनादिकाल से तुम इस देह सम्बन्धी कुल-कुटुम्ब-परिवार आदि मे घूम-घूम सुख मान-मानकर सबमे रह-रह करके अनुभव ही कर लिये हो। देखो! इसमे तुम्हारे हाथ क्या आया! मोहजनित असमजस ही तो! कोई मर गया, कोई अनुकूल नहीं, कोई उलटा चल रहा है इत्यादि अनत पश्चाताप ही तो सहना पडता है। इतना सब दुख सहने पर भी तुम्हे होश नहीं हुआ, परीक्षा न हुई कि दुख का कारण मोह ही है। इसमे परीक्षा न होने का कारण मन का भुलावा ही है॥ ५॥ इस निर्णय से अपना-पराया शत्रु और मित्र इनमे कौन है! जीवमात्र तो अपने सदृश सजाति होने से समान हैं। अब उनमे किससे वैर किया जाय और किससे प्रेम, क्योकि सब अपने शुद्धस्वरूप से पृथक असग हैं॥ ६॥ इस कर्मक्षेत्र मे सब अपने-अपने प्रारब्धकर्मों के फल भोगने को विवश हैं। तुम उनमे व्यर्थ वैर और मोह करके राग-द्वेष क्रिया-द्वारा उनकी हानि या लाभ मे पचते हो। स्पष्ट है कि अदृष्ट मुख्य प्रारब्ध भोगो मे किसी का कोई हानि-लाभ नहीं कर सकता। इसलिए जगज्जीवो मे फैली हुई मोहवृत्ति को समेटकर अपना सुधार करना चाहिये। यदि आज उनसे मोह न हटाया गया तो दूसरे क्षण उनके संग-स्नेह से उन्ही के समान हो जाना पडेगा अथवा वे अपने समान मनोमय सृष्टि मे तुम्हे भी आसक्त करके दुखाते रहेगे॥ ७॥ इससे जैसा तुम्हारा स्वच्छ स्वरूप पारख है, वैसे ही सब जालो की परीक्षा करके पारख मे ही स्थिर रहो। "पारख ऊपर थिर है रहना। सकल परखना ना कछु गहना"॥ नि०॥ पारख के बाद जो कुछ बाह्य इन्द्रिय और मन द्वारा अनुभव हो वह दृश्य जड़ है, उसका अभाव कर देना चाहिये। अर्थात दृश्य राग के स्थान पर वैराग्य भाव दृढ करना चाहिये। ऐसी सत्य स्वरूपस्थिति की शिक्षा देने वाले पारखी गुरुदेव ही सब के सच्चे हितैषी हैं। वे ही तुमको मोह-समुद्र से पार लगायेगे। उन्ही की एकवृत्ति से शरण गहना

चाहिये। "जो सबको परखावन हारा। सोई सबन को तारनहारा" ॥ ८ ॥ सत्य निर्णययुक्त जो वचन हैं वे ही सब प्राणियो के लिए कल्याणकारी हे। जिन वचनो को ग्रहण करके जीव जन्म-मृत्यु के फन्दे से बचकर सदा अभय, अचल, स्थिर हो जाता हे, ऐमे निर्णय वचन ही निर्मल दया के रूप है। अब जो भी अपना उद्धार चाहे तो निर्णय वचनरूपी निर्मल दया धारण करे, यही शुद्ध उपकार का रूप हे। ज्ञान, वैराग्य, उपासना, सदाचरण के वचन ओर आचरण ग्रहण करना ओर दूसरे को भी उसी की ओर इशारा करना उपकार ओर धर्म का रूप वताया गया है। यही सर्वश्रेष्ठ उपकार जानकर धारण करना चाहिये। "परख परखावन जीवन केरा। यह व्यवहार यथार्थ निबेरा" ॥ प० ॥ ९ ॥

मिथ्या जगत की मोहासक्ति छोडकर अपने कल्याण के साधन मे लग जाओ, क्योकि जितने जगत के सम्बन्धी छोटे-वडे सम्पूर्ण बन्धु-वान्धवजन सहायक हैं, वे सव मन-मनसा के हाथ विके है। उन सवका मोह करके स्थितिमार्ग से रुक जाना तमोगुणी दया है, जिसका परिणाम परस्पर झूठे मोह और ममता की जजीर से वध जाना है। बन्धन मे पडे हुए मन के वश अनेक उत्पात करके सब दुखो का भागी वनना पडता हे। क्योकि जहाँ मोह करके इन्द्रिय-भोग की सुखासक्ति है वहॉ काम है, जहॉ काम हे वहाँ क्रोध हे, जहाँ क्रोध है वहाँ परस्पर हिरा, वर और घात है, साथ ही लोभ-मोह के परिवार की वढती है। फिर ऐसे जाल मे पडकर कहाँ सुख ओर कहॉ स्वततता। यथा—"माया मोह वँधा सव लोई। अल्प लाभ मूल गो खोई" ॥ बी० ॥ १० ॥ गुरुदेव कहते हें, जीवों के गले की फाँसी मोह ही ह। अथवा वार-बार जन्मना-मरना, शरीर और मन के वीच मे दुख पाना फाँसी है। इस फाँसी और मोह मे कोई अन्तर नही है। जन्म-मरण, तीन ताप, शरीरासक्ति, मन, विषयसुख आदि की जड मोह ही है, देखो। जगत की फॉसी, मुख्य बन्धन-मोह के रूप की स्पष्ट परीक्षा कराई गई हे। "माया मोह कठिन है फन्दा। करै विवेक सोई जन बन्दा" ॥ वी० ॥ अत जो अपनी भलाई चाहो, जीव का निस्तार चाहो, सुख चाहो, तो इस मोह-फॉसी से भागकर वचो। मोह से बचने की युक्ति और लाभ तथा मोह मे बँध जाने की हानि, सब पृथक-पृथक निर्णय कर बता दिया गया हे, अव तुम्हारी इच्छा है, धारण करो या न करो॥ ११ ॥

दृष्टात—धन-धाम-सम्पन्न मोहान्तक नाम का पूर्व मे एक क्षत्रिय हुआ है। वह सत्सगी, सदाचारी, अहिसक और विचारवान था। वह वैराग्यवान सतो की भाव-भक्ति मे सतत लगा हुआ वैराग्य का अधिकारी हो रहा था। उसका एक पुत्र पढा-लिखा जो कि वीस साल का था, एकाएक वीमार हो गया। अनेक प्रकार की युक्तियो द्वारा ओपध करने पर भी जव वह अच्छा न हुआ तव उसकी माता, पत्नी और सब कुटुम्बी घवडाने लगे। वे सवके सब रोया करते थे। मोहान्तक सबको धैर्य दिया करता था। एक दिन मोहान्तक वीमार पुत के पास खडा था, कि अचानक उसकी मृत्यु हो गई। मोहान्तक को इस असार ससार-मृत्युलोक की नित्य प्रवाहित गति का विचार हुआ। उसने सराय, पन्थी, वाजार, मेला, रहटचक्र तथा दिन-रात और झूला सम्बन्ध का विचार करके अपने अखण्ड स्वरूप का स्मरण किया। उसी दिन एक निर्णय करने का मुख्य कार्य था। उसे निवृत्त करके फिर कफन-दफन करने के विचार से मृतपुत के शव को चादर उढाकर वह न्यायालय मे चला गया। इतने मे लडके का एक परम मित्र आकर देखा तो प्रिय क्षत्रिय-कुमार का राम रम गया हे, शरीर पडा हे। वह रोते-रोते मोहान्तक से मिला।

मोहान्तक धैर्य धारण करके बोला—इसमे कोई नई बात नही है, जन्म होना, मरण होना, मिल जाना, बिछुड जाना मनोमय के चक्र मे कर्मसस्कार से हुआ ही करते है। अब देर न करे, उस मृतक का श्मशान मे दाह कर दिया जाय। यह बात सुनकर मित्र बहुत दुखी होकर बोला—दोहा—"अहो! मित्र पितु शोक नहि, रचक तुमहि दिखात। का कुछ तुम विक्षिप्त हो, अथवा निठुर अभात॥" मोहान्तक बोला—"कुण्डलिया—अहो! वृथा क्यो विकल हो, कौन बाप को पूत। कौन शत्रु को मित्र है, सब मन जालहि सूत॥ सब मन जालहि सूत, हेतु सब स्वारथ सपना। उलटत पलटत देखि, जगत मे को है अपना॥ रहट माल झूला पथिक, जीव करम वेगहि बहो। ह्वै अविनाशी भ्रमत जग, कौन काहि नाता अहो! ॥ १ ॥ सब जो आहि हमार तो, काहे छुटत विचार। हमहूँ तजि चलि देयेगे, यामे क्या अख्त्यार॥ यामे क्या अख्त्यार, मोह की नीद मे कौहट। लागी सकल बजार, वृथा दुख-सुख मे रौहट॥ हिय तोडे सिर फोरि निज, केहि को हित भल होय कब। बिना हेतु को काम करि, मोह बशी ह्वै पचत सब॥ २ ॥ जड़ चेतन दुई वस्तु हैं, अलग-अलग करि देख। जड सब इन्द्रिय द्वार से, कारण कारज पेख॥ कारण कारज पेख, जीव सब जाननहारा। सदा एकरस आहि, सर्व दिन साक्षी सारा॥ तेहि के बाद प्रपच सब, देहादिक गलि-गलि सड। तो कत शोक औ मोह मे, खोवत बय अनमोल जड॥ ३ ॥" इस प्रकार और भी अनेक भाँति से उस प्रिय मित्र को समझाया। यह सब सद्शिक्षा उसी जगह पीछे बैठी हुई मृतक पुत्र की माता और उसकी पत्नी ने सुना, जिससे उन दोनो का भी मोह मिट गया, सब सुखी हो गये। यह सब बात सुनकर मित्र बोला—"दो०—जस मोहान्तक नाम तस, कियो मोह का हान। नमो-नमो तोहि बहु नमो, कियो मोह भ्रम भान॥ मोहान्तक पुनि कहत भौ, जौ लौं देह अधार। शील सत्य सुविचार से, बर्ति थीर ह्वै सार॥ पुनि सबही मिलि मृत सुवन, दाह कर्म करि रीति। लगे चलन गुरु मग सकल, सादर गहहु ये नीति॥" सबको इसी प्रकार विवेक करके मोह त्यागकर स्थित होना चाहिए।

शब्द—१४

निर्मोही कोइ संत हितैषी सब के॥ टेक॥

तंन मन धन तृण जानि न बिलमे, तब कस प्रेमिन में अटके॥ १॥
जब दुख आय परै कोइ निज को, सब तजि ताहि चहत छुटके॥ २॥
जो तजि अमिय अछय गुरु पद को, प्रिय मदपी गफिलाय ढके॥ ३॥
सो कस दुखहिं छोड़ावै दूजे, जो निज भूलि जगत अटके॥ ४॥
तब वह करत अकाज सबन को, जब खुद आपु भरमि भटके॥ ५॥
मोह मया वैराग्य नशाये, तब कस दुखहिं हरैं जिव के॥ ६॥
याते गहौ धीर बर बीरहिं, निज पर हितहिं करौ पद लहिके॥ ७॥
बिन निर्बन्ध अभय भये अपने, कस वह छूटि छुटावै सबके॥ ८॥
कहहिं कबीर हरण जिय भारा, निज दुख मेटि मिटै कुल के॥ ९॥

टीका—मोह-फाँसी त्यागे हुए कोई विरले निर्मोही सत ही सब के सच्चे कल्याण करने वाले होते हैं॥ टेक॥ वे अपने शरीर और इन्द्रियो के सुखो, मन-मानन्दियो को तथा धन, धाम,

ऐश्वर्य आदि को तृण के समान तुच्छ जानकर इनमे भूल के भी नहीं आसक्त होते, अपने नित्य स्वरूप मे स्थित रहते हे, तव भला प्रेमियो के मोहपाश मे वे कब बँध सकते है। ॥ १॥ उनका विचार है कि ससार मे कोई किसी का साथी नहीं है, सब अपने-अपने दुखो को छुडाना चाहते हैं। सबको अनुभव है कि जब अपने ऊपर कोई कठिन दुख आ जाता है, तो उस समय सबसे प्रियता हटकर केवल दुख से छूटने का ही ध्येय सबको रहता है॥ २॥ सर्व दुखो को छुडाने वाला, सदा रहनहार, अमृतस्वरूप अक्षय, अविनाशी स्वरूपस्थिति है, उसे छोडकर जो देह-सम्बन्धियो के प्रेमासक्ति की मदिरा पी अपने अमृतस्वरूप पर स्वय पर्दा डाल असावधान हो जाता है॥ ३॥ वह भला दूसरे के मोहकृत दुखो को कैसे छुडा सकता है। जब आप ही स्वस्वरूप रहस्य को भूलकर जगत के मोहजाल मे फँस गया, तब तो यही कथा हुई "बन्धे को वन्धा मिला, छूटै कौन उपाय"॥ ४॥ तब वह सब की हानि करता है। वह स्वय स्वरूप के रहस्य को भूलकर और विषयारण्य मे सुख मानकर जगह-जगह भटकने लगता है, और उसी रास्ते मे दूसरे को भी भटकाता हे। प्रगट है कि जगत मे मोह होने से देह के स्वभाव जगते हैं, उससे सुख-भावना, सुख-भावना से काम, पुन द्रव्य का लोभ, फिर छल, कपट, क्रोध आदि विकार उत्पन्न होकर मोहान्ध मनुष्य स्वय तो अधोगति को प्राप्त होता ही है, साथी को भी उसी मे खींचता है। कहा भी है "ममता मोह सदा दुखकारी। पशु नहि चीन्हे कर्म विकारी" ॥ प० ॥ ५॥

दास-दासी और सब स्नेहियो की मोह-माया-आसक्ति प्रवृत्ति रूप होने से राग बढा कर वैराग्यभाव को नष्ट कर देते हैं। वैराग्य से सर्व दुखो का नाश होता है। जब जिसका मोहवश वैराग्य ही नष्ट हो गया तव वह भला राग-जनित दुखो को कैसे मिटा सकता है।॥ ६॥ इसलिए इन सब वातो को विचार और धैर्य धारणकर वीरभाव सहित आए हुए मोहादि शत्रुओ को नैराश्य-खड्ग से नष्ट करके त्यागपथ मे चलते हुए अपनी स्वरूपस्थिति को प्राप्त कर अपना और दूसरे का कल्याण करना चाहिए॥ ७॥ स्त्री-पुत्र, घर-धन, मित्र, सगे-सम्बन्धी, ऐश्वर्य-मान आदि सबकी ममता को त्यागे बिना स्वच्छन्द हो ही नहीं सकता। ममता से हानि-लाभ, शत्रु-मित्र, बनने-बिगडने का नित्य सशय सवार ही रहता है। बिना स्वतन्त्रस्वरूप-पारखपद मे ठहराव किये निर्भयता आ ही नहीं सकती। जब आप ही को निर्भयपद नहीं प्राप्त हुआ, तब दूसरे को अजर-अमर-निर्भयपद देकर भयरूप विषय-वासनाओ से कैसे छुडा सकता है। यथा—"विष के खाये विष नहि जावै। गारुड़ सो जो मरत जियावै"॥ बी० ॥ ८॥ सद्गुरु कबीर साहेब कहते हैं कि जीव का मोह-बोझा उतारने वाले एक निर्मोही सतजन ही हैं, जो कि सर्व प्रपचो का मोह त्यागकर अपना दुख मिटाते हुए साथ ही सर्व सगियो का भी दुख मिटा देते है। अत —"तेहि साहिब के लागहु साथा। दुइ दुख मेटिके होहु सनाथा"॥ बी० ॥ ९॥

छन्द—१५

नहिं भूलि कीजै मोह मन ये मोह ही दुख मूल है।
अनकूल जो लखि मोह कर सोई महाँ भव शूल है॥
मन रूप अग स्वभाव लखि प्रिय देखि जेहि अनकूल है।
प्रिय बैन औ मन चाल जिसकी जानि तू सुख भूल है॥ १॥

टीका—हे मन! तू भूलकर भी मायिक पदार्थों और नर-नारियो के मोह-फाँस मे न फँसे। याद रख! यह मोह ही सर्व बन्धन, उत्पात, लोभ, क्रोध आदि की जड होने से दुख रूप है। तू जो अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे को अनुकूल देखकर मोहित हो जाता है, इसी से तेरी खूब अधोगति भी होती है। यह अनुकूल का मोह ही निज-स्वरूप को ढक कर राग-द्वेष और मानसिक रोगो द्वारा शूल उत्पन्न करता है, बार-बार जन्म-मरण का कारण भी यही होता है। अपने मन के अनुसार मोहक-सुन्दरता अर्थात हाथ, पाँव, मुख आदि अंगो की सुडौलता और अपनी इच्छा के अनुसार उसकी मधुर बोल-चाल, बैठना-उठना, नम्रता-प्रियता, निश्छलतायुक्त सब बर्ताव, बस इतनी ही बाते देखते ही यह जीव नर-नारियो मे सुख मानकर भूल जाता है और अपनी नैराश्य दशा त्यागकर सहज ही सब के ऐन मे चलने लगता है। पर हे मन! यह तेरा बडा ही अज्ञान है, अनुकूल के दोष-दुर्गुण आगे पद से विचार करो॥ १॥

ये बदलि क्षणक्षण और औरहिं होत जावै तेहि लखै।
हो नाश क्षण मे थिर नहीं कहुँ होय गैरहिं की मखै॥
जो साथ हो तौ भार नित दिल फिक्र ये स्वबशै रखै।
जग नारि नर औ जन्तु कोइ सब बस्तु है ऐसहि दिखै॥ २॥

टीका—निज स्वरूप से भिन्न क्या बीज-वृक्ष, गाँव-देश, जड-सृष्टि और क्या स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी आदि मनोमयसृष्टि, ये दोनो एक क्षण भी स्थिर नहीं हैं। प्रत्यक्ष जगत-प्रपच का नित्य बदलाव तू देख रहा है।

कवित्त

भिट्ट सो तो धारा भयो धारा सो तो भिट्ट भयो, बाग सो उजाड हूँ उजाड बाग देखिए।
राजा सो तो भिक्षु भयो भिक्षु सो तो राज करै, मित सो तो अरि भयो अरि मित पेखिए॥
प्यारी सो परारी भई धन धाम छई अई, देह बाल ज्वान वृद्ध अत पुनि लेखिए।
क्षण-क्षण पल-पल और तौर देखत हू, स्वबश प्रमाद मोह काहे दुख पेखिए॥

हे जीव! इस प्रकार बदलते हुए नर-नारियो की देहे तथा सुन्दर पदार्थ पलक मारते ही नष्ट हो जाते है। कदाचित थोडी देर बने भी रहते हैं तो एक सरीखे नहीं रहते और ये एक के पास सदा रहे यह बात नही है। युवती और अपने माने हुए जन-समाज के लोग देखते ही देखते दूसरे के हो जाते हैं। कभी तो ये अपने होकर रहते हुए भी अपने मतानुसार चलाने के लिए बात-बात मे क्रोध करने लगते हैं। यदि सुन्दर-मोहक दास-दासी या कचन आदि पदार्थ साथ मे रक्खे जावे, तो हरदम भार लदा रहता है। अत·करण मे रात-दिन खटका सवार रहता है कि कही ये हमारे विपरीत न हो जावे, या कोई इनको छीन न ले। ऐसा मानकर उनको अपने वश रखने के लिए करोडो उपाय करने पडते हैं। सोते मे भी चिन्ता बनी रहती है। जगत की सुखमय समझी हुई कोई भी वस्तु या जन्तु क्यो न हो, सबकी ममता दुखपूर्ण है। "नर नारी धन पशु खग आदी। सबकर मोह दुखद दिखलादी॥" सबकी ममता करने से उक्त सब बाते सिर पर पड जाती है। इससे समस्त आपदाओ का मूल मोह को जानकर उसके फॉस मे न फॅसे और औषध प्रमाण आसक्तिरहित शुद्ध व्यवहारयुक्त अपनी गुरुपद पटरी पर चलते हुए

जीवन्मुक्त हो रहना चाहिए॥ २॥

चौपाई—"*भयो मोह-भजन को अन्ता। श्रवण मनन करि भव न बहता॥*"

प्रसंग ३—लोभ-शमन

शब्द—१६

गहे जड़ लोभ अज्ञान कि गठरी॥ टेक॥

चेतन शुद्ध सदा तुम निर्मल, स्वतः विवेक न सँभरी।
मानि रह्यो यामे सुख बहुतै, सब दुख आय मिलै यहि डगरी॥ १॥
चोरी करै जुवा जो खेलै, सब दुष्करम के झगरी।
हारि जीत वह फूलै पचकै, भय बशि रहत जेहल जेहि नगरी॥ २॥
बेश्या गमन मदपी बनि जावै, राग राढि दुर्गुण सब सँचरी।
चितारहित न फिकिरि अभय सुख, छोड़ि ज्ञान दुर्गुण सब सखरी॥ ३॥

टीका—यह जीव लोभासक्ति के कारण ऐसा अज्ञानी बन गया कि इसकी बुद्धि बिलकुल विवेक-रहित जड हो गई, जिससे बेभान हो अज्ञान का ही बोझा पकडकर सिर पर लाद लिया॥ टेक॥ तुम्हारा स्वरूप शुद्ध चेतन है, निरन्तर सदा एकरस, स्थायी, अज्ञान-मल से रहित हे, स्वत अपने आप स्वतन्त्र है। ऐसा शुद्ध स्वरूप होते हुए भी विवेक किये बिना स्वरूपस्थिति देश मे तुम ठहर नही सकते। उलटे अविवेक से जड पदार्थों के सचय करने मे ही अनन्त सुख मानकर इस लोभ के मार्ग मे चलने से सब प्रकार के दुख तुमको मिलते रहेगे॥ १॥ अरे! इस लोभ के वश होकर क्या-क्या अनर्थ नहीं करना पडता! लोभी मनुष्य दूसरे के प्राणप्रिय धन को चुरा लेता है, जुआ खेलता है, बडी बेरहमी से डाका डालता है। कहाँ तक कहे, कौन ऐसा भयानक निन्दनीय कुकर्म नही है जो लोभी मनुष्य न कर सके! लोभी मनुष्य थोडी-थोडी वस्तु के लिए लडाई ठानता रहता है, सरकार-दरबार मे जाकर झूठी-झूठी साखे भरता है। जब झगडा मे हार जाता हे तब उसके दुख की थाह नहीं रहती। यदि जीत जाता है तो फूला नहीं समाता ओर हरदम भय के वश रहता है। उसका रहने का नगर-स्थान जेलखाना ही हो जाता है॥ २॥ लोभयुक्त अधिक धन सग्रह से राजस कुसग और दुर्बुद्धि बढ जाती है। फिर दुर्बुद्धि-वश वेश्या से मिलता करता है। शराब आदि अनेक प्रकार के नशाओ का सेवन करने लगता है। वह नीचो से अति स्नेह करके आसक्त हो जाता है, इसलिए सबसे वैर बढाकर सर्व दुर्गुणो का प्रसार करता है। वह निश्चिन्त होकर क्षणमात्र भी विश्राम नहीं पाता। उसकी निश्चिन्तता और निर्भयता का सुख लोप ही हो जाता है। उसे सदा फिक्र और भय दाबे रहते है। ऐसी दशा मे वह यथार्थ ज्ञान त्याग कर सब प्रकार के दुर्गुणो को हर्ष से धारण करके अनन्त दुख पाता रहता हे॥ ३॥

दृष्टान्त—एक लभ्याराम नामक मनुष्य वहुत लोभी था। इस कारण वह धर्म को छोडकर नाना प्रकार से मनुष्यो को ठगा करता था। आप जानते हैं कि कभी न कभी सबको 'जैसा का तैसा' ही मिल जाता है। लभ्याराम के पाँच बेटे थे। उन सबको वह ठगविद्या मे निपुण कर

रक्खा था। वे सब के सब भेष बदल-बदल कर विशेष दूर-दूर रास्ते पर बैठा करते थे और भाँति-भाँति की युक्तियो से पथिको का धन-माल ले लेते थे। एक बार एक मनुष्य तेरह रुपये का एक बैल मोल लेकर उन्हीं ठगों के रास्ते से निकला। एक जगह वे पॉचो ठग बैठे हुए थे और उन पॉचो का बुड्ढा बाप अलग बैठा था। इन पॉचो ठगो ने उस बैल वाले से बुला कर कहा—अबे बैल वाले! क्या यह बैल बेचेगा? बैल वाले ने कहा—हाँ! हॉ! अगर आपको लेना हो तो ले लो। ठगो ने कहा—बैल का क्या दाम लोगे? बैल वाला—जो भले मनुष्य कह दे। ठग—तुम भले मनुष्य की बात मानोगे? बैल वाला—भले मनुष्य की न माने तो फिर किसकी मानेगे! यह प्रतिज्ञा कराकर वे ठग बैल वाले को अपने बाप के पास ले गये और कहा—इसकी मानोगे? बैल वाले ने कहा—हॉ! हाँ! तब बुड्ढे ने कहा—सच-सच पूछो तो बैल तीन रुपये का है। बैल वाले ने तीन रुपये मे बैल दे दिया और अपने घर को चल पड़ा। परन्तु मार्ग मे उसे मालूम हो गया कि वे पाँचो ठग थे और बुड्ढा ठगो का बाप था। बैल वाला थोडे दिनो के बाद स्त्री का रूप बना कर एक डोली मे ठगो के घर के सामने कुआँ पर आकर उतर पडा और रोने लगा। इतने मे ठग निकले और कहा—क्या है? उसने कहा—मेरे पति ने नाराज होकर मुझे निकाल दिया है। ठगो ने कहा—अच्छा तुम हमारे यहाँ रहो। इसने स्वीकार कर लिया। अब तो उन पाचो ठगो मे बड़ा झगडा होने लगा। एक कहता कि इसे मैं रक्खूँगा, दूसरा कहता कि मैं रक्खूँगा। यह झगडा देखकर बाप बोला—तुम लोग क्यो लडते हो? इसको मै रक्खूगा और तुम पाँचो की यह मॉ होगी। पॉचो ठगो ने मंजूर कर लिया, और बैल वाला स्त्री के रूप मे ठगो के यहॉ रहने लगा।

अब बुड्ढा यह सोचने लगा कि ये लडके इधर-उधर चले जायॅ तो मैं खूब मनमानी भोग भोगूॅ। इसलिए लड़को को इधर-उधर भेज दिया। उस दिन बुड्ढे ने खूब हलवा, पूड़ी और खीर बनवाकर भोजन किया और यह मना रहा था कि किसी प्रकार रात आवे। स्त्री बना हुआ बैल वाला खूब शृगार कर बैठा था। जब रात हुई तो स्त्री ने किवाड बन्द करके एक रस्सा ले बुड्ढे को चारपाई से बॉध गला दबाकर पूछा—बता तेरा धन कहाँ गड़ा है? बुड्ढे ने प्राण के भय से सब धन बता दिया। उसने सब धन को खोदकर बॉध लिया और एक सोटा लेकर बुड्ढे को पीटता जाय और कहता जाय "क्यो रे मक्कार! तेरह का बैल तीन का? तेरह का बैल तीन का?" इस प्रकार वह पीट-पाट धन लेकर चल दिया। जब दो दिन बाद उस बुड्ढे के लडके आये तो बुड्ढे को बँधा हुआ, उसकी सब देह फूली हुई और सब घर खुदा हुआ देखकर बडे दुखी हुए और बाप से बोले—यह क्या हुआ? बुड्ढे ने कहा—"वो औरत न थी बल्कि था बैल वाला। मुझे बॉधकर ले गया माल माला॥" पाँचों ने अपने बाप को खोलकर मलहम-पट्टी की और फिर धन इकट्ठा करने लगे। कुछ दिन के बाद बैलवाला वैद्य का भेष धारण कर फिर उसी गॉव मे आ विराजा। ये पॉचो ठग फिर उस वैद्यराज के यहॉ पहुँचे और दो रुपये नजर देकर कहा—महाराज! हमारा बाप बहुत बीमार है, आप कृपाकर उन्हे देख लीजिए। वैद्यराज ने जाकर देखा, परन्तु उसको तो सब हाल मालूम ही था। उसने बुड्ढे के लडकों से कहा—जब मैं पन्द्रह दिवस ठहरूँ तब इसे आराम हो सकता है। बुड्ढे के लडको ने वैद्यराज के आगे बहुत हाथ जोडे और कहने लगे—आप कृपाकर पंद्रह दिवस ठहर जाइए। हम आपकी जो फीस होगी, देगे और आपकी सेवा करेगे। वैद्यराज का तो यह अभिप्राय ही था, वे ठहर गये। दूसरे दिन उन्होने बुड्ढे के पाँचो लडको को दूर-दूर अनाप-शनाप की

दवाइयाँ बताकर इधर-उधर भेज दिया। जब बुड्ढा अकेला रह गया तो उसको घर में एक खम्भा से बाँध उसका गला दबाकर पूछा—बता, अब बचा-बचाया धन कहाँ रक्खा है? बुड्ढे ने प्राण जाते देख कर बचा-बचाया धन भी बता दिया। बैलवाले ने सब धन खोद और एक सोटा ले पुनः बुड्ढे को खूब पीटता जाय और कहता जाय, "क्यो रे मक्कार! तेरह का बैल तीन का? तेरह का बैल तीन का?" फिर सारा धन लेकर चल दिया। जब बुड्ढे के पाँचो लडके दवा लेकर आये तो बाप की यह दशा देखकर बडे दुखी हुए और अंत मे सोच-समझ कर उसी दिन से ठगी छोड दी। ऐसी दुर्दशा लोभ के कारण हुआ करती है, इसलिए गुरुदेव पुनः कहते हैं।

शब्द—१७

तजौ मन लोभ सदै यह दुखदा॥ टेक॥

नहिं कोइ बाकी रहै याहि में, जौनि न आवै अपदा।
यहि के कारण दुशमन बहुतै, चिता फिकिरि सदहदा॥ १॥
राग द्वेष से पार न पावै, तन मन तेहि को दुखदा।
प्रथम उपाय राति दिन सोचे, मिलै न युक्ति अलहदा॥ २॥
बैठि युक्ति तब सरल बिचारै, रहे न कमती धनदा।
क्रिया करत तब खाली जावे, पूर न होवै ममदा॥ ३॥
कृपी बनिज बैपार कमावै, तृष्णा बढै तबहदा।
तबहुँ न पूर होत जब देखै, करि अन्याय जबहदा॥ ४॥
जब धन होय एकात्र बहुत तब, रक्षण केरि कबहदा।
डाकू चोर हानि करे धन की, जान क होय जमहदा॥ ५॥

टीका—हे मन! लोभ को त्याग दे, क्योकि यह दुर्गुण और दुर्बुद्धि का मूल है और भूत, भविष्य तथा वर्तमान मे दुख ही देता रहता है॥ टेक॥ लोभ के घेरे मे रहकर जो आपत्ति न आ जाय सो थोडी ही है। इस लोभ के कारण ही यथार्थ शुद्ध व्यवहार न सध सकने से सबसे दुश्मनी हो जाती है और सदैव चिंता-फिक्र की अग्नि मे जलना पडता है॥ १॥ लोभी को लालचपन के कारण राग-द्वेष की क्रियाओं से कभी छुट्टी नहीं मिलती। ऐसे लोभी मनुष्य का शरीर भी सर्वदा परिश्रमित रहता है और मन मे अनेक चिंताओ की भट्ठी जला करती है। वह हर समय अधिक द्रव्य की प्राप्ति के लिए चिंतित रहता है। जब धन बढाने की अच्छी युक्ति नहीं पाता॥ २॥ तब फिर बैठकर धन मिलने के लिए बहुत सी सरल युक्तियाँ सोचता है। वह यही चाहता है कि मैं धन मे किसी से कम न रहूँ, मुझे इच्छापूर्ति धन मिल जाय। इस तरह नाना प्रकार का परिश्रम करता है, परन्तु प्रबल पूर्व प्रारब्ध के बिना उद्यम खाली जाता है, उसकी इच्छा पूरी नहीं होती॥ ३॥ तब दुखी होकर निर्वाह के लक्ष्य से नही, बल्कि तृष्णापूर्ति के लक्ष्य से खेती, बनियई, नाना प्रकार के और भी व्यापार करके जब कुछ धन कमाता है तब तृष्णा आगे को पग बढाने लगती है। जब इन धन्धो से भी तृष्णा-पूर्ति नहीं देखता तब बलात्कार, कपट, शठता, हठता, चोरी, डाका, लूट, फूँक आदि अनीतियाँ करके धन बढाना चाहता है॥ ४॥ जब किसी प्रकार अधिक धन इकट्ठा करता है, तब तो उसकी

रखवाली की परेशानी सवार हो जाती है, क्योकि उस धन का चोर, डाकू, पटैत, राजा आदि हरण करने वाले होते है। यहाँ तक कि श्रीमानो को जान बचाना भी कठिन हो जाता है। अनन्त आपत्ति लोभ का परिणाम है॥ ५॥

दृष्टांत—एक लोभी मनुष्य बडे कष्ट से धन उपार्जन करता था और पाये हुए सब धन का सोना और चाँदी लेकर गाड रखता तथा अपने खाने के लिए तीन सौ साठ दिन का हिसाब लगाकर वर्ष के आरम्भ मे रख लेता। एक बार साल के आरम्भ मे वह अपनी आमदनी का हिसाब करके रखने लगा तो उसके हिसाब करने पर तीन सौ उनसठ दिन के लिए अन्न निकला, एक दिन की कमी पड़ गयी। तब उसने विचार किया कि आखिर साल के अत मे भूखो मरना पड़ेगा तो आज ही भूखे रह जाऊँ। ऐसा सोचकर उसने उसी दिन अनशन रहने का निश्चय किया, परन्तु जब उसे खूब भूख लगी तब रहा न गया। वह सोच-विचार कर उठा और अन्न के बदले भूसा फॉक लिया। भूसा जाकर कलेजे मे बैठ गया और साँस ऊपर चढ गई और उसी मे उसका अन्तिम समय आ गया। वह सचित धन, सोना और चाँदी को खोदकर अपनी छाती से लगाता रहा। इतने मे कई लोग आ गये। उन सबो ने उसका अत समय देखकर कहा—भैया! इस धन को कहो तो तुम्हारे सामने पंच के बीच मे किसी धर्म के कार्य मे खर्च कर दिया जाय, जिससे तुम्हारी अतिम अवस्था मे शुभ कर्म के सस्कार बैठ जायेगे तो तुम्हे आगे जन्मो मे सुख मिलेगा। वह तडफते हुए कहने लगा—क्या एक मिनट के बदले आधे पलक मे ही मारना चाहते हो? हाय! मै देखते-देखते इस धन को अपने से कैसे पृथक करूँ? इस प्रकार कहते-कहते हाय धन! हाय धन! कहकर मर गया। इसीलिए कहा है—"छन्द—धन पाय तो कुछ दान कर, अथवा निर्वाहिक कार्य कर। दान और निर्वाह तजि, सचय करै तो रोग घर॥ माखी शहद की सी दशा, होगी अरे तू चेत कर। पाय शुभ तन चीटि मत बन, साध्य कर परमार्थ नर॥"

शब्द—१८

हमारे मन लोभ से दूरि रहौ।

भय चिता संताप बिनाशै, सब अज्ञान दहौ॥ टेक॥
सकलौ मित्र शत्रु बनि जावैं, जो कहुँ लोभ गहौ।
रक्षक अपने भक्षक होवै, नित दुख द्वन्द्व सहौ॥ १॥
सकल राग की उतपति होवै, नहिं बैराग्य तहौ।
भक्ति बिबेक निकट नहिं आवे, नाहिं धरम निबहौ॥ २॥
बैराग्य को दुश्मन लोभ महॉ है, मन कृत रोग लहौ।
यहि के गर्ज कुसगति बहुतै, विद्या मान चहौ॥ ३॥
साधु सग से अरुचि करै यह, गुरु से भेद रहौ।
मान बडाई नित वह खोजै, तेहि के हानि डहौ॥ ४॥
करत याचना सबसे भरमै, जेहि बिधि मान लहौ।
सब धन बिद्या चहै जगत को, घाटि न कतहुँ रहौ॥ ५॥

नारि प्रपंच रहै वह बँधुवा, बनै अलिप्त तहौ।
ज्ञान ध्यान तेहि मनहिं न भावै, निशदिन जलनि जहौ॥ ६॥
मोक्ष बैराग्य शाति सुनि जलतै, तब वहँ त्याग कहौ।
निज हित छोड़ि दरिद्र मे भरमत, भोगत दु ख महौ॥ ७॥

टीका—हे मन। लोभ से दूर रहो। श्रेणी के अनुसार यथायोग्य शुद्ध पुरुषार्थ करो, फिर शुद्ध व्यवहार युक्त शरीर निर्वाहार्थ जो कुछ प्राप्त हो उसी मे सतोषयुक्त उदार होओ। इसका लाभ तुम्हे यह प्राप्त होगा कि जितने लोभ सम्बन्धी भय है उनसे छूट जाओगे, उनकी हानि और इच्छा की चिंता से बिलकुल रहित हो जाओगे तथा लोभ सम्बन्धी यावत बुद्धि का पर्दा निर्मूल हो जावेगा॥ टेक॥ लोभासक्ति मे अयोग्य बर्ताव करने से मित्त और सम्बन्धियो को कष्ट होने लगता है, तब वे सहज ही शत्रुता करने लगते हैं। इस पकार जो अपने रक्षक हैं वे ही संहारकारक हो जाते है, साथ ही अपने को झगडा कृत दुसह दुख का भोक्ता होना पडता है॥ १॥ लोभ-लालचवश कौडी-कौडी की आशा से जगत की दोषजनक वस्तुओ मे पूरी ममता बन जाती है, और लोभावरण से सब रागो की उत्पत्ति होती है और इन्द्रियो के सुख सम्बन्धी क्रिया, व्यवहार, बर्ताव आदि सर्व राजस ठाट सहज ही एकत्र हो जाते हैं। इस रीति से वैराग्य के द्रोही सर्व राजस ठाट आकर जहाँ घर कर लिये फिर वहाँ वैराग्य का तो होना ही कठिन है। जब भोगो मे दोष-दर्शन ही निर्मूल हो गया, तब साधु व गुरु की भक्ति और भक्ति सम्बन्धी निर्मानता, सरलता, सेवा, मनोनिग्रह आदि साधन कैसे ग्रहण हो सकते है। ससारदुख-ध्येय और ससारसुख-ध्येय के ही अनुसार मनुष्यो के सर्व कार्य होते हैं। जिसका जेसा ध्येय हे वैसा पुरुषार्थ वह करता है। फिर लोभ-ध्येय की जगह सत्यासत्य-निर्णय, बन्धन-निवृत्ति तथा स्वरूपविवेक केसे रह सकेगे। जब लोभ ने उदारता, धैर्य और सतोष का हरण कर लिया तब धर्म का निर्वाह होना असम्भव हो जाता है॥ २॥ धन के लिए उद्योग, धन-सचय, धन-रक्षा, पदार्थों की ममता आदि मे वैराग्य कैसे निवास करे। वैराग्य का परमशत्रु लोभ है। वैराग्य का लोभ से विरोध है। धन के लोभ मे पडकर जालसाजी, अन्याय तथा जबरन करने वाले मनुष्यो के समूह से सम्बन्ध जोडना पडता है, इसलिए कुसगतियो की ड्योढी जुहारना लोभी का मुख्य काम हो जाता है। वह विद्या और मान चाहता है, क्योकि इन दोनो से धन-लाभ का निश्चय रहता है॥ ३॥

लोभ साधु-सगत से अरुचि पैदा करता है और परम दयालु गुरुदेव से पर्दा करता है। क्योकि गुरुदेव तो सत्य, अडिगता, यथार्थ भाषण और अहिसा सद्गुण से पूर्ण हैं। ऐसे सद्गुण-सम्पन्न गुरुदेव से निर्भेद व्यवहार तो तभी बन सकता है जब यह देखने मे आ जावे कि गुरुदेव का सिद्धान्त-पुरुषार्थ, उनका सर्व सुख-शान्ति और सद्रहस्य सब लाभो का लाभ है। परन्तु हम अज्ञानी जीव दुर्भाग्यवश इस गुरुपद परमलाभ को नही प्राप्त कर पाते। मुझे भी अवश्य प्राप्त करना चाहिए, निश्चय है कि गुरु-कृपा से धीरे-धीरे गुरु की सहायता और निज पुरुषार्थ द्वारा अवश्य गुरुपद प्राप्त करूँगा। इस प्रकार गुरुपद की श्रेष्ठता, अपनी दीनता और गुरु-कृपा से अपने को गुरुपद की प्राप्ति का दृढ ज्ञान हो जाय तो गुरुदेव से भेद निर्मूल ही हो जाय। पर इस समझ को न धारणकर जब ध्येय ही दूसरा है तब लोभवश सहज ही गुरु से भेद बना रहता हे। जो मायिक मान-बडप्पन जीव का अकाज करने वाला है, उसे ऐसा न जान कर अज्ञान वश

दुख को सुख मान कर बडाई खोजता ही रहता है और मान-बड़ाई हानि रूप विघ्नो से घिरी हुई है, जिससे जगत-बडाई चाहने वाला पल-पल हानि और दुख का अनुभव करके हृदय-जलन की ज्वाला मे जलता रहता है ॥ ४ ॥ मान देने वाले और न देने वाले सर्व मनुष्यो से वह विवेक रहित मान की चाहना-वश मान की प्राप्ति के लिए उपाय किया करता है। परन्तु जो जिस दर्जे का है वैसी रीति और पुरुषार्थ छोडकर यदि अन्य कर्तव्य करता है तो सब निष्फल ही होता है। अपने प्रारब्ध और न्याययुक्त पुरुषार्थ पर भरोसा न करके वह ससार भर के धन और विद्या का इच्छुक होता है और इन सबो मे अपने को किसी से कमी नहीं चाहता ॥ ५ ॥

इस प्रकार लोभवश मलिन अन्तःकरण होने से पूर्व दुष्कृत कामचेष्टा आदि दुर्गुण बलपूर्वक कल्याण-मार्ग से उसको पछाड देते हैं, फिर तो वह स्त्री आदि प्रपच व्यवहार का बँधुवा बनकर प्रपंच ही उसका ध्येय हो जाता है। किन्तु सुख तो सत्यतायुक्त धर्म निबाहने वालो के जैसा ही चाहता है, परन्तु दुर्गुण युक्त वाले को वह सुख कैसे मिले! इस हेतु विषय कामना सहित दुर्गुणो मे जलते हुए भी दम्भयुक्त अपने को सबसे अलिप्त-अनासक्त ही सिद्ध करता है। फिर यथार्थ ज्ञान और हितैषी सद्गुरु का ध्यान उसके मन को नही भाते, इसी हेतु रात-दिन उसका हृदय लोभाग्नि से दहकता रहता है ॥ ६ ॥ वह कल्याणमार्ग से अत्यंत विपरीत होकर मोक्ष, वैराग्य, सतोष, स्वरूपस्थिति शुभाचरण को दिखावा कहता है। सत्य शुभगुणो के नाम को सुनकर ही जब वह जल जाता है तब वहाँ सद्गुण युक्त राग-बन्धनो का त्याग कहाँ और कैसे रह सकता है! जिस स्वरूपज्ञान, विवेकरहस्य से सदा अपने 'जीव' का कल्याण होने वाला है, उसे त्यागकर वह विषय भोगो मे लोलुप हो उसी दरिद्रतारूप तृष्णा-प्रवाह मे पडकर अकथ दुख भोगता रहता है ॥ ७ ॥

अधिक लोभ से सर्वस्व नाश

दृष्टांत—एक स्थान से चार आदमी व्यापार के लिए बाहर निकले। कुछ दिन बाहर रहकर चारो ने विशेष धनोपार्जन किया। जिस समय वे चारो घर को लौटे तो मार्ग मे एक स्थान पर रात को ठहर गये। अब भोजन की फिक्र हुई, तो चारो की यह सम्मति हुई कि दो आदमी जाकर भोजन ले आवे। अत. उनमे से दो आदमी भोजन लेने गये और दो स्थान पर सामान की रखवाली मे रहे। जो दो आदमी भोजन लेने गये थे उन्होने यह विचार किया कि ऐसा भोजन ले चलो कि जिसे खाकर वे दोनो मर जायँ और उनका द्रव्य हम-तुम आधा-आधा बाँट ले, यह सोचकर विष मिश्रित लड्डू ले आये और यहाँ उन स्थानिक दोनो ने यह सम्मति की कि वे ज्योही भोजन लेकर आवे त्योही दोनो को जान से मार दे और उन दोनो का द्रव्य हम-तुम बॉट ले। निदान, उन दोनो के आते ही इन स्थानिक दोनो ने उन्हे तलवार से मार दिया और उनका भी द्रव्य ले चलने की तैयारी की। जब चलने लगे तो दोनो ने सोचा कि यार! यह भोजन जो वे दोनो लाये थे, रक्खा है। इसलिए आओ! प्रथम भोजन कर ले फिर चलें, यह कहकर विषमिश्रित लड्डू खा गये। कुछ देर बाद पाँव रगड-रगडकर दोनो सो गये। अब आप सोच ले कि लोभ से क्या परिणाम निकला! कहा भी है—"दोहा—मक्खी बैठी शहद पर, पख गये लपटाय। हाथ मलै औ सिर धुनै, लालच बुरी बलाय॥" अतएव लोभवृत्ति त्यागने के लिए सबको उदार होना चाहिये। एकाएकी धन को न त्याग सके तो धर्म के कार्यो और

वीतराग-सत्पुरुषो की सेवा मे प्रिय धन को लगाते हुए उसकी आसक्ति त्यागकर स्वरूपस्थिति को पुष्ट करे जिससे फिर उपाधिप्रद ससार-सागर मे बहना न पड़े।

चौपाई—लोभ शमन यहँ पूरण कीन्हे। यादि गहे दुख लेश न लीन्हे॥

प्रसंग ४—काम-हर

शब्द—१९

नारी नर मदन राग दुखदाई॥ टेक॥

इच्छा उठि सनमुख में आवै, हलचल त्रास दिखाई।
भय तृष्णा परवश नित चिता, दुःख अतृप्ति सदाई॥ १॥
आसक्ति विवश इच्छा ह्वै मन मे, रोंकति में कठिनाई।
विघ्न अनेक न मन का होवै, लज्जा सकुच दुखाई॥ २॥
खीन होय अप्रसन्न तेज हत, मलिन क्रिया पछिताई।
लखि अपमान दुखित ह्वै मन मे, आश्रय हीन रहाई॥ ३॥
करै अनीति आप नहिं कब्जे, रक्षा में कठिनाई।
श्रेष्ठ भाव तजि होय निरादर, भार परिश्रम पाई॥ ४॥
दुखित होय लखि संग आश्रई, साहस सुमग नशाई।
तिनकर हानि करम बनि लागै, परहित साँच भुलाई॥ ५॥
इन्द्री दमन शमन मन अरुझनि, जो आसक्ति बनाई।
मनन विवेक मे मन नहिं लागै, साधु सग नहि भाई॥ ६॥
आसक्ति राखि छोड़ि जब तन को, पुनर्देह बनिताई।
इच्छा प्रबल होय तेहि तन मे, जगत नीति छुटि जाई॥ ७॥
मनुष खानि जब हाथ से छूटै, त्रय खानिन तब धाई।
कष्ट असंख्यन दुःख अनाश्रय, छूटन युक्ति गवाँई॥ ८॥

टीका—स्त्री और पुरुषो मे जो कामसुख की चाहना करके प्रेमासक्ति होती है वही सब दुखो को उत्पन्न करने वाली है ॥ टेक॥ प्रारब्ध-पुरुपार्थकृत कामासक्ति का ठहरा हुआ अध्यास अत करण मे उठ-उठकर जीव के सम्मुख होते ही बार-बार स्पर्श-सुखासक्ति स्मरण हो-होकर जीव को बेचैन करने लगती है। श्रेणी के अनुसार मानभग की समझ सस्कार से भय होता है। और-ओर स्पर्श भोग भोगने की इच्छा होते ही रहना तथा स्पर्श सुख-भोग सम्बन्ध के बिना नहीं होता, सो सम्बन्ध विवशता का रूप हे, इससे स्पर्श क्रिया का माना हुआ सुख का विवशता के दुख से रहित होना असम्भव हे। अपने ओर दूसरे की प्रतिकूलता से घिरा हुआ यह मानसिक ब्योरा सबके हृदय मे यथायोग्य अनुभव हे, इस कारण मानसिक विघातको से घिरा हुआ चिंता से भरपूर रहता है। जितना भोगने का अनुसधान होता है उतना भोग न हो सकने से अतृप्ति का दुख हरदम बना ही रहता है॥ १॥ आसक्तिवश कामोपभोग की बार-बार

इच्छा उठा ही करती है। यदि उस इच्छा को न रोके तो कहॉ तक भोगे या उसका हर समय कहॉ तक सयोग बनेगा। सयोग भी हो तो प्रतिक्षण भोग कैसे हो सकेगा। यह भी नहीं कि एक बार भोग लेने से हृदय मे शाति आ जाय, प्रत्युत ज्यो-ज्यो भोगे त्यो-त्यो उसकी कामनारूप लौ बढ जाती है तब छिन-छिन मे काम की भावनाये उठा करती है। इस हेतु स्त्री-पुरुषो को समय-असमय मे उन भावनाओ को रोकना ही पडता है, यह इच्छा की प्रबलता का कष्ट है। मन के अनुसार दोनो के योग्य समय मिलने मे बडी बाधा पडती है। जिस समय एक का मन है तो दूसरे का नही, दोनों का मन है तो समय नही, यदि समय है तो स्त्री या पुरुष का परस्पर विछोह है या रोगी अथवा अनमिल इत्यादि विघ्नो का अनत कष्ट सहन करना पडता है। फिर मन अनुसार न होने का भी कष्ट उसमे मिला है, नर-नारियो की परस्पर मनानुसार मुन्दरता, जवानी, इन्द्रियगढन, प्रकृति का मिलान नही होता, स्त्री को पुरुष, पुरुष को स्त्री प्राप्त होते हुए भी मन के न होने का कष्ट अनिवार्य अकाट्य बना ही रहता है। फिर उसमे लज्जा-सकोच का कष्ट मिला हुआ है। यदि लज्जा न रक्खे तो बहुत विघ्न होने का भय, मर्यादा की हानि होने से अपमान का भय इत्यादि काम-विषय अनत दुखपूर्ण है॥ २॥

मैथुन के पीछे शक्तिहत होकर स्वाभाविक ही मानो कोई प्रिय वस्तु खो गई, इस प्रकार व्याकुलता होती है, प्रसन्नता नष्ट होकर कान्ति हरण हो जाती है। अपवित्र क्रिया का स्मरण होकर मन मे ग्लानि होती है। गृहस्थ हो या विरक्त, किसी की भी कामुकवृत्ति होने पर ऊपर कहे हुए कष्ट सबके सिर पर पडते है। आगे गृहस्थो को भी गृहनीति के विरुद्ध परस्त्री-गमन आदि से जगत मे भारी अपमान और अनत कष्ट होता है सो सबको विदित ही है और विरक्ति दशा मे जो कामुकवृत्ति हुई तब तो जगत मे महान अपकीर्ति होने से कहीं बैठने का भी ठौर नही मिलता, तब असह्य कष्ट होता है। फिर उसे स्वार्थ-परमार्थ मे किसी भी प्रकार का कोई आधार नहीं देता॥ ३॥ उसे कोई किसी प्रकार का आधार ही नहीं देता और वह सुख बहुत चाहता है तब जगत-मर्यादा छोडकर वह बलात्कार, अन्याय, छल-कपट से व्यभिचार करके स्ववशता रहित लोलुप[१] हो काम-चेष्टा रोकने मे अत्यन्त असमर्थ हो जाता है। उसकी

---

१ यदि कौरव तेरहवे वर्ष मे पाण्डवो का पता लगा ले तो फिर बारह वर्ष पाण्डवो को वनवास भोगना पडे, इसलिए जुआ मे हारे हुए वचनबद्ध पाँचो पाण्डवो को बारह वर्ष वनवास मे बीत जाने पर एक वर्ष गुप्तवास करने के लिए युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव और द्रौपदी ये छहो अपना नाम और भेष बदलकर भिन्न-भिन्न कार्यों मे तत्पर होकर राजा विराट के यहाँ जाकर रहने लगे। द्रौपदी रूपवती युवावस्थासम्पन्न थी। वह विराट रानी की दासी सैरन्ध्री नाम से रहने लगी। एक कीचक नामक दूसरे देश का राजा जो कि विराट का साला था, वह भी सेनापति के रूप मे राजा विराट के यहाँ रहता था। वह बडा वलवान युवावस्था सम्पन्न था। सयोगवश द्रौपदी को देखते ही उसे मोह-विष चढ गया। दूसरे की स्त्री को कुदृष्टि से देखने से वढकर और पाप नहीं है, यह बात भूलकर उससे वार्ता करने को आतुर हुआ। क्योकि विषयी लोगो का हृदय धधकते अग्निकुण्ड के समान होता है। वे उसमे नेत्र सैन, भोगरूप ईधन डालकर उसे और बढाते रहते, जिसका फल इसी जन्म मे कामी बनकर जलना पडता हे। फिर उसे वार-बार जठराग्नि मे पचकर देह धारण करके भाँति-भाँति के क्लेशो को भोगना होता है। समय-असमय न विचार कर सैरन्ध्री से कीचक ने कहा—तू मेरी कामवासना पूर्ण कर, मैं तुझे सब प्रकार से आभूषण, धन, वस्त्र तथा मनमाने मुख-भोग दूँगा। द्रौपदी ऐसे कठोर धर्मविनाशक वचन

दशा पागल के समान हो जाने से खान-पान, स्नान, वस्त्र, शरीर-रक्षा आदि मे भी बाधा पड

सुनकर घबराई, फिर भी धीरता से बोली—आप पुरुष होकर ऐसे पाप के वचन क्या बोल रहे हैं? अनादि अविद्या रचित मन-इन्द्रिय चलने मे आश्चर्य नहीं है, परन्तु उन पर हठता से रोक लगाकर अविनाशी पद मे स्थिर होने के लिए उत्तम कर्तव्य मे लीन होना चाहिए, न कि तुच्छ इन्द्रियो के लिए एक-दो मिनट विषयसुख को लेकर बारम्बार जन्मना-मरना चाहिए। कीचक बोला—अरी सुन्दरी! तू क्या कह रही है? तू जितना विलम्ब कर रही ह उतना ही मेरा पल-पल युग के समान कट रहा है। जब किसी तरह लोभ देने पर भी द्रौपदी तत्पर न हुइ तब कीचक बलात उसे ग्रहण करना चाहा। वह पछडकर बोली—अरे कामरत! तू मुझे छुने को कोन कहे यदि बुरी दृष्टि से भी देखेगा, तो मेरे रक्षक जो यह समाचार जान पायेगे तो तेरा प्राण ले लेगे। कीचक बोला—रे बाले, मेरे म अनेक हाथियो का बल है। इसी प्रसग के बीच ही मे उसकी बहन रोक हुई। वह अपने भाई कीचक से बोली—परस्त्री के साथ ऐसी अनीति न करना चाहिए नहीं तो सत्यानाश हो जायेगा। सुख क्षण भर ज्ञात होगा, परन्तु दुख जीवन भर भोगना पडेगा। उस समय कीचक ज्यो-त्यो रुका, परन्तु कामवासना बिना ज्ञान और सयम तथा दृढ ग्लानि के कैसे छूटे! यह काम ही मृगी या उन्माद रोग है। फिर कीचक ने अपनी बहन के पास जाकर अनेक प्रकार से प्रार्थना करके कहा—यदि तू चाहे तो ऐसी अमूल्य सुखदायिनी स्त्री प्राप्त हो जाय। अत म कहते-सुनते उसकी बहन की भी बुद्धि विपरीत हो गई। वह बोली—अच्छा! मैं किसी भाँति तेरे यहाँ सबेरे सैरन्ध्री को भेजूँगी।

सबेरा होते ही विराट की रानी ने दासी सैरन्ध्री से सेनापति कीचक क यहाँ से कोई वस्तु लाने को कहा। सैरन्ध्री ने कीचक की निन्दा करते हुए वहाँ जाने से इनकार किया। रानी बोली—तुझे कीचक के यहाँ जाकर मेरी वस्तु लानी ही पडेगी। विवशतावश सैरन्ध्री रानी की इच्छित वस्तु लाने के लिए गई। वह उन्मत्त कीचक उसे पुन -पुन. अनन्त धन-ऐश्वर्य सुख का लोभ दे करके बोला—अब तू मेरा मनोरथ पूर्ण कर, म तुझे देखकर विह्वल हो रहा हूँ। चतुर चेरी अनेक प्रकार से उसे सतोष देकर बोली—कल में आपकी इच्छा अनुसार सेवा करूँगी, आज मे विकारयुक्त हूँ। जैसे-कैसे कीचक के अत्याचार से बचकर पुन• भीम से निवेदन किया। भीम ने कहा—जाओ कह दो कि अमुक समय एकात कोठरी मे आओ, मैं वहाँ मिलूँगी। यह बात सैरन्ध्री ने जाकर कीचक से कहा। यहाँ दिन रहते ही भीम जाकर नियत शयनालय मे सफेद चादर ओढकर लेट रहा। कीचक को तो शाम होने की फिक्र सवार थी। अँधेरा होते ही झट वह उसी नियत स्थान मे आया। शयनालय मे सैरन्ध्री को ही सोते हुए समझकर फूला न समाया। बस ज्यो ही उससे आलिंगन करना चाहा, त्योंही भीम उसकी छाती पर चढ बैठा। उसने मन मे कहा—हाय! यह वज्र के समान कौन घातक है! सैरन्ध्री है या सैरन्ध्रा! इतने ही मे भीम लातो-मुक्को-घूसो से कीचक की दुर्दशा करने लगा। कीचक ने भी लडना चाहा, परन्तु कामवासना से उसकी वीरता और पौरुषता पहिले ही से नष्ट हो रही थी, इसलिए बराबर लड न सका। भीम ने उसके कानो को उखाड लिया, आँखो की पलके नोच डालीं, पैरो को उलटकर उसके पेट मे घुसा दिया और मुक्कों से उसकी पसुलियो को मरमरा दिया। इस प्रकार दुर्दशा सहित स्त्री के मोह मे बलवान कीचक मारा गया। हाड-चाम, मल-मूत्र की पुतली विषय-वासनारूपी कीचड मे फँसा यह जीव कीचक है। इसे काम-भोग मे अधिक सुखप्रियता है, इसी के कारण यह काम वासनारूप भीम द्वारा शारीरिक और मानसिक अनन्त कष्टो से पीडित होता रहता है। जिसे दुखो से पीछा छुडाना हो वह इस विषय की चाहना को अन्दर-बाहर से निरतर त्याग करे।

जाती है। फिर पहिले शुद्धदशा से रहने पर उसमे जो लोगो की पूज्यभावना थी, सब प्राणप्रिय मानकर सब प्रकार से जो सहायक होते थे, अब वे ही सब विषयावृत्ति देखकर तथा उसे अत्यन्त तुच्छ समझ कर तिरस्कार करते तथा विघातक बन जाते है, तब स्वय निर्वाह ओर भोगो के लिए सर्वदा अटूट परिश्रम का बोझा लादना पडता है॥ ४॥ साधु, तपसी, ब्रह्मचारी, घर का मालिक, बहुतों का पालन करने वाले पूज्य पुरुष इस काम भॅवर मे पड जाय, तो उनकी सब प्रकार अवदशा होती है, साथ ही उनके सहारे जो रहने वाले हैं वे अपने अगुआ को नीचकर्म करते देख या सुनकर बडे दुखी होते हैं। यहॉ तक कि हृदय मे वज्र लगने के समान पीडा होती है। यही नहीं, बल्कि कम समझ वाले अनुयायियो की कल्याणमार्ग से श्रद्धा ओर साहस ही नष्ट हो जाते हैं, इससे उनका सुमार्ग छूट जाता है। सुमार्ग रहित उनकी बडी हानि होती है। यह हानिरूपी पाप काम के कारण होता है। अत: आश्रयी के हानिरूप पाप उसी अगुआ कामी के सिर लगता है, जिसका फल भोगते-भोगते छाती फट जाती है। फिर काम-विषय मे पडने से परोपकार, हितैषिता तथा सत्यता का बर्ताव भूल ही जाता है। जब काम मे तन-मन-धन स्वाहा हो रहा है तब परोपकार कैसे सधे। इस प्रकार काम के कारण ही सुमार्ग का साहस नष्ट हो जाना, परहानि-परपीडनरूपी पाप बन जाना, सत्याचरण छूट जाना, ये सब दुख आ जाते है॥ ५॥

जब काम की अधिक आसक्ति बढ जाती है, तब हर समय उसी की ओर खिचावा तथा इन्द्रिय-मन चचल रहने से बार-बार उनके रोकने का कष्ट होता है और विवेक, विचार, सद्ग्रन्थ, सत्सग आदि जो कि कल्याणमूल हैं उनमे मन नही लगता। साधु-सग से तो बिलकुल अरुचि ही हो जाती है। चौ०—"बेर-बेर खटकत वहि नारी। काम क्रोध मद से मद जारी॥ ज्ञान विचार सुसग न भावै। सद्ग्रन्थन मे मन नहिं जावै"॥ ६॥ फिर शरीरान्त के पश्चात कामासक्ति रूप बीजानुसार वैसे ही इन्द्रिय-अत:करण बनकर वहाँ भी कामवेग प्रबल होता है। फिर वह अत्यन्त कामोद्वेग वश नीति-व्यवहार (मर्यादा) के अन्तर्गत नहीं रह पाता। अपनी-पराई समय-असमय का विचार छूटकर मनमानी बर्तने से उसे अवर्णनीय कष्ट होता है॥ ७॥ इस प्रकार वह मनुष्यदेह मे अनन्त दुख पाता है, पुन: मनुष्य-खानि छोडकर कूकर-शूकर आदि खानियो मे भी कामलोलुप बनकर दौडा करता है, अर्थात कामवासना के कारण ही अन्य खानियो मे जाकर उसे अनाथता का अनन्त कष्ट भोगना पडता है। दुख पाते हुए भी अन्य खानियो मे दुख से छूटने का कोई उपाय बन नहीं पडता। इस प्रकार कामवश मोक्ष की भूमिका रूप मनुष्य देह छूट जाना, अन्य पशु-पक्षी कीट आदि खानियो मे जाना, वहाँ असख्यो प्रकार का कष्ट भोगना, फिर कभी छूटने की युक्ति न पाना, ये सब कष्ट होते हैं। बरसात बूँद, पृथ्वी, समुद्र आदि स्थूल होने से कहीं न कहीं हद है, पर काम सम्बन्धी दुखो की गणना नही हो सकती। यह काम ही स्त्री-पुरुषो के लिए धधकते अगार के समान दुखपूर्ण है, अत: काम-वासना को जीतने की परम आवश्यकता है॥ ८॥

सवैया—२०

आदिहु मध्य औ अन्त मे देखहु जीव भुलाय के काम नचावै।
दुक्ख देखाय के सुक्ख बतावत आय फँसै तब ताहि जलावै॥

चाह क रोग कियो तेहि को निरचाह के दरशन ढूँढि न पावै।
तृष्णा की फाँस औ आशा कि त्रास से जीव दुखाय के साथ रहावै॥ १॥

टीका—यह काम चेष्टा भोग न मिलने पर पूर्व मे देखे और भोगे हुए सुखाध्यास सस्कारो को सम्मुख करके अप्राप्ति की प्रतीति कराकर दुसह दुख देती है, भोग प्राप्त काल मे किसी न किसी प्रकार से त्रुटि प्रतीति कराकर मन के न होने का तथा तृष्णा की दुख-ज्वाला मे जलाती है और भोग के अन्त मे पश्चाताप-दीनता करके पीडित करती है। इस प्रकार आदि, मध्य और अन्त, तीनो काल मे काम भावना जीव की विवेकदृष्टि पर पर्दा डालकर सताती रहती है। यह काम भावना पहिले तो दुख दर्शाती है, जीव के अत.करण मे स्मरण व चचलायुक्त व्याकुलता करा देती है। फिर उस चचलता और व्याकुलतारूप महाकष्ट के हटाने की युक्ति जिस प्रकार पूर्व मे स्पर्श द्वारा शक्ति नाश करके सुख माना हो, उसी प्रकार स्त्री आदि के सयोग से सुख निश्चय कराती हे। जब जीव इस कामना की सम्मति स्वीकार करके काम जाल मे पड जाता है, तब यह पल-पल हृदय मे जीव को आसक्ति रूप अग्नि से जलाती रहती है। इस प्रकार स्वरूप से शुद्ध चेतन को यह काम-वासना ही विविध चाहनारूप रोग लगा देती हे। फिर तो कामना-रहित जो स्वरूपबोधयुक्त स्थायी सुख-शाति हे उसको जीव रच मात्र भी नहीं देख पाता। स्वरूपविवेक तथा नित्यतृप्ति तो दूर रही, उलटे यह काम भोगो की आशा और तृष्णा की फॉसी मे लटकाकर जीव को सदा दुख ही देता रहता है। इस जन्म के काम सस्कार से पुनर्जन्म मे भी वैसे ही खीचकर जन्मातर मे भी कष्ट समूह देता रहता है॥ १॥

नारिन के वह दास करै नित द्रब्य कि ख्वाहिश ताहि परै।
झूँठ को साँच देखाय सदा वह साँच उठाय के लोप करै॥
भय अरु राढि औ राग दिये अरु द्वेष कि आगि लगाय धरै।
दिन राति जलै नहिं दु:ख टलै जेहि के उर मे यह वास करै॥ २॥

टीका—यह काम भावना ही प्रमदाओ की अनुचरता प्रसन्नता से स्वीकार करा देती है और इसी से विशेष द्रव्य की आवश्यकता भी लगती है। देह की सुन्दरता तथा मोहकता महा मिथ्या, असत्य, जड़ और दुखरूप है, उसको सत्य, सुख, पवित्र और सुन्दर भास कराना और उस मिथ्या के लिए मिथ्या भोग-क्रिया, मिथ्या-वचन तथा अनीति ग्रहण करना, इस प्रकार झूठ को सॉच और साँच शुद्धस्वरूप के ठहराव हेतु सत्संग, सद्ग्रन्थ, सत्साधन और यथार्थ हानि-लाभ की परीक्षा-दृष्टि का लोप कर देना, यह सब विपरीतता कामासक्ति से ही होती है। इन्द्रियो की सुखवाली वस्तुये और स्त्री आदि दूसरे की न हो जायं, प्रतिकूल न हो, नष्ट न हो और रोगी-दोषी व दूर न हो इत्यादि भयसताप, यह कामवासना ही जीव पर मढ देती है। भोगो मे कोई विघ्न आ पडने पर झगडा और प्राणी व पदार्थो की अधिक ममता तथा सबसे वैर की अग्नि अन्त:करण मे दहका करके यह कामवासना ही रुलाया करती है। इस प्रकार जिसके हृदय मे कामवासना टिक गई, उसके अत.करण मे दिन-रात प्रतिकूलता की अग्नि धधकती रहती है। अत. दुखविहीन होना हो तो हे नारी-नरो! इस काम-भावना को निर्मूल करो। बस यही दुख-दमन का एकमात्र उपाय है॥ २॥

कवित्त—२१

स्वबश स्वतन्त्र जाय तन मन धन जाय, ज्ञान ध्यान भक्ति जाय परश सुखाये से।
इन्द्रिन पवित्र जाय अन्तर सुथिर जाय, अभय अचित जाय बुद्धि भरमाये से॥
अचार औ बिचार जाय प्रेम नेम छूटि जाय, देह शक्ति नाशि जाय कोमल सोहाये से।
साँच इतबार जाय पर उपकार जाय, सुयश प्रताप जाय ख्वाहिश बनाये से॥ १॥

टीका—विवशतापूर्ण काम की धारा मे बहने से स्वतन्त्रता विदा हो जाती है। तन-मन-धन का उपयोग कामवासना की पूर्ति मे करने से कल्याण मे सहायक शरीर की शक्ति, शुद्ध मन और सम्पत्ति कामाग्नि में नष्ट हो जाते हैं। स्पर्श-सुख की लालसा करते ही गुरुज्ञान, गुरुध्यान, गुरुभक्ति सब उसी तरह लुप्त हो जाते हैं, जैसे प्रबल वायु से बादल। इन्द्रियो की पवित्रता, सुमार्ग चलना, चित्त की स्थिरता, निर्भयता और निश्चिन्तता ये परम प्रकाशरूप दीपक उसी क्षण बुझ जाते हैं, जब स्पर्शसुख की इच्छारूप वायु बुद्धि मे लगकर भ्रम से मन्मथ मे सुखनिश्चय हो जाता है। इन्द्रियो की शुद्धता, अत.करण की पवित्रता और आपस की प्रेम-प्रतीत, नियम-धर्म तभी तक है, जब तक काम-रोग से पीडित नहीं होता। काम को कोमल तथा सुहावन मानकर उसे ग्रहण करते ही शरीर के बल, वीर्य और सामर्थ्य नष्ट हो जाते हैं। इस पर एक दृष्टात इस प्रकार है—

दृष्टांत—एक युवावस्था सम्पन्न स्त्री पानी भर रही थी। उधर से एक घुडसवार निकला, उस स्त्री को देखकर पूछा—यह गॉव कहाँ लगता है? स्त्री बोली—चलने वाले के पाँव मे, बैठने वाले के नितम्ब मे। सवार यह बात सुनते ही मोहित होकर फिर बोला—यदि तू इसके जोडे की और बात कहे तो मैं तुम्हे घोड़ा दे दूँगा। स्त्री बोली—"दोहा—अश्व अश्विनी साथ है, नर-नारी को साथ। बृथा बकत तू पथिक रे, जाउ आपने गाथ॥" इतना सुनते ही वह विशेष मोह को प्राप्त हुआ और उसके यहाँ घोडा बाँधकर चल दिया। जब उसका पति आया तो उसने घोडा बॅधा हुआ देखकर बिना पूछे-जाँचे स्त्री को बहुत मारा। स्त्री रो रही थी। पुरुष कोई कार्य करने को चला गया। इतने मे सामने एक कुम्हार जो कि मिट्टी के बर्तन बना रहा था, उसने आकर स्त्री से हॅसी मे पूछा—"बहुवर क्यो कर मारिसि-बहुवर क्यो कर मारिसि?" स्त्री क्रोधवश उठी और उसी का डण्डा लेकर कुम्हार को पीटते जाय और कहते जाय—"दाऊ यो कर मारिसि, दाऊ यो कर मारिसि" ऐसा कहते हुए उसके गुप्त-प्रकट अगो को खूब तडातड पीट दिया। कुम्हार ने जाकर राजा के यहॉ स्त्री के बारे मे नालिश किया और अपनी चोट दिखाई। राजा ने तुरत स्त्री को पकडवाकर कारागार मे बन्द करवा दिया।

उसकी चौकसी मे एक मियॉजी रक्खे गये। अविवेकी पुरुष का स्वाभाविक स्त्री की ओर खिंचाव होता है। मियाँजी झरोखे से स्त्री को निहारने लगे। उसे देखते ही मियाँजी मोहवश हो सहसा बोल उठे—वाह! कैसी खूबसूरत परी औरत है। स्त्री बोली—मियॉजी! मेरी यहाँ क्या खूबसूरती है, मेरी खूबसूरती तो मेरे घर मे है, वह आप देखे तो क्या कहना! मियॉजी मोहवश कहने लगे, कोई उपाय हो तो मर्जी करके मुझ गर्जी को अपने घर की खूबसूरती दिखाइए। स्त्री बोली—मै इस घेरे मे बन्द हूँ, क्या करूँ! आप भी मुझे अच्छे लगते है, आपका मनोरथ मै तुरत पूर्ण करती। मियॉजी बोले—कोई उपाय है? स्त्री बोली—हॉ! आप

मेरी पोशाक पहनकर इसमे थोडी देर बैठे रहिये। मै आपकी पोशाक पहनकर घर की खूबसूरती लाकर दिखा दूँगी। मियॉजी तुरत स्त्री की सब पोशाक पहन कर जेल मे बैठ गये। स्त्री उनकी पोशाक पहनकर घर चली आई। मियाँजी राह ही देखते रहे। रात बीत गयी। दूसरे दिन दस बजे न्याय करने के लिए स्त्री निकाली गई तो उस की जगह मियाँजी मिले। अव तो मियाँजी लोगो के बीच मे तमाशा हो गये और बहुत घबडाये, मारे लज्जा के क्या करे। न जमीन मे धँस मिले, न ऊपर उड मिले। हाय! राजा के पूछने पर इधर-उधर करने लगे। जब मार पडने लगी तब सच्ची-सच्ची बात कह सुनाई। पुन: स्त्री बुलाई गई। स्त्री से राजा ने पूछा—सच्ची-सच्ची घटना कह। स्त्री सब हाल कहती हुई बोली—सरकार! मुझे माफी दे तो और कुछ कहूँ।

राजा के माफी स्वीकार करने पर वह बोली—मुझे पाँच अहमक मिले सो बताती हूँ। प्रथम सवार मिला जो कि दूसरे की स्त्री के साथ वृथा बाते करके घोडा हार गया। दूसरा मेरा पति जो कि बिना जानें-बूझे मुझे पीट डाला। तीसरा ये कुम्हार जो कि पूछता था "क्यो कर मारिसि-क्यो कर मारिसि"। हुजूर! हम कहाँ-कहाँ मारना बतावे! इसलिए मैंने इसे डण्डो से मारकर बता दिया। चौथे अहमक मियाँजी मिले जो कि मेरी तुच्छ खूबसूरती पर दिवाने हो गये और मेरी झूठी बात सुनकर राजी हो गये। कहीं एक के दो रूप होते हैं! क्या देह का रूप भी कही अन्य जगह रखा होता है! पर वह मोह ही भला कैसा जो बुद्धि ठिकाने रक्खे! मोहवश तो मियाँजी स्त्री बन गये, मैं घर को चली गई। पाँचवे को कहते सकुचती हूँ, फिर भी कहना पडता है कि जो न्यायगद्दी पर बैठकर बिना कुछ पूछे-जाँचे तुरत जेल मे बन्द कर दे तो वह भी उन्ही चारो का भाई पाँचवाँ अहमक है। इन सब अहमको का साथ करके मे भी अहमक बन रही हूँ। राजा ने उक्त बाते सुनकर स्त्री को छोड दिया।

इस दृष्टात से यही लेना है कि स्त्री के केवल एक छिन रूप मे मोहित होने से मियाँ की कैसी लज्जाजनक दशा हुई, तो जो बेचारे निरतर उससे सुख चाहते हैं, उनकी दशा वे ही जाने या परीक्षक दूर से देखें। मोहक जाल ही ऐसा है कि उधर आकर्षित होकर बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। आप सोचे, जब बुद्धि ही ठिकाने नहीं तो जो न उत्पात खडा हो जाय वह थोडा ही है। पुनः नाना रोगो के शिकार बनना पड़ता है। इस काम के चक्कर मे छल-कपट और विश्वासघात करते रहने से उसकी सत्यता, विश्वासपात्रता, परोपकारिता और श्रेष्ठ यश-प्रताप सब उड जाते हैं। मानो बन्दूक की आवाज से सब पक्षी उड गये। इसलिए आपत्ति न चाहने वाले प्राणियो को चाहिये कि मन्मथ को निर्मूल करके ब्रह्मचर्य धारण करें॥ १॥

ज्यो ज्यो पर्श करै त्यो त्यो कष्ट सिर, मानि मानि सुख तहाँ जीव भरमावते।
यादि दुख दूरि हित यादि करै बार-बार, पालि पालि शत्रु काम शत्रु को नशावते॥
प्रबल करत जाय ताहि बशि बुद्धि हरि, बल बीर्य नाश करि सोच भय ध्यावते।
बिवशहि देह धरि बिवशहिं जात आयु, स्ववश की भूमि पाय मिथ्या क्यो गवाँवते॥ २॥

टीका—जैसे-जैसे काम-भूख मेटने के लिए स्पर्शभोग करते हैं, तैसे-तैसे वह प्रचण्ड होकर अधिक-अधिक दुखाती है। परन्तु अज्ञान के वश बार-बार दुख को ही सुख निश्चय करके उसी चेष्टा और क्रिया मे नर-नारी रच-पच कर भटकते रहते हैं। भोगो के स्मरण होने

पर चित्त मे चचलता उत्पन्न हो जाती है, वही दुख है। उस स्मरण दुख को मिटाने के लिए बार-बार देखे-सुने-भोगे हुए विषयो का ही पुनः स्मरण करते हैं। यह तो बात ऐसी हुई कि जैसे कोई अपने वैरी की सर्वांग-सर्वदा रक्षा और वृद्धि की क्रिया करते ही रहे और मन से माने कि हम शत्रु का विनाश करते हैं। जिससे कामरिपु की वृद्धि होती है उस घट सौंदर्य का स्वयं आठोयाम स्मरण कर-करके स्मरणरूप कामरिपु का नाश करना चाहते हैं, इससे तो स्मरण-दुख की वृद्धि होती है। इस प्रकार कामवासना का स्मरण करते-करते जब स्वयं झूला की तरह उसमे प्रबल वेग दे देता है, तब वासना प्रचण्ड होकर पहिले तो बुद्धि, विचार, पवित्रनिश्चय ही का हरण कर लेती है। फिर क्या! कुठौर मे मनुष्य गिर जाता है। तब स्वय शरीर का बल, पुरुषार्थ, वीर्य, तेज हत करके निर्बल, रोगी, दोषी हो जाता है। स्वार्थ-परमार्थ के पुरुषार्थहीन हो शरीर निर्वाह और उपभोग के लिए हर प्रकार की चिन्ता और भयसमूहो का उसे ध्यान जम जाता है। अनन्त चिन्ताये और भय उसे प्रेरित करते रहते हैं, वे किसी प्रकार भुलाये नही भूलते। भूतकाल मे कामासक्तियुक्त विवश होकर शरीर धारण किया तथा अब फिर कामोपभोग मे फँस परवश होकर अमूल्य समय को बरबाद कर रहा है। अहो! जिस मनुष्य-देह मे चेतन-जड, द्रष्टा-दृश्य, सत्यासत्य का विवेक होता है और सत्यसाधन ग्रहण करके सत्य स्वरूप के भाव युक्त स्ववश-स्वतन्त्र रह सकते हैं, उस मनुष्य-देह को हे प्रिय बन्धु! क्षणिक कामादि विकारो मे क्यो खो रहे हो! अपनी भूलजनित करनी का कुछ विचार तो करो॥ २॥

जहँ तक दुख देखौ सबही को मूल भोग, दुख से डरत नित भोग प्रिय ध्यावते।
समुझि परत नाहिं बात यह थोरी असि, बिबिधि उपाय करि दुखहीं मिटावते॥
बिफलहिं होत जाय मानत फलहिं ताहिं, सकल जहान जीव ओर नहिं पावते।
राखे नर ध्येय याहि वार पार किहे देय, याहि हेत गर्ब गहि फूलि पचकावते॥ ३॥

टीका—देह के शूल अध-बधिरत्व नाना व्याधि-व्यथा और मन के नाना चिंता, शोक तथा दूसरे की अधीनता इत्यादि समग्र दुखो की जड विषयासक्ति ही है। देखो! ये जीव दुख से तो डरते हैं, थोडा भी दुख लेना नहीं चाहते और दुखमूलक विषय-सुखो को छाती से लगाये बैठे हैं। रात-दिन उसी का ध्यान तथा उसी के लिए कर्तव्य एव चतुराई करते हैं। तो भला, जड सीचे और फल-फूल-पर्ण न हो, यह कैसे! अहो, थोडी सी बात भी समझने मे नहीं आती कि जिन भोगो और भोग सम्बन्धी भावनाओ से हम दुखी हैं, उन्ही को फिर अनेक युक्तियो द्वारा ग्रहण करके दुख को निर्मूल करना चाहते हैं, तो दुख छूटने वाली विषय-क्रिया की जितनी युक्तियाँ जीव करते है वे सब उलटे तृष्णा हेतुक होने से निष्फल हो जाती है। सुखो से अतृप्ति का अनुभव करते हुए भी अज्ञानवश उन्हीं भोग उपायो को सार्थक समझते हैं। यही कारण है कि सर्व नर-नारी उलटे उपायो से दुखो का अत नहीं कर पाते, पर ध्येय तो मनुष्यो का यही है कि "वार-पार किहे देय" अर्थात हम इन विषयो को भोगकर सब सुख लूटे लेते हैं, अपने दुखो का अन्त किये देते है। ऐसी उलटी धारणा मे दुख तो अनन्तगुना बढता जा रहा है, किन्तु बुद्धि भ्रष्टता के कारण मायिक वस्तुओ का प्रमाद धारण कर छिन-छिन हर्ष-शोक मे फूलते और पचकते रहते हैं। इस प्रकार मिथ्या अहकार के वश सब जीव दुखी हो रहे हैं॥ ३॥

सवैया—*मै धनवन्त कुलीन बली अति, नारि पियारि मिली अति नीकी।*
हौं चतुरा सब विद्या पढे हम, मोहि समान अहे को सुखी की॥
रोगे घिरे छिन मे दुख दारिद, हाय कहैं दुख ही दुख लीकी।
गर्व अहै सब ही दुख की जर, फूलि पचै क्षण ही क्षण जी की॥

शब्दहूँ में सुख नाहीं शब्द कई दुख देत, पर्शहूँ मे सुख नाहीं यिन माने जान जो।
रूपहूँ मे सुख नाहीं लखे प्रतिकूल अरि, रसहूँ मे सुख नाहीं तैसहीं लहान जो॥
गधहूँ दुर्गंध दुख सहन अभ्यास बिन, यहि विधि देखे खोज सुख न लहान जो।
समुझ बिपरीति मान आसक्ति अभ्यास जान, योही मानि मानि ताहि बिना ही दुखान जो॥ ४॥

टीका—स्त्री-पुरुष और पशु-पक्षी के माने गये भॉति-भॉति मधुर शब्दों मे सुख नहीं है। यदि शब्द विषय ही सुखरूप हो तो इन शब्दो से भी सुख होना चाहिए, जैसे निरादर, अहित, लज्जा, मानभग करने वाले, गाली आदि तुच्छ शब्द तथा प्रवल-प्रचण्ड वायु, बडे जोरो से तडपने वाली बिजली, गोला, बन्दूक और कोई भयानक पशु सिंह, भालू, हाथी, साँड, भैंसा इत्यादि की गर्जनायुक्त कठोर शब्दो से भी सुख होना चाहिए, सो होता तो नहीं, वल्कि उलटे उनसे दुख ही होता है, इससे जाना जाता है कि शब्द विषय सुखरूप नहीं है। कोमल-कोमल मखमली बिछौना, तकिया-तोषक और स्त्रियो के माने गये कोमल अगो के स्पर्श मे भी सुख या आनन्द का लेश नही है, क्योकि एकमात्र स्पर्श विषय मे सुख होता तो इन स्पर्शों से भी सुख होना चाहिए, जैसे बहुत ही गर्म जल से या शीतकाल मे अति शीतल जल या बर्फ आदि से या खजुहाकीडा या सर्प-बीछी के स्पर्श से या देह पर मक्खी, चींटी आदि वैठ जाने से त्वचा मे स्पर्श होते ही दुख होने लगता है। इससे जाना जाता हे कि जिस स्पर्श की आदत या सुख मानन्दी जीव को नहीं है, उसके स्पर्श से कभी सुख प्रतीत नहीं होता। इससे स्पर्श विषय मे सुख नहीं तथा भॉति-भॉति के पशु-पक्षियो तथा बालक, नवयुवक, मनमोहक सौंदर्यवती स्त्री आदि की सुन्दरता मे भी सुख नहीं है, क्योकि अपना जिसमे शत्रुभाव दृढ है उसके शरीर की सुन्दरता देखने पर भी सुख नही होता। यदि रूप-सोदर्य मे सुख होता तो विपरीत माने गये शत्रु तथा वाघ, सर्प, पक्षी आदि मे क्या रूप नहीं हे अतएव रूप मे भी सुख नहीं है, और भॉति-भॉति के खट्टे, मीठे, चर्फरे व्यजनो मे भी सुख नहीं है, क्योकि किसी को खट्टी चीज प्रिय है तो किसी को मिष्ठ चीज प्रिय है। इसलिए रस विषय भी सुखरूप नहीं है। गन्ध विषय मे भी सुख नही है, इत्र आदि की सुगन्ध किसी-किसी को व्याकुल करके घबरा देती है, सहन और आदत के बिना वही गन्ध परम सुखदायक मानी हुई दूसरे को अत्यन्त दुखदायक हो जाती है। इससे गन्ध विषय मे भी सुख नहीं है। इस प्रकार पाँचो विषयो का शोध लगाकर देखा जाता है तो वे सुखरूप नही प्रतीत होते, क्योकि जो एक को अनुकूल तथा सुखमय तो दूसरे को वही विषय प्रतिकूल और दुखमय। यहॉ तक कि जिसमे जिसकी सुख भावना है, उसी पदार्थ से जब इन्द्रियाँ थक जाती हें तव उससे दुख पाकर हट जाया जाता है। जैसे जो स्त्री-पुरुष एक दूसरे से मिलने के लिए पहिले जान देते थे, वही अब शक्तिक्षीणता से हटने के लिए उतावले हो रहे है। इस प्रकार वे ही विषयभोग एक क्षण मे प्रिय तो दूसरे समय मे अप्रिय हो जाते हे। इससे स्पष्ट हो गया कि विषयभोग कभी सुखरूप नही है। पर उलटी समझ होने के कारण उलटा ही मान लिया गया है। उलटे निश्चय हो जाने मे आदत तथा

आमक्ति ही मुख्य कारण है। भूलवश आसक्ति आर आदत बना लेने से दुखपूर्ण विषयो को सुखरूप निश्चय कर-करके न मिलने पर विरह-वियोग मे सब जीव महान दुखी रहते हैं, यह सब दुखबोझ अज्ञान के कारण ही जीव लादकर दुखी हो रहा है ॥ ४ ॥

देखने मे सुख नाहीं रूप सब मिले छूटे, ख्वाहिश मे बाँधि बाँधि करै उदवेग है।
हरि नाश प्रतिकूल ध्येय को पलटि देय, जीव को भुलाय उर लावै भ्रम खेद है॥
नेत्रन को दृश्य जोन भास मात्र आश ताहि, तृप्ति को न हेतु सोइ राग द्वेष छेद है।
याते आपु समुझि निराले रहौ सब छिन, गुरुज्ञान सनमुख राखौ उर तेग है॥ ५ ॥

टीका—नर-नारी की देहो तथा महल-मकान आदि की सुन्दरता को देखने मे सुख नही है, क्योकि सर्व विजाति वस्तुये मिलती और छूटती रहती हे। मिलने मे तृष्णा और विछुडने मे मोह से खिंचाव होकर दुख हुआ करता है। फिर सुन्दर माने गये प्राणी ओर पदार्थ अपनी ममता-रस्सी मे बॉधकर बार-बार मिलने के लिए उद्वेग उठा-उठाकर जीव को व्याकुल करते रहते है। मानी हुई स्त्री आदि सुन्दर वस्तुए अज्ञानियो को अनुकूल होने से कोई न कोई उन्हे चुरा लेता है। यथा रूपवती सीता को रावण हर ले गया था। वस्तुओ की छीना-छोरी लगी रहती या वह नष्ट हो जाती है। मनुष्य असन्तुष्ट होकर दूसरे के हो जाते हैं। ममता सच्चे ध्येय एव यथार्थ निश्चय को पलटकर तथा स्वस्वरूप पर पर्दा डालकर अनन्तो चिन्ता, शोक, मोह, विरह वियोगरूप भट्ठी मे जलाती रहती हे। अत जहाँ तक नेत्रो के सम्मुख दृश्यमान प्रपच है, उसमे सुख समझना आशा ही आशा है। उससे कभी काम-भावना की सन्तुष्टि होकर तृप्ति नहीं हो सकती। सुदरता का मोह राग-द्वेष दृढ कर हृदय को पीडा दिया करता हे। अतएव अपने को सम्पूर्ण दृश्यो से न्यारा समझकर हर हमेशा यत्न सहित सबसे पृथक ही रहना चाहिए। रूपासक्ति को हटाने के लिए गुरुबोधरूप तलवार हृदय मे धारण कर निरतर गुरुरहस्यो का ध्यान, चिंतन और मोहक वस्तुओ का सर्वदा अभाव रखना चाहिए जिससे उनकी सुखप्रियता का लेश हृदय मे न रह जावे ॥ ५ ॥

सुनने मे सुख न असार शब्द जोन होत, निरणय न सारासार जग बन्ध सोत हे।
बुद्धि भरमाय करि जीवन अकाज करै, क्रूरता बढाय अघ तापहिं रचोत है॥
मद्य मास भक्षिबे को मनहिं के रक्षिबे को, इन्द्रिन के वशीभूत निजहीं दुखोत है।
बिविध अलाप भ्रम शब्दहूँ कलाप जहँ, सुनत प्रपच जीव भरम भरोत है॥ ६ ॥

टीका—शब्द विषय मे सुख नही है। जिससे जीव के बधन का निरुवार न हो, केवल ऐसे ही वर्णात्मक-ध्वन्यात्मक भ्रम और विपरीत समझ कर देने वाले असार शब्दो को बन्धनो का स्रोत जानिए। जैसे स्रोत से जल निकला करता है वैसे ही भ्रमाने वाले शब्दो से बन्धन बन कर दुख उत्पन्न होते रहते है। कुशब्द सुनने से बुद्धि भ्रमित होकर विषयासक्ति पुष्ट हो जाती है, फिर परमार्थ मार्ग दूर होकर जीव का अकाज ही होता है। कुशब्दकृत दुर्बुद्धि से अत्यत कठोरतापूर्वक परधन तथा परनारी-हरण, हिसा आदि अनत पाप करके अब और आगे के लिए त्रिविध ताप की भट्ठी रच लेता है। अज्ञानवश ही मदिरा, मास, आदि अनर्थकारी वस्तुओ को योग्य[1] प्रतिपादित करके उन्हे ग्रहण करता है। जो-जो भावनायें मन मे उठ पडती हैं उन्हीं मे

१　सवैया—"राग उदे जग अध भयो सब सहजहि लोगन लाज गँवाई।
सीख विना सब सीखत हैं विषयान के सेवन की चतुराई॥

दीन होकर विषय-मनोरथो को पूरा करने मे रचा-पचा करता ह। यहाँ तक कि पाँचो इन्द्रियो के वश होकर क्या-क्या अनर्थ नही करता! अनीति वर्ताव के कारण इस लोक ही मे यमदण्डरूप जेल, सजा, मार, काट, दुसह दुख भोगता हे, परलोक तो विगडता ही है। काम, क्रोध, लोभ, मोह को वढाने वाले, जीव को भुला देने वाले आलाप, राग-रागिनी और भ्रमाने वाले अनुमानजन्य, कल्पित वार्ता-असत्य शव्दो को सुनते ही जीव के अत करण मे नाना भ्रम-भास खडे हो जाते हें, अतः कुशव्द सुनने से घृणा होना चाहिए।

दृष्टांत—एक नगर मे कई दिनो से आल्हा हो रहा था। वहाँ नगर के वहुत मे मनुष्य इकट्ठे होते थे। आल्हा मे मारकाट और रक्तपात का विशेप वर्णन है। सुनते-सुनते सवका अत.करण मलिन हो रहा था। एक वार उसमे निकला कि "जिसका वैरी सनमुख जीवै तेहिके जीवे को धिक्कार।" यह वात सुनते ही एक मनुष्य को खून सवार हो गया। जिसको वह वेरी मानता था वह सामने वैठा था। एक भरी वन्दूक रक्खे हुए गाँव के मुखिया वैठे आल्हा सुन रहे थे, उसने वही वन्दूक उठाकर अपने वेरी को दाग दिया। उसके वैरी मुखिया ही थे। मुखिया के प्राण विदा हो गये। मारने वाला भगा। लोगो ने उसे पकड कर सरकार के दरवार मे दाखिल किया। वह जेल मे वन्द किया गया। न्याय होने पर उसे फाँसी पर चढना पडा। ऐसे कुशव्द सुनने से भूला चोर कटारी[१] वाली दशा हो जाती है। सद्ग्रन्थ, सत्सग, सज्जन-समागम से वासनाये दवी रहती हे। यदि कुसग करे और वार-वार कुशव्द सुने तो मलिन वासनाये चमक उठती हे। वे वासनाये धीरे-धीरे ऐसे गड्ढे मे डाल देती हैं कि स्वार्थ-परमार्थ दोनों मटियामेट हो जाते हें, इससे प्रापचिक शव्दो का त्याग करना चाहिए॥ ६॥

सूँघने मे सुख कहाँ ख्वाहिश प्रवल होत, इत उत जाय मन ताहि विन चैन ना।
नित्य तृप्त निष्फिक्र निरविघ्न निरचाह, हानि लाभ द्वन्द्व तजि मनहि न जहँ ना॥
ऐसा हे स्वरूप जाहि दुख को न दर्श जहाँ, करि शर्म देखि लीजै स्वत को रहना।
सत्य हे स्वरूप निज सत्य ही को वोध जव, सत्य स्वच्छ ध्येय पालि जाल न गयडना॥ ७॥

टीका—विविध अनुकूल गन्ध मे भी सुख नहीं है। माने गये सुगन्धित द्रव्य सूँघने से आदत वन कर कामना प्रचण्ड हो जाती हे। कामना प्रचण्ड होने पर इधर-उधर मन दोडा करता

तापर काव्य रचे रस भातिन काह कहैं तिनकी निठुराई।
अध असूझन की अँखियान मे झोकत हैं रज राम दोहाई॥"

दोहा—जैसे ऊँघत सेज लहि, रोगी कुपथ वहार। तिमि प्रपच के वैन हें, सुनत होत सो ख्वार॥

१ एक वडे सेठ के घर में एक चोर चोरी करने गया। एकाएकी सेठजी जाग पडे ओर चोर को पकडकर अपनी स्त्री से सेठ ने कहा कि दौड कर नगर मे हल्ला मचा दे। सेठानी घर के वाहर जाने लगी, इतने मे उसे याद हो गया कि चोरो के पास विशेष करके कटारी या पैनी छूरी होती है। यह वात सेठ को स्मरण दिलाने के लिए सेठानी शीघ्र उलटकर वोली—सेठजी! सजग रहना, चोरो की कमर मे प्राय कटारी होती हे। चोर के पास कटारी तो थी पर वह अत्यन्त भय मे भूल गया था। सेठानी का शव्द सुनते ही उसे अपनी कटारी का स्मरण हो गया, वस शीघ्र ही सेठ को कटारी भोंककर भाग गया। इसी प्रकार कुसग और कुशव्द से पूर्व भूली हुई कुवासनाये जाग्रत होकर जीव को विषय मे प्रवृत्त कराती हैं, इसलिए सयम मे रहना चाहिए।

है। अभ्यस्त विषय मिले बिना आदती मनुष्य को विश्राम का नाम कहाँ! मिलने पर भी तो उसकी तृष्णा बढ जाती है। इस प्रकार जीव जान-बूझकर गन्धादि पाँचो विषयो का भोक्ता बनकर असह दुखो को बुलाता है। इन दुखो की निवृत्ति के लिए स्वय स्वरूप का स्मरण करना चाहिए। जो सम्पूर्ण विषय-वासनाओ से पृथक नित्य तृप्त है, जो सम्पूर्ण हानि-लाभ की चिन्ता से रहित निश्चिंत और निःशोक है, जिसमे कोई भी विघ्न-बाधा नही है, जो सर्वदा जगत-पदार्थों की चाहना से रहित है, फिर जिसमे हानि-लाभ, बनने-बिगडने की द्वन्द्वज-उपाधि नहीं है, जिसके शुद्ध स्वरूप मे खानि-बानी, जगत की मानन्दी व सकल्प के झगडे-रगडे नही है, जिसका स्वरूप शुद्ध, अखण्ड, एकरस है, जिसमे गध मात्र भी दुख नहीं है, ऐसा शुद्ध स्वय प्रकाशी चेतन जीव है। आप स्वत.-स्वतन्त्र स्वरूप मे ठहरने का अभ्यास इसी जीवन मे दृढ करके प्रत्यक्ष अनुभव कर लीजिए। इस स्थिति से बढकर और कोई सुख नहीं है। इसकी युक्ति यही है कि जैसा अपना स्वरूप सत्य, सबसे निराला और स्वच्छ है, वैसा ही बोध प्राप्त कर और वही सत्य का ध्येय पुष्ट कर सत्यपद का जीवन पर्यन्त सद्रहस्य युक्त पालन करे। दिखावा तथा झुठाई न करे तभी अपने साक्षी स्वरूप मे स्थिति हो सकती है॥ ७॥

त्यागि मनमोदक बिषय सुख बातन को, कबहूँ न यादि करो भूलि ताहि मन मे।
जौन जौन यादि होत सुख सरसाय अति, ताहि को कुठाँव घाव जानि दुख घन मे॥
याहि हेत सजग सदा ही रहो एकरस, सुख परलोभन फँसावै जाय दुख मे।
बर्तमान देत दुख मतिहिं को बाँधि लेत, कबहूँ न पूरा होय भोगत कुकष्ट में॥ ८॥

टीका—हे जीव! मन के लड्डू के समान इन विषय-सुखो को तुम त्याग दो। अरे! बातो के पकवान समान इनमे कुछ सुख-शाति नही है। देखो! भूलकर भी इन विषय सुखो का मत स्मरण करो। जहाँ-जहाँ जिन-जिन विषय-भोगो की याद मे तुम्हे सुख जान पडता है, उसे कण्ठ, पेड़ू, शिश्नादिक कोमल स्थान के घाव की तरह अत्यन्त दुखदायी समझो। अतएव एकरस पारख दृष्टि धारण कर सदा सचेत रहो। अन्यथा मन सुख का प्रलोभन देकर तुम्हे दुख के भण्डार मे डाल देगा। जगत विषयो का स्मरण वर्तमान ही मे दुख देता है। वह बुद्धि मे भ्रम उत्पन्न कर मन को खींच लेता है, फिर तो जगत मे खिचा हुआ मनुष्य अनन्त दुर्दशाओ को झेलता है॥ ८॥

छन्द—२२

है छिपी सुख भावना दिल में वही जो डाकिनी।
दिन रैन चूसै रक्त तन भ्रम भीर संशय शासिनी॥
असमंजसै सब वह रचै, मन मोद बंधन फाँसिनी।
दे बदलि ध्येय यथार्थ जिय प्रिय कथत कैसी घातिनी॥ १॥

टीका—अत.करण के भीतर छिपी हुई यह भोग-सुख की भावना ही राक्षसी है। आशा मात्र सुखो की भावना उठा-उठाकर यह सदा अनमिलता से अत करण जलाती हुई दिन-रात मनुष्यो का रक्त शोषण करती रहती है। वासना क्षण-क्षण भुलावा देकर नाना चिंताओं के वासनासमूह मे डालकर जीव के ऊपर शासन करती रहती है। जगत-निन्दित खोटी क्रिया कराने वाले भोगो के पीछे भय, अपयश, निन्दा, परिश्रम, तृष्णा तथा जन्म भर के लिए

पश्चाताप की प्राप्ति होती रहती हे। विषयासक्ति के कारण परमार्थ से विचलित होकर अन्य का अन्य ही करने लगता है, जिसका परिणाम लडको के हाथो के गेद के समान एक के हाथ से दूसरे के हाथ मे, दूसरे से तीसरे के, इस प्रकार उनकी कहीं स्थिति नहीं होती। ऐसी अवदशा यह भावना ही जीव की सर्वदा से कर रही है। भोगो मे प्रवृत्त होने से सब सकट हे। भोगो मे सुखलाभ निश्चय रहने से उनके वियोग मे वारम्वार स्मरणो का कष्ट सहन करना पडता है। इस प्रकार यह वासना ही अनेकों असमजस रचती रहती हे। यह जगत की सुखभावना ही यथार्थ सिद्धात लक्ष्य, शुद्ध गति, मति को पलटा देती हे। देखो। विचारो। यह जिय-प्रिय बनी हुई वासना जीव का केसा घात कर रही हे। नाना वन्धनो मे फँसाते हुए भी यह अपने को सुखदायिनी ही निश्चय करा रही हे॥ १॥

हे जगत सब दिल मे भरा वहि दृश्य होते सामने।
गुरु ज्ञान लै तजि ताहि को जो भास कल्पित भावने॥
तजि याहि नहिं कहुँ दुख कोई देखा पृथक रहि तासने।
जो है हितैषी कार्य सोऊ सजग विन भटकावने॥ २॥

टीका—बन्धनरूप जगत अत करण मे ही ठहरा हुआ है, जो कि जीव के सामने सकल्परूप मे उठता रहता है। गुरु से पारखदृष्टि लेकर उसे हटाते रहो, वस यही प्रधान कर्तव्य है। काम-क्रोध आदि छोड कर बाहर कोई दुखदायक नहीं हे, न कहीं दुख ही है। इन भावनाओ को हटाकर स्वरूपस्थिति मे अनुभव कर लिया गया हे कि ये भावनाये ही दुखपूर्ण हैं, अत. इनका त्याग ही सुख हे। देखो। जो दया, शील, शिक्षा, शुद्ध व्यवहार आदि कर्तव्य हितकारी ह वे ही विचारपूर्वक ग्रहण किये विना विषम माता मे अनर्थकारी हो जाते हें। कहा भी हे—"भानु कमल कुल पोपनिहारा। विनु जल जारि करे तेहि छारा"॥ रा० ॥ इस प्रकार सावधानी बिना हितेषी आचरण भी अहितकर हो जाते हे। इसलिए अशुद्ध सकल्पो से सावधान रहकर उन्हे त्यागते ही रहना चाहिए, साथ ही शुद्ध भावनाओ-शुद्ध व्यवहारो से भी सावधान होकर गुरुपद साधक औषधवत शुद्ध आचरण को लेकर स्वरूपस्थिति लीक पर चलते रहना चाहिए॥ २॥

फिक्र दुख को छोड़ि नहिं फिरि धार मे वहि जावने।
प्राप्ति फल तजि आश कर नहिं खाय तृप्ति रहावने॥
जेहि जेहि क्रिया स्मर्ण वचनन फिक्र ना जावै मने।
तेहि भूलि ना ठानौ कभी थिति आप आपै तव वने॥ ३॥

टीका—स्वरूपस्थिति से दूर कराकर जगत-बन्धनो की ओर ले जाने वाले शुभाशुभ कर्तव्य तथा उनकी फिक्र, चिंता, स्मरण के समान और दुख नहीं है। व्यवहार की फिक्र ही जीव को दुख देती है। इस दुख से निरन्तर सावधान रहे विना कोई भी हो वह अवश्य जगत मे चक्कर लगाया करेगा। नि सन्देह वह भवधार मे वह जायेगा। जैसे किसी को अमृतफल या अमृत भोजन प्राप्त हो, उसे वह ग्रहण करना छोडकर आगे की आशा करके उसे त्याग दे तो हाथ का अमृतफल भी गया और आगे भी कुछ न मिला। इसी प्रकार जिसे स्वरूपज्ञान रूप अमृतफल और उसके ठहराव के लिए विवेक वैराग्य, सद्गुरुउपासना आदि रहस्य सत्सग

से प्राप्त हो गये, परंतु इन्हे छोडकर जो अविद्याकृत स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्यादि या विद्याकृत भ्रमपूर्ण नाना वाणीजाल मे उलझ गया स्वरूप ठहराव तो उसके हाथ से गया ही, माया विघ्नमय होने से वह भी छूट गयी। इसलिए कहा है—"जो पारख तजि और लोभाना। निश्चय यम के हाथ बिकाना॥ तजहु आश भ्रमजाल की बानी। लहहु विलास परख पद जानी"॥ पं०॥ इससे हे मन! जिन कार्यों, भावनाओ, सगो और वचनो से जगत की फिक्र, जगत की वासनाओ का नाश न हो, उन्हे भूलकर भी मत धारण करो। तब निश्चय है कि अपनी स्वरूपस्थिति एकरस बनी रहेगी। जिनका परिणाम निवृत्ति, नैराश्य, निष्काम, निर्द्वन्द्व हो उन रहस्यो को फिक्र सहित धारण करो और जिनका परिणाम बंधन, आशा, चिंता, शोक, मोह हो उन कर्तव्यो का त्याग करो। बस तुम स्थितरूप ही निर्विकार रह जाओगे॥ ३॥

शब्द—२३

तन मन बचन नारि जग त्यागी॥ टेक॥

बन्धन दायक सब भयनायक, अजर श्रृंखला भागी॥ १॥
धोय आपदा सब जनमन की, गयो सत्य फल पागी॥ २॥
सोइ धरि देह ज्ञान की मूरति, संशय भरम न लागी॥ ३॥
जो जस जौन तौन तस दरशै, तैसहिं जानि करत सोइ भागी॥ ४॥
परम उदार सरल मति उनकै, भूलि न जाँय त्याग धन जागी॥ ५॥

टीका—स्वरूपबोध मे स्थित होकर मन, वचन, कर्म से स्त्री और स्त्री-सुख को जिसने छोड दिया है, उसने सम्पूर्ण जगत-बन्धनो को त्याग दिया॥ टेक॥ पाँचो विषयो के भोग मे प्रेरणा करके बधन देने वाली, आसक्ति बढाकर सब प्रकार से भय उत्पन्न करने मे एक प्रमदा ही मुख्य कारण है। ऐसी स्त्री का जिन्होने अंदर-बाहर से त्याग किया है उनकी अनादिकाल की कठिन बेडी कट गई। वे जन्म-मरण से रहित हुए॥ १॥ वे अनन्त योनियो की अनत काल की अनत विपदाये धोकर साफ कर दिये और वे ही पुरुष अपने जीवन मे सत्य एकरस रहनहार की सतत स्थिति मे पगे हुए है। सत्य का फल अभय, अचाह, निर्द्वन्द्व, निर्भार, निःशोक, निष्छल, निर्मोह पद उन्ही को मिला जो कि बाम विषय के त्यागी है॥ २॥ वैराग्यवान देह धारण करते हुए भी देह से भिन्न प्रत्यक्ष ज्ञान की मूर्ति हैं। उन्हे किसी प्रकार का सदेह और गाफिली नही सताती॥ ३॥ उनकी विपरीत भावना नष्ट हो जाती है। चेतनसृष्टि के मनोमय पेच और जडसृष्टि के गुण-धर्म जहाँ जैसे हैं वहाँ वैसे ही हथेली की रेखा के समान उन्हे स्पष्ट दिखाई देते हैं। वे जिस प्रकार अपना हित समझ पडता है उसी प्रकार ठीक-ठीक आचरण करके इसी जीवन मे बडभागी हो जाते हैं॥ ४॥ सबसे श्रेष्ठ, उदार और सरल बुद्धि उन्हीं की ही जाननी चाहिये जो स्त्री के त्यागी हैं। वे ही सावधान पुरुष अपने त्याग धन को कभी भूल नहीं सकते। जिन्हे युवती के क्षणिक सुख के त्याग का अनत लाभ देखने मे आ गया है वे ही भयानक स्वप्न से जाग गये हैं॥ ५॥

"धीरजवत बली अति कोवा। सुमुखि कटाक्ष न मोहै जोवा"॥ बि०॥
"नारि नयन शर जाहि न लागा। महा घोर निशि सोवत जागा"॥ रा०॥

शब्द—२४

बिमल मति उनकै सरल स्वभाव॥ टेक॥

काम कला को बन्धन जानैं, राखि स्ववश तेहि भल पहिचानै।
घातक जानि ताहि को अपना, सजग रहै सब ठाँव॥ १॥
ध्वस करैं सब गति मति चावै, जो तेहि विबश जानि दर्शावै।
ममता हर्ष लखै तेहि छल को, भूलि न कवहूँ जाव॥ २॥
मन बच करम न साधक वहिके, अत.करण अभावहिं रखिके।
ज्ञान अग्नि जारै बल तेहि का, स्वबश स्वत· ठहराव॥ ३॥
जो तेहि बिबश जीव मतवारे, तिनके फन्द यचावहि सारे।
संयम नियम पालि सद्भावहि, तजहिं कुसंग लोभाव॥ ४॥
ऐसे सत सहाँयक जीवन, मन गति विपत्ति विदारि रहीवन।
राग द्वेष जग सम्भव तजि के, आप मे आप रहाव॥ ५॥
कहै कबीर संत की करनी, जानि मानि तेहि को लखि परनी।
धारण करै स्वबश सो होवै, संसृत चक्र नशाव॥ ६॥

टीका—निर्मल बुद्धि और सरल स्वभाव उन्हीं का जानना चाहिये जिन्होने कामविषय को जीत लिया है॥ टेक॥ वे काम भावना को बधन जानकर उसे अपने वश कर लेते हैं और उसे भली प्रकार परखते रहते हैं कि यह काम ही जगत मे मेरा पूरा घात करने वाला प्रवल वैरी है। इस जन्म से लेकर आगे अनत जन्मो तक वही सर्व प्रकार की दुर्दशा कराने वाला है ऐसा जानकर सदैव उससे सावधान रहते हैं, ऐसे पुरुषरत्न ही निष्कपट, सरल और पवित्न बुद्धिवाले होते हैं॥ १॥ वे काम-भावना वाली चाल, बुद्धि तथा चाहनाओ को विवेक से विनष्ट करते रहते हे। काम के कोमल सुखभाव मे ममता, प्रियता, प्रसन्नता मन का छल है। जो सुख दर्शाकर दुख देता रहे, ऐसे काम छली को दुखपूर्ण जानकर वे उसमे कभी नहीं फँसते। काम-भोग मे हर्ष आते ही धोखे की टट्टी जानकर उसे मिटा डालते है॥ २॥ वे युवक-युवती के अग, विलास, क्रीडा, चमक-दमक इत्यादि का मनन नहीं करते। वचन से कामरस का वर्णन नहीं करते, अर्थात ऐसे वाक्य नहीं निकालते कि जिससे अपने और दूसरे को कामविष चढे, काम का सचार हो। वे दृष्टि को नम्र रखते, कामुक सौंदर्य की ओर निगाह नहीं डालते, कामोत्पादक रसास्वाद नहीं ग्रहण करते, वीर्यध्वसक स्पर्श नहीं करते और दसो इन्द्रियो से काम साधक सर्व व्यवसाय त्यागकर अत·करण मे सर्वदा उससे उपराम हो कामछली का अभाव रखते हैं। पुनः स्वरूपज्ञान की प्रबल अग्नि से भोगो मे दुख, दोष और मिथ्यादृष्टि करके कामवासना के बल, जोश तथा उद्वेग को जलाते रहते हे। इस प्रकार वे कामवासना रहित स्वतत्र होकर ठहरते हैं॥ ३॥ जो युवक-युवती कामविषय वश उन्मादी हो रहे हे, ऐसो के फदे, पेच, भुलावे से वे अपने को बचाते रहते हैं। काम-उत्पादन हेतु ऊपर कहे गये सर्व विकारो का त्याग रूप सयम रखते है। गुरुपद-घेरे की गतिविधि के नियम बनाकर उन्हीं के भीतर रहते हैं। सदा यथार्थ भावनाओ का अभ्यास करते हुए सत्यस्वरूप की

वृत्ति दृढ करते हैं और जिससे कामभाव जाग्रत हो ऐसे संग, स्थान, मनन, दृश्य मे नहीं लोभते। शरीरयात्रा मे जबरन विरोधी सग पडने पर उससे उदास रहते हैं॥ ४॥

ऐसे ही साधन करने वाले सच्चे संत कहे जाते हैं। वे ही जीवों के सच्चे हितैषी हैं जो मन के मिथ्या सुख-स्मरणो को आपदा रूप जानकर उन्हे निर्मूल करके स्ववश रहा करते हैं। ऐसे सत आसक्ति और वैर को जन्म-मरण रूप संसारोत्पत्ति का कारण जानकर उनसे विरत रहते हुए अपने अजरामर सत्यस्वरूप मे स्वतः बल से ठहर जाते हैं॥ ५॥ सद्गुरु कबीर साहेब कहते हैं कि संत की यही रहनी है। रहस्यवान सतो के सत्संग से उनके रहस्य को जाने। पहिले सत्संग से सुने हुए का श्रद्धापूर्वक निश्चय करे, साथ ही साधन मे लव लगावे, तब उसे यथार्थ पथ सूझेगा और वही काम को जीतकर स्ववश-स्वतन्त्र हो जायेगा। बार-बार देह धारण कराने मे कारणरूप मनोमय संसार का नाश हो जायेगा। निःसदेह उसी का काम पूर्ण हो जायेगा जो कि कामजित संतो मे श्रद्धा रखते हुए उनकी रहनी को क्रमश· धारण करेगा॥ ६ ॥

दृष्टांत—शिक्षक सत के पास जाकर एक जिज्ञासु ने निवेदन किया कि हे श्रीगुरुदेव! मैं सद्ग्रन्थ पढता हूँ, सत्सग करता हूँ, परन्तु मेरी काम की आसक्ति निर्मूल नहीं होती। सत बोले—सत्सग और सद्ग्रंथ मनन मे तो कामासक्ति ध्वस कर देने की महान सामर्थ्य है, परन्तु तुम उसका ठीक-ठीक उपयोग नहीं करते होगे। कभी भूले-भटके सत्संग-सद्ग्रथ का दर्शन कर लिये और उधर काम की खुराक बाम से तुम्हारा आठोयाम सम्बन्ध पड़ रहा है। एक तो तुम्हें काम के त्याग मे पूर्णसुख का निश्चय नहीं। दूसरे, काम-विषय जीतने का प्रयत्न जैसा चाहिये वैसा नहीं करते। तीसरे, मोहक सबंध का तुम अभाव नहीं रखते। चौथे, अपने शरीर का बहुत चिकनाव, बनाव, राजसपन नहीं छोड़ना चाहते। पाँचवे शब्द, रस, गध और रूप, इन चार विषय-सुखो को लेते हुए स्पर्शासक्ति निर्मूल करना चाहते हो। छठे, अपने मन मे इन्द्रियो के कोमल सुखो को चुपके से भोग लेना चाहते, केवल दूसरे को विदित न हो, इसकी कोशिश करते हो। इससे सिद्ध हुआ कि तुमको विषयो मे भली प्रकार दुख देखने मे नही आया। यदि आता तो उसका ग्रहण न होता। कोई जाने या न जाने, विष कोई भूलकर भी नहीं खा सकता। सातवे, तुम्हे विद्या, बुद्धि और बाहरी पदार्थो का सूक्ष्म प्रमाद या गाफिली है।

आठवे, शरीर-इन्द्रिय के मिथ्या सुख का सत्य अभ्यास कर लिया है, उसे पलटकर सत्सग से अपने सत्याचरण की सत्यता का निश्चय दृढ नहीं किया। नवे, अपनी आदत अपना बनाया भयानक रोग है, उसको मैं ही छोड के आरोग्य होकर अवश्य सुखी हो जाऊँगा ऐसा निश्चय नहीं है। दसवे, विषयभोग के लिए चाहे जितना परिश्रम पड जाय सब सहना स्वीकार है, किन्तु सन्मार्ग और सत्साधन के लिए जल्दबाजी से थोड़े ही परिश्रम मे तय करना चाहते हो। इसका कारण ठीक-ठीक त्यागमार्ग मे सुख निश्चय नहीं है। यदि त्यागवृत्ति मे सुख निश्चय हो जाय तो कुछ भी हो, कितनी ही देर क्यो न लगे उसे कर लिया जायेगा। ग्यारहवे, प्रपच-पत्रिकाएँ तथा रसिक नर-नारियो के ससर्ग का त्याग नहीं करते तथा उनके रूप-अग की ओर भाव बनाये रहते हैं। बस इन्हीं सब कारणो से तुम काम की आसक्ति नहीं जीत पाते। इन सब बातो को छोडकर निश्चयपूर्वक सत्सग करो, सद्ग्रन्थ पढो और उसी के अनुसार साधन करो, देखो! काम पर विजय पाते हो या नही! जिज्ञासु संत के वचनानुसार ही साधन मे जुट गया। बस, उसकी इन्द्रियाँ काबू मे हो गईं। फिर तो वह सदा सावधान रहता हुआ

अमृतस्वरूप में ठहराव कर सदा के लिए कृतार्थ हो गया। उसके संग से अनेक मनुष्यों की कल्याणमार्ग मे रुचि हो गई।

चौपाई—*पूरण भयो कामहर जानो। याहि मनन करि शुद्ध सुजानो॥*

प्रसंग ५—तृष्णागत

शब्द—२५

अब तजो मन तृष्णा काल देखाय।

है बिकराल भयंकर भारी, डार्यो सबहिं चबाय॥ टेक॥
जो जो आदति जेहि की परिगै, तहाँ बसी यह आय।
और और कहि माँगति गुजरै, कबहुँ न नेकु अघाय॥ १॥
पहिले आशा रूप धरे वह, मरजी माँगत जाय।
जौनु कहौ हम तौनुइ करिबै, जबरन नाहिं सताय॥ २॥
जो कहुँ मानि लेय तेहि बातन, अवगति सबहिं कराय।
जन्म अनन्तन ताहि धरावै, त्रास अमित देखलाय॥ ३॥
सब ताकति तेहि जीव कि हरि कै, जबरन देत नचाय।
पूर करत कोइ पाछे पछौरै, देत दिलाशा ताय॥ ४॥
छल बल करिकै बिबश न आवै, जीवन बहुत भ्रमाय।
सब फौरेब लखै जो यहि के, मारि पछारै धाय॥ ५॥

टीका—मिलने का मन मे सहारा बना रक्खा है, वही आशा है, उस आशा का कहीं अन्त न होना ही तृष्णा है। हे मन! अब समझ-विचार कर आशा-तृष्णा को त्याग दे, क्योकि आशा-तृष्णा ही जीव के लिए कालरूपिणी[1] देखने मे आती है। जो बडी कठोरता से सब प्रकार के दुख दे, उसे काल कहते हैं, ऐसी तृष्णा ही है, क्योकि उस तृष्णा का रूप बडा भयानक है।[2] उसकी समता मे नदी, समुद्र, सूर्य, पृथ्वी, पहाड़ सब तुच्छ हैं। उसने सम्पूर्ण जीवो को चबा डाला तो भी खाली की खाली ही है॥ टेक॥ जिस-जिस विषय मे जिसकी आदत पड गई है, वह तृष्णारूप होकर उसके अन्तःकरण मे बसती है। वह दिनोदिन अधिकाधिक भोग माँगती है। जीव को उसी के अनुसार भोग देते-देते उसकी पूरी आयु समाप्त हो जाती है तो भी तृष्णा तृप्ति का नाम नहीं जानती॥ १॥ पहिले तो वह विषयो मे सुख का सहारा देकर अपने स्वामी-जीव के सामने जाकर आज्ञा माँगती है। वह कोमल बनकर स्वामी

---

१ चौ०—काटै छेदै ताडै जारै। बोरै धौरै सारै मारै॥
मन शरीर कृत ताप अनन्ता। देत काल तेहि गावहि सन्ता॥
दोहा—काल-काल सब कोई कहै, काल न चीन्हे कोय।
जेती मन की कल्पना, काल कहावै सोय॥

२ दोहा—पेट भरे घर ग्राम पुनि, पायके सुख के साज।
मन न भरे सन्तोष बिन, मिले तिलोकी राज॥

से कहती है कि जो आप कहेगे मैं वही करूँगी। आप के साथ फिर सुख के लिए किंचित भी बलात्कार नही करूँगी, परन्तु अबकी बार आदती सुख भोग लीजिए, फिर मैं तृप्त हो जाऊँगी।॥ २ ॥

तृष्णा का मन्त्र जो जीव मान लेता है तथा भोगो को भोग लेता है, वह उसको भोगो मे फँसाकर अनत दुर्गति कराती है। साथ ही सर्व भोग-क्रिया के अध्यास सचित रखकर अनन्त देह धारण कराती है और तीन तापरूप डण्डो से पीटते हुए अनन्त पीडा देती रहती है॥ ३॥ इस तृष्णा मे जो मुग्ध हुआ है, उसका ज्ञान, बोध, धारणाशक्ति बलपूर्वक हरण करके नट-मर्कट के समान नाच नचाती रहती है। बहुत प्राणी भोगो से उसका पेट भरना चाहते हैं, परन्तु वह और-और चाहना रूप भूख बढा-बढा कर भूखी होती जाती है। कोई घबराकर उससे हटना चाहता है, तब उसे तृष्णा सहारा देती है कि अच्छा मैं अभी नहीं तृप्त हुई हूँ तो आगे अवश्य तृप्त हो जाऊँगी, आप मुझसे घबरावे नहीं॥ ४॥ इस प्रकार तृष्णा जीव के साथ नाना प्रकार के छल-बल करती है और पकडने मे नही आती, उलटे जीव को मोहित करके भरमाया करती है। हाँ! जो कोई इसके दाव-पेचो को परख लेगा, वह इस पर हमला करके इसे मार डालेगा॥ ५॥

दृष्टांत—(उपलक्षित) धर्मवीर नामक एक बडा धर्मात्मा मनुष्य था। वह विपुल सम्पत्ति वाला दास-दासी सहित महल, मोटर, अश्व, गज यहाँ तक कि जगत के सब सुखो से पूर्ण था। साथ ही उसकी जगत मे ममता भी थी। जगतसुख की ही कामना से वह नाना धर्म किया करता था। उसके धर्मशाला, पौशाला, गोशाला, विद्यालय, अनाथालय तथा अनेक प्रकार धर्म के काम बडे विधान से चल रहे थे। लाखो की सम्पत्ति धर्म मे नित्य खर्च होती तथा आमदनी भी कम न थी। एक बार वह धर्मवीर कही जगल मे मित्रो के साथ घूमने गया। लौटते समय वहाँ एक स्त्री मिली, जो युवावस्था को प्राप्त तथा भूख-प्यास से दुखी थी। उसका शरीर कृश हो रहा है, आँखे धँस रही हे, पेट पीठ मे लग रहा है, चलने को जोर भरती है तो पैर इधर-उधर पडते हैं। धर्मवीर उसकी दशा देखकर करुणा से बोला—अरी! तू कौन है, जो इस जंगल मे भटकती है। मुझ जैसे धर्मवीर के देश मे रहकर तू किस बात के लिए दुखी हो रही है?

वह स्त्री बोली—मैं एक भिक्षुकी हूँ। आज तक देव-दानव, राजा-बादशाह कोई भी मेरा पेट न भर सका। अहो! इस संसार मे मैं अकेली भूखी रहती हूँ। "मैं भूखी रे भूखी! भूखी रे भूखी!" धर्मवीर ने कहा—चल मैं तेरा पेट भरूँगा, तू जितना खायेगी उतना खिलाऊँगा, तेरी तृप्ति करूँगा। वह बोली—प्रथम आप प्रतिज्ञा करे कि यदि मै तेरा पेट न भर सकूँगा तो मुझे खा लेना, क्योकि मेरा यह स्वभाव है कि दाता यदि मेरा पेट न भर सके तो मैं दाता का ही भक्षण कर लेती हूँ। साथ ही यह भी स्मरण रक्खे कि मेरी भूख खाने से दबती नहीं, बल्कि खाते-खाते वह अधिक बढती है। जैसे मेरी भूख का हाल है, वैसे मेरे पाँच पुत्र और एक पुत्री है उनका भी यही हाल है। वे भी मेरे पीछे से आयेगे। पहिले तो आप मेरा ही पेट भरने की प्रतिज्ञा करे। यथार्थ बात मैंने बता दी है, अब आप की मर्जी हो तो दया करे मैं भूखी हूँ, इससे बढकर और मुझे क्या हर्ष होगा, परन्तु मेरी दशा तो पूर्व कथन जैसी ही है।

धर्मवीर को अपने धन के जोश मे उसकी सब बातो पर लक्ष्य न हुआ। मन मे कहने लगा—क्षुधातुरो का यही हाल होता है। वे जानते हैं कि हम बहुत खा लेगे, परन्तु खाने की

भी तो हद है। ऐसा विचारकर धर्मवीर बोला—मैं प्रतिज्ञा करता हूँ तेरा पेट पहिले भरूँगा। यदि न भर सकूँ तो मुझे तू खा लेना। जहाँ मेरा भण्डार है वहाँ चल। वह बोली—आपके भोजनालय मे थोडी ही जगह होगी। अच्छा! मै आपका निमन्त्रण स्वीकार कर रही हूँ। थोडी दूर साथ मे चलकर वह बोली—अव आप इसी मैदान मे मेरा सत्कार करे, मारे भूख के आगे वढ नहीं सकती। वह भिखारिन पल्थी लगाकर बैठ गई। तत्काल धर्मवीर अपने कई मित्रो सहित उस भण्डारघर मे आये, जहाँ सहस्रो मनुष्यो के लिए अनेक व्यजन बन रहे थे। तीन-चार सेवको द्वारा उसने तीन-चार मनुष्यो के पाने भर का भोजन उपस्थित कर दिया। भिखारिन वोली—मैं इतना भोजन किस प्रकार खाऊँगी? कव से मैं अपनी भूख को दवा रक्खी हूँ, किंचित आहार पाने से भूख इतनी भभकेगी कि मुझसे रहा न जायेगा। इसलिए हे धर्मवीर। पहिले इन सेवको को भोजन लेने के लिए भेजें, अब मैं जीमने जाती हूँ। ऐसा कहकर भोजन का पत्तल खींचकर वडे-वडे ग्रासो को मुँह मे डालने लगी। सेवक अभी भोजनालय मे पहुँचे भी न थे, यहाँ सब भोजन स्वाहा कर गई। इतने मे पचासो मनुष्यो का भोजन सेवक लाये, लाते देर नहीं कि खाते देर नहीं।

पुन. वह धर्मवीर की ओर वडी व्याकुलता से देखकर कहने लगी—अरे। मैंने तुझसे पहिले क्या कहा था, क्षुधा के मारे मेरी जान जा रही है, मुझ से रहा नहीं जाता, अरे हाय। मैं मरी, शीघ्र खिलाओ। आहार लाओ।। मुझे तृप्त करो।।। जब तक मैंने कुछ खाया न था तब तक मैं शीतल थी, अब तो मेरे पेट मे और भी अत्यन्त जलन हो रही है। अहो। मेरी क्षुधा मुझ से सहन नहीं होती। यह सुन और देखकर धर्मवीर अश्चर्यित हो गया। इतने मे सेवक लोग भोजन ले आये। भोजन रखवाकर पुनः सेवको से धर्मवीर ने कहा—शीघ्रातिशीघ्र साठ-सत्तर सेवक दौडकर अन्न लाओ। अभी वे लाने नहीं पाये कि इतने मे वह बड़े-बड़े ग्रास खाकर अस्सी-नब्बे खुराक भोजन एकदम स्वाहा कर गई। धर्मवीर ने सेवकों से कहा कि दो सौ सेवक पक्का अन्न जल्दी से जल्दी लाओ। स्वामी की आज्ञा के अनुसार तुरंत दो सौ सेवको ने क्षणभर मे कई मन भोजन का ढेर लगा दिया। धर्मवीर ने कहा—हे माई। अब तो तू तृप्त हो जायेगी? वह बोली—अरे। तृप्ति का तो नाम कहाँ। अब मेरी भूख खुली है, शीघ्र तू आहार मँगाकर रख। उधर स्वामी की आज्ञा के अनुसार सैकडो मनुष्य आहार लेकर आवे और सैकडो जावे। आने नहीं पावे कि इधर क्षणमात्र मे वह सब भोजन निगल जावे। फिर टोकरो मे भरकर सेवको ने इतनी रोटी और दाल, भात, शाक, फल, फूल लाये कि वहाँ पहाड लग गया, जिसमे देश भर के मनुष्य जीम कर तृप्त हो जाते। वह अकेले भिखारिन बडे सपाटे से गटकती गई। एक-दो क्षण ही मे सब निगल गई, और कहने लगी—हे धर्मवीर। हाय। अब मेरे से निमेषमात्र भी भूख सहन नहीं होती। पहिले तो मैं बहुत देर तक भूखी रह जाती थी, परन्तु ज्यो-ज्यो मैं आहार पाई त्यो-त्यो आतुरता बढती ही गई। अब तो मेरे आहार मे पल भर भी विलम्ब न कर, क्योकि मेरी क्षुधा बेमिसाल प्रदीप्त हो चुकी है। धर्मवीर ने घबराकर सेवको से कहा—जल्दी इसका आहार लाओ। सेवको ने कहा—महाराज। अब भण्डारघर मे विलकुल अन्न-शाक नहीं रह गये, हम लोग कहाँ से लावे। हाय। इस भयंकर राक्षसी को आप ने क्यो निमंत्रण दिया? इतने मे वह भिखारिन पुकार कर कहने लगी—आह। आह! बडी वेदना हो रही हे। रे शठ। तू जल्दी आहार मँगा, अब तो मेरा पेट ज्वालामुखी या बडवानल

हो रहा है। धर्मवीर ने घबराकर हजारो सेवको को आज्ञा दिया, जाओ आसपास के गाँवो से दुगना-तिगुना दाम देकर जहाँ तक जो कुछ अन्न मिले तुरंत लाओ। अब कच्चे-पक्के का विचार न करो। सेवक लोग तुरत दौडे, लाखो मन अन्न-चावल, घी, गुड, आटा, दाल, दूध, दही आदि लाकर भण्डार मे जमा कर दिये और स्वामी की आज्ञा के अनुसार भिखारिन के आगे ले जाने लगे। खाने की वस्तुये सेवकों को उसके पास ले जाने मे देर लगती, परन्तु लाखो मन कच्चा-पक्का खाद्य खाकर हजम करने मे भिखारिन को देर न लगती थी। अब भण्डारघर मे थोडी ही चीजे खाने की रह गयीं। सेवको ने धर्मवीर से कहा—हे स्वामिन! अब भण्डार मे चोथाई ही अन्न है। यह भिखारिन हाय भूखी, ही चिल्लाती है। बडी-बडी टोकरियो मे भरे हुए अन्न को एक ग्रास करके बिना चबाये ही नट्टी के उस पार कर देती है। इतना खाते हुए भी उसका पेट मानो पीठ की ओर धँसता जा रहा है।

धर्मवीर घबराकर भिक्षुकी से बोला—अरे! मनुष्य, पशु, पक्षी मे तो ऐसा किसी को नहीं देखा। तू सर्व सहारकारिणी क्या कोई राक्षसी हे अथवा तू कौन है? मे तुझको नही जानता था कि तू ऐसा भस्मकुण्ड है। वह बोली—मेरे खाने का शीघ्र प्रबध कर, तब पीछे से मै बताऊँगी। सेवक लोग पहिले से चौगुना-चौगुना अन्न ला-लाकर परोसते, वह थोडी ही देर मे सब साफ कर जाती थी। इतने मे उसकी एक लडकी और पॉच लडके आये। वे भी 'भूख-भूख' कहते हुए मॉ! अरी मॉ! तू हमे छोडकर अकेले क्यो भाग आई है? हम भूखो मर रहे हैं। ऐसा कहकर वे जल्दी-जल्दी भोजन गटकने लगे। धर्मवीर तो यह देखकर और भी घबरा गया। हाय! मैने यह कौन सी बला मोल ले ली! एक की तो इतनी दौड कि मेरा विपुल भण्डार खाकर भी तृप्ति का नाम न लिया, तो भला! इसके लडके कैसे होगे! इतना सोचते ही भिखारिन बोली—अरे शठ! तू मुझे नहीं जानता कि मेरा प्रसिद्ध नाम है 'तृष्णा'। देव, दनुज, मुनि, तपस्वी, राजा, बादशाह, अमीर, गरीब, पशु, पक्षी आदि सब के आगे मे भिक्षार्थ भटकती हूँ। जगत के सम्पूर्ण शब्द, रूप, रस, गध, स्पर्श को भोग-भोग कर मैं कामाग्नि से अधिक बढ जाती हूँ। गध, स्वाद, मैथुन, मान, विद्या, द्रव्यसग्रह, सम्पूर्ण देहसुख-सामग्री से जो मेरा पालन करता है, उसी का सम्पूर्ण तेज-बल खाकर पीछे मैं उसी का आहार कर लेती हूँ। कामसिंह, क्रोधकाल, लोभलाल, मोहराज, मदकार ये पुत्र और एक मेरी आसक्ति नाम की पुत्री है। इन सबो को साथ लिये मैं घूमती हूँ। मैं सबको क्लेश देने वाली महान अज्ञान-रात्रि मे विचरती रहती हूँ। अरे! तू जल्दी मेरा आहार ला!

अब की बार बचा हुआ सब अन्न सेवको ने लाकर ढेर लगा दिया और स्वामी धर्मवीर से चुपके से कहा—अब आहार नही है, न कहीं गॉव-देश मे मिलने वाला है, यह डाकिनी सब साफ कर गई। ऐसा सुनते ही धर्मवीर मृत्यु के भय से भागने की तैयारी करने लगा। जल्दी-जल्दी शेष अन्न को फाँकते हुए बडे पहाड के समान भयंकर बनी हुई राक्षसी जीभ लपलपाती, ओठ फरफराती, मुख से खाऊॅ-खाऊॅ करती हुई धर्मवीर और उसके सहस्रो सेवको की ओर उन्हे चबाने के लिए दौडी। सब हा! हा! करके भागने लगे। राक्षसी बोली—अरे मिथ्या अभिमानियो! तुम लोग भागकर कहाँ जाओगे? स्वर्ग, मृत्यु, पाताल, अर्थात, ऊँचे-नीचे सब स्थल सब लोको मे मेरी स्वच्छद गति से पहुँच है। ऐसा सुनकर धर्मवीर मन मे कहने लगा—हाय! बिना विचारे दया करने का यह फल है। अब निश्चय करके हम लोग इस

राक्षसी के दॉतो से चवाये जायेगे। अहो! इस समय मेरा कोई समर्थ पुरुष सहायक हो। हे सत-महात्मन्! हे गुरो! हे दीनदयाल! हे अशरण-शरण! त्रयतापहरण!! मुझ दीन दास को बचाइये। इतने मे सम्मुख एक संत पीपलवृक्ष के नीचे बैठे हुए दिखाई दिये। तुरन्त धर्मवीर जाकर सत के चरणों मे गिरा और स्तुति करने लगा—

चौ०—*अहो! मोह वश मैं दुख पायो। प्राण विसर्जन समया आयो॥*
नहि कछु और गती मोहि सूझै। सर्वस खोयो भयउँ असूझै॥
ना जाने केहि पाप को फल ये। देखी सुनी न जस कछु खल ये॥

दोहा—*कृपा करन भव भय हरन, शरण हरण भव भीर।*
पाहि-पाहि मम त्रास हर, बेगि करहु ततवीर॥

आगे तेजस्वी सत को देखकर तृष्णाभिक्षुकी भी रुक गयी। वैराग्यशील सत ने कहा—रे तृष्णे! इसको तू क्यो हैरान कर रही है? यह तो तुझे तृप्त करने के लिए अपनी सारी सम्पत्ति खो बैठा है, तिस पर भी तुझे किंचित दया नहीं आती। तृष्णा बोली—हे संत! मेरा स्वभाव ही यही है—

छन्द—*जो मुझे तृप्ती करे उसको हि मैं खाती सदा।*
जो दया मुझ पर करे उसको हि देती आपदा॥
हे संत! यह है भक्ष्य मेरा आप ने शरणा लिया।
में भूख-भूख से हूँ विकल केहु से न तृप्ती मो भया॥
सम्पूर्ण भोग को भोगते मैं और भूखी होवती।
भूख से पीडित फिरूँ दर-दर हि शोक मे गोवती॥
राव रक व नारि नर नख शिख चबाय के रोवती।
हा! भूख हा! हा! भूख हा! नहि आपसे कुछ गोवती॥

दोहा—*अभय दानि मम दुख हरो, जरो टरो मम भूख।*
पूर्ण तृप्ति करि दीजिए, सत देहि सब सूख॥

सत बोले—अरे! मेरे पास क्या है, जो मैं तुझे तृप्त कर सकूँगा। जब तू देश भर के खाद्य से न छकी तो मै तुझे कैसे तृप्त कर सकता हूँ! भिक्षुकी बोली—मुझे निश्चय है कि आप अपनी कृपामात्र से ही मेरी भूख बुझा देगे, क्योकि आपके दर्शन मात्र से मेरे हृदय की ताप बिलकुल कम हो रही है। सत ने कहा—हाथ बढा, जो मेरे पास है वही देता हूँ। सत ने उसे अपने अंतःकरण-कमण्डल से एक अँजुली स्वरूपबोधरूपी जल देकर रहनी धारणरूप जल पीने की आज्ञा दी। पीते ही वह विकराल स्वरूपी तृष्णा भूख रहित परम संतुष्ट अतिशय सरल बन गई और उसके लडके भी क्षमा-दयादिरूप मे परम हितैषी बन गये। तृष्णा सकुटुम्ब शात होकर तथा सुजान रूप से प्रसन्नता सहित सत की शरण होकर धर्मवीर के भक्षक के बदले रक्षक हो गई। इस प्रकार धर्मवीर साधु-शरण जाने से तृष्णा डाकिनी से बच गया। तब धर्मवीर गुरुदेव का उपकार स्मरण करने लगा।

प्रार्थना

सतगुरू सतगुरू सतगुरू जी। नमो नमो नित्य नमो सतगुरू जी॥ टेक॥
जेते-जेते भोग लेवे बाढ़ै है भूख। कौडी से लक्षपति सबके है भूख॥
तोषामृत तृप्त कियो सतगुरू जी॥ १॥
सबको जो जानै सोइ सबका है भूप। जान ही को भूलि जान पर्यो अधकूप॥
आपको जनाय दियो संतगुरू जी॥ २॥
सपने का दुख बिन जागे केसे जाय। ज्ञानबिनु मोह अध नाश कैसे भाय॥
भूल को विनाश करैं सतगुरू जी॥ ३॥
ज्ञान औ विराग सर्व भक्ति हूँ को साज। सहित विवेक निज रूप माहि राज॥
जीवन के दुख नाश्यो सतगुरू जी॥ ४॥
करुणामयी परख गुरू दर्श दिये जी। प्रेम हिये ताप सब दूरि किये जी॥
सादर सु जाप करूँ सतगुरू जी॥ ५॥

जीव धर्मवीर के समान अपनी मनोमय वृत्तियो को भोगो से तृप्त करना चाहता है। इसके लिए समग्र खानी-बानी सामग्री को इकट्ठा करके भोगता है। इसलिए उसकी तृष्णा बढकर उसे बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में डाले रहती है। जब अत करण शुद्ध होता है, तब वह तृष्णा राक्षसी से घबरा कर गुरु की शरण मे जाता है। गुरु कृपालु शुद्धस्वरूप का बोध और अभ्यास की युक्ति देते है। उसे जीव धारण करके नित्य सतुष्ट होकर जीवन्मुक्त हो जाता है।

शिक्षा—सम्पूर्ण खानि-बानी की तृष्णा छोडकर स्वरूपस्थिति मे लव लगाना चाहिये।

छन्द—२६

तजि काम मन निष्काम हो, नहिं लोभ को राखै हिये।
मद चूर्ण ममता परिहरे, नहिं मोह को आने दिये॥
राग धारा से परे, जग फिक्र को छेदन किये।
शाति शीतल बारि गुरुपद, ध्येय नित पानै जिये॥ १॥

टीका—हे मन। मैथुन विषय त्यागकर तथा अन्य सर्व जगत की कामनाये छोड कर निष्काम हो जाओ। पूर्ण शुद्ध ब्रह्मचर्यव्रत धारण करो। लोभ को भी हृदय से निकाल दो। सर्व अभिमान को विवेक से नष्ट कर साथ ही शरीर सम्बन्धियो की आसक्ति त्याग करते हुए मोह राक्षस को भी अत.करण मे मत आने दो। ससार मे राग सिरतोड बोझा है, इसे पटककर जगत-प्रपच के बनने-बिगडने की चिंता छोड दो। शीतल जल के समान शाति और सतोष तथा गुरुपद की पुष्टि हेतु सद्रहस्य और दृढ निश्चयता धारण करते हुए अपना कल्याण करो॥ १॥

प्रसंग ६—मद-मर्दन

शब्द—२७

काया मद मान जाय नहिं जिव से॥ टेक॥

क्षण क्षण हानि सामने आवै, आशा लाभ लगै से।
इच्छा होय भंग सब जावै, पूरण होय अपूरण जइसे॥ १॥
क्षण क्षण कष्ट मानसिक होवै, राग द्वेष कसमसि से।
है अज्ञान अपर्बल कारण, दुख भोगै नहि चहत छुटइ से॥ २॥
जहँ जहँ प्रीति होय कहुँ अपनी, तेहि दुख दुखित रहै से।
नेह निर्वाह परिश्रम भारी, मन को तिनहिं पुरइ से॥ ३॥
द्वेष महाँ भय निशदिन लागे, घात न तनहिं करै से।
असुर प्रकृति मनुष्यन पालत, रक्षा अपनि चहै से॥ ४॥
काम भँवर अतिशय दुखदाई, नारि मिलै चहु जेसे।
धन खर्चे तन अर्पण कीन्हें, लोग बिवश धकमुक से॥ ५॥
सब जग भार लादि सिर अपने, नारि से नेह करै से।
सुख का हेतु मानि जेहि संगति, दु.ख समूह लहइ से॥ ६॥
परशत जेहि अवगुण सब आवै, शुभ गुण दूरि भगे से।
रोग मानसिक जोर भयो अब, उधमज बहुत बढइ से॥ ७॥
छल अनभल करि धन उपजावै, बैर होय चहै सब से।
लोभ लागि तृष्णा अति दाहै, ओर छोर नहिं धनहिं पुरइ से॥ ८॥
पुत्र शोक मे कल्पित ह्वै के, तन धन हानि करै से।
धर्माधर्म ज्ञान सब छूटै, भक्ति बिबेक गवँइ से॥ ९॥
हानि रहित जो तृप्ति सदा वह, भूल से गर्ज लगै से।
मन अनुकूल नारि जब बिछुड़ै, तेहि दुख चहत न देह रहइ से॥ १०॥
पंच विषय विष हरदम गटकै, चढत जहेर तब और भखै से।
ह्वै उनमाद क्रिया करि ऐसी, जेहल परै चहै शिरहि कटइ से॥ ११॥
कहै कबीर गुरु निर्णय अमृत, पान करै तब जहेर टरै से।
पाय स्वपद जग दुख से छूटै, जन्म मरण नहिं देह धरइ से॥ १२॥

टीका—यद्यपि शरीर दुखपूर्ण है, तथापि उसकी अहता-ममता जीव से छोडी नही जाती ॥ टेक॥ जीव के सम्मुख आठो पहर मे एक पल का समय नहीं आता है कि जिसमे हानि का अनुभव न होता हो। हर बात मे नित्य घाटा का अनुभव करते हुए भी आगे-आगे लाभ की आशा लगाये रहता हें। बहुत सी इच्छाये बिना पूर्ण हुए ही नष्ट हो जाती है। धन-प्राप्ति, भोग-प्राप्ति, ऐश्वर्य-प्राप्ति, चतुराई, विद्या ओर कीर्ति-प्राप्ति आदि कितने मनोरथ उठ-उठ कर भीतर बिना पूर्ण हुए ही नष्ट होते रहते ह। जो मनोरथ कुछ पूर्ण हो जाते हैं वे और-ओर कामना बढ़ाकर अपूर्णता का ही अनुभव कराते हें॥ १॥ शरीराभिमान के कारण ही शुद्ध जीव पल-पल हानि-लाभ का अनुभव कर-कर दुखी होता रहता है। पुन. जड पच विषय और प्राणियो मे स्नेह करता हे, तथा भोगो के हेतु दूसरे से वैर करता हे। स्नेह और वैर के

झमेले मे दुसह दरेरा सहता रहता है। इस प्रकार अनन्त दुख पाते हुए भी प्रबल अज्ञान के कारण दुख सम्बन्धी पदार्थों को छोड़ना नहीं चाहता॥ २॥ जहाँ-जहाँ जिन-जिन मे अपना मोह होता है, वहाँ-वहाँ उनके दुख से अपने को दुखी होना पडता है। सम्बन्धियो का स्नेह निभाने मे अनत परिश्रम का भार लादना पडता है। यहाँ तक कि स्नेहियो के मन की भलीविधि पूर्ति करनी पडती है। "तजौ जग बैर प्रेम दुखदाई"[१] इस शब्द की टीका मे स्नेह-दुख विस्तार पूर्वक वर्णन है॥ ३॥ पदार्थ और प्राणियो के मोहवश उनकी रक्षा-वृद्धि करने मे सबसे वैर बढ जाता है। वैरी घात पाकर हमारे शरीर अथवा धन-वैभव को ही नष्ट न कर दे, दिन-रात चिंता सवार रहती है। मनुष्य इस भय से क्रूर, हिसकी, कठोर से कठोर मनुष्यो को नौकर रखता है, या उनसे नाना भाँति मेल रखकर अपनी और अपने सम्बन्धियों की रक्षा चाहता है, परन्तु जिनसे रक्षा चाहता है उन्ही के सगवश अपने मे भी दुराचरण घर कर लेने से क्रोध, हिंसा, घात, अनीति, अधर्म, निःशीलता, वृथा बकवाद, जलन, जेल, सजा, फाँसी आदि सब ही दुख आकर घेर लेते हैं। इस प्रकार राग-द्वेषकृत वृत्तियो द्वारा जीव दुसह दरेरा सहता है॥ ४॥

इस शरीराभिमान के कारण से ही युवावस्था मे काम-भँवर उमड़ता है। यह बडी नदी के भँवर के समान अत्यन्त दुख देने वाला है।स्त्री का सहवास न हो तभी इच्छा चलती हो यह बात नहीं है, बल्कि जो नित्य स्त्री-सहवास करते हैं उनकी कामचेष्टा अत्यत प्रबल हो जाती है, फिर तो वे नित्य नई नवयुवतियों की इच्छाग्नि मे सुलगते रहते है। काम-भावना मे पडकर प्राप्त-अप्राप्त दोनो प्रकार से कल्पना सवार रहती है। किसी प्रकार मनभावनी नवयुवती मिलनी चाहिए। ऐसी कामना-पूर्ति के लिए धन और अपना शरीर निछावर कर सब लोगो के वश हो उनके धक्के-मुक्के तथा धिक्कार-मार सहता रहता है॥ ५॥ कहाँ तक कहे, सारे जगत का बोझा सिर पर लादकर केवल काम-भावना के लिए युवती से प्रेम करता है। अरे! जीव ने जिस प्रमदा-प्रसग को सुख का कारण मान रक्खा है, वह सारे दुखो को खीच ले आता है। प्रगट है कि काम-सुख के लिए ही सब दुख जीव को प्राप्त होते हैं॥ ६॥ उसके स्पर्शमात्र से झूठ, छल, चुगुली, बनावट, निष्ठुरता आदि सारे दुर्गुण आ जाते हैं और हितैषिता, उदारता व सरल, सीधा स्वभाव दूर हो जाते हैं। जब शील-सत्य आदि सद्गुण दूर हुए तो मन के रोग काम-क्रोधादि अधिक जोर भरते हैं, तब मनुष्य उन्मादी बन के नीति-अनीति का विचार छोडकर हठात परस्त्री-गमन, पर-धन-हरण, पर-अपवाद आदि उधम और उत्पात करने लगता है॥ ७॥ फिर नाना प्रकार के छल-कपट और अन्याय-अनीति द्वारा झगडा-प्रपच रचकर धन प्राप्त करता है। कुछ भी हो, लोभी को धन चाहिए। सब ससार चाहे उसके वैरी बन जाय, उसे चाहे एक क्षण भी सुख-शाति न मिले, वह उसकी परवाह न कर लोभवश अत्यन्त तृष्णाग्नि से जलता रहता है। वह कितना धन इकट्ठा करके तृप्त होगा इसका कोई आदि-अन्त नहीं। तृष्णालु के धन की भूख सिवा बढने के कभी शात नहीं होती॥ ८॥ पुनः अज्ञानवश पुत्र की अप्राप्ति में "हम निर्बशी होने से अभागे हैं" ऐसा मानकर तो दुख होता ही है, साथ ही यदि पुत्र प्राप्त होकर मर गया तब तो उसके वियोगकृत अत्यन्त शोक की जलन से शुद्धाचार-स्नान आदि क्रियारहित खान-पान भी त्यागकर शरीर से निर्बल हो जाना यह तन की हानि और रोजगार धन्धा आदि से रहित हो जाना यह धन की हानि इस प्रकार पुत्र शोक मे

१　भवयान, इच्छापरीक्षा, शब्द १२।

तन-धन को क्षीण करता है और पुत के विरह-वियोग-शोक मे धर्मोपदेश-शिक्षा श्रवण एव ज्ञानरहित हो जाना, साधुगुरु इष्ट की उपासना मे मन न लगाना, उलटे मोहासक्ति से कर्मफल का विवेक स्मरण न करके हितैषी इष्टदेव या परमार्थ शुभाचरण को त्याग देना, ये सब दोष पुत्र-शोक के कारण जीव धारण कर मदा दुसह दुख मे जलता रहता है॥ ९॥

जो जीव अखण्ड सत्य हे, जिसमें हानि का लेश भी नहीं है, जो सर्व परीक्षक होने से नित्य तृप्त कामना-मल से रहित है, देखो! वही जीव अपने सत्यस्वरूप को भूल कर विषयो का इच्छुक वन रहा हे। स्वरूप से इसकी मति-गति अत्यन्त विपरीत हो गई है। प्रिय, मधुरभाषिणी, मन के अनुकूल कार्य करके सेवा से प्रसन्न रखनेवाली, विषय-क्रिया से पुरुष के मन को तृप्त करने मे तत्पर, मनोहर रूपवाली, मनोरजन करनेवाली, मनभावन अनुकूल स्त्री जिसे मिली हो, यदि वह मर जाय, न रह जाय, तो उसके दुख मे दुखी होकर मनुष्य अपने शरीर को भी रखना नहीं चाहता। प्रगट है कि कितने ही स्त्री के विरह[1] वियोग मे डूव, छिद, पिस ओर फाँसी लगाकर मर गये। इस प्रकार नारी-स्नेह से जीव दुखित होता रहता है। विषय-लगन से जीव जठराग्नि मे जलकर जन्म-मृत्यु त्रयताप का अनुभव कर रहा हे॥ १०॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पाँचो विषयरूप विष को पच ज्ञानेन्द्रियो मे सर्वदा यह जीव ग्रहण करता रहता हे। विषय-विष ग्रहण करने से इसे कामना रूपी विष ज्यो-ज्यो चढता हे, त्यो-त्यो और-और विषयो को ग्रहण करता ह। फिर अत्यन्त विषयासक्त होकर विवेक रहित अतिशय लोक-विरुद्ध आचरण करने लगता हे। चाहे जिन्दगी भर जेल मे ठेल दिया जाय, चाहे सिर कट जाय, चाहे जूतो-वेतो की मार पडे, चाहे अनन्त फजीहत क्यो न हो, पर इसकी परवाह न कर क्षण-भर मोज, शोक, ठाट, वाम, चाम विषय के लिए चोरी, डाका, हिसा, घात, कुटिलता सव उत्पात करता है। इसके परिणाम मे वह अव भी भाँति-भाँति की दुर्गति भोगते

१, दृष्टात—एक पुरुष की परम प्रिया स्त्री मर गई। वह मृत स्त्री जहाँ गाडी थी, पुरुष उसकी कब्र से लिपटकर रोने-तडफने लगा, हाय! प्राणप्यारी तू कहाँ गई! तेरी जेसी स्त्री कहाँ मिलेगी! मै भी तेरे पीछे विष खाकर मर जाऊँगा। इस प्रकार विलाप कर रहा था। इसी वीच मे एक सत आ निकले। सत को देखकर मनुष्य ने सकोचवश रोते हुए उठ सत के पाँव छूकर सव हाल कहा। सत वोले—अहो! तू स्त्री के लिए शोक करता ह, मुझे तेरी समझ पर खेद होता हे। मनुष्य वोला—क्यो? सत ने कहा—तुम सबके जाननहार-ज्ञाता, सबसे श्रेष्ठ होते हुए भी भूल रहे हो। तुम्हारी देह छूट जायेगी तो देह सम्वन्धियो का क्या ठिकाना! अरे! विचार करो—"को काको पुरुष, कोन काको नारी। अकथ कथा यम दृष्टि पसारी॥ को काको पुत्र कोन काको वाप। को रे मरै को सह सताप"॥ वी०॥ ओर भी नाना प्रकार से स्वरूपज्ञान समझाकर उसका मोह-निवारण करके सत चले गये। यथा आर भी—एक पुरुष के दो स्त्रियाँ थीं एक मे उसकी अतिशय आसक्ति थी। किसी कारण जिसमे इसका वहुत प्रेम था, वह तालाव में जाकर डूब मरी। पुरुष उसकी विरहाग्नि से तप्त हुआ। वह अपना मरना निश्चय कर लिया। उसने अपने घर मे ईख की पत्तियो के वडे-वडे वोझ चारो तरफ से जमा कर लिया और अपने ऊपर मिट्टी का तेल छोडकर चारो तरफ रक्खे हुए पत्ती के बोझो मे आग लगा दी और स्वय उसी मे वठ गया। लोग दोडकर उसको किसी प्रकार निकालने की चेष्टा करने लगे। वह वोला—मेरे वीच मे मत पडो, नहीं तो मे जिसे पाऊँगा उसी को खीचकर इसी अग्नि मे डाल लूँगा। हा प्राणप्यारी! हा प्राणप्यारी!! कहकर जल मरा।

हुए मरता है और पुनः-पुनः जन्म धारणकर वैसे ही क्रूर स्वभाव से त्रिविध तापमय योनियो मे पचा करता है। कहा भी है—"काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ प्रीति करै जब तीनिउ भाई। उपजै सन्निपात दुखदाई"॥ ११॥ सद्गुरु कबीरसाहिब कहते हैं कि गुरुपारख का निर्णय अमृत सुन-गुन-मनन करके परीक्षादृष्टि धारण करे तब जीव का विषय-सेवन और कामनारूपी विष तुरत जाता रहे और उसको शुद्ध चैतन्य स्वरूप का बोध प्राप्त हो जावे, और मानसिक दुख का नामोनिशान भी मिट जावे। उसे बार-बार देह धारण करना और छोडना भी न पडे। दूसरा कोई उपाय दुख छूटने का नहीं है इसलिए जिसे दुखो से छूटने की इच्छा हो, वह सत्य शब्दो द्वारा जो परीक्षा कराई गई है, उसे मनन-अभ्यास करके त्यागने योग्य विषयो को त्यागे और ग्रहण करने योग्य गुरुरहस्यो को ग्रहण करे, तब सब दुख-द्वन्द्वो से पीछा छूटे॥ १२॥

शब्द—२८

स्वबश का अपने करौ न मान।
स्वबश तब अपना छोड़ौ मलान॥ टेक॥

तन मन धन बहु घात करै रिपु, रोग ब्याधि मन परबश जान।
राजा चोर हानि करै धन की, बिद्या बुद्धि हरै अभिमान॥ १॥
सत्यसुधामृत बिना आचरण, तब लगि काम देय नहिं ज्ञान।
मिथ्याबाद करै सबहिन से, भरमत फिरै भुलान॥ २॥
छल प्रपंच अज्ञान बिकासित, फिरै कामना बिबश दुखान।
भंग होय नहिं ज्ञान रहै तहँ, जो नहिं दूरि करै अभिमान॥ ३॥
मिथ्या गर्ब जो वहि को खावै, पशुवत बहत ज्ञान बिनु जान।
शांति सुलभ जेहि ज्ञान से होवै, तेहि लहि भरमत विषयन ठान॥ ४॥
जौनि जीव सब मन के बँधुवा, तिन पर करै गुमान।
वाक्य ज्ञान सब जड़हिं अधारित, भंग होय नहि रहै ठेकान॥ ५॥
रहै न स्वबश मनुष कोइ अपने, जिनको मानि फिरै बौरान।
तुच्छ लखत जब निज से सबको, तबहिं करत अभिमान॥ ६॥
जेहि कारण उनको लघु समझत, अपना बनत सुजान।
सो अज्ञान भरा जब तुममे, तब तो वहै ठेकान॥ ७॥
निर्मल स्वच्छ आप जो आपहिं, तेहि तुम लाय धरत अभिमान।
कलिमल मद को साथै लीन्है, ज्यो का तेवहिं देखान॥ ८॥
क्षण में मन युवती बश भरमत, भूलि आप दुख दान।
भरमत मन तेहि की करि चेष्टा, बिसरत मोक्ष ठेकान॥ ९॥
काहुइ बाद बिबाद मे भूलत, मन बशि झगड़ा ठान।
वाक्य साधना बिना मनुष्य के, स्थिति दूरि परान॥ १०॥

बिबेक बिराग काह तब कहिये, स्वारथ कठिन देखान।
मोह बिबश अँधियारी छाई, लोभ मे रहा हेरान॥ ११॥
सदा कामना मनहिं नचावै, जीवहु माथ भुलान।
तेहि पर गर्ब स्वबशता धारण, यहि ते अधिक कौन अज्ञान॥ १२॥

टीका—विजाति सर्व पदार्थ नाशवान होने से उनमे स्ववशता का प्रमाद मत करो। जव इस देह और देह सम्वन्धी धन, जन आर पदार्थो के अपनापन का प्रमाद छोड दोगे, तभी स्ववश-स्वतन्त्र स्वरूप में स्थिर हो सकते हो या तुम्हारा स्वरूप ही स्वत· स्वतन्त्र हे, विजाति प्रमाद से परतन्त्र हो रहे हो, अत: प्रमाद छोड देने से स्वतन्त्र हो जाओगे॥ टेक॥ जिस काया की सुन्दरता, मन-बुद्धि की चपलता ओर धन-विद्या की अधिकता पर मनुष्य को वडा प्रमाद है, जिसके प्रमाद मे किसी को कुछ नहीं समझता, नाना प्रकार के अधर्म में रत रहता ह, उस काया, बुद्धि, धन ओर विद्या के विनाशक शलु चारो ओर से घात कर रहे हैं। काया मे ज्वर, जूडी, खॉसी, शूल आदि अनेक रोग रूप शतु चोट कर रहे हैं। जसे—

सवैया—"*भूख रु प्यास व आगि जु घातक, हिसक जन्तु से रक्षहु देहा।*
पालहु पोषहु कोटिन यत्न से, ता पर व्याधि भयावन जेहा॥
खाँसी बुखार मृगी उनमादहु, शूलहु पीर अनन्त दुखेहा।
ता पर छीजत जात न आपन, सोई कृतघ्न जु या मद लेहा॥"

यह तो हाल हुआ काठ की घोडी काया का, अव जिस मन पर जीव को वडा भरोसा है, उस मन की लीला देखिये—

सवेया—"*इन्द्रिन द्वार जहाँ तहँ चचल या मन की गति मर्कट जंसी।*
जो कछु सम्मुख देखत सूँघत खावत पीवत पर्शत केसी॥
पलो भर थीर न आगेहि आगे को जारिनि ज्यो सो अनेम लुभैसी।
हानि रु लाभ न सोचि सके कछु ठोर कुठौर क्षण मे विकेसी॥"

इस प्रकार मन मे चचलता-विवशता भरी हे। अव धन का हाल सुनिये—कुण्डलिया—"भूप चोर डाकू ठगौ, आगि लगे वहि जाय। मित भ्रात जननी जनक, सवहीं घात लगाय॥ सवही घात लगाय, थीर नाहिन निज दोलत। करिये कोटि उपाय, मिले वहु तृष्णा खौलत॥ यहिते धर्म सुधारिये, तजि के मद अन्ध कूप। अन्त सवै छुटि जाइह, कौन रक को भूप॥" इससे धन की ममता भी त्यागना चाहिए। अव विद्या-बुद्धि के वारे मे विचारिए—धन से बुद्धि-विद्या का अधिक अभिमान होने का सम्भव हे। देखा भी जाता है, मेरे समान कौन है, मैं वडा ज्ञाता हूँ, इन लोगो को वोलने का शुऊर नहीं है तो आर ज्ञान केसे होगा! इस प्रकार वाक्यमात ज्ञान के अभिमान से गाफिली वढ जाती है। गाफिली से विद्या-बुद्धि का सम्हार और शुद्ध उपयोग छूट जाता है। सम्हार रहित विद्या-बुद्धि नष्ट हो जाती है। वह शुद्ध उपयोग मे नहीं आती। इससे उपाधि ग्रसित चल-विचल पदार्थ का मद[१] न करना चाहिए, बल्कि

---

१ छन्द—व्याधि जर-जर देह मे भय, भोग मे तृष्णा कुँभय।

यथाप्राप्त विद्या-बुद्धि से यथार्थ कार्य करना चाहिये॥ १॥

अमृत अविनाशी सत्यस्वरूप की एकरस स्थिति के लिए सदाचरण का अभ्यास किये बिना केवल ज्ञान से दुख निवृत्त न होगा। यदि यथार्थ ज्ञान भी हो गया और उस ज्ञान के अनुसार आचरण न किया गया तो क्या वह ज्ञान काम देगा। जल का शीत्त गुण जान ले और यदि जल न पीवे तो क्या प्यास जायेगी। वृथा ही कितनेक ज्ञानी आचरण, रहस्य, और अभ्यास करना छोडकर सबसे विवाद करते हैं। जिस बडाई-प्रभुता, धन और सुख के लिए वे सबको हराते घूमते है, वही बडाई, प्रभुता उनके सत्यस्वरूप पर पर्दा डाल कर जगत-चक्कर मे भ्रमाती रहती है॥ २॥ मनुष्य अज्ञान से उत्पन्न हुए मिथ्या, छल-प्रपच, झूठी-झूठी बातो को सिद्ध करने मे तत्पर हो कामना के हाथ बिककर सब जगह दुखी हुए भ्रमते रहते हैं। ऐसे दुख पूर्ण वृथा अभिमान को जो नहीं छोड़ेगे उनके ज्ञान की बडाई नष्ट हो जायेगी। वाक्य-बरबरता, बडी खरखरता, विद्या की चपलता उस दिन भग हो जायेगी, जब प्रमाद-वश जगत-विरुद्ध कोई अत्यन्त खोटाई या विषयासक्ति बढ जायेगी। तब अनाडी भी फटकारेगे, जिसे सुनकर विद्या-बुद्धि की विशेषता का अभिमान भग हो जायेगा। गाफिली, सुखाध्यास, कुसग, उद्दण्डता[१] मनमाने बर्ताव होने से अभिमानी गिरे बिना बच नही सकता, जैसे रावण, कस, दुर्योधन, हिटलर इत्यादि॥ ३॥ जो क्षणभगुर कल्पित तन, मन, धन, विद्या और बुद्धि का अभिमान करता है, उसे अभिमान खा लेता है। जिस साधन-धाम मानव तन से मन और कर्म द्वारा अविनाशी स्वरूप मे स्थिर हुआ जाता है, उससे मिथ्या अहकार लादकर अज्ञानी मनुष्य व्यर्थ ही विषय सेवन करके पशु की भाँति नाना प्रकार के उत्पात खडा करता है। पशु बिना पढे ही भोगो में तत्पर हैं और मनुष्य पढ-लिख चतुराई सीख ज्ञाता होकर भोग परायण[२] है।

धन माहि खैंच है चौतरफ, विद्या प्रमाद विवाद भय।
युवति मे दुर्गुण सकल, सब मित्र मे पल्टाव भय।
निजरूप बाद विजाति भय, वैराग्य ही इक है अभय॥

१ दृष्टान्त—अपने कुटुम्ब के भाइयों में एक मनुष्य से कुछ तकरार हुई। वह मात्र एक खूँटा के लिए झगडा था। झगडा चलते-चलते एक तरफ राजासाहब हो गये। राजा ने विरोधी मनुष्य से कहा—आप मुकदमा न लडे, इस खूँटा के बदले मैं दूसरी जगह दे दूँगा। वह बोला—फिर लोग मुझे हरैला समझेगे, मेरी बात न रहेगी, जब हम लेगें, तो वही खूँटा की जगह लेगे जिसके लिए झगडा है, चाहे मेरा सब घर-बार बिक जाय। फिर क्या, चला मुकदमा। वह मनुष्य अपनी सब जगह-जागीर बेच-बेचकर बाद मे कर्ज ले-लेकर मुकदमा लडा। उसका दस हजार रुपया खर्च हुआ, पर अन्त मे हार गया। अब क्या हो, कर्जी भी हो गया, राजा भी वैरी बन गया। अब हर प्रकार वह मुसीबत झेल रहा है। ऐसा यह अभिमान अन्धा कर देता है कि जिसको बालक भी समझ सकता है। जबर्दस्त से वैर करके कहाँ विश्राम। यह प्रमाद देखते-देखते खाई-खन्दक मे डाल देता है।

२ अभिमान तो किसी भी प्रकार का अच्छा नहीं होता। सस्कृत, अग्रेजी, फारसी पढने वाले एक बडे अभिमानी पुरुष ने एक भक्त से कहा—हम वेद-शास्त्रो से मास खाना और मद्य पीना सिद्ध कर सकते हैं। भक्त ने कहा—आप पढ-लिखकर अभक्ष और मद्यसेवन सिद्ध करेगे। जगली भील, सियार और कुत्ते बिना पढे-लिखे ही इन्द्रियों के भोग और अभक्ष-सेवन सिद्ध ही नहीं, बल्कि वही आचरण करके दिखला रहे हैं। आपने विद्या अध्ययनरूप परिश्रम निरर्थक ही किया। जिन इन्द्रियो के विषयो मे पशु-

अरे! जिस ज्ञान से सहज ही स्वरूपस्थिति प्राप्ति होती है, उस ज्ञान को प्राप्त करके जो विषयो मे भ्रमता रहता है मानो उसने दाम देकर अमृत के बदले विष ले लिया। "जानि बूझि जो कपट करतु है, तेहि अस मन्द न कोई। कहहि कबीर तेहि मूढ को, भला कवन विधि होई"॥ बी० ॥ ४॥ जो जीव मन के हाथ बिके हुए हैं, उन पर अपनापन का क्या जोश! आज हमसे प्रेम किये, कल दूसरे मे सुख देख के हमसे बदलकर दूसरे के हाथ बिक गये। इस प्रकार कुटुम्ब, समाज आदि प्राणियो का प्रमाद करना भी निरी कमअकली है। जो वाक्यज्ञान की चातुरी से सबको पराजित करके बहुतों को वश भी कर लिया तो क्या हुआ, क्योकि वाक्य-चपलता और शब्द ज्ञान भी जीव को जड इन्द्रियो के सघात से होता है। यद्यपि अपना ज्ञानस्वरूप अखण्ड, इन्द्रिय स्मरणादि का द्रष्टा और स्मरण को घटाने-वढाने वाला होने से प्रेरक, साक्षी, एकरस है, परन्तु बाह्य ज्ञान देहोपाधियुक्त अन्त:करण-स्मरण आधारित होने से चल-विचल जानना चाहिए। अभी गर्मी या सन्निपात या कोई भयंकर रोग पकड ले तो शिक्षा-प्रचार या बाह्य ज्ञान कैसे बनेगा! इससे विघ्नमय वाक्य, बाह्यज्ञान तथा बुद्धि का भी प्रमाद न करना चाहिए॥ ५॥

जिन स्त्री-पुत्र, सगे-सम्बन्धी, दास-दासी को पाकर मनुष्य मारे गर्व के फूले नहीं समाता, उन सब पर क्षणमात्र भी अपना अधिकार नही है। क्योकि समस्त प्राणी अपनी सुखकामना तथा पूर्वप्रारब्ध और पुरुषार्थ तथा सग-कुसग के झमेले मे पडे हुए स्ववशता रहित हैं। फिर नदी की धारा मे बहने वालो का क्या प्रमाद! जब अपने से दूसरे को किसी बात मे छोटा देखा जाता है, तभी अपने बड़प्पन का अभिमान सिर पर सवार हो जाता है॥ ६॥ दूसरे के जिस अभिमान और अभिमानजनित हिसा-घात, द्रोह, नीचकर्म को देखकर उसे तुच्छ समझा जाता है और अपने को उन दुर्गुणो से रहित समझकर उनसे श्रेष्ठ सज्जन माना जाता है, यदि दूसरे के समान ही अपना भी अज्ञान और अज्ञानजनित मिथ्या वस्तु का प्रमाद और दुर्गुण लाद लिया तो उसी नीच की ही भूमिका अपने को भी प्राप्त होगी॥ ७॥ जो अपना शुद्धस्वरूप चैतन्य स्वयप्रकाश है, वह जडतम से पार तथा शुद्ध है, पर ऐसे शुद्धस्वरूप तुम विजाति वर्णाश्रम विद्या-बुद्धि, तन-धन, मान आदि का अभिमान-बोझ लाद रहे हो, फिर जब कलिमलरूप अज्ञानजनित मिथ्यागर्व साथ ही लिये हो तब क्या विशेषता रही। बिना मद के छोडे एक भी बन्धन नहीं छूटता, मद ही करके फिर-फिर वही भूलकृत जन्म-मरणरूप ससार चालू रहता है॥ ८॥ देखो! प्रमादवश मन मे कितना विकार है! क्षण ही मे यह मन युवती की ओर लोलुप होता है। जो स्त्री बन्धन करके अनन्त दुख देने वाली है, उसे दुखदायी न समझने से उधर ही सुखभावना होने लगती है। फिर तो स्त्री और घर-धन मे सुख मानकर इसी विषय मे नाना चक्कर काटते हुए मुक्ति के ध्येय, विचार और रहस्य से पीठ दे देता है।

पक्षी, कुत्ते, गिद्ध, अज्ञानी नर-नारी लोलुप हैं, उन्हीं मे यदि पढ-लिख और समझ-बूझकर कोई पडा रहे और फिर अपने को सबसे ऊँचा समझे तो उसकी ऊँचाई कैसे होगी! इसलिए पूर्व शब्दो का स्मरण करके अभिमान को त्यागकर सुख से नित्य स्वरूप मे स्थिर होना चाहिए। ये साखियाँ स्मरण रहे। साखी—"लघुता में प्रभुता बसै, प्रभुता से प्रभु दूर। कीडी सो मिश्री चुगैं, हाथी के सिर धूर॥ १॥ लेने को गुरु ज्ञान है, देने को अन्नदान। तरने को है दीनता, बूडन को अभिमान"॥ २॥ सा० स० ॥ सो०—लाद्यो विद्याभार, बहु चतुराई सिख लिये। काम क्रोध के धार, पचत चतुर रासभ भयो॥ ३॥

तनिक सी गाफिली मे जब ऐसे-ऐसे कठोर बन्धनो की सन्धि है तो फिर लुटेरे स्थानो मे टिककर फूलना चाहिए या सावधान रहना चाहिए। यह स्मरण रहे कि सावधानता सहित स्वरूपज्ञान, विवेक और वैराग्य ही मन के और जगत के फन्दे से बचाने वाले है, नहीं तो मदवश गाफिल होने से पूर्व दशा धरी है॥ ९॥ कहीं तो किसी से वाद-विवाद ही मे इतना भूले हैं कि मन के वश मे होकर रात-दिन झगड़ा-झझट ही किया करते हैं। जो मन मे आया सो धमके सिद्ध। पर केवल वाक्यनिपुणता से मोक्ष स्थिति लाखो कोस दूर है। जब तक निर्मान होकर वाक्यसयम सहित सच्चाई के साथ साधन-अभ्यास न करे तब तक स्थिति का कहाँ ठिकाना।॥ १०॥

सत्य-असत्य और जड-चेतन को पृथक-पृथक करने का नाम विवेक है। पाँचो विषयो मे सुखासक्ति के त्याग का नाम वैराग्य है। मोहासक्त के मन मे विवेक-वैराग्य के नाम ही कहाँ। जब विवेक-वैराग्य ही नहीं, तो मनमाने वाक्य बोलने और जगतनीति के विरुद्ध बर्ताव करने से विरक्ति दशा मे निर्वाह भी होना कठिन हो जाता है। फिर निर्वाहरूप स्वार्थ-चिंता ही से जब छुट्टी नहीं मिलती, तो विवेक-वैराग्य कब-कैसे सधे। जब मिथ्या हन्ता वश शरीर का स्वार्थ ही पूर्ण होना कठिन हो रहा है, साथ ही विषय तथा प्राणियो के मोह की घनघोर रात्रि अन्तःकरण मे जकडे हैं, तथा द्रव्य और भोग पदार्थो के सग्रह रूप लोभ मे पडकर जीव सत्पथ को बिलकुल भूल ही गया है, यहाँ तक कि कभी अपने स्वरूप-शोधन की इच्छा ही नहीं जगती, तब वहाँ विवेक-वैराग्य कैसा।॥ ११॥ इस मन को सदैव कामवासना या सर्व इन्द्रिय-सुख की कामना नट-बन्दर के समान नचाती रहती है। उसके साथ जीव सना हुआ आप भी चलित होता रहता है। इतने पर भी जीव को सब पदार्थों ओर अपनी स्ववशता का अभिमान है। भला इससे बढकर भी कुछ और अनाडीपन होगा कि चारो तरफ से विवशता के डडो से पीटा जा रहा है तिस पर भी स्ववशता का प्रमाद। "ई गुण गर्व करो अधिकाई। अधिके गर्व न होय भलाई"॥ बी०॥ इस प्रकार मन की विपरीत करनी को विचार कर तथा सब अभिमान से रहित सर्वदा अपने को मनशत्रु के बीच मे जानकर सावधानी सहित स्वरूपस्थिति बनाना चाहिए॥ १२॥

शब्द—२९

सो देखौ मन समुझि बिचारौ आप॥ टेक॥

जेहि कारण जो काम करति हौ, हानि लाभ जो थाप।
तेहि में हानि होय जेहि करतब्य, कौनि समुझ फल लाप॥ १॥
जो जो काम करौ तुम निज हित, तेहि मे मान मिलाप।
तेहि के कारण नीचे जावो, कहाँ उँचाई थाप॥ २॥
यह तौ काम सुबुद्धि के नाही, कुबुधि केर फल ताप।
काह बडा तुम आप को मानौ, समुझि बिचारो पाप॥ ३॥
बड़े पुरुष निर्मान रहत है, होत बड़ाई जाप।
नीच निचाई तुम में देखो, कहँ तब श्रेष्ठ मिलाप॥ ४॥

जो जो दुख तुम निशदिन भोगे, भरमत सहत कलाप।
सोई दुख जब शिर पर तुम्हरे, केहि लगि मान कराप॥ ५॥

टीका—हे जगत-प्रपच से हटने वाले मुक्ति-इच्छुक! अपने स्वरूप और अपनी स्थिति का विचार करो ॥ टेक॥ कोई भी कार्य किया जाता है सब मे कुछ लाभ ही सोच कर, साथ ही हानि वाले कार्य का त्याग किया जाता है। तो भला, जिस अभिमान रूप कर्तव्य से जीव की हानि हो, उसे यदि कहा जाय कि समझ-बूझ कर किया तो समझने का फल क्या हुआ।॥ १॥ कल्याण-हेतु जितने शील-सत्य आदि रहस्य ग्रहण किये जाते हैं, यदि उनमे मान-बडाई की भावना है तो वह कार्य दाम्भिक होने से उसे तुच्छ मान-सुख मे फूलने से नीच ही क्रिया बनेगी, फिर नीच कर्म करने वाले की श्रेष्ठता कैसे रहेगी!॥ २॥ इसलिए अभिमान करना समझदार का काम नहीं है। तन, धन, वर्णाश्रम, विद्या आदि क्षणभगुर वस्तुओ का प्रमाद करना कुबुद्धि का फल है। जिसका परिणाम होता है मानसिक जलन और भविष्य मे त्रिविध ताप भोगना। दुखप्रद करनी करके फिर किस बात मे अपने को बडा मानते हो! कुछ समझो-विचारो। देखो! यह अभिमान ही सर्व पापो की जड है॥ ३॥ इसीलिए बडे पुरुष सर्वदा तन, धन, बुद्धि, विद्या, वर्ण, आश्रम आदि के अभिमान से रहित रहते हैं। जिससे उनकी जगत मे बडाई होती है। अभिमान-रहित पुरुष का ही सब सादर नाम जपते हैं। तुम्हारे मे तो जड वस्तुओ के अहकारवश सर्व नीचता भरी है। मदवश तुच्छ स्वभाव धारण करके पुनः नीच कर्म कर रहे हो तब भला श्रेष्ठ पुरुषो की गणना मे कैसे हो सकोगे या श्रेष्ठ पद कैसे पा सकोगे। "जहाँ गाहक तहाँ हौं नहीं, हौं तहाँ गाहक नाहि। विना विवेक भटकत फिरे, पकरि शब्द की छाँहि"॥ बी०॥ ४॥ देह-मन, मनुष्य-समाज, कुटुम्ब आदि के सम्बन्ध से दैहिक, दैविक, भौतिक, जन्म-मृत्यु आदि दुखो को तुम अनादिकाल से भोग रहे हो, पुनः उन्हीं मे भूलकर अमित कल्पना का दरेरा रात-दिन सह रहे हो, अब वर्तमान मे भी उन्हीं सब दुखों का बोझा तुम्हारे सिर पर लदा है। तब बडा आश्चर्य है कि किस बात का अभिमान करते हो! "करे गुलामी बने अभिमानी"॥ ५॥

दृष्टात—एक मन्युदत्त नामक पण्डित थे। उन्हे अपनी जाति का बड़ा प्रमाद था। दूसरे, विद्या का भी प्रमाद था। इस कारण वे किसी सज्जन-सतगुरु से प्रणाम-दण्डवत नहीं करते थे, न सत्सग ही मे बैठते थे। अतः वे विद्वान होते हुए भी सद्गुणहीन और विषयलोलुप थे। उनके पास ही एक रामकुँवर नाम के कुलीन क्षत्रिय थे। उनके यहाँ विवेकी संत आया करते थे। एक समय रामकुँवर के यहाँ एक विवेकी सत विराजमान थे। पण्डितजी भी उसी समय टहलते हुए आकर रामकुँवर से कहने लगे कि हम तो जाति जाने विना सतो से प्रणाम नहीं करते हैं, क्योकि आजकल अधम वर्ण मे भी बहुधा साधु हो जाते हैं। हाँ, यदि कोई श्रेष्ठ वर्ण के सत हो तो मैं उनका दण्डवत करूँ। रामकुँवर बोले—दण्डवत-प्रणाम तो श्रेष्ठ श्रेणी के अनुसार किया जाता है। आप साधु का दण्डवत-प्रणाम करेगे या जाति का? जो सबका गुरु तथा श्रेष्ठ ब्राह्मण ही माना जावे तो फिर ब्राह्मण साधु क्यो हो जाता है? इन्द्रिय, मन आदि के वेग को साधने वाला साधु है, सो कोई भी करे। व्यास, वसिष्ठ आदि साधुगुणो द्वारा ही श्रेष्ठ माने गये, जिनकी उत्पत्ति नीच कुलो मे कही गई है। दूसरी बात, सब वर्णो की देह नाशवान, क्षणभगुर, अस्थि-मल-मूत्र का भाजन है। "बडे गये बडापने, रोम-रोम हकार। सतगुरु के परचै विना,

चारो बरन चमार"॥ बी०॥ आपको चाहिये कि वर्णाभिमान छोडकर वैराग्यवान संतो का सत्सग करके नित्यस्वरूप को जाने, जो कि मिथ्या नाम, जाति, वर्णाश्रम से भिन्न एकरस है। पण्डितजी इतना सुनते ही बहुत क्रोधित होकर चल दिये। वर्णाभिमानी विप्र संतों के पास जाकर ऊँचे बैठने को पावे तब तो बैठते है, नही तो घूमा करते है। करनी भ्रष्ट मिथ्या अभिमान मे फूलते हैं। यथा—"छीजै साहु चोर प्रतिपाले, संत जना की कूटि करे"॥ बी०॥

एक बार रामकुँवर दर्जी के यहाँ बैठे कपडा सिला रहे थे, उधर से वही अभिमानी पण्डितजी आ निकले। मन्युदत्त ने रामकुँवर को नही देखा था। दर्जी से पण्डित मन्युदत्त बोले—खलीफा चाचा सलाम! इतने मे वहाँ एक थानेदार साहब मिल गये, वह भी जाति के यवन थे। पण्डित ने उनसे भी कहा—थानेदार साहब सलाम! थानेदार साहब वहाँ से चले गये तब तक वहाँ एक वकील साहब आ गये जो कि जाति के अत्यज थे, उनसे मन्युदत्त ने कहा—जय शकर की! वकील साहब के चले जाने के बाद इन बातो को देख-सुनकर रामकुँवर भीतर से बाहर निकल आया और बोला—अब आपका वर्णाभिमान कहाँ गया? सतो के यहाँ तो आप जाति पूछकर प्रणाम-दण्डवत करना चाहते है ओर यहाँ ये लोग कौन से उपाध्याय है? आप लोग जो तुच्छ देह के नाम, रूप वर्णाश्रम मे फूलते हैं, इसीलिए अविनाशी सत्यस्वरूप का बोध न पाकर कोरे ही रह जाते है। यही कारण है कि विशेष विप्रो मे आजकल सिवा एकमात्र पाखण्ड के और सद्‌गुण तो सब लोप हो गये या हो रहे हैं। मन्युदत्त खिसिया गये। ऐसा वर्णाश्रम का अभिमान है कि न सत-समागम मे जाने देता है, न सद्‌गुण प्रवेश होने देता है। जब व्यवहार सिद्धि के लिए नीच-ऊँच सबसे नम्रता लेना पडता है तब फिर परमार्थ सिद्धि के लिए सदाचारी साधु पुरुषो से क्यो न नम्रता ली जाय! जो ब्राह्मणो मे या अन्य लोग समझदार होते है, वे ऐसा कभी नहीं करते। सत्पुरुषो से नम्रता का व्यवहार, बराबरी मे समता और छोटो मे अनुग्रह से बर्ताव करते है।

कवित्त

पराये की धरोहर व सावन कि सेहरा व, पाहुन व भिक्षुक व रोगिन से देख ले।
धर्मशाला को टिकाव डाकगाड़ी को रुकाव, चोर डाकू को लगाव भोग आगि लेख ले।
आपत्ति के ठौर अस ठहराव तहाँ कस, मानि-मानि मोह अध परवश सेख ले।
याते मद टार-टार निज को सम्हार सार, मुक्ति हूँ को पाय द्वार शीघ्र ही सु भेख ले॥

शब्द—३०

भरमि रहा जियरा बशिता हाट॥ टेक॥

खान पान हित तन की बशिता, परै परिश्रम भार।
तेहि निरबाह क्रिया सब इन्द्रिन, बिन बरते कहँ बाट॥ १॥
मन बशिता उद्वेग उठावे, काज अकाज बिसार।
इन्द्रिन बशिता विषय ग्रहण करि, हित अनहित तजि चाट॥ २॥
निज अनुकूल मे भंग करै सब, जीवन बशिता वार।
तेहि हित समता सजग रक्षि तिन, रहै आपने घाट॥ ३॥

रोग सदा दुख भोग करावै, दवा परहेज निहार।
निज पुरुषारथ भंग करै वह, विपति अधीर उचाट॥ ४॥
हानि कि वशिता मन को बाँधै, घेरि-घेरि तक्रार।
शोक कि वशिता हृदय जलावै, बिन धीरज नहिं काट॥ ५॥
लाभ कि वशिता हर्ष बढावै, उनमत बुद्धि विसार।
विघ्न सबै पुरुषारथ रोकै, हित को भंग कराट॥ ६॥
अग्नि दाह झूरा अति वर्षा, नाशे कृषी तुषार।
तन घातक प्रतिकूल दुखित जिव, परवश सहत अकाट॥ ७॥
बिन स्मरण जीव के सनमुख, आय परै सिर भार।
दैहिक दैविक भौतिक सबहीं, अदृश्य भोग दुख ठाट॥ ८॥
करि उपयोग दुखै दुख भोगत, सहन रहित तन धार।
तबहूँ होश न आवत बौरे, मोह अन्ध मन नाट॥ ९॥
स्ववश जीव परवश दुख भोगै, निज को रहा विसार।
विन गुरु पारख छूटि सके नहिं, पडा दुखहि के खाट॥ १०॥

टीका—यह जीव परवशता के बाजार मे भटक रहा है॥ टेक॥ अन्नमय देह आहार बिना रह नहीं सकती। इसलिए शरीर के वश होकर अन्न-वस्त्र आदि के लिए निज-निज श्रेणी शक्ति के अनुसार व्यवहार और प्रयत्न करना पडता है। खाना-पीना, दिशा-लघुशका, सोना-जागना आदि जो शरीर की नित्य क्रियाये करनी पडती हैं, इनकी विवशता जीवो को घेरे है। जेसे नेत्र मे दर्द हे, उसी समय दिशा-लघुशका भी जाने की आवश्यकता है, तो रास्ता देखना अन्य इन्द्रिय से नहीं बन सकता, नेत्र मे दर्द होते हुए भी विवशता से क्रिया करनी ही पडेगी। ऐसे ही दाँत-दर्द या कण्ठ मे घाव हे, उसी समय किसी तरह खाना-पीना भी पडता है। इस प्रकार इन्द्रियो मे रोग-व्याधि होते हुए भी उन्हीं से क्रिया करनी पडती है। देह की नित्य क्रिया किये विना कहाँ छुटकारा हे। यह देह क्रिया की विवशता ह॥ १॥ मन की विवशता ऐसी है कि काज-अकाज, हानि-लाभ, प्रयोजन-अप्रयोजन का विचार त्यागकर यह मन व्यर्थ कल्पनाओ को जीव के सम्मुख किया करता है, जिससे उसके अत:करण मे हलचल मची रहती हे ओर नीचे पानी बहने के समान इन्द्रियाँ शीघ्र ही सम्मुख विषयो की तरफ आकर्षित होती रहती हैं। जीव भूलवश कल्याण का विचार त्यागकर केवल चाट के वश होकर विषयो को इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण करता है, यह भूल से इन्द्रियो की विवशता हुई॥ २॥ शत्रु-मित्र, मनुष्य, पशु-पक्षी, सर्प-बीछी आदि जितने प्राणी हे वे किसी न किसी प्रकार सब सबकी स्वतत्रता का विनाश करते ह। जैसे कोई विचारवान स्वतत्र विचार से चल रहे ह या बैठे हैं, इतने मे कोई द्वेष मानने वाला आ गया या कोई साँड-भैंसा आकर बेझने लगा। इस प्रकार अन्य जीवो से मनुष्य को विवशता होती हे। यह विशेष न बढ जाय या कोई उत्पात न खडा हो जाय, इसके लिए सब सबके साथ बुद्धि के अनुसार समता, क्षमा और बडी सावधानी से बर्ताव करके तब कही अपना निर्वाह कर पाते हैं। यदि समता, क्षमा ओर सावधानी से न बरता जाय तो ठौर-ठौर सब प्राणियो से वैर और आसक्ति की बढ़ती होकर अपना मार्ग ही छूट

जावे। यह जीवो से विवशता जानना चाहिए॥ ३॥

देह मे जब कोई रोग लग जाता है तब वह कुछ न कुछ दुख का अनुभव कराया करता है। रोगजनित दुख को मिटाने के लिए नाना औषधियॉ, सयम और अनुपान करना पडता है। अहो! ये रोग-शोक सत-पुरुषार्थ को रोकने लगते हे। अतिव्याधि से कष्टित होकर बार-बार अधैर्यता होने लगती है, चित्त उधर ही खिंचने लगता है, कैसे हो, क्या होगा, ऐसी उचाट से हृदय की शाति विदा होने लगती है, यह रोग की विवशता कही गई॥ ४॥ स्त्री, पुत्र, घर, धन, मान, बडाई, सेवक आदि समग्र ऐश्वर्य जहॉ तक अपना करके सुखरूप माना जाता है, उनके बिछुड जाने पर हानि प्रतीत होती है। शरीरधारी के मन को एक न एक हानि की विवशता चिंताक्रात किये रहती है। बार-बार जबरन हानि वाली बात स्मरण हो-होकर हानि-रहित जीव को हानि का झगड़ा लगाये रहती है, हृदय मे शाति, सतोष को नही ठहरने देती। जिससे हानि प्रतीत होती है उससे बार-बार झगडा करने की हानि-भावना ही उत्कर्ष पैदा करती है, यह हानि की विवशता है। अति हानि-भावना की ही अतिम अवस्था शोक है। पुत्रादि-मरण शोक की विवशता है। ऐसी हानि सम्बन्धी शोकाग्नि जीव के हृदय को तपाया करती है। बिना धैर्य धारणा के उससे कौन पार पा सकता है! धीरज के अग हानि-लाभ रहित सत्यस्वरूप निश्चय करके देह के भोग प्रारब्धाधीन और जगत सम्बन्ध क्षणिक जानकर धीरज लेना चाहिए, शोक छोड देना चाहिए। "होनहार सोई तन होई। ताहि मानि जीव काहेक रोई॥ तू अविनाशी सुख मे कहिए। याहि जानि धीरता लहिए"॥ नि०॥ ५॥

सुख माने हुए मायावी पदार्थों के मिलने पर लाभ प्रतीत होता हे। लाभ मिलते ही हृदय फूल जाता है। लाभ हर्ष को बढाकर लोभ पैदा कर देता है। लोभ से यथार्थ समझ नष्ट हो जाती है। तब कुछ और ही करने व बकने लगता है। यह लाभ की विवशता भी जीव को नीचे डाल देती है। जितने स्वार्थिक-पारमार्थिक कार्य हैं, सबमें उसके घातक कुछ न कुछ विघ्न आ घेरते है, ऐसे विघ्न पुरुषार्थ को रोक कर जो उस पुरुषार्थ से लाभ होने वाला है, उसका नाश कर देते हैं, यह विघ्नो की विवशता हुई॥ ६॥ अग्नि लगने, पानी न बरसने, झूरा पडने, अतिवृष्टि होने, पाला-पत्थर पडने, ऑधी, विद्युत आदि जडतत्वो की उपाधियो से निर्वाहिक खेती, बाग-बगीचे, घर-वस्तुये और बहुतो के शरीर नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जडतत्वो की विपरीत क्रियाये शरीर के घातक रूप हुआ करती है, जिससे जीव परवश होकर सदैव कष्ट सहा करता है। यह कष्ट शरीरधारी को अकाट्य है, ब्राह्माण्डिक उपाधि सबको सहनी ही पडती है। यह जडतत्वो की क्रिया की विवशता दिखायी गयी॥ ७॥

जो स्मरण मे नहीं आता, नहीं जाना जाता कि कल मुझ पर कौन दुख अचानक आ जायेगा, और सिर पर त्रिविध दुख आ जाता है, यही अदृष्ट पूर्वभोग दुख का रूप जानना चाहिए। रोग-व्याधि से दुख होना दैहिक, शरीर धारियो से दुख होना भौतिक तथा जडतत्वो से दुख होना दैविक है। ये सब त्रिविध ताप कहे जाते हैं। पूर्व जन्म के शुभाशुभ कर्मों से रचित देह धारणकर घट-बढ तीन तापो को विवशता से सब जीव भोगते रहते है। यह अदृश्य प्रारब्ध भोग की विवशता सब जीवो को घेरे है। इस प्रकार विवशता के समूह मे जीव पडा है॥ ८॥ अरे! यह जीव भोगरूप प्रयत्न करके अपने हाथो दुख खरीदता है। भूल और

सुखाध्यासवश शरीर धर-धरकर सहन-रहित दुख भोगा करता है तब भी इसे चेत नही होता, क्योकि यह विषयो मे विभ्रात हो गया है। मन जीव को मोह मे अधा बनाकर कल्याण मार्ग से नष्ट कर रहा है॥ ९॥ जीव स्वरूप से स्वतत्र, सत्य, एकरस तथा निराधार है, परन्तु मन-मनसा के वश होकर निज स्वरूप के अज्ञान से ही परवश हो रहा है। पारखी गुरुदेव की शरण गये बिना परवशता से छूट नहीं सकता। जब तक गुरुकृपा से यथार्थ पारख जीव को नहीं मिलेगा तब तक पूर्व विवशता की खाट पर पडा हुआ दुख मे तडफा करेगा। इस प्रकार विवशता के प्रवाह मे प्रमाद एव अभिमान का स्थान कहाँ!॥ १०॥

चौ०— मदमर्दन इति भयो प्रसगा। धारण करि हिय होय अभगा॥

प्रसंग ७ —क्रोध-हनन

शब्द—३१

क्रोध न करो बुद्धि भ्रम होई॥ टेक॥

जबहिं क्रोध वह मन मे आवै, व्याकुल चित्त दुखोई।
तन मन धन सब परबश ह्वै कै, जाय स्ववशता खोई॥ १॥
राढि बढे जब दिल मे अपने, तब निज हितहि बिगोई।
छोड़ि चले तब मारग अपना, जाय जगत मग सोई॥ २॥
नहिं कोइ साथ देय तब तुम का, जब यह अवगुण कोई।
है प्रारब्धि भोग जब भोगन, साथ अवश्यक तोई॥ ३॥
बनै करम बन्धन तब जग के, जब सबका दुख होई।
हानि परे तब निज औ पर की, यहि मग मोक्ष न कोई॥ ४॥
गुरु मारग से बरतो निशदिन, रहो बिवेक समोई।
काज आपनो प्रथम सुधारो, तेहि मग सबहिं बनोई॥ ५॥
जो कोई खास शरण तब आवै, तेहि हित्त जेहिते जोई।
करो उपाय विचारि के अपना, सुफल दोऊ मग होई॥ ६॥

टीका—क्रोध नही करना चाहिये, क्रोध आते ही बुद्धि विपरीत हो जाती है। क्रोध के वश हो जाने से योग्य-अयोग्य और कर्म-अकर्म कुछ नहीं सूझता॥ टेक॥

दृष्टात १—एक क्रोधी मनुष्य स्नान करके आया और उसने अपनी भीगी धोती छप्पर के ऊपर फेकी। धोती वायु के वेग से नीचे गिर गई। वह कई बार गालियाँ देते हुए धोती ऊपर फेकता रहा, परन्तु धोती ऊपर न रुकी। उसने मारे गुस्सा के धोती को नाबदान की मोरी मे डाल एक लाठी से खूब ठूस-ठूस गाली देकर कहा कि अब उडो, देखे कहाँ तक उडोगी। उसने धोती के भुर्जे-भुर्जे कर दिये। क्रोध शात होने पर वह रोने लगा। दूसरे दिन धोती पहनने को तो चाहिये ही। क्या हो, रीझ-खीजकर दूसरी धोती लानी पडी। इस प्रकार क्रोध मे हिताहित नहीं सूझता।

२—एक बार का हाल है कि गर्मी के दिन मे एक पुरुष स्त्री सहित सडक-सडक कहीं जा रहा था। चलते-चलते दोनो को प्यास लगी। सामने ही बरगद की छाया और कुआं देखकर गठरी उतार कर दोनो बैठ गये। स्त्री की गोद म छोटा बालक था। वे दोनो गठरी खोलकर जलपान करने लगे। इधर बालक बाप के कोट की जेव मे रक्खा हुआ सौ रुपये का नोट निकालकर मुख से चबाने और नोचने लगा। उधर स्त्री-पुरुष दोनो ने जलपान करके देखा कि बालक ने नम्बरी नोट नोच डाला है। ऐसी हानि देखते ही बाप इतना क्रोधित हुआ कि उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई, हिताहित का कुछ विचार न रहा। उसने उसी जोश मे बच्चे को उठाकर बरगद की जड पर पटक दिया। बच्चे की खोपडी फट गयी। वह मर गया। यह देख उसकी माता हाय! हाय! करके मोहवश कुऑ मे कूदकर डूब मरी। पास के गाँव मे हल्ला हुआ। पच लोग आ गये। सरकार मे उसकी खबर हुई। वह पुलिस के हवाले हुआ। उसकी भी कई वर्ष की सजा हुई! जेल मे पडे-पडे ऑसू बहा रहा है। क्या हो, अब कोई उपाय नहीं। ऐसा क्रोध तन, मन, धन का घात करके परवश कर देता है। ऐसे क्रोध-शत्रु को जड-मूल से नष्ट कर डालना अपना मुख्य कर्तव्य है।

जब क्रोध मन मे धॅस जाता है, तो चित्त मे हानि या अपमान का स्मरण कराकर अशाति और अधीरता उत्पन्न करके अपने ही को दुख देने लगता है। क्रोध के वश कठोरतायुक्त गाली तथा अन्य दोषो से सने घातक वाक्य बोलता या हाथ, दॉत, लाठी, तलवार, बन्दूक आदि द्वारा दूसरे के प्रति घातक क्रिया करता है। मन तो पहिले ही क्रोध के वश परायी हानि मे तत्पर होकर परवश हो जाता है और परघात की क्रिया द्वारा स्वयं काटा, मारा तथा जेल आदि मे शरीर से भी परवश हो जाता है। रहा धन, सो भी मुकदमेबाजी व जुर्माना आदि अनर्थ मे ही लगता तथा लोग लूट लेते हैं। इस प्रकार क्रोधी के तन-मन-धन पराये अधीन होकर उसकी स्वतत्रता बिलकुल नष्ट हो जाती है। ऐसी दशा मे उसको पल भर कहाँ विश्राम!॥ १॥ राढि का अर्थ झगडा है। हर प्रकार से दूसरे को सताने का भाव जब बन जाता है तब झगडे की वृद्धि करके अत.करण मे निर्दयता बढ जाती है। तब वह स्वार्थिक-पारमार्थिक दोनो प्रकार के हितकारी कार्यो को छोडकर नित नये-नये झगडे ही मोल लिया करता है। वह आचरण करने योग्य शील, क्षमा, सत्य, दया आदि त्यागकर जगत-मार्ग मे गिर जाता है। अज्ञानी के समान, कुटिल, कठोर हिसादि घातकी स्वभाव बनाकर आप जलता और दूसरे को भी जलाता रहता है। इस पर एक दृष्टात मनन करिये—

दृष्टांत—दो पट्टीदार ठाकुर थे। एक का नाम जगदाधारसिंह दूसरे का नाम रणजीतसिंह था। दोनो ममतावाले, कामी, साथ ही क्रोधी भी थे। जगदाधार ने रणजीत को किसी कारण रे-तू! कह दिया। इतने मे उसने गाली दी, फिर दूसरे ने भी गाली दी। फिर एक ने कहा—अच्छा! जो तुम असल क्षत्रिय हो तो हमसे भिड जाओ। बस क्या था, ठाकुरो का जोश कठिन होता है, शीघ्र दोनो मे खटाखट-तडातड लाठियाँ चलने लगी। जगदाधार को रणजीतसिंह ने मार कर गिरा दिया, उसकी खोपडी फट गई थी और खून की धारा से मानो देह नहवाई गई है, इस प्रकार जगदाधार देख पडता था। इतने मे उसके अन्य कुटुम्बी दौड आये। रणजीत भाग गया। जगदाधार के प्राण नहीं निकले थे, प्रारब्धात विना अत कैसे हो! उसकी दवा होते-करते चार महीने मे वह चगा हो गया। बाद मे अपने साथियो को घर मे

छिपाकर तथा किसी प्रकार लोभ दिखाकर उसने रणजीत को बुला लिया और उसकी बडी दुर्गति की। उसके दाँत तोड डाले, आँखो के अगल-बगल मे छूरियाँ भोक दीं और हाथ-पाँव तोड डाले अत मे उसे मुर्दा जानकर घर मे पडा रहने दिया।

रणजीत की पत्नी यह समाचार पा गई। वह निधडक शत्रु के घर में जाकर लाश माँगने लगी। जगदाधार ने कहा—चली जा, नहीं तो तुझे भी यमसदन पहुँचा कर इसके साथ लेटा दूँगा। स्त्री चली आई, ओर अपने साथी को ले थाने मे जाकर इन बातो की रिपोर्ट कर दी। सवेरा होते ही जगदाधार ओर उसके साथी उस मुर्दे को गाडी पर लाद थाने मे प्रवेश किये। थानेदार से जगदाधार ने कहा—यह हमारे यहाँ बहुत जनो को लेकर डाका डालने आया था। उसी मे बलवा हो जाने के कारण इसकी यह दशा हुई हे। थानेदार ने शीघ्रता से उन सवों को हथकडी पहिनवा दी, और खूनी धारा कानून के हिसाब से दावा लिख-पढकर सरकार में पेश कर दिया। रणजीत की लाश देखी गई तो अभी उसकी साँस धीरे-धीरे आ रही थी, अत. उसे जिन्दा जानकर डाक्टर के यहाँ भेज दिया। उसकी दवा हो रही ह, साथ ही बडी धूमधाम से मुकदमा चल रहा हे। छह महीने मे रणजीत अच्छा हो गया। जगदाधार ओर तिसके साथी सब जेल की हवा खाते हुए शोक के आँसू बहा रहे हैं। दोनो तरफ कुशल हे नहीं ''कितो फाँसी, कितो शत्रु फिर गाँसी।'' ऐसी शोकाग्नि से हृदय जल रहा है। बहुत क्या कहे, दो वर्ष मुकदमा चलने के पीछे जगदाधार छूट गया। जगदाधार के छूटते ही उसकी ओर उसकी स्त्री, भाई तथा बच्चो की भी रणजीत ने एकदम से अपने तीव्र शस्त्र से सफाई कर दी। रात को मार-काटकर आप जाकर सरकार मे हाजिर हो गया। निदान—उसकी भी फाँसी हुई। इस मान-ऐश्वर्य से क्या लाभ, क्या विशेषता, क्या सुख, क्या उपकार। अतः यह क्रोध ही सर्व सहारकारक हे, ऐसा जानकर विवेकवान क्षमा द्वारा सहन करके क्रोध का त्याग करते हैं। हानि-लाभ, सुख-दुख, जीवन-मृत्यु, मान-अपमान हर तरह से दोनो निश्चय कर वे क्षमा, अमान धारणकर आगे की हानि, दुख, अपमान से वर्तमान ही मे बचकर सुख से रहते हैं। परन्तु काम आर क्रोधरूप रिपुओ का दमन किये बिना ऐसी क्षमा नहीं आ सकती। इसी कारण क्रोध का अवश्य दमन करना चाहिये। क्षमा के साथ दयाभाव धारण करने पर ही सब सुख होता हे॥ २॥

जब क्रोध या लोभ व कामादि कोई भी विकार मनुष्य बढा लेता है तब वह दुखदायी क्रिया करने के कारण सबसे प्रतिकूल हो जाता हे ओर उससे भी सब प्रतिकूल होकर दुख देने को तेयार रहते हैं। इस प्रकार दुर्गुणी का कोई भी साथ नहीं देता, उलटे उसको सब तिरस्कार से देखते हैं। ऐसा भी नहीं कि किसी का साथ न लेना पडे। जब तक प्रारब्धरूप शरीर का भोग हे तब तक दूसरे का साथ अवश्य ही लेना पडेगा। फिर दूसरे का साथ लेकर क्षमा ओर सहन के बिना सुख-शाति कैसे मिलेगी। सोचो। शत्रुओं के बीच मे सुख कैसा। क्रोध ही तो शत्रु है, उसको धारण कर कदापि सुख नहीं हो सकता। दो०—''शत्रुहि मार्‌यो दोडि करि, शत्रु मूल को पालि। तेहि ते रिपु नित बढत हैं, बड रिपु क्रोधहि टालि''॥ ३॥ तामस प्रधान अंधवृत्ति धारण करके जब सबको सताया जायेगा तब हिसा, कपट, कुटिलता, कठोरतादि घोर पापरूप कर्म बन जायेगे। इससे वर्तमान मे तो दुख मिलता ही है भविष्य मे भी देहे धर-धर कर सम्पूर्ण जगत के असह्य दुख भोगना पडता है। इस प्रकार क्रोध करने से अपनी और दूसरे की हानि होती है, तो भला मोक्ष हो ही कहाँ से। मुक्ति-सुख तो दूर रहा, मुक्ति की एक शुद्ध

रहनी भी तामसी के पास नहीं आ सकती ॥ ४ ॥ अतः जो गुरु का सत्यमार्ग हे वह क्षमा, शील, सतोष से पूर्ण है। उसे ही धारणकर सब के साथ समता भाव से बर्तते हुए सत्यासत्य के विवेक मे तल्लीन रहना चाहिये। इन साधनाओ से प्रथम अपना रहस्य सुधारकर स्वय जीव का काज बनावे। जिस मार्ग से स्वय चलेगा, वही दूसरे के लिए आदर्शमार्ग हो जायेगा अर्थात जिन सद्‌गुणो से अपना काज बना है, उन्हीं सद्‌गुणो से सबका काज बनेगा ॥ ५ ॥ जो कोई छल-छिद्र रहित खास निजी कल्याण के लिए तुम्हारी शरण मे आवे, तो जिस प्रकार उसका कल्याण होता दीखे, उस प्रकार अधिकारी के अनुसार उसे सत्यमार्ग की प्राप्ति का उपाय बता देवे और अपना उसमे मोहासक्ति न बनावे। अपने को बचाते हुए शरणार्थियो की रक्षा करे। जब साधक अपना ही दूसरे के मोह मे फँसकर राग-द्वेष मे नष्ट हो जायेगा, तब दूसरे को कैसे सुधारेगा। अतएव विवेक से अपनी रक्षा करते हुए गुरु निर्णय से ही दूसरे की रक्षा मे चित्त देना चाहिये। इस प्रकार चलने से अपना और दूसरे का जीवन सफल हो जाता हे ॥ ६ ॥

कवित्त—३२

मन मोह लोभ काम आश तृष मद क्रोध, रात दिन घट माहि करै घनघोर है।
दुर्बुद्धि को उपाय सव सबहीं को खैचि लेय, सहित सहाय सेन करै वरजोर है॥
जीव की स्वतत्र राज्य हरे है कलेश देय, जीव मानि मीत ताहि भयो तेहि जेर है।
गुरु की सुबुद्धि सीख आप बल ताहि खींच, मारि ताहि आप रहै जानि निज ठौर हे॥ १ ॥

टीका—घट मे बादल समान आवरण करके रात-दिन ये मन के मोह, काम, आशा, तृष्णा, मद, क्रोधादि द्वन्द्व मचाते रहते हैं। इनमे से जहाँ एक भी आया, वह दुर्बुद्धि-दुर्भावना दृढ करके शेष अपनी अन्य सहायक सेना दुर्गुणो को भी खीच लेता है। ये कामादि जीव के साथ जबर्दस्ती करके जीव का स्ववश, स्वतत्र, अचल, स्वबोधरूप निर्भय राज्य हरणकर उसे अनत दुख देते रहते है। इतने पर भी जीव उन शत्रुओ को मित्र मानता हे। इसी हेतु उनमे बधायमान हो रहा है। अब इन भूलकृत बन्धनो को मिटाने के लिए हे जीव! गुरुदेव का यथार्थ सदुपदेश सुन कर सद्‌बुद्धि प्राप्त करो। देखो! तुम्हारे ही बल से वे बलवान हुए हे, तुम बल न दो तो उनमे कुछ शक्ति नहीं है। इसलिए मानसिक रिपुओ को तुम अपनी सत्ता-सामर्थ्य देना छोडकर उनको शून्य कर दो। फिर अपने स्वत· स्वतत्र बोधरूप राज्य को प्राप्त करके उपाधिरहित सदा के लिए स्थिर हो रहो ॥ १ ॥

साखी—क्रोध लोभ को जीति के, मोह को देव निकारि।
अचल साहिबी लेव तब, डारो काम को मारि॥ १ ॥

टीका—क्रोध पर क्षमा-निर्मानता से विजय करना चाहिये। लोभ को उदारता से ओर मोह को नैराश्यता से मारकर हृदय से भगा देना चाहिये और काम को विचार, धैर्य, साधना, सयम और अभ्यास द्वारा नष्ट कर देना चाहिए। ऐसा करने से सर्वशिरोमणि स्वरूपस्थिति सदा के लिए एकरस प्राप्त हो जायेगी, जिसे प्राप्त करके देह रहे तक जीवन्मुक्ति का परम शान्तिप्रद लाभ मिलेगा। पुन· प्रारब्धान्त पश्चात सदा विदेहमुक्ति मे देहोपाधि दुख विदा होकर निराधार ठहराव हो जायेगा ॥ १ ॥

चौ०—*क्रोधादिक को दमन बखान्यो। जाहि गहे नित हृदय जुडान्यो॥*

प्रसंग ८—इच्छाजित

शव्द—३३

छूटै न मन कर्म गुरु परतीति।

छूटै न मन कर्म गुरुपद प्रीति, छूटै न मन कर्म निज पद प्रीति ॥ टेक ॥
भोगत इच्छा होत है, भोग अहै करतव्य।
करतव्य करता भिन्न है, समुझि देखु मनतव्य ॥ १ ॥
मनतव्य समझ आधीन है, समझ सत्य भ्रम दोय।
ज्यों का त्यो जव लखि परै, इच्छा होय न कोय ॥ २ ॥
चाह दुःख नहि लखि परै, भूल ते होवै चाह।
चाह भ्रमावै जीव को, करै तराहि तराह ॥ ३ ॥
भूल ते भोगत भोग को, भोग अहै दुखरूप।
यह ही यह जानै नहीं, भ्रमत रहत भवकूप ॥ ४ ॥
सब घट चाह सतावई, विकल करै दिन रैन।
फिक्र लगावत जीव को, परवश करत सदैन ॥ ५ ॥
मानै शासन वाहि जो, रहै सदा तेहि साथ।
छोडि सकै नहिं ताहि को, बरबस करै अनाथ ॥ ६ ॥
मनमाने सुख भोग की, करत आश विन काज।
चाह नहीं जेहि पास मे, होवै कवन अकाज ॥ ७ ॥
दु·ख कहाँ फिरि हेरिये, मिटै सुक्ख की चाह।
कोटि यतनि पचि-पचि मरै, ढूँढे मिलै न लाह ॥ ८ ॥

टीका—बोधदाता गुरु मे प्रीति तथा विश्वास साथ ही गुरु के दिये हुए ज्ञान मे दृढ-भाव, पुन· बोध ज्ञान के फल स्वय स्वरूपस्थिति मे प्रीति, इन तीनो से तीनो की पुष्टि होती है। अत इन तीनो की प्रीतिधारा को कभी खण्डित न होने देना चाहिए, जिससे कि निराधार पद की प्राप्ति होकर चल-विचल दुखपूर्ण जगत मे गोता न लगाना पडे ॥ टेक ॥ भोगो को भोगने से इच्छा होती है, फिर मनुष्य भोगो को भोगना कर्तव्य मान लेता है, परतु कर्तव्य करने वाला उससे पृथक होता है। कर्तव्य निश्चय के आधार पर होता है ॥ १ ॥

निश्चयता समझ के आधार पर है। समझ एक सच्ची और दूसरी झूठी होती है। जैसे चेतन शुद्ध अविनाशी, सबसे पृथक इच्छा रहित तथा नित्य ओर तृप्त है, वैसे ही यदि पारखदृष्टि होकर विषयो मे भली विधि दोष दर्शन हो जाय तो कोई सुख की इच्छा ही न चले, क्योकि शुद्धस्वरूप मे इच्छा नहीं है। इससे स्पष्ट हुआ कि जो भोगो मे सुख इच्छाये जगती हैं वे अपने सत्यस्वरूप की भूल से ही हैं, इसलिए भोगों मे सुख की समझ और निश्चय भूलकृत मिथ्या है और भोग त्यागकर स्वरूपस्थिति मे सुख की समझ और निश्चय यथार्थ है ॥ २ ॥ चाहना ही दुखपूर्ण हे, यह जीव को परीक्षा नहीं, इसीलिए स्वस्वरूप को भूलकर

भ्रमवश विषयो की कामना उठाया करता है। वही कामना जीव को चचल करा के जगत रूप वन मे नित्य भटकाती रहती है। कामना के वश मे ही जीव तन-मन के ताप से और अन्य प्राणी तथा जड पदार्थों की प्रतिकूलता से सदा असह्य कष्ट सहते हुए हाय-हाय किया करता है॥ ३॥ अपने सत्य चैतन्य स्वरूप को न जानने से ही दुखरूप जड भोगो को सुखरूप मानकर भोगता है, परन्तु वे भोग पदार्थ दुर्भास, नश्वर और क्षणिक हैं, शोक-रोगजन्य होने के कारण निरन्तर दुखपूर्ण हैं। बस यही बात जीव नहीं जानता, इसी से यह जरा, व्याधि, कामना और मृत्यु से ग्रसित होकर अधकुआँ रूप भवसागर मे बार-बार गोते लगाया करता है। "निर्णय करि देखो सो फन्दा। परवश कुआँ परा है अधा॥ प०॥ ४॥ जितने शरीरधारी जीव हैं, सबको यह कामना पीडित करती है। रात-दिन जीव को चंचल कराके इन्द्रिय भोगार्थ यह कामना ही पीड़ित किया करती है, और इन्द्रिय-सुख की चिंता लगाकर क्षणिक सुख के साधक सकामियो के हाथ बेच डालती है॥ ५॥ जो इच्छा की आज्ञा को मान लेता है और उसी की पुरौती करता रहता है, चाहना-भिक्षुकी कभी पूर्ण न होकर किसी भी उपाय से उसको छोड नहीं सकती, बल्कि जबर्दस्ती स्वरूपबोध और स्थिति छुडाकर जीव को लाचार, अनाथ और विवश कर देती है॥ ६॥

जो कुछ न हो, उसे मान ले, वही मनमानी सुख है। वह सुख कुछ न होते हुए भी विषयो मे मानकर बिना प्रयोजन ही जीव उसकी आशा करता है। जिस वस्तु की कामना जिसे नही सताती, नहीं सम्मुख आती, उसके बिना उसकी क्या हानि होती है। कौन दुख सताता है। बिना भोग ही चाहना-रहित जीव नित्यतृप्त रहता है। इससे स्पष्ट जाना गया कि चाहना ही जीव मे कमी का अनुभव कराती रहती है और चाहना-रहित जीव नित्यमुक्त है॥ ७॥ जगत-सुख की चाहना छोड दी जाय तो दुख ढूँढने पर भी नही मिल सकता है। साराश यह कि भोग-क्रिया, भोग-वस्तु और भोग-कामना मे सुख मानना ही दुख है, उनको छोडकर जीव नित्य तृप्त, स्वतः आरोग्य, गुरु-पारख स्वरूप, कृतार्थरूप ही है, फिर उसे दुख का दर्शन नहीं हो सकता। अतएव जिसे दुख की इच्छा न हो, वह प्रयत्नपूर्वक जगत के विषयो में सुख मानना छोड़कर स्वरूपस्थिति की साधना करे॥ ८॥

शब्द—३४

सहि न सकै सनमुख जिव इच्छा॥ टेक॥

ख्वाहिश टेर सुनत कुम्हिलावै, करदै ताहि भ्रमित भयो लक्ष्या॥ १॥
को है करत जात का होवै, बिबश किये फिरि करै कुशिक्ष्या॥ २॥
ज्यों-ज्यो पावै त्यो हठि लावै, यतनि अनेक टरै नहिं तक्ष्या॥ ३॥
पावत जोर करै वह चवगुन, झपटि चहै दातहि गहि भक्ष्या॥ ४॥
नाना युक्ति मिटावन उसके, बढत जाय नित नव प्रति इच्छा॥ ५॥
लै निज भेंट हर्षि उठि धावे, नहि झगरै जेहि उलटि कनिक्ष्या॥ ६॥
निज अज्ञान खड्ग गहि सनमुख, नहिं स्मरण असंख्य परिक्ष्या॥ ७॥
ख्वाहिश दूरि न देय के साधन, जेहि ते होय सदै निज रक्ष्या॥ ८॥

सहन करन फल जानि न पावै, बल तेहि होय अचाह अनिच्छा ॥ ९ ॥
सकल फिक्र तजि फिक्र करै यह, जगत जहेर धरि अमृत सक्ष्या ॥ १० ॥
सब साधन गहि धीर तोष लै, जग अवरेब न भूल य दिक्ष्या ॥ ११ ॥
कष्ट अनन्त सहत नहिं बिनशै, कस न बीरबर हनि भ्रम इच्छा ॥ १२ ॥
कहै कबीर जो रण नहि पछरै, होय मोक्ष सोइ जीति जगेच्छा ॥ १३ ॥

टीका—सामने उठी हुई इच्छा को जीव सहन नहीं कर पाता। इच्छा उठते ही उससे व्याकुल होकर उसकी तृप्ति के लिए दौडने लगता है ॥ टेक ॥ विषयकामनारूप पुकार को सुनते ही जीव शक्तिहीन एव दुखी हो जाता है। पुनः कामना की माँग के अनुसार भोग-विषयरूप दण्ड देता है। भोगरूप लगान देते ही जीव की दृष्टि भ्रमित हो जाती है। विषयासक्ति प्रबल होकर विवशता से उसे सत्य का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं रहता ॥ १ ॥ जब जीव की दृष्टि भोग से भ्रमित हो गयी तो मैं कौन हूँ और क्या करने जा रहा हूँ, इन दुर्विषयो का फल अत मे क्या निकलेगा, इन सब बातो का विचार न रहकर केवल सम्मुख इच्छा ही जीव को जकडकर परवश कर देती है। पुन यह इच्छा जीव को खोटे आचरण करने की सलाह देती है ॥ २ ॥ जीव इच्छा को ज्यो-ज्यो भोग देता है त्यो-त्यों वह तृप्त न होकर और भी अधिक भोग भोगने का हठ करती है। यह इच्छा सर्पिणी के समान प्रबल विषधर है, जिसके फुफकाररूप स्मरणमात्र से जीव की सुध-बुध भूल जाती है। पुन· जीव द्वारा अनेक यत्नसहित भाँति-भाँति मनभावन भोग देने पर भी वह सर्पिणी नहीं हटती ॥ ३ ॥ वह ज्यो-ज्यो इन्द्रिय-विषयो की खुराक पाती है त्यो-त्यो उसकी भूख चोगुनी बढती जाती है और जीव को अधिक सताती है। वह जीव के दिये हुए त्रिलोक भोगो से न छककर दाता जीव ही को झपट कर भक्षण करना चाहती है[1] ॥ ४ ॥ एक-एक विषय भोगने की कई रीतियाँ निकालकर जीव उसे भोगता है। जैसे सुनने के लिए कई प्रकार के बाजे-गाने, स्वर-धुनि आदि, स्वाद के लिए अनेक प्रकार के व्यजन, देखने के लिए बहुत तरह से सजावट-सुन्दरता और मन अनुरूपित कई भेद से स्त्री स्पर्शादि भोग करके अनेक विधानो से उस इच्छा-भूख को जीव मिटाना चाहता है, परन्तु वह नित नई बलवती होती जाती है ॥ ५ ॥

अत मे जीव उस इच्छा से अति व्याकुल होकर स्वय ही निछावर होने के लिए इच्छा के पीछे दौडता है। वह अपने दुख-सुख, हानि-लाभ, परिश्रम आदि कष्टो की परवाह न करके उसकी पूर्ति करने मे तत्पर रहता है, जिससे कि यह आई हुई दुष्ट इच्छा पुनः मुझसे रार न ठाने अर्थात तृप्त हो जाय ओर फिर मेरे सामने न आवे ॥ ६ ॥ इस प्रकार यह जीव अपनी भूल से अज्ञान की तलवार लेकर अपने ही ऊपर चलाकर अपने ही का हनन करके दुखी हो रहा है। आप स्वय चैतन्य होकर जड विषयो मे सुख की कल्पना की और उसमे चचल हुआ, आप ही दुखी होकर नाना प्रकार के भोगो का आदती बनकर सब प्रकार की दुर्गति आप ही सह रहा है। अब इस जीव को यह स्मरण नहीं है कि मुझमे जैसे जडाध्यास बनाने तथा पुष्ट करने की शक्ति है, वैसे इन जडाध्यासो को परख-परख कर छोडने और मनोद्वेगो को अभ्यास से रोकने की भी अनन्त शक्ति विराजमान है। यह दृष्टि गुरु-पारख बिना जीव को नहीं

१ इच्छा परीक्षा, शब्द २५ वे मे तृष्णा का दृष्टात पढे।

है॥ ७॥ जो-जो कामनाये चलें, उनके अनुसार भोगो को न देना ही इच्छा को मिटाने का मुख्य साधन है। इसी बात से सब जीवो की सर्वदा रक्षा, भलाई और कल्याण की सिद्धि होगी॥ ८॥ यह जीव इच्छा सहने अर्थात मन मार-मार कर रहने के लाभ को जानता नहीं। इसका वह लाभ मिलता है जो संसार के भोगो से स्वप्न मे भी नहीं मिल सकता। इच्छावेग सहने से अनिच्छा-अचाह का बल पुष्ट होता है। उस बल से बिना भोग-प्रयत्न ही नित्य सतुष्टि और नित्य तृप्ति, अमृत-स्थिति होती है। उस शक्ति के आगे त्रिलोक की भोग-सम्पत्ति तृण के समान त्याज्य हो जाती है। फिर जीव कभी इच्छारूप वायु मे नहीं उड सकता॥ ९॥

अत: जगत-भोगो की सकल कल्पना छोडकर केवल यही फिक्र करना चाहिए कि इच्छाये सहन हो जाय|अर्थात इच्छानुसार भोग न देकर इच्छाजित हो हम स्व-स्वरूप मे विराजे। इसके लिये जगत-सुख को विष से भी विष जानकर उसे विवेक और साधन बल से शीघ्र त्यागते हुए जो सर्व का साक्षी, स्वत: अमृत, अविनाशी अपना स्वरूप हे उसी मे हे जीव! ठहर रहो॥ १०॥ अमृतस्वरूप मे ठहरने का उपाय यही है कि औषधवत, कल्याण के सब अग रक्खे। विशेष सब साधनाओ का विस्तार ''मानस विजय प्रसग'' से मनन करे। धैर्य सतोष और सजगता गुरुशिक्षा है। अपने गुरुमार्ग मे चलते हुए ऊबे-डूबे-घबरावे नही, शीघ्र चले या धीरे, जिस प्रकार पतन होने का भय न हो, उसी प्रकार धीरता पूर्वक अपना मार्ग तय करता रहे। न चलने वाले से चलने वाला अवश्य मार्ग पूरा कर लेगा। ऐसा समझकर यथाशक्ति प्रयत्न से गुरुमार्ग मे लीन रहे, डिगै नहीं, यही धीरज है। अन्दर-बाहर, प्राप्त-अप्राप्त भोग-विषय और कामना को त्यागकर स्वरूप मे अनुराग करे। नर-नारियो, नाना मत-पन्थो और मन-स्वभावों के भाँति-भाँति के भुलावे, छल-बल और लोभ लालच मे कभी न भूले, सदैव उन सबो से सावधान रहे। बस यही गुरुमन्त्र है॥ ११॥ हे जीव! जब तू दैहिक, दैविक और भौतिक अनन्त आपदाओ में विनष्ट नही हुआ, अनादिकाल से सब दुख सहते हुए आज तक तू बना ही है, तो क्या अब इच्छा त्यागने के अल्प कष्ट से विनष्ट हो जायेगा! नहीं-नहीं, इच्छा रोकने से तू सर्वश्रेष्ठ हो जायेगा। तब फिर इस इच्छा डाकिनी को जडमूल से ध्वस करने के लिए तू क्यो नहीं श्रेष्ठ वीर बन जाता! तू अपने को अजर-अमर जान इस दुखदायिनी सर्पिणी को मारकर थीर हो जा॥ १२॥ गुरुदेव कहते हैं कि जो इस इच्छा को जीतने के ध्येय, साधन, विचार और वैराग्यादि से न पिछडेगा, इन साथियो को लेते हुए निरतर मानस-सग्राम मे जुटा रहेगा, काम-क्रोधादि वैरियो को मारने की कोशिश मे लगा रहेगा, वह अवश्य एक न एक दिन मनोमय जगत का ध्वस कर मोक्ष मे विराजेगा। नियम यह है कि रणक्षेत्र से न भागे। परमार्थ निश्चय, परमार्थ साधन और पारमार्थिक सत्सग न छूटे, बल्कि दिनोदिन बढता जाय, बस मानस-विजय ही जानिये। थोडा परिश्रम करके देख ही लीजिए। जब एकाग्रता से एक ही जन्म के परिश्रम से सब दुखो का अन्त हो रहा है तब कौन बहुत परिश्रम है! आपत्ति विघ्न, प्रलोभन, व्यसनो के आकर्षण, काम-क्रोधादि विकार शत्रुओ से जीव ग्रसित है। इन्हे अपनी सत्ता न देने मे सावधानी प्राप्त कर लेना एकरस विवेक-वैराग्य मे शक्तिवान होना है। सो नरदेह मे दृष्टि देते ही सहज ही दृढ हो जायेगा॥ १३॥

शब्द—३५

सो भोगे बिनु इच्छा पूरी होय॥ टेक॥

नहिं देखे नहिं सुने कवहुँ जेहि, तेहि का दुख नहिं होय।
जेहि रस लहे न सपरश जेहि का, तेहि विनु नहिं दुख कोय॥ १॥
जौन सुगंध न सूँघे कबहूँ, तेहि की चाह न लोय।
शव्द स्पर्श रूप रस गंधौ, बिषय पाँच मिलि सोय॥ २॥
तेहि के अन्दर जिव सब भरमै, बिना प्रयोजन रोय।
जेहिकी आदति जेहिमा होइगइ, तेहि बिनु दुखिया सोय॥ ३॥
ताहि बिचारौ प्रथम कहे जो, निज स्वरूप लखि सोय।
सतपुरुषन की बानी देखौ, सद्ग्रंथन हित जोय॥ ४॥
दै अवलम्बन मन का देवौ, चित स्थिर तहँ होय।
करि परबलता आदति इसमे, यहि आसक्ती होय॥ ५॥
तव मन मे कुछु समुझि बिचारौ, सुक्ख नाम केहि कोय।
लहौ बीरता हठता धारण, असत्य धार से जोय॥ ६॥
तवहिं जानि कुछु यहि को पावो, नहि तो दुस्तर होय।
सब सुकृत फल उदै होय तब, साधु संग जब होय॥ ७॥
तवहिं जीव यह जानि सकत है, गुरू यथारथ होय।
और जीव नहिं जानै कवहूँ, बन्ध दृष्टि जेहि होय॥ ८॥

टीका—सुख भोगो को भोगकर नहीं, वल्कि भोगो को त्यागकर इच्छा पूर्ण होती है॥ टेक॥ जिस रूप को देखा नहीं गया और जिस विषय को सुना नहीं गया, उसका सस्कार न टिकने से उसके लिए कोई दुख नहीं सताता तथा जिस स्वाद और जिस स्पर्श का अनुभव नहीं किया गया, उसके बिना भी दुख नहीं होता॥ १॥ जिस सुगन्ध को नही सूँघा गया, उसकी भी चाहना नहीं सताती। इस प्रकार पाँच विषय हैं, वे क्रम से कान, त्वचा, नेल, जिह्वा ओर नाक द्वारा ग्रहण होते हैं॥ २॥ उन पॉचों विषयो के बीच ही मे सव जीव भूल से चक्कर काट रहे हैं ओर उनसे कभी तृप्त न होते हुए भी जडासक्तिवश व्यर्थ ही विषय भावना मे रो रहे हैं। अनायास कल्पना करके जिस विषय मे जिसने आदत डाल ली है, उसी के बिना वह दुखी रहता हे। जैसे सिनेमाप्रेमी सिनेमा देखे बिना बेचैन रहता है, दूसरे को उसके बिना कुछ दुख नहीं। इससे जाना गया कि केवल आदत ही बनाकर सुख मान लिया है, इसी से उस विषय के बिना बेचेनी होती रहती हे॥ ३॥ ऊपर जो कहा गया है, उसी को विचार से दृढ करना चाहिए और विषयो का द्रष्टा, विषयो से भिन्न, स्वत· प्रकाश, ज्ञानमात है, ऐसा अपने स्वरूप को विचारना चाहिए। पुन. सत्यवक्ता-सत्य रहस्यवान सन्तो के निर्णय वचन सुनना और देखना चाहिए, जो कि पारख ज्ञान के सद्ग्रन्थो मे हितैषी वचन पूर्णरूप से भरे हैं, उन्हे भली प्रकार मनन करना चाहिए॥ ४॥

सद्ग्रन्थों के निर्णय वचनो को पढने, समझने और मनन करने का मन को आधार देकर ऐसा अभ्यास बनावे कि उसी मे चित्त की दौड मिटकर शाति मिल जाय। निर्णय सद्ग्रन्थो का अभ्यास करते-करते समाधि सी हो जाना चाहिए। इसी की प्रवलता हो, इसी की आदत हो

और इसी की आसक्ति हो जाय। इस प्रकार निर्णय वाणी मे अपने को रमा दो॥ ५॥ जब इस प्रकार गुरु निर्णय की आसक्ति हो जावे, तब हृदय मे विचार करके देखो, सुख जिसे कहते हैं वह क्या है। भाव यह कि मनोवृत्ति शात होने पर ही यथार्थसुख का पता लग सकता है, अन्यथा नही। फिर वीरभाव और हठ करके असत्यधार अर्थात कल्पित भावनाओं को रोकने का अभ्यास करो। यथार्थ बोध सहित वीरता और हठता के बिना मिथ्या मनोमय की आसक्ति मिट नही सकती। अत: इन्द्रियजित होने के लिए वीरता और हठता धारण करना प्रधान कार्य हैं॥ ६॥ जब वीरता-हठता द्वारा मन और इन्द्रियो को रोकोगे, तभी 'सुख मिथ्या है' ऐसा जान पाओगे, बिना इसके "सुख कुछ भी नही" ऐसी यथार्थ पारख होना कठिन है। सब सौभाग्य का फल उदय हुआ तब जानिए, जब विचारवान सतो का सग और सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त हो। क्योकि उन्हीं साधु-गुरु की दया से जीव को पारखदृष्टि प्राप्त होती है॥ ७॥ यथार्थ बोधवान साधु-गुरु मिल जायँ और साथ ही पूर्व मे बताये हुए उनके सब रहस्यो को ग्रहण करे तभी 'सुख मिथ्या' अनुभव हो सकता है। पूर्व रहस्य और बोधवान स्वरूपनिष्ठ गुरु-साधु से विमुख जीव कभी यथार्थ नही जान सकते, क्योकि सुखाध्यास करके उनकी दृष्टि पर आवरण है, आवरण दृष्टि से यथार्थ कैसे सूझे!॥ ८॥

शब्द—३६

तजि दियो भोग न इच्छा कि उतपति॥ टेक॥

छूटै दु.ख अनादि अनाश्रय, बहुरि न होवै अधिपति।
यहि भरमाये सबहीं भरमत, जानि न जाय या छलपति॥ १॥
याहि छोड़ि दुख ढूँढ़ि न सकते, यादि होत करै अवगति।
राजा परजा बादिशाह सब, याहि बिबश परे फटकति॥ २॥
जीव भ्रमावै देह नचावै, जग सब कष्ट बनावै पछपति।
नारि पुरुष दुइ तन निर्मावै, सरबांग दुःख की उतपति॥ ३॥
दस इन्द्री सब अंग बनावै, मन का रूप खपुष्पति।
जो स्मरण होय जिव सनमुख, भोगै सब मानि वहै रति॥ ४॥

टीका—हे इच्छा से पीछा छुड़ाने वाले! विषय-विलास त्याग दीजिए, फिर दुखदायिनी इच्छा न उत्पन्न होगी, न तुम्हे सतायेगी॥ टेक॥ यह जीव अनादिकाल से इच्छा के विवश स्वरूपबल रहित लाचार होकर दुखी हो रहा है, वह दुख निर्मूल हो जायेगा और सब दुखो की मालकिनि जो इच्छा है, भोगो को छोड देने से वह जीव के ऊपर अपना अधिकार नहीं जमा सकती, इच्छा के भरमाने से सब जीव देहोपाधि मे भटका खा रहे है। इच्छा एवं भोगवासना छलियो मे छली है, अर्थात भोग-इच्छा करके ही मनुष्य छलियो का सरदार बन जाता है। अतएव यह भोग-इच्छा ही छलपति है, छलियो की अधिष्ठात्री है, पर ऐसा गुरु-पारख विना जीव जान नहीं सकता॥ १॥ इस भोग-वासना को छोडकर दुख कोई चीज नहीं। भोग-इच्छा ही दुख हे। यह स्मरण मात्र से जीव की सब दुर्गति कर डालती है। बार-बार खटका, चिंता, अस्थिरता और अतृप्तता प्रकट कर जीव को कायल करती रहती हे। क्या

राजा, क्या बादशाह, क्या अमीर, क्या गरीब, सब भोग-इच्छा के वश मे बसी-मीनवत फटफटा रहे हैं ॥ २ ॥

यह इच्छा ही जीव को चचल करके सब जगह भटकाती, देहेन्द्रियो को भी नचाती और जगजजालो का पक्षपात दृढ करती है। इस पर मेरा अधिकार है, इस प्रकार का झूठा अभिमान इच्छा ही धारण कराती, सब प्रकार के दुखो को यही रचती रहती है। यह इच्छा ही स्त्री और पुरुष दोनो देहो को बनाती है। देह मे सब इन्द्रियाँ नख से शिखा पर्यन्त रोग-व्याधि से पूर्ण रहती हैं। स्त्री-पुरुष की देहो मे अनन्त परवशता आदि का दुख यही उत्पन्न करती है। निर्वाह भोग, परिश्रम, रोग और ताप इसी के कारण जीव को सहना पड़ता है ॥ ३ ॥ यह मनोमय वासना ही दस इद्रिय और सम्पूर्ण अगो का निर्माण करती है। यह सव प्रपचरूप सघन वन का समूह शुद्ध चैतन्य मे नहीं है और जडतत्वो मे भी नहीं है। इसी से यह मनोमय से रचित जीव की कल्पना आकाश फूल के समान मिथ्या है। परन्तु जीव के अज्ञानवश जो स्मरण सामने होता है, उसी को सत्य मानकर और तत्सबधी भोगों को भोगकर इच्छा पुष्ट कर लेता है, जिससे इसका दुख नहीं छूटता ॥ ४ ॥

दृष्टांत—एक सन्त सडक-सडक जा रहे थे। एक राजा की बग्घी उस सडक से निकली। राजा बग्घी रुकवाकर सन्त के साथ पैदल चलने लगा। सन्त की युवावस्था और शरीर की अनुपम कान्ति को देखकर राजा बोला—हे सन्त! मै आपसे एक निवेदन करता हूँ। सन्त बोले—मुझ भिक्षुक से तुम क्या निवेदन कर रहे हो? राजा ने कहा—दयालु! मेरे अनन्त सम्पत्ति है, दास-दासी, शय्या, विहार, वाटिका, सब कुछ है, परन्तु मैं बुड्ढा हो गया हूँ, मेरे कोई बाल-बच्चे नहीं हैं, कृपया आप हमारे राजभवन को पधारे और निष्कण्टक यथेष्ट प्राप्त आनन्द भोगे। आपको कोई कुछ कह नहीं सकता, मेरी ऐसी ही इच्छा है। राजा के इन वचनो को सुनते ही सन्त थर्रा गये और उसाँस लेकर—आह! करते हुए मुरझा गये। राजा ने कहा—स्वामिन! ये कैसी बात? थोडी देर मे सन्त बोले—तेरा सत्तानाशी सब सकट-प्रकाशी वचन सुनकर ही मेरी यह दुखमय दशा हो गयी, तो जब मैं तेरे दिये भोगो को इन्द्रियो से भोगूँगा, तब मेरी क्या दशा होगी! जो कहो परिश्रम और कोई विघ्न सुन्दर भोगो में आपको न मिलेगा तो कम से कम मुझको तेरे भोगो को भोगने की इच्छा तो करनी ही पडेगी! फिर उन भोगों से इच्छा पुष्ट होकर सर्वदा शोक, स्मरण व दाह के सिवा और हमे क्या मिलेगा! अरे अज्ञानी! तुझे कुछ ज्ञान नही है। तेरी मोहजनित करुणा मेरे लिए काल है। तेरा कहना तो ऐसा हुआ कि जैसे कोई अपने मित्र से कहे—आओ मेने अग्नि जला रक्खी है, कूप खोदवा रक्खा है, इसी में तुम जल मरो या डूब मरो, वैसे तेरे घातक वचन है। क्या इन भोग पदार्थो के लिए तेरे अन्य कुटुम्बी या दुश्मन घात लगाये नहीं है! क्या भोगो से इन्द्रियाँ थकती नहीं है! क्या जिसे एक बार भोग लिया जाता है उसकी आदत एव कामना पुष्ट होकर बार-बार जीव को खटका नही करती है। क्या जीव से इन भोगो का नित्य सम्बन्ध है! क्या अनायास मिले हुए भोग अभिमान और सुखाध्यास रोग बढा देने वाले मेरे लिए कालरूप होकर नहीं लगेगे! क्या इन भोगो से मेरे मे सब दुर्गुण नहीं भर जायेगे! अर्थात ये सब बाते भोगो से उत्पन्न होकर मुझे रक्षक, सेज और महल के बीच मे रहते हुए भी वेसे ही सुख नही होगा जेसे रक्षको सहित राजसिंहासन पर बैठे हुए राजा के पेट मे कोई असह्य शूल होता हो, तो उसे बाहर के सेज-शृगार कुछ सुख नही दे सकते अथवा जैसे इक्का के घोडे का शृगार। घोडे के माथे पर फुलरा,

गले मे घुँघुरू आदि बाहर से शोभा दे रहे हैं, परन्तु कई-कई मनुष्यो का भार लेकर दौडते हुए ऊपर से धडाधड कोडे खाते हुए पेट-कोख भूख के मारे हकर-हकर करते हुए उसको दुसह दुख का ही अनुभव होता है, वैसे हे राजन! तुझ जैसे अविवेक से ग्रसित ससारी जीवो की दशा है। तू ऊपर से बडा सामान इकट्ठा कर दूसरे को सुखी दिखाई पडता है, परन्तु तेरे भीतर मानसिक तृष्णा की प्रचण्ड ज्वाला भभक रही है, जिससे तू क्षणमात्र भी स्वस्वरूप का विवेक नही कर सकता। कुल, कुटम्ब और इन्द्रियो का भार लादते हुए त्रिविध ताप के कोडो से पीटा गया, इस जन्म-मृत्यु के रास्ते पर अज्ञानरूप लगाम से ग्रसित दौड रहा है। तेरे भोगों को भोगकर मेरी भी तेरे सदृश ही दशा हो जायेगी। अत· तू अपनी अग्नि से आप ही जल, मुझे जलाने की कोशिश न कर।

सन्त के ऐसे निर्णय वचन सुनकर राजा के नेत्र खुल गये। उसने सन्त से पूछा—भला! मेरे उद्धार होने का कोई उपाय है? सन्त ने कहा—तू क्या! मनुष्य मात्र कल्याण करने की भूमिका पा गये है। जिस किसी को कल्याण की इच्छा हो, वह प्रथम सन्तों के सत्सग मे प्रेम करके फिर सब भोग-विलास से पृथक होकर स्व-स्वरूप मे स्थित हो जावे। वह स्वरूपस्थिति कैसी है—अचल, अखण्ड, अभय, अक्षय, नित्य और शुद्ध है। इसका विवेचन सन्त ने "अपना बोध" स्वरूप स्मरण-साखियो द्वारा करते हुए राजा का अज्ञान हरण कर लिया। राजा बोध पाकर सन्त की शरणागत होकर विनय करने लगा—

विनय

हुए हैं आपके दर्शन, हटे दुख द्वन्द्व अब मेरे।
सुनाये ज्ञान दाया कर, मिटाये मोह के घेरे॥ टेक॥
सुगन्धी भूल अपनी को, मृगा भटके वृथा निशदिन।
मिटाये भूल वह अपनी, लखाये पास धन मेरे॥ १॥
लगी थी प्यास तृष्णा की, न बुझती थी बुझाये से।
किया सन्तोष से तृप्ती, जिया अब ज्ञान से तेरे॥ २॥
कुसगति के महा बन मे, गडे दुर्गुण के काँटे थे।
निकाले सो कृपा करके, हुए आनन्द अति मेरे॥ ३॥
चढा सत्सग की रगत, मिटाये कालिमा दिल की।
हुआ स्वच्छन्द सुख शाती, हिया तव प्रेम के डेरे॥ ४॥

लावनी—३७

निराधार आधार न चेतन सोइ आधार बनाया है।
जड़ तत्त्वन के रूप जो सनमुख पंच विषय दरशाया है॥
तेहि में भूलि गयो खुद आपै सनमुख लक्ष रहाया है।
है बिस्मृति आप को आपै पंच बिषय मन भाया है॥ १॥

टीका—चेतन जीव जड का परीक्षक तथा जड से भिन्न होने से निराधार एव असग है। जड तत्वो की देह-गेह, कारण-कार्य से पृथक है। ऐसा चेतन जीव निराधार होते हुए भी

जडतत्वो का अवलम्ब बना लिया हे। क्योकि पृथ्वी आदि जडतत्वो के पचविषय जीव के सम्मुख पडते रहते है, उन्ही विषयो मे विषयातीत-द्रष्टा जीव स्वयं स्वरूप को भूल रहा है। अत भूलने का हेतु जडसघात ही हे। जीव अनादि से अपने आप को भूलकर सामने पडे हुए पदार्थो मे ही मन दौडाया करता हे। सामने लक्ष्य चलता है, इसी से द्रष्टा को जड मघात वश सम्मुख पाँचो विषय ही अच्छे लगते हैं॥ १॥

तेहि को रूप मानि खुद आपन यही भूल तहँ जाया है।
तेहि के साथ सदा यह भरमित चचल रहत जनाया है॥
निज स्वरूप को छोडि रहा वह भूलि भरमि जग जाया है।
निज स्वरूप की छोड़ि भूमिका सोई भास धरि लाया है॥ २॥

टीका—पॉचो विषययुक्त जडतत्वो से निर्मित देह को ही अपना रूप मान लिया, वस इसी का नाम भूल हे। देहोपाधियुक्त भूल ही से चचलता को प्राप्त हो रहा हे। निज स्वरूप की स्थिति छोडकर भूल से जड मे भ्रम वश मनोमय रूप जगत उत्पन्न कर रहा है। कल्पित सृष्टि के वश मे स्वत ठहराव न कर अनादिकाल सें अपनी नित्यता-स्थिरता जड पचभोगो मे दृढ निश्चय कर लिया है॥ २॥

भूल के कारण विषय भ्रमावत निज को यादि न आया हे।
तेहि ते दु ख परा यह झगरा शशा को शृंग नचाया है॥
जड़ चेतन सम्बन्ध अनादी बीच भरम यह माया है।
प्रबाह रूप वह रचै विनाशे और न कोई नचाया है॥ ३॥

टीका—इस अज्ञान से ही जीव को विषय-वासना भ्रमा रही है। जव विषय-विलास को ही जीवन धन मान लिया तव निर्विषय निज स्वरूप का स्मरण कैसे हो। यह तुच्छ तथा नश्वर जडभोगो मे पडकर अपने श्रेष्ठ नित्यपद को भूल गया है। इसीलिए सारे दुख, जगत की उपाधि, झगडा, झंझट इसके गले पडते रहते हें। जैसे चौगोडा के सींग नहीं है, वैसे जड़ और चेतन दोनो को विलग करने पर बीच मे भूल, भ्रम, अज्ञान से रचित मनोमयसृष्टि कुछ नहीं है, तो भी जीव ही की करतूति जीव ही से झूला की भाँति शक्तिवान वन के बन्धन मे डाल रही है। जड और चेतन का मानन्दीयुत सम्बन्ध "कर्ता[1] कर्तव्य न्याय" अनादिकाल से चला आया है, क्योकि दोनो पदार्थ उत्पत्ति-प्रलय से रहित अनादि हैं। तत्वो मे कार्यो का वनना-विगड़ना प्रवाहरूप अनादि से चला आ रहा हे। जडतत्वो को जान-मान कर सकल कर्तव्य करने वाले कर्ता चेतन जीव है। वे अखण्ड, असख्य और अनादि हें, जीवो का जडतत्व वत कारण-कार्य नहीं। कारण-कार्य के जानने वाले उनसे भिन्न जीव शुद्ध ज्ञानमात हैं। इन्हीं दोनो के सम्बन्ध में मनोमयसृष्टि है। इस माया का स्वतल स्वरूप नहीं। उभय सम्वन्ध छोड़कर वह भ्रममात है। भ्रममाल मनोमयसृष्टि जीव की शक्ति से वेगवान वनी हुई घडी-कूक वत या बढई-औजार न्याय सव साज सहित जड-चेतन की ग्रन्थि पुष्ट होकर जीव को नचा रही है। वही प्रवाहरूप अनादिकाल से बार-वार देहो को बनानी-बिगाडती जीव को गमनागमन के चक्कर मे डाल

---

१ किसी भी ओजार से कर्तव्य करके आप ही उसमे आरूढ होना, जेसे वायुयान और उसका चलाने वाला या मोटर-ड्राइवर।

रही है। अर्थात जीव की अपनी भूल उसे नचा रही है। अपर कोई शक्तिमान दैव-गोसैयाँ इसको बन्धन मे डालकर नचाने वाला नहीं है॥ ३॥

सोई दुख का रूप बतावैं और दुःख कुछ नाईं है।
तेहि के निबृति हेतु को पुर्ती इच्छा रूप दिखाई है॥
फिरि फिरि पुरवै फिरि फिरि दुखवै छोडि न कतहूँ जाई है।
फिरि फिरि इच्छा फिरि फिरि पुर्ती भोग प्रवाह चलाई है॥ ४॥

टीका—भूलकृत मानसिक विकारो को छोडकर और दुख कहाँ है! भूल से ही तो चचलता होती है। भूलजनित चचलता का दुख मिटाने के लिए इच्छाओ को भोग से पूर्ण करूँगा, यह निश्चय कर लिया है, जिमसे पुनः-पुनः भोगो से इच्छा-पूर्ति करता है, वही आदत बनकर पुष्ट भई इच्छा फिर-फिर जीव को कष्ट देती है। इस प्रकार भोग और इच्छा के चक्कर से जीव छूट नही पाता। इच्छा और भोग का प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है॥ ४॥

है सन्धी सब यहि के अन्दर गुरु ने परखि दिखाई है।
सन्धी निकसै दुख से बिकसै ज्ञानी सोई कहाई है॥
सुक्ख लालसा दुख को लावे बॉझ पुत्र सुख नाई है।
सब जग भरमत यहि के कारण सकल दु ख यहि लाई है॥ ५॥

टीका—भोग और इच्छा के मध्य ही सारे बधन है। जन्म-मरण, आवागमन, तीन अवस्था, तीन पन और जाग्रत अवस्था मे नाद-बिंद, लोक-वेद और अनेक कोलाहल सघर्ष इन्हीं भोग और इच्छा बीज के मध्य दिखाई दे रहे हैं। श्री सद्गुरु ने पारखबोध देकर इसका भेद नि सन्देह दिखा दिया। इच्छा और भोग दोनो त्याग कर दिया जाय तो जीव दुख से छूटकर शुद्धस्वरूप सुखी हो जाय। तभी वह ज्ञानी और सर्वशिरोमणि कहलाने के योग्य होगा। अरे! विषय सुख की अभिलाषा ही सब दुखो को समेट लाती है। वह सुख आदत मात्र बध्यापुत्र के समान मिथ्या है, परन्तु सब जगत के जीव इस विषयजनित इच्छापूर्ति मे यत्नवान होकर दौडधूप मचा रहे हैं। इससे इच्छा ही सब दुखो को देती रहती है॥ ५॥

इच्छा पुर्ती छोड़ि जगत में दुख सकलौ मिटि जाई है।
इच्छा पुर्ती करै न जोई इच्छा रूप बिलाई है॥
अखण्ड निराधार है जैसा वैसै तहाँ रहाई है।
इच्छा त्यागौ सुख से भागौ सब उतपात नशाई है॥ ६॥

टीका—इच्छा को भोगो से पूर्ण न करे तो वह सदा के लिए बुझ जाय। इच्छा के बिना क्रिया नहीं, क्रिया के बिना सम्बन्ध नहीं, सम्बन्ध के बिना दुख नहीं, फिर तो दुख सहज ही दूर हो जाय। देखा भी जाता है कि जो जिस इच्छा की भोगो से पूर्ति नहीं करता, उसकी आदत मिट जाती है। यह स्मरण रहे सद्गुण, रहस्य, बोध और विवेकादि की इच्छा त्यागने की बात नही कही जाती है, बल्कि इनकी धारणा से जगत-प्रपच की इच्छा नष्ट होती है। अग्नि तृणवत सद्गुणो से वासनाये दग्ध करते हुए प्रारब्धांत मे वे आप ही छूट जाते हैं। देखो।

सद्‌गुणो द्वारा जगत-प्रपंच की इच्छा तुम त्याग करो। फिर तो जैसा अखण्ड निराधार तुम्हारा स्वरूप हे वैसे ही स्थित हो जाओगे। अत· दुख छूटने के लिए पहिले सद्‌भावना द्वारा भोग-इच्छा को मारो, फिर भोग-सुखो से पीठ दो, वस सव उपद्रव—कामना, भोग, क्रिया, विवशता, लडाई, झगडा, मोह, ममता, शोकादि नष्ट हो जायेंगे और तुम सदा सुखी हो जाओगे॥ ६॥

इच्छा दुख को रूप कहा गुरु तेहिं को देव मिटाई है।
जो सुख चाहौ यहि से भागौ और सुक्ख भरमाई है॥
इच्छा रूप कहा हम तुम से निज स्वरूप दरशाई है।
साधन औ दृढ पारख वल मे गुरु कृपा दुख जाई है॥ ७॥

टीका—स्वस्वरूपस्थिति से पृथक सम्पूर्ण प्रपच की इच्छा दुखरूप है, ऐसा गुरुदेव निर्णय किये। अव जो कोई अपना कल्याण चाहे वह इन्द्रियसुख की इच्छा को मिटा डाले। हे नर-नारियो! जो सुख की इच्छा करते हो, तो विषयों मे वसी चली इच्छा का दमन करो, उससे हटो-वचो, यही सुख-सिद्धि की वूटी है। इसका सादर सेवन करो। इसे छोडकर जो जीव ने जड भोगो मे सुख मान लिया है वह सुख काहे का, वह तो जीव का घातक है। अतः विषय सुख की मानन्दी ही जीव को भटकाने वाली है। गुरुदेव इच्छा का रूप जिज्ञासुजनों को परखा दिये। साथ ही इच्छा के जनैया जीव को इच्छा से भिन्न वताकर स्थिति की राह में लगा दिये। इच्छा को निर्मूल करने के लिए सत्साधन, दृढ पारख और सद्‌गुरु की दयादृष्टि, इन प्रधान युक्तियो को धारण करना चाहिये। इन्हीं रहस्यों से जीव का सर्व दुख चला जाता है॥ ७॥

प्रसंग ९—आदत-दुःख

शब्द—३८

आदति कुमग समुझि विसराई॥ टेक॥

सुँघनी खानी धूम तमालहि, गाँजा भंग लोभाई।
सिगरट वीड़ी चंडू ताडी, मदिरा मांस सिखाई॥ १॥
अफीम धतूरा खवटा माटी, दोहरा राख लहाई।
कोई एक कोइ दोय चारि गहि, जौन जाहि मन भाई॥ २॥
तेहि विन चैन ताहि नहि होवे, तन मन दुख दिखलाई।
जो नहिं इनको धारण कीन्हे, नहिं तेहि के विकलाई॥ ३॥
नाच सनेमा जुआ खेल गहि, पत्ता स्वाँग रहाई।
चोरी चुगुली गाली झगड़ा, हँसी दिलग्गी लाई॥ ४॥
भाँति भाँति के वाजा लखिये, अत्तर्दित अंग चलाई।
मर्दन अंग विविधि विधि कोमल, तन के परश वनाई॥ ५॥
जेहि अभ्यासिक तेहि को भावै, सुख निश्चय धरि लाई।
विना ताहि के रहा न जावै, कष्ट वहुत दिखलाई॥ ६॥

जो नहिं याहि फॉस मे बॅधुवा, ताहि गर्ज नहिं आई।
गध बिबिधि ऐसहिं दुख देते, कोई गहै कोई नाई॥ ७॥
पच बिषय दोनो बिधि देखा, बॅधुवा कोई छुटाई।
याते अन्य जौन मन करनी, तजे सबहिं तजि जाई॥ ८॥
पच बिषय मे अग जौन जेहि, सबै एक समताई।
कोई गहै कोइ तजै ताहि को, सनमुख देय देखाई॥ ९॥
साहस गहौ न दुस्तर कुछु भी, जो बिजाति बिलगाई।
मारि भगावो ये सब शत्रुन, ह्वै रणधीर अभयपद पाई॥ १०॥

टीका—व्यसन ही कुमार्ग है, जीव को दुख देने वाला है, ऐसा समझकर उसे त्यागना चाहिए॥ टेक॥ तम्बाकू सूॅघने की, धूम पीने की आदत, गॉजा, चरस दम लगाने की और भॉग छानने की आदत पड जाती है। बहुत से लोग इसी मे लोभे हुए है। सिगरेट, बीडी तथा चडू पीना, ताडी तथा मद्य पीना और मास खाना, ये सब व्यसन मनुष्य एक-दूसरे के सम्बन्ध से सीख लेते हैं॥ १॥ अफीम खाने की व धतूर के बीज तथा खबटा खाने की आदत और कहॉ तक कहा जाय मिट्टी खाने की लत, कत्था, सुपारी, चूना, तम्बाकू मिलाकर खाने की लत और राख फॉकने की भी लत लोग धारण कर लेते हैं। पूर्वोक्त बातों मे कोई एक लत, तो कोई दो लत, तो कोई चार लत, जिसको जो अच्छा लगा उसने उसी को धारण कर लिया॥ २॥ जिसको जो व्यमन पड गया हे उसके बिना एक क्षण उसको कल नही पडती, शरीर भी चक्कर देता, अग भी टूटने लगते और मन भी तरह-तरह उद्वेग उठाकर कायल करता है। ये सब व्यसनकृत दुख उसको नहीं होते जो कोई व्यसन नही धारण करता, उसे उन व्यसनो के बिना कोई आपदा नहीं व्यापती॥ ३॥ लोग वेश्या-भॉड आदिको का नाच और नकल देखने की लत, सिनेमा, नाटक व नौटकी आदि देखने की आदत, जुआ-चोसर खेलने का व्यसन, ताश खेलने की आदत, भॉति-भॉति के झूठे खेल करने और देखने की आदत, परद्रव्य आदि हरण करने की—चोरी करने की आदत, इधर-उधर निन्दा-दोष बतलाकर फोड-तोड करने की आदत, गाली बकने की आदत, झगडा-झझट करने की आदत और सबसे हॅसी-दिल्लगी करने की आदत धारण कर लेते हें॥ ४॥

सितार, सारगी, हारमोनियम, ग्रामोफोन, रेडियो और तबला आदि अनेक प्रकार के बाजा सुनने की आदत। बिना प्रयोजन ऑख, भोह, हाथ और अग फडकाने-चचल करने की भी आदत पड जाती हे। हाथ-पॉव आदि अगो को दबवाने की आदत और किसी-किसी को तो खूब मुक्कियो से कुटवाने की आदत पड जाती है। पुष्प, रेशम और तोषक आदि सयुक्त कोमल से कोमल स्पर्श की इतनी आदत पड जाती है कि एक छिन भी जमीन मे लेटना मानो कटक-शय्या हो जाती है। ऐसे ही लोग युवती स्पर्शादि त्वचा विषय लेने की बहुत सी आदते डाल लेते है॥ ५॥ जिसको जिस विषय का अभ्यास है वही उसको अच्छा लगता है, वही उसमे सुख निश्चय करके पकड लेता है। जिसके बिना सदा सुख-चैन से रहते रहे उसकी आदत डाल लेने पर फिर उसकी प्राप्ति बिना पल-पल वर्षो के समान कटता है, रहा नही जाता।

उसे खैंचा-खैंची, प्रयत्न विवशता और अनतो कष्ट[1] सताते हैं॥ ६ ॥ जो इन व्यसनो की फाँसी मे नही जकडा है, उसे इन की कामना ही नही सताती। जब ख्वाहिश नहीं तो दुख ही क्या है। वह सदा सुखी रहता हैं। पूर्व आदतो के समान भाँति-भाँति के तेल-इत्र आदि सुगन्ध की आदत दुख देती रहती है। कोई तो विषयो को ग्रहण करता कोई नहीं करता॥ ७॥ पाँचो विषयो मे दोनो प्रकार से देखा जाता है, कोई तो उस विषय मे बँधा हुआ है और कोई नहीं बँधा है। एक मनुष्य जिस विषय के लिए रात-दिन हैरान है, तडफता है, व्याकुल है और अनन्त दुख भोगकर भी उसे प्राप्त कर प्रसन्न होता है, दूसरे मनुष्य का उस विषय पर ध्यान ही नहीं जाता, वह विषय, दुनिया मे रहे या न रहे, उसके लिए उसे कभी विरह-भावना और शोक-मोह नही होते। उसकी तरफ से वह सदा तृप्त और मुक्त ही हे। इस प्रकार ऊपर जो आदते बताई गई, उनको कोई ग्रहण कर लेता, कोई उन्हे दुख-दोष जानकर त्याग भी देता है, कोई पहले ही से नहीं ग्रहण करता। मन की करनी विषयकृत दुष्क्रिया है, जो कि छूटना कठिन जान पडता है। विषयो की आदते यथार्थ बोध, दुख- दर्शन ओर ठीक-ठीक साधन करने से अवश्य त्याग सकते हैं, क्योकि जैसे एक आदत छोड दी गई है या एक आदत के बिना सुख से रह लेते हैं वैसे विवेक ग्रहणकर सर्व पडी हुई आदतो को छोडकर मनुष्य नित्य सुखी हो सकता है॥ ८॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध, इन पॉच विषयो मे कोई भी आसक्ति क्यो न हो, सबमे सुख मानना रूप आदत का एक ही हिसाब है अर्थात जिसमे जिसकी आसक्ति है वही उसको परमप्रिय हे, दूसरे के लिए वह कुछ नहीं और दूसरा जिसमे आसक्त है उसके लिए वह विषय सब कुछ है, अन्य विषय कुछ नही। जितना शरावी को शराब पीकर आनन्द, उतना गॅजेडी को दम लगाकर आनन्द, उतना ही सिनेमा-प्रेमी को सिनेमा देखकर प्रतीत होता है। जितना

---

१ **दृष्टान्त**—एक भौना नामक छोटा लडका बहुत गरीब घर का था। वह लडका गुड खाने का वडा आदी था। गॉव वाले सब लडके थोडा-थोडा गुड लाते और भौना को बुलाकर कहते कि रे भौना। गुड खायेगा? भौना—हाँ। तब अन्य लडके कहते कि एक-एक मुक्का हम सब तुमको मारेगे, कबूल हो तो गुड दिया जाय। भौना—हॉ। मार लेना पर गुड दे दो। सब लडके उसे कौडी-कौडी भर गुड देते, वह ले लेता पश्चात सब लडके धमाधम एक-एक मुक्का मारते-मारते उस बेचारे को गिरा देते, वह रोते हुए गिर पडता। लडके हँसते-हँसते उसे देखते रहते। जब भौना फिर स्वस्थ होकर बैठता या खडा होता, वैसे ही फिर लडके उससे कहते—भौना। गुड खायेगा? भौना—हाँ। अवश्य। लडके कहते—फिर मार पडेगी। भौना—हाँ, मार लेना। बस तनिक गुड जो घाँटी उस पार भी न जा सके किचित कौडी-कोडी भर देकर लडके फिर चटाचट-धमाधम मारते-मारते बेदम करके उसे गिरा देते। वह जब घर को जाय, तब यह बात जानकर घरवाले मारते कि तू ऐसा क्यों करता है। परन्तु चटोरी-लत के वश यही नित्य उसका धन्धा था, देखिए। जैसे कौडी भर गुड से न पेट भरता, न मन, एकमात्र चटोरी-आदत से चपेटो और घूसो-मुक्को की मार उसे सहनी पडती रही, वैसे ही यह जीव हाड, मास ओर चर्ममयी इस देह मे आसक्त होने से भौना है। इसे निष्प्रयोजन क्षणिक पूर्व लतो की मिठाई बहुत प्रिय हे। जिन व्यर्थ लतो से किंचित भी तृप्ति नहीं होती उनके लिए यह जीव नित्य त्रिविध ताप के दुखो को भोगता रहता है, तिस पर भी इससे बेकार आदत छोडी नही जाती, यह मोह की महिमा है।

शराबी को शराब छोडने मे परिश्रम है, उतना ही मिट्टी-राख फाँखने वाले को मिट्टी और राख छोडने मे परिश्रम हे। इससे अनुभव हुआ कि पाँचों विषयो मे सुख-प्रियता एक ही सदृश है, क्योकि जब जिस विषय की आसक्तियुक्त भावना सम्मुख आती है तब वही जीव को बराबर आकर्षित करती हे ओर मिलने पर उतनी ही प्रसन्नता उत्पन्न करती है कि जितना दूसरे को अन्य विषय मे। सब विषयो मे सब आसक्त हो ऐसा नही है। यह जगत मे प्रत्यक्ष देखा जा रहा है कि कोई नवीन-नवीन आदते जानबूझकर डाल लेता है ओर कोई पडी लतो को भी जान-बूझकर छोड देता है। इससे निश्चय हे कि एक-दो लत त्याग होने के समान ही सब लते विवेक से छूट जायेगी ॥ ९ ॥ अत. हे जीव! सब विजाति लत, आदत, अध्यासो को छोडने के लिए साहस धारण करो। साहसी तथा दृढ निश्चयी के लिए होने योग्य कोई भी कार्य अशक्य नही है। जो निर्णय करके स्वरूप से अलग ही देखने मे आता है, जो स्वरूप से भिन्न मानना मात्र है, उसको हटा देने मे कितनी बात! एकमात्र अटल साहस तथा निश्चय सहित पुरुषार्थ की देरी हे। इन अंगों को धारणकर भ्रमकृत सब आदत-अध्यासो को पारख शस्त्र से नष्ट कर डालो। मानस-संग्राम मे धीरता से पॉव अडाकर निर्भय स्वरूपस्थिति प्राप्त कर लो। फिर अब किस बात की देरी है! उठो-जागो! ॥ १० ॥

शब्द—३९

लत न बनावें रहे मन मारे॥ टेक॥

नंगे पैर उघारे शिर पर, लादि मैर शिर भारे।
गरजी दीन अनाथ अबल ह्वै, सब सों हाथ पसारे॥ १ ॥
धीर गम्भीर अचल सिंहासन, तजि हिय जलनि तपारे।
दुराचरण मानुष जो दुखमय, बिकि तिन हाथ स्वबश तजि कारे॥ २ ॥
भय वश थिर न रहत वै क्षणकहुँ, क्षीण शरीर प्रबल मन तारे।
दुख के कोट कपाट कुटिलता, जन्म जन्म धन हारे॥ ३ ॥
मन इन्द्रिन के चेरे बनि कै, सब अवदशा सहा रे।
बिफल मनोरथ सहत सहावत, कल्पवृक्ष तन मनुष तजा रे॥ ४ ॥
उत मन चेन देत नहि क्षणकहुँ, इत इन्द्रिन शक्ति घटा रे।
अनुभव करि देखहु तेहि दुखका, सनमुख भोग पटा रे॥ ५ ॥
यह असमंजस जाय न कबहूँ, कोटिन कोटि करारे।
प्राप्ति अप्राप्ति लतै दुख देवं, नहिं कहुँ सधि मिला रे॥ ६ ॥
यहि बिधि जन्म मरण त्रयतापन, देह प्रवाह चला रे।
नर पशु अण्डज उष्मज खानी, दुखमय दुसह पटा रे॥ ७ ॥
सब लत छोड़ि सुखी ह्वै जाओ, निज स्वरूप भव पारे।
सत्यसिन्धु विश्राम धाम में, आपे आप सुखारे॥ ८ ॥

टीका—कोई भी व्यसन न धारण करे, मन मार-मार कर रहे, बस इसी मे जीव की

भलाई हे। व्यसनो[१] से क्या-क्या दुख होता है उसका विस्तृत निर्णय सुनिए॥ टेक॥ विषय आदत के चक्कर मे निर्वाहिक सामान और ऐश्वर्य लुप्त हो जाने से पॉव मे जूते या खडाऊँ कुछ नही, सिर पर धरने को कोई कपडा तक नही, इस प्रकार नगे पॉव ओर उघारे सिर सिरतोड बोझा लादते-लादते जन्म भर मरना पडता हे, सबका गर्जी बनना पडता हे। कहावत है—"सौ सिर्री और एक गर्जी बराबर है"। गरज के वश होकर न करने योग्य काम भी करना पडता ह, सबसे दीनता लेनी पडती हे। जैसे जगल मे बिछुडा हुआ अनाथ बालक रोता हे, उसका कोई रक्षक नही होता, वेसे ही अनाथ ओर निर्बल होकर सबके आगे व्यर्थ हाथ फेलाना पडता है॥ १॥ सदा स्थिर, परम गम्भीर, श्रेष्ठ, अचल, स्वरूपस्थिति रूप सिंहासन जो कि नित्य प्राप्त हे, केवल दृष्टि घुमाकर विचार करने की देर ह, उसे छोडकर भोग-व्यसनी मनुष्य भोग-कामना वश हृदय मे नित्य जला करते हें। क्रोध, कठोरता सहित परद्रव्य तथा परनारी हरने वाले जो दुराचारी मनुष्य ह, जिनका सग काले नाग या बाघ से भी भयानक ह, उनके हाथ बिककर विषयी मनुष्य अपनी स्वतत्रता-स्ववशतारूप रत्न को अपने हाथो खो देता हे॥ २॥

खोटे सग और खोटे आचरण मे भोगी मनुष्य का हृदय भय के वश हरदम थर्राया करता हे, क्षणमात्र भी उसको शाति नहीं प्राप्त होती। उसका शरीरबल तो नष्ट ही हो जाता है, साथ ही मन की दौड हवाई जहाज के भी दाहिने चलती ह। "तन के वृद्ध कहा भौ बारे, मनुवा अजहूँ बारो हो॥ मुख के दाँत गये कहा भौ बारे, भीतर दाँत लोहे के हो॥ फिर-फिर चना चबाय विषय के, काम क्रोध मद लोभ के हो॥ तन की सकल सज्ञा घटि गयऊ, मनहि दिलासा दूना हो॥ कहहि कबीर सुनो हो सतो, सकल सयाना पहुँना हो"॥ बीजक॥ इस प्रकार उसका मन प्रबल हो जाता हे। वह दुख का कोट बनाकर तथा उसमे कपट आर कुटिलता के किवाड लगाकर आप उसी मे बन्द हो जाता हे। अपने कल्याण मार्ग का विवेकादि पुरुषार्थ जो सदा लाभदायक ह उसके अमूल्य धन को वह गवॉ देता हे। वह सब दुराचरण धारणकर तीनो काल मे दुख ही दुख भोगा करता हे॥ ३॥ मन-इन्द्रियो के गुलाम बनकर तथा उनके आकर्षण मे खिंच-खिंचकर कौन ऐसी अवदशा उसे सहनी न पडती। शोक-मोह, जेल-फाँसी आर परवशता का सब दुख आदतवश सहना पडता हे। आदत वश अति मन्दाचरण से उसकी खोटी भावना कभी पूर्ण नहीं होती। इससे स्वय भी प्रतिकूलता सहता और दूसरे को भी हानि करके दुखाता ह। इस प्रकार कल्पवृक्ष[२] जेसी कल्याणकारी मनुष्य-देह व्यर्थ मे खो देता ह। व्यसनी

---

१ **दृष्टात**—एक लालाजी को अफीम खाने की आदत पड गइ थी। फिर वे धीरे-धीरे वेश्यागमन आदि सर्व दुर्गुणो मे फँस गये। आप जानते ही हें कि चौ०—"सेवक सुख चह मान भिखारी। व्यसनी धन शुभ गति व्यभिचारी॥ लोभी यश चह चारु गुमानी। नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी"॥ रा०॥ अत में लालाजी की लाखो की जायदाद इन्हीं व्यसनो मे चली गई। अब वे अफीम की जगह अफीम रखने के पात्र (ठिकरा-हण्डी) उबाल-उबाल कर पी रहे हें। ईंटा आदि ढो-ढोकर निर्वाह कर रहे हैं। कपड़ा ओर रोटी को भी तरस रहे ह। नशापूर्ति के लिए हर एक के आगे दीन हो बिललाते घूम रहे हें। ऐसे अनन्त कष्ट आदत-लतो के वश होते रहते हें।

२ कल्पवृक्ष की एक कथा इस प्रकार प्रचलित ह—

दृष्टान्त—एक मनुष्य रास्ता चलते-चलते बडा भूखा-प्यासा दुखी हो रहा था। दूर से उसे एक बडा सुन्दर वृक्ष दिखाई पडा। वह वहॉ जाकर सुस्ताने लगा ओर मन मे कामना करने लगा कि जो यहाँ

लोग मनुष्य शरीर से बुरे सकल्प कर-कर अधोगति को प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥ इन्द्रियासक्त मनुष्य को उधर मन तो क्षणमात्र भी विश्राम लेने नहीं देता, काँटा के समान क्षण-क्षण विषय-वासना को हृदय मे चुभाता रहता है और इधर इन्द्रियो की शक्ति नष्ट हो गई, आगे विषयभोग सधता नही। इस दुसह दुख को अनुभव द्वारा देखना चाहिए। सामने नवतरुणी, सुस्वादु मिष्ठान्न और सुचारु गन्ध, भाँति-भाँति के रूपवान दिव्य पदार्थ और धन-ऐश्वर्य इत्यादि वस्तुये बहुत-बहुत पडी हैं और भीतर पूर्व भोगासक्ति-वश मन भी अति आतुर हो रहा है, परन्तु शरीर की शक्ति है नही, तब जो दुख होता है वह कहकर नहीं जनाया जा सकता। इस प्रकार भोगलोलुप को असह्य कष्ट होता रहता है ॥ ५ ॥

यह असमजस का कष्ट विषयासक्ति मे रहकर कभी नहीं मिट सकता, चाहे करोडो उपाय क्यो न करे। आदत ऐसी दुखदायिनी है कि न मिलने पर उलझन उत्पन्न करती ही है

एक सुन्दर तालाव होता तो जल पीता। इतने मे एक तालाव दिखाई दिया। उसने मन मे फिर कल्पना की, जो कहीं खाने को मेवा-मिष्ठान्न होते तो क्या पूछना था। इतने मे उसके सामने इमिरती, पेडे, बर्फी, छुहारा, दाख आदि ढेर के ढेर लग गये। यह देखते ही उसको बडा आश्चर्य मालूम हुआ। उसने मनमाने मेवा-मिष्ठान्न खाया और जल पिया, फिर कल्पना की कि वाह! अब तो श्रेष्ठ शय्या होती तो मै उस पर आराम करता और साथ ही नवतरुणी दासी होती जो मेरे पेर दावकर थकवट दूर कर देती। इतने मे सुन्दर शय्या उपस्थित हो गई और साथ ही एक मनमोहिनी युवती भी आकर उस मनुष्य के चरणो को दाबने लगी। वह पुरुष हर्षायमान होता हुआ सेज पर लेट रहा था कि इतने मे उसके मन मे आया कि मैं तो तुच्छ हूँ। ऐसा न हो कि राजदूत आवे और मेरे को कहे तू अपने स्वामी-सरकार का ख्याल न कर यहाँ बडा उच्च बना बैठा है, ऐसा कहते हुए मुझे धडाधड पीटने लगे और कान पकडकर बेगारी ले जावे। इतनी कल्पना जगते ही शीघ्रातिशीघ्र एक बडा भयानक तलवार-बन्दूकयुक्त सिपाही आ खडा हुआ, और धडाधड कोडे मार, कान पकड, उसे पीटते हुए ले कर चला गया।

यह दृष्टान्त कल्पित है। कल्पवृक्ष मनुष्य-शरीर है। यह पुरुष जिस-जिस इच्छावाला होता है, वैसा-वैसा कर्म करता है और जैसा-जैसा कर्म करता है वैसे-वैसे सुख-दुख-फल समयानुसार उसे भोगना पडता हे। सवको प्रत्यक्ष अनुभव है कि सकल्प के अनुसार क्रिया, क्रिया के अनुसार फल हम सब भोग रहे हैं और इसी मनुष्य-देह मे सकल सत्साधन सहित गुरु पारख की भी प्राप्ति होती हे। जिस पद की प्राप्ति से फिर जगत-दुखो से भेट नहीं होती। अतिशय गम्भीरपद जिन साधु-गुरु के सत्सग से प्राप्त होता है, उस सत्सग का मिलना भी इस अवसर मे सहज है। यदि सत्सग प्राप्त कर भी पूर्व के जो बुरे व्यसन पड गये थे उन्हे भीतर-भीतर स्मरण करके कोई पारखगुरु से पर्दा डालने लगता है वह शीघ्रातिशीघ्र मनदूत द्वारा जगत-बेगार मे पडकर धडाधड काम-क्रोधादि विकारो के कोडों से पीटे जाने लगता है। यथा—"मोहन जहाँ तहाँ लै जइहैं, नहि पत रहल तुम्हारा हो" अथवा—"चतुर चिकनियाँ चुनि-चुनि मारे, कोइ न राखेउ न्यारा हो" और भी "गुरु सीढी ते ऊतरै, शब्द बिमूखा होय। ताको काल घसीटिहैं, राखि सकै नहि कोय"॥ बी० ॥ अत· पूर्व के बुरे सकल्प उठते ही तुरन्त सत्सकल्प से उनका अभाव करता रहे, नही तो "रण चढि भगोडो" की सी दशा अपनी भी होगी।

और मिल जाने पर लोलुपता उत्पन्न करके दुसह दुख देती रहती है। आदत की फाँसी मे पडकर जीव को अप्राप्ति की आपत्ति, अथवा प्राप्ति मे इन्द्रिय क्षीण होकर विषय भोगार्थ तृष्णा-चिंता की आपत्ति, इस प्रकार आपत्तियो की भीड से कभी तनिक भी अवकाश नहीं मिलता॥ ६॥ इसी विषय-आदत के वश होकर व्यतीत समयो मे कष्ट हुआ और अब भी हो रहा है। आगे भी देहिक, दैविक और भौतिक तापो सहित बार-बार देह धारण करने का प्रवाह तथा बार-बार जन्म-मृत्यु की धारा मे बहना पडेगा। मनुष्य खानि, सर्प, मोर, तीतर आदि पक्षी अण्डज खानि; बैल, घोड़ा, गधा आदि पशु पिण्डज खानि, तथा जुवाँ, लीख, खटमल, कीट, केचुवा आदि अयोनिज—उष्मज खानि, ये चार खानियाँ सर्व असह्य क्लेशो से भरी हुई प्रत्यक्ष दिखाई दे रही हें। यथा—

कवित्त

जालन में फाँसे जात रस्सन से बाँधे जात, भालन से छेदे जात फेर वार हो रहे।
छूरिन से छेदे जात ऐठ के मरोरे जात, जिन्दे ही जलाये जात खून ख्वार हो रहे॥
बोझन से तोडे जात चमडा निकोले जात, एक-एक खाये जात हाय-हाय गो रहे।
देखो-देखो रहटा के चक्र माहि चारि खानि, रोग शोग भोग वश पुनि बीज़ बो रहे॥

इस प्रकार सब देहधारी दुख से भरे पडे हैं॥ ७॥ ऐसा अनन्त दुख विचारकर तथा खानि-बानी या पच विषयो की सब आदत त्यागकर हे जीव! निष्काम, अनिच्छा, नित्य तृप्त और सत्य स्वरूप मे निरन्तर स्थितिरूप एकरस सुख का अनुभव करो। सर्व विषयासक्ति छोडकर अपना चेतन स्वरूप तो सहज ही ससार सागर से पार है, ज़ड पिण्ड-ब्रह्माण्ड से अलग है, अपने आप हें, सत्य स्वरूप होने से सत्यसमुद्र है, और परम विश्राम का तो स्थान ही हे। दुख-सुख, लोक-वेद, दिन-रात, शत्रु-मित्र, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और शून्य सर्व विजाति प्रपच रहित केवल ज्ञानमात्र या पारखस्वरूप स्वय प्रकाश है। ऐसी विचारधारा की निरतर धारणा बनाकर अपने आप मे सदा के लिए ठहरकर देहोपाधि रहित हो रहो, बस यही सर्व सुख की प्राप्ति समझो। इसे भली प्रकार मनन करना चाहिए, जिससे कि भूलकृत आदतो के छोडने की दृढ शक्ति प्राप्त हो॥ ८॥

प्रसंग १०—भोग-सुख मिथ्या

शब्द—४०

भोगै सुख सब छिन रहत दुखी॥ टेक॥

देह सवाँरन पूर न होवै, सकल बिकार झुकी।
लत के बिवश रहत दुख सहि सहि, माँगत जाय टुकी॥ १॥
जुआ खेल मे तलफि रैनि दिन, दुर्गुण चाह लुकी।
नाच सिनेमा देखि अतृप्तहि, कहुँ नहि पार जुकी॥ २॥
नहि अस समय होत कहुँ देखौ, जब नहि होय भुखी।
भूँखै मरत धनी धन जोरत, कामिहि नारि चुकी॥ ३॥

पढि पढ़ि विद्या रहत अतृप्ती, बीचहि माहिं रुकी।
अमली अमल में भये अतृप्तहिं, चाह के पैर ढुकी॥ ४॥
राज्य बढ़ावत नृपति अतृप्तहिं, हारि जीत भय चाह कुकी।
निशदिन रहत याहि मे तलफल, नहिं कहुँ चैन उकी॥ ५॥
निज निज मनसा सबै अतृप्तहिं, जहँ तक जीव हुकी।
गुरू ज्ञान से त्यागि सबन को, आपै आप सुखी॥ ६॥

टीका—दुख के साथ सुख जीव को प्रतिक्षण होता है, वैसे ही सुख के साथ दुख भी प्रतिक्षण हुआ करता है। कान मे कोई मधुरशब्द पड़ गया बस सुख हो गया। कुछ गर्मी सता रही है इतने मे शीतलवायु चलने लगी, सुख हो गया। अकेले बैठे हुए दूसरे की इच्छा कर रहे हैं, इतने मे मन के अनुकूल मनुष्य आ गया तो सुख हो गया। इस प्रकार जीव क्षण-क्षण सुख लेता है पर जितना सुख पाता है उतना पा चुकने पर आगे कुछ और भाँति से सुख की कल्पना करता रहता है। चलता है तो बैठने मे सुख, बैठा है तो सोने मे सुख, देर तक सोता है तो उठने मे सुख, उठके बेठता है तो आगे कुछ कार्य करने मे सुख। इस प्रकार देहोपाधि द्वारा प्रतिक्षण सुख पाते हुए भी उन सुखो से तृप्त न होकर आगे-आगे सुखाशा से दुख का ही अनुभव किया करता है। प्रारब्धिक विवशता से जितने निर्वाहिक सुख-दुख हैं वे तो प्रारब्धात ही मे छूटेगे और जो प्रारब्ध के साथ ही अनावश्यक भोगो मे केवल सुख मानकर ससृति हेतु भोगो को ग्रहण करते हैं, उनके बारे में विशेष कहा जाता है कि देखने, सुनने और स्वाद लेने आदि कोई न कोई सुख प्रतिक्षण जीव भोगता रहता है, साथ ही अनमिल, तृष्णा, हानि, विघ्न और भय ये सब दुख जीव को प्राप्त होते रहते है। इस प्रकार प्रतिक्षण सुख के साथ जीव दुखी होता रहता है॥ टेक॥ कितने ही मनुष्य देह के शृगार ही मे सुख मान कर दिन-रात बिताते हैं, उनका देह-शृगार[1] करते तथा ठाट-बाट रचते-रचते पूरा नही पडता। उसी राजसवृत्ति मे विषयासक्ति बढ कर सब दुर्गुण आ जाते है। जैसे भिक्षुक उदरपूर्ति के लिए घर-घर टुकडा माँगता है, वैसे ही व्यसनो के वश होकर मनुष्य सदा सबसे दीन बनकर कामनापूर्ति की याचना करता रहता है॥ १॥

कितने जुआ मे सुख मानकर उसे खेलते रहते है। जो हार गये तब तो तलफते ही हैं, जो जीत जाते हैं तो और-और बढती के लिए तलफते रहते हैं। इस प्रकार रात-दिन चौसरबाजी मे दुखी होते रहते हैं। फिर उसी जुआ की कामना से सब दुर्गुण छिपकर ठहर जाते हैं। जुआ से लोभ, लोभ से कुसग, कुसग से लोलुपता, हिसा, व्यभिचार आदि, इस प्रकार मनुष्य दुर्गुणो का

---

१ शृगार के भेद कई प्रकार के होते है। बालो का सँवारना जैसे—गलमुच्छ, गलेरा, गलकुकुरू, हिप्पीकट और माँगफारू आदि नामो से कहा जाता है। कपडो का शृगार जैसे—भाँति-भाँति के कालर-बेलबूटे सहित रग-बिरगे चित्र-विचित्र मनभावन पोशाक धारण करना। गहनो का शृगार—हार, अँगूठी, हाथ-पाँव के गहने, शीशफूल, कर्धनी, किसिम-किसिम के क्रीम-पाउडर, लिपिस्टिक व सेन्ट मुख-ओठो पर लगाना ये सब शृगारो से राजस, राजस से तामस, काम लोलुपता बढकर मनुष्य सब दुर्गुणो का पात्र बन जाता है।

पात्र वन जाता है। कितने तो नित्य रंगमच पर नये-नये दृश्य, नृत्य और सिनेमा देखते[1] हैं, पर संतुष्टि का नाम ही कहाँ! ज्यो-ज्यो देखते हैं, त्यो-त्यो तृष्णा वढ़ती है। देखते-देखते जिसका जिन्दगी मे पार नहीं मिल सकता, ऐसे-ऐसे अतृप्तिखाना मे जीव पीडित हो रहा है॥ २॥ चौबीस घटे मे चोदह सौ चालीस (१४४०) मिनट होते हैं। उनमे कोई ऐसा मिनट नहीं है कि जिस समय इसे आदती कामना की भूख न सताती हो। लत के वश सदैव भूखा, अतृप्त, गर्जी और दीन वना रहता है। कितने कामना-भूख से सताये गये उसकी तृप्ति के लिए विशेष धन को जोडने मे सुख मानते हैं। इसी मे उनकी आयु समाप्त हो जाती है। परन्तु धन की कमी नहीं मिटती। कितने स्त्री मे परम सुख मानकर कामी वन जाते हैं, क्षण-क्षण उनका हृदय काम से पीडित रहता हे। कामी के लिए मानो संसार मे स्त्री रह ही नहीं गई, अर्थात उसे भोग की इतनी प्रवल इच्छा हो जाती हे कि जो सम्पूर्ण जगत की युवतियाँ दे दी जायँ तो भी उसका मन नवीन-नवीन ललना चाहने से न थकेगा। मन की यही दशा हे कि जिसमें आसक्त हो जाता ह वह दीपक मे पाँखी के समान जलते-तड़पते हुए भी उधर से मुख नहीं मोडता। इस प्रकार कामासक्त की कभी तृप्ति न होने से कहा गया कि "कामिहि नारि चुकी"॥ ३॥ कितने सम्पूर्ण विद्या का अन्त करने मे ही सुख मानते हं। सस्कृत, अंग्रेजी, फारसी, वँगला आदि विद्या पढ़ते-पढते रुक जाते हैं, पर मन की कामना विद्या पढने से नहीं मिटती, अन्त मे शक्ति न चलने पर वीच ही मे मन मारकर रह जाना पडता है।

दृष्टांत—एक सन्यासी वडे विद्वान थे। आप सभा मे सवको वतला रहे थे कि अनात्मा की तृष्णा का अन्त नहीं। मैं संस्कृत और अग्रेजी पढकर भाषा भी वोलना भूल गया, परन्तु मेरे दिल मे यही कामना सता रही है कि वाकी वची विद्याओ को पढ डालूँ, किन्तु कामना का कहाँ अन्त है! सवके देह-वल की भी हद हे, मैं अव वृद्ध हो गया हूँ, पढ़ना भी चाहूँ तो नहीं पढ सकता। इस प्रकार लौकिक विद्या अपूर्ण है। शराव, गाँजा, चरस, तम्वाकू, ताडी,वीडी और अफीम आदि नशा पी-खाकर अपने को सुखी की श्रेणी मे गिनने वाले नित्य ही अतृप्त देखे जाते हैं। वे भाँति-भाँति के अमल के चाहनावश गर्जी वने नीचो के पाँव पड़ते, उनकी गाली, मार, फटकार सहते, तो भी अपनी आदत नहीं छोडते॥ ४॥ लोकपति राजा लोग नये-नये देश स्ववश करके राज्य के लिए हमेशा कायल रहा करते है। कहीं तो हार जाते हैं कहीं जीत जाते ह। हार मे मृत्यु, भय, परवशता, चिंता और प्रिय वस्तुओ का विछुड जाना ये सव दुख ओर जीत मे अभिमान, क्रोध, शासन, काम, लोभ और तृष्णा का दुख, दोनो भाँति दुख-कुर्जी से घडी के ममान कूके जाते हैं। हार-जीत दोनो मे भय, जगत-कामना तथा तृष्णा

---

१ **दृष्टान्त**—एक मनुष्य दफ्तरी का काम करता था। वह दूसरे मनुष्य से कहने लगा—मैं एक रुपया रोज कमाता हूँ, इसमे आठ आने का मिनेमा अवश्य देखता हूँ। दूसरे ने कहा—मैं तुम्हे जानता हूँ। घर मे तुम्हारे वाल-वच्चे भूखो मरते ह, तुम सिनेमा देखने को हैरान हो। उसने कहा—क्या करूँ, घर मे फटकार और कभी-कभी मार भी पडती है तथा वाहर भी मेरी अवदशा देखकर लोग मुझे धिक्कारते हैं, पर मेरी आदत पड गयी, विना सिनेमा देखे मुझे चेन नहीं आती। कुछ हो, मेरा सिनेमा देखना नहीं छूट मकता। वह सज्जन वोला—स्वरूप से पृथक छूट तो सव कुछ सकता हैं, पर छोडने की दृढ इच्छा तो चाहिए। "सौ-सौ जूता खाय, तमाशा घुस के देखे" यही भोगासक्त प्राणियो की दशा है।

पीछा नहीं छोडती। जहाँ भय और कामना है वहाँ दुखो की कौन कमी। रात-दिन इसी हार-जीत के मध्य राजा-बादशाह महलो मे पडे-पड़े तडफा करते है। लाखो रक्षको सहित सतमहलों के ऊपर भी उन्हे सुख की अभयनिद्रा नहीं आती। अन्दर-बाहर कही भी उन्हे विश्राम नहीं मिलता। "ठाट अमीरी वाह्य दिखावा, भीतर चिंता साँपिन है। पल-पल काटे शोक मोह लख, सेज चिता करि पापिन है"॥ ५॥ इस प्रकार अपनी-अपनी मनोमय सृष्टि मे बँधे हुए सब जीव तृष्णालु हो रहे है। यह दशा एक-दो की नहीं, बल्कि कोई विचारवान को छोडकर जहाँ तक घटधारी हैं सब अज्ञान के वश अतृप्त ही हैं। पारखी गुरुदेव के सत्सग-द्वारा अपने स्वरूप को सत्य निश्चय करना ही गुरुज्ञान है। उस ज्ञान को लेकर सब सुखाध्यास जनित आदतो को जब जीव छोड दे तब सकल परीक्षक आप ही आप निर्मल-निराधार रह जावे, फिर तो दुख-लेश रहित अपने आप सुखरूप[१] ही है। जिसमे विजातिभावना और आसक्तिजनित सुख-दुख का लेश न हो ऐसा नित्य स्वत: स्वय प्रकाश स्थिति-पद पारख है। अत: सब वृथा आदतो को छोडकर स्वरूपस्थिति करना चाहिए॥ ६॥

शब्द—४१

हमारे मन सुख से भागि चलौ॥ टेक॥

सुख कारण परिशर्म महाँ है, सब दुख आय हलौ।
यहि के छोडे सब दुख छूटै, परबश कष्ट टलौ॥ १॥
गर्ज बिबश कबहूँ नहिं होवौ, रहौ स्वबश तब आप भलौ।
ना मन खैच न इन्द्री झगरै, सब सिर भार टलौ॥ २॥
अहै स्वबशता सबको प्यारी, सोइ फल लेउ अलौ।
राजस तामस मानुष संगति, सब ब्यवहार जलौ॥ ३॥
ह्वै निवृत्ति जो सुख से पूरण, तजि परबृत्ति दलौ।
बिषय प्रपंच सब दिल से निकसै, निश्चल छोंडि छलौ॥ ४॥
बचनामृत यह धारण करि कै, स्वबश स्वतन्त्र रलौ।
सुखहिं काल यह निज को जानौ, सनमुख भास मलौ॥ ५॥
सुख आजादी तुमहिं देखाये, सब दुख जाय चलौ।
बिन दुख के कोई सुख नहिं चाहै, नहिं तहँ चाह चलौ॥ ६॥

टीका—हे मन! तू इन्द्रियजनित सुखो से भाग चल—दूर हो जा॥ टेक॥ क्योकि सुख की इच्छा मे दुनिया भर का परिश्रम भरा हुआ है। यहाँ तक कि जगत का कोई ऐसा दुख नहीं

---

१ जैसे कोई बोझ लादकर दुखी हो रहा है, फिर बोझ गिरा दिया तो उसे सुख मिल गया। कुछ काल के पश्चात वह बोझकृत दुख और बोझ गिर जाने का सुख दोनो से रहित शुद्धस्वरूप रह जाता है। वैसे ही सापेक्षिक बन्धन कृत दुख को छोड देने से सुखरूप कहा जाता है। वस्तुत अपना स्वरूप सुख-दुख से पृथक शुद्ध पारख हे।

चो०—दुख सुख रूप परख नहि भाई। नहि माया मे दे विलगाई॥

(निर्मल सत्य ज्ञान प्रभाकर)

है जो इस सुख-मानन्दी मे न आ जाय। इस सुख को छोडते ही सकल दुख-द्वन्द्व छूट जाते हैं। सबसे वडा दुख परवशता का होता है। जव मुखभोग की इच्छा ही नहीं तो परवशता क्यो ली जाय! अतएव मुख त्याग करने पर परवशता ध्वस्त हो जाती है॥ १ ॥ मुख-भोग छोड देने से कभी किसी का गर्जी नहीं बनना पडता। भोगो से विरागी पुरुप सदा स्वतंत्र होकर सद्‌गुणो का आचरण करते रहते हैं। तुम भी इन्द्रिय-सुखासक्ति त्यागकर स्ववश और भले मनुष्य वन जाओ। फिर मुखाध्याम को निर्मूल कर देने से मन विषयो के लिए खींचतान नहीं करेगा, और इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय के लिए जीव से झगडा नहीं करेगी। यहाँ तक कि जितना संसार का वोझा लदा है वह सब उतर जायेगा। अत· एकमात्र तुम इस भ्रम-सुख से मुख मोडो॥ २ ॥ स्ववश-आजाद रहना किसको प्रिय नहीं है। श्रेष्ठ आजादी का फल तुम्हे मिल जायेगा। केवल इन्द्रियो के विषय-सुखो को तुम छोड दो। राजसी-तामसी मनुष्यो का सग वौराये हुए वाघ से भी भयानक है। सुखभोग त्याग देने पर ऐमे राजमी-तामसी का सग और उनसे मब प्रकार का व्यवहार तथा अन्य उपाधियाँ, सम्वन्ध-तंतु भस्म हो जायेगा॥ ३ ॥

इस प्रकार संसार के भोग-सुख छोड देने से सव आपदाओ मे छुट्टी मिलकर तुम निवृत्ति-तख्त पर विराजोगे। यह निवृत्ति पद सब सुखो से पूर्ण है, विषय, इन्द्रिय-मन जनित क्षणिक मुखो से पृथक है, एकरस, अभार, अभय, अगर्ज और अचल स्वरूप है। ऐसा पद तुम्हें मिल जायेगा और सुख-सिद्धि के लिए जो सवमे व्यवहार-सम्बन्ध जोडकर सवका भार लेना पडता है, सो प्रवृत्तिसमूह का भार तुम्हारा उतर जायेगा और विपयासक्ति-प्रपंच और मिथ्या उलझन दिल मे निकल जायेगी। तुम अचल स्वरूप मे विराजोगे। फिर किसी प्रकार का छल-छिद्र तुम्हारे मे न रह जायेगा, क्योकि छल-छिद्र तो वनिता, वित्त और इन्द्रियसुख, मान, लोकख्याति के ही निमित्त किया जाता हे। जव इनमे से मुख की वासना ही निकल गई तव छल क्यो! किमके लिए करे! इसलिए जगत-सुख से पृथक रहने वाला व्यक्ति एकरम निश्छल रहता है॥ ४॥ यह मुधावचन अपनाकर इमी प्रकार का रहस्य वनाते हुए स्वत: स्वतन्त्र हो जाओ, अपने स्वरूपभाव मे रमण करो। किन्तु यह स्मरण रखना कि इन्द्रियसुख हमारे लिए काल है, यही जीव के सामने भास-दृश्य हो रहा है। आँख का माडा की भाँति यह सुखभास ही जीव का अज्ञान ढक्कन हे॥ ५ ॥ इन वचनो से विपयजन्य सुखभ्रम की परवशता छुडाकर जीव को सच्चा सुख, सच्ची आजादी दिखा दिया, वह यही है कि भोग-सुखो से नितांत न्यारा हो रहो, वस इसी से तुम्हारा वार-वार जन्म-मरण, जरा-व्याधि तथा वर्तमान के मानसिक मव दुखों का अन्त हो जायेगा। देखो! विषयो मे सुख नहीं है, न सुख का कहीं वृक्ष हा ह, केवल दुखनिवृत्ति का नाम सुख हे, क्योंकि दुख हुए विना कोई भी मुख नहीं चाहता, न दुख के विना सुख की इच्छा ही चल सकती है। जेसे खुजली, दाद, शूल या किसी प्रकार दुख न हो तो उसकी निवृत्ति करने की कैसे इच्छा चलेगी! जव दुश्मन ही नहीं तो उसको मारने की फिक्र कैसे होगी! वस इतने ही से समझ लो कि सुख कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। केवल जीव को शारीरिक ओर मानसिक दुख गाँमे हैं। वस उसी दुख की निवृत्ति ही चाहता हे॥ ६ ॥

दृष्टांत—एक वैराग्यवान सत के पास जाकर एक राजा ने कहा—आपकी जो इच्छा हो सो माँगिये। सत मौन रहे। राजा के वार-वार आग्रह करने पर सत वोले—जो तुझे देने की इच्छा ही ह तो मुझे चार वस्तुये दे। एक तो वह कोप दे जो कि अजर-अमर-अखूट और अक्षय हो।

दूसरा वह तख्त दे कि जिसमे भय, शोक और परतंत्रता न हो। तीसरी वह बूटी दे जिससे सब मनोरथ पूर्ण हो जायँ—सब परिश्रम का अत हो जाय। चौथे जिस सम्बन्ध मे प्रतिकूलता न हो वैसा सम्बन्ध दे। राजा—इनमे से तो कोई भी मेरे पास नहीं है। सत—फिर तुम्हारे पदार्थों को अंगीकार करके क्या तुम्हारे समान मैं भी कगाल बनूँ? राजा 'कगाल' की बात सुनते ही कुपित होकर रक्त वर्ण हो गया। सत—राजा! क्यो क्या हो गया? राजा—आपको तो बोलने मे कुछ सम्हार ही नहीं है। आप ठहरे संत, नही तो बताते! सत—वाणी का सम्हार तो मुझे खूब है, पर यह बात तो तेरे प्रयोजन के लिए ही कही है। राजा—कौन-सा प्रयोजन? सत—तू सारी प्रजा पर अपना शासन करता है, परन्तु मन पर नहीं। तू स्वरूप-देश से कगाल ही है। जब तुझे काम-भूत सवार होता है, तब तू स्ववश न रहकर रानी को मनाता है, वह नहीं मानती तो जिस प्रकार वह प्रसन्न हो उसी प्रकार (पॉव पडकर) मनाता है, जो कुछ वह आज्ञा दे वही तुझे मानना पड़ता है। जब तुझे क्रोध सवार होता है, तब तू स्ववश न रहकर दूसरे का घात करता है। जब तुझे लोभ, मोह, मद आदि व्यापते हैं, तब तू वही-वही क्रिया आचरता है जिससे तेरी दीनता-परतत्रता बढती जाती है। तूने अपने मन और इन्द्रियो पर शासन नहीं किया है, इसलिए तू राजा होते हुए भी कगाल है।

राजा ऐसी बात सुनकर कुछ विचार मे पड गया। वह सत से हाथ जोडकर बोला—फिर मुझे भी वही पदार्थ दीजिये जो कि निर्भय हो। संत ने समझाकर कहा—विषयो मे सुख मानना और उनमे राग करना उपाधिमूल है। सुख मानकर राग ही करके पाँखी दीपक मे जल मरती है। स्त्री मे सुख मानकर पुरुष मैथुन करके सब प्रकार दीन होकर बिक जाता है। ऐसे ही नारी पुरुष से सुख मान-मानकर राग ही करके गर्भ सम्बन्धी पीडा सहा करती है। कहाँ तक कहे, राग ही करके अविनाशी चेतन को बन्धन देने वाला मन बन गया है। इसे वैराग्य-अभ्यास से छेदन करो। राजा—फिर मुझे भी वैरागी बनाइये। सत—यह बात एक छिन[१] के लिये नहीं है, इसके लिए तुम्हे नित्य सत्सग, भक्ति तथा शुभाचरण करना पडेगा। राजा—अवश्य करूँगा। सत—पहिले तुम मदिरा और मास का त्याग करो, पर-स्त्री और वेश्यागमनादि कुकर्तव्यो को हटा दो, अपने धनादिको से जीव-रक्षा और साधु सेवा आदि करो, वैराग्य वर्द्धक ग्रन्थो को पढो, वैराग्यशील साधुओ का समय-समय पर साथ करो, विषय-वासनाओ से तत्परतापूर्वक मन हटाओ, इस प्रकार बहुत दिन अभ्यास करते-करते जब तुम्हारा अत.करण दर्पण के समान निर्मल हो जायेगा, तब तुम वैराग्य योग्य होओगे। अतः वैराग्य-ध्येय सहित प्रथम तुम सद्गुरु की उपासना करो। राजा सत का सेवक बनकर वैसा ही करने लगा। कुछ काल मे सर्व सुखाध्यास त्यागकर वैराग्य द्वारा कृतार्थ हो गया। इसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक का कर्तव्य है कि वैराग्यवानो का ससर्ग करके सर्व सुखासक्ति को त्यागे, जिससे कि सर्व दुखो से छुट्टी मिले।

शब्द—४२

ढूँढ़ि रह्यो कस सुख नहिं तुम्हरे, पचत फिरै कस दुख नहि गुनरे॥ टेक॥
पच विषय इन्द्री मन बिलगै, नहीं देह झगरे॥ १॥

---

१ दो०—सती लहरि घडी एक है, शूर लहरि घडि चार।
साधु लहरि है जनम भर, मरै विचारि विचारि॥ कबीर साखी॥

देखब सुनब गुनब तब कैसे, रसना भोग न सपरश रे॥ २॥
देखत वस्तु रही सब बिलगै, मिल्यो काह तोहि रे॥ ३॥
मानि मानि तुम दुखिया बनिकै, ख्वाहिश आगि जलनि रे॥ ४॥
चंचल वृत्ति को दुख मानै चेतन, स्थिर होन मे विषय धरे॥ ५॥
जलत अगिनि पैठे कोइ अगिनिहिं, भसम होय नहिं देर करे॥ ६॥

टीका—हे जीव! तू सुख क्यो खोज रहा है! जिस सुख के लिए तू हैरान है, वह है ही नहीं। तू सुख के लिए नाहक पचता फिरता है। अरे! अतृप्ति, क्रिया और परवशता रूप दुख भी तो तेरे स्वरूप मे नहीं है। तू नित्य-तृप्त, सर्व परीक्षक और दुख-सुख आदि भ्रम वृत्तियो से न्यारा है। इस बात का वार-वार मनन-चिन्तन कर॥ टेक॥ कान, आँख, नाक, जीभ आदि इन्द्रियों को भी तू जानता है, इन्द्रियो के विषयो को भी भिन्न-भिन्न करके देखता है। इन्द्रियों द्वारा माने हुए मानन्दीकृत स्मरण ही मन है, उस मनकृत अनन्त भावनाओ को भी तू जानता है। तू सबका साक्षी, देखने वाला, सबसे भिन्न है। तेरे स्वरूप विषे पूर्वोक्त देहादि झगडा-प्रपच नहीं है॥ १॥ जब स्वरूप मे देह उपाधिकृत कोई झगडा ही नहीं, तो देखना, सुनना, गुनना आदि का भी प्रयोजन स्वरूप मे केसे हो सकता हे! क्योकि जिह्वा और जिह्वा का विषय स्वाद, स्पर्श आदि विपय और इन्द्रिय भी जीव मे नहीं हैं। चेतन जीव इन सवो का ज्ञाता है॥ २॥ हे जीव! तू जव कि द्रष्टा, साक्षी, ज्ञाता, ध्याता, चैतन्य है, मानन्दीयुक्त इन्द्रियो से भोग भोगते हुए भी सव पदार्थो का द्रष्टा सव से विलग ही रहता हे। तू पृथक ही रहकर ही तो सवका प्रतीत करता है, इससे किसी भी भोग-पदार्थ से तेरा सत्य सम्बन्ध कहाँ हुआ! केवल भ्रम से अनमिल को मिलना मानकर भोग-सुख लेने की मानन्दी ही तो कर लिया। जव तेरा स्वरूप भोग-पदार्थो से घटता-बढता नहीं, हरदम ज्ञानमात्र हे, तव इन भोगो से तुझे क्या फल प्राप्त हुआ॥ ३॥ हाँ! इतना ही लाभ हे कि इन्द्रियो द्वारा सब जडपदार्थों मे सुख मान-मान कर दुखी-दीन वनकर वृथा भोग-कामनारूप अग्नि मे दीप पतगवत जला करता हे॥ ४॥ देहोपाधि से कामना सम्मुख होने पर चचल वृत्ति मे सब जीव स्वाभाविक दुख मानते हे, उसको मिटाकर स्थिर होने के लिए विषय विलासो का आधार पकडते हें। यह तो बात ऐसी ही हुई॥ ५॥ जैसे अग्नि से जला हुआ मनुष्य जलन मिटाने के लिए प्रवल अग्नि मे ही कूद पडे तो उसके भस्म होने मे कितनी देर! उसे अग्नि तुरन्त भस्म कर देगी। वेसे ही भोगासक्ति द्वारा कामना रूप अग्नि से छाती जल रही है, चचलता प्राप्त हो रही हैं। उस कामाग्नि को बुझाने के लिए फिर विषय भोगरूप अग्नि मे जा गिरता हे, यही जीव का अज्ञान ह। यदि इस अज्ञान को परख करके छोड दे तो मुक्तरूप ही है॥ ६॥

चौपाई—४३

दुख विन सुख न होय लखो कैसे। रवि विहीन जस तम न हटैसे॥
कठिन चोट लागै जब कोई। होवै दु:ख सहन नहिं सोई॥

टीका—विवेक कीजिए! शारीरिक ओर मानसिक कोई भी दुख के बिना सुख का अनुभव नहीं हो सकता। जैसे सूर्य उदय के विना अन्धकार नहीं जा सकता, यह नियम हे, वसे दुख के विना सुख का अनुभव नहीं होता, यह भी अटल नियम है। इसको आगे के भाव

से समझिए। जब किसी के अग मे बडे जोर से चोट लग जाती है तो मारे दर्द के उससे रहा नहीं जाता॥

चैन न आवै तेहि को कबहूँ। तडफड़ाय तेहि मिटन को सबहूँ॥
जाय दु ख जो वहि इकदम से। होय सुक्ख तेहि मनहुँ अलभ से॥

टीका—जब तक वह दर्द न मिटे तब तक उसे विश्राम नही मिलता। ऐसी दशा मे वह चाहता है कि थोडा भी दुख दूर हो जाता तो कुछ आराम हो जाता। जब थोडा दुख दूर हो जाता है तब शेष दुख की सर्वाश निवृत्ति चाहता है। जब किसी उपाय से सब दर्द दूर हो जाता है तब इतना सुख होता है कि वही जानता है। मानो न मिलने योग्य महा लाभ या धन मिल गया।

ब्याधि होय जेहि तन मे कोई। पावै कष्ट बहुत बिधि वोई॥
औषध करन परीश्रम बहुतै। सबही बिबश रहन तेहि परतै॥

टीका—जब किसी को ज्वर, जूडी, खॉसी, दमा या कोई भी शारीरिक कठिन रोग हो जाता है तब उसे बहुत दुख होता है। उसे औषध के लिये अनेक प्रयत्न करने पडते है। वैद्य और सेवक तथा आश्रयीजनो| के वश मे रहना पडता है।

करन परहेज परै अति भारी। कठिन परै तेहि होय दुखारी॥
ब्याधि जाय तेहि सुख लहि जीवन। मिलै सुक्ख तेहि बहुत लखीवन॥

टीका—फिर उसे बहुत सी वस्तुओ का सयम करना पडता है। उधर रोगजनित दुख, इधर सयम मे जो कठिनता होती है उस कठिनता को भी सहना पडता है। यदि सयम न कर मिले तो और दुख बढता है। यदि किसी भी प्रकार औषध और उपचार करने से उस व्याधि से अच्छा हो जाय तो मानो जीवन-धन मिल गया। उसे अति सुख मिल जाता है। नेत्र, कान, दॉत, उदर-शूल आदि पीडा की निवृत्ति मे सुख की प्रतीति होती है।

जो नहिं ब्याधि होय तेहि तन मे। पावै सुख कहँ सोचौ मन मे॥
भूँख प्यास जेहि लागै नाही। अशन बारि नहिं ताहि सुहाही॥

टीका—अब सोचिए। जो उसे व्याधिजनित कष्ट न हुआ होता तो उसको हटा करके कैसे रोगरहित सुख का अनुभव करता। जिसे भूख-प्यास न सताये हो, उसे भोजन और पानी अच्छा नहीं लगते।

तृषा सतावै जो दिल अपने। होवै चैन ताहि नहिं सपने॥
पावै बारि तौ जीवन प्राना। तेहि सुख को नहिं बनै बखाना॥

टीका—जब प्यास सताती है तब बिना पानी स्वप्न मे भी चैन नही मिलता। जब प्यासे को पानी मिल जाय तब मानो प्राण मिले, उसे अत्यन्त सुख हो जाता है।

क्षुधावन्त जो भोजन पावै। मानौ सब दुख दूरि परावै॥
यहि बिधि दुख सुख को लखि लेखा। बिन दुख के सुख कहूँ न देखा॥

टीका—जब भूखा भोजन पा जाता हे तब उसका सब दुख दूर हो जाता है। इस प्रकार निर्णय से दुख निवृत्ति ही का नाम सुख हुआ, दुख निवृत्ति के बिना सुख होते कहीं भी देखा या अनुभव नहीं किया गया।

शत्रु होय तेहि चहत बिनाशै। वहि के जीवन बहु दुख भासै॥
मरन होय तब सुख परकाशै। जीवत लखि तेहि अतिशय त्रासै॥

टीका—जैसे जब किसी के कोई शत्रु होता हे तब उसके नाश मे आनन्द मानता है, उसके जीने मे अनेक आपत्तियाँ मानकर बहुत दुख समझता हे। जब वेरी की मृत्यु हो जाती हे तब सुख मानता हे ओर उसके जीने मे बडा भय होता हे।

दूनौ मिथ्या झगड़ा भारी। यहि विधि दुख सुख मिथ्या सारी॥
शीत सतावे निज तन जैसे। उष्ण पाय तेहि बहुत सुखे से॥
शीत न होय उष्ण केहि काजा। यहि विधि सकलो सुख को साजा॥
दुख ही सुख तुम समुझौ मनुवाँ। दुख बिनु सुख नहिं कहूँ रहनुवाँ॥

टीका—पूर्वोक्त माने हुए शत्रु से भयकृत दुख और उसके नाश से सुख, दोनो मिथ्या कल्पना हे, क्योकि जीव ही ने भूल मे किसी को शत्रु मान लिया, फिर उसके नाश मे सुख माना। विवेक से जीव अखण्ड-अविनाशी होने से न कोई उसका शत्रु है न मित्र हे। जसे ये दोनो झगडे महा मिथ्या हैं, वैसे विविध लत तथा आसक्ति का दुख बनाकर उसके भोगो से क्षणिक निवृत्ति मे पुनः सुख मानना भी महा मिथ्या है। देखो! दुख-निवृत्ति की अपेक्षा से ही सुख प्रतीत होता हे, जैसे शरीर मे ठडी लग रही हे, तब आग की गर्मी से उसको बडा सुख होता हे। यदि ठडी न सताये हो तो आग की गर्मी की क्या आवश्यकता! तब उस गर्मी मे कहॉ सुख! बस इसी प्रकार सब सुखो की वस्तुओ को जानना चाहिए। अतएव सुख किसी भी विषय या पदार्थ मे नहीं है। हे मनुष्य! दुख ही से सुख प्रतीत होता है, क्योकि दुख निवृत्ति छोडकर सुख कोई चीज नहीं।

साखी—पान तमाखू खात जो, तेहि बिन जस दुख होय।
सो वह जानत मनहिं मे, और कहै तेहि कोय॥ १॥

टीका—जिसे पान-तम्बाकू खाने-पीने या किसी प्रकार की लत पड गई है,जब उसे वह चीज नहीं मिलती, तब जो कष्ट का अनुभव होता हे, उसको वही जानता हे। दूसरा कौन उसके दुख को कहे!॥ १॥

साखी—जब नहिं आदत प्रथम जेहि, नहिं दुख कतहुँ देखान।
अब जो वह तेहि मिलत नहि, मानौ निकसत प्रान॥ २॥

टीका—जब पहिले उसे आदत नहीं थी तब वह आदती चीज हो या न हो, उसके बिना किंचित भी दुख का पता नहीं था। अब जब आदत पड गई, तब वही चीज न मिलने पर प्राणात के समान दुख होता है॥ २॥

बाछित प्राप्ति होत सुख सरसै। तेहि विहीन सब दुख ही दरशै॥
यहि विधि सुख आदतिकृत देखौ। लतहिं छोडि कहुँ सुख न परेखौ॥

टीका—इच्छित वस्तु के मिलते ही परम सुख दिखाई देने लगता हे और उसके न मिलने मे कुछ अच्छा नहीं लगता, लक्ष्य मे दुख ही दुख की प्रतीति होती ह। इस प्रकार सब सुख आदत मात्र ही जानिए। लत-दुख को छोडकर ओर सुख नहीं है, विचार करके देखो!

मिथ्या भरमि रहा संसारा। शशाश्रृंग सब जग को मारा॥
बिना प्रयोजन कारज सबही। सुख के हेतु भ्रमत इत उत ही॥

टीका—ससारी मनुष्य मिथ्या सुख के लिए भटक रहे हैं। जैसे कोई कहे कि खरगोश के सींग ने सब जगत को मार डाला। जब खरगोश के सींग ही नहीं, तो कौन-कैसे मारेगा! वैसे ही सुख है ही नहीं, तो क्या प्राप्त होगा! इसी प्रकार प्रयोजनरहित निरर्थक सुख-भोगो के लिए यह जीव सब धंधा उठा रहा ह। जान-बूझ लत-रोग बना-बना सुख मानकर उसके लिए इधर-उधर भटकता रहता है।

हानि होय तब दुख बहु मानै। लाभ हेतु सब झगड़ा ठानै॥
लाभ ढूँढि कहुँ जीव न पावै। करत प्रयत्न बहुत अकुलावै॥
फिरि फिरि भिरै थाह नहिं पावै। यहि बिधि उलटी दशा रहावै॥

टीका—कल्पना मात्र सुखप्रद मानी हुई मायावी वस्तुओ की हानि देखकर बहुत दुखी होता है और उनकी प्राप्ति मे लाभ मानकर हर्षित होता है। फिर उसी लाभ के लिये दुनिया भर का झगडा मोल लेता है, परन्तु अखण्ड स्वरूपस्थिति से पृथक सर्व हानि-लाभ स्वप्नवत मानन्दी मात्र मिथ्या ही ह। पूर्वोक्त माना हुआ लत-सुख और उसके साधक पदार्थ निरर्थक होने से उनमे जीव को तृप्तिरूप लाभ कहीं ढूँढने से भी नहीं मिलता। यही कारण है कि सुख के लिए विशेष प्रयत्न करते हुए तृष्णायुत अत्यन्त दुखी होता है। बार-बार उसी मिथ्या सुख आशा मे भिडता है, परन्तु अवस्तु सुख कैसे मिले! अवस्तु शून्य को पकडना ही विपरीत चाल है। विपरीत दशा धारणकर जीव दुखी हो रहा है।

साखी—बना सुक्ख लत है जोई, नहि पूरब सम होय।
हानि मिली परिशर्म तेहि, इच्छा फादिल होय॥ ३॥

टीका—जिन विषयो मे आदत डालकर मनुष्यो ने सुख निश्चय कर लिया हे, वही बनाया हुआ सुख है। उसे आदत मात्र जानना चाहिए। वह आदती सुख पहिले जब आदत नहीं पडी थी, तब के सुख के समान नहीं हो सकता। बिना आदत के मनुष्य आरोग्य के समान निरन्तर सुखी है, न उसके लत-रोग की जलन, न निवृत्ति आदि का परिश्रम। इसके उलटे रोग के समान आदती सुखो मे प्रतीति होने से हानि के दुख से वह पूर्ण है, और परिश्रमयुक्त मिलने से परिश्रम के दुखो से भी पूर्ण है। ये दोनो दुख पाते हुए इच्छा-व्याधि नित्य नयी पुष्ट होती रहती हे। अत. आदती सुख इच्छा-व्याधि से पूर्ण है। हर्जा-खर्चा करके फिर इच्छा-रोग बेसाहना, इससे लत बनाना मानो दुख मोल लेना है।

साखी—बार-बार तेहि मनन है, चैन न होने देय।
बरवस तेहि भोगन परै, जो न परीक्षा होय॥ ४॥

टीका—उसका भीतर ही भीतर बारबार मनन हुआ करता है। भट्ठी की आँच के समान भीतर-भीतर चिंता क्षणमात्र विश्राम नहीं लेने देती। यदि ठीक-ठीक पारख और साधन का बल न हो तो कठिन दुख पाते और देखते हुए भी बल पूर्वक वह आदती वासना भोग की भट्ठी मे डाल देती है॥ ४॥

साखी—जो आसक्ति प्रवल ह्वै, जानत रोकि न जाय।
वहुत काल साधन करै, होय स्ववशता आय॥ ५॥

टीका—जव किसी विषय मे आसक्ति पुष्ट हो जाती है तव मनुष्य सरासर हानि और दुख देखते हुए भी कामनावेग रोक नहीं पाता। हाँ! जव वहुत दिनों तक सत्साधन मे लगा रहे, तव कहीं वह आदत अपने कावू मे होती है॥ ५॥

साखी—पारख दृष्टि प्रवल जव, सतसंगति अति जोर।
राति दिना चितन करै, तव पावै कहुँ ठौर॥ ६॥

टीका—जव सव साधन सयुक्त भली प्रकार हानि-लाभ की पारख दृढ हो जाती है, सत्यन्यायी साधु-गुरु के सत्सग का अधिक सहारा मिल जाता है तथा रात-दिन वन्धन छोड़ने के लिए स्वय चौकसी धारण हो जाती हे, तव कहीं इन्द्रिय-विषयो की खोटी आदते छूटकर स्वय स्थिति प्राप्त होती है। दुख उमे नहीं मिलते, जिसे विषयो की लत या आदत नहीं हे। क्योंकि रोग ही नहीं तो रोग सम्वन्धी दुख काहे का, और रोग निवृत्ति का परिश्रम क्यो किया जाय! वह आरोग्य, नित्यतृप्त के समान लत-रहित हे। अत. सव लतो को त्यागकर लत-रहित रहना चाहिए। लत छोडने का मुख्य साधन गुरुदेव यही वताये हें—सत्साधन-लीनता, सदा सत्सग का जोर, परीक्षादृष्टि की दृढ़ता करना, रात-दिन लत और विना लत के दुख-सुख का चिन्तन। इम प्रकार घोर तपस्या का फल अक्षय म्वरूपस्थिति है॥ ६॥

चोट नहीं तव चोट न चाहै। जेहि ते होय सुक्ख तेहिका है॥
रोग चहै को सुख हित देखौ। अहै नदानी हे मन लेखौ॥

टीका—जिसे चोट नहीं लगी हे, वह हाथ-पाँव पर कोई चीज पटककर या हाथ-पर काट कर फिर उसकी दवा करके सुख नहीं लेना चाहता। अथवा शूल-दर्द, नेत्र-कर्ण की पीडा वनाकर उसकी निवृत्ति करके आनन्द होने के लिए कोई जान-वूझकर रोग नही वना सकता। यदि रोग वना-वनाकर दवा करके आनन्द माने तो उमे अनाडी या विभ्रात समझना चाहिए। लत वनाकर सुख लेना भी अनाडीपन है।

विना अशन प्रारव्धि न भोगा। तेहि हित भोज वारि को योगा॥
नहिं तौ विवेकी ग्रहण न करहीं। हेतु कौन परवृत्ति मे परहीं॥

टीका—भोजन के विना पूर्व-कर्म रचित-प्रारव्धकृत शरीर के भोगो का अंत नहीं हो सकता, इसी से शरीर की रक्षा मात्र के लिए आवश्यक अन्न-जल ग्रहण किया जाता है। यदि अन्न-जल के विना प्रारव्ध यात्रा पूरी हो जाती तो विचारवान को खान-पान की प्रवृत्ति में पडने की आवश्यकता ही क्या थी।

करि पुरुषारथ मोक्ष के कामा। तेहि हित अशन वारि को सामा॥
नहिं तौ भार रूप यह जानी। विना प्रयोजन परवश मानी॥

टीका—इस शरीर से जगत-वन्धन छुडाने के लिए ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और शम-दम आदि सव साधनो में परिश्रम करके सदा के लिए जगत-वन्धनो को विवेकवान तोडना चाहते हैं। वस, इसीलिए वे अन्न-जल-वस्त्रादि सामग्री औषधवत ग्रहण करते हैं, कोई कल्पित

आदती सुख के लिये नही। यदि इस शरीर से उन्हे कल्याण का पुरुषार्थ करना न होता और प्रारब्ध भोग निर्वाह लिए बिना समाप्त हो जाता, तो निर्वाह करना भी उनके लिए महान भार हो जाता। निष्प्रयोजन परवशता की क्या आवश्यकता।

शत्रु चहै को बिनाश के सुख हित। नहिं कहुँ देखे सुने न अस चित॥
जस बिपरीति अज्ञान से होवै। भूलि भरमि जो सुख को जोवै॥

टीका—भला! शत्रु बना-बना उसको मिटाकर सुख लेने की आशा से कोई शत्रु बनावेगा! ऐसे सुख की इच्छा और प्रयत्न न कही देखा गया, न सुना गया, न ऐसा कभी चित्त मे अनुसधान ही हो सकता है। परन्तु इधर ऐसी ही उलटी समझ अज्ञान वश जीवो ने धारण कर लिये है। स्वय सत्य स्वरूप को भूल और जड तत्वो मे अपनी स्थिरता की भ्राति करके सुख निश्चय द्वारा मिथ्या आदत गढ-गढ कर सुखाशा की पूर्ति के लिए सब जीव पचते रहते है।

साखी—है महिमा अज्ञान की, जो दुख को सुख मान।
बिषय भोग दुख रूप जो, तहाँ भ्रमत सुख ठान॥ ७॥

टीका—यही अज्ञान की विशेषता है। भोग-क्रिया और आसक्ति रूपी दुख ही को सुख मान लिया है। जो भोग-विषय विष के समान जीव को जडाध्यास रोग लगाकर तीन तापो मे जलाया करते हैं, उन्हीं मे सुख मानकर उनकी प्राप्ति और भोग के लिए जीव कायल रहता है॥ ७॥

अन्धकार सुख इच्छा जानौ। तेहि मे भरमि के जीव भुलानौ॥
दुख को सुख सुख को दुख जानै। उलटी क्रिया करत भल मानै॥

टीका—माना हुआ सुख ही इच्छा का हेतु है, यह सुख-इच्छा अधकार[१] के समान है। जैसे अन्धकार मे पदार्थ नहीं दीखता, अधकार ही सम्मुख पडता है, वैसे ही जब जीव सुख इच्छा का मनन करने लगता है तब उसी सुखाभास मे अपने स्वरूप को और हितकार्य को भूल जाता है। उस समय जीव को एकमात्र सुख-भ्रम के हानि-लाभ ही दिखाई देते हैं। यही कारण है कि जो दुखपूर्ण कर्तव्य भोगादि हैं उनको सुख रूप मान के आसक्त होता है और जो भोगादि त्यागकर सर्व साक्षी शुद्ध स्वरूप का ठहराव अमृत रूप है, उसमे दुख मानता है। देखो! यथार्थ बोध-साधन-अभ्यास, हितगति छोडकर उलटे यह जीव इन्द्रियासक्ति क्रियादिको ही मे अच्छाई मानता है।

दुख छूटन हित युक्ति बिबिधि बिधि। बढत जाय दुख ज्यों-ज्यों सुखसिधि॥
सुख के सिधि से इच्छा प्रबला। जेहि के बशि में खबरि न सबला॥

---

१ कवित्त—सुख इच्छा जो अन्धेर कियो जीवन को जेर, ताहि मे भटकि भूलि दुख द्वन्द्व लै लियो।
सुख इच्छा को जनैया सो तो आप ही मनैया, पारख के बल पाय तभी इच्छा क्षय कियो॥
परख स्वरूप ज्ञान भानु को उदय भयो, तिमिर भटक छूट्यो आप आप ठै गयो।
फाँसी जु अनादि केरी गाँसी छूटी गुरु कृपा, गुरुदेव चरण शरण प्रेम लै लियो॥

टीका—ऊपर कहे गये सुखरूप अंधकार मे पडकर जीव असूझ बना उलटा ही चल रहा है। उलटा चलने से उसे दुसह दुख मिलता ही है। सो दुख छुडाने के लिए लोक-वेदानुसार अनेक प्रकार के प्रयत्न करता है, किन्तु ज्यो-ज्यो उसे विषयो मे क्षणिकवृत्ति की स्थिरतारूप सुखो की प्राप्ति होती ह, त्यो-त्यो उसका सुखाध्यास पुष्ट होकर दुख बढ़ते ही जाता ह। विवशता से क्षणकालीन रुकी हुई भोगवृत्ति मे जो सुख मानन्दी है वही उसके सुख की सिद्धि है। इस सुख की सिद्धि को ज्यो-ज्यो जीव प्राप्त करता है, त्यो-त्यो उसकी इच्छा आगे-आगे बढकर अधिक बलवती हो जाती है। जीव अपने आप सारी कल्पनाओ को बनाने-बिगाडने मे शक्तिमान ह, परतु वह इच्छा के वश अपनी शक्ति को भूल रहा है।

सुख के छोड़े सब दुख जावें। तेहि की फिकिरि न कबहूँ लावें॥
है यह भूल असक्ति को फेरा। अनादि प्रवाह चलति यहि हेरा॥

टीका—पूर्व आदती सुखो को त्याग देने से इच्छा, परिश्रम और विवशतारूप सब दुखो का अन्त हो जाता है। मनुष्य सुखाध्यासो को छोडने के लिए विवेक-वैराग्यरूप साधनाओ की चिन्ता तो कभी करता नहीं। देखो। कैसी विपरीतता जीव को घेरे तथा आवरण किये है कि उसे अपना हिताहित कुछ नहीं सूझता। इसका कारण निज सत्य-स्वरूप की भूल और जड मे सुख माननारूप जडासक्ति ही ह। विषयो मे सुख मानने से स्वरूप-भूल तथा स्वरूप-भूल से विषयो मे सुख मानना, ये दोनो एक मे एक पुष्ट होते चले आये हैं। इन्हीं दोनो मे पडकर देहोपाधियुक्त इस जीव का बन्धन अनादिकाल मे चला आ रहा ह।

तेहि ते दुख को सुख करि मानें। हेतु न भूल कर पहिचानें॥
जे समझें ते भाग यहि से। ज्ञान विराग मोक्ष के ख्वहिशे॥

टीका—इसलिए भोग, क्रिया और सुखासक्ति जिनसे कि निरन्तर दुख मिलता है, उन्हीं मे ही सुख निश्चय कर रहा ह। ऐसी विपरीत गति-मति का कारण मुख्य देहोपाधियुक्त स्वरूप की भूल ही है। जीव को इस बात की परीक्षा नहीं ह, इसीलिए इसके बन्धनो का प्रवाह नहीं भग होता। पर जो मनुष्य जन्म-मरण, अज्ञान-आसक्ति आदि सब का कारण स्वरूप-भूल और भूलकृत सुख-मानन्दी की परीक्षा कर लिये, वे भूल और भूलकृत सर्व भोगो की सुखासक्ति और उनके कर्तव्यो से पीठ देकर स्वरूपस्थिति मे ठहर जाते ह। वे मोक्ष की इच्छा वाले ज्ञान-वैराग्य के पथ मे चलकर इसी जीवन मे कृतार्थ हो जाते हैं।

सुखइच्छा-संहार का नित्य कर्तव्य

(१) यथार्थ स्वरूपबोध। (२) बन्धन की पारखदृष्टि। (३) सत्यासत्य, दुख-सुख का निरालम विवेक। (४) विषय-सुख मे तीनो काल दुख देखना। (५) भोगासक्ति के छोडने में शिथिलता का त्याग। (६) सुख इच्छाओ के सहायको का निरोध। (७) एकरस दृढ़ता। (८) सुख स्मरणो के धक्का लगने से दुख मे सहिष्णुपना। (९) सर्वांग पुरुषार्थ। (१०) इन्द्रियो के भोग पदार्थों का त्याग। (११) दूसरे के करने न करने मे पटती ईर्ष्या का निग्रह। (१२) परम पुरुषार्थ करने मे पराये भार से रहित नैराश्य, अपने दुख मिटाने मे तत्पर-सावधान। (१३) त्याग करने मे परम सुख का लाभ समझना। इस प्रकार सुख इच्छा के सहार का नित्य कर्तव्य

पालन कर अनादि भूलकृत बन्धनो को काटकर विवेकवान निर्बन्ध स्वरूप मे सदा के लिए ठहर रहते हैं।

सोरठा—यह विषयन की चाह, कस न तजै मन मूढ़ तू।
करत आहि फिरि आह, आशा फाँस न परिहरे॥ ८॥

टीका—हे मूढ मन! तू इन्द्रिय सम्बन्धी पाँचो विषयो की चाट क्यो नहीं छोडता! यही कारण है कि बार-बार भोगजाल मे फँसकर उसके परिणाम में फिर-फिर त्रिविध ताप मे हाय-हाय करता है और फिर भी सुखाशा की फाँसी नहीं छोड़ता। इस पर श्रीगुरुदेव कहते है—"जब हम रोया तब तुम न सम्हारा। गर्भवास की बात बिचारा॥ अब तै रोया क्या तैं पाया। केहि कारण अब मोहि रोवाया॥ कहहिं कबीर सुनो संतो भाई। काल के बसी परो मति कोई"॥ बीजक॥ इस वाक्य से जिज्ञासु को कल्याण की चिंता करनी चाहिए।

प्रसंग ११—विषय-दुःख और मोक्ष-सुख

चौपाई—४४

त्रिबिधि ताप में अब दुख मानत। फँसत विषय मे फिरि तब ठानत॥
विषय रूप त्रयतापहिं जानौ। इनसे देह भिन्न नहिं मानौ॥

टीका—पूर्व कर्म से रचित देह मे तीन तापो के जो वर्तमान में दुख होते हैं, उन्हे जीव भोगना नही चाहता, परन्तु फिर विषयो को भोगकर त्रिविध दुख हेतु बीज बो रहा है। जिन विषयो मे जीव सुख मानता है वे तीन तापरूप ही है और देह भी तीन तापो[१] से पृथक नहीं है, क्योकि देहयुक्त ही तीन ताप मिलते रहते है।

जो दुख समुझत चिन्ता होवै। सोई विषय सुख निशदिन जोवै॥
मद्य मांस नहिं भोगै जोई। तेहि से कष्ट कबहुँ नहि होई॥

टीका—जिन तीन तापो के दुखो का अनुभव कर भारी कष्ट होता है, पुनः यह दुख हमारे सिर न पडे, ऐसी दृढ़ चिन्ता-फिक्र होती है, पर उन्हीं त्रिविध कष्ट हेतुक विषयो मे सुख मानकर रात-दिन उन्हीं की चाहना किया करता है, तो भला इन तीनो तापो से जीव कैसे बचेगा! यदि तीन तापो से बचना हो तो तापरूप जड विषयो से उपराम होवे। जिन विषयो मे आसक्त होकर तीन तापो मे जीव जलता है, वे विषय सुखरूप नही है, इसको प्रमाणपूर्वक कहते है। देखो! जो मदिरा और मांस नहीं खाता-पीता, उसको उनसे कुछ भी दुख नहीं होता, अर्थात मद्य-मास के न मिलने पर भी उसे दुख नहीं होता।

औरहु बस्तु अनेक प्रदेशी। जो नहिं मन में कीन्ह प्रबेशी॥
तिन से मुक्त रहत सब कोई। संशय शोक न कबहूँ होई॥

---

१ ज्वर, जूडी, शूलादि शारीरिक रोग और मानसिक उपाधि मिलाकर दैहिक ताप जानिए। सर्प, बीछी, राजा और कुटुम्बियो से जो दुख हो उसे भौतिक ताप कहते हैं। पाला, पत्थर, नदी की बाढ, शीतोष्ण आदि तत्वो से जो दुख हो, उसे दैविक ताप कहते हैं।

टीका—और भी अनेक प्रकार की विदेशी वस्तुएँ जो कि देखी-भोगी नहीं गयीं और मन में नहीं धँसी हैं, जिनका चित्त मे सस्कार नहीं बैठा है, उनसे सब जीव बन्धन रहित मुक्त हैं। मुक्त इससे है कि उनके लिए किसी प्रकार का सन्देह, शोक-सताप नहीं होता।

जौन विषय है धारण अपने। तेहि विन चैन होय नहिं सपने॥
धावत पकड़त छूटत सोई। मन उदवेग अनेकन होई॥

टीका—जिस विषय का अपने मे सस्कार पड गया है, उसके न मिलने पर सदैव शोक-सताप बना रहता है, यहाँ तक कि स्वप्न मे भी विश्राम नहीं मिलता। जिस विषय भोग मे जीव का प्रेम है, उसको वह दौडकर प्रयत्न पूर्वक पकडता है, फिर वह विषय विजाति चचल होने से छूट जाता है, इस प्रकार छूटने और मिलने पर राग-द्वेषजन्य अनेक उद्वेग तथा चिन्ताएँ होती रहती है, काम, क्रोध, लोभ और मोह की लहर पर लहर उठती रहती है।

सुख हित मिलव चहत सब कोई। मिलत जो इच्छा पुष्ट सो होई॥
इच्छाशक्ति पुष्ट ह्वै जबही। चाह उपजि खैंचत इत उतहीं॥

टीका—सुख के लिए भोग-पदार्थों को सब चाहते हैं, पर वे मिलते ही इच्छा-व्याधि पुष्ट कर देते है। जब इच्छा पुष्ट हो जाती है तब फिर वही बार-बार सम्मुख होकर इधर-उधर कुमार्गों के लिए खींचती रहती है।

तब सुख कहाँ जो इच्छा खैंचत। स्थिर नाहिं होत हिय भरमत॥
है सुख निज स्थिरता केरा। मानत भूलि के विषयन हेरा॥

टीका—जहाँ इच्छा का आकर्षण है वहाँ भला सुख का नाम कहाँ। इच्छा के आकर्षण में क्षण भी स्थिरता न प्राप्त होकर जीव सदा अन्दर-बाहर भटकता रहता है। भावनाओं मे आप ही चचल होकर दुखी होता है, आप ही भोगो को भोगते-भोगते जब आगे इन्द्रियाँ काम नहीं देतीं, तब थककर परवशता से स्थिर-सा हो जाता है, इस प्रकार है तो अपनी स्थिरता का सुख, परन्तु सुख होना विषयों से मानकर उनके लिए दौडता रहता है।

परखत सुख नहिं वस्तु के माहीं। पुनि प्रारब्धि के बल प्रगटाहीं॥
इन्द्रिन रूप देह यह होई। तेहि वशि जीव परे सब कोई॥

टीका—परीक्षा करके देखने से भोग-वस्तुओ में सुख नहीं है, क्योकि वे आदि-अन्त-मध्य सब समयो मे स्वरूप से पृथक ही देखी जाती हैं, परन्तु भूलजन्य पूर्व कर्म-प्रारब्ध रचित इन्द्रिय अन्त करण रूप चश्मा के सम्बन्ध से फिर-फिर सुखभ्रम होने लगता है। दस इन्द्रियो के समूह रूप इस काया की ममता में पडे हुए जीव परवश हो रहे हैं।

सर्वस दै तन रक्षक जोई। पारख बल साधन जेहि होई॥
सब सुख नाशि भयो क्षण माहीं। जब जिव फँस्यो विषय भवमाहीं॥

टीका—जिसे पारख का बल प्राप्त है, स्वरूपज्ञान है और स्वरूपस्थिति साधक जिनके सयम, नियम, इन्द्रिय-दमन आदि सब साधन मे जो पुरुषार्थी हैं, ऐसे परम विरागी पुरुष के शरीर की रक्षा सज्जन लोग अपने तन, मन, धन देकर करते रहते हैं। इस प्रकार विषय-त्यागी पुरुषो को शरीर यात्रा की कुछ भी फिक्र नहीं होती, जिससे वे परमार्थ का काम स्वतन्त्रता से करते रहते हैं। यह स्वार्थिक-पारमार्थिक सुख कब तक मिलता है, जब तक विषयों का त्याग

है, जहाँ विषय रूप भवसागर मे जीव पडा कि वहाँ स्वार्थिक-पारमार्थिक सब सुख क्षणमात्र मे ही नष्ट हो जाते हैं, ऐसे ये विषय भयानक और दुखदायी हैं।

बिषय ब्याधि जिनके मन माहीं। तिनके शत्रु प्रगट जग आहीं॥
भय संताप असह दुख होई। निर्भय सुख औ थिरता खोई॥

टीका—विषयो मे प्रधान कामिनी-स्पर्श आदि भोग-रोग जिनके मन मे समा गये हैं, उनके गलत आचरण होने से उनसे शत्रुता करने वाले प्रत्यक्ष जगत के लोग है। भोगेच्छा से सर्वदा हृदय में डर बना रहता है, दूसरे से वैर-विरोध मे जो सुख होता है वह सहनरहित है। ऐसी दशा मे उसको निर्भयता का सुख कहाँ। स्थिरता तो जडमूल से नष्ट ही हो जाती है।

उलझनि दिल मे शांति न पावै। जब लगि ध्यान विषय को लावै॥
इन्द्रिन द्वार भोग जो भोगा। मन करि जीव लहै संयोगा॥

टीका—हृदय मे ऐसी बेचैनी हो जाती है कि क्षण भर भी स्थिरता नही मिलती। यह उलझन, घबड़ाहट और आतुरता तब तक नहीं मिट सकती जब तक विषय सुख लेने का ध्येय बना रक्खा है। इन्द्रियो द्वारा जिन-जिन भोगो को भोग रक्खा है, उन्हीं की मानन्दी हृदय मे टिक जाती है। उसी मानन्दी द्वारा जीव पुनः विषयो मे प्रवृत्त होता है। यदि मानन्दी सम्मुख न हो तो विषय पदार्थ रहते हुए भी उनसे और जीव से कोई सम्बन्ध नहीं होता, अतः विषय-मनन ही विषय-सम्बन्ध कराने का हेतु है।

मन को रूप सोई तुम जानौ। भोग ते पुष्ट होत पहिचानौ॥
रहत बिरोध बिजातिन माही। सो तौ बिदित आहि जग माही॥

टीका—जो पहिले इन्द्रियो से देख, सुन और भोग करके सुखाध्यास की वृत्ति बना ली गयी है, वही मन का रूप है। वह मन बाह्य विषय भोगो से पुष्ट होता रहता है। जैसे अफीम खाने की इच्छा अफीम खाने से बलिष्ठ हो जाती है। विजाति अर्थात विरोधी धर्म वाले पदार्थ, जैसे साहु-चोर से विरोध, सज्जन-दुर्जन से प्रतिकूलता, ऐसे ही विरोधी धर्म वाले का साथ होने से विरोध ही बना रहता है। यह सब को जगत मे स्पष्ट है। अग्नि-जल, दिन-रात का विरोध, वैसे जड पच विषयासक्ति रूप माना हुआ मनोमय दृश्य कल्पित है और जीव सत्य द्रष्टा ज्ञान स्वरूप है, इसी से विजाति मे जीव को निर्भय पद नहीं प्राप्त होता। इसी को आगे स्पष्ट कहा जा रहा है—

जीव बिजाती मन के सगा। काहे न कष्ट लहै अति चंगा॥
सुख हित मन को मानत जीवा। भाँति अनेक मनावन कीवा॥

टीका—चेतन जीव से पृथक जडाध्यासरूप मन विजाति है, पच विषयो की छाया मात्र कल्पित है, उस विजाति-विरोधी सग मे पडकर जीव कठिन-से-कठिन दुख क्यो न पावे। कठिन दुख पाते हुए भी इन्द्रिय सुख के लिये जीव मन को मानता है, जो-जो मन मे उठता है, सो-सो करने को तैयार होता है। भाँति-भाँति के मनभावन युवती आदि नाना भोग देकर मन के यत्न मे लीन रहता है।

नेकु न मानै आगे धावै। संग में जीवहिं नाच नचावै॥
तबहूँ दुशमन जीव न जानै। पुनि पुनि आप को अर्पण ठानै॥

टीका—जितना-जितना विषय मनोरथो को पूर्ण करता हे उतना-उतना यह मन सन्तुष्ट न होकर आगे-आगे दौडता रहता है। इस प्रकार जीवो को मन नाच नचाया करता है। यद्यपि मन जीव का प्रगट शत्रु हे, तो भी यह जीव मनरूप परम शत्रु को यत्किंचित भी शत्रु नहीं समझता, उलटे उसे परम मित्र मानकर फिर-फिर अपने को निछावर करता रहता है। चाहे धन, शरीर, मान तथा सर्वस्व हानि हो जाय, परन्तु मन का कहा जीव अवश्य करता है। यहाँ तक कि परम परमार्थ ही क्यो न छूट जाय, जीव को बार-बार आधि, व्याधि, उपाधि मे पड़े रहना स्वीकार हे, पर मन का कहा टालना नहीं स्वीकार ह। जीव की ऐसी कठिन भूल हे कि बार-बार मन के ही साथ बिका करता हे।

वस्तु अनन्त असंख्यन बारा। भोगत चित्र रचत घट सारा॥
चित्र रूप मन फुरना धारा। बूड़त जीव सो परवश हारा॥
गुरु पारख से लागु किनारा। साधन बल मन लहरि निवारा॥

टीका—यह जीव शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँचो विषयो के अगणित भोगो को असख्य बार भोगते आया हैं। भोग-भोग कर मानन्दीरूप चित्र बनाकर उसी मानन्दी से पुन.-पुन शरीर धारण करता हे। पच विषयो के फोटो समान सुख मानन्दीरूप मन हे। वह जलधारा के समान स्मरणरूप होकर जीव के सामने उठा करता है। हर्ष-शोक, सुख-दुख, हानि-लाभ, काम-क्रोध, राग-द्वेष, ईर्ष्या और मद-मोह की धारा मे विवश होकर जीव अपने को हार गया है, स्वरूप से पतित होकर मन के वश मे बह रहा हैं। त्रिविध ताप की ठोकरे खा रहा ह। इससे बचने की युक्ति यही है कि सद्गुरुदेव के सत्सग का आश्रय लेकर स्वत. पारख बल से परीक्षा कर-करके स्मरणो को डालता रहे। इस अभ्यास से स्मरण तुम्हे अपने मे नही मिला सकेगे, परन्तु प्रारब्ध सम्बन्ध के कारण फिर-फिर समुद्र की लहर की भाँति वे सुख स्मरण आया करते हैं। उनको स्वरूप-स्मरण करके साधनबल द्वारा हटाते रहो, इस प्रकार पारख-यान द्वारा स्मरण-प्रवाह से किनारे होओ और पूर्व वेग से जब-जब स्मरण ठोकर देवे तब-तब सहिष्णु बनकर कष्ट को सहन करो। उनमे बहने की जगह ठहर करके देखने मे ही सब सुख निश्चय कर स्मरण-तरगो मे मत खिचो। इस प्रकार गुरुपारख के और साधन-अभ्यास के बल से मन-मानन्दी प्रवाह से पार पा जाओगे।

सोरठा—छूट जो नारी ब्रह्म, गुरु पारख निज रूप बल।
मिटा सकल परिशर्म, जस जग मे नहि बाँझसुत॥ १॥

टीका—बधन-मूल मुख्य स्त्री की सुखासक्ति और जगत-ब्रह्म की एकतारूप अद्वैत या व्यापक शून्यवत कर्ता-धर्ता के भास-अध्यास हें। इन दोनो धाराओ को गुरु-पारख दृष्टि और स्वय स्वरूप के साधनबल से जब नष्ट कर दिया जाता हे, तब सर्व भोग कामना, सम्बन्ध तथा परिश्रम की वसे ही पूरी सफाई हो जाती हे, जेसे जगत मे वन्ध्या पुत्र ह ही नहीं॥ १॥

साखी—देखी सुनी न वस्तु जो, तेहि कर सुख हे जौन।
भरमत विषयन भोग मे, त्यागत समुझो तौन॥ २॥

टीका—जो वस्तु देखी, सुनी और भोगी नहीं गई, उसकी कामना ही नहीं उठती। जब कामना रोग ही नहीं तो अतृप्ति, परिश्रम, मिलन, बिछुडन, तृष्णादि दुख का कहाँ लेश। जब कोई दुख ही नहीं तो शेष निरुपाधि अपने आप ही रहा। इस प्रकार बिना देखी, सुनी और

भोगी वस्तु का अनन्त सुख जानना चाहिए। इसके उलटे जीव विषयो को देख-सुन-भोगकर तथा सस्कार बनाकर उन्हीं मे चक्कर काट रहा है। इच्छा, परिश्रम, तृष्णा, मिलन-विछोह आदि सर्व दुखो को प्राप्त हो रहा है। जब विषय-भोग और उसकी कामना को भली प्रकार छोड देता है, तब निरुपाधि एकरस सुख को प्राप्त होता है। अर्थात जेसे बिना देखे और भोगे सस्कार रहित पदार्थ की ओर से जीव बिलकुल निश्चिन्त मुक्त ह, वैसे ही भोग त्याग देने से निश्चिन्त शुद्धस्वरूप ठहर जाता है। यह देहोपाधियुक्त भोग सम्बन्धी अनन्त दुख की अपेक्षा भोग बन्धन त्यागकर विषय सस्काररहित अनन्त सुख का अनुभव किया जाता है और देहोपाधि त्याग होने पर तो अपना स्वरूप सुख-दुखरहित परम आरोग्य स्वरूप है॥ २॥

वन्दना

सोरठा—दिल अन्दर को हाल, कह्यो सकल समुझाय गुरु।
शमन होय ततकाल, बर बिबेक बैराग्य लै॥ ३॥

टीका—अन्त.करण के भीतर जो कुछ इच्छाओ का विस्तार था, उन सबो को श्री गुरुदेव भिन्न-भिन्न निर्णय करके बता दिये। साथ ही यह भी बताये कि वे सब कल्पित इच्छाएँ शीघ्र ही नष्ट हो जायेंगी। उनकी औषधि यही है कि श्रेष्ठ विवेक सहित निर्मल वैराग्य ग्रहण करे। वैराग्य-विवेकसिद्धि के लिए सद्गुरुदेव की दृढ उपासना कर्तव्य है॥ ३॥

सोरठा—मम मति लहे न थाह, जो कुछ सनमुख अब दिखै।
अस प्रताप तव माह, दै निज दृष्टि जनाय सोइ॥ ४॥

टीका—इच्छा-सिंधु से पार पा सके, इच्छा के रूप को मिथ्या जान सके, ऐसी शक्ति इस दास की बुद्धि मे नही थी। जो कुछ यथार्थ पारख विचार से अब सम्मुख दिख रहा है अर्थात सब इच्छाएँ मुझसे भिन्न हैं, दुख पूर्ण हैं, यह दृष्टि आप पारख गुरु के परखाने से ही प्राप्त हुई। अत· यह प्रताप-बल आपका ही है। वही अपनी पारखदृष्टि देकर इच्छा की परीक्षा करा दिये, निश्चय है कि यह दास अब इच्छा के जालो से छूट जायेगा। धन्य-धन्य गुरुदेव!॥ ४॥

प्रार्थना

मैं एक दास अजान तेरो, भव डूबत पार लगा दीजै॥ टेक॥
कोइ तो सेवा करै सबही, पुरुषार्थ बलै मन शुद्ध रखै।
इत कोई भि शक्ति नहीं मुझ मे, तब भेष कि ओट निभा लीजे॥ १॥
सेवा व साधन पाठ किये, मन शान्त सुधार प्रसन्न हिये।
यह जानत तबहु ढिलाई करौं, रिपु आलस मोह भगा दीजे॥ २॥
है उद्वेग सदोष हृदय अब, चिंतित हौं दिन रात सदा।
केहि भाँति प्रयत्न करौं हितसे, अब सोइ सुबोध लखा दीजे॥ ३॥
बहु दूर व कूर गिरा पद से, अब दीन दयाल विशाल सुनो।
यह औसर प्रेम को हाथ गहौ, बिललात ये बाल उठा लीजे॥ ४॥

सद्ग्रंथ भवयान सटीक, तृतीय प्रकरण इच्छा-परीक्षा समाप्त

फल रूप-छन्द

सकल्प मेहनत पूर्व मे जो जो किया फल सामने।
चाह व्याधी औ उपाधी से विवश घिर कामने॥
कुछ बात हित की श्रवण कर तब दृष्टि घूमै आपने।
सकल्प यत्न ले गुरु तरफ सब विघ्न हनि पद पावने॥

चौपाई

लोभी धन जिमि समय निकारै। सतन की सगतिहि पधारै॥
बेर बेर गुरुपद बलिहारै। लहै परख पद जो यहि धारै॥

सोरठा

गुरुवर कृपा महान, दरशायो सब मन गती।
करत मधुप श्रुति पान, सरस भाव नित नव बढत॥

जगत-जहर

हेतु-छन्द

जग इन्द्रियाँ सम्बन्ध मे सब कामना दुख होय है।
भूल वश करि करि क्रिया जिव विष विषय मे रोय है॥
सो विषय विषरूप जग गुरु परख विन नहिं खोय है।
गुरुभेद कहि जग खेद हरि करु कण्ठमणि चित सोय है॥

साखी

मानि जगत अमृत सरिस, जीव दुखित सुख आश।
जगत जहर दरशाय सो, हरे विषम ज्वर भास॥

सद्गुरवे नम

भवयान

चतुर्थ प्रकरण : जगत-जहर

प्रसंग १—जगत अज्ञान

शब्द—१

ऐसे जग जीव बॉधि दुखदाई॥ टेक॥

तन उतपति करि मोह लगावे, जबरन कुसग सिखाई।
बालक युवा जरठ नर नारी, कुमग को पाठ पढाई॥ १॥
बिषय राग के पाठ बनाये, जहँ तहँ हमहिं सुनाई।
भये विबाहे सोई सिखावै, कुकरम दाग लगाई॥ २॥
चोरी चुगुली छल उपजावै, बिषय कि आगि लगाई।
भाभी मित्र भेद जग दीन्ह्यों, इन्द्रिन जहेर चढाई॥ ३॥
मात पिता कुलबृद्धि चहै सब, बचपन ब्याह कराई।
जेहि दुख अमित काल हम भरमे, तेहि मे बॉधि गिराई॥ ४॥
काम क्रोध मे जलै सदा हम, लोभ मोह कठिनाई।
आशा तृष्णा ममता घेरे, राग द्वेष दुख पाई॥ ५॥
जेहि ते यह सब उतपति होवै, सोई विषय भोगाई।
जो कहुँ धर्म भक्ति मे लागै,-बश नाशि कहि गाई॥ ६॥
साधु संग मे भूलि जो बैठे, तब सबही अनखाई।
तब वै कहै मृत्यु नहि होवै, ना यह ही मरि जाई॥ ७॥
पुत्र कलंकी भयो हमारे, जग में नाम धराई।
चोरी करै जुआ जो खेलै, अवगुण सब सिखि जाई॥ ८॥

तब नहिं कहँ भूलि वै कबहूँ, हमहीं मूल गहाई।
ऐसे सब जग भये सहाँयक, दुख को सुख कहि गाई॥ ९॥
सद्गुरु मिल भरम सब भागे, तब दुख मूल गवाँई।
जितने मूल जगत के साधक, उलटे फेर बताई॥ १०॥

टीका—जगत के जितने सम्बन्धी हैं, वे जीव को बन्धन मे डालकर इस प्रकार दुख देते हैं॥ टेक ॥ पहिले तो स्त्री-पुरुष परस्पर केलि करके बालक का शरीर रचते हैं, फिर विविध प्रकार से माया-मोह दृढ करते हैं। पुनः बलात्कार कुसग-कुभावना मे डालते हैं। ज्यो ही बालक कुछ जानने लगता हे त्यो ही नाना मनभावन प्रमोद कर-कर शौक, ठाट, शृगार, गाली, हँसी ओर दिल्लगी सिखाते ह। बालक, जवान, बडे-बूढे, पुरुष-स्त्री सबके सब विषयासक्तिरूप कुमार्ग का पाठ पढाते रहते हैं॥ १॥ वे सब नाना राग-रागिनी सहित विषयोत्पादक गान-तान बनाये हैं, वही जहाँ-तहाँ सुनाकर हमे मोहित करने की चेष्टा करते हैं। जन्म होने मे, विवाह मे, नाना उत्सवो के समयो में खोल-खोल कर अशुद्ध-अश्लील शब्दो से कामोत्पादक रसीले गाना गाकर विषय-व्यभिचार सिखलाते हं, जिससे बालक आगे बढकर स्वय कुकर्मी हो जाते हैं। इस प्रकार कुकर्मी-विषयी बनाकर जडाध्यास या चाटरूप दाग लगा देते हं॥ २॥ नाना चालाकी से परद्रव्य तथा अन्न-वस्त्र हरण करना चोरी है, इधर-उधर लगाने की बात बढ़ाकर कहना चुगुली ह, मित्र बनकर ठगना छल हे। जगत सम्बन्धी विषय-लालसा की अग्नि लगाकर और मोह-वश लोभ बढाकर चोरी, चुगुली ओर छल उत्पन्न करते हैं। प्रगट है कि हँसी, दिल्लगी आर नाना खेल करके भोजाई और अन्य मित्र जगत के विषय भोगो का पर्दा रहित ज्ञान करा कर इन्द्रियो मे विषयासक्ति रूप जहर चढा देते हैं॥ ३॥ माता-पिता तो कुटुम्ब-वृद्धि की सदैव लालसा करते हैं, इसीलिए वे बालक का बचपन ही मे व्याह कराकर खूब आनन्द मानते हैं। जिस विषयजनित दुख मे अनादिकाल से यह जीव आवागमन के चक्कर मे पडा हुआ सर्व दुर्दशा भोग रहा ह, उसी के खूँटे में बाँधकर सत्साधन तथा स्वरूपस्थिति से पतित करके मानसिक रोगो के अधे कूप मे डाल देते हैं॥ ४॥

हम जिस काम आर क्रोध की अग्नि मे भूल वश अनादि से जल रहे हैं, कठिन लोभ, मोह, आशा, तृष्णा से गँसे हुए राग और द्वेष करनी से दुख पा रहे हैं॥ ५॥ उन सर्व दुर्गुणों की जड रूप इन्द्रियो के विषयो को जबरन कुटुम्बी भोग कराते हे जिसमे कि और दुखबन्धन बढता जाता हे। यदि कोई पुत्र या भाई या कोई सगा-सम्बंधी सत्सग से जागकर मनुष्य धर्म ओर साधु-गुरु की भक्ति मे मन लगाने लगता है तो संसारी परस्पर कहने लगते हैं कि अब वश नाश हो गया, एक कुलबुहारन उत्पन्न हुआ ह। यह साधुओं के संग मे बठ-बेठ उलटी बुद्धि धारण कर लेगा। कहा भी है—"धूर्त सपूत महा जजाली। साँचा सुधा भक्ति कुल घाली॥" नाना छल-कपट, अनीति, वाचालता मे धन कमावे तब तो लोग कहते हैं वाह! खूब सपूत हुआ। यदि न्यायपूर्वक सच्चे मार्ग को ग्रहणकर सतोष से बरते ओर साधु-गुरु की भक्ति करे, तो लोग कहते हैं यह सत्तानाशी ह॥ ६॥ सदाचारी तथा विवेकी सतो के सत्संग मे जो कहीं भूलकर भी कोई घर का व्यक्ति बैठ जाय तो घरवाले खीजने-खिजाने लगते हैं। यहाँ तक उनको कष्ट होता है कि वे कहने लगते हैं, अरे! हमारे सामने हमारे घर का व्यक्ति सत्संग में जावे, हाय! इस से बढकर और कान कष्ट होगा! इससे तो अच्छा हम ही मर जाते या तो

यह बहेतू ही मर जाता, जिससे यह अशोभित काम देखने मे न आता। ऐसा कहकर वे शक्ति भर सत्सग, साधन, विचार छुडाने का यत्न करते हैं। जब यत्न नही चलता, तब जो-जो मन मे आता है वही उलटा-पुलटा कहा करते है ॥ ७ ॥

अपने इष्ट-मित्र से घरवाले कहते हैं कि हमारे घर मे एक कुल मे कलक लगाने वाला हुआ है। वह जगत मे अपयश करायेगा, देखो! अमुक का पुत्र ऐसी कम बुद्धि का है कि अपना सब कुछ त्यागकर साधुसग से साधु या बैरागी का नाम धरायेगा। अहो! यह विवेक करने पर कितनी नासमझ की बात है कि जो अच्छे सग से अच्छे गुण धारण करे, तो ससारी दुख मानते है और यदि स्त्री-विषय मे लोलुप होकर रात-दिन द्रव्योपार्जन मे लगा रहे, तो उसकी बडी बडाई करते है, परन्तु वही जब अधिक विषयासक्ति के जहर मे उन्मादी होकर चोरी करने लगता है तथा जुआ, वेश्यागमन, हिसा और नाना कुटिल-कठोरतायुक्त सर्व दुर्गुण धारण कर लेता है ॥ ८ ॥ तब ये ससारी मनुष्य भूलकर भी अपने को दोष नही देते कि इन दुर्गुणो की जड पुष्ट करने वाले हमी तो है, क्योकि हमी ने विषयभोग मे सुख दिखाया तब वह विषयी होकर नाना प्रकार के उत्पात कर रहा है। तो इन उत्पातो का मूल हम सब जगत के सम्बन्धी ही हैं। इस प्रकार जगत के हितैषी माता-पिता, इष्ट-मित्र सहायता देने वाले है। जो दुख रूप जगत जजाल है, उसे सुखरूप कहते हैं॥ ९ ॥ यदि पूर्व सुकृत से सद्गुरु मिल जायॅ तो उन्हीं की कृपा से जीव की उलटी समझ तथा भ्रम-सदेहो का विनाश होवे और तभी दुख की जड विषयासक्ति तथा जगत की ममता भी छूट जावे। श्रीसद्गुरुदेव से भिन्न जितने जगत मे अग्रसर श्रेष्ठ कहे जाते हैं, वे सब इन्द्रिय-विषय, आवागमन, मानसिक उपाधि के सहायक हे। वे परमपद से भिन्न जडासक्ति जड भावना पुष्ट करके इस जीव को जगतबन्धन मे सुख का पाठ पढाकर अपना मनुष्य जन्म व्यर्थ किये और अपने साथियो का भी कर रहे है। गुरुकृपा बिना यह कैसे देखने मे आ सकता है ॥ १० ॥

दृष्टांत—एक बुड्ढे के यहॉ एक सत गये। बुड्ढे ने नमस्कार किया। सत ने कहा—बुड्ढे! तेरी मृत्यु समीप है। अब परलोक बनाने का यत्न कर ले। बुड्ढा कुछ और कह कर बोला—हे सत! आपकी कृपा से ये चार पुत्र है। तीन को तो मे फँसा चुका हूॅ, चौथे को फॅसाने की चिन्ता मे हूॅ। कही मेरा शरीर छूट जाय, तो वह चौथा पुत्र बिना सगाई के रह जाय, उसको फँसाना अवश्य है। देखो महात्मन! अप्रसन्न न होइएगा, मायाजाल का यही सब धन्धा है। सत ने कहा—हे वृद्ध! इससे तुम्हे बहुत कुछ सुख मिलता होगा? वृद्ध ने कहा—महाराज! कुछ पूछो न । जब से बालको की सगाई कर दिया है तब से वे अलग होने को लड रहे है, मेरी कोई भी खातिर-बात नही करता। मैने जवानी भर हल नही जोता अब बुढापा मे मुझे हल की मुठिया पकडनी पडती है। तिस पर भी बडा लडका मुझसे नाराज ही बना रहता है। एक छोटे लडके का सहारा है। इतने मे बडा पुत्र आकर बोला—रे बुढवा! क्या अब तुझे साधु का सग रुचने लगा है? अब तू बडा साधु बनने चला है, क्यो? आज सबेरे घर में नई बहुओ को तूने बहुत गालियाँ दी हैं, रह! तुझे मै बताता हूँ। ऐसा कहकर गाली देते हुए दो-चार घूसा मारकर और पैर पकडकर घसीटते हुए गॉव के बाहर सडक पर डाल आया। बुड्ढा गाली देने लगा।

सत फिर वहाँ जाकर बुड्ढे से बोले—तू गाली क्यो दे रहा है? बुड्ढे ने कहा—अरे महाराज! ये मेरे अधर्मी बालक सारे धन पर कब्जा करके मेरे बोलने पर भी आपत्ति कर रहे

हैं। अच्छी वात भी कहते हैं तो ये वहुएँ लडको से लगा देती हैं कि वुड्ढा हम लोगो को गाली दिया करता है। वस, ये मदान्ध लडके मारने-पीटने लगते हैं। क्या कहे सत! ससार मे वडा दुख है। सत वोले—हाँ, अवश्य दुख हे, स्वार्थ से भरी दुनिया अपनी नहीं, इसमे मोह कर अविनाशी का भजन न भूलना चाहिये। चल उठ! अव भजन-भाव मे लीन होकर इस असार-ससार का मोह छोड दे! इतना सुनते ही वुड्ढा आग ववूला हो गया ओर वोला—तुमको वीच मे किसने चौधरी वनाया हे? हमारे हैं तो मारते हैं, कूटते हैं, नाना फजीहत करते हैं, नहीं होते तो कोन मारता? क्या कोई लडकों के मारने से उपराम होकर अपना घर छोड देता ह? सत ने कहा—अहो! मोह की महिमा अपरम्पार हे। दीप मे पॉखी के समान जलते हुए भी मोह-वश सुख मानते हैं। सत चल दिये। इस प्रकार जगत-प्राणियो की वुद्धि विपरीत हे, वही विपरीतता साथियो मे भरकर स्वयं मोह की धारा मे डूवते तथा डुवाते रहते हैं। कवित्त—

नारी तो कहत यह चर्म देह आपकी है, माता तो कहत पूत तोर घर वार है।
पिता तो कहत सव धन तोहि सॉप दियो, मीत तो कहत खुव वढे कारवार है॥
सवकी सहायता प्रगट जग माहि भई, रोगी को कुपथ्य दियो वढत अजार हे।
काम क्रोध लोभ मोह विषय प्रपच धार, डूवत डुवावत जो वाहि को अधार हे॥

शिक्षा—प्रत्येक नर-नारी का कर्तव्य है कि वे स्वय सन्मार्ग पर चले, और अपने साथियो को भी उस मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करे, जिससे मनुष्य-जीवन सार्थक हो मोह-माया मे जीवन नष्ट न करे।

शव्द—२

देखो जग जीव लोभ की मूरति।

क्रोध वयान औ मोह देखावे, सव विधि जाहि काम की सूरति॥ टेक॥
देखा सवहि मुक्ति वहु मानत, मानत धर्म जहाना।
मुक्ति कि ओट फेर वतलावै, निज निज तरफ खिचाना॥ १॥
इर्षा द्वेष जलनि जहँ होवै, राजस तामस नाना।
तिनको ज्ञान कहत सव कोई, विपयन मुक्ति वखाना॥ २॥
जहँ चंचल तहँ मुक्ति वतावै, मुक्ति क मरम न जाना।
परिगे चक्कर मुक्ति के इच्छुक, भरम के हाथ विकाना॥ ३॥
वन्धन सदा देह सव भोगै, विषय प्रपंच जो ताना।
जले जलावे शान्ति न कवहूँ, मुक्ति क तहाँ ठेकाना॥ ४॥
राजस तामस पच विषय लै, जीव मुक्ति जग गाई।
याते सजग स्ववश करि निज को, सहसा भूल तजाई॥ ५॥
भरम रूप यह जग को देखौ, चेतन भूलि वनाई।
भूलि गयो तेहि मा खुद आपै, विविधि कल्पना लाई॥ ६॥
कोइ कोइ जीव दु ख लखि जगको, चहत ताहि छुटि जाई।
रहनी सगति विना एकरस, सुखाध्यास भरमाई॥ ७॥

मन बशि जीवन मति परिवर्तन, भरम के पेंच बनाई।
तिनका संग रहत नित जग मे, मिलि के बुद्धि भ्रमाई॥ ८॥
जो बन्धन तेहि मुक्ति बतावे, लक्षण नही भिराये।
मुक्ति नाम की एका सुनि कै, बहुतक जीव ठगाये॥ ९॥
पूर बोध जो सदा संयमी, कुसंग त्यागि जिन पाये।
सदा साधु की सगति करि कै, सद्ग्रन्थन मन लाये॥ १०॥
ऐसे सन्त मुक्ति करि निज की, सदा अखण्ड रहाये।
तृण सम सदा देह सुख समझत, मोक्ष देह धरि आये॥ ११॥

टीका—विवेक से देखो, विचारो! प्रपचासक्त जगत के जीव लोभ और तृष्णा की मूर्ति हो रहे हैं। वे कभी तो शासन कर तमोगुणयुक्त कठोर से कठोर बात कह कर भय देते हैं और कभी आगे का सुख-लाभ दिखला कर मोह उत्पन्न करते हैं। ऐसे ससारियो के रग-रग मे काम का आवेश भरा हुआ है, जिनका नख-शिख कामुक-फैशनयुक्त आकार ही देखकर विदित हो जाता है कि सर्वांग काम के मूर्तिमान रूप हैं॥ टेक॥ वाचालो ने देखा कि जगत मे बहुत मनुष्य मुक्ति मानते हैं और धर्म भी मानते हैं, इसलिए वे उनको अपनी ओर खींचने के लिए उन्हीं मे मिलकर धर्म ओर मुक्ति हमारे मार्ग से भी है, इस प्रकार लोभरूप हरी-हरी टट्टी दिखाकर मनुष्यो को अपनी-अपनी ओर खींचने लगे॥ १ ॥ अरे! जहाँ परस्पर ईर्ष्या, कलह, और वैर की अग्नि धधक रही है, विविध विषय-विलास की बढती और जबर्दस्ती, लूट-फूँक, मार-काट, मास-मद्य-भक्षण बढ रहे हैं और जो इनको बढा रहे हैं, उन्ही को कहते हैं कि ये बडे ज्ञानी है। राजसी, तामसी, सहारकारक वस्तुओ को बढाना ही विशेष ज्ञान मानते हैं और वे लोग पशुवत पाँचो विषयो को नि.शक भोगना ही मुक्ति मानते हैं॥ २॥ जिस विषय-कामना के वश क्षणमात्र स्थिरता नही, कुम्हार के चक्र के समान निरतर चचलता बनी रहती है, उसको कहते हे कि यही मुक्ति है। ये मुक्ति का भेद जानते नहीं। मुक्ति का अर्थ है मोह का क्षय होना और सर्व विषय-बन्धनो से छूट जाना। जीव का बन्धन केवल विषयासक्ति है। उसका त्याग ही मुक्ति है, सो तो जानते नहीं, केवल मुक्ति का नाम लेकर सदा शोक-मोह मे भटकते रहते और अन्य मनुष्यो को मुक्ति का नाम सुनाकर अपने जाल मे डाल देते है। मुक्ति की इच्छा वाले नवीन जिज्ञासु उनके छल, फौरेब, पाखण्ड न जानकर उनके फन्दे मे पडकर अपना विवेक-मार्ग छोड बैठते है और अनेक प्रकार की विषयासक्ति के अन्धकूप मे पडकर भूल-भ्रम के हाथ बिक जाते हैं॥ ३॥

देह युक्त बन्धन मे पडे हुए तन-मन उपाधिकृत नाना दुर्दशा को प्राप्त हो रहे है। पाँचो विषयो का खिचाव, कामलोलुप मन का दौडाव, भोग पदार्थों के लिए परस्पर वैर का बढाव, भाँति-भाँति के छल-कपट की ओर लगाव ऐसे विषय-प्रपच, ऐचातानी मे सब जीव दुखी हो रहे हैं। आप द्वेष से जलना और दूसरे को जलाना जहाँ का यही प्रधान कार्य हो रहा है, ईर्ष्या-द्वेष और विश्वासघात का बाजार जहाँ नित्य गर्म हो रहा है, वहाँ ये सब मुक्ति का स्थान बतला रहे है। इसे भी स्वतन्त्र होना समझ लिये है, ये आश्चर्य! निधडक-विषयविलास ही मक्ति हो तो कुत्ता, बन्दर, गधा, भालू, शशा सबकी मुक्ति ही जानिए। देखो! जो आपत्ति का

स्थान हे, उसे सुरक्षित मानते ह ॥ ४ ॥ चडे आश्चर्य की वात है कि राजस ओर तामसवृत्ति तथा शव्द, रूप, रस, गध ओर स्पर्श इन सवो की आसक्ति महान अनर्थ का मूल है, जो कि स्वार्थ-परमार्थ मे कहीं भी साधक नहीं, उलटे घातक हैं, उसे ही ग्रहण करके जीवो की मुक्ति हो जाती हे, ऐसा कहते ह। देखो! ये ही ससार के चतुर, अगुआ तथा वड़े लोग कहे जाते हैं[१] ऐसे मनुष्यो से कल्याणार्थी को मदा सावधान रहना चाहिए। उनका सग आर उनके वचन ही मुख्य कुसग जानकर तथा साथ ही विषयासक्ति त्यागकर अपने को स्वतन्त्र रखना चाहिए। अथवा अपने स्वरूप को सवसे पृथक, स्वतन्त्र, सत्य जानकर स्वतत्रता के यत्न मे लगे रहना चाहिए। सहसा तरह-तरह की वाते सुनकर वाहरी मनुष्यो का विश्वास करना भूल का मुख्य कारण है, इमे छोड देना चाहिए। तात्पर्य यह कि नर-नारियों की जो गति-मति, वाक्य जहाँ तक वन्धन देने वाले व्यवहार देखने मे आवे उनमे विना विचारे शीघ्रता से वहना नहीं चाहिए। वार-वार उन्हे पारख-तुला पर तौल-तोलकर जो यथार्थ हो उसमे मन देना चाहिए, यही सहसा भूल तजना है ॥ ५ ॥

जो मानने से तयार हो विषयासक्ति, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मानसिक सृष्टि कल्पित भ्रमजाल हैं। चैतन्य जीव ने ही अपने को भूलकर इन सवों को गढ़ रक्खा है। स्वय ही विषयो मे सुख की कल्पना करके अपने कर्तव्यो मे भूलकर भाँति-भाँति की आशा, तृष्णा कलह और कल्पना लादकर त्रिविध तापो मे दुखी हो रहा ह। यथा—वीजक त्रिजा मे पूरण साहिव कह रहे हे—"सोरठा—मोहि गया यह जीव, कृतम युक्ति नहि परखिया। ब्रह्मा शक्ती शीव, सवे परे भ्रम फन्द मे॥ आपे आप न जान, औ जाना सव ज्ञान को। विन पारख न ठेकान, कहाँ रहेगा जीव यह॥ कहाँ ब्रह्म अनुमान, कहाँ आतमा जगत कहाँ। तोही ते सव जान, वानी खानी कल्पना॥ तू जीव चेतन जान, पारख विन तोहि ठोर नहि। कहहिं कवीर प्रमान, पारख मा थिति होय रहु॥ ६ ॥" सहस्रो मे से कोई विरला ही मानसिक सृष्टि से व्याकुल होकर यह चाहता है कि मेरे कामादिक विकार छूट जायँ, म आवागमन मे रहित हो जाऊँ, किन्तु यथार्थ रहस्य की प्राप्ति विना आर सर्व के परीक्षक पारखी सन्तो के सत्संग मे अटूट श्रद्धा विना वे एकरस स्वस्वरूप में कसे ठहर सकते हैं। उलटे सत्सग, सद्धारणा रहित उनको वाहर-भीतर, पिण्ड-ब्रह्माण्ड, वानी-खानी आर भ्रम मे डालने वाले नर-नारियो की सुखासक्ति आदि स्वस्वरूप पर पर्दा डालकर उसी जगत मे फिर भटका देती ह ॥ ७ ॥

अनादिकाल से अपने-अपने कर्मो का अहकार दृढ करते चले आने से सव जीव विलकुल मन के हाथ विक गये हैं। मनवशवर्ती जीव की गति-मति क्षण-क्षण मे पलटती रहती है, क्योकि मन का धर्म ही ह क्षण-क्षण मे वदलना। सो मन के वश जीव क्षण मे कामी, क्षण मे क्रोधी, क्षण मे लोभी, क्षण मे मोही, क्षण मे शत्रु, क्षण मे मित्र, क्षण मे रागी-ठाटी और क्षण मे उदासीन, इस प्रकार क्षण-क्षण मे नट-स्वाग न्याय चरित्र वदलते रहते हैं।

---

१ वने विज्ञ जो अज्ञ से काम ठानी, चहैं भोग पूरण ये पुरुषार्थ मानी। दिनो रात तृष्णा मे पचते नदानी, क्षणिक देह के भास ही साँच ठानी॥ ऐसे गुरू जन से न्यारे हो रहिए, न तो लाभ वदले में हानी हि लहिए। विना ही विचारे नहीं कुछ भि गहिए, अगुण औ गुणी भिन्न करना हि चहिए॥

ऐसे ही मनुष्य नाना भ्रमजाल के दावॅ-पेच रचते है। ऐसो का साथ जिज्ञासुओ को भी मिला करता है। वे भ्रमाने मे चतुर मनुष्य कल्याणार्थियो मे मिलकर उन्हे भी अपने जालो से ही मुक्तिधर्म या स्वतन्त्रता का प्रलोभन देकर धीरे-धीरे उनकी बुद्धि से परमार्थ का निश्चय छुडाकर जगत-भोगो मे ही सुख निश्चय करा देते हैं। इस प्रकार वे भ्रमरूप चक्र में डाल देते हैं ॥ ८ ॥ जो माया-भोग संबन्ध, राजस-तामस, विषय-विलास, राग-द्वेष, मन-मनसा ये सब बन्धन के रूप हैं, उनको ग्रहण करने से लोग मुक्ति बतलाते है। अहो! वे यह भी नहीं सोचते कि प्रत्येक वस्तु की सिद्धि किसी लक्षणा से होती है। जैसे चोर-साह के लक्षण से चोर-साह जाने जाते हैं। चोर का साह नाम रख लेने से चोर ही साह कैसे हो सकता है! वैसे ही सब जीव कामना-वश दुखी हो रहे है, सो कामना की वृद्धि के लिए भोग-जालो मे उलझने से उनकी कैसे मुक्ति जानी जायेगी! यदि मानसिक जाल मे पडना मुक्ति है तो बन्धन क्या है? फिर बन्धन कुछ है ही नही। यदि बन्धन नहीं तो जीव को नाना प्रकार के दुख क्यो होते हैं। दुख छूटने के विविध उपाय रात-दिन क्यो करते है! अरे! ये भूले मनुष्य बन्धन ही को मुक्ति सिद्ध करते हैं। अपना तो गर्त मे जाते ही हैं, दूसरे को भी उसी मे घसीटते हैं। "पडवा अपनो जाय, चार हाथ पगहा लिये जाय" वाली दशा है। कहॉ सम्पूर्ण जडाध्यास, जड-भावना, जडासक्ति, कुचाल, कुभावना और कुमार्ग त्यागकर मुक्त स्वरूप होना और कहॉ सर्व कुचाल, विषय-वासना आदि धारण करके मुक्ति मानना! कहाँ कॉटो मे दौड़ना, कहाँ साफ जगह मे टहलना, दोनो की एकता कैसे! कहाँ लडाई-झगडा, मार-काट और भोग-व्यभिचार से मुक्ति कहना, और कहॉ उनके त्याग से शील, क्षमा, सत्य, विवेक द्वारा मुक्ति होना! कहॉ रात कहॉ दिन! दोनो की एकता कैसे हो सकती है! परन्तु बाचाल मनुष्य 'जैसे उससे मुक्ति, वैसे इससे मुक्ति' इस प्रकार नाम की समता करके बहुतेक कल्याणार्थियो को ठग लिये, निवृत्ति-मार्ग छुडाकर जगत-प्रवृत्ति ही मे डाल दिये। अथवा उन बाचाल मनुष्यो के सम्बन्ध से और उनकी बाते सुनकर स्वय कितने सत्यपद से भ्रष्ट हो गये॥ ९ ॥ पर जिसे पूर्ण पारखयुक्त सत्य स्वरूप का बोध है, जो उस बोध पर सयम करके थीर रहते हैं, और बुद्धि भ्रष्ट कराने वाले सगो का त्याग करते रहते हैं, साथ ही विवेकी सतो की सगति मे लगन रखते है, पुन· प्रतिदिन सद्ग्रन्थो का अभ्यास करते हैं॥ १० ॥ ऐसे सत-जिज्ञासु-कल्याणार्थी अपने को मुक्त कर लेते हैं और वे ही सदा अखण्ड एकरस और शुद्ध धारणा रखते हैं। वे ही देह-सुख को तृण के समान तोडकर फेक देते हैं, मानो वे मोक्ष की देह धारण किये हुए प्रगट दर्शन दे रहे हैं। अर्थात वे प्रत्यक्ष मोक्ष स्वरूप ही हैं॥ ११ ॥

साखी—गुरू ज्ञान जग ज्ञान से, बहुत भेद लखि लेव।
जगत भोग सुख मानई, गुरू भोग तजि देव॥ १ ॥

टीका—गुरु की ज्ञानदृष्टि और जगत की ज्ञानदृष्टि मे बहुत अन्तर है। जगज्जीव इन्द्रिय-भोगपरायण पशुवत विषय भोगो ही मे सुख मानकर भोग से ही मुक्ति मानते है और गुरु विषय भोगो से पार स्वस्वरूप का निश्चय करके विषय भोगो का त्यागकर स्वस्वरूपस्थिति से ही कल्याण जानते हैं॥ १ ॥

साखी—गुरू कथन परत्यक्ष है, दुख सकलौ छुटि जाय।
जगत भोग भरमत रहै, कबहुॅ न सुखी देखाय॥ २ ॥

टीका—गुरुदेव का कथन हस्तरेखा की भाँति स्पष्ट है, जिसे ग्रहण करके भोगो को त्याग देने से आदत और तृष्णा मिटकर अपना आरोग्य-स्वरूप स्थिर हो जाता है। इसलिए गुरु का सिद्धांत पकडकर जन्म-मरण से लेकर त्रिविध ताप के सुख-दुख निर्मूल हो जाते हैं, और जगत के लोग तो भोगो में सुख मानकर भटकते रहते हैं, वे तो "कर्म-स्वभाव वेग मन जाला। इच्छा प्रेरित फिरत बेहाला" इस प्रकार कभी सुखी देखने मे नहीं आते। भोगो के आदि-अंत-मध्य हर समय कामाग्नि से जला करते हैं॥ २॥

साखी—दुख सुख हानी लाभ जो, मन कृत रोग जो सोय।
ताहि त्यागि स्वतन्त्र जो, गुरू ज्ञान सोइ होय॥ ३॥

टीका—जीव को देहोपाधिकृत दुख-सुख, हानि-लाभ, बनना-बिगड़ना, जन्म-मरण आदि सब मानन्दीकृत रोग लग रहे हैं। उनकी परीक्षा[1] करके और उन्हे मिथ्या जानकर उनमे गाफिल न होना और थीर रहना, अपना स्वतन्त्र-स्वरूप जानकर स्वतन्त्रता से ठहरना, मानन्दीकृत जालों को परख-परख कर उनमे न फँसना ही गुरुज्ञान कहलाता है। यथा— "चौ०—ते द्रष्टा ते गुरु पद थीरा। ते द्रष्टा गुरु प्रगट शरीरा॥ ते द्रष्टा साधूजन मुक्ता। ते द्रष्टा शिष्य गुरुमुख युक्ता॥" (पच०)॥ ३॥

प्रसंग २—जगत निःसार

शब्द—३

समुझौ मन अपने जगत असार॥ टेक॥
आक भुवा समता यह चंचल, क्षण क्षण जेहि रफ्तार।
आशा मात्र सत्यता जिसकी, सेमर फूल न सार॥ १॥
वाँछा पूरण इसमे कैसी, पकड़त शुन्य न भार।
यहि विधि सकल पदारथ सुख है, क्षण क्षण बिन अख्त्यार॥ २॥
नारि पुरुष के नाता झूँठे, औ तन का अहंकार।
जिनको मानि विषय वशि भूले, करि करि अत्याचार॥ ३॥
देय मानसिक दुख सो क्षण क्षण, देखौ हृदय विचार।
सदा काल तेहि घेरे वसि कै, भोगौ कष्ट अपार॥ ४॥
दीप शिखा सम मन वशि चेतन, नहिं बदलत जेहि बार।
तेहि के साथ एकरस बँधुवा, सब तेहि लेत अधार॥ ५॥
जो दुख होंय सो थोरे समुझौ, उनमत गज असवार।
सब जीवन जगरूप लखाये, जिन पर ममता झार॥ ६॥

---

१ चौ०—दुख सुख हानि लाभ जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥
तजि माया सेइय परलोका। मिटहि सकल भव सम्भव शोका॥ रामायण॥

नहीं स्ववशता जग मे देखो, पराधीन व्यवहार।
तेहिते सिद्धि विषय सुख माने, जो दुख का भण्डार॥ ७॥
शशा श्रृंग कमठ के रोमहिं, अस मानन्दी धार।
पचि पचि मरत सदा तेहि कारण, बाढत तृषा अपार॥ ८॥
अहै असम्भव बात सुनन मे, नाचत बहु हुशियार।
काम चातुरी देय न कबहूँ, फिर फिर ताहि जोहार॥ ९॥
है दुख रूप सदा जेहि सनमुख, जेहली सरिस बिचार।
बन्धन वहाँ पदारथ देखौ, चेतन तेहि रखवार॥ १०॥
भरम मात्र यह बन्धन देखौ, है बिन शक्ति निहार।
तेहिते छूटि जाय सो सरलहिं, जेहि घट बोध दुखार॥ ११॥
कहै कबीर यह जग को निर्णय, लखौ सो शिक्षा सार।
दुःख सरूप जानि यहि जग का, निज से दियउ निकार॥ १२॥

टीका—हे जीव! अपने मन में परख करके देखो, यह जगत सारहीन है॥ टेक॥ मदार की रुई के समान यह जगत क्रियाशील है, जो कि पल-पल मे अपनी चाल बदला करता है, जिसमे सत्यता का लेश नहीं है, मिथ्या आशा ही आशा करना जिसकी सत्यता का आधार है। सेमल फूल देखने मे तो परम सुहावन लगते है परन्तु अन्दर सार कुछ नही, तद्वत जगत, खानी-बानी नर-नारी देहो का हाल हे॥ १॥ अरे! जिस जगत के पदार्थ तथा प्राणी पलक मारने मात्र मे और ही और हो जाते है, ऐसे जगत से इच्छापूर्ति कैसे हो सकती है! जैसे शून्य आकाश को पकडने से भारीपन या ठोसपन कुछ हाथ नहीं आता, ऐसे ही विषय किंचित सुख के साधन नहीं हो सकते, उनसे इच्छा-भूख नहीं मिट सकती। जगत के पदार्थ क्षण-क्षण अपने काबू मे नहीं रहते॥ २॥ स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध भी झूठा है। लोक रीति के अनुसार जब स्त्री-पुरुष का नाता दृढ हो जाता है तब पुरुष के दुख से स्त्री और स्त्री के दुख से पुरुष दुखी होने लगते है। इसके पूर्व जब पति-पत्नी का मानना दृढ न था तब चाहे नित्य ही स्त्री-पुरुष की भेट होती हो, तो भी वे एक-दूसरे के दुख से दुखी नही होते थे और नाता के पश्चात दृढ मानन्दी से एक के दुख-सुख से दूसरे को दुख-सुख हो रहे है तथा नाता होते हुए भी जब दोनो का मन अत्यन्त बदल जाता है, तो दोनो अलग-अलग हो जाते है, कही नीति से न रहनहार स्त्री अन्य पुरुष से ओर पुरुष अन्य स्त्री से स्नेह कर लेते हैं। कुछ अश मे मन मेल होने पर भी वे अलग ही अलग रहते है। न वे एक साथ जन्मे हे, न एक साथ मरेगे ही। पहिले और आगे-आगे जन्मो मे भी ऐसे ही दोनों का नियमित सम्बन्ध होना असभव है। जब कर्मानुसार भिन्न-भिन्न भ्रमण है तो परस्पर एक नाता एक सम्बन्ध कहाँ रहा! इस रीति से पति-पत्नी का दृढ मानना और उसका अहकार भूलजनित, मानन्दीमात्र, कल्पित तथा मिथ्या है। वैसे ही इस नश्वर देह को मै-मेरा मानना भी कल्पनामात्र है। इसका साथ भी सदा नियमित नहीं। काल-कर्मानुसार अगणित शरीर बने और बिगड़े वेसे यह वर्तमान शरीर भी है। अहो! जिस देह आर देह सम्बन्धी पत्नी-पुत्रादि का अभिमान लेकर विषयभोक्ता बन कर सब जीव भूल रहे हैं, स्वस्वरूप से बेभान हो रहे हैं, परपीडनरूप हिंसा, घात, द्रोह कर-करके सुख चाहते हैं, वह

देह ओर देह सम्बन्धी समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष नाशवान हैं और उनसे संवन्ध भी माननामात्र मिथ्या ही हे॥ ३॥

पुनः अपने माने हुए प्राणी ओर पदार्थ मानसिक राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, आधि-व्याधि लगाकर प्रतिक्षण दुसह दुख देते रहते हे। यह वात अन्त.करण मे ठहर कर देखो, विचारो तो पता लग जायेगा। सदेव देह ओर देह सम्बन्धी कुल, परिवार चरित्रो के माया-मोह मे फँसकर ही तो तुम्हे अनन्त कष्ट भोगना पडता है॥ ४॥ जेसे दीपक शिखा वदलते देर नहीं लगती, वसे ही मन-तरगो के उठते-वैठते देर नहीं लगती। क्षण-क्षण मे लहर पर लहर आया-जाया करती हे। ऐसे क्षणिकवर्ती मन का साथ करके सब देहधारी जीव क्षण-क्षण मे ओर-तोर होते प्रत्यक्ष दिख रहे ह। तो जिन शरीरधारियो की एकरस वृत्ति कौन कहे, नट-स्वागवत क्षण-क्षण मे अपन-परार होते विलम्ब नहीं लगता, उनमे हम लोग एकरम सुख की आशा कर रहे हें। सब सबके मोहरूप फाँस से जकडे हुए स्थायी सुख-शान्ति चाहते हें, यह अनहोनी बात नहीं तो क्या हे। ॥ ५॥ उक्त दशा धारण करने से जो न दुख भोगना पडे वह थोडा ही हे। यह तो वात ऐसी ही हे जैसे मदमत्त हाथी पर सवारी करके कोई स्थिति चाहे, तो स्थिति के वदले उमकी दुर्दशा होना निश्चय है, वैसे ही मोही लोगो की सव दुर्दशा होती रहती हे। देखो हे जिज्ञासुओ। नर-नारी ओर पण्डित-मूर्ख जितने प्रपचासक्त जीव हैं, सव मनवश जगत के रूप हो रहे हें। "चले नित्य सो जगत कहावे। ठहर नहि नित नव प्रगटावे॥ अनस्थिर सव पिण्ड व्रह्मण्डू। वड अचरज हिडोल परचण्डू॥" जगदासक्त स्वार्थी जीवो से पूर्ण सुख मिलने की आशा करके उनके ममता-मोह मे एकाधार फँम के ये सव जीव अपना कल्याण चाहते ह, तो भला यह कसे हो सकता ह। छन्द—"सरि फेन गहि के उवारा चहे हे। धारा मे मन्दिर बनाया चहै हे॥ तथा ही जगत जीव से सुख कि आशा। वृथा ही है करनो ज्यूँ जल को वताशा"॥ ६॥

जगत-जीव ओर जगत-पदार्थों पर रत्तीभर भी अपनी स्ववशता नहीं ह। वे अपने कावू मे नहीं हें। उन मबका व्यवहार-सम्बन्ध परतंत्रता से भरा हुआ है। वे स्वय स्ववश नहीं हैं। जो नश्वर, परवश, परिश्रम, शोक, रोग, वियोग सब दुखो का खजाना ह, उसी मे इन्द्रिय-विषय-कृत सुखो की प्राप्ति चाहते ह। देखो। जो दुख का भण्डार हें, उमे ये जीव मुख-शाति का स्थान समझ रहे ह॥ ७॥ जमे खरगोश के सींग नहीं होते ओर जेसे कच्छप की पीठ पर रोम नहीं होते, वेमे ही भ्रमकृत घेरारूप मनोमय मिथ्या हे। जिस मानन्दी मात्र सुख का तीन काल मे अत्यन्त अभाव हे, उसी के लिए सव जीव सदैव पच-पचकर मर रहे हैं। यही कारण हे कि मृगतृष्णान्याय जगत-भोग ओर जगत-ममता से जीवो की अत्यन्त तृष्णा वढती ही जा रही है॥ ८॥ मुनने मे तो यह वात आश्चर्य मी लगेगी कि मिथ्या मानन्दी जीव को नचा रही हे, पर यह वात समझने से सरल हो जायेगी। अरे। इस अपनी कल्पित सृष्टि मे अवुध तो वँधे ही पडे हें, वडे-वडे विद्वान, वेदाचारी, वक्ता आर विज्ञानी भी इसी मिथ्या सुख मानन्दी के मच पर नृत्य कर रहे ह। उनकी काशल-कला, विद्या-विजय, शासन-चतुराई तथा वाचालता व्यर्थ हो रही हे। वे वार-वार उमी कल्पित रसनामुत,[१] चर्म,[२]

---

१ हरफो के जाल—विद्यादि वहु वाणी का प्रमाद।

२ स्त्री विपय।

क्षार,[1] कौडी,[2] के लिए भिक्षुक होकर इच्छा वाले बन रहे है। यथा—"चतुर चिकनियाँ चुनि चुनि मारे, कोइ न राखेउ न्यारा हो।" साखी—"कबीर माया राम की, चढ़ी राम पर कूद। हुकुम राम का मेटि के, भई राम ते खूद॥" कवीर परिचय॥ "किर्तम आगे कर्ता नाचै, है अन्धेर यही"॥ ९॥

हाँ। यह भ्रमजनित मानन्दी मात्र बन्धन वे ही छोड सकते हैं, जिन्हे पारखदृष्टि से जगत मे सुख के बदले निरन्तर दुख ही दुख देखने मे आता है। वे जेल के समान देह का सम्बन्ध परवशरूप जानकर सदा इससे छूटने के लिये अत्यन्त उपराम होकर प्रयत्न करते रहते हैं। वे नि सन्देह इस मनोमय-बन्धन से छूट जाते हैं, क्योकि जेल मे लोहे की बेडियाँ साकार है, चौतरफा घेरा भी साकाररूप है, जेलर और बहुत से सिपाही चैतन्य मनुष्य वहाँ रोक करने वाले है॥ १०॥ पर यहाँ विषयासक्ति रूप बन्धन तो अपने सत्य स्वरूप की भूल से ही हुआ है। उस भूल या अज्ञान का कोई स्वतन्त्र आकार नहीं है, न उसमे कुछ स्वतन्त्र सामर्थ्य ही है। इसलिए स्वरूपज्ञान और उसके अभ्यास से सहज ही भ्रमरूप बधन छूट जायेगा, परन्तु उसका बन्धन छूट सकता है जिसके हृदय मे निरन्तर जगत दुखरूप दिखने लगे। क्योकि सुख मानकर सब मे राग होता है, राग से ही सकामक्रिया बन कर तथा सस्कार वश पुन.-पुन. देह धर कर सब दुख भोगना पडता है। यदि विजाति सर्व भास मिथ्या दुखपूर्ण निश्चय हो जाय, तो फिर राग के अभाव होने से सकाम कर्म नहीं बन सकते, फिर आगामी सस्कार भी नहीं रह सकते। शरीर-यात्रा करते सस्कारों को दग्धबीज करके जीव सहज ही इस बन्धन से छूट जाता है। इसलिए बार-बार जगत मे दुखदृष्टि पुष्ट करना चाहिए, जिससे बधनो की निवृत्ति हो ॥ ११॥ श्रीगुरुदेव कहते है कि इस शब्द मे जगत का भेद खोल करके परखाया गया है। इस शिक्षासार का मनन करना चाहिये, साथ ही जगत को दु ख रूप जानकर अपने हृदय की आसक्ति निकाल डालना चाहिये, बस फिर तो जीव को कमी ही क्या है। जगदासक्ति त्यागकर जीव निराधार मुक्त हो रहेगा॥ १२॥

एक ने पूछा—जगत तो अवश्य दुखपूर्ण तथा नि:सार है, परन्तु ऐसा जानने के पीछे मनुष्य का कर्तव्य क्या है? गुरुदेव ने कहा—सर्वदा नि.सार को नि.सार ही दृष्टि मे रखकर स्थिति करना कर्तव्य है। सावधान रहे, जिसे एक क्षण नि.सार तथा दुखप्रद जाना गया, वही दूसरे क्षण सार और सुखदायी प्रतीत होने लगता है। श्रोता ने पूछा—इसमे कारण क्या है? गुरुदेव ने कहा—प्रारब्धदोष, कुसग और अज्ञान ही कारण है। इसके निवारण के लिये बार-बार निर्णय के वाक्य मनन करके तद्गत वृत्ति बनानी चाहिये।

छंद

देह के निर्वाह हित वहि अन्न जल नित-नित गहे।
तिमि मनोमय शुद्धि हित वहि-वहि गुरू के गुण लहे॥
वहि इन्द्रियाँ वहि भूल है वह ही कुसग मिलाय जू।
जब रोग वह ही साथ तो नित औषधी भी लाय जू॥ १॥

१　जमीन, देश, राज्य, ऐश्वर्यादि।

२　सोना-चाँदी, रुपया आदि।

संयम करे औषधि पिये मन रोग वेग मिटाय जू।
प्रारव्ध का करु अन्त यहि विधि देह रोग नशाय जू॥
कुछ कार्य करना है अवशि क्यो कार्य पूर्ण न लाय जू।
यत्न भी थोड़ा अहे ओ लाभ अगणित पाय जू॥ २॥
देह मानि के भोगरत तू जीव जानि के भोग तज।
देह मानि के नित कमी तू जीव जानि के तृप्त रज॥
देह मानि के हानि लाभ जू जीव जानि के एकरस।
दृश्य से द्रष्टा पृथक हो तू ठहर अव थीर वस॥ ३॥
आपके सुख हेतु तू सव वस्तु तजि-तजि पुनि गहे।
आपको दुख होय नहि यहि हेतु सवको तजि रहै॥
इससे सहज ही जानि ले मम रूप सवसे भिन्न हैं।
राग वन्धन भूल तज अविकार थीर अछिन्न हैं॥ ४॥

दोहा—ऐसे सुनि के वन शुचि, नमो दोउ कर जोरि।
धन्य-धन्य गुरुदेव जू, विमल ज्ञान रस वोरि॥

शव्द—४

जगत लखि मतिया भरमि गई॥ टेक॥

तात को मानत मात को मानत, मानत नारि मई।
वन्धु को मानत पुत्र को मानत, मानि भतीज लई॥ १॥
नाती पोता तनया मानत, मानि मकान लई।
हानि लाभ को निशदिन मानत, चिता अमित नई॥ २॥
चारि वरण ओ आश्रम चारी, मानत जाति ठई।
नारि पुरुष दुइ घट को मानत, आप को भूलि गई॥ ३॥
भाभी मानत भगिनी मानत, मानि कुटुम्व लई।
विपय विकार जीव भरमावै, चहुँ दिश दु.ख जई॥ ४॥
नात को मानत मित्र को मानत, मानत देश अई।
मानि मानि कै वन्धन कीन्ह्यों, सव दिन विकल भई॥ ५॥
वैर प्रीति के रूप वने हम, यह विपरीति भई।
सकल विजाति पक्ष यह समुझी, सव दिशि घेरि दई॥ ६॥
चेतन स्वतः न कोइ काहू का, है सव सपन मई।
गुरु की कृपा परखि अव पाये, कीन्हे मोह क्षई॥ ७॥

अर्थ स्पष्ट है। सार शिक्षा—गुरुदेव से श्रोता पूछ रहे हैं कि सव मानन्दी मात समझ मे आया, परन्तु जव तक शरीर हैं तव तक किस प्रकार वर्ताव किया जाय? गुरुदेव ने कहा—देखो। लोहे की वेडी वधन करती हे आर उसी लोहे की छेनी वनाकर वेडी को काट

देते हैं। इसी प्रकार शुभाशुभ मानन्दियाँ सब जीव से पृथक है, किन्तु अशुद्ध मानन्दी से बन्धन और शोक-मोह की प्राप्ति होती है और शुद्ध मानन्दी द्वारा अशुद्ध मानन्दी नाश करके बन्धन की निवृत्ति होती है। शुद्धभाव से विषय-कामना दबकर अत.करण-दर्पण शुद्ध होता है, शुद्ध अत:करण मे साधु-गुरु के सग से स्वस्वरूपज्ञान उदय होकर शुभ मानन्दियो का भी अभिमान जले हुए बीज के समान प्रारब्धान्त मे आप ही छूट जाता हे। अत:—"ददा देखहु बिनशनहारा, जस देखहु तस करहु विचारा"॥ बी० ॥

सारांश—स्वस्वरूप से भिन्न सर्व नाशवान छूटने वाले है, इसलिये धर्म-कर्म, नाम-वर्ण, आश्रम, विद्या, सम्बन्ध और व्यवहार उतने ही औषधवत आवश्यक उपयोगी हैं, जितने में अंत:करण शुद्ध बना रहे, मानसिक रोगो का नाश हुआ करे और स्वरूपस्थिति मे साधक हो।

शब्द—५

जगत में रहि कै करिहौ काह॥ टेक॥

दुख से भागि बिषय मग परिहै, भोगे अनभोगे दुखै की राह॥ १॥
राग द्वेष दुइ राक्षस मिलि है, तिनकी करनी अगम प्रबाह॥ २॥
चाह राक्षसी टरै न कबहूँ, भय तृष्णा परिशर्म कलाह॥ ३॥
सहि सहि कष्ट समय जहँ गुजरै, सोइ मग मिलिहै तुमहिं सदाह॥ ४॥
गयो बिफल जीवन सुर दुरलभ, नहिं कुछ कियो स्बबश की राह॥ ५॥
बाहेर कुसॅग पदारथ सगति, जड चेतन मिलि दुर्मति दाह॥ ६॥
साथै कुसँग देह मन इन्द्री, अन्दर कुसॅग कामना चाह॥ ७॥

टीका—जिसकी एकरस स्थिति न हो, निरन्तर बदलाव हुआ करे, जडतत्व और मन के वश देहधारी जीव ये उभय समूह जगत है। गुरुदेव कहते है कि देह-गेह, नर-नारी, चार खानी और नाना विषय रूप जगत मे रह कर क्या करोगे। तात्पर्य यह है कि इस अस्थिर जगत के सम्बन्ध से या इसमे सुख मानने से जीव को क्या लाभ होगा। इसलिये इस जगत का स्नेह त्याग कर और जगत का जो साक्षी है, एकरस है, अपने आप है उसमे स्थिति करो॥ टेक॥ स्वरूप से भिन्न जगत-प्रपच मे स्थिति मानने से तुम्हे दुख ही तो मिलेगा। तब उस तन-मनकृत असह्य कष्ट से बचने के लिये व्याकुल होकर इन्द्रियो के सम्मुख विषयो का सहारा पकडोगे। सो विषय ऐसे असमंजसी हैं कि जब उनको इच्छापूर्ति के लिए भोगने मे पडोगे, तब उनकी आसक्ति-तृष्णा बढकर तुम्हे क्षण भर भी विश्राम न मिलेगा। भोगो की इच्छा अन्दर होते हुए वे भोग नहीं मिलेगे तब अपने को महा दरिद्र-दुखी मानकर तडफोगे। इस भॉति भोग मिलने और न मिलने पर वे दोनो प्रकार दुख ही देते रहेगे॥ १॥ पुन: उस विषय-पथ पर चलते हुए राग और द्वेष दो राक्षस मिलेगे। स्नेह, ममता, खिंचाव और आसक्ति को राग कहते हैं तथा वैर, विरोध, असहन और कलह को द्वेष कहते हें, ये राग-द्वेष दो राक्षस हैं। राक्षस इस कारण हैं कि ये सदा मनुष्य का रक्त चूसते है। राग-द्वेषजनित कर्तव्य अगम है। जिसमे भ्रमते-भ्रमते कहीं पार न मिले उसे अगम-अथाह कहते है। राग-द्वेष मे पडकर इसकी थाह नही कि कितना और कब तक जीव को कष्ट, आपत्ति, सॉसति, बन्धन और पीडा सहनी पडेगी। जब तक

राग-द्वेष न छोडे जायेगे तव तक गम्भीर नदी के प्रवाह की भाँति उनकी धारा मे वहते हुए सर्वदा सव कष्टो को भोगना ही पडेगा ॥ २ ॥ पुन· उसी जगत-मार्ग में अनुकूल मान, ऐश्वर्य, इन्द्रिय-सुखों की कामनारूप राक्षसी मिलेगी। वह ऐसी हैं कि किसी प्रकार भोगो से हटाये हटती ही नहीं। वह जीव के सम्मुख होकर भय, तृष्णा, अधीरता, परिश्रम आर कलह का भार देकर सदा दुखाया ही करती हैं। मृत्यु का भय, प्रिय पदार्थों का विछोह, शरीर मे रोग, शत्रु, मानसिक चिंता, प्रतिकूलो का मिलना या प्रतिकूलो मे वर्तना यह सव भयरूप अधकूप हे। प्राप्त सुखो से सन्तुष्ट न होकर आगे-आगे सुख की फिक्र, कामना, अतृप्ति ओर आसक्ति करना तृष्णाग्नि है। वृथा देह के भोग, कचन, कुल-कुटुम्व की वृद्धि, मान-वडाई और उन्हे मदा सुरक्षित रखने के लिये रात-दिन दौडते हुए अनेक प्रयत्न करना, यह परिश्रम का पहाड हे। पदार्थो को खींचने के लिये लडाई-झगडे नाना प्रपंच रच कर द्वेषयुक्त वार्ता से शोकित-सतापित रहना कलह-कटक है। पूर्वोक्त भय-कूप तृष्णा-अग्नि, परिश्रम का पहाड आर कलह-कटक रूप दुखों से पूर्ण सघन वन मे यह चाहना-राक्षसी ही भ्रमाया करती है ॥ ३ ॥

हे जीव! इस जगत मे तन-मन और वाहरी उपाधि-कृत दुख-ही-दुख सहन करके समय काटना पडता है। जैसे—

कवित्त

आजु तो वुखार भयो काल पेट पीर वढ्यो, परो नरो प्रेमी मरो सोचि सोचि रहिए।
आगे दिन वैर वढ्यो हारि मे पचति रहयो, उद्यम मे घाटा कवू-कवू ओर ढहिए॥
दिन प्रतिदिन एक दुख न हटन पावे, पाँच सात घेरि रहे दुख भीर लहिए।
रीझि खीजि सोचि-सोचि पछिताय जीवन के, दिन सव गुजरत सहे सहि सहिए॥

इस प्रकार जगत में लोभ करने से तुम्हे दुख-मार्ग वारम्वार मिलेगा। जगत मे जन्म-जन्म देह धर-धरकर काया के रोग, मनकी चिन्ता, प्राणियो की विपरीतता, व्राह्माण्डिक क्रिया की परवशता, मन, इन्द्रिय, पदार्थों की ओर खिचाव ये सव त्रिविध ताप के दुमह दुख एक न एक नित्य सहने ही पडते हैं ॥ ४ ॥ यह मनुष्य-जीवन जो कि देव दुर्लभ कहा गया हे,[१] मोक्ष के साधनो का सहज ही यहाँ पुरुपार्थ हो सकता है। ऐसी देह पाकर मनुष्य व्यर्थ ही जगत मोहरूप वंधन मे गवाँ रहा ह। जो अपने कल्याण का मार्ग हैं, उसे धारण कर स्वतत्र अविनाशी स्वरूप की राह को नहीं सम्हालता। जिस जगत मे सिवा परवशता ओर दुख के कुछ नहीं हे उसी मे वारवार आसक्त होता है ॥ ५ ॥ इम दुख-राशि जगत मे रहकर अन्दर-वाहर कुसग मिलता रहता है। वाहर उत्तम-उत्तम पट, आभूषण, धन, ऐश्वर्य और भी जितने माने हुए सुखदायी पदार्थ और पशु, खग, मृग, मनुष्य आदि चेतन देहधारी इन दोनो का सग पडकर भूलवश कुवुद्धि-कुसस्कार पुष्ट हो अनेक कुकर्तव्य वनते रहने से प्रतिकूलता आदि की जलन होती रहती है ॥ ६ ॥ नख से शिखा तक की काया तथा इन्द्रियो का सदा ही साथ वना रहता है। अन्दर मे मन-मानन्दी आर पूर्व सुखाध्यास सकल्पो के उठते रहने से कुसग वना रहता है। ऐसे अन्दर-वाहर विपरीत जलन मे सुख की आशा करना अज्ञानरूप घोर रात्रि मे भटकना है। अतएव सवका मोह त्यागकर स्वरूपस्थिति करना चाहिए ॥ ७ ॥

---

१ सतोगुण या दैवी सम्पत्ति-हस सम्पत्ति सहित को देव कहते हैं।
दोहा—शील दया सत शौचयुत, करै मोह मद छेव। वोध ज्ञानरत हित चहै, ताको कहिए देव॥

जगत दु.खपूर्ण है

दृष्टांत—दो मित्र सलाह करके धन की खोज मे चले। कई गाँव-देश उल्लंघन करते हुए चलते-चलते उन्हे आगे ज्वालामुखी पहाड़ के सदृश अग्नि प्रदेश मिला, जिसमे से छर्रे, ककड-पत्थर और अग्नि की लपटो के सहित वायु निकलता था। उसकी चोट दोनो को लगने लगी। वे दोनो गर्मी और ककडो के छर्रों से जलने लगे। बेचारे प्राण रक्षा के निमित्त भागते-भागते एक विपदारण्य मे पहुँचे। उनकी अभी जलन समाप्त नही हुई कि उस आरण्य मे दो राक्षस मिल गये, जिसमे एक का नाम कौमलाक्ष और दूसरे का नाम रौद्राक्ष था। कौमलाक्ष ने उन दोनो से मधुर स्वर से कहा—चलो! तुमको इस घोर दाह से बचावेगे। वे दोनो रौद्राक्ष के रूप को देखकर डरे, परन्तु कौमलाक्ष के सुन्दर रूप और मीठे वचनो से मुग्ध होकर उसके पीछे हो लिये। कौमलाक्ष ने अपने घर जाकर सम्मान सहित मद्यमिश्रित शरबत पिलाया, जिससे उन दोनों की बुद्धि ठिकाने न रही। वे दोनों गाली बकने लगे और अपने वस्त्रो को छोडकर फेक दिये, इधर-उधर सबमे चिपटने लगे।

कौमलाक्ष ने कहा—तुम दोनो पागल हो गये, अत· हम अपने भाई रौद्राक्ष को बुलाते हैं, वही तुम दोनो की खबर लेगा। पर उन नासमझो को इसकी कहाँ खबर! वह शीघ्र अपने भाई रौद्राक्ष को बुलाया। रौद्राक्ष ने दोनो को बडी कठोरता से बॉधकर पहिले तो कोडो से खूब पीटा। जब पीटते-पीटते रक्त-मॉस निकल आये, तब मिर्चा और नमक लेकर उनकी देहो में मर्दन करने लगा। वे भूले पथिक कहने लगे हाय! यह किस घोर पाप का फल है! अरे हाय! अच्छा अब मार डालो। रौद्राक्ष ने कहा—मुझे ऐसा ही करने मे आनन्द है। वह राक्षस उन दोनों की गर्दनो को रस्सी से बॉधकर ककड-पत्थरो मे घसीटने लगा। वे दोनो क्षण मे मूर्छायुक्त हो जाते, क्षण मे जाग जाते। इतने मे उसी मार्ग मे उन्हीं दोनो राक्षसो की माता ससृताक्षी मिली। उसने उन दोनो मूर्छितो के ऊपर पानी छिडककर सचेत किया। और उन दोनो पीडितो से बोली कि तुम दोनो अपनी रक्षा चाहो तो मेरी ऑखो की ओट होओ, नही तो मैं दोनो का रक्त चूसती हूँ। ऐसा कहकर अपने नाखूनो को उनकी देहो मे मारकर रक्त चूसने लगी। वे दोनो व्याकुल होकर भागे। भागते-भागते एक कुऑ मिला जिसमे बरगद की जड लटक रही थी। वे उसी जड को पकड कर कुऑ मे लटक गये। ऊपर से मधुमक्खियो के छत्ते से एक-एक बूंद शहद टपक रहा था। वे उसका स्वाद लेने लगे। शहद का स्वाद लेने मे ऐसे भूले कि ऊँचे-नीचे के दुख को भूलने लगे। इतने मे उधर से एक उपकारी महात्मा निकले, जिनके पास स्वय रक्षा करने का सब बल और सब सामान था। सन्त की दृष्टि अचानक कुऑ की तरफ पडी। उन दोनो को देखकर सन्त ने जोर से पुकारा और कहा—हे भाई! तुम दोनो जल्दी यहॉ से निकलो। देखो, जिस बरगद की बरोह पकड कर लटक रहे हो, उसको दो बडे-बडे चूहे पैने दाँतो से कुतर रहे हैं। बरोह टूटने से तुम दोनो जिस कूप मे गिरोगे उसमे बडे-बडे सॉप, मगर, कछुआ और गोह बैठे है, तुम्हे देखते ही भक्षण कर लेगे। तुम दोनो लालच छोडकर मेरे साथ हो लो, तभी इस विपदारण्य से बचोगे। सन्त के वचन सुनकर एक का कुछ शुद्ध अत.करण होने से उसे विचार आया, वह मधुपान छोड विपदारण्य से पार हो आया। फिर सन्त ने उसे अनमोल रत्न देकर सादर सुरक्षित रखने के ढग भी बताये। उस रत्न को पाकर उसकी सारी दरिद्रता दूर हो गई। दूसरे मनुष्य ने सन्त की शिक्षा पर ध्यान न दिया। वह शहद चाटते-हीं-चाटते दोनो

चूहो द्वारा जव वरोह कट गई, तव धम्म से कूप मे जा गिरा और साँप-गोह आदि भयानक जंतुओ द्वारा डसा जाने लगा, जिससे त्राहि-त्राहि करते-करते दुख में मरा।

इसका सिद्धांत यह है कि निज स्वरूप को भूलकर इस शरीर-प्रदेश में सुख के लिए जीव भटकते हैं। इन्द्रियो की खैंचरूप ज्वाला जीवों को जलाती है। इन्द्रियो की विषय ज्वाला बुझाने के लिए पंच विषयरूप विपदारण्य मे जीव घूमते हैं। वहाँ राग, स्नेह, ममता कोमल होने से कौमलाक्ष और वैर, विरोध, झगड़ा, हिसादि, कठोर होने से रौद्राक्ष हैं। एक कोमल दूसरा कठोर होते हुए भी दोनों परस्पर सगे भाई हैं। राग-कौमलाक्ष ने कामभोग आदि का सुख देकर मद्य, मिठाई खिला-पिलाकर जीव को वेहोश कर दिया। जीव उन्हीं विषयो मे मतवाला होकर वहुत अनीति करने लगा। फिर द्वेष-रौद्राक्ष आ गया। वह वडी क्रूरता से काम करने लगा। फिर स्त्री, पुत्र, पुत्री आदि सुखो की कामनारूपी राक्षसी मिली। वह भी जीव का रक्त चूसने लगी। जीव वहुत दुख पाकर भागते-भागते गृहस्थाश्रमरूप कूप में कामभोग रूप मधु के लालच से आयुरूप वरोह के सहारे लटक रहा है। उसी अंध-कूप-गृहासक्ति मे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भयानक विषधर सर्प-मगर आदि जन्तु हैं। दो चूहेरूप दिन और रात आयुरूप वरोह को तेजी से काट रहे हें। अन्त में प्रारव्धात हो मृत्यु के वश सस्कार युक्त इस विपदारण्य मे फिर भ्रमण करना पडता हे। विपदारण्य का मर्म जानने वाले पारखी गुरुदेव जीव से कहते हैं कि तुम विषयो का अल्प सुखरूप मधु को छोड दो, नहीं तो अन्दर-वाहर तुम्हें दुख ही दुख का अनुभव होगा। इस शिक्षा को सुनकर सज्जन शुद्ध सस्कारी मनुष्य चेत करके विपदारण्यरूप पाँचो विषयो से भागकर गुरुपद की युक्ति से स्वरूपज्ञानरूप अमूल्य रत्नमय स्थिति वनाकर जगत के अनन्त दुखो से वच जाता है। अपनी मनोमयसृष्टि ही वहुत जन्मों से सम्वन्ध कराती है। अत: वाह्य कुसग को त्यागकर और अतर वासना का नाश करके स्वरूपस्थ हो जाना चाहिए, क्योकि जगत सारी विपत्तियो का सघन वन है।

प्रसंग ३—जगत नैराश्य

शव्द—६

जगत मे रहि कै चलौ बचाय॥ टेक॥

कोइ नहिं आपन जग मन परखौ, फंदा बाँधि कै जायँ पराय॥ १॥
मन सुख हित सव जीव अन्याई, दया क्षमा परहित बिसराय॥ २॥
निज मन काल साथ रहै निशदिन, चूकत भव मे देत डुवाय॥ ३॥
देह स्वभाव विवश विषयारत, ममता अहंकार बौराय॥ ४॥
नीति अनीति बिचार नहीं कुछु, समता साँच दुराय॥ ५॥
संत दशा जिनको नहिं मालुम, निज हित परहित जो प्रगटाय॥ ६॥
हानि न जानत जे अपनी हैं, लाभ पता नहिं पाय॥ ७॥
सनमुख भास मानि सुख अरुझे, सुख का मूल गवाँय॥ ८॥
ऐसे जग मे बास करत तुम, निज तन पर देहन जाय॥ ९॥
सजग विवेक एकरस अमृत, जगत जहेर नशि जाय॥ १०॥

टीका—जब तक प्रारब्धकृत शरीर है तब तक इस छल-बलपूर्ण जगत मे बचा-बचाकर चलना चाहिए॥ टेक॥ मन वशवर्ती जगत मे अपना कोई भी नहीं है। अतःकरण मे ठहरकर विचारपूर्वक देखो तो जगत के प्राणी केवल मोह-वश एक दूसरे को सुख का लोभ दिखा भाँति-भाँति की आपत्तियो मे डालकर फिर भाग खडे होते है, समय पर दुर्दशा अपने को ही भोगनी पड़ती है॥ १॥ अपने कल्पित सुख भोग के लिए नर-नारी अधर्म आचरण करके अन्यायी हो रहे हैं। स्वार्थवश न तो उनमे जीवदया है, न क्षमा का लेश है और न कुछ दूसरे के हित पर ही ध्यान है॥ २॥ बाहर तो पूर्वोक्त छल-बल का बाजार है ही और भीतर अपना मन ही काल बनकर बैठा है, जो छिन-छिन मे नित्य भोग संस्कार सामने उठाकर जीव को चलाता रहता है। यदि इससे थोडा भी चूक जाय तो शीघ्र नाना बानी और विषय मे लाभ जँचाकर आसक्ति, हिसा, अनीति और अधर्म कराकर अपमान, मृत्यु और नाना प्रकार के दुसह दण्ड जीते जी दिलाता है तथा मरने पर त्रिविध तापरूप भँवर मे डुबाता रहता है॥ ३॥ मन वशवर्ती जगत जीव देह स्वभाव अर्थात विषयासक्ति अथवा बाल, युवा, वृद्ध, मरण, गर्भवास और आवागमन के वशीभूत होकर विषयो मे राग करके माया की ममता और अहकार मे विभ्रान्त हो रहे हैं॥ ४॥ वे विभ्रांत प्राणी जगत की ममता और अहकारवश नीति और अनीति का कुछ विचार नहीं करते, दूसरे के हितसहित गम खाकर दूसरे का मान रखकर बोलना और एकरस ज्यो का त्यो वस्तु का ज्ञान और आचरण बोल-चाल, ऐसे समता और साँच को दूर से ही त्यागकर केवल विषय-मनोरथ की सिद्धि के लिए रात-दिन दूसरे से असमता और झूठ-कपट का पासा खेल रहे हैं॥ ५॥

विवेकवान साधु-गुरु का रहस्य भी ससारी जीवो को नहीं ज्ञात है। वे इस बात को नहीं जानते कि सतजन अपने और दूसरे के कल्याण ही के लिए देह धारणकर प्रत्यक्ष दर्शन दे रहे हैं[१] अर्थात प्रारब्ध भोगयुक्त अपने और पराये हित के लिए उनकी देह है। दो०—"शील दया संतोषयुत, बर्तत सहित विवेक। अत करत प्रारब्ध निज, तारत साथ कितेक"॥ ६॥ संसार के राग-रंग मे फँसकर जीव की हानि होती है। सस्कारवश जन्म-मरण मे पडकर त्रिविध ताप भोगना पडता है। इस प्रकार वे संसारी जीव अपनी हानि भी होना नहीं समझते और लाभ अर्थात सत्य-स्वरूप को पहिचान करके सारी जगत-वासना त्यागकर सतोष सहित स्थिर हो जाना, इस प्रकार से लाभ का भी उन जगदासक्त प्राणियो को कहाँ पता है।॥ ७॥ उन जीवो को जो कुछ इन्द्रियो के सम्मुख पच विषय प्रतीत हुए, बस उन्हीं को अपना रूप और उन्हीं मे सुख मान मनोवृत्ति के हाथ बिककर सुख का मूल सत्संग, सत्साधन, विचार तथा परीक्षा छोड रहे हैं। यथा—"जहाँ-जहाँ गयउ अपनपौ खोयेउ, तेहि फन्दे बहु फन्दा"॥ बी०॥ ८॥ इस प्रकार के विपरीत नगर मे हे कल्याणार्थी! तुम वास करते हो। तिस पर भी सचेत नहीं होते, उलटे अपनी और दूसरे स्त्री, पुत आदि की देहो मे ममता करके बार-बार सकामकर्म के द्वारा चार खानियो मे देह धारण करते हो॥ ९॥ उक्त सताप-सिन्धु जगत से बचने के लिए सरल युक्ति यही है कि जगत-दुखो का स्मरण करते हुए सदा सावधान रहे, जड-चेतन को पृथक

---

१   चौ०—जड जीवन को करत सचेता। जग मे बिचरत हें यहि हेता॥ बै०॥
सत बिटप सरिता गिरि धरणी। परहित हेत इनहि की करणी।
सत उदय सतत सुखकारी। विश्व सुखद जिमि इन्दु तमारी॥ रामायण॥

करके विवेक करता रहे और एकरस यथार्थ शुद्ध रहस्यो का अमृत पानकर वह विद्या-वासना, धन-वासना और प्रभुता-वासना, यहाँ तक कि सत्यस्वरूप के वाद सर्व वासनारूप जहर को ध्वस करता रहे॥ १०॥

मोहक वस्तुएँ विकारी वनाकर छूट जाती हैं

दृष्टांत—मनसारपुर नगर से एक अतिरूपवाली युवती और एक युवक सलाह करके इस विचार से निकले कि किसी दूसरे देश में दोनों एकत्र सुख से रहेगे। वे दोनो चलते-चलते थक जाने से एक कूप पर वैठकर सुस्ताने लगे। स्त्री देखने मे वडी मोहक थी। उसी कूप के पास गाँव का हलवाई टहल रहा था। वह इस रूपवती वाला को देखकर दीवाना हो गया। कव मिले, कव उससे वातें करूं, यही धुन उसको सवार हो गई। उस हलवाई ने पथिक के पास जाकर वहुत कुछ नम्रता से वातें करके कहा—आप हमारे यहाँ चले, अच्छी-अच्छी मिठाइयाँ खा करके तव आगे वढ़े। वह वोला—हाँ! मेरे पास पैसा भी हे, इसका कुछ जलपान लेना है। ऐसा कहकर वह स्त्री से वोला—तुम यहाँ बैठी रहो, मैं पास के गाँव से मिठाई ले आऊँ, फिर दोनो खा-पी के चले, ऐसा कहकर वह पुरुष हलवाई के साथ चल दिया। हलवाई उसे दुकान पर ले जाकर सत्कार से कुछ मिठाई दिलवाकर वैठा दिया और कहा—साथ ले जाने के लिए अच्छी-ताजा मिठाइयाँ मैं अभी तैयार किये देता हूँ, दस मिनट लगेगा, तनिक आप ठहर जाइए। ऐसा कहकर अपने भाई से उसे किसी प्रकार घर पर बैठाने को कहकर आप उसी कूप पर फिर गया, जहाँ स्त्री बैठी थी। वह विनयपूर्वक वोला—हे लक्ष्मी देवी! आप कृपा करके वहाँ चलिए, जहाँ आपके साथी विराजते हैं। स्त्री चल पडी, घुमाकर वह हलवाई खिडकी के रास्ते से घर में लाकर स्त्री को वन्द कर दिया और पुरुप को मिठाई देकर कहा—आप शीघ्र जाइए। जव वह युवक कूप के पास गया तो स्त्री गायव। अव क्या हो, वह उसके लिए वहुत व्याकुल हुआ। तडफते हुए इधर-उधर ढूँढते-ढूँढते उस गाँव से दूर तक चला गया। इधर हलवाई को यह पडी थी कि कव रात्रि हो और में स्त्री से मिलूँ। उधर स्त्री कोठे पर चढकर उस पार झमाके से कूदकर भाग गई। इधर हलवाई ने घर मे देखा तो स्त्री है ही नहीं। वह उसी के मोह मे पागल होकर वकने लगा—"अभी झमाके फंद गई, अभी झमाके फन्द गई" यही उसका पाठ हो गया। वह मनमोहनी आगे जाती थी कि इतने मे एक कूप के पास कई शरावी वैठे शराव पी रहे थे। इस वाला को देखते ही निपट अन्धे हो गये। वे सव के सव उस युवती से वोले—तू मेरी होकर रह। वह वोली—तुम लोग खूव शराव पीओ, जो सवसे विशेष पीवे और दौडे तथा सबके आगे निकल जाय, उसी की होकर मैं रहूँगी। वह स्त्री स्वयं सवको शराव पिला-पिलाकर दौडाने लगी। सव उसे लेने के लालच से खूव शराव पी-पीकर दौडे। थोड़ी दूर दौडे, फिर नशे में होकर सव गिरकर वडवडाने लगे।

इस प्रकार उन सवो को इधर-उधर दौडा कर उन्हे वेहोशी मे देखकर वह स्त्री भाग चली। अव वे सव शरावी उसे न देखकर वकने लगे "अभी भर-भर पिलाती थी—अभी भर-भर पिलाती थी" यही कहकर तडफते रहे। फिर आगे चलकर वह स्त्री एक जगल से होकर निकली। उसमें कई शिकारी कामी लोग मिले, उसे देखते ही सवके सव मोहित होकर कहने लगे—हे जीवन-आधारिणी! तू हम लोगो को अगीकार कर। वह वोली—मे अकेली

अबला हूँ, आप लोग बहु पुरुष सबल हैं, किसकी-किसकी होकर रहूँगी? इसलिए आप लोग परस्पर सग्राम करिए। जो सबको जीते मै उसी की होकर रहूँगी। इतना सुनते ही सबो ने कहा—युद्ध क्यो हो, पंचायत करके एक-एक दिन सब इसको ग्रहण करे। प्रथम मैं ग्रहण करूँ, प्रथम मैं ग्रहण करूँ, बस इसी मे सबकी क्रोधाग्नि भभक पडी। परस्पर घमासान युद्ध होने लगा। उनको लडते देख स्त्री वहाँ से निकल सबकी ऑख ओट होकर भाग गई। दो-चार मरे, कुछ कट-पिट घायल होकर गिर गये, बचे-बचाये सम्मुख उसे न देखकर तडफ-तडफ कर कहने लगे—"अभी सबको लडाती थी—अभी सबको लडाती थी"। फिर वह आगे बढी, तो उसे घोडा पर सवार हुआ एक राजकुमार मिल गया। इस मनभावनी युवती को देखते ही हैरान होकर राजकुमार बोला—हे बाले! चल तू मेरी पटरानी बनकर रह। वह बोली—अवश्य बनूँगी, इससे बढकर भाग्य क्या होगा! वह उसके साथ राजमहल मे गई। राजकुमार का पिता उसे देखते ही अधर्मी हो गया। वह बोला—तू मेरी होकर रह। विमोहनी बोली—बाप-पूत आप दो हैं, मैं अकेली हूँ, इससे परस्पर जो विशेष मेरी आज्ञा बजावेगा, मैं उसी की होकर रहूँगी। पहिले आप पिता-पुत्र परस्पर पासा खेले, पासा मे जो जीते उसी की होकर मै रहूँगी। गर्जी क्या नही करते! वे दोनो इस बात पर राजी हो गये। राजा और राजकुमार पासा खेलने लगे। खेलाने वाली तीसरी पास मे बैठी वह स्त्री इन लोगो को पासा की हार-जीत मे लडते देखकर चुपके से चल दी, अदृश्य हो गई। थोडी देर मे वे दोनो युवती को न देखकर विह्वल होकर बकने लगे—"वह कहाँ गई जो अभी पासा खेलाती थी, जो अभी पासा खेलाती थी"। इस प्रकार वह विश्वविमोहनी जहाँ जावे वहाँ ही उसे देखकर लोग लट्टू हो जावे, फिर सबको इधर-उधर उलझाकर सबसे अलग हो रही।

यह दृष्टान्त हुआ। इससे यह सिद्धान्त लेना है कि जगत में कोई किसी का नही है। एक जीव को कुटुम्बी, राजा, प्रजा, शत्रु-मित्र तथा सम्पूर्ण प्राणी अपने मन सुख के वश अपने-अपने मन के अनुसार चलाने के लिए चारो तरफ से अपना-अपना कहकर खींच रहे हैं। जिसका दावॅ गठ जाय वही जीव पर कब्जा करके सम्पूर्ण स्वतन्त्रता-स्ववशता के परम-पुरुषार्थ को हरण कर लेता है। जिन कुल, कचन, कामिनी, धन, ऐश्वर्य, लोकसत्ता, विद्यादि को देखकर मोहित हुआ जाता है, वे जीव को जडाध्यास का रोग लगाकर दूर हो जाते है। जब जीव जडाध्यास वश स्वस्वरूप से पतित होकर तडफडाता है तब उसे कोई सहायता नहीं देता। "माया के रस लेइ न पाया, अतर यम बिलारि होइ धाया" (बी०) वाली गति होती है। अत. कल्याणार्थी को सबसे सजग होकर सबकी ममता त्यागते हुए नित्य स्वरूप मे स्थिति करना चाहिए जिससे छलिया जगत से छुट्टी मिले। "काल खडा शिर ऊपरे, तै जागु बिराने मीत। जाका घर है गैल मे, सो कस सोवे निश्चिन्त॥ जाके जिभ्या बन्द नहि, हदया नाहीं सॉच। ताके सग न लागिये, घाले बटिया मॉझ"॥ बीजक॥

शब्द—७

जगत तजि मनुवॉ जाव घरे॥ टेक॥

अमित काल तुम सुख को धायो, नहिं कहुँ पूर परे।
गौर करौ कब सुख को पायो, सब दिन दुखहिं भरे॥ १॥

समुझि बूझि सुख काल को मारौ, कुशल कवन अरि मीत करे।
जाहि तजन हित यहिका सेयौ, रूप बदलि सोइ लाग गरे॥ २॥
आशा फाँस फँसे दुख भरम्यो, नहिं कहुँ चैन परे।
कलह कलपना निशदिन व्यापे, जहँ तहँ छिपत फिरे॥ ३॥
देह रोग मन शोक से पूरे, क्षण क्षण जीव जरे।
काम अगिनि में कलपित ह्वै के, भय शिर भार धरे॥ ४॥
कटि पिटि मरै जियत धरि खावै, नहिं कोइ आह करे।
तेहि ते सजग होउ तुम अवही, नहिं कोइ साथ सहाँय करे॥ ५॥
मनुष मनुष के वशि मे परि क, भय धरि पचति मरे।
समता सजग कष्ट सहै निशदिन, चूकत सोच धरे॥ ६॥
बाघ भेडिया रीछ जुथेरे, सर्प वीछि दुख घेरे।
महिषा वृषभ शृंगाल वावरो, देखत लरजि डरे॥ ७॥
पशु खानी जहरील जानवर, तेहि समान नर जोरे।
डरि डरि लुकत फिरत इत उतही, तन धरि भय न टरे॥ ८॥
क्रोध जलावै काम भुलावे, मोह रुलावै न लोभ टरे।
लै लै शस्त्र शतु सब मारै, निर्दय कुटिल न दाया धरे॥ ९॥
धरि जग जन्म दु ख यह पावै, संशय भँवर न देह तरे।
खानिन भोग दृष्टि सब आवै, कर्म वासना भोग जुरे॥ १०॥
कहै कवीर बचन लखि गाये, होय सजग मन परख करे।
नहिं पछिताव होय तेहि कवहूँ, जागृत मोह के स्वप्न हरे॥ ११॥

टीका—जो एकरस न हो, क्षण-क्षण वदलने वाला हो, जो स्ववश न हो, जो इन्द्रिय गोचर हो, उसको जगत कहते हैं। चार खानियो के देहधारी मनोमय सृष्टि और वाहर कारण-कार्य जडसृष्टि दोनो चचल दुखपूर्ण होने से जगतरूप हैं। हे जीव! तू ऐसे जगत को छोडकर अपने घर मे जाओ। घर अर्थात पारख, पारख अर्थात स्वस्वरूप, तो स्वयं स्वरूप-स्थितिरूप अटल घर मे वैराग्य ओर अभ्यासपूर्वक स्थित होओ और सम्पूर्ण विजाति जगत की आसक्ति छोड दो। कहा भी है—दो०—"नित पारख परकाश जो, सोई निज घर जान। विन घर पाये आपना, परे न यम पहिचान॥" पं० ॥ टेक॥ हे जीव! जिसकी गणना न हो सके ऐसे अनादि काल से तुम सुख प्राप्ति के लिए दोड रहे हो, पर कहीं भी किसी उद्यम से तुम्हारा मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ। तुम्हीं सोचो! इस जगत मे कब-कहाँ सुख मिला! सुख-शान्ति के वदले सब दिन जगत मे दुख ही दुख का तो अनुभव किये और कर रहे हो। "खानी-वानी खोजि देखहु, अस्थिर कोइ न रहाय। खण्ड ब्रह्माण्ड खोजि देखहु, छूटत कितहूँ नाहि॥" वी० ॥ १ ॥ सत्संग से परिचय करके भली प्रकार समझ-बूझ लो, देखो! यह विषयो मे सुख या आनन्द मानना

तुम्हारा काल है। वह सुख[१] ही तुम्हारे सामने दुखों का अनुभव कराता है, इससे सुखाध्यासरूप शत्रु को विध्वस करो। भला, शत्रु से मित्रता करके कहाँ कुशल! कहाँ कल्याण! इच्छा, क्रिया, परवशतारूप त्रिविध दुख छूटने के लिए जिन विषयो का सेवन किये हो, वे ही भेष बदल कर आदत, कामना, माया, काया, भ्रममूलक बानी, बनिता, वित्त आदि बहु सुख भासरूप बन कर तुम्हारे सग दुख लगते जा रहे हैं। जहाँ सुख दर्श वहाँ कामना, जहाँ कामना वहाँ भोग, जहाँ ये दोनो, वहाँ सब शोग-रोग। इस प्रकार रूप बदल कर सब दुख जीव को भोगने पड़ते हैं॥ २॥

विषयो मे सुख मानना आशा का रूप है। जगत कुटुम्बियो, लबरी वाणी, तथा इन्द्रिय-सुखो की आशा रस्सी से बँधे हुए दुख वन मे ही तो भ्रमण कर रहे हो! जहाँ-जहाँ सुख आशा किये वहाँ-वहाँ क्षणभर भी तो तुम्हे विश्राम न मिला! इस जगत मे रात-दिन एक न एक शोक-संताप ही जीव को लगा रहता है। उस शोक-सताप से बचने के लिये जहाँ-तहाँ विद्वानो का, राजा बाबुओ तथा प्रमदाओ का आश्रय लेकर उनकी ओट मे छिपते रहे, परन्तु वहाँ तो सहज ही तुम्हे काल-कल्पना पकड़कर खाती रहती है॥ ३॥ नख-शिख काया तो रोगो से पूर्ण है।

कवित्त

हाड़ा माडा पीनस व शूल नाक कान दर्द, खाँसी वायु कम्प उष्ण सन्निपात रोग जू।
पेचिस व हैजा इन्द्रि-सूजन व वृद्धि अग, पेट फूलै उर्ध साँस अरधग शोग जू॥
फालिज फीलपाँव मृगी खाज दाद ज्वर, गरमी प्रमेह सडि गलि कुष्ट छोग जू।
मलरोध बादी कमजोरी भारी अध आदि, गनि न सकत कोउ नखशिख रोग जू॥

इस प्रकार सब देहधारी एक न एक रोग से पूर्ण व्यथित है और मन अनन्त शोक, चिंता से पूर्ण है।

कवित्त

आज मेरो प्रिय धन छीनि गयो हाय-हाय! आज मेरी प्यारी नारी पूतहू बिमार है।
आज मेरी जगह जमीन कोई हरि लियो, अहो! मेरी अमुक से होय गई हार है॥
अहो! सब भोग मै तो भोगि न सकत हाय, वृद्धता के द्वार माहि कुछ न सँभार है।
ऐसे-ऐसे शोक की अगिनि माहि तलफत, कहाँ लो गनावै शोक बिनाहि शुमार है॥

इस प्रकार तन-मन की उपाधि मे पडकर जीव हर समय जल-बल रहा है। पुनः मानसिक रोगो मे सरदार जो कामाग्नि है उसमे पडकर नर-नारी परस्पर स्पर्श हेतु अनन्त कल्पना से गँसे हुए सब जगत का भय[२] और सारे जगत परिश्रम का भार धारण करते रहते हैं,

---

१　नहि दुख जड अरु जीव मे, नहि बन्धन कुछ आहि।
　सुख भ्रम ने दुख लादिया, त्रिविध ताप कहि जाहि॥

२　कवित्त—परनारि रमे यदि निन्दा अपवाद घने, भाँति-भाँति साँसति से सिर तोडे जायेगे।
　निज मानि रमे विपरीतता से दुख नित, रोगी दोषी मन रक्षि विरह रुलायेगे॥
　विन पूत चिन्ता जु कुपूत दुख शालै नित, पुत्री बहु धन हेतु जग भटकायेगे।
　क्षण एक रमे से सकल भय सिर बोझ, रे! रे! मन चेत, भद्र होय थिति पायेगे॥

ऐसे दुखों से जगत पूर्ण है॥ ४॥ पुनः इस जगत में शरीर धारण कर स्वार्थ के वश एक दूसरे को शस्त्रो से काटते हैं, खूब पीटते हैं, यहाँ तक कि मार डालते हैं, जिन्दा ही धर-पकड़ खा लेते हैं, पर वहाँ कोई दया नहीं करता। भाव यह कि मनुष्य, पशु, अंडज, ऊष्मज शरीरधारियों में प्रत्यक्ष देखा जाता हे कि हिसकी, क्रूर, वलवान चाहे जिस खानी में हों, एक-दूसरे जीव को सिवा काटने, मारने, भक्षण करने के और कुछ नहीं करते। मछली, पक्षी, शशा, मृग आदि खानि मे जाने पर क्रूर मनुष्य शिकार कर लेते हैं, यदि मर के घर ही मे सर्प, बीछी, वर्रई होवे तो भी घर के सगे प्रेमी ही मारपीट के कुचल डालते हैं। मनुष्य देह धरने पर भी अधर्मी बलवान लोग सताया करते हें। ऐसे तन-मन के सर्व दुसह दुख भोगने पडते हैं। कोई भी सहायक नहीं होता। सहायता तो दूर रही, स्वार्थी जगज्जीव अपने सुख के आगे दूसरे के दुख मे आह तक भी नहीं करते। देखो न! प्रत्यक्ष अपने सुख-स्वाद के लिए शिकार-युद्ध आदि करके जीव वध करते हैं, चोरी-ज्वारी, छल-कपट, विश्वासघात आदि नीच कर्म करते हैं, इसलिए तुम्हारा सहायक कोई भी नहीं है। हे दुख न चाहने वाले मनुष्यो! इन सव वातो को विचारकर सावधान हो जाओ, दुख से छूटने का उपाय करो। तुम्हारे दुख मे कोई साथी नहीं ह, अतः तुम आप ही अपने स्वरूप मे जागकर वधन निवृत्ति के लिये परिश्रम करो॥ ५॥

और भी जगत की परतन्त्रता का विचार करो। राजा से लेकर भिक्षु तक एक दूसरे की पराधीनता की जंजीर मे बँधे हुए हैं। मव सवसे भयभीत होकर छल-प्रपच मे पचते हुए काल के ग्रास हो रहे हें। ऐसे ससार मे रहकर प्रत्येक मनुष्य को प्रत्येक मनुष्य से समता या किसी प्रकार से मेल रखना पडता हे। यदि समता न रक्खे तो मनुष्यो के वीच मे निर्वाह होना दुस्तर हो जावे। देखा भी जाता हे कि जो जितना ही समता कम रखता है, उसके उतने ही वैरी वढते हें, फिर विवशता से असमता वाले को वहुत समता लेना पडता ह। अतः हरएक मनुष्य का स्वभाव अनमिल होते हुए भी कुछ न कुछ परवश होकर सवको सवसे मेल रखना ही पडता है। समता से मेल रखते हुए भी मावधान रहना पडता ह। सावधान न रहे तो खुदगर्जी ससारी उसको अपना खिलौना वना लेते हें। समता आर सजगता इन दोनो सद्गुणो से यदि चूक जाय, इनसे लापरवाही करे तो सा गुना सोच, दुख, परिश्रम और ताप सिर पर लद जाता हे। ऐसे परवशालय जगत मे रहकर विचारवान सोच-समझ कर पहिले ही से समता-सजगता धारण करते हैं। समता ओर सजगता मे जव चूक हो जाती हे तव ही सारे झगडे खडे हो जाते हैं। इस प्रकार समता-सजगता के बोझ-दुख से जगत मे पीडित रहना पडता है॥ ६॥ इस ससार-सघन वन मे वाघ, भेडिया, भालू झुड के झुड समस्त हिसक-भयानक जन्तु, विषधर सर्प आर वीछियो का भय वना रहता ह। पीडा देने वाले मारू भैंसा, वैल, साँड, वावले सियार ओर अन्य जन्तु जिन्हे देखते ही डर के मारे रोये खडे हो जाते हैं, शरीर वँध जाता हे। मनुष्य को इतना कष्ट होता हे कि सव वल हत होकर गिर जाता हे, भागा भी नहीं जा सकता॥ ७॥ इस जगत-यमसदन के कष्ट का ओर भी विवेक कीजिये! हिंसकी पशु और जहरीले साँप-वीछी के ममान ही जो मनुष्य हैं, उनसे भयभीत हो छिप-छिप कर रहना पडता है, कहीं ठनको दूर मे त्याग दिया जाता हे, कहीं तो सग पडने पर ममता, क्षमा, नेराश्य, मन्तोपरूप सद्गुणो की ओट से वचा जाता हे। ऐसा इस भयरूप देह का मम्बन्ध हे। इस प्रकार भय देहधारी को लगा ही रहता ह॥ ८॥

इस देह मे क्रोध की अग्नि जलाया ही करती है। जरा भी प्रतिकूलता सहन नहीं होती। जिसके घट मे क्रोधरूप अग्नि वसती है, वह पहले उसी का रक्त चूसती हे, फिर दूसरे को मारती है, ऐसी क्रोधाग्नि हे। कामरूप शत्रु तो जीव को भुला ही देता है। हम कौन है, क्या कर्तव्य है, इसका परिणाम क्या होगा, ये सब विचार कामाग्नि मे दग्ध हो जाते हे। इसीलिए कामी पुरुष उभय भ्रष्ट हो जाता हे, उसको सिवा स्त्री के और कुछ सूझ नहीं पडता। अहो! मोहरूप शत्रु भी इस घर मे रहता हे, वह तो जीव को निरन्तर रुलाया ही करता है। क्षणिक विजाति वस्तुओ मे मोहवश इतनी अहता-ममता करके बैठा है कि उनके बिछुड़ने पर नवीन बात होना मानकर रोता रहता है। यह मोह शत्रु का दावँ है। लोभ अर्थात द्रव्य-ऐश्वर्य-संग्रह, यह भी जीव का पीछा नहीं छोडता। ये सब जीव के जन्म-जन्म के शत्रु हैं। ये अपने-अपने शस्त्र[१] लेकर जीव को मार-काट रहे है। ये बडे निर्दय, छली, घाती और बेपीर हैं। इन्हे रचक भी दया नही है, दया का ये नाम भी नहीं जानते है ॥ ९ ॥ इस जगत मे देह धारण करके पूर्वोक्त सारे दुखो को अज्ञानवश भोगना पडता है। जैसे जल-भँवर के बीच मे पडा हुआ काष्ठ नीचे-ऊँचे चारो तरफ चक्कर लगाकर घूम-घुमा भँवर ही मे पडा रहता है, वैसे ही यह शरीर सब विक्षेप, कल्पना, चिता और सन्देहो का भँवररूप स्थान है। ऐसे दुखपूर्ण देह-बन्धन से असावधानी वश हे जीव! आज तक तू न निवृत्त हुआ। अज्ञानवश घूम-घुमाकर इसी मे पडा रहा। अरे! अण्डज-पक्षी आदि, पिण्डज-पशु आदि, उष्मज-केचुआ आदि और सर्व ज्ञाता मनुष्य खानि, ये चार खानियो के घटधारी जीवो की कर्म-वासना से रचित शरीर मे त्रिविध ताप के दुसह दुख दिखाई दे रहे है। जीव जेसा-जैसा कर्म करता हे वैसा-वैसा मनन होता हे, जैसा-जैसा मनन होता है वैसा-वैसा बीज सस्कार बनकर मननकर्ता जीव को परिणाम के अनुसार देहान्तर मे दुख-सुख फल की प्राप्ति होती है। कर्म तथा वासनाओ का सम्बन्ध देखा ही जाता है, उसी के भीतर समस्त जीव शरीर धारण करके दुसह दुख का अनुभव कर रहे हैं। इससे जब तक कर्म-वासना का क्षय न हो तब तक भूत ओर वर्तमान के समान ही भविष्य मे भी दुसह दुख प्राप्त होते रहेगे॥ १० ॥ सद्गुरुदेव कहते है कि जो इस वचन को गावेगा और अर्थ समझ कर जैसा कहा गया है वैसी ही दृष्टि सम्मुख रक्खेगा, सदैव देहधारी जीवो और जगत-पदार्थ तथा अपनी मनोधारा को परखता रहेगा, उसको कभी पछतावा न करना पड़ेगा। वह करने योग्य कार्य करके कृतार्थ हो जायेगा। मोह का स्वप्न अर्थात देह और देह सम्बन्धी सम्पूर्ण हानि-लाभ मिथ्या दुखो से नि सन्देह पार पाकर वह स्वरूप देश मे जाग्रत हो सदा स्वरूपस्थिति मे ठहर रहेगा॥ ११ ॥

१　क्रोध के शस्त्र—कटु वचन, उत्पात, घात, हिसा, मार-काट, चुगुली, निन्दा, ईर्ष्या, विरोध तथा परपीडन की निश्चयवृत्तिया हैं। काम के शस्त्र—कोमल स्पर्श, कामोत्तेजक रसीले स्वाद, युवती-समूह का मन-वचन-कर्म से सम्बन्ध, राजसी मनुष्यो का सम्बन्ध, शृगार-हास्यरस-कामरस का विस्तार, युवक-युवतियो का भेद रहित बर्ताव, अपने तन की चिकनाई को निहारते रहना, अष्ट मैथुन इत्यादि है। मोह के शस्त्र हें—शरीर को अपने से भिन्न न समझना, अविवेक, इन्द्रियो के अधिक सुखदायक वस्तुओ को पास मे रखकर उन्हीं मे आसक्ति बना लेना, कुटुम्बियो से अलग न रहना, उन्हे एकरस अपना मानकर उनके हानि-लाभ मे पडे रहना। द्रव्य-सग्रह, धनियो का सम्बन्ध, शरीर भोग मे मान की इच्छा, बहु विद्या, वाचालो का सग्रह, इत्यादि लोभ के शस्त्र है।

शव्द—८

जगत दुख सरिता धार वही॥ टेक॥

पर मन रक्षण परत हमेशा, तन के कष्ट सही।
सव जीवन से भय जहँ निशदिन, एकहिं एक दही॥ १॥
तन रक्षा हित चेन न जीवहिं, प्रति दिन भार वही।
चर्म के पर्श हेतु नर नारी, एक को एक चही॥ २॥
पुत्नी पुत्न मे कलह विघ्न लखि, मात 'पिता जलही।
समझ स्वभाव रहत प्रतिकूलहिं, जलत न चैन कहीं॥ ३॥
भूत भविष्य वर्तमान कल्पना, मन संकल्प रही।
यकरस रहन देत नहिं जीवहिं, ख्वाहिश अमित गही॥ ४॥
इन्द्री द्वन्द्व करत नित सनमुख, गढि गढि खैंच तही।
जड़ चेतन दो बस्तु जगत मे, तीसर और नहीं॥ ५॥
विपरीत धरम नहिं निकट वसै दोउ, भूल ते खेद अही।
जड नहिं गहे न माने झगरै, जीव अगर्ज अचल ही॥ ६॥
दुख सुख पृथक सरूप नहीं कोइ, जीवहिं जलनि मही।
हानि लाभ वहु थोरा मानत, प्रेम अप्रेम सही॥ ७॥

टीका—जगत दुखपूर्ण नदी है, उसमे दुख का ही जल भरा हुआ है, नित नये-नये दुख का प्रवाह ही उसमे वहा करता हे॥ टेक॥ इस जगत मे शरीर धारण करके पराये मन की सर्वदा रक्षा करनी पडती हे तथा शरीरधारी के शरीर मे एक न एक व्याधियाँ सताती रहती हैं। इस स्वार्थपरायण जगत मे रहकर रात-दिन सवमे डर-डर कर रहना पडता हे। इस जगत मे अपने-अपने सुख के लिये एक-दूसरे को सताना ही सुख का साधन मानकर सव सबको सताते ही रहते हें। फिर ऐसे जगत मे सुख का लेश कहाँ!॥ १॥ जीव को शरीर-निर्वाहिक अन्न-वस्त्र आदि के लिये रात-दिन परिश्रम करते-करते विश्राम नहीं मिलता। तीन सो साठो दिन पेट पालन के धन्धा मे ही चले जाते हें। कितने तो पशु-तुल्य पेट भरना ही जीवनलाभ मान लिये हैं। नित्य-नित्य वही वोझा लाद कर एकक्षण भी विवेक का समय नहीं निकालते। स्पर्श की कामना हेतु पुरुप स्त्री की चाहना कर तथा स्त्री पुरुप की चाहना कर एक-दूसरे के हाथ विक जाते हैं। एक-दूसरे की ममता वश तनिक भी अपने स्वरूप का स्मरण नहीं करते। घूम-घुमाकर काम भोग को ही जीवनलाभ मानकर सर्वदा दुखी रहते हैं॥ २॥ स्त्री-पुरुषो के सम्वन्ध के पीछे फिर लडके ओर लडकियों का वोझा लेना पडता है। उसमे भी वडे-वडे-झगडे-रगडे ओर विघ्न हें। जो कहीं लडकियाँ वहुत हो गई तो उन सवो को ठोर-ठिकाने लगाने की चिंता जलाती हे। लडकियो की शादी की गई, यदि दामाद या खास किसी सम्वन्धी की मृत्यु हो गई या उसके घर मे और कुछ हानि हो गई अथवा किसी को कम-ज्यादा दिया गया तो शोक-सताप मे माता-पिता के रोते-रोते ही दिन जाते हैं। यदि अकेला पुत्न ही हुआ

और वह भी सयाना होने पर दुराचारी निकला या रोगी हुआ या मर गया या अपने कहे मे नही रहा, तो सब प्रकार दुख ही दुख होता हे। यदि कई पुत्र हुए और वे सयाने होकर परस्पर लड़ने लगे तथा माता-पिता का निरादर करने लगे तो ऐसी दशा मे धन न होने पर जीते ही नरक। यदि धन हुआ तो उसमे लडके और पोते हिस्सा बटा लेते हैं। कुछ धन बाकी रहा तो अनेक प्रकार से रक्षा करने की अनन्त चिताएँ धधकती ही रहती हैं। माता-पिता कुटुम्बियो को अपने मन के अनुसार रखने के लिये चिंतित रहते है, किन्तु दूसरे के मन के अनुसार भला कोई कब हो सकता है। प्रकट है कि पुत्र, पतोहू, पोते, नाती और अन्य सगे-सम्बन्धी की बुद्धि, स्वभाव और आचरणो मे कभी मिलान नही होता। वे सबके सब एक दूसरे के प्रतिकूल अपने-अपने सुख के लिये लडते रहते हैं। कुटुम्ब बिगडने के भय से बडे-बूढे या माता-पिता भयभीत रहते है। किसी भी दशा मे विश्राम नही पाते॥ ३॥

भूतकाल के संबध में कल्पनाए, भविष्यकाल के सबध मे आशाए तथा वर्तमानकाल मे सकल्प-विकल्प—ये सब मन के भॅवर है जो जीव को एकरस स्ववश नही रहने देते है। पूर्व मे किसी से वैर हो गया है अब वह सता रहा है, जो पहिले वैर न करते तो अब वह न सताता अथवा क्या कहे, अमुक धधा-व्यवहार करने मे न चूकते तो अमुक हानि न होती इत्यादि, अनतो पूर्व की चिन्ता और आगे के लिये धन-जमीन बढा लेवें, हमारे लडकों के काम आवेगे, उत्तम मकान, राजकाज हो जाता तो आगे सुख होता, क्या कहे ऐसी हानि हो गयी, देखो कैसे निपटेगा, इत्यादि, भविष्य के हानि-लाभ के सकल्प, अब जो कार्यो मे हानि होती हैं, कुछ स्वार्थ मे बना कुछ नही बना या पहिले से विद्यादि ऐसा कोई उपाय न किये, जिससे आगे बडे दर्जे मे भर्ती हो जाती इत्यादि अनन्त चिन्ताएँ तीनो काल के हानि-लाभ की कल्पनाएँ हुआ करती है। वे कल्पनाएँ जीव को एकरस स्थिर नही होने देतीं। कही धन बढाने की चिन्ता तो कही कुटुम्ब बढाने की चिन्ता। इस प्रकार एक-दो नही, अनन्तो ख्वाहिशे गह कर जीव दुख-धारा मे बहा करता है॥ ४॥ इधर इन्द्रियाँ जीव के सामने नित्य झगडा मचाती रहती हैं "न्यारो-न्यारो भोजन चाहैं, पॉचो अधिक सवादी। कोइ काहू का हटा न माने, आपुहि आपु मुरादी"॥ बी०॥ "झूला-वेग न्याय" जीव की शक्ति से शक्तिवान बनी इन्द्रियाँ जीव ही को कष्ट दे-देकर विषयासक्ति मे खींच-खींच जबरन उसी-उसी आपत्ति मे फिर-फिर डालती रहती हैं। विवेक से देखा जाय तो जो-जो ज्ञानेन्द्रियो द्वारा पॉचो विषयो का अनुभव किया जाता है वह सब पिड-ब्रह्माण्ड जड का रूप है और जो इन सबका अनुभविता है वह चेतन स्वय प्रकाश अपने आप हे। यह द्रष्टा-देखने वाला और वह दृश्य-देखने मे आते हुए कारणकार्य सब जड पदार्थ, इन दोनो को छोडकर तीसरा सुख पदार्थ कुछ है ही नहीं। अत जीव नाहक दुख-सुख, हानि-लाभ मानकर जन्म-मरण के चक्कर मे पडा है॥ ५॥

पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये पॉच विषययुक्त जड हैं, इन्हे तीन काल मे ज्ञान का भाव नही और चेतन जीव इन्द्रिय-साधन-द्वारा सब पदार्थों का जाननहार होने से केवल ज्ञानमात्र नित्य स्वत· अपने आप है, यह कभी जड नहीं होता। इस प्रकार कहाँ दृश्य—जड इन्द्रिय गोचर और कहाँ द्रष्टा चेतन—मन-इन्द्रियो से पृथक। ये दोनो विरोधी सम्वन्ध होने के योग्य नहीं हैं। परन्तु भूल के कारण मनोमय-सृष्टि से उभय ग्रन्थि बँधी हुई अनन्त काल से जीव को दुखी कर रही है। विवेक करके देखते है तो भूल, भ्रम, मानन्दी के बिना किसी प्रकार भी चेतन को जड सम्बन्ध मे पडकर दुखी होने का हेतु जाना नही जाता। पच विषय जड

होने मे चेतन को पकड नहीं सकते, न मानन्दी कर सकते, न झगडा करके खींच सकते हैं और जीव तो स्वरूपतः कामनाओ मे रहित सबका परीक्षक, अचल, अक्रिय, इन्द्रियातीत तथा निर्विकार हे ॥ ६ ॥ अत जड ओर चेतन को विचारपूर्वक देखने मे न दुख ही ह, न कुछ मुख ही है। किन्तु निज स्वरूप के भूलवश ही रात-दिन जीव को सुख-दुख की मानन्दी से महान जलन की प्राप्ति हो रही हे। हानि-लाभ, वहुत-थोडा, प्रेम-अप्रेम, भाव-अभाव ये मव चेतन स्वरूप मे न होते हुए भी मान-मानकर दुखी हो रहा है। माराश यह हुआ कि मुख-दुखादि मनोमय सृष्टि वन्ध्या पुत्रवत मिथ्या होते हुए भी जीव अपनी भूल मे उसको सत्य मानकर क्षण-क्षण मे कष्ट का अनुभव कर रहा है। अव इमे कल्याण की इच्छा हो तो अपने सत्य स्वरूप को सवसे निराला करके सव जालों मे पृथक हो रहे और शुद्ध रहस्य से शुद्ध स्वरूप में मदा के लिये ठहरकर दुख-सरिता से पार हो जावे, वस यही प्रधान कर्तव्य है ॥ ७ ॥

प्रसंग ४—भूलवश पराधीनता

शब्द—९

पुरुप अनादि धरत जग तनियाँ ॥ टेक ॥

गरभवास कछु दिवस निवासै, प्रगटि पुहुमि तव करत रुदनियाँ ॥ १ ॥
दाई नाउनि अंग सवाँरे, सोय रह कहुँ गोद लहनियाँ ॥ २ ॥
वइयाँ चलै कहुँ किलकति धाव, मन इच्छित विन वहुत दुखनियाँ ॥ ३ ॥
मलहुँ मुत्र की फिकिरि न उनको, शुद्धाशुद्ध न ज्ञान जहँनियाँ ॥ ४ ॥
तरुण भये तव गर्ज परश हित, नारि पुरुप तन सोच जतनियाँ ॥ ५ ॥
करि उद्योग विविध धन हेतृ, साज समेत मकान रचनियाँ ॥ ६ ॥
देश समय जस होय योग्यता, विकत सवन के दोउ तन मनियाँ ॥ ७ ॥
पुत्री पुत्र के प्राप्ति अप्राप्ती, मन प्रतिकूल मो विविधि जलनियाँ ॥ ८ ॥
वृद्ध रोग वश खर्च खुटै जव, फिक्र कुटुम्ब की मोह लदनियाँ ॥ ९ ॥
मोह लोभ काम की सासति, क्रोध जलनि मनभंग लखनियाँ ॥ १० ॥
राग द्वेप लहि भय वशि मव से, आशा फाँस में देह विलनियाँ ॥ ११ ॥
विविध करम करि संचय लीन्हें, देह अनन्त ताहि वल जनियाँ ॥ १२ ॥
आदि अन्त नहिं दुख का कवहूँ, जव तक शोध न निजहिं लगनियाँ ॥ १३ ॥

टीका—अनादि, अविनाशी, परम पुरुप चेतन वासना-वश इम ससार में देह धारण कर रहे हैं ॥ टेक ॥ चेतन पुरुप कुछ दिन माता के गर्भ में वास करते हैं, देह-अग पूरा करके फिर धरातल पर प्रकट होते ही रोने लगते हैं ॥ १ ॥ फिर दाई आप परम पुरुष के मायाकृत शरीर का नाल छेदनकर गला, मुख, आँख आदि साफ करती हे। फिर नाउनि नित्य तेल तथा उवटन लगाती हे। आप चेतन पुरुप छिन में तो सो रहते हैं और छिन मे कोई आपको उठाकर प्रेमयुक्त अपनी गोद में ले लेता है ॥ २ ॥ आप चेतन पुरुप कभी तो घुटनों के वल चलते हें और कभी किलकारी मार कर दौड़ते रहते हैं। लडकपन मे आपके मन की अनेक उलटी-पलटी

इच्छाये पूरी नही होतीं, इसके लिए आप बहुत दुखी होते रहते है। यथा—

दृष्टान्त—एक लडके की माता अपने छोटे बच्चे को लिए हुए कोठे की खुली छत के ऊपर लेटी थी। इतने मे पूर्णिमा का चन्द्र उदय हुआ। उस पर छोटे बच्चे की दृष्टि पडी। वह एकटक से देखना आरम्भ किया। फिर देखते-देखते थककर हाथो से इशारा करते हुए मुख से "आव-आव-आव!" करने लगा, बहुत बार आव-आव करके बुलाने पर जब चन्द्रमा न आया तो माता से बच्चे ने रोते हुए "उ-उ-उ-उ, आव-आव" अर्थात हे माता! चन्द्रमा उतार दे। तब माता उसे भुलवाने के लिए "जोन्हा माई-जोन्हा माई, आय जाव! दूध कटोरा लिये आव!! भैया के मुँह मे सुड़क दे" बार-बार कहने लगी। जब तक वह कहती रही तब तक तो बालक चुप रहा, जब माता ने भी कहते-कहते थककर बोलना बन्द कर दिया, तब फिर बच्चे की दृष्टि उस चन्द्र पर गई, फिर वह 'आव-आव-आव' करके रोने लगा और माता के ऊपर गिरने-पडने लगा। माता समझ गई चन्द्रमा उतरवाना चाहता है, पर यह बात तीन काल मे असम्भव है। अत: उस रोते हुए बच्चे को लेकर छत के ऊपर से माता नीचे उतर आई। इसी प्रकार कही बर्फ भूनकर खाने का हठ, तो कही आग-सर्प पकडने का हठ। लडकपन मे ये उलटी इच्छाएँ चला करती हैं। उन पर माता जब रोक लगाती है, तब वह बहुत दुखी होता है। इस प्रकार अनादि चेतन पुरुष लडकपन मे इच्छापूर्ति के बिना बात-बात मे दुखी होता रहता है॥ ३॥ इस मायाकृत अवतार मे चेतन पुरुष को इतनी गाफिली घेर लेती है कि आप को इस बाल्यावस्था मे मल और मूल की भी सुधि-बुधि नही रहती। उस समय आप कहीं भी मल-मूल मे ही खेल मचाने लगते है॥ ४॥ फिर आप चेतन पुरुष देखते ही देखते खेलते-कूदते है। आगे चल कर कुछ पढ़ते-लिखते|या कुल कुटुम्ब की रीति सीखते-सीखते जवान हो गये। आपका मायाकृत शरीर, इन्द्रिय गोलक पुष्टता को प्राप्त हो गये। फिर आपको जवानी मे विषय-भोग की कामना उत्पन्न हुई, तिसमे मुख्य मैथुन की भावना करके स्त्री के बिना पुरुष ओर पुरुष के बिना स्त्री बिरह से! चिन्तागिन मे जलते रहते हैं। पुन: पुरुष-स्त्री की प्राप्ति के लिए अनन्त यत्न करते रहते हैं। जैसे यह कथा है—एक ज्ञानवान मित्र ने अपने अबोध मित्र को चिन्तातुर देखकर पूछा—अहो मित्र! तुम क्यो दुखी दिखाई देते हो? तब मित्र उत्तर दे रहा है—

चौ०—*तरुण अवस्था आज हमारी। चली जात नहि आवत प्यारी॥*
अजहुँ ब्याह मम नाहिन नारी। नारि बिना मोहि सब अँधियारी॥
युवा वेग नहि भेटत प्यारी। धृग धृग जीवन आज हमारी॥
सब सुख मूर्ति बाम बिन ख्वारी। जरत विरह दव मिलि कब नारी॥
ऐसे बैन सुनत हा शोका। भनत मित्र नारिहुँ सुख फोका॥

दोहा—*नारि बीज अकुर विषय, सुत पुत्री सब शाख।*
पर्ण सकल व्यवहार तेहि, त्रिविध ताप फल चाख॥

इस प्रसग का यह तात्पर्य है कि अज्ञानी मनुष्य स्त्री की विरह-कामना मे जला करता है, उसी प्रकार स्त्री भी पुरुष की भावना मे जला करती है। दोनो दोनो के लिए चिन्तातुर होकर उसके यत्न मे लीन होते है॥ ५॥ जगत के भोग धन से ही प्राप्त होते है, ऐसा सोचकर

परमपुरुष नौकरी, दीनवृत्ति, खेती, वनिज आदि असंख्य उद्योग करते ह। धन होने पर सब सामग्री सहित सुन्दर मकान वनवाते हैं।

कवित्त

ईंट से जोडाई जु सिमेन्ट से घोटाई पुनि, ऊपर रॅगाई शिल्पदार मन भाइये।
ठौर-ठौर बेल बूटे चित खिंचे जालीदार, बिजली की रोशनी विविध रंग लाइये॥
मृदु मजु सेज जहॅ तहॅ बिछे अन्दर मे, सौरभ सुगन्ध आगे दर्पण टॅंगाइये।
एक दुइ चार आठ खण्ड मनभावन हूॅ, रचत-रचत अन्त काल मुख जाइये॥

इस प्रकार साज सहित मकान वनवाने मे शक्ति भर परम पुरुष मन दे देते हैं॥ ६॥ देश की रीति और धनी-निर्धनी जसी दशा हो वर्णाश्रम-रीति-कुल की मर्यादा आदि सब योग्यता लेकर स्त्री-पुरुषो का विवाह होता है। नात, कुरमा, विरादरी, देश-गॉव और राजा ठाकुर जहॉं जसा व्यवहार लेकर कार्य सिद्ध होने वाला है, वहॉं उस प्रकार नर-नारी को सब की पावन्दी लेना पडता है। इस प्रकार परमपुरुष को नीच-ऊॅंच, अमीर-गरीव सबो के हाथ विकना पडता है। अर्थात समय-समय पर सब की खुशामदे करनी पडती ह॥ ७॥ देखो! परमपुरुष की माया का विस्तार, आगे परमपुरुष को वच्चा-वच्ची मिलने न मिलने पर दोनो भॉंति दारुण दाह होता रहता है। अपने मन के उलटे उन्हे देख-देखकर अनन्त शोक-मोह की जलन हुआ करती ह। यदि मन्तान न हो तो वश डूवा जानकर हरदम दुखी रहते हैं। यदि पुत्रिया वहुत हो गई तो भी आपत्ति, उनको ठौर-ठिकाने लगाने की अनन्त चिन्ताएँ मताती हैं। यदि पुत्र ही पुत्र हुए, आगे चलकर कहे मे न रहे या पदा हुए आर मरते गये या रोगी, प्रतिकूल रहे या उनका विवाह न हुआ, अथवा विवाह हुआ, तो उनके वाल-वच्चे न हुए या उनकी निर्धन अवस्था रही या वे अपना किसी प्रकार स्वार्थ मे महारा न दिये। प्रत्येक दशा से माता-पिता को जलन होती ही रहती ह॥ ८॥ आगे चलकर परमपुरुष की देह जव वृद्ध हो जाती है आर खॉंसी, दमा, गठिया आदि भॉंति-भॉंति के रोग पकड लेते हैं, उस समय उनसे कोई कार्य सधता नहीं। जव कुटुम्व की वढती होने से खर्च वढ जाता ओर द्रव्य कम पड जाता है, तव स्त्री, पुत्र, पुत्री, पोते, नाती आदि कुटुम्व के मोह-पाश से जकडे गये परमपुरुष को अनन्त चिन्ता का भार लद जाता है। जैसे कहा है—"तन वल गये गिरे मव दॉंता। डगमग चलत सुनत नहि वाता॥ भये पुत्र उपपुत्र घनेरे। होत दुखी तिनके दुख तेरे"॥ ९॥

स्त्री, पुत्र, दामाद आदि की मृत्यु मे मोहजनित अत्यन्त दुख, द्रव्यादि सग्रह की चिन्ता, लोभ ओर स्त्री मम्वन्ध की इच्छा एव काम, इन सवो के दुसह दरेरा में पडे हुए अपने मान आर वात की मर्यादा न देखकर अनादि चेतन पुरुष क्रोध की ज्वाला मे जलते हुए देखे जाते हैं॥ १०॥ देह ओर देह मम्वन्धी पदार्थो मे स्नेह आर इनके घातकों से वेर, ये दोनो वाते धारण करके मर्वदा मवसे भयभीत रहते हुए अनत आशा ही की फॉंसी मे परमपुरुष की देह नष्ट हो जाती है। "शिर धुनि हसा उडि चले हो रमेयाराम। सरवर मीत जो हारि हो रमयाराम" ॥ वी०॥ ११॥ अपने स्वरूप के अज्ञान मे देह सम्वन्धी पदार्थो मे मुख मानकर उनके लिए अनत पाप ओर पुण्य सकामकर्म कर-करके परमपुरुष अपने हृदय में समग्र वासनाएँ धारण करते हुए उन्हीं मचित वासनाओ की शक्ति से खग, मृग, पशु ओर मनुष्य असख्यो अवतार धारण करते

हैं॥ १२॥ इस प्रकार आपको अनादिकाल से आज तक और आगे भी दुसह दुख का ओर-छोर नहीं है। इस अवतार सम्बन्धी दुख का ओर-छोर तभी मिलेगा, जब परमपुरुष अपने आप को सत्य-अमृत जानकर आप ही मे टिक रहे। नही तो सरकार की इच्छा की बात हे, चाहे भूलभुलैया मे पडकर इसी दुसह दुख मे गोते लगाया करे या निज स्वरूप को जाने और ठहरकर मुक्त हो रहे। अन्यथा परमपुरुष चेतनदेव अपनी श्रेष्ठता न पहिचान कर ही अपने ऊपर कोई अन्य दैव गोसैंयाँ की कल्पना करके जडाध्यास मे पचा करेगे॥ १३॥

स्पष्ट—इस शब्द मे यह बात जनायी गयी कि अनादि जीव ही सबसे श्रेष्ठ सत्य अमृत है, पर अपने स्वरूप की भूल से ही अनादि जडतत्वो को अपना स्वरूप मानकर देहोपाधि की सारी परवशता का दुसह दुख सहता रहता हे। इस परमपुरुष चेतन जीव को ही राम-कृष्णादि अनेक विशेषणयुक्त अवतारो के नाम से गाया गया है, क्योकि उनका शरीर भी जडतत्वो का वर्तमान शरीरो की भाँति बना था और उनके अन्दर भी प्रेरक चेतन जीव रहा। जैसे कि अब वर्तमान समय मे नीच-ऊँच, गरीब-अमीर, यशी-अयशी सब मे अपना-अपना खुद चेतन जीव बसता है, वैसे ही पूर्व मे भी समझो। इन अनत चेतन जीवो के अतिरिक्त और कोई अन्य एक सर्वशक्तिमान पुरुष परमात्मा प्रेरक है, ऐसा इन अनादि चेतन जीवो की मन अनुरूपित स्वप्न सृष्टि मिथ्या जाननी चाहिये। जिनके चरित्र रामायण, गीता, भागवत आदि मे गाये गये हैं, वे सब वासना-वश वारम्वार अवतार लेने से हम लोगो के समान जीव थे। उनके सब चरित्र गर्भ, वाल, यौवन, वृद्ध और मृत्यु के भीतर ही घटित हो जाते हैं। परन्तु अपने स्वरूप को जाने बिना सब कल्पनाओ का अन्त नहीं होता। कबीर साहिब कहते है—"केतेहि रामचन्द्र तपसी से, जिन्ह यह जग बिटमाया। केतेहि कान्ह भये मुरलीधर, तिन्ह भी अन्त न पाया॥" तथा—"महादेव मुनि अन्त न पाया। उमा सहित उन जन्म गमाया॥ उनहूँ ते सिध साधक होई। मन निश्चय कहु कैसे कोई॥" अथवा—"लै मति ठानिनि वेद पुराना, हृदया बसे तेहि राम न जाना"॥ बी०॥ पूर्वोक्त बीजक के प्रमाण मे इस जड देह का प्रेरक चेतन ही अखण्ड अनादि नित्य सत्य हे, क्योकि जड प्रकृति का द्रष्टा माया से श्रेष्ठ होने के कारण और भूल-वश जड विषयो का भोक्ता होने से चेतन जीव को पुरुष शब्द से कहा गया। निज स्वरूप को सत्य न जानकर यही जीव देह-भाव मे आसक्त होकर प्रकृतिमय हो रहा हे, चल-विचल हो रहा है। अत: अपने स्वरूप को भली प्रकार जानकर अपनी समग्र कल्पनारूप माया समेटकर सदा के लिए अवतार लेने से रहित हो जाना चाहिये।

शब्द—१०

पैहौ भरम मन जइहौ बिदेशवा हो॥ टेक॥

इन्द्रिन देश बसौ तजि देशवा, सब के हाथ बिकनवा हो॥ १॥
तृष्णा प्रवल भयानक सर पर, कुमति के साथ लोभनवा हो॥ २॥
अनहोनै सुख फिर फिर खोजिहौ, हरछिन होय कलेशवा हो॥ ३॥
धार मानसिक झगरे परिहौ, सब दिन होय कुदिनवा हो॥ ४॥
निजहिं छोड़ि तुम सबहिं जोहरिहौ, गरज कि अनल जरनवा हो॥ ५॥

भार परीश्रम पार न पइहौ, शोकौ फिकिरि हमेशवा हो॥ ६॥
उनके विवश रहन होय निशदिन, जोन कह सोइ करत बननवा हो॥ ७॥
विषय बिवश तुम काह न करिहौ, तिनके भोग न होय चुकनवा हो॥ ८॥
सबहिं सताय सताये गयो तुमहूँ, धरिधरि देह न होय सिरनवा हो॥ ९॥
लोह जँजीर न रसरी बन्धन, बड़ेवडे सुभट सो खॉय पछरवा हो॥ १०॥
सुख अध्यास काटि भ्रम बन्धन, आसक्ति जीति सोइ सत सुजनवा हो॥ ११॥
सोइ रहि स्वबश एकरस जीवन, छणिक जगत सोइ डारि वमनवा हो॥ १२॥
कोइ कोइ सन्त प्रगट ह्वै जग मे, पार होय सोइ पार करनवा हो॥ १३॥
सत्य परीक्षक धारण वैसहिं, दुख को दुख नहिं मनहिं सुखनवा हो॥ १४॥

टीका—विजाति जड पाँच विषय, पच अभिमान[१], पच देह[२], विद्या-अविद्या, अष्टमद बानी-खानी, इन्द्रिय-अत.करण जो कुछ दृश्य भास हो रहा हे सो सव विदेश का रूप है। इन सवों का परीक्षक स्वय प्रकाशी अपने आप ज्ञानस्वरूप स्वदेश है। गुरुदेव कहते हें कि हे मनासक्त जीव! स्वरूपस्थिति-स्वदेश को छोडकर विजाति-विदेश विराने पच विषय मे आसक्त होओगे तो तुम्हे भ्रम के सिवा ओर कुछ हाथ न आयेगा। भ्रम से विपरीत समझ, विपरीत समझ से विपरीत कर्म, विपरीत कर्म से विपरीत फल, त्रिविध ताप के भोग ये सव तुम्हे दुसह दुख मिलेगे॥ टेक॥ स्वरूपवोध के पुरुषार्थ को छोडकर जो इन्द्रियो के देश-शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध मे सुख मानकर वहॉ वृत्ति रमाओगे तो तुम्हे सवके हाथ विकना पडेगा, विना विके विषय भोगने को कभी नहीं मिल सकते, तो भला विचारो! जिसके लिए सबके हाथ विक जाना पडे उसमे कोन सुख!॥ १॥ बडी जवर्दस्त और भयानक तृष्णा तुम्हारे सिर पर गाजेगी, फिर जिन-जिन कर्तव्य ओर मनन से कुवुद्धि की वृद्धि होती हैं, वे तुम्हे अच्छे लगेगे। उन्हीं मे ममता-मोह करोगे। इस प्रकार कुवुद्धि मे हमेशा लोभे रहोगे, जिसका परिणाम दुख ही दुख है॥ २॥ वन्ध्या के पुत्र और मृगतृष्णा के नीर समान जगत-सुख मिथ्या हे, यहॉ इन्द्रियगोचर पदार्थो मे वारवार सुख न मिलते हुए भी अनहोन सुख खोजोगे। उस मिथ्या सुख के लिए तुम्हे प्रतिक्षण दुख ही दुख भोगना पडेगा॥ ३॥ भय, असमजस, तृष्णा, अतृप्ति, काम, क्रोध, ईर्ष्या, स्वर्ग, भूत-प्रेत, कर्ता-धर्ता, देवी-देवादि, स्त्री-पुरुष की गढन का प्रियता भाव से मनन, उनकी प्राप्ति-अप्राप्ति मे हर्ष-शोक,-दुख-सुख, हानि-लाभ, शत्रु-मित्र इत्यादि जहाँ तक मन मे स्मरण होकर उसी मे रचा-पचा करे, विचार द्वारा उससे निकल न सके वहॉ तक मानसिक प्रवाह का झगडा हे। ऐसे बन्धन जीव को लगकर सब दिन सकट मे ही रोते-कल्पते गुजरेगे॥ ४॥

---

१ १—स्थूलदेह का विश्व, २—सूक्ष्मदेह का तजस, ३—कारणदेह का प्राज्ञ, ४—महाकारणदेह का प्रत्यगात्मा और ५—कैवल्यदेह का निरजन अभिमान, ये पच देहाभिमान हें।

२ स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, कैवल्य, ये पच देह हैं। मुख्य स्थूल-सूक्ष्म के अन्दर ही अन्य तीनो देहो की कल्पना है।

विराने देश मे रहकर अपनी स्वतन्त्रता-स्ववशता छोडकर हे जीव। तुम सबको जोहारोगे, लाचार-दीन होकर सबसे निहोरा करोगे, इस प्रकार भोग साधक नर-नारियो से गर्जरूप अग्नि मे तुम्हे जलना पडेगा। छन्द—"आरत व गर्जी जो मर्जी चहे है। परके मनो को मनाता रहै है॥ भला। ये सकामी जगत कब निजै है। वृथा भोग वश मे ये परवश नचै है"॥ ५॥ विराने देश—विद्या-अविद्या जाल मे आसक्त होने से कितना परिश्रम का भार पड़ेगा, इसकी कोई हद नहीं, तेलीबैल और भयकर धारा मे बहने के समान निरतर भोगसुख हेतु धनादि के लिए प्रयत्न और कष्ट उठाना पडेगा। साथ ही उसके बनने-बिगडने और हानि-लाभ मे रात-दिन शोकचिंता-असमजसरूप भट्ठी मे जलना पड़ेगा॥ ६॥ और उन्ही विदेशी विषयासक्त, जडाध्यासी, भूले-भटके मनुष्यो के वश मे रात-दिन नाचना पडेगा। वे जो कुछ कहेगे वही करना पडेगा। यदि उनकी गुलामी न करो तो उनके आधारित सुख नहीं मिल सकता। इसलिए जगत-सुखार्थी को सबके वश मे रहना पडता है, वही सबकी गुलामी तुम्हे भी मिलेगी॥ ७ ॥ हे जीव। इस विदेशी जगत-जाल मे पडकर विषय वायु मे उडोगे तो फिर तुमसे कौन ऐसे कुकर्म नही बन जायेगे। प्रकट है कि विषयासक्ति वश अष्टमद[१] धारण करके हिसा, छल, अनीति सब कुकर्म बन जाते हैं, जिन कुकर्मो का फल अब और अन्य जन्मो मे त्राहि-त्राहि करके भोगे नहीं सिराता॥ ८॥ पुन· बनिता, वित्त, ऐश्वर्य, समाजवृद्धि रूप विदेश मे पडकर हे जीव। तुम मन, वचन और कर्म से सबका घात करते हो, जिसके अध्यास से तुम्हारा भी तीन तापो से घात हुआ करता है। सो देह धारण करके प्रत्येक योनि मे विलपते-रोते दुख के समय काटे नहीं कटते, न इस दुख-धारा का अन्त ही होता है॥ ९॥ जगत मे कोई बॉधा-फॉसा जाता है। उसमे रस्सी और जजीर की आवश्यकता पडती है, परन्तु मोह के बधन मे न तो रस्सी है, न जजीर ही है, केवल भूल का शूल है, किन्तु इस मोह-बन्धन को बडे-बडे सुभट, समझदार, विद्वान, लिखे-पढे चतुर तोडने मे असमर्थ हो रहे हैं। प्रभुमाया दुस्तर या प्रकृति-स्वभाव कहकर साहसहीन हो रहे हैं, ऐसी यह विजाति आसक्ति दृढ हो रही है॥ १०॥

पॉचो विषयो का और मुख्य मैथुन-मोह-हिसा, इन सबो की सुखासक्ति सुख मानना, सुख क्रियारूप भ्रम-रस्सी को काटकर जो सत स्वस्वरूपस्थ रहते है वे ही सुजान शुद्ध निर्विकार प्रशसनीय हैं॥ ११॥ वे ही अपने आप स्ववश रहकर अत करण की चाल को देखा करते है। वे अत करण की मनोमय-धारा मे न बहकर एकरस शुद्ध रहस्य जीवन-पर्यन्त धारण करते हैं। उनकी स्थिति यही है कि वे क्षणिकवर्ती सम्पूर्ण जगत, इन्द्रिय-विषयजनित सुखो की आसक्ति का बमन कर फिर उधर कभी नही देखते। धन्य। धन्य। ऐसे वन्दनीय सतजन॥ १२॥ अनेक जन्मो के शुद्ध सस्कारयुक्त कोई-कोई सन्त देह धारण करके स्वरूपज्ञान-सहित वैराग्य द्वारा पुरुषार्थबल से मनोमय-भवसागर से पार होते और साथ-साथ दूसरे को भी पार करते है॥ १३॥ ऐसे यथार्थ पारखी सत पारख के अनुसार ही सत्यबोध और सद्रहस्य धारण करके दुखरूप जगत को दुख ही जानते है। उसमे भूलकर भी सुख की कामना नही करते। "जौन जैसहि जानि तस नहि रदबदल करता रहै"॥ १४॥

---

१ अष्ट मद—छन्द—"विद्या व तप अरु पूज्य मद अरु ज्ञान मद ये बानि के। यौवन व धन अरु नारि मद अरु राज्य मद ये खानि के॥ इनको परख के छोड दे निज रूप भिन्न पिछानि के। अविकार शुद्ध अखण्ड है घट बढ रहित निज जानि के॥"

विदेश-विजाति सम्वन्ध का दुख

दृष्टान्त—एक न्यारासिंह नामक मनुष्य था जिसके दस जोडी उत्तम वल थे आर उत्तम दस भैंसें लगती थीं। घर मे आज्ञाकारिणी युवती पत्नी थी। उसके पुत्र तथा वहुत से नौकर थे। अर्थात वह दुनिया के सव सुखो से पूर्ण था। इतने मे उसकी इच्छा हुई कि में परदेश में जाकर कहीं चाकरी कर अधिकतर धन की वृद्धि करूँ। इस विचार से वह माता के विशेष मना करने पर भी दूर देश चला गया। वहाँ जाकर कहीं नाकरी का ठीक ठेकान न लगा। उलटे जो कुछ ले गया था वहाँ ठगो और चोरो ने मिल वनकर ले लिया। वह देश भी ऐसा कि उसको किसी ने सहायता न दी। वहाँ दिन को कठिन धूप होती और रात को असह्य ठड पड़ती। उस देश मे विश्राम के लिए एक वृक्ष भी न था। चोर, वदमाश, वाघ, भेडिया, सर्प, बीछी आदि हिसक जन्तुओ की वहाँ अधिकता थी। इन सव दुखों से न्यारासिंह महा दुखित हुआ। वह ताप और ठडक से तथा क्षुधार्त होकर दिन-रात रोता रहा। फिर एक उपाय सोचकर एक हँडिया मढ वजा-गाकर तथा भीख माग-माग कर पेट भरने लगा। वह कहता था—"दस हर चलैं भैंस दस लागे, घर मा सुन्दर नारी। चाह भई धन की परदेशी, घर वरज महतारी॥ हँडिया वाज रही धुँधकारी-हँडिया वाज रही धुँधकारी" यही गा-गाकर जैसे-कैसे दिन काटने लगा। फिर न्यारासिंह भटकते-भटकते मयोगवश अपने गाँव को आ गया, वहाँ भी वही पूर्व गाना गाने लगा—"दस हर चले भैंस दस लागैं, घर मा सुन्दर नारी। चाह भई धन की परदेशी, घर वरजे महतारी॥ हँडिया वाज रही धुँधकारी-हँडिया वाज रही धुँधकारी"। न्यारासिंह के इस गाने को सुनकर उसकी स्त्री वोली—"वर्तन माँजत में हँसी, मोको हँमी न आई। पिया गये थे छैल वनन को, घर की जमा गँवाई॥ टठिया वाज रही झनकारी-टठिया वाज रही झनकारी॥" स्त्री के इन वचनो को सुनकर न्यारासिंह लज्जित हो गया ओर परदेश की सुख-लालसा छोडकर अपने घर की सम्पत्ति सम्हालकर पुनः सुखपूर्वक रहने लगे।

सिद्धात—जीव सवका ज्ञाता सवसे न्यारा होने से न्यारासिंह हे। शाति स्त्री हे। (१) अचल, (२) अभय, (३) अगर्ज, (४) अचाह, (५) अनाश, (६) असम्वन्ध, (७) अभोग, (८) अरोग, (९) अखण्ड, (१०) अक्षय—इन दस लक्षणों से युक्त तथा स्थिति हेतु सर्व हस सम्पत्ति सहित जीव सदेव मुक्तरूप नित्य-स्थिरपद हे। परन्तु यह अनादि जड-सम्वन्ध मे पडकर अपने सत्य स्वदेश स्वरूप को भूलकर विदेश विजाति जडतत्वो के विषयो मे सुख मानकर अधिक-अधिक सुख लालच वश दर-दर का भिक्षुक हो रहा हे। इस विजाति इन्द्रिय सम्वन्ध मे तीनो ताप आर सव प्रकार की विपरीतता का दुख सर्वदा वना रहता हे। इन्द्रिय विषय, काम, क्रोध ओर राजसी-तामसी देहधारी, ये सव ठग ओर मन चोर जीव की सद्गुण-सम्पत्ति लूट लेते हें। इससे अनादिकाल का यह भिक्षुक चोरासी योनियो मे घूमते-घूमते जव मनुष्य देहरूप घर म आकर सद्गुरु-सत्सग से सुवुद्धि माता ओर शाति पत्नी को पाता है तथा अपने दयादि हमगुणो को जव सम्हालता है तव अपने स्वरूप मे दृढ़ होकर विदेश-जड़तत्वो की सुखासक्ति-रहित होकर परमपद पा जाता है, जहाँ पर अपने से अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है।

सार—हे जिज्ञासु! शीघ्र इन असार विजाति विषयो से मुख मोडकर स्वरूपस्थिति करो, नहीं तो पूर्व कहे विदेश का सव दुख तुम्हे भोगना पड़ेगा।

प्रसंग ५—काज-अकाज

शब्द—११

काज नहिं जानैं कोई जने॥ टेक॥

इत उत भरमत समय बितावै, भूलि अकाज जने।
तेहि पर कहत काज हम करते, है आश्चर्य सने॥ १॥
समय अमूल्य मनुष तन जाही, परबश सबहिं भनै।
नहि चिता नहि सजगै कोई, है यह भूल सने॥ २॥
पच बिषय बिन दुख कहुँ नाहीं, दुखहिं कुकाज ठने।
आदि अन्त औ मध्य में देखौ, कहुँ नहिं चैन बने॥ ३॥
होत बेकलता तेहि में अतिशय, सुख ही जहेर बने।
जो कोई कहै भूल यह तुम में, तेहि अज्ञान गने॥ ४॥
कोइ कोइ दु.ख जानि निज जिव का, सब से बिलग पने।
करै निबृति सो तन मन दै कै, मोक्ष को काज लने॥ ५॥
होंय न बिलग कबहुँ कोइ हालत, अबरन नाहिं जने।
दशा सर्बसौ धारण करि कै, परबल शक्ति ठने॥ ६॥
पार भये भव सिधु से उनहीं, नहिं कोई ताहि मने।
सकल अकाज को त्यागन करि कै, निज को निजहिं रने॥ ७॥

टीका—अपने जीव का जिस प्रकार उद्धार हो, ससार-सागर मे पतन न हो, रुजालय दु:खालय, परवशालयरूप जडग्रन्थि का जिन रहस्यो से छेदन हो, उन सत्सग, विवेक, भक्ति आदि को धारण करना अपना निजी काज है, सो निजी काज को प्रपचासक्त कोई भी जीव जानता नही॥ टेक॥ इधर-उधर भोगजाल मे भटकते हुए मुक्ति प्राप्ति करने के समय को लोग व्यर्थ गवॉ रहे है। स्वस्वरूप को भूलकर विषय-सेवन मे ही लगे हुए है। करते तो अपनी हानि के कर्तव्य को और कहते क्या हैं कि हम अपना काम कर रहे है, यह बात आश्चर्य सी लगती है। "दोहा—बिन परमारथ लाभ किमि, रथी रथै मे लीन। खेती लाभ मजूर लै, भूप लाभ मतीन"॥ १॥ मनुष्य-देह जिसे प्राप्त है उसका पल-पल समय अमूल्य है। इसी देह से नित्यस्वरूप मे स्थिति के साधन बनते है। ऐसी देह भी प्राप्त है, साथ ही जडग्रन्थि की परवशता का दुख भी सबको अनुभव हो रहा हे। उस परवशता के निवारण के लिए न किसी को चिन्ता है न सजगता है। यह बडी भूल नही तो क्या है॥ २॥ पॉचो विषयो की आसक्ति ही दुख है, फिर भी उसी विषय सेवनरूप कुकाज का ही लोग सेवन कर रहे हैं, परन्तु विवेक से देखो तो उन विषयो के आदि-मध्य-अत मे कही किसी काल मे किसी को विश्राति नहीं है॥ ३॥

उसी विषय-व्यापार मे जीव को परिश्रम, अतृप्ति और तृष्णा द्वारा व्याकुलता होती है। अरे! ये सुख माने हुए विषय ही विष हो रहे है, परन्तु विषयजनित सुख भूलमात्र मिथ्या है।

ऐसा कहने वाले को ही जगत के जीव अज्ञानी मानते हैं, यह ही महामोह की महिमा है॥ ४॥ विरला कोई अपने जीव की फाँसी-विषयासक्ति को जान सम्पूर्ण बन्धनो को त्यागकर पृथक रहते हैं। वे तन-मन लगाकर निवृत्तिमार्ग का साधन करते हुए, मुक्ति रहस्य-मुक्ति स्थिति को प्राप्त होते हैं॥ ५॥ वे मोक्षार्थी अपने निवृत्तिमार्ग से कभी भी किसी दशा मे अलग नहीं होते, चाहे रोग-व्याधि, अपमान यहाँ तक कि प्राण-विसर्जन ही का अवसर क्यो न हो। वे अपनी दृढ निश्चयता से नहीं डिगते। उन्हे किसी प्रकार का अज्ञान, आवरण, विपरीत निश्चय नहीं होने पाता। वे ही पुरुष ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, स्थिति आदि साधु-सग के सब रहस्यों को धारण कर प्रबल शक्ति बना लेते हैं और अपने ध्येय[१] मे दृढ रहते हैं। उनकी अनन्त शक्ति के आगे

---

१ विचारवान का यह दृढ निश्चय है—

सवैया

मानुष को तन भाग्य मिले वर श्रीगुरुदेव मिले सुखदाई।
मोह निशा से जगाय लिये प्रभु जाग्रत रूप स्वय सचुपाई॥
देह रु प्राण मनो बुधि चित्त जु नश्वर भाम अहै दुखदाई।
भास के आश नशावन की रुचि ध्येय हमार छुटै न कदाई॥ १॥
भोगन से मन पूर न होवत ज्यों मृगनीर सदा भटकाई।
जो सुत मेन सहायक सम्पति जीत भवै सिरमौर कहाई॥
आगे ही आगे को दौडत जो नर तो वह बन्धन मे बँधि जाई।
ये सब तुच्छ तजौं तृण के सम ध्येय हमार छुटै न कदाई॥ २॥
सुन्दरि नारि निहारि सुखी जन तो हम फेर लिये निज नैना।
जीवहि स्वाद सुव्यजन मे रुचि तो हम फीकेहिं रूखे मे चैना॥
जो वहि कोमल सेज बिछावत तो हम भू पर सेज चटाई।
ये जग के सुख भोग विरुद्धहि ध्येय हमार छुटै न कदाई॥ ३॥
जोरू जमीन जरै हित ये नर लोभ वशी बहु पाप कमावत।
चोरी करे वरवारी करै जु अनीति करै बहु वैर बढावत॥
स्वप्न समान चलै तजि अतहुँ हाय! सुधार कियो नहि राई।
रात दिना निज शुद्धि म लक्ष्य हो ध्येय हमार छुटै न कदाई॥ ४॥
इन्द्रिन भोग के कारण देखहु ये सब लोग बडे अन्याई।
एकहिं एक दबाइ सतावत लेवत भोग कबू न अघाई॥
ज्यों खर श्वान सियार बिडाल के पागल के सम ज्ञान न राई।
हेत अनीति सबै हम त्यागब ध्येय हमार छुटै न कदाई॥ ५॥
ज्यो पथ पन्थी चलै पहुचे घर ज्यो कोइ रोगी करै जु दवाई।
ज्यो कोठ विद्या पढै अतिमूरख धीरे ही धीरे बडी बुधिताई॥
ज्यो कोठ दावँ रु पेच सिखैं गिरि जीत के दगल वीर कहाई।
त्यो हम भक्ति विचार लहैं दृढ ध्येय हमार छुटै न कदाई॥ ६॥
साहस हिम्मत औ पुरुषारथ औ दृढ भाव मे काज सरै जू।
जो न तजै निज धीरज भाव तो काज कठोर-कठोर करै जू॥

भला ये काम, क्रोध और राग-द्वेष ठहर सकते हैं। कभी नहीं। इन दुर्गुणो का उनके घट मे लेश नही रह जाता। धन्य-धन्य ऐसे नर-रत्न को।॥ ६ ॥ ऐसे दृढनिश्चयी तथा पुरुषार्थी ही मनोमय-भवसिंधु को लॉघ जाते है। उनकी रहनी इतनी अचल, अचूक, अटूट अनालस्य होती है कि कोई भी उनके मार्ग मे विघ्न करने को खडा नहीं रह सकता। कोई जगतप्राणी या उनका मन उन्हे सन्मार्ग से नही रोक सकता। ऐसे ही पुरुषरत्न विषयासक्ति रूप सब अकाज से पीठ देकर अपने आप ही शुद्ध स्वरूप रह जाते हैं॥ ७॥

छन्द—१२

जीव अचेते भर्म बॅधे ते दु ख सहे ते सुक्ख चही।
बिना दुखाही नही सुखाही निज को चाही कौन कही॥
नहिं कोइ हेतन चाह रहे तन जीव सचेतन देखु सही।
भूल असत्ती छॉडौ जस्ती याही तस्ती दृष्टि चही॥ १ ॥

टीका—जीव अपने स्वरूप को भूल रहे है, इसलिए विपरीत निश्चय से जड में बॅधायमान होकर दुख पा रहे है। उस दुख के निवारणार्थ सुख की चाहना करते रहते है, पर विवेक के बिना सुख का मर्म नही जानते। देखो। शारीरिक अथवा मानसिक दुख हुए बिना क्या किसी प्रकार की कोई भी सुखकामना कर सकता है? भला रोग हुए बिना रोग निवृत्ति के लिए मैं औषध करके सुखी होऊँ, यह कौन कह सकेगा। वैसे सब बातो मे जान जाइए कि दुख हुए बिना सुख की कामना तक नही उठ सकती। दुख तो सब भूल, भ्रम, सुखासक्ति से है, अत. उनका नाश किये बिना दुख नही छूट सकता। जीव चेतन है, ज्ञानस्वरूप अखण्ड है, स्वय प्रकाश एकरस है। तब भला ऐसे चैतन्य पुरुष का जड जातीय विषयो से कुछ प्रयोजन निकलेगा। कहाँ चैतन्य जाति। कहॉ जड जाति मे सुख मानना। इससे चैतन्य की स्थिति कैसे होगी। ऐसा जानकर "विषयो से मेरा कल्याण होगा" ऐसी भूल और भोगो मे बढी हुई आसक्ति-परवशता का बलपूर्वक त्याग करो। देखो। जो चित्त वृत्तियो का निरोध करता है वही निरोधक-द्रष्टा नित्य प्राप्त बोध स्वरूप तुम चेतन सत्य हो। 'याही तस्ती' अर्थात यही खोज-शोध ज्यो का त्यो यथार्थ समझ पुष्ट करके निरन्तर यही दृष्टि पुष्ट करो कि विजाति मे सुख-भ्रम मिथ्या है, मेरे लिए रोग है, मै स्वभाव से चैतन्य दुख-सुख से पार एकरस परम पवित्र हूॅ॥ १ ॥

नर की देहा फलै सो येहा मन में चेहा राखु सदा।
नहिं तौ ऐसे पशु हैं जैसे भोग चहै से नाहिं जुदा॥

जानि स्वय अविनाशी स्व बोध मे सतत लक्ष्य करौ ठहराई।
स्थिति हेत विराग गहौं बर ध्येय हमार छुटै न कदाई॥ ७॥
दोनो प्रकार से है जु परिश्रम स्वारथ औ परमारथ माहीं।
स्वारथ दु ख से पूर्ण अनन्त है औ परमारथ मे दुख नाहीं॥
तौ परमाथ ओर रहौं मैं चाहे जितै होय विघ्न सदाई।
विघ्न को तोरि रहौं थिर पारख ध्येय हमार छुटै न कदाई॥ ८॥

बाल जो खेले दिन को ठेले काज न भेले शर्म लदा।
जानै तरुना आयू भरना काज न करना कहँ कदा॥ २॥

टीका—इस मनुष्य देह ही से विषयासक्ति को त्यागकर स्वरूपस्थिति का लाभ मिल सकता है। अन्य योनियो मे विवेक का साधन नहीं, ऐसा जानकर हमेशा मन मे सुखासक्ति निर्मूल करने की ओर परमपद-प्राप्ति की चेष्टा रखनी चाहिए। यदि विषय सुखो के त्याग का प्राणपण से प्रयत्न न किया गया तो जिस अविनाशीपद की प्राप्ति-हित मनुष्य-देह मिली है, वह सार्थक न होगी, फिर जैसे खग-मृग, बैल, बन्दर, कीट आदि तुच्छ जीव भोगों में रमण कर जीवन-फल मानते हैं वैसे ही उत्तम मनुष्य देह पाकर भी भोगों मे सुख मानकर भोगो की चाहना मे दिन बिताने लगा तो उससे और पशु मे क्या अन्तर रहा! फिर तो मनुष्य-चोला पशु के ही रूप मे जानिए। यो तो बालक भी मिट्टी और लकडी के खेल मे सतुष्टि मानकर मिट्टी से भाँति-भाँति के रोटी, दाल, भात बनाकर परस्पर खाते-पीते-खेलते हैं। ऐसे खेलों में जीवन का अमूल्य समय गवाँ देते है, परतु उससे भूख और तृष्णा दूर नहीं होती, केवल परिश्रम ही परिश्रम हाथ आता है। धूल व्यापार रचते-रचते जब बालक थक जाते, तब कहते हैं कि "जो न खेल बिगाडे उसके घर मे साँप" ऐसा कहकर सब बालक अपने-अपने खेल को बिगाड़ कर अपने-अपने घर भाग जाते है। पुन शीघ्र ही भूख-प्यास से आतुर हुए माता से रोटी-दाल-भात माँगते हैं, तनिक भी विलम्ब होने पर रोने लगते हैं। यद्यपि वहाँ मिट्टी के खेल मे सब व्यजन[1] बनाकर जीम आये थे, परन्तु यहाँ उक्त भोजन का कुछ फल नहीं, ऐसे ही धूल खेल मे दिन गया। यह बात युवक मनुष्य जानते हैं कि लडके बेकार ऐसे ही समय खो रहे हैं, इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष ससारियो के बर्ताव को देखकर इनकी बालवत चेष्टा-धन्धा को व्यर्थ समझते है। जवान मनुष्य रमणी-रमण मे, कोडी-सग्रह मे, लोकनायक बनने में और जगत-ऐश्वर्य मे, ऐसे विजाति जड खिलवाड मे सारी जिन्दगी बरबाद कर रहे हैं। इन मायावी भोगो से जीव की किंचित भी तृप्ति नहीं है। परन्तु मायासक्त बालबुद्धि रक्खे हुए मनुष्य यह कभी नहीं कह सकते कि ये विषय-व्यापार निरर्थक है, क्योंकि बालको के खेल सदृश वे अपने को होशियार से होशियार मानते हुए अपने-अपने मनोमय व्यापार को सत्य ही समझते हैं। इस भोग-खेल को वही मिथ्या समझते हैं जो भोग-जाल से पृथक हैं, पारखी हैं॥ २॥

दु ख मिटाने सुक्ख चहाने यही हिताने आश धरी।
सो तब नाहीं देखि पराहीं सपनेहुँ नाहीं दुःख टरी॥
सुख चाह न पूरी दु ख न दूरी रहा हजूरी दुःख भरी।
हेतु सो कौना चाह तजौ ना मति तब छौना जौन करी॥ ३॥

टीका—कामना, परिश्रम, अतृप्ति, ये त्रिविध दुख मिटकर मुझे अखण्ड सुख की प्राप्ति हो, यही आशा रखकर सम्पूर्ण देहधारी जीव क्रिया कर रहे हैं, किन्तु, "वस्तू अन्त खोज अन्ते, क्यो कर आवे हाथ" के समान विषय विलास से उन प्राणियो का दुख छूटने के सिवा अभाव, अतृप्ति तथा तृष्णा बढती जा रही है। स्वप्न मे भी सकामीजनो के दुख का अभाव नहीं होता, क्योंकि विषय-विलासो से सुख-कामनारूप भूख दिनोदिन पुष्ट हो रही है। जब सुख चाहना पुष्ट हो रही है तब उसके सम्बन्धी परिश्रम, चिंता, भार, परवशता, अभाव

अतृप्ति, असमजस, शोक, मोह और आवागमन जीव के सामने प्रत्यक्ष बने ही है। इसलिए हे समझदार मनुष्यो! क्या कारण है कि तुम विषयो के त्याग करने मे तत्पर नही होते! यदि शिश्नोदर ही के लिए मनुष्य तन समझ लिये हो तो तुम्हारी बुद्धि उस बालक के समान ही है जो कि धूल-खेल मे तृप्ति मानकर रात-दिन काटता है, परन्तु उसे धूल के व्यजन से तृप्ति कहॉ! वैसे ही जगत-क्रिया, जगत-विहार और जगत-बडाई करके नित्यस्वरूप पर पर्दा डालने वाले की दशा जानना चाहिए॥ ३॥

साखी—नहिं कोइ काज जहान मे, जौन करत सब कोय।
मिथ्या समय गुजारते, काज न जानत सोय॥

टीका—इस जगत मे विषय-विलास और वाणी जाल का जहॉ तक व्यापार है, सब निष्प्रयोजन दुख-मूल है, मिथ्या चल-विचल क्षणिक है। सुदरता, कोमलता, स्वादता, मधुरता, सुवासता ये सब मिथ्या हे। मिथ्या इसलिये है कि जीव के अज्ञान और कल्पना आदत मानन्दी से यह एकक्षण आनन्दमय प्रतीत होते है, दूसरे क्षण उन्ही से भ्रमभास चिता कल्पना अनन्त दुख होने लगता हे, इससे जाना गया कि जड-विषयो से न तो चेतन जीव का कोई वास्तविक नित्य सत्य जातीय सम्बन्ध है न जड-ग्रन्थि मे कुछ सुख-शान्ति है, प्रत्यक्ष छिन्न-भिन्न जड दृश्यो मे आसक्ति, तृष्णा, चाहना, कामनाये बनाकर जो-जो काज जीव करता है सो सब जगत-सस्कार पुष्टि द्वारा आवागमन का मूल है। अत भोगो मे भटकना अकाज है, अकाज को काज मानकर बालवत मिथ्या मे लोग दिन गवॉ रहे हैं। गुरु सत्सग के बिना स्वस्वरूपस्थिति और तिसके साधन विवेक-वैराग्यादि मुख्य कार्य को जीव नही जानते।

दृष्टान्त—एक किसान खेती करना, खाना-पीना इसके सिवाय अन्य और कुछ नही जानता था। किसान की स्त्री भी उसी के समान भोली-भाली थी, घर का काम करने के सिवाय दुनिया किस कोने मे बसती है, इसका भी उसे ज्ञान न था। उसका एक लडका था, वह बारह वर्ष का हो गया था, वह भी मन्द बुद्धि का था, खेल-कूद मे ही दिन का बहुत सा हिस्सा निकालता था। एक नया मनुष्य उस गाँव मे आकर उसके पडोस मे बसा। उसके दो लडके थे, एक दस वर्ष का और दूसरा आठ वर्ष का। वे दोनो पुस्तक पढ रहे थे। किसान की स्त्री उन दोनो लडको को पढते हुए देखकर मन में सोचने लगी कि मेरा लल्लू भी पढ जाय तो कैसी अच्छी बात हैं! ये लडके तो उससे छोटे हैं, कैसा पढते है! घर मे आकर उसने अपने लडके से कहा—लल्लू! हमारे पडोस मे जो नया मनुष्य आकर बसा है उसके दो लडके तुमसे छोटे है, वे किताब खूब पढते हैं, तू भी पढता होता, मदरसे मे पढने जाता होता तो मै तुझे पढता हुआ देखकर बहुत प्रसन्न होती। मदरसा कुछ दूर भी नही है, आध कोस है। "लल्लू तू कबसे मदरसे जाकर पढने लगेगा?"

लडका बोला—हॉ! हॉ! पढ तो लूॅ पर वखत तो होय! मुझे फुरसत ही कहॉ है! देख! सबेरे से सॉझ तक अपने सब समय को गिनाता हूॅ। सबेरे आठ बजे तो खाट पर से उठता हूॅ। आठ बजे से पहले तो मुझे उठा ही नहीं जाता। मै बच्चा हूॅ, इसलिए मुझे नींद बहुत आती है। उठ कर आधा घन्टा तो दातून-कुल्ला मे जाता है। दातून-कुल्ला न करूँ तो तू चिढ-पुकार करती है। फिर कलेवा करने बैठता हूॅ,उसमे भी खासा आधा घन्टा लग जाता हे, नौ बज गये। अब बैल, भैंसो को पानी पिलाने जाता हूॅ, उनके बॉधने-छोडने, जाने-आने मे पूरा घटा लग

जाता हे, वजे दस। अव दो घटे मेरे खेलने के हं। सव लडके खेलते हें, ठनके साथ मैं भी खेलता हूँ। म खेलूँगा नहीं तो वीमार पड जाऊँगा। वजे वारह। अव रोटी खाने का समय हुआ, रोटी खाकर हुक्का-तम्वाखू पीता हूँ, पीछे दो घटे सोता हूँ, वजे तीन। मव लडके तैयार होकर खेलने को आ जाते हैं, दो घटे खेलता हूँ, वज गये पाँच। फिर मैं ढोरो को पानी पिलाने ले जाता हूँ, वजे छह। तुरन्त ही वियारू करता हूँ और हुक्का-तम्वाखू पीकर सात वजे सो जाता हूँ। तू मुझसे पढने को कहती ह, वता! कौन से वखत पढूँ? मैं भी जानता हूँ कि पढ जाऊँ तो अच्छा ही हे। पर पढूँ तो कमे पढूँ? किस समय पढूँ? इनमें से कान सा काम न करूँ? क्या खाऊँ नही? खेलूँ नहीं? क्या ढोरो को पानी न पिलाऊँ? मुनने वाले की वुद्धि जड थी। लल्लू ने मव हिसाव ठीक-ठीक वता दिया। माता कहने लगी—हाँ ठीक हे! लल्लू को फुरसत ही कहाँ ह! अभी वच्चा है, खेलेगा अवश्य! लडके के हिसाव से सतुष्ट होकर फिर ठसने कभी लडके से पढने को न कहा। ठीक इसी प्रकार मनुष्यो की दशा है। अपना सारा समय उसी विष विपय-सेवन रूप खेल मे गवॉ देते ह जिसमे ठनके शरीर के रग-रग में नशा सवार हो जाता हे। फिर वे ऐमे-ऐसे कार्य करते ह, जिनसे उनकी परतन्तता, वन्धन, शोक, दुख, दीनता आदि वढती ही जाती ह, विपुल जन्मो तक भोगे नहीं सिराती।

पद—*दिन न फुरसत काम सेती, रात नींद विहार रे॥*
काम नींद मे नीच तोको, ताप भट्टि तयार रे॥
तव तुझे मिलिहैं भले, छुट्टी जो मोत करार रे॥
यमराज जो आसक्ति हे, तोहि खेंचि वोरे धार रे॥
चव तरफ से ताप तय मे, हाय-हाय कहार रे॥
वाल खाल सँवारने ओ, भोग रग खेलार रे॥
तिसमे तुझे छुट्टी भले, जो दाद खाज अजार रे॥
वालपन तो खेलि खोयो, ज्वानि रमणी लार रे॥
वृद्ध तन सव शोग रोगी, खेल-खेल खिलार रे॥
तू खेल तज दे रे खेलाडी, आप आप सम्हार रे॥
वस सदा तू मुक्तरूपी, प्रेम हो भव पार रे॥

प्रसंग ६—विषय हलाहल

शब्द—१३

चढावै जीव जहेर विपय सुख भोग॥ टेक॥

सुख चेष्टा जव सनमुख आवै, दुखिया विन संयोग।
योग करै तव अधिक सतावै, योगहिं योग अयोग॥ १॥
तव तडफे छूटन के ताई, विना उपाय सुयोग।
मानत तवहुं सुखहिं तहँ निश्चय, ज्यो त्यो वह ही भोग॥ २॥

अत थकै तब क्रिया रुकावै, धारे मन मे रोग।
पूरब चेष्टा भोगहुँ चेष्टा, अन्त बीज उपभोग॥ ३॥
तीनि काल दुख ही दुख दीखत, यह भ्रम भूल को रोग।
बिन त्यागे दुख जाय न कबहूँ, सहै नित्य को शोग॥ ४॥
यही मोह अँधियारी माया, अन्य न माया कोग।
माया मानि अन्त कहुँ निश्चय, भरमि रहा सब लोग॥ ५॥
अमित काल विषयन के चक्कर, जहँ जहँ देह धरोग।
सचित सुकृत उदै गुरु मिलिगे, निज की दृष्टि घुमोग॥ ६॥
समझि मिली अपनी तब करनी, जो दुख हेतु रचोग।
रहा हमेशा निज को ऐसा, बिन गुरु नाहिं लखोग॥ ७॥
अब जो सजग रहौ नहि पद मे, मो सम कौन अधोग।
गुरुवर कृपा भई जो मुझ पर, सो समझन के योग॥ ८॥
धन्य यथारथ पारख गुरुवर, काटि भरम उद्योग।
ठहरि रहै जो आप आप मे, ज्ञान ध्यान वहि होग॥ ९॥
कहै सुनै औ पुन बिचारै, धारै सोई तरोग।
बिन गुरु पारख दु ख न जावै, कोटिन कोटि उपोग॥ १०॥
देखि बिशाल दुखहिं दुख चहुँदिश, तन मग ध्येय हटोग।
गुरु पद अचल होन की कोशिश, सत सहाँय चहोग॥ ११॥

टीका—सुख माना हुआ विषयभोग ही जहर है, वे भोग-सुख ही जीव के ऊपर अज्ञान-आसक्ति का नशा सवार कर देते हैं। उसी नशा के कारण जीव स्वरूप से बेभान हो रहा है॥ टेक॥ जब विषय-सुख की इच्छा जीव के सामने होती है तब उसके वश होकर इच्छित पदार्थ का जब तक सयोग नहीं होता तब तक अत्यन्त दुखी रहता है। जब इस दुख को मिटाने के लिये भोग पदार्थ का सयोग करता है तब कामना अधिक सताती है। जितना-जितना विषयो के सेवन मे प्रवृत्त होता जाता है, उतने-उतने वेग से इच्छा आगे बढती है। अत· विषय मिलते हुए भी न मिलने के समान ही रहते है॥ १॥ फिर भोग विषयो मे प्रवृत्त हुआ भोगी जीव अधिक-अधिक इच्छा-ज्वाला से जलता हुआ इच्छा-जलन से छूटने के लिए जल से रहित मछली के समान तडपता है। अब आगे उसे कोई उपाय ही नही सूझता कि किस प्रकार इस इच्छा ज्वाला को हम शात करे। जब भोगो को भोग ही रहा है तब भी इच्छा आगे बढ रही है। इच्छाग्नि से असह्य दुख का अनुभव करते हुए भी आगे उपाय न देखकर फिर-फिर उसी भोग सुख ही को विवशता से जैसे-तैसे सुख निश्चय कर भोगता है॥ २॥ जब भोगते-भोगते अत मे देह की शक्ति क्षीण हो जाती है तब लाचारी से भोगक्रिया बन्द हो जाती है। शक्तिहत होकर भोगक्रिया रुक तो गयी परन्तु उसी की आदत और पुष्ट हो जाने से कामना-व्याधि जीव को लगी ही रहती है। भोग भोगने के पहिले भी इच्छा का दुख, भोगते हुए भी और-और इच्छा की प्रबलता का दुख, अत मे शक्तिहत होकर सब इच्छाबीज दुख हेतु सिमिटकर टिक रहती

है। फिर शक्ति आते ही वही इच्छा प्रवलता से सामने होकर फिर-फिर विपय-क्रिया मे डालती रहती हे ॥ ३ ॥ पूर्वोक्त आदि-अत-मध्य, भूत-भविष्य-वर्तमान तीनो काल मे विषय भोगो से इच्छा वढने के कारण विपयभोग स्पष्ट दुखरूप दिखाई देते हैं। नित्य स्वरूप की भूल ओर भ्रम मे ही इच्छा-कामना का रोग जीव के पीछे लग रहा ह। अत. भूल-भ्रमकृत वाम-स्पर्शादि विपयो को छोडे विना कभी जीव का दुख छूट नहीं मकता। इतना ही नही, यदि यह ईश्वर, व्रह्म, देव, देवी,भगवती, चतुर्भुजविष्णु, तिनेत्र शिवादि ध्यान मे समाधि लगा ले तो भी उन वृत्तियो का ज्ञाता, साक्षी, परीक्षक, ध्याता, भासकर्ता उन भाममय जड वृत्तियो से पृथक ही रहेगा। मन, इन्द्रिय, अवस्था, नाम, रूप आदि का द्रष्टा मर्व मे पृथक है, श्रेष्ठ है, नित्य प्राप्त है। स्वय का विवेक न करने के कारण ही विषयो की कामना मे जीव सदैव दुसह दुख पा रहा ह ॥ ४ ॥

इसी का नाम मोह ह, अज्ञान ह। अधकार ओर माया भुलावे का रूप भी यही हे। भोग आर सुखमानना नाम-रूप, रटन-लगन छोडकर और कोई माया का अन्य रूप नहीं है। इमे ही माया न मानकर अन्य कहीं अनिर्वाच्य, दुस्तर, प्रेरक माया मान कर मव जीव भटक रहे हैं। यथा—"माया मोह वँधा सब लोई। अल्प लाभ मूल गा खोई ॥ मोर तोर मे मव विगुर्चा। जननी गर्भ वोद्र मा सूता" ॥ वी० ॥ ५ ॥ अनन्त काल से उपर्युक्त जहाँ-जहाँ जिम खानि मे जीव ने देह धारण किया वहाँ-वहाँ इन्हीं दृश्य विपयो के भुलावे मे पडा रहा आर कही भी विपय-वासनारूप महामाया के फन्दे से छूटने का मार्ग न मिला। अव इम अमूल्य देह मे पूर्व जन्मों के शुभ कर्मो के मचित पर्त खुल गये, जो पारख प्रवर मद्गुरुदेव से भेंट हो गयी आर कृपा करके भूले-भटके जीव के लक्ष्य को मन-मानन्दी मायाजाल से घुमा दिये ॥ ६ ॥ मद्गुरुदेव के परखाने से अव अपनी भूलकृत कुचाल जानने मे आ गयी। हमने ही अज्ञान वश विपय की कामना आर नाम रटन, शून्य ध्यान, विपय क्रियारूप दुख गढ लिया था। पूर्व व्यतीत अनन्त काल से ऐमे ही भूल-शूल मे मेरे दिन जाते रहे। अहो! कामना ओर विपयकृत दुसह दुख भोगते हुए भी दुख से छुटने की युक्ति आज तक न मिली। युक्ति तो दूर ही रही, मद्गुरुदेव के विना यही नहीं निश्चय हुआ कि यह विपयभोग, विजातिभास की कल्पना सर्प-वीछी के विप से भी भयकर दुख हेतु वार-वार जन्म-मरण ओर सर्व आपत्ति का रूप ही हे ॥ ७ ॥ मद्गुरु की शिक्षा पाकर भी वर्तमान मे भूलजनित विपय-चक्कर से मावधान होकर जो अपनी पारख भूमिका मे स्थिर न रहूँ तो हमारे समान कोन हतभागी होगा! हे पारख गुरुदेव! आपकी मुझ दास पर वडी दया हुई, जो माया से पृथक स्वरूप को परखा दिये।

दोहा—*"विद्या वल धन रूप यश, कुल सुत वनिता मान।*
सभी सुलभ ससार मे, दुर्लभ निज को ज्ञान" ॥ सतो० ॥

ऐसे दुर्लभ स्वरूपज्ञान का सुलभता से वोध दे दिये, आप गुरुदेव के ऐमे अनत उपकार को हृदय मे धारणकर यह दास स्मरण करता रहेगा ॥ ८ ॥

धन्य हैं ऐसे माननीय सर्व परीक्षक सद्गुरु पारखी! आप जीव के भूल-भ्रमजनित व्यापार को काट कर मफाई कर दिये अर्थात ज्यो का त्यो सत्यासत्य परखा दिये। अव इस गुरु पारख को लेकर नि सदेह स्थित हो रहना है। यह जड-चेतनमय विश्व प्रपच निज-निज गुण धर्म युक्त उत्पत्ति-विहीन अनादि ही है। देहधारियो मे जड-चेतन का सम्वन्ध भी प्रवाहरूप

अनादि है। जड तथा चेतन की पृथक-पृथक समझ दृढ कर लेने पर वासना बीज दग्ध हो जाता है। दया, क्षमा, सत, धीर, विवेक, वैराग्य और गुरुभक्ति के अगो की पूर्णरूप धारणा बनाकर मनोद्रष्टा अभ्यास करते रहना स्वयं मे ठहर जाना है। जो स्वरूपस्थिति का अभ्यास करे तो उसी का ज्ञान-ध्यान सार्थक है, नही तो सब स्वप्नवत व्यर्थ है॥ ९॥ यदि पारख गुरु की निर्णय बाते सादर सुने, कथन करे, वचनामृत का बारबार विचार करे और उसी के अनुसार धारणा बनावे, तो वह सहज ही ससार-सागर से पार पा जावेगा, विषयासक्ति माया को जीत लेगा। अत॰ पारख गुरु की शरण गये बिना चाहे कोटि-कोटि खानि-बानी भासकृत युक्तियाँ रचे, सिवा दिनोदिन बन्धन बढने के कभी जीव का देहोपाधिकृत दुख दूर नही हो सकता॥ १०॥ गुरुदेव के कृपाकटाक्ष से इस जगत मे चारो ओर दुख ही दुख की झडी देखकर हमारा विषय सेवन-मार्ग से सुख निश्चय हट गया। अब गुरुपद मे अचल होने के लिये जी-जान से प्रयत्न मे लग रहे हैं। इसमे मुख्य पारखी सतो का सत्सग ही प्रधान सहायक है। अतः यह दास अचल स्थिति के सर्व प्रयत्न सहित सद्गुरु और सतो की सहायता चाहता है जिससे विवेक, वैराग्य, सेवाभाव से स्वय पारखस्थिति एकरस दृढ हो जाय॥ ११॥

संतो की कृपा से ही अज्ञान निद्रा भग होती है

दृष्टात—एक पल्टूराम नामक मनुष्य कभी-कभी सत्सग मे आया करता था। उसे जगत बन्धनो की कुछ परीक्षा होने लगी थी। इतने मे कुसगवश उसका सत्सग छूट गया। जब उसका ध्येय ही बदल गया, तब छुट्टी मिलते हुए भी वह सत्सग मे कैसे आ सके। एक दिन उसे कही सत मिल गये। उसने प्रणाम-बन्दगी किया। सत दयाभाव करके बोले—बहुत दिन हो गये सत्सग मे नहीं आते हो। पल्टूराम—क्या करे महाराज। छुट्टी नही मिलती। सत—तुमने मुख्य कार्य क्या समझ रखा है? क्योकि मुख्य कार्य छुट्टी मे नहीं किया जाता। छुट्टी मे तो वही काम किया जाता है जिसके बिना कोई विशेष कार्य न रुका हो, जो फालतू हो। पल्टूराम—इस समय तो मेरा मुख्य कार्य स्वार्थ ही हो रहा है। सत—स्वार्थ किसे कहते है? पल्टूराम—शरीर-इन्द्रिय सम्वन्धी जितने व्यापार है, जैसे—स्त्री, पुत्र, घर, धन आदि पॉचो विषयो के सुख भोग स्वार्थ है। सत—ये सब किसके लिए करते हो? पल्टूराम—अपने लिये। सत—सुख क्या समझते हो? पल्टूराम—सुख तो इसी मे है कि अधिक से अधिक सख्या मे इन वस्तुओ की प्राप्ति हो, जैसे—

कवित्त

धन दौलत बढाई बहु महल चुनाई बहु, सन्तति जनाई मन चाह भोग लाई है।
वैरिन भगाई सुविलासिनी रमाई वश, किये देश राई मेरी बडी प्रभुताई है।
दास दासी रेल तार बिजली से कारबार, कहैं सब सरदार जीत पत्त पाई है।
गज बाज मोटर मशीन यन्त्र सोटर सो, आपकी कृपा से मम जग यश छाई है॥

सन्त—जिन्हे ये सब प्राप्त है क्या वे सब सुखी है। पल्टूराम—हॉ। सुखी होगे। सत—उन्हे किसी बात की कमी, प्रतिकूलता या आसक्ति तो नही है? पल्टूराम—उन्हे तो तमाम कमी है। सत—तुम्हारी बिलकुल नासमझी है, जहॉ राजस-तामस ईर्ष्या-द्वेष सहित विषयाग्नि धधकती हो वहॉ सुख कैसा? सुख तो दुख निवृत्ति का नाम है। दुख प्रतिकूलता है,

प्रतिकूलता जीव को चचल करती हे। जव बालक को भी इच्छा वेठने नहीं देती, तब वह धूल का खेल रचकर उसमे उलझने से सुख मानता है। दुख तो इच्छा का हे। इच्छा भोगो से वन गई है। इच्छा का मारा मनुष्य भोगो से ही इच्छा दुख निवारण करना चाहता है। तो यह कभी हो सकता हे? अच्छा! ओरो की वात तो जाने दो, तुम अपनी ही वताओ। धन, जन और माया मे किसी पडोसी से विशेष हो या नहीं? पल्टूराम—गाँव भर मे मैं सवसे विशेष हूँ,'सेठ' ऐसे नाम से प्रसिद्ध हूँ। सत—तुम्हे तो कुछ दुख नहीं होगा? पल्टूराम—अहो स्वामी! अपने दुख की वात क्या कहूँ! कई दुश्मनो का सामना है। मुकदमा चल रहा है। जीत-हार का खटका सवार है। वेटी सयानी हो गई हे, अव उसके विवाह की चिंता हे। पुत्र बीमार हे, स्त्री अनुकूल नहीं हे। एक वडी भारी भैंस थी, वह भी मर गई है। हिस्सेदार भाइयो ने झगडा मचाया है। झूरा पड जाने से खेती मे भी वहुत घाटा पडा। एक यही लाभ हे कि कपडे की दुकान है उसमे लाभ अच्छा हे, परन्तु मर्जी माफिक लाभ नहीं हुआ।

सत—तुम्हारे नीचे वाले तुमको सुखी देखते होंगे, परन्तु उनसे तुमको दुख कम नहीं, कुछ विशेष ही ह। पल्टूराम—वे गरीव चाहे किसी क्षण कामकाज के परिश्रमादि से निवृत्त ही हो जायॅ, पर हमे तो सोते तक चिंता सवार ह। सत वोले—फिर सुख के कारण मायावी पदार्थ कहाँ हुए? पल्टूराम—फिर सव छोड दे तो क्या हो? सन्त—सव छोडकर भागने के भाव से हम कह रहे हैं या सुधार के विचार से, सो तुम विचारो तो सही? तुम्हारा कहना तो ऐसा हुआ कि जैसे कोई किसी अधिक भोजन करने वाले आलसी से कहे कि हिसाव भर खाया करो और परिश्रम किया करो। इस पर वह क्रोधित होकर कहने लगे कि कहो न खायँ, काम ही किया करे। विचार करो। उसका कहना कहाँ तक सच है! क्या कहने वाले का भाव विलकुल न खाओ है? नहीं, उसकी भलाई के लिए कहना हे क्योकि ''भोजन करिय तृप्ति हित लागी। जिमि सो अशन पचवे जठरागी॥'' ऐसे ही शक्ति के अनुसार निर्वाह हेतु व्यवहार और परमार्थ का कार्य करने ही से मनुष्य धीरे-धीरे कल्याण प्राप्त कर सकता हे। सतो का उपदेश क्या हो गया मानो अज्ञानियो के लिए वाघ-भेडिया पकडना। ऐमा समझने वालो की ससार मे कमी नहीं ह। जो सत्सग से दूर हें, वे सन्तो का मर्म क्या जान सके! सन्त सवको एक लाठी से नहीं हाँकते। स्त्री-पुरुप, वालक-जवान, रागी-विरागी सव उनके सत्सग मे आते हैं, जो जिस प्रकार अपने यथार्थ हितमार्ग की ओर वढ सके, धीरे-धीरे उसे परमपद प्राप्त हो जाय, ऐसी शिक्षा वे करते हैं। हाँ! सन्त जन मनुष्यो को नीचे मार्ग से ऊँचे ले जाने का प्रयत्न करते ही रहते हैं।

यद्यपि स्वय स्वरूप से पृथक ससार के समग्र पदार्थ सवके लिए दोपरूप हैं, तथापि जव कोई परदेश मे जाकर वहुत लाभ नहीं उठा पाता, तो कम से कम जमा रखने की तो कोशिश अवश्य ही करता है। इसी प्रकार सव एकदम त्यागी होकर जो जीवन्मुक्त दशा को नहीं प्राप्त हो सकते तो कम से कम मनुष्य के धर्म-कर्म धारणारूप जमा की तो रक्षा कर ही सकते हैं, फिर मुक्ति भी प्राप्त कर लेगे। विचार करो! इस देह और ससार का सम्वन्ध परदेश के समान ही है। यहाँ प्रतिक्षण कूच का डका वज रहा है। इस पल मे नहीं तो दूसरे पल मे अवश्य कूच हो जायेगा। अच्छा! यह वताओ कि तुम जीव को देह से भिन्न समझते हो या नहीं? पल्टूराम—अवश्य देह और जीव दो हें। देहयुक्त जीव जैसा कर्म करता हे वैसा ही पुनः शरीर धारण करके भोगता ह, ऐसा मुझे निश्चय है। किन्तु वहुत दिन से सत्सग मे न आने से बुद्धि पर पर्दा पड गया ह। कृपया आप पारमार्थिक वाते सुनाकर मेरी बुद्धि का आवरण हटाइए।

संत—जीव चेतन है, देहादि का जानने वाला है। जिसको जानता हे, त्याग-ग्रहण करता है, जिसमे दुख-सुख मानता है, वे सब पदार्थ दृश्य जड़ हैं और जो दुख-सुख मानने वाला है, वह द्रष्टा चेतन है। यद्यपि जड़तत्वो से अनेक पदार्थ बनते हैं, परन्तु वे पाँच विषययुक्त जडतत्वो से पार नहीं जा सकते और चैतन्य जीव तो जड पाँचो विषयो को जानता, मानता, त्याग-ग्रहण करता रहता है। यह सकल भावाभाव वृत्तियो का ज्ञाता है। मन की समग्र वृत्तियो को देखता है। देह सुख के लिए बाह्य वस्तुओ का त्याग-ग्रहण करता है और मन सुख के लिए देह को नहीं समझता है तथा अपने सुख-शान्ति के लिए मनोनाश कर देता है। इन वातो से खुलासा अनुभव है कि देहादि सर्व दृश्य से पृथक चैतन्य स्वय सत्य अखण्ड है। ऐसे जीव की देह छोडकर क्या गति होगी? तो सुनो! यदि देह और देह सम्बन्धी पदार्थों मे सुख मानना ही वना रहा, तो शुभाशुभ सकाम कर्म बनते रहने से संस्कार द्वारा बारम्बार देह धारण करके जगत के समस्त दुख भोगने ही पडेगे। यदि सत्सग करके स्वानुभव से देहादि दृश्य प्रपच से स्वरूप को न्यारा समझ सब मे दुख दर्शन द्वारा सबका अभाव कर दिया गया तो बोध-वैराग्य द्वारा वासनाबीज भून देने से जीवन्मुक्ति के पश्चात सदा के लिए विदेहमुक्ति मिल जायगी। इसलिए जो मुक्ति स्थिति अटल और विश्रामरूप है, जहाँ अत्यन्त दुख की निवृत्ति है, जरा-मृत्यु तापरूप देहादि का जहॉ लेश नहीं ऐसी अविनाशी स्वरूपस्थिति की प्राप्ति का दृढ ध्येय मनुष्य को बनाना ही परम कर्तव्य है। उस ध्येय को पूर्ण करने के लिये रहनी की सब युक्तियो का पालन करने मे कटिबद्ध होना चाहिए। साथ ही विघ्न, बाधा, लत-आदत कुसगो से हटकर कर्तव्यपरायण होना चाहिए। निश्चय है कि यथार्थ कर्तव्य मे लगे रहने से कमी अंग पूर्ण हो जायेगे। अत: यह स्मरण रहे—हम मनोवासना से जो पराजित हैं, अपने ही अविवेक तथा आलस्य के कारण। अब हम मनोवासना को जीत कर एकरस बोध मे शात हो रहे हैं। हमे सदा स्मरण रहे—

दोहा—*आश्रम करु तो भक्ति करु, सत्सगति लौ लाव।*
की तो करु वैराग्य दृढ, दोउ बिन खाली दावँ॥

इतना सुनकर जाग्रत हो पल्टूराम प्रार्थना करने लगा—

भजन

धन्य गुरू धन्य गुरू धन्य गुरूजी। नौमि गुरू नोमि गुरू नौमि गुरू जी॥ टेक॥
दीनबन्धु ज्ञानसिधु कर्णधार हो। धैर्यवान बोधधाम जन अधार हो॥
शर्ण गुरु शर्ण गुरू शर्ण गुरूजी॥ १॥

दिव्य दृष्टि सत्य पुष्टि निर अधार हो। अमोघ शक्ति वर विरक्ति नित विचार हो॥
पर्ख गुरू पर्ख गुरु पर्ख गुरूजी॥ २॥

श्री कबीर धीर बीर भीर पार हो। हरन मान सुखनिधान पाप क्षार हो॥
पर्म गुरू पर्म गुरू पर्म गुरूजी॥ ३॥

गुरू विशाल हो दयाल विघ्न टार हो। प्रेम दास पूर्ण आश करके तार हो॥
तर्ण गुरू तर्ण गुरू तर्ण गुरूजी॥ ४॥

चौ०—अहो साधु गुरु मोहि जगाये। पलटत पलटुहि शरण लगाये॥
जननी जनक बन्धु सुत वामा। कोउ न पाठ अस दीन्ह सुधामा॥
गुरू सत सम को हितकारी। शरण-शरण मैं शरण तुम्हारी॥
पलटे नहि तव पद से साहव। यही प्रेम नित मोर निवाहव॥

इत्यादि प्रार्थना सहित पल्टूराम एकरस उपासनायुक्त साधना मे लीन हो अपनी मुक्ति-दशा को दृढ कर लिया। देखिए! ऐसा सत्सग का प्रभाव होता ह। हे प्रिय! तुम भी सत्सग का सेवन करो।

शव्द—१४

चेतन आपु बन्यो यह लवरा॥ टेक॥

शव्द अवाज सुनत भयो चंचल, सकल भरम सचरा।
थिति न लहत कहुँ धाय सकल दिशि, विन दुख के दुख सवरा॥ १॥
पवन परश सव जीव भुलावै, रचेउ चाह झगरा।
स्ववश स्वतत्र छूट पद निज से, प्रगट बिवश दुख सगरा॥ २॥
अग्नि प्रकाश रूप सव सनमुख, देखि जीव फँसरा।
उष्ण शक्ति से तृषा दुखावै, वारि सरूप सवहिं लागै सुँदरा॥ ३॥
स्नान पान मन हरषि लोभावे, स्वाद विवश नित दुखरा।
खट्टा खार औ कटुता मीठा, रसना भोग जात जिव रगरा॥ ४॥
पुष्प सुगध वहुत विधि किसमन, हर्ष शोक दिन गुजरा।
इतर चाह औ गन्ध तेल की, इन वशि फूलि पचकि खुद विगरा॥ ५॥
जड तत्वन को जाल विछा है, भूलि रह्यो जियरा।
विना वोध निज रूप के अपने, नहिं ज्यो का त्यो ठहरा॥ ६॥

टीका—यह जीव सवका ज्ञाता चेतन स्वत: अविनाशी होकर भी भूलवश जड-विषयो मे लोलुप हो रहा ह ॥ टेक॥ विषयासक्ति कृत अनेक कल्पित शव्दो को श्रवण-द्वारा सुनते ही चचल हो गया, उसी मे चेतन्यस्वरूप को भूलकर नाना मत, पथ, मार्ग उत्पन्न किया। अव उन भूले मार्गों मे पडकर जरा भी कहीं स्थिति नहीं मिलती, उलटे तीर्थ, व्रत, योग, यज्ञ, जप, तपादि विविध कर्म आर यत्र, मत्र, तन्त्रोपचार तथा देवी-देवादि की उपासना करके चारो ओर दोड़ता हे। देखो! ज्ञानस्वरूप चेतन मे कोई दुख और वन्धन का लेश न होते हुए भी भूल से नाद-विन्दकृत सव दुख ऊपर लाद रहा ह॥ १॥ वायु की कला दो—शव्द और स्पर्श, उनमे शव्द का वर्णन ऊपर किया गया। मुख्य स्पर्श कोमलत्व मे मुख मानकर स्त्री-विषय तथा अग मर्दन की आदत ने ही जीव को स्वरूप से भुलाकर नाना प्रकार की चाहनाओ का झगडा कर दिया। अथवा स्पर्श-सुख-हेतु मुख्य स्त्री की कामना से सव झगडा-प्रपच वना लिया ह, उस स्पर्श की आसक्ति मे जीव की स्ववशता तो इतनी नष्ट हो गई कि क्षण भर सत्सग मे वेठने का सुपास ही नहीं मिलता। इस प्रकार स्ववशता ओर स्वतन्त्रता नष्ट करके अपनी नित्य, सत्य, स्वतन्त्र स्वरूपस्थिति से विचलित हो गया। इसी के आसक्ति-वश शरीर धर-धरकर सव

कष्ट जीव को भोगने पडते हैं॥ २ ॥ अग्नि तत्व की कला प्रकाश, जिस करके नेत्रो से सम्मुख स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी आदि नाना घटधारियो की चमक-दमक, इन्द्रियो की बनावट और पट, पात्र, आभूषण, बीज-वृक्ष आदि जडतत्वो के अनत कार्य पदार्थों की सुन्दरता देख उसी मे सुख मानकर जीव ने आशा बना लिया तथा अग्नि की उष्णता से जब तृषा सताती है तो जल को देखने मे अति सुन्दरता और पीने मे बहुत सुख प्रतीत होता है। यह भी वासना-रचित देह की विवशता सबको लेनी पडती है। अज्ञानी तो इसी को अपना स्वरूप मानता है, किन्तु ज्ञानी विजाति सम्बन्ध जानकर बेगार भरता है॥ ३ ॥ जल की कला शीतलता और स्वाद, सो जल मे स्नान कर कपडा धो और जल पीकर प्रफुल्लित हो जीवन-लाभ मान लिया है। यह नही जानता कि प्रारब्धिक रोग के निवारणार्थ औषधवत निर्वाह का ग्रहण है और निर्वाह का प्रयोजन बोध-वैराग्य आदि सद्गुण आचरण है। जीव नाना प्रकार के स्वादिष्ट, नमकीन, तीक्ष्ण, मिष्ट खाद्य पदार्थों की आदत बना-बनाकर जिह्वा के स्वाद मे रगरा एव दुखाया जा रहा है॥ ४॥

पृथ्वी तत्व की मुख्य कला गन्ध उसके विषय मे जीव इस प्रकार लबरा हो गया है—गुलाब, बेला, चमेली आदि नाना पुष्पो की सुगन्ध लेने के लिए भॉति-भॉति के हार बना के पहिनना, पुष्प शय्या पर लेटना, फूलो के बाग मे घूमना, भॉति-भॉति की सुगन्ध पाकर हर्ष, न पाने पर शोक, इसी मे इसका अमूल्य समय कट जाता है। नाना प्रकार के इत्रो और बहुत से सुगन्धित तेलो की इच्छा करके क्षण-क्षण मे फूल-पचक कर अपनी सत्य स्थिति से गिर गया॥ ५ ॥ इस प्रकार चारो ओर जड-तत्वो के पॉचो विषयो का जाल घिरा हुआ है, उसी मे जीव पक्षी की भॉति विषय-सुख की लालसा मे पडकर उन्ही जड तत्वो की कलाओ को अपना रूप मान-मानकर स्वत: निज स्वरूप को भूल रहा है। इन जड तत्वो की परीक्षा करके सर्व परीक्षक चैतन्य को अलग समझे बिना और शुद्ध रहस्ययुक्त स्वरूपस्थिति मे ठहरे बिना यह जीव चलित हो रहा है। इसका मुख्य कारण विषयो की ओर खिंचना ही है "ज्यो सुवना ललनी गह्यो, मन बौरा हो। ऐसो भरम बिचार, समुझि मन बौरा हो"॥ बी० ॥ ६ ॥

साराश—स्वस्वरूप सर्व दृश्य से पृथक है। पृथक ही होने के ध्येय से यहॉ पर आवश्यक और अनावश्यक सर्व बन्धनरूप जड-भास की परीक्षा करा कर यह बताया गया कि स्वरूप से पृथक अनावश्यक मन की क्रिया सुखासक्ति तो बिलकुल ही त्यागनी चाहिए, किन्तु जो प्रारब्धिक अन्न-जल निर्वाहिक व्यवहार है उसमे भी न फूलना चाहिए, क्योकि वह भी स्वरूप से पृथक है, बन्धन है, परन्तु प्रारब्धिक विवशता से औषधवत उसका ग्रहण है। आवश्यक प्रारब्ध यात्रा का व्यवहार लेते हुए स्वय स्वरूपस्थिति के ध्येय से सब सद्रहस्य धारण कर जीवन्मुक्त हो रहना चाहिए।

शब्द—१५

सो जड मिलि चेतन भरमि रह्यो॥ टेक॥

अग्नि बायु पृथ्वी जल देखौ, इनमे बसि यहि मानि चह्यो।
अग अंग सब आप मे मानत, थूल देह को निजहिं कह्यो॥ १ ॥
कहूँ नारि बनि पुरुष को चाहै, कहूँ पुरुष ह्वै नारि ढह्यो।
एक एक बिन सबहिं दुखित रहै, अनमिल मिलन बह्यो॥ २ ॥

देखि देखि कहुँ सुख को मानत, कहूँ वचन सुनि विषय गह्यो।
सूँघि सूँघि कहुँ मन हर्षावै, त्वचा परशि नहिं चेत लह्यो॥ ३॥
खाय खाय कहुँ स्वाद बखानै, रसना दुखहिं दह्यो।
यह सब भोग रोग बनि बैठ्यो, औषध सोइ जो बढ़त रह्यो॥ ४॥

टीका—जो सबका जानने वाला है, एकरस-अखण्ड अपरोक्ष है, उसका नाम चेतन है और जो इन्द्रिय गोचर है, दृश्य है, कारण-कार्य वाला है उसका नाम जड है। ऐसे छिन्न-भिन्न रूप जड देह मे अखण्ड चेतन वास करके निज स्वरूप को भूलकर भटक रहा है॥ टेक॥ अग्नि, वायु, पृथ्वी और जल, जो कि इन्द्रियो के आगे दिखाई पडते हैं, इन्हीं तत्वो मे बासा करके, इन्हीं को अपना रूप मानकर, पुनः इन्हीं जडतत्वों के विषयो को भोगना चाहता है। जड तत्वो का नख से शिखा तक स्थूल शरीर, उसमे आँख, कान, नाक, मुख आदि दस इन्द्रियों को अपना स्वरूप मानता है। मैं काला हूँ, गोरा हूँ, इतना बडा हूँ, स्त्री और पुरुष हूँ, देवदत्त और चन्द्रपाल इत्यादि नाम वाला हूँ, इस प्रकार नाम और स्थूल देह को अपना रूप मानता है॥ १॥ कहीं तो मानन्दीवश स्त्री का शरीर बनाया, उसमे स्त्री बना, हाव-भाव, शृंगार, कलह बढ़ाया और उसी भाँति उठना-बैठना, रहन-सहन, बोल-चाल रक्खा तथा कहीं पुरुष बना, अपना जीवन केवल स्त्रीभोग के लिए जानकर स्त्री ही मे पतित हो गया। स्त्री पुरुष बिना, पुरुष स्त्री बिना विरह मे तडफते रहते हैं। मिलते हुए भी दोनो के तन-मन-जीव अलग ही अलग रहते हैं। प्रत्यक्ष दोनो की काया पृथक-पृथक, छिन्न-भिन्न नाशवान हैं और दोनों के जीव इन्द्रियदर्शन रहित असबद्ध हे, याते दोनो अनमिल हैं, कभी सबद्ध होने वाले नहीं हैं। जो क्षणमात्र का सम्बन्ध प्रतीत होता है, वह भीतर की तृष्णा पुष्ट करता है और अनमिलता ही बनी रहती है। देखो! सदैव अनमिल का मिलना मानकर विषयधारा मे यह जीव बह रहा है॥ २॥

कहीं तो स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के सुन्दर रूप को देखकर मुग्ध होते हैं। हानि की परवाह न कर एक दूसरे के मिथ्या शरीर के अवलोकन मे दीप-पतगवत सुख मानते हैं। कहीं तो परस्पर रसिक वचन सुनकर विषयासक्त होते हैं। कहीं नाना प्रकार के इत्र, तेल, पुष्पादि सुगध सूँघकर हर्षित होते हे। फिर स्त्री-पुरुष दोनो स्पर्श करके ऐसा अचेत हो जाते हैं कि सत्सग का द्वार मनुष्य-देह पाकर भी सत्यस्वरूप को नहीं जानते। तनिक भी नहीं सोचते कि इस असार ससार से हमारा कब तक सम्बन्ध रहेगा, हमारा स्वरूप क्या है, हमारे दुख जडमूल से विनष्ट कैसे होगे॥ ३॥ देखो! कहीं भाँति-भाँति के खट्टे, मीठे, चर्परे व्यजन खाकर स्वाद की बडाई करके उनके आसक्तिवश दुख पाते हैं। पाँच विषयो की भोगासक्ति ही महान रोग बनकर जीव को लग गयी है। कामना रोग के निवारणार्थ पुनः वही भोग-क्रियारूप औषध करता है जिससे जीवो का कामना-रोग बढ़ता जा रहा हे॥ ४॥

साखी—यह सब लत निज में बनी, बिना प्रयोजन काम।
हानि लाभ सुख दुख कहूँ, हर्ष शोक मन धाम॥ १॥

टीका—पाँचो विषयों की लत शुद्ध चैतन्य ने भूल-वश बना लिया हे। इस लत से जीव की हानि के सिवा किंचित भी लाभ नहीं है। मनोमय-सृष्टि के वश कहीं तो भोग-वियोग मे

हानि मानता है, कहीं तो विषय-प्राप्ति मे लाभ मानता है, कही सुख और दुख तथा हर्ष-शोक मानता है। ये सब मान्दी मात वृथा बोझा लादकर जीव दुखी हो रहा है॥ १॥

साखी—कहूँ नेत्न बिन दुखित है, श्रवण हीन दुख लाम।
कहुँ गूँगा पछिताय मन, शिश्न बिना बेकाम॥ २॥

टीका—शरीर धारणकर कहीं नेत न होने से दुखी होता है। कहीं तो कर्ण न होने से बधिर होकर बहुत दुखी होता है। कहीं वाक इन्द्रिय मे बिगाड़ होने से बोल नहीं पाता तब दुखी होता है। कही शिश्न इन्द्रिय मे जब खराबी होती है, तब अपने को बेकाम मानकर ताहि-ताहि करता है। इन सब दुखो को देखकर उपराम हो देहवासना नष्ट करना चाहिए, जिससे कि फिर देह न हो॥ २॥

शब्द—१६

सत पथ सहन रहित जिव होइगा॥ टेक॥

मात पिता भाई की सहतै, बिना सहे नहिं बचिगा॥ १॥
भगिनी भतीजे भाभी से अरचन, नारि बिरह मे बहिगा॥ २॥
सुत बनिता के झगडे छल बल, बिपति अनेकन दहिगा॥ ३॥
सुख मानंदी चाह असंख्यन, राग द्वेष में धँसिगा॥ ४॥
काम क्रोध में जलै हमेशा, शत्रु मित्र में ढहिगा॥ ५॥
लोभ मोह भ्रम जाल बिछा है, औरहिं और को चहिगा॥ ६॥

टीका—जिन रहस्यो से जीव की अपने अविनाशी स्वरूप मे स्थिति हो उनका नाम सतपथ है। सतपथ अर्थात पारखगुरु का आज्ञापालन, इन्द्रिय-मन दमन, शील, सम, सतोष आदि रहस्यो का ग्रहण। तो इन रहस्यो के ग्रहण करने मे कौड़ी भर साधन परिश्रम न सहनकर लाख-करोड असख्यो रुपये की हानि के समान विषयासक्ति और बाणीभास के लिए अनन्त परिश्रम, चिता, अपमान, दुख सहन करता रहता है और सन्मार्ग के लिये किंचित दुख सहन नहीं कर रहा है यह जीव की बडी भारी गाफिली है॥ टेक॥ माता-पिता तथा भाई का नाना प्रकार से शासन-हुकूमत, मार-पीट सहन करना पडता है। जगत मे सहे बिना भला छुटकारा कहाँ है। ॥ १॥ बहिन, भतीजे, और भावज से अडचन, नाना मन के प्रतिकूल विरोध सब सहना पडता है, और बनिता के विरह-वेग मे तो तृण के समान बह ही रहा है॥ २॥ कही पुत्र हो-होकर मर जाते है, कही होते ही नही, होते है तो सयाने होकर कहे मे नहीं हैं, कहीं लडकी शादी करने को बाकी है, आज गृहिणी मनमानी न पाकर फूली बैठी है, कहीं आज परम प्यारी रोगी होकर मर रही या मनोहारिणी दूसरे से यारी कर रही है। इस प्रकार स्त्री-पुत्र के पीछे विवेक से देखने मे अनत छल-प्रपच, झगडे-रगडे भरे पडे है। स्त्री-पुत्र और कुटुम्बियो की मनसा की पूर्ति करते-करते पुरुष वृद्ध होकर मृत्यु के मुख मे चला जाता है, परन्तु उन सकामियो की इच्छा पूर्ण कैसे हो। जब कही मन के सुख की हद हो तब तो पूर्ति हो। जीव ऐसे ही अपनी और कुटुम्बियो की इच्छापूर्ति-जन्य अनन्त विपत्ति रूप अग्नि मे जला करता है॥ ३॥ इन्द्रियो के विषय, कुटुम्ब तथा मिथ्या नाना बानी मे सुख मान-मानकर

ही अनत चाहनाओ को उत्पन्न करके राग-द्वेपरूप दलदल में पच रहा है। स्नेह, आसक्ति, बधन, खिचाव, गाफिली ये सब राग के रूप हैं। इसी राग से सब प्रपच मे फँसकर कुशारीकीट न्याय निकल नहीं पाता। उसी से वेर, विरोध, हिसा, घात-उत्पात आदि नाना अनीति करता है। जिससे जेल, फाँसी, पचायत, मुकदमेवाजी, शोक, चिता तथा जन्मान्तर मे रोग, व्याधि, परवशता आदि सब दुखो से पीडित होता हे। सो राग-द्वेप में सकल आपदा जीव भोग रहा है॥ ४॥ काम-विपय और क्रोध ये दो भाड भट्ठी के समान हैं। इनमे पड़कर रात-दिन जीव जला करते हें। काम-क्रोध के वश मे किसी को वैरी मानकर उसका नाश करने की या उसे दुख देने की चिंता और किसी को अपना मित्र मानकर उसे खुश करने की फिक्र, इन दोनों प्रवृत्ति-कूप मे गिरकर स्वस्वरूपस्थिति से यह जीव चूक रहा है॥ ५॥ लोभ और मोह का भ्रमजाल विछाकर यह जीव उसी मे फँस-फँमकर करने को और तो कर कुछ और ही रहा हे, ध्येय रखने को और तो और ही कुछ ध्येय वना रहा हे, ऐमी इसकी वुद्धि विपरीत हो गई हें॥ ६॥

अज्ञानवश थोड़ा न सहनकर अनन्त दुख सहना

दृष्टान्त—तीन गँजेडी परदेश चले। चलते-चलते एक शहर के किनारे टिक रहे। रोटी, दाल, भात, शाक, भोजन वनाया। भोजन पाने के लिये पात्र न थे। ममीप ही मे केले की फुलवारी देखकर एक ने साथी से कहा—केले के पत्ते काट लाओ। तीनों ने परस्पर पत्ता लाने से इन्कार किया। फिर क्या हो, भोजन मिट्टी या धूल में कसे पाया जावे, चार पग चलकर पत्ता भी लाने वाला कोई नहीं। तीनों ने सलाह किया कि अच्छा! तीनो में से जो कोई पहिले चूँ या मूँ करे या कुछ वोले वस उसी के सिर पर पत्ते लाने का भार पडेगा। आलसियो ने कहा—हाँ! हाँ! यह वात पक्की है। तीनो ने मुख के फाटक ऐमा वद कर लिये कि किसी उपाय से वे खुल न सके। थोडी देर मे गाँव से कुत्ते आये। कुत्ते कुछ डरते-डरते रसोई में चले गये। तीनो देखते रहे, परन्तु पत्ते लाने के डर से किसी ने वोलने का साहस न किया। कुत्तो ने देखा कि इसमे भय नहीं हे, निधड़क सब रोटी खा गये। भात-दाल की हण्डी भी फोड-फाडकर सब जठराग्नि मे स्वाहा कर गये। शाक भी सूँघ के परस्पर लड-भिड के नष्ट कर दिये। तीनो टुकुर-टुकुर देखते रहे, पत्ते लाने के भय से वोल न सके।

शाम हो अँधेरा छा गया, आठ-नो बजे पुलिस का फेरा हुआ। एक सिपाही ने तीनों से पूछा—तुम लोग कौन हो? तीनो लोहखम्भ के समान स्थिर शरीर किये न तो वोले न हाले, पत्ता लाने के भय से तीनो वज्रबीरे बन गये। एक सिपाही अन्य दो राजदूतो को सीटी द्वारा वुलाया। तीनो कर्मचारियो ने तीनो गँजेडियो को मारा-पीटा। सव साँसत सहन करके पत्ता लाने के भय से वे तीनो मौन ही रहे। पुलिस ने दण्डगृह मे ले जाकर वन्द कर दिया। जव सवेरे दस वजे, न्यायालय मे हाकिम आया, तव इन तीनो को राजदूत ले गये और न्यायक से कहा—हुजूर! ये तीनो पक्के चोर हें। न्यायक ने वार-वार पूछा—तुम तीनो कौन हो? सच-सच वताओ, छोड दिये जाओगे। परतु तीनों पत्ता लाने के भय से कुछ न वोले। तव न्यायक ने दूतो से कहा—इन तीनो वेईमानो को वाहर करो, न जाने ये कौन हैं! ऐसा सुनते ही राजदूत ने एक का गला पकडकर जोरो से ढकेल दिया। वह तुरन्त वाहर धडाम से गिर गया, पाँव-हाथ के जोड टूट गये। तव वह पत्ता की वात भूलकर वोल उठा—दूर हो वेईमान! विना भेद जाने

ढकेलता है। इतने मे वे दोनो साथी गँजेड़ी चाकू लेकर दौडे और कहा—ले। अब तो पत्ते काट लायेगा। राजदूतो ने यह तमाशा देख, फिर उनसे हाल पूछा। तब वे तीनो ने अपनी रामकहानी कही। दो कहने लगे कि अब यह तीसरा बोला है, यही पत्ते लावे। इतनी कम अकली देखकर सब हँसने लगे।

इसे ही अज्ञान कहते है। भूखो मरना, रात भर जेल मे बन्द होना, हाथ-पॉव का तुडवाना, नाना अपमान सहकर उठल्लू बनना सब कष्ट सहन किये, परतु चार पग चलकर पत्ते काट लाने का परिश्रम न कर सके। ठीक इसी प्रकार जीव की दशा है कि खानी-बानीरूप गॉजा पीकर बेभान हो गया है, जिससे यह इद्रियो के वश सर्व सकामी नर-नारी कुटुम्बियो की दुतकार-फटकार-इद्रिय मन के खैंच मे मार-गाली सब आपदाएँ सहता रहता है, अथवा नाना कर्मकाण्ड बानी जाल की नदी मे बहकर जन्म-मरणादि त्रयताप के कठिन से कठिन परिश्रम, अपमान, शासन सहता रहता है, किन्तु थोडा पारखी सद्गुरु से सत्सग करके उनके निर्णय-न्याय मे अर्पण होकर सद्ग्रन्थ पढना, सन्मार्ग चलना, मन रोकना नहीं करता। यही जीव की भूल है कि अनत हानि सहता है, परतु थोडा परिश्रम करके अमित लाभ नहीं उठाता। सद्गुरुदेव के घेरे मे रहने के लिए अपने मन को नही अर्पण करता, बल्कि अपने मन के अनुसार चलने के लिए सद्गुरु का न्याय छोड देता है। इससे इसको अनत गुना बोझा सह-सह कर बार-बार मरना भी पडता है। यदि इसी क्षण से अपना सब मान छोडकर गुरुपद के लिए भौतिक नाम और रूप की बडाई, शरीर सुखकृत सर्व हानि-लाभ, सुख-दुख, मान-अपमान सहनकर सत्पुरुषार्थ न छोडे, तो इसका कार्य पूरा ही जान लो। बस, अब रास्ते के दुख-सुख मे न मोहते हुए सन्मार्ग मे चलना चाहिये। यह पद स्मरण रखिये—

कवित्त

केते दिन गर्भ के विविध दुख सहि लियो, केते दिन बाल हो विवश मे रहतु है।
केते दिन युवती को तान बान सहि लियो, केते दिन सकल कुटुम्ब मे दहतु है॥
केते दिन देह रोग शोग मे सहत रह्यो, अब गुरु मग वर भाग्य से लहतु है।
गुरु दरबार मे सहत नाहि काहे अब, जाहि के सहेते सब सहब मिटतु है॥

प्रसंग ७—हितैषी सद्गुण

शब्द—१७

शुभ गुण गहत चलौ हितकैया॥ टेक॥

दुर्गुण राखि नही सुख कबहूँ, नहिं निश्चिंत रहैया।
है दुर्बुद्धि जीव को घातक, नाशि परोसि करैया॥ १॥
दोउ घर घालि सुखहिं कस होवै, करौ बिचार हितैया।
सुमति सुभामिनि राखौ दिल मे, शुभ गुण सुतहि जनैया॥ २॥
निशदिन पालै पोषै तुमको, नहिं कहुँ कष्ट परैया।
करौ सुधार अपन औ औरहिं, सब सुख तुमहिं देवैया॥ ३॥

संत सोहावन वचन वतावैं, मन को चीन्हि रहैया।
अहैं सहॉयक निशदिन सब के, दिल को स्वच्छ रखैया॥ ४॥
घट वढ़ मनुष्य फूलि माया में, चिंता शोक कमैया।
थिति न लहत परि भरम समुन्दुर, बूड़ति लहरि बहैया॥ ५॥
है वड़भागी जीव जो समुझत, मानत चलत सदैया।
शुभ जीवन से देह वितावै, स्वतः स्वरूप रहैया॥ ६॥

टीका—दुख न चाहने वाले हे जीवो! हितैपी शुभगुणो को गहते हुए प्रारब्ध यात्रा पूरी करो। (१) वडो से नम्रता (२) वरावरी में समता (३) छोटो मे हितैपिता (४) दूसरे के कर्तव्य न देख स्व कर्तव्य ध्यान देकर पालन करना (५) अन्य के क्षमा की वाट न देखकर स्वय सहनशील वनना (६) स्वयं अधिकार न चाह कर अन्य के अधिकार की रक्षा करना (७) स्वार्थी न होकर अन्य के स्वार्थ को धक्का न देना (८) अन्य की ठचित वात स्वीकृत करते हुए अपनी ठचित वात वलात्कार से न मनवाना (९) वस्तु के पाने का लालच न कर उत्तम व्यवहार का महत्व देना (१०) जीवों पर दया और सवके हित का चिंतन करना (११) परायी स्त्री पुत्री, वहिन, माता तथा पराये पुरुप पिता, पुत्र, भाई समझना—ये सव श्रेष्ठ व्यवहार रखकर ही हृदय पवित्र होगा। पुन. सत-भक्त-मुमुक्षु के लिये मुक्ति रहस्य वर्णन करते हैं—(१) मायावी पदार्थो से नराश्यता। (२) सम्पूर्ण नर-नारियों से सजगता। (३) वाणी मे विवेकयुक्त मधुरता। (४) वाम-विपय से मन, कर्म, वाणी में विरक्तता। (५) प्राप्त भोगो से उदासीनता। (६) अप्राप्त की अचाहता (सन्तोप)। (७) इन्द्रिय-मन का दमन। (८) कुसंग का अभाव और (९) सत्पुरुपार्थ मे तत्परता—ये सव सद्‌गुण शीघ्र परमार्थ वढाकर कल्याण करने वाले हैं। यही शुभगुण स्वार्थ के अनीति-जनित विचारो को नाशकर शुद्ध परमार्थ मे सहायक होते हैं॥ टेक॥ इसके ठलटे मद्य-मासभक्षण, परपीड़न, चोरी, असहन, प्रमाद, अक्षमा, अदया, अधर्म, अनीति, कटुवाक्य, शृगार, कुग्रन्थ, कुशब्द, वाचालता, इन्द्रिय-लम्पटता, क्रोध और हिसा—ये सव पापाचरण दुर्गुण कहे जाते हं। इन सवो को धारणकर जीवों को न इस जन्म मे सुख होता हे न पुनर्देहरूप परलोक मे सुख होता है। स्वार्थ-परमार्थ गृहस्थाश्रम और विरक्ताश्रम में कहीं भी दुर्गुणी को सुख नहीं मिलता। दुर्गुणी कभी अचिंत्य-अभय रह ही नहीं सकता, तो उसे सुख हो ही कहाँ से। फिर उन दुर्गुणो से दुर्बुद्धि वन जाती है, विपरीत निश्चयरूप दुर्वुद्धि अपने आप ही को नीचे मार्ग मे डालकर दुख देती है और पडोसियो का भी नाश करती ह। दुर्वुद्धि से ही थोडी-थोडी वातों के लिए झगडा-दगा वहुत से फसाद हुआ करते हैं॥ १॥

भला अपने और दूसरे के शाति-घर को नाश कर कैसे सुख होगा! जव हम दूसरे को कष्ट देंगे तो दूसरा हमे क्या चेन लेने देगा! हमारी वासना ही हमे कष्ट दिया करेगी, इसलिए हृदय मे इस हितपी वात को सुनकर हे जीव! विचार तो करो ओर सुवुद्धि रूपी स्त्री को देहरूप घर मे रक्खो। वह शुभगुण—क्षमा, शीलादि पुत्रों को उत्पन्न करेगी, अर्थात सुवुद्धि रखने ही से सदाचरण वनते रहेगे। अत. प्रथम सत्सग में सुवुद्धि ही प्राप्त करने का प्रवल प्रयत्न करना चाहिए "जहाँ सुमति तहँ सपति नाना। जहाँ कुमति तहँ विपति निदाना॥" अत इन सद्‌गुणो

को निश्चय पूर्वक धारण करो। "छन्द—अक्रोध वैराग्य इन्द्री कुं जीतम्। क्षमा औ दया सर्व हितकर अभीतम्॥ निर्लोभ दाता व भय शोक तीतम्। सुबुद्धी से उत्पन्न सद्गुण सुधीतम्"॥ २॥ शुभगुण शरीरधारी को माता-पिता के समान पालते-पोषते और सदा रक्षा करते है। शारीरिक-मानसिक हर गाढ विपत्ति के समय मे ये ही सद्गुण सहायक होकर सर्व दुख-द्वन्द्वो से बचाते है। जैसे किसी ने क्रोधित होकर निन्दा-गाली या किसी प्रकार का हमारा नुकसान किया या करने को तैयार है, उसके बदले मे हम उसके समान क्रोधी न होकर विवेक से क्षमागुण का सेवन कर लिये, हमने निश्चय कर लिया कि क्षमा-सहन करने ही से सब सुख होता है। फिर तो लडाई की जड ही उखड गई, तब एकतर्फी लडाई कहाँ तक चलेगी। शून्य मे दौडने वाला थकेगा ही। इस प्रकार दूसरे से लगी क्रोधाग्नि जनित हिसा, वैर, विरोध, उत्पात, अनीति, कडवी बात और झगडा आदि सबका विनाश एक क्षमा से ही कर दिया गया। क्षमा सेवन से अपनी और दूसरे की सदा रक्षा ही रक्षा होती रहेगी। इस प्रकार सब सद्गुणो के सेवन से कही भी किसी समय मे कष्ट नही मिलता। इससे हे सुख चाहने वाले मनुष्यो। इन सद्गुणो का सेवन करते हुए अपनी और दूसरे की भलाई करो। इससे तुम्हे शारीरिक सुख तो मिलेगा ही, साथ ही पारमार्थिक सुख-शाति भी मिलेगी। जिसमे दुख का लेश भी न रहे, वह निरीच्छा, नैराश्य, अगर्ज, अभय, अचल स्वरूप की स्थिति प्राप्त होगी। इस प्रकार शुभगुण ही तुम्हे सब सुख देने वाले हैं॥ ३॥

सब शुभगुणो से विभूषित सत-गुरु है, वे मीठे, सरल, हितैषी वचन बोलते हुए तुम्हे उन सद्गुणो का लाभ कराएँगे, क्योकि वे मन-तरगो को परख-परखकर स्ववश रहते है। इस ससार मे सतजन ही निःस्वार्थ रात-दिन सबके सहायक महान उपकारी है, क्योकि वे अपने तो पुरुषार्थ करके क्रोधादि विकार रहित रहते ही है, साथ ही दूसरे के अत करण को भी स्वच्छ रखने की युक्ति बताते है।

कवित्त

शत्रु हूँ न मित्र जाके सबको समान लखि, सत उपदेश देत लखि अधिकार से।
दया क्षमा सत धीर सजग बिचार देत, घुमरि-घुमरि वर्षि श्रावण कि धार से॥
चेति के चतुर नर उर को पवित्र कर, लाग्यो अविनाशी रग छूट्यो भव भार से।
अहो मीत! तुमहूँ रँगौ न काहे याही रग, देखते ही देखते समय सब टार से॥ ४॥

ससारी मनुष्य तो चतुराई, समाज, प्रभुताई आदि की विशेषता मे फूलकर क्षण-क्षण मे और-तौर हुआ करते हैं। इस प्रकृति जनित मायावी पदार्थो मे पडकर इन जीवो की एकरस स्थिरता नही। वे भूलवश जगत भर की चिंता और वृथा शोक ही कमा-कमाकर वासनाओ की ढेरी लगाते हैं, जिससे वे भ्रम-भूल के अथाह समुद्र मे डूब-डूबकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिसा और उत्पात की लहर मे बहा करते है। ऐसो की एकक्षण भी स्थिति कहाँ है॥ ५॥ धन्य हैं साधुसग अनुरागी पुरुष। जो सत्सग मे प्रेम करके सादर सुनते-समझते ओर बार-बार विचार करके उन्हीं के अनुसार अपना रहस्य बनाते हैं। वे कभी भूलकर भी सदाचरण से पृथक नहीं होते। वे सर्व सद्गुणों से सयुक्त शरीर यात्रा पूरी करके अविनाशी स्वरूप-देश मे सदा के लिए स्थिर हो जाते है, जहाँ कि इन्द्रिय, मन, प्राणी और जडतत्व जनित कोई कष्ट नहीं, न इनसे

कोई सम्वन्ध हे। ऐसी निराधार स्थिति सद्‌गुण, सत्सग तथा सद्‌वुद्धि का ही फल हैं। अतः सुवुद्धि और सद्‌गुण की जड साधु-सत्सग को प्रयत्न से गहना ही परम पुरुषार्थ है॥ ६॥

पच श्रेणी के मनुष्य

दृष्टान्त—एक वार एक धर्मज्ञ राजा ने अपने चतुर मत्री से कहा कि एक 'अव के', एक 'तब के', एक 'तव के अव के दोनो लक्षण घटित', एक 'न अव के न तव के', तथा एक 'सदा के' ऐसे मनुष्यो को उपस्थित कीजिए। वुद्धिमान मत्री ने कहा—अच्छा! यह वात देर से हो सकती हे। मत्री सत्सगी था। सत्सग मे इस बात को तय करके राजा के यहा पचवर्ग के पाँच मनुष्य ले जाकर मत्री ने कहा—राजन! आपका उत्तर में ले आया हूँ। राजा ने कहा—समझाइए! मत्री उन पाँचो को यथायोग्य वैठाकर एक-एक की तरफ इशारा देकर कहने लगा—हे राजन! देखिए एक यह गरीव मनुष्य है जो कि तव पूर्व जन्म मे कुछ दान-सम्मान न करने से दरिद्र हो रहा हे, परन्तु अव पुरुषार्थ करके मन, कर्म आर वाणी द्वारा परोपकार मे चित्त देता हैं। लोटा भर पानी, मुट्ठी भर चना देकर प्रिय वचनो से आये हुए अतिथियो का स्वागत करता है और भी सब सद्‌गुण आचरता है। इससे यह 'अव के' जानिए या अव से सुकृत करके अव और आगे सुख पावेगा, अभी से सम्हलने के कारण ये अव के हे। दूसरे ये सेठजी लक्षाधिपति हैं। पूर्व के कुछ दान-पुण्य से अव ऊँचा दर्जा पाये हें, परन्तु अव धन के नशे मे महा तामसी होकर शिकार और व्यभिचार मे रत हो रहे हें, इससे इनको आगे सिवा कष्ट के और हाथ न आयेगा। इसलिए ये सेठ जी अव धर्माचरण-शून्य होने से 'तव के' हें, परन्तु अव के नहीं। पुनः तीसरे मनुष्य को दिखाकर कहा कि देखिए! पूर्व के सुकृत सचय से ये धनी और सव जगत-सुखो से पूर्ण हें और अव साथ ही उत्तम-उत्तम कर्म कर रहे हें, इससे इनको आगे जन्म मे भी सुख मिलेगा, इससे इन्हे 'अव के तव के दोनो' लक्षणयुत जानिए। चौथा यह मनुष्य है कि पहिले जन्म मे कुछ शुभ मार्ग न गहने से अव इस जन्म मे भी सव प्रकार से दुखी है और अव भी कुछ सुकृत न साधने से आगे जन्म मे भी इसके सुखी होने की कुछ सम्भावना नहीं है, इससे यह 'न अव के न तव के' दोनो लक्षण घटित हैं।

पॉचवें ये पूर्ण वेराग्यवान सत हैं, वडे प्रयत्न से इन्हे यहाँ लाये ह। इन्होंने इन्द्रिय-सुखो को मिथ्या, क्षणिक और दुखरूप जानकर त्याग दिये हैं और रात-दिन मनोनाश के यत्न मे लग रहे हैं। ये किसी के स्नेह मे नहीं फँसते, किसी से वैर भी नहीं करते, किसी विषय मे लोलुप भी नहीं हे, आलस्य, प्रमाद और विपयासक्ति को त्यागकर अविनाशी सत्यस्वरूप मे दृढ स्थिति वनाये हें, अत यह सत वडभागी हे। आप नेराश्यवृत्ति-सावधानता से सव साधन सम्पन्न होकर जीवन्मुक्ति मे स्थित सुखी हैं। प्रारव्धान्त के पीछे सदा के लिये इस दुखमय संसार से पार हो अमृतस्वरूप मे स्थित हो रहेंगे, अत. ये 'सदा के' कहे गये हैं। इस प्रकार सुनकर राजा के नेत्र खुल गये। उस दिन से राजा 'सदा के लिए मुक्त हो जावे' यह ध्येय लेकर साधु सग, सद्धर्म, सदाचरण मे लीन हुआ। मनुष्य का यही कर्तव्य भी है कि सदाचरण करते हुए परमपद की प्राप्ति करे। यदि इस यत्न मे शरीर भी छूट जावे और कुछ कमी रह गई हो तो कोई परवाह नहीं। फिर इसी सस्कार से आगे नरदेह मे मुक्ति के ही यत्न मे लगेगे। और यदि मुक्तिरहस्य पूर्णरूप से धारण हो गया तव तो इसी जन्म मे सदा के लिए काम तय है, अर्थात अटल मुक्ति हो जायेगी, इसलिए सदा शुभगुण मे तत्पर होना चाहिए।

छन्द

शुभ कर्म औ निज मोक्ष की इच्छा जिसे नहि होय है।
छागी गलस्तन से वृथा वह जन्म नर को खोय है॥
'कू' चलो या 'सू' चलो चलना पडेगा जब तुम्हे।
तब सुमारग ही गहो जिससे न कहुँ दुख हो तुम्हे॥

शब्द—१८

राखौ मन गुरु का ज्ञान अधार॥ टेक॥

जगत अधार मे बीति गये दिन, लाभ के बदले निज को हार॥ १॥
राग द्वेष तृष्णा धन पाये, तेहि बिच बनि रहे मन के शिकार॥ २॥
आशा करत सुखहिं की निशदिन, गॉसि मिलत तहॅ दुखहिं अगार॥ ३॥
दखल चहत हम सबके ऊपर, भय परबशिता तहॉ बेगार॥ ४॥
सत्य मानि तन मन ओर धन को, अनितपना की बहते धार॥ ५॥

टीका—हे मनवशवर्ती जीव! कृतार्थ होने के लिए गुरु के पारखज्ञान का ही सहारा हरदम पकडे रहो॥ टेक॥ भ्रमाने वाली बहु वाणी मे आसक्त और इन्द्रिय-मन के हाथ बिके हुए नर-नारी हैं। इनसे सुख की आशा रखकर इनका सहारा पकडे-पकडे अपनी सारी आयु समाप्त हो चुकी, परन्तु इनसे लाभ होना तो दूर रहा, घर की जमा भी गई, स्वय को ही उसी जगत ममता मे हार गया॥ १॥ इस जगत-नगर का बडा भारी व्यापारी बनकर कोन सा धन इकट्ठा किया! जिसका नाम है—राग, द्वेष तथा तृष्णा, ये तीन प्रकार का धन मिला। इनका फल क्या है कि राग सम्बन्धी क्षणभगुर पदार्थो मे ममता-आसक्ति, उनके बिछुडने मे चिंता, शोक, व्याकुलता, खटका, बधन, व्यर्थ परिश्रम, आवागमन आदि अनन्त दुख जानिए और द्वेष सम्बन्धी-ईर्ष्या, निन्दा, मत्सर, असहन, प्रमाद, गाली, झगडा, हिसा, उत्पात, अधर्म, अन्याय, चोरी, जारी, आधि, व्याधि, उपाधि अनन्त दुख जानिए। तृष्णा सम्बन्धी दुख-अतृप्ति, अधैर्य, उतावली, हठ, ओछापन, प्रमाद, बकवाद, बहु विद्यायुक्त छल, चतुराई-कपट का विस्तार, देहवाद-भौतिक विषयो को ही सर्वस्व समझना, यथार्थ सद्गुरु, सत, सद्ग्रन्थ तथा अनुभवी पुरुषो के वाक्यो का निरादर, सत्सग, सद्ग्रथ-सत्साधन करने का समय ही न निकालना, कजूसी, अविनाशी विचार से रहित रहना आदि तृष्णा सम्बन्धी अनत दुख जानिए। सर्व आपदाओ का मूल इन त्रिविध दुर्गुणो मे पडकर यह जीव मनरूप अहेरी का शिकार हो रहा है। मन ही इस अखण्ड जीव को अनन्त भॉति से भोगासक्त करके त्रिविध ताप मे जलाता रहता है। मन के वशीभूत होकर क्या-क्या दुख नहीं पाता! तो भी विना सिर-पैर के मन[१] के फन्दे से छूटता नहीं, ऐसी विवशता बना लिया है॥ २॥

यह जीव जगत के सम्बन्धी और जडसृष्टि मे रात-दिन सुख की कामना करता है, जिससे दुर्गुण-दुर्बुद्धि पुष्ट होकर जबर्दस्ती घेर-घेर के विवशता से आगे-आगे तन-मनकृत सब

१　साखी—तीन लोक चोरी भई, सबका सरबस लीन्ह।
　　विना मूड का चोरवा, परा न काहू चीन्ह॥ बीजक॥

दुख-द्वद्व मिलते रहते हैं ॥ ३ ॥ सब जगत और समाज आदि सर्व नर-नारी हमारे अनुसार चलें आर जड-सृष्टि की क्रिया भी हमारे अनुकूल हो, इस प्रकार हम सबके ऊपर अपना शासन जमाना चाहते हैं। परन्तु इस दुष्कामना का परिणाम रात-दिन भय बना रहना और सबकी खींचतान मे पडकर परवशता लेना, ये दोनो बेगारी सहना पडता है। जो अपने अज्ञानजन्य मनोमय को जीतकर सुखी होने का प्रयत्न नहीं करता, उलटे सबके ऊपर शासन करके सुखी होना चाहता ह उसको कभी सुख-शाति नहीं मिल सकती। हाँ! रात-दिन,इसके लिए लडना, झगडना आर सबसे भय पाना यही फल उसको मिलेगा ॥ ४ ॥ अनित्य तन, मन, धन को सत्य मानकर इनकी धारा मे यह जीव बह रहा हे। असत्य जड नाशवान शरीर और मन-मानन्दी तथा धन, ऐश्वर्य को एकरस सत्य मानकर इन अनित्य जालो मे फँसकर क्षण-क्षण हर्ष-शोक, सुख-दुख, हानि-लाभ, जन्म-मरण, गरीबी-अमीरी, आना-जाना और मिलन-विछोह ये सब नदी-प्रवाह की धारा मे पडकर दुखी हो रहा है। अर्थात बार-बार देह धरना-छोड़ना यही अनित्यपना की धारा मे बहना है। अत. यदि पूर्वोक्त दुखो मे बचना हो तो मन, कर्म और वाणी से गुरुदेव का ही आधार लेना चाहिए ॥ ५ ॥

प्रसंग ८—माया-निर्णय

लावनी-१९

है यह काया परबल माया जीवन नाच नचाई है।
नारि पुरुष दुइ देह धरे हैं बालक तरुण देखाई है॥
नारि रूप ह्वै पुरुष भुलावै पुरुष नारि भटकाई है।
जहँ तक बन्धन जग मे देखौ सब को यही बनाई है॥ १ ॥

टीका—दसो इन्द्रियो वाला स्थूल शरीर ही मुख्य माया का रूप है। यह माया बडी बलिष्ठ है। यह महामाया-काया ही जीवो को नाना प्रकार मे नचाया करती है। इस काया-माया के दो रूप हैं—एक स्त्री, दूसरा पुरुष। लडकपन, जवानी और बुढ़ापा ये तीन भेदोंयुक्त यह काया-माया दिखाई देती हे। यह माया स्त्रीरूप होकर पुरुष को भुला देती है और पुरुष भी स्त्री को अपने मे मोहित कर भटकाया करता है। स्त्री कैसे पुरुष को भुलाती हे—

चौपाई—*बोलति वचन कामरस साने। करत विनोद लसति मनमाने॥*
करि कटाक्ष श्रृंगार अनेका। अग-अग के भाव ठनेका॥
जब जाने जन मम वश भयऊ। तब अभाव करि हरि मन लयऊ॥
सकुचि दुरति लज्जा कर बाँकी। हर्ष शोक द खेंचि कुठाँकी॥
द्रव्य अभूषण हेतु भ्रमावै। कलह विरोध सकल उपजावै॥
नट मर्कट वत नाच नचावै। पुरुष भाग्य लखि अधिक बँधावै॥
काम क्रोध मद लोभ अपारा। लत आदत वश पचत विचारा॥

दोहा—*सत स्वरूप अविनाशि जो, परम प्रकाश अनूप।*
ताहि विसार्यो वाम-वश, जन्म-जन्म भव कूप॥ १ ॥

यहि विधि नारी पुरुष कहुँ दीन्ह भुलाय सुपन्थ।
पुरुषहुँ बहु विधि नारि को, भटकावत मन मन्थ॥ २॥
इन्द्रिय सुख को लोभ दै, कचन राजस साज।
निज घटके औरेब करि, बाम बाँधि सुख काज॥ ३॥

चौपाई—*बेर-बेर लखि मद रस बोलै। मदन कपाट देत जनु खोलै॥*
विविधि भाँति क्रीडा करि खेला। लज्जा धीर विचार नशेला॥
औरौ अग अनेक प्रकारा। तिय मन खैंचि बहत भवधारा॥

इस प्रकार स्त्री-पुरुष परस्पर इस काया-माया के जाल मे बँधे पडे है। जहाँ तक मनोमय का विस्तार है सो सब बन्धन का रूप है। सकल बन्धन इन्ही दोनो के सम्बन्ध से तैयार होते हैं। पुत्र-पुत्रियो का भार, धन की अनन्त चिन्ता, हानि-लाभ, मिलन-विछोह, शोक-मोह आदि का भार कौन ऐसा बन्धन नहीं है जो इस स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध से न बन जावे। ॥ १ ॥

बिबिधि रूप धरि सब को मोहै धाय धाय बँधि जाई है।
जड चेतन मिलि रूप खडा तेहि भेद न काहू पाई है॥
लोभ मोह के जाल बिछाये काम के फन्द बनाई है।
क्रोध भयानक तहाँ देखावै जाल बिबिधि फैलाई है॥ २॥

टीका—भाँति-भाँति की लौकिक वाक्य-चपलता व मर्यादा, जगत-प्रसिद्धि, बहु चतुरता, सम्पत्ति, राज्यप्राप्ति, आरामतलबी इस प्रकार विविध रूप धर कर अथवा स्त्री-पुरुष शरीर के भाँति-भाँति ठाट रच-रच कर गृही, योगी, जपी, तपी सबको वह माया दूर ही से मोहित कर लेती है। बडी खुशी से बहुरूपिणी माया के रूप मे दौड-दौडकर सब कमल-भ्रमर न्याय बँध जाते हैं। परन्तु विवेक बिना इसकी पारख नही मिलती। नर-नारियो का घट जड है, उनमे रहने वाले जीव चेतन है। जड-चेतन दोनो के सम्बन्ध से इस काया माया का रूप तैयार है। इस भेद को मायासक्त जीव नही जानते। इस माया ने सम्पत्ति का लोभ और अपनैयत का वृथा मोहरूप जाल बिछा रक्खा है। उस जाल मे अष्ट मैथुन की फाँसी लगी हुई है। वहाँ तामस प्रधान क्रोधाग्नि का फन्दा तो बहुत ही दुखदायी है। यह काम और क्रोध का फन्दा ही प्रत्यक्ष यमराज है। ये ही काम-क्रोध नाना जाल-बवाल फैलाते रहते हैं। जीववध, नाना उत्पात, छल-कपट, जारत्व, चौरत्व, परनिन्दा, ईर्ष्या, द्रोह, असहन, परसताप इन सब आपदाओ को काम और क्रोध घसीट ले आते हैं॥ २॥

चेतन माया सबहिं फँसाया जड से भागि जो पाई है।
उक्ति युक्ति वह दोनो देखौ एक को एक दुखाई है॥
कहूँ मोह करि मनहिं खिचावै कहूँ काम सुखदाई है।
कहूँ लोभ करि नफा देखावै आशा सुखहिं कराई है॥ ३॥

टीका—घर, धन, जमीन, सुन्दर-सुन्दर आभूषण और वस्त्र इन जड पदार्थो से भागकर भले बच जाय, परन्तु यह चेतन माया अर्थात स्त्री-पुरुषो के फन्दे से उबरना बडा कठिन है। क्योकि चेतनमाया मे फँसाने की उक्ति—बुद्धि और युक्ति अर्थात उपाय ये दोनो उसमे अनन्त

प्रकार से पूर्ण हैं। वनिताओ मे तो हाव-भाव, छल-कपट आदि नाना क्रिया करके विषयो में फँसा लेने की कुशलता हे ओर पुरुपो मे जोर, जुल्म, उत्पात और नाना भाँति से लोभ देकर फँसाने का ढग हे ओर भी पुरुप लोग कल्पना करके नाना भ्रमजन्य मत, पन्थ, पाखण्ड, अनन्त प्रकार से हरफो के जाल, भाँति-भाँति के मिथ्या पक्ष करने मे कुशल हैं। इस प्रकार नर-नारी अज्ञानवश परस्पर जाल मे वँधकर एक दूसरे को शोक-मोह करके पीडा ही देते रहते हैं। कहीं तो मोह बढाकर मन को खीच लेते ह, कहीं तो परस्पर चर्म-सघर्षण मे आनन्द मानकर जीवन-हरण काम-कला को ही जीवन लाभ समझते हे। वह माया कहीं लोभ बढाकर धनवृद्धि का लाभ दिखाते हुए आगे-आगे मुख होने की आशा देती रहती ह॥ ३॥

कहूँ क्रोध करि भय उपजावै झगडा विविधि मचाई है।
वरवस पकरि के सवहिं गिरावे उक्ति युक्ति वहुताई है॥
भागि बचै जो परखि रहै यहि कवहुँ न भूलि ठगाई है।
निराधार जो पारख करि कै प्रारब्धि भोग वरताई ह॥ ४॥

टीका—कहीं वह माया प्रचण्ड क्रोधाग्नि प्रज्वलित करके सदव भय उत्पन्न करती है। उस क्रोध के वश झगडा, दंगा, वखेडा करने के सिवा अच्छाई कुछ नहीं मधती। इस प्रकार सजीव माया जवर्दस्ती सबको पकडकर नीचे मार्गो मे डाल देती हे। वन्धन मे डालने की नाना चतुराई ओर नाना युक्ति माया को खूव मालूम हे। पर जो कोई इसके सव दावो को सत्सग मे निर्णय द्वारा पारख करके जान ले ओर इनसे सुरति खींच कर दूर हो जावे, वह भूलकर भी इसकी ठगाई मे नहीं आ मकता। "कहहि कवीर ठग मो मनमाना। गई ठगौरी जव ठग पहिचाना॥" विवेकवान एकरस परीक्षादृष्टि धारणकर आपधवत निर्वाह लेते हुए नैराश्यता से बर्तते हैं। अतः अनुभवी पुरुप माया के चक्र मे कभी नहीं आ सकते॥ ४॥

काल सरिस यहि का नहिं भूले गुरु ने दावँ सिखाई है।
शक्ति अपर्वल गुरु की लै कै फन्दा सवहिं देखाई है॥
वह अज्ञान ज्ञान ह तुमको वहुत शक्ति तुम पाई हे।
काह करे जो सम्हरि रहौ तुम भूलि न दुख को जाई है॥ ५॥

टीका—कल्पना, मृत्यु-ताप, बन्धन, व्याधि, चिन्ता, वाचालता ओर काम, ये सव काल के रूप हैं। जो गर्भवास में डालें वे काल हे। जेसे असह्य कष्ट भुलाये नहीं भूलता, वसे ही इस माया के ऊपर-ऊपर की कोमलता, स्वार्थिक प्रेम, छल-प्रपच ओर उसकी आसक्ति के अनन्त दुखो को कभी न भूलना चाहिए। वार-वार विवेक से माया के मोहजन्य कष्टो को शूल या दर्दो के समान याद रखते हुए स्वस्थिति के पुरुपार्थ मे जुटना ही माया से वचने का मुख्य माधन हे। यह दावँ श्री गुरुदेव दया करके वता दिये। गुरुदेव को छोडकर भला आर कान माया को जीतने की युक्ति वता सकता हे। सगे-सम्वन्धी तो माया के गुलाम ही हें। माया को जीतने की अपर्वल शक्ति गुरुदेव ही मे हे। जिस शक्ति के आगे माया की शक्ति कुछ न चले, गुरु की वह प्रवल शक्ति लेकर हम भूले जीवो को भी माया के फन्दे देखने मे आ गये। कोई भी जीव मत, पन्थ, वर्ण, आश्रम आदि का अभिमान त्यागकर पारखीगुरु की प्रवलवोध रूप दृष्टि ग्रहण करे तो उसको सव प्रकार के काल के वन्धन देखने मे आ जाते हें। श्रीगुरुदेव कहते हें—माया,

काया, मन, स्त्री और पुरुषो की देहें, स्वभाव, आसक्ति ये बहुरूपिणी माया अज्ञान कालरूप है, जड के तरफ की है, उसमे अपने-पराये का कुछ ज्ञान ही नही, छोडने-पकडने, बन्ध-अबन्ध का भी कुछ भान नही है, वह अज्ञान है, और तुम जीव सबके जाननहार होने से चैतन्य हो। मनुष्यदेह मे सत्सग, सद्गुरु, सद्ग्रन्थ, विवेक आदि का सहारा लेकर माया के फदे से बच सकते हो। इससे हे जीव! तुम अपने सत्य स्वरूप को जानकर स्वय शक्ति को सम्हारो। स्वय शक्ति समेट कर जो तुम माया ठगिनी से सावधान रहोगे तो माया तुम्हारा कुछ नहीं कर सकती। अरे! वह माया भी क्या है, सिवा अपनी आदत कल्पना के! मात्र तुम्ही माया मे लोभवश फँसे पडे हो। अच्छा! अबसे सही, उस माया सम्बन्ध से जो-जो कष्ट अपने और दूसरे के सिर पर देखने मे आ रहा है उनको भूलो मत। शत्रु के छल, ठगाई और कुटिलता का स्मरण रहना ही शत्रु-ठग से बचने का एक रास्ता है। फिर जब तुम इस माया को पूर्ण दुखरूप जानोगे तो उसका अभाव कर दोगे, जब तुम अभाव कर दोगे तो माया तुम्हारा कुछ नहीं कर सकती॥ ५॥

पेच अनन्तन सिखौ गुरू से राति दिवस मन लाई है।
करत परीक्षा साधन करि करि ताकति अमित बनाई है॥
काह करै वह माया तुमको लखि इच्छा दुखदाई है।
जागृत रहौ निरालस निज मे जस स्वरूप निजकाई है॥ ६॥

टीका—इसलिए मन, माया, काया, नर-नारी के भुलावे से बचने के लिए बहुत सी युक्तियो को श्रीगुरुदरबार मे जाकर एकचित्त होकर रात-दिन सीखो। जड-चेतन, बन्ध-मोक्ष और सत्य-असत्य की पारख करके यथार्थ ज्ञान निश्चय करना, फिर अपने पहिले और अबके रहस्यो का विचार करना। पहिले कैसे थे, अब कैसे हैं, सद्-रहस्यो मे कितनी कमी है, इन सबकी नित्य-नित्य परीक्षा करके पुन. परीक्षादृष्टि की पुष्टि के लिए क्षमा, शील, सतोषादि और इन्द्रिय-मन दमन इन रहस्यो को अपने मे लाना। इस प्रकार विवेकदृष्टि और शुद्ध रहस्य धारण करके माया जीतने की अनन्त सामर्थ्य उत्पन्न हो जायेगी। फिर बहुरूपिणी सुखासक्तिरूप माया तुम्हे कभी नचा नहीं सकती। यदि तुम इच्छा ही को दुखपूर्ण सर्पिणी के समान दृष्टि मे रक्खोगे तो फिर वह तुम्हे कैसे खीच सकती है! इच्छा के वश हुए विना बाहरी माया से कुछ सम्बन्ध ही नही रह जाता, इसलिए हे परमपद के अभिलाषी! सर्वदा गुरु-पारख मे जाग्रत रहो, सावधान रहो, भूलकर भी सद्रहस्य युक्त स्थिति मे आलस्य मत करो। जैसा तुम्हारा शुद्ध चैतन्य स्वरूप है वैसे ही सद्रहस्य युक्त ठहरो। जिससे कि सम्पूर्ण दुखो का अन्त हो॥ ६॥

लावनी—२०

पंच करम इन्द्रिन से देखौ करत करम संयोगा है।
पच ज्ञान इन्द्रिन को लै कै पच विषय गहि भोगा है॥
दुखदृष्टी से बन्ध न होवे परारब्धि जो भोगा है।
सुखदृष्टी से बन्धन करिकै पुनर्देह धरि भोगा है॥ १॥

टीका—हाथ, पॉव, मुख, लिंग ओर गुदा ये पॉच कर्म इन्द्रियॉ हें। हाथ से लेन-देन, पाँव से चलना-फिरना आदि, मुख से वाक्य बोलना आदि, शिश्नेन्द्रिय से लघुशका का त्याग, गुदा से मल का त्याग, ये सब सेवकवत क्रिया के साधन होने से इन्हे कर्म इन्द्रिय कहते हैं। इन्हीं साधनो से जीव सब कर्मों को करता रहता है। नेत्र, नाक, कान, जिह्वा तथा त्वचा ये पंच ज्ञान इन्द्रियॉ कही जाती है। नेत्रद्वार से नाना हरा, पीला, स्वच्छ, बीज-वृक्ष, पशु-पक्षी, शरीरादि का ज्ञान होता है, नाकद्वार से नाना गध का ज्ञान होता हे। कर्णद्वार से सब प्रकार के शब्दो का ज्ञान होता है, जिह्वाद्वार से खट्टे, मीठे, तीते षटरसो का ज्ञान होता हे। त्वचाद्वार से शीत-उष्ण, कठिन-कोमल नाना स्पर्श का ज्ञान होता हे। ये साधन होने से इन्हे राजावत ज्ञान इन्द्रिय कहते हें। इन्हीं पच ज्ञानेन्द्रिय द्वार से चेतन जीव सुख मानकर पॉचो विषयो को ग्रहणकर भोगता रहता है। विषयो के गहने मे अनत दुख है। इसका ज्ञान भली प्रकार जीव को दृढ हो जाय तो जीव विषयों को ग्रहण नही कर सकता, क्योकि जीव दुख नहीं चाहता, जीव को जिधर दुख निश्चय होता है, उधर से हटने-दुरने की कोशिश मन-कर्म से करने लगता है। इस प्रकार केवल निर्वाहमात्र प्रारब्धिक भोग औपधवत लेकर वह विपयासक्ति अवश्य त्याग देगा, इससे बधन नाश करने के लिए जगत मे दुखदृष्टि करना ही मुख्य साधन है। और बध हेतु जगत मे सुख देखना है। जिधर जीव को सुख प्रतीत होता है उधर राग होने से मन-कर्म द्वारा प्रवृत्ति होती हे। इसलिए भूल वश जगत मे सुख निश्चय करने से सकाम कर्म ओर विषय-सेवन मे जीव लगा रहता हे, जिससे कि सकाम कर्म के सस्कार पुष्ट हो बार-बार देह धरकर दुख-सुख भोगता रहता है। इस प्रकार फिर-फिर देह बधन युक्त त्रिविध ताप मिलने मे मुख्य हेतु विषयो मे सुख निश्चयता ही है॥ १॥

नारि पुरुष सोइ देह बना हे भर्म रूप मन होगा हे।
यकरस पारख दृष्टि लहै यह मिटि जावै सब शोगा है॥
है इन्द्रिन सम्बन्ध जगत से सब ही जीव दुखाते है।
तन से मन से बचन प्रकाशे झगडा बहुत दिखाते है॥ २॥

टीका—उन्हीं सुखसस्कारो से स्त्री ओर पुरुपो की भाँति-भाँति की मायामयी देहे बन गयी है। उनमे जहाँ तक विपय-सेवन करके सुख मानकर आदत बना ली गई है उसी का सस्कार छायावत मन-मानदी जानिए। सो मानदी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, मृगतृष्णा के जलवत भासमात्र कल्पित हे। जो कभी डिगने योग्य न हो, उसको एकरस कहते हैं, सो एकरस गुरु की परीक्षा-दृष्टि लेकर इस जीव की जडासक्ति—जड भावना छूटकर सर्व शोक-मोह से रहित हो यह जीव मुक्त हो सकता है। इसके अलावा और उपाय नहीं है। इन्द्रिय द्वार से ही जगत का सम्बन्ध हे। अनादिकाल से देहो से कर्म और कर्मों से देह, इस प्रकार प्रारब्धिक इन्द्रिय सम्बन्ध के द्वारा बाह्य जगत से सुख मानकर सब जीव दुखी हो रहे हैं। वे काया से, मन से और वचन से जगत-भाव जगत-क्रिया को प्रत्यक्ष धारण कर रहे हैं। नाद-बिन्द, खानी-वानी, लोक-वेद और भ्रमकृत नाना मत, पंथ, ग्रन्थ, झगडा, बन्धन रच-रच कर आप ही उसमे फँसते नजर आते हैं॥ २॥

हे यह काया माया देखो सब में सबहिं फॅसाते है।
निराधार ठहराव न जानत याते सब गिरि जाते है॥

है क्षणभंग प्रकृति अनादी तेहि मा जीव भुलाया है।
जेहि के साथ रहत जो नितही ताहि सरिस तेहि भाया है॥ ३॥

टीका—यह काया ही माया का रूप है, क्योकि इसी काया के द्वारा स्त्री और पुरुष मोहरूप फाँसी मे स्वय फँसते और दूसरे को फँसाते हैं। यद्यपि इस जगत-बन्धन से सब ऊबते-डूबते-घबडाते रहते है, परन्तु निराधार स्वरूपस्थिति का ज्ञान नहीं है तो क्या करे। जीव के ऊपर इन्द्रियो का आवरण है, वे अपने निराधार-स्वतत्र स्वरूप को नहीं जानते। स्वरूप को जाने भी तो स्व-स्वरूपस्थिति की रक्षा के उपाय को भी ठीक-ठीक न जानने से पुनः-पुनः खानी-बाणी, माया-जाल मे ढहते रहते हैं। क्योकि अनादिकाल से क्षण-क्षण मे और-तौर होने वाला बाह्य जडतत्वों का विस्तार जीव के सामने है, उसी मे जीव भूलते आया है। यह नियम है कि जो जिसका सग करता है उसका प्रभाव आ ही जाता है। धीरे-धीरे सगी के समान ही अपनी भी गति होने लगती है। दिनोदिन सगी की प्रियता बैठ ही जाती है। पच विषयो का साथ करते-करते जीव भी पच विषयो का अभ्यासी बन गया है, क्षण-क्षण मे कामना के वश अनत दुखो का भाजन बन गया है॥ ३॥

घट के भीतर रहत सदा सो चेतन योग बनाया है।
सब मानन्दी जीव अधारित तेहि ते घट उपजाया है॥
भर्म रूप नर नारिन देखौ बिबिधि रूप दरशाया है।
भर्म रूप सोइ दृष्टि मे राखौ चेतन सत्य जनाया है॥ ४॥

टीका—नख-शिख स्थूल शरीर तो बाहर है, भीतर इसी स्थूल का आधार सूक्ष्म अत.करण है जहाँ सकल्प-विकल्प उठा करते है। स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म शरीर है जिसके वशवर्ती जीव अपनी चैतन्यशक्ति से सत्ता देकर मानसिकसृष्टि को आप ही रचता रहता है। पॉचो ज्ञान इन्द्रियो से अनुभव करके सम्पूर्ण मानन्दियो को चेतन जीव अत.करण सहित धारणकर बार-बार स्थूल शरीर बनाता रहता है। स्थूल हेतु सुख-मानदी हुई, सुख मानदी सत्यस्वरूप के भूल से सिद्ध है। यदि इस क्षण मे शुद्धस्वरूप जानकर स्थित हो जावे तो सुख-मानन्दी बध्यापुत्र के समान लुप्त हो जावे, परन्तु प्रारब्ध सम्बन्ध बने रहने से वह फिर-फिर झलकेगी। साथ ही विवेक-वैराग्य के पुरुषार्थ की शक्ति से नष्ट होती रहेगी। सुख मानदी रूप बीज के बिना आगामी शरीररूप वृक्ष कैसे हो सकेगा। इस कारण समग्र स्थूल-सूक्ष्म सम्बन्ध का हेतु निज स्वरूप की भूल ही है। भूल व अज्ञान का स्वतत्र रूप कुछ नहीं है, इसलिए स्त्री-पुरुषो की देहो मे जो भॉति-भॉति की विचित्रता—सुखप्रियता दिखाई देती है, वह सब मायामय, मिथ्या, स्वप्न के समान, आशामात्र केवल स्वरूप के भूल-अध्यास से ही है। इसलिए भूल को विवेक से मिथ्या जानो। नाना खानियो के शरीरो को देखकर मोहित मत होओ। प्रारब्धाकुर सुखभावना को विवेक-अग्नि से जलाते रहो। जब-जब उसमे भूल-भ्रम से सत्य-सुन्दरता का भास हो तब-तब विवेक से उसे मिथ्या, भूल-भ्रममात्र निश्चय करो और सबका ज्ञाता-चेतन स्वय अपने आप को सत्य समझो॥ ४॥

सदा दृष्टि भरमै की राखौ सुखाध्यास नहि जाया है।
केहि को देखत केहि को परशत विना पदारथ काया है॥

क्या सुख मानत सब इसमें है जड चेतन से भिन्न कहौ।
सुख को मानब आदति जानो जेहि ते नित सब दुःख सहौ॥ ५॥

टीका—निजस्वरूप से भिन्न इस काया-माया मे सुखाध्यास न बने आर न पुष्ट हो उसका एकमात्र उपायं यही हे कि जेसे अविवेक से शरीर सत्य प्रतीत होता है, उसी प्रकार विवेक दृढ करके शरीर से भिन्न इस चैतन्य जीव को सत्य निश्चयकर स्त्री-पुरुपो के शरीरो को केवल भ्रममात्र समझो। यह समझ यहाँ तक दृढ करो कि किसी समय जड-चेतन की भिन्न दृष्टि का अभाव न हो और किसी समय शरीर मे सत्य-सुन्दरता की भावना न हो। जब विवेक से निश्चय हो गया कि जड शरीर परमाणुओ का समूह है ओर उससे भिन्न निज चेतन स्वरूप सत्य हे। दोनो की पृथक दृष्टि से स्त्री-पुरुपो मे मोहकता ओर अगो की विचित्रता कहाँ रही। स्त्री या पुरुष की सुन्दरता को देखकर आसक्त होना या परस्पर केलि करके सुख मानना कैसे बन सकता है। जव कि जड-चेतन छोड़कर काया मिथ्या मानन्दीमात्र है, तव इसमे ये मव जीव क्या सुख मानते ह। जड चचल, परिणामी, दृष्टि-गोचर दूर है और चेतन स्वय अपरोक्ष, अखण्ड, अपने आप हे। इन दोनो के वाद वीच मे यावत कल्पना है वह मिथ्या नहीं तो क्या हे।'साखी—"मन माया तो एक हे, माया मनहि समाय। तीन लोक सशय परी, मैं काहि कहों समुझाय"॥ वी०॥ इस विवेक से सुख कुछ नहीं, सुख आदतमात्र ज़ो कि सव दुखो का कारण है, वृथा आदत ही से सकल दुख को जीव भोग रहे हैं। इसलिए यह स्मरण रहे—"जारो जग का नेहरा, मन वौरा हो। जामे सोग सताप, समुझि मन वौरा हो॥ तन धन से क्या गर्भ सी, मन वोरा हो। भस्म कीन्ह जाके साज, समुझि मन वौरा हो॥ विना नेव का देव घरा, मन बोरा हो। बिन कहगिल की ईंट, समुझि मन वारा हो"॥ वी०॥ ५॥

प्रसंग ९—संशय-शमन

शव्द—२१

लखौ मन भूत भरम दुखदाई॥ टेक॥

जल पृथ्वी और अनल वायु मिलि, जीवन तन निर्माई।
सुक्षम देह साथ लै प्रेरक, इन्द्रिन कर्म कराई॥ १॥
नेत्र विना कुछ देखि सकै नहिं, सुक्षम साथ रहाई।
श्रवण विना कुछ सुनि नहि पावे, तन बिन क्रिया करत कस भाई॥ २॥
सुक्षम तन मे शक्ति यही है, सव अध्यास जोगाई।
रहि परमाणुन क्रिया के साथै, पूरव वेग धरत तन जाई॥ ३॥
गुप्त प्रगट की करे कल्पना, घट वढ देह वताई।
विविधि प्रकार के रूप धरै वह, नारि पुरुप घट धँसि दुखदाई॥ ४॥
शक्ति गुणन से यह कुछ नाहीं, मन गति कल्पित लाई।
मनहिं भूत सव भरम वनावै, एकहिं एक देत भरमाई॥ ५॥

टीका—विवेक मे देखो। भूत-प्रेत, देवी-देव, चण्डी-चुडैल सव भ्रममात्र मिथ्या-कल्पित हें, इनकी मान्यता जीव को दुसह दुख देने वाली है॥ टेक॥ जल, पृथ्वी, अग्नि और

वायु ये साकार चार जड़तत्वो के सूक्ष्म परमाणु और जीव तथा जीव के कर्म सस्कार—इतने योगों से स्थूल शरीर की रचना होती है और नख से शिखा तक स्थूल देह के भीतर सूक्ष्म मनोमय की जहॉ स्थिति है, वहॉ वासनाओ का ठहराव है, उसका नाम अत:करण है, सो अंत:करण अर्थात चित्त, मन, बुद्धि, अहकार या मानन्दियों का समूह सो सूक्ष्म उसे साथ मे लेकर चैतन्य जीव बाहरी इन्द्रियो से देखने, सुनने, सूँघने आदि की क्रिया करता है। प्रथम जीव देहयुक्त मानन्दी उठाता है, फिर मानन्दीयुक्त चलने-फिरने की क्रिया करने लगता है। यदि जीव के पास केवल मानन्दी ही हो और स्थूल का सम्बन्ध न हो तो स्थूल क्रिया नहीं बन सकती तथा स्थूल हो और भीतर मानन्दी न उठे तो भी स्थूल से क्रिया नही हो सकती, इस कारण स्थूल-सूक्ष्म दोनो के मेल ही से जीव विविध स्थूल क्रिया करता है॥ १॥ यदि बाहरी स्थूल ऑखें न हो और देखने की भीतर सूक्ष्म इच्छा हो तो भी मनुष्य देख नही सकता। अधे को देखने की सूक्ष्म भावना हुआ करती है। किन्तु स्थूल नेत्र न होने से केवल सूक्ष्म भावना स्थूल क्रिया पर काम नही देती। ऐसे ही सुनने की भीतर सूक्ष्म इच्छा हो और कान बधिर हो तो सुन नही सकते। इसी प्रकार सब इन्द्रियो के बारे मे समझ लीजिए। तो भला स्थूल शरीर बिना केवल सूक्ष्म से स्थूल क्रिया कैसे बन सकती है। "इन्द्री बिना जक्त का ज्ञान कैसे, मुझको बता दो हुआ ज्ञान जैसे"॥ २॥

पच प्राण, पच विषय, चतुष्टय अत:करण सब सिमिटकर मानन्दियो का समूह सूक्ष्म देह है। इसमे यही सामर्थ्य है कि किये गये पाप-पुण्यो और आभ्यासिक सब अध्यासो को वह कायम रखता है। जैसे पहले की देखी, सुनी, भोगी बाते आज स्मरण हो रही है या जब-तब स्वप्न मे भी सामने आया करती है, इससे सिद्ध है कि अत:करण अध्यासरूप बीजों को पृथ्वीवत धारण किये रहता है। वही सचित सूक्ष्म वासना तथा जडतत्वो के परमाणु और जीव सयुक्त जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, आवागमन, गर्भ, जन्म इन अवस्थाओ के अनुसार पूर्व-कर्म वेग से देह छोडकर अन्य देह धारण करता है। ऐसा नही कि जो चाहे सो शरीर रच लेवे, जहॉ चाहे तहॉ चला जाय, यह सामर्थ्य नही, बल्कि जैसे बीज मे भूमिका, समय, योग पाकर वृक्ष होने की शक्ति है वैसे ही सूक्ष्म देहो मे गर्भवास-भूमिका से सयोग कराके स्थूल देह रचने मे बीज-वृक्षवत सामर्थ्य है। कोई कहे कि बीज मे वृक्षाकार होने की शक्ति है तो अभी बीजशक्ति ही से पूरे वृक्ष का काम ले लेवे अर्थात किवाड, खडाऊँ, खम्भादि सब बीज ही से बना लेवे तो क्या बन सकता है? बस ऐसे ही स्थूल के बिना केवल सूक्ष्म देह से स्थूल व्यापार नहीं हो सकता। यह यथार्थ भेद न जानकर ही और का और कल्पना करने लगते हैं॥ ३॥

गुप्त हो जाना, प्रगट हो जाना, छोटी देह बना लेना, बडी देह रच लेना, स्त्री, पुरुष, भैस, सर्प, और टेढेपॉव आदि नाना प्रकार के चित्र-विचित्ररूप बना लेना, स्त्री-पुरुषो के भीतर धॅस कर नाना प्रकार के खेल करके भॉति-भॉति से पीडा पहुँचाना इत्यादि सब भूतादि खानियो मे शक्ति है, ऐसा अज्ञानी मनुष्य वृथा मनगढन्त कल्पना करते रहते है॥ ४॥ पुन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु कारण और उनके कार्य बीज-वृक्ष, बवडर, अग्नि-चिनगारी, प्रकाशादि जड तत्वो के गुण-धर्म को छोड दिया जावे तथा प्रत्यक्ष दर्शित मनुष्य, पशु, अण्डज, उष्मज ये चार खानियो के गुण-धर्म को छोड दिया जावे तो दोनो के गुण-शक्ति-धर्म निकालकर भूत खानि कहॉ पर है? बल्कि स्थूल-सूक्ष्मरूप जडतत्वो को ही भूत कहते है। इन जडभूतो मे मोहित

होने वाले सम्पूर्ण प्राणी भी भूताभिमान से कहीं-कहीं भूतप्राणी कहे गये हैं, परन्तु इन जड़तत्वों और चार खानियो के देहधारी जीवो को छोड़कर अन्य भूत-योनि है ही नहीं। जो कल्पित भासता हे वह स्वप्न या ठूँठ चोर के समान भ्रम ही है। या महा अँधेरी रात मे मनुष्य ही भयानक आवाज सुनकर डर के स्वयं नाना भास उत्पन्न किया व कर रहा है, क्योकि जो वस्तु होती है वह सबको देख पडती है, उसका दिन-रात दोनो समयों मे अभाव नहीं होता। ज्ञानी-अज्ञानी सबको वह गुण-लक्षणो से दिखाई देती है। ऐसा न होने से भूतयोनि दृढ कल्पना का बाजार है। क्योंकि न कुछ होते हुए भी स्वप्न में सब कुछ देख पडता है। सन्निपात की अवस्था मे आँख खुले और बतलाते हुए भी और ही और भासित होता है। अति गर्मी मे, दिमाग घूम जाने मे, किसी नशा मे या किसी मुद्रा साधना मे न कुछ होते हुए भी जैसे मनोभास सताता है, वैसे ही भ्रमित मनुष्यो से तमाम भ्रम की बाते सुनकर विवेक न होने से वही बात दृढ हो जाती हे। उसी भ्रमरूप बानी के आवेश मे कहीं त्रिशूल लेते, तो कहीं जीभ काटते, कहीं आनतान बकते। जेसे अँधेरी रात मे किसी ठूँठ या वृक्षादि वस्तु के आधार से नाना भावना उठ-उठकर चित्र-विचित्र भास होने लगता है, वेसे ही अज्ञान अधेर मे मन ही से भाँति-भाँति की मानन्दी गढ-गढकर भूत आर देवी-देवता-जिन्दादि की कल्पना करता है, उसमे आप भी भरमता है और दूसरे को भी भरमाता ह। इस प्रकार जगज्जीव माया-काया के लोभी दुख पड़ने से दूसरे के भरमाने से भ्रम जाते हैं, परन्तु विवेक करके देखना चाहिए कि भूत-प्रेतादि खानि मिथ्या है॥ ५॥ भूत-प्रेतादि खानि न होते हुए भी केसे जीव उसमे भटकते हैं, इस पर एक कथा का मनन कीजिए—

दृष्टान्त—एक राजा अधिक विषयासक्त होने से अविवेकी और वामचर था। राजा का होनहार छोटा भाई था। राजा-रानी दोनो ने सलाह किया कि यदि यह जीता रहेगा, तो हम दोनो के सुख मे बाधक होगा, राज्य का आधा भाग बॅटा लेगा, इसलिए इसे अवश्य मार डालना चाहिए। देखो! इन्द्रियो की आसक्ति, राज्य की ममता, योषित-प्रियता क्या-क्या पाप नहीं कराती! राजा अपने भाई को मार डालने के विचार से उसे साथ ही अहेर खेलने के लिए ले गया। दूर जगल मे घोडा बढाते हुए पास मे कूप देखकर राजा ने कहा—हे प्रिय भ्रात! इस कूप से पानी निकालकर मुझे पिलाओ। बस जेसे ही वह अप्रमेयबहादुर नामक छोटा भाई पानी भरने लगा, वैसे ही राजा पीछे से धक्का देकर चल दिया। उस कूप मे पानी बहुत दूर झलकता था, राजा के मन मे यह दृढ निश्चय हो गया कि वह गिरते ही मर गया होगा। चलो! अब निष्कटक सुख भोगेगे। राजा तो राजमहल को गया, इतने मे कितनेक प्यासे पथिक उस कूप के समीप आये। पानी भरने गये तो भीतर से किसी की आर्तस्वरयुत आवाज आई। आवाज सुनकर पथिकगण उस अप्रमेयबहादुर को कूप से निकाल लिये। अप्रमेय जगल मे दूर जाकर एकान्त स्थल मे विचार करने लगा—

ख्याल

जैसा लखते हैं दुनिया को वेसा कुछ भी हे हि नहीं।
ये ऊपर का हि दिखावा है पर इसमे कुछ सुख हे हि नहीं॥
जैसा हित वेभव से माना वैसा हित तो है हि नहीं।
जेसी प्राणप्रिया को माना वेसी प्रियता है हि नहीं॥ १॥

जैसा मीत कुटुम्ब को माना साधक वैसा है हि नहीं।
सब निज-निज मन सुख के वश मे साथ कोई का है हि नहीं॥
यह संसार भयानक बन है इसमे स्थिति है हि नहीं।
अहो! वृथा सबको अपनाकर अपना कोई है हि नहीं॥ २॥
भिन्न नहीं अपने से अपना उसमे प्रियता है हि नहीं।
साक्षी सकल परीक्षक का दृढ़ बोध हमे तो है हि नहीं॥
तज देगे निःसार जगत जब इसमे सुख कुछ है हि नहीं।
जिस हेतु ढहाय कुआँ मे गये उसकी दरकार तो है हि नहीं॥ ३॥

ऐसा विविध विचार करते हुए अप्रमेयबहादुर राज-काज से उदासीन होकर सन्तों की सगत और गुरुदेव की शरण मे गया और सेवा-भक्ति करके यथार्थ बोध प्राप्तकर स्वरूपनिष्ठा मे रहते हुए ससार मे विचरने लगा। अब इधर का हाल सुनिए—राजा ने घर आकर अप्रमेय को कूप मे ढकेलने की बात रानी को बता दी। रानी को देवर के मर जाने का निश्चय हो गया। बाद मे एक-दो दिन अप्रमेयबहादुर स्वप्न मे दिखाई दिया। बस रानी को निश्चय हो गया कि अप्रमेयबहादुर मर कर भूत हो गया है, जो मुझे अपना स्वप्न दिखाया करता है। फिर क्या था, रानी को भ्रम से निश्चय हो गया कि अप्रमेयबहादुर मेरे ऊपर भूत बनकर अवश्य सवार है। फिर तो रानी दिवानी बनकर अपने अगो के कपडे इधर-उधर फेंककर जो मन मे आवे सो बकने लगी। वह कहने लगी—मैं अप्रमेय हूँ। मेरे भाई ने मुझे कूप मे डाल दिया है, अब मैं मर कर प्रेत हुआ हूँ। आधा राज्य दे दो, नहीं तो इस रानी को और तुम्हारे पुत्र को मार डालूँगा इत्यादि। रानी की यह दशा देखकर राजा घबराया। उसे अपमान का बडा डर लगा।

कितने टोना-टम्बर, दुआ-भभूत करने वालो, कितने ओझा-नाउत, भूत-प्रेत उतारने वालो को राजा बुलवाने लगा। ज्यो-ज्यो वे सब भूत उतारने की कोशिश करे, त्यो-त्यो भ्रम-भावना पुष्ट होकर और-और भूत की भावना से प्रेरित होकर रानी खेलने-कूदने लगी। इसी प्रकार बारह वर्ष बीत गये। प्रतिदिन राजा के यहॉ नाउतो की भीड लगी रहती। इतने मे घूमते-घूमते साधुवेष से अप्रमेय उसी नगर मे ही होकर निकले। उस नगर के जिज्ञासु भक्त ने विनय करके उन्हे ठहरा लिया। जहॉ सन्त थे, वहॉ से राजा के यहाँ की भीड दिखाई देती थी। सन्त ने पूछा—यह सामने की भीड कैसी है? जिज्ञासु ने जिस प्रकार रानी को भूत सवार है और वह जो कुछ कह रही है, वे सब बाते सन्त को सुना दी। अप्रमेय नामक सन्त मन मे कह रहा है कि मैं तो जीवित हूँ। मर कर प्रेत कहॉ हुआ? राजा के कहने से रानी को मेरी मृत्यु निश्चय होकर उसे बहम हो गया है। यही कारण है कि उलटी समझ से और ही कुछ कह रही है। उसको मुझे ठीक करना चाहिए। ऐसा सोच राजा के यहॉ जाकर सन्त ने कहा—राजन! मैं तेरी रानी का भूत भगा दूगा, तू मेरा कहा कर। पहिले तो इन भ्रमिको को दूर कर, फिर जो-जो मैं कहूँ वह तू कर। यह बहुत दिनो का भूत है, इसलिए इसके हटाने मे अधिक परिश्रम करना पडेगा। राजा ने हाथ जोडकर कहा—स्वामिन! कुछ भी हो, परन्तु रानी का भूत उतरना चाहिए। सन्त ने कहा—अवश्य। राजा ने सब नाउतो और ओझाओ को अपने-अपने घर जाने की आज्ञा दे दी। सन्त ने राजा से कहा कि एक धर्मशाला बनवाइए, जिसमे असहायों और अनाथो की रक्षा हुआ करे। एक साधुसेवा-सदन बनना चाहिए, जिसमें यथार्थ ज्ञानी सन्त आवें

और नित्य कथा-वार्ता हुआ करे। राजा ने सन्त की आज्ञा के अनुसार साधुसेवा-सदन और धर्मशाला बनवा दिये। साधुसेवा-सदन मे रानी के बैठने का उचित प्रबन्ध करवाया गया। प्रतिदिन सन्त-दर्शन और उनकी अनेक कथा-वार्ताएँ सुनते-सुनते रानी को स्वरूपज्ञान होने लगा, धर्म मे निष्ठा होने लगी, साथ ही उसे यह भी निश्चय हुआ कि हमारे राज्य की बहुत सी सम्पत्ति धर्म मे लग रही है। इन बातो से उसके मस्कार बदल गये, भूतावेश मिटने लगा। दिनोदिन उन महात्मा में प्रियता बढ़ने लगी।

एक दिन साधु अपनी तरफ राजा और रानी की अत्यन्त प्रियता देखकर बोले—क्या तुम दोनो जानते हो कि मैं कौन हूँ? राजा-रानी हाथ जोड़ कर बोले—हम लोग आपको ठीक-ठीक नहीं पहचानते। साधु ने कहा—मैं ही आपका लघु भ्राता अप्रमेय हूँ। जैसे मेरे बिना मरे ही भूत मानकर वृथा यह रानी सुनी हुई बातों की वासना टिकाकर भूतावेश मे खेलने-कूदने लगी, वैसे ही निबिया पर की शीतला, पिपरा पर के ब्रह्मदेव, बगिया के नटबीर, घर के नारसिंह, रास्ते या श्मशान के भूत-प्रेत तथा अपर काली, भवानी, जिन्दादि सब कल्पित वाणी सुन-सुन कर अज्ञानी मनुष्य खेल-कूद रहे हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चार खानि औ कारण-कार्य जड तत्व छोड़कर अन्य भूतादि खानि सर्वथा कल्पित, स्वप्नवत भास है, जिसे त्याग कर निर्भय रहना चाहिए। इस प्रकार विविध शिक्षा देकर अप्रमेय चलने लगे। राजा-रानी का अन्तः-करण शुद्धता को प्राप्त होने से दोनो का भ्रम, सन्देह तथा मोह का निवारण हो गया। दोनों ने शीघ्र उठकर साधु अप्रमेय के चरणो मे गिरकर क्षमा माँगी और अप्रमेय को रोकने के लिए विविध विनय किये। किन्तु परम विरक्त अप्रमेय रोकने से न रुके। फिर राजा ने कहा—अच्छा! आप अन्तिम कुछ शिक्षा देते जाइए। अप्रमेय बोले—आप लोग सत्य स्वरूप को जान कर सत्यस्वरूप की स्थिति की रहस्यधारणा से कृतार्थ हो जायेंगे। इससे आप लोग स्थिति-रहस्य की ओर चलें। वे रहस्य ये हे—

चोपाई—*मास भखो नहि करो शिकारौ। मन इन्द्रिय रिपु वेगि सहारो॥*
सतसगति में चाव चपट कर। सेवहु सद्गुणयुत सतन वर॥
आरो अपर गुरू की रहनी। लखि सद्ग्रथ ताहि सब गहनी॥

दोहा—*अस शिक्षा करि चल दियो, अप्रमेय शुचि सन्त।*
राजहु आप सम्हारि के, चलन लग्यो गुरु मन्त॥

शब्द—२२

करम भोगै अपना छाजै क दोष॥ टेक॥

ना जानैं हम काह कमाये, पूरब जनम के दोष॥ १॥
भरम भरोसे सत मग छोड़े, खोजे नाउत फरोस॥ २॥
भक्ति न छाजै दुर्मति साजै, करि करि भोगै न जब लगि होश॥ ३॥
मिथ्या भय वशि करत अकाजे, चकी बुद्धि चलै उल्टे कोस॥ ४॥
शुभ करतवि से बहुत लजावै, खोटे करम से नाहीं टरोस॥ ५॥
समय समय सब करम भोगावै, पाप पुण्य जो किया धरोस॥ ६॥

शुभ के उदय काज जो करही, कहै छाजै ये बहुत फलोस॥ ७॥
शुभ करमन फल सुखहिं भोगावैं, उदैं अशुभ तब दुखहि कड़ोस॥ ८॥
वही समय शुभ काज करै कोइ, कहै न छाजै भरमि डरोस॥ ९॥
विपिनि भयानक प्रबल न छाजब, अज्ञान भूमि में रहत लखोस॥ १०॥
दुर्गुण जन्तु बहुत दुख देवै, सृष्टि मनोमय कल्पित कोस॥ ११॥
पन्थी जीव भटकि तेहि बन में, समय अमोल बितोस॥ १२॥
ज्ञान स्वरूप भानु बिनु प्रगटे, यह सब नाशि न मगहिं मिलोस॥ १३॥
जन्म मृत्यु के मुखहिं हमेशा, धरि धरि तन सब दुखहिं सहोस॥ १४॥
बिन गुरु चीन्हि लखे बिनु मनका, कहाँ जाय दुख दुर्मति ठोस॥ १५॥

टीका—अपने किये हुए कर्मो के फल भोगते हैं और दोष मढते हैं छाजने न छाजने पर। प्राय. अज्ञानीजन कहा करते हैं कि सत्सग, भक्ति या शुद्धभेष हमारे घर मे नही छाजते। यदि हमलोग भक्ति धारण करे या अहिसाव्रत पाले तो बाल-बच्चे मर जाते हैं, ऑख, कान, हाथ और पैर टूट-फूट जाते या बैल-भैंस मर जाते हैं। ऐसा समझकर कितने ही अज्ञानी मनुष्य ज्ञान, भक्ति और विवेक से हाथ धोकर हिसा और जीव-वध करके घोर पाप करते है तथा उसके परिणाम मे नाना प्रकार के दुख भोगते है। उनके प्रति गुरुदेव कहते है कि हानि-लाभ, जीवन-मरण, सुख-दुख प्रारब्ध और पुरुषार्थ सयुक्त अपने-अपने कर्मो के फल सब जीव भोगते हैं और दोष 'न छाजने' को देते है, सो विचार करना चाहिए कि 'न छाजना' क्या वस्तु है। ॥ टेक॥ जो पूर्वजन्म मे शुभाशुभ कर्म बन पडे थे उन्ही के सस्कार से प्रारब्ध रूप शरीर बना है। पूर्वजन्म में अज्ञानवश कौन ऐसे अशुभ कर्म नही बन गये है जिनके परिणाम मे भाँति-भाँति के दुख न भोगने पडे। सों तो जीव सोचते नही कि हम पूर्वजन्म मे नाना घोर हिसादि पाप करके अब दुखी हो रहे हैं। अत सुख-दुख होने मे हमारे किये हुए पुण्य और पाप ही कारण है, कोई देवी-देव, चिथरिहापीर, इटिया शहीद नही॥ १॥ जो वस्तु न हो, उसे मानकर रस्सी-सर्प भासवत दुखी होते रहने का नाम भ्रम है। भूत-प्रेत, देवी-देव, चण्डी-चुडैल, मरी-मसान, नारसिंह और नटवीर जो कुछ कल्पना करके थापे गये, वे सब भ्रममात्र मिथ्या-कल्पित है। जीव ही ने अपने चैतन्य स्वरूप को भूलकर जडवस्तुओ की ओट से या मुर्दा अथवा भयानक स्थान देखकर डर जाने से जिन्द, बैताल, प्रेतादि खानि निश्चय कर लिया है और उसी भ्रम का आधार मान करके सत्याचरण और गुरु-सत्सग को छोड देता है। जो भ्रम दृढाने के ठेकेदार हैं, स्वय भूले, हिसक, नाना कल्पित वाणियो को सिद्ध करके जीववध कराकर अपना और दूसरे का कल्याण बताते है उन नाउत, बैगा, ओझाओ का आधार जीव पकडता है। भला अपने समान पराई पीडा न जानकर मुर्गी, बकरा, भैसा आदि की बलि करने-कराने वाले भूले नहीं तो क्या है। भला। भूले लोग भूले का कैसे कल्याण कर सकते है। "बकरी मुर्गी कीन्हेउ छेवा। आगल जन्म उन्ह अवसर लेवा"॥ बी० ॥ २॥

देखो। मलिन कर्म करने वालो का साथ करके अच्छे-भले मनुष्य भी अज्ञानी बन जाते हैं। वे कहते हैं कि हमारे घर मे साधु-गुरु और सज्जनो का सत्सग, भक्ति अथवा शुभाचरण नहीं छाजता, ये आश्चर्य। शुभाचरण-दया, धर्म, जीव-रक्षा तो नहीं छाजते, परन्तु दुर्बुद्धि-जनित

जीववध करना, माँस खाना, मदिरा पीना और नाना अमल करना ये सब विकारी आचरण छाजते हैं। यह तो बात ऐसी ही हुई कि—"आँख मूँदि खन्धक परि छाजत, देखि के चलब अछाजत रे" इस दुर्बुद्धि में अनेक पापकर्म कर-करके उसके फल अनन्त दुसह दुखो को मनुष्य भोगते रहते हैं। अरे! यह जब तक सत्संग में जाकर यथार्थ ज्ञान को न धारण करेंगे, तब तक भ्रमजन्य दुख मिटने का नहीं॥ ३॥ भूत-प्रेतादि छाजने व न छाजने का मिथ्या भय और लालच रखकर यह जीव गुरुभक्ति से विमुख हो अपना अकाज कर रहा है। जैसे किसी रास्ता चलने वाले की बुद्धि चक जाती हे तब वह पश्चिम मे सूर्योदय मानकर उलटे कोस चलने लगता है, जिससे उसका घर और दूर होता जाता है। परिश्रम, भूख, प्यास आदि ताप ऊपर से सहना पड़ता हे, वैसे ही भ्रमवश अपनी कल्पना से निर्जीव वस्तुओ में समर्थ देव की कल्पना कर जीव-वध करके परिश्रम से अपने लिए ताप की भट्ठी तेयार कर रहा है, ये सब बुद्धि-भ्रम का फल है॥ ४॥ सद्रहस्यवान साधु-सन्तो से प्रणाम-वन्दगी करने, सत्संग मे बैठने, सद्ग्रन्थ पढने और न्याय, धर्म आचरने, ऐसे शुभकर्मों से ये अबुध जीव बहुत लजाते-खिसियाते हें, किन्तु वेश्याओ के नाच मे बेठने, नाना भाँति झगडने, गाली बकने, स्त्री के समान फैशन बनाने, वाम-विरह मे मस्त होने, नशेबाजी, जुआ, झूठी दलाली करने, चोरी, व्यभिचार, हिंसा, घात आदि खोटे कर्मों से तो ये तनिक नहीं सकुचते। अहो! हम मनुष्य देह पाकर अपने और दूसरे के लिए क्यों फाँसी गढ़ रहे हैं, इस बात का तनिक विचार न रखकर अशुभ कर्मों से हटने को कौन कहे, उसी मे सलग्न होकर पशु-जीवन की भाँति दिन काटते हैं। "निर्जिव आगे सर्जिव थापै लोचन किछउ न सूझे"॥ बी०॥ ५॥ अरे हे भाई! विचार करो, परपीडा रूप पाप कर्म आर परोपकार रूप पुण्य कर्म ये दोनो पूर्व जन्म मे जितना रच-रचकर धर रक्खा गया हें, वही समय-समय पर संस्कार खुलने से भोग होते रहते हें। पाप के परिणाम में दुख, अनेक प्रकार के रोग-व्याधि, प्रिय वस्तुओं का बिछुडना इत्यादि नाना सकट प्राप्त होते हैं ओर पुण्य के परिणाम मे अनुकूल वस्तुएँ, सुसग आदि सब सुख मिलता रहता हे॥ ६॥

जिस समय कोई देवी-देव या पीपर-पाकर की पूजा करके दुख निवृत्ति ओर पुत्री-पुत्रादि की प्राप्ति हित कुछ मान्यता की गयी ओर उसी समय अपना पूर्वपुण्यफल भोग सम्मुख आने वाला हे, तो उन शुभ कर्मो के उदय मे पुण्य के अनुसार सुख की अवश्य प्राप्ति होगी। ऐसे योग्यतानुसार सुख की प्राप्ति जानकर दुख से पीडित अबोधी मनुर्ष्य कहने लगते हैं कि जो मैंने देवी-देव और जड पीपर-पाकर की मान्यता की और छाजने वाले टोना-टम्बर, फूँक-झार, दुआ-ताबीज किया-करवाया, इससे यह पुत्र-लाभ, धन-लाभ तथा यश-लाभ मुझे हुआ॥ ७॥ पर थोडा भी विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती हे कि ज़ब पूर्वजन्म के शुभ सस्कार उदय होंगे तब सुख मिलेगा और जब पाप कर्मों का फल उदय होगा, तब हानि, ताप, अपमान आदि कठिन से कठिन दुख भोगना पड़ेगा॥ ८॥ जिस समय पूर्वकृत पाप कर्मों का भोग मम्मुख हो, उसी समय सत्संग-भक्ति या कोई भी शुभाचरण करने पर कोई हानि हो जाने से अज्ञानी मनुष्य झट यह मान लेते हें कि अच्छे कर्म मुझे छाजते ही नहीं। अच्छे-अच्छे कर्म करते हुए भी मुझे यह-यह दुख हो गया, परन्तु यह पूर्व कर्मों का बासी भोग (प्रारब्ध) उदय हुआ है, ऐसा न समझकर भ्रम से लोभ आर मोह के वश शुभकर्मो को न छाजना मानकर सत्संग आदि साधन ही छोड बेठते हैं। इस पर एक उदाहरण सुनिए—

दृष्टान्त—राजा भोज को कविता सुनने की बडी रुचि थी। यहाँ तक कि कोई भी उनके दरबार मे छन्दोबद्ध श्लोक बनाकर ले जाता तो राजा भोज यथोचित पुरस्कार देते। यह बात बाल से वृद्ध तक को मालूम हो गई। छोटे-छोटे चार लडकों ने कहा—चलो! हम लोग भी राजा भोज के यहाँ कुछ सुनाकर इनाम लावे। चलते-चलते एक लडके का ध्यान उधर गया, जिधर एक खेत मे चूहा जल्दी-जल्दी मिट्टी खोदकर बिल बना रहा था। उस लडके ने कहा—मेरा तो छन्द बन गया, "खोद भसाभस-खोद भसाभस"। फिर वे लडके आगे बढे, दूसरा देखता क्या है कि एक मोटा-ताजा बन्दर डाल पर बैठा है। दूसरे लडके ने कहा कि मेरा भी छन्द बन गया, "बैठ घटरमल-बैठ घटरमल"। फिर वे सब आगे बढे। तीसरे का ध्यान एक मोटे साँप पर गया, बस उसने कहा—मेरा भी पद्य बन गया, "परा मरा अस-परा मरा अस"। फिर वे सब आगे बढे, इतने मे कई मृग छलाग मारते हुए भागे जा रहे थे। उन्हे देख चौथे ने कहा, मेरी भी कविता बन गई, "जात फलगत-जात फलंगत"। चारो बालक राजा भोज के दरबार मे जा उपस्थित हुए। देखते ही राजा भोज ने पूछा—कहो प्रिय बालको! क्या कहना है? लडको ने कहा—हम लोग भी कविता बना कर लाये है। राजा भोज ने कहा—एक-एक करके अपनी कविता सुनाओ।

एक ने कहा—"खोद भसाभस-खोद भसाभस" दूसरे ने कहा—"बैठ घटरमल-बैठ घटरमल" तीसरे ने कहा—"परा मरा अस-परा मरा अस" चौथे ने कहा—"जात फलगत-जात फलगत"। इस प्रकार वे चारों कविता सुनाने के पश्चात बोले—राजासाहब! हम लोगो को भी पुरस्कार मिलना चाहिए। राजा और दरबारी सब खुश हो गये। राजा भोज ने उन्हे पाँच-पाँच रुपये पुरस्कार देकर विदा किया। जिस समय आधी रात आई, उस समय राजा भोज ने मत्री से कहा—उन लडको की बात पर भी विचार करना चाहिए। तब मन्त्री ने प्रथम यह बात कही "खोद भसाभस-खोद भसाभस"। उसी समय वहाँ कई चोर राजा के राजमहल की दीवार मे सेध लगा रहे थे। जब उन लोगो ने सुना "खोद भसाभस-खोद भसाभस" तब तो वे सदेह मे पड गये कि क्या जाने कोई देखता है क्या! इस सन्देह मे वे चुपके से बैठ गये। तब तक राजमत्री के मुख से निकला "बैठ घटरमल-बैठ घटरमल" इतनी बात सुनते ही और सन्देह मे पडकर सब्के सब चोर लेट रहे। फिर यह आवाज निकली "परा मरा अस-परा मरा अस" बस चोरो को निश्चय हो गया कि अवश्य राजा देख रहा है, इतना निश्चय होते ही वे सब भागने लगे। तब तक निकला "जात फलंगत-जात फलगत" इतना सुनकर चोरो को निश्चय हो गया कि अवश्य राजा देख गया।

सबेरा होते ही राजा ने देखा कि हमारे महल मे कुछ सेध कटी है। राजा इस बात की खोज कराने लगा। इतने मे मारे डर के वे सब चोर आकर स्वयं हाजिर हो गये और कहने लगे कि हम लोग ही आप के महल मे सेध देने के लिए आये थे। कृपया हम लोगो को आप प्राण दान दे, हम लोग फिर कभी ऐसा काम न करेगे। राजा भोज ने कहा—तुम लोग चोर होकर स्वयं अपना पता कैसे दे रहे हो? चोरो ने कहा—सरकार! आप देख ही रहे थे। आपने देख कर ही तो अमुक-अमुक बाते कही थी। यदि हम लोग स्वय उपस्थित न होते और यह बात न कहते तो भी पकड़ मॅगवाते, इस कारण हम लोग आपके बालक हैं, आप क्षमा कीजिए। राजा ने उन्हे उचित बातें समझाकर छोड दिया और मन मे कहा कि देखो! समय पर छोटे की बात भी काम देती है।

इस दृष्टान्त से यह वात समझना हे कि जसे राजा भोज क्या जानता था कि चोर हमारे यहाँ चोरी कर रहें हें जिससे कि ऐसी वात कहूँ जो ये चोर भाग जावे। नहीं, वह कुछ नहीं जानता था, वहाँ सयोग ही ऐसा वन गया। इसी प्रकार कुछ रोग-व्याधि या कोई भी दुख कटने का समय आ गया ओर उसी समय कोई देवी-देवता की मान-मनोती किया, इतने मे उसके दुख-भोग का अन्त हो गया, वस निश्चय हो गया कि देवी-देवता ने किया-धरा हे। कोई शुभ कर्म किया गया, उसी समय कोई कष्ट होने का पूर्व जन्म का भोग सम्मुख हो गया तो अज्ञानी को भ्रम हो जाता हे कि ये शुभ-कर्म मुझे नहीं छाजते, परन्तु वे उसी प्रकार मान लेते हें, जिस प्रकार उन चोरो ने चारो वातो का सयोगवश अपने लिये निश्चय कर लिया। वैसे ही यह जीव भूत-प्रेत, छाजना-न छाजना मर्व मिथ्या होते हुए भी अपने किये हुए कर्म भोगो के चक्कर मे भटककर दूसरे को वृथा गुण-दोप देकर कल्पना के हाथ विक रहा हे॥ ९॥ अरे। यह 'न छाजने' की मानन्दी ही विकट भयदायक जगल हे, जो कि अज्ञानरूप भूमिका मे हरा-भरा प्रफुल्लित हो रहा हे अर्थात जहाँ विवेक-विचाररूप प्रकाश नहीं ह ऐसे अज्ञानरूप अंत.करण-भूमिका मे ही भूत-प्रेतादि आर 'न छाजने' का सशय रूप वृक्ष प्रफुल्लित रहता है॥ १०॥ जिसमे हिसा, अनीति, अधर्म, नाना कल्पना, अनुमान ओर अपवित्रता ये सव दुर्गुणरूप वाघ-भालू आदि वन के जीव रहते हं, जो कि क्षण-क्षण जीव को आपदा मे डालते रहते हैं। पूर्वोक्त सव कल्पना मन की है, इसमे मन.कल्पित भूत-प्रेतादि मानकर अथवा और भी तमाम छाजने न छाजने की वाते निश्चय कर दिग्भ्रम के ममान कल्पित मार्ग रच-रचकर उनके फन्दे मे ये जीव पड रहे हैं॥ ११॥ मन.कल्पित भ्रमोत्पादक पन्थ मे कल्पना का कर्ता स्वत: जीव ही भटक-भटक कर अपना अनमोल रत्न समय वरवाद कर रहा है। जिस समय का एक क्षण भी सत्य स्वरूपस्थिति से पृथक न खोना चाहिए उस समय मे अवुध मनुष्य एक क्षण भी स्वस्वरूप का स्मरण तक नहीं करते। इसी से जगत-नगर का गधा वनकर खानी-वानी की लादी भी खूव लाद-लादकर भटकते रहते हें और अपना अमूल्य समय भ्रमजाल मे गवाँ देते हैं॥ १२॥ सत्संग करके स्वत: विवेक से जो यथार्थ स्वरूप का निश्चय किया गया सो ज्ञान है—

चोपाई—*मैं अविनाशी सकल परीक्षक। भूलि स्वत जड भास कुँ इच्छक॥*
मो समता मे अग्नि न वायू। जल थल कारण कार्य न कायू॥
गो मन की समता हो केसे। द्रष्टा दृष्य माहि नहि ऐसे॥
स्वत प्रकाश आप ही आपा। गो गोचर सव ह सतापा॥
सकल वृत्ति को त्यागि जो शेपा। अपनो ज्ञान आप हे देशा॥
जड से खास सम्वन्ध न जाको। भूलि स्वत· गो मन मनसा को॥
सोई स्वत. जो प्रेरित देहा। ह ह करि सव करत सनेहा॥
भव सनेह से वृत्ति हटावैं। जानि स्वरूप आप ठहरावैं॥

दोहा—ज्ञान भानु इमि आप लखि, करें आप को थीर।
परख प्रकाशी भर्म दलि, सदा सत्य गम्भीर॥

जव ऐसा ज्ञानरूप सूर्य जीव के घर मे उदय हो तव उसके सव भास, अध्यास, मिथ्या मानन्दी छूटे। जब तक स्वरूपज्ञानरूप सूर्य न उदय होगा तव तक सव भ्रम छूटकर सच्चा रास्ता

नहीं मिल सकता॥ १३॥ सन्मार्ग पाये बिना यह जीव झूठे जगत की आसक्ति के वश बार-बार जन्म-मरण के मुख मे चबाया जावेगा और माता की जठराग्नि मे जलेगा। फिर बाहर आकर मन, इन्द्रिय, प्राणी और जडतत्वो की प्रतिकूलता मे दुख पावेगा। कहॉ तक कहे, बार-बार शरीर धारणकर त्रिविध तापमय सब दुखो मे तलफेगा॥ १४॥ जीव की यह सब दुर्दशा इसीलिए होती रहती है कि रक्षक गुरु-पारख को नहीं पहचानता और भक्षक मन-मानन्दी जाल की ठगाई और भ्रमिको के पेचो की परीक्षा नही करता। भला! रक्षक-भक्षक को जाने बिना रक्षक का ग्रहण और भक्षकों का त्याग कैसे कर सकेगा! बिना भक्षको को त्यागे दुर्बुद्धि अधिक पुष्ट हो जायेगी, जिससे हमेशा दुख ही दुख हुआ करेगा। अत. जो अपना कल्याण और सुख-शान्ति चाहे तो गुरु-पारख की तलाश करे तथा उनकी बोधदृष्टि ले झूठी मन-मानन्दियो को त्यागकर थीर होवे॥ १५॥

शब्द—२३

खोज करौ वहि का छाजै न जौन॥ टेक॥

कौन सरूप बरण घर वहि का, बिना अकार व कौन॥ १॥
बिना दरश बिन परश किये तेहि, बिना शक्ति गुण भौन॥ २॥
शुन्य से बृक्ष भये फल लागे, खाये बॉझसुत तौन॥ ३॥
यह सब सत्य त्रिकाल न कबहूँ, झूठे झूठ लखौन॥ ४॥
कहै कबीर अभय ह्वै परखौ, यह जग भरम भुलौन॥ ५॥

टीका—हे जगज्जीवो! 'न छाजने' की मानन्दी की खोज करो, विचार करो कि यह सच्ची है या झूठी॥ टेक॥ विचार करो 'न छाजना' का स्थूल-सूक्ष्म क्या स्वरूप है, कौन सा रूप-रग है, वह किस देश मे रहता है। जो उसका क्रियायुक्त कुछ स्वरूप हे तब तो सबको दिखाई पडना चाहिए और 'न छाजना' बिना रूप-रेखा का है तो भला वह क्या चीज है? क्योकि कुछ आकार-रूप के बिना वह शक्तिसामर्थ्य भी क्या धारण कर सकेगा? यदि गुण-शक्ति नही, तो वह 'न छाजना' क्या चीज है?॥ १॥ मिथ्या मानन्दी को देखे और उससे किसी प्रकार मिले बिना तथा उसकी शक्ति-सामर्थ्य को भी खोजे बिना उसको मान लेना ऐसे ही हुआ॥ २॥ जैसे कोई कहे कि शून्य मे सघन शाखाओ का एक वृक्ष लगा है और उसमे खूब सुन्दर मीठे-मीठे फल लगे हैं और बॉझ के लडके ने उस वृक्ष पर चढकर उन फलो को तोड़-तोडकर खूब खाया और अघाया है॥ ३॥ जैसे उपरोक्त बाते भूत, भविष्य, वर्तमान तीनो काल मे सत्य नही है, वैसे 'न छाजना' और भूत-प्रेतादि खानि नाना अनुमान सब मिथ्या है तथा मिथ्या मानन्दी रखने से रस्सी सॉप के समान सत्य जान पडती है॥ ४॥ श्री सद्गुरु कहते हैं—सब भ्रम-भास को तोडकर परीक्षा करो, निर्भय हो जाओ तथा आप थीर रहो। यह जगत तो भूलभूलैया मे भटक ही रहा है॥ ५॥

शब्द—२४

डगर भूली घर की राति ॲधेरी॥ टेक॥

बिन रबि उदै जाय दुख कैसे, जब लगि मग निज नैन न हेरी॥ १॥

घूमि घूमि उत्तही को धावै, जेहि दिश भरम भुलेरी॥ २॥
सुकृत उदै कहुँ सन्त समागम, विन दृढ़ता तेहि गहत न हेरी॥ ३॥
लोनियाँ पुरुष कहे वहँकोइया, नारि पुरुष भुले राढि टनेरी॥ ४॥
कहें कवीर विन पूर परिक्षा, छूटै न दुख चहै कोटि करेरी॥ ५॥

टीका—स्वस्वरूप के अज्ञान के कारण नाना विपरीत मानन्दी अँधेरी रात्रि है, जिसमे पडकर अपना स्वरूपस्थिति रूप घर और उसके मार्ग मत्सग, भक्ति, शील आदि सदाचरण छूट गये, इसी से यह जीव नाना कल्पनाकृत मार्गो मे भटकता रहता है॥ टेक॥ भला गुरुज्ञानरूप सूर्योदय हुए विना रास्ता केसे दीख पडेगा। जव तक सूर्योदय से अधकार नष्ट न हो, तव तक स्वय नेत्र होते हुए भी कुछ नहीं सूझता। वेसे ही जीव ज्ञानस्वरूप होते हुए भी पारखीगुरु के सग विना स्वत: विवेकरूप प्रकाश न होवे तो सत्मार्ग केसे सूझेगा ? ॥ १॥ पारख प्रकाश के विना अज्ञान-रात्रि मे तो घूम-घूमकर भूले मार्ग में ही दौडता है। जिस संग से, जिस ठौर से, जिस करतूत मे भ्रमजाल की पुष्टि होती है, उधर ही जाकर पचता हैं॥ २॥ जव कुछ पूर्व के पुण्य सुकृत वश कहीं विवेकी साधु-गुरु—सज्जनो के दर्शन हुए तो भी निर्भयता, परमार्थ-पुरुषार्थ मे दृढता धारण किये विना न तो संत के पास ही जाता है न कुछ निर्णय-विचार ही करके यथार्थ पद शोधन करता ह। कहा भी है—"लोक लाज कुल कान के मारे। भँवरि-भँवरि भव रहहि विचारे"॥ प०॥ ३॥ यह तो वात ऐसी हुई कि जैसे एक नगर में ब्राह्मण वर्ण के स्त्री और पुरुष परस्पर वडे मेल से रहते थे। एक दुष्ट मनुष्य ने यह सोचा कि इन दोनो मे फूट पड जावे तो कितना अच्छा हो। उसने इसके लिए एक युक्ति की। पहिले स्त्री से मिलकर कहा—तेरा पुरुष लोनिया ह। वह बोली—क्यो ? वहकाने वाले ने कहा—उसके वदन को चाटकर देखना, जव लोनखर (खार) लगे तव जान लेना यह विप्र नहीं, लोनिया ही है। यह वात उस भोली स्त्री को निश्चय कराकर फिर वहकाने वाला पुरुष के पास गया और वोला कि तेरी पत्नी पहले जन्म की कुतिया हैं। उससे अधिक प्रीति न करियो। पुरुष वोला—क्यो ? वहकाने वाले ने कहा—कभी रात को परीक्षा कर लेना। जव रात्रि हुई तो स्त्री लेटे हुए पुरुष की देह परीक्षार्थ चाटने लगी। चाटने मे स्वाभाविक पसीना का अंश खार मालूम हुआ, तव तो इसे निश्चय हो गया कि मेरा पुरुष अवश्य लोनिया है ओर पुरुष ने उसे चाटते हुए देखकर निश्चय कर लिया कि अवश्य यह पहले जन्म की कुतिया है।

पुरुष ने कहा—हट कुतिया। स्त्री ने कहा—हट लोनिया। दोनो आपस में झगड गये। जेसे वहकाने वाले ने उन स्त्री-पुरुष को मिथ्या वात सुनाकर झूठा झगडा वना दिया था, वैसे ही ओझा-नाउत, अज्ञानी स्त्रियाँ या औघड, शैव, शाक्त या कोई भी जो कि मिथ्या भ्रमजाल की वाते दृढ करते हें, उनके वहकाने से जीव की वुद्धि भ्रमित हो जाती है और वे परम हितेपी कृपालु सद्गुरुदेव से विमुख होकर जहाँ-तहाँ खोटे नर-नारियों और नाना भ्रम के हाथ विककर खुशी से नाचते रहते हैं। इसमे वहकाने वाले ससारी और भ्रमिको का सग ही मुख्य कारण है॥ ४॥ गुरुदेव कहते हें कि जव तक स्वस्वरूप से पृथक सम्पूर्ण खानी-वाणी जालो की परीक्षा न हो जायेगी तव तक जन्म, मरण, गर्भवास सम्वन्धी समस्त दुख छूट नहीं सकते। पारख छोडकर और चाहे करोड़ो यत-मत-तंत का साधन किया करे, परन्तु दुख छूटने के वदले वढ़ता ही जायेगा। इसलिए विवेकी सतो का भली प्रकार सत्सग कर पारखदृष्टि पुष्ट

करना चाहिए, जिससे कि फिर कोई भ्रम न पैदा हो॥ ५॥

शब्द—२५

लखै कोइ मन का भरम भरोस॥ टेक॥
शुन्य से चोर प्रगट ह्वै मूसै, सकल खजाना कोष।
न्यायक पास करै फिरियादी, काहि जुरुम करि तोष॥ १॥
बुद्धिमान जो ताहि बिचारैं, मनुषहिं खोज करोस।
जो कहुँ पावैं दण्ड करै तेहि, रक्षा धनहिं लहोस॥ २॥
तेहि ते भरम छाँड़ि दे मनुवाँ, इत उत भटकि छुटोस।
आप आप में खोज लगावो, घरहिं मे चोर मिलोस॥ ३॥
ताहि उजारौ कुशल चहौ जो, बसिये सन्त परोस।
जहाँ समागम होत सदाई, सत्यासत्य लखोस॥ ४॥
सकल कल्पना दुखहिं मिटावो, सत पद पाय तरोस।
जनम जनम की भूल मिटै सब, सुखिया सदहिं रहोस॥ ५॥

टीका—मिथ्या मानन्दी की आशा पकडकर सब जीव भूल रहे है, उसकी परीक्षा कर कोई बिरले ही विचारवान पृथक रहते हैं॥ टेक॥ जैसे न्यायक के पास कोई फैसला कराने के लिए यह बात पेश करे कि शून्य से चोर उत्पन्न हुआ, उसने सारे ससार का खजाना चुरा लिया। इसलिए शून्य के चोर को पकड कर आप दण्डित करे, जिससे कि आगे खजाना सुरक्षित रहे। तो भला न्यायक किस पर दड करेगा, और उस उजुरदार को कैसे सतोष दे सकेगा। ॥ १॥ बुद्धिमान न्यायक इस बात पर विचार करता है कि शून्य से तो चोर होता नही, फिर शून्य का चोर कैसे खजाना चुरा सकता है। तो यह जो चुरा गया है, सो कोई मनुष्य ही ले गया है। ऐसा सोच-विचार कर वह मनुष्य समाज मे तलाश करके उस चोर को पकड और उसे नाना दण्ड देकर फिर धन की रक्षा करके यथार्थ न्याय करता है॥ २॥ इस न्याय को विचार कर हे मनुष्य। तू छाजने-न छाजने की बात छोड दे। जिससे तेरा इधर-उधर का भटकना बन्द हो जाय। दुख-सुख, हानि-लाभ का हेतु शून्य-चोरवत कोई अरूप छाजना-न छाजना नही है। बल्कि उसका हेतु तू अपने आप ही मे शोधन करे तो तेरे पूर्व शरीर के आधार से पूर्व पाप-पुण्यरूप कर्म ही तेरे दुख-सुख के हेतु हो रहे है और सर्व मानन्दी रूप चोर को कल्पनेवाला तू ही है, अत· उन सर्व कल्पित चोरो को परख कर तू छोड दे॥ ३॥ उस घातक चोर कल्पित भ्रम को अपने अत.करण से ज्ञानरूप दण्ड मारकर भगा दो। हे जीव। जो अपना कुशल और मगल चाहते हो तो विवेकी सतो के पास मे बासा करो, जहाँ नित्य सत्य की चर्चा हुआ करती है, परस्पर मधुरवचनो से शका-समाधान हुआ करता है, उसी दरबार मे जाकर सत्य और असत्य, असली और नकली की परीक्षा मिलेगी॥ ४॥ सत्य स्वरूप के बाद परोक्ष-अदेख बानी मात और प्रत्यक्ष-इन्द्रियगोचर इन लोगो की कल्पना-दृढ मानना-आसक्ति ही दुख का रूप है। जब सब विजाति कल्पनाएँ मिटा दी जाती हैं तब जीव दुख रहित हो जाता है। अत: उन कल्पित चोरो को विवेक से मिटा दो। कल्पनाकर्ता परम श्रेष्ठ अपने चेतन स्वरूप को सत्य

जानकर सतोष, शील, विचार, धीरज से ठहराते हुए इस चोर नगरी से मुक्त हो रहो। इसी युक्ति से जन्म-जन्म से पीछे पडी अनत काल की भूल मिट जायेगी और जीव अपने आप मे ठहरकर जीते जी जीवन्मुक्ति मे सुखी रहेगा। प्रारब्धान्त पीछे तो स्वत: निराधार स्वरूपदेश मे ठहर ही जायेगा। अत: हे जिज्ञासु! अनुमित भूल-भटक छोडो, सत्सग करो, स्वरूप को जानो, सद्रहस्य में ठहरो, सब अन्य विजाति कामना छोडकर थीर रहो॥ ५॥

अज्ञानवश होकर व्यर्थ समय खोते ह

दृष्टात—एक नासमझ गॉव मे लोगों को निश्चय था कि अँधेरा उलीचने से जा सकता है, अन्यथा नहीं। इस कारण जेसे पानी उलीचने के लिए ढेकी, गर्रा या बेड़ी लगाते हैं, वेसे अँधेरा उलीचने के लिए वे नित्य-नित्य वारी-वारी दस-बारह लोग गाँव के वाहर रात भर खडे-खडे छूँछी बेंडी हिलाया करते (वेडी जो पानी उलीचने की दारी होती है)। जब प्राकृतिक क्रियानुसार भोर हो जावे तब वे लोग निज-निज घर को जाकर काम-धन्धा मे लग जाते, ऐसा करते-करते बहुत काल वीत गये। एक दिन एक विवेकवान सत उस ग्राम मे पधारे। दिन को गॉव के लोग सेवा-सत्कार करके जब शाम को सत्सग का मौका आया तब वे सबके सब कहने लगे—महाराज! हम लोग अॅधेरा उलीचने जा रहे ह। सत आश्चर्यित होकर पूछे—तुम लोग क्या कह रहे हो? लोगो ने कहा—अॅधेरा उलीचे विना कैसे भगेगा? यह बात हम लोगो को पूर्ण निश्चय है।

सत समझ गये कि इन्हे ठीक-ठीक उजाला होने का ज्ञान नहीं है, इससे इन्हें समता से समझाना चाहिए। सत ने लोगो से कहा—तुम लोग कुछ देर सत्सग सुनकर अपने घर जाके सो रहो। लोगो ने कहा—फिर सबेरा कैसे होगा? सत ने कहा—मैं अँधेरा भगाकर नित्य के समान प्रकाश करा दूँगा। लोग सत का वचन मानकर वैसा ही किये, पर सबो को सन्देह लगा रहा। जब भोर हो गया तब लोगो की श्रद्धा संत मे बढी। फिर कुछ दिन वाद अत्यत श्रद्धा देखकर सत ने सबो को समझाया कि प्रकाश के अभाव का नाम अँधेरा हे। सूर्य अग्निमय होने मे प्रकाशरूप है। वह प्रकृति के नियमानुसार ब्राह्माण्डिक भूगोल-खगोल की अनादि क्रिया-वश छिपता और उदय होता हे। एक प्रकाश ही ऐसा ह कि जो अँधेरा को भगा सकता हे। क्या अँधेरा पानी हे जो उसे उलीचकर दूसरी जगह कर देगे? यह सब तुम लोगो का धोखा हे। अब मिथ्या अँधेरा उलीचना छोडकर सत्सग करो, सद्ग्रन्थ पढो और मन-इन्द्रियो का निरोध करो जिससे इस चला-चली ससार मे अपना कार्य पूर्ण होकर असार-नश्वर ससार से छुट्टी मिल जावे। ये सब वचन सुनकर सबके नेत्र खुल गये। सब अँधेरा उलीचने का मिथ्या परिश्रम छोडकर यथार्थ परमार्थ रास्ते को तय करने लगे। इसी प्रकार दुख-सुख, हानि-लाभ, बध-मोक्ष सब कुछ अपने प्रारब्ध और पुरुषार्थाधीन न समझकर अज्ञानीजन भूत-प्रेत, देवी-देव, चुडेल, ब्रह्म राक्षस आदि या कोई परोक्ष शक्तिमान के हाथो मे मानते हे जो अधकार उलीचने के समान हे। अनादि काल से जीव इसी भ्रमजाल मे पडा ह। भाग्य-सयोगवश जब पारखी सत मिल जाते हैं, तब वे समतापूर्वक उसका अँधेरा उलीचना छुडा कर चेतनदेव की उपासना मे लगा देते हे। धन्य-धन्य श्री गुरु! उनके ज्ञान-प्रकाश के विना कोटि उपाय से दुख दूर नहीं हो सकता, अत. मिथ्या भय त्यागकर गुरुज्ञान मे पागे।

प्रसंग १०—रहस्ययुक्त स्वरूपस्मरण

चोकडी—२६

स्वत सत्य तू जान जीव। पच विषय जड भाव कीव॥
यहि के परे और नहिं कोय। जड प्रियता तजि दुख को खोय॥

टीका—हे जीव! तू ही स्वत सत्य है, तेरा कोई कारण-कार्य और कल्पित कर्ता नहीं है, तू अपने आप अनादि नित्य है, केवल जान मात्र है। "जानहि मात्र जीव है सोई। जान ते अधिक और नहि कोई"॥ नि०॥ तेरे स्वरूप से अलग पॉचो विषय जड हैं, तिनमे तेरी प्रियता ही बन्धन है। तू चेतन है और तेरे अलावा सब जड, इन दोनो से पृथक कोई तीसरा मालिक या मूल कारण नही है। जड़ देह-गेह पच विषयो मे जो तेरा स्नेह है वही जन्म-मरण दुख का कारण है। उस जडप्रियता अर्थात जड मे सुख दृष्टि को त्यागकर सर्व दुखो से छुट्टी पा जाओगे।

सुनहु शिष्य गुरु शिक्षा येही। दुख सुख रहित तू अमर अचेही॥
धीर क्षमा सतोष दया।सत्य शील गुरुभक्ति लया॥

टीका—गुरुदेव कहते हैं—हे प्रेमी कल्याणेच्छु! तुम यही मूल मन्त्र समझो, तुम्हारा स्वरूप दुख-सुख रहित है। दुख-सुख कामना या मानन्दी से होते रहते है, सो कामना मानन्दी से रहित तुम ही अजर, अमर जानमात्र हो। अपना स्वरूप जैसा हे वैसा ठहरने के लिए धैर्य धारण करे, साथ ही क्षमा, सतोष, दया, सत्य, शील और गुरुभक्ति लक्षणो के सहित रहे।

गुरुदेव नमन करि शरण गहौ। सत पथ लै यहि रहनि रहौ॥
समता सरल सजगता धारै। ह्वै उदार निज कष्ट निवारै॥
गहै नही कोइ बन्धन जग के। भूलि न जाय मोह मे धस के॥

टीका—सद्‌गुरुदेव को नमन-बन्दगी भाव करके नम्रतायुक्त उनके शरण-आधार से जीवन व्यतीत करो। इस प्रकार सतमार्ग-गुरुमार्ग या पारख सिद्धान्त पर चलते हुए इन्हीं रहस्यो को अपनाये रहे। हे कल्याणार्थी! समता से बोले और सरलता से व्यवहार करे, हरदम इस मोह-नगरी मे सावधान रहे,और लोभ त्यागकर उदार होवे, इस प्रकार अपने मानसिक दुखो का निवारण करे। स्वरूपस्थिति हेतु इन रहस्यो से अलग कोई भी जगतबन्धन का कर्तव्य न करे, सदा स्वरूप-भाव का स्मरण रक्खे, स्वस्वरूप को भूलकर कही खानी-बानी के मोहक बाणो से घायल न होवे। सदा पूर्व कहे रहस्य ढालो से तिनके मोह-तीर को नष्ट करता रहे।

साखी—तन उदास सब भोग तजि, सद्‌विवेक मन काज।
ताहि करावो प्रेरि अब, जेहि न सजै दुख साज॥

टीका—नख-शिख अपनी काया का अभिमान त्याग करे, उपराम हो जावे, यह जान ले कि देह ही सर्व दुख का मूल है और सर्व विषय विलास-सुखभोगो से मुँह मोड लेवे, तिनसे पीठ देकर सत्यासत्य को विवेक से पृथक करके सत्यस्वरूप के भाव का मन से मनन करे और जो कुछ करे सब विवेक करके गुरुपद के न्याय अनुसार ही करे तथा मन-इन्द्रियो को प्रेरित करके उनसे ऐसा ही कार्य करावे कि जिससे फिर दुख-साजरूप देह न धरना पडे या

फिर दुखसामग्री विपयो मे न उलझना पडे। गुरुपद मे लगने का विशेष विस्तार भक्ति-भरण के "हमारे मन गुरुपद शिरहि धरौ" इस शव्द की टीका से मनन करे।

चोपाई—२७

मन वहिलावन शव्द न वोलौ। नहिं सुनि ताहि हिये को खोलौ॥
संयम करौ मनन को तैसे। इन्द्रिन क्रिया सम्हारौ वैसे॥

टीका—केवल मन की प्रसन्नता निमित्त, जो खास शरीर यात्रा आर परमार्थ साधक वाते न हो, केवल सुख मानकर मनोविनोद मात्र शव्दो को बन्धन रूप जानना चाहिए। ऐसे वन्धनप्रद शव्दो को न वोले, न सुने, न हृदय मे गुन कर वाहर प्रगट करे। जेसे वाक्य सयम वताया गया उसी प्रकार मनन का भी सयम करे, जगत-प्रपच, विपय-विकार, राग-द्वेषादि का मनन-चिन्तन न करे और इन्द्रियो की क्रिया का भी वेसे ही सयम करे।

निज स्वरूप ठहरा ततकाला। सव सुख भास तजो लखि जाला॥
सकल विघ्न जड गुण को धारे। तहँ खोजो सुख निज को हारे॥

टीका—जिनके देखने, सुनने, भोगने से स्वरूपस्थिति मे सहायता न मिले, उलटे सुखाध्यास पुष्ट होवे और वन्धन वढे, उन सर्व विपय-भोग-क्रियाओ को त्याग देवे। इस युक्ति से अपने स्वरूप मे ज़ल्दी से जल्दी ठहर रहे। जितना इन्द्रिय-गोचर पदार्थो में सुख निश्चय होता है, उसको वन्धनरूप जानकर एकदम छोड़ देवे। शव्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श विषयो को ग्रहण करने ही से सव द्वन्द्व सहना पडता हे। सहते तो हरदम दुख, पर फिर-फिर उन्हीं विपयो मे अपने सत्यस्वरूप धन को गवॉकर सुख खोजते रहते हो।

जेहि हित जड़ ध्यावन को पेशा। सो तौ आप रहौ जो शेषा॥
दे जड़ पीठि आप मे रहिए। तव तोहिं प्राप्ति होय जो चहिए॥
सव असमजस छूटै तवही। स्वत· स्वतन्त्र राज्य ह्वे जवहीं॥

टीका—अरे। जिस कामनानिवृत्तिरूप सुख-शान्ति के लिए ओर सर्व दुखनिवृत्ति के लिए जड-तम विषयो मे ध्यान करने का एक पेशा (कर्तव्य) कर लिए हो, मो तुम्हारा स्वरूप ही दुख दरिद्र रहित सवका जनैया अपने आप नित्यतृप्त, निष्काम हैं, तो दुखनिवृत्ति के लिए आप ही में आप ठहरो। हे जीव। यदि तुम जडविपयो ओर जड-भावना से पीठ देकर अर्थात अन्त.करण घुमा कर अपने आप मे ठहर जाओ तो जिस वात के तुम इच्छुक हो सो तुम्हारी सर्वकामनाएँ इसी दम पूर्ण हो जायेंगी, आर सर्व परिश्रम, सर्व परतन्त्रता, सर्व कामनाओ का अन्त होकर सदा सन्तुष्ट हो रहोगे। अपने स्वरूप मे ठहरते ही तुम्हारा सर्व असमजस, ऐचा-खेंची मिट जायेगी। स्वय अपने आप अटल राज्य सहज ही मिल जायेगा।

साखी—सव लाभन को लाभ हे, सव ज्ञानन को ज्ञान।
सव श्रेयन को श्रेय है, फिरि तेहि क्रिया न आन॥ १ ॥

टीका—स्त्री, धन, पुत्र, ऐश्वर्य, राज्य, विद्या, यश आदि जितने लाभ हे, सव लाभो से वढकर स्वरूपस्थिति का लाभ समझना चाहिए। वेदवाक्य, लोक चातुर्यता, यन्त्रनिर्माण आदि सव ज्ञानो से वढकर यह स्वरूपज्ञान जानना चाहिए। कल्पित कर्म, योग, उपासना, विज्ञानादि

सर्व श्रेष्ठ कार्यों से बढ़कर स्वरूपस्थिति पुरुषार्थ जानना चाहिए। जिस सर्वश्रेष्ठ स्वरूपज्ञान, स्वरूपस्थिति तथा स्वरूप-धारणा रखने से फिर अन्य पुरुषार्थ करने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता, वह स्वरूप विचार ही सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है, यही सर्व विवेकियो का अनुभव है, इसे ग्रहण करना ही बुद्धिमानो की बुद्धिमता है॥ १॥

मुक्त होउ मन बन्ध तजि, धरौ नहीं फिरि देह।
मानुष तन को लाभ यहि, करिये सहित सनेह॥ २॥

टीका—विषयो मे सुख मानने ही से सर्व बन्धन बन गया है। विषयो मे सुख है ही नहीं, सिवा दुख के। इस प्रकार निश्चय करके मनोमय से रचित सर्व विषय सेवन और सर्व कल्पित बानी जाल त्यागकर निर्बन्ध हो जाओ। स्वतन्त्र स्वरूप को जानकर स्वतन्त्र हो जाओ। बस, फिर तुम्हे देह ही धरना क्यो पडेगा। देह का मूल तो प्रापचिक बानी और विषयासक्ति ही है। जब उसे भली प्रकार दुखपूर्ण जानकर जड का राग त्याग दिया गया तो वैराग्यपूर्वक स्वरूपभाव सहित रहने से कोई सकाम वासना सम्मुख ही नहीं आ सकती, वासनायुक्त खैंच बिना जीव प्रारब्धान्त मे निराधार स्थित रह जायेगा, फिर कहाँ जन्म, कहॉ मरण, कहाँ देहोपाधिकृत सर्व उपाधियॉ, सबका अन्त होकर परम विश्राम स्थिति। बस, एक यही लाभ प्राप्त करना मनुष्य देह का परमपुरुषार्थ है। इस प्रसग का सादर-सहर्ष मनन-चिन्तन करके अपने कल्याण के लिए सर्वाग रहस्य धारण करना चाहिए॥ २॥

शब्द

गुरु सत्सग से क्या क्या न मिला, मन तू तिसे वेगि सम्हार करो॥ टेक॥
एक से एक विवेक मिला, निज चेतन बोध महान धनौ।
जेहि के बल भूख विदा सबहीं, मन तू तिसे वेगि सम्हार करो॥ १॥
मुक्ति के पॉचो नेम मिले, अब साहस हिम्मत जोर भले।
दल बन्द विवेक कि फौज बढी, मन तू तिसे वेगि सम्हार करो॥ २॥
जड सींचे से सब शाख हरी, निज स्थिति से सब काज सरी।
यक सन्त विशाल पुकारि कहैं, भवयान प्रबन्ध विचार करो॥ ३॥

सद्ग्रन्थ भवयान सटीक, चतुर्थ प्रकरण-जगत जहर समाप्त

फल रूप-छन्द

आसक्ति जग की त्यागने मे धीर हिम्मत क्यो तजे।
ऊबे न घातक जगत से हितकर गुरू से क्यो लजे॥
सब दुर्दशा सहि भोग चहि क्यो साधना मे नहि रजे।
सत्य तू जय सत्य की नित जानि यह गुरुपद भजे॥

चौपाई

दीन हीन गरजी बनि जावै। पारख गुरु से नाहि लजावै॥
सादर गुरु बानी को गावै। अवश्य धीर अमृत पद पावै॥

जिज्ञासु—सोरठा

परखायो जग हाल, जान्यो गुरुवर तव दया।
नश्यो बन्ध तत्काल, नित नव बाढत रुचि कथा॥

वैराग्य-वित्त

हेतु-छन्द

भव वस्तु गति रति चाह धारा के मदा तू वीच मे।
क्यो यत्न करता धार हित ह प्राप्त पॉचो कीच मे॥
श्रम विघ्न द्वन्द्व अनर्थ तृष्णा हेतु जग सुख मीच मे।
सव यत्न निश्चय उलट दे गुरु मत्र ले थिर सींच मे॥

साखी

विमल विवेकी अनुभवित, विशद विराग सु वित्त।
यहि अविचल धन रक्ष नित, लहै परम पद चित्त॥

सद्गुरवे नम

भवयान

पंचम प्रकरणः वैराग्य-वित्त

वन्दना-सोरठा

बन्दौ आदि कबीर, जिन प्रगट्यो निज बोध धन।
सोई दया गहि धीर, सदा रहौ मन गति लखत॥ १॥

टीका—मैं प्रथम उन श्री सद्गुरु कबीर साहिब की वन्दना करता हूँ, जिन्होने अविनाशी स्वरूपज्ञान-धन का बोध-प्रकाश किया। उन्ही की दयादृष्टि से पाये हुए सद्बोध-धन को धारणकर मन की चालो को देखते हुए सदा स्थित रहूँगा॥ १॥

जेहि ते निज ठहराव, छूटै नहिं जो दीन तव।
सद्बिबेक को भाव, कहत सुनत छूटै कलुष॥ २॥

टीका—जिससे आप सद्गुरु की दी हुई अचल स्वरूपस्थिति कभी बिछुड न जावे अर्थात स्वस्वरूप के दृढ विचार से मै पतित न हो जाऊँ, मन की चालो को देखते हुए धीरज सहित स्वरूप विवेक मे लीन रहूँ। उसी सत्य स्वरूप के विवेक भरे निर्णय वचनो को बार-बार कहने-सुनने से जडासक्ति कृत लते नष्ट हो जाती है। इसलिए निर्णय भरे वाक्यो को कहता-सुनता रहूँ॥ २॥

प्रसंग १—वैराग्य-रहस्य

शब्द—१

करौ अभाव बिषय सुख जग का, सॉच बिराग न राखै कोइ दुख का॥ टेक॥
सोय गये अनुभव सुख सबका, सुषुपति भये कहै का तब का॥ १॥
भय चिन्ता कोइ दुख नहिं खुटका, राजा बादिशाह का उनका॥ २॥
इच्छा जिनसे भिरै न कबहूँ, है सब तुच्छ कहे हम जिनका॥ ३॥

जब वह शुन्य होय मन इच्छा, देयँ प्रमाण काह अव वहिका ॥ ४ ॥
तेहिते स्ववश करो मन इन्द्री, जेहि ते मिटे कठिन दुख नित का ॥ ५ ॥
लोभी सरिस न भूलो यहि का, घात लगाय रहै जो धन का ॥ ६ ॥
कामी सरिस न यहि मति टारो, नारि हेतु अर्पण तन मन का ॥ ७ ॥
मोही सरिस विसरि जनि जावो, मोह विवश ममुझत नहिं तन का ॥ ८ ॥
जाहि वियोग भयो है वहि से, चहत खोदि लावन तेहि घर का ॥ ९ ॥
इन सवकी सरि सयम पालो, करो परिश्रम तजि सव सुख का ॥ १० ॥
जगकरि स्ववश चहै सुख सवका, तिन हित सरल उपाय यह सुख का ॥ ११ ॥
सबके शिरे व होय अखण्डित्त, हे कोइ लाभ न वाकी जेहिका ॥ १२ ॥
रोगी ऋणी विवश रहै जवहूँ, तवहुँ न भूलि जाय यहि हित का ॥ १३ ॥
घाव दुसह दुख प्राण जो निकरै, तवहूँ रुचति रहे फिरि चितका ॥ १४ ॥

टीका—हे मुक्ति-इच्छुक। जगत के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध—पाँच विपयो मे जो सुख मान रक्खे हो, उसका त्याग कर दो, यही मच्चा वैराग्य हे। यह वराग्य यदि एकरस धारण कर लो तो तुम्हारे देहोपाधि कृत जन्म-मरणादि मर्व दुखो का सहार हो जावे ॥ टेक ॥ मो जाने से जाग्रत की थकावट दूर हो जाती ह, इसलिए उमका सुख सवको ज्ञात हे। विना सोये छोटा-वडा कोई भी नहीं रह सकता, तो जव सुषुप्ति हो जाती हे फिर उमके सुख को क्या पूछा जाय। ॥ १ ॥ जाग्रत या स्वप्न मे तो विश्राम करते हुए भी विपरीत भावनाओ द्वारा दुख हुआ करता हे, परन्तु मुषुप्ति अवस्था मे स्वप्न का भी दुख नहीं रहता आर न तो जाग्रत का भय, न चिंता, न खुटका, कोई भी दुख नहीं सताता। उस सुख के आगे राजा-वादशाहो का सुख कोडी मोल हे, क्योकि राजा-वादशाह भी तो सुख से निद्रा लेना चाहते हैं ॥ २ ॥ परन्तु जिनकी जगत वासनाएँ जाग्रत ही मे वैराग्य द्वारा शिथिल हो गई, सम्मुख भिडने को नहीं आतीं अर्थात नहीं खींचती, तो उस सुख के आगे सुपुप्ति का भी सुख कुछ नहीं ह। क्योकि सुपुप्ति से जागकर फिर-फिर वही सकाम भावनाएँ सताती ह, इसलिए सुपुप्ति का सुख किचित हे और जो जाग्रत ही मे इच्छा वश करने का सुख हे वह अवाध्य (अखण्ड) ह, क्योकि इच्छा ही करके सव चचलता होती हे, सो इच्छाओ को जिसने दग्धवीज या मृत शत्रु के समान कावू कर लिया और जिमकी सम्पूर्ण इच्छाएँ भिन्न करके देखते ही विला जाती ह वह स्ववश-स्वतत्र पुरुप सदा सुखरूप ही ह, यही जीवन्मुक्ति की दशा हे ॥ ३ ॥

पूर्ण साधनयुक्त मनोद्रष्टा का अभ्याम करते-करते जव इच्छाओ का उठना ही किसी समय वन्द हो जाय, स्मरण सम्मुख ही न आवे तो उमके सुख का कोन प्रमाण दिया जाय। ओर वासना दग्ध करके प्रारब्धात होकर विदेहमुक्ति मे तो सर्वथा इच्छा रहित होने से अप्रमाण, अनुपम, अभय, अचिंत, नित्यतृप्त, अपने आप निराधार ही हे। देहोपाधि कृत क्षणिक सुख-दुखरहित यही विदेहमुक्ति की दशा हे ॥ ४ ॥ इससे इच्छा जीतने के नित्य सुख को विचार करके मन-इन्द्रियो को अपने वश मे करना चाहिए, जिससे प्रतिदिन का इन्द्रिय-विवशतारूप कठोर दुख निर्मूल हो जाय, क्योकि इन्द्रियो के विपयो को भोगने मे इच्छाएँ पुष्ट होती ह। इच्छा पुष्ट होने से जीव को इच्छा के वश सव दुख भोगना पडता हे आर जव विपयो को त्याग

देता है, तब सस्कार पुष्ट न होने से जीव को परवश नही होना पडता। तव जीव स्वत. स्वरूप मे ठहर रहता है, फिर उसे किसी भी दुख का भागी नहीं होना पडता। इसमे रोज-रोज दुख का झगडा जिस प्रकार मिट जाय वही कार्य करना चाहिए॥ ५॥ जो धन के लिए सदैव आतुर और यत्नवान रहता है, ऐसे लोभी के समान अपने निवृत्ति के सुख को नही भूलना चाहिए॥ ६॥ कामी पुरुष स्त्री सुख के लिए तन-म्न निछावर कर देता है, वैसे ही इन्द्रियजित होने के सुख को न भूलकर अभ्यास सहित काम त्याग के लिए निछावर हो जाना चाहिए॥ ७॥ उस मोही के समान मन-दमन के सुख को न भूलना चाहिए जो कि प्रेमी के लिए मोहवश होकर रोता, तडफता हुआ शरीर को कुछ नहीं समझता॥ ८॥ मोही का जिस प्रिय से बिछुडन हो जाता है, यदि उस मृत प्राणी की लाश गाड दी गई हो तो भी वह उसे खोदकर घर लाना चाहता है॥ ९॥ इन सबके समान निश्चयता, सहन और पुरुषार्थ अविनाशी स्वरूप की तरफ रख कर सयम करना चाहिए। विषय-वासनाओ को त्यागकर हरदम सजग सावधान रहने का नाम सयम है। स्त्री-विषय, हिसा और मोहजनित सव विषयसुख छोडकर रात-दिन इसी के लिए परिश्रमवान होना चाहिए, चाहे कार्य पूर्ण करने मे देर ही लगे, पर साहस-हिम्मत व निश्चयता न छोडना चाहिए॥ १०॥

सम्पूर्ण जगत पर जोर-जुल्म, कब्जा या शासन करके जो सुख लेना चाहते हो तो उसके लिए भी सरल सीधा उपाय यही है कि विषयासक्ति को त्याग देवे, बस सहज ही अखण्ड सुख मिल जावेगा॥ ११॥ सयमी पुरुष धनिक, राजा, बादशाह सबसे श्रेष्ठपद पा जाते हे और उनका सुख अखण्ड एकरस रहता है तथा उनके लिए कोई भी लाभ बाकी नही रह जाता, ऐसा वे नित्यतृप्त, नित्य-सतुष्ट हो जाते है॥ १२॥ यदि ज्वर, जूडी, बुखार आदि रोगो से ग्रसित हो, परार कर्जी हो, गुलाम हो, चाहे स्त्री घट हो या पुरुष, राजा-रंक, नीच-ऊँच, कोई भी हो, सबको हर समय मे, हर अवस्था मे, वैराग्यसुख का ऐसा अभ्यास बनाना चाहिए कि क्षणमात्र भी स्वरूपस्थितिरूप हितैषी कल्याण-मार्ग न भूले॥ १३॥ घाव या कोई भी देह सम्बन्धी दुसह दुख क्यो न हो, यहाँ तक कि किसी भी घोर दुख से पीडित होकर प्राण-वियोग का भी सकट क्यो न आ गया हो, तब भी हमेशा मन मे पुन -पुन वैराग्य सुख ही की रुचि रहना चाहिए और शरीर आरोग्य तथा सब सयोग ठीक रहने पर तो वैराग्य का ही पूर्ण अभ्यास बनाना चाहिए॥ १४॥

राग-निश्चय-क्रिया को पलट कर वैराग्य सुख का निश्चय

दृष्टात—एक सत जगन्नगर मे विचरते हुए चले जा रहे थे। कुछ दूर चलकर एक बाग मे विश्राम करने लगे। इतने मे एक युवक और युवती उधर होकर निकले। युवती जल्दी-जल्दी चल रही थी। युवक पुरुष उसकी विनती करता हुआ हाथ जोडकर कभी आगे, कभी पीछे, कभी दाहिने, कभी बाये चल रहा था। स्त्री जब-तब उसे धक्का देती और गाली देती हुई फटकारती। पुरुष बारम्बार कहता जाय—हे प्राणप्यारी! हे प्राणप्यारी! तेरे बिना मुझे एकक्षण भी रहा नहीं जाता, तू मुझे छोडकर कहाँ जा रही है! तू मुझसे क्यो असतुष्ट है। जो तू कहेगी वही मे करूँगा। हाय! मुझसे क्या भूल हुई है? ऐसा कहकर वह उसके पग मे पड गया। स्त्री ने पाँव उठाकर जोशपूर्वक चार-पाँच लात धम-धम पीठ पर जमाया और थप्पडो से

मारकर उसके गाल लाल कर दिये। पुरुष वडी नम्रतापूर्वक बोला—प्यारी! यह सब मुझे मजूर हे, यदि तू मेरा सिर काट ले, तो भी सहन हे, पर तेरी जुदाई मुझसे सहन नहीं हे। वह गाली देते हुए ढकेल कर आगे वढ गई। वहुत कहने-सुनने पर युवती बोली—अरे पाजी! क्यो वकवास कर रहा हे, म दो-चार दिन मे आ जाऊँगी। अव एक पग भी मेरे साथ न चल, नहीं तो मैं फिर न आऊँगी। वह शीघ्र रुक गया ओर वारम्वार हाथ जोड़ रोता हुआ लौट पड़ा।

युवक सत को वाग मे वैठे हुए देखकर दुखी मन से प्रणाम करके उनके पास वेठ गया ओर अपना दुखडा रोने लगा—मुझे वडे क्लेश से अप्सरा ऐसी यह स्त्री प्राप्त हुई हे। इसके लिए मैंने भाई-वन्धु, माता-पिता, पोथी-पुराण आर धर्म-कर्म सव अलग करके अपने तन, मन तथा धन मर्वस्व निछावर कर दिये हें। हे सत! में ही घर के भीतर का सब चोका-टहल, कूट-पीस करता हूँ। इमे स्नान कराकर इसके कपडे साफ करके सव प्रकार देवी के समान पूजता हूँ, फिर भी यह मुझमे अप्रसन्न ही रहती है, मुझे नहीं चाहती। एक-दो वार इसने मेरी पीठ पर चाकू भी चलाया। पीठ को खोल कर चाकू का निशान बतलाते हुए वह रोकर कहने लगा—हे सत! इतने पर भी इसका मोह मेरे दिल से नहीं जाता। मं जानता हूँ कि इसके मोह मे मेरी मृत्यु धरी हे, पर मुझे मृत्यु कबूल ह, इसका वियोग सहा नही जाता। हाय, क्या उपाय करूँ? किम प्रकार यह निरंतर मेरी होकर रहे, वही उपाय बताइए? ऐसा कह कर वह तडफने लगा। सत उसकी दशा देखकर डर गये। मन मे कहा—इसे ही स्त्री का गुलाम कहते हैं। अहो! कामछन्द मे जो न दुख हो वह थोडा ही ह।

सत ने कहा—भाई! इसकी दवा मेरे पास ह, पर निरतर एक वर्प मेरे माथ रहकर मेरे समान साधन करो तो युक्ति मिल सकती है, फिर जो तुम चाहते हो वह सिद्ध हो जायेगा। "हाय! उसके विना एक क्षण भी काटना दुस्तर हे, आप एक वर्प कहते हें" ऐसा कहकर वह रोने लगा। सत मन मे विचार करने लगे—अहो! विषय की कैसी महिमा ह! इसी प्रकार कामी के तन-मन स्त्री के लिए निछावर होते हें। जिस कामसुख की आयु एक पल भी नहीं हे, क्षणमात्र स्त्री के स्पर्श करते ही वह लोप हो जाता हे, उसके लिए आदि, अत, मध्य मे कितनी विरह भावना! कितना पुरुषार्थ! कितना महन! कितनी हिम्मत! अहो, इसी प्रकार जो सर्व परीक्षक चेतनस्वरूप हे उमसे सतुष्टि के लिए निरतर साधन-अभ्यास मे लव लगाया जाय तो क्यो न मव आसक्ति नप्ट होकर परमपद मिल जाय। मत मन ही मन ये सब बाते सोचते हुए कुछ उससे ममतापूर्वक वात करके चल दिये।

सत अपने सत्य स्वरूप के विचार मे जा रहे थे कि इतने मे आगे रोती-तडफती हाय-हाय करती एक निर्वल स्त्री मिली जो कि कुछ खोद रही थी। उसी समय गॉव की तरफ से लोग स्त्री के पाम दाडते आये आर उसे जवरन पकड कर घर ले गये। उन लोगो से यह मालूम हुआ कि इमका इकलोता प्राणप्रिय पुत्र मर गया हे। वही यहॉ गाडा गया था। उसी के मोह में यह मात दिन के पश्चात कब्र खोद रही थी।

मत ने मन मे कहा—अहो! जो मोह अपने और दूसरे को कुछ सुख नही देता, सिवा पीडा के, उस को ससारी ऐसा पालते हं कि मरे लडके को भी खोदकर घर मे लाना चाहते हें। यदि इमी प्रकार जो सव मोह को मिद्ध करता ह वह चेतन अपनी स्थिति के लिए अन्य मव जगत की ममता को त्यागकर अपने सत्यस्वरूप की स्थिति मे ही ममत्व करे तो उसका सव दुख दूर हो जावे।

तब तक एक मनुष्य मिला। वह सत को नम्रतायुक्त बेठाकर अपना सब हाल कहने लगा कि मैं धन के लिए बहुरूपिया बनता हूँ। चाहे जिस भाँति कौडी मिले वही मेरा ध्येय है। इसीलिए हर प्रकार का रग-ढग रचा करता हूँ। यद्यपि मेरे घर मे और कोई नही है, अकेला हूँ पर लक्ष्मी को देख-देखकर ही मेरा जीवन कट रहा है। मेरे पास पैसे काफी है, परन्तु उनमे से एक कौडी भी खर्च नही करता। भीख माँगकर गुजर-बसर कर लेता हूँ। लोग मुझे लोभीराम कहते हैं, पर मैं इसकी कुछ परवाह नही करता। मै समझता हूँ कि गई लक्ष्मी नही आती, तो मे अपना प्राण रहते-रहते उसे क्यो जाने दूँ। "दोहा—सूमिनि पूछे सूम से, काहे बदन मलीन। गाँठी से कुछ गिर गया, की काहू कुछ दीन॥" तब सूम बोला—"ना गाँठी से गिरि परा, ना काहू कुछ दीन। देते देखा ओर को, तासे बदन मलीन॥" हे सत! मै दूसरे को देते देखता हूँ तो मेरी छाती फट जाती हे, क्या करूँ महाराज! आपसे विनय है कि इसी प्रकार दया धरे रहे जिससे कि मेरे जीवन मे मेरी एक कौडी भी गायब न हो। सत ने मन मे विचारा ओह! लोभी हो तो ऐसा हो कि जो कुछ भी हानि-लाभ की परवाह न कर केवल मधुमक्खी के समान कुत्ते की पूँछ व बकरी के गलस्तन के समान निरर्थक धन सचय करना ही जानता हे। इसका धन इसी के लिए खरभार-वत है, सताप देने वाला हे। भूल की यही महिमा है कि अनन्त-परिश्रम शोक ही हाथ आवे और काज कुछ भी न बने। इसी प्रकार नित्य सत्य परमधन स्वरूपस्थिति के लिए वराग्य, भक्ति, विवेक गहने मे लव लग जाय जो आज ही से मुक्त है। फिर सत आगे बढे, एक भारी अस्पताल मिला उसमे कई लोगो को असह्य दुखो से मूर्छित और रोते देखा, कई को रोगव्याधि से पीडित हाय-हाय करते देखा, कई को दुसह दर्द होते देखा।

सबो से सत ने पूछा कि भाई! तुम लोग क्या चाहते हो? उन सब रोगियो ने कहा—रोग की निवृत्ति चाहते हे। सत ने कहा—रोग तो छूट जायेगा पर तुम लोगो को ससारी सुखो से विरक्त रहना पडेगा, यदि विरक्ति न धारण करोगे तो मर जाओगे। मजूर हो तो युक्ति करूँ! सबो ने रूदन करते हुए कहा—हाय, ससारी सुखो से विरक्त होने पर तो हम लोगो के कचन-कामिनी-जनित सब सुख छूट जायेगे। इस दशा से सम्भव तो हे कि यहाँ दवा-पानी करके कई दिन मे अच्छे होकर फिर ससार का सुख हम लोग लेवेगे। सत सबको समझा-बुझाकर वहाँ से चल दिये। सत मन मे विचार किये कि देखो! इन लोगो को इतने दुख मे भी भोग-सुख की निश्चयता नहीं छूटी है। इतनी ही प्रवल भावना हमे इन्द्रियो के जीतने मे बनाना चाहिए, जिससे कि किसी भी समय स्वरूप से लक्ष्य विचलित न हो। फिर सत आगे बढे तो देखा कि बीस सिपाही दस जनो के हाथ-पाँव मे बेडियाँ डाले हुए मजबूत जजीर से बाँधकर जेल की तरफ लिये जा रहे हैं। वे सबके सब विह्वलता से रोते थे। सत ने पूछा—भाई, तुम लोग क्यो रो रहे हो? लोगो ने कहा—अहो! हे सत! ऐसी कृपा करो कि यह हम लोगो की बेडी शीघ्रता से कटे जिससे कि हम लोग अपने स्त्री, पुत्र, मित्रादि के दर्शन करके सुखी होवे। हाय-हाय! हम लोग अनाथ भूल मे पकडे गये। अपने सुख-सामग्रियो से वियोग कराये गये। सत मन मे विचारने लगे, देखो! ऐसी विवशता में भी ये लोग अपना ध्येय नही छोड रहे हैं। ऐसे ही हमे भी किसी हालत मे अपने शुद्ध स्वरूप और स्वरूपस्थिति हेतु निवृत्तिमार्ग को न भूलना चाहिये। ऐसा विचार दृढ करते हुए सत सब तरफ से वृत्ति समेट कर एकाग्र भाव से कल्याण के सब अग पुष्ट करने लगे। हे जिज्ञासु! तुम भी ऐसा ही करो। बस, जहाँ निवृत्तिमार्ग का प्रबल अभ्यास पुष्ट हुआ वहाँ तुम से मुक्ति एक क्षण भी अलग न रहेगी, तुम सदा जीवन्मुक्ति मे विराजोगे।

शब्द—२

करो विराग धरो मन दृढता ॥ टेक ॥

तेहि दुख को तुम सुखहिं विचारौ, होय विराग जौनि विधि वनता ॥ १ ॥
परम विराग मनहिं वशि करिकै, हीय कठोर विषय नहिं लसता ॥ २ ॥
तनसुख चहौ न मनवशि भरमो, भयवशि कवहुँ न निज हित तजता ॥ ३ ॥
विघ्न होय सो सहौ काज लखि, परा न फन्द जगत जिव छलता ॥ ४ ॥
हे सव भूल विवश मन गरजी, धर्म अधर्म ज्ञान नहिं जनता ॥ ५ ॥
है कोइ अपन तुम्हार न जग मे, तेहिते सजग चलौ मग लखता ॥ ६ ॥
राग तजन पुरुपार्थ करो तुम, प्रारव्धि भोग मे दुख सुख टलता ॥ ७ ॥
छोड़ि कुकरतव्य भय नहि कालहुँ, निर्भय काज करौ तुम सतता ॥ ८ ॥
दुख सुख कर्म निजहिं से होवै, और न जीव न जड़ कोइ लगता ॥ ९ ॥
याते अभय स्वतन्त्र सहज निज, करो समर अज्ञान से हठता ॥ १० ॥
काल अज्ञान समर रण जीतौ, सव वल लाय असक्ति को वधता ॥ ११ ॥
छूटि जाय सव फिक्र परीश्रम, भय दुख वहुरि कवहुँ नहिं मिलता ॥ १२ ॥
राग द्वेप परतन्त्र से छूटे, स्वतन्त्र स्वरूप आप तव लहता ॥ १३ ॥
जन्म मरण दुख खानि न विनशे, अचल अमर पद फलता ॥ १४ ॥

टीका—हे निरतर अचल स्थिति चाहने वाले! जगत से दृढ वराग्य धारण करो। इसके लिए सव कुछ सहने को तेयार होओ, अर्थात वराग्य-रहस्य मे जिन विघ्नो मे ढिलाई हो रही है, उन विघ्नों को हटाकर त्याग ओर सहन द्वारा पुरुपार्थ करते हुए विरक्ति विचार में मन को दृढ़ता से लीन करो ॥ टेक ॥ हे वेराग्यवान! जिन-जिन रहस्य-धारणाओ मे वैराग्य की सिद्धि हो उनको धारण करने मे अपने शरीर को कुछ कप्ट पडे तो भी उसे सुख ही जानना चाहिए, क्योंकि वेराग्य का परिणाम दुखनिवृत्ति ही ह ॥ १ ॥ श्रेप्ठ वेराग्य इसी को कहते हैं कि विपयो मे चले हुए मन का ऐसा दमन करे कि फिर उधर न जाय। विपय ओर वधनदायी पदार्थों की पकड त्यागकर उसकी कामना तक न रक्खे ओर उसकी तरफ से पत्थरवत हृदय कठोर करके मनोवायु मे न उडे ॥ २ ॥ हे वराग्य-इच्छुक। शरीर के सुखभोग की आशा मत करो, मन से उत्पन्न हुई नाना आसक्ति तथा कल्पनाओ के चक्कर मे मत भटको तथा किसी का भय मानकर अपने कल्याण साधक रहस्यो का कभी त्याग न करो ॥ ३ ॥ निर्विपयी होना, स्वरूपस्थिति दृढ करना, हितपी सत्साधन पुप्ट करना, यही निजी काम है। निज काज की पूर्ति करते हुए यही प्रयोजन लक्ष्य मे दृढ़ करके सव विघ्नो को सहन करो। जो-जो देह, मन तथा समाज कृत सुखाध्यास या प्रलोभन रूप विघ्न आवे उनका निवारण करते हुए, सहने योग्य को सहते हुए, त्यागने योग्य को त्यागते हुए, जगत-जीवो के वेर ओर प्रेम के जालो मे मत फँसो। भूल मे पडे जगत-जीव इन्द्रियपरायण, स्वार्थी तथा छलने वाले ह ॥ ४ ॥ देखो! सम्पूर्ण प्राणी अज्ञान के वश हें, अपने-अपने मन सुख के गर्जवन्दा ह। वे केवल अपने ही मन-इन्द्रियो से सताये गये

उनकी पुरौती चाहते हैं। अज्ञान के कारण विषयभोग भोगकर मनोवासना को तृप्त करना चाहते हैं। मनवश होने से भोगो मे लोलुप प्राणी धर्म और अधर्म का बोध-विचार नहीं जानते॥ ५॥

सद्गुरु के अलावा इस ससार मे तुम्हारा कोई सहायक नहीं है, अतः चारो तरफ से सावधान होकर अपने रास्ते को देखते हुए, उसे ही तय करो, जडाध्यास का नाश करके स्वरूपस्थिति की प्राप्ति करो॥ ६॥ जन्म-मरण, त्रिविध दुख के हेतु जगत का राग ही है। स्नेह, मोह, ममत्व, आसक्ति ये सब राग के ही रूप जानो। अत जगत-राग छोडने का परिश्रम करो, क्योकि दुख भी मिथ्या, सुख भी मिथ्या। अत. दोनो की आसक्ति छोडकर आवश्यक निर्वाह लेते हुए प्रारब्धयात्रा पूर्ण करो। प्रारब्धिक दुख-सुख तो प्रारब्धात मे आप ही छूट जायेगे। तुम्हारा कर्तव्य है कि दुख-सुख मे फूल-पचककर अपना सत मार्ग न छोडो। भाव यह कि प्रारब्धिक दुख-सुख मे सतोष रक्खो और कल्याण कृत कार्यों मे पुरुषार्थी बनो॥ ७॥ इन्द्रियलोलुपता, विषयासक्ति, वैर, ममत्व, चोरी, व्यभिचार और मिथ्याभाषण, ये सब कुकर्तव्य हैं। ये खोटे काम न बन जायँ, नहीं तो हमारी सब अवदशा धरी है। बस यही एक भय रखकर सर्व कुकर्तव्यो का त्याग करके फिर मृत्यु का भी भय मत करो। निर्भय होकर तुम अपने जीव के उद्धार हेतु नित्य प्रयत्न करो॥ ८॥ जो तुम्हे देह दुखो का भय लगता हो या देह के निर्वाहिक सुखो की इच्छा हो तो तुम समाधान कर लो कि रोग, व्याधि, मृत्यु न चाहते हुए भी वे सब दुख और आरोग्यतादि निर्वाहिक सयोग ये सब सुख अपने-अपने कर्माधीन होते रहते हैं। विशेषकर देह के भोगो मे अदृष्ट प्रारब्ध निज-निज कर्म ही हेतु जानो। इसके अलावा जड पदार्थ तथा अन्य देहधारी जीव दुख-सुख देने मे मुख्य हेतु नही है। पूर्व मे अपने ही अज्ञान से सुख माना गया, सुख मानने से भोग-क्रिया, भोग-क्रिया से सस्कारो की पुष्टि हुई, पुन· संस्कारो से शरीर की रचना होती रही। इस प्रकार सम्पूर्ण देहधारी अपनी-अपनी भूल से अज्ञान का शरीर रचकर पीछे परस्पर दुखी-सुखी होते रहते हैं। यदि आसक्ति मिटा डाली जाय तो कोई भी देहधारी और जडतत्व दुख-सुख देने मे समर्थ नहीं है॥ ९॥

जब हमारे कर्तव्य के अलावा कोई दुख-सुख दे ही नही सकता, तो दूसरे मे राग-द्वेष करके स्थिति से क्यो रुका जाय! निर्भयता धारणकर परीक्षक स्वभाव से ही स्वतत्र स्वरूप को जड से पृथक करके जन्म-जन्म के वैरी अज्ञान और अज्ञान की सेना—काम, क्रोध, लोभ, मोह, आशा, तृष्णा से समर ठानो। इसके लिए हठता धारण करो। हठता का अर्थ दृढ निश्चय कर लो कि कुछ भी शारीरिक दुख-सुख हो, पर मै जीव के बधन छूटने हित विषयसुखो के त्याग का पुरुषार्थ अवश्य करूँगा॥ १०॥ अनन्त देह धरा के अनत कष्ट देने वाला तुम्हारा काल जो अज्ञान है उससे युद्ध करके रणविजयी हो जाओ। यह भ्रम न करो कि मेरी जडासक्ति न छूटेगी। तुम सब बल लगाकर आसक्ति का नाश कर डालो। जडासक्ति छूटने मे जो देर लग रही है, उसमे दुचित्तापन[१] ही मुख्य कारण है। जीव एक है, वह जो करेगा वही तो होगा। यदि

---

१ मे चितवत हौं तोहि को, तू चितवत कछु और।
लानत ऐसे चित्त पर, एक चित्त दुइ ठौर॥
मैं चितवत हौं तोहि को, तू चितवत है वोहि।
कहहि कबीर कैसे बनि हैं, मोहि तोहि औ वोहि॥ बीजक॥

खेत मे अनेक प्रकार के अन्न बोये जाय तो थोडे-थाडे होंगे, यदि कोई एक ही अन्न बोया जाय, तो खेत की सब शक्ति उसी मे लगकर वह एक ही अन्न विशेष होगा। ऐसे ही तन-मन की सब शक्ति खीचकर केवल मनोनाश ही की फिक्र करके जो इसी काम मे तत्पर है उनको आसक्ति जीतने में कोई विलम्ब नही और जो उधर मन-इन्द्रियों के सुख हेतु बहु जगत-वाचालता, बहु मान, बहु ऐश्वर्य, बहु सम्मान, बहु प्रभुता की भी इच्छा और क्रिया करता है और इधर कल्याण भी करना चाहता है, तो उसकी आसक्ति कैसे नष्ट होगी और गुरुपद की प्राप्ति कैसे होगी। इसलिए दुचित्तापन छोडकर एकचित्त से वैराग्यसिद्धि हेतु पुरुषार्थ करना चाहिए॥ ११ ॥ इस प्रकार थोडे ही परिश्रम से अनादिकाल के अज्ञानजनित भोग सम्बन्धी सब फिक्र और सब परिश्रम छूट जायेगा, फिर भय, दीनता, त्रिविध तापो से तुम्हारी कभी भेट न होगी॥ १२ ॥ एकवृत्ति से वैराग्य का पुरुषार्थ करने पर तुम मोह और वैरजनित फिक्र, चिंता, परवशता की बेडी से सहज ही छूट जाओगे और अपने स्वतत नित्य स्वरूप की अचल स्थिति का परमलाभ शीघ्र तुम्हे मिल जायगा॥ १३ ॥ फिर तो तुम्हे जननी-जठर मे सोना न पडेगा, सब खानियो मे देह धर-धर कर त्रिविध ताप भोगने का दुख, बार-बार देह छूटने का दुख, ऐसे जन्म-मृत्यु आदि के सब दुख विदा हो जायेंगे। तुम अजर, अमर, अचल, निराधार स्वरूप मे सदा के लिए विराजोगे, मात्र केवल प्रारब्ध भर वैराग्य रूप तपस्या कर डालो, बस देखो। पवित्र अनत अनादि स्थिति रूप जीवनफल तुम्हे मिल जायेगा। सदा के लिए दुखों से विदाई हो जाना, स्वत. स्वरूप मे ठहराव हो जाना, यही मुख्य प्रयोजन और वैराग्य का फल है॥ १४ ॥

प्रसंग २—अभय-स्वरूपबोध

शब्द—३

गुरूजी के ज्ञान अभय करा मन का॥ टेक॥

ना तुम मरा न जीया कबहूँ, यकरस सोई रहनि का।
दुख सुख हानि लाभ नहिं तुम्हरे, है कोइ काज अकाज न जिनका॥ १ ॥
सो चेतन मन की बशि ह्वै के, विषय प्रपच लगनि का।
याते समुझि के इच्छा त्यागो, नहिं कुछु बाकी तुमका॥ २ ॥
दुख से डरा न सुख को चाहो, याते पृथक सबनि का।
निराधार आधार बिना तुम, गुरु के वचन गहनिका॥ ३ ॥
मरन जियन को भय नहिं तुम मे, लघु दीरघ नहिं तुमका।
बाघ सिंह कुछु क नहिं सकते, और कहे हम केहिका॥ ४ ॥
ना कोइ मिले न बिछुड कबहूँ, हर्ष शोक नहिं तुमका।
सब जीवन से भय नहिं चहिये, नहिं काहुइ दुख तुमका॥ ५ ॥
है जड तत्त्वन नहिं कुछु समरथ, हानि कर जो तुमका।
नहि कुछु करो धरो दिल अपने, सोचि विचारा निजका॥ ६ ॥

त्याग करौ सब भोग रोग को, मुख्य मन्त्र यह तुमका।
करौ परीक्षा निशदिन निरभय, डरौ न कबहूँ किसका॥ ७॥
निरभय ज्ञान सुनो यह गुरु का, जानि गहौ हित का।
मुक्त होउ तजि विषय कि इच्छा, छूटि जाय दुख नित का॥ ८॥
करौ भोग प्रारब्धि जो तन की, नहिं कुछु करतब्य तुमका।
ठहरि रहौ यकरस निज का निज, दु ख न कोई तुमका॥ ९॥
कहै कबीर अभद्द अब रहिये, हानि न कोई किसका।
हानि लाभ सब तुम से तुम का, मानि करौ जस मन का॥ १०॥

टीका—हे जिज्ञासु! तुम श्री गुरुदेव से ज्ञान लेकर अपने मन का सब भय एव सदेह मिटाकर निर्भय स्वरूप मे ठहर रहो॥ टेक॥ हे जीव! तू कभी मरता नही, न कभी उत्पन्न होता है। जब कभी तेरा जन्म और मृत्यु नहीं है तो तू अखण्ड एकरस है। जैसा तीनो काल मे एकरस है वैसा ही रहने के लिए ज्ञान की धारणा बनाकर ठहर जा। हे जीव! तेरे स्वरूप मे दुख-सुख, हानि-लाभ, काज-अकाज, बनना-बिगडना ये सब प्रपच कुछ नही है। तू तो सबका परीक्षक सबसे भिन्न शुद्ध ज्ञानमात्र अखण्ड है॥ १॥ जो हानि-लाभ, काज-अकाज से भिन्न शुद्ध स्वतन्त्र है वही शुद्ध चेतन अनादि से जडदेहो का साथ करके ओर स्वरूप को भूलकर मनरूप झूला मे झूल रहा है। उसने मन से पाँचो विषयो के मिथ्या प्रपच-व्यवहार मे स्नेह कर लिया है, इसी से इसके माथे मनोमयसृष्टि का सब भार पड गया है। देह से मन, मन से देह के झूला मे प्रवाहरूप अनादि से पडते हुए विजाति बधन गढ रक्खा है। सो भूल ओर मन की विवशता त्याग देने पर शुद्धस्वरूप ठहर रहेगा। ऐसा समझ-बूझकर हे कल्याणेच्छुक! जगत की सम्पूर्ण इच्छा-वासना छोड दो। बस यही कार्य पूरा करने से फिर तुम्हे करने को कुछ न रहेगा। तुम जगत के सर्व कर्तव्य से छुट्टी पा जाओगे, कृतार्थ हो जाओगे॥ २॥ स्वरूपस्थिति के मार्ग से चलते हुए प्रारब्धभोग पूरा करते हुए जो-जो दुख पडे उनसे मत डरो। प्रसन्नता से दुख सहने को तैयार होओ, पुन विषयसुखो को भोगना तो दूर रहा, उनकी कामना ही मिटा डालो। दुख-सुख आदि सर्व कल्पनाओ से न्यारा रहो, क्योकि सबसे विलग तुम निराधार हो। तुमसे भिन्न पृथ्वी, जल, अग्नि ओर वायु तत्व पाँचो विषययुक्त जड कार्य-कारणरूप इन्द्रियगोचर हो रहे हे। उन तत्वो के विविध कार्यो मे कारणो के पच विषय गुण-धर्म आदि प्रत्यक्ष जडरूप दर्शित होते है और तुम इन पाँचो विषयो के ज्ञाता होने से ज्ञान धर्म वाले ज्ञानस्वरूप हो, जड कार्य और कारण से सर्वदा पृथक निराधार हो। अपनी भूल, मानन्दी, जडासक्ति को छोडकर तुम निराधार, अपरोक्ष-रूप से स्थिर हो रहो। इसी स्थिति हेतु पारखी गुरुदेव के वचनानुसार धारणा बनाने मे तत्पर होओ। जब विजाति नाद-विन्द की वासना धारण करने मे तुम समर्थ हो गये तो तुम्हारा जैसा स्वरूप है वैसा शुद्ध स्वरूप ठहर जाने मे कोई बडी बात नही है, मात्र गुरुदेव के वचनो का स्मरण करके सत्य आचरण करो॥ ३॥ अरे! तुम्हारे अजर-अमर अखण्ड स्वरूप मे मरना-जीना कहाँ है! तुम इससे निष्फिक्र हो जाओ। किसी को छोटा मानकर अभिमान करना तथा किसी को वडा मानकर भय करना, दोनो तुम्हारे चतन्य स्वरूप मे नही हैं, फिर दोनो भावो मे तुम क्यो दुखी होते हो! अथवा किसी खुदा-ईश का अश

या कार्य या प्रतिविम्व छिन्न-भिन्न भाव तुम्हारे चेतनस्वरूप मे नही हे। समष्टि विराटरूप सम्पूर्ण ब्रह्मानन्द ओत-प्रोत कारण समुद्रवत विशेषण भी तुम्हारे पारखस्वरूप मे घटित नहीं हे, क्योकि तुम सवके परीक्षक सवमे भिन्न केवल पारखस्वरूप शुद्ध हो। तुम्हारा स्वरूप तो ऐसा हे कि सिंह भी कुछ नहीं कर सकता। शरीर को भले कोई चवा ले पर शरीर मे रहने वाला अखण्ड होने से वाघ, सिंह से भी नहीं चवाया जा सकता, तो भला आर जतु तथा जड पदार्थ तुम्हारा क्या कर सकते हे! ॥ ४॥ विचार करो, तुम्हारा स्वरूप नित्य तृप्त अखण्ड सदा स्वयप्रकाश ह। उसका न तो जडसृष्टि से न अन्य जीवो मे कभी सम्वन्ध ह आर न तो कभी विछोह हे, फिर पृथक वस्तु की प्राप्ति मे हर्षित आर विछोह मे शाकित क्यो होते हो! कोई मिले या विछुडे, तुम एकरस स्थित रहो। अरे! तुम जीव मात्र से भय मानकर अपनी स्थिति से न डिगो, क्योंकि अन्य कोई भी तुम्हे दुख देने मे समर्थ नहीं, अथवा तुम्हारे स्वरूप मे कोई दुख नहीं है॥ ५॥ कारण-कार्य पाँच विपय जड हें, इनमे इतनी शक्ति नहीं कि तुम्हारी कुछ हानि कर सके। यह तो सवको स्पष्ट हे कि सव जीव अपने-अपने मनोमय के अनुसार ही वॅधते-छूटते हं, न कि वाह्य सृष्टि की क्रिया अनुसार। दिन-रात, ठडी, गर्मी आर वरसात की क्रिया सवके लिए एक समान होती ही रहती ह, पर जीवो की मानसिकवृत्ति भिन्न-भिन्न होने मे भिन्न-भिन्न निश्चय के अनुसार भिन्न-भिन्न क्रिया कर-करके दुखी-सुखी होते रहते हें। छन्द—"ज्ञानरूपी जीव को कभि शस्त्र भी काटे नहीं। अग्नी जला सकती न उसको वारि भी भिजव नहीं॥ वायु शोषण कर सकै नहि भृ उसे दाव नहीं। उत्पन्न पूरव मे नहीं कभि नाश भी होव नही॥" ऐसे सत्यस्वरूप की जडतत्व कसे हानि कर सकते ह। याते हे जीव! अपने स्वरूप का स्मरण करके जगत-वधन के सम्पूर्ण वाह्य चालों से मुख मोड लो आर भीतर दिल के पुराने अध्यासो को ज्ञान अभ्यास से मिटा डालो, इसके अलावा और कोई कर्तव्य तुम्हारा नहीं ह। यही ध्येय, यही सिद्धात, यही मन्तव्य पक्का रक्खो कि मेरे वाद कोई भी खानि-वानी का वधन-क्रिया जडाध्यास पुष्ट न हो जावे। वस जडाध्यास-रहित मैं तो शुद्ध मुक्तरूप ही हूँ, ऐसा ही वारम्वार विचार करते रहो॥ ६॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस आर गध ये पाँचो विपयो के सुख भोग जीव को कामना रूप रोग लगाकर मदोदित चचल किये रहते ह, उन्हीं भोगो को दुख जानकर वनिता, वित्त, वान्धव आर वानी जाल के सम्पूर्ण सुखाध्यासो को छोडना मात्र एक यही जीव का कर्तव्य ह और यही गुरुदेव का मन्त्र हे, यही विचार आर यही सलाह तथा कल्याण-इच्छुक के प्रति प्रेरणा हे। इस गुरुमन्त्र को लेकर हे जीव! रात-दिन परीक्षक सतो के समीप मे जाकर पुन. पारखज्ञान के ग्रन्थो का मनन करो आर अन्तर मे विवेकधारा पुष्ट करके एकरस पारखदृष्टि धारण करो, अन्य किसी मे सुखाध्यास की पुष्टि न करो। विजाति वनी हुई पूर्व आदतो का पारख-विचार रूप शस्त्र से खण्डन किया करो। इस सत्पथ मे चलते हुए किसी का भय मानकर पारखपद से किंचित भी मत डिगो॥ ७॥ इस निर्भय गुरुज्ञान को सादर सुनो आर अपना कल्याण जान कर गुरुज्ञान धारण करो। देखो! जगतक्रिया सव भय रूप ह, गुरुज्ञान अर्थात श्रेष्ठ ज्ञानस्वरूप चेतन्य स्वत अमल, अचल, अगर्ज, अभय, स्थिर पद अपने को जानकर अपने आपको थीर करो, वासना को निर्मूल करो, अपने मे ठहरो, यही वात अपने लिए कल्याणकारी जानकर भली प्रकार पकडो, जिससे कभी इस ज्ञान का अभाव न हो। विपयों मे मुख्य वनिता विपय आर भ्रमपूर्ण वानी विपय हे, उसके साधक—स्वाद, गध, रूप, शब्द हें। इन सवकी सुखासक्ति त्याग कर तुम मुक्त हो जाओ,

जिससे आवागमन के झगडे का तुम्हारा नित्य के लिए निपटारा हो जाय॥ ८॥ अन्य जन्मो के सकाम कर्म से यह वर्तमान शरीर बन गया है, भूल से नशा खा लेने वत या छूरी लेकर पैर काट लेने वत वह भोग सम्मुख है, अत उसको बेगान्त तक भोगना अवश्य है। घडी कूकवत एक दिन प्रारब्धकृत शरीर आपही छूट जायेगा। अब कर्तव्य यही है कि इसके साथ मे आगामी कर्म फिर न बने। केवल निर्वाह करते हुए निर्वाह का फल ज्ञान, वैराग्य, स्वरूपस्थिति प्राप्त कर अपने प्रारब्ध का अन्त करना चाहिए। बस, अन्य कर्तव्य तुम्हारे लिए कुछ नही है। दृढ विवेक, वैराग्य और स्थिति ग्रहण करके तुम यह निश्चय कर लो कि जो हमे करना था सो कर लिये, जो पाना था सो पा चुके, जो लेना था सो ले चुके, जो कुछ होना था सो हो चुके, जिससे मिलना था मिल चुके। चाहे ईश्वर हो या ब्रह्म, देवी हो या देवता, ज्योति हो या शून्य, युवती हो या सम्पूर्ण सम्पत्ति, जो कुछ भी परोक्ष या प्रत्यक्ष, बानी या खानी भास जहाँ तक निश्चय करके आदत बनाकर उसे अपने ऊपर आरोपित कर लिया है वह सब अवश्य छूट जायेगा। यह नियम है कि दूसरी चीज अवश्य छूट जाती है, और यह भी नियम है कि आप अपने से कभी नहीं छूट सकता। अत सर्व परीक्षक होकर जिससे सम्पूर्ण पारख हो वह अपना आप जानकर थीर रहो। जो कुछ इन्द्रिय-मनगोचर हो वह सब निज से दूर भास जानकर, त्याग करो। इसका साधन केवल पारखीगुरु का सत्संग, सद्ग्रन्थ, स्वत विवेक और दृढ वैराग्य ही है। इस प्रकार अपने आप मे आप ही एकरस स्थिर हो जाओ, फिर तुम्हारे दुख का लेश भी न रह जायेगा॥ ९॥

सद्गुरु कबीर साहिब कहते है कि अब से इन वचनो का मनन कर निर्भय हो जाओ। इससे अपना कल्याण तो होगा ही, साथ ही दूसरे का भी इस ज्ञान से कुछ घाटा न होगा, बल्कि जो कोई भी इस ज्ञान का मनन-चिंतन करेगा वही इस भय-सताप रूप मन-माया से पृथक होकर निर्भय हो रहेगा। यह अटल निश्चय कर लो कि प्रत्येक जीव की मनोमय सृष्टि अपने-अपने अज्ञान कर्म-वासना से चालू है। वह अपने-अपने ही पाप-पुण्य, सकाम और निष्काम भाव द्वारा फलदायी होती है, दूसरे-दूसरे की नही। आप अपना ही मित्त है और आप अपना ही शत्रु है। आप अपना ही अज्ञान से हानि करने वाला है और आप अपना ही ज्ञान, विवेक, सदाचरण से लाभ करने वाला है। आप जैसी मानन्दी करके जैसा कर्म करे वैसा ही फल होता है। यदि हम जगत मे दुख जानकर काम, क्रोध, लोभ, मोह छोड देवे और सब कामी-क्रोधी बने रहे तो हमे ही दुखो से छुटकारा मिलेगा न कि दूसरे को। समग्र ससार निष्कामी हो जाये और हम सकामी ही बने रहे तो हमे ही बन्धन, ताप तथा पीडा सहना पडेगा, दूसरे को नहीं, ऐसा जानकर आप अपने को सम्हाल कर गुरु के ज्ञानमार्ग मे लीन होकर मुक्त हो जाना चाहिए, दूसरे का रास्ता नही देखना चाहिए। अपनी भूली गली को आप ही चेतकर रास्ता सम्हालने से अपने दुख का नाश होगा, साथ ही दूसरे का भी हित होगा, अतः प्रथम अपने को ही सम्हालो॥ १०॥

शब्द—४

बोध वही जो कि मानै नाहीं मन-का।
ज्ञान वही जो कि गॉसे फिरै मन का॥ टेक॥
काम छली को अचित्र दिखावै, इच्छा का दुख बतावै तेहि का॥ १॥

भय चिन्ता संताप देखावे, तृष्णा कि अगिनि जलावे वहि का॥ २॥
क्रोध आय परतन्त्र बनावे, चिन्ता शोक नाशि करे हित का॥ ३॥
मोह विवश चितित रहे निशदिन, उनके दुख विघ्न सतावे निज जिवका॥ ४॥
नहि वहि मोह से कारज कोई, जो कुछु बनै मो हित करो उन का॥ ५॥
लोभ अपर्बल सम्पति झगड़े, परै सब भार जगत मे तिनका॥ ६॥

टीका—यहाँ बोध आर ज्ञान के लक्षण कहते है। बोध का होना तभी जानिए जब मन का कहा न माना जाय और ज्ञान होने का निश्चय तब हो सकता ह कि जब चचल मन को वैराग्य-अभ्यास द्वारा स्थिर करता रहे। किस प्रकार मन को रोके उसका आगे मनन कीजिए॥ टेक॥ सुख का लालच देकर दुख तथा बन्धन मे डाल देने वाला काम छली अत्यत दगाबाज है। ऐसे दगाबाज को अचित्र दिखावे, नर-नारियो के घट, आकार, सौन्दर्यता को अभाव मात्र मिथ्या समझे। इसका विस्तार साखी सुधा के "धर्मरूप नर-नारि, जानि मनोमय देख तू"[१] इसकी टीका मे आया है, वहाँ से मनन करना चाहिए। पुन भोगो में इच्छा उठने का अत्यन्त दुख सम्मुख करे॥ १॥ हे मन! विषयो मे आसक्त होने से तुझे रात-दिन बहुत-बहुत प्रकार के भय, चिन्ता, सन्ताप सताते रहेंगे। इतना होते हुए भी यह नहीं कि भोगो को भोग लेने से तेरी इच्छा बुझ जाय, बल्कि दिनोदिन तृष्णाग्नि अधिक जलाया करेगी, फिर किस अर्थ मैथुन मे सुख मानता ह। अत उसे विवेक द्वारा दुखपूर्ण जानकर त्याग दो। इसमे काम जीतने के इतने अग बताये गये—एक तो नर-नारी देहो के रूप-लावण्य, चमक-दमक मिथ्या जान कर उधर खिंचे नहीं। दूसरे—इच्छारोग लगने का दुख विचार। तीसरे—क्षण-क्षण भय, चिन्ता, सन्ताप समग्र दुख का मूल समझे। चाथे—तृष्णाग्नि बढ जायेगी इत्यादि बातो का मनन करे॥ २॥ दूसरा शत्रु क्रोध ह, जब वह आता ह तब जीव को अपने काबू मे रहने नहीं देता। मन मे अग्नि के तुल्य जलन करके शरीर को नचा देता ह। नेत्र, मुख, भौंह सब रक्तवर्ण होकर फडफडा उठते हं। उस क्रोध के वश प्राणी न कहने योग्य अनुचित, कठोर तथा गाली की बातें कहता, न करने योग्य मार-काट अयोग्य क्रिया करता और पीछे से चिंता-शोक बढाकर स्वार्थ-परमार्थ मार्ग को आप ही नष्ट कर डालता ह। तब फिर ऐसे क्रोध को अपना हितू क्यो माने! यह क्रोध जन्म-जन्म का पूर्ण वैरी है, ऐसा निश्चय करके क्रोध का दमन कर डाले, यही बोध का फल ह॥ ३॥

तीसरा मन का रूप मोह ह, सत्य स्वरूप स पृथक शरीर सम्बन्धी कुटुम्बी तथा पदार्थों के सर्वदा बने रहने की इच्छा आर उनमें सुख बुद्धि का नाम मोह ह। इस मोह के वश मनुष्य सर्वदा चिन्ता की होली मे जला करता ह। मोही की जिन-जिन सम्बन्धियों में आसक्ति ह उन-उन सम्बन्धियो के सिर पर जो-जो विपत्तियाँ सताती हे वे सब उसके पल्ले पडती रहती हं। इस प्रकार रागबुद्धि करके मोही सदैव पीडित रहता ह॥ ४॥ आसक्तिवश रोने-कलपने, नाना उत्पात खडा करने या दुख ओढ लेने मे अपना और दूसरे का किंचित भी कार्य नहीं होता। हाँ! यदि रक्षा करने में उन जीवो का जो कुछ यथार्थ हित बन जाय तो विवेक युक्त श्रेणी के अनुसार यथाशक्ति सहायता कर देनी चाहिए॥ ५॥ लोभ भी मनका रूप ह, नदी बाढ

---

१ साखी सुधा प्रकरण में १११ से ११८ साखिया को टीका सहित देखे।

मे काष्ठ के समान जीव को उदय से अस्त तक राज्य तथा सम्पत्ति के लिए वह जहाँ-तहाँ नचाया ही करता हे। लोभ-वश कोडी-कोडी के लिए जने-जने से झगडा मोल लेता हे। यहाँ तक कि लोभी मनुष्य के सिर पर सम्पूर्ण जगत की फिक्र, दुख, असमंजस, वियोग ओर शोक का बोझा लद जाता है। ऐसा जानकर लोभरूप शत्रु को निर्मूल कर डाले। मन के ये सब रूप मिथ्या सुख कलपने ही से सिद्ध हैं। पूर्व मे इच्छा-परीक्षा मे इनके दोषो का विस्तार कर आये हे, उन सबो का बारम्बार मननकर दग्धबीज के समान वासनाओ को भून डालना चाहिए, जिससे वे अपने को आकर्षित न कर सके, तभी बोध और ज्ञान का फल प्राप्त हुआ जानिए॥ ६॥

प्रसंग ३—मोह-नैराश्य

शब्द—५

गहौ मन गुरु का ज्ञान अटूट॥ टेक॥

तात मात दारा सुत तनया, मोह लगाय जीव दुख कूट।
भाई भतीजे भगिनी भाभी, ममता भर्यो ज्ञान बल टूट॥ १॥
मोह बाँधि सब जीव भुलावै, साँच प्रतीति कुटुम दुख पूट।
रीझि खीझि वह जलै जलावै, बिरह बियोग दु ख घट फूट॥ २॥
जाति पाँति सेज्या सुख सम्पति, माल मकान दाम सब लूट।
शत्रु मित्र अलगै रहि जइहे, जगह जमीन देश पुर छूट॥ ३॥
लोभ मोह कामादिक चिन्तन, जलनि रहै सोइ साथ अखूट।
खानि समूह देह नशि जइहै, गढनि रग पातरि छोट मूट॥ ४॥
राज काज फोजे छूटि जइहै, तृषा बढै तृष्णा जल घूँट।
बर्णाश्रम मद काम न अइहे, ज्ञान हीन खानिन दुख जूट॥ ५॥
करि सतसंग भूल यह त्यागौ, लखो भरम सुख झूठ।
कहै कबीर जगत दुख छूटै, करै स्वबश मन जाय न लूट॥ ६॥

टीका—हे मन! गुरु का ज्ञान ग्रहण करो। वह अटूट, अभग, अविनाशी, स्थिर, एकरस परमपद का स्वरूप ही है। अथवा गुरु का ज्ञान पारख हे,सो पारखयुक्त विवेक की धारा कभी टूटने न पावे, एकगा होकर दृढता से गुरुपद मार्ग ही मे लगो॥ टेक॥ माता, पिता, पत्नी, पुत्र और पुत्रियाँ, जिनमे तुम सुख मान रहे हो, मोहरूप लासा लगाकर जीव को नवीन-नवीन दुख से दुखी कर कूटते रहते है। भाई, भतीजे, बहिन, भौजाई तथा सगे-सम्बन्धी नाना प्रकार सुख की आशा पकडा कर अपनी-अपनी ममता-प्रियता दृढ कर देते हैं, जिससे जीव का विवेकरूप बल नष्ट हो जाता है। जिस ज्ञान से मन-इन्द्रियो को जीतकर नित्य स्वरूपस्थिति की जाती हैं उसको ज्ञान या विवेकबल कहते हैं। ममता के कारण जब ज्ञानबल नष्ट हो गया तो फिर किस बल से उस जाल से निकल सके या सत्य स्वरूप पहिचान सके। ॥ १॥ हमारा पुरुष, हमारे दादा, चाचा, हमारा पुत्र, हमारी पुत्रियाँ, इस प्रकार सब कुटुम्बी म-मेरा कहकर और मोह बढाकर जीव को स्वरूपस्थिति से भटका देते हे, गाफिल कर देते हे, फिर तो कुटुम्बियो का

जाल सत्य निश्चय हो जाता है, जिससे दुख की वढ़ती ही होती रहती है। पुनः वे कभी प्रसन्न, कभी अप्रसन्न होकर लड़ाई-झगड़ा, राग-द्वेष से आप जलते ओर साथी को भी जलाते हैं। देहान्त या विछुडने पर परस्पर विरह-वियोग मे हाय-हाय करके आप दुखी होते और साथी को भी दुखी करते हं। "मरे मातु पितु कूटहिं माथा। मानि आप कूँ दीन अनाथा" ॥ वि० ॥ २ ॥ व्राह्मण, क्षत्निय, वेश्य, शूद्र, चाण्डाल, यवनादि ऐसी उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ ओर महाकनिष्ठ मानी हुई जाति और भिन्न-भिन्न जातियों मे भी उत्तम श्रेणी-पाँति और उत्तम-उत्तम पलँग, मखमली सेज ओर नित्य नववधू विहार तथा लाखो की सम्पत्ति, ओर भी सोना-चाँदी रत्न, महल, पैसा-कोडी मव शरीर नष्ट होते ही छूट जाते हं। शरीर रहते-रहते भी इन सुखसामग्रियो की कोई स्थिति नहीं है। अन्त मे तो सगे-सम्वन्धी आपस मे छीनाछोरी करके कव्जा कर लेते ही हैं तथा शरीरात पश्चात शत्नु ओर मित्न दोनो ही साथ मे नहीं जा सकते। अपना माना ठौर, तमाम अपनी भूमि, अपना माना गया सुन्दर देश, शहर ये भी सव पलक मारते ही छूट जायेंगे।

सवैया—*मात पिता सुत तात तियादिक ग्राम गुलाम जु धाम छुटैंगे।*
रत्नि कोप वडो वल जोश जु देह औ नेह को साज टुटैंगे॥
मोटर वाहन और समान जु आँखि लगी वस लोग लुटैंगे।
क्यो न रँगे अविनाशी के रग मे ज्ञान विना मुख राख घुटैंगे॥

इस प्रकार सवसे अन्त मे विछोह हो जायेगा॥ ३ ॥

देह अत होने पर देह सम्वन्धी कुटुम्वी तथा एकत्न की हुई वस्तुएँ तो छूट जाती ह, पर उनके सम्वन्ध से किये-धरे के सस्कार जीव के साथ वने रहते हें। इस जन्म में कामी, क्रोधी, लोभी, मोही होने से इसी वासनानुसार दूसरे जन्म मे लोभ, मोह, कामादिक चिन्तनरूप अग्नि की ज्वाला जीव को जलाने के लिए साथ ही पूर्णता से वनी रहती है। मनुष्य, पशु, अण्डज और उष्मज इन खानियो के शरीरो का विस्तार देखकर जो उनमे मोह दृढ होता हे उन सवका शरीर मिथ्या ह, किसी न किसी दिन छूटना अवश्य है ओर जो नश्वर शरीर की गढन, काला, गोरा, पतला, छोटा-मोटा शरीरो को देख-देखकर जीव फूलता है, इन सवो की भी एक दिन सफाई हो जायेगी, इन सवका अन्त मे पता भी न चलेगा॥ ४॥ सव पर हुकूमत करना ये राज आर वडी-वडी मिलो, मशीनो से या ऐसे ही वडे-वडे व्यापार का काम-काज और लाखो भाला-वन्दूक लिये हुए रक्षकगण सब के सव छूट जावेगे। अरे! ये सव मृगतृष्णाजल के समान चमकमात्न हं। इनको सत्य निश्चयकर मोह करने से कामनारूप भूख की अधिक वढती हो जाती है। जो जीव को व्राह्मणादि वर्ण तथा आश्रम आदि का वहुत गर्व है सो सर्व जडदेह सम्वन्धी अभिमान एक भी स्थिति मे काम न देगे। स्वरूपज्ञान ओर सद्धारणा रहित व्राह्मण, क्षत्निय आदि कोई भी ऊँच-नीच या भेपधारी हो सभी को शूकर-कूकर योनियो मे जाकर त्निविध दुखो में मिलना पडेगा अर्थात सत्य स्वरूपस्थिति से विमुख होकर चोरासी खानियो मे दुख ही भोगने को मिलेगा॥ ५ ॥ अत. स्वरूपनिष्ठ साधु-गुरु का सत्सग करके देह और देह सम्वन्धी सर्व मिथ्या वातो की अहता-ममता छोड दो। तुम शुद्ध चेतन हो, सवसे अलग हो, परन्तु विपयो मे सुख मान लिये हो यही तुम्हारी भूल है ओर यही तुम्हारा भरम हं। देखो! विचारो! तुम्हारे शुद्धस्वरूप से पृथक जो कुछ भास होता हे, जिम-जिसमे सुख निश्चय होता

है, वे सब क्षणभगी छूटने वाले हैं, फिर उनमे कैसा सुख! कल्पना, आदत, आसक्ति, विवशता, असमजस, चंचलता, रोग, शोक, विछोह, ताप, परिश्रम, दौडना ये सब दुख है या सुख? विचारो! इन्हीं को तुमने सुख मान लिया, इसी से दुख पाते रहते हो। सद्गुरुदेव कहते हैं कि जगत सम्बन्धी सम्पूर्ण दुख तभी छूटेंगे जब तुम भोगजन्य सुखो को मिथ्या निश्चयकर मन को अपने वश मे कर लोगे। तभी अचल स्वरूपस्थिति को प्राप्त होकर पुन: कभी खानी-बानी जालो मे पतित न होओगे, मनसभव कामादिक विकारो से भी तुम कभी लूटे-कूटे नहीं जाओगे। यदि मोह-माया से मन को पृथक न करोगे तो अवश्य सब तुम्हारे ज्ञानधन का हरण कर लेगे॥ ६॥

मोहासक्ति के विकार

दृष्टांत—पण्डित मयाधर नामक एक विप्र था। वह युवावस्था को प्राप्त लौकिक कई विद्या पढा हुआ सस्कृत का अच्छा ज्ञाता था। समय पाकर प्रतिदिन समीप के सत आश्रम मे जाया करता। सतो के मुख से कथा-वार्ता सुना करता। उसे देह से भिन्न अविनाशी सत्यस्वरूप का ज्ञान था। वह अपने सुधार के लिए शील, सत्य, क्षमा, अहिसादि धर्म धारणकर कल्याणमार्ग से चलना चाहता था, पर मयाधर के माता-पिता को यह बात न रुची। आगे चलकर साधुसग से मेरा प्रिय पुत्र बिगड न जाय, ऐसा सोचकर अनेक भाँति सत्सग मे दोष दिखा कर पुत्र को उससे रोकने की चेष्टा करने लगे। प्रयत्न करते हुए भी जब वह सत्सग मे जाने से न रुका, तब माता-पिता, भाई, भौजाई आदि मिलकर सलाह किये कि जल्दी से जल्दी इसकी विवाहिता स्त्री को लाओ, तब इसे आप ही सूझेगा। विवाह पहिले ही हो चुका था, फिर क्या देरी! शीघ्र ही उसके ससुराल मे पत्र द्वारा तिथि नियत कराकर नौबत-नगाडे बजवाकर उसकी स्त्री ला दिये और उससे सब वृत्तात बताते हुए माता-पिता ने कहा कि सम्हाले रहियो, नही तो तुम्हारे हाथ से यह निकल जायेगा। वह दुर्भरा नाम की स्त्री बोली—बस! यह मेरे हाथ की पॉच उगुलियो मे एक छोटी उगुली का खेल है, सब देखते रहियो।

वह पूर्ण सुन्दरी चढती जवानी मे थी। उसने भॉति-भॉति के शृगार, हाव-भाव, कटाक्ष और अपने विविध नखरो द्वारा पण्डित मयाधर को माया धारण करा दिया। जब तक वह वश मे न हुआ तब तक तो खूब नम्रता से हाथ जोड मीठे-मीठे वचनो से अपनी ओर उसको खीचती रही। जब दीप-पतग की भॉति मयाधर उसमे भूल गया, तब वह बात-बात मे दुतकारने और फटकारने लगी। ज्यो-ज्यो उन्हे वह दूर करे—तिरस्कारे-फटकारे त्यो-त्यो पण्डित मयाधार उसके और गुलाम बनते गये। उनकी विद्वत्ता, सत्सग की रुचि तथा धर्मपरायणता न मालूम कहॉ गई! अन्य सत्सगियो ने कहा—पण्डित मयाधर! गुरुदेव तुम्हारा ख्याल करते है, कभी-कभी तो सत्सग में जाया करो। जिस सत्सग के लिए तुम जान देते थे अब उसका इतना क्यो अभाव हो गया है? क्या तुम्हारी बुद्धि विपरीत हो गई? तब मयाधर कह देता कि बुद्धि तो पहिले सरीखी ही है, पर मै अब घर-गृहस्थी के सम्हालने से छुट्टी नहीं पाता, क्या करूँ! समय मिलता नही, यो कहकर सत्सगियो से मुँह छिपा लेता। एकदम उसकी वृत्ति दुर्भरा मे चिपक गई। माता-पिता के प्रयत्न और दुर्भरा के अनेक नये-नये नखरो से उसकी ज्ञानशक्ति बिलकुल नष्ट हो गई। यहॉ तक कि वह स्त्रैण बन गया। दुर्भरा से आज्ञा

मॉग-मॉगकर मव काम करने लगा।

एक दिन दुर्भरा एकात मे समय पाकर वोली—तू माता-पिता को वडा करके मानता हे क्यो? अव वे सडे फल के समान निरर्थक हैं। उन्हे घर से निकाल दे। उनके मव धन पर मेरा कव्जा ह। वे कुजी के मालिक नहीं ह। उलटे वे दोनो मुझे आज्ञा मे चलाना चाहते हैं, गुलामी करवाना चाहते ह। म वडे घर की लडकी हूँ। म किसी की गुलामी नही कर मकती। यदि तूने सवेरा होते ही उन्हे अलग न किया तो तुझे वताऊँगी। मयाधर दीन होकर वोला—हे प्यारी! उन्हे वुढापे मे निकालना अच्छा नही ह। इसमे वडा अधर्म होगा। लोग वहुत निन्दा करेगे। अत. उन्हे घर ही मे रखकर अलग कर दिया जाय। दुर्भरा—फिर हट जा, मेरे मामने मे दूर हो जा, उन्हीं दोनो के पीछे मर! क्या तू नही जानता कि म ही तेरे सुख की वूटी हूँ? मयाधर—अवश्य मुझे खूव निश्चय हे कि हे देवी! तू सदा प्रसन्न रहे, फिर चाहे धर्म-कर्म स्वाहा हो या कुछ भी हो। अच्छा! जो कुछ कल मुझसे वनेगा वही करूँगा। सवेरा होते ही वुड्ढे माता-पिता से वह वोला—आप लोग मेरी प्रियतमा को दिक करते रहते हं, इसमे आप घर से निकल जायॅ, घर पर मेरा कव्जा ह, आप लोगा का नही। माता-पिता मारे मोह के पहिले ही वेटे-वहू को सव धन-सम्पत्ति देकर जमीन भी लिख-पढ चुके थे।

वुड्ढे माता-पिता ने कहा—पुत्र, तेरे को क्या हो गया! तू मेरा ह, मेरे ही कमाये धन से स्त्री-पुरुप दोनों आनन्द कर रहे हो, आगे भी करोगे। वच्चा! मेरे लाल!! हे मेरे अँखिया!!! हम लोगो को वुढाती मे दुख मत दो, यह तुम्हारा धर्म नहीं ह। मयाधर ने कहा—जा तू अपने वडे लडके के घर मे रह। पिता ने कहा—पुत्र! वडा लडका तो कितने दिन पहले मे ही जुदा हो गया था। तमाम धन-सम्पत्ति तो मने तुझे दिया, फिर वह मुझे क्यो रक्खेगा? उसने कहा—वहुत तीन-पॉच करोगे तो पाँच लट्ठ जमाऊँगा, तव फिर वकने लायक न रहोगे। ऐसा कह मयाधर ने पिता को खाट पर मे ढकेल दिया। वो धड़ मे गिर गया। गिरते ही खट्ट मे हाथ टूट गया। अहो शोक! वुड्ढा रो-रोकर कहने लगा—हाय! जिस पुत्र के निमित्त मने परलोक की कुछ परवाह न की, दूसरे का पेट काट-काटकर अनेक छल-प्रपच से लाखो की सम्पत्ति इकट्ठा करके इसे सव दे दिया, वह मुझे मार डालने को तयार हे। ओह! हाय! मेरा कोन सहायक ह! निदान—पाँच-दस पचो को वुलाकर वुड्ढे ने पचायत की। पचो ने मयाधर से कहा—तुमको ही अपने वृद्ध माता-पिता का पालन करना पडेगा, नहीं तो कुछ हिस्सा देना पडेगा। पचायत न्याय करके विदा हो गई, परन्तु घर की रोज-रोज क्षण-क्षण की पचायत के आगे एक दिन की एक क्षण की पचायत, वह भी जवानी का क्या असर! आजकल तो सव न्याय कागज-स्याही मे ही भरा है, सो वुड्ढे के पास न होने से अर्थात धन, जमीन, मकान सव मयाधर के नाम से था, इसलिए वुड्ढे का एक उपाय न चला। अत मे वुड्ढे ने अपने वडे पुत्र से छोटे पुत्र मयाधर का सव हाल कह रोते हुए सहायता माँगी। वह कुछ सज्जन होने से नकार तो न किया पर उसे भी हर्ष न हुआ, क्योंकि उसके अन्दर भी स्त्री की आसक्ति का पर्दा तना था। इसलिए उसने भी स्वार्थी वुड्ढे की ठीक सम्हाल न किया। वुड्ढा रहने लगा आर उसकी वहू देख-देखकर जलने लगी, निरादर कुत्ते के समान वासी-कूसी टुकडा सॉझ-सकारे डाल देवे, वुड्ढा चूँ-मूँ करे तो वह कहे, "कमा के धन देने को तो आर ठार, ओर मरने के वेर मेरे ठोर!" हाय भगवान! ये वला मेरी कव हरेगा! वडा पुत्र भी जव कहीं वाहर से आवे

और बुड्ढा पिता कुछ बहू के दोष कहने लगे तो वह बोले कि पिताजी, तुम्हारी ह तो कह लेती हैं, क्षमा करो। खाओ-पिओ, माज करो, ऐसा कह कर पिता की बातों को टाल देवे। जब पिता बहुत कुछ कहे तो उठ कर बडा पुत्र अपने मित्रो मे कहे—देखो! बुढापे मे बुद्धि लडके की-सी हो जाती है सो ठीक है, सब प्रकार सुख पाते हुए भी पिताजी न जाने क्या बक-बक किया करते हैं। इधर बुड्ढा पिता समयानुसार भोजन-पानी न पाने से अत्यन्त निर्बल हो गया, खाट पर पडे-पडे मौत के दिन गिनते-गिनते मृत्यु के दिन आ गये। एक-दो दिन कुछ बुखार चढने पर दस्त चालू हो गया, बहू ने पति से कहा—मै ये नरक नही साफ कर सकती, तुम्हीं उठाओ और करो-धरो-मरो।

बडे लडके ने बाहर सूने घर मे बुड्ढे की खाट डाल दी और अपने लडके से कह दिया कि पिताजी को देखते रहना, मै कही जरूरी काम से जा रहा हूँ। भला छोटा लडका कब बुड्ढे की बात सुने। अत मे हाय-हाय करते मल-मूत्र मे पडे-पडे बुड्ढे की मृत्यु हो गई। जाति-वर्ण, नाम, धन-धाम, पोते-नाती, स्त्री-पुत्रादि सम्पूर्ण ऐश्वर्य उसका छूट गया और इधर मयाधर की बुड्ढी माता मयाधर के डॉटने, फटकारने, ढकेलने पर भी न निकली, उसकी मयाधर मे बहुत ही ममता थी। दुर्भरा नित्य-नित्य उसे गालियाँ देवे, मारने दौडे, पर बुड्ढी टसमस नहीं हुई। बुड्ढी ज्यो-त्यों अपना सेक-सॉक कर खावे-पीवे पर वह भी कम लडाकी न थी। रात्रि चार बजे से ही दुर्भरा के घर मे गालियो की झडी शुरू हो जाती थी। जब तक वह फिर सो न जावे तब तक कलह चालू रहा करता था। एक दिन दुर्भरा झूठा ही कलक लगाकर मयाधर से कहने लगी—तेरी माता जिन्दा ही मिट्टी मे दबाने योग्य है, तेरा अन्न खाती है ऊपर से तेरी निन्दा भी कर रही है। मयाधर कुछ सोचे-विचारे क्षमा धारण किये बिना ही मारे क्रोध के अग्निमय हो गया और बोला—क्यो री बुड्ढी! तुझे क्या सूझा है, तू मेरे यहाँ निर्वाह करती है और मेरी निन्दा भी करती है! बुड्ढी कहने लगी—अरे बच्चा! ऑखो के लाल! तुझसे प्यारा कौन है! जिसके लिए वाक्य भी पूरा न होने पाया, दोनो हाथो से मयाधर जोरो से लाठी धडाक से बुड्ढी के सिर पर चला दिया, बुड्ढी का सिर फट गया। हाय! जो अपना था, वह ही अपना नाश किया। उसका जीव तुरत यमदूतरूप वासना द्वारा प्रेरित चौरासी योनि को गया।

मयाधर ने देखा कि कटकी बुड्ढी की तो सफाई भई, क्या खूब हुआ। परन्तु लोग जानेगे तो मेरे सिर हत्या मढेगे, लोगों के कहे अनुसार मुझे कुछ पापोद्धार की युक्ति करनी पडेगी, क्या करूँ! इतने मे दुर्भरा ने डॉटकर कहा—'अरे मुआ! जा गॉव मे हल्ला कर दे कि मेरी माता को काले सर्प ने काट लिया है, म भी इधर थोडा रोये देती हूँ। मयाधर ने कहा—वाह! धन्य! क्या दावँ सोची। बलिहारी तेरी चतुराई-निपुणाई पर। वह शीघ्र ही गॉव मे जाकर हल्ला किया कि मेरी माता को काले सर्प ने काट लिया। दुर्भरा ने रोते हुए लोगो से निशान बताया, पुन सब लोग उसे तुरन्त श्मशान मे ले जाकर फूँक दिये। मयाधर लोक-भय से माता की क्रिया मे बैठा था, नित्य उसे कुछ दूर की नदी मे स्नान करने जाना पडता था। एक दिन स्नान करने की तैयारी मे जा रहा था कि इतने मे पुराने साथी एक शिक्षक सत पहुँच गये। नमस्कार, प्रणाम, दण्डवत के बाद सत ने कहा—मयाधर! कहो जीवन हाल सुख मे है या दुख मे? मयाधर प्रसन्नता से बोला—आप की कृपा से चार पुत्र और सुन्दर स्त्री है तथा मेरे घर मे खाने-पीने की कमी नही है। सत ने कहा—तुम्हे जगत-जाल मे कुछ दुख तो नहीं प्रतीत होता?

मयाधर—अरे महाराज, इसकी आप न कहे, हजार दुख सह कर कहीं एक सुख मिलता है। आप की कृपा से मुझे विशेष दुख तो नहीं हे। आगे कुछ और कहने की तयारी थी कि इतने मे दुर्भरा सत के साथ बतलाते हुए देखकर बहुत गर्म हो गई। वह क्रोध करके मयाधर से बोली—क्यो रे निगोडे! अभी ये पक्का सेर भर खाने को मॉगेगा तो कोन देगा? निठल्ले साधु से बतलाया करेगा और जो तू रोज-रोज बुड्ढी के पीछे नदी मे मरने जाता ह सो कब जायेगा? हाय! में तुझे कहाँ तक पढाऊँ! अच्छा, यहॉ आ। ज्यो ही साधु के पास से उठकर मयाधर घर मे प्रविष्ट हुआ त्यो ही पॉवो से जूती लेकर उसके सिर पर धडाधड चार-पॉच जूतियॉ लगाकर कहने लगी—बेसहूर! कहीं साधुओ के पास बेठकर बतलाया जाता हे! जा पाजी! मुझे मुख न दिखलाना। वह तुरन्त उससे नम्र होकर और बार-बार उसके पाँवो को चूमकर बाहर निकला कि इतने मे उसके पोते ने दाडते-दोडते आगे होकर एक टूटे कॉच के टुकडे को इतने जोर से मार दिया कि उसकी नासिका के बीच मे आ लगा। वह कॉच का टुकडा धँस गया, खूनिया खून हो गया। झट खून पोछकर मयाधर कुछ रुई चिपका कर द्वार पर आया तो बीच रास्ते मे बडे लडके ने कहा—देखो! अपना कुशल चाहो तो मुझे अलग कर दो , नहीं तो लट्ठो से सिर फोड दूँगा। जैसे-कैसे कुछ कहकर मयाधर द्वार पर सत के पास आया। सत बैठे-बैठे उसकी सब अवदशा देख रहे थे।

संत ने पूछा—मयाधर! क्या यही सुख है? मयाधर ने कहा—सुनो महाराज! जहॉ सुख तहॉ कुछ दुख भी। आप ठहरे साधु सत, आप क्या जाने मेरे आनन्द को! इतना सब सहकर ही विषय-आनद लेता हूँ। सत ने कहा—अहो! ये महामोह की महिमा हे। भला! तुम पढ-लिख चतुर होकर मूढ हो रहे हो। अरे! विषयानद जिसे कहते हे, वह आनन्द हे या फॉसी या जी का जजाल, या बवाल या बधन या यमत्रास, क्या माना जाय! सुख स्वप्नवत एक क्षण और दुख की ऑच हर क्षण-चाबीसो घटे। अरे मयाधर! अभी विवेक करो, इस ससार मे सुख का लेश नहीं है। जो तुम सुख मानते हो इसी से तुम्हे यह सब दुख भोगना पडता है। इन दुखो से भिन्न "गहो मन गुरु का ज्ञान अटूट" ऐसा कहकर सत पुन: समझाने लगे—देखो मयाधर! तुम्हारे माता-पिता आदि तुम्हे सत्सग से रोककर विषयासक्ति का पाठ पढ़ाये जिससे तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट हो गई। उनकी दुर्दशा भी तुमने खूब की और तुम्हारी दुर्दशा करने में दुर्भरा ने भी कुछ कसर न रक्खी। यही कम-विशेष ससार का सब रग-ढग ह। यह सब गुरुज्ञान से पीठ देने का नतीजा है। अच्छा! अबसे तुम चेतो, इत्यादि प्रसगो द्वारा मयाधर को जब सत ने समझाया तब उसके हदय के घोर पटल उड गये आर मयाधर हाथ जोड सत से बोला—हे प्रभु! अब मेरा क्या कर्तव्य हें? सत ने कहा—

सोरठा—*सत कह्यो समझाय, पहिले भक्ती करहु भल।*
क्रमश: शक्ति बढाय, ज्ञान युक्त वेराग्य पुनि॥

तन रक्षा के जो कार्य आवश्यक हो, उन्हे विचार सयुक्त करो। पॉचो विषयो मे जो सुखासक्ति का खिचाव ह उस बीज को स्वरूपबोध की स्थिति पुष्ट कर भस्म कर दो। सहजभाव मे वर्तमान मे बरतते हुए जो प्राणी-पदार्थ मिले उनमे अहंकार, हर्ष, ममता ओर राग-द्वेष का परित्याग करते रहो। बस, यही तुम्हारा परम कर्तव्य हे। मयाधर पूर्व भूल पर पछतावा करते हुए सत से विनय करने लगा—

चौपाई

अहह! मन्द मैं कीन्ह अकाजा। दुखहि मानि सुख भ्रमत अलाजा॥
मित सगे सब यही सिखायो। नारि विषय गहि जगत बढायो॥
सोई विषय सुख दुख कर मूला। क्षण-क्षण सब के उठत जु शूला॥
शत्रु मित्र आपन पर मानी। जलत जलावत पशुहि निशानी॥
साथ दुर्भरा कूँ करि प्यारी। अगणित कष्ट लह्यो हा! हा! री॥
अस मैं मोह विवश भयो अधा। साधु सुझावत सुझत न बन्धा॥
अब सूझ्यो गुरुवर तव दाया। सत कृपा बिन जात न माया॥

दोहा—*अब मैं सब कर मोह तजि, करब सदा सत्सग।*
निज स्वरूप को जानि भल, स्थिति लहब अभग॥ १॥
अस कहि सत के चरण पडि, शरण गह्यो मद छोडि।
गो मन को जीतन लग्यो, कुटुम असक्ती तोडि॥ २॥

सिद्धान्त—मयाधर जीव है। यह ससारियो के मोह-वश इतना ससारी हो रहा है कि इस दुखरूप जगत से भिन्न स्वरूपस्थिति बताने पर भी उसकी समझ मे नही आती। जब कभी पूर्व के कुछ शुद्ध सस्कार तथा कुछ जगत मे दुखदर्शन और सयोगवश गुरु-सत का सम्बन्ध हो जाता है तब इसे सब जगत का अधेरमयी व्यवहार देखने मे आ जाता है, फिर जगतबन्धनो को त्यागकर सुख से सत्यस्वरूप मे टिक रहता है।

शिक्षा—रमणी, पुत्र, घर, धन, देश, गॉव, जाति, पॉति, शिष्य, शिष्या, मान और मर्यादा यहॉ तक कि देह की भी आसक्ति त्यागकर चलते-फिरते हर समय स्वरूपस्थिति का अभ्यास करना चाहिए। यही परम धर्म है, इसके लिए प्रथम सद्गुरु की उपासना और सत्सग कर्तव्य है।

शब्द—६

नहिं कोइ साथी तुम्हार, जीव सब मन के बिके है॥ टेक॥
नित नव उदलि बदलि सब जावै, जानै न अपन परार।
कौन भरोसा तिनका बौरे, देखौ न नेत्र उघार॥ १॥
जिन जिन से सुख मानौ मनुवॉ, सहि दुख बस्तु लहार।
तिनके घाती जीव सबै है, छल बल तृष्णा रार॥ २॥
हैं जग बिबश पदारथ सबहीं, नहिं बिछुडत तेहि बार।
आजु रहे वै आपनि देखौ, काल्हि गैर के झार॥ ३॥
कारण कारज धार अखण्डित, क्षण भर नहिं यकतार।
मानि सत्य सुख आशा धारै, दुख का कौन शुमार॥ ४॥
विषयासक्ति मानि मन ममता, धन सुत कुल परिवार।
घरनी पुरुष मोह करि जलते, परश अनल उदगार॥ ५॥

चचल दुख छूटन के ताई, खोजत विषय अधार।
भोगत भोग वढै मन तृष्णा, खाय न कवहुँ पछार॥ ६॥
क्षणक वृत्ति जो स्थिर होवे, दुख का सोई अगार।
लहि परयत्न पहाड शीश पर, परवृत्ति विपिन भटकार॥ ७॥
स्वत· अचल निज देश स्वरूपहि, खुद रहि भास सहार।
चचल दुख नहिं होय कवहुँ तहँ, यह धन गुरु दरवार॥ ८॥
कहँ कवीर जो गावे समझे, ठहरे करे विचार।
यह जग सिधु पार सो क्षण मे, तजि सशय भ्रम धार॥ ९॥

टीका—तुम्हारा साथी, सहायक व मित्त कोई भी नहीं ह, क्योकि जितने देहधारी जीव हैं, वे सव अपने-अपने मनोमय तथा सुख इच्छा के हाथ विके हुए हं। जिधर उन जीवा के मन मे सुख जँचेगा वस उधर ही घूम पडेगे, तुम्हारी वाट नहीं देखेंगे॥ टेक॥ मदव नयी-नयी कामना करके साथी-वराती उलटते-पलटते रहते ह। वे अपना आर विराना नही देखते, फिर उनसे महायता पाने की क्या आशा-भरोसा! ऑखे खोलकर देखो तो मही!

दृष्टान्त—प्रणपाल नाम का पूर्व मे एक राजा हुआ ह। वह राजनीति मे रुचि वाला तथा प्रजा का प्राण के समान पालन करता था। एक वार उसके राज्य मे विकराल अकाल पडा, अन्न की तो क्या, जो कुछ कुऑ, वावडी, तालावो मे जल था वह सव सूखने लगा। लोग अन्न-पानी विना धडाधड मरने लगे। क्या हो, राजा प्रणपाल ने कुऑ, वावडियो को खूव साफ कराया, जिसम कहीं-कहीं ही पानी निकला आर अपने लाखो मन अन्न के कोठार को खोल कर अकाल मे पीडित कुछ प्रजा की तो प्रणपाल ने रक्षा की, परन्तु सव प्रजा की रक्षा करना उसकी मामर्थ्य के वाहर रहा। अतः प्रजा मे जो दुष्टजन थे वे लूट-मार करने लगे। हो सका तहॉ तक उन दुष्टो को भी अनीति से रोका आर दुराचारियो को कटिन दण्ड दिया। फिर भी वहुत सी प्रजा अकाल से पीडित ही रही। यह वात राजा से देखी न गई, अत· उमने रानी से कहा—अव मं राज्य छोड देना चाहता हूँ। राजा यदि प्रजा की ठीक-ठीक रक्षा कर सके तो राज्य करे, नही तो शीघ्र राज्यशासन छोड देवे इमी मे उमकी भलाई ह, यह नीतिकारो ने कहा ह। रानी हाथ जोडकर वोली—स्वामिन! म फिर आपके विना एक क्षण कमे रह मकूँगी? राजा भी रानी मे कम आसक्त न था, अतएव राजा भी वोला—हे भामिनि! फिर तेरे विना मैं भी तो एक क्षण नहीं रह मकता। यह विचारते हुए दोनो उसी रात्रि को चल पडे। चलते-चलते दोनो ने अपने राज्य के पार जाकर जगल मे विश्राम किया। चरवाहो से मालूम हुआ कि इम घोर जगल मे मात डाकू रहते है, जो कि यहॉ के गजा आर प्रजा की नाको मे दम कर दिये ह। यहाँ के राजा ने यह प्रतिज्ञा की हे कि जो उन मातो डाकुओ को पकडे या मार डाले उमको मैं आधा राज्य देने का तयार हूँ।

राजा प्रणपाल रानी को लेकर उस घोर जगल मे घूमने लगा। घूमते-घूमते उमे एक सुन्दर कुआँ मिला। राजा ने गनी मे कहा—प्रिये! तुम यहॉ वटी रहो! म अभी आता हूँ। ऐसा कहकर राजा प्रणपाल इधर-उधर देखते हुए एक ऊँची जगह पर पहुँचा, जिमके वीच मे एक छोटा गड्ढा देखा जो कि छोटे-छोटे वृक्षो आर वाडियो मे आच्छादित था। गड्ढे मे उतर कर

देखा तो राजा को मालूम हुआ कि इसमे कठिनता से एक मनुष्य मात्र को नीचे जाने के लिये सधि है। राजा प्राणो की परवाह न कर उस सधि मे घुसा, त्यो ही एक पक्की सीढी प्राप्त हुई, फिर वह आगे बढा। चार-पॉच सीढी उतरने के बाद उसे एक मकान देखने मे आया, जिसमे आगे-पीछे आठ दरवाजे थे। राजा ने पहिले दरवाजे को खोलकर देखा तो उसमे खाने-पीने का सामान और हर किस्म के तीर-तलवार, भाला-बन्दूक आदि शस्त्र रक्खे थे। फिर दूसरा किवाड खोलने पर उसमे एक बडा काल रूप भयकर वीर पुरुष दिखाई दिया। वह राजा को देखते ही क्रुद्ध हो गया, दोनो मे घोर युद्ध होने लगा, अन्त मे राजा ने उस मनुष्य को मार डाला। आगे ऐसे ही छह कोठरियो मे एक-एक युवक मनुष्य लेटे थे, राजा ने छह मनुष्यो के तो प्राण हरण कर लिये। सबसे अतिम सातवे को अधमरा करके उसे छोड दिया और सातो दरवाजो मे ताला लगा कर पहिली कोठरी मे से कुछ भोजन की सामग्री लेकर उसे भी बन्दकर रानी के पास उपस्थित हुआ और रानी को खिला-पिलाकर फिर उसी गड्ढे के मार्ग से धरातल के पहिले कमरे को खोल रानी से राजा ने कहा—प्रिये! तुम यहॉ निश्चित होकर विश्राम करो। देखो! तुम इन सातो कोठरियो को खोलना मत, मै यहॉ के राजा से जरा मिल आऊँ। राजा ऐसा कहकर रानी को सब कुजी देकर चल दिया।

राजा ने जिन मनुष्यो को मारा था वे सब डाकू ही थे। पीछे से रानी ने सोचा कि बात क्या है जो राजा कोठरियॉ खोलने को मनाकर गये है! अवश्य कोई बात है, देखूँ तो सही। बालक, नारी, उन्मत्त, राजा आदि की प्राय एक-सी बुद्धि होती है। रानी शीघ्र ही सातो कोठरियो को खोलती भई। छह मे तो मृतपुरुषो को पाया, सातवे मे अधमरा पुरुष को देखा, वह मारे दर्द के हाय! अहो! हा-हा! आह! शब्द मात्र कह सकता था। रानी ने उसे देखकर उसकी मरहम-पट्टी करके दवा-पानी पिलाकर उसके दर्द का हरण कर लिया। पुन उसके रूप और सौन्दर्य पर रानी क्षणमात्र मे विमोहित हो गई। मोह होने पर धर्म-नीति भूल जाती है! रानी और डाकू दोनो मोह युक्त वार्ता करने लगे। डाकू ने कहा—रानी! तू मेरी होकर रहने को कहती है, तेरा पति राजा बडा वीर है, वह जान पायेगा तो मेरे प्राण ही हर लेगा। रानी ने कहा—राजा बन्दर है, मैं मदारी हूँ। मेरे उठाये वह उठता है, बैठाये बैठता हे, अत. आप किसी बात की चिंता न करे। रानी मन अनुमोदित भॉति-भॉति की बाते और क्रियाये करके ताला बन्द कर फिर उसी पहिली कोठरी मे आ दाखिल हुई। इतने मे राजा आ गये। राजा ने तरह-तरह के मेवे-मिष्ठान्न फल-मूल रानी को दिये। दोनो रात्रि भर वहॉ रहे, फिर सबेरा होते ही राजा ने रानी से उन कोठरियो को खोलने की सख्त मनाई करके चल दिया। रानी फिर सातवी कोठरी खोल अपने यार को चिन्तातुर देखकर बोली—आप किस बात के लिए उदासीन हो रहे है? डाकू ने कहा—इश्क की बात छिपती नही है, मेरा-तेरा सम्बन्ध जानते ही तेरा राजा मुझे अवश्य मार डालेगा। रानी बोली—अच्छा! राजा को मै ही किसी प्रकार मिटा डालूँ तो? उसने कहा—तब मैं निश्चिन्त हो सकूँगा। रानी बोली—आज तो आप प्रसन्न चेष्टा होइए।

अहो! देखो! जो अपना विवाहित पति, जिसके साथ मे बहुत दिन बीते, उस अपने प्राणप्रिय राजा को मार डालने की युक्ति सोच रही है। यह कुटिलता की हद नही तो क्या है! वह ऊपर से सुशीला बनी हुई रानी राजा के आने का समय जानकर फिर उस यार की कोठरी का बन्द करके अपनी पहिली कोठरी मे आ विराजी। राजा के आने का समय जानकर खाट से

नीचे उतर कहने लगी हाय-हाय! अरे रे! ओफ! हाय-हाय जान निकली! हाय किसी प्रकार रहा नहीं जाता! मेरे कटिभाग मे असह्य वेदना हो रही है। कोई भी इस समय नहीं ह। इतने मे राजा आ गये। राजा यह दशा देखकर प्राणप्यारी के ऊपरी कष्ट से आप भीतर से वहुत कष्टित होकर बोले—हे मनोरमे! यह तेरे को क्या हुआ? इसकी क्या आपध हे? वहुत वार पूछने पर रानी बोली—यही रोग मुझे एक वार ओर हुआ था। यदि वाघिन का दूध मिले तो उसका म लेपन करूँ, तभी यह दर्द दूर हो सकता है ओर उपाय नहीं। राजा शीघ्र तयार हुए। अपने प्राणो की परवाह न कर जहाँ वाघ-वाघिनी रहते थे, ऐसे घोर जगल मे प्रवेश किये। इतने मे एक महात्मा मिले। सत ने कहा—भाई! तुम कान हो? क्यो, किस वात के लिए आतुर होते हुए जा रहे हो? राजा प्रणपाल ने निज रामकहानी सुनाकर वाघिन का दूध किस प्रकार मिलेगा यह उपाय पूछा। महात्मा ने कहा—अरे मोहासक्त! तू यह सूत याद रख "नहि कोई साथी तुम्हार जीव सब मन के बिके हैं" तेरी रानी तुझे मार डालने के विचार मे हे, तू चेत! उसे विश्वसनीय मत समझ, नीतिकारो ने कहा हे—

सोरठा—*सुनु सुत मम उपदेश, नखी नारि नृप शृगधर।*
सरि सशस्त्र अकुलेश, इन विश्वास न कीजिये॥ वि०॥

राजा ने कहा—हे महात्मन! यह बात सुनते ही मेरा मरण हो जाता हे। कुछ भी हो, मेरी प्राणप्रिया रानी मुझसे कभी विमुख नहीं हो सकती। महात्मा को उसके अविवेक पर आश्चर्य हुआ आर वे बोले—हे राजन! स्त्री तो स्त्री ही हे, मुझे तो मनोमय वश किसी भी प्राणी का क्षणमात्र आशा-भरोसा नहीं हे। देखो! माता-पुत्र या पिता-पुत्र का कितना घनिष्ठ सम्बन्ध माना जाता है, फिर जव पुत्र से माता स्वार्थ नहीं देखती तव उसे त्याग देती है। ऐसे ही पुत्र भी माता-पिता से जव सुखसिद्धि नहीं देखता तव उन्हे त्याग देता हे। हे राजन! देखिये, पुरुष के लिए स्त्री जो प्रेम करती हो तो नपुसक, रोगी, ऋणी, कुरूप, अपग पुरुष पर भी स्त्री का प्रेम होना चाहिए। ऐसा तो नहीं देखते हैं ओर पुरुष स्त्री मे जो प्रेम करता ह वह स्त्री के लिए नहीं, अपने ही लिए करता ह। यदि स्त्री के लिए प्रेम करे तो रोगी, वृद्धा, कुरूपा, कर्कशा, अयोग्य स्त्री मे भी प्रेम होना चाहिए। ऐसा न होने से जाना जाता हे कि सव प्राणी अपने मन-सुख के लिए ही सवसे प्रेम करते हैं, कोई भी दूसरे के लिए नहीं। यदि सदा का प्रेमी एकक्षण भी अपने प्रिय मे सुख न समझे, उसकी वुद्धि पलट जाय, तो क्षणमात्र मे प्रेमी ही अप्रेमी वन जाता है। यदि वह समझ ले कि पहिले का प्रेमी हमारे सुख मे रुकावट करता ह तो वह उसका सिर काट लेने पर उतारू हो जाता हे। अत· यह तेरी वात महा मिथ्या है कि मेरी विश्वसनीय रानी पलट नहीं सकती। सगति का असर किस पर नहीं पडता! मन किसे नहीं उद्वेग पदा करता! सकामी अविवेक-ग्रसित नर-नारी विषयो की इच्छारहित कौन होगे! विषयइच्छा वाले नर-नारी धर्म-नीति एकरस कैसे रख सकते हे! इन वचनो का असर ममतासक्त राजा पर कुछ नहीं हुआ।

राजा सत से बोले—कुछ हो, मुझे वाघिन के दूध मिलने की युक्ति कृपा करके वता दीजिये। सत ने उसकी युक्ति वता दी। राजा ने सत की युक्ति से कई दिनो मे वाघिन का दूध प्राप्त किया। रास्ते मे फिर वही सत मिले। सत ने कहा—किसी दिन मैं तेरे से मिलूँगा, मेरी सव वाते याद रखना। राजा ने शीघ्र ही आकर रानी को दूध दिया। रानी ने झूठ ही दृश्यमात्र

लेपन किया और प्रसन्न हो बोली—"धन्य-धन्य! आप ही जीवन के आधार, आप बिना कौन करे मेरा इतना प्यार! आप पर बार-बार मै जाती हूँ बलिहार, जितने दिन आप नहीं आये, उतने दिन मेरा जीवन ख्वार।" इन बातो को सुन राजा फूले न समाया और सत की कही हुई सारी बाते भी रानी से कह सुनाई। रानी बोली—"भिक्षुक क्या जाने जगतरस का प्रेम, प्रेम-तन्तु को तोड वह कुछ और करता है नेम" ऐसा प्रति उत्तर करके रानी ने दम्भयुक्त अपना विशेष प्रेम सूचित किया। इसके पश्चात राजा प्रणपाल फिर उस देश के राजा के यहाँ चले गये। रानी फिर अपने यार से मिली और उससे सम्पूर्ण ब्योरा कहा। यह बात सुन कर वह डाकू फिर डर के मारे विह्वल हो गया। रानी बोली—आप दुखी होकर इतना सोच क्यो करते है! अच्छा! मैं दूसरी युक्ति राजा के मारने की रचूँगी। दूसरे समय मे रानी फिर दुखी होकर नीचे गृह मे लेट रही। इतने मे राजा आये और बोले—प्रिये! तू क्यो दुखी है? रानी बोली—मैंने लडकपन मे एक सुधाफल खाया था, वही मुझे याद आया है और उसे मै चाहती हूँ। वह अमुक विषमस्थल मे मिलता है। राजा उसकी तलाश मे चल दिया। चलते-चलते एक ऐसे नगर मे पहुँचा जहाँ पर एक स्त्री ही राज्य करती थी। राज्य-सचालिका महारानी से पथिक राजा मिले। महारानी ने आने का कारण पूछा, तब राजा ने अपना सब हाल कहते हुए सुधाफल प्राप्ति की युक्ति पूछी। महारानी बोली—राजा! तेरी रानी तेरी नही रही। तू उसके दिल को खुश करना चाहता है, वह तुझे मरवा डालना चाहती है। वह सुधाफल जहाँ मिलता है वहाँ जाकर कोई बच नही सकता है। उसके रक्षकगण फल लेने वाले को मार डालते हैं। तेरी रानी ने तुझे मरवा डालने की इच्छा से भेजा है। अच्छा! आगे चलकर तुझे एक सत मिलेगे, उनके सहारे से तू सुधाफल प्राप्त करेगा। यह सुन प्रणपाल ने चलते-चलते सत से भेट की। सत ने सुधाफल प्राप्ति की सरल युक्ति बताई। राजा उस युक्ति से फल लेकर फिर आकर रानी को दिया। रानी अत्यन्त प्रसन्न होती हुई बोली—धन्य-धन्य आपके पुरुषार्थ को! आप से प्रिय ससार मे मेरा कोई नही है।

दूसरे दिन फिर राजा उस देश के राजा के यहाँ चलते भये। बीच रास्ते मे वही सत मिले जिन्होने बाघिन की दूध-प्राप्ति की युक्ति बताई थी। सत बोले—राजा! कहाँ जा रहे हो? वृथा बाम विनोद मे क्यो जिन्दगी बरबाद कर रहे हो? वह प्राणप्यारी नही है, तेरे प्राणो की घातिनी है, अल्प काल मे ही विनाश करने के लिए निशानेबाजी कर रही है, तुझे न प्रतीति हो तो उलट के आज चुपके से जाकर उसकी दशा देख ले। राजा को इस बात से सदेह हुआ। वह तुरन्त लौट पडा और धीरे से आ किवाड खोलकर देखता क्या है कि वहाँ रानी है ही नही। फिर आठवी कोठरी का ताला खुला देखा, वहाँ जाकर राजा चुपके से दोनो की बात सुनने लगा। रानी कह रही थी, राजा के मार डालने की दोनो युक्तियाँ खाली गईं। अब उसे सोते समय हम दोनो मिलकर समाप्त करे और कोई उपाय नहीं। ऐसे कहकर दोनो विषयक्रिया मे तल्लीन हो रहे है। राजा इन बातो को सुनते ही एकदम सन्न सा रह गया। उसका हृदय काँप उठा। दाँतो के नीचे जीभ दाबकर क्षणमात्र चित्त खिंचा सा आश्चर्यित हो रहा। उसके हृदय का कामासक्ति-ततु आज टूट गया। इस क्षण उसकी सारी प्रियता, उसका विश्वास, उसका प्रेम-नेम उसकी अत्यन्त ममता क्रोधाग्निरूप मे भभक पडी। अन्त मे वह अपनी क्रोधाग्नि ज्वाला को सँभाल न सका और शीघ्र फाटक पर धड से लात मार भीतर जाकर उस दुश्चरित्र पुरुष का सिर काट डाला और रानी से बोला—अरे छलकारिणी, हा! मै अपने प्रबल प्रारब्ध से बचा,

पर तू अपनी तरफ से मार डालने मे न चूकी, नीति मे जो कुछ कहा ह सो राई-रत्ती सच हे "विन प्रतीत को काचन काता"। अहो! मैंने सत की वातो का विश्वास न कर वृथा ही इतने-इतने कष्ट सहन किये। हे अधर्मरता! ले! तुझे पापकर्म का फल चखाता हूँ। ऐसा कह तलवार मे उसे टुकडे-टुकडे कर डाला, पश्चात वहाँ से चल दिया। फिर वहाँ के राजा ने उसका विवाह करना चाहा। प्रणपाल को नारिजाति मात्र से इतना तिरस्कार हुआ कि फिर वह नारी मात्र मे लगन न किया। अत मे वह इस छलकारी दुनिया से अत्यन्त उपराम हुआ, परमार्थ-सत्सग की राह सँभाला आर अपने अविनाशी स्वरूप के लगन द्वारा मुक्तिपद की एकरस साधना मे सफल हुआ।

इस प्रकार क्या नारी, क्या मित्र, क्या वन्धु-वान्धवादि, सव मनवश इधर-उधर होते रहते हे। पूर्व के दृष्टातो को भी याद करो। कोरव ओर पाण्डव भाई-भाई ही थे जिससे महाभारत हुआ। दशरथ ओर केकेई मे पति आर पत्नी का ही नाता था, परन्तु ककेई ने अपना हठ न छोडा, निदान दशरथ की मृत्यु हो गई। महाराज भर्तृहरिजी की पिगला रानी थी, उसका घोडा दरोगा के साथ गुप्त सम्बन्ध चालू था। यह बात भर्तृहरि के भ्राता विक्रमादित्य जान गये। पिगला यह बात जानकर एक सेठ द्वारा झूठा ही कलक विक्रमादित्य के सिर मढवाकर अपने प्रिय देवर विक्रम को देश वाहर निकलवा दिया। अत मनवशी देहधारी जीवो से अपने सुख का भरोसा करना ही दुख पाना हे॥ १॥ हे जीव! महल, मठ-मन्दिर, रत्न, धनादि जड पदार्थ आर स्त्री, पुत्र, अनुचर, कुटुम्बादि देहधारी जिन-जिन वस्तुओ मे तुम सुख निश्चय करते हो ओर नाना प्रकार के दुखो का सहन करके अथक परिश्रम द्वारा उन वस्तुओ को प्राप्त करते हो, उन तुम्हारी सुख मानी हुई वस्तुओं को सम्पूर्ण मनुष्य लूटने वाले ह। प्रत्यक्ष देखो! तृष्णावश होकर नाना छल, कपट, जवर्दस्ती, झगडा या सरकार-दरवार द्वारा अनन्तो चालाकी करके सव एक-दूसरे का धन-माल, प्रभुता, अधिकार हरण कर रहे ह। अथवा तुम ही तृष्णा वश छल, प्रपच या जवरन वॉध-मार के जो दूसरे के धनादि वस्तु हरण कर सुख मान रहे हो सो धनादि वस्तुओ पर सव घात लगाये हं। इस प्रकार उन वस्तुओ मे सुखाध्यास होने से उन्हीं के सम्बन्ध द्वारा छल, प्रपच, तृष्णादि की उत्पत्ति होती रहती है॥ २॥

पूर्वोक्त विचार से ससार के सब पदार्थ परवश हं, उन पदार्थो के अलग होते क्षणमात्र भी देरी नहीं लगती। जो चीजें आज अपनी हैं, जिनसे सकडों वर्ष सुख लेने की आशा या भरोसा रक्खा गया है, वे सम्पूर्ण चीजे दूसरे ही दिन दूसरे की हो जाती हे। फिर दूसरा दिन तो दूर है, अरे! इनका पलक मारने तक भरोसा नहीं।

सवैया—*हय वर सेन सुशोभित छत्र से आज जो गाजत सेजन माहीं।*
वस्तु अनन्तन हैं घर मोदित शेखी करैं नहि गानत काहीं॥
एसो सुखी छिन ही महँ दीन हो शत्रुन के वशि ह्वै विललाहीं।
भूखे पियासे व प्राण को सकट साँसति देखु वृथा मद लाहीं॥ ३॥

जसे जल-प्रवाह खण्डित नहीं होता, वसे कारण-रूप तत्वो के परमाणुओ से इधर अनत कार्यो का वनना, उधर विगड़ते रहना, यह धारा क्षणमात्र भी नहीं रुकती। इसीलिए पल-पल मे वस्तुएँ एक समान न रहकर आर की ओर ही होती रहती हैं। जसे घर या वृक्ष या दूध या

वस्त्र कोई भी चीज पर विचार करे, तो उसका क्षण-क्षण परिणाम बदलते ही दिखाई देता है। कुछ देर में तो सबको जानने मे आ जाता है कि यह वस्तु कल सरीखी नही है। विवेकदृष्टि से तो परमाणुओ के जलधारावत चलाचली क्रिया से कार्य बनने के साथ ही उसका और-तौर आरम्भ हो जाता है। ऐसे ही सब खानियो की देहो का भी हाल है। जब से जन्म हुआ तबसे ही उसके शरीर मे क्रम से बाल, जवान, वृद्ध, मरणादि की क्रिया चालू रहती है। फिर देह और देह सम्बन्धी सब जड कारण-कार्य क्षणिकवर्ती पच विषयो को सत्य-एकरस मान लेना और तिनसे सुख पाने का सहारा पकड लेना ऐसी उलटी समझ वालो के दुखो की कौन गिनती। ॥ ४ ॥ विषयो में सुख निश्चय से विषयो को भोग-भोगकर आदते बना ली। उसी आदत या विषयासक्तिवश भोगपूर्ति के लिए रुपये-पैसे, बाल-बच्चे, भाई-भौजाई, पोता-नातियो मे मोह करके अहता-ममता धारण कर रहे हैं। विषय सुख के ही लिए स्त्री और पुरुष मैथुनरूप अग्नि उद्‌गार कर मोहवश आपस मे जल-बल रहे हैं ॥ ५ ॥

भोग स्मरणो मे चचलता होती है वह जीव को सहन नही है। स्मरणजनित चचलतारूप दुख छुडाने के लिए जीव विषय-भोगो का सहारा लेता है, जिससे विशेष-विशेष कामना भूख बढ जाती है। विषयो से मन की तृष्णा कभी भी पछाड नही खाती, इच्छा-तृप्ति नही होती ॥ ६ ॥ भोग-क्रिया करते-करते इन्द्रियाँ रुककर जो क्षणमात्र वृत्ति स्थिर होकर सुख प्रतीत होता है वही आगामी दुख का बीज जानिए। उसी क्षणिक भ्रमसुख के लिए ही अनत परिश्रम का पहाड सिर पर लादकर प्रवृत्तिरूप जगल अर्थात सग्रह, ममता, आसक्ति, परवशता, भोग-क्रिया, सस्कार, कर्म, आवागमन, त्रिविधताप, तृष्णा, अतृप्ति इत्यादि मे निरन्तर जीव को भटकना पडता है। इसलिए विषयो मे क्षणिक स्थिरता ही दुख की खेती समझिए ॥ ७ ॥ पूर्वोक्त कामनाज्वाला बुझने की दवा भोग-विलास नही है, बल्कि भोगो को त्यागकर अपने स्वरूप की स्थिरता ही है। हे जीव! जो तुम दुख धन्धा से पृथक होना चाहते हो तो स्वरूप को पहिचानो, क्योकि तुम्हारा निजदेश अर्थात अपना स्वरूप पारख ही अचल, नित्यतृप्त, स्वतन्त्र, स्वय प्रकाश, स्थिर है, जिसमे कामना मल का लेश नही है। ऐसा अपने स्वरूप को जान आप ही अपने स्वरूप मे सतुष्ट रहते हुए सर्व विजाति भास वृत्ति को परख-परख कर नाश कर दो, फिर तो कामनाकृत चचलतारूप दुसह दुख तुम्हे स्वप्न मे भी नही मिल सकता। याद रक्खो, यह स्वरूपस्थितिरूप अचल अखण्ड धन अन्य ससारियो के पास कभी नही मिल सकता। यह स्वरूपज्ञानरूपी धन केवल श्री पारखी-विवेकी गुरुदेव के ही सत्सगरूप दरबार मे मिलता है। नित्यतृप्त होने की इच्छा हो तो गुरुदरबार मे प्रसन्नता से जाकर अचल धन को प्राप्त करो ॥ ८ ॥ गुरुदेव कहते हैं कि इस वचन का जो सादर गान कर साथ ही इसके आशय को भली-भाँति समझे-बूझे, तदनुसार निरतर अभ्यास करके ठहराव बनावे और बार-बार विचार करे तो मनोमय ससार-समुद्र से क्षण ही मे पार पा जावे। जिस मनोमय ससार मे नाना सशय, सदेह, शोक, चिंता, भ्रम, अविद्या, विपरीत और अज्ञानरूप अधकार की धारा बह रही है, ऐसे मनोमय सिधु को छोडकर या उल्लघन कर वह विवेकवान सहज ही सदैव रहनहार स्वरूपस्थिति को प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

शब्द—७

सो भूले मन जग के फेर कहाँ ॥ टेक ॥

केहि हित तुम वैराग्य किहे हो, केहि के चक्कर जाव यहाँ॥ १॥
सवके फन्दे मानि फँस्यो तुम, तन धन नारि के फेर बहा॥ २॥
प्रेमी मानौ द्वेषी मानौ, काज भूलि भव सिन्धु लहा॥ ३॥
काह आव तुम काह भये अव, लिहे जगत को कौन कहाँ॥ ४॥
हानि लाभ मे नहिं कोई साझी, निज निज मन के फेर रहा॥ ५॥
तुमहीं अहमक सवमें ठहरे, जो समुझौ करि ध्यान महाँ॥ ६॥

टीका—हे मनवशी जीव! तू जगत के हानि-लाभ, सुख-दुख, अपन-परार, राग-द्वेष और ममता के भुलावे मे क्यो पड़ रहा है!॥ टेक॥ अरे! तुम प्रथम क्या ध्येय लेकर वैराग्य धारण किये हो, और किस भूल-भूलेया मे चक्कर काट रहे हो! भाव यह कि जीव के जन्म-मरण तथा मनोमय रूप व्याधि का नाश करके सदैव मुक्ति स्थिति के लिए वैराग्य धारण किया जाता है। मुक्ति-वाधको का त्याग, साधको का ग्रहण रूप पुरुपार्थ छोडकर तू क्यो जगत के भुलावे मे पड रहा हे?॥ १॥ अरे! तुम जगज्जीवो के समान जो कुछ अपने सम्मुख आया उसी मे तद्‌गत होकर अध्यास करके उलझ रहे हो। कहीं तो विशेष सुख से निर्वाहार्थ देह के नाना व्यवहार मे, कहीं तो द्रव्य प्राप्ति के लिए नाना दम्भ, कही तो मनोहारिणी-छलकारिणी के भुलावे मे पडकर तुम भवधार मे वह रहे हो॥ २॥ कहीं तो वहुतो को अनुचर, प्रेमी मानकर उनका बोझा सिर पर लादे घूमते हो। कहीं तो किसी को वेरी मानकर उसके जडमूल से उच्छेदन के लिए रात-दिन जलते रहते हो। अरे! तुम शुद्ध चैतन्य अपने शुद्ध हंसगुण दया-क्षमादि स्थिति को छोडकर भवसिंधु रूप दुर्गुणो मे क्यो पच रहे हो?॥ ३॥ भला तुम्हारा स्वरूप क्या हे, और तुम क्या हो रहे हो? यह जगत क्या हे, इससे तुम्हारा सम्वन्ध कौन सा हे? वह कव तक रहेगा? इसको विचारो तो सही! भाव यह कि तुम शुद्ध चैतन्य विषयो के पार स्वतंत्र हो, पर स्वरूप को भूलकर विषयो के गर्जी वनकर काम, क्रोधादि मानसिक विकारो को लादकर महा परतंत्र वन गये हो और जिस जगत मे तुम भूले हो वह तुमसे तीनो काल दूर हे। मानन्दी द्वारा उस जगत से तुमने सम्वन्ध कर लिया हे। क्योकि यह अनुभव है कि जीव अपनी ही दुख-निवृत्ति के लिए प्रिय से प्रिय शरीर, मन, प्राण सव विजाति सामग्रियो का त्याग-ग्रहण करता रहता है तथा हर कार्य के त्याग-ग्रहण के पहिले स्मरण रूप मानन्दी ही सम्मुख होती है। स्मरण के विना जीव मे क्रिया ही नहीं हो सकती। मन, मानन्दी ओर स्मरण एक ही हे। इससे मानन्दी ही करके जगत से सम्वन्ध हें, अन्यथा जड जगत से जीव का कोई सम्वन्ध नहीं है, तो वृथा मान-मानकर क्यो जगत-वन्धनो मे धँस रहे हो!॥ ४॥

अरे! ये शत्रु-मित्र, कुल-कुटुम्ब कोई भी सुख-दुख मे हिस्सेदार नहीं हो सकता। लाखो नोकर सगे-सम्वन्धी हो, परन्तु यह सवको प्रत्यक्ष है कि नाना रोगो की पीडा, मानसिक धक्का, जन्म-मृत्यु सवकी उपाधि अपने-अपने ही को भोगना पडता हे। उसमे कोई साथी होना भी चाहे तो उपाय नहीं हे। अपने-अपने मनोमय की शुभाशुभ वृत्ति के अनुसार ही सव अलग-अलग दुख-सुख को प्राप्त होते है। इसमे मुख्य अपने-अपने मनोमय का ही चक्कर है। अशुद्ध मन वन्धन देता हे, शुद्ध मन वन्धन की निवृत्ति करता ह। काम, क्रोध, हिंसादि अशुद्ध मन ह, तिस मनोमय की निवृत्ति शील, सत्य, क्षमादि शुद्ध वृत्ति द्वारा हो जाय, वस सम्पूर्ण झगडो से रहित हो जाय। अत सव ओर से हटकर अपने मन को पवित्र करने मे तत्पर

रहना चाहिए॥ ५॥ हे वैराग्य तत्पर कल्याणार्थी! देखो-विचारो! अन्य सब जगज्जीव तो अपने-अपने इन्द्रिय सुख के लिए रात-दिन यत्नवान हो रहे है। नाना उद्यम,नाना व्यापार, नाना युक्ति-औरेब निकाल-निकाल कर तुच्छ भोगो के लिए अपना प्राण अर्पण कर रहे हैं। तुम तो जीव का काज-वैराग्य, तिसके ध्येय से बाना लेकर भी उस वैराग्य को त्याग कर पुनः जगत-जाल मे उलझ रहे हो।[१] इसलिए विवेक करके देखने से सब मे तुम ही महा अनाडी ठहरे "चतुरा कारज लीना, भकुहा वैठा खीना" वाली दशा हो रही है। इन सब बातो को सोच-समझ कर अपने कल्याणकृत कार्यो मे पुरुषार्थ करना चाहिए॥ ६॥

छन्द—*गुरु साधु के कर्तव्य है मन मारना शुचि धारणा।*
तजकर इसे जो भेष बल केवल हि वाक्य उचारणा॥
चर्म-कौडी-मान-लम्पट धावता यहि कारणा।
उसकी दशा अधजर सती सम स्वॉग रचके हॅसावना॥
अतएव हे मन नित्य पद हित नित्य पुरुषारथ करे।
और की सुधि तक न होवै लीन इमि सत मग चरे॥
अपनेहि सोये बन्ध है अपनेहि जाग अबन्ध है।
तू आप ही पुरुषार्थ कर क्या अन्य से सम्बन्ध है॥

दृष्टात—अनुभवी गुरु के साथ एक सतशिष्य था। इतने मे एक तीसरा भेषधारी कहीं से आकर साथ हो लिया। तीनो विचरते-विचरते एक ऐसे स्थान पर जा पहुॅचे जहाँ पर एक सुन्दर कूप बना हुआ था। वहाँ कई सघन फल-फूल से लदे हुए छायादार वृक्ष लगे थे। वहाँ से कुछ दूर पर एक शहर बसा हुआ था। शहर की आवाज कूप तक सुनाई देती थी। गुरु और वे दोनो

शामिल बाजा

१ **दृष्टान्त**—एक राजा को गाना सुनने का बहुत ही शौक था और उसके यहाँ बडे-बडे गाने वाले रहा करते थे। चालाक पुरुष ने राजसभा मे प्रवेश होने की इच्छा से राजा के यहा अर्जी की कि हुजूर! हमारा शामिल बाजा भी सुना जाय। एक समय वह भी बुलाकर गायन-मण्डली मे शामिल किया गया। वह एक चारपाई का पावा लेकर पहुँचा। जब सब गायन वाले बाजा मिलाने लगे, तो इससे भी कहा गया कि तुम भी अपना बाजा मिलाओ। इसने कहा कि हमारा बाजा विना मिलाये ही वजा करता है। जब औरो ने अपने वाजो से गति बजाना शुरू किया तो यह भी चारपाई के पावे मे हाथ रगडता जाता और "ऐ, बे, अहा, हा-ऐ, बे, अहा, हा" आदि शब्द कहकर ताने छोडता जाता था। राजा ने उसका तान छोडना देखकर कहा—तुम्हारा बाजा बहुत अच्छा बजता है। तब अन्य गाने वालो ने कहा—हुजूर! इसका बाजा अलग सुना जाय। राजा साहब ने उसी समय शामिल बाजे वाले से कहा—तुम अपना वाजा हमे अलग सुनाओ। उसने कहा—हुजूर! इसका तो नाम ही शामिल बाजा है। यह कभी अलग नही वज सकता। अन्य गाने वालो ने कहा—हुजूर! यह खाट का पावा है, यह न अलग बजे न शामिल मे, अन्य वाजे बजा करते है और यह ऐमे ही ऐ, बे किया करता हे। इसलिए हुजूर को मालूम पडता है कि यह अच्छा बजता है। राजा ने यह बात समझकर उसे कान पकडकर निकलवा दिया। "उघरे अन्त न होय निबाहू। कालनेमि जिमि रावण राहू"॥ रा०॥ सिद्धान्त—
दोहा—जेहि श्रेणी को भेष रचि, ताहि यतन नहि लीन। उभय भ्रष्ट मे विलम नहि, चेतो रे मन छीन॥

हाथ-पाँव धोकर कूप के जगत पर शातिपूर्वक बेठ गए। सतशिष्य तो सद्गुरु के सत्सग, सेवा,भक्ति द्वारा शुद्ध अत करण किये हुए केवल वराग्य भाव ही मे तत्पर था। दूसरा वेषधारी भाव-भक्ति रहित अर्धज्ञान संशय वुद्धिवाला था। उसे ससार मे सुख निश्चय था। थोड़ी देर में नगर की तरफ से वडे करुणाजनक ओर दुखपूर्ण शव्द सुनाई दिये। शव्द कान मे पडने मे मालूम हुआ कि कोई नवयुवती स्त्री विलाप कर रही है। वह कहती हे कि हाय-हाय! इस अवला का जीवनआधार पति मर गया है, हाय! हमारे स्वामी के शव का कोई दाह करने वाला भी नहीं ह। न कोई हमारा सगा, न सम्बन्धी, न पुत्र-पुत्री, हाय देव कठोर! तेंने कान सी विपदा मेरे ऊपर लाद दी, हाय! मेरा निर्वाह केसे होगा? म भी इस जीवनआधार के साथ मर जाऊँगी। उक्त वचन सुनने वाले दो सतो मे से जिसका नाम अधीनदास था, वह फडक उठा ओर आप शीघ्र ही अनुभवी सत गुरु से वोला कि प्रभो! मैं जरा उस दुखी स्त्री को सहायता दे आऊँ। उसका पति मर गया हे। कोई सहायक नहीं ह। कम से कम मे उसका दाह-सस्कार करवा आऊँ।

गुरुदेव उसका अविवेक देखकर शातिपूर्वक वोले—ठीक है, परोपकार-सहायता करना ही चाहिए, पर अपनी-अपनी शक्ति-श्रेणी के अनुसार। जैसे हजार-लाख रुपये कमाकर कोई वडा क्षेत्र खोलकर हजारो की अन्न-वस्त्र से रक्षा करता है, यदि वह किसी स्त्री या पुरुष के मोह-पाश मे पडकर एक पैसा के लिए लाखो की नाकरी छोड दे तो जानो उसने उपकार के वदले अपना ओर दूसरे का अनन्त अपकार ही किया। हे अधीनदास! वेसे ही तुम्हारा कहना हुआ। अरे! ससार राग-द्वेषो से पूर्ण हे, मोह के वश है, परस्पर वे सव अपना-अपना भार अपने ही निपटाते हैं। तुम अपना वराग्य सँभालो! इस वेराग्यवल से अनतो का कल्याण होगा। साधु को जगत के हानि-लाभ, अपन-परार, राग-द्वेप से पार रहना चाहिए। सम्पूर्ण जगत-कर्तव्य छोडकर मात गुरु-उपासना सहित वैराग्य की ही दृढभावना करना चाहिए, क्योंकि घर-वार छोडकर साधु हुआ जाता हे, जिसमे वन्धन रूप सर्व कर्तव्यो से छुट्टी मिले।

उपर्युक्त वाते अधीनदास की समझ के वाहर थीं, इसलिए वह शीघ्र ही दोडकर वहाँ ही पहुँचा, जहाँ लाश पडी हुई थी आर स्त्री रो-रोकर सिर-हाथ पटक रही थी। उस मृत पुरुप के दो भाइयो मे झगडा था। जो लाश को फूँके वह उसके धन-धाम पर कव्जा करे। इस लालच से दोनो सगे भाई अपना-अपना दल लेकर लाश की खंचा-खची मे पडे थे। अधीनदास भी एक दल की तरफ हुआ। दोना दलो मे विवाद होते हुए लडाई शुरू हो गई। मुर्दे का दग्ध करना तो दूर रहा, क्रोधाग्नि मे सव स्वय दग्ध होने लगे। फिर क्या, दोनों तरफ से लाठियाँ चलने लगीं। अधीनदास भी प्रतिपक्षी के हाथो खूव पीटा गया। एक हाथ टूट गया आर भी देह भर मे वहुत चोट लगी। जेसे-कसे भागकर अधीनदास गुरुदेव के पास आया आर अपना हाल वताया।

सत ने कहा—देखो! अपना यथार्थ निश्चय छोडकर जो अन्य तरफ दोडता हे उसकी तुम्हारे ही समान दुर्दशा होती हे। वह सव कार्य ससारियो का ही ह। इतने मे फिर नगर की तरफ से आवाज आई। एक मनुष्य आर्तस्वर से पुकार रहा था, ऐ ग्रामवासियो! कोई दयालु हो तो मेरी वात सुने। अहो! मेरे पुत्र का विवाह ह, कोई वाजा वजने वाला नहीं मिलता। यह वात सुनते ही अधीनदास दाड पडे आर जाकर तुरही वजाना आरम्भ कर दिया। डोला भी ले चलने वाल मे से एक कम था। तुरही वाले 'अधीनदास' ने कहा—में डोला उठा लूगा। इधर

लड़के का डोला लादा, उधर से लडकी की डोली लादने से कधे फूल गये। साधुभेष युक्त डोली मे लगे देखकर देखने वाले लोग हँसी उडाने लगे, उसे थू-थू करने लगे। लडके के पिता ने कहा—धन्य हो महाराज! आप ऐसे महान उपकारी पुरुष की कृपा से ही मेरे पुत्र की सगाई हुई। महाराज! मै बहुत गरीब हूँ, इससे आप कृपया अन्य घरो मे माँगकर खा आइए। अधीनदास भूखा-प्यासा कही ठिकाना न पाकर फिर गुरु के पास आया, भूखे-प्यासे और अपमान होने का हाल बताया। गुरुदेव ने कहा—अरे, भेष की निन्दा कराने वाले अधीन! तुझे साधुमार्ग का ही पुरुषार्थ करना चाहिए। तेरा परोपकार सब जगत कार्यो को त्यागकर निर्बन्ध होकर ठहरना है।

जरहि पतग विमोह वश, भार बहहि खर वृन्द।
ते नहि शूर कहावही, समुझि देखु मति मन्द॥ रा०॥

हे अज्ञानी! तू समझ के देख। इतने मे फिर मोहकनगर से करुणाभरी आवाज आई, कोई दुखी होकर पुकार रहा है "अहो! मेरी पुत्री सयानी हो गई। मैं निर्धन हूँ। कोई भी कुछ पैसे देकर मेरी पुत्री को ठौर-ठिकाने लगा दे तो वह अनत पुण्य का भागी होगा।" अधीनदास गुरुशिक्षा छोडकर फिर उधर दौडा जिधर से आवाज आई थी। वहाँ जाकर पिता और पुत्री की दीन-दुखी दशा देखकर वह घर-घर चन्दा माँगने लगा। वर्षो मे बडे कष्ट से कुछ धन इकट्ठाकर लडकी का वर ठहराय कर विवाह कराया। जिस पुरुष से पुत्री का विवाह कराया गया उसको मृगी रोग था, जिससे वह विवाह के दूसरे ही दिन पानी भरते समय कुआँ मे गिरकर डूब गया। लडकी विधवा हो गई। अधीनदास को उसकी ममता के वश बडा दुख हुआ। अत मे उस विधवा के रक्षार्थ अधीनदास उसके घर रहने लगे। धीरे-धीरे अधीन उसी के अधीन ही हो गये। फिर कहाँ सत्सग, कहाँ विचार, कहाँ परोपकार, कहाँ श्रेष्ठ मान! सब धूल मे मिल गया। लोग उसकी घोर निन्दा करने लगे। वह अब शूकर-कूकर के समान जीवन बिता रहा है।

गुरु ने सतशिष्य से कहा—देखो! अधीनदास का विरक्त होकर भी उलटी समझ से पतन हो गया। पतन होने मे गुरु ऐन के बाहर होना ही प्रधान हेतु है। इस प्रकार दीन-दुखी देखकर सकामी नर-नारियो के इन्द्रिय-सुखो के अधीन हो जाना, मायावी पदार्थो के बढाने मे उपकार समझना, अथवा बहुत लौकिक विद्या पढकर कीर्तिमान बनने की आशा, ये सब विरक्तिमार्ग को रोंक देने वाले हैं। इन बातो को त्यागकर विरक्त को मात्र जडासक्ति, जड भावना, जडाध्यास को नष्ट करने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए। मनोनाश करते हुए तथा मनोनाश करने के बाद भी मोहकरूप कनक-कामिनी से डरकर भागना चाहिए, शरीर सुखो मे न धँसना चाहिए। कोई प्रेम करे तो उसके मोह के वश होकर उसके अधीन न होना चाहिए। कोई वेर करे तो उसके साथ आघात करना कौन कहे, वैरीपन का भाव तक भी कभी स्मरण न करना चाहिए। बन सके तहाँ तक अपने हाथ अपना स्नान, ध्यान, पट-पात्र की सफाई करने का ध्येय बनाना चाहिए। अपने से श्रेष्ठ सत-सद्गुरु की काय, वचन, मन से सेवा मे मन देना चाहिए। अष्ट मैथुनो को जीतना ही साधु का प्रधान कर्तव्य है। इस भवयान या अन्य सद्ग्रन्थो मे आये हुए सब सद्रहस्यो का वार-बार मनन करके अनुभव और युक्ति द्वारा तद्गत होना ही जीवन्मुक्ति मे हेतु है। जिससे अपना और दूसरे का अनादिकाल से नुकसान ही होता आया है और आगे

होने का सम्भव है, ऐसी सर्व विषयासक्ति की क्रिया, मानन्दी, आचरण, चतुराई त्यागकर शुद्ध रीति से बरते। स्वरूपभाव ही में तद्गत होना निज उपकार और परोपकार समझे। यही संत मुमुक्षु-भक्तजन का परम पुरुषार्थ है। सतजनों को सर्वदा उपाधि से अलग रहना चाहिए। सजाति जीवों के कल्याण करने के निमित्त प्रयत्न करते हुए जो जान पड़े कि लोगों के संग से विक्षेप बढ़ता जा रहा है तो अपनी स्वरूपस्थिति के लिए उसे भी त्यागकर अलग हो जाना चाहिए। संगदोष ही विरक्ति में मुख्य पतन का हेतु है। उक्त वचन सुनकर सतशिष्य गद्गद हो गुरुदेव की स्तुति करने लगा—

प्रार्थना

ज्ञान दाता नमो हैं नमो सद्गुरू, हो सकल दुःखहारी मैं आया शरन।
भोग त्यागे बिना सुक्ख होगा नहीं, यही निश्चय तव भोग हेतु परन॥
सब से अपने को हरदम पुजाना चहूँ, पै नहीं पूज्य सेवों जो हो के मगन।
जैसे औरों को नीके सुधारा चहूँ, ना तिसी भाँति अपने को शुद्धी लगन॥ १॥
काम लोलुप भ्रमूँ मन के वश में सदा, हाँ सहज मोह करता निरख की मदन।
क्षोभ चमडी व मिट्टी के मद में जिते, प्रेम उतना न प्रभु के चरन की रहन॥
सत्य अपना अखण्डित अनाशी सदा, सो भुलो जीव अमृत विषय विष गहन।
पर कहाऊँ सदा साधु तव बल गुरु, है क्षमाकर क्षमा कर लगाओ चरन॥ २॥
मोह मृगजल मानन्दी को नाशो सदा, एकरस धीर पारख में कीजै मुझे।
नाश मुखदृष्टि प्रारब्ध आवर्ण हो, शील निर्मान अमृत को दीजै मुझे॥
निज में सन्तुष्ट निष्काम नैराश्य हो, जड असत्तों से नित भिन्न कीजै मुझे।
आप सामर्थ हैं सद्गुरूजी सदा, इसलिए अर्ज सुन शर्ण लीजै मुझे॥ ३॥

शब्द—८

हमरे कान करै बकवादा॥ टेक॥

धन मद सब को नाच नचावै, विद्या मद बरबादा।
सब को जीति चहै सुख आपन, नहिं परमारथ यादा॥ १॥
बिन श्रद्धा उपदेश सुनावै, जहाँ नहीं मरयादा।
आपनि हारि चहत नहिं कोई, सब के जीत पियादा॥ २॥
निराश निवृत्ति में हाथ धोय कै, प्रवृत्ति ठाठ अपवादा।
जेहि हित त्याग कियो सबहिन को, नाहिन ताकर यादा॥ ३॥
शम दम शान्ति धीरता धारण, औ विवेक बैरागा।
साधन और अभ्यास सकल तजि, करि अनीति दुर्वादा॥ ४॥
चारि वेद षट शास्त्र पढे फल, वचक बुद्धि सवादा।
रहनी बुद्धि त्यागि कै निशदिन, खर इव अवगुण लादा॥ ५॥

जेहि निबृति एकान्त देश मे, छुटते सकल विषादा।
तेहि निबृत्ति एकान्त को निन्दत, गढ़े भरम दुख सादा॥ ६॥
चक्कर बिद्या प्राप्ति अबिद्या, दुखदा कंटक खादा।
निज मन हेतु दया के घातक, पर अकाज लगि मादा॥ ७॥
देखि कै जाल याहि दुनिया को, तब दिल बहुत दुखादा।
साहेब कबीर शरण गहि तुम्हरी, भव से पार अबादा॥ ८॥

टीका—विवेकवान जगत से उदासीन हो उसके उलटे बर्ताव से थककर कहते हैं कि इस ससार मे व्यर्थ प्रपच की वार्ता कौन करे। अथवा मान-ऐश्वर्य, मत-पथ वृद्धि के लिए अपना सत्साधन एव स्वरूपस्थिति छोडकर तथा हरछिन बावला बनकर कौन उपाधि बढावे। क्योकि "साखी—पानि पियावत क्या फिरो, घर-घर सायर बारि। तृषावन्त जो होयगा, पीवेगा झख मारि॥ सतगुरु बचन सुनो हो सतो, मति लीजै शिर भार। हो हजूर ठाढ कहत हौं, अब तैं सम्हर सँभार"॥ बीजक॥ टेक॥ उधर धन का प्रमाद तो सब ससारियो को नाच नचा ही रहा है, इधर विद्या का प्रमाद भी कुछ कम नही है। यह तो सबको बरबाद किये डालता है। विद्याभिमानी सब प्राणियो को हरा कर रात-दिन इन्द्रियो का सुख चाहता है, जिससे परमार्थ-सदाचरण के रास्ते पर चलना कौन कहे, उसे उसका स्मरण तक नहीं होता॥ १॥ वाक्यजाल मे मदाध होकर श्रद्धारहित को शिक्षा करता है। जो श्रद्धालु नही, ग्राहक या अधिकारी नहीं, उस बात की मर्यादा भी पालन नहीं कर सकता, उसको हरा कर केवल अपनी बात वाक्य चतुरता से मनाना और आप अपने कथन पर तनिक भी न चलना, फिर पढने का अथवा विशेष ज्ञान का गर्व करना, यह अज्ञान नही तो क्या हे। अपनी हार पढ-अपढ कोई भी नही चाहता, सबके पीछे जीतरूप सिपाही लगा हुआ है।

दोहा—*जीत पियारी सबन को, हार दुखित मन होय।*
जीत हार जब डार दे, तबै शाति पद जोय॥ १॥
प्रथम बडाई राखि तेहि, पर उर करि सतुष्ट।
तब शिक्षा परकाशिए, यहि विधि गुरुपद पुष्ट॥ २॥

दुखपूर्ण जगत के सुखो से उदास होने का नाम निराश ओर इन्द्रियविहार वाली वस्तुओ का त्याग करने का नाम निवृत्ति है, ये दो मुख्य परमपद के साधन है। इन साधनो से वे पठित-चतुर बने हुए बन्धु तो हाथ ही धो लिए और कचन-कामिनी, शिशु-महल और जगत-वैभव का खूब ठाट बढाये जो कि विरक्ति दशा मे निन्दारूप है। जिस अपने जीव के कल्याण के लिए वे भेषधारी जन सर्वस्व गृहजाल त्याग किये, अब उसके हेतु सत्साधनो की याद तक नही करते। जब उन्हे अपने ध्येय का स्मरण ही नही, तो बीच मे ही चाहे जहॉ उलझ रहे, कुछ अपने रास्ते को वे तय नही कर सकते॥ ३॥ मन रोकना, इन्द्रिय जीतना, कामना रहित होना और धैर्य तथा विवेक-वैराग्य जो कि सत के लक्षण है तथा जीवन्मुक्ति के हेतु है, उन सब सत्साधनों का अभ्यास और नित्य प्रयत्न को छोडकर वृथा दुर्वाद करते हैं। अर्थात असत सिद्धात का पक्ष ले झगडा करके जीव को सन्मार्ग से डिगाते हैं और स्वय तो डिगे ही हैं, यही वे अनीति करते हैं॥ ४॥ ऋक्, यजु, साम और अथर्व ये वेद और मीमासा, वैशेषिक, न्याय,

योग, सांख्य और वेदान्त ये सब शास्त्र पढ़ने का फल वंचकबुद्धि होना और धूर्तता करना, यही तो उन्हें मिला। जब मिथ्यावाद का पक्ष करते और यथार्थ बात मानते नहीं, यह धूर्ततावुद्धि नहीं तो क्या है। ऐसे लोग थोता माल की विशेषता में उलझ कर अपना जीवन बरबाद करते हैं। इसलिए समझदार को मनरिपु का नाश करने के लिए सद्धारणा बनाने की फिक्र करना चाहिए। कल्याण काज को त्यागकर वे खरभारवत दिन-रात दुर्गुणों का ही बोझा लादे फिरे ॥ ५ ॥ प्रपंच से अलग होकर निज निर्जन या उपाधिरहित भूमि में निर्द्वन्द दशा में विवेकवान के सर्व मनसकल्पजनित विषाद, दुःख और उत्पात सहज ही नष्ट हो जाते हैं, उस निवृत्ति, त्यागमार्ग, एकांतस्थल तथा शांतिसाधन को वे लोग, मिथ्या प्रपंच या दंभ बतलाते हैं। इसका कारण उन लोगों की विद्याबुद्धि का गर्व ही है। अतः वे अहंकार वश अपने लिए मिथ्या भ्रांति जाल रचकर तथा उसमें अपने को फँसा कर माल दुःख का ही हाट लूट रहे हैं॥ ६ ॥

विद्या का तो भुलावा है अर्थात बहुत विद्या पढ़ने से अविद्या का अंत हो जाता है यही बहुतों का निश्चय है, पर उसी विद्या के चक्कर में अविद्या की प्राप्ति होती है। जो दुःखपूर्ण कंटकरूप जन्म-मरण का कारण खानी मान, अगम सिद्धान्त है, उसी को विद्वज्जन पकड़ लिये। जिस जीव के मन की कल्पना से सब नाद, बिन्दु, लोक, वेद आदि सृष्टि चल रही है, उस जीव का सत्य स्वरूप न जानकर स्वयं मनकृत जालों में फँस कर अपने और अन्य जीवों के कल्याण के घातक हो गये व हो रहे हैं। इस प्रकार अपने भ्रमरूप मन के सुख हेतु दया-धर्म के घातक बनकर हानि करने का बल भरकर जड़ से ही डूबते हैं और अगम सिद्धान्त में आप फँसते और दूसरे को भी फँसाते हैं। "कपट बनौरी बहु विधि कीन्हा। अगम अगम जीव मिथ्या दीन्हा। कपट स्वाँग विद्या बहु भाँती। दिन-दिन सबाय शोग उत्पाती॥ आप गये औरन ले नाशी। बाट चलाय और गर फाँसी"॥ पंचग्रन्थी॥ इस प्रकार वे जीवों का अकाज करते हैं॥ ७॥ पूर्वोक्त धन के मद से और खानी-वाणी जाल के मद से मस्त मनुष्यों का कपट व्यवहार और संसार बंधन का दुःख देखकर हृदय में पूर्ण उपरामता हो गयी। सच्चे पारख सिद्धान्त को दर्शाने वाले हैं सद्गुरु कबीर साहिब। आपकी शरण में यही निश्चय हुआ कि स्वरूपबोध को ग्रहण करके सबसे विवादरहित होकर ही जीव परमपद पा सकता है, एकमात्र कल्याण का यही उपाय है। इसी रहस्य से ही जन्म-मरणादि भवसागर से छुट्टी मिल सकती है॥ ८॥

ठक्करी विद्या

दृष्टांत—एक जंगल के समीप एक संत रहा करते थे। उनमें वैराग्यबल अधिक था। उनकी समता, क्षमा और त्याग तत्परता एकरस देखकर वहाँ के लोग भी संत के प्रेमी बन गये

---

१ झूलना—मिमांसा कहै सब कर्म ही है। वैशेषिक समय को ध्याता है॥
न्यायवादी कर्तार ठानै। पातंजल योग बखानता है॥
सांख्यवादी नित्यानित्य कहै। वेदान्ती ब्रह्म अनुमानता है॥
कहहिं कबीर ये द्वन्द चहुँदिश मची। सो द्वन्द ही को सब मानता है॥
दोहा—रूप रेख बिन वेद में, औ कुरान बेचून।
आपस में दोउ लड़ि मुये, जाना पै न दाऊन॥ प०॥

थे। छोटे-बडे सब सत के दर्शन करने आते। समयानुकूल मत की सरल सद्शिक्षा सुनकर सब अपने-अपने घर जाते और यथाशक्ति सत-शिक्षा के अनुसार चलने की कोशिश करते। सत की रहनी का वहाॅ बडा प्रभाव पडा था। उत्तम त्याग श्रेणी और मध्यम गृहस्थी की धर्म-नीति और भक्तिभावयुक्त रहने वाले बहुत मनुष्य हो गये तथा साधारण जो कि सत के पास आने को मौका नही निकाल पाते वे भी सत के राग-द्वेषरहित बर्ताव से प्रसन्न रहते थे। पर वहाॅ ही एक कई विद्याओ के ज्ञाता पण्डित स्वामीजी थे। उनको इस बात की बडी ईर्ष्या हुई कि मुझ जैसे विद्यावारिधि को कोई नही मानता और निरक्षर साधु को सब मानते है। चलो! इनका मान भग करे, इस विचार से पण्डित जी एक-दो साक्षी लेकर सत के पास आये। सत उस समय अपने विचार मे निमग्न थे। पण्डितजी जाकर ऊपरी मन से प्रणाम कर सामने बैठ गये। सत ने जब कुछ देर मे बहिराग वृत्ति की तब आगे कुछ जनो को बैठा देखा। उनमे पण्डितजी कई श्लोक बोलते हुए अन्त मे सत से यह प्रश्न किये कि आप परमपद को प्राप्त है, मुझे भी प्राप्त कराइये।

सत पण्डितजी से और कुछ भी न बोलकर केवल जिह्वा का अग्रभाग पकड लिये और फिर लगोटी कसने लगे और कुछ न बोले। पुन बडी देर तक सत को चुप देखकर पण्डित ने मान लिया कि ये साधु बडी भूल मे है, बिना विशेष पढे परमपद का ज्ञान हो नही सकता। कुछ विशेष पढे हो तब तो मुझसे बोले, ऐसा सोच पण्डितजी अकडकर शीघ्र साथियो सहित चल दिये। रास्ते मे नाना प्रकार से सत की निन्दा करते हुए जा रहे थे। इतने मे एक भक्त जो कि सत के पास नित्य आया-जाया करता था, उससे भेट हो गई। पण्डितजी ने कहा—देखो, आपके गुरु आज कुछ न बोल सके। भक्त—क्या कुछ आपने प्रश्न किये थे? पण्डिज—हाॅ! परमतत्व की प्राप्ति का साधन। भक्त—तो गुरुदेव क्या निर्णय किये? पण्डित—कुछ नही, उत्तर के बदले अपनी जीभ को पकडकर उपस्थ को लॅगोटियो से कसने लगे, फिर घटो न तो कोई चेष्टा किये और न कुछ बोले। मैने सुना है कि आपके गुरु विशेष पढे नही हैं, सच है, सामान्य तो सामान्य ही है। भक्त—आपको श्री गुरुदेव बहुत सक्षेप मे इशारे से ही परमतत्व की प्राप्ति का साधन बता दिये, पर आप न समझे तो गुरु क्या करे? साखी—"गुरू बिचारा क्या करे, शिष्यहि माॅ है चूक। भावै त्यो परमोधिये, बाॅस बजाये फूक" ॥ बी० ॥ पण्डितजी बीच ही मे श्लोको पर श्लोको की झडी लगाने लगे। भक्त ने जाना कि ये पूर्ण विद्यामद से अन्ध हो रहे है। भक्त ने पण्डितजी से कहा कि आपको विशेष बतलाने की इच्छा हो तो इस सामने वृक्ष की छाया मे बैठकर बतला लीजिए।

पण्डित और भक्त तथा पण्डित के साथी सब वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गये। भक्त और पण्डित से इस प्रकार वार्ता होने लगी। भक्त—अच्छा पण्डितजी! आप परमपद के साधन का वर्णन करे? पण्डित सस्कृत और बीच-बीच मे अग्रेजी तथा बीच-बीच मे फारसी मिलाते हुए अपनी विद्या की विशेषता दिखलाने के लिए कुछ देर तक मनमाने बकते रहे। भक्त—आपके कथन को तो कुछ मैं समझा ही नही। पण्डित—जब तक मेरे बराबर पढ न सकोगे तब तक परमपद का बोध होना कठिन है। जिज्ञासु—सच-सच कहिए! क्या आप सब कुछ पढे हे? पण्डित—सच नही तो क्या झूठ? मै सब कुछ पढा हूॅ। जिज्ञासु—अटभिट माटनट-नटकट-

रटनाट चाटहिट एट।[१] स्वट रूट-पट-सट-त्यट-हैट-जीट।[२] तुटा-मटा-कौटा-नटा-होटा-?[३] स्वटा-स्वटा रूटा-पटा-कोटा-पटा-हिटा-चाटा-नोटा।[४] पण्डित—ये कौन सी विद्या हे? भक्त—इस विद्या का नाम टक्करी हे। क्या आप इसे नहीं जानते? फिर आप हमारी टक्करी विद्या से अपढ होने के कारण सर्व विद्याओ के ज्ञाता न रहे। आपका यह दावा व्यर्थ हे कि म सर्व विद्याओ का ज्ञाता हूँ। गुजराती, नेपाली, बगलादि कितनी भाषाओं से आप अनभिज्ञ हैं। पण्डितजी ने कहा—मुझे इतने विद्या के दाव-पेच मालूम हें कि सत्य को झूठ और झूठ को मत्य कर सकता हूँ।

भक्त—तो यह आपकी विद्या काहे की, पूर्ण दलाली आर चोरी है। विद्या तो वही है जिससे मत्य का सत्य झूठ का झूठ निर्णय होकर फिर कभी सत्य आर झूठ मिलावे नहीं। यदि विशेष पढने से यथार्थ ज्ञान होता हो तो विद्वानो मे मतभेद, सिद्धान्तभेद न होना चाहिए। किस विद्वान का मत सत्य माने किसका असत्य! जो बात अनाडी अपढ या कम पढे मानते ह उमे विद्वानो को न मानना चाहिए। आग, पानी, माटी और रात-दिन देशी भाषा मे बोल-बोलकर विद्वान भी अविद्वान के समान शरीर की यात्रा करते हें आर सब कुछ जान लेते हैं। विशेष विद्या का ज्ञान भी भाषा द्वारा धीरे-धीरे अभ्याम कर लेते हें, इससे यह बात आपकी मिथ्या कल्पना हे कि बिना पढे यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। हाँ! बिना पढे उन शब्दो का ज्ञान नहीं हो सकता, जो कि लोक्कि भाषा से काट पीट कर अथवा म्वतन्त्र-रूप से और-और विद्या में प्रचलित हो रहे हैं, पर इसमे यह बात नहीं कि जो कुछ आपको ज्ञान हो ठसका भाव देशी भाषा मे न प्रगट कर सके। ऐसा हो तो कोई दूसरी विद्या पढ-पढा ही नहीं सकता। इमसे विद्वानो को वृथा ही हर्फो के जानने का अभिमान होता हे।

"विद्या जाति महत, योवन को मद रूप मद।
तजत यतन करि सत, पाँच काँट ये भक्ति के॥
असत बाद बहु पर्ण समाना। चरत ऊँट सम ताते जाना॥" बि०॥

जिस प्रकार शूकर-कूकर भोगासक्त होकर दिन काटते हैं, उसी प्रकार लौकिक विद्या या वेदान्त, तर्क, साख्यादि शास्त्र पढ-लिख कर भी इन्द्रियपरायण होना, कामरत होना, मद्य पीना, मास-भक्षण करना, क्षणिक विषयसुख के लिए छल, कपट, अनीति और प्रमदासक्त होकर अधर्म करना ये सब पशुवत कर्म नहीं तो क्या हें। ऐसे पठित-विद्वानो का वसे ही त्याग करना चाहिए जैसे मणिधर भयकर सर्प को त्याग दिया जाता है।

पठित मूर्ख के लक्षण हैं—किसी के हानि-लाभ-की परवाह न कर सबको हराते घूमना, श्रद्धा और सत्पात्र रहित के आगे शिक्षा करना, नीति हो या अनीति हरदम जीत ही की इच्छा करना, जगत को दुख रूप न जानना, भोगो से निराश और निवृत्त होने का उपाय न करना, माया का ठाट बढ़ाना, साधु या स्वामी या त्यागी कहला कर सच्चे वैराग्य की धारणा मे परिश्रम न

---

१ अभिमान न करना चाहिए।

२ स्वरूप सत्य है जी।

३ तुम कौन हो।

४ म्व म्वरूप को पहिचानो।

करना, पहिले के त्यागे हुए ऐश्वर्य, भोग, प्रवृत्ति आदि का फिर सग्रह बढाना, साधु होते हुए फिर विद्या के प्रमाद-वश इन्द्रियो को न जीतना, मन को न रोकना, कुसग से परहेज न करना, धैर्य-विवेकादि साधनों का अभ्यास छोडकर केवल वृथा विवाद करते घूमना, चार वेद, छह शास्त्र, अठारह पुराण पढकर कौडी-कौडी के लिए छल, कपट, विश्वासघात आदि करना, साधु-सम्पत्ति या दैवी-सम्पत्ति त्याग कर केवल खर के समान बहुवाक्य, अहब्रह्म, त्व ब्रह्म आदि विद्याजाल का बोझा लाद-लादकर प्रमाद मे फूल-फूलकर पचते रहना, नाम, रूप, वर्णाश्रम के अभिमान ही से सराबोर रहना, स्वरूपस्थिति करने वालो मे दोष देखना या देखाना, विद्या के भुलावे में पडकर अविद्या की मूर्ति बन जाना, अर्थात पढ-लिख के अज्ञानी जैसे कार्य करना, सत्य सिद्धात से पृथक देहवाद युक्त रासलीला-रामलीला की ओट मे व्यभिचाररत रहना, ब्रह्मवाद, मिश्रितवाद अर्थात व्यापक अलिप्त मानकर अपने और दूसरे को गो-गोचर पॉचों विषयो के जालो मे डालकर यमराज बन जाना, उत्तम-उत्तम रहस्य न धारण करना, ये सब विद्या-मद पठित अज्ञान के लक्षण हैं।

सुनिये पण्डित-जी! आपमे कुछ दोष नहीं है। आप जिस विद्या को गुरु माने बैठे हैं, उस लबरीबानी ही में सब विकार है। जैसे धन के पद्रह अनर्थ[१] कहे हैं, वैसे विद्या में भी पूर्वोक्त अनर्थ जानना चाहिए। अत आप अपना कल्याण चाहे तो विद्या-प्रमाद त्याग कर सच्चे सत गुरु की शिक्षा को ग्रहण करे। सत मौन दशा में ही आपके प्रश्नो का उत्तर दे दिये, उसे आप विद्या-प्रमाद-वश कुछ जान ही न सके। पण्डित कुछ शात होकर बोले—सत क्या इशारा दिये? जिज्ञासु—सत का यह भाव हुआ कि जीभ को स्वाद से रोको अर्थात चटोरीपन छोड़ो और शिश्नेन्द्रिय को मैथुन से रोको अर्थात पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करते हुए जिह्वा को वश मे करो। फिर तो अपने आप चेतन निराधार अविचल ही है। विजाति बधन त्यागकर तुम अचल स्थिर रह जाओगे, पर आप न समझे तो क्या! पण्डितजी इन बातो को सुनकर कुछ शांत हुए, दोनों अपने-अपने रास्ता लगे।

---

१ (१) हिसा (२) चोरी (३) मिथ्या भाषण (४) दम्भ (५) काम (६) क्रोध (७) विस्मय (सशय)(८) मद (९) भेद (१०) वैर (११) अविश्वास (१२) स्पर्धा (डाह-ईर्ष्या) (१३) स्त्रियो का व्यसन (१४) जुआ का व्यसन (१५) मद्य का व्यसन—ये पन्द्रह अनर्थ धनमद के मुख्य कहे गये हैं।

स्मरण रहे—जिसे बडी श्रेणी में नौकरी आदि करना है या जगत मर्यादा की जिसे इच्छा है उन सबो के लिए लौकिक विद्या पर कुछ कहना नहीं है परन्तु उन्हे भी अन्दर से अभिमान अवश्य त्यागना चाहिए, क्योकि वाटर, जल, तोय, आब, पानी सब जल ही के बोधक हैं, कहने-सुनने वाले को बोध होना चाहिए, बस यही वाक्य उच्चारण का हेतु है और कुछ विशेषता नहीं। रहा पारमार्थिक ज्ञान प्राप्ति और स्थिति के लिए विद्वान-अविद्वान सबको निर्मान होकर बोधदाता सद्गुरु का सत्सग करना ओर आधार लेना पडेगा, तभी परमपद प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा नहीं। वाक्य चतुराई मात्र काम न देगी, बल्कि प्रमाद करने से विद्या बाधक हो जायेगी। इसलिए विद्यारूप अविद्या का प्रमाद त्यागकर सद्गुरु के सत्सग से अविनाशी स्वरूप का बोध प्राप्त कर उसमें स्थिति बनाना चाहिए।

चचा चित्र रचो बड भारी। चित्र छोडि तैं चेतु चित्रकारी॥
जिन्ह यह चित्र विचित्र है खेला। चित्र छोडि तैं चेतु चितेला॥ बीजक॥

सबका तात्पर्य यह हुआ कि किसी को दु.खालय जगतचक्र से छुटकारा पाना हो तो उसके उपाय विद्या और धन तथा जगत-प्रभुता नहीं ह। विवेक न रखने मे उलटे ये सब प्रमाद के खदक में डालने वाले हैं। जहाँ प्रमाद वहॉ स्वरूप-शोधन और स्वरूप-ठहराव की इच्छा नष्ट हो जाती हे, विवेक तथा सद्रहस्यो के अभ्यास मे मन नहीं लगता, अपनी सूक्ष्म कसरे दिखाई ही नहीं देतीं हे। सावधानता, सजगता, नम्रता, क्षमा ओर सहनशीलता ये सब सद्गुण अधिक विद्या विवाद-ऐश्वर्य प्रमाद मे नष्ट हो जाते हैं, इसलिये अधिक धन, अधिक विद्या, अधिक प्रभुता प्राप्त हो तो वडी सावधानी से विवेकयुक्त प्रमाद त्यागते हुए सद्गुरु की शरण मे जाकर निज कल्याणकृत कार्य बनाना चाहिए ओर विद्या-अविद्याजनित विवाद-जाल से बचकर सन्मार्ग मे जुट जाना चाहिए।

प्रसंग ४—देह-दुख

शब्द-९

माया तन जीव भुलाये भावे भाऊ॥ टेक॥
नेत्र नासिका अधर दन्त मुख, रसना चिवुक लखाऊ।
ग्रीवा श्रवण शीश लखि बालो, मस्तक मोद बढाऊ॥ १॥
दोऊ कर उर निरखि हेराये, आपनि ख्याल न आऊ।
रग चमक रूपहिं ललचाये, निज पर माहि भुलाऊ॥ २॥
उदर नाभि कटि तम्ब शिशिन मे, भूले भँवर लोभाऊ।
जानुहि घुटना फिल्लिन एँडी, पग तल अँगुरिन चाऊ॥ ३॥
मलहु मूत्र के द्वार मे सुखिया, जहॅ मल मुत्र बहाऊ।
अति दुर्गन्ध अपावन चमडा, मास खून रटि लाऊ॥ ४॥
नख शिख हाड उदर मल थेला, रोम पसीना ताऊ।
कानन छिद्र पोल शिर तन मे, शुन्यहिं शुन्य मनाऊ॥ ५॥
सयन बयन ओ हॅमत रोय रुख, ऊठत वेठत चाऊ।
पग पग चलत गुनत तन सूरति, अह अह हरपाऊ॥ ६॥
स्वप्न समान अपेक्षित नाहीं, स्वपनहिं स्वपन रहाऊ।
कोहट भई जीव को काया, माने मान गहाऊ॥ ७॥
हाथ न परत विवेक किये कछु, तापर आप लगाऊ।
रमता चेतन भरम सिन्धु मे, छुवत छुवन नहिं पाऊ॥ ८॥
यहि कर मूल कहॉ है शोधो, जन्म जन्म अरझाऊ।
तेहि तुम बचो परखि गुनि न्यारे, घूमि घूमि खुदमाऊ॥ ९॥
करो अभाव जानि तेहि घातक, दुख का रूप जनाऊ।
समुझि लुटेरी बचौ ताहि से, सोचि सँभरि निज दाऊ॥ १०॥

टीका—यह देह ही मुख्य माया है। माया इससे है कि इसने सब जीवो को भुला रक्खा है। इस माया-काया के भाव ही भाव मे अर्थात मानन्दी मात्र सुख मान-मानकर इस मिथ्या शरीर की आसक्ति में जीव बँधे हुए हैं॥ टेक॥ यह जीव आँख, नाक, ओष्ठ, दाँत, मुख, जिह्वा और दाढी को लखते हुए पुनः गर्दन, कर्ण, शिर और बाल तथा मस्तक को देखकर बडा आनन्द मानता है॥ १॥ पसरी हुई अँगुलियो सहित दोनों हाथो की बनावट ओर छाती देखकर उसी मे जीव भूल गया। मैं इन अगो से पृथक हूँ, ज्ञाता हूँ, ऐसा अपने स्वरूप का स्मरण तक नही करता। चमडी के काला-गोरा आदि रग, चमक-दमक युक्त अपने शरीर की बनावट ओर अन्य के चमक-दमक पूर्ण अगो की गढन देख-देखकर गाफिल हो रहा है॥ २॥ पेटो की लम्बाई, नाभि की गम्भीरता, कमर की बनावट, नितम्ब, दोनो कूल और शिश्नयुक्त अपनी और दूसरे की देहो में कमल भ्रमरन्याय सुख मानकर निज स्वरूप को विस्मृत करके बन्धन को प्राप्त हो रहा है। जघा, घुटना, फिल्ली तथा ऍडियो की सुन्दरता, पैरो की बनावट और पैरो के नीचे का भाग तलवा सहित पैरो के आगे अँगुलियाँ लगी हुई देखकर जीव को बड़ा हर्ष होता है, पर ये सब क्षणभगुर तथा विजाति है, यह जीव को विवेक नही है॥ ३॥ जिस द्वार से अत्यन्त दुर्गन्धमय मल-मूत्र बहा करते है, ऊपर से अतिशय अपवित्र चमडी लिपटी हुई है, भीतर मास के लोथडे और लोहू से भरी हुई है, ऐसी अपवित्र अपनी ओर दूसरे की देहो में सुख मान रहा है। पुरुष स्त्री के रूप-रग देख और शब्द सुनकर उसके स्पर्श की कामना करते हुए मास-खूनयुत अपवित्र ठौर का ध्यान करता रहता है। ऐसे ही स्त्री भी पुरुष की मलिन देह के स्पर्श हेतु चिन्तन करती रहती है। इस प्रकार यह जीव मलिन काया मे बँध रहा है॥ ४॥

नख से शिखा तक यह काया हड्डियो के ठाट से ठटी हुई हे। सुन्दर दिखता हुआ पेट तो मल-मूत्र का थैला ही है। हड्डियो के ऊपर चमडी, चमडी के ऊपर रोवे, उनमें से पसीना निकला करता है। कर्णगोलक के अन्दर छिद्र है, वैसे ही सिर-कपाल यहाँ तक कि सारा शरीर—इन्द्रिया स्थूल-सूक्ष्म साकार-जडतत्वो के परमाणु समूह से जुड़कर चलनीवत शून्य से यह शरीर पूर्ण है, उन ऑख, कान, नाक, त्वचादि इन्द्रियगोलको के छिद्रों में सुख मान रहा है। सुखाध्यास, दृढ मानन्दी तथा अज्ञान ही जिस देह का अधिष्ठान है उसका कोई स्वतन्त्र स्वरूप नही, इसलिए निरा शून्य ही मे जीव भूल रहा है 'शून्यहि बंछे शून्यहि गयऊ। हाथा छोड़ि बेहाथा भयऊ॥' अथवा ''चलहु का टेढो टेढो टेढो। दशहूँ द्वार नरक भरि बूडे, तूँ गन्धी को बेडो। जो जारे तन भस्म होय धुरि, गाडे किरमिटी खाई। सीकर श्वान काग का भोजन, तन की इहै बडाई'' ॥ ५॥ यह जीव नेत्रो से विविध इशारा करके हाथ-पॉव आदि अगो से विविध चेष्टाएँ करके, भाँति-भाँति के वचन बोल कर खिलखिलाहट युक्त हँसकर ओर हाय-हाय करते हुए रो-रो कर राग और द्वेष तथा हर्ष और शोक विविध भावो द्वारा उठते-बैठते सदोदित स्त्री और पुरुषो की देहो मे सुख मानता रहता है। चलते हुए पग-पग में शरीर की सूरत-मूरत निहारते और साथ ही मनन करते हुए मेरी देह ऐसी है या यह देह मै ही हूँ या मेरी प्रिय भामा की देह ऐसी है इस प्रकार दृढता से मान अपनी और पराये की देहो मे प्रसन्न होता रहता हे॥ ६॥ जैसे स्वप्न मे घर-बाग, हाथी-घोडे आदि मनोमय मात्र होते हुए सत्य प्रतीत होते हैं, जागने पर कुछ नही हाथ आता, तद्वत इस काया की दशा है। स्वप्न तो जाग्रत के देखे-सुने और भोगे पदार्थो का होता है, इससे स्वप्न, जाग्रत की अपेक्षा अर्थात सहारा लिये ह

और देहरूप स्वप्न तो किसी की अपेक्षा नहीं रखता, भूल, भ्रम, विपरीत मानन्दी द्वारा सकाम कर्म ही उसकी नींव है या वीज है, इससे भूल, भ्रम, जडासक्ति से रचित यह काया-माया स्वप्न से भी महा स्वप्न हे। अरे! यह काया-माया चेतन्य जीव के सम्मुख वृथा कोहट हो रही है। यह देह मेरी है या देह में हूँ, इमसे इतना हानि-लाभ, दुख-सुख, हर्ष-शोक प्राप्त किया या कर रहा हूँ या भोग करूँगा, इस प्रकार मानन्दी रूप मन ही जीव के सामने हे।

दृष्टात—एक आश्रमधारी महन्त के यहाँ एक मनुष्य आया। उसका कुछ रहने का मन था। महन्तजी चतुर थे। महन्तजी को जव वेलो के लिए पानी भरवाने या कुछ खेतपात जोतने या वोझा ढोने आदि का काम लगता तो वे उस मनुष्य से कहते "वाह रे वग्घा! हमारा वग्घा तो ऐसा है कि काम में थकता ही नहीं" ऐसा सुनते ही वह इतना फूल जावे कि अपनी शक्ति के वाहर वोझा आदि ढोने लगे ओर भोजन-छाजन की भी परवाह त्याग कर दिन-दिन काम ही किया करे। "वाह रे वग्घा" कहने से उसकी कुछ हानि या लाभ नहीं, पर दिग्भ्रम के समान उलटा प्रतीत होना ही मन का स्वरूप हे। मानन्दी का अर्थ ही यह है कि जिसमे कुछ न मिले उसी के चक्कर मे फूला-पचका करे। वस, इसी तरह अखण्ड द्रष्टा जीव को देह ओर देह सम्वन्धी भोग सुख से कुछ लाभ नहीं, पर मानन्दीकृत सव हानि-लाभ को जीव ने सिर पर लाद लिया है। यद्यपि काया मे सुख मानने से इसको कामना-रोग के वश सदेव चचलता युक्त परवश ही रहना पडता ह। पर "वाह रे वग्घा" के समान देह को मान-मानकर खुशी से देह का भार ढोता रहता है, इससे कभी उपराम नहीं होता। कहा भी हे—"साखी—मन माया की कोठरी, तन सशय का कोट। विषहर मत्र माने नहीं, काल सर्प की चोट"॥ वी०॥

अर्थात भ्रमजन्य नाना मन-मानन्दी कृत जेल-कोठरी हे। उसके चारो तरफ शरीर-इन्द्रिय भोगो की प्राप्ति की चिंता सहित यह कोट खिंचा हुआ हे, जिसमे मोह या कुसग तथा वार-वार जन्म-मृत्यु रूप सर्प डस रहा हे। जडाध्यास रूप विष उतारने वाले पारखी संतो का मन्त्र (उपदेश) सुनकर यह जीव गुनता नहीं, इसीलिए फिर-फिर उसी वन्धन मे डसे दुसह दुख भोगना पडता हे। इस प्रमाण से अज्ञानवश शरीर को मान-मानकर यह जीव वन्धन को प्राप्त हो रहा हे॥ ७॥

जड देह ओर इसका ज्ञाता चेतन दोनो को विवेकदृष्टि द्वारा अलग करके देखने से यह काया-माया कुछ हाथ नहीं आती। इमकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं ठहरती। तो भी चेतन जीव का इस पर वडा प्रेम है, स्नेह हे। आप शुद्ध-अखण्ड चेतन होकर अज्ञानवश भूलरूप समुद्र में गोते लगा रहा है अथवा ज्ञानमात्र शुद्ध चैतन्य के स्वरूप मे कोई कामना-रूप भूख हे नहीं ओर जड तत्वो से उसका सम्वन्ध भी नहीं ह, केवल वह भूल से दृढ़ मानन्दी[१] की ही भूख उत्पन्न कर

---

१ श्री काशीसाहेव ने निप्पक्ष सत्य ज्ञान दर्शन मे देह सम्वन्धी जडाध्यास को दृढ मानने का भेद इस प्रकार वताया है (१) रज-वीर्य से वने हुए स्त्री, पुरुष, नपुसक ये शरीरो की देह-भावना विशेष करके मनुष्यों ने दृढ मानी हे। (२) देह के सम्वन्ध से माता-पितादि देह का नाता मनुष्यो ने मान लिया है। (३) पद्मिनी, चित्रणी, हस्तिनी, शखिनी, नागिनी ओर डकिनी ये छह प्रकार की स्त्रियाँ ओर शशा, मृग, घोडा, गधा, वैल ओर भैंसा ये छह प्रकार के पुरुष—ऐसे स्त्री-पुरुषो के देहभेद मनुष्यों ने मान रक्खे हैं। (४) व्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ओर शूद्र ये चार वर्ण तथा (५) व्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ ओर

उसके कल्पित भोग-सुखो से ही तृप्ति चाहता है। तत्व और तत्वो के शरीर जीव के स्वरूप मे घुसते नही और जीव जड-काया का स्पर्श करके एकमेक होना चाहता है, परन्तु जीव का काया से खास सम्बन्ध ही नहीं, केवल स्मरण द्वारा मानन्दी मात्र ही सम्बन्ध है और मानन्दी भी अज्ञानरचित भ्रममात्र है। इसी कारण मानन्दी-कल्पना के ही समुद्र मे जीव प्रेम करके घूमता रहता है। सुख मानन्दी को पकड कर तृप्ति चाहता है, परन्तु मृग-जलवत मिथ्या मानन्दी से कब तृप्ति होवे। ज्यो की त्यो तृष्णा बनी रहती है। इसलिए कहा गया कि 'छुवत छुवन नहि पाऊ'॥ ८॥ हे जिज्ञासु। इस शरीर की जड कहाँ है। अर्थात किस कारण से पुनः-पुनः शरीर-प्रपच की रचना होती है। इसका शोधन करो—तलाश करो। इस बात को न जानने ही से जन्म-जन्म उलझन, बन्धन तथा परवशता बनी रहती है। इस काया का मुख्य हेतु अज्ञान तथा सुखासक्ति ही है, उससे तुम बचो। देह और देह सम्बन्धी सब जालो को बारम्बार परख-परख कर उनमे दुख मनन करके उसकी सुखासक्ति और प्रियता से अलग हो जाओ। जिस तरह अज्ञानवश घूम-घूमकर शरीर सत्य मानकर भोग-जालो मे पडते आये, उसी तरह अब ज्ञान द्वारा उस जड़ से भिन्न अपने ज्ञाता स्वरूप को अलग दृढ निश्चय करके पारख साधन से बार-बार वृत्तियो को लौटाकर अपने स्वरूप का ठहराव बनाओ, शुभाशुभ वृत्तियो का द्रष्टा होकर पारखरूप मे स्थिर रहो॥ ९॥ काया की आसक्ति-ममता अपने लिए घातक, हानिकारक, जन्म-मरण का हेतु जानकर उसका अभाव करो। इसकी सुखासक्ति त्याग दो। यह काया प्रत्यक्ष त्रिविध दुख का रूप जानने मे आती है। प्रत्यक्ष डाकूरूप मन-इन्द्रिय हैं जो कि विवेक, वैराग्य और सद्रहस्य धन का हरण करके जीव को दीन-दुखी करने वाले हैं, इसलिए उन लुटेरो से बचो। अभी मनुष्य देह भी है, तुमको सद्गुरु भी मिल गये है, सद्ग्रन्थ भी सामने है, विवेक-विचार करने की शक्ति भी है, इस प्रकार इन्द्रिय-मन को प्रपच से हटाने के लिए पूर्व सब साधन काफी रूप मे प्राप्त है। हम काम, क्रोध, लोभ, मोह के बोझा से दबे हुए

सन्यास ये चार आश्रम मनुष्यो ने माने हैं। (६) शरीरो के केशव, नारायण, दामोदर दास इत्यादि नाम (७) ब्राह्मण, कुरमी इत्यादि जाति और (८) उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ ऐसे कुल भेद मनुष्यो ने माने हैं (९) काला, गोरा, पीलादि देह के रग (१०) बवना, नाटा, लम्बा, मझोला ये देह की गढन और (११)अन्धा, लँगडा, कोढी, कुरूप और सुरूप शरीर मनुष्यो ने माने हैं। (१२) हिन्दू, मुसलमान आदि देह सम्बन्धी धर्म (१३) गोसाईं, बैरागी, उदासी आदि भेषरूप जातियाँ मनुष्यो ने मान रक्खी हैं। (१४) जन्म, मरण, क्षुधा, तृषा, शोक, मोह ये शरीर की षट्उर्मियाँ अपना स्वरूप ही मनुष्यो ने मान लिये हैं। (१५) गर्भवास, जन्म, बाल, तरुण, वृद्ध, मृत्यु ये देह के षट विकार को अपना ही स्वरूप मनुष्यो ने माने हैं। (१६) छाजन, भोजन, मैथुन, भय, निद्रा, मोह ये पशुवत षटधर्म मनुष्यो ने देह में दृढ मान रक्खे है। ऐसे सोलह प्रकार से स्थूल देह को दृढ करके मनुष्यो ने मान रक्खे हैं। और भी कुटुम्ब-परिवार मित्र, पशु-पक्षी आदि देहधारी जीव और अनेक सग्रह किये हुए जड पदार्थो को मनुष्य अलग ही मान रहे है। तहाँ कहा भी है—

दोहा—जाति वर्ण कुल देह की, सूरत मूरत नाव। उपजै विनशै देह सो, पाँचतत्व का गाँव॥ ज्ञा०॥

हस न नारी पुरुष है, ये सब काल को फन्द। गाँस फाँस सब मेटिकै साहेब शरणानन्द॥ प०॥

इन प्रमाणो से देहाध्यासरूप जडपदार्थो का सब प्रकार से दृढ मानना नहीं छूटा तो मनुष्य बारम्बार जन्म-मरणरूप चक्र मे सदैव रहकर अनेक दुख भोगते रहेगे।

अनत मॉमति पा रहे ह, फिर क्या कारण हे कि अपना दुख मिटाने के लिए तयार न होवे। जव जीत की सव मामग्री हमे प्राप्त हे तो हमारी ही जीत अवश्य ह। इस तरह हम अपना दावँ मोच-ममझ कर मावधान हो। हमें अपने कल्याणकृत रहस्य-धारणाओं में न चूकना चाहिए॥ १०॥

शव्द—१०

निन नित महे जीव तन झगरा॥ टेक॥

नेत्रन रूप देखि ललचावे, नहि मनका तव दुखरा।
कानन शव्द सुनत मन भावे, नहीं सोहाय तो पछरा॥ १॥
कोमल परश चहत वहुविधि के, लहि सुकुमारि नचत जम वँदरा।
रमना मे रसमे सुख मानत, नहिं मन का तव हटरा॥ २॥
नासा द्वारे गन्ध हितावे, लहि दुर्गन्ध तो भगरा।
मनसिज भाव मे जग रैनि दिन, विघ्न अनेक लहँ नहिं डगरा॥ ३॥
तृष्णा वढत पार नहिं तेहि मे, लहि प्रतिकूल को नखरा।
ह्वै विक्षेप तव द्वेष वढै मन, राग भाव मे अँधरा॥ ४॥
तन मन भोग कि चाह जहाँ ला, देखि के हानि शोक वहु पसरा।
मिलन विछोह मे मोह सतावे, करि करि यादि ताहि मे धँगरा॥ ५॥
लोभ कल्पना विविधि उठावे, द्रव्य कोनि विधि सँचरा।
तेहि की मनसा भग करे जो, तेहि ते जले गात निज सवरा॥ ६॥
तन निर्वाह को भार लिहे शिर, मनुप मेल में फँदरा।
व्याधि सकल इन्द्रिन तन माही, तेहि सताप न कवहूँ उवरा॥ ७॥
नाउत ओझा भूत पूजिवो, धर शिर भार ये सगरा।
लहि ब्रह्माण्ड क्रिया दुख नितही, कर्म भोग जीवन सग नथरा॥ ८॥
वुद्धि भ्रमाव शर्म करावे, सकल कुकर्म मे लगरा।
तन मन धन दुख अमित रहे ह, पेरि ताहि नहिं हिगरा॥ ९॥
गुरु की कृपा जाल तन छूटे, घूमि देखि जव निजरा।
लखि लखि दुख उपराम सवन मे, दोप दृष्टि दुख सँघरा॥ १०॥

टीका—यह जीव शरीर का झगडा रोज-रोज सह रहा ह, फिर भी इसमे उपराम नही हाता। किस प्रकार काया के झगडे को सहता ह, उसका आगे विवेक कीजिए॥ टेक॥ नेत्रो मे मनभावन शोभा देख-देख अधिक-अधिक रूप-सान्दर्य के लिए खिचता रहता ह। मन इच्छित सुन्दरता न पाकर दुखी होता रहता ह। कानो से भाँति-भाँति के मधुर शव्द सुनकर मन को अच्छे लगते है, उनमे भी जो-जो शव्द मन को अच्छे नही लगते, उन शव्दो के सुनने मे हटता रहता ह॥ १॥ नरम-नरम विछाने, नरम-नरम हाथो से अग-मर्दनादि आर शव्द, रूप, रस, गध मे जो-जो कोमल-कोमल अनुकूल विपय असख्य प्रकार के हे, उन्हे चाहता रहता ह।

स्पर्श भोग मे प्रधान सुकुमारि नवयुवती है, मन के अनुकूल पाकर बाजीगर के बन्दर समान उसी के छन्द मे नाचता रहता है। लोक-परलोक भले नष्ट हो जाय, चौरासी-यन्त्रणा दुसह दुख भले अनत काल तक भोगना पडे, परन्तु सुकुमारि सदा सतुष्ट हो। जिह्वा-द्वार से खट्टे, मीठे, चर्फरे स्वाद मे सुख मानता है, उन रस वस्तुओ मे जब मन का स्वाद नही पाता, तो उससे हट जाता है ॥ २ ॥ नाक के द्वारा सुगध सूँघकर सुख मानकर उसे चाहता हे, दुर्गन्ध आते ही भागता है। कामभाव मे रात-दिन जला करता है। कामी का हृदय क्षणमात्र भी ठडा नही होता। कामभाव की पूर्ति मे अनत विघ्न पडते है। कनक-कामिनी आदि भोग वस्तुओ मे खैचा-खैंची, राग-द्वेष, रोग-व्याधि, छल-कपट, क्रोध-घात और मरने-मारने पर कटिबद्ध होकर नाना उत्पात करता है, इन विघ्नो मे पड कर जीव अपने कल्याण का मार्ग नही प्राप्त कर पाता ॥ ३ ॥ जितना-जितना विषय भोगे उतना-उतना और-ओर भोगने की इच्छा बढने का नाम तृष्णा है। काम-भोग मे बेहद तृष्णा बढ जाती है, जिसका कभी कही अत ही नही मिलता, तिसमे प्रतिकूल का, मनानुसार न होने का नखरा लगा ही रहता है। नखरा अर्थात फेनाव, दिखावट, मिथ्या झझट, झूठा झगडा। इस प्रकार सत्य स्वरूप को छोड कर विषय भोगो मे प्रतिकूलता का मिथ्या प्रपच इस जीव के पीछे सदैव लगा ही रहता है। जहॉ कुछ मन के उलटा हुआ वहॉ क्रोध बढ जाता है। क्रोध मे आकर हिसा, घात, कुटिल बर्ताव करके स्वय दुखी होता और साथी को भी दुख देता है। मनुष्य मोहासक्ति मे इतना अधा हो जाता है कि कुछ भी हानि-लाभ नही सूझता। ठौर ही जेल, सजा, फॉसी, मृत्यु, असह सकट को नही देखता ॥ ४ ॥

शरीर, इन्द्रिय और मनजनित भोगो की जहॉ तक चाहना है वहॉ तक पदार्थो का लोभ होता ही है। उन भोग पदार्थो की हानि देखकर अनत प्रकार से असह चिता जलाती रहती है। आज धन छीन गया, तो कल प्रियतमा भाग गई, कही शरीर मे रोग लग गया इत्यादि एक न एक सताप लगा ही रहता है। भोग-वस्तु और प्राणियो के मिलने-बिछुडने मे भी मोह सताता है। उसी राग-द्वेष को याद कर-करके कल्पना मे जीव धँगरा जाता है अर्थात पदभ्रष्ट हो-होकर वृथा दुखी हो घूमता रहता है ॥ ५ ॥ पुन लोभवश नाना प्रकार की कल्पना करता है कि मुझे किसी प्रकार बहुत-बहुत द्रव्य सचरा अर्थात प्राप्त होवे। ऐसे लोभी की मनसा ओर कार्य मे जो रुकावट करता है उसे देख-देखकर लोभी का सम्पूर्ण शरीर जला करता है ॥ ६ ॥ पुन· शरीर के गुजारा का भार जीव के सिर पर लदा हुआ हे, इसलिए मनुष्यो के मेल मे फँदना-धँसना पडता है, न इच्छा होते हुए भी विवशता से निर्वाह के लिए मनुष्यो का व्यवहार लेना ही पडता है। पुन शरीर की उपाधि से सब इन्द्रियो मे नाना प्रकार के रोग सताते रहते हैं। इस रोग-व्याधि के दुख-दर्द से तो जीव जिन्दगी भर छुट्टी नही पाता, इन्दियो मे एक न एक व्याधि घेरे ही रहती है ॥ ७ ॥ बहुतेक तो अज्ञानवश रोग-व्याधि से पीडित होकर न करने, न मानने योग्य को करते ओर मानते हें। जैसे नाउत-ओझा के पास जाकर भूत-प्रेत, टोना-टम्बर झडवाना, अनेक प्रकार से भूत, भैरव, काली की कल्पना करके जीववध कर कल्पित देवी-देवो को रिझाना, स्वय उसी भूत-भवानी की भावना के वश खेलना-कूदना, अकबक बकना, पागल हो जाना ये सब भ्रम का पहाड देहोपाधि से लादकर जीव गरुआ रहा है। ब्रह्माण्ड की क्रिया अर्थात ठडी, गर्मी, बरसात देहधारी को नित-नित दुख देती ही रहती है। ठीक-ठीक समय न होने पर

अति झूरा, पाला-पत्थर पडकर निर्वाहिक वस्तुओ के नाश का भी दुख सताता रहता है। पुन॰ कर्मों का भोग भी जीवों के साथ मे नत्थी ह। पूर्व कर्मों का प्रारब्धिक मुख्य अदृष्टभोग विवशता से सवको अवश्य भोगना पडता है। अज्ञानी तो पुन. मुखाशा से सकाम कर्मों को रच-रचकर वार-वार देह धर-धर त्रिविधताप भोगता रहता है। अज्ञानवश सचित, क्रियमान, प्रारब्ध इन तीनो कर्मों की विवशता से जीव जडग्रन्थि मे भ्रमता रहता है। इस प्रकार कर्मभोग जीवों के सग मे लगा ह॥ ८॥ शरीर की उपाधि ही बुद्धि को भ्रमा देती है, यह दुर्वुद्धि ही जडदेह में अहता-ममता कराके वृथा ही परिश्रम कराती है और छल-कपट आदि सर्व कुकर्मों मे फँमा देती है। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय तथा धन सम्वन्धी अनन्त दुख हैं, उनकी अनन्त उपाधिरूप समुद्र को तेर कर यह जीव भिन्न नहीं हुआ॥ ९॥ जब जीव सद्गुरु बन्दीछोर की कृपा प्राप्त करे तव इस देह की उपाधि से अवश्य पार पा जाय। गुरुदेव की कृपा से सव जडभास से दृष्टि घुमाकर अपने जनैया स्वरूप को जाने, निश्चय करे साथ ही विजाति तन, मन, धन के सम्वन्ध मे दुख देख-देखकर सव भोगो मे उदासीन हो जावे। विपयो मे सुख की जगह दुख-दर्शन दृढ करके एकरस पारखदृष्टि से सब दुखो का अवश्य सहार हो जायेगा॥ १०॥

पूर्ण दुख देखे विना दुख का अन्त नहीं होता

दृष्टांत —चरितसिंह नामक एक पुरुप गाँव का मरदार था। उमका घर सडक के किनारे था। अनेक पथिक इधर-उधर आया-जाया करते थे। उस मडक पर होकर साधु-सत भी निकला करते थे। चरितसिंह जुल्म करने वालो के लिए जुल्मी ही थे और साथ ही न्याय और सत्य के खोजी भी थे। उनकी समझ के अनुमार जहाँ अन्याय मालूम होवे वहाँ वडी कठोरता से दण्ड देते। वे आने-जाने वाले पथिको के विश्राम हेतु धर्मशाला वनवा रक्खे थे। भूखे-दूखे के लिए उचित प्रवन्ध करते थे। कभी-कभी साधु अभ्यागत भी उनके यहाँ उतर पडते। आये हुए साधुओ मे वे प्रश्न करते थे कि वात क्या है जो माधु हो जाते हैं? समझ अनुमार साधु उत्तर देते, अभी तक उनका समाधान नहीं हुआ था। समाधान भी कैसे हो, जव तक मनुष्य अभिमान दूर न करे तव तक उसे यथार्थ ज्ञान कैसे होगा। चरितसिंह की स्त्री आज्ञाकारिणी थी, सुहावन पुत्र आर अनुकूल धन, वल, ऐश्वर्य सव प्राप्त था, इसलिए उन्हे सव पदार्थों का भरोसा आर अभिमान था। स्त्री, पुत्र और वहू में उनकी अधिक ममता थी। उन्हीं के मुख से अपने को सुखी समझते थे। यह सब को अनुभव है कि जो कुछ गो-गोचर है वह एकरस नहीं रहता। छिन-छिन मे गर्मी-सर्दी, दिन-रात, शिशिर-वसन्तादि नदी के वाढवत आया-जाया करते ह। इन्हीं मे फँसे हुए प्राणियो की एकरम स्थिति कैसे हो। जैसे कर्मो के करते समय प्राणी क्षण मे पाप तो क्षण मे पुण्य भी करते रहते हैं, वेसे उनके प्रारब्धिक भोग मे भी क्षण-क्षण दुख-सुख, मयोग-वियोग लगे रहते हैं।

चरितसिंह के मिर पर भी यही चक्कर पडा। अव उनके वने दिन विगडने लगे। उनकी परमप्रिया स्त्री वीमार हो गई। हजारो रुपये लगाकर अनेक आपध आर नाना प्रयत्न करने पर भी अच्छी न हुई। निदान उसका शरीर छूट गया। अव तो चरितसिंह के दुख की थाह न रही। उसी समय उनके कुटुम्वियों ने जमीन-जायदाद के वारे मे मुकदमा चला दिया। उसमे कुटुम्वियो का ही अन्याय था तो भी लडते-लडते चरितमिंह ही की हार हो गई। अव तो दुख की क्या सीमा। आगे और भी एक गाज गिरी। चरितसिंह के पुत्र की स्त्री का वहुत दिन से

एक दूसरे नीच पुरुष से गुप्त सम्बन्ध चालू था। इन्हीं दिनो मे वह बात भी प्रकट हो गई। यह मृत्यु से भी बढकर उन्हे कष्ट मालूम हुआ। देह मे भी चरितसिंह के दोरा की बीमारी हो गई। इन सब दुखो के इकट्ठा हो जाने से चरितसिंह का मान भी भंग हो गया। चरितसिंह को अपनी बहू पर बहुत विश्वास था, क्योंकि वह बडी नम्रता और सुलज्जता से सम्मुख होती थी। कारबार भी सब ठीक रखती थी। जब वह अपने श्रेष्ठ विवाहित पुरुष को छोडकर एक नीच के सग चली गयी, तब चरितसिंह को अपने विपरीत निश्चय पर बहुत पछतावा हुआ, पुन· वह विचारने लगा—

सोरठा—*यदपि नारि नर कोय, सबही मन-वश कुमग बहि।*
तदपि बाम जन जोय, है अगम्य मन जाल तेहि॥
सिडी बाल मदखोर, अभिमानी सनिपातयुत।
इन विश्वास न भोर, प्रमदा आतुर् मदन वश॥

दोहा—*विषय भोग हित आतुर, नारी जन जब होय।*
का नहि करत अनीत अघ, पतिवचक ह्वै जोय॥

चौपाई—*गर्भ पतन करि शिशु निज मारे। जात नीच सँग यश न सम्हारे॥*
मिथ्या स्वार्थ पूर्ण छल राशी। केला प्याज असार प्रियासी॥
यक अगी रचक न सजगता। हित के बैन न हिय में रुचता॥
फाँसी जेल फजीहत भारी। ख्याल न तनिक कुमग ही धारी॥
हठ शठमात्र विषय सुख निश्चय। शुधि परिणाम न लेत भयाभय॥

दोहा—*गृह मे मूस मजारि से, जो चपला डरपाय।*
मदवश सो मदनावती, जावत अति भय ठाँय॥
ऐसे मन के हाथ मे, बिके पुरुष हूँ जार।
छलबल कुटिल जु घात करि, मदवश पाप हजार॥

जो सुशील तिय गुण की आगर। मधुर वचन बोलत प्रिय नागर॥
ऐसेउ बाम कमी लखि भोगा। धन बल रूप न यदि तेहि योगा॥
छिन उदास छिन खीझत सोई। छिन प्रसन्न करि कारण कोई॥
बात-बात मे बनि निर्दोषी। सजग सुधार वचन सुनि रोषी॥
जड चेतन निर्णय नहि भावै। रज तम ठाठ मे समय गँवावे॥

दोहा—*बन्दरवत जन नचत जो, तब तो है बलिहार।*
जो न ताहि पति मन रखत, वैरिन डाहत नार॥
चपला सुख चपला सरिस, जेहि की अवधि क्षिणेक।
पर्श मात्र के करत ही, विह्वल मुर्छित टेक॥

दव-जल मानि मृगा सुख भूले। लखि पतग ज्यो ज्योति मे झूले॥
पर्शमात्र सुख जाकी आयू। तेहि मे सुख चाहत भ्रम कायू॥

भोगत भोग बढी लत भारी। विरहानल मे तपत अनारी॥
पुनि सतति सुख माने कोऊ। अपने स्ववश न शिशु छिन सोऊ॥
रोगी कुवुधि मृत्यु भइ ताकी। अथवा सुता वहुत दुख बाँकी॥
मानि अपनपौ सतति मोहा। हर्ष शोक शोकहि दुख कोहा॥
धन की हिय मे चाह बढावन। यत्न से मिलत अयत्नहि जावन॥
जाके हित मीतहूँ ह्वे वैरी। घात करत सो धन लखि गैरी॥
जो धन सदा एकरस अहही। तेहिको धन मद लहि नहि लहही॥
ऐसहि विद्या वर्ण विशेपा। पृज्य राज्य पद सुख नहि लेशा॥
खर ओ ऊँट समान प्रमादी। सत देखि नहि नमत जु बादी॥
तेहि अति नीच नीच से श्रेनी। लहि प्रमाद तेउ दुखहि निशेनी॥

दोहा— *जो-जो सुख को मानि मन, सो सब आपति मूल।*
मोहि प्रत्यक्ष देखात अव, सुख ही ताप त्रिशूल॥

मोरठा— *अहो! मूढ में दीन, सत वचन तजि पचत कहँ।*
अव तक जग में लीन, मोह विवश हित ना कियो॥
आरो विविध विचार, करन लग्यो मनमाहि वह।
जान्यो जगत असार, वृथा भ्रमत जग रहट मे॥

इत्यादि अनत विचार उसके अन्दर उठे। चरितमिंह चारो तरफ से दुखी था। ससार का पोल देखकर उपराम हो गया। फिर तो उसने एक सदाचारी वैराग्यवान संत के पास जाकर अपना पूर्व ओर अव का चरित्र कहते हुए कल्याण का मार्ग पृछा। वराग्यवान संत वोले—ससार की जड राग ही ह। राग की जड अविवेक हे। अविवेक की जड विपयो मे सुख मानना तथा सम्वन्ध ह। इन मवो के नाश का उपाय वैराग्यवान पुरुपों का मत्सग ही है, दूसरे सद्ग्रन्थ ह, तीसरे निर्मानता है, चाथे शुद्ध मम्कार ह, पँचये संसार मे दुख-दर्शन ह, छठे कुसग का त्याग ह, मतये स्वरूप की सत्यता-अमरता का दृढ़ निश्चय हे, अठयं माधुनीति सहित शुद्ध वर्ताव ह। इन अष्ट रत्नो का सेवन करो। ऐसा सुनकर चरितमिंह ने सादर साधन मे लो लगाया। काम, क्रोध, लोभ, मोहादिक राग-द्वेप की वृत्तियों को त्यागकर उसकी जगह शुद्ध गुण धारण कर पूर्ण वेराग्यवान[1] होकर स्वरूपनिष्ठा मे ठहर गया। साधु क्यो हुआ जाता है, इस

---

१ वहुत मनुष्य माधु-मन्त को देखकर यह वोली वोलते हैं—"नारि मुई घर मम्पत्ति नाशी। मूँड मुडाय भये सन्यासी" ॥ र० ॥ यह चापाई उन पर लागृ ह कि जो स्त्री-धनादि के न रहने पर विरक्त तो हो गए, फिर भी विरक्ति का भाव नहीं रखते, कचन आर कामिनी ही के लिए नाना अनर्थ करते हैं। परन्तु स्त्री-पुत्रादि क र ' या न रहे, कोई भी धक्के से या विवेक मे या ऐमे ही पूर्व के विशुद्ध सस्कार से दुख जानकर दृढ वेराग्य जिनमे हो गया है, वे पुरुप धन्य हो गये। अज्ञानी मनुष्य तो पदार्थो की प्राप्ति मे तृष्णा करके आर अप्राप्ति मे आशा करके जलते रहते ह। उन आशा और तृष्णा को त्याग करने वाले ही वडभागी ह। गजा भतृहरि भी पिगला के दुश्चरित्र से दुख पाकर वराग्य धारण किये। रामायण मे भी कहा हे—"जवत जाय सती तनु त्यागा। तव ते शिव मन भयउ विरागा॥" मायावी पदार्थ परमर्थ

प्रश्न का समाधान भी अब हो गया। इस प्रकार दुखदृष्टि रखने से राग सम्बन्धी सब दुखो का नाश हो जाता है।

शब्द—११

गुमानी जीव कौन तुम्हारो तन का साथ॥ टेक॥
श्रवण नासिका नेत्र पृथक जड़, छिन छिन बदलत जात।
तिनको मानि स्वबश करि ममता, देयँ न तुम्हरो साथ॥ १॥
रसना त्वचा न आनन साथी, नश्वर सबहिं देखात।
कहुँ गूँगा कोई अन्य ब्याधि तन, परबश करै अनाथ॥ २॥
शिशिन गुदा मल मूत्र तजै है, अशुचि द्वार दरशात।
भरमत जीव ताहि के सँग मा, मानि अहं बे हाथ॥ ३॥
दुखत पाँव तब चलि नहि जावै, निज मन मे पछितात।
बायु बिघ्न जब तन में होवै, दुस्तर पीवन पाथ॥ ४॥
कफ पित बात रुधिर से पूरण, माँस चाम को गात।
जो नहिं काज बनै कुछ निज को, बोझ रूप तन माथ॥ ५॥
शोक मोह ममता का घर है, नहिं इन में कुशलात।
हॉड को पिजर ठाठ बना है, क्षण ही में नशि जात॥ ६॥
क्षण क्षण कष्ट देत मन तुमका, दुशमन साफ देखात।
जो नहिं करत रहौ निगरानी, लै बेचै पर हाथ॥ ७॥

टीका—देहमद, धनमद, यौवनमद और स्त्रीमद खानी के तथा विद्यामद, तपमद, सिद्धिमद तथा ज्ञानमद बानी के, इन आठ मदो मे सभी मद आ जाते हैं। इन अष्टमदो को धारण करने वाले को गुमानी जीव कहते हें। सब मदो मे विशेष बलवान व सब मदो का आधार देहमद ही है। पूर्णता से देहाभिमान नष्ट करने पर सब मद आप ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए यहॉ पर मुख्य देहमद के ही निवारण के लिए विचार किया जाता है। हे अभिमानी जीव, जो तू नख से शिखा तक शरीर की चमक-दमक और नाम-रूप मे फूलता रहता है और सदा इसमे रहने का दम भरता रहता है सो तू विवेक कर। तुझ अविनाशी जीव और नाशवान

पर पर्दा डालते ही हैं। उससे किसी भी तरह वैराग्य हो जाय, उसके सुख सम्वन्ध मे, प्राप्ति या अप्राप्ति काल मे जब पूर्ण दुख देखने मे आ जाय तव ही वेराग्य हुआ जानिये। पदार्थ होते हुए भी उसमे किसी प्रकार का दोष देखने में आयेगा तव ही उससे राग हट सकता है। पदार्थ न होते हुए भी उसकी आशा बनी रहती है। सूक्ष्म आशा के तोडने में भी उतना ही विवेक-वैराग्य की जरूरत है जितना सम्मुख पदार्थ के रहते-रहते विवेक-वैराग्य की जरूरत पडती है। बल्कि सम्मुख पदार्थ के हटाने मे अधिक कोशिश की आवश्यकवा पडती हे। क्योकि आभ्यासिक विषय-पदार्थ आवरण करते है। अन्त मे सुखाशा-स्नेह त्यागने मे सबको प्रवल विवेक-वैराग्य की आवश्यकता हे। सुख मे दुख जानने ही से सर्व सुखो से मन हटकर स्वरूपस्थिति होती है।

तुच्छ जड शरीर का कव तक और कितने दिनो का साथ हे! ॥ टेक॥ कान, नाक, नेत्रादि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तुम से पृथक जड हैं, जड होने से प्रतिक्षण उत्पत्ति-वृद्धि-क्षीण होते हुए वदल रही हें। कोई एक क्षण भी ऐसा नहीं हे कि जिस क्षण शरीर का वदलाव न होता हो। ऐसी छिन्न-भिन्न जड इन्द्रियाँ तथा परिणामी शरीर पर पूर्ण अधिकार मानकर जो तुम इन्द्रिय सम्वन्धी सुख हेतु वृथा ही दिन गुमा रहे हो, याद रक्खो कि ये इन्द्रियाँ तुम्हारा साथ क्षण भर भी न देगी॥ १॥ जीभ, खाल तथा मुख ये भी तुम्हारे साथी नहीं है। इन्द्रियो का नाश तो प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है। इन्द्रियाँ सावुत रहते भी जव कभी मुख में विगाड होकर गूँगापन हो जाता हे या खाल में जव शून्य रोग हो जाता है या ज्वर, जूडी, नेत्र, कान दर्द या कोई भी शरीर में व्याधि लग जाती है तव जीव को विलकुल परवश कर देती हे और अनाथ वालक के समान रुलाया करती ह। गूँगा हो जाने पर बोलने की आवश्यकता होने पर भी एक वोल का नहीं उच्चारण हो सकता। अधा हो जाने पर कितनी परवशता लेनी पडती हे, यह सवको विदित हे। ज्वर, जूडी, सन्निपात मे दूसरा रक्षा करे तो करे, नहीं तो परवश पडा विललाया करता है। केवल पडे-पडे दुसह दुख भोगना आर उसका उपाय न कर पाना, दूसरे का भी उसमे उपाय न लगना, इससे वढकर अनाथता ओर परवशता क्या होगी! ऐसी अनाथता देहाभिमान से ही जीव की हो रही हे॥ २॥

शिश्न इन्द्रिय जिससे लघुशका त्याग किया जाता हे आर गुदा से मल त्याग किया जाता हे, दोनो प्रत्यक्ष दुर्गन्धिमय अपवित्र दर्शित होती ह। ऐसी अपवित्र इन्द्रियो का साथ करके शुद्ध जीव भी उन्हीं इन्द्रियो के मलिन विषयो में भटक रहा है। इन्द्रियो को म या मेरी मान दृढ अहकार लेकर यह जीव वेहाथ हो रहा ह, स्ववश स्वतन्त्र स्वरूप विचार छोडकर इन्द्रिय भोगार्थ हाटोहाट विक रहा हे॥ ३॥ जव पॉव मे वाई, चोट, दर्द, फोडा या कोई भी रोग द्वारा पीडा पेदा हो जाती हे तथा चलने का प्रयोजन होते हुए भी मारे दर्द के चल नहीं सकता, तव अपने मन में अत्यन्त चिंता पेदा होती हे, रोवाई आती हे, फिर क्या हो, कौन अख्तियार। जव कभी देह मे वात विकार वढ जाता है तव लकवा या गठिया वात अथवा कपवायु वढकर शरीर इतना अशक्त हो जाता हे कि अपने हाथो से पानी उठाकर पीना भी कठिन हो जाता है। सोचिए! ऐसी-ऐसी उपाधि से ग्रसित शरीर का क्या गुमान! ॥ ४॥ कफ, पित्त, बात आर खून से भरा, मास युक्त ऊपर से चाम मढा अपवित्र शरीर है। ऐसे अपवित्र क्षणभगी काया को पाकर इसमे वन्धन से छूटने का काज—सत्सग, भक्ति, सत्साधन न किया गया तो खर-भार के समान जीव के ऊपर वोझा रूप ही हे। जैसे वेगारी का वोझा सिर तोडता, व्यर्थ दुखी करता हे, उससे अपना कोई लाभ नहीं, वेसे शरीर की परवशता से जीव का कोई लाभ नही, सिवा दुसह दुख के। जो इस मनुष्य देह मे सदा सत्सग द्वारा नित्य वस्तु को जानकर जीवन वितावे, तो फिर देह न धरना पडे और यह वर्तमान देह धरना भी इसका सफल हो जावे, नहीं तो 'सूने घर का पाहुना' के समान इसका परिश्रम व्यर्थ ह तथा देहासक्ति तो सदा के लिए तन-मन के दुख खदक में डालकर दुखी ही करने वाली हे॥ ५॥

अरे! ये काया ही सर्प-विल के समान सव शोक-मोह, ममतादि का स्थान हे, फिर इसमें सदा रहकर कुशलता-स्वच्छन्दता चाहे तो इसमे कुशल का नाम कहा! ये काया तो हाडो का पिजर है, हाडों के ठाट से ठटी हुई पलक मारते ही मिट्टी मे मिल जाती है॥ ६॥ शरीरोपाधि

से बना हुआ मन है। वह मन काम, क्रोध, मद, मत्सर, विषय-वासना की लहरो पर लहर उठाकर इस जीव को क्षण-क्षण मे दुसह दुख देता रहता है। यह मन जीव का साफ-साफ पक्का दुश्मन दिखाई दे रहा है। बाहरी दुश्मन तो किसी तरह मान भी जाता और फिर शरीर पश्चात नहीं सताता है। लेकिन यह मन तो भोगो से किसी तरह नहीं मानता और जन्म-जन्म मे जीव के साथ लगकर दुसह दुख देता ही रहता है। जो ऐसे प्रबल वैरी की परीक्षा न रक्खे और जो मन मे आवे सोई कर डाले तो उससे सब प्रकार के दुष्कर्तव्य बन जाने से सबकी दुत्कार, फटकार, परवशता, कर्जी, गर्जी होकर अन्य नर-नारियो के वश हो-होके सब कष्ट सहना पडता है। अतः मन-तरगों को हरदम शक्ति के अनुसार सबको रोकना पडता है। प्रत्यक्ष जो कोई जितना ही मन की चौकसी नहीं रखता उतना ही परवश हो दूसरे के हाथ बिक जाता है। इन बातो का मनन करके देहाभिमान छोड देना चाहिए॥ ७॥

शब्द-१२

या काया बन्धन दुरमति दुरगुण खान॥ टेक॥
काम क्रोध मद लोभ उपावै, ममता मोह सोहान।
आशा तृष्णा मिलन बिछोहा, चिता शोक महान॥ १॥
भय असमंजस बिपदा कोठरी, राग द्वेष को थान।
रोग समूहन भूल खजाना, शूलन ताप दुकान॥ २॥
रक्षा परबश फिक्र अनन्तन, बिश्वासघात उत्पान।
कोई बचावै कोई नशावै, आदर निन्दा ठान॥ ३॥
बारि बताशा ओस कि बुन्दा, अछय मानि भरमान।
सेमर सुवा नदान असारहिं, सेई अत पछितान॥ ४॥
लखि अवदशा परख रॅग रॅगिये, ज्ञान दिनेश उगान।
अध्यास चोर चपरे में मारौ, मन भ्रम देह बिलान॥ ५॥

टीका—यह देह ही बधन, दुर्बुद्धि तथा दुर्गुणो का स्थान है। इसके सम्बन्ध से ही भूलवश सब प्रकार के बन्धन, विपरीत निश्चय और खोटे आचरण वन जाते हैं॥ टेक॥ देह के ही कारण से काम, क्रोध, लोभ जो तीनो नरक के द्वार है, उत्पन्न होते रहते हैं तथा जगत के ममता-मोह जो सदा दुखपूर्ण है, इसी देह के कारण अच्छे लगते हैं और आशा, तृष्णा तथा मिलने-बिछुडने की दहसत, चिता और शोक ये तमाम झझट देहोपाधि के कारण ही जीव के पीछे पडे है॥ १॥ मृत्यु का भय, गरीबी का भय, परार-वशिता का भय, परिश्रम का भय, सर्प-बिच्छू आदि देहधारी प्राणियो से भय, असमजस, ऐचाखैंची तथा तमाम विपत्तियो की यह देह ही कोठरी है। जैसे कोठरी मे सब वस्तुएँ भरी होती है वैसे इसमे उक्त सब बाते भरी हैं। नश्वर पदार्थों मे स्नेह और वैर का तो यह स्थान ही है। ज्वर-जूडी-सन्निपात आदि असख्य रोगो की राशि है और जैसे खजाना रुपयो से भरा होता है वैसे यह देह अज्ञान का कोष है। विविध प्रतिकूलता की जलन इस देह मे होती ही रहती है। अत यह देह शूल और तापो की दुकान है। दुकान मे जैसे वस्तुओ की कमी नही होती वैसे इसमें शूल और तीन तापो की कमी

नहीं है ॥ २ ॥ इस शरीर की रक्षा तो सबकी परवशता लेकर ही होती है, इसलिए फिक्र-चिन्ता का तो इसमें अन्त ही नहीं है। इस देह के सुख-स्वार्थ के लिए ही कितने विश्वास देकर दूसरे का घात करते हैं। कोई तो इस शरीर से कुछ स्वार्थ मानकर इसे बचाता है, रक्षा करता, अन्न-वस्त्र से प्रतिपाल करता है और कोई इस शरीर का नाश कर डालना चाहता है। बाघ-भालू आदि तो इसे भक्षण करना चाहते हैं, चोर-डाकू आदि प्रतिकूल मानने वाले सदजन इस देह को नाना त्रास देते रहते हैं। कोई तो इस देह की विनय-बानी आदर भाव सहित बड़ाई करता और कोई कटुवाक्य द्वारा निन्दा करता। स्तुति-निन्दा आदि उपाधि की जड़ देह ही है ॥ ३ ॥

पानी में बताशा डालते ही जैसे पिघल जाता है और जैसे ओस की बूँद का परिवर्तन होते देर नहीं लगती, वैसे इस देह का नाश होते देर नहीं लगती। अरे! पलक मारने में कुछ देर लगती है पर इस देह को क्षीण होते देर नहीं लगती है। बाल, जवानी, बुढ़ापा का कोई नियम नहीं, यह देह तो प्रत्यक्ष हर अवस्था में क्षणभंगुर है, पर इसमें जीव इतना भूले हैं कि मानो यह अक्षय है, कभी नाश ही न होगी, ऐसा मानकर व्यर्थ जालों में भटकते हैं। तोता सेमल के फूल को सुन्दर मान कर कमअक्ली से सेवन करता है, फिर उसमें सार कुछ न निकलने से अन्त में उसे पछताना ही पड़ता है, वैसे ही असार शरीर को सुन्दर मानकर जीव ने इसका सेवन किया, पर अंत में सार कुछ नहीं। अपने गाफिलीवश सब दोष-दुर्गुण धारण कर अब और आगे के लिए अनंत दुख का भागी बन गया। जिस देह में विवेकयुक्त बंधनों का त्याग होता है, उसमें सब बंधन बनाकर देह धर-धर कर पछतावा और दुख होता है, यही जीव का अनाड़ीपन है ॥ ४ ॥ पूर्वोक्त देह सम्बन्ध में अपनी अनंत दुर्गति देखकर गुरु-पारख के रंग में रँगना चाहिए। देह दुखों से बचने के लिए एक पारख ही अमृत औषधि है। पारखी संतों के समागम से ही यथार्थ ज्ञानरूप सूर्य हृदय में उग आयेगा, फिर तो उस ज्ञान-प्रकाश में जड़ाध्यास, जड़भावना, जड़मानना, काम, क्रोधादि चोरों की खुले मैदान में अच्छी तरह परीक्षा करके उनका संहार करो। तब मानन्दी मात्र भ्रमपूर्ण इस देह की उपाधि नष्ट हो जायेगी और तुम प्रारब्ध सम्बन्ध तक जीवन्मुक्ति में विराजोगे। प्रारब्ध क्षय के बाद देहोपाधि रहित सदा के लिए निराधार स्वरूप में ठहर जाओगे। इस प्रकार गुरु-पारख की शरण में भ्रमपूर्ण मन, माया, काया का सदा के लिए अभाव हो जायेगा ॥ ५ ॥

शब्द—१३

काया रणधीर सन्त कोइ तावैं ॥ टेक ॥

सोने ताव सोनार तपावै, मैल को जारि हटावैं।
कंचन खरा निकारि आप लै, सो सब के मन भावे ॥ १ ॥
कुमग कुठाँव विपिन कठिनाई, अंकुर विविधि तजावैं।
बूटी शोधि वैद खनि लाव, दुख सुख ध्यान न जावैं ॥ २ ॥
सासति अमित सन्त सहि तैसहि, शुभ गुण सेइ रहावै।
रक्षा हेत आप औ पर की, सत संकल्प पुरावै ॥ ३ ॥
सहनशील नहिं थक अघट बल, साहस परम लहावै।
अक्षय अमिय पद पाय तृप्ति सो, जग दुख कोट ढहावे ॥ ४ ॥

वहै बिशाल करो पुरुषारथ, सब विधि कुशल देखाव।
तन रणक्षेत्र पराजय मन पर, तू सम तोहि रहावै॥५॥

टीका—इस काया समरक्षेत्र मे मन रूप शत्रु से लडने वाले धीर-वीर कोई विरले सतजन हैं। वे ही इन शरीर-इन्द्रियो को कचन की भॉति सत्साधन सयम की अग्नि से तपाते रहते है॥ टेक॥ जैसे सोनार अग्नि की बार-बार ऑच दे सोने को तपाकर मैल को साफ करता तथा शुद्ध सुवर्ण ले लेता है, वह शुद्ध स्वर्ण सबके मन को अच्छा लगता है, सब उसकी प्रशसा करते हैं॥ १ ॥ दूसरा उदाहरण वद्य का है। जेसे अनुभवी वेद्य अच्छी बूटी लेने के लिए प्रयत्न करता है, घोर जगल मे जाता है, जाते हुए मार्ग मे नीची-ऊँची जगह झाडी-बांडी नाना भॉति के सघन वृक्षो से जकडे हुए स्थानो की कठिनता की परवाह न कर हिसक जन्तु ओर कॉटा, विषैली बॉडियो मे युक्तिपूर्वक बचते हुए ओर अन्य तमाम वृक्ष, बाडी, लताओ को परख-परख छोडकर भली प्रकार परीक्षा करते हुए अच्छी-अच्छी प्रयोजनिक बूटियॉ देखने में आई कि शीघ्र ही उन्हे खोद लेता है। अपना कार्य सफल जान कर मार्ग के दुख-सुख पर ध्यान नही देता, वह अपना परम प्रयोजन सिद्ध करके निहाल हो जाता है॥ २॥ सोनार ओर सुवैद्य के समान ही कोई-कोई सत नाना कष्ट सह कर क्षमा, शील, सन्तोषादि सर्व शुद्धगुणो को विवेक सयुक्त ग्रहण करते हैं। ससार सघन वन से स्वय बचते ओर सॅभलते हुए दूसरे का भी हित हो जाय, इस वास्ते गुरु निर्णय-युक्त सतसकल्पो को सत्क्रिया द्वारा पूर्ण करते रहते हैं। पुरुषार्थी मनुष्य और सतजन देह के दुख-सुख पर ध्यान न देकर विवेकयुक्त गुरुमार्ग पर टिकने की जो दशा पहिले से निश्चित किये उन्ही सतसंकल्पो को पूरा करके दिखाते हे, जिससे अपने और दूसरे के भी धर्माचरणयुक्त परमार्थ की रक्षा होवे॥ ३॥

सम्मुख सब विघ्नो को सहकर परमार्थ से न डिगने वाले ऐसे सहनशील सन्त भॉति-भॉति के साधन, विचार-पथ से कभी थकते नहीं, उनका बल कभी कमी नहीं पडता। उनका परमार्थ साधन में दिन-दिन क्षण-क्षण नित्य नव नेह बढता ही जाता है। श्रेष्ठ साहस मन जीतने की तीव्र भावना भरकर कभी कमी न पडने वाला और कभी नाश न होने वाला ऐसा अक्षय अविनाशी अमृत स्वरूप के बोधभाव मे एकरस स्थिति बनाकर नित्य तृप्त हो जाते ह। इस प्रकार बार-बार देह धरने का बीज विषय-वासना जो कि दुख का एक कोट है उसे ढहा देते हे॥ ४॥ हे मुक्ति-इच्छुक। यही सबसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ तुम भी करो। इन्हीं रहस्यो मे सब प्रकार कल्याण दीखता है। देह रहे तक तो मन-इन्द्रियो की ऐचातानी रहित जीवन्मुक्ति का एकरस सुख मिलेगा, और प्रारब्ध भोग पश्चात सदा के लिए दुख रहित स्थिति हो जायेगी। इसलिए देह रूप रणक्षेत्र मे मन शत्रु का गुरुज्ञान-साधन बल से दमन करके अपने आप ही रह जाओ। फिर तो तुम्हारे समान तुम्ही हो और दूसरा तुम्हारे पटतर मे कोई नहीं॥ ५॥

शब्द—१४

हमका क्या देहियॉ से काम, हम तो हे चेतन निष्काम॥ टेक॥
नही तात नहिं मात हमारे, नहिं भाई सुत बाम।
नही नेह नहिं गेह हमारे, नही सुयश बदनाम॥ १॥

देखि देखि सब ज्ञान जगत का, भाव अभाव दुखाम।
सुनि सुनि कै सब सशय वनिगै, वहै भयो मन धाम॥ २॥
त्रिय सपरश सब ज्ञान को हरिकै, ख्वाहिश दुःख चखाम।
जिह्वा स्वाद सुरस रस वन्धन, जाहि खोजि निशियाम॥ ३॥
नाशा गन्ध भ्रमावै निज को, वीति रहे दिन शाम।
विना प्रयोजन भार ये शिर पर, वँधे कामना दाम॥ ४॥
है प्रारब्धि भोग निज भोगन, वधि आसक्ति अराम।
जस हौ तस तुम रहा ठहरि अव, छूटि जाय दुख नाम॥ ५॥

टीका—विवेकवान विवेकयुक्त कह रहे हे—हमारा इस विजाति देह से कोई प्रयोजन नहीं है। इससे नाता और मम्वन्ध भी कुछ नहीं है। क्योकि में शुद्ध चैतन्य हूँ, सवका जानने वाला सवसे भिन्न हूँ, कामना मलरहित हूँ, फिर मेरा जड देह से क्या प्रयोजन-क्या सम्वन्ध। ॥ टेक॥ पिता, माता, भाई, स्त्री, पुत्र मव देह सम्वन्धी होने से देह के ही हैं। जव मं देह नहीं हूँ तो देह मम्वन्धी नाता भी मेरे में कहाँ हे! मुझ चतन्य मे किसी का स्नेह भी नहीं ह, न तो मेरे महल-मकान ही हैं, यश और अपयश भी मेरे में नहीं हैं॥ १॥ देख-देख कर सर्व जगत का ज्ञान होता ह, जिसमे भाव-अभाव, अनुकूल-प्रतिकूल, राग-द्वेष आदि द्वारा दोनो भाँति जीव दुखी होता रहता है। रोचक, भयानक और विपय की वाते सुन-सुन कर खानी-वानी का मव मंदेह खडा हो गया। इस प्रकार जो वाह्य इन्द्रियों द्वारा देखे, सुने, भोगे का संस्कार है, वही हृदय म टिका हुआ मन का रूप वन गया हे॥ २॥ स्त्री के स्पर्श मे पड कर तो स्वार्थ-परमार्थ को रीति-नीति का ज्ञान ही हरण हो जाता है, जिसमें तृष्णा, चिन्ता, दीनता का दुख जीव को लग जाता है। जिह्वा से सुरम मुस्वाद मे फँस कर वन्धन को प्राप्त होता है और रात-दिन म्वाद की खोज मं ही रहा करता ह॥ ३॥ नाक से गन्ध लेता हे, गन्ध की चाहना जीव को भटकाती रहती ह। इन्हीं सव वातो में सत्पुरुपार्थ रहित सव समय व्यर्थ चला जाता है। इनमे पड़कर तृष्णा वोझ के सिवाय कुछ तृप्ति नहीं हे, विना प्रयोजन ही भोग कामना की रस्सी से सव जीव वँधे हुए हें॥ ४॥ विवेक-वैराग्य पूर्वक केवल अपना प्रारब्ध-भोग अवश्य भोगना पडेगा, पर उमके साथ जो विपयो की आसक्ति, आरामतलवी, सुखाध्यास हे, उनको विवेक-वैराग्य के अभ्यास रूप शस्त्र द्वारा नाश करते हुए जसा शुद्ध चैतन्य अपना सव से न्यारा, वैसा मवसे न्यारा विवेकयुक्त पारखपद मे ठहराव वना लेवे, तो दुख होना कोन कहे, दुख का नाम भी न रह जावेगा, सव दुख-द्वन्द्वो से सदा के लिए यह जीव छुट्टी पा जावेगा॥ ५॥

प्रसंग ५—स्वरूपपरिचय-ठहराव

शव्द—१५

पग्खु निज रूपहिं शोध लगाय॥ टेक॥

करत परिश्रम जात दिवस निशि, चिन्ता शोक दुखाय।
याते गुरुमुख ज्ञान विचारौ, दुख सकलौ मिटि जाय॥ १॥

संस्कार उठि होय सामने, ख्वाहिश आगि लगाय।
अचल स्वरूप सो चचल होवै, बिन काज के काज बनाय॥ २॥
मिलन उपाय सोच बहु बिधि से, दुख समूह दरशाय।
सफल परिश्रम होय की नाहीं, चिन्ता रही सताय॥ ३॥
करत परिश्रम अथक रहत सोइ, कारज बिघ्न लखाय।
होय सफल पुरुषारथ कबहूँ, पर प्रतिकूल सहाय॥ ४॥
इंच्छित प्राप्ति सो मन की नाही, ठोकर दिलहिं दुखाय।
भोगत भोग बिघ्न भै मन मे, भोगि न भोग पुराय॥ ५॥
यहि अभ्यास प्रबल ह्वै इच्छा, निज को रही सताय।
जेहि दुख मेटन सकल परिश्रम, सो वह बढतहिं जाय॥ ६॥
त्याग ग्रहण करि स्वबश जीव सब, हानि लाभ बिलगाय।
लाभ जानि तब ग्रहण करै वह, हानि को देय बराय॥ ७॥
द्रष्टा आप पृथक है जड से, लखत दृश्य समुदाय।
भूल से ग्रहण त्याग निर्भूलहिं, स्वत सो बिलग रहाय॥ ८॥
भरम बिबश मानन्दी करि करि, सुख अध्यास बनाय।
भूल भरम मानन्दी छूटै, शुद्ध स्वरूप रहाय॥ ९॥
होय यथारथ पारख जबही, मिथ्या सुख नशि जाय।
बिबश बासना चचल समुझै, दु ख सरूप देखाय॥ १०॥
नहिं सम्बन्ध जीव औ जड़ से, निर्णय पूर्ब लखाय।
कारण कारज रहित हमेशा, अचल स्वरूप रहाय॥ ११॥
स्वत· स्वतन्त्र जीव अबिनाशी, निराधार सो आय।
जस का तसहिं जानि जो ठहरै, दुख सकलौ मिटि जाय॥ १२॥

टीका—सद्गुरु-सत्सग से भली प्रकार शोधन-विवेक करके अपने स्वरूप की परीक्षा करो॥ टेक॥ स्वरूप की परीक्षा न होने से छिन्न-भिन्न विषय भोगो के लिए रात-दिन परिश्रम मे दौडते हुए बीतता है, भीतर चिंता-शोक की अग्नि जलाती है। इसलिए इस दुख निवारण के लिए गुरुशिक्षा श्रवण कर पारखज्ञान का मनन करो, जिससे कि व्यर्थ परिश्रम और चिता सम्बन्धी सब दुख-द्वन्द्व मिट जावे॥ १॥ स्वस्वरूप को न जानने से क्या-क्या दुख होता है, उसे बताते है—भूलवश पूर्व के देखे, सुने, भोगे विषयो का टिका हुआ सस्कार उठकर जीव के सामने आ जाता है, वही सस्कार भोगो की कामनारूप अग्नि लगा देता है, तब जो अपना अचल-अक्रिय स्वरूप है वह चलायमान हो जाता है। फिर चचलता को मिटाने के लिये बिना काम का काम करने लगता है। जिन विषयों से कामनाएँ बनी थीं, उन्हीं को फिर भोगने के लिए दौडता है, यही बिना काम का काम है॥ २॥ जिस भोगवस्तु की इच्छा है, वह कब मिले, कैसे मिले, ऐसा अनत प्रकार से सोच-सोचकर अनेक प्रकार का प्रयत्न करता है। तिस

भोग-प्रयत्न में तमाम दुख देखने मे आते हैं। पहिले तो यही चिताग्नि जलाती है कि मैं जो यह भोगार्थ परिश्रम कर रहा हूँ वह फलदायक होगा या नहीं, ऐसी चिंता पेरती रहती है॥ ३॥ भोगो के लिए अटूट परिश्रम करते हुए भी सव कार्यो मे विघ्न देखा जाता है। कई विघ्न सहकर किया-कराया परिश्रम निष्फल हो जाता है और भोग वस्तुएँ नहीं मिलती हैं, तव उसके दुख की थाह नहीं रहती। यदि किसी प्रकार घातक विघ्नो को हटाकर कहीं कुछ परिश्रम सफल होकर इच्छित भोग मिल भी गये तो उनमे सवकी प्रतिकूलता का दुख सहना पडता है। जो उसमे रुकावट डालते हैं, उन सबो की विनय करके सव प्रकार उनको राजी रखना पडता है। इस प्रकार सवकी प्रतिकूलता सहनी पडती है॥ ४॥

इतने कष्ट से भोग मिलते हुए भी सर्वांग मनानुसार नहीं होते। एक न एक त्रुटि लगी ही रहती हें। इस प्रकार वडे परिश्रम से इच्छानुसार भोग पदार्थ मिले, पर हाय, यह मन का नहीं हे, ऐसी चोट प्रतिक्षण दिल को दुखाती रहती है। आसक्तिवश यदि प्राप्त भोगो को भोगता है तो उनमे भी कई विघ्नो के कारण जेसा मन चाहता ह वैसा नहीं भोग पाता, कसर ही रह जाती है। पहिले तो कई कारणो से भोगो में रुकावट न हो जाय, ऐसा भय आकर घेरता है, पुनः भयभीत होते हुए भोगो को भोगते-भोगते इच्छा पूरी नहीं होती और इन्द्रियाँ रुक जाती हैं। इन्द्रियाँ रुकते ही जिसमे आसक्ति है उस भोग के लिए छटपटाता रहता हे॥ ५॥ भोगक्रिया की आदत पड जाती है इच्छा अत्यन्त प्रवल हो जाती हे। वही इच्छा ओर लत अपने को सताया करती हे, जहॉ-तहॉ नीच मार्गों मे डालती रहती है। इस प्रकार जिस इच्छा और परिश्रम का दुख मिटाने के लिए पूर्वोक्त सव परिश्रम किया गया वह इच्छा वढती ही जा रही हे। जव इच्छा वढ रही हे तो इच्छा सम्वन्धी प्रयत्न, नाना विघ्न, प्रतिकूलता, आसक्तिजनित सव दुख साथ ही लगे हें। इससे जाना गया कि स्वस्वरूप को भूलकर विजाति विषयो में फॅमने से सिवाय दुख के ओंर कुछ नही है। इन सब दुखो का निवारण करने के लिये स्वस्वरूप को विपयो से पृथक करने की सबको आवश्यकता हे, अतएव स्वस्वरूप को यहॉ से पृथक दर्शाते ह॥ ६॥ विपयो को छोडने-पकडने वाले सव जीव स्वरूप से म्वतः स्ववश-स्वतन्त्र देखे जाते ह। वे हानि और लाभ को पृथक-पृथक करके जानते हैं। वे लाभ जानकर किमी चीज का ग्रहण करते हें ओर हानि जानकर फिर उसे त्याग भी देते हैं॥ ७॥ दुख-सुख, हानि-लाभ, मन, इन्द्रिय, देह ओर पॉच विपय सवका द्रष्टा सर्व जड वस्तुओ से पृथक हे, क्योंकि वह तमाम जड वस्तुओ को अपने से विलग ही करके देखता हे, अत. द्रष्टा जीव सर्व दृश्य जड से सदोदित न्यारा हे। विलग होते हुए भी अपने को भूलकर पृथक विषयो मे सुख मानकर जड विपयो को ग्रहण करता रहता हे। जव उसकी भूल मिट जाती है और भिन्न विपयो को भिन्न ही समझकर उनमे सुख नहीं कल्पता तव विषय वस्तुओ को त्याग देता हे, इन युक्तियो से सहज ही जीव मवसे पृथक स्वतन्त्र हे॥ ८॥

जीव ने देहोपाधि के कारण अपनी सत्यता का भास देह ओर सव विषयो मे मान-मान कर सव मे सुख की आशा वना लिया हे। यदि इस जीव को गुरुदेव की कृपा द्वारा स्वरूपवोध की प्राप्ति से भूल अर्थात अज्ञान और भरम अर्थात विपरीत भास तथा मानदी अर्थात सुख निश्चय, ये तीनों छूट जावे तो यह शुद्ध ज्ञानस्वरूप निराधार रह जावे॥ ९॥ पूर्वोक्त जड-चेतन की भिन्नता की ठीक-ठीक पारख हो जाय तो जड-चेतन की पृथकदृष्टि से मिथ्या सुख मानदी

निर्मूल हो जावे। जब अपने को वासनावश चचल दुखिया समझ लेवे, इसके साथ ही दुख की जड जगत-वासना ही है, ऐसी पारख दृष्टि ग्रहण कर लेवे तो जीव का सब बन्धन टूट जाता हैं। यदि यह विवेक पुष्ट हो जावे तो वासना-बीज निर्मूल करते-करते शरीरांत मे जड-चेतन की ग्रन्थि टूटकर जीव स्वत· निराधार स्थिर हो रहता है ॥ १० ॥ पहले कहे प्रमाण निर्णय करके देखने से चैतन्य और जड का भूल, भ्रम, मानन्दी के अलावा कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए चैतन्य जीव कारण-कार्य रहित हमेशा अचल, अखण्ड स्वरूप है। इसी से यह सर्व बन्धन को त्यागकर सहज ही स्वरूप मे स्थित हो सकता हे ॥ ११ ॥ इन विचारो से जीव स्वतः अर्थात उत्पत्ति-प्रलय रहित, जड कारण-कार्य से परे अपने आप सत्य है, अविनाशी है, निराधार है। ऐसा ही दृढ निश्चय कर स्वरूप में यथार्थ रहस्ययुक्त स्थित हो जावे, बस इसका शरीर और शरीर सम्बन्धी सब दुख छूट जावे।

शैर—निश्चय है की जीव हमारा, जड पदार्थ से पृथक अहै॥
केवल सुख भ्रम से है बँधता, सुख भ्रम तजि के मुक्त रहै॥
अत: सुक्ख भ्रम तजने हेतू, सदा कमर कसि समर जुटै॥
फिर तो विजयी जीव विजय लहि, जनम मरण सब द्वन्द्व टुटै॥ १२॥

शब्द—१६

स्वतः अकेल जीव अबिनाशी॥ टेक॥

रूप को ज्ञान नेत्र बिन नाही, घट मे जीव रहासी।
शब्द को ज्ञान श्रोत्र बिन कैसे, त्वचा शुन्य नहिं परश लखासी॥ १॥
रोग ग्रसित जेहि नासा इन्द्री, गन्ध को ज्ञान हटासी।
रसना सोई न्याय से समझौ, रस से हीन सुखासी॥ २॥
इन्द्री शस्त्र बिहीन जीव को, दृश्य सबन्ध न जासी।
अन्त करण श्रमित जब मुर्छा, मनन को ज्ञान छिपासी॥ ३॥
जो स्मरण जीव के सनमुख, तेहि को जानि जनासी।
छोडत मिलत प्रीति के तालुक, घट बढ बदलि चलासी॥ ४॥
यकरस थिरता रहत कहूँ नहिं, जहँ तक दृश्य मवासी।
सुख आशा के भंग होत ही, दिल से देत निकासी॥ ५॥
दुख मे सदा अकेले देखौ, नहिं कछु और सोहासी।
तेहि छूटन की आशा सनमुख, युक्ति अमित परकासी॥ ६॥
प्रियतन त्यागत दुखहिं छुटन हित, तब कस अन्य रखासी।
यहि ते समुझि सरल मे सकते, आपहि आप मवासी॥ ७॥
जस यह जीव रहै जो तैसहिं, सुख लस परखि निराशी।
तजि भ्रम भूल मोह जड ममता, आपहिं आप सुपासी॥ ८॥

टीका—इस जड देह से भिन्न अकेले जनैया स्वत: अपने आप हे, चतन्य है, अविनाशी है ॥ टेक ॥ पशु, पक्षी, मनुष्यादिको के स्थूल शरीर, पृथ्वी, जल, वीज-वृक्षादि, जहाँ तक रूप दिखाई देता उसका ज्ञान नेत्रद्वार से होता हे, नेत्र न हो तो देह मे जीव रहते हुए भी विविध रूप का ज्ञान नहीं कर सकता। ऐसे ही वाहरी शब्द विपय को जानने के लिए कर्ण साधन है, कर्ण न हो तो कभी शव्द का ज्ञान नहीं हो सकता तथा स्पर्श ज्ञान के लिए खाल की आवश्यकता होती हे। जहाँ त्वचा शून्य हो जाती है उसके द्वारा स्पर्श को नहीं जान सकते ॥ १ ॥ जिसकी घ्राण मे पीनस आदि रोग या अन्य कोई विगाड हो जाता हे, उसे गध का ज्ञान नहीं होता। इसलिए सुख चाहने वाले जीव को जिह्वा के विना रस का ज्ञान नही हो सकता ॥ २ ॥ उपर्युक्त इद्रिय रूप शस्त्र, साधन एव औजार के विना जीव का दृश्य पदार्थों से कोई सम्वन्ध नहीं होता। ऐसे ही अत.करण जब परिश्रम करके अत्यन्त थक जाता हे या सुपुप्ति अथवा मूर्छा अवस्था हो जाती है, तव मनन-स्मरण सम्मुख न आने से जीव को किसी भी मानन्दी का ज्ञान नही होता ॥ ३ ॥ इस प्रकार स्मरण द्वारा ही जीव सब पदार्थो का ज्ञान करके सवसे सम्वन्ध करता हे। प्रत्यक्ष जो-जो स्मरण सम्मुख होते हें उन्हीं के द्वारा वस्तुओ को स्वय जानता ओर अन्य को जनाता हे तथा स्मरणो को मुख निश्चय के अधीन पकडता है। स्मरणो मे सुख मानकर मिलता है, उन्हे बल देता है और जिन-जिन स्मरणों में दुख जान लेता ह, उन-उन को रोक भी देता हे, नहीं उठने देता। इस प्रकार जीव स्मरणो को निश्चय के अधीन कम-विशेष सत्ता देकर उन्हे बनाता, हानि समझ के बदलता तथा चलाता रहता ह। इससे यह सिद्ध हुआ कि वाह्य पदार्थों से सम्वन्ध इन्द्रियो द्वारा हे और इन्द्रियों का सम्वन्ध स्मरण द्वारा है तथा स्मरणों को कम या ज्यादा करना, सुख-दुख मानकर छोडने-पकडने तथा सत्ता देने वाला आप जीव है। इससे सहज ही ज्ञात हो गया कि सर्व दृश्य पदार्थों से अपने आप चेतन जीव न्यारा है, एकरस अविनाशी हे ॥ ४ ॥

जहाँ तक चेतन जीव ने अपने स्वरूप से पृथक दृश्य पदार्थों में सुख माना हे, वहाँ तक उन सव पदार्थो ओर स्मरणो मे वह एकरस स्थित नहीं रहता, वल्कि वृत्ति द्वारा इधर-उधर स्मरण किया करता, छोडता-पकडता रहता हे। उसका किसी से खास सम्वन्ध ही नहीं। प्रत्यक्ष देखो! जो जिस सुख के लिए जान देता है, यदि उसे पूर्ण निश्चय हो जावे कि इससे हमे सुख न होगा तो वह उसकी प्रियता को हृदय से निकाल कर फेंक देता हे, तनिक दया-मया नहीं रखता। इस पर पूर्व 'प्रणपाल' का उदाहरण स्मरण कीजिए ॥ ५ ॥ जब नेत्र-दर्द या पेट-दर्द अथवा कोई भी शोक-मोह तन-मनकृत असह कष्ट अपने को प्राप्त होता हे तो उस समय मनुष्य प्रिय से प्रिय ओर अच्छे से अच्छे भोग का अभाव कर देता है और उसे कुछ अच्छा नहीं लगता। उस समय यही सूझता हे कि किसी भाँति यह मेरा असह कष्ट मिटे। इस प्रकार उसे दुख मिटाने का ही स्मरण सम्मुख हुआ करता हे और उस दुख निवारणार्थ अनत युक्तियाँ करता रहता है ॥ ६ ॥ देखो! कितने मनुष्य अत्यंत कष्ट पाने पर सबसे परमप्रिय देह को भी छोडने के लिए तयार हो जाते हैं। कितने विप खाकर, अपने आप ही फॉसी लेकर प्रिय देह छोड देते हैं। तो भला सोचो! जव इतनी प्रिय देह को भी दुख छुडाने अर्थ जीव छोड देता है, तो देह से पृथक वस्तुए किस खेत की बथुई हे! उनका कब पालन कर सकता हे! इससे हे प्रिय! सहज ही मे अनुभव कर सकते हो कि जीव वाहरी तत्त्व और देह तथा मन श्वासादि सर्व से न्यारा हे। ज्ञान मात्र उसे अपने आप ही मे ठहरने से सुख-शांति है ॥ ७ ॥ जेसा यह

जीव तत्व-इन्द्रिय-मनादिक सबसे न्यारा है, वैसा ही न्यारा निश्चय कर साथ ही सुख मानकर जहा-जहा बँधा है वहाँ-वहाँ दुख, उलझन तथा बधन परख-परख कर उन सबसे निराश हो जावे, क्योकि ससार-बधन मे फँसाने वाला सुख ही एक लासा है। अतः सुख मिथ्या परख कर उसकी आशा न करे, उदासीनता धारणकर प्रबल वैराग्यभाव ग्रहण करे। अपने स्वरूप की भूल की जगह पर बार-बार स्वरूपभाव स्मरण करे और शरीरादि सत्यभ्रम के स्थान मे अपने चेतन स्वरूप को ही सत्य निश्चय करे तथा जो नर-नारी, अशन-वसन, पदार्थो और अपनी जड नश्वर देह मे ममता हो रही है उसे विवेक-युक्त तोडा करे और अपने आप पारख भाव मे सतुष्ट रहे। तब इस जीव को सब दुखो से छुट्टी मिल जावे और इसकी सदा मुक्ति-स्थिति हो जावे। यथा—

कवित्त

मिलने विछुडने मे सुख भोग होवने मे, देह के विछोहने मे मोह न गहतु है।
मन उद्वेगने मे भूरि-भूरि शोगने मे, दृश्य जौन होवने मे तामे न बहतु है॥
पारख मे बासने मे जग से उदासने मे, बोध से उजासने मे थीर जो रहतु है।
ऐसे मुक्ति धारने में जीव को उबारने में, बध को निवारने में युक्ति सो लहतु है॥

इस प्रकार उक्त रहस्य ही मे सुपास जानकर प्रयत्नवान होना चाहिए॥ ८॥

शब्द १७

चहत जीव अपने म आपु रहै॥ टेक॥

सुख आशा सब करत रहत जो, बस्तु अधार तहै।
तेहि का हेतु अचल है अपना, सो नहिं जानि गहै॥ १॥
नहिं अज्ञान भाव को चाहै, परखि कै बस्तु लहै।
शम चचल द्वै रूप बृत्ति के, द्रष्टा ताहि अहै॥ २॥
मिलन चहत नहिं कबहुँ किसी को, स्वत अकेल कहै।
लक्षण सबहि अबन्ध के देखौ, सत्य बिबेक जहै॥ ३॥
है इन्द्रिन सम्बन्ध हमेशा, दृश्य मे लक्ष्य बहै।
तेहि मानन्दी आप को भूला, जड़ सम्बन्ध यहै॥ ४॥
निज स्वरूप को भाव रहै तहँ, बृत्ति में थीर सहै।
चचल होत सहन नहिं तेहि से, मेटन ताहि चहै॥ ५॥
तेहि ते चंचल होत हमेशा, चल को मानि धहै।
जेहि को खोजत सो हौ खुद ही, यह नहिं जानि पहै॥ ६॥
तेहि ते भरमि रहा सब दिश मे, नहिं वह थीर भहै।
दृष्टि उलटि जब गहै आप को, बन्धन सकल दहै॥ ७॥

टीका—जीव की यही चाहना है, यही ध्येय है, यही कामना है कि हम अपने आप ही मे विराजे, अपने आप रहे, दूसरे का वहाँ लेश न हो॥ टेक॥ सम्पूर्ण जीव यही आशा करते

हैं कि मेरे को सुख हो, चाहना पूर्ण होकर स्थिरता की प्राप्ति हो, परतु जीव सुख का मिलना विषय पदार्थों के आधार मे निश्चय करता ह। इस निश्चय के कारण अपना स्वरूप ही अचल स्थिर एकरस ह उसे न जानकर ही अपनी सत्यता का आरोप जड विषयो मे करके उनमे ठहराव चाहता ह। जो जड विषय एकरस नही, किन्तु चल-विचल हैं,उनमें भला एकरस स्थिर कसे रह सकता ह। अपनी अचलता एव तृप्ति अपने ही मे ह। ऐसा न जानकर ही अपनी एकरस स्वरूपस्थिति को नही पकड़ता॥ १॥ यह जीव अज्ञान रूपी जडतम से पार है, इसीलिए कोई भी जीव अज्ञान भाव को नहीं चाहता। किसी भी वस्तु को शक्ति के अनुसार विना जाने-परखे कोई भी जीव स्वीकार नहीं कर सकता । जब ग्रहण करेगा तब जान-बूझ देख-भाल कर ही। इसका कारण यही ह कि सबका जनया जान या ज्ञानमात्र हैं। इसलिए वह हरएक वस्तु को जान-बूझ कर पकडना चाहता ह। जीव की वृत्ति के दो रूप हैं एक स्थिर वृत्ति, दूसरी चचल वृत्ति। जीव दोनो को जानने वाला ह॥ २॥ यह जीव कभी किसी से मिलना नहीं चाहता, स्वय-स्वत·[१] अकेला ही होने का सकेत देता ह। इसके सब गुण-धर्म एव चिह्न निर्बन्धता एव स्वतत्रता के ही दिखाई देते ह। पर जिसे सत्य का विवेक-विचार ह वह ही अपना निर्बन्ध स्वरूप जानकर स्थिर होता ह॥ ३॥ अनादिकाल से जीव इन्द्रियो के सबध मे रहते आया हे। इसलिए दृश्य खानी-बानी पॉचो विषयो मे इसका लक्ष्य भ्रमित रहा करता ह। उन्ही पाचो विषयो मे सुख की निश्चयता करके अपने को भूल रहा हैं। इसी भूल से सानन्दीयुक्त जड इन्द्रियो का सम्बन्ध बना रहता हे॥ ४॥

स्वस्वरूप को भूलते हुए भी अपने स्वरूप का भाव जड सम्बन्ध मे भी बना रहता हैं। जीव सर्वदा चचल वृत्ति को हटाने के लिए पच भोग वृत्ति मे भी स्थिर होना चाहता हे। कहीं भी रहे, सदेव स्थिरता ही मे सुख मानता ह। स्थिर स्वरूप होने ही से इसको चचलता सहन नहीं होती। सब चचलता कामना से होती हैं। कामना सम्मुख होते ही जीव उसे मिटाना चाहता ह॥ ५॥ चचलता का कारण कामना ह, वह जीव से सहन नहीं हे। यही कारण हैं कि जड तत्वों के पॉचो विषय जो कि सदव चचल रूप हे उसे अचल आर सुखरूप मानकर चचल वृत्ति धारण करके धोखा खा रहा हे। जीव यह नहीं जान पाता कि जिन पाँचो विषयो के भोग

---

१ जीव कोइ भी कार्य करे या किसी से भी मिले या कहीं भी जाय, सब मे अपनी दुखनिवृत्ति का हेतु मिला होता हे। शुद्ध या अशुद्ध, सकाम या निष्काम भाव से जीव हमेशा अपने दुख की ही निवृत्ति चाहता हें। इससे जीव के सामने केवल दुख ह, दुख निवृत्ति ही उसे प्रिय ह। समाज, वेभव या पाँच विषय या अन्य चेतन प्राणी के मिलने की इच्छा उसे अपनी दुख निवृत्ति के ही लिए होती हे। यह प्रत्यक्ष हे कि जिससे अपना सुख नहीं दीखता उससे कहाँ मिलता हे। जीव अपनी स्वतन्त्रता, अपना सुख, अपनी स्थिरता, अपनी दुख निवृत्ति के ही लिए सब कुछ करता हैं। इससे अनुभव हुआ कि वह अपने आप सत्य और सबसे पृथक स्वय प्रकाश स्वरूप है। इसलिए वह जड मे मिलकर भी वही चाहता हे। परन्तु चचल जड पाँच विषयो मे स्वतन्त्रता और निर्बन्धता कहाँ। जड के गुणो मे मोह करने मे जड के समान चचल होना पडेगा। इसलिए जिसे निर्बन्ध, सत्य, स्वतन्त्र होना हो वह सत्य स्वय स्वरूप का विवेक करे, जैसा कि इस शब्द मे वर्णन हैं। "तुम धोखा खाकर ठगा गये, तुम झूठे तथा बेईमान हो, तुम बेवकूफ कम अकल हो" ऐसा कोई नहीं सुनना चाहता, इससे जीव सहज ही अज्ञान से परे स्वरूप मे ज्ञान मात्र है।

से चचलता का मूल कामना बन गई है, उन्ही के सेवन से वह पुष्ट होगी या निवृत्त। यह विवेक न होने ही से बार-बार विषयो को अचल मान कर दौडता रहता है। उसे यह विचार नही है कि मै जिस अचलता, स्थिरता और तृप्ति को जड वस्तुओ मे खोज रहा हूँ वैसा तो स्वय मेरा स्वरूप ही है। इतनी ही बात यह नही जान पाता, जिससे ज्ञान स्वरूप होते हुए भी अपनी तरफ नही घूमता। ''पद—सब कुछ जान जनैया जानै सबको मानि के अरुझ रहा। अपने को वह जाने जिस दिन तब दुख द्वन्द्व से बिलग रहा''॥ ६॥ इसलिए यह जीव खानी-बानी के जालों में भटकता रहता है, जिससे कभी स्थिर नही होता। भला! यह स्थिरता की जगह पकडे बिना कैसे स्थिर हो! जब कभी यह जीव अपने से पृथक सम्पूर्ण पॉचो विषयो से दृष्टि हटाकर अपने आप ही मे स्थिर होगा तभी इसका मनोमय बन्धन नष्ट हो जायेगा और यह सदा के लिए देह दुखो से रहित होकर नित्य सुखी हो जायेगा॥ ७॥

शब्द—१८

हमारे हम हमको यादि रहै॥ टेक॥

जो जो भाव अन्य को होवै, मेटत ताहि रहै।
जानि निरर्थक ताहि काल सम, निज को निजहि रहै॥ १॥
उक्ति युक्ति बहु चितन करि करि, निजहिं को बोध रहै।
निज के हेत बिबेक दिवस निशि, नहिं भव मान रहै॥ २॥
सब सुख भाव निजहिं में रहिना, निश्चय अटल रहै।
लहि बिश्राम छॉडि दव सिन्धुहि, पूरण भाग्य रहै॥ ३॥
मिली अचल निधि छुटे न पावै, सब छिन मिली रहै।
खोजि थके जो मिला न कबहूँ, मिलि छूटे कत आप रहै॥ ४॥

टीका—विवेकवान अपनी निश्चयता को दृढ कर रहे हे। वे कहते है—हमारा जो शुद्ध चैतन्य अजर-अमर-अखण्ड स्वरूप हे, उसका हमे सदैव स्मरण रहे॥ टेक॥ स्वय स्वरूप से पृथक इन्द्रिय-गोचर पदार्थो मे राग बनता रहता है, हम उसको स्वरूपबल से देख-देखकर मिटाते ही रहेगे। स्वस्वरूप से पृथक सम्पूर्ण जडभावना-जडासक्ति, जडक्रिया निरर्थक है। निरर्थक ही नही काल के समान है। जिससे सम्पूर्ण दुखो की सिद्धि हो उसे काल कहते हे। अपने से पृथक दूसरा जहॉ तक भाव बने वहॉ तक उन सब वृत्तियो को अत्यत दुखदायी जानकर उन्हे मिटाते हुए वृत्ति निरोधक हम चैतन्य अपने आप ही शेष रहेगे॥ १॥ विजाति बन्धन निवृत्ति के लिए नाना उक्ति-तजबीज, और युक्ति-तरकीब का बार-बार मनन-विचार कर-कर अपने स्वरूप की बोधवृत्ति को हम पुष्ट रखेगे, अपने स्वरूप को सबसे पृथक करने ही के लिए हम रात-दिन भली प्रकार द्रष्टा-दृश्य का विवेक करेगे, जिससे भवसिधु रूप देखा, सुना, भोगा, माना हुआ चित्त मे जो चिन्तित तरग है उस भास अध्यास का मै परखने वाला भिन्न हूँ ऐसे विवेक से शरीराभिमान, विषयो की मानन्दी जड भाव इन सबो का लेश भी न रह जायेगा॥ २॥ सब सुख का हेतु अपने नित्य स्वरूप मे साधनयुक्त रहना ही है। यह यथार्थ निश्चय हम अटल रक्खेगे। इस अटल निश्चय से हमारी स्वरूपस्थिति मे निष्ठा बढकर हमे अचल विश्राति प्राप्त होगी। इस नित्य स्वरूपस्थिति मे विश्राम लेकर हम दावाग्नि-चिता

समुद्र से पार हो जावेगे। अज्ञान सहित सकाम कर्म, उसका फल त्रिविध ताप, जड़ग्रन्थि, ये सब दावाग्नि त्यागकर सर्व परीक्षक पारख स्वरूप में स्थिति होना ही पूर्ण भाग्य है। इस पूर्ण सौभाग्य को ही हम प्राप्त करके अपने में विराजेंगे॥ ३॥ श्रीपारखीगुरु की कृपा से हमें स्वरूपज्ञान की अविचल निधि मिल गयी है। अब हम इस अचल-स्वरूप-धन को छोड़ नहीं सकते। यदि हम स्थिति से डिग गये तो फिर स्वरूपनिधि को छोड़कर तुच्छ विषय को ही परमधन मानकर दर-दर के भिखारी बन जावेंगे। अतः सोते-जागते, चलते-फिरते, विवेक-वैराग्य और गुरु-भक्ति द्वारा प्राप्त अपने अचल स्वरूपनिधि की ही हम नित्य रक्षा करेंगे। जिस अखण्ड-अचल धन[१] को खोजते-खोजते हम थक गये, हैरान हो गये, आज से पूर्व अनन्तकाल बीत गये, पर वह धन न मिला कि जो प्राप्त होकर फिर न बिछुड़े, अपने से अलग न हो, जिसमें जरा-मरण त्रिविध ताप का भय न हो, जो सदा एकरस नित्य तृप्त हो। सो आज इस देह में बन्दीछोर सद्गुरु की कृपा से अचल स्वरूप ज्ञान-धन और उसकी रक्षा का सब भेद मिल गया है। इस प्रकार मिले हुए नित्य धन को यदि हम किसी विषयासक्ति या प्रमाद के कारण खो देवे, भूल जावे, तो फिर हमारे जीने को धिक्कार है, इस जीने से मर जाना अच्छा है। यदि स्वरूप को प्राप्त कर फिर उसकी रक्षा के उपाय में लीन न होकर अन्य विजाति जड-वृत्तियों में भटक जावे, तो हमसे हतभागी कौन होगा! इसलिए हमारा जीवन तभी सफल और धन्य है जब हम स्वरूप-धन की सत्साधन द्वारा रक्षा करते रहे। अतः अब से हम स्वरूप रक्षक स्थितिपथ को कभी न छोड़ेंगे। प्राण अर्पण करके स्वरूपरक्षक सत्साधन में लौ लगाये रहेंगे॥ ४॥

शब्द—१९

न पास कोई हमरे खोजे मिल बस्तु॥ टेक॥

यादि होत तब माता हमरे, पिता बन्धु परतीत।
भाई भगिनी भाभी दरशी, पित्ते चची मनीत॥ १॥
नाना नानी मामा माई, मौसि मौसिया मीत।
घरणी पुत्र धिय मनन मात्र सब, यह निश्चय विपरीत॥ २॥
देश गाँव सब मानि सबन्धहिं, जो जो दृश्य लखस्तु।
स्ववश निराले हम हैं सबसे, बिना यादि नहिं लेश रहस्तु॥ ३॥
जहँ जहँ गये बसे प्रिय माने, मोहे जिनके माहिं।
बहुत काल से ते सब छूटे, रहा सबन्ध न जाहि॥ ४॥
बिन उनके नहिं हानि परै कोइ, नहिं तन जीव के काज।
यादि होत सब दुख सुख वैसहिं, लखि असमंजस आज॥ ५॥
बिना भये तेहि साथ बना है, मानि क्रिया अभ्यास।

---

१ कु०-मेरे मन आयै बस्यो, सर्व परीक्षक आप। आठ पहर चौंसठ घडी, दूजो और न ताप॥
दूजो और न ताप, राग रोष कुछ नाहीं। परखि परखि मन वेग, डाल करतव्य लहाहीं॥
सत साधन सम्पन्न है, भोग त्याग सताप। रहत आप मे थिर, अजर अमर निधि आप॥

सकलौ बन्धन ऐसहि जानौ, यहि से नही सुपास॥ ६॥
नेत्र के वाहेर रूप जानिये, शब्द श्रवण तक भीर।
नासा गन्ध सबन्धहि होवै, रस रसना के तीर॥ ७॥
त्वचा पास सपरश जड तत्वन, जीवन निकट न जाय।
शब्द स्पर्श रूप रस तैसहिं, निज से नहीं भेटाय॥ ८॥
जो जो चितन होय सामने, तेहि मे खुद जब लीन।
श्रवण नासिका नेत्र न दरशै, रसना त्वचा से हीन॥ ९॥
इन्द्रिन भिन्न रहत हम यहिसे, जागृत माहिं सपष्ट।
स्वप्न माहिं नहिं जागृत सनमुख, तन धन हानि ततष्ट॥ १०॥
लीन चतुष्टय सुषुपति माहीं, नहिं स्मरण को दृश्य।
अनुभविता जीव मानि सुख दुख को, रहा ताहि के बश्य॥ ११॥
जागृत स्वप्न सुषोपति पुनि पुनि, होत जात लखि पेश।
लहि मानन्दी जीव दुखी है, नहिं तन दृश्य को लेश॥ १२॥

टीका—विवेकवान विवेक करके स्वरूप का मनन कर रहे है, विचार पूर्वक शोध करने से मुझ चैतन्य के समीप मे कोई भी विजाति वस्तु नही मिलती॥ टेक॥ स्मरण होने पर ही मुझ चैतन्य को सबकी प्रतीति होती है। स्मरण होने से ही अमुक मेरी माता, अमुक मेरे पिता हैं, तथा भाई, बहिन, भोजाई, चाचा, चाची इत्यादि जो-जो सर्व मानन्दी करके पूर्व मे अध्यास टिकाये गये है उन सबों का स्मरण द्वारा मुझे ज्ञान होता और मैं ही उन्हें मानता रहता हूँ॥ १॥ नाना, नानी, मामा, माई, मौसी, मौसिया अन्य मित्रादि और विवाहिता स्त्री, पुत्र, पुत्री, सबो से मानन्दी युक्त स्मरणमात्र ही सम्बन्ध है। अपने स्वरूप से पृथक जान लेने पर सब उलटा ही देखने मे आता है, क्योकि जड और चैतन्य को पृथक कर लेने पर सर्व नात-गोत, सर्व वर्णाश्रम, सर्व मानन्दियाँ मृगजलवत भास मात्र ही हो जाते है। फिर भी उन्हे, हम सत्य मान रहे हैं। इसमे उलटी समझ ही कारण है॥ २॥ यह हमारा देश-गाँव है, यह बिराना देश है, यहाँ हम जन्मे है, इस प्रकार का विश्व अभिमान की मानन्दी हमने पूर्व मे टिका रखी है। जो कुछ हमने मान-मान कर अध्यास गढ रखा है, वही-वही याद हो-होकर सिनेमा चित्रवत अतःकरण मे दृश्य होता रहता है। सब कुछ बाहर चीजे पडी हो पर उनका स्मरण न हो, तो उनके हानि-लाभ से मेरा कुछ सम्बन्ध नही। यदि स्मरण हो जाय तो वह वस्तु न होने पर भी होने के समान ही उसके हानि-लाभ हमे सत्य प्रतीत होने लगते हैं। अतः स्मरण द्वारा ही हमारा सबसे सम्बन्ध है। स्मरण तथा अध्यास को त्यागकर हमारे मे गन्धमात्र भी कुल-कुटुम्ब, वर्णाश्रम, विषय, इन्द्रिय आदि का सम्बन्ध नही हे। मै पूर्ण स्वतन्त्र और सबसे पृथक हूँ। हमारा स्वरूप सर्व बन्धनो से पृथक है॥ ३॥

पहिले जहाँ जिस देश-गाँव मे रहते थे, जिन वस्तुओ या प्राणियो से प्रियता किये थे, जिनमे इतना मोह था कि क्षण भर भी उनका वियोग सहन नहीं होता था, अब उनके बिछुडे बहुत दिन हो गये। उन सबो का सम्बन्ध अब नही रह गया॥ ४॥ अब उन प्राणियो के बिना हमारी कुछ हानि नही दीखती, न तो उनके बिना शरीर के निर्वाहादि मे त्रुटि पडती है और

न तो जीव के विवेक-विचार ही मे कुछ घाटा है। फिर भी पहिले के देश-गाँव तथा सगे-सम्वन्धियो का जव भाव युक्त स्मरण हो आता है तब पहिले ही सरीखा उनमे हानि, लाभ, दुख और सुख प्रतीत होने लगते हैं। ऐसे निष्प्रयोजन स्मरण उठने पर दिल मे दुख होने लगता है॥ ५॥ जैसे पूर्व के सगे-सम्वन्धी न होते हुए भी और उनकी कोई आवश्यकता न होने पर भी मात्र स्मरण द्वारा पूर्व-जैसे ही दुख-सुख का सम्वन्ध होता है, वैसे ही वर्तमान काल का भी हाल हे। इन दृश्य चीजो से जीव का कोई सम्वन्ध नहीं है, तो भी इनमे सुख मान-मान कर देख, सुन, भोग-भोगकर नाना क्रिया द्वारा सब आदत डाल-डालकर स्मरण द्वारा क्षण-क्षण दुखी होता रहता है। इन अन-होते वन्धनो से ही मानन्दी वश जीव को स्मरण हो-होकर क्षणमात्र भी छुट्टी नहीं मिलती। हर्ष, शोक, राग, द्वेष, कामादिक मिथ्या विकार सताते ही रहते हैं॥ ६॥ नेत्र के सामने किसिम-किसिम के रूप दिखाई देते हैं। तमाम शव्दो की चोट कानो तक आती है। नासिका से सुगध-दुर्गन्ध का सम्वन्ध होता है। जितने षटरस हैं वे जिह्वा तक ही रह जाते हैं॥ ७॥ जडतत्वो का स्पर्श चमडी तक ही होता है। इस प्रकार जीव के समीप मे जडतत्व नहीं आते। वैसे ही जडतत्वो के विषयो का भी हाल है, अर्थात अपने शुद्ध चैतन्य से शव्द, स्पर्श, रूप, रस आदि विषयो की भेट तक नहीं होती, क्योकि स्मरण के विना किसी विषय तथा तत्वो की प्रतीति ही नहीं होती॥ ८॥ अप्रतीति का सम्वन्ध केसा! अतः-करण मे जो-जो मनन होता हे, जव उस मनन मे जीव तदाकार हो जाता हे, वह चलते-चलते या बैठे-बेठे या लेटे-लेटे या आँखे मूँदे-मूँदे दुखी-सुखी होने लगता है। उस समय भीतर कान, नाक, आँख, जिह्वा और त्वचा कुछ नहीं दिखाई देते। मनन-चिंतन द्वारा ही भीतर-भीतर वृत्ति के अनुसार ज्ञान होता रहता हे। इससे प्रत्यक्ष हुआ कि जीव मे स्थूल वाह्य इन्द्रियाँ नही हैं, न तो जीव का स्थूल से प्रथम मुख्य सम्वन्ध ही है॥ ९॥

अनुभव है कि वाह्य गोलक इन्द्रिय-समूह तो वाहर ही हे और भीतर केवल चिंतन द्वारा दुख-सुख हो रहा हे, इससे स्पष्ट हुआ कि जीव स्थूल इन्द्रियो से पृथक है। दूसरी वात स्वप्न मे भी जागृति का अभाव हो जाता हे। अर्थात जव सो जाते हं, पडे-पडे नाना स्वप्न का अनुभव करके दुखी-सुखी होने लगते है। उस समय समीप ही धनादि पदार्थों का कोई हरण करे अथवा शरीर ही नाश करने को कोई तत्पर क्यो न हो, सोने वाले को कुछ मालूम नहीं होता। कोई स्तुति-निन्दा करता हो तो भी ज्ञान नहीं होता। इससे जाना गया कि जागृति की इन्द्रियाँ जड हैं। उनके द्वारा जो ज्ञान करने वाला था उसको इस समय स्वप्न का आवरण ह। स्वप्न-आवरण मे जागृति इन्द्रियो का अभाव होते हुए भी जीव को स्वप्न का ज्ञान हो रहा है। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि जीव के स्वरूप मे जागृति की इन्द्रियाँ और इन्द्रिय सम्वन्धी कोई भी पदार्थ नहीं है॥ १०॥ पुन मुझ चेतन्य के स्वरूप मे स्वप्नादि कोई स्मरण भी नहीं है, क्योकि चित्त, मन, वुद्धि, अहकार सुपुप्ति अवस्था मे जव लीन हो जाते हैं, वीजरूप हो जाते हैं, तव कोई भी स्मरण मुझ चेतन्य के सामने नहीं पडता। जागृति और स्वप्न मे स्मरणो द्वारा मैंने सव जाना और सुपुप्ति मे कोई स्मरण-सकल्प न रहने से मेंने कुछ नहीं जाना। इस प्रकार भाव रूप वृत्तियो को आर सुपुप्ति मे केवल जगत अभाव वृत्ति को जीव अनुभव कर तथा उनमें सुख-दुख मानकर उसी सुपुप्ति आवरण के वश रहता हे॥ ११॥ मुझ चेतन से पृथक मेरे सामने जागृति, स्वप्न, सुपुप्ति अवस्थाएँ वार-वार चलचित्रवत अदल-वंदल कर आया-जाया करती हैं। वे सव मेरे सामने प्रत्यक्ष दृश्य हे। मे उन सवो को देखने वाला द्रष्टा भिन्न हूँ। भिन्न होते

हुए भी अपने से सबको भिन्न न जान कर सबमे सुख मान-मान भूलवश हम दुखी हो रहे हैं। इस शुद्ध विवेक से देखने पर भूल तथा मानन्दी त्यागकर मुझ चैतन्य स्वरूप से दृश्य देह, इन्द्रिय और उसके सम्बन्धी कोई पदार्थ का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। सर्व का परीक्षक, सर्व से भिन्न मैं ज्ञान स्वरूप चैतन्य हूँ। इस प्रकार स्वरूपदेश मे जगत का अत्यन्ताभाव जानकर जगत-वासना से रहित हो स्थिर होना चाहिए॥ १२॥

शब्द—२०

गहौ मन मोक्ष को भाव अमी, गुनौ मन मोक्ष स्वरूप अमी॥ टेक॥
जेहि की महिमा अमित सनातन, सुर नर मुनि जेहि भाव धमी।
राक्षस दैत्य चाह जेहि करहीं, बिन गुरु भेद न पाय तमी॥ १॥
मन मनसा जहँ मूल से नाशत, सकल बिकार खमी।
भ्रम करि उलटि जाहि हित विषयन, भ्रमत जीव थिति अचल भमीं॥ २॥
पर कहँ मिलै मृगा जल बारिधि, जब लगि भेद न ताहि लमी।
कोई ईश भल मोक्ष को चाहत, कोई ब्रह्म अद्वैत जमी॥ ३॥
सर्बानन्द होय जग पूरण, जहँ को ताहि टमी।
सो गुरु लाय किह्यो मोहिं निकटै, जो ठहराव पमी॥ ४॥
नहिं उद्योग फिक्र जहँ कोई, परबश होय न कबहुँ कमी।
नहि परतन्त्र चाह को धारा, राग द्वेष नहिं खाय गमी॥ ५॥
काम कलेश जक्त जहँ नाहीं, लोभ मोह भय क्रोध घमी।
सकल कामना अंत होय जहँ, सोई मोक्ष समी॥ ६॥

टीका—विवेकवान मोक्ष-विचार को दृढ कर रहे है—हे मन! मुक्ति की दृढ निश्चयता ही अमृतरूप है, उसे तू धारण कर। दुख से रहित मुक्ति जो कि सदा अक्षय है, उसी का मनन करो॥ टेक॥ जिस मुक्ति की महिमा अनत है और सदा से ही चली आ रही है, जिस मुक्ति की इच्छा सुर—सतगुणी, नर—रजोगुणी, मुनि—मननशील सब करते आ रहे है और तमोगुणी—राक्षस-दैत्य[1] भी जिस मुक्ति की चाहना करते रहते हैं उसका स्मरण करो। सब जीवो का शुद्ध स्वरूप मुक्तरूप होने से स्वाभाविक सब को मुक्ति अर्थात परतन्त्रता से छूटने की इच्छा तो होती है, परन्तु बिना सद्गुरु मिले उस मुक्ति के भेद को कोई जान नहीं पाता। यथा—"जिसको कहो सब फन्द है, सो मोह वश मानै नही। सद्गुरु उपदेश बिन, पारख कोई जानै नही"॥ १॥ मुक्त स्वरूप उसी को कहते हैं जहॉ पर सर्व उपाधि की जड—मन, मनसा, इच्छा, वासना, सकल्प, स्मरण, चिंतन जडमूल से ध्वस हो जाते है। जब जिसमे इच्छा-वासना ही नही, तो सर्व विकार कहॉ! सर्व विकार है जिससे जन्म-मरण आवागमन की सिद्धि हो—अज्ञान, भूल, भ्रम, विपरीत क्रिया, विषयासक्ति, देह की ममता, हता, खानी-बानी की सुखासक्ति, मिथ्या सिद्धात। ये सब विकार जिसमे नही हैं, वही मुक्तरूप सर्व का पारखी

---

१ दोहा—परद्रोही परदार रत, परधन पर अपवाद। ते नर पामर पापमय, देह धरे मनुजाद॥ रा०॥

पारखस्वरूप जानना चाहिए। मुक्त-सत्यस्वरूप को भूलकर भ्रम से उलट के विजाति जड विषयो मे सव जीव चक्कर काट रहे हैं, अपने स्वरूप की स्वाभाविक अचलता, नित्यता, तृप्तता, इच्छा पूर्णता को जड़ विषयो मे ढूँढ रहे हैं॥ २॥

परन्तु जो वस्तु जहाँ नहीं है वहाँ ढूँढ़ने से उसकी कैसे प्राप्ति होगी! "लड़िका काँधे गाँव गोहारि" अथवा "वस्तू अतै खोजै अतै, क्यो कर आवै हाथ" तद्वत धूप की किरणो मे जैसे जलराशि की कल्पना करके मृग दौड़ता है, पर जव तक कि वह सच्चे और झूठे जल का भेद न जाने तव तक त्रिकाल मे मृग की तृषा आशामात्र धूप की जलजली से नहीं मिट सकती है। ऐसे ही जव तक वोध तथा रहनीयुत सद्गुरु से सव जाल परख कर असत सिद्धान्तो का त्याग और सर्व परीक्षक अपना स्वरूपवोध को न ग्रहण करेगा, तव तक मुक्तिपद कदापि नहीं मिल सकता। यद्यपि कितने ईश्वर मे मिलकर मुक्ति मानते हैं, पर ईश्वर से वार-वार उत्पत्ति, पालन, सहार का चक्कर मानने से वह मुक्त रूप केसे कहा जा सकता हे? "चौ०—सृजत हरत पालत करि माया। जग प्रपच से भिन्न न राया॥" और कितने अद्वैत ब्रह्म मे स्थिति मानते हैं॥ ३॥ (१) अस्ति, (२) भाति, (३) प्रिय[१] या सत, चित, आनन्द या विषयानन्द, ब्रह्मानन्द सम्पूर्ण अग-जग अपनारूप मानकर जहाँ से उपजे थे वहाँ फिर समा रहे, क्योंकि—

दोहा—*"ब्रह्म जगत का बीज हे, जो नहिं ताको त्याग।*
जगत ब्रह्म मे लीन हे, कहो कौन वैराग॥"

जैसे तेली का वेल सवेरे से शाम तक चलता ही रहता है पर संन्ध्या को आँख के ढोका खोलने पर जहाँ का तहाँ, तद्वत परिश्रम करके चतुष्टय साधन सम्पन्न हो वेदात श्रवण-मनन करने के पश्चात देखा तो सव जगत का रूप ही ब्रह्म ठहरा, फिर तो विषयानन्द मे भी ब्रह्मानन्द का अनुभव करके जगत-जाल मे पचने लगे। ब्रह्मज्ञानी होने के पश्चात वेदांत ग्रन्थो मे कहा हे—

दोहा—*जेसी विधि अज्ञान मे, चलत हतो जेहि रीति।*
तैंसी विधि अवहूँ चले, तजै करम से प्रीति॥ अ० प्र०॥

---

१ अस्ति-है, भाति-भासता है, प्रिय-आनन्दरूप हे। जैसे—यह घट हे, यह अस्ति ओर यह घट गोल ह, यह भाति। घट मेरे काम का है, यह प्रिय-आनन्दरूप हे। इस प्रकार सर्व पदार्थ भासमान तथा काम का होने से सवमे सत-चित-आनन्दरूप परिपूर्ण भरा हुआ या भूमा सर्व का अधिष्ठानरूप ब्रह्म विराजमान हे। पर ऐसा मानने से जड-चेतन का पृथक-पृथक निर्णय नहीं हुआ। जव जड़ अपने गुण-धर्मों मे युक्त है और चेतन अपने गुण-धर्मों से युक्त प्रत्यक्ष अनुभव है, तव दोनो को एक मान लेना या एक से दूसरे की उत्पत्ति कह देना अथवा सव जीवो को एक चेतन मानकर जड मे मिला देना भ्राति ज्ञान नहीं तो क्या है? इस ज्ञान से पुन -पुन. जगत में आना-जाना वना रहता हे। जो सव कुछ चेतन हे तो जड क्या हे? जव जड तत्त्व नहीं है तो उनके गुण-धर्म अलग-अलग क्यो प्रत्यक्ष हो रहे हैं? इत्यादि।

चौपाई—जो त्रिकाल कोई दूसर नाहीं। वन्ध मोक्ष उपदेशत काहीं॥
जो आतम इक रहत असगा। स्वप्न भूल केहि होत प्रसगा॥

इस प्रकार असंग बनकर अग्नी की भाँति विषयासक्त हो रहे, इससे जहाँ के वहाँ ही बधमान रहे। 'जहँ को ताहि टमी' की कथा इस प्रकार है—

दृष्टांत—एक मियाँजी को अफीम खाने की लत पड गयी थी। यहाँ तक कि अफीम के पीछे अपनी तालुकेदारी बेंच डाली। अंततः खाने को भी मुँहताज बन गये। एक बार मियाँजी से बीबी ने कहा—आपसे कुछ काम भी नहीं सधता, घर मे अब कुछ रह नहीं गया है, इसलिए आप हल्दी, मिर्चा, नमक, तम्बाकू आदि का व्यापार कर लीजिए। मियाँजी को मंजूर हुआ और घोडे पर सौदा लादकर नौकर के साथ चल दिये। "जैसा अगुआ वैसा पिछुवा" मियाँजी का नौकर भी अफीमची था। दोनो अफीम खाकर चले थे। अपने शहर के बीच मे पहुँचकर दोनो नशे मे चूर होने लगे। फिर सामने एक बरगद के वृक्ष मे घोडे को बाँध मियाँ नौकर से कहने लगे—क्यो जी! हम दोनों करीब आठ-दस कोस चले आये होगे, अब सुस्ताना चाहिये। हुक्का पीकर तथा इस शहर का नाम पूछ कर किसी अफीम खाने वाले मित्र के पास चलना चाहिए। दोनों हुक्के को चढा गुडगुड़ी पीने लगे। दोनो ने कहा—वाह! क्या खूब सौदा हुआ, रुपया भी खूब कमाये, अब चलना चाहिये। घोडा और समान को दोनों भूलकर आगे बढे, नौकर तो कहीं रह गया। मियाँ ने एक से पूछा—इस शहर का क्या नाम है? उसने शहर का नाम बताया।

मियाँजी अपने ही शहर का नाम सुनकर कहने लगे—"वाह खुदा तेरी कुदरत पै कुरबान, तेरी बडी भारी है शान। जो मेरे शहर का नाम, वही इस शहर का नाम॥" फिर आगे बढ कर मियाँजी ने एक से पूछा—यहाँ कोई अफीमची दोस्त रहता है? उसने कहा—हाँ! एक मियाँजी इस शहर में इसलिए प्रसिद्ध हैं कि उन्होने अपनी सारी तालुकेदारी अफीम के नशे मे ही बरबाद कर दी। यह बात सुनकर पुनः मियाँजी कहने लगे—"वाह! खुदा तेरी कुदरत पै कुरबान, तेरी बडी भारी है शान। जो मेरा नाम वही मेरे दोस्त का भी नाम॥" फिर आगे बढते-बढते अपने ही घर के फाटक पर मियाँजी पहुँच गये। उस समय उसकी दासी वहाँ खडी थी। उसने घर मे जाकर बीबी से कहा—देखो! मियाँजी लौट आये, घोड़ा और सौदा गायब। बीबी यह देख बहुत अप्रसन्न हुई और खीझ कर लोंडी से बोली—जा! मियाँ को ठहरा, नही तो वह नशे मे कहीं का कहीं गिर पड़ेगा। या अल्लाह! कैसी बला मेरे सिर मढ़ दी! ऐसा कहकर बीबी रोटी बनाने लगी। दासी ने मियाँजी को कमरे मे ले जाकर ठहराया। मियाँजी ने कहा—टका दूँगा। फिर बोले-"वाह! खुदा तेरी कुदरत पै कुरबान, तेरी बड़ी भारी है शान। जैसी मेरी दासी और मकान, वैसे ही यहाँ भी सामान॥" इतने मे मियाँजी की बीबी दूध और रोटी लेकर आई, मियाँजी बोले—"यह खाना भी टके मे ओर तूँ भी टके मे। वाह! खुदा तेरी कुदरत पै कुरबान, तेरी बडी भारी है शान। जैसी मेरी बीबी ओर खान, वही यहाँ भी अजब मिलान॥" बीबी ने एक थप्पड दिया और मियाँजी से बोली—क्यो रे कमबख्त! घोडे और सौदे को क्या किया? हाय! तेरे इस नशा ने सर्वस्व विनाश करके तुझे इस प्रकार गरीबी दिया कि अब खाने तक को भी मिलना कठिन है।

मियाँ के समान जीव है। इसको विषयरूप नशा की आदत पड गई हे, जिससे इसकी सब विशेषता नष्ट हो रही है। क्षण-क्षण में काम-क्रोध, राग-द्वेष, ससार के स्वार्थ-झंझटो से सताया

हुआ इस कुटुम्व-जाल को त्यागकर कहीं सन्यासी, उदासी या किसी सम्प्रदाय मे जाकर शास्त्र-वेद पढने लगा। पढते-पढते उसी पूर्व देहाध्यास सस्कारो के चक्करो मे घूम-घूमकर वाणी प्रमाण से देखा तो जगत को अपना रूप सुवर्ण-भृपण न्याय माना, जेसा कि सुन्दर दास कह रहे हैं—

कवित्त

तोहि मे जगत यह तूँहि है जगत माहि, तोमे अरु जगत में भिन्नता कहाँ रही।
भूमि ही ते भाजन अनेक विधि नाम रूप, भाजन विचार देखे उहे एक हे मही॥
जल से तरग फेन वुदवुदा अनेक भाँति, सोउ तो विचार एक वहै जल हे सही।
जेते महापुरुष हैं सबको सिद्धान्त एक, सुन्दर अखिल ब्रह्म अन्त वेद यूँ कही॥

पहले तो वेदान्त शास्त्र मे जड-चेतन का पृथक-पृथक निर्णय किया जाता हे, परतु वाद में दोनो को कारण-कार्य मान कर एक मे मिला दिया जाता है। अत. पूरण साहिव कहते हैं—"नाना प्रकार से तरने का उपाय वेद किसको कहता है और कान तरता है? अद्वैत उपदेश तो सवने किया, पर द्वेत सबन को भासा, जो द्वैत नहीं भासा तो किसको अद्वैत उपदेश किया? फिर द्वैताद्वेत एक करके बीज-वृक्ष न्याय ठहराया। जव विज्ञानमय व्रह्म जाना तव ज्ञान-अज्ञान दोनो समभाव हुआ, तें-में कुछ रहा नहीं, बँधा कोन, छूटा कौन? "सारा दिन पिसान पीसा, चलनी मे उठाया, हलाय के देखा तव खाली का खाली पाया। "साखी—मृगतृष्णा का तोय अरु, वाँझपुत्र को न्याय। अस विचार वेदान्त का, अत न कछू लखाय ॥" "विना गोपाल ठौर नहि कतहूँ, नरक जात धौं काही" अर्थात जो सर्वत्र चेतन परिपूर्ण है या विराट रूप ही है, नरक चोरासी उससे अलग रहा नहीं, तो फिर वेदात सिद्धान्त की अधिकाई ही क्या? कोई जगत कहता हे, उसी को वेदाती व्रह्म कहते हैं, फिर तो जगत का चक्कर जन्म-मरणादि व्रह्म के पीछे लगा ही है। इस प्रकार जगत-व्रह्म की वासनारूप वीवी के थप्पडो से यह जीव पीटा जा रहा है और जहाँ के तहाँ फिर गर्भवास ही मे टँग रहा हे। विवेकी की शरण विना व्रह्म भास और ईश्वर भास के मिथ्यात्व की परीक्षा नहीं होती। बार-बार खानी-वानी सुखाध्यास के द्वारा गर्भ से वाहर, वाहर से गर्भवास मे आता-जाता रहता है। यह अनत काल की मिथ्या भूल गुरु ने छुडाकर अपना मुक्त स्वरूप समीप ही सुझा दिया। अव उसी गुरुदृष्टि को लेकर ठहराव करना अपना कर्तव्य हे। जिस शुद्ध स्वरूप मे किसी प्रकार का परिश्रम नहीं है, जिसमे फ्रिक, चिन्ता, शोक का लेश नहीं हे, जो न कभी परवश होता हे और न तो जहाँ किसी प्रकार की कमी ही हे, न परतत्रता है, न तो कामना की धारा है ओर जिसमे किसी का राग-मोह तथा वेरभाव ये दोनो नहीं हैं, पुन: जहाँ किसी प्रकार की कमी तथा शोक नहीं है, सर्व देहोपाधि रहित ऐसा मुक्ति का स्वरूप हे॥ ५ ॥ काम की चेष्टा ही दुखपूर्ण जगत का रूप है वह जहा पर नहीं है ओर लोभ, मोह, भयरूप जलन भी जहा नहीं है और जहाँ सर्व कामनाओ का अत्यन्त अभाव हे, वही मोक्ष का स्वरूप घट-बढ रहित एकरस अखण्ड ज्ञान-मात्र है। सयोग-वियोग एव समस्त द्वन्द्वो से परे अपना नित्य प्राप्त अपरोक्ष अनुपम मुक्त स्वरूप है॥ ६॥

शिक्षा—शुद्ध रूप का दृढ निश्चयकर तथा सर्व जडवासनाओ का उच्छेदन कर मुक्त रूप ठहरना चाहिए, जिससे कि दुखराशि संसार का फिर दर्शन न हो।

प्रसंग—६-भूल पश्चाताप

शब्द—२१

बिपति हम अपनी काहि सुनावैं।
निज कर सब दुख उतपति कीन्हे, नहिं कोइ और बनावैं॥ टेक॥
आपे भूलि भरमि दुख कीन्हें, सुखहि नाम कहि गावै।
पच विषय अध्यास अनादी, भोगि भोगि उपजावैं॥ १॥
सो अदती अब सनमुख ह्वै ह्वै, बारम्बार खिचावैं।
तेहि दुख मेटन चहत हमेशा, भोगि कै पुन. बढावै॥ २॥
भोगति बढै सो जानति रहते, तबहूँ वहै सोहावै।
यह दुरदशा लखा हम अपनी, नहिं आसक्ति हटावै॥ ३॥
तेहि ते अधम कौन हतभागी, जो फिरि फिरि गफिलावै।
दुख भोगै परयत्न करै नहिं, निज कर शत्रु बनावै॥ ४॥
काम लखै तब काम नही हम, परखत तुरत नशावै।
दै दै तलब ताहि बल कइ कै, सुख मानन्दी लावै॥ ५॥
लै लै कर वह प्रबल भयो अब, लै निज शक्ति दुखावै।
शक्ति दिहे बिन शुन्य सरिस वह, निज बल निजहिं रहावै॥ ६॥
जड़ चेतन तजि काम न कोई, निज निज शक्ति रहावै।
क्रोध लोभ मोह सब तैसहिं, सुक्ख भूल किढ़िलावै॥ ७॥

टीका—हम अपने दारुण दुख को किससे कहे। हमने ही तो अपने हाथो सब दुख बना लिया है, हमारे दुख को गढने वाला और कोई दूसरा तो है नहीं। यह जीव किसके ऊपर दोष देने का दावा करे जबकि यह अपने हाथो से ही रस्सी बट-बटकर गले मे बॉध फॉसी पर लटक स्वय तलफ रहा है। अहो! इससे बढकर और कौन दुख होगा?॥ टेक॥ अपने सत्य स्वरूप को भुलाकर अपनी सत्यता जडविषयो मे मान कामनाकृत दुखो को आप जीव ही ने गढ लिया है। अब उसी भोग और कामनारूप दुख को सुख नाम से निश्चय कर रहा है। इस प्रकार अनादिकाल! से विषय-भोग भोगकर पच विषयो के अध्यासो को जीव स्वय बनाते आया है॥ १॥ अनादिकाल की भोगी हुई विषय-वासना की आदत पड गई है, अब वही आदत इस चेतन के सामने स्मरण हो-होकर बारम्बार खींच रही है, उस आदत-दुख को मिटाने के लिए यह जीव हरदम चेष्टा करता रहता है। साथ ही जगत-भोग रूप घृत डालकर फिर-फिर वासनारूप अग्नि को प्रदीप्त कर रहा है॥ २॥ भोग विषयो से वासना व्याधि बढ जाती है, यह सरासर देखता और स्वय अनुभव भी करता है, तब भी प्रतिदिन-प्रतिक्षण वही विषयभोग जीव को अच्छे लगते हैं। इस प्रकार हम अपने पतन होने की दुर्दशा, दुर्गति, चेष्टा, क्रिया देखते है तो भी विषयासक्ति को हटाने का यत्न नही करते॥ ३॥ अहो! इससे अधमता, नीचता और भाग्यहीनता क्या होगी, जो बार-बार ठगाते हुए भी उन्हीं पच विषयो मे भूल जाते है। शारीरिक-मानसिक सब दुख पाते हुए भी आसक्ति दुख छुडाने के लिए सद्रहस्य

ग्रहणरूप पुरुषार्थ मे हम मन नहीं लगाते। "अहह! मन्द मति अवसर चूका। अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका॥" इस भावानुसार अहो! हम अपने हाथो विविध भोग-आदत-स्वभाव, कामादिक शत्रुओ की रचना कर रहे हैं, यह मेरी नीचता की हद है॥ ४॥ विवेक करके देखने से 'काम' अपने मेरे चेतन से पृथक सकल्पमात्र है। पूर्ण परीक्षा करने से शीघ्र ही वह नष्ट हो जाता है। इसलिए उसका स्वतत्र स्वरूप कुछ नहीं है। इस प्रकार मेरी सत्ता दिये बिना कामरिपु मे कुछ शक्ति नहीं, पर हम चेतन जीव ही भोगरूप खुराक दे-देकर उस मिथ्या कामवासना को बलिष्ट कर लेते हैं और उसमे सुख माने रहते ह॥ ५॥

मिथ्या काम-शत्रु जीव से ही भोगरूप लगान ले-लेकर बलवान हो रहा है। मुझ चेतन जीव की ही सत्ता सामर्थ्य से वह समर्थ होकर भोगरूप भट्ठी मे डाल-डालकर दुखी कर रहा है। यदि चेतन जीव विषयो मे सुख न माने, न भोगे और कामविकार का न स्मरण करे, तो काम बन्ध्यापुत्रवत शून्य हो जावे। जैसे किसी को कोई बल देता है, यदि वह बल न दे तो उसकी शक्ति देने वाले मे रह जाती है, वैसे कामादि विकारो मे बल न देने से चेतनशक्ति चेतन में स्थित होकर सदा के लिए मुझ चेतन को दुखो से छुटकारा मिल जावे॥ ६॥ जड तत्व अपने मे सुख मानकर काम को नहीं रच सकते, क्योकि वे स्वाभाविक जड ही हैं और चेतन जीव सर्व परीक्षक नित्य तृप्त है, इसे जड विषयो मे सुख मानकर काम सकल्प रचने का कोई हेतु ही नहीं। तो जड की शक्ति—पंचविषय जड मे है और चेतन की शक्ति—ज्ञानपन चेतन मे है। बीच की मनोमयसृष्टि मिथ्या है। इस प्रकार जड़-चेतन की पृथक दृष्टि से काम का रूप कुछ नहीं, ऐसा विवेक करने से अनुभव होता है। ऐसे ही क्रोध, लोभ, मोह, मद, सम्पूर्ण मनोमय कुछ नहीं है। पर जगत मे चेतन को भूल वश सुख निश्चयता ही सब तरफ खींचती रहती है और यही सुख निश्चयता काम, क्रोध, लोभ, मोहादि का चित्र रचकर जीव को मन-दुश्मन के हाथो बेच चौरासी खानियो मे घसीटती रहती है।

शिक्षा—अपनी गाफिली पर दृढ पश्चाताप कर तथा मनोमय को मिथ्या जानकर उससे ऊपर उठने के लिए प्रबल उपरामता गहना चाहिए, जिससे कि अक्षय स्वरूपस्थिति होवे॥ ७॥

शब्द—२२

विषयन भोगि भोगि दुख कीन्हा॥ टेक॥

स्वतः स्वतंत्र अजाद स्ववश हम, तेहि को परबश कीन्हा॥ १॥
नहिं गर्जी नहिं चिन्तन कोई, नहिं रखवारी लीन्हा॥ २॥
नहीं परीश्रम हमरे कबहूँ, नहीं बिबश भय दीन्हा॥ ३॥
क्षुधा तृषा निद्रा नहिं हमरे, नहिं इच्छा दुख पीन्हा॥ ४॥
सकल उपाधि|भूल ते शिर पर, चुकत न भोग सदीन्हा॥ ५॥

टीका—मुक्ति-इच्छुक अपनी पूर्व भूल का पुनः स्मरण कर रहे हैं। वे कहते हैं कि हमने पाँचो विषयो मे सुख मान, तिन्हे भोग-भोग कर ही दुसह दुख रच लिया है॥ टेक॥ कारण-कार्य रहित हम स्वतः अपने आप शुद्ध चेतन हैं, स्वतत्र हैं, परम आजाद हैं, स्ववश हैं, ऐसे परमश्रेष्ठ अपने आपको आप ही विषय भोग-भोगकर परतंत्रता मे डाल लिया है॥ १॥

मुझ शुद्ध चेतन के स्वरूप मे कोई गर्ज नही है। गर्ज तो किसी कामना से होती है, चेतन मे कामना ही नही, तब गर्ज कहाँ! मेरे मे मिलने-बिछुडने, बनने-बिगडने का चिन्तन तथा शोक-मोह नही है। देहोपाधि-वश मन की धारा से जो अपनी रक्षा करना पडता है उम रक्षा की भी देहोपाधि रहित अपने आप शुद्ध स्वरूप मे कोई आवश्यकता नहीं॥ २॥ न तो मुझ चेतन को किसी काल मे कुछ प्राप्ति की आशा से परिश्रम करना है। परिश्रम तो कुछ अप्राप्ति मे किया जाता है। स्वरूप तो नित्य प्राप्त है। फिर हमारे शुद्ध स्वरूप मे परिश्रम का नाम कहाँ! न तो मेरे स्वरूप मे किसी प्रकार की विवशता है, न भय और न दीनता है॥ ३॥ देहोपाधि को त्यागकर, भूख, प्यास, आलस्य, निद्रादि शारीरिक विकार और समग्र मानसिक इच्छा का जो सबसे कठिन दुख है, ये सर्व मुझ शुद्धस्वरूप मे नहीं है॥ ४॥ शरीर सघट से जितनी बाहरी-भीतरी उपाधिया हैं, वे सब मुझ शुद्धचेतन स्वरूप मे कुछ न होते हुए भी मुझ पर लद गई हैं। परवशता, गर्जीपन, इच्छा, कामना आदि अनत शोक और सब दुख-दारिद्र्य देहोपाधि से बढ रहे हैं। यह सब अपने शुद्ध स्वरूप को भूलने का ही परिणाम है। भूलजनित कष्ट इतना प्रबल है कि तन-मन कृत दुख सिर पर लदकर कभी उसका अत नहीं हो रहा है। जब तक भूल न छोडी जाय तब तक दुखो का अन्त कैसे हो। अथवा अनन्त काल से आज तक सब दुखो का तो बोझ भूल वश लदा ही रहा, पर आज स्वरूप को जानते हुए भी पूर्ववेग से प्रारब्धिक दुख भोगे बिना नहीं चुक रहा है। यह पूर्व भूल की ही महिमा है। अत. इस भूल-जनित विषयासक्ति को छोड देना चाहिए, जिससे कि आगामी शरीरोपाधि से बच जावे॥ ५॥

शब्द—२३

बासना हमारी हमै दुख देती ए॥ टेक॥

लीन्ह बनाय रहे बिन वहि को, बिस्मय अमित समेती ए॥ १॥
सुख लालच दरशाय भोग में, क्षणक बिलम्ब न लेती ए॥ २॥
होय मनोरथ जिसमे जैसी, मानि मानि दुख खेती ए॥ ३॥
वैसहि घेरि लेत बिन सम्मत, जाल अनन्त रचेती ए॥ ४॥
बिनु शिर पैर देह की सोई, बिबश पराजय केती ए॥ ५॥
अद्भुत चरित लखौ सब तेहि के, रमत शुन्य में जीव भिड़ेती ए॥ ६॥
देखत सुनत गुनत सोइ जानत, जो लखि आप निरेती ए॥ ७॥
बिश्वासघातिनी अरिन में अरि है, घात लगाय रुलेती ए॥ ८॥
फिरि फिरि बनी लाभ सुख दायिनि, यहि सम हितू न आप जनेती ए॥ ९॥
आप के भूल शूल ये नित ही, ना यहि शक्ति लखेती ए॥ १०॥
जानत कोई कृपा गुरु गहि कै, सुख चारा दुख ध्येती ए॥ ११॥

टीका—विवेक सम्पन्न पुरुष कहते है कि हमारी कल्पित वासना ही हमें दुख दे रही है। हम स्वरूपतः देहोपाधि-रहित हैं, परन्तु वासना ही हर्ष-शोक, जन्म-मरण, दुख-सुख, हानि-लाभ, शत्रु-मित्र और अपना-पराया सर्व देहोपाधि दुखो को प्रतीत करा रही है॥ टेक॥ जब तक हम भोग-क्रिया करके वासना को न बनावे तब तक वह नहीं हो सकती, इसलिए

उसके विना रहे ही उसे वना लिये अर्थात पॉचो ज्ञानेन्द्रियो से पाँचो विषयो का ज्ञान करके भोगों में सुख मानकर हम चेतन जीव ने ही सर्व वासनाओ को वना लिये हैं; ऐसी मिथ्या वासनाएँ अनन्त असमंजस, शका-सदेहो से पूर्ण हैं ॥ १ ॥ यह वासना ही जड-भोगो मे सुख दिखाकर भोग भोगाने के लिए आतुरता पैदा करती रहती है। इस वात मे वह क्षण भी विलम्व नहीं करती ॥ २ ॥ पहिले अज्ञान-वश जिस चीज मे जैसा दुख-सुख, हानि-लाभ मान रक्खा है, उसी प्रकार वासना वार-बार सम्मुख होकर प्रतीत कराती है। अहो! आप जीव ही ने इस वासना के वश सर्व विजाति जड पदार्थों को मैं-मेरा मानन्दी करके दुख की खेतीरूप वार-वार देह धरने-छोडने के साथ सव देहोपाधि का कष्ट वना लिया है ॥ ३ ॥ वासना है तो जीव की ही कल्पनाकृत, पर अव वह इतनी जोरदार हो गई है कि जीव के सलाह दिये विना ही शीघ्र पूर्व वेग से स्मरणरूप सामने होकर घेर लेती है। यह द्रष्टा के ऊपर पर्दा करके विषयकृत अनन्त जाल, फन्दा, भुलावा तथा प्रलोभन वनाती रहती हे ॥ ४ ॥

आश्चर्य तो यह हे कि इस वासना के न तो सिर है, न पैर हे, यहॉ तक कि उसके कोई भी अग नही है, न उसकी कोई रूप-रेखा ही है, तो भी उसने कितने पण्डित, मूर्ख और मनुष्यो को अपने अनुसार गति-मति वना कुकृत कराकर उनके मुँह मे कालिख लगा दिया, "नारी एक ससारहि आई, माय न वाके वापहि जाई। गोड न मूड न प्राण अधारा। तामे भभरि रहा ससारा" ॥ वी० ॥ नारी हे कल्पित वासना, उसके सिर-पर, आकार कुछ नहीं है, तो भी सव जीव उसी मे गोते लगा रहे हें ॥ ५ ॥ इस वासना के आश्चर्यजनित खेल देखने मे आ रहे हें कि जहॉ कुछ नहीं है वहाँ जीवो को लगाती है "जहाँ नहीं तहॉ सव कुछ जानी" जहाँ पच विपयो के भोगो मे और अनुमान-कल्पना मे कुछ भी तृप्ति नही है तथा जिनसे जीव का कोई सम्वन्ध नहीं है, वहाँ सर्वस्व प्रतीत कराकर उसी के कारोवार मे सब जीवो को उलझा रही है ॥ ६ ॥ इस वासना की कपट करनी छल-प्रपंच को वही देखता, सुनता, गुनता ओर जानता है, जो इसे देख-देखकर अपने चेतन स्वरूप को निराला समझकर इस वासना-धारा मे नहीं मिलता, अर्थात वासना अन्य हे ओर मैं इसका द्रष्टा इससे पृथक अन्य हूँ, ऐसा जिसे ज्ञान है, वही वासना को भली विधि देख-सुन सकता हे और जो अपने स्वरूप को वासना से न्यारा नहीं ममझता वह वासना का मर्म नहीं जान सकता ॥ ७ ॥ सुख की आशा देकर दुखकूप मे डालनेवाली विश्वासघातिनी आर सव प्रकार वॉधकर दुर्दशा करानेवाली वाहर के वरियो से वढकर भी परम वेरिणी यह वासना ही है। यह मोका पाकर जीव को झगडे मे डालकर रुलाया करती हे ॥ ८ ॥ पूर्ण ठगाई करते हुए भी वासना फिर-फिर लाभ और सुख देनेवाली ही जीव के सामने दर्शती हे। उसकी ठगाई से जीव इतना गाफिल वन जाता हे कि जितना हित मानकर वासना से प्रेम करता है उससे किचित अश भी अपने स्वरूप विचार मे हित मानकर प्रेम नहीं करता ॥ ९ ॥

वासना धीरे-धीरे कैसे अपना दावँ फेकती है

दृष्टात—एक मनुष्य कुछ सत्सगी था। सतगुरु मे उसकी निष्ठा थी। एक बार वह आम के मीठे-मीठे दस फल लेकर इस विचार मे चला कि ये फल श्री गुरुदेव को चढाकर पुनः वन्दना करके अपना जीवन सफल करूँगा। इस तरह चलते हुए रास्ते मे उसे वडा हर्ष हो रहा था कि मैं उत्तम वस्तु चढाकर भक्तिभाजन तथा मुक्ति का अधिकारी वनूँगा। इतने मे उसे यह

वासना उदय हुई कि दस फल हैं, यदि मैं गुरुदेव को चढाऊँगा तो वे प्रसाद मे एक फल मुझे अवश्य ही देगे, अभी एक फल चख लूँ तो ठीक है, परन्तु कुछ शका हुई कि ऐसा कहॉ उचित है। मेरा तो सकल्प था कि गुरुदेव को सब फल चढाऊँगा, फिर पीछे जो कुछ हो। पुनः उसकी मनोवासना की तरफ से इशारा हुआ कि ठीक है, फल तो एक-दो नहीं तमाम हैं, एक फल खा लेने से सत्य सकल्प मे क्या कमी। क्योकि गुरुजी तो यह बात जानते नही, दूसरा कोई और भी नहीं जानता, फिर क्या कारण है कि करतल अमृतपान छोडकर आप आगे का भरोसा रक्खे। देखो हे जीव। तुम्हारे परमहित और सुख की बात तो यही है कि एक फल चख लो। गुरु के तुम, गुरु के फल, गुरु की प्रसादी, तो भी एक फल खाने मे इतनी देर, शीघ्र खाओ। बस जीव की समझ पर आवरण हुआ, शीघ्र जीव को निश्चय हो गया। चलते हुए एक फल उसने चख लिया। फल बहुत अच्छा और मीठा लगा। उसकी वासना और प्रबल हो गई। फल खा चुकने पर फिर वासना उदय हुई कि अब नौ हैं, गुरु जी को चढाऊँगा तो एक देवेगे ही, फिर पूर्वोक्त शका का समाधान होकर यह निश्चय हुआ कि जल्दी से दूसरा फल खाओ। शीघ्र-शीघ्र दूसरा फल भी चख लिया। रह गये आठ, फिर वासना उदय हुई कि आठ चढाऊँगा तो एक फल गुरुजी देवेगे ही, फिर तो बिना शका ही फलरस पेट मे डाल लिया। बस अब रह गये सात, फिर वासना ने पहिली वाली ही बात कही कि एक प्रसाद मे मिलेगा ही, सातवॉ फल भी घॉटी उस पार किया। रह गये छ , मन ने कहा बात तो वही है, शीघ्र फल रस चूस। जीव वासना के वश दीन होता हुआ छठा फल भी चूसा। बाकी बचे पॉच, तिसको भी वही ऑच लगी। रह गये चार, चौथे मे वही वारी हुई। रह गये तीन, तीसरे फल मे भी प्रसादी का हिस्सा लगा। रह गये दो, दूसरे मे भी वासना ने वही मत्र प्रेरित किया। रह गया एक, एक मे वासना ने एकी बार फर्माया कि अब क्या चढाओगे। बस साफ। वासना ही की पूजा और विवशता सिद्ध हो गई। फिर वासना उदय हुई कि अब घर को लौट चले, दूसरी फुलवारी से बीस फल लेकर गुरुदर्शन कर लिया जायेगा। जीव को कुछ शका हुई कि आगे न समय मिले तो। पुनः वासना उदय हुई कि समय निकालना तो अपने अधीन है, आगे चार दिन का मौका लेकर गुरु-दरबार मे भेट-पूजा सहित उपस्थित होवेगे। जीव ने कहा—ठीक है, अब जाने मे विशेष लाभ नहीं है, समय भी कम है, आगे दर्शन मे विशेष लाभ है, फिर वासना प्रेरित करके घर मे लौटा लाई।

घर मे आते ही उसके भाई ने कहा—हमारा हिस्सा बॉट दीजिये, आपकी स्त्री से और मुझसे नही निपटता। बहुत कुछ बातचीत होने पर अलग-अलग होने का निश्चय हो गया। पॉच पचो के बीच मे अन्न, धन-मकान, बाग-बगीचा आदि सब दो विभागो मे बॉटे गये। दूसरा भाई अधिक लोभ के कारण कहने लगा—आप कुछ धन चुरा लिए हैं, इससे सब धन हमारा है। दूसरे लोगो ने कहा—ऐसी बात नही है, यह बात बढती गई। इतने मे वह भाई क्रोधपूर्वक बोल उठा, बस दूसरे ने कुछ क्रोध के वश होकर एक लाठी उठाकर बलपूर्वक तडाक से उसके सिर पर मार दिया। सिर पर लगने से वह गिर गया, खून की धारा बहने लगी। उसके पक्षी भी दूसरे भाई को मारे-पीटे। अन्त मे दूसरे ने भाई को डकैती का अपराध लगाकर दावा किया। चला मुकदमा। दोनो तरफ से लडते-लडते पॉच वर्ष मे हजारो रुपये खर्च हो गए। अन्त में गलत कार्रवाई सावित होने से मुकदमा खारिज हो गया। अभी उन दोनो मे राग-द्वेष चल

रहा है। अब कहाँ गुरुदर्शन, कहाँ सत्संग।

इस प्रकार यह वासना जीव की परमहितू बनकर गुरुसत्संग-विवेक की तरफ चलते हुए भी भोगों में लाभ दिखाकर धीरे-धीरे घुमाते हुए गुरुसत्सग से विमुख कर देती है और अपने ही चक्कर मे नचाया करती ह। अविनाशी जीव अपने आप को भूलकर ही वासना कृत विशेष कष्ट उठा रहा हे और वासना मे कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। वासना मोह मात्र है। देहोपाधि वश भूल करके चैतन्य ने खुद आप ही सत्ता देकर वासनाओं को गढ लिया है॥ १०॥ कोई विरला व्यक्ति गुरु और सन्त की कृपा से इस वासना के भेद को जानता है कि सुख दर्शाकर दुख देना ही इसका कर्तव्य ह। इस प्रकार दुख की पूर्ण परख करके वैराग्य द्वारा जिज्ञासुजन वासना को जीत लेते हैं॥ ११॥

प्रसंग ७—भूल आसक्ति ध्वंस-हेतु वीरत्व प्रेरणा

शव्द—२४

समर मन अरि से लत हत हेतु॥ टेक॥

करन चही चौकस बरजोरहि, जोन उपाय लखेतु।
वाकी राखि न ठोर ठेकाना, समुझि करौ जिय चेतु॥ १॥
जस वह संधि पाय नहिं छोडत, शिघ्रहिं युक्ति रचेतु।
निरबल अनुचर सवल हमेशा, लै तोहि शक्ति सहेतु॥ २॥
करत अकंटक राज्य पराजय, नेक न मोरत खेतु।
तैसहिं सिखौ युक्ति सब तेहि से, चूक न कबहूँ लेतु॥ ३॥
माँगि माँगि वो राजा होइगा, तू दाता तेहि देतु।
कस नहिं दखल करै तेहि ऊपर, समरथ सिह लखेतु॥ ४॥
विवश चाकरी करै हमेशा, लाज न तोहि सचेतु।
जो नहिं तेहि पर दखल करै निज, आपुहि आप रहेतु॥ ५॥
हे धिक्कार न समुझै कबहूँ, जो जानै बल येतु।
तो दुख जाय न कवहूँ तेरा, पचि पचि समय वितेतु॥ ६॥
जागु जागु अब जागु जगैया, गाफिल नींद तजेतु।
समय मिली अब समय मिली तोहिं, करि ले काज भलेतु॥ ७॥

टीका—हे जीव! तू जिम विपरीत सुख-निश्चय, सुख आशा रूप मन की गोद मे सो रहा हे वही तेरा परम रिपु है, उसके विनाश के लिए सग्राम ठान, जिससे कि सर्व दुखरूप लतों का महार हो जाय। क्योंकि सुख निश्चय, सुख आशा रूप मन और लतो को निर्मूल किये विना तीन काल मे भी दुख छूटने का नहीं॥ टेक॥ सत्सग, निर्णय और विवेक से जो कुछ उपाय जानने मे आवे वह सब मनोदमन के लिए सावधानी और बलपूर्वक धारण करना चाहिए। यदि आलस्य आर मोह वश मन-तरगो को हटाने मे उपाय न किया गया, कुछ किया फिर छोड़ दिया, तो हे जीव! तेरा ठोर-ठेकाना न लगेगा। वारम्वार देहोपाधि की अनन्त

आपत्तियो का पात्र होना ही पडेगा। इससे समझ-बूझ कर हृदय मे स्थिरता से चेत करके तुम्हे जाग्रत हो जाना चाहिए॥ १ ॥ हे जीव! तुम्हारा मन-शत्रु जैसे ही अपना अवसर पा जाता है वैसे ही तुमको विषय-कूप मे ढकेलने से नहीं चूकता। शीघ्रातिशीघ्र कामादि विकारो का मनन कराकर अति आतुरता से मनोरथ पूर्ण करने का उपाय रचते हुए दुखराशि की तरफ डालने को जोर करता है। ऐसा जो तेरा मन-रिपु है वह तुझ चेतन से सदैव कमजोर है, तो भी तुझको अपने कहे मे चला रहा है, ये आश्चर्य। हे जीव! विचार करके देखो! तुम्हारी शक्ति लेकर मुर्दा मन सजीव होकर तुमसे भी बलवान प्रतीत हो रहा है, अर्थात चेतन जीव की सत्ता से ही मन चालू होकर चेतन जीव ही को खींच रहा है "ठेला वेग न्याय"॥ २ ॥ निर्बल गुलाम राजा बन बैठा है, तुम पर निष्कटक शासन कर रहा है, इच्छा पूर्वक तुम्हे नचा रहा है। स्वामी चेतन जीव को पराजित करके स्वरूप को भुलाकर अचल स्थिति से विचल कर रहा है। देखो! मनरिपु किचित भी अपने भोग स्मरण-खेत से नही हटता, निरतर जगत-प्रपच ही स्मरण किया करता है, बस यही शत्रु का दावॅ है। हे चेतन जीव! मनोनाश के लिए तुमको भी वही शत्रु का दावॅ सीखना चाहिए, अर्थात जैसे वह दावॅ पाकर भुलाने मे नही चूकता, तैसे तुम भी दावॅ पाकर वैराग्यभाव से मत चूको। अपनी स्वरूपस्थिति के सहायक कर्तव्यो से कभी मत पिछडो। जैसे विषय-सकल्प पूरे हो या न हो, मन निरतर उसका स्मरण करता है, विरह, क्रिया, पुरुषार्थ और तत्सबधी सब दुख सहन करता है, वैसे परमार्थध्येय भले ही देर मे पूर्ण हो, परन्तु उसकी निश्चयता, पुरषार्थतत्परता, विरह भावना, स्वरूप-स्मरण नित नव बना ही रहना चाहिए। ऐसा भाव बनते ही मन-रिपु के धुर्रे-धुर्रे उड जायेगे। अतः एक भाव से गुरुपद अगो का अटूट-अचूक अभ्यास बनाना चाहिए॥ ३ ॥

देखो! तुम चेतन से ही बल मॉग-मॉग कर भिक्षुक मन राजा बन बैठा है। तुम देने वाले हो। अरे! इच्छा-सकल्प करके भोग भोगने वाले तुम ही तो हो, अतः तुम दाता, स्वामी, सरकार, समर्थ हो और मन भिक्षुक, असमर्थ, याचक है, सो याचक को अपनी सम्पत्ति दे-देकर उस नीच को राजा बना कर तुम उसके कहे मे व्यर्थ ही नाना नाच नाच रहे हो। अहो! हे जीव! तुम अपने शुद्ध स्वरूप का स्मरण करके इस मनरिपु पर क्यो नही कब्जा करते! तुम तो कामना-मल रहित समर्थ सिंहवत नित्य तृप्त शुद्ध चैतन्य हो फिर ऐसा बोध प्राप्त होते हुए भी क्या कारण हे कि तुम काम, क्रोध, राग-द्वेषादि रिपुओ के नचाये नाचो! अरे! तुम अपनी शक्ति उसे न दो बस तुम्हारा शत्रु निर्मूल हो जावे॥ ४ ॥ हे जीव! तुम अचल, अक्रिय, सत्य, स्थिर, तथा निर्विकार होकर भी मन के वश सदैव इन्द्रियो की गुलामी करते हो, दीन, गर्जी, मलिन होकर तुच्छ इन्द्रिय सुख के लिए रात-दिन पच रहे हो, उसी मे हर्ष-शोक, हानि-लाभ निश्चय कर बैठे हो। अपने स्वरूप-बल का स्मरण करते हुए फिर मनवशवर्ती बर्ताव सोचकर लज्जा भी नहीं आती। सकोच, घृणा, पछतावा भी नहीं उत्पन्न होता, ऐसा मनरिपु का आवरण तुझ चेतन पर है। तुम चैतन्य हो, जड इन्द्रिय दुख-सुख, हानि-लाभ और मन आदिको से पृथक हो, ऐसा सबसे भिन्न श्रेष्ठ होते हुए तुम क्यो नही मन पर दखल कर लेते! अब तुम अवश्य इस मन को पराजित करके इसकी गुलामी निवृत्त करो, अपने आप पारख शुद्ध स्वरूप मे ठहरो। जो तुम जन्म-जन्म के वैरी मन के ऊपर विजय करने का प्रयत्न न करोगे तो अपने स्वरूप मे निराधार कैसे ठहर सकोगे! फिर तो तुम्हारी पराधीनता पूर्व के समान ही बनी रहेगी॥ ५ ॥

मद्गुरु-सत्मग द्वारा वोध प्राप्त होने पर भी जो समझ-वूझ और सँभल करके गुरु पारख रहस्य-मार्ग पर तुम न चलो, कायर वनो, तो तुम्हे वार-वार धिक्कार ह। हे जीव! जो तुम मन को पूरा घातक, दुश्मन, भ्रमाने वाला जानकर भी फिर-फिर उसी का पालन करते हो, वल देकर उसी मे मिलकर मन का कहा स्वीकार करते हो, इस वेवकूफी से तुम्हारा दुख अनादिकाल से आज तक छूटा नही, तो वर्तमान तथा भविष्य मे भी कभी नहीं छूट सकता। उलटे राग-द्वेष, काम-क्रोधादि मनोद्वेग के वश पच-पचकर जगत भट्टी मे जलते हुए मव दिन सकट मे वीतेगे॥ ६ ॥ इमलिए हे जाग्रत जीव! गुरुदेव की शिक्षा पाकर सावधान हो जाओ। वार-वार चेत करके परिणामदर्शी होओ। क्योकि तुम्हारा स्वरूप सर्वपरीक्षक है। भाग्यवश मनुष्यदेह प्राप्त हुई हे, सावधान होने का यही अवमर है। इम अवसर मे गाफिली—मोह-माया की मर्व विजाति निद्रा त्याग कर स्वरूपस्थिति मे ही ज़ीवन व्यतीत करो। सद्गुरु, मनुष्य देह, मतसमाज, मुक्ति की इच्छा ये सव साधन सहित श्रेष्ठ-योग्य अवसर मिला हे और खूव मयोग मिला ह। ऐसे योग्य समय मे अपने उद्धार होने का कार्य-सत्साधन कर लेना चाहिए, जिममे सदा के लिए निराधार स्थिति हो जावे॥ ७॥

मुख्य कोष की प्राप्ति

दृष्टात—एक वेचारे महादरिद्र पुरुष ने द्रव्य की अभिलाषा मे चारो ओर वडे-वडे नीच-ऊँच दुर्गम से दुर्गम टक्करें मारी, पर उसे एक कौडी भी प्राप्त न हुई। वह महादुखी ओर निराश होकर घर की ओर लाटा आ रहा था। अनायास मार्ग मे एक महात्मा से भेट हो गई। उम दीन पुरुष ने महात्माजी को प्रणाम किया और उनके पूछने पर सम्पूर्ण वृत्तात कह सुनाया। महात्माजी ने उसकी दशा देखकर कहा—तू इम मन्दिर मे जो कि सामने गिरा पडा ह, एक कुदारी आर एक तलवार ले। कुदारी से मन्दिर को खोद आर तलवार से जो तेरे इस कार्य मे वाधक हो उनका वध करता जा, अत मे तुझे एक वडा भारी कोष प्राप्त होगा। दीन पुरुष ने कुदारी आर तलवार लेकर मन्दिर को खोदना आरम्भ किया। थोड़ा ही खोदा था कि उसमे से एक स्त्री निकली, जिसको देखकर दीन ने पूछा—तू कोन है ओर कहॉ रहती हे? स्त्री वोली मेरा नाम लज्जा है ओर में नेत्रशाला मे रहती हूँ। यह सुन दीन पुरुप ने कहा—तू पृथक वैठ। ऐसा कहकर फिर खोदने लगा। थोडी ही देर के पश्चात एक दूसरी स्त्री निकली। उससे भी प्रश्न किया, तू कोन ह? तेरा क्या नाम ह तथा कहॉ रहती है? स्त्री वोली—मेरा नाम दया हे ओर में हृदयपुर मे रहती हूँ। उमसे भी कहा, तू पृथक वेठ, ऐसा कहकर दीन पुरुष पुन. अपनी उमी धुन मे लग गया।

कुछ ही खोदने के पश्चात एक तीमरी स्त्री निकली। दीन ने उससे भी वेमे ही प्रश्न किया, स्त्री वोली—मेरा नाम कीर्ति ह ओर मं अत पुर की निवासिनी हूँ। दीन उसे भी पृथक वठाकर अपना काम करने लगा। कुछ ही काल के पश्चात एक चौथी स्त्री निकली। उसने उसमे भी उसी भाँति पूछा। स्त्री वोली—मेरा नाम धृति हे आर मे मनुवॉपुर की निवासिनी हूँ। इसे भी दीन ने अलग विठाकर खोदना आरम्भ किया। इतने पर भी उस वीमारी ने पीछा नहीं छोडा आर अवकी वार स्त्री के स्थान मे विल्लडराम हाथ-पर झाडते हुए निकले। दीन पुरुष ने पूछा—आप कान हैं? उम पुरुष ने उत्तर दिया कि मेरा नाम काम हे और में नेत्रशाला का

वासी हूॅ। दीन पुरुष—वहाँ तो एक स्त्री जिसका नाम लज्जा है, रहती है। काम—वह तो मेरी स्त्री ही है। दीन पुरुष—रे नीच! जहॉ लज्जा है वहॉ तेरा क्या काम? ऐसा कहकर शीघ्र तलवार से उसका सिर धड से अलग किया। पुन. कुदारी से खोदने लगा। कुछ ही काल मे एक मुस्तण्डराम—लाल-लाल ऑखे किए होठ फरफराते हुए निकले। दीन ने यह भयकर मूर्ति देखकर इससे भी वही प्रश्न किया। उसने कहा—मेरा नाम क्रोध है और मै हृदयपुर का वासी हूँ। दीन—वहॉ तो एक स्त्री जिसका नाम दया हे, बसती है। क्रोध—वह तो मेरी स्त्री ही है। तब दीन—रे पागल! जहॉ दया रहती है, वहॉ तेरा क्या काम! ऐसा कहकर इसे भी तलवार की धार से अलग किया और पुन. खोदना आरम्भ किया।

कुछ ही खोदने के बाद और एक धिगडनाथ चकमक-चकमक देखते हुए आ विराजे। दीन ने इनको भी देखकर वही अपना पुराना प्रश्न किया। धिगडनाथ—मेरा नाम लोभ है और म अत पुर वासी हूॅ। दीन—वहाँ तो एक स्त्री जिसका नाम कीर्ति है, वह रहा करती है। लोभ—वह तो मेरी स्त्री ही है। दीन—ऐ नीच! जहॉ कीर्ति है वहाँ तेरा क्या काम? ऐसा कहकर तलवार से इसे भी मौत को समर्पित किया और फिर खोदना आरम्भ किया। थोडी देर मे और एक बुड्ढ़ निकल खडा हुआ। इसे भी देख दीन ने पूर्ववत प्रश्न किया। बुड्ढ़—मेरा नाम मोह हे ओर मैं मनुवाँपुर का वासी हूँ। यह सुन दीन ने कहा—वहॉ तो एक स्त्री जिसका नाम धृति ह, वह रहती हे। मोह—वह तो मेरी स्त्री है, तब दीन ने कहा—रे मूर्ख! जहाँ धृति है वहाँ तेरा क्या काम? ऐसा कह उसे भी तलवार से उडा दिया।

अब वह सोचने लगा—ये स्त्रियॉ क्या मेरा साथ देगी! इनसे भी कार्य मे हानि ही दिखती हे। मे कभी-कभी इनकी ओर देखने लगता हूॅ और यह भी है कि एक ही स्त्री से आपत्ति होती हैं, फिर चार-चार कौन निबाहेगा! ऐसा सोच-समझकर उसने कहा लज्जा भी कभी-कभी पाप करा देती हे, जेसे कि सम्बन्धियो के लज्जा-भय से सत्सग, भक्ति, विवेक मे ढिलाई रखना तथा धारण न करना। कीर्ति भी दोष उत्पन्न करा देती है, जैसे अधिक कीर्ति से सम्बन्ध का बढ जाना, अधिक लोगो का सम्बन्ध बढ जाने से स्वय सुधार के अभ्यास मे घाटा लगते-लगते गुरु मार्ग छूट जाना ओर दया भी कभी-कभी अधर्म और बन्धन का हेतु बन जाती है। जेसे कि "अधीनदास" तामसी दया मे पडकर भ्रष्ट हो गये थे। अत. ये तीनो विचार से बाधक जानकर तीनो को तलवार से मार दिया। धृति को अपने साथ लेकर वह फिर खोदने लगा। कुछ देर के बाद वह शिला उलट गई ओर उसे एक महान कोष प्राप्त हुआ, जिसे पाकर घर मे आकर वह अपने जीवन को सुखपूर्वक व्यतीत करने लगा।

सिद्धान्त यह है कि निज स्वरूप को भूलकर दीन बना मनुष्य मुक्ति की इच्छा से कर्म, उपासना, खानी-बानी आदि मे जहॉ-तहॉ भटकते हुए पारखी सद्गुरु से मिला। श्रीगुरु ने कहा—हे मुक्ति-इच्छुक! तुम इधर-उधर क्यो भटकते हो! यह शरीर रूप मन्दिर है। इसको विवेक-रूप कुदाल से खोदना आरम्भ करो। परमार्थ मे बाधा डालने वाले जो-जो शत्रु मिले उन्हे वैराग्यरूप तलवार से काटते जाओ, तब तुम्हे नित्य धन की प्राप्ति होगी। मुमुक्षु सत्सग-आधार से जब स्वरूपस्थिति का यत्न करने लगा, तब काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेषादि ने सताया, मुमुक्षु ने उन विघ्नो को वैराग्यरूप तलवार से काट डाला। अब आगे मुमुक्षु को लज्जा, दया, कीर्ति इत्यादि शुद्ध गुण भी वैराग्य-बोध मे रुकावट करने लगे। जैसे कीर्ति आदि की

लालसा मे जगत व्यवहार, अधिक विद्या-ऐश्वर्य वढाते-बढाते कहीं ममता मे बँध जाना। पुन. मार्ग से गिर जाना इत्यादि हानि सोचकर इन तीनो के हानि अश त्यागकर केवल धैर्य को साथ लेकर आगे वढा, सूक्ष्म अह सुखाध्यास रूप वज्रवत शिला जमी हुई थी, उस सुखाध्यास रूप शिला को परीक्षा-खड्ग से काटते हुए अन्त मे स्वरूपस्थिति रूप मुख्य अचल पूर्ण कोष की प्राप्ति हुई।

शब्द—२५

समर करौ अरि से न पाछा छोंड़ो ताहि॥ टेक॥

बसे काल के देश कुशल चहो, गई बुद्धि तव भोरि।
जाली राजा लाभ सुझावे, दै ममता निज काहि॥ १॥
है वेपीर चतुर विश्वासी, क्षण क्षण दगा दहोरि।
गये विकाय खवरि नहिं तुमका, देखत भूले जाहि॥ २॥
स्वत. स्वरूप निराला रहिये, नहिं भल ताहि गहोरि।
विनु मारे वह मरे शत्रु तव, जो न देव वल धाहि॥ ३॥
है मानन्दी रूप जाहि को, निश्चय विपरीत वनोरि।
मनन मात्र परफुल्लित ह्वै ह्वै, करै विकल तुम काहि॥ ४॥
विपरीति समझ तजि गहौ यथारथ, गिरि सम अचल डटोरि।
न्याय पक्ष को गौरव पुनि पुनि, निज वल देव न वाहि॥ ५॥
निज की आह शत्रु कुटिलाई, भूलि जाव तव खोरि।
यह दोउ फहम राखि निज शिरपर, मन अरि नाश ठगाहि॥ ६॥
पाले शत्रु न सुख से सोवो, चूकत बदलि भिडोरि।
यहि ते खवरि लेव भलि वहि की, पाय स्वत बल ढाहि॥ ७॥
भरम पहाड टले तव शिर से, निज घर आप लहोरि।
सृष्टि मनोमय वासा छूटे, मुख्य काज तव याहि॥ ८॥

टीका—हे जीव! घातक-पीडक अध्यास-आसक्ति मनोवासना रूप दुश्मन से समर ठान, युद्ध कर, इस मन-रिपु का पीछा मत छोड॥ टेक॥ जिसमे जडग्रन्थि पुष्ट होवे वह काल का देश ह, सो काल-कल्पना के देश मे तू ठहरकर कुशल-मगल चाहता हे, इससे तेरी बुद्धि मारी गई हे, तू भूल गया हे। तुमने जिसे अपना प्रतिपालक राजा मान लिया हे, वह पालक नहीं वल्कि घालक-जाली हे, छल-प्रपच रचने मे अनुपम हे। तुझे परिणामी, असत, जड, दुखपूर्ण तथा क्षणभंगुर पदार्थों मे ही मुख जचाकर उसी मे लाभ दिखाता ह और जगत-प्रपच की जहाँ तक वृत्तियाँ सम्मुख उठती ह उन्ही मे ममता-प्रियता उत्पन्न करता है॥ १॥ वह कल्पित मनरूप राजा निर्दय हे, ठगने मे चतुर हे, सुख की आशा देकर कठिन दुख में डाल देने वाला हे। क्षण-क्षण मे दगा करना, असत्य को सत्य, सत्य को असत्य निश्चय करना ओर चेतन स्वरूप को भुला देना, इस प्रकार दगा देकर जीव को क्षण-क्षण जलाता रहता हे। हे जीव! तुम मिथ्या कल्पना के हाथ विक रहे हो। तुम्हे अपने सत्य स्वरूप का होश-हवास

नही है। पूर्वोक्त मन की करतूत जानते हुए भी तुम गाफिली करते हो॥ २॥ तुम अपने आप चैतन्य स्वतन्त्र हो, सर्व स्मरणो से पृथक हो। जैसे तुम्हारा स्वरूप सबसे पृथक है, वैसे तुम सबको परख-परख कर डालो और अपने पारख स्वरूप मे स्थिर रहो। तुम्हारी अच्छाई-भलाई मन-तरगो के धारण करने मे नही है। तुम मन-तरगो मे दौडकर सत्ता न दो, बस तुम्हारे शत्रु बिना मारे ही निर्मूल हो जायेगे। कामादि रिपुओ की खैच तुम्हारे बल से ही है। उधर बल न दो, बस खैंच मिट जावे॥ ३॥ मन अरि मानना मात्र है, स्वरूप को भूलकर जड विषयो मे सुख निश्चय रूप विपरीत धारणा से ही बन गया है। हे जीव! प्रपच भाव के मनन, स्मरण, चिन्तन से ही वह प्रफुल्लित और पुष्ट होता है, मानन्दीमात्र स्मरण हो करके तुम्हारा वैरी तुम्हे बेचैन तथा दुखी किये रहता है॥ ४॥ अत· उलटी समझ छोड कर तुम यथार्थ निश्चय करो। सर्व परीक्षक जीव सत्य है, यह इन्द्रिय-मनगोचर सर्व उपाधि भासमात्र मिथ्या प्रपच है, ऐसा निश्चय ही यथार्थ है। ऐसे निश्चय को सुमेरुगिरि से भी अडिग रक्खो और गुरु निर्णय वचन का बार-बार मनन चिन्तन करो। इसके अलावा बन्धनकृत स्मरणो मे दौड कर बल मत दो। अपनी सत्ता समेट कर मन-इन्द्रियो के बन्धनकृत भावो का स्मरण न होने दो॥ ५॥

हे जीव! अपना दुसह सकट और मन-शत्रु की छलयुक्त-निठुरता इन दोनो को तुम भूल जाओगे तो यही बडे चूक की बात है, अत देहोपाधि मे अपनी सर्व पराधीनता का स्मरण और मनोमय शत्रु का खिचाव—प्रलोभन ये दोनों बातें सावधानी से सदैव स्मरण रखते हुए अपने सिर के भयकर शत्रु की ठगाई सुखासक्ति का नाश कर डालो। देखो! हे जीव! तुम्हारी गाफिली के हेतु मुख्य दो ही है, एक तो मन के वश होकर जो तुम्हारी अवदशा हो रही है, उसको तुम भूल जाते हो। दूसरे, जो मन तुम्हारी अवदशा कर रहा है उसके रूप को तुम स्मरण नही रखते, "प्रसव समय जिमि तिय पति त्यागै। दुख बीते फिर तासो पागे" वैसे ही तेरी दशा है, अत. दोनों बाते स्मरण करो, मन के धोखा से बचो॥ ६॥ जिन-जिन क्रियाओ, जिन-जिन स्मरणो से सुखाध्यास-रिपु पुष्ट हो, वही उसे पालने का भाव है। हे जीव! सुख माननारूप शत्रु का अत करण मे पालन करके तुम सुख से नही रह सकते। देखो न! जरा भी घात पाकर तुमसे बदल के मन-शत्रु भिड कर नीच से नीच कार्य करा-करा कर रुलाया करता है या रुलाया करेगा। शत्रु तो शत्रु ही है, शत्रु समय-असमय दीन-दुखी दशा नहीं देखता, वह तो गिरी हालत मे और कठोरता से घात करता है। इसलिए सेन्ययुक्त गुरुपारख रहस्य लेकर भली प्रकार इस मनरिपु की खबर लो। अत करण मे किंचित भी जगत-विषय, खानी-बानी की आदतकृत मानना, अध्यास, आसक्ति को शेष न रक्खो। अपने स्वत बल—परीक्षादृष्टि को पारखीगुरु द्वारा प्राप्त करके वासना को सहज ही वालू-भीत के समान ढकेल दो। हर्ष-शोक, सुख-दुख, हानि-लाभ और राग-द्वेष सर्व प्रपच भावो को शात करते हुए अपने आप ठहर रहो॥ ७॥ इस प्रकार तेरे ऊपर जो मानन्दीयुत भरमना का पहाड लदा हुआ है वह टल जायेगा। तुम सुखाध्यास रहित हलके एव स्वतत्र हो जाओगे। अपना घर जो स्वत अचल शुद्ध पारख स्वरूप है, उसमे ठहर रहोगे। मनोमयसृष्टि-कल्पना का जगत और बानी भास देवी-देव, भूत-प्रेत आदि का भार और इधर देह-इन्द्रियकृत स्त्री-पुत्र, धन-धामादि की ऐचाखैंची, इन्ही की वासना लेकर चार खानियो मे बार-बार जन्म-मरण आदि देहदुख की प्राप्ति, ये सब उपाधियाँ तेरी नष्ट हो जायेगी। फिर तो तुम सदा के लिए जगत-भास रहित शुद्ध स्वरूप मे विराजोगे। बस मनुष्यदेह पाकर तेरा प्रधान कार्य यही है। इससे इसी पद की प्राप्ति मे एकतार से प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए॥ ८॥

शव्द—२६

करि करि विवेक निवारौ जड मनना ॥ टेक ॥

भास अध्यास अनुमान कल्पना, भूल भरम से जनना।
निश्चय विपरीति वनी मानन्दी, अभ्यास पुष्ट वल गुनना ॥ १ ॥
देखा सुना भोग जो भोगा, ताहि यादि तेहि धरना।
गुण धर्मन युत वस्तु न कोई, सनमुख जाहि न अडना ॥ २ ॥
शुन्य के फूल कमठ के रोमहिं, सिकता पेरि न तेल निकग्ना।
इन सम ये सव मिथ्या जाना, शतु मनोमय सनमुख रहना ॥ ३ ॥

टीका—हे जीव! जहाँ तक जड पच विषयो के म्मरण सामने आवें उन्हे विवेक मे पृथक-दृश्य जानकर हटाते रहो ॥ टेक ॥ पच विषयो मे मुख का दर्शित होना भास ह, तिन विषयो को भोगकर सस्कारो का टिका लेना अध्यास है, देवी-देवादि अनुमान ह, हर्ष-शोक, हानि-लाभादि कल्पना ह, ये सव स्वय स्वरूप के विवेक न करने ही मे उत्पन्न हुए ह। अपने स्वरूप की भूल से ही जड इन्द्रियो के मघात मे भ्रम और भ्रम मे ही उलटा निश्चयरूप दृढ मानन्दी जीव के सम्मुख होकर मनन हुआ करती है। मनन से वाहरी भोग-क्रिया द्वारा अभ्याम, अभ्याम के वल मे भीतर मनन-स्मरण होते रहते ह ॥ १ ॥ जो-जो इन्द्रिया द्वाग देखा-मुना और भोगा गया ह, उमी का मस्कार टिका हुआ म्मरण होता रहता ह, उमे जीव धारण कर लेता ह। जिम अध्याम को धारणकर जीव भटक रहा ह, उममे कोई स्वतत्र गुण, धर्म, शक्ति आर सामर्थ्य नहीं ह, न वह जड ह आर न चेतन। हे जीव! जव तेरी सव कल्पना ह तव उममे लडने मे क्यो डरत हो? उमसे क्यो पिछडते हो? भाव यह कि इन कल्पित शतुओ के मम्मुख होकर इन्हे परीक्षा करके विनष्ट करो ॥ २ ॥ जैसे शून्य मे फूल नहीं होता, जसे कच्छप की पीठ पर रोयें होना असम्भव ह, जमे वालू के पेरने से तेल नहीं होता, वसे ये काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि मर्व मनोमय विकार मिथ्या है। ऐसे मिथ्या शतु तुम्हारे मानने से ही मम्मुख होते रहते ह। तुम न मानो, न मत्ता दो, तो वे कभी खेंच नहीं सकते, अतः इन्हे मिथ्या परीक्षा करके इनमे मत्ता न देना चाहिए ॥ ३ ॥

शव्द—२७

रहि मजग लखि आप आप अभग ॥ टेक ॥

विन विवेक नहिं रुचि म्वपद, नहिं नशत कलिमल जग ॥ १ ॥
सत असत के ज्ञान विनु, नहिं फिक्र दुख तज ढग ॥ २ ॥
लहि विगग न त्याग ममता, पुनि पुनि ग्रमत मनंग ॥ ३ ॥
भक्ति सुमग न प्रेम उपजत, नहिं होत जग दुख लग ॥ ४ ॥
नहिं वीरता हो ज्ञान चकरस, नहिं सुख सरस अखग ॥ ५ ॥
नहिं युद्ध निर्मल मुखद सव के, नहिं प्राप्ति मोक्षहिं अग ॥ ६ ॥

नहि विकास अन्दर सूझ सब कुछ, जौन जैसहि रंग॥ ७॥
नहि हानि लाभहिं जानि निज की, न सुख लखत सत पुरुषग॥ ८॥
अन्य करतब्य न दुख दोष लखि, न जानि ताहि तजग॥ ९॥
सूर्य सम है ज्ञान गुरु का, रक्ष ताहि सुसंग॥ १०॥

टीका—सावधानता सहित अपने आपको ज्ञानस्वरूप अविनाशी अभग-अखण्ड चेतन स्वरूप दृढ निश्चय करना चाहिए।

कवित्त

ऑख को खोलायो जैसे धन रक पायो जैसे, बिन पुत्र पुत्र लह्यो रक्षा ज्यो करतु है।
दिन रात चलत फिरत माहि सुधि ताहि, बाधक जो विघ्न ताहि यत्न से हरतु है॥
वैसे गुरुदेव कृपा पारख स्वरूप बोध, पाय के अमृतपद सजग धरतु है।
साथ ही विरति ओ विवेक सब अग प्रेम, गहि के जिज्ञासु जन भव से तरतु है॥ टेक॥

सजगता सहित विवेक किये बिना स्वरूपस्थिति मे प्रेम नही उत्पन्न होता। प्रेमपूर्वक स्वरूपस्थिति साधन किये बिना जीव के ऊपर जो नाना प्रकार का अज्ञानकृत आवरण पडा हुआ है वह नष्ट नही होता॥ १॥ "सत्यचेतन एकरस खुद जड असत चल भास है। दोनो मिले मनमय जगत भव और ईश न खास है॥" इस प्रकार विवेक बिना सॉच झूठ का ज्ञान नही होता। विवेक-ज्ञान के बिना जो कठिन दुख फिक्र है तिस को त्याग करने का ढग नहीं मिल सकता। करने को कुछ और तो करता कुछ और ही है॥ २॥ सजगता सहित विवेक बिना वैराग्य की प्राप्ति नही होती। विना वैराग्य के जगत-जीवो और पदार्थो की आसक्ति नही त्यागी जा सकती। ममता का त्याग और वैराग्य बिना बार-बार मनकृत उपाधि जीव को घेरती रहती है या काम-क्रोधादि घडियाल जीव को पकडकर चबाते रहते है॥ ३॥ विवेक संयुक्त सजग हुए बिना सद्गुरु की भक्ति और सत्सगति मे प्रेम नही उपजता, इससे जगत के त्रिविध दुख और झगडे-झझट भी नष्ट नही होते॥ ४॥ मन-शत्रु के नाश करने के लिए और परमार्थ के पवित्र कार्य करने के लिए वीरभाव भी नही उत्पन्न होता। अविवेकी को सदैव परमार्थ-मार्ग मे कायरता ही बनी रहती हे। जगत-प्रपच की परवाह त्यागकर सिंहवत निर्भयतायुक्त परमार्थसाधन आचरे बिना सदैव एकरस स्वरूपध्येय कैसे रह सकता है। स्वरूपलक्ष्य रहे बिना एकरस ज्ञान भी नही रहता। एकरस स्वरूपज्ञान बिना तृष्णा त्यागकृत सुख जो श्रेष्ठ और सदा रहनहार हे, उसकी भी प्राप्ति नही होती॥ ५॥

विवेकयुक्त सजगता ग्रहण करे तो परम कल्याण है। यथा—"दोहा—इन्द्रिय दोड मिटाय के, मनको डारे पीस। साधु बराबर वीर को, मन रिपु को करि खीस॥" उक्त धर्मयुद्ध हिसा, शोक, मोह और परपीडन को नाश करने वाला हे, इससे निर्मल हे। ऐसा पवित्र सग्राम अपने और सबके लिए सुखदायी हे। अविवेकी को ऐसे विमल सग्राम की प्राप्ति नही होती। बिना मन से सग्राम किये मोक्ष के सर्वांग—ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि शुद्धरहस्य नहीं मिलते। अत. मोक्ष निमित्त युद्ध करना जीव का मुख्य कर्तव्य है॥ ६॥ विवेक और सजगता लिये विना अत - करण मे स्वय अनुभव का विकास नही होता। अनुभव के विना जैसी वस्तु है, जड पदार्थ और देहधारी चेतन जीव, इनमे जहॉ जो कुछ गुण-दोष है उनका ठीक-ठीक ज्ञान नही होता,

फलत जहाँ-तहाँ फँसकर सजगहीन अविवेकी का पतन होता रहता है॥ ७॥ विवेक सहित मावधान रहे विना अपने जीव के हानि-लाभ, अकाज-काज, अहित-हित, मन्मार्ग-गुरुमार्ग जाना नही जाता ओर सर्वाग सत्पुरुपार्थकृत एकरम मुख भी उसके जानने मे नहीं आता॥ ८॥ स्वरूपस्थिति रहस्य के अलावा लोकिक-वदिक मर्व कर्तव्य हमारे लिए बन्धन कारक ह, आवागमन आर देहोपाधि के वोझ से मुझे दुखी करने वाले ह, इस प्रकार विवेक और सजगता के विना विद्या-अविद्या वन्धनकृत कर्तव्यो में दुख-दोप देखने मे नहीं आते। जिसमे दृढ दुख-दोष देखने मे नही आवे उमसे अलग भी कसे हो सकते ह। ॥ ९॥ वन्दीछोर सद्गुरुदेव का पारखज्ञान सूर्यवत हे, जिसमे जड देह, गेह, पदार्थो की अहता, ममता, जडाध्यास, जड भावनारूप अन्धकार का लेश नहीं ह। नित्य शुद्धज्ञान प्रकाश मे स्वय प्रकाशित, निराधार, सर्व क्लेश-रहित, अपरोक्ष, अचल स्थिति ह। हे जीव। ऐसे गुरुज्ञान गुरुपद-निजपद को पाकर सत्सग मे उसकी रक्षा करो। ममर्थ पारखी गुरु के सत्सग, विवेक आर सजगता ये तीन मुख्य मुभट लेकर अक्षय पारख धन की रक्षा करते हुए तुम जीवन्मुक्ति के पश्चात विदेहमुक्ति स्थिति मे ठहर रहो, जिससे इम दुर्दशामय जगत का फिर दर्शन न हो॥ १०॥

मवया—२८

फिक्र परहेज परिश्रम साहस भूलै न दु.ख जो वरवस भोगै।
लेखा करे दिन राति यही परिणाम विचारि कै होय अरोगै॥
जानि विजाति को साथ सजग रहि धीर विचार सहन सुख भोगै।
वरवीर वन निज के हित मे गुरु सम्मत राखिकै हो पद योगै॥

टीका—एकरस रहने के कर्तव्य ये हें—(१) कल्याण करने की फिक्र (२) सयम (३) पुरुपार्थ आर (४) साहम धारण करे, साथ ही (५) वाहरी जड तत्व आर देहधारी जीवों मे तथा अपने तन-मनकृत रोग-व्याधि, चिंता आदि परवशता से जो अनन्त कप्ट नित्य भोगना पड़ता हे, उन दुखो का म्मरण रक्खे। सर्व देहोपाधि के दुख छेदन करने ही के लिए उक्त रहस्यो को धारण करे। (६) रात-दिन यही परीक्षा करे कि गुरुमार्ग मे चलते हुए पहिले मे अव हमारे पूर्व के रहस्यो मे कितना अतर पडा। गुरुपदम्थिति की फिक्र, कुसग-कुभावना से परहेज, सयम-मत्साधनो में परिश्रम, मन के अध्यासों को पछाडने मे साहस आर जगत में दुख दर्शन ये सव रहम्य पहिले से अव कम ह या विशेप। यदि परीक्षा करने से उक्त रहस्यो मे नित नवीनता देखे तव तो माभाग्य मान के गुरुमार्ग मे चलता ही रहे आर कमी जान पडे तो उसके परिणाम का ख्याल करे। जो हम गुरुमार्ग से धीरे-धीरे पिछडे तो अवश्य जगत-कृप मे पडेगे-गिरेगे, मुझे सहन-रहित अनत कष्ट होगा, ऐसा विचार कर मानसिक रोगो को नष्ट करने मे फिर पूर्वोक्त रहस्यो को लेकर चाकस हो जावे। इस प्रकार नित्य-नित्य परिणामदर्शी होने ही मे मनुष्य मानसिक रोग से रहित होकर आरोग्य-स्वरूप मे टिक जाता ह। पुनः विजाति देह, मन आर वाहरी मोहक नर-नारियो तथा विपय पदार्थो का साथ जानकर तिनमे खिंच जाने की मंधि देखकर सदव सावधान रहना चाहिए और धीरता-विचार सहित इन्द्रिय और मन का रोकने मे जो कष्ट प्रतीत होता है उसको सहन करना ही परम सुख जाने। कप्ट सहकर जेमे विपय भोगो मे अज्ञानी सुख मानते हैं वसे कष्ट सहकर मनोवृत्तियो को विपयो से रोकना ही

श्रेष्ठ सुख निश्चय करके वृत्ति निरोधरूप अभय सुख लेते रहना चाहिए। इस प्रकार अपने हित कार्य के लिए श्रेष्ठ वीरभाव धारण करे। इन सब रहस्यो के साथ ही पारखी सद्‌गुरु का विचार मिलाते रहना चाहिए। इन सब रहस्यो को लेते हुए सहज ही मनुष्य एकरस गुरुपद मे स्थित रहेगा।

मगल—२९

सन्तन के रोजगार ज्ञान को, बेचि खरीदि यह काज हो॥ टेक॥
सत्य तराजू क्षमा के बॉटन, यकरस तौल रहान हो॥ १॥
तौला धीरज धरम पारखी, न्याय रीति भल जोय हो॥ २॥
महँगा मोल धारणा जिसका, दाम वही का लेय हो॥ ३॥
रक्षा जिसकी लेखा समुझौ, नीद गाफिली आय हो॥ ४॥
चेतन जड निर्णय धन बृद्धी, भक्ति सजग रखवार हो॥ ५॥
अहंकार डाकू लागै घर मे, सुखाध्यास शरताज हो॥ ६॥
अनुभव ज्ञान ध्यान बल विद्या, है सम्बन्ध परकाश हो॥ ७॥
खास स्वरूप एकरस अबिचल, क्रिया हीन सत सार हो॥ ८॥
भूल भरम से कष्ट प्रगट यह, करत क्रिया बिसतार हो॥ ९॥
बिना बासना क्रिया न कोई, अनुभव सबहिं देखान हो॥ १०॥
अहै बासना दुख को कारण, क्षण क्षण कष्ट देवार हो॥ ११॥
निरहकार यह बीर बिजय बर, अहकार भट मारि हो॥ १२॥
नैराश्य गहौ तेहि बन्धु अचल भट, सुखाध्यास रिपु पारि हो॥ १३॥
उक्ति युक्ति बहु करै बिबिधि बिधि, स्वत शोध निरधार हो॥ १४॥
सद्‌गुरु राय को पालन करि कै, बिलग न कबहूँ होय हो॥ १५॥
ज्ञान सिद्धि फल मुक्ति मिलै तेहि, फिर न जगत तेहि होय हो॥ १६॥

टीका—सतजन का व्यापार यथार्थ ज्ञान का ही है। पारखी, विवेकी, रहस्ययुक्त सद्‌गुरु से भाव-भक्ति सहित ज्ञान को खरीदना और पुनः वही यथार्थ पारखज्ञान को अधिकारी प्रति देना, बस यही सतो का प्रधान कार्य है॥ टेक॥ सत्य जिसका तराजू है, क्षमा ही बॉट है, घट-बढ रहित जैसे का तैसा यथार्थ निर्णय करते रहना यही एकरस तौलना है। इस प्रकार सतजन ज्ञान की तौल करते रहते है॥ १॥ धैर्यवान और यथार्थ धर्म को जानने वाले, अपने पराये हानि-लाभ को परखने वाले, सत्यन्याययुक्त बोलचाल-बर्ताव, इन सब लक्षणो से पूर्ण पारखी सतो को तौलने वाला जानना चाहिए॥ २॥ पारखज्ञान का मोल-तोल तो महँगा भाव है। वह यह कि जैसा पारख स कथन करना वैसी ही सद्धारणा बनाना और उसकी कीमत तो यही है कि जो पारखज्ञान लेता है वही अपने को बोधदाता विषे अर्पण हो जावे अर्थात पारखज्ञान लेने के लिए जब आप ही सद्‌गुरु के हाथ बिक जावे—सद्‌गुरु की मनसा को पालन करे, तब सबको परख-परख कर पारख-रूप हो रहेगा, अन्यथा नही। कबीर देव ने कहा भी है—"शब्द है गाहक नही, वस्तु है महँगे मोल। बिना दाम काम न आवै, फिरै सो डामाडोल"

॥ वी० ॥ इस प्रमाण मे अपने आपको गुरुपद मे अर्पण कर देना, यही कीमत देना हे ॥ ३ ॥ जब आपको अर्पणकर पारखज्ञान अक्षयधन प्राप्त हो गया तब इस धन की रक्षा करनी चाहिए। इसकी रक्षा यही हे कि साधक-बाधक, कम-विशेष रहस्यो का यथायोग्य लेखा करे। अर्थात हमारे पहिले से गुरुपद साधक रहस्य कम तो नही पडते जाते हैं, ऐसी चोकसी युक्त जितने अगो मे कमी जान पडे उतने अगो को पूरा करने मे सचित प्रयत्न करते रहना चाहिए। पूरे अगो को लेकर प्रारब्धात तक ठहरना चाहिए। इन्हीं से ज्ञानधन की रक्षा होगी। इस परीक्षा मे ढिलाई करना ही सो जाना हे। फिर सोने वाले का धन सुरक्षित केसे रह सकता ह? अत परीक्षा करने मे आर रहस्य धारणा मे ढिलाई रूप निद्रा को त्यागना चाहिए ॥ ४ ॥ जड ओर चेतन का गुण-लक्षणो द्वारा पृथक-पृथक यथार्थ निर्णय करना ही ज्ञानधन को बढाना हे। इस धन के रक्षक—सद्‌गुरु की भक्ति ओर प्रतिक्षण मन, प्राणी, वस्तुओ मे सावधान रहना ये ही दो हैं। इन रक्षको को सतजन साथ मे लिए रहते ह ॥ ५ ॥ उस ज्ञानधन को लूटने वाला अहकार नाम का बडा डाकू हे। वह अत करण नाम के घर मे लगता रहता हे। अहकार का सगा बडा भाई सुखाध्यास शिरोमणि हे। पॉचो विषययुक्त सुखमानन्दी ही से नश्वर तन-धनादि का गर्व भरता हे। गर्व हेतु सुखाध्यास होने मे सुखाध्यास अहकार का बडा भाई कहा गया ह ॥ ६ ॥

विचार करे कि जितना जो कुछ बुद्धि मे कम-विशेष अनुभव होता ह, बुद्धिचपलता, बाह्यज्ञान की विशेषता, ध्यान, विद्या, शारीरिक सुन्दरता ओर सम्पत्ति आदि कोई भी बल हो, सब जीव के मानन्दीयुक्त देह सम्बन्ध से कारीगर-साधन न्याय[1] प्रगट होते हं ॥ ७ ॥ देह ओर देह सम्बन्धी सर्व विकारो का परीक्षक सबसे भिन्न शुद्ध चेतन अपने आप सत्य-शिरोमणि ह ॥ ८ ॥ यह जीव अपने सत्यस्वरूप की भूल मे जड तत्वो को अपना स्वरूप मान कर देहादि मानसिक दुखो को उत्पन्न कर लिया हे। भूल-भ्रम से ही विषयो मे सुख मानकर नाद-बिन्द मनोमय सृष्टि की वृद्धि किया करता हे॥ ९ ॥ किसी प्रकार की वासना सम्मुख हुए बिना चलने-फिरने, दुख-सुख मानने आदि की कोई क्रिया नहीं होती, यह अनुभव सबको प्रत्यक्ष देखने मे आ रहा हे ॥ १० ॥ जहॉ तक निज स्वरूप से पृथक की वासनाएँ ह, उन्हे ही दुख का हेतु जानिए, जो कि क्षण-क्षण अत करण मे उठ-उठकर जीव को पीडित करती रहती ह ॥ ११ ॥ पूर्वोक्त विचार लेकर तन, मन, धन सम्बन्धी तथा ज्ञान, ध्यान, धारणा आदि किसी का भी अहकार न लेना ही निरहकार का स्वरूप ह। यह निरहकार ही श्रेष्ठ वीर हे। यही अहकाररूप बडे डाकू को मारकर विजय प्राप्त करता ह। इसी मे सतजन अहकार-रहित रहते हैं ॥ १२ ॥

निरहकार का साधक उसका श्रेष्ठ भाई नराश्यता ह। वह शत्रुओ से कभी विचलित न होकर सदा अचल रहता हे। प्राणियो आर विषय-विलासो की आशा-चाहना न करना, उदासीन रहना ही नराश्यता ह। यह नराश्य वीर सुखाध्यासरूप दुश्मन को जडमूल मे नष्ट कर

---

१. जसे कारीगर आर साधन (ओजार) सम्बन्ध मे नाना प्रकार की कलाऍ प्रगट होती हैं, केवल एक से नहीं, परन्तु ज्ञानगुण करके चेतन कारीगर ही जड आजार के त्याग-ग्रहण मे श्रेष्ठ हे, वसे जड-चेतन सम्बन्ध मे उक्त सब बाते होती ह, पर चेतन ज्ञाता होने मे श्रेष्ठ शिरमार हे और वह जड बन्धन का त्याग कर सकता ह।

देता है। इसीलिए सतजन हमेशा जगत-भोगो से नैराश्यता धारण करते रहते है॥ १३॥ निरहकारता और नैराश्यता ये दोनो वीर अनेक युक्ति-उपाय, उक्ति-विचार सहित स्वतत्र अनुभव-ज्ञान उत्पन्न करके जीव को निराधार, मुक्त एव स्थित कर देते है। जिस प्रकार जीव स्वतत्र-निराधार हो जावे वही-वही अनुभव युक्त रहस्य विचार अमानी-निराशी पुरुष धारण करते हैं॥ १४॥ पूर्वोक्त ज्ञान का व्यापारी बनकर सद्गुरु की मनसा का पूर्णरूप से पालन करके कभी भी गुरुपद से पृथक न होना चाहिए॥ १५॥ इस युक्ति से ज्ञानधन की पूर्ण रक्षा करके ज्ञान-सिद्धि मिल जाती है। सदेह, कल्पना तथा सुख मानना रहित पारखज्ञान पुष्ट हो जाना ही ज्ञान-सिद्धि है। ज्ञान-सिद्धि के पश्चात जगत-बन्धन से छुटकारा मिलकर सदा के लिए जीव की मुक्ति हो जाती है और पुन: ऐसे ज्ञान-व्यापारी को आगे जन्म-मरणरूप भवकूप मे नहीं पडना पडता है, यही सतजन करते हैं॥ १६॥

शिक्षा—हे प्रिय! जो आप भी दुखो से छूटना चाहे तो यही व्यापार चालू कर दे।

सतजन ज्ञान के व्यवसायी होते है

दृष्टांत—एक वैराग्यवान सत विचरते-विचरते भावीकोट नामक नगर मे पहुँचे। गॉव के पास एक पक्का कूप था। कूप की जगत पर सत आसन लगाकर विवेकयुक्त बैठ गये। इतने मे घूमते-घूमते नगर के सेठ आये। सेठ ने सत से पूछा—आप कौन है? सत—जो तू, सो मैं। सेठ आश्चर्यित होकर बोले—इसका अर्थ क्या है? सत—तुम कौन हो? क्या करते हो? सेठ—मै नगर का सेठ हूँ। मै रत्नो और जवाहरातो के लेन-देन का व्यापार करता हूँ। सत—फिर जो तुम करते हो, वही मै करता हूँ, बल्कि तुम से विशेष कीमती रत्नो का में व्यापारी हूँ। न प्रतीति हो तो मेरे रत्नो को लेकर देख लो। सेठ—अपने रत्नो को कृपया दिखाइए। सत—अवश्य दिखाऊँगा। पहिले तो तुझे मेरे रत्नो की परीक्षा करने की विद्या पढना चाहिए। सेठ—पढाइए। सत—इस विद्या को पढने के लिए तुझे जगत के भोगो से मन हटाना पडेगा। नाच, सिनेमा, शहर, बाजार आदि की सैर करना छोडकर नित्य मेरे पास आना होगा। जो-जो मै कहूँगा उसे सुनना पडेगा। सुन के मनन, मनन के पश्चात उसी के अनुसार कर्तव्यपरायण होना पडेगा। सेठ—ये सब बाते तो कठिन है। सत—फिर मेरे अविनाशी धन को तुम प्राप्त भी नही कर सकते। सेठ—यदि इतने कष्ट से आपका धन मिलेगा तो उससे लाभ क्या होगा? सत बोले—

चौ०—*सब मनसा पूरण है जावे। सबसे श्रेष्ठ पूज्यपद पावै॥*
याद मात से बाछा पूरण। अस पूरण की कबहुँ न चूरण॥
सब सुख चारो ओर विराजै। शत्रु तास नहि खटक अकाजै॥
नर नारी लखि चितित होवै। बलि-बलि जाय प्रेम से जोवै॥
ज्यो-ज्यो खर्च करे त्यो बाढै। अस धन जो सब दुख से काढै॥
स्वार्थ लेश नहि काम कलेशू। भय चिता परिशर्म न लेशू॥

दोहा—*जो कोइ पावै ऐस धन, सो आपै रहि जाय॥*
फेरि गर्ज नहि कछु रहे, परम पारखी आय॥

इतना कहकर सत सेठजी से पृछने लगे कि तुम्हे जगत मे कोई दुख प्रतीत होता है या नही ? सेठ—हॉ अवश्य। कोई मर जाता है, शरीर मे रोग लग जाता है, शत्रुओ का भय बना

रहता है, इन्द्रियाँ थक जाती हैं तो भी मन विषयो को छोडना नहीं चाहता और शरीर बूढा हो जाता हे। संत—तो तुम क्या चाहते हो? सेठ—पूर्वोक्त वाते न हो। सत—ठीक हे। पूर्व वातो से बिलकुल वेलाग हो जाओगे, मात्र हमारे ज्ञान को सादर श्रवण करो। सेठ को संत से ज्ञान सुनने की रुचि हो गई। वे सत को ठहरा करके नित्य सत्सग करने लगे। सत ने कहा—म तुम्हे कुछ अमूल्य रत्न देता हू। सेठ धारण करने मे तत्पर हो गये।

सत वाक्य—गजल

सदा सत्सग को तीरथ समझ इसमे नहा लेवो।
सदा सद्गुण के रत्नो की वना माला पहिन लेवो॥ टेक॥
हिसा व निन्दा द्वेष ईर्ष्या क्रोध चोरी त्यागकर।
व्यभिचार ममता दुर्वचन तृष्णा अनय से भागकर॥
सदा दुर्गुण को वेरी लख उस से मन हटा लेवो॥ १॥
शम दम क्षमा शाति दया सत प्रिय वचन सद्बोध लो।
निर्मान निश्चय ध्येय पारख स्थिती पद शोध लो॥
सदा मन कर्म से भाई अमद सतपद को जा सेवो॥ २॥
चैतन्य जड ये वस्तु दो तेहि को विवेक से भिन्न कर।
दृश्य द्रष्टा साक्ष्य साक्षी ये अनादी जानकर॥
उभय ग्रन्थी मनोमय से तिसे अव तुम जला देवो॥ ३॥
एकरस सजगे परीक्षा धैर्य भक्ति उदारता।
निष्काम ह्वै निर्मान शुचि यहि ऐन पद निरधारता॥
सदा पुरुपार्थ से अपना सरे कारज वना लेवो॥ ४॥

दोहा—उक्त वहुत समुझाय क, सत पृछते वेन।
रत्न मिले तोहि या नहीं? सेठ हर्ष युत चेन॥ १॥
श्रीगुरु परख प्रताप तव, रत्न मिले अनमोल।
जाहि गहे शोभा लहे, सर्व शिरोमणि वोल॥ २॥
चोर विघ्न तृष्णा वढै, लोकिक रत्न अनर्थ।
शुद्ध रत्न निर्विघ्न लहि, नित्य तृप्त सह अर्थ॥ ३॥
पाय गुरुहि सव दुख छुटे, तन-मन-धन वलि जाउँ।
भक्तिभाव गहि एकरस, अक्षय परख पद पाउँ॥ ४॥
सतो का व्यापार इमि, होत सर्व से श्रेष्ठ।
क्यो न करे नर जाय तहँ, पावै स्वपद यथेष्ठ॥

शब्द—३०

साधु नीति शुभ काज करौ मन, जानि हितू सब॥ टेक॥
श्रवण मनन निदिध्यासन करि कै, सतपद पुष्ट अखण्ड।
भय चिन्ता सन्ताप न धारौ, समय अमूल्य न खण्ड॥

देखी सुनी सम्हारौ पर की, मन कृत जाल पखण्ड।
दिल उदवेग रोकि बर साधन, सब अध्यासहिं खण्ड॥
काम यह साधु करे जो॥ साधु नीति॥ १॥

द्वेष ताप मे तपे न अपना, मन बस जीव लखे।
स्वरूप देश मे बसौ हमेशा, जगत अभाव रखे॥
जहँ की तहे हानि सब जावै, निज निज भाव चखे।
कुशल की कुशल माहिं का घाटा, नहिं जहँ गैर ढके॥
काम यह साधू कर जो॥ साधु नीति॥ २॥

टीका—हे मन! परमपद प्राप्त करने के लिए ओर दुखो से छूटने के लिए साधुनीति—सदाचरण, शुभकार्य सर्वाग ग्रहण करो॥ टेक॥ प्रथम साधुगुरु से पारख सिद्धात की बाते सुनो, फिर उन्हे मनन, पश्चात निदिध्यासन, बार-बार चिंतन द्वारा पुष्ट करके सतपद-पारख सिद्धात को अखण्ड रूप से धारण करो। देह छूटने आदि का भय तथा जड-उपाधि की नाना चिंताएँ, विषयकृत नाना सताप-जलन इन सब बातो को मत धारण करो। इन व्यर्थ-बातो मे अपना अमूल्य समय न खोओ, बल्कि ऐसे अमूल्य अवसर मे जो कुछ तुमने विजाति जगत मे अन्य मनुष्यो की क्रिया व्यवहार वार्ता देखा-सुना हे, उन सबो की परीक्षा कर-कर विकारी बातो को भीतर ही पचा डालो, परख-परख कर उनमे न बहो और जहॉ तक मन-मानन्दीकृत जाल तुमने बना रक्खा हे उन सबो को मिथ्या दुखपूर्ण दिखावा मात्र समझ लो। पूर्वोक्त देखे, सुने और मानन्दीकृत जितने कल्पित उद्वेग हृदय मे हुआ करते है, उनका गुरु-पारख रहस्ययुक्त सत्साधन-द्वारा दमन करते हुए अपने से पृथक सर्व अध्यासो को ध्वस कर डालो। यह कार्य मुमुक्षुजन करते हे, इसलिए हे कल्याणार्थियो! तुम्हे भी यही शुभ कार्य करना चाहिए॥ १॥ स्वय तुम किसी की वर-विरोधरूप आग मे मत जलो। दूसरा भले वैर-विरोध करे, पर तुम कभी उसका मन, कर्म और वाणी द्वारा अहित मत करो। यह जान लो कि सब जीव मन के विवश दीन हे। जो पराये हाथ बिका हुआ है, वह स्वय दीन-दुखी हे। उस पर समझदार को क्रोध करना चाहिए या क्षमा? अवश्य उसके साथ समता-क्षमा धारण करो। इस प्रकार द्वेष को दिल से निकालकर सदोदित स्वरूप देश मे ठहरो। परख-परख सब वासनाओ को डालने का निरतर अभ्यास बनाकर स्वय सतुष्ट रहो। अन्दर-बाहर से जगत का अभाव करो। अरे! यह दुनिया दुरगी तथा यह ससार सशय का रहट है। इसमे कोई नीच कर्तव्य से नीचे जाता है, तो कोई उच्च आचरण से उच्चता को प्राप्त होता है और कोई उच्चता को प्राप्त होकर फिर ससार के ममता-वश धीरे-धीरे नीचे खिसक रहा है तथा कोई नीची श्रेणी मे रहते हुए भी श्रेष्ठता का भाव और उत्तम कर्तव्य बनाते-बनाते उच्च हो जाता है। इस प्रकार अपनी-अपनी भावना के अनुसार कर्तव्य कर-करके तदनुसार सब जीव फल प्राप्त करते रहते हे, इसलिए हानि करेगा सो अपने लिए करेगा। हानिकृत कार्यो से करने वाले की ही हानि होगी, न कि द्रष्टा की। इस विचार मे जहॉ के तहाँ ही हानि-लाभ डालकर तथा जगत की फिक्र छोडकर तुम अपने सत्पुरुषार्थ मे लीन होओ। विचार करो! स्वरूप ही कल्याणरूप है, सो शुद्ध चैतन्य पारख तिसमे स्थिति के रहस्य को धारण करना ही कुशलमार्ग हे। ऐसे गुरुमार्ग पर चलने वाले का

ही कुशल हे। उनकी कुशलता मे केसे घाटा लग सकता है। जहाँ विजाति राग-द्वेष, ममता-आसक्ति का आवरण ही नहीं वहाँ फिर हानि का सचार ही कहाँ! यही निर्मल निर्विक्षेप पुरुषार्थ सन्तों का हे। इसे ही धारण करके स्वरूप में शात होना चाहिए॥ २॥

प्रसंग ८—मानस-विजय

मानस-संग्राम

शव्द—३१

चढ़ि आये मोह विवेक नृपति पर॥ टेक॥

सेनापति भ्रमसुख को लीन्हे, राग सैन सज कर।
मनसिज भट तेहि माहिं विराजै, छल डाकू तहँ हठ कर॥ १॥
अध्यास डाकिनी करे चौंकसी, यादि करावै सक भर।
जानि इशारा होय उकहरू, राजस साथी तेहि कर॥ २॥
विविधि उपाय भोग हित करते, हानि लाभ तजि कर।
लोभ वीरवर तहाँ सहॉयक, दम्भ को अगुवा करि कर॥ ३॥
योधा क्रोध हानि को देखत, सहि न सकत बल कर।
हिंसा भगिनी तेहि की धाई, सखी कुटिलता लेकर॥ ४॥
द्वेष वीरवर चले जोर करि, मदहि वोलायो हितकर।
निज निज वलहि वखानत दोऊ, जीत हेतु भूपति कर॥ ५॥
कलह लडाई भिरी राक्षसी, परपच पुरुष मिलि कर।
चिन्ता शोक पुत्र वेटी दोउ, दुख नाती को गहि कर॥ ६॥
आशा तृष्णा प्रवल पिशाची, रूप भयानक तिनकर।
संशय रहत कवहुँ थिर नाहीं, विविधि कल्पना मिलिकर॥ ७॥
यह सव फौज अपर्वल गर्जे, सुखी मोह लख कर।
छिन मे अरिहिं पछारा पहुँचत, वार कौन तेहि कर॥ ८॥
हिम्मति पछर पठै चर दीन्ह्यो, खवरि कीन्ह चढि कर।
मजि के फोज लडो रण सनमुख, नही बचारा छिपि कर॥ ९॥

टीका—मोह-दुश्मन[1] विवेकराजा[2] पर चढाई कर रहा है ॥ टेक॥ मोह अज्ञान से पूर्ण अधकार रूप होने से उससे ढका जीव अपने स्वरूप को भूलकर नाशवान शरीर की सत्यता,

---

१ मोह या अविवेक के लक्षण—जो भाम सो में अहों, देह गेह मन प्रान।
यहै मोह अविवेक दुख, भिन्न अछत नहि ज्ञान॥

२ विवेकलक्षण— सकल परीक्षक एकरस, अविनाशी में आप।
दृश्य भिन्न जड दूर तम, यह विवेक हर ताप॥

दृश्य जड वस्तुओ मे सुख निश्चयता, सुख निश्चयता से मै और मेरा अहकार, फिर परलोक का ज्ञान बिलकुल नष्ट कर समग्र आसुरी छल-कपटादि मनोमय सेनाएँ एकत्र कर लेता है, 'भ्रमसुख' मोह-राजा की फौज का प्रधान अफसर है। इससे मोह और मोह की फौज की रक्षा होती है। मोह से ही विषयो मे सुख का भ्रम होता हे। मोह मिट जाने पर सुख का भास नहीं होता। इसलिए मोह-राजा का समीपी 'भ्रमसुख' साथ ही रहता है। भ्रम से पदार्थो मे राग, स्नेह, पकड, खिचाव होता है। यही 'राग' नामवाली एक बडी भारी मोह की सेना हे। इसी राग से मोह की फौज की उत्पत्ति है, इसमे बहुत-बहुत से वीर सिपाही भरे हें। तिन सिपाहियो मे मनन मात्र 'काम' वीर रहता है। काम ने अष्ट शस्त्र[१] चलाकर सब जीवो को विकल कर रखा है। जहॉ पदार्थो मे राग दृढ हुआ वहाँ काम का सचार होता हे और जहॉ काम विषय है वहॉ छल-कपट अवश्य ही आ जाते है। छल मे हठता ओर जबर्दस्ती भर जाती है। मनुष्य स्त्री-धनादि की प्राप्ति के लिए मनमाने दुराचरण करके लोक-वेद, धर्म-नीति तथा गुरु-साधु की सम्मति त्याग देता है। इसलिए राग के साथ काम, काम के साथ छल है। वह छल, हठता और अनीति से पूर्ण है। इस प्रकार मोह-राजा और उसकी फौज का मालिक भ्रमसुख, उसके साथ रागरूप सेना, सेना मे प्रधान काम, काम के साथ हठ-शठ भरे छल-कपट ये सब तेयार हुए॥ १ ॥ पहिले और अब के जो देखे-सुने-भोगे विषयो के फोटूवत गुप्त सस्कार टिक गये है, उनका नाम अध्यास है। यह 'अध्यास' डाकिनी राग-सेना मे रही हुई राग-सैन्य कामादिक विकारो की चौकसी-रखवाली करती है। कामादिक विकारो का शक्ति भर स्मरण कराना ही इसका प्रधान कार्य है। पुरुष के रक्त को जिन्दा ही चूसने वाली अध्यास-डाकिनी का इशारा—सहायता पाकर 'रजोगुण' उकहरू नाम बल भरता है। अध्यास-डाकिनी का साथी रजोगुण, इसी के साथ लगा हुआ है। विषय-विलास के लिए नाना शौक, ठाट करना और राजसी सामग्रियॉ एकत्र करना रजोगुण कहा जाता है। जहॉ विषयाध्यास होगा वहॉ रजोगुण ठाट शृगार-सजावट अवश्य ही रहता है। राजसी भोगो से ही अध्यास डाकिनी की स्थिति है, अतएव अध्यास के साथ ही राजस भी आ जुटा॥ २ ॥

राजस देहाध्यास का साथी रहने से देह से भिन्न जीव के नफा-नुकसान का विचार करने ही नही देता, केवल कचन, कामिनी, मान, प्रभुता ही के लिए प्रयत्नवान रहता है। फिर तो मनोदल के वीरो मे श्रेष्ठ 'लोभ' राक्षस आ मिलता है। द्रव्य या सर्व विजाति विषय-भोगो के सग्रह का नाम लोभ है। लोभ से ही मनुष्य नाना प्रकार के दम्भ करता है। दम्भ अर्थात ऊपर की दिखावट—बनावट, ऊपर-ऊपर हितैषिता दिखाना तथा भीतर उसकी हानि करने या ठगने की इच्छा का नाम दम्भ है। इस प्रकार जहॉ भीतर-बाहर एकरस सचौटी व्यवहार न हो वहॉ दम्भ जानना चाहिए। लोभी मनुष्य इस दम्भवृत्ति को आगे रखता है, क्योकि 'लोभ कि इच्छा दम्भ बल' इस प्रकार राजस का साथी लोभ, लोभ का अनुचर 'दम्भ' ये सब मनोमय के दल मे आ जुटे॥ ३॥ उसी राग-फौज मे एक 'क्रोध' नामक बडा पहलवान सिपाही है, वह तो लोभ सहित तन, धन, युवती आदि राजस पदार्थो का नुकसान सह ही नही सकता। जहॉ कहीं

---

१ (१) नर-नारियो का विविध फैशन बढाना। (२) कुसग—जिमसे काम बढता हो ऐसे सग। (३) वैसे ही स्मरण-कुभावना। (४) अन्य विषयो का ग्रहण। (५) प्रमाद। (६) ससार मे सुख निश्चय। (७) अविवेक और (८) चचलता। काम के अष्ट शस्त्र ह।

किसी को मान, धन, जन की हानि करते देखा कि सहन रहित होकर सारे देह मे जोश भर देता है। ऑखे लाल करके हाथ-पग फडफडाकर उठ खडा होता है। इस प्रकार अपने भाई क्रोध को दोडते देखकर साथ ही उसकी वहिन जीववधरूप 'हिसावृत्ति' दोड पडी। क्रोधवृत्ति से ही मनुष्य दूसरे को मार डालने पर तेयार हो जाता ह। हिसा ने अपनी मखी 'कुटिलता'[१] अर्थात विरोधी टेढे वर्ताव को भी साथ मे लिया ह। इस प्रकार क्रोध, हिसा, कुटिलता परस्पर एक-एक के साधक होने से एक को दोडते देख सव दोड पडे॥ ४ ॥ क्रोध, हिसादिको को दोडते देखकर 'द्वेप' नामक सेनिक वीरो मे वडा वीर भी वल भर कर चल दिया। साथ ही अपने वडे हितैषी 'अहकार' नामक सुभट को वुला लिया। प्राणियो मे वैररूप द्वेप और विजाति पदार्थो मे फूलना-हर्ष माननारूप अहकार, ये दोनो अपनी-अपनी सामर्थ्य का वखान करने लगे, हम दोनो मोह भूपाल की कभी हार न होने देगे, सिवाय जीत के। गर्व के लक्षण—

कवित्त

नीकि-नीकि देह गेह नीकि-नीकि प्यारी नेह, नीके-नीके रक्षक सुभट अनुचर है।
विपुल प्रजाओ वीच शोभत महान हौं तो, विद्या हूँ के वीच नहि कोई सरवर है॥
सव पर शासन कहे मे सव मेरे अहं, ज्ञान गुण मेरे सम नहि पटतर हैं।
मेरी वस्तु लेवै कोऊ मारि मरि रहो शीघ्र, ऐसे-ऐसे गर्व करि काल मुख पर हे॥

भाव यह है कि जहाँ-जहाँ दृश्य पदार्थो मे में-मेरारूप महा गर्व रहता हे, वहाँ ही जव पदार्थो को कोई लेने लगता है तव उनमे द्वेपभाव वन जाता ह। इससे द्वेप का साधक अहकार ही हे ओर द्वेप-अहकार ऊपर कहे गये लोभ-क्रोधादि के साथ आ जाते हें, तो जहाँ ये सव मनोमय के वीर गाजते हें वहाँ मोहराजा का सहज ही वासा हे, विजय है॥ ५ ॥

द्वेप और अहकार सेनिको के साथ ही वार-वार प्रतिकूलता की वाते करके जलना-जलाना 'कलह' और 'लडाई' ये दोनो राक्षसी अपने 'प्रपचरूप' पुरुप को साथ लेकर राग-सेना मे भर्ती हो गई, ओर वे दोनो राक्षसी अपने साथ ही 'शोक' पुत्र ओर 'चिता' लडकी तथा 'दुखरूप' नाती को भी पकड कर मनोदल मे लेते आई। जहाँ दूसरे से द्वेष होगा वहाँ वार-वार कलह-द्वेष की वातें हुआ ही करती हें। उसी कलह से फिर लडाई शुरु हो जाती है। उस लडाई की जड मिथ्या प्रपच झूठे जालो की वार्ता या आसक्ति ही है। तो जहाँ द्वेप-लड़ाई वहाँ प्रपच, जहाँ ये सव वहॉ चिता ओर शोक की उत्पत्ति जानिए। फिर जहाँ चिता-शोक वहाँ दुख की कोन कमी। विविध चिंता, शोक का नतीजा दुख ही दुख हे। इस प्रकार कलह, लडाई, प्रपच, चिंता, शोक और दुख ये सव मोह की फौज मे एकत्र हुए॥ ६॥ इन्द्रिय सुख मिले यह आशा ओर जितना प्राप्त हो उतने मे सतुष्ट न होकर ओर-आर मिले यह तृष्णा, ऐसी 'आशा' और 'तृष्णा' ये दो वडी पिशाचिनी हैं, इनका रूप रक्तचूमक वडा भयकर तथा डरावना ह। सारे जगत की सम्पूर्ण सामग्री प्राप्त हो जाय तो भी ये दोनो कभी तृप्त नहीं हो सकतीं। आशा-तृष्णा के साथ ही 'सशय' नामक भट रहा हुआ ह। सशय अर्थात सत्य क्या हे, असत्य क्या हे तथा

---

१ दोहा—अति कठोर तकि क्रोध भरि, उलट पलट वतलाय।
ताहि कुटिलता कहत हैं, टेढे चलत दुखाय॥

बन्धन और मोक्ष क्या हैं, इन सब बातो मे सदेह बना ही रहना, ठीक-ठीक निश्चय न होना, ऐसे सशय राक्षस का जहॉ पर टिकाव हे, वहॉ कभी हृदय मे स्थिरता नही आ सकती। जहाँ सशय का बासा है वहाँ कल्पना के परिवार की क्या कमी। अत 'अनन्त कल्पनाए' भी सशय के साथ लगी हुई हैं। इस प्रकार आशा, तृष्णा, सशय और विविध कल्पना मोहदल मे आ जुटे॥ ७॥ ऊपर कही गयी मोह की फोज बडे जोरो से गर्ज-तर्ज रही है। मोहराजा इन सब सैनिको को देखकर अत्यत हर्षित हुआ और कहने लगा—क्षणमात्र मे 'विवेकराजा' और उनकी सेना को मार-काट के भगा दूँगा, अब देरी क्या है।॥ ८॥ इस प्रकार कुछ दूर सेना सहित मोहराजा बढ कर तथा आगे 'हिम्मतपछर' नामक प्रबल धावन को भेजकर विवेकराजा को अपनी चढाई का हाल जनाया और कहला दिया कि हे विवेकराजा! तुम भी अपनी सेना को सजाकर तथा इस मानस-सग्राम मे सामने कमर कस कर लडो। अब भागने-लुकने-दबने से छुटकारा नही हो सकता। कुछ दिन चलकर परमार्थ मे जिस कारण से रुकावट होने लगती है अर्थात कल्याण करने की श्रद्धा तथा हिम्मत छूटने लगती है, उसको हिम्मतपछर कहते हैं। यह मोह का धावन है। जहॉ मोह और मोह की फौज रहती है, वहॉ ही कल्याणकृत कार्यों से हिम्मत पछड जाती है। इसलिए मोह का अनुचर 'हिम्मतपछर' मोहराजा के आज्ञानुसार विवेकराजा को सदेश देने गया॥ ९ ॥

मोह सैनिको का दृश्य

विवेकवान सन्त कल्याण के अधिकारी से कह रहे है कि हे प्रिय! इस मोहराजा को एक दृष्टात से कहते है, उसे ध्यानपूर्वक सुनो। मोहतत्री नामक नगर मे एक विशाल मेला लगता है। हजारो-लाखो यात्री नित्य उस मेले से निकलते है तो लाखो आकर उसमे भरती भी होते है। सबके ठहरने के लिए वहॉ एक बृहत प्रपचालय (धर्मशाला) के नाम से प्रसिद्ध है। एकबार उसमे लाखो यात्री गये। इतने मे एक साधु पुरुष आकर सबो को सचेत करने लगे कि हे पथिको! हे राहियो!! हे यात्रियो!!! तुम लोग इस प्रपच की ओर दृष्टि न देना, इसमे के सुखो के लालच मे न पडना, इसमे जालियो-झरोखो से भी न निहारना, यहॉ किसी सुन्दर-मोहक मनुष्य का कहा न मानना। नही तो लाभ के बदले घर का भी जमा खोओगे, अत. सावधान! सावधान!! सावधान!!! पुनः सन्त ने कहा—

छन्द— *सौन्दर्यता यहॅ दीप सम मत पॉखि बन कर लोभियो।*
स्वाद सबही बशि सम मत मीन बनि के क्षोभियो॥
गध सब अनुकूल सरसिज भॅवर बन मत बधियो।
शब्द सब बहु भॉति मधुरव बनि मृगा मत अरझियो॥ १॥
स्पर्श बहु कोमल करिनि मत मस्त गज बनि रधियो।
चाटियॉ गुबरील अहि या बेल सम मत होइयो।
इन्द्रियो के सुक्ख तजि अविनाशि पद को जोइयो।
वाक्य सत कि मानियो नहि रक्त ऑसुन रोइयो॥ २॥
मोहतत्री राज से हट शात घर मे आइयो।
नाम नग्र विवेकतत्री तहॅ चलो तेहि ध्याइयो॥

कामना परिशर्म परवश सब मिट छिन माइयो।
चेतो पथिक! चेतो पथिक!! नहि पेटभर पछिताइयो॥ ३ ॥

ऐसा कह साधु पुरुष नम्र दृष्टि किये जल्दी मे चल पडे। साथ दो-चार पथिक भी सन्त के पीछे हो लिए। उन दो-चार पथिको को छोडकर बाकी सब पथिक उस प्रपचशाला की सुन्दरता को देखकर मोह गये। कोई भी वहाँ से हटना पसन्द न किया। इतने मे प्रपचशाला का प्रबन्धक बना हुआ मोहक-आकर्षक एक सुन्दर भ्रमसुख नामक मनुष्य आया। उसे देखते ही सब पथिक एकटक रह गये। वह "भ्रमसुख" बोला—जरा आप लोग मोहतन्त्री नगर के इस प्रपचशाला को देखिये, बस आप सब सुखो से पूर्ण हो जायेंगे। लोगो ने जाली-झरोखो से देखा तो अपार सामग्री देखने मे आई। तरह-तरह के रसास्वाद की चीजे, भाँति-भाँति के सौन्दर्य, चमकदार चीजे, किसिम-किसिम की खुशबू, अनेक प्रकार के कोमल सेज, नववधुएँ तथा और भी मधुर बाजाओ की धुन-धुनाहट, इस प्रकार की सब विहार-सामग्री देखकर सबको लोभ हो गया। जैसे ही व लोग धक्का दिये वैसे ही फाटक धडाधड खुल पडे। सब लोग उसमे घुस गये। मन इच्छित सब प्रकार के रसास्वाद की चीजे ग्रहण किये। उनमे नशीली चीजे खा जाने से सबकी बुद्धि विपरीत हो गयी। उसमे के सब मनुष्य सब पदार्थो मे सुख निश्चय करके उनके लिए लट्टू हो गये। इतने मे एक रागदत्त और मनोज दो जवान पुरुष आये। उनको देखत ही पथिकगण और भी मुग्ध हो गये। रागदत्त और मनोज ने कहा—तुम लोग ऐसा अमूल्य अवसर हाथ से क्यो खोते हो? (इशारा करके) देखो! देखो!! इस लीलामयी-इच्छावती की तरफ देखो! जीवन सफल करो!! उसकी तरफ देखते ही सबके सब लट्टू हो गये।

इच्छावती बोली—मेरे पास अपार द्रव्य है और मेरी सहचरी सखियाँ और दासियाँ अनत है तथा सकल भूमि पर मेरा राज्य है। मेरे कथनानुसार जो करे वह मुझे अपार द्रव्य सहित भोगे। सबो के हृदय मे बार-बार यही अध्यास उठा कि चाहे जान भले ही जाय, पर इसके कथनानुसार करना ही चाहिए। हानि-लाभ की कुछ परवाह न कर अपनी देहो को विविध प्रकार से राजस सामग्री-युक्त सजाकर छाती फुला बडे अकड के साथ अपने-अपने को सुन्दर कहकर उस इच्छावती और उसके अमित सखियो को वश करने की सब कोई इच्छा करने लगे। साथ ही यह द्रव्य मेरा है, यह स्त्री मेरी है, इस प्रकार अभिमान से पूर्ण होकर आपस में गाली देकर कहने लगे—रे शठ! यह द्रव्य, यह जमीन, यह वैभव मेरा है, इस पर मेरा कब्जा है, तू क्यो लिए जाता है। यही बात दूसरा भी कहे, तीसरा और चौथा, यहाँ तक कि सब यही कह-कहकर आपस मे लडने लगे। छल, कपट, चालाकी, चतुराई, बेईमानी से अपने-अपने साथियो के साथ वर्तने लगे। उसमे कई दल बन गये। सब आपस मे एक दूसरे को लूटने, फूँकने, दाबने, ताडने और मार डालने के विचार से कुटिल कठोरपन धारण करके क्षणिक विभ्रमयी धन, बल, विद्या के अहकार मे गर्जने लगे। कलह, लडाई, प्रपच-वार्ता करके हरदम ईर्ष्या मे जलने लगे। चिंता-शोक के सहित संतत दुखी रहने लगे। सब उस प्रपचालय मे सुख का सहारा पकड कर जो जितना ही मायावी चीजे प्राप्त करता उतना ही वह तृष्णाग्नि मे झुलसता रहा। मोहतत्री नगर के राजा ने सबो को काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या, छल, कपट, व्यभिचार, प्रमाद, चिंता, शोक और त्रिविध तापरूप अग्नि मे जलते देखकर प्रसन्न हुआ। पुन विशेष-विशेष दुर्गुण बटाने के लिए डका देकर कहा—ऐ पथिको! तुम लोग तडफो मत, दुख भोगकर ही तुम्हें सुख मिल रहा है। इस लोक के सुख खूब भोगो और मस्त रहो,

देखो। सत्सग, विवेक, निर्णय, त्याग, वैराग्य आदि सद्गुण मेरे घोर शत्रु ह। इनका कभी नाम भी न लेना। मोहराजा ने सबसे बार-बार कहा—ये माया की चीजे सबकी हैं। इसमे कोई मेड-मर्यादा नही हे। इसमे नाना चतुरता द्वारा वस्तुएँ प्राप्त करो, फिर मौज-शोक करो। इतना सुनते ही सब पथिको को वहाँ की वस्तुओ पर इतनी अहता-ममता दृढ हो गयी कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, कहाँ को जाऊँगा, मेरा क्या कर्तव्य हे, सब भूल गया और उनमे परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट और विश्वासघात का जोश भर गया।

"जैसा राजा, वैसी प्रजा" कहावत के अनुसार सारे पथिक दुर्गुण के रूप बन गये। नाना यत्र-कला, नाना विद्या द्वारा परधन-परस्त्री हरण करके चिंता, शोक, मोह और प्रमादरूप अग्नि मे जलने लगे। बात-बात मे फैशनबाजी ओर स्त्री विषय की आसक्ति बढाकर शारीरिक ओर मानसिक तेज-बल से क्षीण हो गये। पास ही मे अपनी मृत्यु न देखकर अनत प्रकार से परपीडन, जीव-हिसा निश्चय कर लिये और इसीलिए नाना विद्या, कौशल की बढती किये। वे लोग इतने सहनरहित प्रमादी बन गये कि दूसरे की थोडी भी सुख-शाति देखकर उत्पात मचाने लगे। बाम-विनोद को गले का हार बनाये तथा केवल धनवृद्धि को परम पुरुषार्थ समझ लिए। वे हर तरह से अपने अविनाशी अमृत सत्य स्वरूप पर पर्दा डालकर विजाति जड-विषय प्रवाह मे बह रहे है। फिर ऐसे मोहतत्री राज्य मे कहाँ सुख, कहाँ शाति, कहाँ परोपकार और कहाँ स्थिति।

छन्द—*मोह से आवर्ण हो सब झूठ भी सच दिख रहा।*
देहादि मे तब राग भौ फिर काम आकर चुभ रहा॥
काम-वश नारी गही फिर द्रव्य लोभ सता रहा।
लोभ वश छल बल हजारो वैर घात बढा रहा॥ १॥
मम वस्तु इसको छू सकै को, यह प्रमाद जला रहा।
मारने मरने पै दावा अध परवश धा रहा॥
आसक्ति ईर्ष्या मे पगा तृष्णा व आश डसा रहा।
इस भाँति से जन्मादि मर्ण मे जीव कष्ट उठा रहा॥ २ ॥

दोहा—*याहि कष्ट के दलन हित, श्रीगुरुदेव विशाल।*
कह्यो मोह दल शत्रु दृढ, परखाये अरि हाल॥ १॥
अब आगे अरि-दलन हित, कहते सैन्य विवेक।
सुनहु ध्यान धरि हदय दृढ, नाश करो अरि टेक॥ २ ॥

विवेकराजा के सैन्य-सरदारों का वर्णन

शब्द—३२

खबरि पायो अरि की विवेक निरालस॥ टेक॥
मन्त्री परिणाम से सम्मत लै लै, ओसर जौन जहाँ जस।
सो सब युक्ति गुन्यो बहु विधि से, चूक न कबहूँ आनस॥ १॥

राग रहित वेराग वन्धु प्रिय, नैराश्य निवृत्ति को ठानस।
निर्मल सत्य सहाँयक निकटै, अचल रहस्य मे राखस॥ २॥
श्रद्धा भक्ति गुरू व्रत धारण, कलिमल सवहीं जारस।
शम दम सहनशील वर ममता, अजित पराक्रम धारस॥ ३॥
तोप क्षमा जहँ शूर शिरोमणि, विजय रूप वल जानस।
धीरज अडिग न पछरत कवहूँ, सफल कार्य सव थानस॥ ४॥
दया अहिंसा चले जोर करि, सातम साथ रहानस।
निज निज करतवि मे तत्पर ह्वै ह्वै, प्रगट प्रभाव देखानस॥ ५॥
सयम नियम सदा हठ करि कै, अन्तम शुद्ध रखानस।
शोच क्रिया वाहेर तन शुद्धी, मनहिं विकार को हानस॥ ६॥
यथा योग्य निर्णय पुरुपारथ, दिव्य चक्षु वलवानस।
कुसग रहित रणधीर सदा ह, सतसग कि शक्ति महानस॥ ७॥
नि.सशय यह शूर शिरोमणि, वल मे अतुल सुजानस।
साहस सदा एकरस तेहि कर, विघ्न अनन्त काटि मेदानस॥ ८॥
सजग अटूट हटे नहिं मुर्चा, अरिदल विचलि करानस।
शुभ गुण रहत साथ इन सव के, दुर्गुण सन्धि न पानस॥ ९॥
जोर तितिक्षा रहत सदा यह, गर्ज से रहित रखानस।
समाधान निज को भ्रममर्दन, अधिकारिन सशय टारस॥ १०॥
तप वल वली पाप क्षय करता, लखि कै कुमति परानस।
अविवेक निशा जहँ निकट न आवै, दिनकर प्रवल लखानस॥ ११॥
उड़गण दीप प्रकाश छिपे सव, राका शशि छिपि जानस।
निशा फेल घुघुवा चमगूदर, रजनीचर वल हानस॥ १२॥
अज्ञान रात्रि से प्रगट मोह जो, मैनहु निशा ठेकानस।
दिन को कहो टिकै व केसे, जहाँ विवेक दिनावस॥ १३॥
यकरस जहाँ विवेक विराजै, धारण तैसे भावस।
तहाँ गेर की चलै कहाँ वशि, जो तेहि रण वचि जावस॥ १४॥
सिहनाद करि सम्हरि रहे सव, विपुल प्रताप जहाँ वस।
मोहराज पर झुकी सन्य सव, लखते विपमय पावस॥ १५॥

टीका—आलस्य रहित विवेकराजा अपने दुश्मन मोहराजा की चढाई का सदेशा पा गया। विवेकराजा पूर्ण प्रकाश रूप ह। उनके प्रकाश मे सत्य आर असत्य का यथार्थ ज्ञान होता ह, तथा नित्य जीव आर देह के सम्वन्धयुत कर्मवासना के अधीन पुनर्जन्म, कर्म-फल और वासना त्याग से मोक्ष होने का दृढ निश्चय होता ह। सुख-भोग मिथ्या जानने मे आते हैं, अत. कामादि का वहाँ लेश ही नहीं रह जाता। इस प्रकार जहाँ विवेक का प्रकाश ह, वहाँ सतोप, वराग्यादि सव साथी आ जाते हैं, जिसका वर्णन आगे करते ह। विवेकराजा अपने स्वामी (जीव) की हानि को देख नही सकते। स्वामी (जीव) की कल्याण मार्ग से हिम्मत पछडी

हुई देखकर विवेकराजा को ज्ञात हो गया कि हमारे स्वामी का अकल्याण हो रहा है। इसलिए स्वामी की सत्ता लेकर विवेकराजा शीघ्र ही वही उपाय करने लगे, जिससे स्वामी की हानि न हो। अब विवेकराजा भी अपने मत्री, सैनिक तथा सहायक सबको इकट्ठा कर रहे है॥ टेक॥ विवेकराजा अपने 'परिणामदर्शिता' नामक प्रधानमत्री से सलाह पूछ-पूछकर जिस समय जहाँ पर जिस दावँ-पेच से शत्रु का विनाश हो वह सब हाल जानकर शत्रुसहारक अनत युक्तियो का मनन कर लिया, उन मनन-युक्तियो को समयानुसार बर्तने मे विवेकराजा कभी गाफिल नही हो सकते। बार-बार सोच-समझ कर परिणाम मे बन्धन या दुख की प्राप्ति न होवे, ऐसा कार्य आरम्भ करना, इसका नाम परिणामदर्शिता है। जिसके आदि मे अमृत रूप सुख प्रतीत होता हो ओर परिणाम मे जहर-सदृश अत्यन्त दुख हो वह सब राजसी-तामसी क्रिया जन्मादिक दुखो का हेतु जानकर त्यागना चाहिए और जिसके करने मे प्रथम चाहे कुछ कठिनाई हो, जैसे ब्रह्मचर्य, तप आदि, पर अन्त मे अमृत-सा सदा रहनहार शान्ति को प्राप्त हो वह सब सतोगुणी क्रिया ग्रहण करना चाहिए। अत जिन कार्यो के परिणाम मे जीव निर्बन्ध, निष्फिक्र, निर्चाह, नैराश्य, स्वतत्र और अभय हो और एकरस स्वरूपस्थिति हो उन सत्कार्यो को धारण करना ही परिणामदर्शी का कार्य है। इस प्रकार सत्सग, सद्ग्रन्थ तथा स्वय अनुभव का आश्रय ले विवेकवान परिणाम शोध-शोध कामादि शत्रु ध्वसक तमाम युक्तियो का अभ्यास कर समयानुसार बर्तने मे क्षण भी नही चूकते, इसलिए विवेकराजा ने अपने मत्री परिणामदर्शी को साथ ले लिया॥ १ ॥

जगत-स्नेह रहित 'वैराग्य' नाम का भ्राता विवेकराजा को अत्यन्त प्रिय है। 'निराश' नामक सुभट सम्पूर्ण बन्धनो का त्यागरूप निवृत्ति का कार्य करते है। इन वैराग्य और निराश के सहायक निर्मल 'सत्य' नाम का सुभट समीप मे रहता है। विमल सत्य का यही काम है कि एकरस सद्रहस्यो को धारण कराये रहना, डिगने न देना, अर्थात "बिन विवेक वैराग्य न होई। बिन वैराग्य विवेक न कोई॥" दोनो परस्पर सहायक होने से भाई-भाई है। विवेकराजा को अपना बन्धु वैराग्य इतना प्रिय है कि वैराग्य के रहे बिना विवेकराजा रह ही नही सकता। ऐसे ही विवेक के बिना वैराग्य भी नहीं रह सकता। विवेक और वैराग्य दोनों जहाँ विराजते है, वहाँ सम्पूर्ण दृश्य दुख रूप जानने मे आने से नैराश्यता-समता प्राप्त होकर सम्पूर्ण दृश्य विषयो की आशा और बाहरी कुकर्तव्यो का त्याग हो जाता है, तब विवेक-वैराग्य के पास रहे हुए सत्यदेव भी मिल जाते है। "सत्य वही जाको नहि नाशा। सो सद्चेतन रूप प्रकाशा॥" स्थायी सत्यदेव जब ग्रहण हो जाते है, तब यह प्रण हो जाता है कि—"तनु तिय तनय धाम धन धरणी। सत्यसिन्धु कहँ तृण सम वरणी"॥ रा० ॥ "जो तू साँचा बानिया, साँची हाट लगाव। अन्दर झारू देइकै, कूरा दूरि बहाव"॥ बी० ॥" इस प्रकार सत्यबोध-युक्त मन, कर्म, वाणी मे सत्य बर्ताव ही एकरस साधु-रहस्यो को समेटे रहता है। ये सब विवेकराजा के सहायक एकत्र हुए॥ २ ॥

श्रद्धा-लक्षण
ज्ञान बिना नहि सुख कहूँ, ज्ञान देत गुरुदेव।
कब छूटूँ जगजाल से, श्रद्धा प्रेम सुभेव॥ १॥

भक्ति-लक्षण
गुरुमग लागै एकचित, तन मन तेहि के भाव।
निर्छल सेवा प्रीतियुत, भक्ति गहे सुख पाव॥ २॥

गुरुव्रत-लक्षण	*शूर सती औ सूम व्रत, कामी व्रत दे जान। त्यो गहि गुरु रहस्य सव, गुरुव्रत लहि दुख हान॥ ३॥*
शम-दम-लक्षण	*वल करि कामुक वेग दलि, शम ह्वै थीर विचार। इन्द्रिन क्रिया को वन्द करि, दम साधन अविकार॥ ४॥*
सहनशील-लक्षण	*गाली दुत रे तू सह, भिक्षुक मन नहि रोप। सहै सकल दुख नहि डिगै, गुरुमग चले अदोप॥ ५॥*
समता लक्षण	*आँख पेट मे पीर जव, फोडे नहि वरु रक्ष। त्यो सव मे समता लहै, तन मन हित से पक्ष॥ ६॥*

ये सव लक्षण जो गह, सोई महा अजेय।
जीति सकै को ताहि तव, गहि देखा किन एय॥ ७॥

इस प्रकार विचारयुक्त विवेक के आधार से 'श्रद्धा' 'भक्ति' तथा 'गुरुव्रत' रूप विवेक-सैनिक आ गये। ये सव सनिक अन्त करण के अज्ञान आर मर्व दोप-पापो को जला देते ह। माथ ही उपरोक्त लक्षणयुक्त 'शम' 'दम' 'सहनशीलता' 'श्रेष्ठ समता' ये मव विवेकदल मे भर्ती हुए। ये मव सुभट अजित हैं, कोई भी इनको पराजित नहीं कर सकता, ये वडे पराक्रमी हैं॥ ३॥ 'सतोप' आर 'क्षमा' ये दोनो वीर मर्व वीरो के मुकुटमणि ह। ये जीत की तो साक्षात मूर्ति हे। इनमे ऐसे वल, तेज तथा पारुप विराजमान ह कि हार का ये नाम ही नही जानते सिवाय जीत के। 'धीरज' नामक मुभट तो रण मे कभी पछाड ही नहीं खाता। धीरज के प्रताप से ही मव कार्यो मे मफलता मिलती ह। ऐसे तोप, क्षमा तथा धीरज विवेकराजा की फाज मे भर्ती हुए। इन शुद्ध लक्षणो का विम्तार आगे देखिए॥ ४॥ दया आर अहिम्मा ये दोनो वल भर कर चले। सतोगुण भी इनके माथ ही रहता ह। ये मव अपने कर्तव्य को भली प्रकार धारण कर रहे हं। इन सवो के तेज, वल आर मामर्थ्य शत्रुआ के मान-मर्दन करने वाले ह।

दया-लक्षण	*छोट वडे सव जीव से, वर करे नहि घात। धर्ममूल दाया गह, लहे सदा कुशलात॥ १॥*
अहिंमा-लक्षण	*मास भख नहि जीव वधे, निज सम जाने पीर। त्रय विधि रक्षे जीव कहँ, गह अहिसा धीर॥ २॥*
सातम-लक्षण	*सरल सत्य सुविचार शुचि, नम्र भक्ति निर्मान। वोध जितेन्द्रिय शान्त चित, सातस अग प्रधान॥ ३॥*

इम प्रकार 'दया' 'अहिम्मा' जोर भरते ह, तव 'सातम' प्रधान 'मद्गुण' आकर जीव को पग्ममुखी कर देते ह। अत ये मद्गुण विवेकराजा की फाज मे आ विगजे॥ ५॥ इतने मे 'मयम' आर नियम,[१] विवेक की फाज मे भर्ती हुए। वे वल करके अत करण को परम पवित्र

---

१ भग्त जी के म्यम-नियम क वाग म कहा गया ह—

अशन वमन वामन व्रत नेमा। करत कठिन ऋपि धर्म मप्रेमा॥
भूपण वमन भोग मुख भूगे। मन क्रम वचन तजे तृण तूगे॥
ग्मा-विलाम गम-अनुगगी। तजहि वमन इव जन वड भागी॥ गमायण॥

इमी प्रकार ग्वम्पम्थिति क माधन नेम आर व्रत धाग्णकर गुरुपद का प्राप्त हाना चाहिए।

बनाये रहते हैं। पुन 'शौच' अर्थात पवित्ताचरण आ गया। वह बाहर और अन्दर दो प्रकार का है। पवित्ताचरण—बाहर तो मिट्टी-जल से शरीर की मलिनता धोता है और भीतर के कामादिक सर्व विकारो को सत्सग और सद्भाव द्वारा नाश करता है॥ ६॥ फिर 'दिव्यचक्षु' नामक बडा बलवान सुभट विवेकदल मे आया। दिव्यचक्षु का यही परम पुरुषार्थ है कि ठीक निर्णय करना, जड को जड, चेतन को चेतन, गुण-लक्षणो द्वारा दोनो को पृथक-पृथक कर देना और वासनायुक्त बन्धन, निर्वासनायुक्त मुक्ति तथा मुक्ति के साधक निष्काम शुभकर्म और मुक्तिबाधक सकाम शुभाशुभकर्म, इत्यादि दिव्यचक्षु द्वारा निर्णय हो जाता है। पुनः 'कुसगरहित' और 'साधुसग' ये दोनो वीर आये। जिन-जिन से अत.करण मे मलिनता हो, विक्षेप हो, मोह हो, उन-उन विषयासक्त नर-नारियो का ओर रागी तथा द्वेषियो का सग त्यागकर अलग रहना, यह कुसग त्यागरूप वीर सदैव मानस-सग्राम मे धीरतायुक्त डटा रहता है और साधुसग का प्रताप तो कथन ही नहीं हो सकता। कितने पापी, मलिन और अत्याचारी साधुसग से ही शुद्ध हुए व हो रहे है। इसलिए विवेक की सेना दिव्यचक्षु, कुसग त्याग, सत्सग-ग्रहण ये सब आ जुटे॥ ७॥ जैसे जल और अग्नि का नि सशय ज्ञान रहता है और जैसे ससारी नर-नारियो को अपने-अपने घटो का नि सशय ज्ञान रहता है, वैसे विवेकयुक्त स्व-स्वरूपबोध, स्थिति, रहस्य और कल्याण आदि के कर्तव्य मे कोई सशय न होना नि.सशय कहते हैं। कल्याण-कार्य करने के पुरुषार्थ मे उसका बल अकथनीय है। 'निःसशय' के बल से कल्याण करने मे एकरस हिम्मत बढती ही रहती है। यह 'नि सशय' साहस-बलयुक्त अति वली है। यही अनत विघ्न-बाधाओ को काट-छॉटकर अपने मार्ग को माफ रखता है॥ ८॥ विवेक के सिपाहियो मे एक 'सजग' नाम का सुभट है। किसी क्षण शत्रु से गाफिल न होना, हमेशा सावधान रहना इसका नाम सजगता है। वह सजग सिपाही किसी के पछाडे नहीं पिछड सकता, और अपने युद्ध मोर्चा की जगह से कभी टस से मस नही होता और सम्मुख मोह की फौज कामादि दुश्मन को विचलित कर भगा देता है। नि.सशय, साहस, सजग आदि सुभटो के साथ इतने शुद्ध गुण रहते है कि खराब आदतकृत दुर्गुण रूप राक्षसो को घुसने की जगह ही नहीं मिलती।

सजगता से विजय

दृष्टात—एक गॉव मे दुनियासिंह नामक क्षत्रिय और हरकतखॉं नामक पठान रहते थे। कुछ कारण से दोनो मे वेर हो गया। वे दोनो इतना वैर बॉध लिये कि हद से ज्यादा। एक दूसरे को मार डालने के घात मे रहने लगे। दिशा-मैदान टहलने-घूमने के समय भी वे दोनो तलवार और वन्दूक नही छोडते थे। आठ पहर तथा चौबीस घटे दोनो को खून ही सवार रहता। कितने दिन बीत गये, दिन पर दिन द्वेषाग्नि बढती रही। एक दिन हरकतखॉ ने अपनी बीबी से कहा—हम दोनो घर के बीच छत के ऊपर है, भादो की अँधेरी रात है, बिजली चमाचम चमक रही हे, बादल कडक रहे हे, रिमझिम-रिमझिम कई दिनो से पानी बरस रहा है, ऐसे दुर्दिन मे कुत्ता भी जहॉ-तहॉ सिमिट कर बेठे होंगे, तो मेरा जन्म का पक्का दुश्मन दुनियासिह ऐसे समय मे कहॉ आ सकता है? इसलिए तू मेरी बन्दूक और तलवार को पकड, मैं जरा विश्राम कर लूॅ। यह बात दुनियासिंह सुन रहा था। इस भयानक अँधेरी रात मे हरकतखॉ के मारने का दावॅ अच्छा जानकर दुनियासिह उसके छज्जो के नीचे चुपके से खम्भो

मे चिपका था। हरकतखाँ को शस्त्र छोडने की देरी कि शीघ्र ही दुनियासिंह मिहवत तडप कर कहा—वह वेरी ही कसा जो वक्त-कुवक्त मे गाफिल हो। ले! आज मैं जन्म भर का बदला चुकाता हूँ। ऐसा कहकर शीघ्र ही उम पर झपट कर तलवार चला दिया, वस हरकतखाँ का धड से सिर अलग हो गया।

सिद्धात—इस दृष्टात मे यह ममझना चाहिए कि दुनियासिंह जीव ह। हरकतखाँ के समान दुख देने वाले नित्य के वरी ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरादि ह। जव जीव सत्सग मे अपने रिपुओ को अच्छी प्रकार विवेक द्वारा पहचान लेता ह, तव सर्वदा मजग हो जाता है। यदि फिर किमी ममय-असमय मे मन की मत्रणा मानकर मनोमय शत्रुओ से गाफिल हो जाय तो फिर शीघ्र ही हरकत करने वाले कामादिक रिपु आ घेरते हैं आर जीव को परमार्थ से गिरा देते है, अत· हर समय जो मावधानी से पारखयुक्त मत्साधन करता रहता है, वही इन हरकत करने वाले मनोमय शत्रुओ को मार डालता ह। (१) वृद्ध, रोगी, निर्वल, किमी भी अवस्था में जव तक शत्रुरूप देह का सम्वन्ध ह तव तक साहसहीन न होना। अर्थात पारख वोध ग्रहण करके परम साहसी वनना। जीव स्वरूप मे शुद्ध ह, मात्र भूल हटा देना चाहिए। (२) मन-प्राणी मे सावधान रहना। (३) हर रोज अपने गुण-अवगुण का विचार करना। (४) दूमरे के दोष-दुर्गुणो के कथन मे दिन न विताना, निज भूल निर्वलता परखना। (५) देह के सुखो का त्याग करना। (६) वोलने का सयम रखना। (७) किमी के प्रेम मे न वँधना। (८) जल्दीवाजी न करना। (९) एकाधार से स्वरूपशान्ति स्मृति, एकनिष्ठ होकर पारखी-गुरु का आश्रय ग्रहण। (१०) वार-वार सोच-ममझ कर कार्य मे हाथ डालना, सोते-जागते कभी गाफिल न होना, ऐसी सजगता मे ही विवेक की जय होती है। इसलिए विवेक की फोज मे 'सजग' भी भर्ती हुआ॥ ९॥ विवेकराजा की सेना मे तितिक्षा[1] नाम का एक सुभट हे। ऐसा जोरदार सुभट तितिक्षा आरामी वस्तुओ के लिए इच्छुक नही वनने देता। पुन अपने आप अखड स्वरूपवोध मे आर कल्याण के मार्ग मे जो-जो कुछ वहिराग वाणियो के सुने और अपने अत करण मे उद्वेग उठे उन मवो को अपने आप ममाधान कर लेने की मामर्थ्य आर दूमरे सारग्राही जिज्ञासुओ के उठे हुए सदेहो को पूर्णता मे ममाधान धीर-वीर होकर गम्भीरता मे करता है, ऐसा विवेक का फाजी 'समाधान'[2] सुभट ह। इस प्रकार तितिक्षा आर ममाधान विवेकदल मे

---

१ दोहा—शीत उष्ण भूखादि महि, मानामान सहिष्णु।
याहि तितिक्षा गहि भले, मिटे मकल दुखइष्णु॥

२ समाधान का स्वरूप (गजल)

सुनिये ज्ञान की वात वताव मही। तेरे मोह की नींद हटावें मही॥ टेक॥
अपरोक्ष मद्‌चित एकरस, चतन्य तू अविकार ह। जड दृश्य है पाँचों विषय,
सुख मानना जगधार ह॥ दोई वस्तु अनादि दिखाते मही॥ १॥
कर्म करने म स्वतन्तर, जीव वहु इच्छा करे। अन्य कर्ता हेतु नहि ?
जग अनादी दिख परे॥ अन्य दव है कल्पित लखाते मही॥ २॥
दृढ मानना मकल्प द्वारे, जीव मत्ता दे रहा। स्थूल सूक्ष्म देह जड को,
जीव चालू कर रहा॥ मन ही मात्र सम्वन्ध डटावे सही॥ ३॥

भर्ती हुए॥ १०॥ विवेक सैनिक सर्व तपबल से पुष्ट हो रहे हैं—

तप-लक्षण

देह सुख को त्यागकर साधन सहित निज काजकर।
शीत घाम रु रात दिन मे हर समय निज ध्यान धर॥
तन मन तपावे सोन जैसे सद्गुणो के हेत बर।
होकर तपी तप कर सदा अविनाशि तू निर्भय विचर॥

इस प्रकार देह के दुख-सुख आदि की परवाह न कर जब सब शुभ गुणो को अभ्याम द्वारा प्राप्त कर लिया जाता है तभी तपबल प्राप्त होता है। तपबल के आगे भूल, भ्रम, आसक्ति, शोक, मोह, जन्म, मरण आदि रोग नष्ट हो जाते है। इसी से विवेक के सब सैनिक परम तपस्वी हे। इस प्रकार परिणामदर्शिता से लेकर समाधान तक विवेकराजा के जितने फौजी हे वे सबके सब बली, तपस्वी, यशस्वी और कर्तव्यतत्पर हे। नाम के अनुसार सद्गुण ग्रहणरूप तप करके ही वे सब इतने बलवान हो रहे है कि क्षण मे पूर्व सचित पाप समूहो का ध्वस कर देते है। इन धीरज, शील, शम, दम, सतोष आदि सद्गुण तपस्वियो को देखकर कुबुद्धि राक्षसी ठहर ही नही सकती। कष्टसहिष्णु बनकर सद्गुण धारण करने से दुर्वुद्धि नष्ट हो जाती है। अज्ञानरूप अँधेरा तो उस विवेक सैनिक तपस्वियो के समीप भी नही जा सकता, अत विवेक सहित सब सद्गुण परम तपस्वीरूप प्रबल मार्तण्ड के समान दर्शायमान हो रहे है॥ ११॥ जेसे दोपहर के सूर्य के प्रबल प्रकाश के आगे तारागण, दीपक तथा पूर्णचन्द्र के प्रकाश छिप जाते, फीके पड जाते है, नही दिखते। तो भला! जिस सूर्य के प्रकाश के आगे तारा, दीप और चन्द्रमा तेजहीन हो जाते हे, उस महा प्रकाश मे रात्रि का नाम कहॉ! जब रात्रि ही नही, तो रात्रि मे अनरीति करने वाले उल्लू, चमगीदड, चोर, बदमाश का कहॉ ठिकाना! इन सबो की भी शक्ति नष्ट हो जाती है॥ १२॥ इसी प्रकार अज्ञानरूप अँधेरी रात्रि से उत्पन्न हुआ मोहराज और उसकी सब सेना काम-क्रोधादि अपने ठौर-ठिकाने होकर पराजित हो गये, क्योकि ये सब अज्ञान अँधेरे के आधार मे है। जब बोधरूप दिन उदय हो गया तो मोह के परिवार कैसे ठहर सकते ह! जहॉ विवेकरूप सूर्य तप रहा है, वहॉ अज्ञान और अज्ञान के साथियो का कहॉ ठिकाना! इस प्रकार विवेकराजा सूर्य के समान अपनी सर्व सेना सहित तैयार हो गये॥ १३॥ जहॉ एकरस सत्यासत्य निर्णयरूप यथायोग्य विवेक के अनुसार ही उपरोक्त सब सद्गुणरूप सुभट एकत्र हो रहे है अर्थात जिस घट मे विवेक सहित यथार्थ सब सद्गुण धारण हो गये वहॉ पर विजाति

आवागमन औ कर्मफल, सब वासना आधार है। बीज वृक्षो न्याय से,
जड देह चेतन धार है॥ कर्ता चेतन मे ज्ञान दिखावे सही॥ ४॥
प्रारब्ध सचित है क्रिया, ज्यो भूप कोषहि न्याय से। त्रय कर्म थोडे मे कहे,
ज्ञानाग्नि से दग्धो उसे॥ सच्चे साधन से शान्ति रहावे सही॥ ५॥
सत शील धीर विचार मानुष, लक्ष्य को गहि लीजिये। पारख परख टकसार,
पीयूष, पान निशदिन कीजिये॥ यही ग्हनी से शोक नशावे सही॥ ६॥
जो कुछ सुना है तू यहॉ, एकान्त मे कर ले मनन। प्रेम तू भव पार हो,
गुरुदेव के ऐसे वचन॥ ऐसी शिक्षा को पान करावे सही॥ ७॥
यह सक्षिप्त समाधान का स्वरूप इस शब्द मे बताया गया है, विस्तारपूर्वक जड चेतन निर्णय मे विवेचन आया है, वहॉ देखिये।

मोह आर मोह सनिको का कोई उपाय, जोर-जुल्म नही चल सकता आर रिपुदल मोहादिक रणभूमि मे बचकर जा भी नहीं सकते। विवेक आर विवेक क साथियो क आगे मोह के परिवार नष्ट हो जाते ह, इस प्रकार विवेक आर विवेक की सेना का महान प्रताप जगत जाहिर ह ॥ १४ ॥ विवेकराजा की समग्र सेना निर्भयता सहित सिहवत गर्जना करके सावधान, सतर्क, सजग हो गई। जिस सद्‌गुणरूप सना मे अनन्त बल, अनन्त तेज, अनन्त महिमा आकर वास किये ह, ऐसी सद्‌गुणरूप सेना अपने दुश्मन मोहराज के तरफ टूट रही ह। मोहराजा इस विवेकराजा की सेना को देखकर आश्चर्यित होकर घबरा रहा है ॥ १५ ॥

विवेक का साहस, निश्चय और विजय वर्णन

शब्द—३३

छोरे जीव बन्ध परख गुरु बल ते ॥ टेक ॥

जीवहिं आप मदत दै दोउन, वड ह्वै समर हेतु दोउ दिश ते।
प्रारब्धि दोष कुसग के कारण, गाफिल होत जीव भ्रम परते ॥ १ ॥
स्वस्वरूप अभ्यास मे दृढ ह्वै, दलि असक्ति मुख मान्य पछडते।
स्वत. दृष्टि वर यहि विधि करि कै, कारण दोष जारि सब डरते ॥ २ ॥
उतपति किये निजहि ते सबही, प्रारब्धि अज्ञान कुसग प्रिय नतते।
अदृश्य भोग प्रारब्धि न सनमुख, अधार मनन परत्यक्ष बिगरते ॥ ३ ॥
करम भूमि यह रचै विनाशै, घट बढ सबहिं मनुप चल दिखते।
जो जेहि सत्य मानि पुरुपारथ, करत अटल जो मति नहिं घलते ॥ ४ ॥
अज्ञ जात तजि प्रारब्धि को अकुर, जो सुखध्येय पुष्ट जीव रखते।
कारण कुसग जो दुखमय निश्चय, जानत वह न मान्यतन तजते ॥ ५ ॥
तव का कहे जो गुरुपद ठहरै, कौन सा विघ्न जो काटि न जडते।
यहि हित अटल सत्य गुरु निर्णय, गहि जिय करु परिशर्म अचलते ॥ ६ ॥
वीर धीर रण माहि ठहरि रहि, शलभ उलूक दहै भ्रम लखते।
शक्ति अपर्बल को कहि महिमा, आप रचे न अन्य कोई लगते ॥ ७ ॥

टीका—गुरु की पारखदृष्टि का सहारा लेकर जीव अपने शत्रु मोहदल का नाशकर बधन रहित हो जायेगा। पहिले के शब्द मे कहे गये विवेकराजा के मुख्य सैन्य-सरदार आ गये। विवेकराजा अपने श्रेष्ठदल को देखकर सबको शत्रुदल निर्मूल करने का साहस, हिम्मत आर विजय प्राप्त करने का हेतु ओर दृढ निश्चयता वर्णन कर रहे हैं। जीव यद्यपि मोहराजा की सेना द्वारा चारो तरफ से घिर गया ह, पर गुरुपारख का ऐसा प्रताप ह कि जिसे धारण करके जीव मोहराजा की समग्र सेनाओ का ध्वस कर आर मोह का भी नाश करके बधनो से मुक्त हो जायेगा। इसका कारण यह है[1] ॥ टेक ॥ इस शरीरगढ मे चतन्य जीव-महाराजा जो कि देह आर

---

१ जिस प्रकार कुरुक्षेत्र मे कौरव-पाण्डव की लडाई के समय रणक्षेत्र मे एकत्र दोनो दलो की फोज, पराक्रम और लडाई का सिलसिला बताते हुए अन्त मे 'जिधर रक्षक कृष्ण आर वीर धनुर्धारी अर्जुन हैं,

देह सम्बन्धी सर्व व्यवहार जानने वाले है वे अपने आप ही सरकार समर्थ है। आप ही 'विवेक' ओर 'मोह' इन दोनो तरफ सत्ता दे दिये, यही दोनो तरफ से युद्ध होने का कारण है। जीव-महाराजा की तरफ से मोहराजा को कैसे बल मिला, उसको प्रथम कहा जाता हे। प्रारब्धि दोप अर्थात पूर्व जन्मो के सकाम कर्मो से रचित इन वर्तमान स्थूल देह-इन्द्रियो का सम्बन्ध और कुसग अर्थात खानी-बानी मे सुख जॅचाकर मोहित करने वाले विषयासक्त, कुमार्गगामी नर-नारी और नाना भ्रमउत्पादक बानी दृढ करने वाले वाचाल मनुष्य, इस प्रकार प्रारब्धदोष ओर कुसग के कारण से ही जीव समर्थ महासम्राट होते हुए भी अपने स्वरूप से गाफिल हो गये, अपने बल, तेज तथा प्रताप का स्मरण न रहा। इसी से अज्ञानवश जड इन्द्रियो के विषयो को ही सत्य मानकर उसी मे अनादिकाल से फॅसते रहे, यही मोह और मोहदल की उत्पत्ति का कारण है॥ १॥

अब जीव-सम्राट की तरफ से विवेकराजा की कैसे उत्पत्ति हुई, उसे कहते हें—स्वरूप अभ्यास ह मन का द्रष्टा होकर अपने आप स्थिर रहना। मन ही द्वारा सबसे सम्बन्ध है, मनधारा को अपने स्वरूप से भिन्न जानकर उसे परख-परख कर छोडते रहना, आप मनोधारा मे न बहना, जव यह अभ्यास निरन्तर पुष्ट हो जाता है, तब ऐसी स्वरूपस्थिति से बढकर और सुख-लाभ नही दिखता, क्योकि वहॉ सर्व कामना की खेंच मिटकर पूर्ण स्थिति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार स्वरूपस्थिति का अभ्यास पुष्ट करके जिज्ञासु सर्व विजाति आसक्ति और सुख-मानन्दियो का जडमूल से ध्वस कर डालते है। इस प्रकार स्वत· पारख स्थिति का एकरस अभ्यास करते हुए मनोनाश की प्रबल अनुभवशक्ति उत्पन्न करके पतन हेतु कुसग और प्रारब्ध अकुर दृश्य भावना को जीव जला देता है, नष्ट कर देता है। पूर्व-पूर्व की भूल से रचित इन्द्रिय, मन और बाहर के कुसग द्वारा काम, क्रोध, लोभादि मनोभव की धारा जीव उत्पन्न कर उसी मे बह रहा था, फिर उसमे अनत दुख पाकर गुरु-पारख का शोधन कर अपने स्वरूप को विवेक से अलग करके जब सब शुद्ध रहस्यो द्वारा स्वरूप मे ठहरने का प्रयत्न करने लगा, तब विवेकराजा और उसके सैन्य की उत्पत्ति हुई जानिए। इमका कारण पुन आगे कहते हे॥ २॥ अपने आप ही चेतन्य जीव स्वरूप को भूलकर प्रारब्ध कर्म और अज्ञान-अबोध को रचकर तथा कुसग मे आप ही प्रियता मान कर उससे नाता जोड रक्खा है। तात्पर्य यह है कि जड तत्वो मे तो कुछ ज्ञान ही नही है कि वे किसी प्रकार इच्छा करे। चेतन जीव ही जड इन्द्रियो के सम्बन्ध मे अपने को भूलकर भ्रम द्वारा विषयो मे सुख मान लेता है। सुखमानन्दी से भॉति-भॉति के सकाम कर्म करके असख्य देहे रचता है। देहयुक्त अज्ञान और कुसग मे बार-बार सुख मान सब विजाति आदतो को बनाकर आप ही दुखी हो रहा है।

वहॉ ही विजय, कीर्ति, सर्व पराक्रम आ टिके ह, यह वात दूरदर्शी सजय ने धृतराष्ट्र से वर्णन किया है। वैसे ही विवेकरूप चक्षुहीन जिज्ञासु को साहस, हिम्मत ओर जोर भर कर पुरुषार्थ दृढाने के लिए विवेक-अविवेक का दल ओर सग्राम वताते हुए अन्त मे सद्‌गुरुदेव निर्णय कर रहे हे कि वहॉ ही विजय, कीर्ति, धर्म तथा मोक्ष का साक्षात वासा हे जहॉ सद्‌गुरुदेव की भक्तियुक्त विवेक-वैराग्य सहित स्वरूपज्ञान रहता हे, अर्थात निश्चय करके रक्षक वैराग्यवान सद्‌गुरुदेव की भक्ति और विवेक तथा स्वरूपज्ञान सहित जीव की ही विजय है, यही वात सयुक्ति प्रमाण इस शव्द मे वर्णन किया गया ह।

सवैया—आपुहि यादि करै सब भोग कुँ आपुहि धावत ह सुखमानी।
आपुहि खावत सूँघत पर्शत औरहुँ शब्द सुनै मनमानी॥
आपुहि देहको देखिके भूलत आपुहि चोर व साह अजानी।
आपुहि सर्व मनोमय प्रेरि के आपुहि भूलत होत विरानी॥ १॥
आपुहि जागत सोवत गोवत आपुहि कर्म कर चव खानी।
आपुहि देह धरे जड़ मे घुसि है जड के वश नाचत मानी॥
आपुहि सर्व सिद्धान्त रचे जिव जो मन आवत साई बखानी।
आपकुँ भूलि ये ताप सह सब आप को जानि अवध महानी॥ २॥

इस प्रकार सब जीव अपने-अपने बधन और कुसगादि प्रपच को उत्पन्न किये ह। पूर्व-जन्मो के सकाम कर्म रचित प्रारब्ध रूप देह मे दो तरह के भोग होते ह—एक अदृष्ट, दूसरा दृष्ट। अदृष्ट अर्थात जो पहिले जानने मे न आवे और अचानक हो जाय, जैसे आगे शरीर मे रोग-व्याधि हो जाना या कोई बाहरी निर्वाह आदि मे एकाएकी तगी आ जाना या आज शरीर अत्यंत रोगिष्ट हे और पता नहीं कल आरोग्य हो जावे, इत्यादि अदृष्ट भोग सम्मुख न होने से उसमे उपाय भी नहीं चलता और उसी के आधार से जो कि मनन, सकल्प दृश्य होते हैं, वे सब जानने मे आते रहते ह, अत इनमे उपाय चल सकता है। प्रत्यक्ष देखा जाता ह कि उन स्मरणो का उलटाव-पलटाव होता रहता है, अर्थात सुसग-कुसग द्वारा सकल्प और क्रियाओ में रद-बदल होता रहता ह॥ ३॥ मनुष्य देह कर्म भूमिका है, यहाँ ही जीव आगामी कर्म नवीन-नवीन रच लेते ह और पूर्व प्रारब्ध कर्म भोग कर यहाँ ही अत भी कर देते हैं। इसका प्रमाण प्रत्यक्ष देखो। सुसग-कुसग द्वारा सब मनुष्य सुख बुद्धि मे घट-बढ सुमार्गी से कुमार्गी तथा कुमार्गी से सुमार्गी उलट-पलट होत दिखाई दे रहे ह। देखो। जो जिसमे सुख निश्चय कर रक्खा ह उसी को सत्य मान कर उसके प्राप्ति हित अटलम्प से परिश्रम करता रहता है। यदि उसकी मति उस तरफ से न पलटे तो कदापि वह सुख ध्येय नहीं पलट सकता है॥ ४॥

प्रारब्ध रूप देह, उसका अकुर स्मरण, सो प्रारब्ध युक्त स्मरणो को अज्ञानी भी पलट कर नवीन कर्म कर लेता है। तात्पर्य यह कि पहिले जिसमे सुख मानना दृढ होता है फिर बीच मे सुसग-कुसग के वश दूसरी तरफ सुख निश्चय हो जाने से पहिले की क्रिया और सुख भावना को त्याग कर वर्तमानिक सुख निश्चयता की क्रिया को नवीनरूप से करने लगता ह। इस प्रकार अबोधी मनुष्य भी सुख निश्चय की तरफ ही स्मरण कर उधर ही चलता रहता है और सुख निश्चय के विरुद्ध उठी हुई भावनाओ को दबाकर जिधर सुखध्येय दृढ किया है वही कार्य करता ह। कुबुद्धि हेतु कुसंग, कुसग अर्थात विरोधी पक्ष उसमे यदि पूरी तौर से परीक्षा द्वारा दुख निश्चय हो जावे तो वह प्राण सकट आने पर भी उसको स्वीकार नहीं सकता। (गुरु गोविन्द सिह के लडके दीवार मे चुने जाते हुए भी मुसलमान होना मजूर नहीं किये। इसे साखी सुधा की ६८वीं साखी मे देखिए) प्रत्यक्ष स्त्री-पुरुषो को देखिए। चाहे प्राण भले ही जायँ पर वे अपनी-अपनी सुख मान्यता की तरफ ही चलते ह। जसे किसी ने नाच-रग, नशा या अभक्ष्य सेवनादि मे पूरी तौर दुख दर्शन करके उन्हे त्याग दिया ह तो फिर वह जिन्दगी भर उनको ग्रहण नहीं करता, अपने धर्मयुक्त निश्चय-पथ का जीवनभर पूर्णरूप से पालन कर लेता ह। इससे यह स्पष्ट हुआ कि सुख निश्चय के अधीन जीव की सारी क्रियाएँ होती रहती हैं।

किसी प्रकार सुख निश्चयता का पलटाव जब तक जिधर से न होगा तब तक वह उधर से पलट नही सकता॥ ५॥ जब स्वरूपबोध-रहित वालो की यह दशा है कि प्राण अर्पण क़रके भी अपने सुखध्येय से नही हटते, तो जिन्हे स्वरूप का पूर्ण बोध हो गया और स्वरूप के ठहराव ही मे सर्व सुख-शाति की निश्चयता हो गई, उनके लिए कौन ऐसा विघ्न, आदत, अध्यास, कुसग और कुभावना है कि जिसको वे जडमूल से नष्ट न कर डाले। अवश्य दृढ निश्चयता मे अनन्त शक्ति है। स्वरूपबोध तथा स्वरूपस्थिति मे जहॉ सुख निश्चयता हुई और जगत मे पूर्ण दुख निश्चयता जहॉ दृढ हुई, वहॉ कभी विवेकवान स्वरूप-रहस्य से डिगकर जगत मार्ग मे पतित नही हो सकता। इसलिए हे जीव! गुरुदेव का जो अटल स्वरूपबोध है उसे तू ग्रहण कर और इस स्वय बोध मे ठहरने के लिए साधन वैराग्य मे एकरस परिश्रम कर॥ ६॥

हे जीव! वीर भाव तथा धीरता सहित मनोद्वेगो को देखो और उनमे आकर्षित न होओ, बल्कि उन मनोद्वेगरूप रिपुओ को भिन्न तथा मिथ्या समझते हुए एकरस स्वरूपभाव मे ठहरे रहो, बस इस प्रकार मन-रणक्षेत्र मे ठहर कर मनोमय की परीक्षा करके देखते-देखते ही शलभ-उलूक के समान सब मनोद्वेग रूप रिपु भस्म हो जायेगे। जैसे दीपक मे पॉखी जल जाती और सूर्य उदय मे उल्लू छिप जाते हैं, तद्वत इन भ्रमकृत शत्रुओ का भी कहीं पता न चलेगा। ये सब नष्ट हो जायेगे। अरे! हे जीव! तू चैतन्य अखण्ड सत्य है। तेरे मे जैसे बन्धन रचने की शक्ति है, वेसे ही बोध प्राप्त कर बन्धन को निर्मूल करने की भी अनन्त शक्ति है। "आपन तेज सम्हारौ आपै, तीनिउ लोक हॉकते कॉपे" इस कथनानुसार तू अपने आप मे स्थिर रह। तूने अपना बधन अपनी कल्पना से ही बनाया है, अन्य कोई कल्पित कर्ता या जड तत्व या प्रारब्ध आदि तेरे को बन्धन मे नही डालते। तूने ही स्वरूप को भूलकर अन्य जगह मे सुख की कल्पना कर लिया है, इसी से तुझे दुख होता है। तू जाग ओर अपने को सम्हाल, बस तेरी विजय ही विजय है॥ ७॥

शब्द-३४

दोउ रणधीर परस्पर भिडते॥ टेक॥

शाहन्शाह जीव दुख पायो, गौर बिबेक प्रगटते।
अज्ञान पुत्र से जाय जुटायो, एक एक से लडते॥ १॥
सुख सैनापति मोह के चलि भे, मन्त्री परिणाम से अडते।
उक्ति युक्ति वै बहुत बिचारै, एक एक से टरते॥ २॥
राग बेराग दावॅ दोउ बॉधै, शक्ति जहॉ तक चलते।
विचार बीर मनसिज दोउ लडते, नैराश्य अकाम जाय तेहि तडते॥ ३॥
यकरस समझ अकाम सिपाही, छल को जाय सहरते।
दुखाध्यास सुखध्यास पछारत, सम्हरि सम्हरि फिर रुकते॥ ४॥
राजस आये सातस सजके, करि कै जोर प्राण तेहि हरते।
तोष लोभ को जाय पछारे, दम्भहि सत्य जाय तहॅ हनते॥ ५॥

सम्हर्‌यो क्षमा क्रोध ने देखा, मूर्छि भूमि पर गिरते।
कोपी दया नशायो हिंसा, खण्ड खण्ड तेहि धड़ते॥ ६॥
दखल मरलता अपना करि के, कुटिल को जाय पछरते।
निरुपाधि वली रण हेतु भयकर, मूल से द्वैष उजडते॥ ७॥
अमान वीर वर दखल जमायो, मद को देश निकरते।
वाक्य निराशा उठ्‌यो जोर करि, कलह देखि के डरते॥ ८॥
कुसग त्याग मतसंग समर वर, दोउ जगजीत प्रपच को हरते।
समताशील कुटिलता नाश्यो, खरभरि फोज देखि दल जुझते॥ ९॥
निज स्वरूप को बोध तेजमी, संशय अरिहिं पछरते।
साहम अटल नित्य पद सनमुख, हिम्मति पछर को झपटि महरते॥ १०॥
ग्रसित भयो चिन्ता भय आतुर, मोह कि शक्ति हानि भय सुनते।
स्वरूप ज्ञान वलवान महा है, दिल से शोक गुजरते॥ ११॥
हानि लाभ दोउ देह कि झूठे, निज को जानि अमरते।
स्वस्वरूप स्मरण रहे जव, याहि विवेक मकल दुख हरते॥ १२॥
एक स्वर टूटि विवेक कि सेना, मोह फौज दलिमलते।
लज्जा शुद्ध मान वल भारी, सजग विचार काम शिर कटते॥ १३॥
सयम नियम तितिक्षा साधन, ठहरि स्वरूप अध्याम उखडते।
सवल विराग निराशा ले के, राग को क्षार कीन्ह गहि परते॥ १४॥
पूर परीक्षा यकरम करि के, भस्म कीन्ह नृप भ्रमसुख वलते।
देह मे निज को पृथक किह्यो जव, अज्ञान रात्रि गइ मोह न रहते॥ १५॥
गुरु की कृपा विवेक विजय लहि, सुखिया जीव अचल पद लहते।
शिर धरि गुरु पद पूजन कीन्ह्यो, करि भलि विनय बहुरि पग पडते॥ १६॥

टीका—युद्ध मे अडिग होकर सामना करने वाले रणधीर 'विवेकराजा' और 'मोह भूप' दोनो का आपस मे सग्राम ठन रहा है॥ टेक॥ राजाओं के ऊपर शाहशाह होता है, जिसे सम्राट या चक्रवर्ती महाराजा कहते हैं। इस मनोमय के भीषण सग्राम मे आरम्भिक युद्ध कला-कौशल सहित दोनो दल आमने-सामने विद्यमान है। मोह दल को किस प्रकार विवेक विनष्ट कर देता है और किस कपट से रण मे अल्प काल के लिये मोह दल पुन. सम्मुख होकर अपनी सत्ता जमाने का प्रयत्न करते हुए निष्फल हो जाता है, वह सब क्रमबद्ध इस प्रसग मे वर्णन करते हुए ग्रन्थकर्ता एक अमोघ शक्ति प्रेरक निर्णय प्रकाश दे रहे हैं। देखो! सम्राट-महाराजा यह 'चेतन जीव' ही है। जब महाराजा-चेतन जीव को देहोपाधियुक्त विविध दुख भोगना पडा, तब उस दुख से छूटने के निमित्त आपने गौर-चिन्तन-यथार्थ विवेक उत्पन्न किया, अर्थात विमल विवेक की तभी उत्पत्ति होती है जब चारो तरफ से दुखाग्नि मे जलते हुए अपने को देखे। अब महाराजा चेतन जीव उस दुखाग्नि से बचने के लिए तत्काल सोच-विचार करने लगे, इसी

से ही विवेक की उत्पत्ति जानिए। दुख पडने पर ही दुख छुडाने की चिन्ता होती है। जब किसी जीव को सर्वत्र दुख ही दुख दीखता है, तब उस देह सम्बन्धी सर्व दुख को छुडाने की तीव्र इच्छा से वैराग्य तथा वैराग्य से दृढ विवेक उत्पन्न होता है। अज्ञान से उत्पन्न मोह है। उससे लडने के लिए विवेकराजा को महाराजा चैतन्य ने जुटा दिया। इस प्रकार जो जिससे लड़ने के लायक था उस-उससे वह लडने लगा॥ १॥ कौन किससे युद्ध कर रहा है, उसको सुनिए। मोहराजा के दल का सेनापति तो असत जड दुख रूप सृष्टि मे "सुख मानना" है, अर्थात, जहॉ पच विषयो मे मोह हुआ कि वहॉ सुख प्रतीत होने लगता है। जहॉ सुख प्रतीत वहाँ मोह और भी बलिष्ठ हो जाता है। जहॉ मोह और सुख प्रतीत दोनो आ विराजे वहॉ सब दुर्गुण आ जाते हैं, अत मोहदल का सेनापति 'सुखभ्रम' रणभूमि की ओर चला और दूसरी ओर विवेकदल का मन्त्री 'परिणामदर्शी' आ गया। दोनो मे पकडा-पकडी हो रही है। 'सुखभ्रम' और 'परिणामदर्शी' दोनो अपनी-अपनी उक्ति-युक्ति करके परस्पर दावॅ फेक रहे है। प्रथम सग्राम मे कभी तो सुखभ्रम जीतता है, तो कभी परिणामदर्शी सुखभ्रम को पछाड देता है। भाव यह कि कभी पूर्व सुख-निश्चय से जीव विषयो मे भ्रम जाता है, तो कभी विषयासक्ति के अनन्त दुखो को विचार कर विषय प्रपच के सुख-भ्रम को निर्मूल करके दुख ही दुख सोचकर मन को रोक लेता है। इस प्रकार एक ही कल्याणार्थी जीव के घट मे कभी विवेकदल की जीत तो कभी अविवेक की जीत। यद्यपि सर्वथा विजय विवेक दल की ही है, पर यहॉ युद्ध का प्रथमारम्भ है, इसलिए मल्लयुद्ध के समान प्रथम साधनाकाल मे दोनो दलो मे पछाडी-पछाडा हो रहा है॥ २॥

इधर "राग" और "वैराग्य" दोनो अपना-अपना दावॅ चल रहे है। अपनी-अपनी शक्ति भर एक दूसरे पर वार करने मे कब चूकने लगे। यह रागभाव तो प्रपच मे अनेक प्रकार से जीव को धोखा देकर सब मे भॉति-भॉति से स्नेह, पकड, खिचाव कराता है और वैराग्य भी विवेकयुक्त सब मे दुख जान कर हर प्रकार से स्नेह रहित उपराम करा देता है। इस प्रकार अपनी-अपनी शक्तियो का उपयोग कर राग और वैराग्य घमासान युद्ध कर रहे हैं। अर्थात पहिले कम साधना होने से देहोपाधि के कारण राग सस्कार प्रपच की तरफ घुमा-घुमाकर ले जाता, पुन राग के दुखो का स्मरण कर-कर जिज्ञासु सदैव जगत-राग को हटाया ही करता है। आगे "विचार" और "काम" ये दोनो वीर भी परस्पर लड रहे है। 'निराशता' और 'निष्कामता' भी विचार के साथ होकर उस 'काम' को भय देकर चोट कर रहे है। विचार से देह भोग दुखपूर्ण तथा मिथ्या निश्चय करने पर काम सुख की आशा और भोग-कामना छूट जाती है। निष्कामता का फल निश्चितता, निष्फिक्रता, निर्भयता और निराशा का फल स्ववशता, स्वतत्रता तथा स्थिरता है। इस प्रकार विवेक सहित विचार के साथ निष्कामता तथा निराशा मिलकर कामवेग की शक्ति भग कर रहे है॥ ३॥ जगत मे निरन्तर एकरस दुखदृष्टि रखने वाले विषय-कामना रहित पुरुषो को छल-कपट की कोई आवश्यकता ही नही, न वे कभी छल-कपट कर ही सकते है। इस प्रकार 'एकरस परीक्षा दृष्टि' और 'निष्काम' ये दोनो सिपाही काम के पीछे रहे हुए 'छल-कपट' को जड मूल से विनष्ट कर दिए। पुन. विवेकयुक्त जगत मे त्रिकाल दुसह दुख देखते रहने से सुख भावना नष्ट होती रहती है। इस प्रकार मनोमय-दल के "सुखाध्यास" को विवेकफौजी "दुखाध्यास" पछाड रहा है। परन्तु साधना के आदि काल मे पूर्व वेग से भोगो मे सुखाध्यास जब-तब भासता रहता है, इसलिए

जिज्ञासुजन जिन-जिन कारणो मे सुखाध्यास आता है, उन-उन कारणों को परीक्षा करके नाशवान, परवश, तृष्णा, विजाति, रोग-शोग, जन्म-मृत्यु के हेतु इत्यादि अनन्त दुखदृष्टि रखकर सर्प-बीछी से भी अधिक भयानक जान उसे पछाड़ते रहते है। इस प्रकार फिर-फिर सम्हल-सम्हल कर दोनो मानस युद्ध मे विकराल रूप धारण कर रहे है॥ ४॥

सतोगुण-सादगी रहन-सहन मे मन स्थिर रहता है, शरीर मे आराम, आलस्य, मंदपन नही आता, व्यर्थ खर्च से जान बचता और मुख्य कामवासना से बचाव होता है। ऐसा अनुभव करके विवेकवान राजसयुक्त शृंगारादि धारण ही नही करते, अर्थात पट चिकनाव, सजाव शृगार, विलासीठाट आदि को सर्व परिश्रमरूप और जन्म-मरण, हर्जा-खर्चा सर्व कुसंग का कारण जानकर 'सतोगुण' ने 'रजोगुण' को सम्मुख होते ही निष्प्रयोजन और हानि करने वाला देखकर बलपूर्वक उसका ऐसा गला घोट दिया कि पुनः वह उठने योग्य न रहा। राजस को त्याग करके नम्रतायुक्त सादे उदासीन पट-पात कल्याण हेतु धारण कर लिया। अपना स्वरूप अखण्ड नित्य तृप्त है, विषयो मे सुख है ही नही, अत. उसकी आवश्यकता नही। शरीर का आवश्यक-भोग प्रारब्धाधीन है, कष्टसहिष्णु होना ही स्वरूपस्थिति मे साधक है। अनावश्यक भोगो से तो तृष्णा-रहित रहना ही चाहिए और आवश्यक वस्तु न मिलने पर कभी कोई हानि का उद्वेग न उठने देवे। अपना स्वरूप हर हालत मे नित्य सन्तुष्ट है, फिर इच्छा काहे की। बस जहाँ इच्छा भूख नहीं, वहाँ ही पूर्ण सतोष का वास है। विचारयुक्त जहाँ कामना की पूर्ति है वहाँ कुछ कमी ही नही, ऐसे सन्तोष के आगे विशेष द्रव्यादि संग्रह रूप लोभ का कहाँ ठिकाना। इस प्रकार 'सतोष' द्वारा 'लोभ' का प्राण हरण हो गया। जब लोभ ही नि.शेष निर्मूल हो गया तो किस अर्थ दम्भ किया जाय। दम्भी की पोल खुले बिना नही रहती, अत. वह निन्दा, अपयश तथा सबके दुतकार का पात्र बन जाता है, फिर सत्यवादी उसको कब धारण करने लगे। तब तो 'सत्य' नामक विवेक सुभट ने अन्दर-बाहर सचाटी बर्ताव धारण करके 'दम्भ'—दिखावा, पाखण्ड का ऐसा पेट फाड दिया कि पुनः वह उठने योग्य न रहा। जहाँ मन, कर्म, वाणी मे सदाचरण करके सच्चाई के साथ सर्व दुख छूटने अर्थ सत्साधन मे लगन लग रही है वहाँ हानिकारी दम्भ का कहाँ ठिकाना?॥ ५॥

हमारे ही दुर्गुण-सद्गुण हमारे भक्षक-रक्षक है, दूसरा कोई शत्रु-मित्र नहीं। हमारी हानि हमारे प्रारब्ध-पुरुषार्थ से पृथक कोई नही कर सकता जब हानि ही कोई नहीं कर सकता तो क्रोध हम क्यो करे तथा सहन करने मे ही सब उपाधियाँ निर्मूल होती है, असहन मे नहीं। क्षमा न रहने से जो-जो सम्पूर्ण कुकर्तव्य, अनाचार होकर जो-जो फिक्र, चिताएँ, कष्ट और बन्धन शिर पर पड जाते है उन सबो से बचने के लिए क्षमा ही एक श्रेष्ठ शस्त्र है। यदि क्षमा न धारण की जाय तो क्रोध सम्बन्धी सर्व दुख छूटने के नही, बदला-बदली चक्कर लगा रहेगा। पुन. क्षमा मे सुखकारी बात तो यह है कि हमारा जब कोई वैरी ही नहीं तो सदा हम निर्भय सुखी है। रहा शरीर का भोग, सो प्रारब्धाधीन है, फिर एक राम मे सकडो बलाएं टल जाती है। हमारे चेतनस्वरूप का तो कोई नुकसान कर ही नहीं सकता, देहादि-प्रपच हानि के रूप ही है, फिर विजाति की हानि से क्रोध की क्या आवश्यकता। ऐसे विवेकयुक्त जहाँ अत्यन्त तेजवान 'क्षमा' वीर आ विराजे वहाँ 'क्रोध' अन्धकार मूर्छा खाकर गिर गया, नष्ट हो गया, नही रह गया। उस क्षमा के साथ जहाँ सर्व जीवो को सजाति जानकर दयाभाव धारण हो गया वहाँ मन, कर्म, वाणी से छोटे-बडे जीवो का घात करना मानो अपना ही घात करना है,

ऐसा जानकर सबसे निर्वैरत्व भाव रखने से दयाभाव ग्रहण होकर जीवघातरूप राक्षसी निर्मूल हो गई। इस प्रकार 'दया' ने कुपित होकर 'हिसा' के प्रत्येक अग को तोड-फोड-मरोड कर नष्ट कर दिया॥ ६॥ विवेक से जाना जाता है कि यहाँ किसी पर हमारी स्ववशता नही, मनवश प्राणी परवश हैं। इधर ये सब दृश्य पदार्थ जड तत्व क्रियामयी स्ववश नही है, असत्य, नाशवान और मिथ्या हे। सुख भी कोई चीज नही, इस हेतु इद्रिय सुख सम्बन्धी पदार्थो की मुझे इच्छा-आकाक्षा नही, सुख छूटने से हमारी कुछ हानि भी नही, फिर हमारी हानि करने वाला भी कोई नही। जब यह दृढ निश्चय हो गया तो कुटिलता, शत्रुता किसके लिये धारण की जाय! यहाँ तो उपाधि रहित दशा की प्राप्ति होने से दिन-दिन सरल, यथार्थ, सीधा स्वभाव धारण हो जाता हे। ऐसी सरलता के आगे लोगो की कुटिलाई तथा दुष्टता की भावना कैसे टिक सकती है! सरल पुरुष कभी अन्य के प्रति दुखप्रद कठोर स्वभाव नही धारण करते। जिसे राग, द्वेष, झगडा, कलह आदि रहित शाति-सुख प्रिय हो गया, ऐसे निरुपाधि पुरुष सदेव परद्वेष बढाने से हटते रहते हैं। उनका निश्चय है कि राग-द्वेष की उपाधि बढाने से हमारा मुख्य स्वरूपस्थिति का कार्य छूट जावेगा। इसी से निरुपाधि के इच्छुक कभी किसी से वेर नही करते, न उनके दिल मे द्वेष की भावना ही उद्वेगित होती है। ऐसे अव्यर्थ सफल उपायो का उपयोग करते हुए सग्राम मे विवेकयुक्त सरलता ने शत्रुदल पर अपना झडा फहराते हुए अपने सम्मुख कुटिल-रिपु को दौडाकर ऐसा प्रहार किया कि उसकी हड्डियाँ चूर-मूर हो गयी, किन्तु अभी प्राण शेष है। भय उपजाने वाला बडा बलवान विकराल स्वरूप 'निरुपाधि' नाम का भट जब दौडा तब 'द्वेष' नामक शत्रु सैनिक को जडमूल से ऐसा उजाडा, मार-काट करके ऐसा भगा दिया कि द्वेष-रिपु पुन मुख दिखाने लायक रह ही नहीं गया॥ ७॥

तन, मन, विद्या, बुद्धि आदि किसी चीज का प्रमाद न ग्रहण करना अमानता हे। जब विवेकयुक्त जाना गया कि अपने आप ज्ञानस्वरूप चेतन अखण्ड जान मात्र है, उसको किसी भी विजाति वस्तु को पाकर फूलने-पचकने की आवश्यकता नही, क्योकि तन, मन, धन, विद्या आर बुद्धि सर्व देहोपाधिकृत मामग्री होने मे ऐचा-खेंचीयुक्त क्षणभगुर तथा नश्वर हे, प्रारब्धिक देह-सम्बन्ध तो हमारे लिए रोग हैं। उस रोग की निवृत्ति ज्ञान, वैराग्य, साधन आदि ओषधियो से ह। जव तक प्रारब्धरूप रोग है तव तक अवश्य ही सत्साधनरूप औषध करनी ही पडेगी। रोगी होकर औषध करना, तो फिर अहकार काहे का! इसलिये सत्साधन, सद्गुण, अनुभव आदि का भी कोई अहकार करने का हेतु नही। मेरा किसी से सत्य सम्बन्ध नही, मै नि -सम्बन्ध, अखण्ड, एकरस, शुद्ध चैतन्य हूँ ऐसा विचारयुक्त वीरो मे श्रेष्ठ वीर ''निर्मान'' नामक विवेक-सैनिक शत्रुदल पर अपनी स्ववशता वैठा करके 'अहकार' राक्षस को अत करण प्रदेश से निकाल कर बाहर कर दिया। उपाधि जानकर वाक्य बोलने से मौन हो जाना ऐसी 'वाक्य निराशा' उठकर बलपूर्वक सग्राम मे आई, उसे देखकर 'कलह' वैर-वार्ता इतनी डरी कि मरी! हा मरी! चीख कर प्राणान्त कर गयी। वाक्य बन्द करने से कलहवाद निर्मूल हो जाता है॥ ८॥

जहाँ खोटी प्रकृति वाले नर-नारियो के सग का त्याग है ओर सदा विवेकी सन्तो के सत्सग मे अनुराग हे, देह ओर जीव पृथक-पृथक हे, अपनी-अपनी कर्मवासना के अनुसार

कर्मफल भोगते ह और वासना त्याग देने से मुक्त हो जाते ह इत्यादि निर्णय विचार करते हुए यथार्थ आचरण सुधार का ही हरक्षण अमृतपान होता रहता है, फिर वहाँ प्रपच की वार्ता ओर प्रपच कर्तव्य कहाँ। जव जग-प्रपच से न्यारा हो गया तो पारमार्थिक मिद्धान्त अधिक पुष्ट होने लगा। फिर पारमार्थिक विवेक द्वारा निर्विघ्न-निर्दोप मुधार के लिए सरलता के माथ मवमे समता, शील, तीनो को विवेकवान ग्रहण कर लेते हं। इन तीनो के धारण से कुटिलता सहज ही नष्ट हो जाती हे। इस प्रकार "कुसगत्याग" आर "सत्सग" ये विवेक रणरगी जगी सुभट समर करने मे वडे वलिष्ठ कर्मनिष्ठ ह, दोनो जगत विजयी ह, मनोभव-अरिदल पर धाक जमाने वाले-जीतने वाले ह। ये 'प्रपच' नामक रिपु का ऐसा मस्तक कूट दिये कि पुन. वह श्वास न ले सका। "समता" ओर "शील" दोनो मिलकर पूर्व कथित "सरलता" मे महायता लेकर तथा 'कुटिलता' को पकडकर ऐसा कठिन प्रहार किये कि पुन वह श्वास न ले सकी। दुश्मन ओर कर्ज को किंचित भी शेप न रखना चाहिए। ये दोनो निर्वल होने पर भी सवल ओर वहुत हो जाते हैं। 'रिपु ऋण रच न राखव काऊ' विचार कर विवेक की सेनाएं शतुदल को नि׃शेष—निर्मूल करने लगी। विवेकदल को आगे वढते देखकर शतुदल मे खलवली मच गई। हा। हा। करके भयभीत होकर सवके सव शक्तिहीन हो गये आर विवेकदल द्वारा शतुदल के सैनिक काटे, मारे, पीटे, जुझाये, भगाये, त्रासे, नाशे जाने लगे॥ ९ ॥

स्वस्वरूप का ज्ञान तो परम तेजस्वी हे, यह 'स्वरूपज्ञान' परम प्रतापी अपने आगे 'सदेह' दुश्मन को देखते ही निर्मूल कर देता हे। पुन 'अचल साहस' आर अपने 'नित्य पारखपद का स्मरण' इन दोनो ने मोहदल के धावन जिसका नाम 'हिम्मतपछर' ह उसे झपट करके शीघ्रता से मोत के हवाले किया। अर्थात विवेकवान यह विचार करते ह कि क्या परमार्थ साधनो से हटकर मन न मारना पडेगा। या परिश्रम न करना पडेगा। या नम्रता न लेना पडेगा। या अत्यन्त छुट्टी मिल जायेगी। अरे। ये सव जगत-कुटुम्व, इन्द्रिय-मन की तरफ खिंचने से अनंत गुणा मन मारना, सहना, परिश्रम करना आर सवसे नम्रता लेना पडेगा। इमके प्रमाण प्रत्यक्ष विषयासक्त जगज्जीव हैं। जिनको छुट्टी के वदले दिनोदिन परतत्रता, अतृप्ति और आसक्ति वढती ही जा रही है। गुरु की तरफ तो परमार्थ साधन मे लगे रहने से धीरे-धीरे सहज ही मन वश होकर सदा के लिये भोगकृत सव परिश्रम, सव सहन, मव विवशता आदि मिट जायेगी। ऐमे विवेकयुक्त अडिग साहस नित्य सत्य-स्वरूपस्थिति-मार्ग मे वने रहने से कभी परमार्थ मार्ग से हिम्मत पिछड ही नहीं सकती। सत्य की पहिले ही से जय हं। भ्रम से हार मानकर दीन वने थे, अव भ्रम को त्याग कर साहसयुक्त अवश्य मेरी विजय ही विजय ह, ऐसे निश्चय के आगे 'हिम्मतपछर' का कहाँ ठिकाना।॥ १० ॥ 'हिम्मतपछर' के विनाश होने पर परमार्थ और स्वरूपज्ञान मे जव सादर चित्त जुट गया तव तो 'चिन्ता' अत्यन्त भयभीत होकर मर ही गयी। इन सवकी मृत्यु सुनकर मोह-भूपति की सामर्थ्य क्षीण हो गयी। स्वरूप का ज्ञान सव वीरो मे महावीर हे। 'स्वरूपज्ञान' को देखते ही हृदयक्षेत्र से 'शोक' 'सताप' नष्ट हो गये। अर्थात जव दिनोदिन परमार्थ साधन-विचार मे हिम्मत वढ गयी तो प्रपच की फिक्र-कल्पना कैसे टिक सकती हं। सद्रहस्यो द्वारा वे सव नष्ट हो गयीं। में नित्य प्राप्त, नित्य तृप्त, निराधार शुद्ध चैतन्य हूँ, ऐसे दृढ निश्चय के आगे क्यो ओर किसके लिए शोक-सताप किया जाय। अत׃ स्वरूपनिष्ठ के शोक-सताप नहीं रह जाते॥ ११ ॥

नित्यमुक्त जीव की एकमात्र हानि विषय-वासना धारण कर उसमे बँध जाना है और परमलाभ यही है कि वासनाएँ निर्मूल कर अपने आप मे स्थित हो जाय। ऐसे हानि-लाभ के अतिरिक्त और कुछ हानि-लाभ नही ह। अतत. देह झूठी ही है, तो देह सम्बन्धी हानि-लाभ, दुख-सुख मिथ्या ही ह और प्रारब्धिक शरीर के हानि-लाभ का भोग प्रारब्ध पर निर्भर है। मै इससे भिन्न जडाध्यास त्यागकर अजर, अमर, ज्ञानाकार, शुद्ध और नित्य हूँ। ऐसे ही निरन्तर अपने स्वरूप के स्मरणरूप विवेक ने सर्व तन-मन उपाधिकृत 'दुख'-रिपु को जडमूल मे नष्ट कर दिया॥ १२॥ अजेय, पराक्रमपूर्ण विवेक की सेना बल भर कर मोहदल को विध्वस करने लगी। लज्जा-शुद्धमान यह कि जो हम श्रेष्ठ श्रेणी मे होकर जगत-निन्दित कार्य करेगे तो सबसे हमे नीचा देखना पडेगा, सब हमको तुच्छ तथा नीच समझेगे। अहो! गली-गली हम फटकारे जायेगे, नीति, पीति, प्रतीति उठ जायेगी। इससे हमे निन्दित पशुवत कर्म न करना चाहिए। बुरे कर्मो से लज्जा-सकोच का स्वभाव रखना आर लज्जा-सकोच द्वारा शुद्धमान की रक्षा करना। सजगता—सुख मिथ्या होते हुए भी प्रारब्ध सहित मन और कुसग मे सुख झलकाकर बधन मे आकर्षण कर लेने की शक्ति है। अत हरदम कुसग-कुभावना से सावधान तथा जाग्रत रहना चाहिए। विचार—देह आदिक प्रपच मिथ्या समझना, अर्थात पूर्णरूप से काम को जीतने के लिए इन चारो की आवश्यकता है। जो पुरुष लज्जा, शुद्धमान, सजगता और विचार धारण करते है, उनके दिल मे मैथुन की वासना नही रह जाती है, नष्ट हो जाती है। इस प्रकार पूर्व कहे हुए विवेक की सब सेना ने एकजुट होकर एक ही वार शत्रुसैन्य मोहदल पर वार कर दिया। छिपे, दबे, भागे, सकुचे सर्व शत्रुसेन को अस्त्र-शस्त्र और हाथ-पाँव तथा बल द्वारा जैसे ही बन पडा वैसे ही चूर करके सबको धूर मे मिला दिया। दबे, छिपे कामभट को 'लज्जा' और 'शुद्धमान' जिनमे कि अत्यन्त बल है और 'सजगता' तथा 'विचार' ये चारो मिल कर नष्ट कर दिये॥ १३॥

जो-जो देखने और सुनने से, जिन-जिन चीजो को खाने से, जो-जो स्पर्श करने से, जिन-जिन सगो और जिन-जिन स्मरणो से मन के रोकने मे मदद न मिले उलटे मानसिक रोग की वृद्धि हो, उन सबो का अन्दर-बाहर से त्याग करना सयम है और जैसे खास-खास शरीर के कार्य नित्य नियम से किये जाते ह, वैसे मन जीत कर गुरुपद मे कायम होने के लिए नित्य-नित्य कल्याण के अगो को आलस्य और प्रमाद रहित पालन करते रहना 'नियम' है। जैसे मनोद्रष्टा का अभ्यास, सत्सग-सद्ग्रन्थ, राग का अभाव, नित नव वैराग्य का जोश विवेक से भरते रहना ये सब नियम है आर दुख-सुख, मान-अपमान, शीतोष्ण और भूखादि के सब कष्टो को सहते हुए धीरज सहित गुरुपद से भिन्न न होना ये 'तितिक्षा' और 'स्वरूपस्थिति', इन चारो की जहाँ धारणा ह, वहाँ जडाध्यास, जडासक्ति, देहसुखासक्ति ये सब नष्ट हो जाते है। जगत मे प्रबल वैराग्य और सर्व प्राणी तथा पदार्थो के सुख की आशा से रहित रहना 'नैराश्य' है। इस आचरण से जगत का राग धूल मे मिल जाता है। इस प्रकार 'सयम' 'नियम' 'तितिक्षा' 'साधन' और 'स्वरूप मे ठहराव' इन सब वीरो ने बल द्वारा अध्यास-डाकिनी के प्राण हर लिये। श्रेष्ठ वैराग्य और नैराश्यता आदि को लेकर विवेकराजा ने पूर्व भिडे हुए राग-दुश्मन को पददलित करके धूल मे मिला दिया॥ १४॥ एकरस पूर्ण परीक्षादृष्टि रखकर विवेकराजा ने मोह शत्रु के मन्त्री 'भ्रमसुख' को भस्म कर दिया। पुन विवेकराजा ने स्वय नख-शिख, स्थूल-सूक्ष्म देहो से चैतन्य स्वरूप को अलग कर लिया। म देह, इन्द्रिय, मन, प्राण नही हूँ,

किन्तु इन मवो का परीक्षक-ज्ञाता हूँ, ऐमा विवेक-प्रकाश होते ही अज्ञानरूप अन्धकार नष्ट हो गया। जव अज्ञानरूप अन्धकार ही नहीं, तो उसमे उत्पन्न मोह की कहाँ स्थिति! वह भी निर्मूल हो गया। जड-चेतन की एकरस परीक्षा न होने ही मे भ्रम मे जगत मे सुख प्रतीत होता था, जव जड-चेतन की पूर्ण परीक्षा हो गई, तव जड-चेतन अलगदृष्टि से मुखभ्रम का कहाँ ठिकाना! मानना मात सुख भ्रम निरन्तर वराग्य-अभ्याम की अग्नि मे जल-वल कर नष्ट हो जाता है। जव अपन चेतन स्वरूप को देह-मन का द्रष्टा देह-मन मे भिन्न जाना तव अज्ञान भी गया। अज्ञानयुक्त जव देह की अहता नष्ट हो गई तो आमक्ति क्यो, किमके लिए, वम! यहाँ ही मोह का अन्त ह॥ १५॥ श्रीगुरुदेव की कृपा म 'विवेक-नरेश' ने अपने दुश्मन 'मोह भूपाल' पर विजय कर ली। जव मोह आर मोहदल नष्ट हो गये, तो जीव नित्य तृप्त स्वरूप म स्थित होकर सदा मुखी हो गया, अचल, अक्रिय, अविकार पद को प्राप्त हुआ।[1] युद्ध के आरम्भ मे मोहदल के वडे-वडे भट जो जुटे थे, वे सव उत्तरोत्तर लडते-लडते नष्ट होते गये। अन्त मे मोह भूपाल का भी विनाश हो गया। इस विजय मे गुरुदेव की सहायता ही मुख्य हेतु ह। अतएव माधक ने गुरुदेव के चरणो मे मिर झुकाकर उनका पूजन किया आर उनकी विधिवत प्रार्थना करके पुन उनके चरणो मे झुक गया॥ १६॥

मद्गुरु स्मरणार्थ

शरण शरण सद्गुरु सरकार, मन भव वन्ध छुडाने वाले॥ टेक॥
निर्वल जीवन के आधार, भ्रम वन्धन मे हमे उवार।
दे दिये पारख सत्य विचार, वेडा पार लगाने वाले॥ १॥
द्रष्टा दृश्य ह न्यारो न्यार, व्यापक व्याप्य रहित पद सार।
पारख मत्य स्वय निरधार, पारख माहि टिकान वाले॥ २॥
केवल आदत कृत ह वन्ध, सुख लत छोडि रहे निरवन्ध।
ह स्वरूप अत्यन्त अवन्ध, मो सतरूप लखाने वाले॥ ३॥
हे वड सिन्धु वडो भवखान, पार हेतु रचि के भवयान।
हर लिये मोह महा अज्ञान, स्थिति म टहराने वाले॥ ४॥
परम विरागी दीनदयाल, माधुरूप गुरुदेव विशाल।
तव गुण गावत प्रेम निहाल, दास के विघ्न हटाने वाल॥ ५॥

---

१ जिमम शुभाशुभ वृत्तियो के वनन-विगडने की पूर्ण परीक्षा हो जाव आर जिज्ञासुजन मव जडाध्याम मम्वन्धी अशुभ प्रवृत्तियो को हटा कर शुभ वृत्तियो का ग्रहणकर जीवन्मुक्त हो रह आर पुन जडासक्तिरूप धार मे न वह, यही हेतु लकर मिद्धान्त के आधार मे युद्ध का दृश्य आरोपण कर शुभाशुभ वृत्तियो का मरना-जीना अर्थात त्याग और ग्रहण वनाया गया ह। शुभाशुभ वृत्तियाँ जीव की आध्यामिक काल्पनिक वृत्ति ह, और कुछ नहीं। अविवक-अभ्याम मे जीव का जन्म-मरणादि वना रहता ह आर विवेक-अभ्याम मे जन्म-मरणादि की निवृत्ति हो जाती ह इमलिए गुरुदेव ने मानस-विजय का वर्णन किया ह। झूला-वेग या टला-वेग न्याय जीव चाहे मोह मे झूला कर चाहे मत्ता ममेट कर स्थित हो रहे। मुझ चेतन मे मोह क्षय करके मुक्त होने की शक्ति ह, अत अनन्त दुखो मे छुटकारा पाने निमित्त विवक ही मे दृढ हो जाना अति आवश्यक ह।

विवेक और अविवेक दोनो दलो के सग्राम का दृश्य

देहकोट के अन्दर अविनाशी अक्षय स्वरूप चेतन जीव सम्राट बैठे हुए है। इतने मे देहोपाधि युक्त अन्त करण-क्षेत्र मे मोहराजा आ गया और उसकी सम्पूर्ण फोज क्रमश रणक्षेत्र की ओर आ रही हे। उधर से विवेकराजा भी फौज सहित आ रहे है। दोनो तरफ से सग्राम ठन रहा हे। प्रथम मोहराजा आते ही क्षत्रपति जीव को चचल करके कह रहा है—

पद

जो कुछ देखो सब अपनाओ, सम्मुख सुखमय सृष्टी है।
जग मे बिलसो हुलसो नित ही, पचभोग सुख सृष्टी है॥

ऐसा कहकर मोह छत्रपति जीव को जगत मे विचलित करने लगा। यह देखते ही विवेकराजा ललकार करके बोला—रे अविवेक! सुन—

जो कुछ देखो विलग अहै सब, सम्मुख चचल सृष्टी है।
झूठ विजाती वृथा दुक्खमय, हट-हट दुख की वृष्टी है॥

इतना सुनते ही मोह पछडने लगा कि मोहसैनिक 'भ्रमसुख' धडधडाते हुए आकर जीव को सताने लगा। वह बोला—

अहा! हा!! कैसा कैसा सुख है, अनुपम छटा निराली है।
तन धन युवती प्रभुता अविचल, भोगो सुख सब हाली है॥

इतने मे विवेक सेनिक 'परिणामदर्शी' उसे बडे जोर से डाटकर बोला—

अरे मूढ क्यो गाल मारता, सकल बिछुडते दिखते है।
हाय-हाय दिन रेन पडी है, घुमरि-घुमरि सब जलते है॥
एक-एक मे मरिगे पॉचों, तलफि-तलफि हा! तृप्ति नही।
पॉचों मे आसक्ति धरे तो, दुख की क्या है मिती सही॥
क्षण-क्षण मे सब रूप बदलते, अशुचि विकारी चचल है।
तन धन धाम युवति लख अग्नी, पॉखी झुलस के जल बल है॥
लत तृष्णा श्रम परवश छिन-छिन, शोक मोह के जगल मे।
बार-बार वह देह धरावे, सुखद कहॉ बपु दगल मे॥

इतना सुनते ही भ्रमसुख पछडने लगा। इतने मे रागयुक्त छल के सहित कामभट जीव को अधिक जोर से धक्का देते हुए दौडकर समरक्षेत्र मे डका देने लगा—

देखो! बोलो!! हॅस के लपटो!!! प्राणप्रिया ये रमणी है।
जिस विधि भामा अलग न होवै, पल-पल रुचि तेहि चमडी है॥

इतना सुनकर जीव को काम राग से व्याकुल होते देखकर शीघ्र विचार और विचार के साथी नैराश्य, निष्काम, वैराग्यादि जुट पडे। काम और काम के साथी छल-प्रपच को मारने-पीटने लगे। विचार बोला—

हॅसे लसे कहॅ अन्ध कूप मे, मल मूतो की टट्टी है।
देख बोल क्या मोद करे तहॅ, जलती कामुक भट्ठी है॥
पॉचो विपय से भरी हुई, वल वीर्य वुद्धि कूॅ नाश करे।
बरइयो के छाता छूकर, मुदित वाल क्यो जाय मरे॥
जो सुख शान्त स्वत. पद स्थिर, त्याग वृत्ति से मिलता है।
वह क्षण मॉहि वृथा क्यो खोवे, रे-रे शठ क्यो जलता हे॥

इतना सुनकर जीव कुछ काम-भोग से हटा। काम शक्तिहत होकर छिपते हुए भागने लगा। इतने मे ही 'अध्यास डाकिनी' 'राजस' को लेकर धमधमाती हुई आ गई। वह भूले हुए विषयों का स्मरण करा कर राजस सहित गान करने लगी—

ठाठ ठठौ खुब छल चिकनियॉ, भोग वस्तु इक ठांर करो।
पल-पल सुमिरो सकल विपय को, तनिक नही विश्राम करो॥

'राजस अलवेला' और 'अध्यास डाकिनी' की तरफ जीव को झुकते हुए देखकर 'सातस सुभट' ललकार कर राजस को मारते-कूटते हुए और छलपति जीव की तरफ इशारा करते हुए कहने लगा—

चाह पूर्ति के हेतु काज सव, सुख भोगो से चाह वढै।
फिर क्यो तू अध्यास पालता, छिन-छिन मे तोहि सोच मढ॥
वृथा शोक सव राजस जानो, जिससे मन के रोग वढ।
सातस उदासीन सुखखानी, निर्भय हो निर्द्वन्द्व चढे॥

ऐसे वचनरूप वाण लगते ही राजम—आह! किसके पाले परा! रे परा!! हाय मरा!! रे मरा!!! ममाप्त। राजस को मरते देख अध्यास डाकिनी निर्वल हो चुपके से खिसक रही हे। राजस की मृत्यु देख उसका मित्न 'लोभ' 'दम्भ' को साथ लिये हुए सग्रामक्षेत्न मे धमधमा कर दॉत पीसते हुए आ डटा, अपनी कार्रवाई करते हुए वोला—

धर्माधर्म नीति अनरीति, सव तजि के खुव द्रव्य लुटो।
हानि दु.ख कुछ भी किसकी हो, हित मित वनिके गला घुटो॥

यह मुनकर विवेक-सनिक सतोप आर सत्य दाडकर लोभ आर दम्भ को पकडकर छाती पर चढकर घमासान करते हुए वोले—

अधर्म अनीति करगा पापी, तो तुझको फल खूव मिले।
छेदा वॉधा मारा जावै, जनम धरी धर रोय जलं॥
नित्य तृप्त निजरूप निरन्तर, जगत भोग से काम नही।
हे निर्वाह पूर्व आधीना, दुख सुख मिथ्या लखो सही॥
अक्षयकोप निज वोध मिला तव, उसके वल से तृप्त सदा।
फिर क्या सग्रह माया का, नहि भोग भृख फिर लगे कदा॥

ऐमे कठिन प्रहार से लोभ-दम्भ दोनो अरे वाप रे! जान गयी, रे गयी!! हा म मरा!!! अहा, समाप्त।

इतने मे स्त्री, मान, द्रव्य आदि सग्रहरूप लोभ-दम्भ की हानि देखकर उनके सहायक 'क्रोध' अग्निवर्ण जलजलाते हुए मुख, हाथ, पग फडफडाकर अपनी ज्वाला से सबको तपाते हुए दनदनाकर आ गया, साथ ही हिसा बहिन को लेकर सग्रामक्षेत्र मे धावाकर सब मिल के गर्जना कर रहे है—

मारो　मारो　काटो　काटो, रे तू शठ रहु खून करैं।
निन्दा बदला गाली बकि-बकि, हानि　हेतु　पर मान धरै॥

ऐसी दशा शत्रुदल की देखकर विवेक सैनिक क्षमा, दया, सरलता सावधान हो एक दृष्टि से क्रोध की तरफ देखते हुए कह रहे है—

किसको　मारै　किसको　काटैं, किसकी　निन्दा द्वेष धरैं।
केहु से　कुछ　सम्बन्ध　नहीं है, निज-निज मनभव भोग भरैं॥
सकल सजाती　जीव अहै फिर, उनकी रक्षा　करन　चही।
हानि लाभ　तो　निज करनी से, वृथा द्वेष से लाभ कहीं॥

इतना वाक्य सुनते ही क्रोध पछाड खाते हुए धडाम से गिरता है, अरे! मै गिरा-मरा-लो गया, अन्त! अन्त!! अन्त!!! क्रोध का शव देखकर बचे हुए कुटिल, हिसा तथा द्वेष अकडते हुए रणक्षेत्र की तरफ बढे। कुटिल को सरलता मरोडने लगी और द्वेष को 'निरुपाधि सुभट' पडापड पीटते हुए कहने लगा—

दाँतो　से　जो　जीभ　कटै, या नेत्र-दोष से ठेक लगै।
दाँत　नेत्र　नहि　तोडत　जैसे, तिमि　समता　निरुपाधि　पगै॥

इस प्रकार प्रबल चोट लगते ही 'कुटिल' व 'द्वेष' दोनो अहह! सिर टूटा, रे फूटा-फूटा, अहो! मै गया, हूँ हूँ　खतम यमसदन! इतने बीच मोह-सैनिक 'अहकार' देह फुलाते हुए आकर अपनी गर्जना द्वारा सबको भुला दिया और तडप कर कह रहा है—

तन　धन　प्रभुता वैभव सबही, सब हमार　को　छीन　सके।
कौन　सामना　करने　वाला, मम　हस्ती　मे कौन　रुके॥

यह देखते ही विवेक के सैनिक 'निर्मान' अहकार को रपटाते हुए पुन. पकडकर खूब धमाधम कुटम्मस करते हुए कह रहे है—

मन-वशवर्ती　जीव　सकल　औ, जडसृष्टी चल विचल दिखै।
फिर क्यो स्ववश का मान करै नित, नम्र अमद निज अचल लखै॥
छुटहा　साज　रोग　भय　रूपी, तन धन कुल सब अलग नशै।
अपना　रूप　अखण्डित　इकरस, फिर प्रमाद मे क्यो तु लसै॥

इस प्रकार बज्र समान चोट लगते ही 'अहकार' रो-रोकर अब अन्त रे अन्त! हाय!! मानो जन्म ही नही लिया, बस खतम! इतने मे शत्रुसैन्य मद के पीछे रही हुई 'कलह' 'लडाई' 'चिन्ता' 'प्रपच' बरबराते-धमधमाते हुए दृश्य हुए, वे कटकटाते हुए कह रहे है—

सहन　रहित　ह्वै जलौ बलौ नित, मनमाने　तुम　खूब बकौ।
विपरीतन　को　सुमिरौ　पल-पल, शोक　मोह　मो　खूब　छकौ॥

यह देख विवेक-सेनिक 'वाक्य निराशा' ओग 'कुसगत्याग' तथा 'मत्सग' दौडकर शत्रुदल से कटाकटी करते हुए वाक्य निराशा तो 'कलह' 'कल्पना' की और 'कुसग त्याग' तथा 'सत्सग' 'जगतप्रपच' की मफाई करने लगे। वे सव एक स्वर मे डका देकर वोले—

सदा सहन कर मारो मन को, इन्द्रिय का भी रोक करो।
पाओ अविचल थीर शान्त पद, शव्द सँभारो चेन भरो॥
जिव अविनाशी नाश न होव, कायरता का नाम न लो।
सुखासक्ति सिर काट विराजो, विना विजय विश्राम न लो॥

ऐसे निज घातक तलवार खपाखप चलने पर शोक, मोह, प्रपच, चिन्ता ओग दुख सव- अरे दय्या! वप्पा!! मरे रे!!! हाय-हाय!!!! अहह खतम! इतने मे वर्ची वचार्यी मोहदल की दीर्घकाय भयंकर पिशाचिया आशा-तृष्णा आ गई, वे सवको भृखी वनाकर कडकडा कर गायन करने लगी—

काडी से तुम लाख करा पुनि, तीनो लोक समेटि धरा।
हा! हा!! तऊ मिला नहि कुछ भी, आर-आर कहि पचति मरा॥

आशा-तृष्णा मे ग्रसित छत्रपति जीव को दुखी देखकर विवेकराजा के मैनिक 'स्वरूप- ज्ञान-स्वरूपदृष्टि' 'देहादिक प्रपच मिथ्या' 'मतोप भाव' ये मव मिलकर आशा-तृष्णा को जोर मे धक्का देकर गिरा दिये, पुन वाँह पकड घसीटते हुए वोले—

नित्य प्राप्त निज रूप निरन्तर, सकल परीक्षक तुष्ट सदा।
फिर क्यो शेष कामना रक्खे, अजर अमर अविकार सदा॥

ऐसे तीक्ष्ण प्रहार मे आशा-तृष्णा दोनो—म मरी! रे मरी!! हाय रे हाय!!! करके चिल्लाती हुई ठन्डी पड गई। इतने मे वचा हुआ मोह फाजी 'हिम्मतपछर' भी गाते हुए आया—

ज्ञान भक्ति वेराग्य कठिन ह, स्थिति मिलना दुस्तर ह।
सत्सगत की ओर न जाओ, भोगो सुख सव सरवर ह॥

इतने मे 'माहस-हिम्मत' प्रवल तेजस्वी वीर खडा होकर हिम्मतपछर को भालो मे छेदते हुए छत्रपति जीव से कह रहे ह—

अजर अमर अविनाशी तुम हो, रिपुआ मे कुछ शक्ति नहीं।
निश्चय द्रष्टा गुरुमग लागा, करा वही सव सधे सही॥
जेसे क्षण भर त्याग करे लत, तसे सव क्षण त्याग सके।
नहिं सधने का नाम न लेओ, सहज सधे निश्चय म टिके॥
शत्रु गुलामी से ह अच्छा, शत्रु समर मे जोर करा।
निश्चय विजय जीव ह तेरी, लडने मे विश्राम धरो॥

ऐमी प्रवल चोट लगते ही 'हिम्मतपछर' कष्ट से ओह! ओह!! अह ह!!! ये कहॉ से विपत्ति-आपत्ति, प्राणघातक प्रहार! में गया! रे गया!! वम हतन्!!! अव वचे-वचाये शत्रुदल अपने साथियो को कटते-पिटते, लुकते-दवते देखकर शक्तिहत हो गये आर वे मवके मव आर्तस्वर से कहने लगे—

हा! हा! भागो! भागो!! अब तो, प्राण बचाना दुस्तर है।
लुको दबो छिप जाओ मन दल, नहीं उबारा पल भर है॥
ना भूतो न भविष्यत ऐसा, महा कुटम्मस प्राण हरन।
छल बल कुटिलहुँ साथी मरिगे, बडी विपति अब मोर मरन॥

इस प्रकार से मोहदल मे भगदड देखकर 'विवेक' और विवेक के सब सैनिक "रिपु ऋण रच न राखब काऊ" यह नीति स्मरण करके जहाँ जिसको जो-जो पाये वहाँ उसको काटने-पीटने, छेदने-ताडने और कूटने लगे।

कट-कट चट-चट खट-खट भट-भट, सर-सर रिपु को धमक रहे।
तीर तुपक तलवार रहनि के, ज्ञान लडाई चटक रहे॥
खून मास मस्तक कुछ नाही, केवल भावाभाव समर।
सदा एकान्त निरान्त शान्त चित, स्ववश राज्य नित अजर अमर॥

इसी बीच शत्रुदल का बचा हुआ 'कामवीर' भागता हुआ दृश्य आया। वैसे ही 'लज्जा' 'शुद्धमान' 'सजग' और 'विचार' काम के सब अग अष्टमैथुन को पकडकर उसके अग को तोडते हुए गायन कर रहे है—

लज्जा—*ज्ञानवर्ण हो श्रेष्ठ कुलीना, तुझको हे यह योग्य नही।*
जड इन्द्रिय अति अशुचि विकारी, रीझो तो धिक्कार सही॥
लज्जा घिन सकोच करो तुम, भूलि न परणी दृष्टि करो।
अति लज्जा की बात यही है, तृप्त रूप फिर भूख मरो॥

शुद्धमान—*निज गौरव सब गया तेज बल, नीच दशा हो जावैगी।*
कभी भूल के भाव जो भामा, कारिख अयश रुलावैगी॥
सुयश लीक मर्याद पुज्य सब, अभय राज्य मिल जावैगा।
तज-तज दे इस जग विहार को, श्रेष्ठ अचल पद पावैगा॥

सजग—*मर्कट पक्षी चारा देखे, चुनि-चुनि के वे जाल परे।*
सावधान रहु सावधान रहु, मोहक ठौर से सदा डरे॥
प्रबल प्रवाही नदिया मनभव, उसका द्रष्टा पृथक रहे।
सर्पिणि गहि के खेल न खेलै, नहि तो दुख मे सदा दहे॥

विचार—*गढन चमक सब मिथ्या लख ले, युवति घटो मे सार नही।*
रोग दोष मनवेग भरी दुख, दुख की धारा बहै सही॥
जड चेतन दोउ बिलग अहे फिर, क्यो सुख मानै अलग कहीं।
आशा स्वप्न परखि सुख छोडै, जाग्रत रूप विचार लही॥

चारो एसा गायन करते हुए काम को ध्वस करते है और कहते जाते है—

अरे! कसइपन तू करता है, बेर-बेर यम फाँसी मे।
रहु-रहु रे शठ! मृत्यु हवाले, करिहौ तव सुखराशी मे॥
सम्मुख मरण बीर की शोभा, रिपु ऋण रच न रखना है।
मन से सत्ता खैंच स्ववश हो, शून्य स्वाद क्या चखना है॥

काम—अरे हाय रे हाय! सदा के लिए म गया रे गया, वस खतम। इतने में छिपते हुए राग दृष्टितर आ गया। तीव्र वराग्य इसे देखते ही पाँवो से कुचलते हुए गर्द-वर्द करके गाने लगा—

राग करें हम किसमें कसे, सव तो पृथक दिखाते हैं।
आप-आप निज चेतन स्थिर, तिसमें ही ला लाते हैं॥

ऐसी प्रवल चोट से राग—म मरा रे मरा! मटियामेल। इतने मे भ्रमसुख छिपते हुए दिखाई दिया, तव शीघ्र 'एकरस परीक्षा' धडाधड चपेटो और मुक्को से उसे वेहोश करते हुए कह रहा है—

जेसे वन्ध्या पुत नहीं ह, आ अकाश के फूल नहीं।
वसे दोनो पृथक पृथक कर, सुखभ्रम का कुछ लेश नहीं॥
वही निरन्तर दृष्टी होव, आप आप थिर पारख है।
सकल चाह तजि सृष्टी की सव, रहनी गहे यथारथ है॥

इस प्रकार वज्राघात लगते ही 'भ्रमसुख' धम्म से गिर गया। साथ ही इतने जोर से चिंघार किया कि मानों घोर वादल कडकने के समान उसकी आवाज सवके हृदय मे फैल रही ह। तड ड ड! ओह!! अरे रे!!! म नही, दुनिया नहीं, ससार नहीं, यमत्रास नही, नाना नाच नहीं, वर-विरोध नहीं, नाना उत्पात नहीं। जन्म मरण का रहँटा मेरी मृत्यु के साथ समाप्त! हाय-हाय कहकर आकुल-व्याकुल हो रोता है। अह ह! मोहदल की अव कौन रक्षा करेगा! रे वाप! रे दव! अरे रे गया, वचारा नहीं समाप्त-समाप्त! 'भ्रमसुख' के समाप्त होते ही रणक्षेत्र मे कोई नहीं रहा, एकमात्र अज्ञानरात्रि मे मोहराजा दवते-छिपते, हाँफते-काँपते, थरथराते हुए नजर आ रहे हैं। यह देखकर विवेकराजा परम प्रकाशवान रोष भर कर उसे पकड गला रेतने और कहने लगे—

चेतन जड दो वस्तु जगत मे, द्रष्टा दृश्य निरन्तर है।
देहादिक सव भास दुक्ख तज, स्वत. परख निज मन्तर ह॥

परम प्रकाश पडते ही अज्ञान-अन्धकार रात्रि सर्र से एकदम विला गई, साथ ही मोहराजा—

हा! हा! अव मैं मरता हूँ लो, अव तो सव ससार मिटा।
दुख सुख हानि लाभ कम ज्यादा, अपन परार विकार मिटा॥
सकल मनोमय सृष्टि विलानी, जव विवेक यह आय डटा।
मम गुलाम यह जीव नहीं अव, निज स्वरूप मे अचल जुटा॥
मेरी अव तो एक चले नहि, कहते कहते कण्ठ रुका।
हूँ-हूँ खर-खर घर-घर श्वासा, तव विवेक अति दाव मुका॥
धर्म युद्ध अनुपम घट अन्तर, वीर भाव मतिवान जुटा।
सव अभाव करि स्वय भाव दृढ, जन्म मर्ण भव रोग मिटा॥
हुआ अन्त शव फेक नदी मे, लो अव तो सग्राम चुका।
सद्विवेक सह-वीर सेन्य सव, जय-जय गुरु यह शब्द कुका॥

पूर्वोक्त विवेक और विवेक सैनिक शतुदल का भली प्रकार सहार करके विजय-बधाई देते हुए दृश्य हो रहे है।

सुनो! सुनौ!! नर नारी सबही, अब विवेक का राज्य हुआ।
सकल गहौ शुचि ब्रह्मचर्य को, अविनाशी पद प्रास हुआ॥
सदा सादगी रहन सहन करि, शीतल-शान्त स्वदेश हुआ।
मन इन्द्री पर विजय भली विधि, सेन्य विवेक प्रसार हुआ॥
श्रद्धा साहस हिम्मत दिन-दिन, साधन सब घनकार हुआ।
सदा एकरस वृत्ति सुहावन, साधुभाव सचार हुआ॥
जय! जय!! जय!!! हो परख प्रभु की, जीवन लाभ हमार हुआ।
जनम-जनम का रोग मिटा अब, सदा जीव निरधार हुआ॥

इस प्रकार श्री गुरुदेव के अनन्त कृपारूप बल से विवेक की विजय हो गई। वह विवेक सेन्य सहित छलपति जीव को साथ लिये हुए पारखी सद्‌गुरु महाप्रभु के चरण-कमलो मे सिर धर-धर भॉति-भॉति पूजन, बन्दन करते हुए प्रार्थना करने लगा—

छन्द

जय करुणा करता, भ्रम तम हर्ता, साधुरूप परकाशी।
जय जय अविकारी, परख विहारी, दिव्यचक्षु सुखराशी॥
तुम बिन सुख नाही, सब के पाही, खोजि थके बहुबारा।
अब तो निज शरणा, लीन्हो चरणा, तब मम भयो उबारा॥ १॥
अब मन कृत आशा, मिटा तमाशा, थीर हुआ तव दाया।
नित यकरस राखो, मम अभिलाखो, पूर करौ गुरु राया॥
जो नित यह गावै, विजय सो पावे, क्षण मे मिटि है माया।
नित नित नव नेमा, साहस प्रेमा, निर्विकार पद पाया॥ २॥

पारख प्रभु गुरुदेव नमो, गुरुदेव नमो, गुरुदेव नमो।
दीनबन्धु गुरुदेव नमो, गुरुदेव नमो, गुरुदेव नमो॥
भ्रमहारी गुरुदेव नमो, गुरुदेव नमो, गुरुदेव नमो।
सुखकारी गुरुदेव नमो, गुरुदेव नमो, गुरुदेव नमो॥
जय जय गुरु! जय जय गुरु!! जय जय गुरु-जय जय!!!
गुरुपद स्थिति! स्थिति!! स्थिति!!!

विनय सोरठा-३५

दीन दरश गुरु आय, साहिब रघुबर दुख हरन।
जगत जाल परखाय, फन्द अनेकन जहँ रचे॥ १॥

टीका—दुख को हरने वाले बोधदाता सद्‌गुरु रघुबर साहिब कृपा करके इस दास को दर्शन दे दिये। दर्शन देकर आपने सर्व जगत-जाल—खानि-बानी रूप बन्धनो को मिथ्या करके परखाय दिये, जिस जगत-जाल मे फॅसने के अनन्त फन्दे है।

कवित्त

इन्द्री फन्द मन फन्द वाहरी सवन्ध फन्द, सकल जु कामना को फन्द प्रगटावते।
वाम फन्द घेरि-घेरि मोह सरसाय सुख, दुख राशि काम लोभ मोह फन्द भावते॥
असत्य वाद प्रेरक जु सर्व मत पथ फन्द, फन्द पर फन्द रच फन्द अरुझावते।
फन्द मूल अपना स्वरूप को अज्ञान सो तो सर्व फन्द परखाय गुरूजी छोंडावते॥ १॥

विन जाने तेहि भेद, धाय गिरो वरवस तहाँ।
होय अनन्तन खेद, रुचि उपजै तेहि मे प्रवल॥ २॥

टीका—उक्त फन्दाओ के मर्म जाने विना उन्हीं मे सुख मानकर हठ करके स्वय हम ही दाड के गिरते रहे। यद्यपि उन जालो मे पडकर मुझे अनन्त दुख मिलता रहा, तो भी ऐसी घोर मूढता हे कि जिसमें पडकर रक्त का आँसू वहाकर रोते थे, फिर-फिर उसी मे वार-वार धँसने के लिए वडी प्रियता-चाहना उत्पन्न होती रही॥ २॥

उनमत अन्ध अपार, विपय जहर जहँ जीविका।
वुद्धि क्रिया वल सार, साधक फिरि फिरि ताहि के॥ ३॥

टीका—जगतजाल मे विभ्रान्त होकर हम अनादि काल से अन्धे वने रहे आर जिस जगत मे विपरूप विपयो का भोग ही जीवन आधार हो रहा ह, उसी के पुष्टि हेतु हम वुद्धि-वल सहित सारा परिश्रम करते रहे। इस प्रकार हमारी वल-वुद्धि, युक्ति-क्रिया सव उपाय वार-वार उसी विप-विपय की वृद्धि मे ही साधक होते रहे॥ ३॥

उपमा रहित अनन्त, दुख कहने माफिक नहीं।
तहाँ देखायो अन्त, करि मेरे स्वाधीन सव॥ ४॥

टीका—उपरोक्त मानसिक सृष्टि मे वेमिसाल तन, मन आर वाहरी उपाधिकृत अगणित दुखो का मने भोगा किया, जिसका वर्णन नही कर सकता, तो भी फिर-फिर उसी दुख का ठाट ठटता रहा। आगे भी इन दुखो से छूटने की सम्भावना न थी। ऐसे दुखरूप मानसिक प्रवाह का नाश करने की युक्ति अव आप सद्गुरु निर्णय करके दर्शा दिये। जव आप कल्याण मार्ग दर्शा दिये तव उस मार्ग पर चलना मेरे स्ववश हो गया॥ ४॥

दे स्वरूप को वोध, हरि लीन्ह्यो उनमत्त सव।
मिट्यो सकल अनुरोध, गति मति निज की ओर करि॥ ५॥

टीका—हे वन्दीछोर! आप मुझे अपने स्वरूप का ज्ञान देकर मेरी विपयासक्तिकृत उन्मत्तता, विभ्रान्तता तथा गाफिली नष्ट कर दिये। अव आपकी दया से कल्याण मार्ग के जितने रुकावट, विघ्न, वाधा थे, वे सव दूर हो गये। हमारी वुद्धि और पुरुपार्थ को जगत मे घुमा कर आप अपनी तरफ कर दिये॥ ५॥

दीन्ह्यो अमृत जीव, ग्रहण किहे विपयन अरुचि।
नशे जहर जड धीव, पार नहीं उपकार कहि॥ ६॥

टीका—कभी नाश न होने वाला सदा अचलपद अपना स्वरूप ही अमृत हे। उस अमृत स्वरूप जीव को आप परखा दिये। जो प्राप्त होते हुए भूलवश अप्राप्त था भूल को मिटा कर उस

स्वरूप को लखा दिये। जिस अमृत-स्वरूप को ग्रहण करने से विपयों का अभाव हो जाता है और जड पच विषयो का ध्येय, उसमे सुख मानना नष्ट हो जाता हे, ऐसे बोधामृत को आप कृपा करके पान कराये, ऐसा आपका उपकार अनन्त हे। अनन्त काल की फॉसी से छुडाकर जीव को आपने सदा के लिए अचल विश्राति दे दिया। अत आपके उपकार का कथन करके हम पार नही पा सकते। यथा—

कवित्त

फॉसी से उतार लिये डूबे से उबार लिये, भूले को सुझाय दिये बरत बचाये हे।
औरहुँ अनेक दुख-दुख को छुडाये जौन, तिनको तो अन्त एक देह ही बचाये है॥
गुरूजी तो अमित अनन्त जन्म मृत्यु फॉस, गॉस कूॅ छुडाय कर अभय कराये है।
याही ते अनन्त गुरुदेव की सहायता है, मन वच कर्म यह दास ध्यान लाये है॥

इस प्रकार गुरुजी का अनन्त उपकार है, उसे पूर्णरूप से किस भॉति गाया जा सकता है। हॉ। आप सद्गुरु का ध्यान सदा बना रहे, इसी मे दास का उद्धार है॥ ६॥

पाय मनुष तन साज, जो दुरलभ दुख हरण हित।
निष्काम करम को ताज, अन्त करण सुबोध लहि॥ ७॥

टीका—जिन रहस्यो का मिलना दुर्लभ है, जो दुख हरने वाले है, वे इस प्रकार है—१ मनुष तन साज, कल्याण योग्य दस इन्द्रियो का समूह नरदेह और २ निष्काम कर्म अर्थात ससार की सुखइच्छा से रहित धर्म, भक्ति, विवेक, वैराग्य जो कुछ किये जाय सो सब जगत और देह बन्धन छूटने के लिए ही और ३ ताज अर्थात शिरमौर अर्थात निष्काम कर्म धारण करने मे शिरमौर, स्वरूपबोध सहित शुद्ध अन्त करण की प्राप्ति॥ ७॥

घूमि घूमि करतब्य, लखै यथारथ न्याय सत।
राखि कार्य मनतब्य, सहनशील निरुपाधि रहि॥ ८॥

टीका—पुन ४ घूमि-घूमि बार-बार मानसिक विचार और स्थूल के शारीरिक कार्यो को यथार्थ न्याय तोल-तोल कर कल्याण हेतु ही सत्य सारग्राही होना, ५ यथार्थ पुरुषार्थ का ध्येय-निश्चय रखना, ६ स्वमार्ग के विघ्नो को हटाने के लिए सहनशील होना और ७ सब उपाधि रहित रहना॥ ८॥

जगत बन्ध छुटकार, यह सब गुरु बिन नहिं मिलै।
बन्दि ध्याय उर धार, गुरु पारख प्रभुता अमित॥ ९॥

टीका—उपर्युक्त सातो रहस्य जन्म-मरण रूप जगत बन्धनो का नाश करने वाले हे। अन्त करण की शुद्धि करने के लिये स्वरूपज्ञान और दृढ विवेक-वैराग्य साधन-सयम आदि जो बोध सामग्री प्राप्त हुई वह सब गुरुसग से ही तो प्राप्त हुई। सर्व कल्याण सामग्री एक ही मनुष्य देह मे जो शिष्य को प्राप्त होती है, सो यथार्थ रहस्यवान बोध स्वरूप सत-गुरु के ही कृपा-कटाक्ष का फल है। इस प्रकार गुरुदेव के बिना किसी तरह सब कल्याण की सामग्री कदापि नही मिल सकती। इसलिए गुरुदेव की वन्दना करके और गुरु का ध्यान धरकर हृदय मे गुरु के उपकार को धारण करता हूॅ। पारखी गुरु की महिमा अनन्त है, जो बोध रहस्य हम

दीनो को मिलना कठिन था वह आप दे दिये। धन्य-धन्य सद्गुरु देव॥ ९ ॥

नमन करौं धरि ध्यान, सन्त रहस्य मन मे वसे।
सहजै मोक्ष लहान, जो धारण करतव्य युत॥ १० ॥

टीका—मं सद्गुरुदेव को सिर झुकाकर बार-बार वन्दगी-प्रणाम करता हूँ। हे गुरुदेव! आपका ध्यान करके आपसे यही अभिलाषा करता हूँ कि सन्तो के रहस्य जो कि मानस-विजय मे कहे गये हैं, वे सब मेरे हृदय मे टिक जायँ। उसके लिए दिन-दिन नित नव स्नेह बढता जाय। आप सद्गुरु की अपार कृपादृष्टि से स्वरूपबोध और बोध मे एकरस ठहरने के लिए सर्व कर्तव्य धारणा मे आ जावें। बस, सहज ही इस असार ससार से छुट्टी मिल जावे। सदा के लिए निराधार स्वरूप मे ठहराव हो जावे। आप सद्गुरु से इस दास की यही अन्तिम प्रार्थना है॥ १० ॥

सदग्रन्थ भवयान सटीक, पचम प्रकरण वैराग्य-वित्त समाप्त

फलरूप-छन्द

भोग सुख निश्चय जु दृढ तेहि राग से सब कुछ ठने।
हानि लाभ और सुक्ख दुख कुछ भी परिश्रम नहिं गने॥
अब साधु सग सनेह नित नित जानि ले भव दुख घने।
जय धाम सत्य अकाम निज को जानि नहि भव मे सने॥

चौपाई

अनुदिन मनन करै गुरु बानी। हो गुणज्ञ जो अधमउ प्रानी॥
शोक मोह दुख होवै हानी। बहुरि न अइहैं भव की खानी॥

सोरठा

सुन्यो विमल वैराग, जो कल्याण क मूल है।
पावन परम अदाग, गुरु वच रक्षक दृढ गहो॥

शान्ति

साखीसुधा

हेतु-छन्द

साखी सुधा हम सब जनो को सद्गुरो नित ग्रहन हो।
अज्ञान भ्रम आसक्ति मनरुज वोध दृढ से दहन हो॥
मोक्ष साधन पन्थ के सव विघ्न जड से शमन हो।
साहस व निश्चय ध्येय अविचल हस गुण मे रमन हो॥

साखी

जो साक्षी निज रूप सद्, भूल्यो साक्ष्य मँझार।
सो साखी कहि विविध विधि, गुरुवर हर्यो विकार॥ १॥

सद्‌गुरवे नम

भवयान

षष्टम प्रकरण: साखीसुधा

मंगलाचरण

छन्द

गुरु दीन दयाला, धीरज आला, क्षमा को पाला, सत्यमई।
दया को धारण, स्वत बिचारण, भर्म निवारण, बोध जई॥
बन्धन तोरी, जीवन छोरी, करि निज ओरी, परख दई।
बिनवौ चरना, काज सुधरना, तुम्हरी शरना, शान्ति अई॥ १॥
सद्‌गुरु देवा, दया धरेवा, पार करेवा, भव सागर।
निरहकारी, जग से पारी, बोध रुपारी, दुखदा हर॥
रहित बासना, मेटि त्रासना, हरो सासना, गुण आगर।
त्याग करन्ता, आश न हन्ता, भास न तन्ता, नय नागर॥ २॥

टीका—अज्ञान से दीन हुए जीवो पर करुणा करने वाले हे सद्‌गुरुदेव। आप श्रेष्ठ धैर्यसयुक्त परमार्थ पर तो आरुढ ही ह, माथ ही अन्य जीवो को भवसागर से पार करने-कराने मे स्वय धेर्यवान तथा धीरता बँधाने वाले, अपराधियो के अपराध का ख्याल न करके उनके हितभाव से बर्तने वाले क्षमा के रूप ह। जेमे आपका स्वरूप सत्य एकरस है, वैसे मन, कर्म, वाणी द्वारा सत्याचरण करने वाले ओर मन, वच, कर्म से जीवो के हिसा-रहित आप अहिसाव्रती ह तथा स्वय अनुभवी ह, भ्रम-विपरीत-अविद्या का निवारण करके बोध प्रकट करने वाले ह। आप ही एक अन्दर-बाहर मे सुखासक्ति का बन्धन तोडे है, साथ ही अन्य जीवो को भी खानि-बानी के प्रबल बन्धन मे छुडाकर अपने परमार्थ की तरफ ले जाने वाले ह, इसी मे आपका प्रसिद्ध नाम बन्दीछोर ह। आप सबकी कसरखोट परखा कर पारख दृष्टि देने वाले है। ऐसे गुणज्ञ श्री सद्‌गुरुदेव। आपके चरण कमलो की वन्दना करता हूँ। एक आप

ही जीव को कृतार्थ कारक मार्ग दिखाकर परमार्थ को सुधारने वाले ह। इसलिए आपकी शरण मे हूँ। आप ही की कृपा मे आपकी शरण मे आने से इस दास को भी सदा शात स्थिर पद की प्राप्ति हुई॥ १ ॥ हे श्री सद्गुरुदेव! हे वन्दीछोर!! आप मुझ दीन जीवो पर कृपादृष्टि करते हुए इस मनोमय-सृष्टि रूप भवसागर से पार कीजिए। आप शब्द-अर्थ सम्पत्ति, बुद्धि, मान, वैभव, देहादि सर्व दृश्यभास की आसक्ति आर अहकार से रहित हे, चल-विचल रूप जगत से भिन्न आप वोधस्वरूप शुद्ध चेतन्यदेव सव दुखो को हरने वाले हें। आप निज स्वरूप मे पृथक सव विपयादि की वासनाओ से विहीन हें। काल-कल्पना के भय मेटने वाले ह। हमारे ऊपर जा वन्धन-दायक प्राणियो या मन-इन्द्रियो के प्रलोभनरूप विवशता का कष्ट हे, उसे आप हर लीजिए, क्योंकि आप सद्गुणसमूह की खानि ह। स्वरूप से पृथक वस्तुओ का त्याग करने वाले आपको न तो किसी की आशा हे ओर न ता किमी पदार्थ का अहकार ही ह। भासमान जडामक्ति वन्धन से रहित आप परमार्थ नीति पर चलने वाले न्याय करने मे सर्वश्रेष्ठ हे॥ २॥

मोरठा

वन्दा गुरुवर देव, सहज स्वभाविक ज्ञाननिधि।
करनहाग भव छेव, जहाँ न सशय है भग्म॥ १॥
दीन्ह कृपा करि ज्ञान, जेहि ते सव जालन लखे।
खानि वानि अरुझान, करौ शमन आमक्ति गुरु॥ २॥

टीका—म्वार्थ के माता, पिता ओर भ्राता तथा अन्य मव कल्पित देवो से भी वढकर आप यथार्थ श्रेष्ठ देव ह, हे गुरुदेव! म आपकी वन्दना करता हूँ। आप सहज-स्वाभाविक एकरम्म ज्ञान के रूप ह तथा वन्धन मे रहित होने की अनन्त परीक्षादृष्टि होने से आप ज्ञान के सिन्धु ह। जन्म-मरण के वीच में होने वाले मर्व दुखो की जड मनोमयमृष्टि के आप विनाश करने वाले ह। आपमे न परोक्ष कर्ता आदि का सशय ह आर न तो विपयो में सुख मानने का भ्रम हे, मशय आर भ्रम से आप पार ह॥ १॥ हे श्री सद्गुरुदेव! आप अपनी तरफ मे अहेतुकी दया करके यथार्थ पारखस्वरूप का वोध दिये ह, जिसमे मुझे सर्व मानन्दी ओर मुखामक्ति वधन रूप जालो की परीक्षा हुई। आपकी दयादृष्टि से मव विजाति वन्धनो को देखा तो मही, परन्तु शरीर आर शरीर मम्बन्धी भोगो मे तथा भास-मानन्दी रूप शब्दारण्य में प्रारब्धिक देह मम्बन्ध व वाह्य कुसग के कारण फँसा पडा हूँ। उलझन, वन्धन तथा आसक्ति का आप नाश कर दीजिए॥ २॥

गुरुध्यान-प्रार्थना

अथ मगल मूल को ध्यान धरा, गुरुदेव गुरू गुरु गान करों॥ टेक॥
भववन्धन हेतु सव जन ह, भव तारक इष्ट गुरुवर हे।
यहि हेत गुरुपद नित्य वरा, अथ मगल मूल को ध्यान धगे॥ १॥
हित चाहत जो सव प्राणिन के, वर्ताव अदोप अमानिन के।
जहि सेवत शोक रु मोह हरों, अथ मगल मूल को ध्यान धरों॥ २॥
नित आश्रय मे रहि के जिनके, सव साधन वोध मिले जिय के।
नित ऐसे सुदेव के पॉव परों, अथ मगल मूल को ध्यान धरों॥ ३॥

भ्रम सोवत से जु जगाय लिये, बहे पामर को अपनाय लिये।
अब तो गुरु ऐन मे नित्य चरौं, अथ मगल मूल को ध्यान धरौं॥ ४॥
अविकार अभय अविनाशी सदा, रविवर्ण सुसाक्षी स्वरूप सदा।
गुरुदेव दया लहि रूप खरो, अथ मगल मूल को ध्यान धरों॥ ५॥

प्रसंग १—दुख हेतु विषयासक्ति

साखी

विषय सुक्ख दुख देत है, दुख दाता नहिं कोय।
विषय जीति ससार मे, नहिं दुख सपन्यो होय॥ ३॥

टीका—यह जीव भूल से विषयो मे सुख निश्चयकर उन्हे भोगता रहता है। इसी कारण सुख माने हुए शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध ही जीव को दुख देते रहते हे। भोगो से इच्छा-वासना बढना और इच्छा-वासना से ही जन्म-मरण तथा देह सम्बन्धी सब कष्ट होना परमार्थियो का अनुभव है, अत विषयासक्ति के अतिरिक्त[1] समर्थ कर्ता, प्रकृति, जडतत्वादि जीव को दुख देने वाले नहीं है। यदि जीव विषयासक्ति मे दुख जानकर उसे जीत ले और आई हुई सुख-कामनाओ को हटा-हटाकर स्वस्वरूप मे स्थिर रहे, तो जगत मे उसे जाग्रत मे कौन कहे, स्वप्न मे भी क्लेश नही मिल सकता॥ ३॥

विषयासक्ति छोड देने से दुख नही होता

दृष्टान्त—दो मित्र परदेश गये। बडे शहर मे पहुँचकर बहुत धन कमाये। साथ ही इन्द्रियो के भोग मे भी अत्यन्त लोलुप हो गये, जिससे उन दोनो का कष्ट बढता गया। जवानी, धन, अविवेक और प्रभुता इनमे से एक ही महान अनर्थकारक होता हे, तो जहॉ चारो हो वहॉ की क्या कथा! उन दोनो को तो ये चारो बाते प्राप्त थी। इस हेतु वे रात-दिन खेल-तमाशे, नाच-रग, ऐश-आराम आदि दुर्व्यवहारो मे ही फॅसे पडे रहते थे। उनमे से एक मित्र ने विचार किया कि इस शहर मे आकर मैने बडे-बडे कष्ट पाये, अधिक-अधिक भोगो से मेरा शरीर निकम्मा हो गया है और मैं बडी कठिनता से बचा हूँ। अब यहॉ से भागने ही मे मेरी भलाई है। जमा-लाभ सब खोकर बडी दुर्दशा से वह जसे-तेमे घर को आया। माता-पिता का यह एक ही प्यारा लडका था, इसलिए उसे देखकर सब प्रसन्न हुए। उसी गॉव मे एक वेराग्यवान सत एक भक्त के यहॉ टिके थे। वहॉ नित्य सत्सग हुआ करता था। सयोगवश वह नवीन मनुष्य भी सत्सग मे जाने लगा। दो-चार दिन के सत्सग से ही उसे सत्सग-विद्या की राह-घाट मिल गई। उसके पूर्व सस्कार उदय हुए। वह सच्चा सत्सगी हो गया। फिर धीरे-धीरे "सिमिट-सिमिट जल भरै तलावा। जिमि सद्गुण सज्जन पहँ आवा॥" रा०॥ तद्वत अच्छे-अच्छे गुण-धर्मो से वह पूरा हो गया। फिर कुछ काल के बाद उसका पूर्व मित्र आया। उस सत्सगी मित्र की सादगी सादी पोशाक और गुरुदेव का दिया हुआ गले में चिन्ह कण्ठी-हीरा देखकर उसे आश्चर्य हुआ और दोनो मित्रो में परस्पर इस प्रकार प्रश्नोत्तर होने लगा—

---

१ कोउ न काहु दुख सुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता॥ रामायण॥

अज्ञमित्र बोला—क्या कोई मर गया ह जो तुम सिर साफ किये व सफेद कपडा पहिने हुए उदासीन दिखाई देते हो? उत्तर—हाँ, मन मर गया है। प्रश्न—मन वेरी हे या मित्र? उत्तर—पक्का वैरी हे। प्रश्न—क्यों वेरी है? उत्तर—मुझे पॉचो विषयो के भोगजाल मे फॅसाकर नाना आधि, व्याधि, उपाधि लगा दिया। प्रश्न—दुख के साथ ही मुख भी तो दिया? उत्तर—सुख नहीं वल्कि कामना, तृष्णा, क्रिया रूप दुख ही दिया। सुख मानना ही भूल है। "चा०—चाह भोग आसक्ति अध्यासा। सवमे लोलुपता दुख भासा॥" प्रश्न—फिर वेरी के मरने-जरने मे तो खुशी होती ह? उत्तर—अभी दहशत हे कि फिर जीवित होकर न आ जाय, यही मोच ह। प्रश्न—मर-मर कर जीता रहे वह कान ह? उत्तर—मन ही दुश्मन ऐसा हे जो कि मर-मर कर जीता रहता ह। प्रश्न—किस कारण मे मरा मन जिन्दा होता है? उत्तर—खराव सग से, नीच सकल्प से और खोटी चाल मे। प्रश्न—सदव मन मर जाए, वश हो जाए, वह उपाय कोन है? उत्तर—सत्कर्तव्य आर साधु-गुरु का मत्सग पाकर मर्वदा सत्साधन मे लगा रहे, वम सदेव मन दमन ही जानिए। इतना मुनकर वह मित्र बोला—हमारे ओर आप मे क्या भेद हो गया? उत्तर—वहुत भेद हो गया, विचार कीजिए।

गजल

मित्र तुम तो तुम रहे, हम हो गये कुछ आर ह।
मानुष्यगुण का ख्याल अव तो, हम किये कुछ गार ह॥ टेक॥
भूल मे हम तुम रहे, हा! व्यर्थ मे खोते समय।
तुम तो वेसे ही रहे, पर हम सुसंगत ला रहें॥ १॥
कर्ता कवन, यह जक्त क्या, वधन व मुक्ती किस तरे!
नहिं ज्ञान ह इनका तुम्हे, पर हम ता निर्णय तार ह॥ २॥
निज-रूप को जाने नहीं, पा मित्र नरतन पशु भये।
हुश्न आशिक मस्त तुम, हम वोध मे सिरमौर हें॥ ३॥
पक्ष मोह विवाद कर तुम, पीटते भ्रम लीक हो।
हम त्यागि पट चव फन्द को, पारख परख निज ठार हें॥ ४॥
मित्रता निपटेगी तव जव, हो समझ दो एक ही।
नहि तो उधर भरमो सजाती, हम इधर ही सार हें॥ ५॥
तुम प्रेम यदि रखना चहो, तो परख जाल सुमित्र सव।
आओ परीक्षा धाम निज, तजि भास द्वन्द्विक दार हें॥ ६॥

शिक्षक मित्र की इतनी वाते सुनकर मित्र कर जोर वोला—मेरे मे तो वहुत सी खराव लते पड गई हें, उनको छोडकर म आपके ममान धीरे-धीरे शुद्ध हो जाऊँ, वह उपाय वताइए? शिक्षक मित्र वाला— नीचे मे ऊँचे तो जाया ही जाता ह, हर एक मनुष्य पहिले नीची ही श्रेणी मे होता ह, फिर अच्छे-अच्छे पुरुपार्थ करके उच्च पद को पाता ह। प्रथम मनुष्य को तो अच्छे-अच्छे सग मे प्रेम करना चाहिए, जेसा सग वेसा रग लग जाता ह। कहा भी ह—"दोहा—दमडी चमडी वाल भरि, नाच रग वहुठाट। ताके चोथाइव सुमग, तो कुछ पाव वाट॥" परद्रव्य हरण करने मे, नारियो की खुवसूरती देखने मे, वाल सॅवारने मे, नाच आर नाना प्रकार के शरीर-शृगार करने में जितना लो लगाया जाता ह उसकी चोथाई भी सत्सग प्रिय

हो जाय तो मनुष्य को सीधा मार्ग मिल जाय। जब सीधा मार्ग देखने मे आ जाय तो धीरज और लगन के साथ सन्मार्ग का पथी बन जाय। इतना सुनकर मित्र ने कहा—सब आपके हितैषी वचन सिर पर है। धीरे-धीरे वह भी सत्सग मे लौ लगाते-लगाते सब दुर्गुणो को छोड शुद्ध होकर सर्व क्लेश रहित हो गया। इस प्रकार विषयो की आशा छोड देने से स्वप्न मे भी दुख नही होता।

इन्द्रीजित दुख होत जो, सो प्रारब्धी जान।
प्रारब्धिक दुख जानि कै, दे पुरुषारथ ध्यान॥ ४॥

टीका—इन्द्रियजित पुरुषो को जो दुख होता हे वह पूर्व प्रारब्धिक जानना चाहिए। जैसे झूला या चक्र को दुख रूप जानकर शक्ति न देने पर भी वे पहिले के वेग से घूमा करते हे, वैसे पूर्व जन्मकृत कर्मो का फल इन्द्रियजित को भी भोगना पडता हे। परन्तु विषयी और विषयातीत का अधकार और प्रकाश के समान भेद हे। विषयी मनुष्य मद्यपी के समान अपने अग मे पत्थरादि से घाव मारकर प्रारब्ध रूप जेल भोगते हुए भी साथ ही विषयरूप मद पी-पीकर बारम्बार घाव मारता रहता हे तथा कर्म-झूला या कर्म-चक्र मे निरन्तर वेग भरा करता हैं। वर्तमान ही मे इन्द्रिय आसक्तिवश क्षण-क्षण मे क्रोध, भय, शोकादि दुखो का अनुभव करते हुए सकाम वासनाओ से प्रेरित शरीर छोड फिर शरीर धारण कर ससार मे सब क्लेशों-आपत्तियो को परवशता से भोगा करता हे। कहा हे—"फिरत सदा माया के प्रेरे। काल कर्म स्वभाव गुण घेरे"॥ रा० ॥ यह तो दशा हुई भोग-सुख लेने वालो की। अब जो विषयो को दुखरूप जानकर उन्हे छोडने मे काय, वचन, मन से तत्पर ह, वे दुर्गुणो की जगह सद्गुणो को धारण करते हे। सद्गुणयुत वर्तमान मे भी उनको मानसिक राग-द्वेष, विषय-लोलुपता सम्बन्धी कोई दुख नही होता। केवल शारीरिक दुख और सुखादि भोग भी क्षय होने वाले पहुना के समान जानकर वे ज्ञानबल से सतुष्ट ही रहते हें। प्रारब्धक्षय के बाद तो सदा के लिए उनकी अचल स्थिति है ही। इस प्रकार इन्द्रियजित के दुखो को प्रारब्धिक और क्षणिक जानना चाहिए। उन्हे विषय त्याग द्वारा सदा सुखी देखकर विषय त्याग करने के लिए काय, वचन, मन से ध्यान देना चाहिए। जिसमे विषयसुख त्याग करके हम भी सदा दुखरहित हो जावे॥ ४॥

प्रसग २—सुख मिथ्या

सुख होते सुख चाहना, पुरुषारथ नहिं छूट।
विपय सुखौं की हानि लखि, होवै तुष्ट अटूट॥ ५॥

टीका—माने गये पॉचों विपयो का सुख लेते समय सुख की लालसा ओर भोग क्रिया के प्रयत्न नही छूटते तथा जो भोग के अन्त मे रुक कर सन्तुष्टि मान लेता है वह विषयो के ग्रहण करने की शक्ति न चलने पर परवशता से रुककर सुख मानता है, परन्तु भीतर तो भोग-सुख की चाहना ज्यों-की-त्यो अभग है। चाहना ही मे अनमिलता की प्रतीति होकर चचलता होती हे। उस चचलता-दुख-दमन के लिए सुख भोग भी रहा है, सुख की चाहना भी कर रहा है, सुख के लिए पुरुषार्थ भी कर रहा है। ये तीनो सुख-भोग के आदि-मध्य-अन्त मे बने ही रहते है। जेसे कोई सुन्दर पदार्थ देख रहा हे, साथ ही उसे और-और देखने की इच्छा भी कायल कर

रही ह आर वह देखने का प्रयत्न भी कर रहा ह। इसी प्रकार सब विषयो में समझिए। भोगान्त म, इन्द्रियो की शक्तिक्षीणता से सामर्थ्य न रहने पर, इच्छा भर भोग न भोग सकने से या पदार्थो की आगे किसी प्रकार पूर्ण स्ववशता न पाकर अपूर्णता से, विवशता से थककर मानन्दी रुक-सी जाती है, बस जीव वृत्ति की क्षणिक स्थिरता में पूर्ण सुख निश्चय कर लेता है। फिर शक्ति आर पदार्थ पाते ही सुख-तृष्णा चमकती रहती है तथा उन्हीं-उन्हीं भोगो मे सुख-आशा ज्यो की त्यो ह। उसको भोगने से तृप्ति नहीं बल्कि तृष्णा बढती ही जाती ह॥ ५॥

सुख आशा मात्र है

उदाहरण—रेलगाडियों मे अधिक भीड होने से जब डिब्बे मे घुसने को नहीं मिलता तब बडा दुख होता ह। किसी प्रकार जब घुस गये तब सुख होता है। जब खडे रहने को मिल गया तब साथ ही बेठने की इच्छा होती ह। जब बैठने को मिल गया तब सोने की इच्छा होती है। जब पॉव पसारने को मिल गया तब पूरी सीट हमारे लिए हो, ऐसी इच्छा होती है। जब पूरी सीट हमारे लिए हो गई तो भी यह इच्छा होती ह कि पूरा डिब्बा हमारे लिए होता तो सुख होता। इसलिए धनी लोग पहिला दर्जा म बैठते हैं, परन्तु फर्स्टवाले भी जसा चाहते हैं वेसा मन के अनुसार गाडी नहीं ह या गाडी का रुकना-चलना हमारे अधीन होता या अन्य कामनाएँ उनको भी सताये रहती ह, परन्तु आगे बढने की सन्धि न देखकर शक्ति भर आगे बढकर क्षणिक वृत्ति गिर जाती ह। जिससे जीव को भ्रम से वहाँ विश्राम-सा मालूम होता ह, पर जिसे जब तक इच्छा ह तब तक विश्राम का नाम कहाँ! जिसे अच्छी-खराब कोइ भी स्त्री के मिलने का सयोग नही हैं वह भोगेच्छु पुरुष भली-बुरी की परवाह न कर किसी भी प्रकार की स्त्री मे सुख मानता ह। जिसे स्त्री प्राप्त ह यदि वह देखने से मन को अच्छी नहीं लगती तो उसे अच्छी स्वरूपवाली सुन्दरी की इच्छा होती ह। जिसे सुन्दरी प्राप्त ह वह अन्य ढॉचे की स्त्रियों को पसन्द करता ह। जब आगे शक्ति नही चलती तो फिर वहाँ ही वृत्ति क्षणकालीन तद्गत हो जाती हे। यह जीव विवशता म वृत्ति तद्गत होने पर स्थिरता की प्रतीति करता ह। पुन शक्ति जगने पर दूसरे विषय की तरफ उसकी वृत्ति दाड जाती ह। विषय-पदार्थ आर शक्ति सबकी हद ह, पर कल्पना की हद कहाँ! जहाँ तक शक्ति चलेगी वहाँ तक कल्पना उठेगी, फिर तो कल्पना टक्कर मारकर क्षण काल के लिए रुककर शक्ति आर विषय वस्तु पाते ही आगे बढेगी। इन बातों म आप समझ गये होंगे कि सुख सिवाय कल्पना के और कुछ नहीं ह।

अनन्त चाहना नाशि जो, एक चाहना हेत।
सोई सुख की चाहना, पुरुषारथ करि लेत॥ ६॥

टीका—एक सम्मुख भोग-कामना की पूर्ति करने मे लगने से अन्य अनन्त चाहनाएँ दब जाती ह। वही एक चाहना मे प्रवृत्त होने से अनन्त चाहनाओ के दबने का सुख, सो भ्रम से विषयो मे निश्चय करके भोगो के लिए परिश्रम करता रहता ह॥ ६॥

स्पष्ट—पूर्व देखे, सुने, भोगे पॉचो विषयो के टिके हुए असख्य सस्कारो का स्थान अन्त -करण है। उसी मे से एक-एक करके सुख की भावनायुक्त इच्छा उठते ही शूल-रोगी के समान जीव बेचन होता रहता ह। उस बेचनी को मिटाने के लिए आधार ढूँढता ह, भ्रम से आधार

पूर्व आभ्यासिक भोगवृत्ति ह, फिर समय, अवस्था ओर पदार्थ के मयोग से एक मुख की इच्छा जब बडी प्रबलता से उठती ह, तब उसी के भोग पूर्ण हेतु यत्न मे तन, मन, धन से जीव लग जाता हे। ज्यों-ज्यों एक सम्मुख इच्छा पुरांती के यत्न मे लीन होता ह, त्यों-त्यों ओर अनन्त चाहनाएँ दबती जाती हे। इस प्रकार उन अनन्त कामनाओ से अनन्त वस्तुओ की अप्राप्ति का दुसह दुख आर तिन्हो के झकझोर ये दोनो से रहित का सुख भ्रम करके भोगो मे प्रतीत होता है। जीव को यह परीक्षा नही कि मुझे भोगों के सयोग से सुख नही होता, बल्कि म ही म्वरूप से कामना और दुख रहित स्थिर हूँ। इसलिए मुझे कामना रहित होने में सुख होता ह, भोगो से सुख नही होता। मेरी अनन्त कामनाओ के दबने का ही सुख, भोगो में भ्रम से प्रतीत होता हे, क्योकि बिना अन्य कामना दबे सुख नही प्रतीत होता। बिना भोग ही मेरा शुद्ध स्वरूप कामना रहित हे, ऐसा न जानकर कामना नाश के सुख को भोगों में निश्चय करके भोगो की प्राप्ति के लिए सब प्रकार से पुरुषार्थ—परिश्रम करता रहता हे, यही अज्ञान हे।

मनुष्य सहनरहित चाहना को किसी प्रकार भुलाना चाहता हे।

दृष्टान्त—एक धनवान लालाजी मित्रो के साथ ताश खेल रहे थे। लालाजी के पहिचानी एक विचारवान ने पूछा कि आप ताश क्यो खेलते ह? उन्होने कहा—जब म सत्तारी बठता हूँ तो दुख होता है। विचारवान—तो क्या इससे दुख छूट जाता ह? लालाजी—हाँ, अवश्य। विचारवान—दुख छूट नही जाता, उलटे दुख की जड अवश्य जम जाती हे। क्योकि जब आप खेलने को नही पायेगे तब आपको बडा कष्ट होगा। पुन खेलने मे हार-जीत, फूलना-पचकना बना ही रहता है और सग-दोष से तमाम खराब आदते पड जाती हे। लालाजी—फिर क्या करे, समय काटे ही नही कटता तो इसी मे समय निकालते हे। विचारवान—आपको मनुष्य देह की कीमत मालूम नहीं, अमूल्य समय को आप तुच्छ पत्तो के खेल मे गवॉ रहे हे। आपको समय ही निकालना हो तो ऐसे समय मे आप ऐसा कार्य करिये कि जिससे कल्याण हो। कोई ज्ञान के ग्रन्थ पढिये या सत्सग मे जाइए अथवा मनोनिग्रह या शुभाचरण मे लगिए, जिससे आपको परम सन्तोष की प्राप्ति हो जायेगी।

लालाजी के समान मनुष्य अनन्त चिन्ताओ से ग्रसित हे। सत्तारी बैठता ह तो घर-घट की चिन्ताएँ बैठने नही देती, इसलिए इन्द्रिय सम्मुख एक-एक भोगरूप पत्ते खेलने मे अन्य चिन्ताएँ भुलाकर जीव दिन बिता रहा है। जिन दुखो को छुडाने के लिए वह एक सम्मुख भोग मे बधमान हो रहा ह, वे दुख उसी की ओट मे लटके चले जा रहे हे, बस वही-वही घूम-घूमकर रहटमाला के समान चक्कर सिर पडा करता हे, क्योकि एक सम्मुख भोग ही सस्काररूप से टिक जाता हे। दूसरे समय मे वही सस्कार भोग के लिए सताता ह। इसी प्रकार सभी भोगो के सस्कार बन गये ह। वे ही जीव को भोगो के लिए परिश्रम कराया करते ह। इसलिए हे जीव! इस भूल मे छूटने के लिए गुरुपद की ओर लगो।

> सुख पदार्थ हे सामने, सुख से तृप्ति न होय।
> याते सुख कछु वस्तु नहिं, लखो भूल यह जोय॥ ७॥

टीका—भोग भोगते हें, भोगने के लिए भोग की सामग्रियॉ भी मोजूद ह ओर वे इस समय भोगकर चुकने वाली भी नही ह, तब भी किसी हालत मे तृप्ति होती नही, इसलिए

सुख कोई पदार्थ नहीं। हे सुज्ञजन! इस भूल को भली प्रकार परीक्षा करके देखिए॥ ७॥

सुख सम्बन्ध होते हुए भी तृप्ति नहीं होती

दृष्टान्त—एक सद्‌गृहस्थ के यहाँ कुटुम्ब भोज था। उस भोज में कई प्रकार के व्यंजन बनवाये गये थे। यथायोग्य सब व्यंजन परोसे गये। सब लोग जीमने लगे। सब वस्तुएँ वहाँ बार-बार परोसी जाती थीं। आवश्यकतानुसार जीम-जीमकर सबकी सब पंगत आगे-पीछे उठ गई। उसमें से एक युवक मनुष्य बहुत देर तक बैठा रहा। अब उससे बिलकुल कम खाया जाता था। एक सरदार ने पूछा कि भाई साहब! क्या अभी आप खा नहीं चुके हैं? क्या आप रोगी या वृद्ध या निर्बल हैं या कोई और बात है? वह लालुप मनुष्य बोला—श्रीमान! पेट पापी तो मेरा कब से भर गया, व्यंजन भी खूब अच्छे बने हैं, उठने को जी नहीं चाहता। मैं रोगी, वृद्ध नहीं हूँ। पेट भी तो क्षुद्र नदी है जो थोड़े में उमड़ चलता है। मालूम होता है कि मुझे इन स्वादों को छोड़कर उठना ही पड़ेगा। सरदार ने हँसी में कहा—और तो उपाय क्या है, आप रेचक-पाचक चूर्ण खा लीजिए। उस लोलुप मनुष्य ने कहा—भाई साहब! यदि चूर्ण खाने की जगह होती तो एक आध लड्डू ही न खा लेता! क्या हो कोई उपाय नहीं। इस दृष्टान्त में विचार कीजिए कि वही स्वादिष्ट वस्तु खाई गई पेट के अन्दर है, वही बाहर रक्खी है, वही जबान पर भी है, इतने पर भी स्वाद में इच्छा पूर्ति नहीं होती, तब इससे बढ़कर और स्पष्ट प्रमाण क्या होगा! विषयों में सुख नहीं है। भूख तो निर्वाहार्थ पाव व सेर भर की है, पर मन की भूख अथाह है, उसको सब कुछ देते हुए भी बढ़ती ही रहती है। स्वादासक्ति के समान ही वनिता आदि विषयों में समझ लीजिए। जब सुख माने हुए पदार्थों का सब प्रकार सम्बन्ध करते हुए भी तृप्ति नहीं होती तो इससे स्पष्ट है कि सुख कोई पदार्थ नहीं है।

> भ्रम करि मानत सुक्ख जो, अहै कामना नाश।
> सोई सुख है चाहना, होय पदारथ भास॥ ८॥

टीका—जो यह जीव अपने आप को भूलकर भ्रम से विषयों में सुख निश्चय करता है, वह विषयों का नहीं, किन्तु कामनाओं के दुख-नाश का है। श्वान-काँचमहलवत वही कामना-नाश का सुख भोग-पदार्थों में प्रतीत होता है॥ ८॥

कामना दबने के सुख को भूल से भोग पदार्थों में मानता है

दृष्टान्त—छोटे-छोटे लड़कों को चटुआ (एक काष्ठ का खिलाना) माता पकड़ा देती है। उसे बालक मुख में डालकर बार-बार घूटने की कोशिश करता है, पर वह बड़ा और हाथों में पकड़े रहने के कारण फिर-फिर मुख से निकल आता है। कभी हाथ से छूटकर जमीन पर गिर पड़ता है तो दौड़कर फिर उठा लेता है। फिर-फिर उस चटुआ को चाटा करता है। यद्यपि चटुआ से उसकी तृप्ति नहीं होती, पर घटवासना उसे स्थिर नहीं होने देती, इसलिए वह दुखी होकर चटुआ ही में उलझा रहता है। यद्यपि चटुआ में भी चंचलता का दुख है, क्योंकि उसे बार-बार मुँह में घुसा-घुमाकर घूँटना चाहता है, परन्तु वह घाँटी में नहीं जाता और पूर्व इच्छा जो कि उसको हरान कर रही थी वह उस चटुआ में उलझने से रुक-सी गई। उसे इच्छा रुकने का सुख चटुआ लेने में प्रतीत हुआ, पर चटुआ भी तो इच्छा बना कर उसे अहदी बना देता है।

फिर चटुआ बिना उससे रहा न जायेगा। चटुआ रहते-रहते ज्ञान के विना उसे वासनावश स्थिरता कहाँ मिल सकती है, यह लडके को खबर नही।

सिद्धान्त—भाव यह है कि अनादि देह सम्बन्ध के कारण प्रारब्धरूप इन्द्रियो के सम्मुख इस जन्म मे भी सब भोगों को भोग लिया हे जिससे जीव को पूर्व देखी, सुनी तथा भोगी इच्छाएँ बैठने नही देतीं। इसलिए इच्छाओ की चचलता मिटाने के लिए भूल, भ्रम, अज्ञान के कारण चटुआरूप पाँचो विषयो में लबरा बनकर यह दुखिया जीव सुख मानता हे, पर इसे खबर नहीं कि भूल तो स्वरूप के अज्ञान से ही होती हैं, सो पारख बिना मिट नहीं सकती। भोगो से तो इच्छाएँ बनीं है, फिर इनसे निवृत्ति कैसे होगी। जैसे श्वान सूखी हड्डी चूसता ह, खून उसके मुख से ही निकलता हे, पर उसे निश्चय होता है कि यह खून हड्डी से ही मिल रहा है। सच कहा है कि ससार मे बडे-बडे विद्वान, वक्ता, कवि, शूर-वीर तथा सब पर शासन करने वाले हैं, सब कार्य करने वाले, अन्य की कसरे भी बताने वाले बहुत हें, पर अपने अज्ञान को पहिचानने वाले कम है। जो अपनी भूल की परीक्षा हो जाय तो सब दुखो का कारोबार ही मिट जाय। अत प्रयत्न से निज अज्ञान को स्वरूपज्ञान द्वारा मिटाना चाहिए। किसी ने एक से पूछा—अपना अज्ञान कैसे जानने मे आवे? उसने कहा—सर्व मनुष्य अपने को ज्ञानी समझते है, आप कैसे अपने को अज्ञानी मान लिये? मनुष्य ने कहा—आपके कहने से। सज्जन बोला—फिर आप स्वय ज्ञानी हे। यो तो सभी अपनी समझ के आगे दूसरे की समझ को तुच्छ समझते हे। जब तक किसी के कहने पर या स्वय विचार से यह दृढ निश्चय न हो जाय कि हमारे मे भूल हे, हम भी अज्ञानी है, तब तक अज्ञान छूटने का कोई उपाय नही। हम अज्ञानी हे, हमे इस वात को पहले जानने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारा स्वरूप जैसा ह वेसा समझकर नही ठहरते, यही अज्ञान का चिह्न है। जिसकी भूल से जो भास खडा होता हे उसमे उसके सामान्य चिह्न आ जाते ह। जेसे ठूँठ के भ्रम से चोर, मनुष्य के समान ठूँठ का लम्बा आकार आदि अवश्य प्रतीत होता हे। वैसे जीव स्वरूप से चेतन्य कामना रहित स्वतन्त्र होने से ही जड देह के सम्बन्ध मे निज स्वरूप को भूलकर जड मे अपना लक्षण-चेतन्यता, अचलता और स्वतन्त्रता ढूँढता है, यही भूल हे। यदि इस भूल की परीक्षा हो जाय, अपने आप स्वय स्वरूप मे ज्यो का त्यो ठहरने के लिए अन्दर-बाहर सब बन्धनो को परख-परख कर तिरस्कार करता रहे, तब जानिए कि अब ज्ञानमार्ग मे लगे ह। एक विवेकवान पुरुष कहते हे—"दोहा—जग विद्या जग सग से, में बड चतुर प्रवीन। सन्तन की सगत कियो, लख्यो अधम अति दीन॥ भोग अन्ध जब म रह्यो, भोगे चारो ओर। अब विवेक के नेत्र खुलि, इच्छाजित शिरमोर॥ बुरा जो देखन म चला, बुरा न देखा कोय। जो दिल खोजों आपना, मुझसे बुरा न कोय॥ जो कारज सो करत नहि, करत और को आर। भोग मद्य पी-पी गिरत, करत बहुत ही शोर॥" इस प्रकार जब में अपने को अज्ञानरूप रोग से ग्रसित समझा, तब औषधि की आवश्यकता समझकर सबसे मीठा बोलने लगा। दूसरे के दुर्गुणो को क्षमा करने लगा, सत्सग मे रुचि होने लगी, शत्रुओ को भी पीडा देने का भाव मिटा डाला। अब अपनी भूल से बनी हुई आसक्तियो को जीतने के लिए हिम्मत नही हारेगे।

शिक्षा—भूल-आसक्ति अध्यास हटाने के लिए यही बात ख्याल रहे, दोहा—"कोटि विघ्न सहि भोग ज्यो, तजत न भोगी भोग। त्यो गुरुपद के योग्य हम, धीर वीर सयोग॥"(१)

अहकार को त्यागे, अपनी निन्दा सुनकर अपनी तरफ देखे, दूसरे का क्या अपराध। (२) अपनी वडप्पावाली वात सुनकर न फूले। (३) हलवली न करे बल्कि काम मे चोकसी रक्खे। (४) चौकसी के अग—धीरज आदि रक्षक अगो की दृढता मे पकड, दूसरे के वैर और प्रेम दोनो के वार को सजगता-परीक्षा द्वारा वराग्य से हटा दे। कर्तव्य कर्म मे दृढ रहे, शुभाचरण से जीविका करे, मनोरथ पूरा होने पर भी फूले नहीं। इन अगो से अज्ञान नहीं वनता, अज्ञान नाश होने मे भोगो मे मुख-निश्चय निर्मूल हो जाता है।

अन्य चाहना नाशि विनु, सुक्ख न कवहूँ होय।
याते सुक्ख निवृत्ति का, मानि पदारथ जोय॥ ९॥

टीका—जव तक इच्छाओ एव वासनाओ की हलचल न मिटे तव तक कोई भी मुख की प्रतीति नही हो सकती, अत: कामनाओ की निवृत्ति का ही सुख है उसे जीव भोग पदार्थो मे मान लेते है॥ ९॥

स्पष्ट—जसे कोई अच्छे मे अच्छे व्यजन एकात मे खाता हो, यदि उसे राजदूतो मे पकड जाने की आशका हो तो उसको अन्य चिन्ता होने से वह व्यजन मे सुख नहीं अनुभव कर सकता। व्यजन मे मुख होता तो मिल न जाता। इसी प्रकार सव विषयो के वारे मे समझिए। इससे जीव भूल वश कामना निवृत्ति के ही मुख को विषय पदार्थो मे मान लेता है। विषयो में सुख होता तो जिस विषय की कामना नही है उसके भी मिलने पर सुख होना चाहिए। अग्नि उष्णतावत विषय मुखरूप हों तो सवको सव विषयो की प्राप्ति मे सुख होना चाहिए। होता तो नहीं है, इसलिए कामना का होना ही दुख है और कामना निवृत्ति का ही सुख है, विषयो का नहीं, परन्तु सव जीव अज्ञान मे जड पदार्थो मे मुख मानते रहते है।

अन्य चाहना दवे विना मुख प्रतीत नही होता

दृष्टान्त—एक पुरुष परदेश से वहुत धन कमा कर लाया। साथ ही स्त्री के लिए अच्छे-अच्छे कपडे-गहने आदि भी लाया। स्त्री को उत्तम-उत्तम कपडे और रत्न जटित गहने अर्पित किया। इन कपडो और गहनो से वह स्त्री को प्रसन्न करना चाहता था, परन्तु स्त्री पर-पुरुषरता होने के कारण घर मे पुरुष के आने पर उसको वडा कष्ट हुआ। पर करे क्या, पुरुष की कोमल वानी और वस्त्राभूषण के सम्मान मे स्त्री के चेहरे पर तनिक भी प्रसन्नता न आई। पुरुष वोला—प्रिये! तुझे कौन सा दुख है? स्त्री वोली—आप जानते ही होंगे कि कितने दिनो से मुझे विसार दिये, अव कहीं भूलकर आ गये हैं। खैर, मैं अपना सौभाग्य मानती हूँ जो आप दर्शन तो दिये, ऐसा कहकर कुछ प्रसन्नता दिखलाकर किसी कार्य में लग गयी। जव-जव उसे अपने यार की याद आ जाय तव-तव उसका दुखमय चेहरा हो जाय। वहुत दिनो के पीछे एक दिन उसे अपने यार से रात्रि को मिलने का अवसर मिला, पर वह व्यभिचारी पुरुष उस दिन किसी भारी मुकदमे के चक्कर से अत्यन्त चिन्तित था। उसमे उसकी हार हो जाय तो जन्म जेल या फाँसी की नावत थी। इसलिए जव वह सव शृगार सयुक्त प्रसन्नतापूर्वक उसे रिझाने लगी, तव भी पुरुष की जैसी प्रसन्नता चाहिए वैसी न देखकर वोली—दोहा—"धाय मिलत यक होन को, सो क्यो आज उदास"? पुरुष उत्तर—आगि देत अज्ञान तू, मोरे मन कुछ प्यास। स्त्री—सुन्दर कर कमलन सहित, तोहि पियाऊँ नीर। अथवा व्यजन पान रचि, करूँ तुरत

ततबीर॥ पुरुष—यह सब कुछ न सुहाय मोहिं, लागत कडवे बैन। मेरे चित कछु और है, मोहिं करन दे शैन॥ कामोन्मादिनि नारि जब, बहुत कियो झकझौर। क्रोध विबश ह्वै पीटि तेहि, कर पग तोड्यो ठौर॥'' उस व्यभिचारिणी का तो यह हाल हुआ।

अब इधर का हाल सुनिए—उसका खास पुरुष कही गया था, वह घर आया, उसी समय उसका मित्र भी आ गया। मित्र उसकी स्त्री के दुराचरण का सब हाल सूचित करता है। मित्र अपने मित्र से बोला—''दोहा—कैसी बीतत नारि से? उत्तर—वहि दुख से मोहि दुक्ख। प्रश्न—वह दुख काहे करत हे? उत्तर—मम वियोग से दुक्ख॥ प्रश्न—नारि गई तव हे कहाँ? उत्तर—घर की दूजी ओर। मित्र—चलि देखहु निज नयन से, नारि प्रतीति है खोर॥'' वह पुरुष दूसरी तरफ जाकर देखा तब मित्र से बोला—''इत वह बाला है नही, मित्र सुझायो हाल। जानि हाल तेहि काल सम, त्याग कियो तत्काल॥'' ''इत की भई न उत की। जारिनि दुख महँ भटकी। नर नारी शिक्षा सुनि लेहु। पर मे कबहुँ न कीजै नेहु॥'' इस दृष्टान्त से स्पष्ट हो गया कि कितना ही आदती सुख क्यो न हो और सुखसेज पर सोये क्यो न हो, पर अन्य चिन्ता की निवृत्ति बिना सुख नहीं मालूम हो सकता। विषयो का सुख भी क्षण-कालीन कामना रुक जाने से ही प्रतीत होता है। कामना की प्रवृत्ति से जीव दुखी तथा चचल होता है और कामना की निवृत्ति से जीव सुखी तथा स्थिर होता है। कामना की निवृत्ति विषयो से नही होती। जो क्षणकालीन होती है, वह शक्ति न चलने पर। शक्ति पाते ही ज्यो की त्यो सब कामनाएँ बनी रहती है। बनी ही नही, बल्कि और-ओर विषय पदार्थो से कामनाएँ बढती जाती है। अतएव जो सुख-शाति भोगी भोग कर नही पाता, वह सुख-शान्ति केवल विषयो को त्याग कर त्यागी पा जाता है।

एक चाहना सुक्ख जो, सोई परिश्रम रूप।
तृष्णा ज्वाला बिघ्न दुख, शत्रु त्रास अरु भूप॥ १०॥

टीका-हे जीव! एक सम्मुख सुख-चाहना जिसके सहारे से अन्य कामनाएँ दब गयीं, उसमे जो सुख प्रतीत होता है, उसी को सब दुखो की जड समझ। सामने आई हुई चाहना पूर्ण करने के लिए ही तो परिश्रम करना पडता है। परिश्रम से इच्छित भोग मिले भी तो उनके भोगने से तृष्णा की लपट बढ जाती हे। भोग पदार्थो मे स्वतन्त्रता रहित, नाश हो जाने, परिणाम बदलने आदि विघ्नो का दुख बना रहता है। शत्रु, चोर, राजा आदि द्वारा छीनने-लूटने आदि का सदोदित भय सवार रहता है। इससे जिस एक भोग-चाहना के आधार से सब कामनाएँ दबती हे, वही एक चाहना ही दुख स्वरूप है। जब एक कामना दुख रूप देखने मे आ जाय, वैसे ही सब कामनाओ की पूर्ति मे तृष्णा, शत्रु, राजा आदि से अनन्त विघ्न का दुख जानकर उन्हे त्यागना चाहिए॥ १०॥

एक सुख-भोग की चाहना के समान ही सब चाहना दुखपूर्ण है

दृष्टान्त—प्रसिद्ध है कि हिटलर नाम का सरदार जर्मनी मे हुआ था। उसे शरीर और भोग सत्य दृढ रहा। वह अभिमान की मूर्ति ऐश्वर्य का इच्छुक था। दावँ-पेच, बल-बुद्धि मे भी वह एक ही था। वह एक साधरण फौजी होते हुए फौज का सरदार हुआ। फिर धीरे-धीरे सबके ऊपर राजा बन बैठा। छोटे देश का राजा होते हुए भी कई बार उसने यह प्रतिज्ञा की कि

इस ससार मे एक हिटलर ही राज्य करेगा। उसने सारे विश्व मे हलचल मचा दी। कई वार विलायत सरकार को थर्रा दिया। फिर क्या था, अभिमान कहाँ तक चलेगा, दौडने वाला थकेगा ही, बरेगा तो बुझेगा ही, अन्त मे वह स्वजनो सहित नष्ट हो गया। सव शेखी भूल गई। अव विचार कीजिए! हिटलर ने सर्वोपरि राज्य के लिए कितना परिश्रम किया, कितना जोर लगाया, कोई उपाय बाकी न रक्खा। ज्यो-ज्यों बढता गया त्यो-त्यो उसकी राज्य की तृष्णा बढती गई। ज्यो-ज्यों तृष्णा बढी त्यो-त्यो वह दूसरे पर कब्जा करना चाहा। उसमे उसको अनन्त विघ्नो का सामना करना पडा, तमाम राजा उसके शत्रु बन गये। सोते-जागते आठो पहर उसे खटका ही सवार रहता। अन्त मे विनष्ट हो गया।

वस्तुत. न राज्य मे सुख है, न भोग मे सुख है, सुख की इच्छा ही दुख है। यह बात सुनकर एक जिज्ञासु ने पूछा—सुख नहीं है, तो प्रतीत क्यों होता है? शिक्षक ने कहा—दुख ही सुख निश्चय होता है। जैसे किसी का कोई प्रेमी मर गया है यह दुख है। उसके लिए वह रो रहा है, रोते हुए देखकर हमको और आपको दुख निश्चय होगा। अगर उस समय कोई उस मनुष्य का रोना बन्द करे, तो वह अधिक दुख मानेगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि वह रोने ही से दुख का परिवर्तन समझता है। जैसे किसी को असह्य पीडा हो रही है। वह हाय-हाय करके इधर-उधर उलट-पुलटकर उसे भुलाना चाहता है। उसके हाय-हाय करने मे कौन सुख, मात्र दुख का भुलावा है। इस प्रकार प्रारब्ध-इन्द्रियो के सम्बन्ध के कारण.हमेशा जीव भोग-इच्छा तथा अतृप्ति से दुखी है। इच्छा मे उसे चचलता होकर रहा नहीं जाता, कभी सताती है, इसलिए भोग के आधार से वह इच्छा को भुलाने मे सुख मान रहा है। अब यह मानना ऐसा दृढ हो गया है कि दुख होते हुए भी सुख प्रतीत होता है। अनुकूलता सुख है, प्रतिकूलता दुख है। प्रतिकूलता इच्छा है, इच्छा भोग से है, भोग क्रिया से है, भोग-क्रिया देह के योग से है, सबका कारण अज्ञान है। इससे अज्ञान ही मुख्य दुख है। अज्ञान से ही देह और देह सम्बन्धी जड भोगो को अनुकूल मान लिया है। अखण्ड स्वस्वरूप चेतन से पृथक पाँचो विषयरूप पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सर्वथा भिन्न जड परिणामी दूर है। इनको चैतन्य जीव ने ही अनुकूल-प्रतिकूल समझकर दुख-सुख दृढ मान लिया है। मनुष्य देह ही दुख छुडाने की भूमिका है। मनुष्य को चाहिए कि फिर से दुख न हो, वही उपाय करे। (१) अपने दोषों को देखते हुए मिटाने के प्रयत्न मे लगे रहना । (२) पारखी गुरुदेव से निश्छल रहना। (३) खान-पान आदि व्यवहार मे सयम रखना। (४) कुसग कुपथ्य का अतिशय त्याग। (५) स्वस्वरूप स्थिति। (६) एकान्त निवास। (७) मान-पृज्यता, ऐश्वर्य तथा पथवृद्धि हेतु आतुर न रहना। (८) अपमान, निर्धनत्व तथा अनादर पाकर भी स्ववश-शात प्रफुल्ल रहना। ये अष्टामृत बूद पान ही जीवनफल है।

प्रसंग ३—विषयों से किस-किस प्रकार दुख होता है

मनुष मनुष के फाँस मे, तत्व तत्व के गाँस।
सब अंगन बिन काज नहिं, प्राणिन मन मन पास॥ ११॥

टीका—मनुष्य प्राणी एक दूसरे के बन्धन मे है। जैसे एक गरीब धन के लिए धनी सेठ के वश में, धनी सेठ कोई बडे हाकिम के वश मे। इसी प्रकार सब अपने से बलवानो के वश

मे, अन्त मे राजा बादशाह के वश मे, राजा-बादशाह अन्य दूसरे बडे राष्ट्रपति के वशवर्ती और राष्ट्रपति जोरदार प्रजाओ के वशवर्ती। इस प्रकार सम्बन्ध होने के कारण पता नहीं किस क्षण मे सुख माने हुए हमारे अनुकूल प्राणी या पदार्थ हमसे छूट जायें या हरण हो जायें। हे जीव। जिन देह-गेह, बीज-वृक्ष, शीत-उष्णादि के योग मे भोग को अनुकूल मानता है, वे तत्व भी भिन्न-धर्मी होने के कारण एक दूसरे की क्रिया मे स्वाभाविक साधक तथा बाधकरूप होकर एक दूसरे से गॅसे हुए कार्य-पदार्थ उत्पत्ति तथा नाशवाले स्ववश रहित है। न चाहते हुए झूरा पडना, अधिक वृष्टि होना, पत्थर पड कर खेती आदि का नाश हो जाना, बिजली-भूकम्प आदि क्रियाओ के बीच मे जब जो-जो दुख आ जाये, उन्हे विवश होकर भोगना पडता है, इसलिए सब भोग जड तत्वो के सम्बन्ध मे होने के कारण दुखरूप है, अपने वश मे नही है।

भोग सुख लेने के साधन नख से शिखा तक दसो इन्द्रियाँ है, इनके बिना भोग भोगना नहीं बन सकता। रूप देखने के लिए नेत्र तथा किसी ठार पर जाने के लिए पग की जरूरत है। यदि देखने की इच्छा भी हो, सम्मुख कोई सुन्दर पदार्थ भी हो और नेत्र न हो तो कैसे देख सकते है। पग न हो तो कैसे चल सकते है। बस ऐसे ही त्वचा ठीक होने पर स्पर्श, नाक ठीक होने पर गन्ध, कर्ण ठीक होने पर शब्द, वस ही हाथ, पॉव, गुदा, लिगादि की भी आवश्यकता है। सब इन्द्रियो के ठीक आरोग्य रहे बिना भोग-पदार्थ होते हुए भी भोग-सुख लेते नही बन सकता। फिर भोग-सुख लेने के लिए स्त्री-पुरुष, गॉव-देश, कुटुम्ब, परिवार जिसके आधार मे भोग सुख मिलते है जो कि भोगो मे साधक-बाधक होते रहते है, उनके मन को राजी रखना पडता है। पुन जिन प्राणियो के मन को हम अपना बनाना चाहते है, वे सब दूसरे प्राणियो के मन मे बसे हुए है। एक का प्रेम एक ही मे हो ऐसा नही है। एक का प्रेम बहुतो से होता है सयोगाधीन जिधर ही विशेष वृत्ति बॅध जाय आदमी उधर ही चल देता है। देखा भी जाता है कि प्रिय से प्रिय माने गये अपने ही सगे-सम्बन्धी मन पलटने के कारण दूसरे के होकर विविध कष्ट देने पर तैयार हो जाते है। दूसरे सकामी स्त्री-पुरुषो के मन को राजी रखने के लिए कितना गर्जबन्दा होकर परिश्रम और कष्ट सहना पडता है। यह सब विचार सकते है। इस प्रकार मनुष्य अन्य मनुष्यो के बन्धन मे है। तत्वो की क्रिया तत्वो के प्रवाहानुकूल है। इन्द्रियॉ भी सदा एकरस नही रहती। भोग-सुख हेतु नर-नारी भी अन्य सबसे बॅधे हुए और पलटने वाले है। ऐसे परवशी भोगो मे कहॉ सुख, कहॉ विश्राम। ॥ ११ ॥

सबै खीच सब ओर से, एक बस्तु की आश।
सो परिवर्तन रूप है, अरु क्षणभग निवास॥ १२॥

टीका—एकी मनुष्य ब्रह्माण्ड भर के भोगो को अकेला भोगना चाहता है। एक के समान सब प्राणियो की खैच चारो तरफ से एक जडरूप पॉचो विषय कचन और कान्तादि पदार्थो के लिए ही हो रही है। फिर वे भोग-पदार्थ क्षण-क्षण मे स्वाभाविक बदला करते है और बदलते हुए क्षण मात्र मे नष्ट हो जाते है। ऐसे दूषणयुक्त जग-भोग सुखरूप है या दुखरूप, विवेक करके देखिये। ॥ १२ ॥

साधन बस्तु मनुष्य है, भोग होय मिलि तीन।
इन बिन भोग न बनि सकै, जल अधार जस मीन॥ १३॥

टीका—सुंदरी युवती आदि विषय प्राप्त हो, इच्छा भी हो, यदि शरीर वृद्ध या रोगी हो गया हो तो भोग-सुख नहीं ले सकते। इन्द्रियाँ-साधन ठीक हो, भोग-वस्तु ही नहीं प्राप्त हो तो भी भोग नहीं बन सकता। राज्य, धन, स्त्री आदि कुटुम्बी जिन मनुष्यों के आधार से क्षणिक भोग प्राप्त होते हैं, उनके प्रसन्न तथा अनुकूल भये बिना भी भोग-सुख नहीं मिल सकता। इस प्रकार साधन—इन्द्रियाँ, वस्तु—पाँचो विषय और देहधारी चेतन प्राणी, इन तीनों का सम्बन्ध लेकर ही भोग-सुख भोगे जाते हैं। इन तीनों में एक की भी कमी हो, तो भोग-सुख वैसे ही नहीं बन सकता, जैसे बिना जल के मछली नहीं रह सकती॥ १३॥

इन्द्रिय, पदार्थ और प्राणी के अनुकूल हुए बिना भोग नहीं हो सकता

दृष्टान्त—एक सन्त के पास तीन प्रकार के दुखिया आये। एक बोला—हे स्वामी! मेरे पास धन की कमी नहीं है। स्त्री एक के बदले दो-दो नवीन प्रवीण हैं। सब प्रकार खाने, पीने, देखने के पदार्थ भी हैं, पर हाय! क्या करूँ, मैं रोगी और वृद्ध हो गया हूँ। सब भोगों की इच्छा होते हुए भी इन्द्रिय-साधन ठीक न होने से मैं कुछ भोग नहीं पाता। मुझे कोई दवा या दुआ दीजिए। दूसरे ने कहा—श्रीमान! मेरा शरीर तो खूब पुष्ट है, इन्द्रियाँ भोग भोगने में समर्थ हैं, पर हाय! मुझे अच्छे-अच्छे भोग मिलते ही नहीं, इससे मैं सदा दूसरे के भोगों को देख-देखकर जला करता हूँ। अपना जीवन निःसार समझता हूँ। आप कृपाकर कोई मन्त्र बताइए जिससे भोग्य-पदार्थ प्राप्त हों। तीसरे ने कहा—महाराज! धन तो मेरे हिस्से का बहुत है परन्तु बड़ा भाई कब्जा किये बैठा है। मेरे खेती बारी तो बहुत है पर कई बार झूर-पाला पड़ने से लाभ नहीं होता। स्त्री मेरी मनमोहिनी है, किन्तु वह माता-पिता की दुलारी एक ही पुत्री है, इससे उसको वहाँ से जल्दी आने नहीं देते। आती है तो जल्दी बुला ले जाते हैं। मैं लज्जावश कुछ नहीं कह सकता। पर स्त्री के विरह-वियोग में "मन्दिर बीच कपास जले" के समान जल रहा हूँ। आप सन्त हैं। आपसे सच्ची बात इसलिए कहा कि आप कोई यन्त्र-तन्त्र देकर मेरे मनोरथों को पूर्ण कीजिए।

सन्त तीनों से बोले कि सबों की मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाली अपने सत्यस्वरूप देव की आराधना है, क्योंकि नित्य पूर्णकाम स्वस्वरूप को भूलकर वृथा भोगों की कामना होती है। अतएव निज चेतन स्वरूप को जानकर वहाँ ही ठहरने से सबकी भलाई है, अपरोक्ष सत्यस्वरूप में स्थिति होने के ध्येय से मनुष्य को निर्वाह के काम-काज करने के पीछे सत्संग, सद्ग्रन्थ, विवेकादि को प्राप्त करना चाहिए। निर्वाह भोग-सुख के लिए नहीं, बल्कि भोग त्यागकर अभोग-अभयपद के लिए आवश्यक है, जिससे सब कामनाएँ बिना भोगे ही निवृत्त हो जायेंगी। निश्चय है कि भोग-राग से कामनाएँ अग्नि में घृत डालने वत बढ़ती हैं और भोग को त्यागने से रुक जाती हैं। यदि यह बात समझ में न आवे तो कुछ प्रारब्ध पर संतोष करके सकाम पुण्यकर्म करना चाहिए। दया, दान, उपकार और हितैषी आचरण से ही जगत की सुखदायी वस्तुएँ मिलती हैं। बीज बोकर कुछ दिन रुकना ही पड़ता है। "धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय। माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय॥" ऐसा धीरज सहित शुभकर्म करे तब परिणाम में मनवांछित फल मिलेगा अथवा विचारवान के सत्संग-भक्ति में मन दे। "चौ०—पाप ताप भवदन्य निवारक। सतसंगति जग में सुखकारक॥" ऐसा जानकर सत्संग-भक्ति में परिश्रम करते रहना चाहिए, जिससे सब मनोरथ पूर्ण हो जायेंगे। स्थूल-सूक्ष्म अंग

समझाकर सन्त उन तीनो को विदा किये। इससे स्पष्ट हो गया कि भोग मे स्वतन्त्रता का लेश नहीं, परवशता, तृष्णा, कमी और ऐचाखैंची लगी ही रहती है। मनुष्य को चाहिए कि भोगरूप दाद खुजलाने मे मोक्ष का द्वार न छोडे, नही तो रोते न सिरायेगा। सब भोग क्षणभगुर हैं और अतत: रुलाने वाले है।

सोरठा

सो जड बस्तु परारि, होत न अपने बशि कभी।
देखौ हृदयँ विचारि, रहत बिराने भल सदा॥ १४॥

टीका—जिन-जिन जड भोग्य वस्तुओ को मनुष्य चाहता है वे सब जडतत्वो की है, विजाति है और अन्य मनुष्यो के आधारित रही हुई छूटने वाली हैं, ऐसा हृदय मे विचार करो॥ १४॥

स्पष्ट—अपने-अपने कारण गुण-स्वभाव अधीन जल-प्रवाह के समान स्थिरतारहित कारण कार्यरूप जडतत्व प्रत्यक्ष क्रियाशील विजाति दिखाई दे रहे है। ठण्डी, गर्मी, बरसात आदि की क्रियाएँ भी अपने मन के अनुकूल नही होती। अनुकूल रखने की कोशिश करते हुए भी स्वाभाविक क्रियावान जड होने से कार्य बदल जाते है। सदा अपनी इच्छा के उलटे देखकर हानि का अनुभव हुआ करता है। मनवशवर्ती जडासक्त कुटुम्बी, दास-दासी आदि प्रारब्ध, पुरुषार्थ, सगादि करके एक के अधीन नही रह सकते। इस प्रकार चेतन जीव मन के वश है और भोग-पदार्थ जड है। जड देह मे आसक्त होने से जीव भी स्थिति रहित चचल हो रहा है, याते भोग बिराने है। बिराने अर्थात विजाति जडतत्वो के है, ऐसा विचार कर उनका अभाव करने की आवश्यकता है।

साखी

बिघ्न रूप परतन्त्र है, योग बियोग छलीन।
करत परिश्रम प्राप्ति तब, लखत न मन की खीन॥ १५॥

टीका—सुख माने हुए पाँचो विषय-युवती, जन, धन, मान, गेहादि सब विघ्नरूप है। राजा, धनी और चोर, अन्यायी, जबर्दस्तो द्वारा छिनने, लुटने, जुर्माना पडने, नाना प्रकार से हरण होने वाले तथा नाश होने वाले है। ऐसे अनन्त उपाधियो से घिरे हुए भोग पदार्थो को एकक्षण भी अपने मन के अनुकूल नही रख सकते। इसलिए भोग सब परवशता के स्वरूप है। वे दूसरे के अधीन हुए बिना भोगे नहीं जा सकते। तमाम आपत्तियो को झेलते हुए कदाचित इन भोगो का सयोग हुआ भी तो फिर वे पूर्व कहे विघ्नो द्वारा वियुक्त हो जाते हे। पुन भोग पदार्थ छलपूर्ण है। विषयासक्त जीव अपने-अपने भोग के लिए सब छल बल परिश्रम करके पदार्थ प्राप्त करना चाहते है। कोई किसी का मित्र नही है। अनादि विषयाध्यास होने के कारण विषय पदार्थो मे छल भर देने की शक्ति है। इसी से विषय-कामना वाले कभी निश्छल नही रह सकते। स्पष्ट है कि सगे-सम्बन्धी ही युवती, धन और प्रभुता के लिए आपस मे क्या-क्या अनर्थ नही करते। इतने दुखो से भरे हुए वे भोग सहज ही मे नही मिल जाते। पूर्व और अब सब प्रकार के योग्य पुरुषार्थ करने से तब कही प्राप्त होते है। वस्तु प्राप्त होने पर भी सब गुणो से सम्पन्न न देखकर जैसी चाहना है वैसी न मिलने से दुख बना रहता है। जैसे स्वाद मे सुख

मान कर व्यजन रचा गया, उसमे स्वादी को एक न एक कमी ही प्रतीत होती रहती है। खटाई है तो मिठाई नही, मिठाई है तो नमक नहीं, दूध है तो घृत नहीं, सब है तो कम-विशेष इत्यादि, इस प्रकार पाँचो विषयो मे सर्वांग मनभावन न होने का दुख बना ही रहता है। एक तो परिश्रम से वस्तु प्राप्त किया, सो भी सब पदार्थों मे पूर्णता से मनभावन न पाकर खिन्न चित्त हो जाता है, यह कष्ट उपाय रहित है। इस प्रकार विघ्नमय परतत्रता की खानि, मिलने-बिछुडने वाले, छल-प्रपच भरने वाले, परिश्रम से मिलते हुए भी मनानुसार न होने से सर्व सुखभोग दुखपूर्ण है॥ १५॥

विषय सुख परवश है

दृष्टान्त—एक देवालय था। उसमे सबका यह विश्वास था कि खुल शब्दो से अपना दुख कहे तो देव प्रसन्न होकर दुख दूर कर देते हैं। एक वैराग्यवान सन्त मन्दिर के पीछे की तरफ बैठे थे। एक मनुष्य आकर देवालय मे कहने लगा कि हे देव! मेरा घर अन्न-धन से पूर्ण है, परन्तु घर का मालिक पिता बहुत कजूस है, जिससे न उत्तम-उत्तम भोजन मिलता है, न उत्तम-उत्तम वस्त्र, न उत्तम-उत्तम शय्या। क्या करे, मन मार-मार कर सहना पडता है, वह दिन कौन होगा जिस दिन वह मर जाय। हे देव! मेरा मनोरथ पूर्ण कर। इतने मे एक स्त्री आयी, वह कहने लगी—मेरा पुरुष मेरे इच्छानुसार नही रहता है। हे देव मेरी भावना पूर्ण कर, तुझे पकवान चढाऊँगी। एक अन्य स्त्री बोली—हे देव! मेरे शरीर मे खराबी है, जिससे मै पुरुष को प्रसन्न नही कर सकती, इसलिए पुरुष मुझे कष्ट देता है। तू मेरे शरीर की खराबी मिटा दे, तुझे वस्त्रादि चढाऊँगी। किसी का पुत्र कहे मे नहीं, सो दुख। किसी की धरोहर किसी ने ले ली, सो दुख। बहुतो की स्त्री, बहुतो के पुत्र, भाई, घोडे-हाथी सब सुख मिले थे, सो सब का नाश हो गया, इस प्रकार सब अपना-अपना दुख सुनाये। इतने मे एक राजा ने आकर देव से कहा—हे भगवन! मेरा राज्य हाथ से जाने वाला है, वैरी बलवान हैं, युक्ति-उक्ति मे तेज हैं, कृपाकर मुझे विजय दीजिए, नही तो जीना भी दुस्तर हो जायेगा, मै आप को बहुत कुछ चढाऊँगा।

एक ने आकर कहा—हे जगत-प्रतिपालक शक्तिमान देव! मै बडी कठिनता से लाखो रुपये लगाकर मालिक के कहने पर दूर देश से हाथी, घोडे नाना वाहन खरीद लाया हूँ, सो वे मालिक के मनानुसार नही है। उन वाहनो मे दोष देखकर मालिक मेरे ऊपर खिन्न है। कृपया मेरे मालिक को आप प्रसन्न करा दीजिए। एक बोला—हे अन्तर्यामी देव! मै बहुत दिन से स्त्री की इच्छा करता था, बडे परिश्रम से वह मुझे प्राप्त हुई, पर उसका स्वभाव मुझसे बिलकुल उलटा है। उसका स्वरूप भी मेरे अनुकूल नहीं है। हे देव! मुझे और गृहिणी चाहिए। आपको मैं भाँति-भाँति के पूजन से सन्तुष्ट करूँगा, मेरा मनोरथ पूर्ण हो। इस प्रकार एक-एक आते और सब अपनी-अपनी मनसा देवता को कह सुनाते। सन्त, जो कि मदिर के पीछे बैठे थे, सुनते-सुनते थक गये और कहने लगे कि यह बात राई-रत्ती सत्य है कि भोग सुख विघ्नरूप-परतन्त्र हैं, योग-वियोगरूप है, छलरूप है, बडे परिश्रम से मिलते हैं, मिलते हुए भी पदार्थो मे एक न एक त्रुटि सबको मालूम हुआ ही करती है, इसलिए फिर दुख बना ही रहता है। भूले लोग ही इसमे सुख मानते हैं, ऐसा कहकर सन्त वहाँ से आसन उठाकर चल दिये।

शिक्षा—इन सब कथनो से अनुभव हो गया कि भोग दुखपूर्ण है। इनमे फँसने मे न किसी की भलाई भई है और न होगी। केले के पेड और प्याज के छिलके को जैसे-जैसे निकालते जाइए उसमे सिवा छिलके के और सार न निकलेगा। ठीक ऐसे ही युवती के भोग,

लक्ष्मी, धन का सयोग, युवावस्था की सुन्दरता, प्रभुता, मित्रो का मिलना ये सब छाया या विद्युत के समान इधर चमके उधर लुप्त हुए। केवल किया हुआ सद्धर्म ही लोक-परलोक मे साथी होता है। इसलिए सतोष पूर्वक शरीर यात्रा करते हुए सद्धर्म करना चाहिए। कहा भी है—

दोहा—"*गुरु सेवा जन बन्दगी, सत्सगति वैराग्य।*
ये चारो तबही मिलै, पूरण होवै भाग्य॥ सा०स०॥"

दुखमय सदा सरूप यह, आदि मध्य अन्तीन।
तेहि ते आश न करहि वह, जो न चहै दुख लीन॥ १६॥

टीका—(१) सुखो का क्षीण होना। (२) शक्ति क्षीण होना। (३) भोगो की भूख प्रचण्ड होना। (४) जडता-मूर्छा परिणाम ज्ञान रहित। (५) आकुलता-व्याकुलता। (६) पराधीनता। (७) नश्वरता। (८) नीरसता। (९) अतृप्ति। (१०) रोगोत्पत्ति। (११) विछुडन का दुख। इस प्रकार आदि (भोगो के सयोग की कामना), मध्य (अर्द्ध भोग) और अन्त (भोग समाप्तिकाल) ये तीनो समय या भूत, भविष्य तथा वर्तमान ये तीनो काल मे जैसे धधकते हुए अगार मे शीतलता का लेश नही है, अगार के स्वरूप मे जलाने का ही गुण है या जैसे कोयला मे ढूँढने पर भी स्याही के अतिरिक्त कुछ नही मिल सकता, वैसे ये विषय भोग इच्छा, प्रयत्न, तृष्णा, प्रतिकूलता दुख से पूर्ण तथा तीनो काल मे दुख के स्वरूप ही है, ऐसा जानकर दुख न चाहने वाले समझदार उनका त्याग करे॥ १६॥

पच बिषय दुख देत नित, मिल अनमिल सब भाँति।
बिना प्रयोजन कष्ट यह, तलफि रहा दिन राति॥ १७॥

टीका—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचो विषय जीव को मिलने पर तृष्णा करके और न मिलने पर आशा करके दुख ही देते रहते हे। यद्यपि अखण्ड जीव के स्वरूप मे हानि-लाभ की कामनारूप भूख नही है, तथापि देह-इन्द्रिय सघात मे भूल से कामना रूप भूख उत्पन्न करके विषयो से बुझाना चाहता ह। विषय विजाति जड है और जीव चेतन अखण्ड है, इससे खास सम्बन्ध न होने के कारण तृप्ति तो होती नही, इसलिए बिना प्रयोजन ही जीव को विषय-सेवेन का दुख लगा हुआ है। देह सघात, भूल, इच्छा, परिश्रम और परवशता ये सब दुख मिटाना ही परम प्रयोजन हे। ये सब दुख पाँचो विषय सेवन से घटने के बदले बढते रहते हे। बिना मतलब ही शुद्ध चेतन 'पानी रहित मछली के समान' भोगो के लिए दिन-रात तलफता रहता है॥ १७॥

सनमुख भिडत पछारती, गरज से दीन बनाय।
दावानल सादृश्य है, परशत देय जलाय॥ १८॥

टीका—सामने आई हुई कामनाओ मे भिडने या पूर्ण करने की इच्छा से स्त्री आदि भोग भोगते ही कामनाएँ शान्त होने के बदले जीव ही को पछाड देती ह। एक भोग मे तृप्त न होकर दूसरे मे, दूसरे मे तीसरे मे, इस प्रकार पुन -पुन उन्ही-उन्ही भोगो की वासनारूप पहाड मे बारम्बार जीव टक्कर मारता रहता हे, जिससे वे भोग वासनाएँ तो पूर्ण नही होती, जीव ही को

नित्य इच्छापूर्ति की हरानी वनी रहती ह। वार-वार भोग-पदार्थरूप माया आर तिनकी वासनाएँ सम्मुख आते ही गर्ज उत्पन्न करती है। 'काम वढे तिय के सग कीन्हे' जो काम जीतना चाहता, साथ ही युवती मोहक घटो मे पृथक भी नही रहना चाहता, तो ये दोनो विरोधी हैं। मगदोप मे कामनाओ का प्रवल हो जाना निश्चित ह। कामना की आँधी मे उडकर मायारूप विपयो का गर्जवन्दा वनने से जीव को मव प्रकार की दीनता-परवशता लेना पडता ह। यह भोग कामना ही राजमी-तामसी नर-नारियो के हाथ वेच देती हैं। भोग ऐसे प्रवल दावाग्नि के ममान ह जिनका स्पर्श करते ही मनुष्य इच्छा, कर्म, देह-सम्वन्ध और विवशता महित त्रिविध ताप मे नित्य जलता रहता है॥ १८॥

भोग दुक्ख समुझ नही, होत ताहि ते चाह।
खटक लगावत जीव को, देन दुसह दुख दाह॥ १९॥

टीका—विना विवेक के जीव भोगो को दुखरूप नहीं समझता, परन्तु हे ये दुखरूप ही। क्योकि वाह्य भोगो मे ही चाहना होती ह और चाहना ही जीव मे हलचल पदा कर देती है। जैसे कोई निश्चिन्त पुरुप वठा हो, इतने मे अन्य कोई आकर अचानक ऐमी वात कह दे, जिससे ऐसी हलचल हो जाय, कि जल्दी शात ही न हो सके आर खटका पेदा हो जाय, तद्वत चाहनारहित जीव निश्चिन्त शुद्धस्वरूप रहता ह। चाहना सम्मुख उठते ही वह हृदय मे चोट देकर नचाने लगती हे। यह चाहना वाह्य इन्द्रियो मे भोगे हुए का सस्कार ही हे। ये इन्द्रियो के विपय ही चाहना उत्पन्न कर असह्य दुख देते हुए त्रिविधि ताप मे जलाते रहते ह। भोग और कामना न हो तो जोव शुद्ध स्वत. स्वरूप मुक्त ही हे, परन्तु यह वात स्पष्ट होते हुए भी गुरुपारख के सग-रग विना देखने मे नहीं आती॥ १९॥

भर्म यहै माया यही, इच्छा कहिये मोय।
निज स्वरूप को आड करि, इत उत देत विगोय॥ २०॥

टीका—भोगों में सुख ममझना ही भ्रम का स्वरूप ह। भ्रम अर्थात जो जहाँ न हो आर 'श्वान-शीशा छायावत' मालूम पडे यही भ्रम ह और यही माया, इच्छा, कामना आर वासना का भी रूप हे, जो निज स्वरूप चेतन पर पर्दा डालकर विजाति विपयो मे जीव को पदभ्रष्ट करके विगोती रहती ह॥ २०॥

भूल का परिचय

दृष्टान्त—एक छोटा लडका खेलते-खेलते मन्दिर मे चला गया। उस मन्दिर मे चारो तरफ शीशे जडे थे जिससे वालक जिधर देखे उधर ही उसे अपने समान दूसरा दिखाई देवे। वह अपने प्रतिविम्बों को पकडना चाहता था, इसलिए वार-वार शीशा पर हाथो को चलावे "ज्यो दर्पण की सुन्दरी, गहे न आवे वाहि।" वह छाया भला कव हाथ मे आवे! तव लडके ने क्रोध मे मुक्का मारा। उलटे अपने ही हाथ मे काँच लग गया। वह जोरो से गाली देने लगा। उस मन्दिर मे उसी लडके का ही शव्द उलट कर उसे मालूम हुआ कि दूसरा भी हमे गाली दे रहा ह। जव सव तरह से हरान हो गया तव जोर-जोर से रोने ओर लोटने लगा। इतने मे उसकी माँ आयी। उसने लडके को उठा लिया आर झाड़-पोछ कर वोली—भैया! तुझको किसने मारा ह? पुत्र ने शीशा की तरफ इशारा किया। माता वोली—हे पुत्र! वह कोई दूसरा

नही है, तुम्हारी ही सूरत दर्पण मे मूरत-सी दिख रही है। उसमे स्वतन्त्रता कुछ नही। बीजक मे सद्गुरु कबीर साहेब ने कहा है—"ज्यो दर्पण प्रतिबिम्ब देखिये, आप दुहुनमा सोय। यह तत्व से वह तत्व है, याही से वह होय॥" चेतन जीव शरीर सम्बन्ध मे अनादि से रहा हुआ भोग-पदार्थो मे बालकवत खेल रहा है। इन्द्रियॉ और अन्त करण रूप दर्पण के द्वारा पॉचो विषयों को सत्य-सुखदायी भास कर रहा है। वह स्वय जीव यह नही समझता कि में न होऊँ तो इन जड पदार्थो मे सुख निश्चय कौन करे। इसलिए मै सत्य और मेरी कल्पनाऍ असत्य। जीव ही सत्य होने के कारण जड देह से सम्बन्ध करते हुए भी उसकी सत्यता के लक्षण जाहिर हो रहे हे। चैतन्य अचल स्वतन्त्र शुद्ध अपने आप ही है, परन्तु अपने स्वरूप का भाव इन्द्रिय-अन्त करणरूप दर्पण मे मानकर विषय-पदार्थो मे ढूँढता फिरता है, यही उसकी भूल माया है। इसी भूल से यह भोग-पदार्थो के लिए रोता-फिरता है। राग-द्वेप और काम्यकर्मो के वश हो कर तीनो तापो मे तपा करता है। जब इसको गुरुदेवरूप माता का सम्बन्ध होवे और उनकी कृपा से अपना स्वरूप जान कर साधन मे ही ठहर जाय तो इस का सब दुख छिन मे छूट जाय।

दु ख देत सब जीव को, पार न पावै लोय।
निज स्वरूप के थीर बिनु, टारि सकै नहिं कोय॥ २१॥

टीका—पूर्वोक्त कही गई माया ही जगत के सब जीवो को दुख देती रहती है। दुख न चाहते हुए भी बिना पारख विद्वान-अविद्वान कोई भी उसके पार नही जा सकता। यह भूल-भ्रमरूप माया इतनी बलिष्ठ[१] है कि अपने स्वरूप को जानकर साधना सहित एकरस स्थिर भये बिना अन्य उपाय से कोई भी इसको टाल नहीं सकता॥ २१॥

---

१ जिस माया को अनिर्वचनीया, दुरत्यया, अचिन्त्य शक्ति कहते है, उसकी परीक्षा करके देखा जाय तो अन्यत्र कही भी अनुभव मे नही आती, सिर्फ जड-चेतन सम्बन्ध से विषयो मे सुख-प्रियता, विपरीत समझ, भूल, भ्रम और मानन्दी ही मुख्य माया है। इसी का नाम इच्छासक्ति या मनोमय है। इस मानन्दी मे न तो परमाणु है और न तीर-तलवार द्वारा या अग्नि, जल, वायु और मिट्टी द्वारा कुछ पकड ही में आती हे। यह मृगतृष्णा के समान भ्रममात्र अन्त करण मे ठहरी हुई छायावत काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहकार तथा तृष्णा, मान, अपमान, रागद्वेषरूप भ्रमजाल से पूर्ण है। जो कोई उसे सत्य निश्चय करता है उसी को वह निरन्तर मोह-मुख से खाया करती है। यह इतनी शक्तिमान है कि चार वर्ण, चार आश्रम, लोक-वेद तथा चार खानियो का सम्पूर्ण व्यवहार, राग-द्वेष और मनुष्य खानि मे सर्व यन्त्र-कलाऍ इसी के आधार से चल रहे है। यह अविनाशी अमृतस्वरूप पर आवरण कर जीव को पदभ्रष्ट करके जहॉ-तहॉ नचाती रहती है। जिस माया का लोक-वेद मत से सब प्रकार के प्रयत्न करते हुए भी कोई उल्लघन नहीं कर सकता, वह माया जिसकी भूल से हुई है उसी की ज्ञान-स्थिति से सहज ही मिट जाएगी। इस महामाया से छूटने के लिए यही एक कर्तव्य है कि अपने स्वरूपबोध मे निरन्तर स्थिरता बनी रहे, उसी के पुरुषार्थ में लगा रहे।

दोहा—"स्वप्न व्याधि बाधा विविधि, वैद्य उपाय न काज।
जाग्रत बिन नहि व्याधि हत, लहि प्रकाश तम भाज॥
जेहि स्वरूप के भूल से, सब भ्रम होवे तात।
तेहि स्वरूप को जानि के, ठहरि तबै कुशलात॥"

भोग चाह भर्म दु ख, इच्छा दुःख माया।
आसक्ति अध्यास दु ख, भास दु ख काया॥ २२॥

टीका—हे जीव! जिन्हे तू सुखरूप मान लिया ह, वे ही सब दुखरूप हैं। पाँच विषयों को सुखरूप मानकर ग्रहण करना ही भोगरूप रोग हैं। भोगप्राप्ति और उसे पूर्ण करने की इच्छा का नाम ही चाह है। चाह-चण्डी ही संहारकारिणी ह। यही भुलाने मे मदिरा के समान विपरीत समझ करने वाली है। यही इच्छा-ईधन जो कि त्रिविध ज्वाला मे जलाती है, विपरीत निश्चयरूप माया-मोह मे मढी ह। "आसक्ती कि प्रिय बिन देखे। रुचत न कछु तन धन केहि लेखे"॥ वि०॥ ऐसी जगदासक्ति अपार धारा हे, अध्यासरूप विष के बीज की बखारी है। सुख न होते हुए सुख प्रतीत हो, वह भास भाला के समान छेदने वाली ह और छाया से भी चचल जड-काया ह। सो भोग, चाह, भर्म, इच्छा, माया, आसक्ति, अध्यास, भास और काया ये सब विजाति-परतन्त्र होने के कारण दुखरूप हैं। ऐसे श्री गुरुदेव की शिक्षा ग्रहण करके माया की आसक्ति छोडकर हम रोगों को सुधार करना चाहिए॥ २२॥

शिक्षा-गजल

मन मे ठहर के देखो, क्या सार सत्य भाई।
दुनिया के खेल खाली, खुल जायगी कलाई॥ टेक॥
यह शान मान शेखी, किस पर तु ले रहा ह।
छिन मे हो रोगि बूढा, मद मस्तियाँ भुलाई॥ १॥
यह नाव तेरि टूटी, पानी से भर रही ह।
चारो तरफ से आँधी, विघ्नो के टाँ सोवाई॥ २॥
राजस सिगार भाव, भामा के भाव खटकें।
दामिन दमक गई ह, यावन न थीर गई॥ ३॥
दुनिया दुरगि देख, छिन-छिन स्ववश न अपने।
फिर भी न भूल चेत, सत्सग मे न जाई॥ ४॥
अब भी सम्हर सफर का, सामान कर मुसाफिर।
आवेगे काम तेरे, जो कुछ सुकृत कराई॥ ५॥
तृष्णा न पूरि होगी, त्रय लोक भोग कीन्हें।
सन्तोप शुभ क्रिया से, होगी तेरी भलाई॥ ६॥
सुख दुख व हानि लाभा, विशेप सब के सम्मुख।
ता कार्य कर तु वोही, जिससे न फिर रोवाई॥ ७॥
निज शुद्ध हे जमापद अस जानि थीर हो जा।
सद्गुर से प्रेम करके, अविनाशि धन को पाई॥ ८॥

प्रसंग ४-इच्छा दुख

इच्छाशक्ति प्रबल हे, भोग से उतपति होय।
बिन भोगे तेहि नाशि ह, जानि समुझि मन मोय॥ २३॥

टीका—पच विषयो की ख्वाहिश इच्छा हे। जिस विषय की विशेष भोग आसक्ति बना ली गई है, उसकी इच्छा प्रबल धारा के समान जीव को जहाँ-तहाँ बहा ले जाती है। सरासर दुख देखते और जानते हुए भी आसक्तियुत इच्छा हठात चलायमान करके महा अनर्थ में डाल देती है। शुद्ध जीव मे चाल पेदा करने वाली खोटी इच्छा ही है। जिन भोगो के कारण वह बनी हे उनको दुखरूप जान कर त्याग देने से उसका नाश होता है। जेसे किसी को नशा की लत तथा कामना बन गई है, परन्तु उसे त्याग देने से वह छूट जाती है, ग्रहण करने से नही। वैसे ही सब विषयो मे जानिए। इसको भली प्रकार समझ करके आसक्ति त्याग कर इच्छाओ को जीतना चाहिए॥ २३ ॥

इच्छा दुख को मनन करि, भोग करो तुम त्याग।
परौ फन्द जो याहि के, असह दु ख मिलि राग॥ २४॥

टीका—इच्छा के दुख का स्मरण करके भोगो को त्याग देना चाहिए। भोगो को प्रथम इच्छा करके ही पकडा जाता है। पहिले इच्छा-दुर्वासना ही जीव के मन मे हलचल रूप दुख पैदा करके उसे भोगों की प्रबल धारा मे बहाया करती है। अत॰ पहिले दुर्वासना-इच्छा ही दुखरूप हुई। (१) भोग-इच्छा उठते ही स्वतन्त्रता का नितान्त नाश हो जाता है। (२) अन्त - करण मे कमी की प्रतीति होकर प्रवल बेचैनी उत्पन्न होती है। (३) भीतर भय, चिन्ता, कामना के वश हृदय धडधडाने लगता है। (४) सारे शरीर मे जलन होकर अन्त मे पीडा पैदा हो जाती है। (५) किसी प्रकार कभी भी शान्ति नही आती। (६) इच्छानुसार भोग लेने से तृष्णा और दुर्बुद्धि बढ जाती हैं। (७) यथार्थ पुरुषार्थ मे मन नही लगता। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि और कामनाओं के वश में उचित-अनुचित का विचार न कर सब प्रकार के कुकर्म बन जाने से अपमान, लडाई, झगडा, जेल, सजा, फॉसी आदि और भी अन्य प्रकार के सब दुख भोगने पडते हे। इच्छा उठते ही ये सब दुख मनन हो जायॅ तो वह सर्प-बाघ के समान अत्यन्त भयदायक निश्चय होते ही सुखासक्ति की इच्छा रुक जाय। जब इच्छा ही रुक जाय तब भोगादि कुक्रिया और दुख काहे का! जो इस प्रकार दुखरूप जानकर इच्छाओ का त्याग न किया और इसके फन्दे मे पड गया, तो असह दुख सहना ही पडता है। जैसे तप्त लोहे की कोठी मे कोई बन्द कर दिया जाय, उसी मे वह जला करे, फिर भी उसके प्राण विदा न हो, उसी मे त्राहि-त्राहि करके सतत जलन सहा करे, इच्छा का दुख ऐसे ही ह॥ २४॥

खोटी इच्छा जीतने की युक्ति

दृष्टान्त—एक राजा राज्य छोडकर साधु हो अवधूत दशा मे विचर रहे थे। वे विचारवान सच्चे कल्याणार्थी थे। उन्हे निश्चय था कि भोग दुखरूप है। एक दिन वे किसी शहर मे से होकर निकले। उनकी दृष्टि एक हलवाई की दुकान पर पडी। उनकी लड्डू खाने की इच्छा हुई। निर्वाहिक वस्तु से विशेष हानि न जानकर इच्छा पर रोक न लगाये। पैसे थे नहीं, मॉगने से मिले या न मिले, इस सकोच मे अवधूत जहॉ ईटो की ढोवाई होती थी, वहॉ जाकर दण्ड-कमण्डलु धर कर ईटे ढोने लगे। दिन भर की ढोवाई का हिसाब करके मालिक ने सन्ध्या को बारह आने पैसे दिये। अवधूत ने कहा—मुझे पेसे न चाहिए, खासे पॉच लड्डू चाहिए। वह मालिक खासे पॉच लड्डू लेकर अवधूत को दे दिये। अवधूत दण्ड-कमण्डलु और लड्डू लेकर

गगातट पर चले गये ओर लड्डुओं को सम्मुख धरकर वठे। विचार द्वारा मन ही मन मे प्रश्नोत्तर करने लगे। अहो! आज दिन भर मेने क्या किया! अरे! लड्डू के लिए ईंटे ढोये। क्या रोज मेरा लड्डू से पेट भरता था! तो फिर लड्डू की इच्छा क्यो हुई! स्वाद ही के लिए। क्या स्वाद मे मन भर सकता ह! जो म इसका स्वाद ले लूँगा, फिर तो कभी इच्छा न चलेगी! कभी क्या, लत वन जाने पर तो हमेशा इच्छा चला ही करती ह। फिर जव इच्छा सतुष्ट न हुई तो इन्हे खा लेना मानो परिश्रम वढाना ह। आज इस लड्डू की इच्छा ने मुझमे भजन-भाव-नेराश्यता छुडाकर ईंटे ढोवाये, कल न जाने क्या करवावे! इसलिए इसे पूरा दण्ड देना चाहिए। ऐसा मन मे खूव सोच-विचार कर पॉच लड्डू वालू के वनाकर रख दिये। वारी-वारी एक-एक लड्डू नदी मे फेकते जायॅ और वालू के लड्डू खाते जायॅ इस प्रकार पॉचो लड्डुओ को फेककर पॉच वालू के लड्डू ग्रहण किये फिर तो कभी भी उनका मन लड्डू की तरफ नहीं दोडा। उस समय वे सत यही गाते थे—

पद—*ईंटो के भारों लदाई हमको, छुडा के थिरता भ्रमाई तूने।*
आगे तो क्या क्या करेगी जाने, री दुष्ट इच्छा फॅसाई तूने॥
हे जीत तेरी समय भि मेरी, ल जीतता हूँ मैं तुझको डाकिन।
रणक्षेत्र जग मे जो तुझको जीत, वही हो विजयी सुखी स्व स्वाधिन॥

स्वाद-रस की इच्छा के समान ही रूप, गध, शव्द ओर स्पर्श की इच्छा भी सुख प्रतीत करा कर जीव को भाग-चक्र मे डाल अनन्त दुख देने वाली ह। सत्सग मे जिनके नेत्र कुछ खुल गये ह, जो हानि-लाभ को समझ गये हें, जिन्हे भलाई-वुराई की पारख हो गयी ह वे कल्याणार्थी सदा मन को भोगो से रोकना चाहते हे। इसके लिए वे लडकपन त्यागकर हठ-नियम, दृढव्रत रखते ह। अज्ञानी मनुष्य तरह-तरह के भोग भोगने मे आर उसके लिए अनन्त परिश्रम करने मे अधिक सुख मानते ह आर ज्ञानी को तो भोग वासनाओं के त्याग करने ही मे सव सुख हे। त्याग करने मे जो साधन, सत्सग, विचार, परिश्रम हैं, उन्हें वे अपना जीवन-लाभ जानकर ग्रहण करते हें। क्या सतो के रहने के लिए उत्तमोत्तम महल न थे, क्या सुनने के लिए रमणियो के उत्तमोत्तम गाने न थे, क्या प्यारी से प्यारी स्त्रियों के सगम का सुख न था, क्या किसिम-किसिम के पदार्थ देखने या रसास्वाद लेने के लिए उन्हे पदार्थो की कमी थी, क्या अन्य के जसे उनका शरीर न था, क्या वे दुनियवी मनुष्यो की भॉति सव चीजो के लिए खुशी से परिश्रम न कर सकते थे! भाव यह ह कि सवकी तरह सव कुछ विचारवान को प्राप्त था। पहिले उसी मे सुख मानते ही थे, पर ठीक-ठीक समझ-वूझ होने पर दुनिया की पोल जान लेने पर वे हवा मे रक्खे हुए दीप-शिखा के समान भोगो को क्षणिक समझकर छोड दिये। पर नासमझ मनुष्य पतिगे की भाति हवा मे हिलते हुए भोग-दीपक की ज्योति मे घूम-घूमकर अपने को जला के भस्म कर देते हें। इस प्रकार ससार को इच्छावश राग से सतप्त देखकर विचारवान उदासीन होकर सतोप धारण करते ह। वार-वार सद्ग्रन्थो से, सत्सग से तथा विचार से दुर्वासनाओ का नाश करते ह। नाना साधनाओ से मन मार कर वे सहज ही गुरुदेव की कृपा से निहाल हो रहते ह। यदि उनका मन कभी हठ करे, उलटी चाल पर तयार हो तो प्रवल ज्ञानखड्ग से उसे ऐसा दण्ड देते ह कि फिर कभी उनका मन उधर नहीं चलता।

इच्छाशक्ति के साथ मिलि, बौंडर तृण के नाँय।
जाय कहाँ तेहि थाह नहिं, दुरगति अमित कराय॥ २५॥

टीका—जेसे तृण वांडर या ऑधी मे पडकर नीचे-ऊँचे पहाड-वृक्षो से टकराते हुए पानी, कीचड, कटक, मलिन पदार्थों मे जहाँ-तहाँ गिरते-पडते ह, वसे कामना से विवश हुए प्राणियो की गति है। पदार्थ-सम्बन्धदोप से कामना, कामना मे वाधा पडने से क्रोध, क्रोध से स्ववश विचार का नाश, विचार के नाश मे मोह-अहकार दृढ करके इच्छा के वश प्राणी ऐसे-ऐसे अनर्थ कर डालता हे, जिससे फॉसी-जेल, जूतो-वेतो की मार, तलवारो की धार, लडाई-झगडा इत्यादि दुख मे पड जाता हे और पछिताये नही सिराता। इन्द्रियो को वश मे न करने मे जीव रात-दिन अटूट परिश्रम का भार लादकर तृष्णा से झुलसते हुए सव का मन राजी रखते-रखते ही राग-द्वेप ताना-तूनी का प्रत्यक्ष कष्ट भोगता हुआ शरीर छोडकर फिर चौरासी के दुखो को भोगता है आर नाना दुर्गति को प्राप्त होता ह। ये सव दुर्गति को देने वाली इच्छारूप ऑधी ही हे। इसके साथ पडकर थाह नही। जव जो दुख आ जाय सो थोडा ही हे। अर्थात सव दुख होना इसी से सम्भव है॥ २५॥

है जो याके फन्द में, सो उनमाद समान।
जो त्यागै यहि परखि के, परै न दुख की खान॥ २६॥

टीका—जेसे सन्निपातग्रसित मनुष्य पागल हो जाता ह। वह यथार्थ ज्ञान तथा सम्हाल रहित कही तो कुऑ मे कूदकर डूवता हे, कही अग्नि मे अपना अग डालकर जलता रहता है, कही किसी को अकबक कह कर मारा-पीटा जाता हे, कही अपना अग छूरी से काट लेता ह। इस प्रकार उन्मादी अपने हाथो से जो दुख ले लेवे वह थोडा ही ह। इच्छा रोकने की उसमे किचित सामर्थ्य ही नहीं होती। जो भी इच्छा उठ पडे उसी के वश होकर क्रिया करके दुसह दुख पाता रहता हे। वेसे ही जो मनुष्य जितना ही इच्छा कामना के वेग को कावू मे रखने की सामर्थ्य नही रखता, वह उतना ही धूम्रपान, गॉजा, शराब, जुआ, मास, अण्डा, मिथ्या भाषण, मैथुन आदि मे आसक्त होकर उन्मादी हुआ पागल के समान पापाचरण करके जो दुख वना ले वह थोडा ही है। ऐसी इच्छा कामना को साधुसग, सद्ग्रन्थ, सद्भावना ओर विवेकादि साधन से दुखरूप परीक्षा करके जो पुरुष छोड देता हे, वह उसके सम्बन्ध से होने वाले दुख समूह मे नही पडता। जहाँ दुख ही दुख हो, ऐसे जडग्रन्थि सम्बन्धी सव कष्ट उसके छूट जाते ह॥ २६॥

शिक्षा

जरा परमार्थ को सोचो यही अवसर करारी हे।
जरा तृष्णा से मुख मोडो यही पुरुपार्थ भारी हे॥
जरा जड-जीव का निर्णय करो ये सुक्खकारी हे।
जरा भोगो से मन मोडो नही तो प्रेम ख्वारी हे॥

सव के शिर पर शत्रु यह, सदा विराजत मार।
राखे स्ववश जो याहि को, सो सवके शिरमोर॥ २७॥

टीका—क्या अमीर क्या गरीब, क्या पशु-पक्षी, कीट-मनुष्यादि, सब देहधारी जीवों के सिर पर यह इच्छा-कामना राजावत श्रेष्ठ होकर विराज रही है। सब इसी कामना के वश नाच रहे हैं। सब पर सतत हुक्म चलाकर पीडा देने वाली ऐसे भोगेच्छाओं को जो पुरुष पारख यत्न मे अपने वश मे रक्खे रहे, उसके कहे में न चले, विचार संयुक्त वर्ताव करे, तो वह सबका शिरमौर हो जाय। वर्तमान मे जो विचारवान अपनी इच्छाओं को कावू किये हैं वे शुभगुण-सम्पन्न होकर स्वतंत्र-अभयपद मे सर्वदा सुख-शांति से विराजमान है और वृथा परिश्रम, परवशता तृष्णा रूप बोझ को डालकर वे मर्यादा पुरुषोत्तम वन्दनीय भी हो रहे हैं॥ २७॥

इच्छा ही मुख्य वैरिणी है

जिसे जितने ही इच्छा-अनुकूल भोग के सामान प्राप्त है, वह उतना ही उन्हे भोगकर उन्मत्त हो जाता है। इस इच्छा के वश मे रहने मे परमार्थ तो मटियामेल ही हो जाता है, स्वार्थसुख भी नष्ट हो जाता है। खोटी इच्छा न रोकने ही से कालेजो मे पढने वाली अनेक कुमारियो की, बहुत-सी पुरुषवाली स्त्रियों की तथा बहुत-सी विधवा स्त्रियों की खुनख्वारी हुई और संसार में उनके उज्ज्वल यश में कलंक लग गया। इस खोटी इच्छा के वश मे बहुत से ब्रह्मचारी व्यभिचारी होकर बडी दुर्दशा भोगे हैं। बहुत से पुरुष "न इधर के रहे, न उधर के।" बहुत कहने से क्या, क्या गृहस्थ, क्या राजा, क्या रंक, क्या स्त्री, क्या पुरुष, सबकी सब प्रकार की दुर्दशा इस इच्छा के साथ में ही होती रहती है। इसलिए यह इच्छा-कामना सबकी वैरिणी है। अनेक राजा अपने राज्य से, अनेक स्त्री-पुरुष अपने वर्णाश्रम धर्म से, अनेक योगी अपनी योगवृत्ति से इसी कारण गिर गये हैं। अनेको वेद-शास्त्र के ज्ञाता भी अपने को ज्ञानी होने की अहंवृत्ति मे इच्छा मे फँसकर अपने-अपने श्रेष्ठपद से पतित हो गये हैं। इसलिए इस इच्छा को जो कोई भी जीत ले, वही वन्दनीय है। खोटी इच्छा से अपनी जान बचे, अतः खोटी भावना की जगह शुद्ध भावना करना चाहिए। हंसगुण या साधु सम्पत्ति के सहायक ग्रन्थो को पढना और इच्छाजित संतों का संग करना चाहिए। बार-बार इस भवयान का पाठ करना चाहिए। समग्र भवयान हर एक स्त्री-पुरुष को कण्ठस्थ करने योग्य है। न समग्र हो सके तो पूर्ण साखी-सुधा तो अवश्य कण्ठ भूषण बनाना चाहिए। माता, पिता, शिक्षको को चाहिए कि वे एक-एक ग्रन्थ अपने-अपने बालक-बालिकाओ, अधिकारियो को देकर इसे स्वयं पढे और पढावे, जिससे हर हालत मे अपने धवल-धर्म की रक्षा कर सके।

बहुतो की समझ है कि ऐसे धर्मग्रंथ साधुओ को पढना चाहिए। यह सलाह तो ऐसी है कि अच्छी सडक पर साधु को ही चलना चाहिए और गृहस्थों को खाई-खन्दक मे कूद-कूदकर मरना चाहिए। परन्तु आप गृहस्थ भी तो अपने धन-धर्म की रक्षा करना चाहते हैं। बालक-बालिकाएँ तथा स्वयं भी सब दुखों से रहित होना चाहते हैं। आप स्वयं विचारिए कि खोटी इच्छा के वश रहने मे, मनमानी करने से अपनी-अपनी इज्जत-आबरू रहेगी या इच्छा को जीतने मे! विचार करने से इच्छा स्ववश रखकर योग्य कार्य करने ही से स्वार्थ-परमार्थ की सिद्धि होती है। जब इच्छाजित होने की सबको आवश्यकता है, तो सद्ग्रंथ, सत्संग, साधन और शुभ आचरण सबको श्रद्धापूर्वक धारण करना भी कर्तव्य है। न बहुत तो कुछ देर तक पारमार्थिक काम अवश्य करना चाहिए। बिना सत्संग-सद्ग्रंथ के मन मे दुर्जनता भर जाती है।

किसी पर दया न करना, बिना प्रयोजन लड़ाई-झगडा करना, सबमे फूट-भेद उत्पन्न करना, दूसरे का धन हरना, व्यभिचारवृत्ति रखना, नशे का पक्ष लेना, सज्जनो और अपने साथी रिस्तेदारो की उन्नति पर ईर्ष्या करना, अपने माने हुए नश्वर पदार्थों मे आसक्त होते जाना, क्या ये नीच स्वभाव कभी भी नर-नारियो को सुख दे सकते है। आप सोचें। सज्जनता धारण किये बिना इन पूर्व कही बातो का जडमूल से त्याग कैसे हो सकता हे। सद्गुण सम्पन्न साधु के ससर्ग और सद्ग्रन्थ देखे बिना सज्जनता नहीं आती। जब तक भलाई-बुराई, लाभ-हानि की समझ न होगी, तब तक बुराई का त्याग और भलाई का ग्रहण केसे हो सकता हे। "पारख बिना विनाश है, कर बिचार होहु भिन्न॥" (बीजक)

करो काज यह एक तुम, और काज सब डारि।
बाकी रहा न करन अब, देखौ हृदय बिचारि॥ २८॥

टीका—हे जीव। इच्छाओ को अपने वश मे करने के हेतु रात-दिन ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि का अभ्यासरूप शुभाचरण एव पुरुषार्थ करो और जितने विषय-प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ ह, उन्हे निष्प्रयोजन और कष्टकारक समझ कर त्याग दो, उनसे मुख फेर लो। फिर तो निरिच्छारूप महा लाभ पाकर भोग तुच्छ हो जायेगे। इच्छा को स्ववश कर लेने पर कुछ कर्तव्य न रह जायेगा, क्योकि सब न्यूनता तो इच्छा ही मे लगी रहती है, इच्छाजित होने पर क्या अवशेष। तब तो सदा के लिए तुम नित्यतृप्त तथा पूर्णकाम हो जाओगे। इस निरिच्छारूप महाधन को तुम स्थूलदृष्टि से नही देख सकते। हृदय के विचाररूप नेत्र से ठहर कर देखो। परीक्षा करो।॥ २८॥

इच्छा इच्छा सब कहैं, इच्छा जानत नायँ।
जानत जीव कि हम करत, इच्छा देत भ्रमाय॥ २९॥

टीका—मुझे देखने की इच्छा हे, सुनने-भोगने की इच्छा है, मेरे घट मे काम-क्रोधादि उत्पन्न हुए, इस प्रकार सब जीव इच्छा-इच्छा कहते हैं, परन्तु इच्छा के स्वरूप को नहीं जानते। इच्छाएँ बाहर के इन्द्रियभोगो से ही बन गई हैं। जब जिस समय जो इच्छा सम्मुख होती है उस समय उसी की हानि-लाभ और प्रसन्नता जीवो को मालूम होती है। जब इच्छा दब जाती हे तब तत्सम्बन्धी हानि-लाभ, हर्ष-शोक जीव को नही सताते। इससे यदि जीव इच्छा का ही रूप होता तो इच्छाओ का दबना-उठना न बनता, दूसरे इच्छाओ के सम्मुख न रहने पर भी इच्छा सम्बन्धी हानि-लाभ, हर्ष-शोक होते। ऐसा न होने से निर्णय हुआ कि जीव इच्छा के वश होकर ही सब क्रिया करता है। अपने आप स्वभाव से कुछ नही करता, बल्कि इच्छा ही उसे भ्रमा रही है, चचल कर रही है। परन्तु अज्ञान वश जीव को निश्चय हे कि हम ही इच्छारूप हे, हम स्वाभाविक क्रिया कर रहे हें। दूसरे के वश से क्रिया होना जीव को परीक्षा नही हे। पूर्वोक्त निर्णय द्वारा जीव इच्छाओं से सदा भिन्न है। इच्छा से पृथक अपने को जान उसे जीत कर स्थिर होना चाहिए॥ २९॥

शिक्षा सार

रे मन। अजहूँ आँख उघारे।
हित वाछित दातार मनुज तन, जात न समय सँवारे॥ टेक॥

नहि कोई शत्रु मित्र कोई दुख सुख, हानि-लाभ कुछ ना रे।
हित अनहित नहि राग द्वेष मद, सब इच्छा विस्तारे॥ १॥
विषय कीट करि मन तन बाँधत, सुख आशा दर्शा रे।
सोई सुख जो रोग बन्यो लत, अतिशय दुख दुखदा रे॥ २॥
मत मानु तव इच्छा वैरिणि, होट सजग शुचिता रे।
श्री गुरुदेव की बोध दृष्टि से, इच्छा पलटि सुधारे॥ ३॥
शुद्ध प्रवाह चल जब धारा, हे अनुभव भ्रम ढारे।
नित्य रहे तव प्रेम गुरुपद, अचल स्वरूप सदा रे॥ ४॥

इच्छा जहेर सरूप है, चाखत मातै जीव।
मृतक होय निज बोध मे, न्यारा रहे सो शीव॥ ३०॥

टीका—पाँचो विषयो की इच्छा ही जहररूप है। अग्नि, बिच्छू, जहर एकी देह मे दुख देते है और इच्छा रूप जहर तो अनन्त जन्मो तक कष्ट देता है। जिस इच्छा महाविष का पान करते ही जीव विभ्रात होकर स्वस्वरूप-स्थिति से पतित हो जाता है, उसे जहर जान कर जो अलग रहे, वही शिव है, कल्याण रूप है॥ ३०॥

दृष्टात—एक मुमुक्षु ने गुरुदेव से कहा—मुझे सद्गुणो के ग्रहण करने मे बहुत प्रेम था, अब क्या कारण है कि मैं रात-दिन स्वार्थ-व्यवहार ही मे छुट्टी न पाकर चक्कर काट रहा हूँ? मेरा प्रेम परमार्थमार्ग मे क्यो कम हो गया है? गुरुदेव—इसका तुम स्वय अपने हृदय मे विचार करो तब पता चल जायेगा। देखो! अत.करण वासनाओ की राशि या जकशन है। इसमे चारो तरफ की पटरियाँ नत्थी है। परमार्थ-लीक मे सटी हुई काल-जाल की भी पटरियाँ हैं। जो कोई सजगता न रक्खेगा, वह अपनी यथार्थ पटरी से अवश्य बदल जायेगा। अच्छा बताओ, तुम्हारी पूर्व की सत्सग वाली समझ अब पहिले समान ही है या कम हो गई! मुमुक्षु—समझ तो पहिले समान ही है, पर क्या करं, अब सुभीता ही नहीं मिलती। सत—यह तो तुम्हारी बात ऐसी है कि जैसे कोई कमा-कमा कर एक सन्दूक मे नोटें रखता जावे और सन्दूक में नीचे छिद्र से चुहिया सब नोटे उठा ले जावे और वह जान न सके, उसे द्रव्य का जोश बना रहे। पुन. पुत्री विवाह या अन्य आवश्यक किसी खर्च के समय पर सन्दूक खोले तो सब द्रव्य गायब। तद्वत जीव को ज्ञान का अभिमान तो होता हैं, पर मनरूप चोर से सावधान होकर सत्सग का पुरुषार्थ किये बिना ज्ञान काम नहीं देता। हर बात के लिए मौका मिलना निश्चय के अधीन है। जिसमे मनुष्य दृढता से सुख समझता है, उसके लिए मौका निकाल ही लेता है। यदि वह मौका नहीं निकाल पाता तो उसकी निश्चयता या प्रयत्न मे कमी अवश्य पड़ गयी है। केवल छुट्टी मे जो काम किया जाय, वह मुख्य काम नहीं है। यह इच्छा डाकिनी का भुलावा है कि मुख्य काम छुट्टी मे किया जाय। सामान्य ही को मुख्य मान लिया है। श्रेणी के अनुसार धर्मोचित शरीर निर्वाह के लिये काम-काज करना चाहिए। शरीर निर्वाह का फल सद्ग्रन्थ मनन, सत्सग, साधन और अभ्यास ही है। जैसे राजा का फौज पालना फौज के लिए नहीं बल्कि अपनी रक्षा के लिए है, असमय में सग्राम के लिए है। यदि वह राजा की रक्षा न करे, असमय मे काम न दे तो फौज व्यर्थ है। वैसे ही जीव के कल्याण काज के बिना शरीर निर्वाह भी व्यर्थ है, व्यर्थ ही नहीं बल्कि वृथा परिश्रम, चिन्ता, जन्म-मरण और त्रिविध ताप की

भट्ठी मे जीव को जलाने वाला है। मुक्ति-इच्छुक ने कहा—हे गुरुदेव! अवश्य मेरी समझ कम पड गयी है, क्योकि मैं पहिले के समान सत्सग, सद्ग्रन्थ और साधनो मे पुरुषार्थ नही करता। अहो! ससार मे अनन्त ताप हैं, वे सब मुझे सहने पडेगे। कृपया मेरी शुद्धदृष्टि करके आवरण हटा दीजिए!

गुरुदेव ने कहा—पारमार्थिक विचारधारणा एकरस रखने की इच्छा रखते हुए भी बदल जाने में पहिले मुख्य कारणो को स्मरण करो। (१) मनुष्य को हमेशा स्ववशता का अभिमान रहता है। उसके सामने जो कुछ वृत्ति आती है उसी भास को सत्य प्रतीत करता है। उसे यह निश्चय है कि मै बदल नहीं सकता। जैसा निश्चय, गुण, कर्म अब धारण कर रहा हूँ, ऐसा ही चाहे जहाँ रहूँ, विजाति घेरा मे भी हमेशा ऐसे ही बना रहूँगा। अपने ध्येय से मैं विचलित नही हो सकता ऐसा प्रमाद। (२) मेरी समझ और ध्येय सत्सग, भक्ति, वैराग्य के बिना ही यथार्थ है, ऐसी विपरीत समझ। (३) मै पहिले से समझदार हूँ अब भूल नही हो सकती। यदि पूरा कर्तव्य नही होता तो भी अवश्य ही सब कुछ जानता हूँ, फिर कर्तव्य भी धारण कर लूँगा। ऐसी गाफिली से पुरुषार्थ में आलस्य और इधर शरीर राजस भोगों मे प्रवृत्त होते जाना। (४) इस दर्जे की पुष्टि अन्य दर्जे के काम से भी हो जायेगी, इसलिए इसे छोडकर अन्य उपायो से बल बढावें, बाद में शीघ्र पुष्ट कर लूँगा। ऐसा सोचकर मन की सलाहों और कुसग मे मिलते जाना। अन्य घेरा, अन्य दर्जे मे जाकर अन्य मनुष्य नीचे गिर गये है ऐसा देखते हुए भी मारे ज्ञान-प्रमाद के समझना कि मै अन्य दर्जे में जाकर उसी दर्जे का पुरुषार्थ करके भी अन्य के समान नही हो सकता। बस इन्ही कारणो से मनुष्य नीचे गिर जाता है। मुमुक्षु—अवश्य मै इन्हीं बातो से नीचे गिर गया हूँ। अच्छा! आप कृपा करके इन्हे हटाने का साधन बतावे, डूबे हुए को पार लगावे। गुरुदेव ने कहा—उन चारो बातो को उलट दो। (१) यह जीव देहोपाधियुक्त वासना के वश है। मै श्रेणी का पुरुषार्थ छोड देने पर अवश्य बदल जाऊँगा। ऐसा समझ कर वासनाओं से अपने को भिन्न पहिचानकर उनसे हरदम सावधान रह पुन वासनाओ की धारा मे न बहे और शुद्ध श्रेणी का पुरुषार्थ बनाये रहे। (२) गुरुमार्ग और जगतमार्ग का पुरुषार्थ भिन्न है। गुरुमार्ग की रक्षा गुरुमार्ग के पुरुषार्थ से ही होगी, न कि जगतमार्ग के पुरुषार्थ से, ऐसा नित्य स्मरण रहे। (३) मनुष्य जितना कल्याण अगो को जानता है उतना निरतर अटूट परिश्रम से धारण कर सकता है। समझना-बूझना भी धारणा से ही सफल होता है। बिना धारणा के समझ भी जगत-बधन की ओर ही मदद देती है। इससे हमे निरालस होकर समझ-शक्ति के अनुसार भरसक यथार्थ पुरुषार्थ करना चाहिए। (४) जगत-राग और त्याग दोनो विरोधी है, ऐसी दशा मे जगतमार्ग के पुरुषार्थ से कल्याणमार्ग का कार्य कैसे हल होगा! ऐसा जानकर जगत-प्रपच, कुसग और मन की तरगो से सावधान!

सोरठा—*जो चाहो कल्यान, तौ नित इच्छा फन्द लखु।*
दुपहर साँझ बिहान, ठहरि विचारै क्या कियो॥ १॥
कियो करब का काज, का परिणाम हो याहि को।
अहित काज से लाज, हित परमारथ हर्ष लै॥ २॥
पुन सजग सब काल, इच्छा नदी महान हे।
बहि न जाय कहुँ हाल, भौर बीच कहुँ नाव डुबि॥ ३॥

नाविक गुरु की युक्ति, नाव बोध शुभ आचरण।
गहे सजग ले मुक्ति, जानि वासना वश्य जिव॥ ४॥
कबहुँ न होय अजाद, गुरू ऐन को छोडि के।
निज हित कारज वाद, और न जाने कछुक जग॥ ५॥

इत्यादि बाते समझाने पर जिज्ञासु बोला—हे श्री गुरुदेव! आपकी कृपा से मुझे करने योग्य कार्य ज्ञात हुआ। वह साधन पथ मे चलने लगा।

इच्छा युद्धि निशदिन करौ, और से बोलौ नाहिं।
नाशि करौ यहि शत्रु को, और शत्रु कोइ नाहिं॥ ३१॥

टीका—हे जीव! इच्छा ही मे दिन-रात सग्राम करो। भोगेच्छा से राग-द्वेष दोनो होते हैं। जहाँ पदार्थो मे राग वहाँ ही द्वेष ह, जहाँ द्वेष हे वहाँ ही दूसरे मे ईर्ष्या, छल, जबर्दस्ती, अनीति ये सब कर्तव्य बनते रहते ह। फिर तो—"जर बरै अरु खिझैं खिझावैं। राग द्वेष मे जन्म गमावैं॥" अनुसार उसका बाहर के शत्रुओ से पीछा छूटता ही नहीं। यदि भोग सुख की इच्छा न हो तो बाहर किसी से वर होने का कोई हेतु ही न रहे। इसमे यह काम, क्रोध, लोभ, मोहादिक ही हमारे मुख्य वैरी हैं। अत· अन्य शत्रुओं के पीछे न पड़कर शत्रु-मूल इच्छा वासनाओ से ही सोते-जागते समर ठानो, इसी को जडमूल से ध्वस करो। बाहर किसी को दुख पहुँचाना कौन कहे, दुख देने का सकल्प तक मत करो, क्योकि इच्छा के अलावा बाहर तुम्हारा कोई शत्रु नहीं हे॥ ३१॥

असली शत्रु की पहिचान और नाश की युक्ति

दृष्टान्त—एक सरदार सिंह नामक क्षत्रिय लडने मे शूरवीर था। आस-पास के गाँवों पर अपने बाहुबल से कब्जा कर रक्खा था। पर इसके शत्रु दिनोदिन बढ़ते जाते थे। रात-दिन इसके ऊपर खून ही सवार रहता। इसने एक गिरोह बना रक्खा था। जब-तब शत्रुओ के ऊपर हमला कर देता। कोई न कोई सबको मिल जाता है। मान किसी का सदा नहीं रहता। इसे भी यही हुआ। इसका एक बलवान शत्रु जो कि चतुराई और फौज में इससे कहीं अधिक था, उसने बलवान सरदारसिंह पर चढाई कर दी। सरदारसिंह अपनी मृत्यु जानकर वन को भाग गया। वन मे नदी के किनारे एक महात्मा रहते थे, वहाँ पहुँच गया। साधु ने पूछा—कोन हो? उसने कहा—मै शत्रुओ को पीडा देने वाला सरदारसिंह क्षत्रिय हूँ। संत—शत्रु कौन हैं? सरदारसिंह—जो हमारे धन, मान, स्त्री आदि का विनाश करे, हरण करे, हमारे उलटा चले, वही शत्रु ह। संत—तुम्हारा इस समय तो शत्रु कोई नहीं है। सरदारसिंह (दुखी होकर)—महाराज! और शत्रुओ को तो मैं जीत लिया हूँ पर एक बलवान शत्रु फौज के सहित मेरे ऊपर चढ आया, म अपनी प्राण रक्षा के लिए यहाँ भाग आया हूँ। यदि यहाँ भी उसे खबर पड़ जायेगी तो मुझे मार डालेगा। हे समर्थ सत! आपकी शरण हूँ, कृपया शत्रु जीतने का उपाय बताइए। सत—यदि तेरी इच्छा ह तो मेरे पास एक महीना रह, मैं तुझे स्वय सिद्ध बना दूँगा, जिस बल से तू सब शत्रुओ को जीत लेगा। वह रहने लगा। सत ने उसे प्रथम जड़ शरीर से चेतन को अलग समझाया। फिर शरीर ओर जीव का सम्बन्ध भूल, भ्रम, मानन्दी मात्र बताया

और जिस प्रकार प्रारब्ध भोग भोगते हुए आगामी शरीर की रचना न हो वह उपाय दृढाया। जगत के भोगो मे भली प्रकार दुख दिखाया। मुख्य शत्रु काम, क्रोध, लोभ, मोह, अज्ञान दर्शाया। जब उसे सब बातो की पूर्ण परीक्षा हो गई तब सत्त बोले—अब तू घर को जा, इन्हीं शुद्ध आचरणो से निर्वाह कर, बस तेरे शत्रु पीछा छोड देवेगे, बल्कि तेरा शत्रु ही कोई न रह जायेगा। सरदारसिंह हाथ जोडकर बोला—

"दोहा—*नदिया डूबन यान लहि, फेरि बहै को धार।*
सयम लहि आरोग्य पद, कौन रोग लै ख्वार॥"

हे गुरुदेव! नदी मे डूबने वाले को जहाज मे चढने को मिल जाय तो वह धारा मे फिर क्यो गिरेगा! जब संयम, औषध करके मूल रोग की निवृत्ति ही हो गई तो फिर असयम मे पडकर कौन दुखी होगा! कृपया मुझे शरण मे लगाये रखिए। सत ने कहा—मनोमयधारा और मानसिक रोग तेरे साथ ही है, अभी तू ने कुछ काल उपासना को पुष्ट नहीं किया, इसलिए तुझे घर को जाना होगा। आखिर तुझे जब मान-अपमान, सुख-दुख, स्तुति-निन्दा, हर्ष-शोक आदि सब कुछ सहन करना है तो कुछ काल तू आश्रम ही मे सहन कर, मुझे वैराग्य का कार्य करके दिखा, तब मैं तुझे विरक्त बना दूँगा। पहिले मन को साधु बना तब तन को। कहा भी है—

"दोहा—*जो कबहूँ सत्सग से, उदय होय वैराग।*
तदपि एकही बार गृह, धरम न कीजै त्याग॥ बि०॥"

इस प्रकार बहुत समझाने पर जब वह घर को जाने लगा, तब फिर प्रश्न किया कि हे गुरुदेव! मेरे वैरी तो काम, क्रोध, लोभ, मोहादिक है और उनके बढाने वाले अज्ञानी सगे-सम्बन्धी ही हैं, तो मैं उनसे कैसे बचूँगा? सत—अवश्य बचेगा, पर साधु-सत्सग और सद्ग्रन्थ तथा धीरज का विशेष आधार रखना। मुसाफिर अपने ध्येय धाम से दूर रहते हुए भी उधर की ही तरफ धीरे-धीरे चलता है। चलना बन्द नही करता तो अवश्य पहुँच जाता है। धीरज, साहस, निश्चय, पुरुषार्थ, कार्यक्रम बना रहे, बस विजय है। सरदारसिह—कृपया कामादि रिपुओ के दमन करने की युक्ति पुन विस्तार से बताइए। सत ने "इच्छा परीक्षा के मन दमन, मोह भजन, लोभ शमन, काम हर, तृष्णा गत, मद मर्दन, क्रोधहनन" प्रसगो को समझाते हुए सरदारसिंह को पुनः घर जाने की आज्ञा दी। वह स्वामी की आज्ञा सिर धर कर घर की ओर चला। चलते-चलते घर पहुँचा। घर के माता-पिता मित्र-बन्धु सब मिले। वह ब्रह्मचर्यव्रत धारण कर अहिसावृत्ति युक्त साधु-आचरण से रहने लगा। वह सब कुटुम्बियो को सद्शिक्षा दिया करता था। एक दिन उसकी पत्नी हाथ जोड कर बोली—स्वामिन! स्त्री को किस आचरण से रहने मे कल्याण है? सरदारसिह—(१) एकव्रत। (२) सत्य। (३) सुलाज। (४) शील। (५) उदारता। (६) दया। (७) पवित्रता। (८) वाक्यसयम। (९) सेवा गुण। (१०) सत्सग। (११) धैर्य। ऐसे ग्यारह लक्षण स्त्रियो को धारण करना चाहिए। इन लक्षणो को कण्ठ करके स्त्रीजन अपना चरित्र सुधार करे।

सोरठा

एकव्रती-लक्षण { *एकै स्वामि अधार, काय वचन मन एक व्रत।*
करै न सगति जार, हरहट सँग कपिलौ नशत॥ १॥

मत्य-लक्षण	सत्य जीव कृत कर्म, जस बोवे तस फल चखे। पाले विविधि स्वधर्म, कर्म वचन मन झूठ तजु॥ २॥
मुलज्जता-लक्षण	नैन वेन सव अग, रखे ढंग मन मारि कै। चचलता तजि रंग, गाली झगडा कुमति तजु॥ ३॥
शील-लक्षण	गोमन को दलि शील, गह वृत्ति हितकर सरल। लोभ मोह मति हील, यथा प्राप्त सतोष सुख॥ ४॥
उदारता-लक्षण	आधारित कुल पालि, भूखे दूखे रक्षिये। चले चलाव सुचालि, सेवै सत उदार ह्वै॥ ५॥
दया-लक्षण	जानि पराई पीर, रक्षै जीवन शक्ति भर। छानि पिवे शुचि नीर, मास खाय नहि जिव वधै॥ ६॥
शुद्धता-लक्षण	पात देह पट धाम, रखे शुद्ध वहु भॉति से। वाह्य शुद्ध करु काम, अन्दर शुचि सत्सग करु॥ ७॥
वानी-सुधार लक्षण	वानी सत्प्रिय वोलि, मान भग नहि करइ कोउ। कटु कुठार जनु खोलि, मोन रहे वरु वॉधि मुख॥ ८॥
मेवा-लक्षण	मात पिता पति हीति, अतिथि साधु कोउ होय जन। समय धर्म लखि नीति, सेव जेहि विधि धर्म हो॥ ९॥
मत्सग-लक्षण	सुवुद्धि धर्म नय रीति, विन सत्सग न कोउ लहे। तेहि ते निश्छल प्रीति, करे अमल शुचि साधु मे॥ १०॥
धैर्य-लक्षण	सुख दुख भोग असार, कर्म भोग ऋतु फल लखे। धीरज से सरि पार, थीर होय गहि शात मन॥ ११॥

ये सव गहे जु अग, लोक प्रलोक मे सुख मिले।
जन्म मरण हे भग, लखि स्वरूप गो मन दले॥ १२॥
ब्रह्मचर्य व्रत पालि, शुद्ध होय सव विपय तजि।
आपको आप सम्हालि, ससृत पार सो पद लहे॥ १३॥
त्यागिउ हो नर नारि, तदपि रक्षि तृण अग्नि सम।
तेहि ते युक्ति सम्हारि, जेहि विधि मन्मथ नहि जग॥ १४॥

इतना मुनकर सरदारमिह की स्त्री सिर झुकाकर वोली—स्वामिन! मैं आपकी आज्ञा को सिर पर रख कर वमे ही चलूँगी। इस प्रकार सरदारसिंह ने सव कुटुम्वियो को यथायोग्य ममझाकर सवको परमार्थ मार्ग की तरफ लगा दिया। कुछ दिन वाद वह शत्रु, जो कि सरदार मिंह को भागा हुआ जानकर चला गया था, उसे आया हुआ जानकर फिर आक्रमण की तैयारी करने लगा। इतने मे आम-पाम के लोगो ने कहा—वह साधुवृत्ति मे रहता हे। उमको किमी मे ममता नहीं है। वह किसी से वैर करना नहीं चाहता। वह सदा अपने कुटुम्वियो को भक्तिभाव की शिक्षा दिया करता हे। उमका घर महात्माओ का आश्रम हो रहा ह। आप उस पर कव्जा करे या न करे, वह कव्जा ही ह। वह जिसका नाम विक्रममिंह था, उस वीर ने कहा—अच्छा! हम उसकी परीक्षा लेगे। विक्रमसिंह ने एक चतुर सेवक को वुलाकर कहा—जाओ मरदारमिंह और उसके कुटुम्वियो की परीक्षा करो वे मेरे वरीरूप मे हैं या किमी

और रूप मे, वैसी कार्रवाई की जाय। वह चतुर चाकर सरदारसिह के यहॉ आया। उस समय सरदारसिंह की बॉदी घर के द्वार पर खडी थी, उससे पूछा—तू कौन है? वह बोली—मैं सरदारसिंह की टहलुई हूॅ। तब चाकर बोला—

दोहा—*क्या देखत तै खबर करु, सबल वैरिया आय।*
सरदारी सब झार करि, देइ तास बडकाय॥

चेरी-उत्तर
वैरी तो है पास ही, पच विषय मन जान।
तेहि जीते सरदार मम, तास कौन दे आन॥

इतने मे वहॉ सरदारसिंह की पत्नी आई, उससे वह बोला—

तव पति क्षत्रिय होय कै, पीठ देत रण माहि।
सो अब ताहि बचाव नहि, चढ़्यो समर अरि ताहि॥

स्त्री-उत्तर
क्षतिय जीवहि जानिए, काम क्रोध बड शतु।
ताहि काटि गुरु युक्ति से, अभय अशक अशतु॥

इतने मे सरदारसिंह की माता आ गई, माता को जानकर वह बोला—

री क्षताणी प्रसव दुख, वृथा भई तव जान।
तोर पुत कायर भयो, सम्मुख लोह न आन॥

माता-उत्तर
भोग हेतु को वीर नहि, शूकर श्वान जहान।
शूर वीर बड भागि मम, मनहि जीति सुख खान॥
भोग त्यागि अनुराग वहि, जहॅ न शोक मद मोह।
मम पालब सुत सफल भौ, यतीरूप सिर शोह॥

इतने मे सरदारम्सिह आये, सरदारसिह से वह बोला—

सिह होय क्यो स्यारवत, इत उत लुकत डेरात।
यह शोभा तोहि देय नहि, रे कायर सुनु बात॥

सरदारसिंह (नम्रता से)
कौन स्यार को सिह है, सबै भोग हित दीन।
दमडी चमडी धरणि हित, त्यागै इन्हे प्रवीन॥
का हमार का हानि है, कोन काज मम आहि।
गो-गोचर नि सार सब, लेहु कोई मन जाहि॥

इन सव वातो को सुनकर उस सेवक ने विक्रमसिंह के पास जा सारा हाल कह सुनाया। विक्रमसिह समझ गया कि सरदारसिह मच्चा महात्मा हो गया। फिर तो वह बडी नम्रता से आकर मिला और बोला कि आप मुझसे निर्भय रहिए। आपके दिल से शोक, मोह तथा शतुता निकल गई हे, इसलिए आप मेरे पूज्य हे, ऐसी विनय-वाणी कहकर चला गया। सरदारसिह भी सूक्ष्म आसक्ति त्यागने के लिए गृहस्थी आश्रम त्यागकर सत की शरण मे चला गया। इस प्रकार इच्छा को जीत लेने पर स्वार्थ-परमार्थ मे कोई शतु नही रह जाता है।

याहि विजय से विजय सब, याहि हारि से हार।
स्वत स्वतन्त्र स्वरूप तुम, देखौ हृदय बिचार॥ ३२॥

टीका—इस इच्छारूप मुख्य शत्रु को जीत लेने मे ही सब पर विजय हुई जानो और इस के वशवर्ती रहने मे ही अपनी हार हुई मानो। क्योंकि इच्छा को कब्जे मे करने से सब वस्तुओं की कामना छूट जाती है। जब किसी प्रकार भोगो की कामना ही नहीं तो शत्रु कौन! जब कोई शत्रु ही नहीं तो सहज ही सबसे जीत हुई जानो। जहाँ पर विषय भोगो की कामना है वहाँ पदार्थों की ऐंचातानी मे सब प्राणी शत्रु हो जाते हैं। शत्रुओं से लडते हुए भी शत्रु खतम नहीं होते। जब शत्रु सिर पर गाज रहे है तब हार ही जानो। इच्छा के वश देह धारणकर सबके अधीन होना पडता है, स्ववश न रहकर तृष्णा के वश जहाँ-तहाँ नाचना पडता है। वासना-इच्छा सम्मुख आते ही जीव मे चाल होने लगती है। अत. इच्छा को जीत लेने पर वासना रहित तुम्हारा स्वरूप स्वतन्त्र स्वय प्रकाश है, ऐसा हृदय मे विचारो, परीक्षा करके देखो॥ ३२॥

आप आप को भूलि कै, अचल विषय सुख मानि।
चंचलता उलटे बढ़ी, तडफडात गहि पानि॥ ३३॥

टीका—आप स्वय चेतन इच्छाओं का द्रष्टा है। चेतन के स्वरूप मे इच्छाएँ न होने से उसका स्वरूप ही अचल तथा नित्य तृप्त है, पर अनादि देहोपाधि सम्बन्ध से अपने आपको भूलकर अपनी अचलता, तृप्तता जड-भोगो मे ढूँढता है। अपनी अचलता के समान ही विषयों को अचल रखना चाहता है, पर यह बात कब होने की! चचल जड विषयों की प्रीति से आप भी उलटकर क्षण-क्षण विशेष-विशेष इच्छा के वश चलायमान हो रहा है, घबराकर फिर विषयो को ग्रहण करता है। यहाँ पानि का भाव है कि हृदय मे ग्रहण करता रहता है। जैसे किसी के घर मे आग लगने पर उसके अन्दर रहने वाला मनुष्य धुआँ और आँच से तडफडा कर बचने के हेतु उधर ही घुसे जिधर से आग आ रही हो, वैसे चाह वश तडफडाकर बचने के लिए उसी विषयाग्नि को दौड-दौड कर पकडता है, जिससे चाह-दुख का प्रवाह बढते जाता है, यही अज्ञान है॥ ३३॥

प्रसंग ५—भोगो मे अतृप्ति और इच्छा की वृद्धि

नासा गन्ध जनावती, सूँघि न कबहुँ अघाय।
ग्रहण करत बहु देर लगि, श्रमित दु ख रुकि जाय॥ ३४॥

टीका—नाक के द्वारा गन्ध जानी जाती है। सुगन्ध को नित्य सूँघते-सूँघते भी सूँघने की आशा नही मिटती, उससे तृप्ति नहीं होती। जो गन्ध से अघाकर तृप्ति नहीं होती तो सुगन्ध लेने से जीव रुकता क्यों है, इसका कारण—बहुत देर तक गन्ध ग्रहण करते-करते नासिका इन्द्रिय थकित हो जाती है, तब उसकी गन्ध लेने की शक्ति कमजोर पडने से जीव दुख पाकर रुक जाता है, कुछ तृप्त होकर नही रुकता॥ ३४॥

सपरश त्वचा छिलावती, रसना उदर भराय।
सँभरत तुरत सिधावती, प्रबल होत अधिकाय॥ ३५॥

टीका—चमडी से स्पर्श का ज्ञान होता है, कोमलता का सुख मानकर किसी अनुकूल पदार्थ का स्पर्श करते-करते अत मे त्वचा की शक्ति निर्बल होकर जलन होने लगती है, तब

छूने से दुख होने लगता है, सहन नही होता, फिर स्पर्श करने से रुक जाता है। जिह्वा से षटरस मे सुख मानकर ग्रहण करते-करते पेटरूप थैला ही भर जाता है, तब आगे कहाँ जाय। विवशता से दुखी होकर वहाँ ही रुक जाता है। फिर इन्द्रियो मे शक्ति आते ही शीघ्रातिशीघ्र उन्ही विषय सेवन के लिए इन्द्रियाँ चलने लगती हैं। इन्द्रियो मे मिलकर चैतन्य भ्रमजनित सुख लेने मे जुट जाता है, जिससे इच्छाएँ अग्नि घृत वत अधिक-अधिक बढती जाती हैं॥ ३५॥

देखत नेत्र दुखावती, श्रोत्र श्रमित रुकि जाय।
इच्छा वही नवीन है, क्रिया करत दुख पाय॥ ३६॥

टीका—नेत्रो से नाना रूप का ज्ञान होता है। नेत्रो से रूप देखते-देखते नेत्र थककर दुखी हो देखने से जीव रुक जाता है और कान से शब्द सुनते-सुनते श्रवण थकित होने पर शब्द सुनने से रुक जाता है, परन्तु देखने-सुनने की पूर्व इच्छा तो शस्त्र पर शान धरने के समान नवीन होती जाती है। पचभोगो से पुष्ट हुई इच्छा द्वारा पुन. दुखी होकर फिर भोगो को ग्रहण करने लगता है। इस हेतु इच्छा से क्रिया और क्रिया से इच्छा दुख फिर-फिर पाया करता है॥ ३६॥

प्रसंग ६—दुख निवृत्ति की आशा ही सुख है

सोरठा

क्रिय इच्छा दुख होय, चहत मिटावन जीव सब।
सुक्ख नाम है सोय, और सुक्ख कछु है नही॥ ३७॥

टीका—परिश्रम और इच्छा जीव के प्रतिकूल होने से सब जीव उन दुखो को मिटाना चाहते ह। दुख मिटाना ही सुख है और सुख कोई स्वन्तत्र द्रव्य नही॥ ३७॥

साखी

क्रिय इच्छा प्रारब्धि जो, त्रिबिधि दु खमय जान।
अरस परस त्रयकाल तिहुँ, जीव करत भरमान॥ ३८॥

टीका—परिश्रम, कामना और प्रारब्ध, ये तीनो दुख स्वरूप है। देह से इच्छा-क्रिया, इच्छा-क्रिया से देहभोग इस प्रकार क्रिया, इच्छा, प्रारब्ध इन तीनो दुखो मे से उलट-पलटकर एक न एक दुख जीव को भूत, भविष्य तथा वर्तमान मे लगा ही रहता हे। इन्ही के वश सदोदित जीव दुख की धारा मे भ्रमता रहता हे॥ ३८॥

दुख की निवृत्ति ही सब चाहते हैं

दृष्टान्त—हितैषी बोधवान मनुष्य अपने समीपी सुख के खोजी मित्र को यही बतला रहा था कि दुख की निवृत्ति ही सुख है ओर अन्य सुख का न तो अनुभव है, न उसे कोई चाहता ही हे, न उसकी सत्ता है। यह बात बहुत समझाने पर भी जब मित्र की समझ मे न आई तब समझाने वाले ने कहा—अच्छा। फिर बताऊँगा। सयोगवश याचकमित्र को खाज हो गयी। वह बढती ही गयी। किसी अनाडी के कहने से एक ऐसी दवा लगायी जिससे कि पूरा शरीर सड गया। तब तो जरा भी वायु, धूप, शीत सहन नही होते। खाट पर पडे रहने से भी असह वेदना होने से पडे पडे हाय-हाय किया करता। समझाने वाले मित्र ने मौका देखकर कहा—मित्र। ओफ। तुम्हे बडा कष्ट है। यह सुनकर वह रोगी रोने लगा और कहा—हाय।

इससे तो अच्छा मेरी मृत्यु ही हो जाती। शिक्षक मित्र ने उसे आठ दिन के लिए औषधि खाने को दिया। उस औषधि का दुखपीडित ने प्रेम-नेम से आठ दिन सेवन किया। औषधि उसे रामवाण हो गई। विगडा खून शुद्ध हो गया और उसकी पीडा रफा हो गई। शिक्षक मित्र ने कहा—मित्र! कुछ आराम हुआ? याचक मित्र—कुछ क्या, आपकी कृपा से मेरा सव दुख दूर हुआ, मैं पूर्ण सुखी हो गया। हितैषी मित्र—सुख तुमको किससे हुआ? रोगी—आपकी औषधि से। हितैषी मित्र—हमारी औषधि ने तुम्हे क्या दिया? रोगी—हमारे रोग का नाश किया। मित्र—रोग से तुम्हे क्या था? रोगी—कठिन दुख। मित्र—हमारी दवा से जव आपका रोग चला गया तो आपके पास क्या रहा? रोगी—रोग चले जाने मे रोग सम्वन्धी दुख नहीं, जिससे मेरे पास सुख ही रहा। मित्र—जव यह रोग पहिले तुम्हे नहीं था तव तुम सुख मे थे या दुख मे? रोगी—तव मैं विना दवा ही पूर्ण सुखी था। मित्र—पर तुम पहिले मुझसे कभी नहीं कहते थे कि अव मैं वहुत सुखी हो रहा हूँ।

रोगी वोला—वस, जो वात वहुत दिनो से मेरी समझ मे नहीं आती थी वह समझ मे आ गई। मुझे जव रोग होकर असह कष्ट हुआ तभी औषधि की गर्ज लगी। फिर आप जैसे दयालु दानी के आश्रय से मैंने अमृत का सेवन किया तव उस रोग का सर्वथा अभाव हुआ। उस रोग के अभाव से रोग सम्वन्धी दुख चला गया तव मैं सुख का अनुभव कर रहा हूँ। यद्यपि मैं इस रोग के पहिले दवा और परहेज विना ही पूर्ण सुखी था, पर इतना सुख नहीं अनुभव होता था। वीच में दुख होने के कारण ही उस दुख निवृत्ति से सुख प्रतीत हुआ। शिक्षक मित्र—क्या दुख निवृत्ति और सुख के लिए तुम फिर खुजली का दुख वनाओगे? रोगी—भूल कर भी ऐसी इच्छा नहीं कर सकता। मित्र—तो तुम्हे आगे सुख कैसे होगा? रोगी—आपके वाक्य से तो हृदय के चक्षु खुलते जाते हैं। मेरी समझ मे यह भी आ गया कि दुख वना-वनाकर कोई सुख नहीं चाहता। दुख के विना सुख की चाहना ही नही उठ सकती। विवशता से रोग, व्याधि, पीडा, शत्रु हो जाने पर फिर उसे निवारण करके मनुष्य सुखी होता है, पर उस सुख के लिए फिर दुख नहीं वनाता। जो पर काट-काट कर दवा से सुखी होना चाहता है वह विभ्रात कहा जाता है। इसलिए दुख की निवृत्ति ही सुख है और सुख कोई चीज नहीं। शिक्षक मित्र—यही वात तुम इधर समझो कि इच्छा एक खुजली रोग है। वह अनादि सत्यस्वरूप के भूल मे ही हो गया है। प्रारव्धरूप देह के कारण इच्छा आते ही जीव चंचल हो जाता है। चचलता अपूर्ण समझ से होती है इसके निवारणार्थ नाना भोगरूप दवा करता है, सो दवा काहे की, इच्छारूप रोग की वृद्धि करने वाली कुपथ्य है। इसलिए मैं तुमसे पहिले ही कहा करता था, कि जो तुम दुख-रहित सुख चाहो तो औषधिवत निर्वाह मात्र अन्न, जल व्यवहार ग्रहण करते हुए विषयरूप आरण्य मे भटकती हुई दस इन्द्रिय और एकादश मनरूप गायो को रोको। अर्थात विषयरहित मार्ग के लिए सव साधन सयम करो, जिसका फल अचाह स्वन्तत्र, निराधारपद है। इतना सुनकर याचक मित्र वोला—आपकी कृपा से मैं वैसा ही करूँगा, निश्चय की देर थी। दृढ निश्चय होते ही मनुष्य मानो आधा काम कर चुका, वाकी पुरुषार्थ से तय कर लेगा।

प्रसंग ७—इच्छा का स्वरूप

निज स्वरूप के भूल ते, भ्रम करि निश्चय अन्य।
सो मानन्दी जीव ल, क्रिया करत भरमन्य॥ ३१॥

टीका—जीव अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर विजाति जड विषयो मे सुख का दृढ निश्चय कर लिया है। उसी मान्यता के वश मे पडा हुआ वह भोगो के लिए भटकता रहता है॥ ३९॥

उदाहरण

दोहा—*जड तत्त्वन की इन्द्रियाँ, सो आवरण स्वरूप।*
जीव दृष्टि विपरीत करि, भ्रमत स्वप्न ज्यो भूप॥

नेत्र से रूप देखि सुख मानै। तलफत यथा पतग दिवानै॥
रसना से रस ले बहु भाँती। मीन समान उतावल राती॥
त्वक से सुख सपरश मे मानै। गज औ श्वान समान दिवानै॥
नाक से गन्ध विहर अनुकूला। कोमल कमल भ्रमर ज्यो भूला॥
श्रवण शब्द सुख मानि अपारा। रसिक तान भटकत मृग धारा॥
पाँचो विषयन मे सुख मानी। यहि प्रकार बधन नित ठानी॥
गो-गोचर नख शिख जड काया। मानि मानि सुख बहुत बँधाया॥
यह सब भूल केर परिवारा। नाद बिन्दु बहु भाँति अपारा॥

दोहा—*यहि माया वश जीव यह, विषय सुखो मे बध।*
बिन गुरु पारख छुटत नहि, यद्यपि हे निर्बध॥

सोइ इच्छा को रूप है, प्रेरक आप सदीव।
इच्छा नही स्वतन्त्र है, नहिं इन्द्रिन नहिं जीव॥ ४०॥

टीका—भूल, भ्रम तथा सुख मानन्दी द्वारा जो देखा, सुना, सूँघा, स्वाद लिया और स्पर्श किया गया है, उन्ही का सस्कार-समूह अन्त करण मे टिका है। वही समय-समय पर याद हुआ करता है। वही इच्छा का स्वरूप है। इच्छा का प्रेरक सत्ता देकर रोकने तथा चलाने वाला हमेशा यह आप जीव ही है। इच्छा कोई स्वतत्र वस्तु नही है, न वह जड इन्द्रियो मे है, न शुद्ध चेतन मे है, बल्कि दोनो के सम्बन्ध मे है। क्योकि जीव रहित इन्द्रियाँ जड है, जड मे ज्ञान नही, ज्ञान बिना इच्छा नही होती। इसलिए साधनरूप जड इन्द्रियो मे इच्छा नही और जीव को भी इन्द्रियो के सम्बन्ध रहित इच्छा नही होती, सो अनुभव है। जन्मान्ध को रूप का ज्ञान नही होता। इसी प्रकार पाँचो इन्द्रियो का सम्बन्ध न हो तो किसी चीज की मानन्दी न होने से इच्छा बन ही नही सकती। इच्छा बिना चेतन मे क्रिया भी नही होती, यह भी प्रत्यक्ष है। इसलिये शुद्ध चेतन मे भी इच्छा नही। इच्छा तो सबको हो रही है, तो जड-चेतन दोनो के सम्बन्ध मे दर्पण के बीच मे छायावत इच्छा, वासना, सस्कार मानन्दी मात्र जीव स्वय चेतन जाननहार होने से देहसघात से इच्छा करता है। वही भूल की परीक्षा कर त्याग सकता है। वही लाभ जानकर वस्तु का ग्रहण, हानि जानकर त्याग करता है। इस प्रकार स्वय चेतन ही इच्छाओ का प्रेरक है॥ ४०॥

छन्द—*जीव मे ससृति नही, नहि ज्ञान जड मे देखिये।*
इन दोय के सम्बन्ध मे, मन सृष्टि धर्म विशेषिये॥

ग्रन्थी अनादी भूल से, पुनि भूल ग्रन्थी लेखिये।
गुरुपर्ख से मिट जाय वह, पुरुषार्थ यह ही पेखिये॥

प्रसंग ८—सव सामग्री सहित यथार्थ बोध से सब दुःखों की निवृत्ति

रज्जू पीटत भूल ते, सर्प मानि भय पाय।
ज्ञान भये किरिया मिटी, भय दुख सर्प नशाय॥ ४१॥

टीका—रस्सी मे सर्प न होते हुए भी अधकार में रस्सी को न पहिचानने से उसमे सर्प का निश्चय करके मनुष्य डर जाता ह। उस डर मे विह्वल होकर कभी तो मनुष्य रस्सी को पीटने लगता है, कभी तो भागता हुआ गिर पड़ता हैं। यह मिथ्या परिश्रम ओर डर तभी तक रहता ह जव तक प्रकाश द्वारा रस्सी की ठीक-ठीक पहिचान नहीं हो जाती। प्रकाश द्वारा रस्सी का ज्ञान होते ही सर्प की निश्चयता मिट जाती ह, फिर तो भय और पीटने आदि की क्रियारूप मिथ्या दुख से वह गहित हो जाता है। इसी प्रकार देह सम्वन्ध मे जीव अपने को भूलकर विपयो मे सुख निश्चय कर उसकी पूर्ति के लिए तभी तक दुखी ओर परिश्रमित रहता हे, जव तक सद्गुरु सत्सग प्रकाश से अपने शुद्ध नित्य चतन्य स्वरूप को नहीं जानता। जो सद्गुरु सत्सग मे निज शुद्धस्वरूप को जडभास से भिन्न नित्य, तृप्त और सत्य निश्चय कर लिया वह विपय सुख-इच्छा को भ्रम मात्र ओर दुखपूर्ण जानकर उससे घूम पडता हे। वह वार-वार भ्रम उत्पादक पूर्ववेग झूला वत प्रारब्ध-सम्बन्ध रहने तक सब साधन-सयम रख कर इच्छा को निर्मूल करते हुए पारख प्रकाश मे स्थिर रहता है। श्री कवीर साहेव बीजक मे कहते हे—"विन रसरी गर सकलो बन्धा, तासो वँधा अलेख। दीन्हा दर्पण हस्त मे, चश्म विना क्या देख॥ भरम का वाँधा ई जग, यहि विधि आव जाय। मानुप जनम पायके, नर काहे को जहँडाय॥" "भरम हिडोला झूले, सव जग आय। पाप-पुण्य के खम्भा दोऊ, मेरु माया मॉहिं॥ लोभ भँवरा विपय मरुवा, काम कीला ठानि॥ शुभ अशुभ वनाये डॉडी, गहे दूनो पानि॥ कर्म पटरिया वठि के, को-को न झूले आनि॥ ये झूलवे को भय नहीं, जो होय सन्त सुजान॥ कहहिं कवीर मतमुकृत मिल, तो वहुरि न झूले आन"॥ ४१॥

सोरठा

आसक्ति जीति अभ्यास, अभ्यास वही जेहि जाय दुख।
लहे शान्ति नैराश्य, विपय दु.ख को भय समुझि॥ ४२॥
लहे अटल विश्रान्ति, वैराग्य गहै जो राग तजि।
जाय सकल दुख भ्रान्ति, पारख स्वच्छ सेवन कर॥ ४३॥

टीका—विपयासक्ति अभ्यास से जीती जाती हे। अभ्यास का अर्थ ह निरन्तर नित्य नियम से एक ही धारणा के प्रयत्न मे लीन रहना। अभ्यास भी उसी का करना चाहिये जिससे देह सम्बन्धी मानसिक समूल दुखो का नाश हो जाय। मनोद्रष्टा, निर्णय, विवेक, सयमादि का अभ्यास करे। साथ ही विपय-तृष्णा रहित शाति तथा उपरामता को प्राप्त करे। साधन-अभ्यास करके विपयो से सर्वथा उपराम नहीं होगे, तो हमे विपय सम्बन्ध से होने वाले तन-मनकृत

वर्तमान के दुख, आगे आने वाले भविष्य के दुख, बार-बार भोगने पडेगे। इस प्रकार विषय सम्बन्धी दुख पाने का डर सम्मुख रखकर जगत-प्रपच से पूर्ण उपराम हो इन्द्रिय सम्बन्धी सुख की कामना त्यागकर शात हो जावे॥ ४॥ ऐसा करने ही से सर्वदा रहने वाली एकरस अचल स्वरूपस्थिति रूप विश्राति मिलती है। इसके लिए विषय-राग वाले कर्तव्यो से नितान्त चित्त हटाकर वैराग्य के पुरुषार्थ मे सर्वदा लीन रहे, तब उलटी समझ और उलटे कर्तव्यो से जो-जो दुख होते है वे सब नष्ट हो जाते है। इस पूर्ण वैराग्य साधना के साथ ही निर्मल पारख दृष्टि की भी सदा आवश्यकता है। वैराग्य, परीक्षा, अभ्यास और नेराश्यता कल्याण के प्रधान अग हे। इन्हे धारण करना ही मुख्य कर्तव्य है॥ ४३॥

छन्द—देह के आरामतलबी क्या विरागी होयँगे।
शम दम तितिक्षा साधना तजि भोग शोग मे रोयँगे॥
हो तीव्र इच्छा मोक्ष की तो युक्ति ऐसी कीजिये।
आरामतलबी देह की करि यत्न क्रमश. छीजिये॥ १॥
आरामतलबी है रजोगुण औ अमीरी भोग की।
इच्छा करै कोमल सुखो की भोग जड वो शोग की॥
परतन्त्रता ऐचा व तानी राग द्वेषहुँ लोग की।
सँसृति-भवन तम गुण सघन तज दे उसे जड रोग की॥ २॥

प्रसंग ९—विषयो में आदत और अनमिलता का दुख

चर्स तमाखू भाँग है, मदिरा और अफीम।
आदति ओ अभ्यास जेहि, मानत सुक्ख असीम॥ ४४॥
लखि युवती तन सुक्ख तस, चर्म मूत्र स्पर्श।
मिली गुलामी जगत की, तजि जीवन सर्बश्श॥ ४५॥

टीका—चरस, तमाखू, भाग, मदिरा, अफीमादि के सेवन मे जिसकी आदत पड गई है, वह उन जहररूप नशाओ मे अनत सुख मानता है। आदती वस्तु की प्राप्ति मे परम सुख और उसके विछुडने मे परम दुख मानता रहता हे, पर जिसकी नशे मे आदत नही पडी है उसको इसके बिना कोई कष्ट नही होता॥ ४४॥ इसी प्रकार स्त्री के शरीर को देखकर पुरुषो को और पुरुषो के शरीर को देखकर स्त्रियो को सुख प्रतीत होता है। फिर वे एक दूसरे मे मोह करके चर्म-मूत्रयुक्त मलिन-ठौर के स्पर्श मे आसक्त हो जाते है। उस आसक्ति के परिणाम मे खटका, लोलुपता, पराधीनता, परिश्रम के अतिरिक्त और कुछ हाथ नही आता। स्ववशता के बदले ससार भर की गुलामी हिस्से मे मिल जाती है। काम की चेष्टा पूर्ण करने के लिए युवती, युवक, राजा, प्रजा, देश, गाँव आदि सबके वश मे रहना पडता है। यदि उनकी बाते न माने तो विषय पदार्थो के मिलने मे विघ्न पडता है। इस हेतु वे जो कुछ कहे सो मानना पडता है। इस प्रकार मनुष्य कल्याण साधने योग्य तन, मन, धन, विद्या, बुद्धि आदि की हानि कर सबकी गुलामी खरीद उसी मे भ्रमता रहता है॥ ४५॥

लत दुखपूर्ण ह

दृष्टात—एक विचारशील मन्त नहर की पटरी-पटरी कहीं जा रहे थे। थोडी दूर पर एक मनुष्य जो कि हल जोत रहा था, हल छोड, मन्त के पाम आ, हाथ जोडकर दण्डवत प्रणाम किया तथा उनके आगे खडा हो गया। सन्त रुक गय। उमने कहा—हे श्रीमान सन्त! में वहुत घवरा रहा हूँ, मेरी तवियत मे शाति नही आती। मन्त वोले—क्यो? किसान ने कहा—में खनी तमाखू घर मे लाना भूल गया हूँ। घर यहाँ मे एक कोम पडता ह। अभी आगा हूँ। अव घर जाते भी नही वनता। हल जोतने मे चित्त नहीं लगता। मुख मे पानी छूटना ह। आपको मने देखा तो कुछ तमल्ली आई। सन्त वोले—भाई! म खनी तमाखू खाकर तुम्हारे ममान दुख के खदक मे पडूँ? "साखी—दॉत मड दुर्गन्धि मुख, किचकिच थूकत मात। दाम समय द गर्ज ले, योग वियोग दुखात॥" किसान वोला—क्या करूँ महाराज! आदत मानती नहीं हे। सत वोले—आदत क्या कही आममान मे थोडे गिरी ह, तुम्हारी ही तो वनाई हुई ह। जिस प्रकार तुम आदत वनाने मे समर्थ हो, उसी प्रकार छोडने मे भी, परन्तु तुमको आदत-रहित रहने का मुख ही नहीं मालूम। किमान—आदत रहित रहने मे कितना मुख ह? मत—कितना कहने से कम-विशेप की प्रतीति होती ह। आदत छोड देने से मुख ही मुख ह, अर्थात उसमे दुख का लेश नही! जव तुम तमाखू नहीं खाते थे, तो उमके मवधी तुम्हे कोई दुख नही था। मिले चाहे न मिले, विना खाये ही तुम उसकी तरफ से पूर्ण मतुष्ट थे। तुम्हारे मुख से पानी भी नहीं छूटता था। कहाँ तक कहे, तुम उसकी तरफ मे मुक्त थे। अव जो तुम उसके आदती वन गये, उमके विना तुम्हारी जान जा रही ह। फिर यह भी नहीं कि एक वार फाक कर जन्मभर छुट्टी मिल जाय। वह ज्यो-ज्यो फॉकि त्यों-त्यो वाढे। लत क्या! यह तो हेजा रोग हो गया। हजा मे पानी पीने से ही तृषा वढती ह। एक हजा-ग्रसित मनुष्य दूसरा हजा रोग रहित मनुष्य, दोनो मे जो फर्क ह, वही आदती आर गर-आदती दोनो में हिसाव लगा लो। तुम्हारी मर्जी हो छोडो या न छोडो, अव म जा रहा हूँ। ऐसा कहकर मत चल दिये। इस प्रकार तमाखू से चरस, गॉजा, अफीमादि की लते तो आर वडी कठिन होती हे। ऐसे ही मथुन विपय में भी समझिए। इम आमक्ति मे कोई दुर्दशा वाकी ही नही रहती, सो मव जगत मे जाहिर ही हे।

शिक्षा—अत हे जीव! जो तुम इम आसक्ति से अपना छुटकारा तथा उद्धार चाहो तो सर्व परीक्षक पारख गुरु से यही माँगो—

प्रार्थना

दीन दयाल दयानिधि स्वामी, ऐसी विनय हमारी हे।
रक्षक पाल शरण सुखधामी, उर मे वस अविकारी ह॥ टेक॥
सतन के सतसग मे जाऊँ, सत्यासत्य विवेक को लाऊँ।
शुद्ध स्वभाव से हृदय जुडाऊँ, दुर्गुण मवही टारी हे॥ १॥
भूल शिशुपन कुवुधि वुहारूँ, शम दम तोप दया को धारूँ।
जड अरु जीव भिन्न निरुवारूँ, धीर वीर पथ सारी ह॥ २॥
हानि लाभ जस देह के मानूँ, मन के वश मे सदा भुलानूँ।
तम परमारथ मे वलि ठानूँ, नित्य स्वरूप सँभारी हे॥ ३॥

सत्य स्वरूप के बाद जो पाऊँ, तेहि को जानि बिलग बिलगाऊँ।
सब दुख राशि मदान्ध हटाऊँ, गहि गुरु दृष्टि सकारी है॥ ४॥
विषय विलास बमन सब छोड़ूँ, सकल परीक्षक मे मन जोड़ूँ।
ससृति घट को तुरतं फोड़ूँ, पूरण काज सवाँरी हैं॥ ५॥

चित्त चहत जब मिलन को, अनमिल दुख तब होय।
जाय मिलत जब ताहि को, मिलि बिछुड़त फिरि सोय॥ ४६॥
यह दुख कबहूँ मिटत नहिं, करै जो कोटि उपाय।
मिलि मिलि अनमिल पुष्ट ह्वै, दु ख बहुत दरशाय॥ ४७॥

टीका—चित्त जब स्त्री स्पर्शादि विषयो को मिलना चाहता है तब कमी की प्रतीति होकर तुरन्त दुख होने लगता है। उसी अनमिल दुख को छुडाने के लिए जब मायादि विषय पदार्थो को प्रयत्न करके मिलता है तो वे विजाति व विघ्नरूप होने से फिर विछुड जाते हैं॥ ४६॥ यह मिलकर विछुड जाने का दुख असाध्य बीमारी के समान अमिट है, चाहे राज्य, धन, माया आदि प्रासि और उनके सयोग बने रहने का करोडो इन्तजाम करे तो भी समय आते ही वे सब छूट जावेगे। जैसे हैजा रोग में ज्यो-ज्यों पानी पीवे त्यों-त्यों तृषा अधिक बढने से पानी की अनमिलता ही पुष्ट होकर असह दुख मालूम होता है, वैसे विषय-पदार्थ जितना ही मिलता और भोगता हे, उतनी ही उसकी तृष्णा बढने से मिलने पर भी अनमिलता ही प्रतीत होती रहती है। अन्त में तो छूट ही जाता है, तब असह दुख होता है॥ ४७॥

मिलि मिलि अनमिल पुष्ट क्यों, मिले ते होवै चाह।
जौन बिषय जेहि मिलत नहिं, तेहि बिनु दुक्ख न लाह॥ ४८॥

टीका—विषय पदार्थो के बार-बार मिलने पर तो इच्छा पूर्ण हो जाना चाहिए, उनमे न मिलने का दुख क्यो पुष्ट होता है? उत्तर—पदार्थो के मिलने पर उनकी चाहना बन जाती हे, बस चाहना ही अनमिलता का स्वरूप है। देखो! जैसे कोई मद्य-मास खाया-पीया नही, तो उनके मिलने की चाहना नही सताती, न तो उनके बिना कोई अनमिलता का दुख ही प्रतीत होता है। फिर वे ही मद्य-मास खा-पी लेने से उनकी चाहना बन जाती हे। फिर तो चाहना पुष्ट होकर अनमिलता का दुख बना ही रहता है। वेसे ही सब विषयो के सेवन मे समझना चाहिए। जिस विषय को जिसने देखा, सुना, भोगा नहीं है, उसकी उसे इच्छा नही सताती ओर उसके न मिलने का कष्ट भी नहीं मिलता॥ ४८॥

अधिक मिलत जो जाहि को, तेहि बिन चैन न होय।
जो कबहूँ नहिं मिलत जेहि, तेहि बिन दु ख न कोय॥ ४९॥

टीका—जिसे जो वस्तु जितनी ही अधिक मिलती है, उसे उतना ही उसके बिना चैन नहीं पडता, क्योकि उमकी चाहना हरदम खटका करती है ओर जिसे जो वस्तु कभी नही मिलती या उसको जो नही भोगता तो उमके सस्कार एव चाहना न होने से उसके न मिलने की प्रतीति भी नही होती ओर न कोई तत्सम्बन्धी दुख ही होता है॥ ४९॥

दृष्टान्त—एक धनवान लालाजी मुखपूर्वक अपने कार्यो को चलाते रहे। कुछ दिन के

वाद उन्होने सगदोप से एक वेश्या का अपने यहाँ नाच-गायन करवाया। उसके हाव-भाव ओर योवन अवस्था देखकर सुख मान उसमे यारी करके कुछ काल अपने यहाँ उस ठहरा लिया। वहुत सज्जन उन्हे धिक्कार दे तो भी वे कुछ न सुने, दिन-रात उसी के हाव-भाव में प्रसन्न रहे। कुछ दिन बाद वेश्या अपने घर चली गई। तव तो लालाजी उसके विना वहुत ही व्याकुल होने लगे। यहाँ तक कि खाना-पीना भी छूट गया। फिर तो वे उसके मकान पर नित्य जाने लगे। तो भी आने-जाने के वीच का विछोह उनसे नही सहन हुआ। अत में अपनी सव सम्पति उसे देकर और जमीन-स्टेट भी उसी वेश्या के नाम लिखकर उसके साथ ही रहने लगे। जहाँ-जहाँ वह नाचने जाती वहाँ-वहाँ लालाजी भी जाते। कुछ दिन बाद उस वेश्या से लालाजी की इतनी आसक्ति वढ गई कि खाने-पीने में तो साथ ही रहा करते थे, वल्कि उसकी न इच्छा होते हुए एक मिनट भी साथ नहीं छोडते थे। इस कारण अन्त मे वेश्या ने दुखी होकर उसको जहर दे दिया। वे दुर्दशा सहित मात को प्राप्त हुए। इस प्रकार वेश्या का सग जव तक उन्होंने नहीं किया था तव तक उन्हें अनमिलता का दुख कहाँ होता था। ज्यों-ज्यो उससे मोह करते तथा मिलते गये त्यों-त्यों मिलते हुए भी अनमिलता का कष्ट वढता गया, यहाँ तक कि हृदय चीरकर अपने अन्दर उसे रखना चाहते थे। रात-दिन साथ करते हुए भी उसकी लालसा ही म मर मिटे। उन लालाजी को वेश्या की आसक्ति के पूर्व तत्सवधी दुख का कहाँ पता था। ऐसे ही सब विपयो का हाल समझिए। उनके मिलने ही मे न मिलने का कष्ट होता ह। इसलिए उनसे पहिले ही से अलग रहकर लत न वनाई जाय। जो-जो भूल आर कुसगदोप से लतें पड गई हो, उनको सत्पुरुषों का ससर्ग करके छोडना चाहिए।

पहिले दुख अनमिल परे, मिले ते अनमिल दून।
अनमिलता वढते चली, तव लगि है गइ शून॥ ५०॥

टीका—जिसकी लत पहिले मे पड गई ह, उसकी इच्छा उठते ही पहिले यही कष्ट होता ह कि हाय! इच्छित वस्तु तुरन्त मुझे नहीं मिली। फिर प्रयत्न से भोग-पदार्थ मिला भी तो उसकी तृष्णा विशेप पुष्ट होने से दुगुनी अनमिलता वढ गई। पहिले उसके विना सब दिन रह लेता था, अव तो एक क्षण भी रहना दुस्तर हो रहा ह। यह अनमिलता का प्रवाहरूप दुख विषय-सयोग करते-करते वढ गया। इतने मे या तो योपित, रूप, रस आदि पदार्थ ही भग हो गये या इन्द्रियों की शक्ति हत हो गई। किसी प्रकार वह मिलन छूटकर अनमिल का अनमिल ही बना रहता ह॥ ५०॥

अनमिल ज्यों का तेवहिं ह, मिलन चहत सव कोय।
जो कवहूँ नहिं मिलत जेहि, अनमिल ताहि न सोय॥ ५१॥

टीका—विपय-पदार्थ न मिलने के समान मिलने पर भी आर मिलकर विछुडने पर भी आदि, मध्य, अन्त तीनो समयो मे जीव स नहीं मिलते, फिर भी उसी दुर्विपय से सव जीव मिलना चाहते ह। विजाति विपयो मे मिलने की चाहना ही अनमिलता के दुख को प्रगट करती ह। जिसने किसी समय मे भी जिन विपय पदार्थो को देखा, सुना, भोगा नहीं है, उसे उनके न मिलते हुए भी मिलने की चाहना नहीं होती। चाहना के विना अनमिलता का दुख नही होता। इस प्रकार जिसके विना कोई दुख ही नही, तो सव कुछ मिला ही जानना

चाहिए॥ ५१ ॥

आदि अत अरु मध्य मे, अनमिलता दरशाय।
जीव अध सूझै नहीं, मिलन चहत तेहि धाय॥ ५२ ॥

टीका—आदि—जब चाहना होती है, अन्त—जब पदार्थ विछुडते है, मध्य—जब पदार्थ भोगे जाते है, इन तीनो काल में सुख चाहना ज्यों की त्यों रहने से विषयों से जीव का सम्बन्ध ही नहीं होता। जैसे काष्ठ, लोह या पत्थर का टुकडा चबाकर पेट भरने की कोई लालसा करे तो पत्थर दॉत से न टूटकर पेट मे न जा सकने से भूख बुझाना आशा ही मात्न है, वैसे अखण्ड जीव के भीतर ये विषय-परमाणु न घुसने से उनमे तृप्ति मानना आशा मात्न है, पर पारख विना जीव विवेक-वैराग्यरूप चक्षुहीन अधवत हो रहा है। इसे कुछ हानि-लाभ सूझता ही नही। न मिलने योग्य वस्तु ही से दौड-दौडकर मिलना चाहता है, जिससे निरन्तर इसे दुख ही भोगना पडता हे॥ ५२ ॥

जेहि की आदति जोन है, तहवॉ सुक्ख निवास।
ताहि छोडि कहुँ है नही, सुख का स्वत· प्रकाश॥ ५३ ॥

टीका—नशा, नाच, रगादि जिस विषय मे जिसकी आदत पड गई है उसकी चाहना पुष्ट होने से उसी मे उसको सुख मालूम होता हे, दूसरे मे नही। इससे आदती विषय को छोडकर सुख कोई स्वतत्न वस्तु नही है। पॉचो विषयो मे सुख हो तो अग्नि, जल तथा वायु के सरीखा वे सबको समानरूप से मुखदायी प्रतीत होते। ऐसा तो नहीं है। जो एक को सुखरूप है वही दूसरे को महा दुखरूप है। इससे भिन्न-भिन्न कल्पना निश्चय से भिन्न-भिन्न आदत पड जाने से भ्रम से सुख प्रतीत होता है[१]॥ ५३ ॥

दृष्टान्त—एक सत्सगी मनुष्य कहता था कि लडकपन मे मेरी राख फॉकने की आदत पड गई। मेरी माता खाने नही देती। जब मे अच्छी कडी की राख देखता तो मेरी जबान तडफडाने लगती। इसलिए अम्मा से छिपा राख बॉधकर अपने सिरहाने धर लेता था। उस समय मे दस साल का था। पिता के पास सोता था। माता कभी-कभी ताडती भी थी। एक दिन मे सॉझ को राख मुह मे भरे हुए था, इतने मे माता आकर मुझसे कुछ पूछने लगी, मै कुछ कह न सका। माता झट जान गई कि यह राख फॉके है, बस क्या था, लगी पीटने। पुन मेरे बिछौने को उलट कर देखी तो एक बडी पोटली राख की बॅधी हुई मिली। उसे उसने फेक दिया।

---

१ दृष्टात—एक बुड्ढी सत्सग मे आया करती थी। नेत्नो से लाचार होने से एक पडोसी के छोटे लडके को साथ बुला लेती थी। एक दिन छोटे लडके ने कहा—मैं न जाऊँगा। बुड्ढी बोली—चलो, तुम्हे अच्छी-अच्छी मिठाइयो की प्रसादी खिलाऊँगी। लडका बोला—मे मिठाई नही खाता। बुड्ढी वोली—चलो, तुम्हे नीक-नीक गीत सुनाऊँगी। उससे भी वह राजी न हुआ। तब बुड्ढी बोली—तुझे तरह-तरह के तमाशे दिखाऊँगी। वह किसी बात से खुश न हुआ। तव बुड्ढी बोली—अच्छा, बच्चा। चलो, तुम्हे कुम्हार के यहॉ से मिटटी के हाथी, घोडे, भुरके ले दूँगी। बस लडके को मानो राज्य मिल गया। वह खुशी से बुड्ढी की डण्डी को पकडकर सत्सग मे पहुँचा दिया। इससे सिद्ध हुआ कि जिसकी जिसमे भ्रम से सुख निश्चयता हो जावे उसी मे सुख मानता है।

मैंने माता के भय से राख खाना तो छोड दिया पर उसकी जगह मे चिकनी मिट्टी खाने लगा। उसमे भी जव आपत्ति आई, तव उसकी जगह ठिकरा खाने लगा। इसमे जव लोग रोकने लगे तो में उसे छिप-छिप के खाने लगा। सोलहवें साल जव में लखनऊ गया तो वहाँ अच्छा कोरा खपडा मिले नहीं, तो मै जिसके यहाँ था उसके यहाँ नई चिलम लाई गई थी, उसी को फोडकर चोरी से चवाना शुरू कर दिया। घर के मालिक ने यह वात जानकर डण्डो से मेरी पूजा की। उस दिन मने वहुत दुख पाया और खपडा न मिलने से कुछ मन मे घृणा हुई, फिर मैं वहुत कठिनता से उस लत से छूट पाया।

इससे स्पष्ट हो गया कि आदतो के अलावा सुख कुछ नहीं ह। सव आदत अपनी वनाई हुई है, चाहे इस जन्म की हो या असख्य जन्मो की। जो-जो आदती-सुख वनाया हुआ हे वह आदत-रहित मुख के समान नही हो सकता। आदत-रहित मुख सोलह आना है तो आदती सुख ६४ पेसा में एक पैसा, एक पेसा मे ६४ कोडी, ६४ कोडी में एक कौडी, एक कौडी की आधी कौडी, रत्ती भर भी नही हे, मात्र दुख का परिवर्तन हे। आदती सुख सदंव हानि, कमी, अपूर्णरूप है। इच्छा होकर चंचलता होना उसमे अधिकाधिक व्याधि ह। वार-वार उसका चिंतन होता हे, क्षणमात्र भी स्थिरता नहीं होती। देखते-जानते हुए भी वरवम पतिगावत हवन होना पडता है। पुन जव लत को छोडने की इच्छा होती हे तव रात-दिन मजगता धारण करके सत्सग आदि विशेष साधनपूर्वक रहने से कहीं आदत छूटती है। किमी ने शिक्षक से प्रश्न किया कि मनुष्य को एक न एक आदत लेना ही पडता हे। शिक्षक ने कहा—मव लत एक समान नही होते। एक चोरी-व्यभिचार की लत ह, जिमका परिणाम जेल, सजा, अपमान, तृष्णा आदि हे। दूमरा सत्य, व्रह्मचर्य, मत्सग मे प्रेम, इमका परिणाम मव दुख-द्वन्द्वों की निवृत्ति हे, इसी प्रकार आप जान ले कि विषयासक्ति वढाने वाले जितने पापरूप कार्य हें, उनमे जो ममता-आसक्ति ह, वही खोटी आदत ह। उस आदत को छोडकर निराधार न रह सके तो मत्पुरुपो का सत्सग, मत्य-शव्दा का मनन, क्षमा, शीलादि का ग्रहण, पुण्यमार्ग आचरण इत्यादि मर्व शुद्ध गुणो मे प्रेम करके स्वस्वरूपस्थ होकर जीवन व्यतीत करिए, वस आप मुक्त रूप ही हे। अत मे सकाम वृत्तियो को जलाकर फिर द्रष्टास्वरूप तो निराधार ही हे।

मन के इन्द्री रूप नहिं, मन के नहीं स्वभाव।
यह अनमिलता मिटत नहिं, करे जो कोटि उपाव॥ ५४॥

टीका—मन जसा चाहता हे वसे रूप, इन्द्रिय, स्वभाव अपने और समीपियो के नहीं हो सकते, यह मन की प्रतिकूलता अमिट ह। इसके लिए करोडो युक्ति करे तो भी मन की कमी न मिटेगी। मन के अनुसार सुन्दरता, मन के अनुमार इन्द्रियाँ, मन के अनुसार स्वभाव नहीं मिल सकते। उदाहरण के लिए जंसे एक स्त्री-प्राप्ति में वडी लालसा ह, किसी प्रकार वह प्राप्त हुई तो भी दुख-रहित सुख नही मिल मकता। मन के अनुसार वह क्या कोई भी पदार्थ नहीं हो सकता। यदि वह मुन्दरी हे तो किसी इन्द्रियो मे विगाड या रोग हे, जो सर्वांग सम्पन्न हे तो उसका स्वभाव लडाका ह या आलसी हे या व्यभिचारिणी हे। यदि उमके आचरण-स्वभाव अच्छे ह तो रोगिन-कुरूपा हे। इस प्रकार अनमिलता की जलन मिट ही नहीं सकती। ऐमे ही सभी पदार्थो मे ममझिए। चाहे यत्न, मत्न, तत्न, राज्य, धन, शासन, विद्या आदि से सेकडों युक्ति क्यो न करे, मन की कमी नही मिट मकती, हर एक मे कमी लगी रहती है॥ ५४॥

भ्रम अध्यास अनादि का, गर्ज मानि करि मेल।
मेल होत अनमिल रहे, सहत दुसह दुख जेल॥ ५५॥

टीका—अपने स्वरूप की सत्यता को जड विषयो मे प्रतीत करते हुए पच विषयो के अध्यास वश अनादि काल से जीव देह धरते-छोडते चले आये है। उसी हेतु देहयुक्त पदार्थो और मनुष्यो से दुख पाते हुए भी उन्ही से अपना दृढस्वार्थ मानते है। जिनसे सम्बन्ध है वे सब मन के प्रतिकूल होने से उनके बीच रहने की इच्छा तो नही होती, परन्तु विषयाध्यासरूप गर्ज से मेल रखना ही पडता है। अथवा प्रारब्ध देह के कारण से सम्बन्ध लेना होता है। राजा से प्रजा, प्रजा से राजा, कष्टित होते हुए भी गर्ज के वश वे आपस में मेल रखते है। किसी के विरोधी स्वभाव वश घर मे हमेशा लडाई, डाह, ईर्ष्या हुआ करती है, तो भी सम्बन्ध मे रहना पडता है। सम्बन्ध में न रहे तो जो कार्य करना चाहते है वह कैसे बने। जीव देहरूप जेलखाने मे पडकर विषयासक्ति वश मिल-अनमिल का हर समय असह दुख सहता रहता है॥ ५५॥

दृष्टात—एक राजा ने अपनी लडकी के स्वयम्बर मे देश-विदेश के राजकुमारो को बुलाया। राजकुमारो के आने पर सम्मान करने के पश्चात यथायोग्य बैठाकर अपनी लडकी को जयमाला देकर राजा ने कहा—प्रिय पुत्री! तू इन राजकुमारो को देख करके किसी भी मनभावन कुमार के गले मे जयमाला पहिना देना। वही तेरा पति देवता होगा। सखियों सहित रूपगर्विता पुत्री हाथ मे जयमाला लेकर राजकुमारो की भरी सभा मे प्रविष्ट हुई। एक-एक को देखते हुए किसी के गले में जयमाला न पहिनाकर वैसे ही लौट आई। तब उसके पिता-माता बोले—पुत्री! इन सैकडो राजकुमारो मे से क्या कोई भी तुझे पसद नहीं है? बहुत पूछने पर लडकी ठहर कर बोली—नही। पिता ने पूछा—क्यो? पुत्री—जेसा मेरा मन चाहता है वैसा कोई भी नही है।

चौ०—*कोइ लम्बा कोइ नाटा मोटा। कोइ पतला कोइ साँवल खोटा॥*
नेत्र बडे केहु नेत्र हैं छोटे। दाँत बडे केहु अगन टोटे॥
कहँ तक कहौ सकल मे कुछ-कुछ। कमी देखि अगन मे कुछ कुछ॥

पिता बोला—री पुत्री! इस प्रकार ढूँढेगी तो तुझे कोई भी कुमार मिल नही सकता। तुझे किसी न किसी के आधार में रहना ही पडेगा। अतएव तू किसी राजकुमार को चुन ले। अगर मन का कहा करेगी तो तुझे कष्ट होगा। लडकी न तो कुछ बोली और न डिगी। सब राजकुमार चले गये। फिर पिता ने क्षमा करके साधारण कोटि के धनियो के लडके बुलाये। स्वयम्बर रचकर लडकी को जयमाला दे समझाकर योग्य वर चुनने को कहा। पुत्री जयमाला लेकर घूमने लगी। विशेष पिता के भय से कुछ मनभावन एक युवक के गले मे माला पहिना आई। पिता ने उसी के साथ उसका विवाह कर दिया। वह उसे घर को लेकर चला गया। दोनो के स्वभाव में वडी प्रतिकूलता थी। स्त्री भी मिजाजदार और पुरुष भी गुस्से वाला था। रोज-रोज झगडा द्वन्द्व होने लगा। राजकुमारी ने अपने पिता को सदेश भेजा। पिता ने सब हाल जानकर लिख भेजा, मै क्या करूँ, मेरे यत्न करने पर भी जैसा तेरा प्रारब्ध था वैसा तेरा सम्बन्ध हुआ। अब तू अपनी तरफ से गम खाकर सतोष-सहन से रह। निदान लडकी को मन मारकर रहना ही पडा। इस प्रकार मन का न होने का दुख हर बात मे लगा ही रहता है।

यह ही हृदयँ विचारि कै, मिले ते होवो शून।
दुख सकलौ मिटि जाय तव, ओर न मन मे गून॥ ५६॥

टीका—पहिले कहे दुखो को विचार कर विषय पदार्थ के मिलने से शून अर्थात अन्तर-बाहर पृथक हो जाना चाहिए। जव भीतर से विषय सम्वन्धी कामना का नाश हो जाय और बाहर कुसग त्याग दिया जाय तव मिलने न मिलने सम्वन्धी सव कष्ट छूट जायँ। बस यही विचार दृढ़ करे और विषय-प्राप्ति-जनित सुखादि भ्रम को मन मे नहीं गुने, क्योकि उन भोगो को वार-वार जान, समझ, देख लेने पर भी किसी भाँति विवेक से सुख निश्चय नहीं हुआ॥ ५६॥

काज अकाज निर्णय किये, करौ विचार सुजान।
काज निर्विषय काज हे, और अकाज वखान॥ ५७॥

टीका—जिससे जीव का कल्याण हो, ऐसे करने योग्य आचरण को काज जानिए और जिससे जीव का वन्धन पुष्ट हो, ऐसे असद् आचरण को अकाज जानिए। दोनो का विचार से निर्णय करके सज्जनो को हित का काम करना चाहिए। विषय सम्वन्ध ही के कारण सव क्लेश तथा वन्धन होते ह, इसलिए जीव का मुख्य काम विषय-रहित होना ही हे। उसी को साधन, सत्सग, भक्ति, विवेक, वराग्य-द्वारा क्रमशः प्राप्त करना चाहिए। इसके अलावा विषयादि की प्राप्ति का परिश्रम अकाजरूप ही ह, उसे त्याग करना चाहिए॥ ५७॥

प्रसंग १०—भोगो मे प्रवृत्ति का दुख और उनकी निवृत्ति का सुख

विषय सुक्ख मे दु ख हे, अविषय सुख दुख दूरि।
आशा तृष्णा विघ्न नहिं, अभय साँच सुख पूरि॥ ५८॥

टीका—जितना पाँचो विषयो का सुख प्रतीत होता हे, वह सव दुखरूप और जीव के प्रतिकूल हे, इसलिए विषयो को त्याग कर निर्विषय रहना ही सुखरूप ह, क्योकि त्यागवृत्ति से विषय की चाहना रूप खटका दूर हो जाता हे। निर्विषय होने मे न आशा हैं, न तृष्णा हे और न विघ्न ह, वल्कि निर्भयता का सच्चा और पूर्ण सुख हे, यथा—

दोहा—*विन पाये घट्टी दिखी, पाये घट्टी दून।*
घटी घटी नित ही रही, दुख सतोष विहून॥
सव पायो पायो कहा, अन्तर चाह वढाय।
विन पायो पाया सवे, जो चित चाह नशाय॥ ५८॥

नैराश्य रहने वाला ही पूर्ण निर्भय तथा सुखी हे

दृष्टात—एक वार एक वादशाह ने सन्त से पूछा कि आप कोन ह? उन्होने कहा—में शाहों का पति शाहशाह हूँ। वादशाह ने पूछा—आपके पास फोज, खजाना, सेवक, रानी आदि शाहशाह की सामग्री में कुछ नहीं देखता। सत वोले—रोग के लिए सव दवा की जाती ह, रोग न हो तो दवा करने का क्या काम? मेरा कोई शत्रु ही नही हे तो में किस भय से फोज रक्खूँ? दूसरी वात-मुझे भोग सुख नहीं लेना हे, जो खजाना की आवश्यकता पडे। तीसरी वात-में

स्वय अपने शरीर का काम कर लेता हूँ, मै कोई आरामी-अहदी नहीं हूँ जो दास-दासियाँ रखना पडे। चौथी बात-मुझे अन्तर्वृत्ति कामनाएँ शात करने का वह अखण्ड सुख अनुभव हुआ है, जिस स्वतत्र स्वछन्द सुख के आगे भूलकर भी मै मलिन स्त्री मे सुख नहीं कल्पता। जब बिना भोगे ही विवेक और साधन से हमारी इच्छा शात है, तो मुझे रानी दिवानी की क्या आवश्यकता, जो कि सब आपत्तियो का मूल है। यह सुनकर बादशाह चकित हो गया। सच कहा है—"चक्रवर्ती कौन? इन्द्री-मन जीते तौन।" दोहा—"चाह गयी चिन्ता मिटी, मनुवॉ बे परवाह। जिनको कछु न चाहिए, सो शाहनपति शाह॥"(साखी ग्रथ)

शिक्षा—जगत सुखो को निःसार दुःखमय जानकर उनकी तृष्णा से रहित अभय हो जाना चाहिए।

भोगत ख्वाहिश बढत है, छोड़त बे परवाह।
त्यागत थोरा कष्ट है, भोगत होय अथाह॥ ५९॥

टीका—सबको अनुभव है कि भोगने से कामना बढ जाती है। एक तो उतने भोग भोगे नहीं जा सकते जितनी कल्पना उठती है। मन भर चलने की इन्द्रियो मे शक्ति ही नहीं है, परिणामी होने से कही न कहीं इन्द्रियॉ रुकेगी अवश्य, सो दुख। दूसरे, मन भर जाय उतने भोग पदार्थ ही नहीं प्राप्त हो सकते है, क्योंकि सम्पूर्ण भोग के चहीता सब प्राणी है, इसलिए पदार्थ मन के आगे बिलकुल थोडे ही हैं। फिर भी सबकी खैचा-खैची में होने से भोगो मे झगडा-द्वन्द्व सब ही भरे हैं सो पदार्थ कमी का दुख। तीसरे, जिन जड-चेतन के आधार मे भोग है वे सब अपने काबू मे नहीं, सो प्रतिकूलता का दुख। चौथे, मन के अनुकूल भोग नही होते, उनमे एक न एक त्रुटि लगी ही रहती है। इस प्रकार विघ्नरूप भोगो को भोगने से कामनाये बढती ही जाती हैं सो कामना सम्बन्धी पूर्वोक्त सब प्रकार के दुख-द्वन्द्व कब तक और कितने समय तक भोगने पडेगे, उनकी थाह नहीं। भूल सम्बन्ध से कामना, कामना से भोग, भोग और कामना मिलकर लोभ, मोह, मद बढकर स्ववशता रहित दुखरूप जाल मे पडा रहेगा। भोग भोगने से दुख का प्रवाह सदा के लिए चालू रहेगा, यही "भोगत होय अथाह" का भाव है। भोगो की कामना छोड देने पर पूर्व कहे सब कष्ट निर्मूल हो जाते है। इसलिए 'त्यागत थोरा कष्ट है' जब थोडा ही कष्ट सह लेने से अनन्त कष्टो की निवृत्ति हो रही है तो हम लोग विषयासक्ति त्यागने की कोशिश क्यों नही करते। अवश्य करना चाहिए॥ ५९॥

शिक्षा-दोहा—*अनादिकाल के जगत मे, रहत न ऊब्यो धीर।*
अब सद्गुरु के ऐन मे, क्यो ऊबत हो वीर॥
मुझ ही ऐसे सत जन, करि पुरुषारथ मुक्त।
नो हम क्यो नहि मुक्त हो, यह विचार करु युक्त॥
जानत नहि सो जानिया, मानत नहि सो मान।
यदि गुरुमग मे जुट रहे, क्यो नहि भव दुख हान॥

परै कामना जाल में, तड़फडाय गहि लेय।
शक्ति हीन साधन बिना, चाह कठिन दुख देय॥ ६०॥

टीका—जिसमे गिरने मे अपना वश न चले वह जाल ह। तो विषय कामनारूप जाल मे पड कर यह जीव तडफडा आर घवडाकर चाह पूर्ति के लिए उन्हीं भोग पदार्थो को ग्रहण करता ह जिनमे दुखो की वृद्धि होती ह। सव दुख महते आर देखते हुए भी कामना पुराती करने की आदत मे वोध, साधनशक्ति रहित अन्य कहीं आधार न देखकर दुख जानते हुए भी दुखरूप भोगो को फिर पकड लेता ह। जेमे जल मे डूवता हुआ मनुष्य घवराकर धारा के माथ वह जावे, तद्वत जीव अमर होने के कारण कामना-प्रवाह मे निरन्तर दुख महा ही करता ह। पारख-माधन विना चाहना असह्य दुख देती रहती हे। अतएव असह्य दुख मे वचना हो तो अभिमान छोड कर गुरुपद को प्राप्त करो॥ ६०॥

शिक्षा-गजल

चेत करो चेत करो चेत करो जी। गुरुजी की सगत से चेत करो जी॥ टेक॥
माया को जोड जोड फूल रहे हो। अतिम मे छोड छोड भूल रहे हो॥
माया की मस्ती को त्याग करो जी॥ १॥

छिन भर की चाँदनी अँधेरी हे रात। काम क्रोध लोभ मोह डाकू भेटात॥
लूटि फाँसि लेवे सम्हार करो जी॥ २॥

वुद्धी विनाशकारी मद्य मास छोड। चोरी व्यभिचारी से मुख को मोड॥
चाहो जो सुख तो रहम करो जी॥ ३॥

शील क्षमा ज्ञान ध्यान भक्ती को धार। प्रेमदास भवनिधि से जल्दी हो पार॥
जय गुरु विशाल नाम जाप करो जी॥ ४॥

प्रसग ११—विषयों के त्याग-ग्रहण में मनुष्य जीवो की स्वतन्त्रता

हाथ पॉव मुख लिग जो, गुदा त्याग मल काम।
प्रेरक आप मो ताहिको, होत क्रिया निशि याम॥ ६१॥

टीका—हाथ, पाँव, मुख, लिंग, गुदा ये पाच कर्म इन्द्रियो के नाम ह। गुदा मे मल त्याग होता ह, हाथ मे त्वचा खुजलाना, लेना-देना आदि, पाँवो मे चलना-फिरना आदि, मुख से वोलना आर लिंग से लघुशका त्याग यह पाँचो की क्रिया ह आर इनका प्रेरक आप चेतन खुद हे, जिमकी मत्ता मे ही रात-दिन इम जड शरीर मे सव प्रकार की क्रियाएँ होती रहती हैं॥ ६१॥

ह सव साधन कर्म के, करत क्रिया पग पानि।
लाभ न जानत जीव जव, रोकि देत लखि हानि॥ ६२॥

टीका—पूर्वोक्त इन्द्रियॉ कर्म करने के माधन ह, पग मे चलना आर हाथो से लेन-देन आदि क्रियाएँ होती ह, पर ये इन्द्रियाँ स्वभाव मे स्वय क्रिया नहीं करतीं, क्योंकि पेरक जीव जव किसी जगह जाने में सुख-लाभ नहीं देखता तव उमसे हानि देखकर अपने पग को उधर जाने मे रोक देता ह तथा जिमकी तरफ मे हानि समझ लेता ह उमे हाथ से छूता भी नहीं है॥ ६२॥

वाक्य त्याग कोइ मौन गहि, अल्प अशन जल लेत।
अर्पण करि कोइ देह को, प्राप्ति करत मन हेत॥ ६३॥

टीका—मुख से बोलने की क्रिया होती है, तो जिन्हे बोलने मे हानि निश्चय हो गई वे समय-असमय देखकर मुख से शब्द नही निकालते और जिन्हे वाक्य निग्रहरूप तप साधन समझ मे आ गया वे वाक्य बोलना पूर्णतया त्यागकर मौनव्रत धारण कर लेते है। जिनको अधिक जल और भोजन मे लाभ नहीं निश्चय है, वे अधिक भोजन और जल त्यागकर थोडी माला मे ग्रहण करने लगते है। कोई तो जल-अन्न भी त्यागकर यहाँ तक कि दस इन्द्रियो के समूहरूप शरीर तक भी अर्पण कर देते है। जिस लाभ को प्रेरक ने निश्चय किया है, वह लाभ यदि शरीर अर्पण[१] करके सिद्ध होना निश्चय हो जाय तो शरीर देकर भी मन के निश्चय को प्राप्त करता है॥ ६३॥

त्याग करत जो शब्द को, बोलि सकत नहिं सोय।
इन्द्रिन शक्ति स्वतन्त्र कहँ, समुझि सकत सब कोय॥ ६४॥

टीका—जो हानि ममझकर शब्द बोलना त्याग कर देते है तो फिर बोल नही सकते, मौनवृत्ति धारण कर लेते है। वैसे ही हाथ-पॉव आदि सबके बारे में समझा जाय। इस प्रकार इन्द्रियो के समूहरूप जड स्थूल मे स्वतन्त्र शक्ति नही है, यह बात प्रत्यक्ष होने से सब समझ सकते है॥ ६४॥

मलहु मूत्र साधन कछुक, जहाँ अरोग्य शरीर।
योग साधना जो करै, सो गहि लेत समीर॥ ६५॥

टीका—जिनका रोग रहित शरीर होता है वे मल-मूत्र के वेग को भी कुछ देर रोक सकते है और योग साधने वाले प्राणवायु को कुछ देर तक रोक लेते है। भाव यह है कि जो खाना, पीना, सोना-जागना, दिशा-लघुशका और श्वासादि का लेना खास शरीर का आधार प्रारब्ध-वेग है उसे भी जब मनुष्य कुछ रोक देते है, तो पच विषयो में जो सुखाध्यास भासमात्र है उसका त्याग क्यो नही कर सकते। अवश्य कर सकते हैं॥ ६५॥

त्यागत वाक्य समूल से, अशनहुँ त्याग लखाय।
हाथ गहत नहि दु ख लखि, पॉव अचल ह्वै जाय॥ ६६॥

---

१ **उदाहरण**—यतीन्द्रनाथ एक देश-सेवक थे। उनका कर्तव्य अग्रेज गवर्नमेट के विरुद्ध होने से गवर्नमेट ने यतीन्द्रनाथ को जेल मे डाल दिया। तव उन्होने यह प्रण कर लिया कि स्वराज्य लिये विना मैं अन्न-जल आदि कुछ भी ग्रहण नही करूँगा। आजादी या मौत, इस ध्येय से उन्होने अन्न, जलादि छोड दिये। प्रधान कार्यकर्ताओ ने उनको अन्न, जल खिलाने-पिलाने की बहुत कोशिश की, परन्तु उन्होने आजादी या मोत का जाप या सूत्र वना लिया। अन्त मे जवर्दस्ती वे लोग उनके मुख मे दूध डालने लगे परन्तु वे ग्रहण के वदले दूध को भी उलटते ही गये। जव जल नही ग्रहण किये तो दूध कैसे पीते। जहाँ तक उनके प्राण मे प्राण रहा वहाँ तक उन्होने आजादी या मोत कहते-कहते शरीर त्याग दिया। इस प्रकार जीव अपने ध्येय की पूर्ति के लिये शरीर को भी त्याग देता ह।

टीका—कोई तो वचन को भली प्रकार त्याग देते हे, कोई भोजन मे भी कम-ज्यादा कर देते हें, यहॉ तक कि सर्वथा त्याग भी देते ह। जिसने जिस वस्तु मे दुख जाना है वह उस वस्तु को गहता ही नहीं और जिसको जिधर जाने से हानि या दुख जानने मे आ गया वह उधर मे शीघ्र ही पॉव रोक लेता हे॥ ६६॥

देखन रूप न जायॅ कहुँ, शव्द सुनन नहिं चाय।
सनमुख वर्तत माहिं जो, देखत दु ख सदाय॥ ६७॥

टीका—विवेकवान तो दुख जानकर नेत्रो से नाचरग आदि सोंदर्य किसी ठौर देखने नहीं जाते और वधनरूप शृगार-रस से उपराम पुरुप प्रापचिक शव्दादि सुनने को कोन कहे उनकी इच्छा भी नहीं करते ओर शरीर प्रारव्ध की विवशता से प्रतिकूल शव्द, नाच, गान या रूप सामने पडते हुए भी उन्हे सदा दुखरूप समझते ह॥ ६७॥

सुगध त्याग वहु सहज मे, दुर्गधहु लखत अकाम।
स्वतंत्र शक्ति चेतन्य मे, समझ विना नहि काम॥ ६८॥

टीका—शरीर के निर्वाह मे खास आवश्यकता न होने से दुखरूप जानकर सुगध की आसक्ति महज ही मे छूट जाती ह। दुर्गन्ध तो हानिकारी व प्रतिकूल जानकर उसे सव हटाते ही ह। इस प्रकार विपय आसक्ति से अलग होने की स्वतन्त्र शक्ति चैतन्य मे है, क्योकि चैतन्य मे जड सरीखे स्वभाव से क्रिया नही होती। चेतन्य मे तो ममझ, सुख-निश्चय ओर मानन्दी के विना कोई चाल ही नहीं होती। जैसे हिन्दू को इस्लाम मजहव मे मुख-निश्चय तथा मुसलमान को हिन्दू धर्म मे सुख-निश्चय नहीं हे तो वे एक-दूसरे की क्रिया को कभी नहीं कर सकते॥ ६८॥

चेतन्य निश्चय के आधीन ही क्रिया करता है

दृष्टात—मरहिंद के मुगल फोजदार वजीर खा ने गुरुगोविंद सिंह के दो नावालिग पुत्रो को पकड कर जेल मे डाल दिया और उनसे कहा कि तुम दोनो मुमलमानी मजहव अगीकार करो। वे दोनों धर्मवीर वोले—

गजल

मरना तो एक वार हे क्यो धर्म से टरें।
धमकी चह जो दीजिये दिल पै न रग करें॥ टेक॥
शरीर को जु काटियें अग्नी मे डालियें।
जल म डुवाइये भले छिन-भग क्यो डरें॥ १॥
यावन व लक्ष्मी प्रिये नारी व सुत सगे।
वादल से वन के नाशते क्यो मोह को धरें॥ २॥
नरतन को पाके धर्म ही इक सार सत्य ह।
मलेक्ष मत न लेयॅग फॉसी पे जा चरें॥ ३॥
मत्प्रतिज्ञ जीवता हे आर सव मरे।
निश्चय टल न धर्म से वलिदान कर अरे॥ ४॥

इतनी बात सुनकर वजीर खा क्रोधमूर्ति हो गया। तुरन्त उन दोनो को दीवार मे चुनवाने की आज्ञा दी। दोनो सीधे खडे कर दिये गये। इधर-उधर से दीवार चुनी जाने लगी, क्रमश कटि, छाती, कठ, दाढी तक जब दीवार आ गई वहॉ तक वजीर खॉ ने कहा—ऐ हठी बालको! जो अभी मेरा मजहब मजूर कर लो तो छोड देवे। लडको ने कहा—अब क्या बार-बार कह रहे हो! सिह भूखो मरते हुए भी तृण नहीं चर सकते, सत्प्रतिज्ञ पुरुष कभी सत्य से नही डिगता। इतना सुनते ही अधर्मी लज्जित हो गया और क्रोध वश होकर उसने लडको को दीवार में चुनवा दिया। धन्य है उन पुरुषों को! जो प्राण जाने पर भी विचलित नही होते। इससे स्पष्ट हो गया कि निश्चय पूर्ति के लिए प्यारे से प्यारे स्त्री, पुत्र, धन आदि छोड दिये जाते है। यहॉ तक कि जीव प्राण भी खुशी से दे देता है। देह सुख के लिए बाहरी पदार्थ त्याग-ग्रहण करता है, मन-सुख के लिये देह का भी विसर्जन कर देता है और जीव के उद्धार निमित्त मन-मानन्दियो को छोड देता है। इस प्रकार पृथक वस्तु रहे बिना वस्तुओ का त्याग-ग्रहण नही बन सकता। चैतन्य रहे बिना जानना-मानना नहीं बन सकता। इसलिए चैतन्य स्वतन्त्र नित्य सत्य है। यही अपने आप है, जो कि जड देह मे भूलकर जैसा निश्चय करता है वैसा ही जड इन्द्रियो मे प्रेरणा करके कार्य करता है। निश्चय बिना कोई कार्य देहधारियो मे नही होता।

सिद्धान्त—जीव बन्धन के त्याग-ग्रहण करने मे पूर्ण स्वतन्त्र है। अत बन्धन त्याग कर थीर होना चाहिए।

स्वाद बिषय को त्याग जेहि, मन अनकूल न खाद्य।
जस बिबेक से लखि परै, तैसे ग्रहण अस्वाद्य॥ ६९॥

टीका—स्वाद विषय मे जिनको दुख निश्चय होकर साधन से उसका दृढ त्याग हो गया हे, वे शरीर-निर्वाह के लिए खाते है, मन की स्वादपूर्ति के लिए नही। वे तो विवेक से शरीर की स्थिति के लिए योग्य-अयोग्य विचार करके जैसा तौल मे आता है वैसा आसक्ति रहित योग्य वस्तु व प्रसाद ग्रहण करते है॥ ६९॥

त्वचा बिषय स्पर्श तस, दुख लखि होवै त्याग।
जब तक सुख निश्चय रहे, तब तक होय न त्याग॥ ७०॥

टीका—पूर्वोक्त प्रमाण द्वारा सब विषयो के समान ही त्वचा का विषय स्पर्श भी है। स्पर्श से जो आनन्द का भ्रम होता हे, सो मैथुन कर्म। वह भी दुखरूप जानकर त्याग हो जाता है परन्तु जब तक सुख निश्चय रहता है तब तक उसका त्याग नहीं होता॥ ७०॥

त्वचा बिषय स्पर्श है, सुखहि मानि तब होय।
पूरण दुख जब लखि परै, क्रिया होत नहिं सोय॥ ७१॥

टीका—चमडी का ही विषय स्पर्श अर्थात मैथुन है। वह क्रिया सुख मानकर ही होती हे। जब मैथुन मे पूर्णरूप से दुख निश्चय हो जाता है तब उसकी क्रिया कभी नही हो सकती॥ ७१॥

अशन त्याग मे हानि तन, सपरश त्याग न हान।
समझ फेर दुख सुक्ख को, गहत तजत तस जान॥ ७२॥

टीका—भोजनादि खाने योग्य कोई वस्तु खाये विना किसी के शरीर की स्थिति नही रहती, सो देखा ही जाता हे ओर कामभाव वाले स्पर्श के विना शरीर ही छूट जाय ऐसा नहीं ह, अतः दोनो मे अत्यन्त भेद हे। एक आवश्यक हे तो दूसरा अनावश्यक हे। भूख-प्यास की मुख्य क्रिया प्रारब्ध से हे, उसके निर्वाहार्थ विचारवान यथार्थ आपधिवत विवेक से अन्नादि ग्रहण करते ह ओर मेथुन कर्म त्वचा की आभ्यासिक मानसिक चेष्टा होने से मन की क्रिया ह, उसके त्याग देने से शरीर की हानि नहीं, वल्कि वीर्यरक्षा से शरीर आरोग्य होकर स्वार्थ-परमार्थ मे सहायक होता ह। ब्रह्मचर्य ही स्वार्थ-परमार्थ मे साधक हे। इतने पर भी समझ मे उलट-पलट होने मे जो कोई स्पर्श मे सुख भास कर लिये ह वे दुख पाते हुए भी उसे ग्रहण करते ह आर जो कोई उसे ठीक-ठीक पारख करके दुख ओर पूर्णवंधन जान लिये हैं वे त्याग देते ह॥ ७२॥

उतपति मनसिज मनहि से, होत जगत व्यवहार।
सुखाध्यास मन नाशि जव, तव न होय ससार॥ ७३॥

टीका—मन से उत्पन्न हुए कामविपय की जड स्वरूपभूल तथा विपयों में सुखाभास ह, जिससे सृष्टि उत्पन्नादि जगत-व्यवहार चल रहा हे। जव मुख्य स्पर्श विपय सहित पाँचों विपयो के सुखों मे दुख निश्चय होकर सुखाध्यासरूप मन का नाश कर दिया जाता ह तव जन्म-मरण का चक्र वन्द हो जाता ह। इसलिये ससार का कारण सुखाध्यासरूप मथुन क्रिया हे। जिसे जन्म-मरणरूप ससार से छूटना हो, वह यत्न सहित मन, वाणी तथा कर्म से मेथुन क्रिया का परित्याग करे॥ ७३॥

वजन भार मल मूत्र जस, तस न काम दिखलाय।
होय मानसिक भार यह, दुख लखि जात हेराय॥ ७४॥

टीका—जसे मल-मूत्र वजन रूप रहता हे, वसे काम विपय जानने मे नहीं आता। यह तो मानसिक चेष्टा से ही उत्पन्न होता ह। यदि उसमे सुखचेष्टा की जगह पूर्ण सर्प-वीछीवत दोप-दुख दृढ कर लिया जावे तो स्पर्श की कामना का नाश हो जाता हे। यह सवको अनुभव ह कि वहुत से यती, सती आर ब्रह्मचारी सयम से मन को निर्विपय कर लेते ह, ऐसा सुना आर प्रत्यक्ष देखा भी जाता ह तथा स्वय अनुभव भी है॥ ७४॥

दूध मथत घृत पाइये, विना मथे नहिं लेश।
जान सकत नहिं पूर्व कोइ, कहाँ रहत केहि देश॥ ७५॥

टीका—जसे दूध के स्वरूप मे घृत रहते हुए भी मथने मे ही वह मिलता हे, यदि दूध का किसी प्रकार मथन न हो तो किंचित भी घी नहीं मिल सकता। यहाँ तक कि दूध से घृत निकलता ह, ऐसा पूर्व से नहीं अनुभव करने वाला दूध देखकर भी नहीं जान सकता कि इसमे ही घृत होता हे या अन्य किसी मे। इस प्रकार गुप्तरूप मे दूध मे घृत रहता ह॥ ७५॥

मेहदी लाली रग ह, हरा रूप दरशाय।
शिल पर पीसत लाय जव, सुर्ख होत तव जाय॥ ७६॥

टीका—मेहदी मे लाली है, परन्तु ऊपर से हरी-हरी दीख पडती है। जब वह शिल पर पीसी जाती है तब लाल रग की हो जाती है। बिना पीसे लाल रंग नही दिखाई दे सकता॥ ७६॥

पोस्ता माहिं अफीम है, छेवत निकसत सोय।
बिना क्रिया वह मिलत नहिं, काज न आवत कोय॥ ७७॥
तैसे तन के रूप में, रहत शक्ति तेहि मॉय॥
मन से तेहि सम्बन्ध है, चेतन शक्ति मिलाय॥ ७८॥

टीका—पोस्ता के स्वरूप मे अफीम है तो भी छेये पर ही वह पृथक देखी जाती है, छेना रूप क्रिया बिना पोस्ता रहते हुए भी अफीम नही मिल सकती और न न्यारा होकर कोई अफीम सम्बन्धी उससे कार्य की सिद्धि ही हो सकती है॥ ७७॥ इसी प्रकार शरीर मे वीर्य रहता है, उसका सम्बन्ध स्थूल शरीर से और मन से है। वह मन चेतन की सत्ता से चलता है॥ ७८॥

भूलदृष्टि आसक्ति मिलि, उतपति मनसिज केरि।
जहॉ भूल आसक्ति नहि, ग्रहण होय नहिं फेरि॥ ७९॥

टीका—चेतन निजस्वरूप की भूल से विषयो मे आसक्ति करके स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध मे सुख मान रक्खा है, यह मान्यता ही काम-सस्कार का हेतु है। यही सस्कार उठ कर शरीर का मथन कर वीर्य का नाश करता है। विषयो मे सुखाभास होना भूल है और उनमे मोह होना आसक्ति है। ये दोनो जिन के मन मे नहीं हैं, वह कभी काम-भोग मे नहीं पडता॥ ७९॥

विवरण—एक सत मैथुन त्यागकर स्त्री और पुरुषो को ब्रह्मचर्यव्रत रखने की शिक्षा कर रहे थे। एक मनुष्य ने पूछा—

प्रश्नोत्तर { *दो०—जो नहि मैथुन रूप जग, आपकि देह न होय।*
देह रोग जो होत नहि, बिन मारे अरि खोय॥
देह को समझत रोग क्यों, आधि रु व्याधिको मूल।
रोग हेत औषध करत, फेरि न होवै शूल॥

यदि आपको भी दुख रहित होने की इच्छा हो तो इसी मार्ग मे लगिए। कुसग के कारण वृत्ति बिगड़ गई हो तो लोक-नीति रखते हुए काय, वचन, मन से अच्छे सग में लगिए। बस शीघ्र ही आप मे इन्द्रिय-वश करने की शक्ति आ जायेगी। पूछने वाले ने फिर पूछा—

प्रश्नोत्तर { *मैथुन तजि फिर वीर्य गति, होवै काह बताय?*
बट मदार के दुग्ध इव, है परिणामि लखाय।

देह का वीर्य मैथुन मे नाश न करने से शरीर के अंगो मे रूपातरित होकर उन्हे शक्तिशाली बनाता है। "सोरठा—वीर्य रक्षि के धीर, करै काज परमार्थ को। काम क्रोध को चीर, जीवन लाभ सुलेत हैं॥"

ब्रह्मचर्य से लाभ, तिसे धारण न करने से हानि

पद—*बल पौरुष रुचि तेज सुयश लहि सदा प्रसन्न रहाओगे।*
पुरुपारथ मे मन अति लागे सहनशील बन जाओगे॥
साधन शक्ति बढे अति समता स्ववश अजादी पाओगे।
सब सुख तोहि मिलै रे मनुवाँ ब्रह्मचर्य जो लाओगे॥ १॥
अन्दर बाहर शत्रु दबे सब कुटिल घात विसराओगे।
निर आलस स्फूर्ति सुचेष्टा दृढ विजयी मन भाओगे॥
परमारथ मे मन अति लागे गुरुपद ध्यान लगाओगे।
वीर्य रक्षि जो पालौ सतव्रत शीघ्र मुक्त हो जाओगे॥ २॥
अमित अनत लाभ हे लख लो दिन-दिन लाभ कमाओगे।
ब्रह्मचर्य यदि गहो न प्यारे तो सब हानि बढाओगे॥
वीर्यशक्ति को ध्वस किये से रोग शोग वश धाओगे।
आलस असहन दीन हीन अति रात दिना बिललाओगे॥ ३॥
खर्च शत्रु दुर्गुण भय बाढै दिन दिन अयश कमाओगे।
देखो देखो अकथ दुक्ख सब जन्म-जन्म पछताओगे॥
याते तज दो निजी लडकपन सत्सगत मे आओगे।
तो सब मिटैं सहज ही आदत गुरुपद प्रेम बढाओगे॥ ४॥

दोहा—*मेथुन महा समुद्र है, क्रोध लोभ मद मत्स्य।*
माँझी गुरुजन पार करि, ज्ञान यान चढि तस्य॥

इस प्रकार गुरु-दृष्टि से मथुन दुखरूप जानकर त्याग हो जाता हे।

विना प्रयोजन रूप तजि, शब्द कर तस त्याग।
रक्षण थूल को लेय के, फँसै न रस के राग॥ ८०॥

टीका—योग्य कार्य करने ही के लिए नेत्र से देखा जाता ह, प्रयोजन-रहित रूप विपय को छोड देना चाहिए। कही गिर न जाय, कहीं भिड न जाय, सद्ग्रन्थो को पढा जाय और वेराग्यमूर्ति सन्तो का दर्शन किया जाय इत्यादि । इसके अलावा मुख समझ कर स्त्री-पुरुषो या अन्य पदार्थो की सुन्दरता पर आसक्त होना, फिर नाच-रग आदि जो-जो परमार्थ साधक न हो केवल सुख मानकर ही ग्रहण किये जायॅ, वे विना प्रयोजन के रूप विपय है, उन्हे त्याग देना चाहिए ओर भ्रामक, रसिक, प्रापचिक शव्दो को भी त्याग कर यथार्थ शव्दो को ग्रहण करना चाहिए तथा देह-रक्षा के लिए आपधिवत सतोगुणी भोजन को (स्वाद लेने की आशा से नहीं, वल्कि निर्वाह के लक्ष्य से) ग्रहण करते हुए रस-स्नेह को भी छोड देना चाहिए॥ ८०॥

ख्वाहिश तजै सुगंध की, दुर्गन्ध विवेक से दूरि।
यथायोग्य तेहि त्याग करि, रहे जो मन को तूरि॥ ८१॥

टीका—किमिम-किसिम के इत्र, तेल, फुलेलादि की सुगन्ध लेने की कामना दुख रूप जानकर छोड देवे आर दुर्गन्ध तो विवेक से अशुद्ध जानकर अलग ही कर देवे। शरीररक्षा

सहित जो जेसा त्याग होने वाला हो उसको उसी प्रकार त्यागे। इस प्रकार बन्धनदायक जितनी मानसिक चेष्टाएँ ह उन्हे निवृत्त करके जीव के कल्याण निमित्त यथार्थ मनन और पुरुपार्थ मे लग जाना चाहिए॥ ८१॥

ह साधन स्पर्श के, शब्द रूप रस गन्ध।
सयम करे जो चारि को, परे न पचम फन्द॥ ८२॥

टीका—रसिक शब्द सुनकर, अनुकूल रूप देखकर, स्वादिष्ट रस लेकर, सुचारुगध सूँघकर इन्हे सुख मान कर ग्रहण करने मे काम-चेष्टा जाग्रत होती है। यदि आदती सुख को भ्रम मात्र जानकर उक्त चारो भोग पदार्थो का त्याग करे तो पॉचवे काम-विषय के फन्दे मे कभी नही पड सकता। इसलिए सयमी पुरुषो को चाहिए कि वे प्रापचिक शब्दो को न सुने, किसी नर-नारी की बाह्य सुन्दरता पर निगाह न भिडावे, स्वाद लेने की आसक्ति न बनावे, गध की आसक्ति का त्याग करे ओर स्वय स्त्रियो के समान शरीर का शृगार न करे, तो सहज ही मे काम विषय जीतकर कृतार्थ हो जायेगे॥ ८२॥

शब्द रूप रस गंध तकि, देह निर्वाहिक लेय।
त्याग करे तौ त्याग है, सुखाध्यास को खोय॥ ८३॥

टीका—विवेकयुक्त देखते हुए उतना ही शब्द, रूप, रस तथा गध ग्रहण करे जितने मे स्थूल शरीर का निर्वाह होता चले और बाकी जो मानन्दी मात्र मथुन का ग्रहण हैं, उसे परीक्षा करके दोपदर्शन द्वारा त्याग करे तो सहज ही त्याग हो सकता हे, केवल निश्चय की देरी है॥ ८३॥

लहि स्पर्श शरीर को, पाणि पगन के माहिं।
जेहि की लत अभ्यास है, चैन न आवत ताहि॥ ८४॥
पुन चहत स्पर्श वह, लोग दुखित मन होय।
ज्यो ज्यो तेहि सेवा करै, त्यो त्यो व्याकुल सोय॥ ८५॥

टीका—दूसरो के हाथ से अपने शरीर का स्पर्श कराकर हाथ-पॉव आदि को जो दबवाता रहता हे, ऐसी आदत जिसकी पड गई हे उसको एक दिन भी बिना हाथ-पग दबवाये चैन नही पडती॥ ८४॥ फिर-फिर वह दबवाना चाहता हे, चाहे दवाने वाले लोग दबाते-दबाते थककर दुखी हो जायॅ तो भी उसका मन नहीं मानता। ज्यो-ज्यो लोग उसकी सेवा करते ह त्यो-त्यो आदत पुष्ट होकर अधिक-अधिक दबवाने के लिए वह व्याकुल होता ह। जिसकी आदत नही है उसको दबवाये बिना कुछ भी दुख नही होता, न कोई इच्छा ही चलती हे, न अग ही टूटता है, ठीक ऐसे ही आदती सुख मैथुनादि के बारे में समझिए॥ ८५॥

कोमलता को अन्त नहिं, होत जहॉ तक चाह।
त्याग करे चहे पूर्व मे, चहे प्राप्ति बिन थाह॥ ८६॥

टीका—कोमल स्पर्श त्वचा का विषय हे। जहॉ तक स्पर्श किया जाता हे वहॉ तक उसकी इच्छा बढती ही जाती ह, ऐसा समझ विचारकर चाहे पहिले ही विषयो से तृप्ति न समझकर उन्हे साधन-सयम द्वारा त्याग दे या भोग करते-करते लोलुपता वश कही थाह न

पाकर इन्द्रियो की शक्ति नष्ट होने से थककर विवश हो त्यागे। इस भाव को इस शब्द से आर स्पष्ट समझिये॥ ८६॥

गजल

सुख आश पोल खाली, इसका न पार ह।
दांडेगे आप ज्यों ज्यो, आता न सार है॥ टेक॥
क्या वात गरीवो कि हे, जो वादशाह हुए।
सुख भोगते ही भोगते, ख्वाहिश अजार है॥ १॥
ख्वाहिश तो उनकी वढ गई, पर इन्द्रियाँ रुकीं।
ऐसे असाध्य रोग से, चिन्ता अपार हे॥ २॥
दर्पण के मुख को कसे, पकडोगे यार तुम।
पहिले तजो या पीछे, रुकना हि वार है॥ ३॥
करि के विचार पहले, जो भोग सुख तजे।
उसको न होवे दुख कभी, पीछे की हार हे॥ ४॥
रक्षक अनन्त जिनके, सव भाँति से खडे।
सुख साज तज के सोये, रोते हजार हैं॥ ५॥
पारख से प्रेम करके, सद्गुण ग्रहण करो।
दुर्गुण दुराशा तजि के, फिर से न ख्वार है॥ ६॥

त्याग करन हे सवन को, वचत न कोइ देखाय।
चहे तजे दुख भोगि के, चाहैं प्रथम हटाय॥ ८७॥

टीका—विपयो का त्याग अत मे सवको करना ही पडता हे। चाहे विवशता से मन मारे, चाहे विचार करके स्ववशता से मन मारे, इस प्रकार विषय त्याग करने से 'वचत न कोई देखाय' जो जितना ही भोगता हें उसकी उतनी ही चेष्टा वढ जाती है। प्रतिक्षण चेष्टा के अनुसार भोग भोगे ही नहीं जा सकते। इसलिए असमय मे, शक्ति-क्षीणता मे, रोगव्याधि मे, पदार्था की अप्राप्ति मे, ऐसी-ऐसी परवशता से दुख पा-पाकर चाहैं विपयो से रुके, चाहे पहिले ही विपयो मे दुख जानकर उन्हे त्याग दे, परन्तु यह सदा स्मरण रहे कि शक्ति न चलने पर विपय छोडने का कष्ट सहते हुए भी विषय त्यागने का फल नित्य तृप्तरूप सुख नहीं मिलता। क्योंकि ज्ञान द्वारा स्ववशतापूर्वक विषय-भोग नही छोडा गया इसी से उन विषयो के सस्काररूप वीज पुष्ट रह जाते ह फिर उसी सस्कार आशा से पुन विपयो मे प्रवृत्ति होती हे। प्रवृत्ति से फिर आसक्तिजनित अतृप्ति एव अभाव के दुख वने ही रहते हैं। इसी कारण वोधवान पहले ही विपय सुख को भ्रममात्र या पूर्ण दुखरूप जानकर उसे त्याग देते हैं। इससे उनकी सदा के लिए वीज-रूप आशा दग्ध हो जाती हे। अतएव प्रथम विपय-चेष्टा से मन मारना चाहिए[१]॥ ८७॥

---

१ **विप-अमृत एक दाम हे तो अमृत ही क्यो न लेवे।**

एक मुमुक्षु अपनी पूर्व की भूल करनी पर पश्चाताप करता ह। अहो! हमने क्षमा तो किया, परन्तु दया, धर्म विचार करके नहीं, लाचारी से। हमने भाँति-भाँति के विपयसुखो को छोडा पर भीतरी इच्छा

है प्रारब्धि कुसग जग, ताते नेम बनाय।
सतसगति आधार दै, साधन मे ठहराय॥ ८८॥

टीका—हे मुमुक्षु! प्रारब्धि रूप स्थूल शरीर सुखाध्यास का साज-इन्द्रियो का सम्बन्ध, जगत मे नर-नारी और भोग वस्तुएँ, ये सब कुसग बने रहते है। इसलिए रहनी का दृढ नियम बनाना चाहिये। पारखी साधु-गुरु के सत्सग का सहारा लेते हुए सर्वांग सत्साधन मे ही निरन्तर आरूढ होना चाहिए॥ ८८॥

कुसग लक्षण-साखी—*कुअग कुठाम कुमनुष्य जो, कुमन कुवाक्य कुदेश।*
कुखाद्य कुवस्तु कुजतु है, कुकरम कुसग हमेश॥
(मुक्तिद्वार, बधमोक्ष, शतक/साखी १००)

सद्ग्रन्थन को देखि कै, शोधौ मन निशियाम।
आप आप में सजग ह्वै, बसौ स्वत निज धाम॥ ८९॥

टीका—सद्ग्रन्थो का आशय लेकर रात-दिन मन-प्रवाह-वेगो का शोधन करो, परीक्षा करके उन्हें काबू मे रखो। और अपने आप मे सावधान होकर अपने स्वरूपस्थिति धाम मे अविचल भाव से निवास करो॥ ८९॥

भाव—सत्सग, सद्ग्रन्थ तथा स्वय अनुभव का सहारा लेकर मन-प्रवाह, प्राणी, पदार्थ आदि सबसे सर्वदा सजगता धारण करे। इस प्रकार साधन-बोध के घेरा मे रहते हुए जो अपना स्वय निराधार अमृतपद है उसी में सदा के लिए टिक जाय। "सवैया—अकाम अमान समान सुजान प्रधान सुध्यान सहान रहावै। अभीत सुनीत गो-जीत अतीत जु प्रीति न काहु से बैर टिकावै॥ साधन शूर जु भोग से दूरि हो स्थिति पूर ह्वै शाति समावै। अष्ट सु याम स्वधाम अराम मे नित्य निवृत्ति सुखै लौ लगावै।"

कुसग से अनर्थ

दृष्टान्त—सदासुधि नामक एक मनुष्य धन कमाने के लिए दिल्ली शहर जाने लगा। उसकी माता बोली—पुत्र! यदि तेरी नौकरी करने की इच्छा ही है तो मेरी बाते याद रखना। (१) चोरी करके धन की इच्छा न करना। (२) वेश्यागमन या किसी पर स्त्री मे न लुभाना।

से नहीं, शक्ति न चलने पर ही। सर्दी, गर्मी, हवा के न सह सकने योग्य दुख तो सहे किन्तु इन्द्रिय साधनरूप तप के लिए नही, सिर्फ दरिद्रता मिटाने के लिए। हमने दिन-रात ध्यान तो किया, पर उपाधिमूल धन, धामिनी के लिए ही। हमने सेवा भी की, अपने मन को भी मारा, निर्मानता भी धारण की, पर सब विपरीतता से। अहो! हमने साधुओ के समान सव कुछ किया पर फल सव उलटे मिले। अपनी नासमझी होने से कष्ट उठाये, सहन किये। पर अव ज्ञान होने पर हमें उसी के लिए कष्ट उठाना चाहिए, जिसे पाकर सदा के लिए इच्छा, परिश्रम, परवशता, शोक, मोह का अन्त हो जाय, बार-बार जन्मना-मरना न पडे।

दोहा—ममता सत सन्तोष शुचि, सत्सगति सदभाव।
सजग सहन सद्ग्रन्थ ये, नव सकार सुख लाव॥

(३) मद्य आदि नशे की आदत न बनाना। (४) मास न खाना। (५) जुआ न खेलना। (६) जान-बूझ कर कभी भी प्राणी का घात न करना। (७) शौक, ठाट, विलास-प्रियता न बढाना। (८) कुलक्षण से युक्त मनुष्यों के समीप न बैठना, तब तुझे सुख रहेगा। पुत्र बोला—माता! मैं ऐसा ही करूँगा। माता—बहकाने वाली तेरी खोटी इच्छाएँ है, उनसे सँभलना। पुत्र—माता! क्या कहती है! मैं सँभला ही हूँ। ऐसा कह कर सौ रुपये ले चल दिया।

सदासुधि पढा-लिखा कुछ सज्जनों के संग का प्रेमी था। वह कई दिनों में दिल्ली पहुँचकर अपने गाँव के पूर्व मित्र से मिला, जिसका नाम माणिकराम था। माणिकराम मन की तरंगों में बिलकुल मस्त था। उसने मर्द होते हुए भी औरत-सा चिह्न बना रक्खा था। वह जो कुछ परिश्रम करके कमाता, वह द्रव्य विषय-मदमस्ती में उडा देता। सदासुधि उसके रंग-ढंग को देखकर पहिले तो घबराया, पर अन्य जगह आश्रय न मिलने से वहाँ ही रहने लगा। सदासुधि में अभी कोई खराबी न थी। माणिकराम को सद्शास्त्रों के अनुसार कुछ धर्म की बातें बताता, परन्तु माणिकराम को युवावस्था की मदमस्ती में वे सब बातें कहाँ सुहावे! उलटे बहुत बार माणिकराम अपना रंग जमाने की कोशिश करता रहता। इतना देखने और सुनने में कोई हर्ज नहीं है, कम से कम इस दुनिया के तमाशे तो देखना चाहिए। पैसे हम देंगे, सुख आप लीजिए, इत्यादि बातें सुनकर सदासुधि प्रथम कुछ दिन तो उसकी बात को टाल देता, पर नित्य का प्रसंग। जैसे जल नीचे को सहज ही ढारू हो जाता है वैसे युवावेग में सहजिक मन विकारों की तरफ जाता है। जो उसका साथी मिल जाय तो क्या पूछना!

एक दिन माणिकराम ने सदासुधि को कह-सुन कर एक ऐसे स्थान में ले गया जहाँ इश्कपरी, लैला-मजनू इत्यादि किस्सों का खेल हो रहा था। उस खेल को देखते ही सदासुधि की दबी हुई कुवृत्तियाँ सचेष्ट होने लगीं। मन में कहा कि देखने में कौन खोटाई, जब तक खोटा काम न हो। ऐसा सोचकर वह रोज वेश्या-नृत्य और किस्सिम-किस्सिम के तमाशे देखने लगा। कई दिनों में सुखलोभ और मान दे-देकर माणिकराम अपने समान उसको कुबुद्धि दृढकर उसे सन्मार्ग से विचलित कर दिया। उसने एक दिन कहा कि आज चलिये आपको एक ऐसी चीज खिलावें जिससे आप सुख में मस्त हो जायेंगे। वह उसे मद्य की दुकान पर ले गया और मद्य पिलाया। जब वह मद्य से मतवाला हुआ तब उसे उस कुठार में ले गया, जहाँ जाकर मनुष्य दीन-दुनिया से पतित होकर रसातल चला जाता है, वह वेश्यारूप भाड-भट्ठी है। कामी पुरुष अपना धन, यौवन, शक्ति स्वाहा करके उसी लौ में जलते है। एक बार भी जिस अभागे को ऐसा कुअवसर प्राप्त हुआ वह गुरु, माता, पिता, सज्जन आदि के नेम-धर्म को छोडकर पाँखी के समान उद्दण्ड हो जाता है। उसे विषयासक्ति में मरना ही सुहाता है। सदासुधि और माणिकराम की यही गति हुई। धन के लिए दोनों ने कर्ज भी लिया, जुआ भी खेला, उसमें दाँव पर दाँव हारते गये। कर्ज देने वाले ने दोनों से कहा कि मेरे सकडो रुपये कर्ज तुम कैसे चुका सकोगे! चलो हमारे यहाँ सईसी करो, घोडे की लीद सकेलना आदि काम करो, दोनों को जाना पडा। एक दिन वे रात्रि को चोरी से भागकर अपने घर चले आये।

सदासुधि की माता मर गई थी, स्त्री थी। जुआ खेलने की इतनी आदत पड गई कि सदासुधि घर का माल, मकान, धन और स्त्री तक चौसर में हार गया। अपने शान-गुमान में अनेकों जंगली जीवों की पीड़ा का ख्याल न कर उन्हें मारकर मास का भी सेवन किया। अन्त

मे उसे चारो तरफ से और उपाय न सूझा, तो बदमाशो का मालिक हुआ। चोरी-डाका, लूट-फूँक ही उसका पेशा हो गया। ये सब बाते माणिकराम के सग से उसमे भर गई। एक बार ये दोनो मिलकर और कई जन साथ लेकर एक बडे सेठ के यहाँ डाका डाल दिये। एकाएकी सेठ के एक-दो कुटुम्बी को भी मार दिये। कुछ देर मे सेठ के तमाम रक्षक सिपाहियो द्वारा सब डाकू पकड लिये गये। सेठ ने माणिकराम और सदासुधि दोनों को चोरों का सरदार जानकर मजबूत जजीर से बँधाया और आज्ञावर्ती नौकरो से कहा—पहिले इन दोनों की आँखे निकाल लो, फिर एक तप्त लोहा लेकर इनके छाती, मस्तक, पैर और सब इन्द्रियो को धीरे-धीरे दग्ध करो, जिससे ये भी जानें कि दूसरे को भी दुख हमारे समान होता है। जब आँखे निकाली जाने लगी और तप्त लोहा मे सब अग जलाने लगे तब सदासुधि को हितेषी माता-पिता के वचन स्मरण आये और कुसगी-माणिकराम के कुसग का फल अब मिला। वह कहने लगा "दोहा—अहो कुसगति फल यही, सब जन शिक्षा लेहु। कोइ अवगति बाकी नही, हा! हा!। दुख-दुख येहु ॥" अन्त मे दोनों सब दुर्दशा सहित, तलफ-तलफ कर यमसदनरूप चौरासी को प्राप्त हुए।

भाव—सदासुधि जीव हे, यह माणिकराम रूप मन, माया, काया, मैथुन, धन, जन के सम्बन्ध से डतना अज्ञानी हो गया है कि हिम्सा, इन्द्रिय-लम्पटता ही इसका धधा हो गया हे, इससे असह दुख भोगता है। अत जिन-जिन सगो मे अन्दर कुचेष्टा दृढ हो उन सबो को कुसग जान उन्हे त्याग कर अन्दर-बाहर सन्मार्ग मे चलना चाहिए।

गजल

न भूले कभी तुम कुसगत करो, नही तो बडे दुख के दलदल परो ॥ टेक ॥
मदिरा व मिथ्या जहाँ द्यूत होवे, हिसा कुटिल मद भरी शान होवै।
व मैथुन विषयरस जहाँ गान होवै, वो दुर्बुद्धि दुष्कर्म हेतू घरो ॥ १ ॥
भले सग भलाई मिलै है सदाई, झूठे के सँग झूठ ठग सँग ठगाई।
सदा साधु सत्सग से शुद्धताई, ऐसे विचारो से सत्सग करो ॥ २ ॥
कितने दिवस हो गये भूलने मे, सदा देह झूला तुम्हे झूलने मे।
देहें कि सगत सबे शूलने मे, अब भी जो मन मे तु चेतन धरो ॥ ३ ॥
कुसग दोष पाँचोमुखी काल काला, इसी से सकल शोक ओ मोह जाला।
समता क्षमा ओर नैराश्य ला ला, परख बोध को धारि गुरुपद परो ॥ ४ ॥

शिक्षा—बालक, स्त्री, पुरुष ओर साधु या कोई भी हो, सबको खोटे सग से हटना चाहिए, नहीं तो सदासुधि की सी दशा धरी है।

सोरठा

यतन बिघ्न सब शूल, सहतहिं इच्छा बढत नित।
अहो जीव कस भूल, बेर बेर बिषयन चहत ॥ ९० ॥
देत दुसह मन कर्म, अपने बशि मे राखि कै।
जीव न जानत मर्म, प्रबल बिषय कृत रोग यह ॥ ९१ ॥

टीका—विषय सुख की प्राप्ति करने मे बहुत परिश्रम है। छूटने, नाशने, लूट जाने आदि अनन्त विघ्न हैं, रोग-शोक आदि विवशता के अनन्त शूल हैं। इतना सहनकर विषय को भोग लिया गया कि उससे इच्छा बुझ जाय, किंतु ऐसा भी नहीं है, बल्कि और विशेष इच्छा-ज्वाला बढ जाती हे। अहो! इन सब कष्टो का अनुभव करते हुए भी भूल की ऐसी महिमा है कि उन्हीं जड विषयो की बार-बार यह जीव चाहना कर रहा ह॥ ९०॥ मानन्दी मे विषय-क्रिया, विषय-क्रिया मे सुखासक्ति, सुखासक्ति से फिर वही मानदी और विषय-क्रिया। इस प्रकार मन-कर्म-द्वारा सुखासक्ति ही जीव को अपने वश मे करके न सहने योग्य अनन्त कष्टो को देती रहती हैं। जीव इसका भेद नहीं जानता कि यह भोग स्पर्श के आधार से बनी हुई सुखासक्ति भयकर शूलवत रोग ह॥ ९१॥

दु खालय

दृष्टान्त—एक राजा जिसका नाम शातसेन था, उसमे सत्सग के प्रताप से शुभ गुण बसे थे। (१) वह राज्यपद मे फूलता न था। (२) किसी को गाली नहीं देता था। (३) भलाई करने मे किसी से सलाह नहीं लेता था। (४) न्याय देर से करता था। (५) मास, मदिरा, नशाओ से परहेज करता था। (६) क्रोध के समय किसी से बोलता न था। (७) एक ही स्त्री मे धर्मोचित सन्तुष्ट रहता था। (८) शिकार नही करता था। (९) साधुओ की शिक्षा को मानता था। (१०) अपने आश्रितो की रक्षा करता था और (११) रेख-भेख सब सादगी के सहित रखता था। उपर्युक्त गुणोयुक्त वर्तने से राजा का अन्त करण शुद्ध हो रहा था। एक बार राजा ने मन्त्री से कहा—मुझे राज्य का औषधालय, अनाथालय, राज्य-विनयालय और सब विभूति देखने की इच्छा है। श्रेष्ठ मन्त्री तुरन्त तैयारी करके राजा के सहित दोनो चल दिये। राजा बोले—और कोई तीसरा साथ न लगे, बस दोई जन चले। दोनो चल करके देखने लगे। अश्वशाला, गजराजभवन, भाँति-भाँति के पशु-पक्षियो को देखकर राजा ने कहा—इन सबो को कौन सुख हे! ये तो सब परवश हें, कोई पिंजरे मे, कोई जजीर मे, कोई रस्सी मे सब बँधे हुए हें, मालिक के अधीन इनका निर्वाह हे। कहो मन्त्री जी! इनके दुख का कारण क्या है? मन्त्री बोला कि मनुष्य से इतर खानि सर्प, कीट, पशु-पक्षी आदि जेलवत भोग-भूमिका है, जो कुछ इनमे पूर्व-पूर्व मनुष्यदेह मे विषयासक्ति सहित शुभाशुभ कर्म बन पड़े, वे ही सूक्ष्म देह से स्थूल देह धराकर इनके दुख सयोग करने मे कारणरूप ह। राजन! ये पशुखानि आदि परवश दुखमय ह। ऐसी बात करते-करते औषधालय मे पहुँचे। राजा देखते क्या हैं कि हजारो रोगी त्राहि-त्राहि कर रहे ह।

कवित्त

कोई को तो आँख दर्द कान नाक पेट पीर, कोई को तो देह सब जले हा करतु हैं।
कोई को तो श्वास रुके खाँसी दम पित्त वात, कोई हाथ पाँव फूले दुख मे चुरतु हैं॥
कोई को तो जीर्णज्वर पेट बढे कम्प वायु, काहु को तो कुष्ठ रोग खाज से रुदतु हैं।
काहू को तो सन्निपात मधुमेह अग भग, सब करे त्राहि त्राहि देख के डरतु हैं॥

इस प्रकार राजा ने बालक-जवान नर-नारी सबके भिन्न-भिन्न रोग और उनकी चिकित्सा होते देखी। राजा मन्त्री से पूछते ह—क्यो मन्त्री जी, इन सबको कब से, क्यो रोग हुआ ह?

मन्त्री—राजन! इन रोगियो से पूछ देखे। रोगियो से पूछने पर अपना-अपना हाल सक्षेप मे सब कहने लगे—

कवित्त

कोई कहे गजराज सम मम पूर्व देह, अहो आज जीर्णज्वर करत बेचैन जू।
कोई कहे पहिले तो दृष्टि मम निर्मल थी, अहो अब पटल से देखत न केत जू॥
कोई नारि सतति के कारण से पेट चीरि, कोई नारि कहे मोहि प्रदर दुखेत जू।
कोई फीलपॉव कहे बीच ही मे होय आयो, बहुत तो जन्म के ही रोगी हूँ कहेत जू॥

राजा यह सुन-देखकर और फिर दोनो आगे बढे। आगे अनाथालय में अनाथ, दीन-दुखी अन्न-वस्त्र के तरसे तमाम बालक, जवान, बूढे नर-नारियो को देखा। फिर दोनो बाते करते हुए विनयसदन मे पहुँचे। वहॉ गॉव-देश के दुखी-गरीब आपत्ति के मारे सरकार से विनयपत्र मे अपना-अपना हाल लिख-लिख कर भेजते थे। राजा ने उन दुखियो से पूर्व का सब हाल पूछा, सबने अपना-अपना थोडा-बहुत हाल कहा—

कवित्त

कोई को तो धन कुल गौरव कुटुम्ब बहु, हेजा की बिमारी माहि साफ सब भये जू।
कोई की तो नारि व्यभिचारि उत्पाद करी, कोई को तो पुत्र दुष्ट नित्य दुख दये जू॥
कोई को तो चोर मूसि दीन करि दियो अति, कोई अग्नि ऑधिन मे घर जलि ढये जू।
कोई अति शत्रुन से पीडित रहत नित, कोई को तो माय बाप दुख नव दये जू॥

इत्यादि सब हाल जान कर राजा ने कहा—हे मन्त्री! यह ससार दु:खालय है—दुख का घर है। जो सबके सिर देखता हूँ वही मेरे सिर पर भी है। जरा-मृत्यु, रोग-शोग, विघ्न सकुल देह फिर मुझे धारण करना न पडे उस सग को कराइए, वही बात दृढाइए। मन्त्री ने कहा—ये प्रश्न आप विवेकवान सन्त से कीजिये, वहॉ आप प्रश्न का उत्तर पायेगे। पश्चात दोनो चल करके वहॉ पहुँचे जहॉ विवेकवान सन्त विराजते थे।

दोहा—*सन्त तीर दोउ वीर गे, धीर तीर लखि पीर।*
कौन दु ख तोहि अति अहै, कहहु भूप गम्भीर॥ १॥

राजा—सोरठा—*भूप कहै कर जोरि, दु खालय ससार लखि।*
परौ न तहॉ बहोरि, सोइ उपाय मोहि भाखिये॥ २॥
सत कह्यो समुझाय, सुखै भोग दुख मूल है।
जोई विषय भोगाय, सौ सब मन मे लिखि रहै॥ ३॥
सोइ सूक्ष्म ह्वै कर्म, फिरि फिरि धारै देह यह।
जानि न पावै मर्म, परवश फिर भोगन परै॥ ४॥
पॉखी मोह समान, अथवा मृग औ मीन सम।
पचत धारि अभिमान, जरत बरत खीझत सदा॥ ५॥
तुम जो चहौ निवृत्त, तो साक्षी तव रूप निज।
तहॉ लेउ निज थिति, साधन सयम सकल गहि॥ ६॥

ब्रह्मचर्य गहि लेहि, पुनि अहार सूक्षम धरे।
सकल जमात तजेहि, विरक्त देश सेवन करे॥ ७॥
पहिले तो सत्सग, करे चाव धरि नित प्रती।
जब सूझे निज अग, तब साधन मे जोर दे॥ ८॥
भक्ति करे मन लाय, मन वच मेव सत गुरु।
भूल न कहुँ अलसाय, दौरि दौरि सेवा करे॥ ९॥
अपनो ही अज्ञान, अपने को बन्धन करे।
तेहि नाशन सदज्ञान, ज्ञान हेतु भक्ती विरति॥ १०॥
भक्ति हेतु शुभ धर्म, तो वह मुक्तिहि देत है।
मुक्ति हेतु वहि कर्म, तो वासे जग दुख दह॥ ११॥
शक्ति आपनी देखि, चले गुरू मग कर्म गे।
करिये भक्ति विशेषि, सकल अग पुरुपार्थ लहि॥ १२॥
सुनि अस वन सु भूप, काय वचन मन भक्ति पथ।
लहि वैराग्य अनूप, तजि जजाल सु मुक्त भो॥ १३॥

शिक्षा—*जो कोउ चहं कल्यान, नीच ऊँच नारी नरा।*
दुःख रूप जग ध्यान, छूटन कहँ युक्ती कर॥ १४॥

प्रसंग १२—स्पर्श विपय मे प्रत्यक्ष दुख, दोप और दिव्य ब्रह्मचर्य

साखी

काम नाश परकाश मति, दित्य वर्ण गुरुदेव।
नारि अँधेरी राति को, दिल मे दूरि करि देव॥ ९२॥

टीका—हे सद्गुरुदेव! मथुनवृत्ति जो कि तामसमय दुख पूर्ण है, उसे आप नाश करने वाले है और वुद्धि मे यथार्थ निश्चय कराकर ज्ञानरूप प्रकाश कराने वाले हैं, सुखाध्यास रूप अन्धकार रहित सूर्य के समान एकरम पारख स्वरूप ह। मुझ दास पर आप ऐसी कृपा कीजिए कि जो स्त्री-मुख की कामनारूप घोर अन्धकार से मेरा हृदय पूर्ण है, जिससे मुझे हिताहित कुछ नहीं सूझ पडता, उसे मेरे हृदय से दूर कर दीजिए॥ ९२॥

अधेरी गुफा

दृष्टात—तीन मनुष्य धन के परम इच्छुक थे। वे सलाह करके घर से निकल पडे। तीनो अपने देश से चल कर कई दिनो मे एक पहाड की तराई में पहुँचे। इस पहाड मे हीरा-रत्नादि होते है, यह वात तीनों ने सुन रक्खी थी, इसलिए उन तीनों को पहाड पर जाने की वडी लालसा थी। वे वडी कठिनता से पहाड पर चढ गये। वहाँ उनको एक साधु मिले। साधु ने कहा—भाई! तुम लोग कहाँ जा रहे हो? तीनों ने अपना हाल कहा। सत ने कहा—हीरा-रत्न तो यहाँ मिल जायेंगे पर जहाँ हीरा-रत्न की खानि ह वहाँ दो पुरुप हैं—एक तो भक्षकराम ठग और दूसरा हितपीराम साह। हितपीराम साह के पास असली हीरे-रत्न हैं। उनकी प्राप्ति में

कोई बडी बात नही हैं, परन्तु बात इतनी ही है कि हितैषीराम ठकुरसुहाती 'नही करेगा। तुम लोगो के मन से सब बाते उलटी कहेगा, खान-पान, समान सब रूखे-फीके ही होगे, पर याद रखना दुख-दरिद्र-हारक असली रत्न तुमको वहॉ ही मिलेगे। दूसरा भक्षकराम है। वह तुम लोगो को मनमाने सुख देकर अँधेरी गुफा मे ठेल देगा, वहा तुम लोगो को बडा कष्ट होगा। इसलिए सावधान रहना। इतना सुनकर तीनो आगे बढे। पहाड पर चढने लगे, चोटी पर पहुँचते ही दूसरा एक सुन्दर रजकराम नाम वाला मनुष्य मिला। सुन्दर रजकराम ने तीनो से हाल पूछा। सब हाल जानकर बोला—तुम लोगो से साधु ने जो कुछ कहा सो सब निरा उलटा ही है। हितैषीराम तो महादरिद्र है, भक्षकराम के यहॉ से पेट पालता है, तुम लोग भक्षकराम से मिलो, कार्य पूर्ण होगा।

तीनो आगे पहाड पर चढने लगे। चोटी पर पहुॅचकर रत्नो की खानि का कुछ चिह्न मालूम हुआ। दोनो के आश्रम भी दूर-दूर दिखाई पडे। भक्षकराम के बाहर की शोभा देखकर दो व्यक्ति तो मोहित हो भक्षकराम के यहॉ गये। बाकी एक व्यक्ति साधु के वचन ख्यालकर हितैषीराम के यहॉ गया। भक्षकराम ने नकली हीरो की चमक दिखाकर उन्हे प्रसन्न किया। भक्षकराम मनुष्यो मे राक्षस था। उसे मनुष्य का मास खाना रुचता था। इससे उन दोनो को सुख-आराम देकर एक ऐसी गुफा के द्वार मे ले गया जहॉ का दुख अवर्णनीय है। वे दोनों उसके भेद को नही जानते थे। भक्षकराम ने कहा—इस गुफा मे जाओ, इससे तुम्हे भॉति-भॉति के अमूल्य रत्न मिलेगे। वे दोनो रत्न की आशा से गुफा में घुस गये। घुसते ही भक्षकराम ने द्वार बन्द कर दिया। गुफा मे महा अन्धकार पहिले ही से था, द्वार बन्द होने से और अन्धकार हो गया। वहॉ का विषैला वायु दोनो की देह मे लग गया। वायु लगते ही इतनी खुजली उत्पन्न हुई कि वे दोनो खुजलावे, रोवे, दौडे, हाय-हाय करे, पर खुजली बढती ही गई। वहॉ कौन सुने, दोडते ही दौडते उन्हे बिच्छुओ के समूह मिले। उनके डक से दोनो को विष चढ गया, तब वे कहने लगे—हाय! किसी प्रकार रहा नही जाता, एक-एक पर गिरे, परे, रोवे, तडफे, पर कौन सुने! कुछ सूझता तो था ही नही। तडफते-तडफते, उलटते-पलटते उनको सॉपो के समूह मिले। सॉप उनके अगो मे लपटने लगे, बार-बार डॅसने लगे। दोनो बोले—हाय! साधु का कहा न मानने से ये दुर्दशा हुई। अत मे तडफते-तडफते दोनों मूर्छित हो गये।

भक्षकराम ने दोनो को गुफा में डालते समय एक-एक जजीर उनके हाथो मे ऐसी बॉधी थी कि वह टूट-छूट न सके। वह जजीर गुफा के द्वार से बॅधी थी। फिर तो दूसरे दिन भक्षकराम ने जजीर से खीचकर दोनो को पका कर खा लिया। अब इधर का हाल सुनिए। हितैषीराम उस आये हुए मनुष्य को सादर बैठाकर उसको कुछ फल-फूल देने के बाद कहा—आप क्या चाहते है? मनुष्य बोला—रत्न। हितैषीराम ने अमूल्य रत्न देते हुए कहा कि भक्षकराम और उसके मित्र रजकराम से बचना। अॅधेरी गुफा का हाल कहते हुए घर का सीधा रास्ता बता दिया। वह रक्षकराम की कृपा से घर पहुॅच कर रत्नो से स्वार्थ-व्यवहार करके साथ ही साथ परमार्थ-मार्ग भली भॉति साधकर सदा के लिए सुखी हो गया। रक्षकराम और उन सत के गुणानुवाद मे जीवन व्यतीत किया।

सिद्धान्त—राजसी, तामसी, सात्विकी तीनो प्रकार के मनुष्य हे। वे दुख रहित सुख की आशा से नाना कर्म रूप पहाड की चढाई कर रहे है। तीनो को सयोगवश सत मिलते है,

हिताहित बताते है। हितपीराम पारखी सद्गुरु हैं। वे जगत-भोगों में रूखे-फीके हैं। अनुयायियों को भी भोगों के त्याग ही में सुख बताते हैं, स्वरूपज्ञान और उसके रक्षक शील, संतोष, वैराग्यादि रत्न प्रदान करते हैं। सतोगुणी जिज्ञासु वहाँ जाकर उनकी भक्ति करके स्वरूपज्ञान प्राप्त कर मैथुनरूप अंधगुफा से बच जाते हैं। भरमकराम स्वस्वरूप का अज्ञान है। उस अज्ञान से जगत-भोगों में सुख निश्चय होता है। रजकराम जगत के पामर स्त्री और पुरुष हैं, जो कि उसी अज्ञान को पुष्ट करते हैं, सुख दर्शाते हैं। उस निश्चय से भोगों में सुख-आशा करते-करते अंधेरी गुफा में प्राणी चला जाता है। अँधेरी गुफा काम की आसक्ति है। जिसमें क्रोधरूप बिच्छू, लोभ-मोहरूप सर्प, तृष्णा रूप विषैल वायु से जीव की तड़पते-तड़पते ही जान जाती है। परमार्थ न सूझ पड़ने से अन्त में जीव का पुनः अज्ञान पुष्ट होकर आशा-जंजीर से खिंचा हुआ गर्भवास में जा पड़ता है। इस प्रकार जीव को स्त्री सम्बन्ध दोष से काम संकल्प होता है, काम संकल्प से मैथुन कर्म में प्रवृत्ति होती है, मैथुन में विघ्न पड़ने से क्रोध होता है, क्रोध से अहंकार बढ़ता है, अहंकार से क्रोध की पुष्टि, साथ ही लोभादिक दुर्गुण बढ़कर सदा नारी के गर्भरूप अँधेरी गुफा में पड़कर दुख ही दुख भोगना पड़ता है, इसलिए हे गुरुदेव! "नारि निबिड़ रजनी अंधियारी" की आसक्तिरूप मैथुन मेरे दिल से हटा दीजिए, बस यही आपसे प्रार्थना है। कल्याणार्थी स्त्रियों को इसी प्रकार पुरुष के मोह-अंधकार से बचना चाहिए।

काम विजय जयपत्र है, जो घट चेतन माँहि।
भाग्य प्रबल तेहि जीव की, बोध गुरू मिलि जाहि॥ ९३॥

टीका—स्त्री हो या पुरुष यदि उसने मैथुन की आसक्ति को पूर्णतया त्याग कर उस पर विजय कर ली है, तो मानो उस संसार के सर्व दुखों से छूटने का जयपत्र मिल गया। साथ ही जिसको कामध्वंसक स्वरूपबोध और उसके प्रेरक सद्गुरु बन्दीछोर मिल गये हैं, उसका भाग्य सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि सद्गुरु की सहायता से अवगुण का मूल काम को जीत लेने पर विषय सम्बन्धी सब कष्ट सहज ही छूट जाने से मनुष्य बड़भागी हो जाता है॥ ९३॥

नारि मित्रता के किये, दुश्मन है सब लोग।
अन्न वस्त्र जल को हरे, प्राण हरण को शोग॥ ९४॥

टीका—जैसे किसी को साहु जानकर कोई अपना सब माल-धन उससे निर्भेद रक्खे और उसका सदा विश्वास करे, उसके माल-धन का यदि साहु लोभ-वश अपहरण कर लेवे तो उसे चोर जान उसका घातक बन कर लोग सताने और नाना अपमान करने लगते हैं, वैसे जगत में मानी हुई स्त्री एक परम धन है। त्यागी सदाचारी साधु को रक्षक समझ कर सब उससे निर्भेद वर्ताव करते हैं, स्वार्थ-परमार्थ में नाना सुविधा पहुँचाते हैं। यदि वह विरक्त तथा शुद्धाचारी स्त्री की स्नेहासक्ति करके मोहित हो जाय तो सब लोग उसके दुश्मन हो जाते हैं। यहाँ तक कि खास देह निर्वाह के साधन अन्न-वस्त्रादि में भी बाधा डालकर प्राण तक नष्ट कर देने को तयार हो जाते हैं। यही सब आपदा गृहस्थ को भी नीति के अनुसार न रहने से प्राप्त होती है। इससे कल्याणार्थी को काम-चेष्टा का अतिशय निर्मूल करना चाहिए॥ ९४॥

शिक्षा—जगत में जिस सुख से पड़कर विशेष अनर्थ होता है, उसके दोष-दुखों का इन साखियों में प्रत्यक्ष किया गया है। जहाँ पर विजाति माया, स्त्री, मैथुन, कुसंगादि नामों से त्याग

बताया गया है, वहाॅ पर अपने दर्जे और सकाम-निष्काम बुद्धि के अनुसार शिक्षा लेना चाहिए। सकामी को परधन-परस्त्री मे दोष-दुखो को विचार कर धर्मयुक्त एकव्रती होना चाहिए और वैसे ही स्त्रियो को भी न्याय-धर्मयुक्त एकव्रती रहने की शिक्षा लेना चाहिए। जो मुक्ति चाहने वाली स्त्रियाॅ और मुमुक्षु-ब्रह्मचारी तथा साधु भेषधारी है, उनको अग्नि और तृण के समान सर्वथा कुसग त्याग की शिक्षा लेना चाहिए। अपनी-अपनी श्रेणी शक्ति के अनुसार सब दुख रहित हो जाय, परमार्थ की ओर सबका निश्चय साहस बढे, इसलिए गुरुदेव ने कष्टकारक कुसग को बार-बार वर्जित किया है। प्रमाद-वश यथोचित धर्म की रक्षा न करने से ही सबको दुख होता है।

कवित्त

महाभारत लकाकाण्ड याहि हेतु होय गयो, याहि हेतु आल्ह-खण्ड भये घमसान जू।
याहि हेतु परम पुनीत पूज्य मारे गये, केते-केते तालुकै रियासतै बिकान जू॥
केते-केते नारिन की सर्व दुरगति भई, केते-केते व्यभिचारी रोते न सिरान जू।
केते-केते बानाधारी फाॅसिन पै चढि गये, केते-केते जन्म जेल देश से हेरान जू॥ १॥
केते-केते सत्यपद देखि कर लौटि पडे, केते-केते भोग हेत बडे हलकान जू।
केते-केते सुजन कुघट कलई निहारि, धीरे-धीरे पतन जु होय पछितान जू॥
केते-केते भोगि-भोगि गलित गलीन भये, केते-केते ललचि ललचि के सिरान जू।
केते-केते नर जु अचेते रोते चले जात, कहा लो बखाने काम काल दुखदान जू॥ २॥
अपनी भलाई चहै कान लाय सुन लेहु, मन को घुमाय ब्रह्मचारी बनि जाइये।
प्रथम तो येही पक्ष श्रेष्ठ शुभ नीति अहै, नाहि यदि सधत तो मध्यम समाइये॥
एक व्रत नर नारी धर्म कर्म नेम धारी, कुसग कुचार टारी सत्सग धाइये।
साधुसत यती-सती होओ यदि उच्च श्रेणी, कचन से ताव सत साधन बढाइये॥ ३॥

स्वतत्र श्रेष्ठ पद खोय कै, नारि जात पुनि खोय।
मित्र तजत खर श्वान सम, बिमुख देत दुख सोय॥ ९५॥

टीका—निष्काम स्वरूपस्थिति श्रेष्ठ-स्वतन्त्र भूमिका है। जिस भूमिका मे जगत के शोक, मोह, परवशता आदि नही है, जिसमे ठहरने से देह रहते भी देह निर्वाह की फिक्र नही रहती, मानसिक विकार का भी गुरुविचार से शमन होता रहता है, ऐसा सर्व माननीय पूज्य विरक्ति पद मे रहकर जो स्त्री मे फॅसता है उसका उक्त श्रेष्ठ पद खो जाता और अत मे स्त्री भी खो जाती है। जिस क्षणिक भ्रमसुख के लिए वह मोहवश नारी-स्नेह में धॅसा, वह सदा अपनी बनी रहे, ऐसा नही है। मन बदल जाने, रोगी या मृत्यु हो जाने, परवश हो जाने, सदा अतृप्त रहने इत्यादि अनेक कारणो से स्त्री भी गई, इधर स्वतत्र पद भी गया, पुन मित्र और सम्बन्धी भी उसे गधे और कुत्ते के समान तुच्छ जानकर उसका अभाव कर देते है, विपरीत होकर विविध भाॅति कष्ट देते रहते है। अरे! 'बाल-सर्प खेल न्याय' इससे क्या लाभ। अत यह स्मरण रहे—

दोहा—*रे बालक हठि दौडि के, मत अहिनी धरि खेल।*
दौडि गोद गुरुदेव लहि, अथवा भागु बचेल॥ ९६॥

नारि सग तप भग करि, वन्यो जीव तेहि दास।
देत त्रास तेहि अधिक नर, करत असह उपहास॥ ९६॥

टीका—सत्सग में प्रेम करके सत्य और असत्य को जाना गया था, नित्य वस्तु मे स्थिर होने के लिए शम, दम, विवेक, ब्रह्मचर्य, साधन, सेवा, न्याय, धर्म, सत्पुरुषो के वाक्य मे श्रद्धारूप तप जो कुछ वन रहा था वह सव विमोहनी-घट मे मोह होते ही भग हो गया। फिर क्या, विषयासक्ति वश जीव मोहावरण करनेवाली का गुलाम ही वन जाता है। प्रत्यक्ष है कि मोहवश नारिसग से परमार्थ मार्ग रुक जाता है। ऐसे पदभ्रष्ट निर्लज्ज वेषधारी को अन्य मनुष्य नाना प्रकार के भय तथा सकट देते रहते हैं। जो साधु होकर इसमे गिरा सो सवकी दृष्टि से गिरा। गृही भी गृहनीति त्यागकर अनीति वर्तने से सवकी दृष्टि म नीच हो जाता ह। तव मान और सेवा के वदले लोग अपमान तथा सव प्रकार से दुख देने की चेष्टा करने लगते ह, फूलो की जगह वर्छी चलाने लगते हैं। अहो! ये केसा कष्टप्रद विषय-सुख ह! ॥ ९६॥

शिक्षा—दोहा—*दूर से दीखत सुरुचि घट, ज्यो गिरिवर को शृग।*
निकट जाय पत्थर नजर, त्यो वपु अशुचि प्रसंग॥ १॥
द्वादश वर्षा तप तज्यो, कियो नारि मुख देखि।
अहो हृदय फाटत विकल, गुड-माखी इव लेखि॥ २॥
इन्द्रिय दलि रहतो भलो, काहे पडतो वोझ।
अजहूँ मन तू चेतकर, मत वन वनका रोझ॥ ३॥
वस्त्राभूषण धन विपुल, यौवन भोग हजार।
रोगी मरि या खुश नहीं, अहो कठिन आजार॥ ४॥

सवका साराश यह हुआ कि नरदेह पाकर मिथ्या दुखपूर्ण स्वप्नवत नर-नारी घट के क्षोभ मे समय न गॅवाकर अविनाशी स्वरूपस्थिति की तरफ लगना चाहिए।

दोहा—*कवीर लडकपन त्यागि क, कारज अपन वनाव।*
की तो गुरुपद ओट दृढ, की तो सव तजि आव॥

द्रव्य नारि को त्याग जेहि, नहिं ममता घट कोय।
सुख निर्भय साँचा सोई, अघ अपयश दुख खोय॥ ९७॥

टीका—जिसने द्रव्य, स्त्री और किसी भी देहधारी की ममता सर्वथा त्याग दिया है, उससे अनीति कर्म न होने से उसे झूठा और अयशी नहीं होना पडता, अत उसी का सच्चा निर्भय सुख है॥ ९७॥

स्पष्ट—भय, झूठ, अघ आर अपयश ये वडे कठिन दुख ह। भय से हमेशा हृदय आर मन मे पीडा वनी रहती ह। झूठा आदमी सव का अविश्वासी होता है और उसकी मर्यादा नहीं रहती। पापी मनुष्य अहित करता ह, इसमे उसका कोई सहायक नहीं होता। पापी ही अपयशी होकर कुत्तो के समान दुतकारा जाता ह। इन सवो का हेतु स्त्री, द्रव्य आर किसी भी देह की ममता ही ह। इनकी आसक्ति से रहित जो त्यागी पुरुष हं वे सम्पूर्ण विजाति पदार्थो का सम्वन्ध त्यागे रहते हैं। उनकी भय, अपयश और झूठ इन दुखो मे कभी भेंट नहीं होती। अत तीनो का त्यागी ही सदा निर्भय, स्वतत्र आर स्थिर रहता ह। ये सव लक्षण ममता त्याग से ही

आते हैं। ममता अधकार है, उसमे कुछ नही सूझता। मुक्तिइच्छुक को स्त्री आदि की ममता का सर्वथा त्याग करना चाहिए जिससे उधर स्वप्न मे भी खिंचाव न हो। गृहस्थ को तो परस्त्री-परद्रव्य की ममता त्यागते हुए फिर ज्यो-ज्यो सत्सग से मुक्ति की इच्छा प्रबल हो त्यों-त्यो अपनी मानी हुई वस्तुओ मे भी दोष-दुख देख अन्त मे सर्व की आसक्ति त्याग कर अविनाशी स्वरूप मे स्थिति का यत्न करना चाहिए।

शिक्षा—विजाति पदार्थो की आसक्ति त्याग के लिए निर्विकार सद्गुरुदेव में प्रथम पूर्ण निष्ठा ही मुख्य साधन है। अत· गुरुदेव से एकनिष्ठ होकर इस प्रकार याचना करना चाहिए। जैसे—

गजल

हे नाथ! इस जगत म, आपी का हे सहारा।
निज दिव्य दृष्टि दे दो, जिससे लगूँ किनारा॥ टेक॥
चौतर्फ सुख की ऑधी, घनघोर बिजली छिन-छिन।
प्राथर झडी विषय की, अज्ञान रात्रि भारा॥ १॥
नदिया बढी मनोमय, नैया पुरानी डगमग।
कामादि क्रोध भौरा, जल-जतु मोह सारा॥ २॥
मेरे सगे हे साथी, भूले सकल हैं स्वार्थी।
एक एक को हे बोरे, क्या नारि बधु प्यारा॥ ३॥
रमणीक नारि सुत धन, चाहूँ न जग बडाई।
स्वर्गादि की न इच्छा, केवल कृपा तुम्हारा॥ ४॥
दुनिया के पोल देखे, छल बल कपट विशेषे।
इससे छुडाओ जल्दी, दो भक्ति का अधारा॥ ५॥
सब शुद्ध हस लक्षण, सत्सग प्रेम जागे।
होवै स्वरूपस्थिति, सुनिये अरज हमारा॥ ६॥

सार—उपरोक्त दृढ भाव बनाते हुए प्रपचासक्ति त्याग कर जीवन्मुक्ति मे विराजना चाहिए।

नारि नेह के चोर जे, सदा रहत भयमान।
मित्र कपट गुरु भेद करि, कीन्ह सॉच सुख हान॥ ९८॥

टीका—स्त्री की आसक्ति को जो अत करण मे छिपाये बैठे है, उनसे जो दुष्कर्म न बन जाय वह थोडा ही है। इसी मे सुख मानने से नर-नारियो मे अनन्त छल, कपट, अनीति भर जाते है, इसी से इन्हे सदा भयभीत रहना पडता है। यदि हितैषी मित्र और सद्गुरु भी पूर्व भाग्य वश मिल गये हो तो भी उनसे वह नारी-स्नेह वश अपने दिल की बात मान-भग के भय से प्रकट नही करता, तो फिर इसकी औषधि कैसे हो। उलटे वह गुरु-साधु, सज्जन-मित्र से दम्भ-भेद करके सत्सग से प्राप्त करने योग्य स्थायी सद्गुण जनित सुख-शाति से दूर रह जाता है। जो कुछ पूर्व में सद्गुण प्राप्त भी हो तो उन्हे कामाग्नि मे भस्म कर अपने सच्चे निष्काम सुख का नाश कर डालता है। कहा भी है—

दोहा—इन्द्री दम लज्जा विनय, ता लों सब शुभ कर्म।
जो लों नारी नयन शर, छेदत नाहीं मर्म॥ ९८॥

जैसे लासा वधिक को, नारि प्रेम त्यों जान।
वुद्धि पंख फँसि जीव के, पर्यो भँवर तजि ज्ञान॥ ९९॥

टीका—यहाँ वधिक-लासा और माया-स्नेह की तुलना की गई है। पर एक लासा, दूसरा महा लासा। वह बाहर का लासा तो यह भीतर का लासा। वह चिडियो को फँसाने का लासा, यह सम्पूर्ण प्राणियो को फँसाने का लासा। वह चिडियो को फँसाकर उनके एक शरीर को कष्ट देकर नष्ट कर देता है। यह सम्पूर्ण प्राणियो को फँसाकर विवेक-पख जकड कर सकाम वासना द्वारा जन्म-मृत्यु त्रिविध ताप का अनन्त कष्ट देता रहता है। वह लासा चिडियो के शरीर से छूकर लस जाता है। यह नैन तथा वाक्य के इशारा द्वारा दूर ही से, यहाँ तक कि स्मरण मात्र से विवेकरूप पख नष्ट कर देता है। वह लासा स्थूल शरीर को नष्ट करने के बाद अमर नहीं करता। यह नारी की सुख-प्रियता रूप लासा स्थूल को घुला-घुलाकर जीवित ही शारीरिक और मानसिक शक्ति नष्ट करके अनन्त काल के लिए विषयासक्ति भँवर मे डाल देता है। भँवर का अर्थ यह है कि जिसमे नीचे-ऊँचे उसी घेरे मे चक्कर लगाया करे बाहर न निकल सके, ऐसा महा भँवर महा माया-स्नेह ही है।[1] इस लासा से सजग न रहने वालो का सब

---

[1] बहुधा मनुष्य विवाद किया करते है कि क्या स्त्री ही मायारूपिणी है, पुरुष नहीं? यह उनका प्रश्न नासमझी से है। यह तो प्रश्न तब हो सकता है कि जब कहा जाय—पुरुषो के लिए स्त्री विकार और बन्धन है तथा मोक्षार्थी स्त्रियो के लिए पुरुष की आसक्ति अमृत और मोक्षदाता है। ऐसा तो नहीं कहा जाता, अपितु दोनो की क्रिया-आसक्ति दोनो की स्थिति में रुकावट रूप है। फिर नारीबन्धन विशेष क्यो कहा जा रहा है? कारण—(१) विशेष वैराग्य का अधिकारी सम्मुख पुरुष है, उसका मोह स्त्री रूप दीप मे होने से बन्धनकारी नारी के सब दोषो को स्पष्ट करके परीक्षा कराया जाता है, जिससे पतिगावत पुरुष का मन उधर से रुके। यही बात कल्याणार्थी स्त्रियाँ पुरुषो की तरफ समझ कर स्थिति कर सकती हैं। (२) अज्ञान की हालत मे दोनो के मन-स्वभाव बिगड गये है। स्त्री झूठ हावभाव, दीनता, छल, प्रपच रचने मे चतुर तो पुरुष नाना प्रपच रचकर बडाई लोभ देकर या जबर्दस्ती हिंसा, क्रूर कठोरता से उसको विवश करने मे प्रवीण हो रहा है। क्या नारी-क्या नर, सब मन के हाथ बिके हैं। दोनो की अधमता किसी से छिपी नहीं है। पर साथ ही नारियो की स्वाभाविक विवशता, अधीनता, परिणाम ज्ञान हीनता, रज-तम आसक्तता भी छिपी नहीं है। यही कारण है कि अधिकार के अनुसार दुर्गुण त्याग सद्गुण ग्रहण करने के लिए नर-नारियो को बराबर सन्त शिक्षा देते ही रहते हैं। विचारवान सत नर-नारियो का बराबर हित चाहते हैं। पर साथ ही उनके मोह फन्दे से अपने को बचाये भी रहते है।

(३) नारी घट की चेष्टा, स्वभाव, मोहकता, आकर्षण बडी गहराई से पुरुष घट मे प्रविष्ट हैं, जिससे वे अविनाशी सद्स्वरूप को भूलकर झूठी देह के ही हाव-भाव मे आसक्त हो वृथा कष्ट उठा रहे है। इसलिए पुरुषो ने नायिकाभेद यान, लिंग, आलिंगन शृंगारादि का झूठा माहात्म्य फैलाया है, अत पुरुष के लिए स्त्री ही महामाया बन्धन-दायी हो रही है। तो उस आसक्ति को नष्ट करने के लिए उतनी ही गहराई से उसे खोदना पडता है जितनी गहराई मे उसमे सुख-प्रियता धँस गई है। यदि ऐसा ज्ञानी पुरुष न करे तो आसक्ति नष्ट न हो। आसक्ति नष्ट किये विना फिर उनका और उनके पीछे

ज्ञान-ध्यान हरण हो जाता है और वे उसी मे जियत-मरत गोते लगाया करते हैं॥ ९९ ॥

नारि देह भवधार है, लहरी कर्म अपार।
बहत जीव तेहि धार मे, धरि धरि देह असार॥ १००॥

टीका—जिसमे मानसिक-शारीरिक कष्ट आदि अत मध्य में चारो ओर से बने ही रहे, कभी भी हृदय मे निर्भयता-निश्चिन्तता न आवे, सदा भय के वश ही रहा करे, रोग, दोष, पुत्र, अपुत्र, लोक-व्यवहार, धन, निर्धन, वैर, ईर्ष्या, विषयासक्ति, जन्म-मरण इत्यादि अनन्त भय का समूह-भवधार युवती घट ही है। उसे मजूर करने पर उसी मे बहना पडता है। युवती-सुख की आशारूप भवसिन्धु मे अनन्त शुभाशुभ कर्मलहरियाँ प्रगट होती है। ऐसी प्रबल आसक्तिरूप धारा मे सब जीव निरन्तर बहते चले जा रहे है, और सार-रहित दुखप्रद भयरूप चार खानियो मे शरीरो के कर्म धारण कर बार-बार देह धरने-छोडने का कष्ट उठा रहे हैं॥ १००॥

दृष्टात—एक बार बडी नदी मे अचानक बडे जोर से बाढ आयी। उसके आसपास के सब गाँव डूब गये। बालक, जवान, बूढे, नर-नारी, बैल, भैस आदि सब बहने लगे। घरो के छप्पर, कडियाँ, दीवार सब टूटकर प्रवाह में बहने लगे। सब हाय-हाय करते-करते रोते हुए अपने-अपने इष्ट का स्मरण करने लगे। कोई तो बडे-बडे लट्ठो को पकडा, कोई छप्पर पर बैठा, मनुष्य के ऊपर मनुष्य सवार, कोई बैल-भैस की पूँछ को पकडा, सब जान बचाने की कोशिश मे थे। उस नदी मे बडे-बडे भँवर पडे थे। भँवर के बीच में जो पड जाय वह उलट-पलट कर उसी में बहुत काल चक्कर काटा करे। उस नदी में बडे-बडे घडियाल, सूँस, कच्छप आदि जतु थे, बहुतो को वे जन्तु खा लेते थे। प्राणी-प्राणी परस्पर एक दूसरे से मिलें, बस तुरन्त कही के कही चले जायँ। बहुत लोग बचने के लिए नदी के फेन को पकडते थे। फेना पकडते ही वह फूट जावे। फिर वे बेचारे क्या करे! इस प्रकार दुखपूर्ण नदी मे सब बह रहे

चलने वाले सहस्रो स्त्री-पुरुषो का कल्याण कैसे हो! इस भवयान में तो नर-नारी दोनो के सुधार की बातें आई हैं, नारीजन न समझे तो क्या किया जाय! चोर के आगे चाँदी की बडाई, पाँखी के आगे दीपक की अच्छाई कहना उनका पतन करना नही तो क्या है! जो लोग स्त्री-विषय की महिमा वर्णन करते हे और जो स्त्रियाँ उसे सुनकर प्रसन्न होती हैं, उन दोनो की दशाए कुपथ्य खा-खाकर आनन्द मानने वाले रोगियो की सी है। अत दोनो सावधानी से बर्ते। प्रथम सग-दोष से ही विकार की उत्पत्ति होती है, ऐसा निश्चय न होने से ही मोहक सग मे रुचि होती हे। बस, वही रुचि विरक्तो को असावधान करके नीचे गिरा देती है, जिससे उनके पीछे चलने वाली सहस्रो नारियों की धर्म-श्रद्धा नष्ट होकर लोक-परलोक बिगडते है। धर्म-श्रद्धा नष्ट होने से आसुरी सम्पत्ति बढकर असख्य प्रकार से अपनी और दूसरे की सामाजिक हानियाँ होती रहती है। इसलिए प्रथम मोहक सग के दोष ही साखियो में विशेष स्पष्ट करते हुए साथ ही अन्य प्रलोभनो को दूर करते हुए अविनाशी स्वरूप के स्थिति-मार्ग को पुष्ट किया गया है। गुरुदेव तो स्त्री और पुरुषो को बरावर निर्देश कर रहे है "नारी नर मदन राग दुखदाई" हे स्त्री और पुरुषो! यह कामजनित आसक्ति ही दुखरूप हे। अतएव नर हो या नारी या नपुसक, जो कोई स्वरूपबोध धारण कर भोगो की सुखासक्ति का निवारण कर देगा वही नि सन्देह मुक्त हो जायेगे। क्योकि नर जीव मे मुक्त होने के सब साधन विद्यमान हैं।

थे। उसमे कोई भी किसी का हितषी न था। सव अपने-अपने दुख से घवराये हुए नजर आते थे। सव अपना ही कुशल चाहते थे। जो चीज पावें उस पर सवार होना ही सवको मूझता था। कोई-कोई किनारे लगकर फिर वीच धारा में चले जाते थे।

सव तरफ हाय हाय, त्राहि त्राहि मच रही थी। यह वात एक धार्मिक पुरुप ने दूर से अपने दिव्य चश्मो मे देखा, तुरन्त ही उसने अपना सुन्दर जहाज धारा में चलाना आरम्भ किया। वडे-वडे रस्से फेक कर चारो तरफ पुकार-पुकार कर कहने लगा—ऐ नारी-नरो। जिसकी इच्छा हो वह इन रस्सो को पकड मेरे जहाज पर चढ़ ले, वस, इस आपत्ति मे वच जायेगा। ऐसा सुनते हुए वहुत-से स्त्री और पुरुप रस्सा को पकड-पकडकर उसी के सहारे जहाज पर आ वेठे। वही उस आपत्ति से वचे, वहुत तो रस्से को पकडते हुए सँभल रहे थे कि तिन्हे दूसरे वहते हुए ठेलकर रस्से को छुडा के साथ ही वहा ले जाते थे। वहुत जहाज को जानते ही न थे। वहुत जानकर भी उस प्रवाह के जोर से कहीं के कहीं वहते चले गये। उन वेचारो का दुख नही छूटा। पर जो भाग्यशाली रस्से को पकडते हुए जहाज पर चढ आये, वही नदी के दुख-द्वन्द्व से पार पाकर सुखी हुए।

सिद्धात—स्त्री-पुरुपो का शरीर क्षणभगुर, अशुद्ध, व्याधि, वन्धन पूर्ण होते हुए भी अनतकाल से परस्पर एक दूसरे का घट मम्मुख रहने से स्थूल की ममता दृढ हो गई हे। इसलिए घट ही मोह उत्पत्ति का हेतु होने से स्त्री का घट ही भ्रम रूप नदी की धारा ह। स्त्री-सुख के लिए ही अनत प्रकार के पाप आर पुण्य, नीति आर अनीति करते रहना, ये सव अनन्त लहरियाँ जानना चाहिए। उस स्त्री-सुख की प्रवल धारा में सव जीव वहते दिखाई दे रहे ह। मोहक घट के सग से मोह, मोह मे काम, काम से क्रोध, क्रोध मे हिसा-उत्पात सव दुर्गुण धारण किये हुए किसी का कोई मित्र देखने मे नहीं आता। स्वार्थ-वश इन्द्रिय विपय-सुखो मे विके हुए तथा इच्छा रूप भँवर मे डूवते हुए विक्षिप्त प्राणी निरन्तर अनादि मे वह रहे हे। न तो किसी के शरीर की स्थिति ह, न धन-जन, प्रभुता, शासन ही की अचलता दिखाई देती ह। आरामतलव तथा विपय-विलास के ठाट वढाकर सव वेचारे इसी सुख के पीछे एक दूसरे का प्राण लेना चाहते ह। विपयकृत सुख-प्रवाह मे कोई अपना हितेपी दिखाई नहीं देता। अहो! काम-क्रोधादि भँवरो मे पडकर कौन-कान से कष्ट का सामना नहीं करना पडता। यही सव दुर्दशा देखकर शुभगुण सम्पन्न वैराग्यवान धार्मिक पुरुप अपना ज्ञान-वोध-रूप 'भवयान' चला रहे हें। उसके भाव-भक्ति के 'रस्से' आर नाना प्रकार के साधन-सयम को ग्रहण कर जो पारखस्थिति रूप जहाज पर वेठ जायेगा, वह तो निष्कलक होकर दुखमय मोह से वच जायेगा, अन्य वेचारे उलटते-पलटते दुखधारा मे गोते लगाया करेंगे। इसलिए आप यदि दुख-द्वन्द्वो के घेरा तथा वार-वार जन्मने-मरने से ओर वर्तमान के नाना कष्टो मे वचना चाहते ह तो मिथ्या शरीर का मोह त्याग कर अपने कल्याणकृत कार्यो मे लग जाइए। यदि स्वत. शक्ति न चले तो क्रमश· शक्ति वढाते हुए सद्गुरु के ज्ञानरूप जहाज पर चढकर शीघ्र पार होइए। कहा भी ह—

छन्द—सतजन हें जगत मे तोहि सुक्ख के दातार रे।
ज्ञान यान चढाय तोहि को महज करिहें पार रे॥ १॥

छोडि के छल छिद्र सब ही प्रेम करि निस्तार रे।
शील समता नम्रता अरु ज्ञान बोध विचार रे॥ २॥
सत्य गहनी सत्य रहनी सत्य पद टकसार रे।
पावन परम पद तीर्थ हे दलि दोष शीघ्र सुधार रे॥ ३॥
हैं अमोलिक रत्न अन्दर बाह्य रूप भिखार रे।
जानते सब भेद मन के काल जाल बुहार रे॥ ४॥
नित्य अविचल एकरस पावन परम अविकार रे।
मित्र शत्रू सबहि रक्षत जानि जग परिवार रे॥ ५॥
देखि उर निर्छल अमद जन गूढ तत्व प्रसार रे।
कहँ तक कहै महिमा परम हे साधु साधु सम्हार रे॥ ६॥
काज पूरण होयॅ सबहीं गुरु कृपा आधार रे।
करि प्रेम नेम जो सन्त सग मे हो रहे निरधार रे॥ ७॥

नारि बिषय सुख चाह उठि, करत जीव परतत्र।
है प्रतत्र भरमत सदा, होत नही दुख अत॥ १०१॥

टीका—नारि-विपय मे सुख भाव उत्पन्न होते ही जीव परवश हो जाता है, चचलता जीव को सहन नही है। कामनावश चचल हुआ जीव स्पर्श कामना की शाति स्त्री-सम्बन्ध से ही मानकर प्रथम तो उस कामना के हाथ बिक जाता है, पुन. बाहर बनिता आदि के हाथ बिक जाता है। फिर जो दूसरे के हाथ बिक गया उसकी परवशता और दुख सताप की क्या थाह! अनादि काल से आज तक कितना दुख पाया, इसकी गणना नही। अगणित समय तक दुख ही दुख भोग करेगा। जब तक उसे त्याग न सके तब तक देह धर-धर कर दुख के बीच ही में है॥ १०१॥

देत तनहिं तन भोग में, चित्र लेत मन खीच।
चित्र कॉट खटकत प्रथम, पुन चहत भग नीच॥ १०२॥

टीका—स्त्री अपना तन पुरुष को और पुरुष अपना तन स्त्री को स्पर्श सम्बन्ध मे दे देते हे। उनमे सुख निश्चयता और दोनो-दोनो की इन्द्रिय-गढन आदि का कल्पित चित्र अन्त करण मे खीच लेते है। इस प्रकार पूर्व मे जो विषय अध्यास रूप कॉटा चुभा लिया हे वही पुन घट-चित्र और सुखाध्यास-सुखप्रियतारूप कॉटा अत करण मे खटकता अर्थात स्मरण होता है, जिससे फिर तुच्छ बुद्धिवाला जीव मलिन इन्द्रियो के सम्बन्ध का गर्जी बनता है॥ १०२॥

शिक्षा—हे जीव! उत्तम मनुष्य चोला पाकर तू अपनी नीचता त्याग दे।

गजल—तजै निज नीचता जिव तू, भजै गुरुपद सदाई है।
ठहर सत्सग मे देखै, कि कैसे हो भलाई है॥ टेक॥
सकल साक्षी स्वत· पद तू, परम पावन सुहावन तू।
घुमा कर भोग वृत्ती को, तजै जड भास काई है॥ १॥
सकल मन इन्द्रियॉ जड है, जो कुछ ये दृश्य दीखै है।
वो सब नश्वर अशुचि जानै, न इनमे ज्ञान राई है॥ २॥

करे आवर्ण सम्बन्धे, सकल विक्षेप ताही मे।
हटो सम्वन्ध से जहँ तक, इसीसे सव वडाई ह॥ ३॥
नही भूलो ये माया में, जल क्यो भोग भट्ठी मे।
सम्हर निज रुप केहरि तू, टहर तव चन पाई है॥ ४॥

नारि जहेर अति मीठ ह, भूलि कोई मति खाय।
जन्म मरण दुख खानि है, रही सदा भरमाय॥ १०३॥

टीका—प्रमदाओ के रूप, शव्द, गति, स्पर्श, क्रिया आदि में जो जितना ही आसक्त हो जाता हे उतना ही जहर खानेवत विभात हो जाता ह। विभ्राति-वश सव दुर्दशा भोगते हुए भी प्रमदा-विषय को छोडना नही चाहता। इसने उसे अति मीठा मान रक्खा ह। जहर से केवल मूर्च्छा या मृत्यु होती है, परतु काम भोग के ग्रहण करने मे वर्तमान मे किसिम-किसिम के दुखो की प्राप्ति होती ही हे, आग भी विषयाध्यासवश असख्य वार देह धर-धरकर दुख भोगना पडता ह। ऐसी दुख की रगशि प्रमदा विषय ह जो जीव को भटकाया ही करता ह, कभी स्थिर नहीं होने देता। इसलिए ज्ञान, भक्ति, वराग्य, सजगता, साधनरूप प्राणशक्ति का नाश करने वाली माया जहर के समान ह। ऐसे महान विष[1] को कोई भी मोक्षार्थी भूल मे कभी ग्रहण न करे॥ १०३॥

रूप फाँस मे जीव फँसि, शव्द वाण हिय वेधि।
स्पर्श विषय सुख चाह उठि, जलत विषयविष एँधि॥ १०४॥

टीका—पुरुष युवती की घट-सुन्दरता को आर स्त्री पुरुष के घट-सादर्य को देखते ही एक दूसरे के रूपफाँस मे फँस जाते हें। साथ ही आपस के विष भरे मधुर कामरस सयुक्त हाव-भाव के वचनवाण एक दूसरे के हृदय मे विंध जाते ह। रूप आर शव्द क सयोग से दवी हुई स्पर्शसुख की इच्छा सम्मुख हो जाती ह, तव स्त्री आर पुरुष एक दूसरे मे अग्नि-ईधन की भाँति विषय-क्रिया मे जलने लगते ह॥ १०४॥

देखत युवती सुक्ख है, सपरश देत जलाय।
फिरि फिरि लखि सपरश फिर, फिरि फिरि तेहि वतलाय॥ १०५॥

---

१ कवित्त

नन घूमि जाय पुनि जीभ ऐंठ जाय पुनि, कण्ठ रुँधि जाय पुनि श्वाँस रुक जात ह।
शूल उठि जाय पुनि भूल होय जाय पुनि, आगि जल माहि कूदि पुनि मरि जात ह॥
आरहूँ अनेक कष्ट जामे जो जहर नाम, सो तो एक देह ही मे कष्ट दिखलात ह।
पुनि पुनि मरे धरे पुनि पुनि जरे परे, विषहूँ मे विष यह वाम विष भात ह॥ १॥
जहर के खाये मे हरत ज्ञान वल वुद्धि, याके स्मर्ण ही मे धीरता विलात ह।
जहर को खाय करि आपही विनाश होय, याके मोह माहि कोटि कोटि करे घात ह॥
जहर को जानि वूझि खाय न सकत कोइ, याको अति कोशिश से पुनि पुनि धात ह।
याहि ते अधिक ही सजग वुद्धिमान रह, विषहूँ मे विष जानि त्याग सुखपात ह॥ २॥

फिरि फिरि धारा अगम है, होत नही तेहि अन्त।
बल धन बीर्य निपात ह्वै, ख्वाहिश बढे अनन्त॥ १०६॥

टीका—स्त्रीरूप माया की चमक-दमक देखने मे तो कोमल, सुन्दर तथा सुखदायी मालूम होती है, पर उसका स्पर्श करते ही वह बल-वीर्य और शुभगुणो को जला देती है। यह नही कि उसको एक ही बार देखने और स्पर्श करने से हमेशा छुट्टी मिल जाय, बल्कि बार-बार उसके रूप को देखकर कामाग्नि प्रबल होती है और बारम्बार उसके मैथुन विषय मे पुरुष जलते है और बार-बार उसी कामरस की बाते बतलाकर उसके रूप, शब्द, गति, स्पर्श क्रिया की विरह भावना बढती हे॥ १०५॥ युवती के रूप और शब्द से स्पर्श का जहर चढता है और स्पर्श के जहर से उसके रूप देखने, शब्द सुनने तथा स्पर्शादि क्रिया की फिर-फिर भावना प्रबल होती है। यह धारा पुन -पुन प्रबल होती जाती है, उसका अत नही है। परिणाम इसका यह होता है कि शारीरिक शक्ति, वीर्य ओर मानसिक विचारबल का नाश तथा स्वार्थिक धनादि और पारमार्थिक सद्‌गुणरूप सम्पत्ति-बल सब लुप्त हो जाते है और भीतर अनन्त कामनाएँ बढ जाती है। यथा पूरण साहिब ने कहा है—

दोहा—*ज्ञान हरे क्रिया हरै, बल वीर्य हरै लाज।*
यश लक्ष्मी कीरति हरै, हरै तप मुक्ति समाज॥ १०६॥

ख्वाहिश दुख सबके लिए, मिलै तो ख्वाहिश होय।
बिन पुरुषारथ मिलत नहिं, मिले तो बिछुडत सोय॥ १०७॥

टीका—मैथुन की इच्छा से कामना का दुसह दुख होता है। यह कामना का दुख क्या बादशाह, क्या धनी, क्या अमीर, क्या गरीब, क्या स्त्री, क्या पुरुष सबके लिए है। फिर जब माया के पदार्थ मिल जाते हे तो उनसे कामना बुझने के बदले बढ जाती है। बिना परिश्रम किये माया मिलती नही। बडी मेहनत से स्त्री आदि माया मिली भी तो ऐसा नही कि वह सदा बनी रहे, बल्कि अनेक विघ्नो से वह छूट ही जाती है॥ १०७॥

इन्द्रिय-सुख स्ववश नही है

दृष्टात—पृथ्वीराज और जयचन्द दोनो क्षत्रिय थे। जयचन्द पृथ्वीराज से विरोध मानता था। जयचन्द की एक सुन्दरी लडकी थी। पृथ्वीराज उसे कही देख गया था। दोनो का मन भी मिल गया था। पृथ्वीराज उस समय राजा था, पर जयचन्द की इच्छा उससे शादी करने की न थी। उसने अपनी प्यारी पुत्री के स्वयम्बर मे देश-देश के क्षत्रिय राजकुमारो को बुलाया, पर पृथ्वीराज को न बुलाया। पृथ्वीराज का अपमान करने के लिए उसी की काष्ठमूर्ति बनाकर फाटक पर द्वारपाल के समान खडा कर दिया था। उस एक राजकुमारी को लेने की इच्छा सब राजकुमारो की थी। लडकी ने जयमाला और किसी राजकुमार को न पहिनाकर उस काष्ठमूर्ति पृथ्वीराज के ही गले मे डाल दी। पृथ्वीराज भी उसकी ताक ही मे था। बिना निमन्त्रण ही वह स्वयम्बर मे आकर छिपा हुआ था। पृथ्वीराज घात पाकर तुरन्त जयचन्द की पुत्री को घोडे पर बैठाकर भगा ले गया। उसका पीछा करने वाले बहुत से सरदारो ने घोडे दौडाये पर उसका घोडा हवा के समान आगे बढ गया आर वह अपने राजमहल मे दाखिल हो गया। जयचन्द

आर सब राजकुमार हाथ मलते रह गये। पृथ्वीराज उस नवीन स्त्री की आसक्ति मे इतने भूले कि राजकाज बारबाट होने लगा। इतने में जयचन्द ने मुसलमानों से मिलकर पृथ्वीराज को मरवा डाला। अन्त मे जयचन्द भी मुसलमानो के हाथ मारा गया। इस प्रकार सभी भोग विघ्न सहित छलरूप ह। स्वयम्बर मे आये हुए सबकी इच्छा थी कि यह युवती हमको मिले, पर उसमे पृथ्वीराज विघ्न पड गये। पृथ्वीराज की इच्छा थी कि इस युवती के साथ हम राज्यसुख भोगते हुए बहुत काल तक जीवन व्यतीत कर, पर उसमें मुसलमान बाधक हुए। जयचन्द भी राज्य चाहते थे, परन्तु राज्य के बदले उनका भी विनाश हो गया। इस प्रकार शरीर आर शरीर सम्बन्धी सब पदार्थ विघ्नरूप परवश ह। अत इनसे भिन्न स्वरूपस्थिति का कार्य करना चाहिए।

नैन सैन मन वशि कर, सपरश ते कसि लेय।
भालू मम मन नाथि कै, बैन झिकोरा देय॥ १०८॥

टीका—विषय-इच्छा ही महामाया हैं। उस इच्छा को भोगों मे स्त्री-पुरुष पूर्ण करना चाहते हैं। अपने-अपने घट-स्वभाव के अनुसार एक दूसरे पर मोहजाल डालकर मोहित कर लेते ह। स्त्री अपने नेत्रादि अगो के इशारे मे पुरुष को उद्वेगित कर देती हे। पुन: उसे अपना गर्जबन्दा बनाकर स्पर्श द्वारा उसकी शारीरिक-मानसिक शक्ति हरण कर लेती ह। फिर चारो तरफ मे ऐसा बाँध लेती है कि कल्याणमार्ग पर चलने में मनुष्य असमर्थ हो जाता है। जैसे मदारी भालू को नाथ कर इशारे से नचाता ह, वैसे माया अपने कटु-मीठे वचन-रूप इशारे मे मोहासक्त पुरुष के अन्त:करण को विहल करके उसे अनर्थ मे डालती रहती ह॥ १०८॥

कवित्त

अपने अज्ञान से ही सुख मानि भोग माहि, वैसहि क्रिया को भाव नारि नर लावते।
चलनि फिरनि चितवनि जु हँसनि आर, सकुचनि विकसनि रादनि स्वभाव ते॥
अग अग बात बात काम रस झलकाय, दोनो भूलि जावे जसे मदपीया धावते।
मनुज समर्थ बोध भक्ति ज्ञान ध्यान छोडि, माया मन पूर्ति हेतु जनम बितावते॥

सोरठा

कर काज व्यवहार, प्रियवादिन अनकूल रुचि।
राख मन अनुसार, लिये कलेजा हाथ मे॥ १०९॥

टीका—प्रिय वचनो मे तथा आर भी सब प्रकार मे इन्द्रियों को आराम देनेवाली, मनसा के अनुसार सब गृहकाज सम्हालनेवाली, मन के अनुकूल स्त्री ही पुरुष के अन्त करण को वश मे करके उसे जहाँ-तहाँ भ्रमाती रहती ह[1] ॥ १०९॥

स्पष्ट—यदि प्रबल विवेक न हो तो अनुकूल स्त्री उसके साथ ही आज्ञाकारी पुत्र तथा अनुकूल धन पाकर कान ऐसा मनुष्य ह जो कि इनके बन्धनो को तोड सके। काष्ट आर लोहे की

---

१ स्त्री अपने पति के अनुकूल व्यवहार करे, यह गृहस्थी का कर्तव्य ह। यहाँ मुमुक्षु गृहस्थ को सावधान किया गया ह।

बेडियॉ टूट सकती है, परतु ममता की बेडी मनानुसार वस्तु पाकर पुष्ट होती है। माया की अनुकूलता से मनुष्य इतना गाफिल हो रहा है कि दिन-रात जाते भी उसे प्रतीत नहीं होता। वह मै कौन हूँ, जगत क्या है, इससे क्या सम्बन्ध है, मनुष्य का क्या कर्तव्य है, और हमारे हितैषी मार्ग कौन से है, इन सबों का विवेक छोडकर मन-माया की भोगपुरौती मे ही लगा रहता है। माया ने जीव के अन्त करण को पूर्ण स्ववश कर उसे खिलवाड बना रक्खा है। अत. यह शिक्षा भली विधि स्मरण रहे—

भजन

हमारे मन केहि मानत अनुकूल॥ टेक॥

सुख मनसा के प्रेरे सबही, फिरत वायु ज्यों तूल।
सगत सस्कार वश पलटत, शत्रु मित्र क्यो भूल॥ १॥
भामिनि भाव विषयरस हेतू, काम क्रोध मद भूल।
भक्ति विवेक स्ववशता हरि के, देत असक्ति मे हूल॥ २॥
काटै पीटैं ठेलैं बाधै, सुख वश लोग बबूल।
मन प्रवाह मे व्याकुल ह्वै सब, डुबत डुबावत भूल॥ ३॥
धन जमीन बपु महल मनोहर, पच विषय जड धूल।
सकल सृष्टि परिवर्तन दीखत, सब विजाति प्रतिकूल॥ ४॥
व्याधि विकार पूर्ण यह यौवन, मन है शोक समूल।
विद्या बुद्धि वाक्य चतुराई, बिन गुरु छूल को फूल॥ ५।
सब प्रतिकूल जानि दुखरूपी, वेगि तजहु मदकूल।
प्रेम सहित साधन पथ लागहु, गुरुपद नित्य कबूल॥ ६॥

साखी

खानपान सुखभोग जो, मिलत भाग्य ते मान।
तृष्णा शोक कुकर्म बढि, बिन बोध अभाग्यहि जान॥ ११०॥

टीका—अन्न, वस्त्र, स्त्री, पुत्र, धन, जन, जमीनादि की अनुकूलता, पूर्व जन्मो के किये गये दान, धर्म आदि शुद्ध कर्मो के फल है, भाग्य से ये मिलते है, परतु साधुसंग, बोध-ज्ञान, विवेक आदि प्राप्त न किया जाय तो माया के सम्बन्ध-दोष से तृष्णा, चिन्ता, व्यभिचार, लोभ, मोहादि, बढकर निरन्तर अब और आगे जन्मो मे दुख ही होता रहता है, इसलिये स्वरूपबोध और यथार्थ आचरण बिना मायावी ऐश्वर्य अभाग्य ही जानना चाहिए॥ ११०॥

भाग्यशाली कौन?

दृष्टान्त—शिष्य ने गुरु से पूछा—भाग्यशाली कौन है? गुरु—जिसे स्वस्वरूप का ज्ञान है और इन्द्रिय-मन पर कब्जा है, विषयो से विरक्ति हे, वही भाग्यशाली है। गुरु-शिष्य एक बडे शहर मे होकर निकले। शिष्य—गुरुजी। आप जगत-सुखो को दुख बतलाते है। देखिए। यह सेठ कैसा भाग्यशाली है, शरीर से हृष्टपुष्ट है, मखमल की ऊँची गद्दी पर बैठा है, आगे रत्न, पन्ना, जवाहिरातो की ढेर लगी है, दास-दासी आज्ञाकारी आगे-पीछे खडे है। गुरु ने कहा—लौकिक दृष्टि से तेरी बात ठीक है, परन्तु द्रव्य, स्त्री आदि के नशे से नीच कर्म करने वाले जन्मान्तर मे नीची ही दशा को प्राप्त होते हे और वर्तमान मे भी अज्ञान के कारण उन्हे

दुख-द्वन्द्व लगे ही रहते ह। चलो। इसके यहाँ चले, ऐमा कह कर गुरु-शिष्य सेठ के यहाँ चले गये। देखते ही सेठजी सादर प्रणाम करके सुन्दर आमन पर वठाये। फिर आज्ञा लेकर पाक वनवाया, दोनो सतो को प्रसाद पवाकर अत:पुर मे वठाये। पुन· सेठजी हाथ जोडकर सामने वैठ गये, आँखो मे पानी भर आया।

सत वोले—सेठजी। क्यो करुणा कर रहे हो, आपकी तो लक्ष्मी दासी हो रही हे, स्त्री भी पतिव्रता हे, सर्व सुखो से पूर्ण हो। सेठजी रोकर कहने लगे—संत-भगवान। मुझमे दुखी जगत मे कोई नहीं हे। मेरा सव सुख मिट्टी हो रहा ह। एक सन्तानरूप दीपक के विना सव अधेरा दीखता हे। मुझे यही कष्ट ह कि मेरे मरने के वाद यह धन कौन लेगा। सत उन्हे अमृत वाक्यों द्वारा संतोष देकर चल दिये। कुछ दूर आकर शिष्य से कहा—देखा। पुन. दोनों आगे चलकर वहुत पुत्र वाले के द्वार को देख गुरुजी वहाँ ही ठहर गये। घर का वूढा गुरु-शिष्य का सत्कार करने के पीछे रोकर अपना दुख सुनाने लगा—हे सन्त-भगवान। आठ लडके, चार लडकियाँ हे। उनके भी कुछ पुत्र-पुत्रियॉ हे। मुझे खोफ लग रही हे कि मेरी इज्जत-आवरू कैसे रहेगी। घर में धन नही हें, सॉझ तक भी सवके खाने का प्रवन्ध मुश्किल से होता ह। कृपया धन प्राप्ति की कोई युक्ति वताइए। गुरुजी उन्हे ममझा-वुझाकर वहाँ से चल दिये। गुरु ने शिष्य से कहा—देखा। ये वाल-गोपाल से सम्पन्न ह, तो भी इनको कितना दुख है। आगे चलकर विपुल धन ओर वाल-वच्चो से सुखी घर को देखा। गुरुजी वहाँ ठहर गये। उस घर के स्वामी ने दोनो अतिथियो का स्वागत करने के पीछे अपना दुख वताया—हे सत। आपकी कृपा से मेरे घर मे अन्न, धन, दूध, पूत, लक्ष्मी की कमी नहीं हे, पर मुझे एक वडा भारी कष्ट ह कि मेरा वडा पुत्र कहे मे नहीं चलता, छोटा पुत्र वीमार ही रहा करता हे और कई लाख रुपये लगा कर मेरी लडकी की शादी हुई थी, उसका पति मर गया हे, अहो। क्या कहूँ। मेरा हृदय जला करता ह, उसकी शाति का कुछ उपाय वताइए।

सन्त उन्हे प्रारब्ध भोग से दुख-मुख होना आर ज्ञान-वेराग्य की वाते समझा, सतोप देकर वहॉ से चल दिए। शिष्य से गुरु ने कहा—देख लिया। अच्छा, आगे और चले, देखा कि एक घर मे केवल स्त्री-पुरुप थे। दोनो हृष्टपुष्ट-मुन्दर और रुपये-पंमे से सुखी मालूम होते थे। सन्त उनके यहॉ ठहर गये। वह पुरुप सत्कार करके कहीं चला गया। इतने मे उसकी स्त्री आकर रोने लगी आर कहने लगी, हे सन्त। मेरे प्राणपति को समझा दीजिए, इनको करने, खाने, पीने का सव मुख ह, में जैसी आज्ञाकारिणी स्त्री हूँ तो भी ये एक वेश्या के यहॉ जाते हे, जो धन मिलता हें, उसी को दे आते ह। मन्त ज्यो-त्यो समता के एक-दो वाक्य कहते हुए आगे वढे कि एक पुरुप वठा रो रहा था। सत को देखकर उसने प्रणाम किया। सन्त वोले—भाई। दुखी क्यो हो? वह वोला—हाय। वडे प्रयत्न ओर कष्ट से लुगाई लाया था। वह अव दूसरो की सोहवत मे भाग रही हे। आप कोई जारन-मोहन मन्त्र वता दीजिए जिससे मेरी भलाई हो। मन्त उसे कुछ समझाकर आगे वढे ओर शिष्य से कहा—देखा। विना स्वरूपज्ञान तथा उसकी स्थिति के यह ससार स्त्री, पुत्र, धन, पुरुप आदि से मपन्न होते हुए भी अभागे हं। इमलिये भातिक पदार्थो मे प्रमाद, तृष्णा, शोक, कुकर्म वढकर हमेशा जलन होती रहती ह, क्योकि सव चेष्टाओ को देखने वाला आर विवेक से उन्हे त्यागकर स्थिर रहने वाला ही सुखी तथा भाग्यशाली ह।

एक सन्त अकेले क्लेश-रहित शान्त हो रहे थे। एक ने पूछा—आप किसके आधार से निधडक बैठे रहते है? सन्त—धैर्य ही हमारा पिता हे जो कि मेरे संकट मे परम सहायक है। क्षमा ही माता है जो मेरा सब प्रकार पालन करती है। शाति ही मनोहर स्त्री हे जो निर्विक्षेप अभय सुखदायिनी है। सत्य ही मेरा पुत्र है जो कि दुख से बचाता है। दया ही मेरी बहिन है जो कि विपत्ति परे काम आती है। सयम ही मेरा प्रिय भाई है जो तृष्णा, भोग-रोग, कुसग, प्रलोभन के समय मुझे बचाता हे। इन कुटुम्बियो से मै निधडक शात हो रहा हूँ। सबका मतलब यह है कि मेरे समान इन्द्रिय-मन को स्ववश करके सब शुभगुण सहित अपने नित्य स्वरूप के स्थिति-साधन में लग जाइए, बस आपसे बढकर कोई भाग्यशाली नहीं है।

शिक्षा—ससारी सुख होते हुए भी स्थायी स्थिति के लिए धर्माग, बोध, सत्सग प्रयत्न पूर्वक ग्रहण करते रहना चाहिए। यदि निष्कामभाव मे धर्म सेवन सहित बोध प्राप्त किया तो उसे मोक्ष स्थिति अवश्य मिलेगी और यदि सकामभाव से शुभाचरण किया गया तो जगत-सुख मिलता रहेगा, साथ ही कभी सत्सग का सयोग बन कर सकाम भावना बदल कर निष्कामता प्राप्त होने से मोक्ष स्थिति भी हो जायेगी। इसलिए हमेशा धर्मरत रहे।

प्रसंग १३—स्त्री-पुरुषों के घटों की असारता व भ्रमरूप कथन

कारण कारज बस्तु है, ज्ञान दृष्टि दरशाय।
नारि पुरुष कुछ बस्तु नहिं, जड चेतन नहिं आय॥ १११॥

टीका—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु का समूह रूप विस्तार तो कारण है, और उनके परस्पर सयोग से बने हुए बीज, वृक्ष, गेहादि कार्य है। वे कारण और कार्य वस्तु रूप है, सो ज्ञान से जाने जाते है। स्त्री-पुरुष के शरीर की मोहकता-अश कोई स्वतन्त्र वस्तु नही है। वह न जड मे है न चेतन में है। स्त्री और पुरुषो के वासनाजनित शरीरो की बनावट तथा इन्द्रियो का अवरेब कही भी जड तत्वो के कारण-कार्य मे नही पाये जाते ओर शुद्ध चेतन में भी नही अनुभव होते। जड-चेतन सम्बन्ध मे ही भ्रम-वासना-रचित दोनों शरीरो का विस्तार है। इसलिये भ्रम-वासनारूप नर-नारी शरीरो का सुखाध्यास न जड हे, न चेतन है॥ १११॥

चारि तत्व को खेत मिलि, बीज करत निज रूप।
खेत बीज न्यारा करौ, बीच मे कौन स्वरूप॥ ११२॥

टीका—पृथ्वी जलादि तत्वयुक्त खेत मे बोये गये या रहे हुए बीज खेत की सामग्री को अपना रूप बनाकर वृक्षाकार बडे रूप मे हो जाते हैं। यदि खेत और बीज अलग-अलग कर दिये जायें तो किसी बीज से वृक्ष अथवा किसी वृक्ष से बीज नही उत्पन्न हो सकते। विवेकदृष्टि से खेत-बीज पृथक-पृथक कर देने पर वृक्ष का आकार परमाणु-ढेरी के अतिरिक्त कुछ दृष्टि न आयेगा। तद्वत वासना युक्त रज-वीर्य से बनी स्त्री-पुरुषो की देहे वासना के मिथ्यात्व पर ध्यान देने से आकर्षण की वस्तुए नहीं रह जातीं॥ ११२॥

खेत बीज दो बस्तु है, मिटत बोध ते नाहिं।
देह बासना बीज हे, बोध भये मिटि जाहिं॥ ११३॥

टीका—खेत ओर वीज साकार तत्वयुक्त परमाणु-समूह पृथक-पृथक दो पदार्थ हैं। वे ज्ञान से जान लेने पर भी मिट नहीं सकते ओर यहाँ देह वनने मे मुख्य कारण वासना-वीज हे, जो यथार्थ वोध होते ही मिट जाता हे[1] ॥ ११३ ॥

पंच विपय सुख मानना, जड़ासक्ति है जोय।
जड़प्रियता अज्ञान यह, यह ही बन्धन होय॥ ११४॥

टीका—विजाति पच विपयो में सुख मान लेना जड़भोगो के लिए क्रिया करके उनमे आसक्त होना ओर उन्हीं मे आनन्द दृढकर उनकी मोह, ममता, आसक्ति में वँध जाना अज्ञान का स्वरूप हे, ओर इसी से देहरूप बन्धन का प्रवाह वनते चला आया ह ॥ ११४ ॥

पच विपय जड छोड़ि के, चेतन को अलग्याय।
मानना अध्यास आसक्ति जो, देह वीज ये आय॥ ११५॥

टीका—पाँचो विपयरूप तत्वो के परमाणुओ की ढेरी और उनके द्रष्टा चेतन जीवो को पृथक करने के वाद जो वीच मे छायावत विपयों मे सुख निश्चय करना, विपयो के भोगे हुए सस्कार, ओर विपयासक्ति हैं, ये ही स्त्री-पुरुपो की देह वनने में वीजरूप ह ॥ ११५ ॥

वोध भये मिटि जात है, ताते नहीं अकार।
वस्तु वोध ते मिटत नहिं, मिथ्या भर्म असार॥ ११६॥

---

१ वोधमात्र से खेत-वीज या वृक्ष नहीं मिट सकते, क्योकि वे मव परमाणुरूप पदार्थ हैं और इधर देह वनाने का वीज वासना हे। यह वासना स्वरूपज्ञान से मिट जाती हैं। तमाम देवी, देव, कर्ता आदि की कल्पित वामना पहिले मव सत्य भाम होती थी, उनके लिए सिर पर नित्य हैरानी सवार थी, परन्तु आज ठीक-ठीक स्वरूपज्ञान द्वारा उन अनुमान-कल्पनाओ को मिथ्या समझ लेने पर सर्व भय मिट गया अथवा खानिजाल मे नाच, रग, नशा, प्रपच आदि अन्य विपय-व्यापार सव महादुखरूप हैं, ऐमा दृढ वोध होते ही उधर का खिंचाव मिट गया। अभी देखिए, किसी से कुछ वात कहने या कोई कार्य करने की वासना उदय होने पर ऐमा प्रतीत होता है कि मानो इस वाक्य को वोले विना और यह कार्य किए विना सव हानि हो जायगी। फिर थोडी देर ठहर कर ठीक विचार करने पर जव वह निश्चय पलट जाता हे, तव वह वासना जो पहले महा कायल करती थी, विलकुल लापता हो जाती है। वह विलकुल निरर्थक लगती है। इम प्रकार यथार्थ वोध हो जाने पर वासनाएँ मिटतीं हुई प्रत्यक्ष देखी जा रही हैं। जो ज्ञान मे मिट जाय और अज्ञान से वन जाय उसका वास्तविक स्वरूप कुछ नहीं होता। जैमे ठूँठ-चोर की अँधेरे मे प्रतीति आर उजाले मे कुछ नहीं, वैसे ही वामनाएँ प्रत्यक्ष अविवेक से वन रही हैं, विवेक से एकदम लापता हो जाती हैं। अत वासनाओ का स्वतन्त्र स्वरूप कुछ नहीं ह। काम, क्रोध, लोभ, मोहादि वामनाएँ अविवेक हालत में हरदम हैरान करती रहती हैं ओर वही विवेक हालत मे विलकुल अभाव हो जाती ह। इन विचारो से वीज वृक्षवत वासना कोई पदार्थ नहीं हे, परन्तु जड-चेतन दो पदार्थो के वीच मे इस मिथ्या वामना-वीज को देहधारी जीव अनादि से भ्रम द्वारा पुप्ट कर रहे हैं। जैमे वृक्षो की विचित्रता वीज मे विचार द्वारा लीन करने से वृक्ष सिवा खेत की मामग्रीरूप परमाणु ढेरी के अतिरिक्त और कुछ नहीं निश्चय होता, तद्वत वासनायुक्त रज-वीर्य द्वारा निर्मित देह की विचित्रता भी वासनामय मिथ्या समझ लेने से परमाणुओ की ढेरी के अलावा इसमे मोहकता अश नहीं रह जाता।

टीका—यथार्थ स्वरूपज्ञान से भूल सहित मानना, अध्यास तथा सुखासक्ति मिट जाती है। वस्तु कभी ज्ञान द्वारा नहीं मिटती। जड-चेतन दोनों पदार्थ अनादि होने से ज्ञान द्वारा मिट नहीं सकते और वासना बोध द्वारा नष्ट हो जाती है। निज स्वरूप के भ्रम से बनी हुई वासनाएँ निज स्वरूप के ज्ञान से नष्ट हो जाती हैं। इससे वासनाओ का कोई आकार युक्त स्वतन्त्र स्वरूप नही है। इसलिए जिसकी बीज-नासना ही मिथ्या-भ्रम है, उसका वृक्षरूप शरीर कब सत्य हो सकता। अत देहादि प्रपर्च मिथ्या निःसार है॥ ११६॥

स्पष्ट—विवेकदृष्टि से देखने पर पच विषयो मे सुख है ही नही, क्योकि उन्ही विषयो से सबको दुख भी हुआ करता है। विषयो मे सुख प्रतीत ही जीव के सामने सस्कार उठा कर चचल कर सर्व अनर्थ मे डालता रहता है। यह सबको नित्य ही अनुभव हो रहा है। इस विचार से सुख कुछ न होते हुए भी इतना दृढ हो रहा है कि 'सुख झूठा है' ऐसा सुनते ही आश्चर्य-सा मालूम होने लगता है, इतना जीव को 'सुख' सत्य प्रतीत हो रहा है, पर यह सत्य प्रतीति अज्ञान की ही दशा तक है। यथार्थ पारख ज्ञान होने पर सुखाध्यास मानना बन्ध्यापुत्रवत अभाव हो जाता है। प्रत्यक्ष देखिए, जो लोग पूर्व अविवेक हालत मे जिस स्त्री, पुत्र, धन, गेह और कर्ता-धर्ता अनुमान के लिए जान देते थे, उनके मिलने पर हर्ष और न मिलने पर बहुत दुख का अनुभव करते थे, वे भी जब सत्सग से सत्यस्वरूप का यथार्थ निश्चय कर लेते है, तब उसे त्यागने के लिए तत्पर हो जाते हैं। किसी परवशता से पूर्व घेरे के अन्दर रहते हुए भी हर प्रकार की युक्ति-प्रयुक्ति करके अन्त मे उसे त्याग ही देते है। आवश्यक प्रारब्ध निर्वाह को छोडकर बाकी सब कुछ त्यागकर उदासीन हो जाते हैं। प्रारब्ध के निर्वाह मे भी सुखभाव त्यागकर केवल प्रारब्धयात्रा पूर्ण के लिए ही विवेकयुक्त बर्ताव करते हुए आगे के सुखाशारूप बीज को दग्ध कर देते है। ऐसे पुरुषो की विजाति देह और पच विषयो मे सुखराग की जड कट जाने से प्रारब्धात मे खिचाव नही होता, तब उनकी जड-चेतन की ग्रन्थि टूट जाती है। इस प्रकार आगामी वासना-बीज दग्ध होने से आगे शरीर बनने का प्रवाह बन्द हो जाता है। इसी से कहा गया है कि "बोध भये मिट जात है, ताते नही अकार" यथार्थ बोध-स्थिति होने से वासना रचित स्त्री-पुरुषो के भविष्य शरीरो का रफ्तार बन्द हो जाता है। क्योकि जब बीज ही नहीं तो वृक्ष कहाँ। जब सुख बीज ही दग्ध हो गया तो सुखाध्यास कृत देह ही कहाँ। यही बात इस वर्तमान शरीर पर भी लागू कीजिए। यह जो नर-नारियो का शरीर बना है सो मनोमय वासना से पृथक नहीं है, क्योकि नर-नारियो की रचना केवल जड सृष्टि मे नही और न शुद्ध चैतन्य मे ही अनुभव होती है। दोनो के सम्बन्ध मे ही देह का अनुभव हो रहा है। गम्भीरता से विचार पूर्वक देखा जाय कि जड-चेतन का सम्बन्ध कैसे है। स्मरण-चेष्टा के बिना कोई क्रिया शरीर मे होती नहीं और स्मरण या चेष्टा भी बिना मानन्दी के नही होती। स्मरण चेष्टा या मानन्दी मात्र ही देह और जीव का सम्बन्ध है, क्योकि स्मरणरूप मन ही द्वारा जीव इन्द्रियो का प्रेरक होता रहता है।

अत· जड-चेतन को जोडने वाली मानन्दी ही है। मानन्दी भूल से है। भूल की परीक्षा होने से भूल सहित सुख-मानन्दी नष्ट हो जाती है। इसलिये मानन्दी कोई चीज नही। शरीर अवस्तु मानन्दीजन्य होने के कारण असत्य है। ऐसा होते हुए भी पर्न प्रारब्ध के कारण सत्य प्रतीत हो रहा है। इसमे भेद यह है कि जिन कर्मवासनाओ से शरीर बन गया है, उनको रचते

समय पूर्व जन्म मे सत्य ही भास होकर सूक्ष्म देह दृढ की गयी, इसी सत्यता के निश्चयतारूप बीज के अनुसार देह, इन्द्रिय आर अत.करण आदि सब साज बन गये ह। अतएव अज्ञान से शरीर तथा विपयों मे सुखाभास होता हे। परन्तु विवेक-वेराग्यरूप अटूट पुरुपार्थ करते रहने से उस सुखाध्यास आर सुख-सत्य मानने का अभाव होकर आगामी शरीर बन नहीं सकता। अत· शरीर जो बन गया हे, वह पूर्व कथनानुसार मिथ्या वासना-बीज मे बनने के कारण मिथ्या ह। शरीर मे लगे जड तत्व मिथ्या नहीं ह, किंतु शरीर मिथ्या ह।

तात्पर्य यह ह कि स्त्री-पुरुपो के अवयवो मे जो सुखप्रियता का भास हैं, उस सुखाभास की वजह से पुरुप स्त्री के घट मे आर स्त्री पुरुप के घट मे सत्य-सुख मानकर बँधते रहते ह आर प्राप्ति मे सुख, अप्राप्ति में दुख का अनुभव करते रहते ह, वह घट सुख-भास मिथ्या ह। शरीर मे जितना गुरुत्वपन हे वह तत्वो का भाग ह, वह मिथ्या नहीं, परतु क्षणभगी तथा परिवर्तनशील तो अवश्य ही ह। शरीर आर जीव मे कोई सत्य सम्बन्ध नहीं हे। चेतन जीव भूल-भ्रम से सुख-प्रियता मान रहा ह, वह महा मिथ्या ही हे। क्याकि तत्वो के कारण-कार्य के समान नर-नारियो की देहो को जीव नही मानते, बल्कि उसमे विलक्षण देहो मे विशेप सुख मानकर बँधते रहते ह। इसमे सत्यता निश्चय होने का कारण अज्ञान ही हे, जिसे पूर्व कहा गया ह। स्थूल प्रारब्ध तो भोगान्त मे ही समाप्त होगा, पर प्रारब्धाकुर—जो देहो को सत्य-सुख मानकर भोगासक्त हाना ह, उसे स्वरूपबोध ओर सद्रहस्यों के अभ्यास द्वारा मिटाते हुए देहाध्यास रहित होकर स्थित हो जाना चाहिए। इसलिए नर-नारियो के घटो का यथार्थ बोध द्वारा अभाव कराया गया ह। सद्गुरु कबीर कहते ह—"ऐसो भरम विगुर्चन भारी। वेद किंतेव दीन आ दोजख, को पुरुपा को नारी॥ माटी का घट साज बनाया, नादे बिन्द समाना। घट बिनसे क्या नाम धरहुग, अहमक खोज भुलाना"॥ बीजक, शब्द ७५॥

तातें देह न वस्तु कछु, कापर जीव भुलाय।
स्वप्न चित्र कछु वस्तु नहि, भूल ते जीव दुखाय॥ ११७॥

टीका—जब सुखाध्यास कुछ नही तो सुखाध्यासमय शरीर की आकृति भी कुछ नहीं, ह, फिर व्यर्थ ही जीव सुख मानकर स्त्री-पुरुपो की रचना में भूल रहा ह। जेसे स्वप्न में देश, गॉव, पहाड कुछ न होते हुए भी सत्य प्रतीत होते हैं। सत्य प्रतीत होते हुए भी वे कुछ नहीं हे, वसे ही जीव अपने सत्य स्वरूप को भूलकर मिथ्या वासना मे रचित नर-नारी घटो को सत्य मान कर विषय विलास के लिए विरह-वियोगी बन कर अनन्त दुख पा रहा ह। यह सब दुख केवल भूल के कारण मे ही हो रहा ह। श्रीरामरहस साहिब कहते हैं—"दोहा—नारी मोह पुरुप को, पुरुप वशी सो होय। बडी परस्पर लाग ह, जीव विकल रहे रोय॥ चा०—नारी होय पुरुप लो लाव। पुरुप सदा नारी को ध्याव॥ मिलहि परस्पर सुख अनुमानी। कठिन कलेश परे नहि जानी॥ गॉस भास दृढरूप समाई। दुर्मति छिन-छिन जीव बिलखाई॥" सबका सार-सिद्धान्त यह हुआ कि भूल-भ्रम मे जीव ओर जड के सम्बन्ध मे मिथ्या खेल चालू हो रहा हे। अत देह मे पृथक शुद्ध स्वरूप को जानकर ओर स्त्री तथा पुरुप, दोनो घटो की सुखासक्ति को त्यागकर स्वरूपज्ञान द्वारा मुक्त होना चाहिए॥ ११७॥

सोरठा—भर्म रूप नर नारि, जानि मनोमय देख तू।
लोभे नहीं निहारि, हे कछु आरहि आर लखि॥ ११८॥

टीका—अत हे जीव। पूर्वोक्त विवेक से तू स्त्री-पुरुषो के घटो की प्रियता को भास मात्र जान। यह सब भास मनोमय मात्र स्वप्रवत जानकर उसमें अचेत न हो। युवती आदि घटो को देखकर मोहित मत हो। अरे। है तो पृथक-पृथक जड और चेतन, इन दोनों को छोडकर शरीर की सुख-प्रियता कुछ वस्तु नही, परन्तु भूल-भ्रम से रचित प्रारब्ध और नवीन विषय अभ्यास के कारण स्त्री-पुरुष का दृढभास हो रहा है। श्रीकबीर-साहिब बीजक मे कहते है—"लख चौरासी भूल ते कहिए, भूल ते जग बिटमाया। जो हं सनातन सोई भूला, अब सो भूलहि खाया॥ भूल मिटै गुरु मिलै पारखी, पारख देहिं लखाई। कहहि कबीर भूल की औषध, पारख सबकी भाई।" ऐसा विचार करके हे जीव। तू जडभास अकुर को निरन्तर विवेक और प्रयत्न से मिटाकर आप-आप मे थीर हो रहे॥ ११८॥

गजल

नि सार देह झूठी, इसमे न कुछ भि प्यारी।
क्या देख मोह फूलै, अशुची महा विकारी॥ टेक॥
चैतन्य जड ये दोनो, मिलि के ये देह धारे।
दोनो अलग किये से, नहि हाथ कुछ भि आरी॥ १॥
है वासना मनन्दी, जेहि वश मे कर्म कर्ता।
साकाम कर्म रच रच, यह जीव देह धारी॥ २॥
यदि वासना परख ले, स्वपने क भास छूटै।
भ्रम वासनामई वपु, परमाणु ढेरि लारी॥ ३॥
पुतली मे चिह्न नाना, नर नारि रूप सुन्दर।
सब चिह्न काष्ठ रूपी, क्या नेत्र नाक झारी॥ ४॥
बालक कि काति मोहक, ज्वानी मे सब कहाँगे।
ज्वानी कि वे छटाएँ, वृद्धा मे सब नशारी॥ ५॥
वृद्धो मे जो कि सूरत, मृत्यू मे लोप होती।
छिन छिन मे और औरे, औरे मे क्यो लुभारी॥ ६॥
सबका प्रतीत कर्ता, चैतन्य शुद्ध अपना।
अपने मे आप रीझे, तजि दृश्य भास सारी॥ ७॥
सबसे समेट वृत्ती, अन्तर्मुखी तु हो जा।
तब तू अनन्त सुख मे, निर्चाह पद सँभारी॥ ८॥

प्रसंग १४—एकरस रहनी रहने का कर्त्तव्य

सोरठा

अन्तर बाह्य एकांत, स्वरूपस्थिति अभ्यास दृढ।
स्वय परीक्षक शांत, सद्ग्रन्थन पठनहिं करै॥ ११९॥
करै भक्ति सतसग, कुसग त्याग बैराग धर।
युक्ति अवरेब सुढग, प्रथम बिघ्न छेदन करै॥ १२०॥

सयम ओर अमान, निर्बिवाद सन्तोष ले।
धरै सबन को ध्यान, नैराश्य क्षमा लै जाय दुख॥ १२१॥

टीका—(१) अन्तर-बाहर एकात अर्थात बाहरी प्रपच से अलग ओर अन्तर मानसिक विकारो से रहित रहना चाहिए। (२) स्वरूपस्थिति का दृढ अभ्यास करना चाहिए। (३) स्वय परीक्षाबल प्राप्त करना चाहिए। (४) सद्ग्रन्थ पढना चाहिए। (५) भक्ति करना चाहिए। (६) सत्सग गहना चाहिए। (७) कुसग का त्याग करना चाहिए। (८) पच विषयो से वराग्य करना चाहिए। (९) बधन विनाश के लिए युक्ति (तरकीब) औरेब (पेच) सुढंग (कायदा) गहना चाहिए। (१०) विघातको[1] का छेदन करना चाहिए। (११) सयम रखना चाहिए। (१२) मान-रहित होना चाहिए। (१३) सर्व लोगो से विवाद रहित रहना चाहिए। (१४) सतोष से रहना चाहिए। (१५) नैराश्यता धरना चाहिए। (१६) क्षमा अग लेना चाहिए। इन सब रहस्यो को लेकर दु खालय ससार से छूट जाना चाहिए॥ ११९॥ १२०॥ १२१॥

विनय सोरठा

बहुत कामना घेरि, देत मनोमय कष्ट मोहिं।
लोभ मोह भ्रम हेरि, पचति रहत कामाग्नि मे॥ १२२॥

टीका—हे गुरुदेव! विजाति विषयो की अनेक इच्छाएँ मुझे चारो तरफ से जकड़े रहती थीं, उन इच्छाओ के बीच मे पडे हुए मुझ दीन को नाना प्रकार की सुख-मानन्दी ही दुख देती रही। कभी तो लोभवृत्ति के कारण तीनों लोको की सम्पत्ति से अघाता नहीं था, कभी मोह के वश रोता रहा। भ्रम से दुर्वासनाओ ही को स्मरण कर-कर पकडे रहा आर इस कामरूप अग्नि मे तो जलता ही रहा॥ १२२॥

भयो न इच्छा अन्त, जब लग नहिं तव बोध लखि।
टूटि न आशा तन्त, बार बार तेहि खोज मे॥ १२३॥

टीका—विपरीत क्रिया करने से मेरी दुखरूप इच्छाओं का तब तक नाश नही हुआ, जब तक आपके सद्बोध को नहीं पाया। आपके बोध मे विमुख होने के कारण ही दुख रूप जगत के सुखो को भोगते हुए भी आशा-तृष्णा की रस्सी नही टूटी। टूटने के बदले आर-आर दृढ होती गई। बार-बार उन्हीं सुखाशा-सम्बन्धी भोग-पदार्थो की खोज मे पडा रहा॥ १२३॥

करन चहो तेहि पूर, जहॉ जाउॅ तहँ विघ्न लहि।
तबहुं न लखा अपूर, दुर्मति अति घेरी कठिन॥ १२४॥

टीका—अपनी सर्व भ्रमपूर्ण इच्छाओ को म पूर्ण करना चाहता हूँ, परन्तु इच्छानुसार जहॉ-जहाँ जिन-जिन देहो एव भोगो को प्राप्त किया, वे सब विघ्नमय होने से छूट जाते और तृष्णारूप व्याधि मुझे दे जाते ह। इतने पर भी यह नही समझ सका कि इन भोगो से मेरी

---

१ विघातक—
साखी—बोली ठोली मस्करी, हाँसी खेल हराम।
मद माया ओ स्त्री, नहि सन्तन के काम॥ साखी सग्रह॥

इच्छाए पूर्ण नही हो सकती। ऐसी दुर्बुद्धि मुझे घेरे रही जो छूटना कठिन तो था ही, बल्कि अज्ञान हालत में असम्भव भी था॥ १२४॥

बिना लखे तव भेव, जानि सकत नहिं कोइ कछू।
करत उपाय सदेव, जेहि से दुख दूना बढै॥ १२५॥

टीका—हे दया-निधान गुरुदेव! अब आपकी दयादृष्टि से जानने मे आया कि आप बन्दीछोर की पारख दृष्टि यदि प्राप्त न करे तो चाहे विद्वान, कुलवान, चतुर, सब गुणागार, श्रेष्ठ और नीच कोई भी क्यो न हो, परन्तु अपने जीव के दुख छूटने की युक्ति किंचित भी नही जान सकता। आपके इस बोध से विमुख होकर ही हम अज्ञानी जीव सर्वदा गो-गोचर खानि-बानि तथा पच विषय की प्राप्ति का परिश्रम करते रहते हैं, परतु इससे हमारा दुख दूना हो जाता है॥ १२५॥

जहॉ अपनि मति बन्ध, सोई सिखावैं जगत सब।
डारि अनेकन फन्द, जेहि ते नहि छूटै कबो॥ १२६॥

टीका—मै निज स्वरूप से पृथक विजाति स्त्री, पुत्र, घर-धन तथा इन्द्रियो के विषयो मे सुख निश्चय कर बन्धन मे पडा रहा। उसी बन्धन की दृष्टि को जगत के मनुष्य पुष्ट करते रहे। जिस भोग-विलास मे सुख मानकर हम चक्कर काटते रहे उसी की शिक्षा सगे-सम्बन्धी भी दिये व दे रहे हैं और वे बहुत प्रकार के मोह, माया तथा दम्भ से सुख दर्शाय के ऐसे फन्दों मे डाल देते है कि जिनसे हम कभी छूट न सके तथा किंचित भी परमार्थ की ओर न जा सके॥ १२६॥

गुरू सन्त आधार, और न रक्षक कोइ कितै।
बन्दीछोर उदार, नहि भूलै तव यश मुझे॥ १२७॥

टीका—अज्ञान और सव विघ्न-बाधाओ का नाश करने वाले तथा सहायक एक आप गुरुदेव तथा सतजन ही है, और जिधर दृष्टि डालता हूँ, उधर कोई मेरे कल्याण का रक्षक नही दिखता। बोध और साधन देकर बधनो से छुडाने वाले हे बन्दीछोर! परम उदार आप ही है। यह फॉसी-मोचनरूप आपका उपकार तथा उज्ज्वल कीर्त्ति मेरे हृदय से कभी न भूले, यही आपसे वर मॉगता हूँ॥ १२७॥

शिष्य प्रार्थना

बन्दीमोचन रूप गुरू, मोहि ध्यान रहे मोहि ध्यान रहे।
मै दास हूँ स्वामी आप गुरू, मोहि ध्यान रहे मोहि ध्यान रहे॥ टेक॥
यह पथी सदा भवधार बहे, त्रय ताप महा दुख द्वन्द्व सहे।
सो भ्रमनाशक आप मिले, मोहि ध्यान रहे मोहि ध्यान रहे॥ १॥
जग जीव तो पाठ दिये भव के, सब जीव भ्रमैं वश में मन के।
नित जीव सहायक एक तुम्हीं, मोहि ध्यान रहे मोहि ध्यान रहे॥ २॥
देह रु भोग के पार कछू, नहि जानि सक्यो सपने मे हितू।
अब सर्व परीक्षक बोध दियो, मोहि ध्यान रहे मोहि ध्यान रहे॥ ३॥

स्व प्रकाश सदा कल्याणमयी, सबके हो परीक्षक धन्य जयी।
प्रभु पाप-विभंजन देव सदा, मोहि ध्यान रहे मोहि ध्यान रहे॥ ४॥
शुद्ध स्वरूप बताय दियो, अविनाशि अखण्ड जचाय दियो।
अस कौन महा उपकारी हवे, मोहि ध्यान रहे मोहि ध्यान रहे॥ ५॥
सब भाँति रह्यो तुम्हरे उलटे, कहिते न बने नित थे पलटे।
समता व क्षमा से कियो समुहे, मोहि ध्यान रहे मोहि ध्यान रहे॥ ६॥
लत के वश मे तो पचों हौं सदा, निज नाश को छोडि सर्व विपदा।
दुखध्वसक रूप विशाल गुरू, मोहि ध्यान रहे मोहि ध्यान रहे॥ ७॥
निज स्थिति हेतु रहस्य दिये, सन्मार्ग के रक्षक पक्ष लिये।
प्रभु प्रेम हृदय से न जाय कभी, मोहिं ध्यान रहे मोहिं ध्यान रहे॥ ८॥

फल रूप-छन्द

अज्ञान तम को रवि उदय भवसिन्धु को दृढयान जू।
मन रोग की शुचि औषधी जिज्ञासु जन को प्रान जू॥
इच्छा निवारण के यतन सतोष शम दम ज्ञान जू।
गुरुदेव धन्य सु धन्य बानी को करैं हम गान जू॥

चौपाई

नित प्रति पढै गुनै जो साखी। ज्ञानरूप मिलिहै तेहि ऑखी॥
भय चिता परिश्रम दुख नाखी। मन सम्भव गति कबहुँ न चाखी॥

अपना बोध

हेतु-छन्द

गुरु कवीर व सत जन का, ध्येय यहि उपदेश है।
अरु हैं प्रत्यक्ष जो साधु गुरु, उनका यही निर्देश है॥
शुचि सद्विवेक सुवुद्धि यहि, मन शमन सकल कलेश है।
जेहि भाँति पारख दृष्टि दृढ, वहि सत्य साध्य-हमेश है॥

साखी

अपना वोध प्रकाश लहि, मोह पुंज तम टाल।
सदा थीर गुरुपद विमल, पारख परख विशाल॥

सद्गुरवे नम

साखीसुधान्तर्गत

अपना बोध

वन्दना

सोरठा

ज्ञान भानु गुरु सन्त, जहाँ नही अज्ञान तम।
मन दुख दोष दलन्त, बन्दौ ससृत चक्र हर॥ १॥

टीका—साधु-गुरु सूर्य के समान केवल ज्ञानवर्ण है, आपके स्वरूप मे अज्ञान अधकार का लेश नही है। मानन्दी से उत्पन्न दैहिक, दैविक, भौतिक और आधि, व्याधि, उपाधि, काम, क्रोध, लोभ ये सब दुख और आसक्ति दोषो का आप नाश करने वाले है, पुन जन्म-मरण प्रवाह को मिटानेवाले ऐसे आप साधु-गुरु की में सादर वन्दना करता हूँ॥ १॥

स्वय देव गुरु साधु, बिमल करौ मानस हितू।
तव उपकार अगाधु, पर न लहौ बिन स्वच्छ मन॥ २॥

टीका—हे साधु-गुरु! आप केसे हैं कि स्वय पारख प्रकाशरूप सर्वोपरि देवो मे देव हे। हे जीवो के हित चाहने वाले गुरुदेव! आप हमारे मानसिक सकल्पो को निर्मल कर दीजिए। यद्यपि आपका ज्ञान दानरूप उपकार हम दीनो के प्रति अथाह है, पर अपने मन को पवित्र किये बिना आप की अनन्त सहायता को हम प्राप्त नही कर सकते॥ २॥

फलीभूत उपकार, जेहि ते होवे निज कृपा।
सजग अटूट सम्हार, प्रतिदिन चिन्ता शान्ति की॥ ३॥

टीका—आपका किया हुआ उपकार तब सफल होवे जब मुझे आप की शिक्षा ग्रहण हो, तभी हमने अपने ऊपर कृपा की। ''मूल दया जो आप सँभारे'' इसके उलटे आप की शिक्षा को ग्रहण किये विना हम मन के वश होकर अपने ही लिए काल हो रहे हैं। अत आप साधु-गुरु की दया-शिक्षा से पारखबोध धारण करते हुए हम निज कृपा प्राप्त करके कल्याण के कार्यो मे चौकसी रक्खे और मन-स्वभाव या बाहरी प्रलोभनो मे चलित न होवे, अखण्ड सावधान होकर विघ्नो से बचते हुए सद्गुणो को सम्हाले रहे ओर देह-सुख के हानि-लाभ आदि सब

फिक्र छोडकर स्वरूपस्थिति की ही नित नव फिक्र आर यही ध्येय धारण करे॥ ३॥

सुयश -सहित तव ज्ञान, वर्णन करि पावन परम।
जड़ चेतन विलगान, समुझि करौं उद्धार निज॥ ४॥

टीका—आपके श्रेष्ठ सुयश का स्मरण करते हुए आपके सद्ज्ञान को ग्रहणकर परम पवित्र पारखज्ञान का हम कथन करे, जिस परम-पवित्र ज्ञान के कथन करने से जड आर चेतन दोनो की अलग-अलग परीक्षा हो जावे, जिससे कि स्वरूप से भिन्न जड को समझ जडाध्यास त्याग कर हम अपना उद्धार करें॥ ४॥

प्रसंग १—स्वस्वरूप स्मरण-लाभ

साखी

उतपति होय न जाहि की, सदा अकेले आप।
मोह करै सो काहि को, जहँ न कोइ मिलाप॥ ५॥

टीका—जिस चेतन जीव की कभी उत्पत्ति नहीं होती, जो अनादि काल से सदव अपने आप ह आर जिस चेतन स्वरूप मे किसी का भी सम्वन्ध नहीं ह, वह किसका मोह करे। किस मे आसक्ति बाँधे। ॥ ५॥

मे अविनाशी नाशि सव, क्षण-क्षण उतपति दृश्य।
सनमुख आवत जात हे, नहीं सग सादृश्य॥ ६॥

टीका—मैं शुद्ध चेतन्य अविनाशी हूँ। कभी मेरा नाश नही होता। मेरे से पृथक दृश्यमान सव चीजे क्षण-क्षण उत्पन्न होकर नष्ट हो रही हैं। जिनमे मेरा मोह हो रहा हे वे नर-नारी, चार खानियो के घट आर धन-धाम आदि पदार्थ क्षण-क्षण मेरे सामने आते ओर जाते रहते हे, उत्पन्न-नष्ट होते रहते ह। कहाॅ जड नाशवान चचल ओर कहाॅ म सत्य एकरस ज्ञानस्वरूप। अतएव मुझ चेतन आर विजाति जड का सम्बन्ध विरोधी धर्म होने से अयोग्य है। में चेतन होकर जड पदार्थो मे सुख मानकर मोह करूॅ, तो यह भूल ह, क्योकि मुझ चेतन ओर जड की तुलना तीनो काल मे नहीं ह॥ ६॥

दृष्टात—एक कथा जो कि सिद्धान्त के उपलक्ष्य मे कही जाती ह, उसके सहारे से इस सिद्धात को समझने मे सहायता मिलेगी, वह इस प्रकार ह—चिरजीव नाम का एक ब्राह्मण था। उसकी आयु विशेष होने के कारण उसका नाम चिरजीव पडा। वह जो काम करता बहुत जल्द कर डालता ओर जो काम अनेक मनुष्यो से न हो सके उसे अकेला ही कर डालता। शरीर भी उसका वहुत ऊँचा था। जिस मकान मे रहता था वह मकान छोटा मालूम हुआ। उसने वडे-वडे वृक्ष काटकर एक वडा मजवूत मकान तयार किया। पश्चात गगा स्नान करने गया। जव वह स्नान करके घर लाटा, तो क्या देखता ह कि आधा मकान टूट गया हे ओर आधे मकान मे कई मनुष्य रहने लगे ह। चिरजीव ने उन लोगो से पूछा—तुम लोग हमारे इस मकान मे क्यो टिके हो? वे सब कहने लगे कि यह मकान हमारा ह। कई पीढियो से हम लोग इसमे रहते हैं। तू भयकर स्थूलवाला कहाॅ से आया हे, कसे इस मकान को अपना वता रहा ह? चिरजीव वोला—वाह! अभी तो मकान वनाकर स्नान करने गया था। यह वात कसी

है, जो तुम लोग कहते हो कि हम लोग कई पीढियो से यहाँ रहते हैं, कौन रूव्वा है।

उनमे एक बुड्ढा था, उसने कहा—मैने सुना है कि हमारे वश मे एक बहुत बडा आदमी हो गया है, उसका भाई इस घर मे रहता था, उसका नाम जीवनराम था। जीवनराम का पुत्र जगधर, जगधर का पुत्र शोभीलाल, शोभीलाल का पुत्र भानुशकर, भानुशकर का पुत्र मैं तनपाल हूँ, मेरे पुत्र और पौत्र इस घर मे रहते है। चिरजीव आश्चर्ययुक्त विचारने लगा, यह बात कैसी है। जीवनराम तो मेरा ही भाई था, इतने मे जीवनराम की इतनी पीढियाँ हो गई। आश्चर्य है, ऐसा विचारकर वह बाहर बैठ गया। थोडी ही देर मे उसने देखा कि घर वालो की कई पीढियाँ हो गई। जैसे पानी के कीडे आदि तुरन्त उत्पन्न हो-होकर मर जाते है, इसी प्रकार क्षण-क्षण मे मनुष्य की उत्पत्ति होना, पुत्र होना, पौत्र होना, मर जाना देखने मे आया। जिस-जिस पदार्थ को वह देखने लगा, देखते-देखते ही उस पदार्थ की सैकडो आकृतियाँ बदल जाती थीं। लोग क्षण भर के मुकाम के लिए मेरा-तेरा, राग-द्वेष कर-करके मर जाते हें। इस प्रकार चिरजीव ससार को तमाशा के समान देखकर आश्चर्यचकित हो गया। उसने प्रात -काल उठकर मकान बनाया। मात्र स्नान करके ही आया कि इतने मे उसने औरो की अनेक पीढियाँ होती हुई देखी। हाय। यह क्या है, क्षण भर तो कोई टिकता नही, क्षण-क्षण जन्मना और मरना, इससे क्या फल। वह मनोमय-स्वप्न की सृष्टि के हिसाब से देखता था, उसे सब बाइस्कोप का तमाशा मालूम होता था। जो चित्र देखा वह क्षण भर मे लुप्त हो गया। चिरजीव ससार से विरक्त होकर नित्य स्वरूपस्थिति के साधन मे एकवृत्ति से अभ्यास करके सदा के लिए स्थित हो रहा।

चिरजीव अजर, अमर, एकरस जीव है। उसके सामने शरीरो और समग्र जगत प्रपच का क्षण-क्षण मे बदलाव होता रहता है। ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष नित्य स्वरूप ही मे सुख मानते हैं, न कि क्षणिक बाह्य जगत-प्रपच मे।

ज्ञान भानु परकाश मै, वह जड़ तम को साज।
बिना भूल नहिं हेतु कोइ, जो दुखिया तेहि काज॥ ७॥

टीका—मै सूर्यवत ज्ञानस्वरूप चेतन स्वय प्रकाश हूँ और मन सहित इन्द्रियाँ और इनके द्वारा जो कुछ स्त्री-पुरुषो के घट आदि दृश्यमान हो रहे है जिनमे मेरा मोह होता है वह सब जड की सामग्री चल-विचल है। उस जड विजाति ठाट के मिलने-बिछुडने मे मुझे जो दुख होता है वह भूल से है। मोह से दुख होता है और मोह भूल से होता है। भूल विपरीत निश्चय से होती है। मोह तथा विपरीत निश्चय मिट जाने पर मेरी भूल मिट गयी। मैने शुद्ध चैतन्य अपने को जाना, तब जड देह, गेह, धन-धाम और ससारी कुटुम्ब आदि मे ममता करके उनके मिलन-वियोग मे हर्ष-शोक मानकर दुख होने का क्या काम। क्योकि मेरे स्वरूप मे ये कुछ नही है॥ ७॥

भूल तजे बिनु बारि की, जाय न कबहूँ प्यास।
औरहिं और पुकारि करि, अन्य क्रिया दुख पास॥ ८॥

टीका—प्यास बुझने के लिए जल के बदले भूल से धूप की लहरियो या अग्नि को ही जल मान ले और उसको पीकर प्यास बुझाना चाहे तो ऐसी विपरीत समझ से कभी तृषा का

निवारण नहीं हो सकता। जव तक जल की ठीक-ठीक पहिचान न होगी कि यही जल हे ओर इसी के पीने से तृषा शान्त होगी, तव तक भूल-वश अन्य चाहे जितने उपाय किये जायँ वे दुख आर वधन के कारण हें। वेसे ही सवसे पृथक अपने आप सत्य स्वरूप का जव तक ठीक-ठीक ज्ञान न होगा ओर उस शुद्ध स्वरूप मे ठहराव न वनायेगा तव तक अन्य किसी उपाय से दुख छूट नहीं सकता। उलटे इसे इन्द्रिय-विपय तथा नर-नारी घटो की आसक्ति से दुखरूप वन्धनो की वढती होती रहेगी। अत: हे जीव! स्वरूप को जानो और ठहरो जिससे तुम्हारा सव दुखो से पीछा छूटे॥ ८॥

करि करि हठ नित दुख सहे, ज्यो सचान निज छॉह।
अशन के वदले चोंच हति, निज छाया पवि मॉह॥ ९॥

टीका—जसे उडता हुआ वाज पक्षी स्फटिक पत्थर मे अपनी छाया को देखकर और उसे शिकार समझ कर वलपूर्वक पत्थर पर चोच मारता हे। परन्तु उसे आहार मिलने के वदले उसकी चोच ही टूट जाती है और केवल दुख पाता हे, वेसे स्फटिक पत्थरवत देह-इन्द्रिय-अत करण द्वारा मानन्दीयुक्त अपनी सत्ता से भोगासक्ति मे भ्रमवश सुख भासित हो रहे ह, सो अपनी ही कल्पना है, ऐसा न जानकर सुख प्राप्ति हित वामभोग, शव्द, रूप आदि पदार्थों मे हठ पूर्वक नित्य टक्कर मारने से अपनी तृप्ति के वदले ओर तृष्णा वढकर ज्ञानदृष्टि नष्ट हो जाती ह। ज्ञानदृष्टि नष्ट होने से फिर अध के समान सदोदित मनुष्य दुख का भाजन वना रहता है॥ ९॥

क्रोध करे केहि हेतु को, जहॉ न कुछ प्रतिकूल।
दुख सुख पार सो आप है, इच्छा रहित कवूल॥ १०॥

टीका—हमे क्रोध करने का कुछ प्रयोजन नही हे। क्रोध तो अपने से प्रतिकूल को देखकर होता हैं। हमारे स्वरूप में तो कुछ प्रतिकूलता नही हे। दुख और सुख को हम जाननेवाले चेतनस्वरूप दुख-सुख से पृथक ह ओर हमारा स्वरूप सर्व का द्रष्टा इच्छा-सकल्प से रहित हे, ऐसा मुझे निश्चय हे, फिर मुझे क्रोध ओर क्रोध सम्वन्धी ईर्ष्या, कठोरता, हिसा, निन्दा, गाली, वदला आदि कुकर्तव्यो की कुछ आवश्यकता ही नहीं हे। में अजर, अमर, अखण्ड तथा सत्य हूँ, देह ओर देहसम्वन्धी सव भोग-पदार्थ दूर हें, मुझसे अलग हे। अलग की वस्तु कोई ले लेवे, कव्जा कर लेवे, नाश कर देवे, तो भी मुझे अपने अखण्ड स्वरूप के स्मरण द्वारा उस विक्षेपवृत्ति को शात करना चाहिये। कोई कोसे, ताडे, गाली देवे और यहाँ तक कि कोई प्राण भी हरण करने को तेयार क्यो न होवे, इससे हमारी हानि ही क्या हे! जेसे शरीर का प्रारव्ध होगा, वैसा हो जायेगा। शरीर ओर भोग की हानि से मुझ अखण्ड जीव मे कुछ हानि नहीं ह। जिस प्रकार कोई मेरा वेरी नहीं उसी प्रकार कोई मेरा मीत भी नहीं, क्योकि सव विपय सुख मेरी कल्पना एवं आदतकृत है। मुझे ससारी सुख सव दुखमूल दिखते ह। जव सुख ही रोग है तव सुख झलकानेवालो मे राग का कोई हेतु ही नही, वल्कि सर्व इच्छाओं का पारखी पारख शुद्धस्वरूप में हूँ। इस प्रकार गुरुवोध निश्चय के आगे क्रोध[१] का

१ क्रोध के भाव—(१) जोश भरकर दूसरो को हराने की इच्छा। (२) अन्य के दोप-दुर्गुणो को उभाड कर सवसे प्रगट करना। (३) उसके मान, वडाई, तन, धन, जन ओर प्रिय वस्तुओं के विनाश

कहॉ ठिकाना। ॥ १० ॥

लोभ बिहीना आप है, जहॉ न दुख की ऑच।
काहि मिटावन के लिये, करै बस्तु की जॉच॥ ११ ॥

टीका—अपने शुद्धस्वरूप चेतन मे लोभ नही है। अपना आपा तो ज्ञानस्वरूप अखण्ड है। ज्ञानस्वरूप मे किसी प्रकार की हानि, कमी, अतृप्ति, अपूर्णतारूप दुख का लेश भी नही है, तो हम किस कारण दीन होकर धन-भोग या कोई भी मायिक वस्तु की इच्छा करे, उसके लिए अनीति करे और कमी जानकर दुखी रहे॥ ११ ॥

इन्द्री देह न कामना, जहॉ न जड को देश।
काम बिबश नहिं गर्ज तहॅ, अबला तन दुख बेश॥ १२ ॥

टीका—जिसमे दस इन्द्रियरूप नख से शिखा तक स्थूल देह नही है और सूक्ष्म सब इच्छाऍ, वासनाऍ, यहॉ तक कि सम्पूर्ण कारण-कार्य जड सृष्टि भी नही है वह केवल ज्ञानमात्र मेरा शुद्ध स्वरूप है। वहॉ काम-वश बावला होकर गर्जबन्दा होना सभव नही। अबला, स्त्री, प्रकृति, माया ये सब दुख के स्वरूप है। पुरुष की अपेक्षा स्त्री घट मे विवशता, अपवित्रता, अशक्तता, आधारिता अधिक होने से वह अपने और दूसरो के लिए अधिक बन्धन हेतु दुखपूर्ण है, फिर जान-बूझ कर दुख मे कौन धॅसे। ॥ १२ ॥

स्पष्ट—मानी हुई अपनी देह और दूसरे की देह का सौदर्य चमक-दमक देखकर और पूर्व मे भोगे हुए भोगो के स्मरणो द्वारा काम-भावना उठती है। फिर काम-भावना की तृप्ति के लिए पुरुष स्त्री के घट मे लट्टू हो जाता है, वैसे ही स्त्री भी पुरुष घट मे। इस प्रकार ज्यो का त्यो ससृति दुख चालू ही रहता है। पर विवेकवान विवेक से काम-भावना को निर्मूल कर देते है। वे विवेक करते है कि मै सर्व का जाननेवाला सबसे न्यारा ज्ञानमात्र हूॅ, फिर मेरे स्वरूप मे देह, इन्द्रिय, कामना कैसे। ये तो सब मुझे पृथक प्रतीत हो रहे है। मै इनको भूल से ग्रहण और निर्भूल से त्याग कर रहा हूॅ। इस प्रकार जड-सृष्टि मेरे मे नही है, तब मै काम-सकल्प क्यो रचूॅ। जब मैं देह की सुन्दरता होऊॅ, पुरुष या स्त्री होऊॅ, मनकृत स्मरणरूप होऊॅ, इनसे मेरा कोई नित्य सम्बन्ध होवे, तब तो काम-विकार की जगह है। जब मै विवेक द्वारा इन सबो से बिलकुल पृथक हूॅ तो मुझ निर्मल आदित्य ज्ञानवर्ण के आगे कौन सी मोहक चीज और कौन उसका सम्बन्ध, तथा कहॉ मैथुन प्रसग। इनका सम्बन्ध मेरे स्वरूप मे लेशमात्र भी नही हे। फिर मै शुद्ध स्वरूप पर पर्दा तान, क्षणिक जड देह की अहता-ममता ले, कामी बनकर दुखपूर्ण विकारी घटो मे क्यो सुख मानूॅ। यदि मै देहादि की सुन्दरता का ध्यान धरकर कामी बनूॅ तो मेरी दशा ममतेश के समान होगी।

दृष्टात—ममतेश नाम का पूर्व मे एक विप्र हुआ है। उसे नये-नये जगल, पहाड, शहर तथा गॉवो के देखने की विशेष लालसा रहती थी, इससे वह अनेक कष्ट सहकर भी देशाटन करता और जगल-पहाडो पर घूमा करता ओर किसिम-किसिम की बूटियो की तलाश करता

की चिन्ता करते रहना। (४) उसका काज बनते हुए देखकर जलते रहना। (५) उसका अकाज देखकर प्रसन्न होना इत्यादि क्रोध के भाव को अन्त करण से निर्मूल करना चाहिए।

था। एक वार ममतेश उत्तराखण्ड पहाड की तराई मे होकर निकला, जहाँ घोर जगल था। वहाँ नदी भी वह रही थी। ममतेश उस जगल के किनारे एक सन्त के यहाँ रात्रि को ठहरा और उनसे जगल का हाल पूछा। सन्त ने जगल का हाल वताया ओर कहा--आप जंगल की सेर करेगे, पर वाघ, रीछ, सिंह आदि हिंसक जन्तुओ से अपनी रक्षा करना। ममतेश ने कहा—अवश्य, मेरे पास ऐमे शस्त्र हे कि कोई भी चूँ नहीं कर सकता। सन्त ने कहा—अच्छा। विपले वृक्षो से वचना, उसमे सुहावनी नाम की एक लता होती है उससे तो अवश्य वचना। देखने मे वह सुन्दर सहज ही अपने मे मोह करा देने वाली ह, परन्तु उसका स्पर्श तो एक किनारे हे, उसे देखते-देखते ही मनुष्य मतवाला वन जाता है। फिर तो मतवाला वना मनुष्य उसी सुहावनी लता को पकडकर खेल करने लगता हे। फिर वह उसी के विष से पागल वनकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता ह।

ममतेश ने कहा—मुझे सव किस्म की ओषधियाँ भी मालूम ह, कोई हानि नहीं। जव सुहावनी लता का प्रसग आयेगा तो देखा जायेगा। ऐसा कहकर उमने उन सन्त के वचनो को तुच्छ जानकर उन्हे ठेल दिया, ओर सवेरा होते ही घोर जगल मे प्रवेश करने लगा। थोडी दूर चलते ही उसे एक दृश्य देखने मे आया। वहाँ तमाम पुरुष नग्न होकर वावले वने काँटो मे जहाँ-तहाँ दोड रहे हं। सव की देहो मे वडे-वडे पने काँटे गड गये हे। खून की धाराएँ पीठ, पेट ओर सिर से वह रही ह। सव हाय-हाय करके तडप रहे हं। इतना होते हुए भी वे आपस मे मार-काट भी कर रहे हैं। ममतेश को मालूम नही कि ये क्या वात है, किस कारण से इन सवो की यह दशा हो रही हे। तव तक उन्हीं मनुष्यो मे से एक मनुष्य ममतेश को खाने के लिए दौडा। उसकी सूरत वडी डरावनी खूनी थी। उसे देखकर ममतेश ने वडे जोर से भाग कर प्राण वचाया। ममतेश को जिन औषधि ओर अस्त्रो-शस्त्रो का गर्व था वे एक भी काम न दिये।

नियम यह हे कि गर्व करने वाले का पतन हुए विना नही रहता। ममतेश ने साधु पुरुष के वचनो को भुला दिया। भागते हुए उसे सुहावनी लता देखने मे आई। उसको वह देखने लगा। देखने से उसने मनको रोका नहीं, वल्कि उसमे सुख मानकर एक लक्ष्य से देखने मे मस्त हो गया। ज्यो-ज्यो प्रियता रूप विह्वलता आने लगी, त्यो-त्यो सुहावनी की ओर उसकी ममता वढती ही गई। अन्त मे वह मोहरूप मदिरा से वेभान होकर तथा दोडकर सुहावनी मे चिपट गया। चिपटते ही वह विभ्रात हो गया। मै कौन हूँ, किसलिए आया हूँ, मेरा क्या कर्तव्य हे, ये सव वाते भूलकर वह भी काँटो मे दोडने लगा। वह वार-वार कहता था—हाय! मुझे वचाओ, मैं महान अग्नि मे जल रहा हूँ। कभी कहे मैं जल मे डूव रहा हूँ, कोई मुझे वचाओ, हाय! वडा कष्ट ह, इस प्रकार वह वृथा मानसिक कल्पनाओ मे जलता, डूवता, दोडता रहा। ममतेश गिरते-पडते असह्य कष्ट का अनुभव करते हुए भागते-भागते जगल के निकटवर्ती वनपुरवा मे पहुँच गया। वहाँ ममतेश जिस-जिस नर-नारी को देखे सव पर कूदकर लदना चाहे, सबको कठिनता से पकडना चाहे आर कहे—हाय! में अत्यन्त भृखा और प्यासा हूँ। जव उसे कोई दाना-पानी दे तो वह फेक दे ओर भूख-भूख चिल्लाया करे। अपने ऊपर लदते देख-देख सव लोग ढकेल-ढकेल कर उससे हटने लगे। वहुत लोग उसे मारे-पीटे, गाली देवे, पुन. लोगों ने उसे पागल समझ कर जजीर से वाँध दिया।

निदान ममतेश उसी प्रकार मनोमय की अग्नि मे जलने का अनुभव करते हुए हाय-हाय कहता रहता। इतने मे घूमते हुए वही सन्त वहाँ आ गये जिनसे यह पहिले मिला था। सन्त उसे देखकर जान गये कि इसने मेरा कहा न माना, जिससे इस महान सकट मे पडा है। सुहावनी लता की नशाहारिणी एक जडी सन्त के पास थी, उसे पत्थर पर घिसकर पानी मिला ममतेश को पिला दिया। पहिले तो वह पीता ही न था, किसी प्रकार पी जाने पर उसके नशा का हरण हो गया। वह सावधान होकर सन्त के चरणो मे पडा और कहने लगा—हे सन्त! जो मै पहिले ही आपका कहा मानता तो ऐसी-ऐसी दुर्दशाएँ न भोगता। अहो! उस जगल मे घूमने से सिवा विपत्ति के और कुछ हाथ न आया। सन्त ने कहा—विवेक-रहित कार्य करने का परिणाम यही होता है, अब से सावधान रहना। एक तो जगल मे घुसे ही नही। कोई खास आवश्यकता के लिए जाना ही हो तो बडी सावधानी से युक्तिपूर्वक विषैली सुहावनी लता से बचकर अपना कार्य बना ले और झट जगल से बाहर हो जावे। ममतेश ने कहा—जब तक प्राण मे प्राण है तब तक मैं उस विपदारण्य की ओर कभी दृष्टि न डालूँगा।

सिद्धात यह है कि जगत-प्रपच की ममता करने वाला यह जीव ममतेश है। इसको जगत-जगल मे नाना देह धरकर भोगो को भोगना बहुत पसद है। वहाँ सुहावनी बेलि के समान युवती और बहु वाणी तथा प्रपची मायासक्त मनुष्य मिलते है। उनमे ममता वश आसक्त होकर जीव स्वरूप से विभ्रान्त हो जाता है। फिर तो उसे देह-इन्द्रियो के भोगो के अतिरिक्त कुछ नही सूझता। चाहे दूसरे को दुख-दर्द हो या प्राण जाय, अपने को इन्द्रिय-सुख मिलना चाहिए, ऐसी भावनावाला मनुष्य धर्म-नीति रहित होकर पागल बन जाता है। फिर नाना उत्पात खडा करके सबको सताता और सबसे स्वय सताया जाता है। सब दर का गर्जी, आदती, विषयी, अन्यायी, रोगी, भोगी, उत्पाती, कलहयुक्त और अशात होने की जड सुहावनी की ममता ही है। जब कोई विवेकी सत मिलते हैं तब ज्ञान रूप बूटी पिलाकर सुहावनी का नशा उतार देते है और जगत-जगल से सचेत कर देते है। जो इन मोहक चीजो की ममता का त्याग करता रहता है, वही स्वरूप-स्थिति को प्राप्त करके सदा मुक्त हो जाता है। इस प्रकार हमारा स्वरूप शुद्ध अखण्ड ज्ञानमात्र है, तो हम अपनी और पराये की देहो मे सुख मानकर क्यो भूले! बन्ध्या पुत्रवत मिथ्या काम-वासना गढ-गढ कर स्त्री आदि मे ममता करके क्यो ममतेश के समान अनन्त दुख का बोझा लादे।

अभय　देश　बिश्राम　हे, जहाँ　न　भय　की　बस्तु।
हानि　लाभ　से　पार　सोइ, आप　आप　ही　अस्तु॥ १३॥

टीका—मेरा अविनाशी चैतन्य स्वरूप ही निर्भय देश है जो सदोदित विश्रामरूप हे। निज नित्य स्वरूप मे तन, धन, कामिनी, जगत ऐश्वर्यादि कोई भी भयवाली चीज का सम्बन्ध नही है, तब भय किस बात का! अपने नित्य स्वरूप मे न कुछ मिलना है, न बिछुडना, न कुछ लाभ है न हानि, चेतन स्वरूप तो इन सब मानसिक झगडो से अलग अपने आप है। अपना ही सर्व परीक्षक पारखरूप नित्य सत्य है॥ १३॥

अभय　अकाम　अलोभ है, मोह　क्रोध　जग　जीत।
अचल　स्वतन्त्र स्वराज्य तहँ, बिजय　बिघ्न　मन　तीत॥ १४॥

टीका—अपना स्वरूप निर्भय, निष्काम, निर्लोभ, निर्मोह, निष्क्रोध ओर सर्व जगज्जालो से पृथक हे। स्वरूपस्थिति अपना अचल ओर स्वतत्त साम्राज्य हे, जहाँ कोई भी विघ्न, विक्षेप, प्रलोभन और मानसिक झगडे नहीं हें, इसलिए अपना ज्ञान स्वरूप ही सदा विजयरूप ह ओर सर्व मानन्दियो से पृथक हे॥ १४॥

ऐसा जाहि स्वरूप है, सो कस जगत मे दीन।
करे स्मरण आप वल, साहस अभय अछीन॥ १५॥

टीका—पूर्वोक्त प्रकार से हमारा चेतन स्वरूप परम पवित्त हे, फिर हम भोग-सुखो के लिए क्यो दीन होवें! क्यो गर्जी वने! यदि हम अपने नित्य स्वरूपवल का स्मरण करे तो हमारे मे दिनोदिन मनरूप शत्नु मारने के लिए साहस ओर निर्भयता अखण्डरूप से वढती जावे अथवा हम अपने नित्य शुद्ध स्वरूप को यादकर जडाध्यास हनन करने का अखण्ड साहस ओर निर्भयता धारण करे॥ १५॥

दृष्टात—चार छोटे-वडे वालक घास छील रहे थे। इतने मे वे आपस मे गाली गलोज करने लगे। तीन छोटे-छोटे लडके एक वडे किशोर को डण्डा से मारने लगे। चाथे किशोर ने कहा—वावू! हमे न मारो, ऐसा कहकर वह वार-वार हाथ जोडता था। इतने पर भी जव वे तीनो मारते ही रहे और एक डण्डा उसे वडे जोर से लगा, वसे ही वह क्रोधित हुआ। मन मे निश्चय किया कि तीनो मुझसे निर्वल ओर छोटे होकर भी मुझे मार रहे ह। अच्छा रहो! ऐसा निश्चय होते ही उसकी रग-रग मे शक्ति भर आई। उसने शीघ्र ही दो लडको को जोर से धक्का देकर ढकेल दिया ओर तीसरे को गिराकर छाती पर चढ वेठा तथा धमाधम पीटने लगा। वे दोनो तो जान लेकर भागे, तीसरे ने हाथ जोड गिडगिडाकर वहुत क्षमा मॉगी, तव वह खूव कूट कुटम्मस करके छोड दिया। फिर वे कभी सताने का नाम भी न लिये। देखो! जब तक उसे अपने वल का निश्चय न था, तव तक वह अपने से छोटे-छोटे निर्वलो से सताया जा रहा था। जैसे उसने अपने वल का निश्चय किया, वसे ही तीनो को मार भगाया। वस इमी प्रकार काम, क्रोध, लोभादि निर्वल अनुचरो मे जीव सताया जा रहा है। जव तक वह अपने शुद्ध स्वरूप का अखण्ड वल स्मरण करके निश्चय-पूर्वक इन मनोद्वेगो का नाश करने मे नहीं जुटता, तब तक त्रिविध ताप के दडो को सहन करता हे। जिस दिन, जिस क्षण, जिस पल मे जगत-दुखो से घवराकर यह अपने नित्य स्वरूप का निश्चय कर लेगा, उस दिन से काम, क्रोध, लोभादि सर्व दुर्गुणो को परीक्षा-साधन द्वारा निर्मूल करके स्व स्वरूप मे स्थित हो रहेगा, मात्र स्वरूप निश्चयता की देरी ह। मनोमय को सत्ता न देनें से वह शून्य हो जाता हे।

अवश्य होय भव पार वह, पार जो समझै जीव।
केवल निश्चय क्षीण है, निश्चय पलटि सो शीव॥ १६॥

टीका—मनोमय विकार मदा कहाँ सताते हे, मै तो सदा रहता हूँ। मनोमय मेरी सत्ता द्वारा चेष्टित किया गया हे। मैं मुपुप्ति आदि मे या जाग्रत विवेक काल मे उद्वेग-विहीन हो जाता हूँ। मैं तो स्वय सत्य अखण्ड चेतन हूँ। ये दृश्य कल्पित छायावत देखने मात्र जीवित से लगते हें, ये अधकारमय हे। मे सर्वज्ञाता, ज्ञानप्रकाश, निर्विकार, निर्दोप, स्वतंत्र, सत्य हूँ, ऐसा एकरस निश्चय करके यह जीव इस असार मनभव मसार से पृथक हो जायेगा। पर कव, जव

सर्व जड़भास से न्यारा जैसा अपना सत्य स्वरूप है वैसा ही समझ ले, अपने को सर्व से पृथक निश्चय करे, "जीव सबो का जाननहारा। सबको जानै सबसे न्यारा" इस प्रकार स्वरूप को सबसे भिन्न निश्चय करते ही फिर सबसे पृथक होने के आचरण भी अपने मे धारण होने लगेगे, मात्र यथार्थ निश्चयता की क्षीणता है। यदि सर्व जड भोगो से लौटकर अपने ही स्वरूप मे तृप्ति निश्चय कर ले, तो नि.सदेह जीव शिव, अर्थात परम श्रेष्ठ शातिधाम अभिराम हो जावे। अतएव गुरु-सत सत्संग-द्वारा निज अनुभव से यथार्थ निश्चय पुष्ट कर लेना चाहिए॥ १६॥

यथार्थ स्वरूप के निश्चय बिना मुक्ति नही हो सकती

दृष्टात—एक विद्वान पण्डितजी थे। वे प्रतिदिन एक-एक छटॉक के दो गोले भॉग खाते थे। एक दिन भॉग कुछ विशेष हो गया। उसी दिन उन्हें शहर मे किसी आवश्यक काम के लिए जाना था। शहर मे जाकर पण्डितजी एक बडी दुकान पर खडे हुए। पण्डितजी बोले—सेठजी! दो गोला गरी के चाहिए। उसने जब दो गोला गरी के लाये तब उन्होने कहा—नहीं जी, गरी नही चाहिए, मै भूल गया, सेर भर नमक चाहिए। नमक देने पर उसने कहा—नही नही, मिट्टी का तेल चाहिए, मै फिर भी भूल गया। इतने मे सेठ ने झुँझलाकर कहा—आप तो गधे की-सी वार्ता करते हैं। नशा के कारण पण्डितजी की बुद्धि ठिकाने न थी। अत: वे बोले—मै गधा की-सी वार्ता करता हूँ तो क्या मै गधा हूँ! सेठ ने कहा—हा! तो पण्डित ने कहा—गधा तो घास चरता है, चार पॉव का होता है, अपठित होता है, मै तो वैसा नही। सेठ ने कहा—आप पठित, अन्न खाने वाले चतुर गधे हैं, पर हैं गधे ही। पण्डित जी को यह बात निश्चय हो गई और वे कहने लगे—हाय! मै तो उत्तम मनुष्य योनि मे था, मनुष्यो मे भी विद्वान था। अहो! मैं तो गधा हो गया हूँ, क्या करूँ! बडे कष्ट की बात है।

रास्ते मे किसी-किसी मनुष्य को ठहराकर आप पूछने लगे कि भैया! देखो मै गधा हूँ या नही? लोग आप की उलटी बाते सुनकर हॅसते हुए कह देते कि हॉ! सचमुच आप गधे ही है। पण्डित को पूर्ण निश्चय हो गया कि मैं गधा हूँ। आपने घर जाकर अपनी पत्नी से पूछा—क्यो री, देख मै गधा हो गया हूँ। हाय! तेरे सौभाग्य फूटे। वह समझ गई कि ये नशे मे है। फिर अपने पिता के पास जाकर ऐसे ही वचन कहे। पुत्र को नशे मे जानकर पिता ने नशा-निवारक औषधि खिलायी। औषधि खाते ही पण्डित जी का नशा उतर गया। पिता ने कहा—अब बताओ! तुम कौन हो? उसने कहा—मै-गधा नही, बल्कि मनुष्य हूँ, पडित हूँ। पिता ने कहा—देखो! भॉग खाने की आदत ऐसी खराब है कि मनुष्य और गधा का भी भान नहीं रहता। पण्डित ने शर्माकर उस दिन से नशा खाना छोड दिया। इससे यही बात लेना है कि पण्डितजी कुछ गधा नही हो गये थे, केवल बुद्धिभ्रम से उन्हे अध्यास दृढ हो गया था। जब उनका नशा उतर गया और विपरीत निश्चयता मिट गई, बस वे तो मनुष्य ही रहे। तद्वत इस देह-घर मे जो कि सर्व साक्षी चैतन्य है, वह स्वय प्रकाश अपने आप शुद्ध है, सर्व विकार रहित है, पर पचविषय सुख माननारूप नशा पीकर बेभान हो रहा है। जैसा अपना सर्व का साक्षी ज्ञान स्वरूप अखण्ड एकरस है वैसा भान न रखकर कही अपने को किसी कर्ता का अश-टुकडा, कही ज्योति, कही देह, कहीं पचविषय मानकर क्षण-क्षण मे राग-द्वेष वश

शोक-मोह मे जल रहा ह। इतने में कोई पारखी संत मिलते हैं और जगत मे दुख दर्शन रूप बूटी पिलाकर दृढ वैराग्य से जीव का नशा उतार देते हं, तव उसे अपने शुद्ध स्वरूप का यथार्थ निश्चय हो जाता है। फिर सम्पूर्ण भ्रमपूर्ण वानी-खानि के मिथ्या सिद्धांतों को परख-परख डालकर आप सवसे भिन्न पारखपद पर स्थिर हो रहता हे।

भूल मिटै गुरुज्ञान से, शूल मिटै जन छोडि।
करि पुरुषारथ विघ्न दलि, आप आप मे मोडि॥ १७॥

टीका—गुरुत्देव से स्वरूप ज्ञान प्राप्त होने पर अज्ञान मिट जाता हे।

गुरुज्ञान से भूल का नाश

दृष्टांत—सडक के किनारे एक कुटी वनी थी। वहाँ जव-तव एक विवेकवान मत रहा करते थे। उन्हे गुरुज्ञान का यथार्थ वोध था। उस आश्रम पर अन्य सत आया-जाया करते थे। एक दिन घूमते-फिरते अन्य भेपधारी चार सत आ गये जो कि चार मप्रदाय के थे। चारो के शरीर-निर्वाहिक खान-पान की व्यवस्था होने के पीछे जव सत भूतल पर आसन लगाकर वंठे तव उनमे से एक ने कहा—परव्रह्मणे नम॰। दूसरे ने कहा—सर्वव्याप्तो विष्णु रूपिणे नमः। तीसरे ने कहा—ॐ नम शिवाय। चौथे ने कहा—आदिशक्तये नम॰। इस प्रकार सवो ने अपने-अपने इष्ट का नाम लिया, पुन॰ सव आपस मे सत्सग करने लगे। शक्ति-ठपासक ने सवसे कहा—तुम लोग सच्ची आदिशक्ति को छोडकर अन्य का क्यों जाप जपते हो? देखो! जव जगत न था तव आदिशक्ति ही थी, "महाज्योतिर्मय दैदीप्यमान" उसी मे त्रिदेवादि सव ससार की उत्पत्ति, पुन उसी मे लय जानिए। इस प्रकार शकर उपामक ने शकर से उत्पत्ति, पालन, प्रलय वताया। वसे ही विष्णु-ठपासक ने विष्णु मे उत्पत्ति, पालन, प्रलय वताया। व्रह्मवादी ने कहा—जितनी कल्पना दृश्य जगत हे वह वास्तविक व्रह्म का स्वप्न हे, न द्वैत था, न है, न होगा।

इन सवो की वार्ता सुनकर विवेकवान पारखी सन्त ने कहा—ठीक ह, अपनी-अपनी समझ से वात मानी जाती हं, साथ ही दूसरे के हितैपी वचन पर भी ध्यान देना चाहिए। यदि आप सन्तो को अनुचित न पडे तो म भी कुछ अपनी समझ से निवेदन करूँ। सन्तो ने कहा—आप अवश्य कहे। तव विवेकी सन्त वोले—आप लोग मेरी वात पर ध्यान देवे। देखिए! सव मत वाले कोई न कोई चीज अनादि नित्य मानते हें, तो आप लोग विचार करें कि जव एक ईश्वर, खुदा, शक्ति या किमी मत से कोई भी कर्ता का अस्तित्व सदा से रहा, तो यह वात झूठी ही ह कि विना वनाये कोई चीज हो नहीं सकती। रामचन्द्र, शकर, शक्ति, व्यापक ईश्वर या खुदा ने सवको वनाया, तो सवो के वनाने वाले को किसने वनाया? तव उसका उत्तर यही होगा कि वह अपने आप नित्य अनादि हें। वस ठीक हे, जव एक वस्तु नित्य अनादि स्वत. सिद्ध हुई, तो देखना यह हे कि वह क्या चीज हे! वेद, शास्त्र, पुराण सभी ग्रन्थ-पन्थ वतला रहे ह कि "गो गोचर जहँ लग मन जाई। सो सव माया जानहु भाई॥" जहाँ तक इन्द्रिय-मन के सम्मुख भाम होता ह, सो सव माया का स्वरूप हे, तो मन-इन्द्रियो का जो प्रेरक है, साक्षी है, द्रष्टा हे, भास करने वाला है, वह ही अपने आप है "अपरोक्ष के वाद जड का पमारा। देखो सभी शास्त्र मे हे विचारा॥ चतन्य के वाद जड़ सव कहा हे। द्रष्टा से न्यारे

दरश हो रहा है॥'' इस प्रकार द्रष्टा चेतन अपरोक्ष और उससे भिन्न पंच विषय जड पिण्ड-ब्रह्माण्ड, इन दोनो को छोडकर तीसरे कोई भी मजहबी कर्तारो के गुण, धर्म, शक्ति, सामर्थ्य का कही पता नही चलता। गीता मे भी कृष्णचन्द्र ने कहा है—जिसका भाव है उसका कभी अभाव नही, जिसका अभाव है उसका कही भाव नही होता, और आत्मा को भूत, भविष्य, वर्तमान मे एकरस अखण्ड बताया, शाश्वत—सदा रहनहार पुराण पुरुष बताया। इस प्रमाण से यह अपरोक्ष चैतन्य जीव अविनाशी ही सर्वदा रहता है। जो कहो फिर उस चैतन्य को नीचे मार्गो मे कौन ले जाता है, इसका उत्तर अर्जुन से कृष्णचन्द्र ने कहा कि ये काम और क्रोध ही जीव के परम शत्रु है। अनादि रही हुई दृश्य प्रकृति जड-तत्त्वो की इन्द्रिय-मन, बुद्धि के ससर्ग से राजसी वृत्ति द्वारा यह काम उत्पन्न होता है, यह दुष्पूर है, भोग से बढ जाता है। जैसे सूर्य बादल से और दर्पण मैल से ढक जाते हैं, वैसे यह जीव कामना से बॅधते आया है।

अपने को देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से पृथक श्रेष्ठ जान कर इस काम अरि को मारकर सुखी होना चाहिए, यह बात प्रमाणपूर्वक कही गई है। इस सत्य निर्णय से पृथक यदि कोई ऐसी कल्पना करे कि प्रथमारभ मे कोई एक ही पदार्थ था, उसी से सबकी उत्पत्ति हुई, तो प्रश्न होता है कि वह जड था या चेतन? जो जड था तो उससे विरोधी धर्म वाले चेतन-जीव हो ही नही सकते। जो चेतन था तो उससे विरोधी जडतत्त्वो की उत्पत्ति नही हो सकती। जो जड-चेतन सम्बन्धी पदार्थ थे, तब तो जड-चेतन दोनो अनादि ही सिद्ध हुए। जहॉ एक पदार्थ अनादि माना गया, वहॉ उसकी अपेक्षा दूसरा पदार्थ अनादि मानना पडेगा। यदि अग्नि अनादि है, तो पृथ्वी, जल आदि की अपेक्षा बिना अग्नि का ज्ञान हो ही नही सकता। इसी प्रकार जब पृथ्वी अनादि है तो उसकी अपेक्षा जल और वायु भी अनादि सिद्ध है। जब कारण चार तत्त्व अनादि हैं, तो उनके प्रवाहरूप कार्य भी बनते-बिगडते चले आ रहे है। जब जड जगत अनादि है, तो जड जगत के साक्षी सबको जानने वाले देहधारी चेतन जीव भी अनत अखण्ड अनादि जड देहो में सुख मानन्दी वश भ्रमते ही चले आ रहे हैं। इस प्रकार जड-चेतनमय सारा जगत जब उत्पत्ति-प्रलय रहित प्रत्यक्ष स्थित है, तो इसका अन्य कारण और कर्ता होना असम्भव है। जैसे सूर्य का सूर्य, जल का जल, पृथ्वी का पृथ्वी, वायु का वायु नही है, वैसे अनन्त अखण्ड चेतन जीवों का कोई अन्य कर्ता अनुभव नही होता। इसलिए प्रत्यक्ष देहधारी जीव ही अपनी-अपनी मानसिक सृष्टि के कर्ता हे और जड-तत्व कारणरूप हैं, जिनसे नाना कार्य स्वाभाविक होते हे तथा कुछ मनुष्यो के बनाये नाना कार्य होते रहते है। इस प्रकार जड-चेतनमय सम्पूर्ण जगत अनादि ही प्रसिद्ध हो रहा है, तो नाना देव, शक्ति, कर्ता आदि की कल्पना करने का प्रयोजन ही नही रहा। परन्तु जड-चेतन की यथार्थ पारख न होने से स्वप्नवत, रज्जु सर्पवत नाना भ्राति खडी होती रहती है। जड तत्त्वो के सम्बन्ध मे अपनी परवशता देखकर हम जो चाहते हैं सो नही कर सकते, इससे हमारा कोई दैव है, इस प्रकार सब जीव मन से विविध कल्पना कर नाना बानी रचकर कुम्हार घडावत ईश्वरादि का आरोप किये है। वहॉ पर कबीर साहिब कहते हे—''एक से ब्रह्मै पथ चलाया। एक से हस गोपालहि गाया। एक से शम्भू पथ चलाया। एक से भूत प्रेत मन लाया॥ एक से पूजा जैनि विचारा। एक से निहुरि निमाज गुजारा। कोइ काहू का हटा न माना। झूठा खसम कबीरन जाना॥ साखी—बस्तू अतै खौजै अतै, क्यो कर आवै हाथ॥ सज्जन सोई सराहिये, जो पारख राखै साथ॥'' बीजक॥

पद—वचन को ऐसे सुन करके सव जन तहवाँ शान्त हुए।
जिनका शुद्ध हृदय था कुछ कुछ वे तो गुरुपद योग्य हुए॥
यहि विधि गुरुपद बोध से शीघ्रहि भूल सकल मिट जाते हैं।
धन्य धन्य वड भागी हैं जो पारखपद को ध्याते हैं॥

शूल—राग-द्वेपकृत मानसिक कष्ट मनुष्यो का विशेष व्यवहार सम्बन्ध छोड देने से मिट जाता है। राग, द्वेष ओर जन सम्बन्ध रहित होने पर पारमार्थिक पुरुषार्थ करने का अधिक अवसर भी मिल जाता हे। इस गुरुयुक्ति को लेकर मुमुक्षु को उचित है कि पारमार्थिक परिश्रम करते हुए देह, जगत, मन, सम्पूर्ण विजाति की तरफ का खिचाव आसक्तिरूप सर्व बन्धनो का नाश करके अपने आप मे शात हो रहे॥ १७॥

दृष्टांत—एक संत मनुष्यो का ससर्ग छोडकर दूर जगल मे चले जाया करते थे। एक दिन एक मनुष्य ने पूछा—आपके वहुत प्रेमी हैं, उनके वीच क्यो नहीं वैठते, दूर क्यो चले जाते हैं? सत—जितना सधे उतना ही तो वोझा लादा जाता हे। पूछने वाले ने कहा—इसका क्या मतलव कि मनुष्य-समाज बोझ रूप हैं? सत—हाँ, ऐसा ही है। जेसे पनिहा, मटिहा, चीत, नागिन, धमिना, फेटारा, अँवरहा, दुमुहॉ, अजगर इत्यादि सर्पों की जातियाँ वहुत किसिम की होती हें। कम-विशेप विपवाले सबके सव सर्प भयदायक होते हैं। प्रत्येक सर्प के डॅस लेने पर कुछ न कुछ विप चढता ही है, वेसे ही विषय-कामना से घिरे मनवशवर्ती राग और द्वेपरूप विप से भरे मनुष्य भयदायक हैं। वे स्नेह-प्रेम ओर वेर भावना द्वारा पॉच ज्ञान इन्द्रियो से सर्पोवत क्रिया करके विरक्तो के अन्दर भी राग-द्वेप रूप विप भर देते हें, जिससे स्वरूप का विवेक शिथिल हो जाता है। स्वरूपभाव शिथिल होने से देह ओर मन के पूर्व स्वभाव सामने आकर अधकूप मे डाल देते हें। इसलिए जहाँ तक हो सकता है हम मनुष्य-समाज से दूर रहते हें। दूसरी वात—स्वरूप सवसे पृथक है। पृथक हुए विना उसका यथार्थ ठहराव नहीं होता। तीसरी वात—अतर्मुखवृत्ति या स्थिति का अभ्यास, मन का द्रष्टापन ये सव साधन भीड, समाज मे वेठे-वैठे नहीं होते। इन कारणो से हम अलग चले जाते है। सत का यही मुख्य पुरुपार्थ हे कि वह युक्तिपूर्वक अपने को सवसे पृथक करे।

इस प्रकार परम पुरुपार्थ से जीव अपने आप मे स्थित हो जाता है, अतएव जन-समाज से पृथक रहने में सुख मानना चाहिए, इसी से कहा हे—"शूल मिटै जन छोड़ि॥"

सज्जन दुर्जन से दुरे, जानि दुखहिं को मूल।
तव घर पावे आपना, दुर्गुण जीति समूल॥ १८॥

टीका—तीव्र मुक्ति-इच्छुक को चाहिए कि सज्जन-दुर्जन दोनो से पृथक हो जाय, उन्हे दुखमूल वधनरूप ममझे, तभी अपना घर पारखस्थिति मिल सकती है और तभी मानसिक जडाध्यास, वाहरी विपयक्रिया तथा सव दुर्गुण जीतने मे आयेगे॥ १८॥

स्पष्ट—सद्गुरु-कृपा और सतसमाज की असीम दया तथा सहायता से जव स्वरूपज्ञान की प्राप्ति होकर शुद्ध अन्त करण द्वारा मात्र स्वरूपठहराव वाकी रह गया, उसके लिए वताया जाता है कि निराधार स्वरूपस्थिति करने मे दुर्जन और सज्जन इन दोनो की ममता रुकावट करती ह। दुर्जन दु·स्वभाव वाले के सग से तो कलह-कल्पना तथा विक्षेप वढता ही हे,

ससारी धार्मिक प्रेमी भक्तजनो मे भी राग होने से मोह ममता तथा फिक्ररूप बन्धन हो ही जाता है। गृहस्थ को आठो पहर न तो विरक्त शिक्षा दे सकते है, और न वे ले ही सकते हैं। अतएव धर्मोचित परखने-परखाने के लिए आवश्यकीय सम्बन्ध लेकर फिर सज्जनो के सग से भी हटकर एकात मे निवृत्तिमार्ग पुष्ट करना चाहिए। इस प्रकार सज्जनों का सन्मार्ग पुष्ट होगा और विरक्त को राग-द्वेष का भार भी न पडेगा, क्योकि जगत के सज्जन प्रेमी भी सर्वथा जगत के विकार से पृथक नहीं है। उनमे भी ममता बनाने से वे अपना गुण-दोष अवश्य देगे।

श्री पूरणसाहेब ने कहा है—

सज्जन ते जॉचे नहीं, दुर्जन ढिग नहि जाय।
प्रारब्ध वर्तमान जो, बरते सो बरताय॥ वैराग्यशतक॥

इससे सावधान—

पद—*सज्जन दुर्जन का द्रष्टा होवै तभी विरक्ती है चलती।*
जहॉ एक मे मोह बॅधा की तहॉ विरक्ती सब उडती॥
दुर्जन को क्षमा के बल से औ सज्जन को उपशम से।
दोनो की आसक्ती त्यागै तब लागे अविचल पद से॥

एक वृत्ति अभ्यास दृढ, तदगत होय निराश।
भार रहित जब प्राप्ति सुख, मिटै भार सुख आश॥ १९॥

टीका—सर्व स्मरण हमसे भिन्न है, हम स्मरणो के द्रष्टा हैं, इस प्रकार दृढ विवेक युक्त स्मरणो को अपने से भिन्न देखने का एकाधार अभ्यास बनाना चाहिए। जब स्मरणो को देखते-देखते देखने की एकवृत्ति अभ्यास बन जावे तथा परख-परखकर स्मरणो को त्यागने ही मे निरन्तर सुख जचने लगे, देर तक सावधानता पूर्वक इसी मे वृत्ति स्थिर हो जावे, ऐसा करते रहने से स्मरणो का बोझा उतर जावेगा। स्मरणो मे मिलकर क्षण-क्षण हर्ष-शोक, दुख-सुख, चचलता आदि जो होते है, मनधारा का पूर्ण द्रष्टा होकर उनमे न मिलने से वे नहीं सताते। जब सर्व मनोवृत्तियो एव स्मरणो से पूर्ण निराश हो जावे, स्मरण उठने मे अधिक से अधिक कष्ट प्रतीत होवे, परख-परख के त्यागने ही मे अधिक-अधिक सुखप्रियता दृढ हो जावे, इस प्रकार बार-बार स्मरण-रहित सुख को दृढ करके स्मरणो को त्यागते रहने से भाररहित जब एकरस स्वरूपस्थिति का सुख पुष्ट कर लेवे, तब बाहरी विषयो मे सुख-आशा की वृत्तिरूप बोझ जो जीव को कायल किये है वह सहज ही मिट जावेगी। जब घर ही मे अमर बूटी मिल जाय तो पहाड पर चढने की क्या आवश्यकता।

छन्द—*एकान्त मे जाकर भली विधि शात होना चाहिये।*
जो सब पृथक सम्मुख दिखै तेहि भाव खोना चाहिये॥
सत्ता न दे सकल्प क्षय तब मोह धोना चाहिये।
सब ध्यान तज ध्याताहि भज भव मे न रोना चाहिये।

इस प्रकार जब बाह्य सम्बन्ध त्यागकर मनोद्रष्टा से ही सर्व वृत्ति निरोध करके सर्व कामनाएँ मिट रही है तो फिर बाहर इन्द्रिय-भोगो मे सुख मानकर क्यो दीन होवे, जो कि सदा बोझरूप है॥ १९॥

स्पष्ट—जब सर्व जडासक्तियो से भिन्न अपने सत्यस्वरूप का बोध विवेक द्वारा साक्षात हो गया तो जानो परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म, धन, युवती या जो कुछ प्रिय पदार्थ कल्पा गया था उससे भी विशेप पद की प्राप्ति हो गयी, क्योकि अपने ही सुख के लिए सब खानि-वानी की कल्पना की जाती है। सर्व कल्पित का कर्ता सत्यस्वरूप ओर सम्पूर्ण दुखो से रहित जब अपने स्वरूप का ज्ञान हो गया तो जो प्राप्त करने को था वह मिल गया। हम अनन्त काल से जिसकी खोज मे थे वह वस्तु तो हम ही ह। हम अपनी भूलकृत करनी ही से सब बन्धन गढ लिए थे, अब बोध-प्रकाश होने से अपने सत्यस्वरूप पर पर्दा न पड़े, हम मन इन्द्रियो के वश चचल न हो, इसके लिए गुरुपद रहनी की एक वृत्ति बनानी चाहिए।

गुरुपद अभ्यास

(१) एकान्त मे देर तक सद्ग्रन्थ पढकर मन को भिन्न देखने से वृत्तियाँ शात हो जाती हैं। देर तक निरन्तर स्मरणो को भिन्न देखते-देखते स्थिति का अभ्याम बनाना, इस श्रेष्ठ माधन से स्थिति मिल जाती हे। (२) बोधदाता गुरुदेव के ध्यान से भी वृत्तियो का भार उतर जाता है। (३) 'गुरु' ऐसे पवित्र नाम का बार-बार स्मरण करते हुए जब स्वाभाविक गुरु-गुरु स्मरण होने लगे, तब चित्त का विक्षेप मिट जाता हे। (४) रहस्ययुक्त वैराग्यवान साधुगुरु की निर्णय-चर्चा सुनते-मुनते कामादिक सकल्प मिट जाते हैं। (५) देहोपाधि मे दुख-दर्शन ओर स्वरूपस्मरण करते-करते तदाकार वृत्ति करने से विपयकृत चचलता नप्ट हो जाती हे। (६) छल, दम्भ, मान, सुख छोडकर स्वरूपबोध का लक्ष्य रखते हुए वैराग्यवान की सेवा करने से जगत-विक्षेप मिट जाता हे। (७) एकात स्थल मे जिज्ञासु से वैराग्य चर्चा, वैराग्य भावना, वैराग्य माहात्म्य निर्णय करते-करते जगत की वासनाएँ मिट जाती हे। इन सबो के साथ यह बात भी स्मरण रहे कि विवेक सहित ये सब कार्य देर तक ओर लगातार बहुत दिनो तक नियम पूर्वक करते रहने से एकवृत्ति बनती हे, तब गुरुपद रहस्य छोडकर फिर और कुछ कार्य करने को कोन कहे उससे लाखो कोस मन दूर हो जाता हे। इस प्रकार मन आर जगत की मुखासक्ति सर्व भार हटकर निराधार पारखस्वरूप मे ठहराव दृढ हो जाता हे ओर जीव जीवन्मुक्त हो रहता ह।

यथा-दोहा—*म पारख मे होय रहा, पारख मोरे माहि।*
भास अध्यास ओ कल्पना, मोको पावत नाहि॥

सर्वोपरि गुरु परख रहाई। पारख पर कोई भूमि न भाई॥
पारख ऊपर थिर ह्वे रहना। सकल परखना न कुछ गहना॥ निर्णयसार॥

जेहि विधि होव काज यह, निशदिन ताहि को शोध।
विना सरे निज काज के, कबहुं न मिटे विरोध॥ २०॥

टीका—जिस प्रकार से अपनी एकरस पारखदृष्टि की धारणा बने, द्रप्टापने का अभ्यास पुप्ट हो, स्वरूपस्थिति हो, वही शोध-बोध विचार दिन-रात करना चाहिए। सद्ग्रन्थ, सत्सग, म्वानुभव से जो-जो युक्तियाँ शरीराध्यास को शिथिलकर स्वरूप-भाव को पुप्ट करे, उसी-उसी को चाव-चपट के साथ आचरण मे लाना चाहिए, क्योकि पारख स्थिति जो कि अपना मग्व्य कार्य हे इसको पुप्ट किये विना कभी विरोध-विक्षेप, जन्म-मरण-गर्भवास, तीन ताप,

बन्धन, शोक, मोह, विषयासक्ति, कामना, राग-द्वेष, दुखद्वन्द्व निर्मूल नही हो सकते॥ २०॥

ऐसा निजहिं बिचारि कै, दुर्गुण पर कटिबद्धि।
सशय होय न जीत मे, कल्पित अरिदल मद्धि॥ २१॥

टीका—इस प्रकार अपने स्वरूप को देह तथा मानसिक प्रपच से भिन्न अजर-अमर जाने और अनादि से जड मे भ्रमवश अपनी दीनता, परवशता बधन देखे और गुरुबोध युक्ति से दीनता-परवशता बधनो के निर्मूल होने का अनुभव तथा परख करे। इन सब बातो को सोच-विचार कर पूर्व के दुर्गुण स्वभाव-आदत, विषय-चिंतन, भोग-क्रिया इन सबो को जीतने के लिए कमर कसकर तैयार हो जावे। साथ ही कामादि रिपुओ को जीतने मे रचक मात्र भी सन्देह न लावे। बन्धन हेतु दुर्गुण तथा आसक्ति वाले स्वभावो को निर्मूल न कर सकेगे ऐसी कायरता भूलकर भी न धारण करे। यह विचार करे कि काम-क्रोधादि शत्रु शक्तिमान नही ह। हमारी ही कल्पना से ये मनोमय शत्रु जीवित है, फिर क्या कारण है कि हम अपने कल्पित शत्रुओ को न पछाड सके। हम चैतन्य ही की अवश्य जीत हे, मात्र हमारी निश्चयता और परीक्षा ही मे देर है। कहाॅ हम सत्य शुद्ध चैतन्य और कहाॅ हमारी भूल से गढी गई विषयासक्ति, कामादिक कल्पित मनोमयसृष्टि। बस, हम इस निश्चयता को अवश्य सम्मुख रखकर मनोमय समर से नही पिछडेगे। मनोमय शत्रु को जीतकर एकरस अपने आप ठहर रहेंगे॥ २१॥

जीवो का मनोमय कल्पित खेलालय

दृष्टांत—गुरुजी और शिष्य घूमते-घूमते एक विशाल शहर मे पहुॅचे। वहाॅ उन्होने देखा कि एक बडे सुन्दर फाटक के आगे बडे अक्षरो मे लिखा था "बृहत बाल-खेलालय" उसमे दोनो सन्त चले गये, देखते क्या है—

शैर—कुछ बालक फुटबाल खेलते कुछ गुब्बार उडाते है।
कुछ ताश पास शतरज खेल कुछ धूल धाल मे धाते है॥
कुछ लडते भिडते गाली देते नचते हॅसते रोते है।
कुछ एक्का गाडी मोटर बन कर भारो को वे ढोते हैं॥
वै सब निज निज भावो से मन कल्पित दुख सुख लाते है।
हानि लाभ से छिन छिन प्रेरे गिरते उठते गाते हैं॥
गुरुवर ने अनुचर से कहा खेलालय इसको कहते हैं।
ये अपनी अपनी सत्ता से सब विविध खेल नित रचते हैं॥
देखो। देखो।। अब सब खाली खेल बिना ये खेलाडी के।
ठीक दशा समझो ऐसी ही इस दुनिया की बाडी के॥
ये खेलो के दुख लखने मे आवैं जभी खेलाडी के।
तब तो बिगाडे त्यागै उनको है निश्चित पछाडी के॥
मन खेलों के रचनेवाला जो खुद सत्य प्रकाशक है।
सबका ज्ञाता ध्याता जानक मानक सबका भासक है॥

भूल जनित लत भोगो को यह कल्पित जानिके त्याग करै।
वीर धीर रणजीत जीव तू सनमुख होके समर करै॥
अमित काल की आदत है दृढ आज उसे अरि जान लिया।
घातक दगाबाज भ्रम रिपुको परख युक्ति से हान किया॥
निर्णय युत कहनी ओ रहनी गुरु रहस्य के घेरा मे।
भाव भक्ति युत थीर परख में नहि सो संसृत फेरा मे॥

दोहा—*ऐसे गुरु के बेन सुनि, शिष्य दोऊ कर जोर।*
निज कल्पित अरि दमन हित, दियो शक्ति प्रभु मोर॥

अजर अमर अविकार मैं, आदि अन्त नहिं मोर।
करा अचल सग्राम अब, कस न विजय रणहोर॥ २२॥

टीका—न में जीर्ण होता हूँ, न मरता हूँ, न मुझ चेतन मे कोई तन-मन के विकार हैं, न मेरी उत्पत्ति ह, न नाश हे। में सदा अभग एकरस हूँ। इसलिए अव मानसिक दुश्मनो से अटल युद्ध ठानूँगा, फिर मेरी जीत अवश्य ही धरी है॥ २२॥

स्पष्ट—विवेकयुक्त यह विचार करे कि जरने, वहने, कटने, पिटने, उत्पन्न-नाश होनेवाली विकारयुक्त यह जड देह हे। इस जड से भिन्न धर्म-वाला मैं चेतन अजर-अमर, षट विकारो से रहित हूँ। मुझ चेतन्य की तीन काल मे उत्प्रत्ति और नाश नहीं। जव में ऐसा हूँ तो अपने म्वरूपवल का स्मरण कर कल्पित कामादि मानसिक दुश्मनो से अवश्य संग्राम ठानूँगा ओर यह सग्राम तव तक अचल एकरस चालू रक्खूँगा, जव तक जडमूल से वेरी नष्ट न हो जाय। अर्थात जव तक शरीरात न हो जायेगा तव तक मेरा संग्राम चलता रहेगा। भला ऐसा दृढ निश्चयतायुक्त पुरुषार्थ करने पर विजय न हो यह वात केसे हो सकती है! सत्य की अवश्य जय होती ह, क्योकि सत्य मं जीव ही हूँ। अत कल्पित आदत ओर वुरे सकल्पो का मेरे द्वारा अवश्य संहार होगा, फिर में सदा सत्य स्वरूप में अचलरूप से विराजूँगा।

स्वस्वरूप स्मरण यह, करे सकल दुख दूरि।
धीरज साहस बल वढे, असमंजस फन्द को तूरि॥ २३॥

टीका—पूर्वोक्त कहे प्रमाण अनुसार जो अपने स्वरूप का सदोदित स्मरण रक्खे तो उसके मन से उत्पन्न सर्व आसक्ति-वधनो का कष्ट निर्मूल हो जावे और उसका धीरज तथा कल्याणमार्ग मे जुटने का साहस व हिम्मतरूप वल वढ जावे, जिस वल से वह असमंजसी वधनो को तोडकर सहज ही स्वरूप मे स्थित हो रहेगा। असमंजस-ऐचाखेंची, अर्थात जिन विषयो से अनन्त कष्ट महता है, फिर-फिर उन्हीं मे दीप-पतगवत जला करता है। छोडना चाहे तो वे भोग छूटते नहीं, भागना चाहे तो मन भर भोग होता नहीं, अथवा मनरिपु को हम जीत सकते हें या नहीं, ये सव असमजस स्वरूप-स्मरण से शीघ्र ही नष्ट हो जाते हें। यह मेरा दुख दाता रिपु हे, ऐसी समझ ठोस रखना पुनः रिपुचक्र मे न आना, पूर्ण सवल स्वरूप वोध का अविभग उपयोग साधन ले लेना और कभी मतित न होना, ऐसी सर्वांग साधना निश्चयात्मक वोध-वुद्धि द्वारा सरलता से ग्रहण हो जाती ह। इम प्रकार शुद्ध स्वरूप स्मरण करे

तो उसके सब सदेह नष्ट होकर दिनोदिन नित नव परमार्थ मार्ग की शक्ति वढती रहेगी॥ २३॥

अरि रण मे विश्राम लखि, रणहिं तजे दुख घेर।
यह धरि निश्चय आपमे, अरि को जीत सबेर॥ २४॥

टीका—मानसिक विकार काम-क्रोधादि रिपुओ से लडने ओर उनके सहार करने मे ही विश्राम तथा सब सुख-शाति पूर्ण है, यही विवेकयुक्त पारख सदेव सम्मुख रखना चाहिए। यदि कामादि रिपुओ के वश होकर उनसे लडना छोड दिया गया, तो शीघ्र ही बाढ जल के समान अभाव, कमी, न्यूनता, प्रतिकूलता के दुख चारो तरफ से गॉस लेवेगे। दुश्मन के वश होकर न बेगारी का अन्त मिलेगा, न कामनाओं की पूर्ति होगी। सदा अभाव तथा कमी प्रतीति से भूखे-प्यासे भार लादे रोते-कल्पते दिन जायेंगे। इससे तो कोटि गुना अच्छा है कि मन मार कर काम-क्रोधादि रिपुओ से हमेशा लडा करे। जब मन को इच्छाहीन बना लिया तब सत्य मे क्यो न टिक सकूँगा, यही बात अपने भीतर दृढ निश्चय करके काम, क्रोध, लोभादि रिपुओ को तत्परता पूर्वक शीघ्र ही जीत लेना चाहिये। ऐसा दृढ निश्चय होते ही शीघ्र मानसिक विकारो पर विजय मिल जायेगी॥ २४॥

दोहा—*स्वरूप-स्मरण साखियाँ, मनन करै जो कोय।*
होवै जीवन्मुक्त सो, मन रिपु जीते सोय॥

प्रसंग २—जड़तत्त्वों और जीवों के भिन्न-भिन्न लक्षण

झीना मोटा भिन्न है, जल थल पावक पौन।
सदा प्रवाहित रहत सोइ, कारण कारज भौन॥ २५॥

टीका—स्थूल और सूक्ष्म आकार वाले तत्त्व अलग-अलग हे, उनके नाम जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु है। जल अनत अणुओ से सयोगवान अन्य तत्त्व मिश्रित नदियॉ, समुद्र, कूप तालाबादि रूप प्रत्यक्ष स्थूलाकार है। पृथ्वी अनत त्रसरेणुओ से सयोगवान अन्य तत्व मिश्रित प्रत्यक्ष भूगोलरूप से स्थित स्थूलाकार है। अग्नि अनत परमाणुओ से सयोगवान प्रत्यक्ष सूर्य गोला स्थूलरूप और परमाणुरूप अन्य तत्त्व मिश्रित सूक्ष्मरूप है। वायु अनत परमाणुओ से सयोगवान अन्य तत्व मिश्रित नेत्र दृश्य रहित वातावरण मे सर्वत्र क्रियावान सूक्ष्मरूप है। इस प्रकार चारो तत्व मोटे और महीन आकार वाले है, वे सदोदित क्रियावान रहते है। क्रियावान रहने ही से वे कारण-कार्य के भवन है, घर है। कारणो से नाना कार्यो का बनना और बिगडना ये दोनो प्रवाह स्वाभाविक जडतत्वो मे चले आ रहे है॥ २५॥

गुण धरमन से भिन्न हैं, चारि भूत चव रीति।
जडता से वे भिन्न नहिं, पृथक न कबहुँ बनीति॥ २६॥

टीका—अपने-अपने गुण-धर्मो से वे न्यारे-न्यारे हे। जल का शीत धर्म और रस गुण। पृथ्वी का कठोर धर्म ओर गध गुण। अग्नि का प्रकाश धर्म और रूप गुण। वायु का कोमल धर्म ओर स्पर्श-शब्द ये दो गुण है। इस प्रकार चारो तत्वो की चार रीति-लक्षण गुण-धर्म भिन्न-भिन्न है, पर चारो चेतनता-रहित होने से जड है। जडताभाव मे वे चारो एक ही है, क्योकि जितने

कारण-कार्यरूप तत्व ह, वे सव जड पाँच विषय छोडकर कभी ओर कुछ नहीं होते। भाव यह कि जड पाँच विपय छोडकर कभी और कुछ नहीं होते। जड से चाहे जितनी वस्तुएँ वनें वे सव जड ही होती ह॥ २६॥

शक्ति क्रिया मे भिन्न हे, मेल परस्पर लेत।
साथहिं रहत विरोध तहँ, विलग विलग चलि देत॥ २७॥

टीका—वे अपनी-अपनी शक्ति आर क्रिया से पृथक-पृथक ह, सव तत्वो का परस्पर सयोग सम्वन्ध ह। पृथ्वी मे पृथ्वी का विशेप अश, तो जल, अग्नि, वायु का सामान्य अश मिला हुआ हे। उसी प्रकार सव तत्वो मे अपना-अपना विशेप भाग तथा अन्य का सामान्य अश मिला ह। कारण आर कार्य दोनो मे चारो का सयोग ह। कार्यो मे परस्पर चारो तत्वो के परमाणु मिलते हुए भी उनके गुण-धर्मा की विरोधता-वाधकता मिटती नहीं, अर्थात भिन्न-भिन्न तत्व कम-विशेष साधक अश मिल-मिलकर अनत प्रकार के कार्यरूप मे वनते रहते हैं, साथ ही वे क्रियावान होने से वाधक अगो स छिन्न-भिन्न होकर अपने-अपने कारणो मे मिलते रहते ह। कभी साधक विशेप कभी वाधक विशेप, इस प्रकार साधकता-वाधकता कम-विशेप तत्वो के साथ वनी रहती हे॥ २७॥

यहिते कारज विविधि विधि, वनत मिटत दरशाय।
कतहुं न स्थिति देखिये, छोडि विलग नहिं जाय॥ २८॥

टीका—पूर्वोक्त तत्वो मे गुण-धर्मो की पृथकता आर स्वाभाविक चाल है। इन्हीं तत्वो मे असख्य प्रकार के कार्य वनते आर मिटते हुए प्रत्यक्ष दर्शित हो रहे ह। इन तत्वो के कारण-कार्य मे कहीं भी ठहराव नहीं ह, क्योकि वे अपने-अपने स्वरूप मे क्रियावान ह। फिर वे अपनी स्वाभाविक चाल को छोडकर कसे न्यारा रह सकते ह। अर्थात कारण से कार्य तथा कार्य क्षीण होकर फिर कारण मे मिलकर पुन कार्यरूप मे होते रहते हैं, इस प्रकार कोई भी तत्व परस्पर सम्वन्ध छोडकर नितात न्यारा नही होना। घूम-घुमाकर परस्पर सम्वन्ध ही मे रहते ह॥ २८॥

जडता एक सरूप जो, कहे अन्य सो भिन्न।
पाँचो इन्द्रिन मे लखे, दृश्य पदारथ जिन्न॥ २९॥

टीका—जडता भाव मे सव तत्व एक समान ह ओर जो उनके गुण-लक्षण भिन्न-भिन्न कहे गये, वे सव अलग-अलग पाँचो ज्ञान इन्द्रियो से देखे जाते हैं जो कि प्रत्यक्ष इन्द्रियो के सम्मुख दृश्यमान हो रहे हैं। यदि चेतन जीव भी जड कारण-कार्य होते तो इन्द्रियो मे दृश्य-मान होते। वे दृश्यमान नहीं॥ २९॥

इन सवहिन से पार हैं, ज्ञाता जीव स्वतत्र।
विवश वासना तन धरत, भूलि आप परतन्त्र॥ ३०॥

टीका—पूर्व लक्षणो सहित जितने पदार्थ दृश्यमान हं उनसे द्रष्टा जीव सर्वथा पृथक ह। उन जड तत्वो के चिह्नो मे सदोदित भिन्न ज्ञान करने वाले होने से ज्ञाता चेतनस्वरूप स्वतत्र अपने आप हैं, वे ही स्वय अपने स्वरूप के भूल-वश विजाति जड तत्वो मे सुख-निश्चयता द्वारा नाना प्रकार की वासना दृढकर तथा अनेक देह धर-धर कर परवश हो रहे ह।

कवित्त

दीन हीन बिललात इन्द्रिन के वश घूमै, सिह जैसे स्यार होय जित तित भय मे।
चेतन स्वरूप बिसराय फूलि नख शिख, देह ही की ममता से तपै ताप त्रय मे॥
एते हानि एते लाभ एते दुख सुख पायो, नीच ऊँच भूले युवा बाल वृद्ध बय में।
जड देह भिन्न से भिन्न नाहि कियो आप, याहि दुख जड हेतु सुख मानि तय मे॥

इस प्रकार जीव परवश हो रहे है॥ ३०॥

तदपि स्वरूप के भाव से, स्वत स्वतन्त्रहि देखि।
जो कुछ भावै सो करै, विन भावै नहिं पेखि॥ ३१॥

टीका—यद्यपि जीव सुखाध्यास-वश परवशता से भ्रमते हुए अनादि काल से चले आये है, तो भी स्वरूप से स्वतत्र होने के कारण स्वतत्र ही बर्ताव करते रहते है। इनके स्वतत्र होने का प्रमाण यह है कि जो कुछ इनको अच्छा लगता है तथा जिस किसी में सुख निश्चय होता है, वही कार्य करते है और जिसमें सुख नही जान मिलता वह कार्य कभी नही करते, यह सबको स्वय अनुभव है। अज्ञ दशा मे इतनी स्वतत्रता स्पष्ट है कि यदि वे जेल मे हो तो भी छूटने के लिये शोध-सकल्प करते है। इस स्वतत्र सिद्धान्त की पुष्टि पुन सुनिये॥ ३१॥

बरबस परत रुकाव जो, तबहूँ दुख सुख मान।
रुकत चलत वहि मग रहै, जो कुछ मन सधान॥ ३२॥

टीका—सुख-निश्चय के रास्ते पर चलते हुए यदि जीव को जबरन किसी कारण से रुकना पडे, सुख क्रिया न कर मिले, तो वे अत्यन्त दुखी होते, रोते, तडपते तथा चिता करते हैं, परन्तु सुखाध्यास भीतर बनाये रहते है। इस प्रकार अत्यन्त् दुख में भी अपनी स्वतन्त्रता को जीव प्रकट करते है, सुख-निश्चयता के ध्येय से ही उसकी अपूर्णता मे दुखी होते हे। जब अपनी कोई सामर्थ्य नही चलती तब अपने निश्चय-मार्ग से रुकते है और जहॉ कही सधि पा गये कि शीघ्र ही अपने सुख-मार्ग की ओर चलने लगते हैं। जिस विषय, जिस कर्तव्य, जिस सग, जिस स्मरण में जीव को सुख मानदी दृढ हो गई है, उसी का बार-बार चिन्तनकर क्रियाद्वारा उसी सुख निश्चय-मार्ग पर चलते रहते है॥ ३२॥

दृष्टान्त—एक स्त्री किसी कारण दुखी होकर अपनी ससुराल से नैहर को भागी जाती थी। तव तक उसका पुरुष दोडा और स्त्री के समीप जाकर बोला—अगर कुशल चाहे तो लौट चल। स्त्री बोली—मै न लौटूँगी। पुरुष ने कई बार कहा—'लौट चल, लौट चल'' इतना कहते-कहते भी उस स्त्री ने और जल्दी पग बढाया। पुरुष क्रोधावेश मे स्त्री को लातों ओर घूसो से मारने लगा, स्त्री गिर गई। थोडी देर मे उठकर फिर दूसरी तरफ भागने लगी। फिर पुरुष दौडकर मारने लगा। मारते-मारते वह गिर गई। गिरते हुए भी स्त्री कहती थी कि चाहे मुझे मार डालो पर मै घर न जाऊँगी। ऐसा सुनकर पुरुप पुन उसको तडातड मारने लगा। थोडी देर मे स्त्री को मूर्छा आ गयी। पुरुष कठोर वचन कहते हुए स्त्री की बॉह पकड कर घसीटते हुए घर मे लाकर बन्द कर दिया। दूसरे दिन जब वह सावधान हुई, तब फिर रोने-कल्पने लगी। देखो! घर में बन्द पुरुष के वश मे होते हुए भी स्वतन्त्रता से स्त्री अपनी सुख-भावना

को स्मरण करके उसमे विघ्न जानकर दुखी हो रही ह। फिर वह कई दिन पश्चात घात पाकर नहर को भाग गई। इस प्रकार ये जीव विवश होते हुए भी स्वतन्त्र स्वरूप होने के कारण वश न चलने पर भी स्वतन्त्रता से ही अपने सुख निश्चय का स्मरण करता रहता ह आर घात पाकर सुख निश्चय पर ही चलता रहता ह।

जो नहिं विचलै ताहि मति, तव न कवहुँ निज लेन।
छोडि सकै नहिं जहँ रह, स्वत· स्वभावहिं सन॥ ३३॥

टीका—जिधर जीव की सुख-निश्चयता ह उधर से यदि विरोध-सग द्वारा या किसी कारण मे बुद्धि न पलट जाय तो वह कभी अपने सुख-निश्चय की पटरी को छोड नहीं सकता। चाहे सो जेल के अन्दर वन्द कर दिया जाय, चाहे राजगद्दी पर वठा दिया जाय, चाहे जगल मे छोड दिया जाय। यदि अपनी स्वतन्त्रता निश्चयता से सुख भावना द्वारा क्रिया न कर पायेगा, तो कम से कम उसका स्मरण तो करेगा ही। यही स्वत स्वतन्त्रता के प्रत्यक्ष लक्षण ह। इससे स्पष्ट हो गया कि स्वभाव से जीव स्वतन्त्र हे, इसलिए भूल-भ्रम के वश होते हुए भी स्वतन्त्रता ही मे जीव सुख मानता ह। फलत इसे चाहिए कि स्वतन्त्र चेतन द्रव्य की स्वय समझ दृढकर तथा पच जड मे सुखाभास त्यागकर सदा स्वतन्त्र स्थित हो जाय॥ ३३॥

जड जड एका से परे, जड़ भेदन से पार।
ज्ञान स्वरूप अखण्ड सोइ, स्वत रहत निरधार॥ ३४॥

टीका—तत्वो मे जडपना की एकता ह ओर गुण, धर्म, शक्तियो का उनमे भेद हे, उन सव भेदो ओर जडपना से जीव सर्वदा न्यारा ह। जीव मे जड के समान भेद आर जडता न होने से वह कारण आर कार्य-रहित ज्ञानस्वरूप, स्वतन्त्र, अखण्ड, निराधार, अपने आप ह। चेतन-द्रव्य मे ज्ञान गुण समवेत हे, ज्ञान उसका अपनापन ह। जड तन-मन पिण्ड-व्रह्माण्ड सर्व का द्रष्टा-साक्षी ह। इस स्वय साक्षी मे जड पर ह, चेतन निज ह॥ ३४॥

इन्द्रिन मे आवे नहीं, रहत मनहुँ के पार।
निज स्वरूप के भूल से, दृश्य प्रेम गहि भार॥ ३५॥

टीका—अपने आप चेतन जीव इन्द्रियो मे नही आता, क्योकि जीव ही इन्द्रियो को जान-मान कर चलाता रहता ह। इस प्रकार चेतन जीव नेत्रादि से देखा नहीं जाता, किंतु वही नेत्रादि से देखता ह आर भीतर सर्व मानन्दियो-स्मरणो को भी जानता रहता हे। इससे मन-सकल्पादि मे सर्वथा भिन्न द्रष्टा अपने आप ह। अपने आप को भूलकर ही वह मन-इन्द्रिय आर वाहरी पदार्थो की आसक्ति, अहता-ममतारूप वोझा लाद लिया है। दृश्य वस्तुओ को श्रेष्ठ मानकर उनसे प्रेम करना ही वोझा लादना हे। जड दृश्य प्रियता के वश ही इस चेतन जीव को जडाध्यास लगकर वार-वार शरीर धरना पडता हे। शरीर धरने ही से तो इसकी सव प्रकार की दुर्गति हो रही ह। दुर्गति से दूर होने का उपाय एकमात्र स्वरूपज्ञान मे एकरस स्थिरता ही ह। इसे पुन विचारिये॥ ३५॥

निराधार आधार विन, आपको आप अधार।
स्वतः स्वतन्त्र चेतन्य है, जहँ जड लेश न भार॥ ३६॥

टीका—जीव का स्वरूप निराधार है। आधार-आधेय सम्बन्ध कारण और कार्य का होता है, जीव किसी का कारण और कार्य न होने से निराधार है। कर्ता-कर्तव्य सम्बन्ध न्याय से स्वय जीव ही मानन्दीयुक्त देहरूप यत्र को प्रेरित करके चलाता है। क्योकि—"जा दिन निकल जायेगा जीव तन से। नही कर्म होते न इन्द्री न मन से॥" न्यायनामा॥ इससे आपका आप ही आधार है, अर्थात चेतन का स्वरूप ही निराधार है, वह किसी का अश-अशी नही है। अश-अशी रहित स्वत. अनादि नित्य स्वतन्त्र अखण्ड चैतन्य है। जिस अपने आप चेतन स्वरूप मे जड तत्वो का लेशमात्र भार नही, सम्बन्ध नही, वह भला कैसे किसी के आधार मे रहे। "मानन्दियॉ स्मर्ण तजि सम्बन्ध चेतन का नही। सम्बन्ध बिन चेतन सदा निरधार आपे है सही॥" जिसके जाने-माने बिना किसी का मूल्य नही हो सकता, ज्ञानीजन उस महत्तम सत्ता को ही परमात्मा या स्वय सत्यात्मा कहते है॥ ३६॥

जानत　मानत　आप　है, ठानत　सोइ　करतब्य।
राग　द्वेष　मानत　रहै, सिद्धि　हेतु　मनतब्य॥ ३७॥

टीका—चेतन जीव ही मन-इद्रियो द्वारा सब मत-पथ, ग्रन्थ, सप्रदाय, राजनीति, गृह तथा विरक्त-नीति, नाम रटन, शून्य-ध्यान, लोक-परलोक, नास्तिक-आस्तिक, यत्रादि विद्या, कलादि, इन्द्रिय, मस्तक, अन्तर और बाह्य—सर्व पदार्थो को जानता है और दुख-सुख, हानि-लाभ मानता है। फिर सुख माने हुए की तरफ पहुचने के लिए पुरुपार्थ करता हे और दुख माने हुए की तरफ से हटता है। इस प्रकार वह वही-वही कर्तव्य करता है जिसमे जेसा निश्चय कर रखा है। अपना निश्चय पूर्ण करने के लिए ही अन्य से राग और द्वेष मानता रहता है। इससे स्पष्ट हो गया कि चेतन जीव सर्व का जनैया होने से अपने से पृथक सर्व का राग-द्वेष और मानन्दी द्वारा त्याग-ग्रहण करते रहने से सबसे सर्वदा न्यारा और नि सग परम सत्य है॥ ३७॥

जड　चेतन　दोउ　देखिये, करिये　भिन्न　बिबेक।
ज्ञान　दृष्टि　से　पेखिये, छोडि　दृश्य　की　टेक॥ ३८॥

टीका—नाम मात्र भिन्नता नहीं, गुण-शक्तियो से भिन्नता के पूर्व सब प्रसंग लेकर जड और चेतन के भिन्न-भिन्न गुण-लक्षण अनुभव करके उन्हे भिन्न-भिन्न ही जानना चाहिए। जिस प्रकार दोनो स्वरूप से भिन्न-भिन्न हे, उसी प्रकार यथार्थ विवेक द्वारा शोधन करना चाहिए। ज्ञानस्वरूप जीव को ज्ञान-दृष्टि से ही देखना चाहिए, दृश्य इन्द्रिय-गोचर पॉचों विषयो का पक्ष छोडकर अन्तर्मुख वृत्ति करके स्वय शोध करना चाहिए, तभी अपने सत्य स्वरूप का यथार्थ निश्चय दृढ होगा।

कवित्त

रग हो तो नेत्रन से देखिए ललकि करि, शब्द हो तो कानन से सुनि मोद लाइये।
रस हो तो रसना से चिख-चिख जानियत, गध हो तो नाक से ग्रहण करि पाइये॥
पर्श हो तो खाल से परश करि जानियत, इन्द्रि हो तो इन्द्रिन को ज्ञान कहॉ पाइये।
मन हो तो मनन को जानि-जानि दुरे कोन, मनहूँ को जानि-जानि जहॉ बिलगाइये॥ १॥

इन्द्रि मन पच विषय सर्व सनमुख भास, जाको भासे भासिक परीक्षक रहाइये।
सोई आप जानिवे को साधन विवेक आप, परखि-परखि सर्व भिन्न भास ढाइये॥
सर्व दृश्य त्यागकर शेष आप ज्ञान जान, पारख स्वरूप निज रूप ठहराइये।
नित्य प्राप्त नित्यतृप्त निराधार निर्विकार, गुरुकृपा पाय निधि भूलि नहि जाइये॥ २॥
रूपहूँ को जाने पुनि गधहूँ को जाने पुनि, रस शब्द पर्शहूँ को जानि विलगाइये।
ऑखिहूँ को जाने पुनि कान नाक जीभ खाल, जानि जानि नख शिख टरते ही जाइये॥
जागृति को जानियत सपन सुपुप्ति हूँ को, तुरियाहूँ ओर ब्रह्म केवल जनाइये।
जहॉ तक मन भव सनमुख दृश्य होत, सबको पृथक देखि परखि रहाइये॥ ३॥

इस प्रकार विवेक से स्वरूप को जानकर स्थिर होना चाहिए॥ ३८॥

पारख शुद्ध स्वरूप तव, दृश्य जगत नहिं पास।
परखे परखावे कहा, जहॉ न सनमुख भास॥ ३९॥

टीका—हे जीव! तेरा शुद्ध स्वरूप पारख ह, तेरे समीप इन्द्रिय-मन गोचर जगतप्रपच का लेश भी नही ह। वाह्य वस्तुओ की परीक्षा करना और कराना ये भी देहोपाधि मे ही है। देहोपाधि रहित जव सम्मुख मानन्दी स्मरणरूप भास ही नहीं, तो किस साधन-द्वारा वाह्य वस्तु को जाने ओर जनावे, क्योंकि मानन्दी सम्बन्ध से ही वाह्य ज्ञान होना सबको अनुभव हे। अभी जिस चीज का स्मरण सम्मुख न हो, उसका ज्ञान नहीं होता। इसलिए देहोपाधि-रहित जीव पारख स्वरूप ही रहता ह॥ ३९॥

चारि धरम के अन्दरे, पॉच गुणन से ठोस।
चारि शक्ति भरिपूर हैं, कारज जडहि सदोस॥ ४०॥

टीका—कोमल, कठिन, शीत, उष्ण ये चार धर्म के अन्दर और गध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये पॉचो गुणो से पूर्ण तथा धारणा, स्नेह, दाह तथा खिंचाव ये चार शक्तियो से भरे तत्वों के अमित कार्य सदव जडत्व दोष से पूर्ण अनुभव हो रहे ह। अर्थात सव कार्य जड के रूप ही हें॥ ४०॥

इन लक्षण विन कार्य कोइ, रह न कतहूँ देख।
कारण इन से पृथक नहि, कारज मे सोइ लेख॥ ४१॥

टीका—चार धर्म, पॉच विषय, चार शक्ति ओर जडपना ये कारण तत्वों के स्वरूप कहे गये ह, इन्ही लक्षणो के अन्दर सर्व कार्य भी ह। इनसे विलग लक्षण कार्यो के नहीं दिखाई दे रहे हें। जव कारण तत्व इन लक्षणो से पृथक नहीं तो उनसे वने हुए कार्य कव उनके लक्षणो से न्यारा हो सकते हं, अत· कारण के लक्षण युक्त ही कार्य हें॥ ४१॥

कारण कारज एकता, पार न कतहूँ भूत।
भूतन से कारज पृथक, होय न कतहुँ लखूत॥ ४२॥

टीका—गुण-धर्मयुक्त कारणो से निर्मित कार्य उनसे भिन्न नहीं ओर सम्पूर्ण कारण तत्व अपने कार्यो से पृथक नही, अत. कारण ओर कार्य की एकता है। कारण से कार्य कभी अलग नहीं हो सकते। इसी से कारण-कार्य की पृथकता नहीं हे॥ ४२॥

जडतम कारज दृश्य सब, इन्द्रिन गोचर होत।
दृश्य पृथक द्रष्टा रहत, इन्द्रिन पार सदोत॥ ४३॥

टीका—जितने कारण जडतत्व है और उनसे बने यावत कार्य है, वे सब ज्ञान प्रकाश रहित जड दृश्य है वे इन्द्रियो के सम्मुख होते रहते है। सम्पूर्ण दृश्य को देखने वाला जनैया द्रष्टा सबसे निराला है और वह जड इन्द्रियो का भी जाननहार होने से इन्द्रियो से भी सदोदित भिन्न, स्वय प्रकाशी है॥ ४३॥

यहि ते कारण कारज परे, ज्ञान स्वरूप अखण्ड।
दृश्य मोह में भूलि कै, औरहिं और बितण्ड॥ ४४॥

टीका—जडतत्वो के लक्षणो से पृथक इन्द्रियो के सम्मुख न होने और इन्द्रियो का प्रेरक होने से जीव कारण-कार्य से न्यारा है, ज्ञानस्वरूप अखण्ड नित्य हे। ऐसे नित्य प्राप्त सत्यस्वरूप को भूलकर तथा दृश्य पॉच विषयो मे, नर-नारी घटो और पदार्थो मे सुख मानकर मोह-वश हो और विपरीत धारणा कर उसी का पक्षपाती बन गया है। झूठी बातो का बार-बार पक्ष लेकर उन्ही का बकवास करता है। यह जीव स्वरूपस्थिति के विरुद्ध कहीं देह, कहीं अश, कही ज्योति इत्यादि मानकर वही सिद्ध कर रहा है, जिसके परिणाम मे जड तत्वो के जडाध्यास वश बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त हो रहा है॥ ४४॥

प्रसंग ३—साक्षी-साक्ष्य विवेक

दाह अन्य को दाह करि, काठ घास कोइ बस्तु।
याते निश्चय दाह को, बिना शक्ति नहिं तस्तु॥ ४५॥

टीका—दाहरूप अग्नि अपने से अन्य वस्तु को ही जलाती है, अपने को नही। लकडी, घास, फूसादि कोई भी वस्तु हो, उसको जलाने ही से अग्नि उष्ण-शक्तिमय है ऐसा निश्चय होता है। प्रत्यक्ष अग्नि से अन्य पदार्थो को जलते देखकर उष्ण-शक्ति द्वारा उस अग्नि की सत्यता का अनुभव होता है। बिना दाहशक्ति के अग्नि का अनुभव नही होता॥ ४५॥

आप आप को आगि नहिं, देवै कबहुं जलाय।
जाहि जलावन रूप है, सो कैसे जलि जाय॥ ४६॥

टीका—अग्नि अपने आप को कभी नही जलाती, क्योंकि उसका स्वरूप दाह से न्यारा नही है। इसी से वह दूसरे को जला देती है, अपने को नही। जो सर्व कार्यो को जलाती है वह अग्नि जलन का स्वरूप ही है, फिर अग्नि अग्नि को कैसे जला सकती है। कोई भी पदार्थ स्वय अपने का बाधक नहीं होता। जेसे काजल दूसरे को काला कर सकता है और अपना तो स्याही का रूप ही है, तद्वत्॥ ४६॥

अन्य पदारथ जो लहै, ताहि केर सयोग।
जलै तपै सो जानिये, आपै आप अयोग॥ ४७॥

टीका—हॉ। पृथ्वी, जलादि और उनके कार्य लोहादि जो कि अग्नि से भिन्न है, उनमे जब अग्नि का सयोग होता है तभी वे जलते, तपते तथा गरम होते है। अग्नि के सम्बन्ध बिना

अन्य पदार्थ कभी जल-तप नहीं मकते। अग्नि सवको जलाती-तपाती है पर अग्नि अग्नियमय होने से अग्नि का अग्नि को ही जलाना असम्भव है॥ ४७॥

ज्ञान स्वरूप सो जीव तस, आप को जाने काह।
पृथक पदारथ को लख, परे जो सनमुख ताह॥ ४८॥

टीका—इमी प्रकार चेतन जीव से ज्ञान धर्म पृथक नहीं है, चेतन ज्ञान स्वरूप ही हे। वह अपने आपका अपने से अलग करके नहीं ज्ञान कर सकता, क्योंकि मवका ज्ञान करने वाला तो स्वय ज्ञानस्वरूप ही ह। स्वय चेतन ही अपने मे पृथक सम्मुख रहे हुए देह, मन ओर वाह्य पच विषय-जगत का ज्ञान करता रहता हे। सम्मुख जो चीजें पडती हे उन्हीं को नेत्र से देखते ह। नेत्र नेत्र को कभी नहीं देख सकते, तद्वत जीव अपने आपका दृश्य की तरह ज्ञान नहीं कर सकता[१]॥ ४८॥

जव जानत वह अन्य को, लहि मानन्दि सवन्ध।
घूमि लखत तव आपको, म जाना व तमन्ध॥ ४९॥

टीका—जिस प्रकार अपने से भिन्न मानन्दी सम्वन्ध युक्त सामने पडे मम्पूर्ण पदार्थों को जीव जान लेता हे, उमी प्रकार अपने आप को जानने के लिए विवेक द्वाग सव से घूमकर यह विचार किया जाता हे कि इन सर्व दृश्य पदार्थो को किसने जाना! ऐसा शोधन करते ही स्वय अपने आप का यथार्थ निश्चय हो जाता हे कि म चेतन द्रष्टा ही इन सर्व तमन्ध अर्थात दृश्य-जड-पदार्थो को जानता हूँ। जड जड को कभी नहीं जान सकते, इसलिये में ही सर्व का जानने वाला सवसे भिन्न ज्ञानमात्र या जान मात्र सत्य हूँ। जसे मानन्दी मम्वन्ध मे वाह्य पदार्थ अपने से भिन्न प्रत्यक्ष किये जाते ह, उसी प्रकार मानन्दी ठोकर ही मे विवेक द्वारा अपने को आप ही स्वय प्रत्यक्ष अपनी मत्ता का दृढ निश्चय हो जाता ह। भेद यह ह कि दृश्य पदार्थो को इन्द्रिय-मन के सम्मुख जानता हे आर अपने को मन-इन्द्रियो का द्रप्टा आर स्वय सत्ता रूप मे जानता हे॥ ४९॥

विन स्मरण सनमुख परे, जीव न जानत काहु।
सो अनुभव सव जीव को, लखे सो उर मे ताहु॥ ५०॥

टीका—दुख, सुख, हानि, लाभ, अपन, परार आदि कुछ भी क्यो न हो जव तक उमका स्मरण सम्मुख न होगा तव तक कोई वाह्य ज्ञान जीवो को नही होता ह, यह वात सवको स्वय अनुभव हे तथा सव जीव अपने हृदय में इस वात को जानते हे कि हम स्मरण द्वारा ही मव को जानते आर जनाते हैं॥ ५०॥

सुख दुख मानव पूर्व मे, जाहि वस्तु मे जेस।
जव जव इन्द्रिन सनमुख पर, तवहूँ जानत तम॥ ५१॥

टीका—पूर्व काल मे जिन-जिन वस्तुओ मे जिस-जिस प्रकार मुख और दुख अनुकूल-प्रतिकूल निश्चय करके दृढ मानन्दी वनाई गई हे, पुन. इन्द्रियो के सामने उन-उन वस्तुओ के

---

१ नेत्र आप को नाहीं देखत। जीभ निज स्वाद कभी नहि लेवत॥
जीव ज्ञान तस नित्य स्वभाविक। नहि जड जाने वुद्धि इन्द्रियादिक॥ ज० भे०॥

पडते ही उसी प्रकार की मानन्दी जीव के सामने आकर पूर्व काल के समान ही ज्ञान होने लगता है। जैसे किसी के सबध मे पूर्व काल मे शत्रु रूप करके दृढ निश्चय है, फिर जब वह सामने पडेगा तो शीघ्र ही शत्रु की मानन्दी सम्मुख होकर शत्रु रूप से ही वह अनुभव होने लगेगा। इस प्रकार आज के पहिले पूर्व वासना निश्चय के अधीन पदार्थो के सम्मुख पडने पर पुन वैसे ही स्मरण द्वारा पूर्व जैसा ही सुख-दुख और पदार्थो का ज्ञान जीव करता रहता है॥ ५१॥

आगे जस फिर तौल भै, सयोगिक मिलन बिछोह।
दुखहिं निबृत्ति तबहूँ चहै, पूरब भावहिं जोह॥ ५२॥

टीका—जो वस्तु या प्राणी पूर्व मे देखे, सुने तथा अनुभव नही किये गये और अन्य देश काल सयोगाधीन नये-नये पदार्थ-प्राणियो का मिलन-विछोह हुआ, तो उस समय पूर्व मानन्दी के लक्षण सहित जैसा परीक्षा मे आवेगा, वेसा ही उसका ज्ञान जीव करता रहता है। अर्थात पूर्व के देखे, सुने, भोगे पच विषय पदार्थ व प्राणियो के आकार, गुण, धर्म, नाम, रूप, साधक, बाधक, सुख, दुख मानन्दियो के आधार से ही नवीन वस्तु या जन्तु देखकर इनको भी पूर्व लक्षणो से ही समझकर जान लेता है। जैसे पूर्व मे दुख की निवृत्ति चाहता था, वैसे ही अब आगे हर एक बात मे दुख-निवृत्ति की ही मानन्दी रख कर लक्षणों सहित सम्मुख का ज्ञान करता है, क्योकि पूर्व मे जो कुछ अनुभव किये उसके अन्दर ही जितनी आगे वस्तुएँ मिलती हैं उनका कुछ न कुछ लक्षण नवीन मे मिला रहता है। जैसे पहिले मुझे एक मनुष्य मित्रभाव से मिला था, पर पीछे से मेरे साथ विश्वासधात किया। इसी प्रकार कोई दूसरा देशवासी अपरिचित मनुष्य मिल गया, उसे देखते ही यह विचार होने लगा कि ऐसा न हो कि यह भी हमारे साथ विश्वासघात करे। फिर उसे सोच-विचार कर शत्रु या मित्र रूप मे निश्चय किया जाता है। बस, इसी प्रकार सब नवीन बातो के ज्ञान होने मे पूर्व सस्कार और वर्तमान अनुभव ही हेतु समझिए॥ ५२॥

स्पष्ट—सस्कारो का उलटाव-पलटाव भले हो जाय, परन्तु जीव को स्वाभाविक ऐसी प्रबल इच्छा है कि मुझे कभी दुख न हो। दुख की निवृत्ति पहिले भी चाहता था, अब भी चाहता है और जब तक इसके सम्पूर्ण दुखो की अतिशय निवृत्ति न होगी, तब तक यही इसको चाहना बनी रहेगी। पूर्व-पूर्व सस्कारो के अधीन वर्तमान मे प्रारब्ध-पुरुषार्थ सहित वस्तु और देहधारियो के सग से जैसे-जैसे अब दुख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति कर्तव्य तौल मे आयेगे वैसे ही आगे की क्रिया और वासनाओ मे अन्तर पडता रहेगा। ये सब बाते मानन्दी सम्बन्ध से ही जानना चाहिए। दुख-सुख, हानि-लाभ, त्याग-ग्रहण, पुरुषार्थ-सग, अनुकूल-प्रतिकूल, बन्ध-मोक्ष, जड-चेतन, यथार्थ-अयथार्थ, ज्ञान-अज्ञान, सर्व का निर्णय करना-कराना, इन्द्रिय सहित मानन्दी-साधन देहोपाधि द्वारा ही चेतन जीव को अनुभव होता है, क्योकि अपनी पूर्व मानन्दी के सहारे ही वर्तमान में भी परीक्षा कर-कर मानन्दियों को बदलता रहता है। जैसे किसी बगाली को केवल बॅगला के शब्दो की मानन्दी टिकी है, उसे यदि गुजराती भाषा या अवधी भाषा मे कोई बात कहो तो वह कुछ जान ही नही सकता। हॉ! धीरे-धीरे अपनी पूर्व बॅगला भाषा की मानन्दी के सहारे ही गुजराती तथा अवधवासियो के सग द्वारा उनकी भाषाओ का अभ्यास कर फिर वह भी गुजराती भाषा तथा अवधी भाषा का भी ज्ञान

करने लगेगा। ज्ञाता जीव तो पहिले भी था, परन्तु अवधी-गुजराती भाषा की मानन्दी दृढ न होने से उस-उस भाषा का पूर्व मे ज्ञान नही कर सका। अभ्यास करके मानन्दी टिकाने के पीछे वही अब सरलता से विदेशी भाषा जान-जना सकता ह। इससे स्पष्ट हुआ कि मानन्दी साधन द्वारा ही जीव को वाह्य ज्ञान होता है।

ताते मानन्दी छोडि कै, नहिं जीवहिं जड लेश।
सनमुख जीव के जड नही, स्वत· आप निज देश॥५३॥

टीका—पूर्वोक्त सर्व मानन्दी या स्मरण छोडकर शुद्ध चेतनस्वरूप का जड मे लेश मात्र भी सम्वन्ध नही ह। स्मरणरूप मानन्दी से ही जड का ज्ञान होता है, स्मरण न हो तो जड पदार्थ पडे रहे, उनसे क्या हानि-लाभ। इसलिए मानन्दी-रहित चेतन जीव के सम्मुख जड ह ही नहीं, जड मे पृथक अपने आप ही स्वतत्र ज्ञान स्वरूप सदव निराधार स्थित ह॥५३॥

स्पष्ट—चेतन जीव मात्र देहोपाधि द्वारा मानन्दी ही से जड जगत का अनुभव करता है। मानन्दी या अध्यास सम्बन्ध न हो तो वाह्य दृश्यजगत होते हुए भी जीव को अनुभव न होने से दृश्य जगत उसके लिए न होने के समान ही ह। (१) अभी जिस वस्तु को देखा, सुना, भोगा नहीं उसकी मानन्दी न होने से उसके हानि-लाभ नही सताते। (२) जिस भाषा की मानन्दी नहीं टिकी ह उसका ज्ञान नहीं होता। (३) सुषुप्ति अवस्था, नशा या मूर्छावस्था में स्मरणों के सिमिट जाने पर वाह्य पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि और मनुष्यादि जतुओं का ज्ञान नहीं होता। (४) हमारी पीठ के पीछे कोई निन्दा या स्तुति करता हो, सर्प या विच्छू गाँसे हो, हमारी पूजा या प्राणघात के लिए कोई खडा हो, यदि उस वात की मानन्दी द्वारा स्मरण जीव के सम्मुख न हो तो तत्सम्बन्धी दुख-सुख, हानि-लाभ, डर-भय कुछ भी नहीं सताता। (५) स्वप्नावस्था मे न कुछ होते हुए भी मात्र पूर्व मानन्दी से ही सम्पूर्ण दुख-सुखो का साक्षात की तरह अनुभव होता ह। (६) जाग्रत अवस्था मे भी वर्तमान की वात अधिक ध्यान में न रहकर आगे के ही दुख-सुख, हानि-लाभ स्मरण द्वारा जीव को सताते रहते ह। जैसे स्त्री आवेगी, पुत्र होंगे, उत्साह से उनका विवाह करूँगा, पश्चात पोती-पोते आदि का चैन से देखूँगा, अपने जीवन को धन्य समझूँगा या अमुक शत्रु मारूँगा, तो हमे वडा सुख होगा इत्यादि। (७) दुख न होते हुए भी आगे के परिणाम को सोचकर दुखी होना तथा सुख न होते हुए भी पूर्व वासना सम्मुख होने पर सुखी होना। (८) सम्पूर्ण क्रिया करने के पहिले भीतर स्मरण द्वारा हानि-लाभ जान-मानकर क्रिया होना। इन सव वातो से स्पष्ट हो गया कि चेतन जीवों के सम्मुख जड तत्वो का सम्बन्ध नहीं है, केवल मानन्दी एव वासना से ही जड देह का सम्बन्ध ह। मानन्दी परख कर त्याग हो जावे और खास प्रारब्ध भोग को सत्यस्वरूप के यथार्थ निश्चय से यथार्थ क्रिया-पुरुपार्थ मे तद्गत होते-होते प्रारब्धात हो जावे, वस ग्रन्थि टूटकर फिर जगत के साक्ष्य ज्ञान रहित, अग्नि-उष्णतावत अपने आप ही स्वरूप में स्थित हो रहेगा। श्री काशी साहिव कहते हैं—

चौपाई

तन अरु जड वस्तु रही अनेका। तिनके साक्षी नर सव देखा॥
मुक्ति मे देहोपाधि नशाई। स्वय ज्ञानयुत हस रहाई॥

विदेह मुक्त हस जब होई। साक्षी भास जड छूटे सोई॥
रवि के पास कभी तम नाहीं। स्वय प्रकाशी सदा रहाहीं॥
मुक्त चेतन तस अकेला तहिया। परख प्रकाश स्वरूपहि रहिया॥
(जड चेतन भेदप्रकाश)

कारण कार्य समूह लखि, खण्ड खण्ड करि देख।
तेहि लक्षण से लक्षित सब, लखत प्रमाणु अदेख॥ ५४॥

टीका—जड तत्व कारण और कार्य समूह स्थूलरूप से दिखाई देते है, उन्हे खण्ड-खण्ड कर सूक्ष्मरूप मे भी देखा जाता है। इन्ही लक्षणो से अदृश्य परमाणुओ को भी जाना जाता है॥ ५४॥

स्पष्ट—जैसे मिट्टी का एक बडा ढेला पीस लेने से महीन हो जाता है। सोना, चॉदी आदि भस्म करके जितना चाहिए कम-विशेष उतना ग्रहण कर लेते है। जल राशि में से चार घडा, एक घडा, एक बूँद, आधा बूँद तथा अग्निवायु को भी युक्ति द्वारा कम-विशेष ग्रहण कर लेते है। इस प्रकार तत्वो को खण्ड-खण्ड करते-करते अत मे सूक्ष्म अदृश्य परमाणु अखड रूप से रह जाते हैं, क्योकि भाव का अभाव नही होता। अभाव का भाव नही होता, शून्य कभी साकार नही होता, साकार कभी शून्य नहीं होता। तत्वो के कार्य एक ओर नष्ट होते और दूसरी ओर उत्पन्न होते रहते है। इस प्रकार कारण परमाणु जिनकी क्रिया द्वारा कार्य बनने-बिगडने का प्रवाह चालू रहता है, वे सब अखड अनत कहीं स्थूल रूप से कहीं सूक्ष्मरूप से क्रियावान हैं, ऐसा विवेक द्वारा जाना जाता है।

जाकी इन्द्री ताहि को, गहि कर सनमुख लाय।
जानत जीव सो दृश्य को, बिन इन्द्रिन नहिं ताय॥ ५५॥

टीका—जिस तत्व के विशेष अश से जो इन्द्रियॉ बनी है अर्थात जिस तत्त्व की जो इन्द्रिय है, उस तत्व के गुण को वह इन्द्रिय आकर्षित करके जीव के सम्मुख कर देती है।[१] इस प्रकार ज्ञाता जीव इन्द्रिय साधन द्वारा दृश्य जड तत्वो का मानन्दीयुक्त ज्ञान करता है। इन्द्रियो का सम्बन्ध जीव से न हो तो बाह्य जगत का ज्ञान कभी नही कर सकता॥ ५५॥

जीवन मे इन्द्री नही, पच बिषय वै नाहिं।
तब कस आवत दृष्टि मे, द्रष्टा जड को आहि॥ ५६॥

टीका—जीव मे इन्द्रिय नही है और पच विषयो का स्वरूप भी जीव नही है, तब वह देखने मे कैसे आ सकता है। जीव तो सब दृश्य जड का देखने वाला है, पॉचो इन्द्रियो तथा

---

१ अन्य तत्व मिश्रित अग्नि का भाग नेत्र है, उनके द्वारा अग्नि के रूप को जीव ग्रहण करता है। अन्य तत्व मिश्रित पृथ्वी तत्व की नासिका इन्द्रिय है, उससे पृथ्वी के गन्ध गुण का ग्रहण होता है। अन्य तत्व मिश्रित जल तत्व की इन्द्रिय जिह्वा है, जिससे जल का गुण रस ग्रहण होता है। अन्य तत्व मिश्रित चचल वायु की त्वचा इन्द्रिय है, जिससे वायु का गुण स्पर्श ग्रहण होता है। अन्य तत्व मिश्रित सामान्य वायु की कर्ण इन्द्रिय है, जिससे वायु का गुण विशेष शब्द का ग्रहण होता है।

विषयो का द्रष्टा है, जाननहार है, इन्द्रियो से भिन्न है। अत जीव के स्वरूप मे इन्द्रियाँ नहीं है और इन्द्रियो के पाँचो विषय जड दृश्य भी द्रष्टा के स्वरूप मे नहीं है, तब भला जो सर्व का द्रष्टा-साक्षी सर्व ज्ञाता-ध्याता है, वह देखने मे कैसे आ सके! जो कुछ देखने मे आयेगा वह द्रष्टा के स्वरूप से पृथक जड ही है "घट द्रष्टा ज्यो घट मे न्यारा। त्यो सब द्रष्टा सबसे न्यारा"॥ ५६ ॥

विन इन्द्रिन कोइ वस्तु को, जानि सकत नहिं जीव।
जेहि जेहि इन्द्री हीन जो, ताहि ज्ञान नहिं लीव॥ ५७॥

टीका—आँख, कान, त्वचा आदि इन्द्रियो के सम्बन्ध विना किसी वस्तु का जीव ज्ञान नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष है, जिस मनुष्य को जो इन्द्रिय नहीं है उसे उस विषय का ज्ञान नहीं होता। जैसे जन्मान्ध को रूप और बधिर को शब्द का ज्ञान नहीं॥ ५७॥

जो जो इन्द्री मे लखा, मनन होत सोइ जान।
इन्द्रिन द्वार न जान जेहि, कबहुँ न तेहि सधान॥ ५८॥

टीका—इन्द्रियो के द्वारा जिस चीज को जाना गया है, वही भीतर अत करण में अध्यस्त होकर मनन-चिंतन होता रहता है। जिस चीज का इन्द्रियो द्वारा नहीं अनुभव किया गया, उसका सस्कार न रहने से उसका मनन-चिंतन भी नहीं हो सकता॥ ५८॥

इन्द्रिन विन अध्यास नहिं, विन अध्यास न देह।
देह विना बन्धन नहीं, अचल स्वत· ही एह॥ ५९॥

टीका—पूर्वोक्त वार्ता मे यह स्पष्ट हुआ कि इन्द्रियो के सम्बन्ध विना किसी प्रकार का अध्यास या सस्कार नहीं टिक सकता और यदि किसी प्रकार अध्यास-सस्कार न हो तो देह की रचना नहीं हो सकती, क्योंकि अध्यास बीज के सदृश है। अध्यास से स्थूल देह की रचना होती है और स्थूल देह ही मे सब बन्धन खडे हो रहे हैं। देह सम्बन्ध न हो तो कोई सस्कार सम्मुख न होने से जीव को कोई फिक्र-परिश्रम नहीं पड सकता। फिक्र-परिश्रम विना बधन ही क्या! अत. देह-अध्यास और स्थूल-सूक्ष्म वासनाओ को त्यागकर यह जीव स्वत. स्वतन्त्र अचल है, मुक्त स्वरूप निराधार सदैव स्थित है॥ ५९॥

विवश वासना प्रेरक रहत, जीव देह को मानि।
विन अध्यास प्रेरक नहीं, चलत न तन पहिचानि॥ ६०॥

टीका—इन्द्रियो से देखे, सुने, भोगे के अध्यास टिकते है। अध्यास ही मे दृश्य स्मरण होते रहते है। स्मरण द्वारा ही देह मे जीव प्रेरणा करके देहयुक्त चलता, फिरता, बैठता, घूमता है। शरीर से कोई भी क्रिया करने के पहिले स्मरण होता है। देखने का स्मरण होते ही पलक खोल देता है, मूँदने का स्मरण होते ही पलक मूँद लेता है, उठने की इच्छा होते ही उठ पडता है, बैठने की इच्छा होते ही झट बैठ जाता है। इस प्रकार अध्यास इच्छा-वासना द्वारा ही जीव देह को प्रेरणा देता रहता है, विना अध्यास के नहीं॥ ६०॥

यहि ते स्वत. स्वरूप मे, करत क्रिया नहिं जीव।
कारण कारज से रहित, जड सम्बन्ध न तीव॥ ६१॥

टीका—पूर्व बातो को लेकर विवेक करने से खुलासा हो जाता है कि जीव के स्वत· स्वरूप मे स्वाभाविक क्रिया, चाल व चचलता नहीं है। इससे जड तत्वो वत कारण ओर कार्य दोनो विकार चेतन में नहीं ह ओर न तो जड से जीव का कोई सम्बन्ध ही हे, मात्र भूल, भ्रम, अध्यास करके ही सम्बन्ध है। सो भूल, भ्रम, अध्यास परखकर छोड देने से जीवन्मुक्त रहते हुए प्रारब्धात के पश्चात फिर किसी भी प्रकार जड से सम्बन्ध न रहकर सदा के लिए चेतन स्वत स्वरूप निराधार रह जाता है॥ ६१ ॥

शिक्षा—सर्वथा दुख-द्वन्द्व की निवृत्ति के लिए पूर्वोक्त शुद्ध स्वरूप का निश्चय करके सत्साधन करने मे सहर्ष तत्पर होना चाहिए, जिससे दुखपूर्ण ससार से छुट्टी मिले।

अहे बिदेही जीव यह, समुझि विदेहे हाल।
राखि बिदेहै भाव को, रहे विदेह सम्हाल॥ ६२ ॥

टीका—पूर्व निर्णय से स्पष्ट हो गया कि यह चेतन जीव जड देह से सर्वथा भिन्न हे। अत. जीव मे जड देह नही हे। जैसे निर्णय से अपना स्वरूप जड देह रहित हे वेसा ही विवेक से समझ-बूझ दृढ करके देह-भाव रहित शुद्ध स्वरूप-भाव मे तद्गत होते हुए देहाभिमान निर्मूल करके शुद्ध स्वरूप मे सावधान होकर टिकना चाहिए॥ ६२ ॥

सुक्षम अरु स्थूल है, दुइ देहन को भास।
सुखाध्यास मानव तजे, तन तजि स्वत· निवास॥ ६३ ॥

टीका—चित्त, मन, बुद्धि, अहकार ओर विषय सस्कारयुक्त सूक्ष्म देह हे तथा नख-शिख सर्व इन्द्रिय समुदाय मिलकर स्थूल देह है। ये दोनों देहे जीव के सम्मुख प्रतीत होती ह। उनमें सुख मानकर अहकार और ममता रखना यही पुन देह धरने का बीज है। यदि इस सुख-दृष्टि ओर जड ममता-बीज को ज्ञानाग्नि से भून दिया जाय, परख-परख कर सर्व जडाध्यासो का त्याग कर दिया जाय, तो देह छूटे बाद सदा के लिए यह जीव विदेहमुक्त अचल निराधार स्वत. स्वरूप मे ठहर रहेगा॥ ६३ ॥

शिक्षा—आत्यतिक दुख निवृत्ति के लिए स्वरूपभाव बनाने मे लक्ष्य देना चाहिए। यद्यपि स्वरूप तो अपना ही है पर भूल-भ्रम से जड का भास-अध्यास दृढ मानना पुष्ट हो गया है, उसे निकालने के लिए स्थूल-सूक्ष्म देहभाव रहित स्वरूपभाव का दृढ मनन करने की सदैव आवश्यकता है।

प्रसंग ४—नित्य जीवों का अपने कर्म अध्यास वश पुनः शरीर धारण करना तथा कर्म भोग

विवश बासना जीव सब, द्रष्टा स्वत स्वरूप।
सहित अध्यास देहे तजत, फिरि फिरि देह धरूप॥ ६४ ॥

टीका—सब जीव वासना के वश हें, जड दृश्य-जगत के देखने वाले, सर्व जड दृश्य मे भिन्न, स्वतः स्वतन्त्र नित्य ह। पर वे जड देह मे अहता-ममता करके उसके वासना-वश

होकर सव प्रकार की क्रिया करते हैं। पुन उसी अध्यास को लिये हुए देह छोड कर वार-वार देह धरते रहते हैं ॥ ६४ ॥

जव तन पहिले दृश्य नहिं, तव जेसे धरि देह।
अब छूटं तेसहिं वने, जस पहिले गहि लेह॥ ६५ ॥

टीका—यह स्थूल शरीर जो कि अव धारण हो रहा है, पूर्व जन्म में न था, अन्य देह थी। जैसे अव का शरीर पहिले जन्म मे न होते हुए भी पूर्व सूक्ष्म वासना-वीजानुसार वर्तमान मे वन गया, उसी भाँति वर्तमान की देह छूटकर वासना-वश आगामी देह वनती रहेगी ॥ ६५ ॥

काम क्रोध भय शोक वश, लोभ मोह यतनिन्न।
दुख छूटन सुख चाह धरि, राग द्वेष मति भिन्न॥ ६६ ॥

टीका—काम, क्रोध आर भय के वश तथा विविध प्रकार के शोक, लोभ, आर मोहवश नाना उद्वेग उठाना ओर पुनः वहुत-वहुत किसिम के प्रयत्न करना, दुख छुडाने की सदेव इच्छा रखना, सुख ही सुख हो ऐसी चाहना करना, राग और द्वेप रखना, वुद्धि से पृथक-पृथक निश्चय रखना, ये सव वासना-वश देहधारी जीवों के लक्षण हैं ॥ ६६ ॥

ग्रहण त्याग जेहि रहत जस, जागृत स्वप्न सुपोप्ति।
मन मानन्दी जीव गहि, पुन देह तस होति॥ ६७ ॥

टीका—भिन्न-भिन्न निश्चय द्वारा जेसे-जसे कर्तव्यों का ग्रहण आर त्याग जिस मनुष्य को होता हे ओर जिसकी जैसी जाग्रत, स्वप्न तथा सुपुप्ति होती ह उसी अनुसार सम्पूर्ण विपय क्रियाओ की मन-मानन्दी ओर तीन अवस्थाओ की आसक्ति इस जीव को ग्रहण होकर वेसे-वेसे फिर उसकी देह की रचना होती रहती है ॥ ६७ ॥

देह अवस्था भेद सव, तन रक्षा आहार।
जहँ जहँ धारत जीव तन, तहँ तहँ लहत अगार॥ ६८ ॥

टीका—वासना के अनुसार ही पशु-पक्षी, कीट, मनुष्यादि खानि की देहे तथा खानि के अनुमार ही जाग्रत, स्वप्न, सुपुप्ति अवस्थाएँ, वेसे ही शरीर की रक्षा, भोजनादि की व्यवस्था, ये सव भिन्न-भिन्न प्रकार से जहाँ-जहॉ जीव देह धारण करते ह, वहॉ-वहॉ आगे-आगे कर्म-सम्कार अधीन उनको प्राप्त होते रहते हैं ॥ ६८ ॥

जो अव है तव जाय कहँ, उतपति अन्त न जास।
यहि ते फिरि फिरि देह धरि, करत जीव तहँ वास॥ ६९ ॥

टीका—जो जाग्रत, स्वप्न, सुपुप्ति तीन अवस्था, वाल, युवा, वृद्धादि तीनोपन मे एकरस रहता ह, वासना के वश सवको जानता-मानता हे, जिसकी किसी समय न तो उत्पत्ति होती ओर न किसी काल मे नाश ही होता, ऐसा चेतन जीव जो अव वासना के वश स्वय प्रत्यक्ष हे, वह शरीर छोडकर कहाँ जायेगा। अविनाशी का नाश तो होता नहीं, इसलिए अविनाशी जीव वासना के वश पुनः-पुनः शरीर धारण कर देहरूप मन्दिर में वास करता रहता है ॥ ६९ ॥

कारण कार्य सरूप जड, मन मानन्दी हीन।
सो धारै नहिं बासना, सुख दुख ज्ञान न कीन॥ ७०॥

टीका—दृश्य तत्वो मे स्वाभाविक क्रिया होने से वे कारण और कार्य के रूप है, जड है। जड होने से उनमे मन-मानन्दी, इच्छाशक्ति आदि नही है। वे जड तत्व हानि-लाभ, राग-द्वेषादि किसी प्रकार का सस्कार नहीं धारण करते। अनुकूल-प्रतिकूल, सुख-दुख का भी वे ज्ञान नही करते, अर्थात जड मे ज्ञान ही नहीं और बिना ज्ञान के सस्कार नही, सस्कार बिना जन्म-मरण, बध-मोक्ष होना जड मे हो ही नहीं सकता॥ ७०॥

जन्म मरण दुख सुख सहत, यहि ते जीव सो आप।
मालिक मुख्य स्वतन्त्र जो, सहे सोई सताप॥ ७१॥

टीका—पूर्वोक्त जड मे ज्ञान है नही और जीव ज्ञान करने वाला है। इसलिए जीव ही कर्माध्यास से देह धारण करता, छोडता और देह के साथ ही दुख-सुख सहता रहता है। क्योकि यह नियम हे कि जो घर का मुख्य मालिक करने-धरने वाला होता है, वही घर और व्यवहार की हानि तथा लाभ का भोक्ता होकर दुखी-सुखी होता है, दूसरा नहीं। इमी प्रकार मुख्य स्वतत्र चेतन जीव जैसा कर्म-वासना रचता है वैसा ही सस्कार-प्रारब्धाधीन कर्म-फल भोक्ता होकर ससृति के दुसह दुख को सहता रहता है॥ ७१॥

जो बोझा गहि लेत जस, भार परत तेहि शीश।
वजन कष्ट लखि लोभ तजि, डारि दुखहिं करि खीश॥ ७२॥

टीका—जो जिस प्रकार का और जैसा वजनदार बोझा सिर पर लाद लेता है उसको वैसा ही भार का कष्ट सहना पडता है। यदि बोझा के कष्ट की परीक्षा करके उससे उपराम हो जावे और यह निश्चय कर ले कि इससे हमारा कुछ लाभ नही, और उसे डाल देवे तो उसके दुख से रहित हो जावे। वैसे चेतन जीव ने अपना ही जड वस्तुओ को जान-जान कर, उनमे सुख मान-मानकर जडप्रियता का बोझा लाद लिया है। इससे इस शुद्ध चैतन्य को जडासक्ति-वश बार-बार शरीर धारण करना होता है और बार-बार तन-मन के अनत कष्टो को सहना पडता है। यदि यह चेतन अपने ऊपर तन, मन और अनत कामनाओ के बोझजनित दुखो का स्मरण करे, पुन विवेक-वैराग्य सहित यथार्थ क्रिया द्वारा जडासक्तिरूप सुख-कामनाओ का बोझा बेप्रयोजन जानकर डाल देवे तो बडी सरलता से इसके सब दुख नष्ट हो जावे और सदा के लिए स्वरूपस्थिति हो जावे॥ ७२॥

जहॉ देह को साथ है, तहॉ बोझ को काम।
जहँ माने बिन मन नही, तहॉ परखि बिश्राम॥ ७३॥

टीका—जहॉ स्थूल देह का सम्बन्ध है वहॉ स्थूल बोझा होता है और यहॉ भूल कृत मानन्दी मात्र ही जीव को बोझा है। सुख माने बिना मन-मानन्दी नही हो सकती, यदि परीक्षा करके मानन्दीमात्र बोझा का त्याग कर देवे तो अपने स्वरूप मे मन न होने से अपने आप अटल विश्राति मिल जावे॥ ७३॥

स्पष्ट—जहाँ देह का सम्वन्ध हे आर जड देह मे सुखप्रियता, सुख-मानना वना है, वहाँ ही प्रवल भाररूप विपयासक्ति जनित परतत्रता की क्रिया होती रहती हे। इस प्रकार देह सम्वन्ध ही जीव को भार हे। चेतन जीव के मानने ही से सम्पूर्ण मनोमय की सिद्धि होती है ओर यदि विजाति वस्तुओं में सुख न माने और उन्हे परख-परख कर डालता रहे तो मन अमन हो जाय, जडमूल से वासना-वीज दग्ध हो जावे। जव मन के वेगो को सर्वथा परखकर शात कर दिया जाता ह तव जीव को मन चलायमान नहीं कर सकता। सर्व का परीक्षक पारख अपने आप स्थिर पद ह। उसी मे ठहराव करने से सदा के लिए विश्राति मिलती ह। अत देह आर मन को वोझ रूप जानकर उसकी आमक्ति त्यागने के लिए निरंतर प्रयत्न करते रहना चाहिए।

बन्ध मोक्ष आवागमन, जीवहिं के आधीन।
निज भूले बन्धन गहे, निजहिं चीन्हि दुख हीन॥ ७४॥

टीका—विषय वधन मे पडकर जन्मना-मरना तथा विपय-वधन को त्यागकर आवागमन रहित हो जाना, ये सव जीव ही के अधीन ह। निज स्वरूप के भूल से वधन और स्वरूप को जानने से मुक्ति हो जाती ह॥ ७४॥

स्पष्ट—वध ओर मोक्ष होना जीव के स्वाधीन ह। अपने सत्यम्वरूप को आप ही भुला देने से जड मे स्नेह होता ह, स्नेह से भोग-प्रयत्न करना पडता है, भोग-प्रयत्न से सव प्रकार की जडामक्तिरूप वामनाएँ दृढ होकर चोरासी योनियो मे भ्रम कर परवशता से अनन्त कष्ट महना पडता ह। यह वधन का स्वरूप हे। जीव ही कर्म करता आर भोगता रहता हे, यह अनुभव हो रहा ह। इस वधन मे दुख देखकर गुरु के सत्मग से अपने सत्य स्वरूप का ज्ञान होता ह। स्वरूपज्ञान दृढ करते रहने से जगत मे राग का अभाव होता है। राग के अभाव से विपयासक्ति की क्रिया त्याग होकर चेतन अपने स्वरूप मे सदा के लिए स्थित हो जाता हे। स्वरूपस्थिति की दशा म तन-मन के मव कष्ट दूर हो जाते हैं, यह मोक्ष का स्वरूप है। प्रत्यक्ष विवेकवान स्वरूपज्ञान ओर सर्वांग स्थिति के माधन मे लीन होकर जीवन्मुक्त दिखाई दे रहे हैं। अत वधन व मोक्ष अपने अधीन जानकर वंधन को त्यागने के लिए एक चित्त से जुटना चाहिए। शरीर रहते-रहते जीवन्मुक्ति का परम लाभ लेकर मनुष्यदेह सार्थक कर लेना चाहिए, जिससे कि भविष्य मे पछतावा करना न पडे।

चारि खानि तन धरत जिव, देखि परत परतक्ष।
अंगहीन सम्पन्न तन, रोग ग्रमित कोई दक्ष॥ ७५॥

टीका—अण्डज, पिण्डज, उप्मज आर मनुष्य, ये चार खानियो मे दुख-सुख जाननहार, चेतन जीव वासनानुसार प्रत्यक्ष देह धारण कर रहे हें। उनमे कोई तो लूला, लगडा, नेत्रहीन, कर्ण इन्द्रियादि हीन ह, कोई तो सर्वांग सम्पन्न ह ओर कोई नाना रोगो से ग्रमित कृश हे, कोई शरीर मे वलवान ह। इस प्रकार भिन्न-भिन्न वासनायुक्त भिन्न-भिन्न कर्मो के भोग प्रत्यक्ष सवको दिखाई दे रहे हें॥ ७५॥

भिन्न भिन्न गुण चाल तिन, भिन्न युक्ति मन सग।
दुख सुख निश्चय भिन्न उन, सातस तामस ढंग॥ ७६॥

टीका—सब देहधारियो के अलग-अलग गुण-अवगुण, अच्छे-खराब स्वभाव और अलग-अलग कार्य पूर्ण करने की युक्तियाँ, अलग-अलग मानन्दी और अलग-अलग अच्छे-खराब सगो मे प्रीति-अप्रीति, कोई उसी बात से सुख मानता तो कोई उसी से दुख निश्चय करता है, कोई राजस वृत्ति मे सुख समझता, कोई उसके त्याग मे, इस प्रकार सब बातो मे दुख और सुख दोनो की निश्चयता अलग-अलग है। ऐसे भिन्न-भिन्न निश्चयतायुक्त कोई राजसी, कोई तामसी, कोई सातसी है। इस प्रकार सब पृथक-पृथक ही कर्मो के कर्ता और भोक्ता देखे जाते हैं॥ ७६ ॥

अनख्वाहिश कोइ चाह सुख, अनमिल सबही भाँति।
बहुत बिबिधि पुरुषार्थ करि, चाहै सो न लहाति॥ ७७॥

टीका—कोई तो उसी क्रिया से सुख मानता है जिससे चाहनाएँ पूर्णता से नष्ट हो जायँ तथा दूसरे का गर्जबन्दा न बनना पडे, दिनोदिन निर्चाह, निश्चिंत स्थिति बनी रहे। कोई विषयो को भोगकर कामना पुष्ट करने ही मे सुख मान रहा है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वभावो को जीव धारण कर रहे है। कितने ऐसे है कि अनेक प्रकार के परिश्रम करते है, पर जिस चीज की उन्हे कामना है वह नही मिलती॥ ७७॥

कोई परीश्रम लघु करै, फल होवै तिन श्रेष्ठ।
बिना परीश्रम काहु को, होवै लाभ बरेष्ठ॥ ७८॥

टीका—कोई थोडा ही परिश्रम करता है उसका फल उसे विशेष प्राप्त होता है और किसी को बिना परिश्रम ही माने हुए बडे-बडे लाभ धन, जन, ऐश्वर्यादि आ मिलते हैं॥ ७८॥

काहू मानस सहज मे, शुद्ध होत ततकाल।
काहुइ बहु रगडा परै, तब कुछ होय बहाल॥ ७९॥

टीका—किसी की मानसिक वृत्ति सहज ही काबू हो जाती है, उसका अत.करण शीघ्र ही पवित्र हो जाता है और किसी-किसी को बहुत परिश्रम करना पडता है, तब कही कुछ मानसिक विकार छूटकर पवित्र जीवन होता है॥ ७९॥

कहँ लगि कहौ अनेक बिधि, जीवन करम कें भोग।
मन बश जीव बेहाल सब, ससृत चक्र के रोग॥ ८०॥

टीका—कहाँ तक गिनाया जाय, जीवों के कर्मो के भोग अनेक प्रकार से भिन्न-भिन्न प्रत्यक्ष सबको अनुभव हो रहे है। सब देहधारी जीव अनेक प्रकार से सुख-मानन्दी-वश कष्टित हो रहे है। जीवों के पीछे बार-बार जन्म-मृत्यु का चक्कर लगा है। "सुख मानने से हो क्रिया, क्रिय से बनै सब वासना। वहि वासना लेकर सदा, देती रहे दुख शासना॥ जो भोग मे सुख देखना, बधन यही मरणौ जनम। दुख देखि तिससे भिन्न करि, निजरूप थिर पावन परम"॥ ८०॥

अनन्त दु.ख सनमुख परै, तृण पहाड सम देखि।
सुकृत उदै निज शोध तब, योग्य सहायक लेखि॥ ८१॥

टीका—एक दुख जब अनन्त दुख के समान जान पडे, तृण सम बधन जब पहाड के समान अनुभव होने लगे, तात्पर्य यह कि थोडा भी दुख, थोडा भी बंधन जब महन रहित कष्टमय दिखने लगे, तब जानो अनन्त जन्मो का सोभाग्य उदय हुआ। जब जगत मे चारो तरफ छल, विपरीतता, ताप, बधन, दुख ही दुख जाना जाता ह, तब जगत से वराग्य होता हे। जिसको वेराग्य द्वारा उपरामता दृढ हुई, वही मुमुक्षु बडभागी ह। ऐसी सुकृति जब उदय होती हे तब अपने सत्यस्वरूप का पता लगता है ओर तभी स्वरूप में ठहरने के सर्वांग सहायक रहस्य धारण करने की लगन लगती ह। वराग्य, स्वरूप-शोधन तथा सद्गुरु सत्सगादि योग्य सहायक, ये ससृति-चक्र नाश के तीन उपाय हैं॥ ८९॥

निज को निज तजि कुछ नहीं, जब यह निश्चय ठीक।
करि पुरुपारथ एकरस, सो न हटै निज लीक॥ ८२॥

टीका—अपने आप सत्यस्वरूप स्थिति के अतिरिक्त अन्य खानि, वानि, इन्द्रियभोग, लोक-प्रपच मे न तो कहीं स्थायी सुख ह, न शाति ह, न स्थिरता हे ओर न स्वतन्त्रता का लेश ह। जगत-प्रपच मे भिन्न मदा रहनहार स्थिररूप नित्य परम स्वतंत्र अपना चेतन स्वरूप ही ह। उसमे सद्गुणयुक्त स्थिति न करे तो सब हानि, सब दुख, सब कुछ अप्राप्ति, सब प्रकार अशाति की प्राप्ति हो गई ओर अपने आप मे सद्गुणयुत स्थिति कर ले तो सब लाभ, सब सुख, सब शाति, प्राप्ति योग्य सब वस्तु मिल गई। इस प्रकार जब नि.सदेह पक्का वोध हो जाता ह तब साधक एकरस स्वरूपस्थिति के रहस्य मे पुरुपार्थ करते हुए जीवन-यापन करता ह आर वह कभी डिग नहीं सकता। वह सर्वदा स्वरूप-चर्चा, स्वरूप-निर्णय, स्वरूप-भावना, स्वरूप-सम्मान[१] स्वरूपस्थिति के पुरुपार्थ मे तल्लीन रह कर जीवनमुक्ति-दशा में विचरता हे।

---

१ अपने आदि स्वरूप की विशेषता का वर्णन रामायण, शास्त्र, गीता, उपनिषदादि मे सर्वत्र किया गया ह। उसे सुनिए—श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं—

चोपाई—"मम दर्शन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज स्वरूपा॥"

अथवा

"कर्म कि होय स्वरूपहि चीन्हे"
"चिदानन्दमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी॥"
"जेहि जाने जग जाय हेराई।"
"जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई॥"
"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्म तृप्तश्च मानव ।
आत्मन्येव च सतुष्टस्तस्य कार्य न विद्यते॥ गीता॥

अर्थ—आतम मे सतुष्ट जो, आतम सो रति होय। तृप्त जो आतम मे रहे, ताहि न करनो कोय॥"

श्रुतियो मे भी कहा ह—

"जीव परमात्मन्न भिद्यते। अयमात्मा ब्रह्म। अह ब्रह्मास्मि। तत्त्वमसि"

अर्थ—जीव परमात्मा मे जुदा नहीं, यह जीवात्मा ही ब्रह्म हे, म ब्रह्म हूँ, वह तू ही ह।

इत्यादि वाक्यो द्वारा जाना जाता ह कि ढूँढते-ढूँढते अन्त मे सब ऋषि-मुनि, महात्माजन इस चेतन जीव ही की सत्यता मे आ टिकते ह। ह भी ऐसा ही, पर भेद इतना ह कि जो सर्व का द्रष्टा

इसके अतिरिक्त बोधवान की दृष्टि मे न तो कुछ क्रिया रह जाती है और न कुछ भावना ही रहती है॥ ८२॥

अहै मानसिक मे स्ववश, परबश देह के भोग।
करि पुरुषारथ ताहि हित, होउ अचल पद योग॥ ८३॥

टीका—मनुष्य इच्छा की शक्ति बदलने मे समर्थ है। साधन द्वारा किसी स्मरण को कम उठाना, किसी को विशेष उठाना या नही उठने देना यह मनुष्य के वश की बात है। प्रत्यक्ष मनुष्य सुसग-कुसग द्वारा शुभाशुभ भावनाओ को कम-विशेष उठाकर शुभाशुभ क्रियाओ मे कम-अधिक प्रवृत्त होते रहते है। इससे सर्व मानसिक बन्धनो के त्याग करने मे मनुष्य स्वतन्त्र है। अगर मनकृत अज्ञान-काम-क्रोधादि बन्धनो को त्यागे तो सहज ही त्याग कर सकते हैं। देह के जो भोग सुख है वे सब परवश है, स्वाधीन नहीं है। अत मन को स्ववश करने के लिए पुरुषार्थ करते हुए अचल स्वरूपस्थिति मे ठहरने की योग्यता प्राप्त कर लेना चाहिए॥ ८३॥

नहीं स्वबशता भोग मे, अफल फलै फल नाश।
यहि ते तेहि पुरुषार्थ तजि, स्वबश काज परकाश॥ ८४॥

टीका—भोग-सुखो के भोगने मे स्वतत्रता नही है। अफल तो फल जाता है और फल का नाश हो जाता है, अर्थात जैसा न चाहो वैसा हो जाता है और जैसा चाहो, प्रयत्न करो, उसमे विघ्न पड जाता है।

विजाति विघ्नमय

दृष्टांत—एक गरीब ब्राह्मणी थी, उसको एक लडका था। वह लडका बोला—माताजी मेरे को गेहूँ की रोटी और गुड खाने की इच्छा हो रही है। माता ने कहा—अच्छा बेटा! अमुक प्रेमी के यहाँ से गेहूँ और गुड की भिक्षा कर ला, मै तेरे लिए बना दूँगी। वह लडका माता के बताये हुए प्रेमी के यहाँ जाकर गेहूँ और गुड की भिक्षा कर लाया। माता को सामान देकर पुत्र बोला—अब तो मेरी इच्छा पूर्ण होगी? माता बोली—पुत्र, जब तक कार्य पूर्ण न हो जाय तब तक क्या पता, सब विघ्नरूप परतन्त्र है, ऐसा कहकर गेहूँ पीस कर आटा बनाने लगी। पुत्र बोला—माता! अब तो खाने में सदेह नही है? माता—अभी पता नही है। माता ने रोटियो को सेक कर पुत्र के सामने थाल मे गुड-रोटी परोस कर रख दिया। पुत्र प्रसन्नता से बोला—अब तो इच्छापूर्ति मे सन्देह नही है? माता बोली—पुत्र! सन्देह वाली चीज नि सन्देह हो ही नही सकती, तू अभिमान में मत फूल। जब तक कार्य पूर्ण न हो जाय तब तक क्या पता, कौन सा विघ्न न आ जाय! पुत्र ने कहा—तू ऐसे ही कहा करती है। ऐसा कहकर ज्यो ही रोटी तोड

पारखी चेतन स्वरूप है वह सर्व से न्यारा ही रहता है, ऐसा प्रत्येक घटधारी चेतन जीव अपनी-अपनी देहो के प्रेरक अपने-अपने मनोमय के कर्ता भिन्न-भिन्न सजाति भाव से असख्य अखण्ड है। एक जीव के स्वरूपबोध से एक का ही मनोमय नष्ट होकर उसकी मुक्ति होती है, अन्य अज्ञानियो की नहीं। इस प्रकार एक परिपूर्ण व्यापक ब्रह्म नहीं है बल्कि—"सर्व हूँ को जाने सो तो सर्व हूँ से न्यारो रहे, सोई गुरुरूप निज पारख लखायो है" यही सिद्धान्त सर्व दुखहारक है।

दोहा—ब्रह्म ज्ञान गुरुज्ञान ते, वडो अन्तरो जान। मूल विकारी ब्रह्म हे, छुटकारी गुरुज्ञान॥

एक ग्रास भी मुख मे डालने न पाया त्यो ही उसके खास कुटुम्बियो में किसी कारण झगडा वढते-वढते फोजदारी आरम्भ हो गयी। बहुत मनुष्य इधर-उधर पास मे गोहार करने लगे। फिर झगडा निवारण हेतु यह लडका भी दोडा। इस गरीब लडके को उस झगडे मे पहुँचते देर नहीं कि इतने मे किसी की लाठी उसको लगी आर वह गिर पडा। अव अस्पताल आर कचहरी का चक्कर शुरू हो गया। विचारवान विचार सकते है कि मुख की रोटी भी जव घाँटी उस पार जाना निर्विघ्न निश्चय नहीं ह तो इस राज-काज सुन्दर भोग मे तो सवकी खंचा-खँची ह। इसका पल भर भी क्या एतवार! अत विवश काज छोडकर स्ववश काज में मन देना चाहिये।

वनिता, वित्त, ऐश्वर्यादि सव भोगो मे यही दशा ह। एक तो वे मनानुसार मिलते नहीं, दूसरे नष्ट हो जाते हैं, तीसरे उनको भोगने से तृष्णा वढ जाती ह, चोथे पराये आश्रय विना भोगे नही जाते, काम ग्रसित नर-नारियो को सदा राजी रखना टेढी खीर ह। इसलिए भोग-विषयों की प्राप्ति का व्यर्थ परिश्रम छोडकर स्ववश कार्य करना चाहिए। स्ववश कार्य है, भोगो को त्यागकर अपने आप में स्थित होना। इसके लिए किसी की चिरोरी भी नहीं करना ह, न किसी के साथ जवरन, अनीति, शासन आदि करना है, मात्र परम दयालु सद्गुरुदेव की शरण जाकर उनका ज्ञान दान लेकर अपने आप में ठहर रहना है। साझे वाली वस्तु लेने मे झगडा, झझट, भय आदि सब प्रकार का उत्पात तथा परिश्रम ह ओर साझे वाली वस्तुओ को त्याग देने स सवसे छुट्टी है, अपनी पूर्ण स्ववशता भी ह, यह कार्य अपने स्वाधीन होने मे सहज ह आर वर-विरोध का भी यहाँ लेश नही ह, क्योंकि अपना स्वरूप आप ही हैं। अपने आप मे स्थिर होने के लिए अपनी स्ववशता ह, अत इसी कार्य मे मन देना चाहिए। इसके सहायक परम दयालु एक सद्गुरु ही ह॥ ८४॥

जव लगि सद्गुरु नहिं मिलं, शुद्ध हृदय नहिं होय।
तव लगि दुख छूटै नहीं, कोटि करै चहै कोय॥ ८५॥

टीका—सर्व परीक्षक रहस्ययुक्त विवेकवान सद्गुरु मे जव तक भेट नहीं होती, तव तक यथार्थ वोध की प्राप्ति नहीं ओर यथार्थ वोध विना अन्त करण पवित्र नहीं होता। मल[१], विक्षेप[२], आवरण[३], अर्थात जडासक्ति, जड भावना, स्वरूप का अज्ञान, पाप कर्म, विषयासक्ति आर अनुमान-कल्पना, ये सव अन्त.करण के विकार सद्गुरु सत्सग विना नहीं छूटते। इन विकारो के छूटे विना दुसह दुखो से पीछा भी नहीं छूटता। सद्गुरु-सत्सग त्यागकर योग, जप, तप चाहे कोटियों क्रिया भले करे पर जन्म-मरणादि दुख का अन्त नही हो सकता। यथा—"ज्ञानी गुनी सूर कवि दाता, ई जो कहैं वड हमहीं। जहाँ से उपजे तहाँ समाने, छूटि गये सव तवहीं॥ जाको सतगुरु ना मिला, व्याकुल दहुँ दिश धाय। आँखि न सूझै वावरा, घर

---

१ नाना अनीति तामसी कर्म करने की प्रवृत्ति का नाम मल दोष है।

२ देह, इन्द्रिय, विषय आदि वाह्य पदार्थों मे सुख मानकर आसक्ति द्वारा राग-द्वेष जनित नाना सकल्प उठा कर चचल वने रहने का नाम विक्षेप दोष है।

३ जड-चेतन एक मानना या सर्व व्याप्त एक चेतन अलिप्त मानना या देहवाद, अहविकार, यह आवरण दोष जानना चाहिए।

जरे घूर बुताय॥'' वी० ॥ ''और यतन कछुवो मति करहू। केवल पारख साहिव लहहू॥ शका सधि रहत कछु नाहीं। नाशक आपुहि आप विलाही॥'' प० ॥ ८५ ॥

याते मुख्य कर्त्तव्य है, अन्त.करण पवित्र।
सनमुख राखै बिबश दुख, एक चित्त मन मित्र॥ ८६ ॥

टीका—इसलिए मनुष्य का मुख्य कर्तव्य हे कि वह सतो के सत्सग द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करे। हे सजाति जीव! जगत में जो परवशता का दुख हे उसे सामने रख कर एकचित्त से उस दुख के छूटने का उपाय मन लगाकर करो। जगत की परवशता का दुख विस्तार से इच्छा-परीक्षा के ''भरमि रहा जियरा वशिता हाट'' इस शव्द मे वर्णन किया गया है। ठसका मनन करके जगत दुखपूर्ण जेलवत जानकर उससे छूटने का एकचित्त से प्रयत्न करना चाहिए॥ ८६ ॥

सदा दुखहिं सनमुख बिना, होय नहीं पुरुपार्थ।
सहनशील लहि बीरता, गहि न सकै परमार्थ॥ ८७ ॥

टीका—जगत सदैव दुखरूप है, इस भाव को सामने आठोयाम रक्खे बिना कभी जगत-बन्धनो से छूटने का पुरुषार्थ सध नहीं सकता और न तो मन-इन्द्रियो को मारकर एकरस रहने की सहनशीलता तथा वीरताभाव प्राप्त हो सकता हे और न तो परमार्थ-मार्ग के जो सत्सग, विवेक, उपासना और वैराग्य रहस्य ह उन्हें धारण कर सकते हें। अत जगत के दुखो का बार-बार स्मरण करना चाहिए॥ ८७ ॥

शिक्षा—जगत-दुख! स्मरण करावे मे यह भवयान ग्रन्थ विशेष सहायक हे। इसे जिज्ञासुजनो को नित्य कठ-भूषण बनाकर इसका पठन-पाठन करना चाहिए, जिससे कि लक्ष्य के सम्मुख जगत दुख दृढ होकर इससे छूटने की निरन्तर फिक्र बढे और परमार्थ साधन मे मन लगे। विनय-विधान मे गरीबदास का दृष्टात आया है। गरीबदास अपने दुख को सम्मुख रखकर सुख-पदार्थों मे नही वॅधे, जिससे अपने धन की रक्षा कर सके थे ओर उनके साथी भोग-विलासी पदार्थों मे वॅधकर जगन्नगर के गधे वन गये थे, उसका पूर्ण मनन कीजिए।

प्रसंग ५—भोग दुख

भोगि विषय उतपति जहेर, तेहि वशि मे मति भंग।
प्रगट कठिन दुख चाह को, बिकल जीव तेहि रग॥ ८८ ॥

टीका—जीव ने विपय-विप को भोग कर भोगासक्ति रूप नशा उत्पन्न कर लिया है। उसी के वश होकर यथार्थ वुद्धि नष्ट हो रही है। आप ही विषय भोग कर कामनारूप कठिन दुख उत्पन्न कर लिया। फिर भोग-कामना के विलकुल वश होकर ठार-ठार विललाता घूमता हे। अपनी स्ववशता का कुछ भी स्मरण न कर मनमाने कल्पनाओ के वश हर प्रकार से दीन-हीन तथा लाचार हो रहा है॥ ८८ ॥

सुख आशा दुख धार में, बहा जात मन मूढ।
दोउॅ हदय जलावते, जीव त्रास अति गूढ॥ ८९ ॥

टीका—करता तो सुख की आशा और भोगता निरन्तर दुख ही दुख है। भोगो में सुख हो तो मिल जावे। जब भोगो में सुख है ही नहीं तो क्या मिले! मात्र सुख की आशा ही आशा करके दुख-प्रवाह मे यह जीव मनवश गोते खा रहा है। सुखाशा और अतृप्ति, ये दोनों दुख जीव के हृदय को जला रहे है। यद्यपि भूलभुलेया कृत कठोर दुख सबको प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है, तो भी गुरु-पारख के बिना जीव का दुख-प्रद बन्धन छिपा हुआ है, अर्थात जीव के परखने में जल्दी नहीं आता। गुरु-पारख दृष्टि से ही भोग दुखपूर्ण जानने मे आ सकते है॥ ८९॥

ना सुख मिले न दुख हटै, कमी अपर्बल फाँस।
तृषित जीव करि करि फिकिरि, दुखहिं खरीदत खास॥ ९०॥

टीका—सुख है इच्छापूर्ति, सो इच्छापूर्ति तो विषयों से होती नहीं, तब इच्छावश जीव को भोग, कर्म, देह, ताप, बन्धन, परिश्रम, परवशता, सर्व दुख चारों तरफ से भोगना पडता है। इस प्रकार जीव को न तो सुख मिलता है, न दुख से पीछा छूटता है। जैसे अथाह समुद्र में जल का अंत नहीं मिलता, वैसे इन्द्रियो के आसक्ति-वश कितनी कमी है, इसका अन्त नहीं मिलता। सदव चीजो की कमी ही कमी मे जीव बँधे हैं, अतृप्ति, तृष्णा, आशा ही कठिन फाँसी है। इस प्रकार सुख का प्यासा यह जीव फिक्र कर-कर सब दुखो को स्वयं दाम देकर मोल ले रहा है॥ ९०॥

भाव—जीव ज्ञानस्वरूप अखण्ड नित्य तृप्त है, पर अपने को भूलकर मानो दाम देकर तथा समय रूप अमूल्य-रत्न खोकर जने-जने की चिरारी-विनती तथा नाना परिश्रम कर-कर दुखों को खरीद रहा है। इतने पर भी जब दुखों मे कमी रहती है तो अपने हाथों से कुल्हाडी लेकर अपना पेर काटता है। स्वय आँखो मे लकडियाँ घुसेडता है, अग्नि में कूदता है, इसका मतलब क्या है? आगे मनन कीजिए—

विषय भोग अभ्यास से, सुख निश्चय ह्वै जाय।
क्षणक न ठहरन देत सोइ, तन मन अंग भ्रमाय॥ ९१॥

टीका—पच विषयो को नाना भाँति से भोग करके आदत डाल ली जाती है। आदत से उन्हीं में सुख निश्चय हो जाता है। जिनमे सुख निश्चय और आदत बन गई फिर उनके बिना क्षण भर भी बिताना वर्षो के समान कष्टमय हो जाता है। वे आदती सुख-निश्चित विषय पलमात्र भी जीव को स्थिर होने नही देते, भीतर मन मे हलचली, बाहर इन्द्रियो में खलबली मचाकर क्षण-क्षण भ्रमाया, दौडाया तथा दुखी किया करते हैं।

दृष्टान्त—दो मनुष्य कहीं नाच देखकर आपस मे बतलाते हुए रास्ते-रास्ते जा रहे थे। एक बोला—यार! वेश्या तो देखने मे अच्छी न थी, क्या कहे, जाडो मरे, बडे परिश्रम से चार कोस चल कर आये, कुछ फल न मिला। दूसरे ने कहा—सुनिए मित्र! यदि वेश्या खूबसूरत हो, गाने मे मतवाली हो, दस कोस पर वह नाचने आई हो, मैं रातोरात जाकर नाच देख सकता हूँ। उसी समय एक बेलगाडी आ रही थी, उसमे बैठा हुआ मनुष्य लक्षपति था। वह बोला—तुम दोनो की वार्ता मैने सुन ली, भैया! तुम लोग सच्चे आशिक नहीं हो। मैने तो इस सुखदायिनी वेश्या के पीछे सारा धन निछावर कर दिया, अब देखो इसी की गाडी हाँकता हूँ

और इसी के साथ रहता हूँ। यद्यपि यह मुझसे पहिले सदृश प्रेम नहीं करती है, पर मेरा प्रेम तो दिनोदिन बढता ही जा रहा है। अहो! चाहे जितना मुझे कष्ट मिल जाय, परन्तु इससे मेरी तबियत हटती ही नही।

बस, यही बात शुद्ध निर्वाह के अतिरिक्त बाकी निरर्थक सब विषयासक्ति मे लागू हो जाती है। चरस, गॉजा, मद्य, मासादि की आसक्ति, नाच-रग की आसक्ति, भॉति-भॉति शौक-शृगारादि की आसक्ति और नाना प्रकार सुख-सामग्री से घिर जाना, इन सबो मे समय हर्जा, खर्चा करके मनुष्य उनका आदती बनकर खुशी से उनके मिलने न मिलने में तडपा करता है। यह अपने हाथो ही दुख मोल लेना नही तो क्या है! अवश्य यह जीव अपने ही हाथो से दुख खरीद रहा है॥ ९१॥

जो जेहि सुख को प्राप्ति है, तेहि सुख की तेहि गर्ज।
जो नहिं जेहि को प्राप्ति है, नहि तेहि के सोइ मर्ज॥ ९२॥

टीका—जो जिस भोग सुख को प्राप्त कर लिया और सुख मान कर भोग लिया, उसको उस भोग की चाट लग ही जाती है। फिर वही चाट सामने होकर उसी सुख की कामना प्रकट करती है, गर्जबन्दा बनाती है। जिस भोग-सुख को जिसने नही भोगा, नही प्राप्त किया, उसको उसकी चाट नही टिकती। जब चाट ही नहीं, तो वह गर्जबन्दा किस हेतु बने! इसलिए जिन विषयो का जिसने नहीं भोग किया उनके गर्जरूप व्याधि से वह रहित है। बिना भोग ही उसकी इच्छा शात है॥ ९२॥

यह अनुभव सब जीव को, जो जेहि मे आसक्त।
तेहि बिन चैन न ताहि को, शिर दै दै तन अस्त॥ ९३॥

टीका—यह सब जीवो को स्वय प्रत्यक्ष अनुभव है, सबके जानने मे आ रहा है कि जिस स्पर्श आदि विषय मे जो आसक्त है उसके बिना उसको चैन नही है। उसके पीछे वह सिर दे देता है। शरीर अर्पण कर भूख, प्यास और परिश्रम को नही डरता। यहॉ तक कि सारी जिन्दगी उसी मे समाप्त कर देता है। सुख की निश्चयता का इतना कठिन बन्धन है कि शरीर-प्राण उसके आगे कुछ नही। इसी सुख-निश्चयता के कारण ही तो मनुष्य मुक्त होने मे समर्थ होकर भी मोक्ष-सुख न लेकर बनिता आदि मे सुख-स्वाद मानकर असख्य जन्मों से अपने को हारते आ रहा है, सब बन्धनो का भार अपनी खुशी से ढो रहा है॥ ९३॥

जब सुख को निश्चय तजै, नहिं आसक्ती कोय।
तेहि हित क्रिया न चाह जब, अमृत लखिये सोय॥ ९४॥

टीका—विषयो मे सुख का जो भ्रम हो रहा है वह निश्चय छोड दिया जाय और समझ लिया जाय कि सुख कोई चीज ही नही है, न तो जगत मे सुख का कोई स्वरूप ही है, जब यह ठीक-ठीक विवेकपूर्वक निश्चय कर लिया जाय, साथ ही सर्व विषयो की आसक्ति, लत, आदत भी त्याग कर दिया जाय, इस प्रकार जब भोग-सुखो की ग्रहणरूप क्रिया का अभाव हो जाय और भोग सुख हमको मिले, भीतर से ऐसी चाहना को भी नष्ट कर दिया जाय, तब साधक अमर स्वरूप मे ठहर कर अमृतरूप हो जाता है। स्वरूप तो अजर-अमर अमृत

स्वरूप है ही, मात्र भूल से विषय-विष में सुख निश्चय, सुख क्रिया, सुखासक्ति वश जन्मने-मरने का अनुभव करते रहा। जब वह यथार्थ परख द्वारा जड की सुखासक्ति निर्मूल कर डाले, तब तो अपना आप अमृत स्वरूप ठहर ही गया। फिर उसको चल-विचल करने मे कोई समर्थ नहीं। ऐसे ही रहस्यवान की अमृतस्थिति जानना चाहिए। "साखी—अमृत वस्तु जाने नहीं, मगन भया सब लोय। कहहिं कबीर कामों नहीं, जीवहि मरण न होय"॥ बीजक॥ ९४॥

जड़ में सुख निश्चय जहेर, भोगि ताहि पी लीन।
ह्वै उनमाद न होश तब, नशा जोर करि दीन॥ ९५॥

टीका—जड पाँच विषयो मे सुख निश्चय कर लेना ही जहर है। विषयो को भोगकर उस जहर का सब जीव पान कर लिये और सुखाध्यास पुष्ट कर लिये। उस जड-भोग सुखाध्यास नशा का पान कर लेने से जीव पागल हो गये। अमृत स्वरूप मे विभ्रात होकर अपने आप का होशहवास तक भूल गये। जिससे वही सुख निश्चयता का नशा-प्रमाद बडे वेग से जीव के ऊपर सवार हो रहा है। "विष विषय के खायहू, राति दिवस मिलि झार"॥ बीजक॥ ९५॥

तेहि निश्चय से जो करत, सो सब दुख ही देत।
जब तक यह जाने नहीं, दुख न जाय करि केत॥ ९६॥

टीका—जीव सुख निश्चयरूप नशा-वश होकर लोक-वेद, कला-कौशल, भोग-क्रिया, नाद-बिन्द, खानी-बानी की चतुराई का जो कुछ व्यापार करते हैं, सब दुख ही देने वाले हैं। कामना चचलता बढाने वाली है। जब तक यह बात अच्छी प्रकार जानने मे न आवे तब तक किसी भी उपाय से जीव का दुख छूट नहीं सकता॥ ९६॥

छन्द—दुख भूल कृत विपरीत निश्चय से सदा ही हो रहा।
ज्यों स्वप्न सिर काटे कोई जागे बिना दुख जा कहाँ॥
भूख तो है अन्न की अगार उसको दे रहा।
त्यों रूप को सत्सग से नहि जान कर यह बह रहा॥ १॥
सर्प बिल को पीट कर क्या सर्प मरता है कहीं।
वृक्ष अन्दर जल रहा हरियालता कब तक रही॥
अज्ञान का यह चिह्न है जो भोग मे सुख दर्श है।
सुख दर्श से होती क्रिया क्रिय बन्ध है दुख शर्श है॥ २॥
परतन्त्र आदत गर्ज मर्ज रु शोक मोह अपार है।
आवागमन यहि ग्रन्थि है यह दु:खमय ससार है॥
दुष्कर्म का सब हेतु सुख यहि जेल फाँस हजार है।
अस जानि भ्रम सुख ठेल दे बस होय बेडा पार है॥ ३॥

भोग क्रिया दुख देत है, सोई क्रिया दुख टाल।
ऐसा निश्चय जीव के, उछलि कूदि दुख गाल॥ ९७॥

टीका—पहिले जो विषय भोगो को भोग लिया गया है, उन्हीं की वासनाए उठ-उठ कर जीव को दुखी करती रहती है। परतु वह अज्ञान-वश उन्हीं भोग-क्रियाओ से इच्छा का दुख मिटाना चाहता है। भोग भोगने से कामनाए शान्त हो कर दुख निवृत्त हो जायेगा, यह जीव को पक्का निश्चय हो रहा है। इसी उलटी निश्चयता से जीव भोगों की उछल-कूद मे काल के मुख मे पडता रहता है और बार-बार जन्म-मृत्यु, बाल-वृद्ध, व्याधि-उपाधि से तडपा करता है॥ ९७॥

प्रसंग ६—मनसिज रोग विध्वंस

दुख खेदै सुख को भजै, यह उपाय नित शोध।
खेदा सो सनमुख रहै, राखा होय निरोध॥ ९८॥

टीका—सब जीव दुख को भगाते, अर्थात नही चाहते है और सुख का भजन करते, ग्रहण करना चाहते ह। ऐसी ही युक्तियाँ शोध-शोध कर पुरुषार्थ करते रहते है, परन्तु जिन दुखो को खेदते है, घूम-घूमकर सामने आते है, और जिस सुख को रखना या पाना चाहते हैं वह नष्ट होता रहता या नही मिलता है॥ ९८॥

चाहना वश जीव की दशा

दृष्टान्त—एक मियाँजी चलते-चलते थक गये थे। वे मन ही मन कह रहे थे—या खुदा! इक्का-गाडी या घोडा, कोई भी सवारी मुझे चढने को मिल जाती तो आपका जन्म भर शुक्र करता। उधर से एक थानेदार घोडे पर सवार होकर आया। उसका कही जॉच के लिए दौरा था। कई मनुष्य के ऊपर सामान लदा हुआ जा रहा था। सामान बहुत था, मनुष्य थोडे थे। रास्ते मे मियाँजी मिल गये। शीघ्र थानेदार ने बोझावाले मनुष्यो से कहा—ये देखो! मियाँ को भी पकड लो, इसके ऊपर बोझा लाद दो, यह भी हमारे साथ चले। मियाँजी के ऊपर सिरतोड बोझा लाद दिया गया। अब मियाँ क्या करे, परवश होकर कहने लगे—"वाह रे खुदा तू ने गजब किया, तर का माँगा ऊपर का दिया" इसी प्रकार जीव पथी दुख तो नही चाहता पर विषय सुखाध्यास-थानेदार का इसने सम्बन्ध कर लिया है, विषयों का भोक्ता बन रहा है, इसलिए इसके ऊपर जबरन दुख का बोझा लद जाता है, तब यह अपनी भूलकृत करनी को न पहिचान कर कल्पित दैव-देवी को मिथ्या दोष देता है।[१]

काम भाव बश जीव जब, दुख छूटन सुख चाव।
करि करि दुख उतपति तुरत, पुन निवारत जाव॥ ९९॥

टीका—जब जीव कामभावना के वश होता है तब अतृप्ति का अनुभव कर बहुत दुखी होता है। उस अतृप्ति-दुख से छूटने के लिए सुख की चाहना करता है। वह चर्म-स्पर्श से सुख मानकर भोग-विलास मे प्रवृत्त होता है। स्वय भोग करके भोग-क्रिया रूप दुख उत्पन्न करता है। ज्यो-ज्यो कामनापूर्ति हित क्रिया करता है, त्यो-त्यो उसकी तृष्णा बढती है। फिर

---

१ दोहा—सो परत्र दुख पावई, सिर धुनि-धुनि पछिताय।
कालहिं कर्महि ईश्वरहि, मिथ्या दोष लगाय॥ रामायण॥

तृष्णाग्नि के निवारणार्थ बार-बार वही भोगरूप घृत डालता है, सो बुझने के बदले बढती जाती है ॥ ९९ ॥

जलत जलावत रहत तहँ, सब अपराध कमाय।
बरबस बँधुवा आप है, दुरमति चाल चलाय ॥ १०० ॥

टीका—आप ही भोग-क्रिया करके कामाग्नि प्रचण्ड कर आप ही उस भावना में जलता है और बार-बार स्मरण तथा भोग-क्रिया से विभ्रांत होकर सब पाप कर डालता है। इस प्रकार हठ करके यह जीव काम के हाथों बिक रहा है और उसी के वश दुर्बुद्धिकृत विपरीत निश्चय द्वारा न्याय विरुद्ध आचरण करके बन्धमान हो रहा है ॥ १०० ॥

काम के वश जीव सब पाप करता है

दृष्टांत—चक्करदीन नामक एक मनुष्य था। वह पहिले तो कुछ अच्छा था पर आगे चलकर कुसंग और कुभावना के वश हो गया। उसकी पत्नी खूबसूरत तो थी पर कुछ निर्बल रहा करती थी। चक्करदीन ने अपनी पत्नी से काम-भावना की पूर्ति न होते देख उसे धूम पर्चा कर मार डाला। लोगों को इसके पाप की खबर हो गयी, फिर उसका कोई पुनः लग्न न किया। उसे ऐसा कामोन्माद हुआ कि वह कुछ मेड-मर्याद न रक्खा। वह जहाँ-तहाँ पकडा और मारा जाता, फिर भी बेफहम होकर उत्पात करता। उसने एक नवयुवती जो कि जाति की अत्यन्त नीच मानी जाती थी उसे रख लिया। उसका लोटा-पात्र बिरादरी मे बन्द हो गया। उसने इस बात की भी परवाह न कर बदमाशो का गिरोह रच लिया। छल, कपट, विश्वासघात, चोरी, लूट, फूँक आदि ही उसका व्यवसाय हो गया। स्त्री को गर्भ न रहे इसका उपाय वह रचता रहता, परन्तु होनहार होता ही रहता है। स्त्री को गर्भ ठहरने के बाद जब पुत्र पैदा हुआ तो उस कामी चक्करदीन ने कहा—ऐ औरत! तू इस पुत्र को ले जाकर बाहर डाल आ, नहीं तो इसके लालन-पालन मे कितने दिन लगेंगे, मेरी काम-पूर्ति मे खलल पडेगा। स्त्री भी विशेष कामुक थी। वह उस लडके को बाहर डाल आई। पर ऐसा संयोग बना कि सवेरा होते ही उधर से कहीं थानेदार तहकीकात के लिए जा रहे थे। उस लडके को देखकर सिपाहियो से उठवा कर नगर मे ले आये। पंचायत द्वारा जाँच कराने से मालूम हो गया कि चक्करदीन ही की यह करतूत है। चक्करदीन के ऊपर सकडो कोडे चपाचप पडने लगे। चक्करदीन उस बात को स्वीकार कर तथा घूस देकर जेल से बचा।

वह मद्यपान भी करता था। उसके संग से स्त्री भी मद्यपान करने लगी और धीरे-धीरे व्यभिचारिणी भी हो गई। वह अपूर्णा नाम की स्त्री चक्करदीन से बार-बार देह सुख के लिए सुन्दर-सुन्दर बेशकीमती गहने, कपडे, गन्ध, शय्या, दास-दासी की याचना करने लगी। उसके कहने के अनुसार पुरुष पुरौती करने लगा। उसकी माँग के अनुसार ज्यो-ज्यो वह विलासी पदार्थों को देता गया त्यो-त्यो उसकी माँग आगे-आगे बढी। पुरुष जो कुछ देता उसको दो-चार दिन ही में अन्य पुरुषो के ऐश-विलास मे उडा देती। भला! मन की तृष्णा भोगाग्नि से बढेगी या घटेगी! ज्यो-ज्यो अपूर्णा का वह संयोग करते गया त्यो-त्यो उसकी आसक्ति बढती गई। अन्त मे उसका मन बालक के समान क्षणिक हो गया। चक्करदीन थोडे ही दिनों मे अत्यन्त निर्धन हो गया। स्त्री की माँग और बढती गयी। वह बोला—अब मेरे पास कुछ नहीं है। स्त्री

गाली देकर बोली—लबार! फिर मुझ जैसी अप्सरा को क्यो घर लाया! कहते-सुनते दोनो में खूब झगडा हुआ। अन्त मे चक्करदीन लाठी लेकर स्त्री को मारने दौडा। स्त्री ने दौडकर लाठी छीन ली और पुरुष को पकडकर छाती पर चढ कर बोली—रे पागल! मुझ जैसी मनभामा को मार रहा है, ले उसका फल। ऐसा कहकर जूतियो से खूब मरम्मत की। उसके बहुत गिडगिडाने, हाथ जोडने पर उसने छोड दिया। वह कामी था ही। क्षण-क्षण काम के आवेश में स्त्री से दीन होता था। स्त्री प्रगट मे व्यभिचार करने लगी। यह स्त्री का गुलाम जार की गुलामी करने लगा।

एक दिन वह अत्यन्त काम-वासना से अधैर्य हुआ अपूर्णा से बोला—

दोहा—*अहो प्रिये तब नेह मे, खोयो सब सम्पत्ति।*
तू सतुष्ट न होवसी, यह ही बडी विपत्ति॥

अपूर्णा बोली—दोहा—*रे शठ जानत नहि मुझे, मोर अपूर्णा नाम।*
तुझ जैसे का पुर करैं, इन्द्रादिक बेकाम॥

चक्करदीन—फिर तू मेरे ऊपर न अनुकूल होगी तो मेरा काम कैसे बनेगा? अपूर्णा बोली—अच्छा, हे गुलाम! आज तुझे मै खेलवाड बनाऊँगी। उस खेल मे तू दृढ रहेगा तब तुझे अपना प्रेमी बनाऊँगी। अपूर्णा की, द्रव्य न पाने से मन ही मन उसे मार डालने या निकाल देने की इच्छा थी। जब शाम हुई, तब अपूर्णा के कई मित्र आये। मद्य की कई बोतले वे लोग लाये थे। अपूर्णा और उसके सब साथी मद्य पी-पीकर जब उन्मत्त हुए तब चक्करदीन को सबो ने जमीन मे चित करके लेटा दिया। चारो तरफ से चार खूटो मे मजबूत रस्सी से दोनो हाथ और दोनो पॉवो को बॉध कर सब बावले मिलकर अट-सट गाते और चक्करदीन के मुख तथा पेट पर तडातड जूतो का ताल लगाते, ऐसे करते-करते उसका मुख फूट गया, मुख से लोहू गिरने लगा। चक्करदीन रोने-गिडगिडाने लगा। वे सब उसके मुख मे लत्ता ठूँसकर मुख को बाध दिये ओर जब तक उन लोगों को नींद न आई तब तक उसे जूते मार-मारकर हॅसते रहे। सबेरा हुआ। अन्त मे वह खोल दिया गया। दोपहर तक वह बेहोश पड़ा रहा। उसके जागने पर अपूर्णा बोली—मैने तेरे ऊपर बहुत मेहरबानी की, कुशल चाहे तो तू यहॉ से निकल जा। वह बोला—हे आकर्षिणी! तुझ दीप मे मै पॉखी के समान हो गया हूॅ। चाहे तू मुझे सदा के लिए लतमरुआ करके रख, पर तू मेरी इच्छा पूर्ण कर। ऐसा कहकर वह आतुर होता हुआ अपूर्णा को पकडना चाहा। इतने मे अपूर्णा ने उसे ढकेल दिया और अनेक दुर्वाक्य कहते हुए उसको एक अॅधेरी कोठरी मे बन्द कर दिया। बेचारा भूखा-प्यासा कई दिनो तक तडपता रहा। पुन किसी अन्य के किवाड खोलने पर निकला, फिर उसे अपूर्णा ने दुतकार कर दूर कर दिया। चक्करदीन उसके वियोग मे पागल हो गया। अभी तक नाना दुर्दशा भोग रहा हे।

सिद्धात—चक्करदीन वासनावशी जीव है। कामवासना ही अपूर्णा है। युवती का स्पर्श करके जीव उस कामना को मिटाना चाहा। स्त्री का स्पर्श करते-करते कामना और बढ गई जिससे और-और लोलुप हुआ मनुष्य पॉच ज्ञान इन्द्रियो से बार-बार स्त्री का रूप, स्त्री का शब्द, स्त्री का स्पर्श करके स्त्री का अनुगामी बना अथवा जिस किसी भी प्रकार वीर्य-नाशक आदत डालकर बल, धन, ज्ञान और वीर्य से अत्यन्त क्षीण हो गया। परमार्थ साधने योग्य सारी

शक्ति उसी मैथुन मे क्षीण कर दिया। शरीर छोडने के वाद उसी काम-भावना ने जीव को अँधेरी कोठरी रूप गर्भवास मे वन्द कर फिर वाहर फेक दिया जिससे फिर शरीररूप जेलखाने मे पडा हुआ जीव पूर्व-पूर्व स्वभावो के वश में ओर अव भी कुसग करके हिताहित विवेक रहित पागल हो रहा हे। इस जीव को एक स्त्री आसक्ति के पीछे अनन्त कामना वन कर जो न दुख आ जाय वह थोडा ही है। विवेक करके मोक्षार्थी को युवती को दुखमूल जानकर उससे पृथक होना चाहिए, नहीं तो उपरोक्त दशा धरी हे। मुक्ति-इच्छुक स्त्रियो को भी पुरुषासक्ति निर्मूल कर शुद्ध ब्रह्मचारिणी वनना चाहिए।

छन्द

इसी काम वश मे करैं पाप नाना। नर नारि दोनो ने निज दावँ ठाना॥
यदी नारि से काम पूर्ति न देखे। सताव व मारे निकाल विशेषे॥
इसी काम वश मे पराई हो वामा। इसी के लिए घात हिसा तमामा।
छ्ल वल कपट सव इसी मे भरे हैं। इसी हेतु गर्भादि हत्या करे हैं॥
इसे पालते ही विरागी हो रागी। सहे दण्ड नाना पचै हे अभागी॥
यही दु·खखानी तजा याहि दिलसे। कुशल तव हे तेरी गुनो याहि अरिसे॥
यही तो अमर रूप पर एक ढाकन। इसे ही हटाकर हटै भूल सापन॥

कहाँ लखौ सुख याहि मे, जहॅ न चैन क्षण एक।
चित स्मरणहिं धाम जेहि, सख्या दुखहि न तेक॥ १०१॥

टीका—हे जीव, इस काम के आदि, मध्य तथा अन्त में कहाँ पर तुझे सुख दिखता हे, इमका विचार कर। जिस काम के आदि—उद्‌गार मे, मध्य—विपय-क्रिया मे ओर विपय-क्रिया के अत में, तीनो काल मे भी चन, स्थिरता विश्राम या तृप्ति का क्षण मात्र भी नाम निशान नहीं ह, उसमे तू सुख मानता हे। अरे! जो काम सव प्रकार गदे स्मरणो का घर है, उस मे दुखो की कान सख्या, कोन गिनती! जेसे मकान मे सव प्रकार की सामग्री रहती हैं, वेसे इस कामभावना के पीछे ही अनन्त चिताएँ उठा करती हैं ओर चिताएं ही दुख के रूप हैं। जिससे चिंताओ की वृद्धि हो ऐसे चिंता-कोष काम को ग्रहण करने से कितने दुख भोगने पडेगे, इसकी सीमा नहीं हे। काम सव चिंताओ की जड ह, जिससे सव दुख कामी को भोगना पडता हे॥ १०१॥

चित स्फुर्ती छोडि के, दुख को कहूँ न ढूँढ़।
जेहि ते उतपति यह लखै, दुख स्वरूप सोइ गूढ॥ १०२॥

टीका—चित्त में विषयो का जो स्मरण[1] ह, वही दुख है, विपयकामना स्मरण से

---

१ चिंतन स्मरणादि में दो भेद हैं, एक तो विषय सुख मानन्दी करके सम्पूर्ण स्मरण जो कि काम क्रोधादि अनन्त भावना उत्पन्न कर तथा जीव को स्वरूप मे विमुख कर ससार चक्कर में डालते रहते हैं। जिससे कामनाओं का प्रवाह चालू ही रहे कभी मिटे ही नहीं, यहॉ पर उन्हीं कामनाओ व स्मरणो को दुखरूप तथा वन्धनरूप कहने का तात्पर्य है। दूसरा स्वरूप का चिंतन स्मरण है, वह वन्धनरूप नहीं है, वल्कि शुद्ध स्वरूप की चिंतन मननरूप अग्नि सव विजाति स्मरणरूप तृण को जलाकर

अलग दुख कहीं ढूँढने पर भी नहीं मिल सकता है। क्योकि जिस समय विषय सम्बन्धी कोई स्मरण नहीं उठता, उस समय कोई भी अतृप्ति के दुख का अनुभव नहीं होता। अत· कामना छोडकर दुख नहीं है। कामना कहो, दुख कहो, स्फूर्ति कहो, चिंता कहो, परवशता कहो, ग्रथि कहो, ससार कहो, एक ही बात हे। जिससे अनन्त कामनाओ की प्रत्यक्ष उत्पत्ति और पुष्टि होते देखी जाती है, वह बनिता और तत्सम्बन्धी काम-भावना ही छिपा हुआ कठिन दुख का स्वरूप है। कामभाव मे विक्षेपवृत्ति जीव को सताती ही रहती है, तो भी वह उसमे सुख ही निश्चय करता है। अत: अविवेकी के लिए इसमे दुख छिपा है॥ १०२॥

छन्द—रक्षा व पालन वृद्धि कब्जा की अनतो भावना।
बिछुडैं न हमही भोग ले प्रतिकूल दाह जलावना॥
आसक्ति ईर्ष्या खेंच तृष्णा झूठ गर्व बढावना।
सोते व उठते बैठते हर छिन जलावै कामना॥ १॥
पत्र शाखा फूल फल सब बीज से विस्तार है।
घर घडा बहु वृक्ष बेली सर्व भूतल धार है॥
त्यो काम ही दुख सोत है देखो जो आँख पसार है।
पाँचो विषय स्मरण मुख से ज्वाल दुख धधकार है॥ २॥
नारि सुत धन मित्र अरिहूँ हानि लाभ अपार है।
हा! हा! कमी मन की गमी मृग दौड सम नि:सार है॥
दर्पण कि छाया हाथ नहि नहि चित्र दीप उजार है।
त्यों तृप्ति नहि इस काम मे यह काम दुख भण्डार है॥
उससे न सुख होगा कभी है जीव देख विचार है॥ ३॥

घातक छिप्यो सो याहि में, करत न तेहि पहिचान।
भ्रमत रहत नित जीव यह, औरहिं और को मान॥ १०३॥

टीका—इस काम भावना ही में जीव का घात करनेवाला परम वैरी छिपा बैठा है। आसक्ति, कामना, भोगो मे सुख-निश्चय, जगत-स्मृति, सम्बन्ध, ये सब वासना बनाकर चचल करनेवाले जीव के वैरी हैं। ये सब काम की वजह से एकत्र हो रहते हैं। पूर्ण घातको के नायक इस काम को न पहिचान जीव इसे ही जीवनलाभ मानकर हरदम भटकता रहता है, ओर का और मानकर रात-दिन धोखा खा रहा हे। यह काम है तो परम वैरी, पर उसे परम मित्र मानने ही से जीव बधनो मे इतना जकड गया है कि संतो का उपदेश सुनने पर भी इसे सत्य स्वरूप की स्थिति की रुचि कौन कहे उसकी बात भी सुनने से घिनाता है॥ १०३॥

दृष्टांत—एक सेठ का पुत्र नित्य सत्सग मे जाया करता था। सत्सग मे रुचि होने से उसका अन्त:करण पवित्र हो रहा था। शील, क्षमा, समता और परोपकार मे उसका लक्ष्य बना रहता था। इतने में उसकी युवावस्था आयी और सगाई भी हो गयी। उसकी वृत्ति काम की

प्रारब्धान्त मे आप भी नि शेष हो रहती हे।

दोहा—स्वरूप काम की कामना, होत कामना नाहि।
काम सु वाकूं मानिए, जो बन्ध करे जग माहि॥ सन्तोष०॥

तरफ झुकती हुई स्वार्थिक हानि-लाभ मे चिपट गई, जिससे सतसमागम करने मे रुचि कम होने लगी, युवती के समागम का स्नेह बढ गया। अन्त मे उसका अन्तःकरण कामभावना से पूर्ण हो गया। काम के साथ ही क्रोधयुक्त लडाई-झगडा, लोभयुक्त लालच, फरेब, झूठ, अहकारयुक्त कठोरता, असहन, असजगता ये सब दुर्गुण बढ़ गये। अब तो दिन-रात उसकी यही दशा हुई—"झूठै लेना झूठे देना। झूठै भोजन झूठ चबेना॥ लोभै ओढन लोभै डासन। शिश्नोदर पर यमपुर त्रासन॥" इस प्रकार उसे क्षणमात्र भी अवकाश नहीं मिलता। एक दिन वह कहीं दोडा हुआ जा रहा था कि पहिले के उपदेशक सत मिल गये। संत ने कहा— अरे रे मोहचन्द! ठहरो! ठहरो!! कहाँ! कहाँ!! कोन सा खास काम हे! क्यो इतना व्याकुल हुआ दौड रहा हे? उसने कहा—उत्तर देने की छुट्टी नहीं है। सत ने कहा—ओह! किंचित ठहर तो सही! बिना दौडे ही म तेरी कामना पूर्ण कर दूँ। वह भाग गया। फिर उधर होकर देर से निकला, तब सत ने एक पद्य गाकर जोर से कहा—

गजल

हे मित्र तुमको क्या हुआ, सत्सग मे आते नहीं।
किसने तुम्हे मारा नजारा, ज्ञान क्यो भाते नहीं॥ टेक॥
मानुष्य तन तुमको मिला, भवसिंधु तरने के लिए।
साधु गुरु की भक्ति मणि, हे मित्र क्यो लाते नहीं॥ १॥
आचरण हैं कैसे तुम्हारे, कुछ जरा समझो सही।
आप अपना हित करो, सद्ग्रन्थ क्यो गाते नहीं॥ २॥
ये ठाट जुल्मी कर तुम्हे, जख्मी कर तव दृष्टि को।
तुम मर्द हो औरत बने, दिल माहि शरमाते नहीं॥ ३॥
ये विषय के गीत गतियाँ, कर दिवाने तान मे।
गह के बेढगी चाल ये तुम, शाति को पाते नहीं॥ ४॥
ये जवानी रत्न हे, इससे करो शुभ धर्म को।
गप शप उडा खोते समय, खोये समय आते नहीं॥ ५॥
गह ले सतोगुण सादगी, शोभा बढ शुभ कर्म से।
हे मित्र क्यो इस बात को, तुम प्रेम से ध्याते नहीं॥ ६॥

उसने इन सब शिक्षाओ पर कान न दिया, निदान कुछ ऐसा सयोग बना कि वह अचानक बीमार पड गया। एकाएकी साँस रुक-रुककर आने लगी। मृत्यु का समय नजदीक आ गया, वह रोने लगा। अपने इष्ट-मित्रो से कहने लगा—हाय! मेरी स्त्री का प्यार कौन करेगा! उसकी इच्छापूर्ति करके कोन उसे सुख पहुँचावेगा! अहो! मेरी स्त्री मेरे सम्मुख अब न होगी, पुत्र का विवाह भी मेने न देखा, अमुक-अमुक वरी को मेने नही मारा, अमुक के धन-जमीन पर म कब्जा न कर सका। हाय! मेरे धन, जमीन, वभव, मर्यादा छूटे जाते हें। हे मित्र! हाय! मे क्या करूँ! मुझे असह कष्ट हो रहा हे। ऐसा कहते-कहते बोली बन्द हो गयी, ऑखे अर्धमुँदी, नाना वासनाओ का स्वप्न हुआ। स्वप्न से शीघ्र मनोमय का सुषुप्ति युक्त आकर्षण होकर वह शीघ्र ही वासना वश पश्वादि खानियो मे अनन्त दुख भोगने के लिए चला गया। इस प्रकार अनादि काल से काम वश स्वरूपज्ञान ओर उसके साधन सत्सगादि से विमुख हो

यह जीव दुखी हो रहा है।

अस निश्चय राखै नहीं, मन चोरवा जो पास।
जानि मानि तेहि भूल बशि, किहे जीव विश्वाँस॥ १०४॥

टीका—ऐसा दृढ निश्चय जीव रखता नही कि हमारे पास ही चोर नित्य रहता है। उलटे पक्के चोर को पक्का साह तथा परम मित्र मान लिया है। अपने स्वरूप को मन-स्मरण-प्रवाह से पृथक न समझ कर मन-मानन्दी ही मे एकमेक हो मन का विश्वास कर लिया है। इसे निश्चय है कि हमारा मन हमे कभी नीचे न ले जायेगा। इसलिए गुरु, सत, सद्ग्रन्थ, विवेक की सलाह छोडकर अपने मन की सलाह पर चलता रहता है। यद्यपि मन जीव को सब प्रकार स्वरूपस्थिति से विचलित करके पग-पग दुख का ही अनुभव कराता हे, पर भूल तो भूल, भूल का अर्थ ही होता है जैसा का तैसा न समझना, कहा भी है—"है चोर पॉचो सग मे, संग पॉच उनके यार हैं। षट चार मिलि के सेध दिया, तो शाह हो गये ख्वार हैं"॥ सखु०॥ १०४॥

लोभ मोह भय क्रोध सब, निसरत सुख से देखि।
सो सुख प्राणहुं से अधिक, कहाँ जायॅ अरि तेखि॥ १०५॥

टीका—स्त्री-धनादि मायावी पदार्थो मे सुख माना जाता है, अत: सुख पाने के लिए मायावी वस्तु सग्रहमय लोभ, विजाति वस्तु मे रागमय मोह, प्रतिकूलतारूप भय, जब प्रिय वस्तु कोई छीनता है तब तामसमय क्रोध ये सब शत्रु माने हुए सुख कामना से ही निकल पडते है। जो विषय सुख शत्रुओ का कोट है, बीज हे, वही जीव को प्राण से भी प्रिय हो रहा है। चाहे प्राण भले चले जायॅ पर माने हुए इन्द्रिय सुख न छूटे। फिर ऐसे सुखार्थी जीव को छोडकर शत्रु[1] कहाॅ जा सकते है। जब तक भोग-सुखाशा है तब तक सब दुर्गुण साथ ही

---

१ सुख ही शत्रु हे

छन्द

कितनेक सुखमय रूप लखि पर नारि मे मन दे दिये।
भय आपदा क्षण क्षण अयश सब द्वन्द्व झगडा ले लिये॥
कितनेक सुखमय स्वाद लखि खुब ठूस कर खाते भये।
पश्चात उठते बेठते सोते अहो रोते गये॥ १॥
कितनेक सुखमय शब्द हित वेश्यानतान उडान मे।
हो गए भॅडुहा नकलची सड रहे भुगतान मे॥
किननेक गन्ध फुलेल मे अलवेल होकर शान मे।
व्यथ वय सब खो दिए अब भोग फल रोगान मे॥ २॥
कितनेक नारी पर्श सुख हित विक गए दुख खान मे।
नित ता पुराती हेतु पचि धन धाम सुख सन्तान मे॥
वे जन्म भर वृद्धि किए गृह लोभ मोह अजान मे।
सुख काहि ये तन फल लहे यहि जन्म जन्म दुखान मे॥ ३॥

हैं॥ १०५॥

तेहि ते मात्र उपाय यक, सुख को देव टालि।
अरि तेहि कर न सामना, जो विवेक यह पालि॥ १०६॥

टीका—पूर्व साखियो मे स्पष्ट हो गया कि सुख की इच्छा ही सर्व दुर्गुण बढाती तथा सब कुकर्तव्य-कूप मे ढकेलकर सर्व दुखो को देती रहती है। अतएव सर्व दुख छूटने की सरल, श्रेष्ठ तथा यथार्थ युक्ति एक यही है कि सुख को ही हटा देवे। भोग-विषय में सुख न माने, उन्हे विषवत जानकर ग्रहण न करे। यदि ऐसा विवेक अपनावे तो उसके शत्रु जो खोटी आदत, काम-क्रोध आदिक विकार है, कभी सम्मुख ही नहीं आ सकते। जब अपने भीतर के काम-क्रोधादिक शत्रु ही निर्मूल हो गये, तब बाहर के शत्रु का कहाँ पता! क्योकि शत्रु-मित्र मन मे ही बन जाते है। शत्रु-रहित होने का एकमात्र उपाय यही है कि सर्व सुखाध्यासो को विवेकपूर्वक त्यागता रहे॥ १०६॥

तन मन धन अभिलाष तजि, जो पाले प्रण येह।
दुख तेहि देय न दर्श कहुँ, सहौ विघ्न लखि देह॥ १०७॥

टीका—जो इन्द्रियो के भोग, मन के विलास तथा धनैश्वर्य की अभिलाषा का त्याग करके इस प्रण का पूर्ण पालन करता है, उस सत्यव्रती को इस जीवन मे दुख होना तो दूर रहा, दुख दर्शन भी नही दे सकता। अत हे दुख न चाहनेवाले भ्रात! इस सुख-शत्रु के वार को सहन करो। देखो! यह देह विघ्नपूर्ण है। प्रारब्धिक दुख-सुख, हानि-लाभ में घबराकर अपनी स्थिति से न डिगो। प्रारब्धकृत विघ्नो को सहन करते हुए सुखाध्यास का त्याग दो, बस दुखो का अन्त है॥ १०७॥

हानि लाभ निज जीव की, बन्धन छूटन केरि।
ताहि छोडि नहिं हानि कछु, लाभ न कतहूँ हेरि॥ १०८॥

टीका—इन्द्रिय-विषयो के सुखाध्यासरूप बन्धन में बँधे रहना हानि और उससे छूट जाना लाभ है, इसके अतिरिक्त जीव की न तो कुछ हानि है और न लाभ ही है। मायिक हानि-लाभ स्वप्न वत है। बल्कि मायावी पदार्थो का मिलना ही कामनावर्द्धक होने मे हानिकारी है। जीव को जड मे सुख मानन्दी की जिस प्रकार पुष्टि हो वही घाटा का व्यापार जानना चाहिए। जिससे बार-बार आसक्ति-वश आवागमन होता रहता है, ऐसे भ्रमसुख का जिस प्रयत्न से त्याग हो वही करना जीव का लाभ जानना चाहिए॥ १०८॥

धन तरुणी सुत मित्र जो, धिय नाती कुल जाति।
बान्धव जन, प्रभुता सबै, नहि इनसे कुशलाति॥ १०९॥

आदत व इन्द्री मन वशी ये श्वान मर्कट हो रहे।
जड वस्तु मे है सुख कहाँ छिन छिन बिगडते जो रहे॥
हे जीव! तू निज भूल लखि सुख काल में क्यो सो रहे।
पूर्ण पारख कर सही बस मुक्त रूप तु हो रहे॥ ४॥

टीका—सोना, चाँदी, रुपये, पैसे की अधिकता से, सुन्दर-सुन्दर युवती के भोग से, अच्छी-अच्छी सन्तानो की उत्पत्ति से, सहायक मित्रो के बढा लेने से, पुत्री, नाती आदि कुल की वृद्धि से, ऊची नामधारी जाति में होने से, भाई आदि कुटुम्बी, बडी श्रेणी मे नौकरी-चाकरी, हाकिम-हुकूमत, राज-काज यावत प्रभुता, ऐश्वर्य-बडाई, इन बातों से कभी जीव का कल्याण नहीं हो सकता। उलटे इनमे फॅस नित्य सत्य अमृत स्वरूप पर पर्दा डालकर यह जीव दिनोदिन जगत-वासना पुष्ट करता है। जिससे बारम्बार देह धर-धर कर असह दुख भोगता रहता है॥ १०९॥

मिथ्या भरमै जीव यह, हर्ष शोक मे बूडि।
समय अमोल्य खराब करि, छोडि काज दुख ढूँढि॥ ११०॥

टीका—ऊपर कहे गये धन, युवती, पुत्र, मित्र, बधु-बान्धव, वर्ण-आश्रम के मिलने में हर्षित, बिछुडने मे शोकित होकर यह जीव मनोधारा में गोते लगा रहा है। जीव इन सब पदार्थो से सर्वदा पृथक शुद्ध चेतन है, ज्ञान स्वरूप अखण्ड नित्य तृप्त है, तो फिर वृथा ही बिलग वस्तुओ के मिलने न मिलने मे सुख-दुख, हर्ष-शोक, हानि-लाभ मान-मानकर फूल-पचक रहा है। जीव जिस समय मे अमृत स्वरूप की स्थिति का सहज ही पुरुषार्थ बनाकर सदा के लिए निज स्वरूप में ठहर सकता है, सब दुखो से अपना पीछा छुडा सकता है, उसको वृथा खो रहा है। छिन-छिन मिलने-बिछुडने वाले, शोक, मोह, मद आदि सर्व दुर्गुणो को बढाने वाले, आसक्ति, ईर्ष्या, कामरूप रोग प्रकट कराकर आपत्ति में डालने वाले, विप-विषय में पटकनेवाले, वेर-विरोध, मोह-अज्ञान के डण्डो से पीटनेवाले, ऐसे कुटुम्बी और मायावी भोगपदार्थों की प्राप्ति, वृद्धि, रक्षा, उत्पन्न, पालन आदि में रत्न-समय गॅवा रहा है। इस प्रकार यह जीव अपना स्वरूपस्थितिरूप मुख्य काज छोडकर और ढूँढ-ढूँढ कर दुखो से भेंट कर रहा है, जान-बूझ कर सब प्रकार की आदतें बना कामादि ज्वालाओ से झुलसित हो रहा है॥ ११०॥

मनकी उलटी रीति तजि, निज स्वरूप लखि सूध।
गुप्त भेद गुरु को लखौ, नहिं कटक मग रूध॥ १११॥

टीका—मन की चाल उलटी है, स्वरूप से विपरीत विषयासक्तिमय हे, और मन से पृथक शुद्ध स्वरूप की स्थिति सदा रहनहार सरल सीधी है, यही गुरु का छिपा हुआ गुप्त भेद है। यह बात शीघ्र सबके जानने में नहीं आती। अत. गुरु सत्सग से भली प्रकार इस भेद को जानना चाहिए। स्वरूपस्थिति से पृथक जहॉ तक कर्तव्य और भावनाए हैं, मार्ग के कॉटे ह। इन्हे त्याग कर स्वरूपध्येय सहित ठहराव बनाकर गुरु-मार्ग पर चलना चाहिए॥ १११॥

स्पष्ट—(१) सर्व विजाति पच-भोग हर तरह से तृष्णा और स्मरण रूप रोग पुष्ट करते है, इसी से वे दुख से पूर्ण हे, पर मन उसे ही पूर्ण सुखरूप मानकर उधर खिंचता रहता है, यही मन की उलटी रीति हे। (२) मनवशवर्ती ससार मे कोई भी अपना नही, न किसी पर कुछ स्ववशता है, फिर भी यह मन शत्रु-मित्र की कल्पना करके राग-द्वेप मे बॅधा रहता हे, यह भी मन की उलटी रीति है। (३) अमुक साथी कामी, क्रोधी, लोभी, मोही ह, ऐसा स्मरण करते-करते आप भी काम-क्रोधादि स्मरणो में सुखभाव बनाने लगना आर उसी प्रकार

के कर्तव्यों को गुप्त रूप से करने की युक्ति सोचने लगना, ऐसी नीचता होते हुए भी अपने को सर्व से श्रेष्ठ समझ कर अभिमान वश असहन, अक्षमता, असमता से वर्तना, यह भी मन की उलटी रीति ह। ऐसी अनत विपरीतताए मन मे भरी ह। इन सव कुरीतियो के निवारण का उपाय मात्र सर्व सत्साधन सहित स्वरूपस्थिति का अभ्यास ही है। अभ्यास की युक्ति समग्र ''भवयान'' मनन करके ग्रहण करना चाहिए।

वुद्धिमान वलवान सो, शूर धनी सोइ साधु।
सोइ दानी पुरुपारथी, सवन हितू दुख वाधु॥ ११२॥

टीका—जो कोई मन छली का कहा न माने, सर्व आदत, विषय-विराग, सुखाध्यासो का त्याग करे और सत्साधन, स्वरूप विचार ही की सीधी चाल चले, वही श्रेष्ठवुद्धिवाला, सवसे विशेष वलवान, रण-शूर, धनिया का धनी, परम सत, महादानी और परम पुरुषार्थी है। वही सर्व का हितैपी आर सर्व दुख का दमन करनेवाला ह। उसकी समता का कोई नहीं॥ ११२॥

जो न करै जग मे कोई, आदि अन्त जेहि मद्धि।
मन रुज दुख व्यापै नहीं, सोई करो जिव सद्धि॥ ११३॥

टीका—हे जीव। मन मारकर स्थित हो जाना, यह कार्य जगत मे किसी से नहीं सधता। अर्थात कोई विरले ही मनोनाश करने का साधन करते है। अत. आदि, मध्य, अन्त, भूत, भविष्य, वतमान तीनो काल मे जिस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, सुखाध्यासादि मन के रोग न सतावे, वही कार्य सर्वदा करो, तो तुमसे श्रेष्ठ कोई नहीं ह॥ ११३॥

प्रसंग ७—अध्यास-वश जीवों का शरीर धरना और उनकी विवशता का परिचय

नारि पुरुप मग मध्य मे, धरत जीव तह देह।
रक्षक तिनके होत सोई, मानि अहं मम येह॥ ११४॥

टीका—जीव-पथी के विचरने और दुख-सुख भोगने के लिए स्त्री आर पुरुपो के शरीर ही रास्ते है तथा देहो के वनने के क्षेत्र है। जीव जिन नर-नारियो के सम्वन्ध मे देह धारण करते ह, वे ही यह मेरा पुत्र है, यह मेरी पुत्री ह, इस प्रकार म-मेरा मानकर वालको के रक्षक होते है। यथा—''माता पिता वालको को जिलावे। नाना यतन से खिलाव पिलावें''॥ ११४॥

सव जीव पथी रहै, यहि विधि आवत जात।
अह अकेल न साथ कोउ, नर नारी विख्यात॥ ११५॥

टीका—इस प्रकार सव जीव माता-पिता के शरीररूप सडक आर क्षेत्र मे देह धारण करके पथिक वनकर आते-जाते ह तथा शरीर धरते-छोडते रहते है, वे सव अलग-अलग अकेले ही निज कृत कर्म-भोग भोगनेवाले ह। कोई किसी के भोग मे साझी नहीं हो सकता, न साथ जा ही सकता ह। प्रसिद्ध ह कि स्त्री-पुरुप भिन्न-भिन्न स्व-स्व रचित कर्म प्रारब्धानुसार

ही भिन्न-भिन्न दुखी-सुखी, रोगी-अरोगी भिन्न-भिन्न समय मे मृत्यु आदि फल पाते रहते है ॥ ११५ ॥

जस जिसकी प्रारब्धि है, तेसहिं पाय निवास।
वैसहिं दुख सुख होत तेहि, रक्षक भक्षक तास॥ ११६ ॥

टीका—पूर्व जन्म के जिसके जसे शुभाशुभ कर्म होते ह, वैसे ही उनका उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ खानियो और ऊँच-नीच श्रेणियो में जन्म होता हे।[१] खानि और श्रेणी के अनुसार उसे दुख-सुख होते हैं और वैसे ही उसकी रक्षा करने वाले तथा घात करने वाले भी मिल जाते हे। बीजक मे कहा हे—"जस रे कियेहु तस पायहु, हो रमैया राम। हमरे दोष का देहु, हो रमैया राम"॥ इस प्रमाण से जीव जैसा बीज बोता है वेमा काटता है॥ ११६ ॥

जेहि की ममता जाहि मे, सस्कार जेहि जैस।
मिलि मिलि बिछुडत गढि पुन, शुभगुण दुर्गुण तैस॥ ११७ ॥

टीका—जिस प्राणी की ममता जिसमे हे और जेसा पूर्व और अबका सस्कार है, उसी प्रकार प्रारब्ध-पुरुषार्थ के अनुसार सबका मिलन ओर विछुडन होता रहता है। मिलन-विछुडन के बीच ही मे सस्कार और सग के अनुसार जीव शुभगुण-दुर्गुण बनाता रहता हे। अर्थात पूर्व सस्कार और ममता के अनुसार सर्व प्राणियों से मिलते-विछुडते हुए भी जीव नवीन-नवीन सग और सस्कारो के पलटाव से नवीन-नवीन आगामी शुभाशुभ कर्म को फिर रच लेता हे, जिसके परिणाम मे वह नाना देह धर कर दुख-सुख का भोक्ता बनता रहता है॥ ११७ ॥

प्रारब्धी पुरुषार्थ बश, ममता जीवहिं लागि।
सोइ ममता रक्षक तनहिं, पुन लागि जस पागि॥ ११८ ॥

टीका—कही तो पूर्व प्रारब्धाधीन एक-दूसरे की ममता दृढ हो जाती है, जेसे माता-पिता छोटे बच्चो का ममता-वश पालन-पोषण करते हैं, और कही तो उनमे पुरुषार्थ देखकर स्वार्थ मानकर ममता दृढ हो जाती है, जेसे कर्मशील मनुष्य के प्रति घर वालों की ममता दृढ होकर वे उसकी सेवा करते हे। इस प्रकार पुत्र-पुत्री, माता-पिना, भाई-बहिन, इष्ट-मित्र, पशु-पक्षियो तथा अन्य देहधारियो मे प्रारब्ध और पुरुषार्थ के अधीन आपस मे ममता दृढ हो जाती हे, वही ममता सबके शरीर का रक्षक होती है। जिससे किसी अश मे प्रेम या ममता न हो, तो उसकी अन्न, जल, वस्त्र से रक्षा करना तो दूर रहा, बात तक बोलना भारू हो जाता है। इससे स्पष्ट हुआ कि चाहे जिस प्रकार हो, ममता ही सबके शरीर का पालन-पोषण करवाती ह। इसके साथ यह भी बात हे कि जब न्याय-विरुद्ध अधिक ममता हो जाती है तब वही घातक भी हो जाती है। यह ममता प्रारब्ध और पुरुषार्थ के अधीन ही दृढ होती रहती हे। पुन इस कर्म-भूमिका मे ममताओ का जैसा उलटाव-पलटाव होता है, उसी भाँति कर्म-सस्कारो मे

---

१ माता पिता औ करम जीव माया। इन्हीं से-जनम और मरण तू ने पाया॥ न्यायनामा॥
फिरत सदा माया के प्रेरे। कर्म स्वभाव काल गुण घेरे॥ रामायण॥

लिपट कर फिर आगामी जन्मो मे देह धरने का हेतु होगा और पूर्व कहे अनुसार फिर उसके शरीर की वैसी ही स्थिति होगी जसे उसके पूर्व और अव के कर्म वने पडे हैं॥ ११८॥

यहि विधि सव खानिन भ्रमत, जीव करम अनुसार।
चारि खानि के मध्य मे, नहिं स्थिति निज हार॥ ११९॥

टीका—इस प्रकार सब जीव सब खानियो मे कर्म-सस्काराधीन भ्रमण कर रहे हैं। मनुष्य, पशु, अण्डज ओर उप्मज ये चार खानियो के वीच मे रहकर अणु मात्र भी जीव की स्थिति नहीं है। जिन-जिन खानियो को जीव प्राप्त होता ह उन-उन मे देह के स्वभावों में मिलकर तथा जगदासक्ति में अपने को वेचकर परतन्त्रता ले रहा है, सदा अर्पित होकर परवश नाच रहा है॥ ११९॥

सव खानिन में जात सोइ, सस्कार मव राखि।
विपुल काल यहि विधि गये, निजहिं भूल मन चाखि॥ १२०॥

टीका—मनुष्य देह मे किये हुए आगामी कर्मो के सस्कार-वश जीव मव खानियो में घूमता रहता है। इसके घूमने की लाख-करोड़ वर्ष की संख्या नहीं ह, कितु असख्य काल से इस जीव को खानियो में भटकते हो गये। यह अपने को भूल कर मनोमय के परिणाम में त्रिविध ताप को प्राप्त होता रहता हे। मनोमय का फल देहोपाधि मे जहाँ तक कष्ट होता है वह सव जानना चाहिए। इसका दु.खालय[१] प्रकरण मे वर्णन किया गया ह॥ १२०॥

तन निर्वाहिक भार लै, वर्तत जीव सदाहि।
दुख सुख सासति होत तहँ, जड चेतन से ताहि॥ १२१॥

टीका—शरीर धारण कर छिन-छिन खान-पान यथायोग्य प्रवन्ध से शरीर-रक्षा का वोझा लाद कर यह जीव सदा काल खानि के अनुमार व्यवहार मे वँधा रहता हे। इस प्रकार जड-चेतन की ग्रथि मे इसे दुख-मुख आदि अनन्त आपदाएँ महन करनी पडती हैं। व्राह्माण्डिक चारो जडतत्वों की क्रिया से आर चार खानियो के चेतन प्राणियों मे दुख, मुख, शासन, दण्ड भोगना पडता ह॥ १२१॥

छन्द—दह धरने के दुखों स जीव सव पीडित अहँ।
भोजन व पट धन गेह रक्षाहेतु सव हीडित रहँ॥
रक्षा अरक्षा हेतु मुख दुख दोड सव मींडित दहँ।
ले जीव पारख ओपधी जामे न तूँ तीडित तह॥ १॥

आदर होय निरादर कहूँ, रक्षक वहि को कोन।
मनोमई मसार सव, निज निज मनके भान॥ १२२॥

टीका—कहीं इमका सम्मान होता ह आर कहीं तो यह दुतकारा-फटकारा जाता ह। भला! समार मे इमका रक्षक कोन ह! क्योकि सम्मान-म्वागत आर असम्मान-अस्वागत तुम्हारे लिए नही ह, अपनी-अपनी मनमापूर्ति के लिये ह। यह सारा ससार मनोमय की एक

---

१ माखी सुधा प्रकरण की ००-०१वीं माखी की टीका मे 'दु.खालय' नाम से दृष्टात दिया गया ह।

रगशाला है या नाटक का तख्त है। इसमे अपने-अपने मन स्वार्थ के घेरे से घिरे हुए सब देहधारी नजर आते है। अपने-अपने सुख-मानन्दी मकान के अन्दर सब टिक रहे है। उनको अपनी मान्यता के आगे कुछ नही सूझता। जो आज मित्र है कल वही परम शत्रु बन बैठता हे। अतएव स्वविवेक-विराग-विहीन लोगो मे अपना कोई भी रक्षक नहीं॥ १२२॥

बिवश बासना जीव सब, करत क्रिया मन मेलि।
सुखहि हेतु उपयोग तहॉ, मन हित सबको ठेलि॥ १२३॥

टीका—सब जीव वासना के वश मे हैं। वे अपनी मानन्दी मे मिलकर ही सम्पूर्ण क्रिया करते है। कोई भी शुभाशुभ कार्य करने के पहिले इच्छा ही सम्मुख होती हे। इच्छा, मानन्दी, वासना सब एक ही है। यह सबको प्रत्यक्ष अनुभव है कि जीव प्रत्येक कार्य सुख के ही लिए करते ह। जहॉ जीवो को सुख मानन्दी के मार्ग मे घाटा प्रतीत हुआ कि वैसे ही वे सबको ठेल देते है, अभाव कर देते हैं। माता, पिता, बन्धु, गुरु, भ्राता, स्वामी और परम प्रेमी कोई भी क्यो न हो, जहॉ वे अपनी सुख मनमा मे उनसे रुकावट समझ लिये कि वेसे ही दया-मया विसारकर सेवा तो दूर रही, स्मरण तक करना नही चाहते॥ १२३॥

दृष्टात—एक महतजी धन-धाम-सम्पन्न ऐश्वर्यवान थे। उनके स्थान मे एक बड़ा भारी मन्दिर था। उसमे बहुत जगह जागीर लगी थी। कुछ दिन के बाद महत के एक शिष्य हुआ। शिष्य पर महतजी का बडा प्रेम था। जब पढ-लिखकर शिष्य विद्वान हुआ तब मन्दिर मे पूजा करने लगा। शिष्य के मन मे लोभ ने डेरा कर रक्खा था। खजाने की कुजी महतजी अपने हाथ ही मे रखते थे। जिससे शिष्य के मन मे यह हुआ करे कि गुरुजी का किसी प्रकार अवसान हो तो मैं सब धन पर कब्जा करूँ और मनमाने सुख-विलास करूँ। पर प्रारब्ध अन्त बिना कैसे शरीरात हो! कुछ दिन पीछे फिर दूसरा पढा-लिखा कुलीन शिष्य हुआ। दोनो शिष्यो मे कलह होने लगा। महतजी का दूसरे शिष्य पर भी प्रेम था। दोनो से महत ने कहा—हम मरते समय आधा-आधा धन बॉट देगे, लडाई मत किया करो। पर "जहॉ लोभ-वहॉ सतोष कहा।" पहिले वाले को अधिक लोभ था, दोनों ऊपर-ऊपर गुरु की सेवा करते, भीतर-भीतर कुछ और ही था "ऊपर हित अन्तर कुटिलाई। बोला मधुर वचन बैठाई।" एक दिन दूसरा शिष्य किसी काम से बाहर गया था, पहिले वाले शिष्य ने प्रसाद बनाकर तैयार किया, साथ ही खूब अग्नि धधकाकर चिमटा, करछुली, सन्सी अग्नि में डाल दिया। जब सब खूब गर्म हो गये और इधर जैसे ही गुरुजी आकर भीतर प्रसाद पाने बैठे कि वैसे ही किवाड बन्द कर चिमटा आदि निकाल-निकाल कर गुरु को दग्धाने लगा। गुरु निर्बल थे, मारे कष्ट के त्राहि-त्राहि करने लगे, फिर भी कुटिल ने न छोडा। अत्यन्त कष्ट से जब गुरु को मूर्च्छा आ गई, तब उनके जनेऊ से कुजी खोल सन्दूक से सब धन लेकर भाग गया। इस दृष्टांत से यही लेना है कि सुख-लोभ के वश जव गुरु की इस प्रकार दुर्गति की जा सकती है, तब माता-पिता, भाई, स्त्री या स्त्री के लिए पुरुष किस खेत की मूली हैं! यद्यपि सब ऐसे नही होते, बहुत से दया, धर्म, सदाचरण का भी पालन करते हे, पर यह तो पक्का है कि अपनी-अपनी अर्थसिद्धि निमित्त सब सबसे सम्बन्ध करते हे, ऐसी दशा में दूसरे से सत्य सम्बन्ध कहॉ रहा! यहॉ इस बात की भी शिक्षा मिलती है कि यह लोभ ही सब पाप करवा के अनर्थ मे डाल देता है।

कवित्त

काम वासना के वश जब अति प्रेरित हो, तब तो दुखित रोगी वाम न लखतु है।
मरन जियन ताकी आपदा न ख्याल करे, वस एक कामना ही पूरण चहतु है॥
क्रोध लोभ मोह मद जब जौन हो प्रबल, तब तौन वश माहि वैसे ही ढहतु है।
कहो अब रक्षक हे कोन मन धारा विच, सब जग मन वश सबसे नहतु है॥

सब सबकी परवाह तजि, निज मानन्दी साथ।
भय समता तेहि हेतु कछु, मानत मनहिं सनाथ॥ १२४॥

टीका—मव जीव दूसरे के हानि-लाभ की चिन्ता छोडकर अपने ही हानि-लाभ की मानन्दी साथ में लिए रहते ह,[१] अपने ही सुख तथा मनसा के अर्थ सब-सबसे डर आर समता रखते हे। कोई भी अन्य किसी से डरता हे ओर नम्रता-दीनता रखता है, आज्ञा पालन करता है, उसके ऐन मे रहता है आर प्रियता-समता से वर्तता है, सो सब अपनी मनसा-सिद्धि के अर्थ से ही है, क्योंकि जीव अपने मन की पुरौती ही से अपने को सनाथ तथा सुखी मानता है॥ १२४॥

कवित्त

रूप धन योवन को देखि जांन प्राण प्रिय, वही यदि रोगी ऋणी रक होय जात जू।
तब तो न प्यारी कवृ प्रियता से देखियत, ऐसी भाँति प्रतिकूल नारि हूँ न भात जू॥
पुत्र भाई वन्धु सासु ससुर दमाद सब, स्वारथ के निज-निज प्रगट देखात जू।
मन की पुरोती प्रेम करें एक-एक, मन-मनसा के भग होत ही रिसात जू॥

सब आसर सब जीव को, जहँ लगि खानिन भोग।
रहत अकेले बन रमत, निज निज मन उद्योग॥ १२५॥

टीका—जहाँ तक चार खानियों के देहधारियो मे त्रिविध ताप के भोग दिखाई दे रहे ह, वे सभी सकट मव जीवो के सामने समय-समय पर आते हे। इस प्रकार ससाररूप जगल मे सब जीव अकेले-अकेले ही घूमते हुए अपने-अगने मन-सुख के व्यापार मे लगे हुए हैं॥ १२५॥

स्पष्ट—मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतिग आदि जहाँ तक खानियो मे तन-मन की उपाधि दुख, आपत्ति, परवशता, तीन ताप की जितनी आपदाएँ हैं, सो सब जीवो को प्राप्त हो रही ह। रोग-शोक, मार-काट, अध, कुष्ट आदि सब सकट के दिन अपने को भी इस कर्मचक्र में प्राप्त होगे। ऐसा कोई दुसह दुख नही हे कि जो इस कर्म-रहट मे पडकर न भोगना पडे। इस संसाररूप जगल मे ही पूर्वोक्त दुसह दुख स्वय जीवो को भोगना पडता ह। प्रत्यक्ष मव जीव अपने-अपने मन कल्पित खानि-वानी के कारोवार मे लगे हुए चक्कर काट रहे हे।

---

१ अपने अपने अर्थ हित, सब जन सब के दास।
विना अर्थ अपनो कवन, कोई न बेठे पास॥ सतोपदेश॥

कवित्त

एक महाराज के हजार हू जो दास दासी, हाथ जोरे भाँति-भाँति सेवा कूँ करतु है।
पेट शूल सिर दर्द खाँसी या बुखार ताकूँ, आप ही जु रोय-रोय दवा को धरतु है॥
तामे न बटाय सकै कोई और सेवक जु, अपनो करम सो तो आप ही भरतु है।
ऐसे सब औसर में मन कर्म साथ निज, निज ही करम बीज सबको फरतु है॥

समुझि देखु निज जाल सब, स्वत अकेले आप।
नहि कोई जब आपना, काहि मानि सताप॥ १२६॥

टीका—हे जीव। तू समझ-बूझ कर देख, अपनी भूलकृत मानन्दी द्वारा आप ही सब मे मोह का जाल बनाकर आप ही उसमे फॅस कर दुखी हो रहा है। तू सत्य स्वतन्त्र स्वय अपने आप अखण्ड अनादि है, फिर तेरा अन्य के साथ क्या सम्बन्ध है। जब विवेक-दृष्टि से देखने पर जगत के प्रेमी, कुटुम्बी मन के वश है, कोई अपना है ही नही, किसी से कुछ नाता ही नही है, तब किसको अपना माने। और किसकी ममता तथा वैर के जालो में बन्धमान होवे। क्यो वृथा दुखी होवे। अत इनमे बन्धमान होने की कोई आवश्यकता नही। "तेहि ते मोह नही दृढ कीजै। जिव है एक कहाॅ कहॅ दीजै"॥ १२६॥

नित्य तृप्त तू जीव है, बृथा भूल बशि मोह।
होय निराश स्वतन्त्र तू, छोडि जगत दुख खोह॥ १२७॥

टीका—अरे जीव। तू तो निष्काम नित्य तृप्त है। तेरे स्वरूप मे वासना-कामना है ही नही, तू नित्य सतुष्ट परम देवरूप है, बिना आवश्यकता ही तू भूलकर सब में मोह बॉध रहा है। अरे। तू मन के वशीभूत नर-नारियो को अपना मानकर उनमें आसक्ति द्वारा उनके मिलन-विछोह मे हर्ष-शोकाग्नि से क्यो जलता रहता है। जो तूने यह निश्चय कर रक्खा है कि हमारे दुख मे सब साझी होगे तथा सुख देंगे यह बिलकुल तेरी मोह-नीद की कौहट है। ससारी जीव तो निज चैतन्य स्वरूप पर पर्दा डाल कर बिना अर्थ ही मोह वश होकर एक दूसरे के घातक बन रहे है, अत मोह त्याग कर तू स्वरूप मे स्थित हो जा। उन बन्धनकारी जीवो से सुख की आशा छोड कर नैराश्यता धारण कर स्वतन्त्र हो जा, सम्पूर्ण जगत एक दुख का गड्ढा है, उसको तू दिल से त्याग दे॥ १२७॥

प्रसंग ८—जीवों के मुख्य बन्धनों का कथन

भोग क्रिया आसक्ति है, सुख निश्चय अध्यास।
आदति औ अज्ञान लखि, देते जीवहिं त्रास॥ १२८॥

टीका—भोग, क्रिया, आसक्ति, सुखनिश्चय, अध्यास, आदत और अज्ञान ये सात रिपु जीव को सदा सताते रहते हैं, आगे इनके स्वरूप का विचार कीजिए॥ १२८॥

पच बिषय के भोग सब, सनमुख रहत हमेश।
निजहि भूलि फॅसि ताहि मे, भोगत असह कलेश॥ १२९॥

टीका—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गध पॉच विषय मे सब भोग के पदार्थ आ जाते है। ये सर्व भोग-पदार्थ सदव जीव के सामने बने रहते ह जिससे वह अपने सत्य स्वरूप को भूलकर इन्हीं मे फँसकर असह्य दुर्दशा को प्राप्त होता है। ये भोग के स्वरूप जानिए॥ १२९॥

यहि से विलग न आप कहँ, जानि निरालो सोक्ष।
सो अज्ञान कहावई, तेहि तजि जीवहि मोक्ष॥ १३०॥

टीका—पॉच भोग-पदार्थ आर तिनकी कामनाओ का मे जाननेवाला उनसे सदव भिन्न शुद्ध स्वरूप अपने आप हूँ, ऐसा न जानना ही अज्ञान का स्वरूप हे। इस अज्ञान को परीक्षा करके छोड दने से जीव मुक्त हो जाता ह। अर्थात पंच विषय के रूप देह-गेह भोग-विलास आदि सब विजाति-पदार्थ दुखपूर्ण जानकर इनकी भोगासक्ति, जडाध्यास, जडासक्ति, जड देह को दृढ मानना रूप अज्ञान का जहॉ अभाव किया गया बस वहॉ अपना जसा मुक्त स्वरूप है वसा ठहर जाता है। अतएव अज्ञान का पारखबोध द्वारा दमन करना चाहिए॥ १३०॥

भोगत विषय सो भोग क्रिया, आसक्ति फिरि भोग।
असह दु ख लखि नहि तजत, सो आसक्ति रोग॥ १३१॥

टीका—विषयो को किसिम-किसिम से भोगना तो भोग क्रिया कहा गया आर भोगे हुए विषयो को बारम्बार भोगे विना रह न पाना, आसक्ति हे। दुसह दुख प्रत्यक्ष देखे आर फिर मोह-वश छोड न सके यह आसक्ति रोग का चिह्न हैं॥ १३१॥

यादि होत अध्यास सोइ, सनमुख फिरि फिरि सोय।
विन उद्योगी जीव को, निशदिन चिन्ता होय॥ १३२॥

टीका—उन्ही भोगे हुए विषयो के जो मन मे सस्कार वठ गये हें वे ही स्मरण हुआ करते हें, उन्हीं का नाम अध्यास ह। वे ही अध्यास बारम्बार जीव के सामने आकर चचल किया करते ह। जीव तो उद्योग-रहित, निष्क्रिय, निश्चिंत है, अर्थात जीव के स्वरूप मे हानि-लाभ, सुख-दुख, जन्म-मरणादि की उपाधि नहीं ह, पर इस अध्यास-वश रात-दिन, हानि-लाभ, सुख-दुख, मिलन-विछोह आदि की चिंता कल्पना व्याप्त हो रही ह। जो-जो अध्यास सम्मुख नही होता उस-उस के सबध मे हानि-लाभ, सुख-दुख, हर्ष-शोक नहीं होते। इससे अध्यास ही सर्व उपाधि मूल जानना चाहिए। अध्यास का स्वरूप—

कवित्त

लाल पीलो रग नाहीं धोय जारे जात नाहीं, जड अरु जीव नाहीं सब हिये भास जू।
बूझिए वो कोन वस्तु सबहीं को बध किये, रूप रेख जाके नाहीं ऐसे ही तमास जू॥
रज्जु-सर्प ठूँठ-चोर मृग-वारि दिग-भ्रम, जोइ सत्य मानै ताहि निशदिन फॉस जू।
भूल-भ्रम मानि सुख जड में रमत जीव, वही हे अध्यास चित्र बोध से विनाश जू॥

विन विवेक जो जो करे, दिल बहिलावन काज।
संधि न जानत वध की, यह ही आदति साज॥ १३३॥

टीका—जब दिल मे टिके हुए अध्यास जीव के सम्मुख आकर कष्ट देने लगते हैं, तब अध्यासकृत दुख भुलाने के लिए नाच-रग, चोपड, विषय-भोग आदि जो कुछ विवेक रहित

पॉच विषय के अन्दर क्रिया करता है यही दिल बहलाने का कार्य हुआ, पर इसके साथ जीव को यह विचार नही है कि वही भोग विषय की क्रिया अध्यास आसक्ति रूप हो कर नवीन-नवीन रूप से हमे फिर कष्ट देगी। फिर उस दुख को मिटाने के लिए हम क्या उपाय करेगे। यह भेद जीव नही जानता, अर्थात जीव को यह विचार नही कि जिस दुखदायी अध्यासो को भुलाने के लिए विवेक-रहित पचभोगो के व्यापार मे हम लगते हैं, वे ही पुन· अध्यासरूप से पुष्ट होकर हमे फिर कष्ट देवेगे, यह बन्धन का भेद न जानकर बारम्बार सम्मुख अध्यासो को भुलाने के लिए जिस किसी भोग-व्यसन मे बारम्बार निरर्थक धॅसते जाना और उन दुखो से छुटकारा न होना यही आदत का स्वरूप है॥ १३३॥

भूलि जात जहॅ लक्ष्य को, तदगत होय निवास।
दुख झूला बिश्राम लहि, गुनि मानन्दी भास॥ १३४॥

टीका—जिस किसी विषय-भोग मे जुटने से चली हुई वृत्ति को जीव भूल जाता है और उसमें तन्मय होकर ठहर जाता है उसी को सुख निश्चय करके गुनावन करते हुए वही भास दृढ कर लेता है। बारम्बार सुख गुनावन करके पॉचो विषयो मे प्रवृत्त होकर तद्गत हो जाता है, तद्गतता से सुख गुनावन, सुख गुनावन से फिर चचलता, फिर चचलता के मिटाने हेतु विषय-क्रिया, इस प्रकार बारम्बार करते रहने से इसी के अन्दर इच्छा, क्रिया, विवशता आदि सब दुख सिमिट आते है, यही दुख का झूला जानना चाहिए। पर शक्तिहत होकर विवशता से इच्छा भूलने मात्र में विश्राम मानकर उसी दुख झूला मे सुख ही गुना करता है जिससे कि अनादिकाल से दुख पाते हुए भी पुन·-पुन· भूल-वश विपरीत मानन्दी से सुख-भास, सुख-प्रतीत करता रहता है। इससे दुख का झूला कहा गया। इसे आगे की साखी से मनन करे॥ १३४॥

सर्ब दुखन को मूल है, जगत रूप सो नृत्य।
सुख का यही स्वरूप है, बना जीव तेहि भृत्य॥ १३५॥

टीका—ऊपर कही हुई सुख भावना सुख निश्चयता ही सर्व दुखो की जड है और वह सुख प्रतीत ही जगत का स्वरूप है जो वेश्यावत जीव के सामने नृत्य कर रहा है। यही सुख-भ्रम का स्वरूप है। वस्तुत. सुख न जड है न चेतन। भ्रम से मानन्दी करके प्रतीति मात्र है, उसी का जीव अनुचर बन रहा है। सुख सापेक्षिक भ्रममात्र है, इसका विस्तार प्रकरण 'इच्छा परीक्षा' के 'भोग सुख मिथ्या प्रसग' मे कह आये है वहॉ से मनन कर लीजिए॥ १३५॥

प्रसंग ९—जीव और वासनाओं की पृथकता

पार बासना जीव है, शुद्ध स्वरूप सो आप।
यहि ते मोह न बनि सकै, बिना भूल भ्रम थाप॥ १३६॥

टीका—जीव दिल में टिकी वासनाओ का जनैया होने से वासनाओ से न्यारा है। इससे सर्व जड वस्तुओ से बेलाग है, शुद्ध स्वरूप नित्य असग अपने आप है। जब जीव ऐसा है तो मोह करने का कोई प्रयोजन ही नही रह गया। सबसे न्यारा शुद्ध स्वरूप होते हुए भी यदि

जीव बाहरी तरफ मोह करता ह तो अपने सत्यस्वरूप का विस्मरण करके ही। क्योंकि दिगभ्रमवाला ही विपरीत मार्ग चलता ह। जीव नित्य प्राप्त, नित्य तृप्त स्वरूप को भूल कर ही सवमे मोह बाँध कर विविध बन्धन को प्राप्त हो रहा है॥ १३६॥

सुख माने विन मोह नहि, कर मानन्दी आप।
द्रष्टा तेहि को रहत सांइ, करत जो वहि को जाप॥ १३७॥

टीका—सुख मानन्दी विना मोह नही होता आर सुख मानन्दी करनेवाला आप चेतन जीव ही ह, फिर तिन मानन्दियो का द्रष्टा भी अपना ही ह ओर मानन्दियों का वारम्बार स्मरण करनेवाला भी आप ही ह। इन युक्तियो से स्पष्ट हुआ कि चेतन जीव सर्व जड मानन्दियो मे पृथक शुद्ध पारखम्वरूप अपने आप है। अत मोह करने का कोई हेतु ही नहीं ह॥ १३७॥

द्रष्टा दृश्य न ह्वै सकै, लहि मानन्दी बोझ।
लदति रह उतरति सोई, ह्वै मानन्दी सोझ॥ १३८॥

टीका—द्रष्टा कभी दृश्य नहीं होता ह, क्योंकि वह दृश्य को देखनेवाला ह। यदि द्रष्टा दृश्य मे आ जाय तो द्रष्टा कर्म हो सके आर मानन्दी तो द्रष्टा के सम्मुख दृश्यमान हो रही ह, इसलिए द्रष्टा के स्वरूप मे सर्व मानन्दी पृथक है। फिर भी द्रष्टा ने ही भूल-वश सव प्रकार की मानन्दीरूप वोझ लाद लिया ह। जो मानन्दी जीव के सोझ नाम सम्मुख दुखरूप देखने में आ जाती ह उस मानन्दी का वह त्याग भी कर देता ह। इस प्रकार सव मनुष्य सुख जानकर मानन्दी का ग्रहण आर दुख जानकर उसका त्याग कुछ न कुछ करते ही रहते ह। इससे स्पष्ट हो गया कि सर्व मानन्दियो से जीव पृथक ह, शुद्ध स्वरूप है। अगर भूलकृत सर्व मानन्दी परखकर त्यागे तो शुद्ध स्वरूप स्वय स्थित हो सकता ह॥ १३८॥

भास मात्र कल्पित सोई, घडी कूक सम चाल।
घटति घटाये जात बढि, जस पुरुषारथ पाल॥ १३९॥

टीका—कल्पना मे उत्पन्न होने के कारण सुख-मानदी प्रतीत मात्र ह। घडी कूक के समान भ्रम-वश जसा कुछ द्रष्टा ने इन्द्रियो द्वारा देख-सुनकर अत करण में मानन्दीरूप वेग भर दिया, वसा ही स्मरण हुआ करता है। सर्व स्मरण ही मानन्दी के स्वरूप ह, वे सव स्मरण घटाने से घट जाते हैं आर वढाने मे वढ जाते ह। जसा सुसग-कुसग द्वारा शुभाशुभ पुरुषार्थ जीव ने धारण कर लिया, वेसा ही कूक भर जाने मे वही वात उसके अत करण में विशेष रूप सामने हुआ करती ह। जसे—

कवित्त

पहिले तो जगत की वासना उठत रही, धनवृद्धि कुलवृद्धि सुन्दरी प्रसग मे।
भाँति-भाँति खेल अलवेल टाट वाटन मे, वही क्रिया सग वर प्रीति हूँ के जग मे॥
अव तो पारख प्रभु मिलते ही आँख खुली, सव कुछ त्यागने को हर्षयुत रग मे।
सर्व सत साधन को वेग भरि गयो अव, पूर्व सव वासना निवृत्ति भई चग मे॥ १॥
कामिनी को सग कर काम वेग भरि जात, क्रोधिन को सग कर द्वेष ही वढाइये।
लोभिन को सग कर लाभ ही प्रवल होत, ऐसे जोई सग कर वो ही भाव भाइये॥

वासना को साधक आ बाधक प्रथम सग, पुनि निज ध्येय भाव साथ ही समाइये।
जग-मग गुरु-मग दूनो ओर जेसो भाव, वेसे ही तो वृत्ति बनि बन्ध मोक्ष पाइये॥ २॥

इससे यदि हमे दुर्वासनाओ से पीछा छुडाना हो तो गुरुमार्ग के पुरुपार्थ मे विलीन होना चाहिए॥ १३९॥

काम क्रोध आ लोभ तस, सुखहिं मानि गढि लेय।
सब दुख बरबस ताहि मे, सहत तजत नहि तेय॥ १४०॥

टीका—कामवृत्ति, क्रोधवृत्ति ओर लोभवृत्ति अपनी ही भरी कल्पित कूक मे सुख मान-मानकर बना ली गई ह। वही काम, क्रोध, लोभवृत्ति मे न चाहते हुए सब प्रकार के भोग, रोग, शोग आदि तापरूप भार सहते हुए भी उन वरियो का त्याग नहीं करता। इसी का नाम अज्ञान, भूल, भ्रम हे कि जो सदा स्वतत्त शुद्ध स्वरूप होते हुए भी मनमाने वन्धन बनाकर अपनी खुशी से परारे वश मे नाच रहा ह। अत जिज्ञासुजन जागे ओर गुरुमार्ग मे लागे, क्योंकि—साखी—"वो तो वेसा ही हुआ, तू मति होहु अयान। वो निर्गुणिया तै गुणवन्ता, मति एकहि में सान॥ मरि गये सो मरि गये, वॉचे बॉचनहार"॥ बीजक॥ ॥ ४०॥

प्रसग १०—मुक्ति-साज

हानि लाभ दुख सुख नही, मिलन बिछोह न चाह।
क्षुधा तृपा निद्रा नही, घट बढ पार सदाह॥ १४१॥

टीका—हानि-लाभ, दुख-सुख, मिलना-विछुडना किसी प्रकार की कामनाएँ सब मानसिक उपाधियॉ, भृख-प्यास, निद्रा आदि तीन अवस्थाएँ, क्षीणता ओर वृद्धता, इन मबो से जीव का स्वरूप मदव पृथक, स्वत , स्वतत्त, निराधार तथा अखण्ड है॥ १४१॥

जन्म मरण बचपन तरुण, बृद्धापन सब देह।
नारि पुरुप चव खानि तन, मानि मानि दुख येह॥ १४२॥

टीका—जन्म, मृत्यु, बाल, युवा और वृद्ध ये सब अवस्थाएँ देह के धर्म हैं और जहाँ तक स्त्री-पुरुप चार खानियो के चिह्न दिखाई दे रहे हे सो सब देह का स्वरूप है। जड देहो को चेतन अपना ही स्वरूप मान-मान कर दुखी हो रहा हे। देहो से हे तो अपना भिन्न, परन्तु भूल-वश मै स्त्री-पुरुष, काला-गोरा, छोटा-मोटा इत्यादि शरीराभिमान लेकर मानन्दी-वश कष्ट पा रहा हे। श्री पूरण साहिब भी कहे ह—

"चा०—*भिन्न अछत अरु जानत नाही। मानि मानि बन्धन के माही॥*
माने सो बन्धन सब आहीं। ताते जीव बहुत दुख पाही॥
मानि मानि बन्धन तर आवा। निज करतव मे आपु बॅधावा॥

दोहा—*जस सुवना ललनी फॅद्यो, कीट कुस्यारी मॉझ।*
ऐसी गति या जीव की, भई दिवस ते साँझ"॥ १४२॥

काम क्रोध मद लोभ गत, शोक मोह भय पार।
दावानल ममता नही, सब उधमज ससार॥ १४३॥

टीका—अपना चेतन स्वरूप काम, क्रोध, लोभ, अहकार, शोक, मोह, तथा भय से पृथक है। वडे वन मे लगी हुई प्रचड अग्नि के समान सम्पूर्ण उत्पात और ससार का स्वरूप जो ममता है वह भी शुद्ध स्वरूप में नहीं है॥ १४३॥

याहि होत अध्यास जब, मानि क्रिया जो कीन।
याही तन सम्बन्ध है, मन मानन्दी लीन॥ १४४॥

टीका—अपने परम पवित्र शुद्ध स्वरूप को भूलकर इन्द्रिय आवरण-वश सुख मान-मानकर जो भोग क्रिया कर लिया गया है, वही सर्व वासनाएँ बीजवत सस्काररूप मे टिक गई हैं। वे ही हर क्षण स्मरण होती रहती हैं। यही वासना या अध्यास मात्र जीव और देह का सम्बन्ध देखने में आ रहा है। देह-साधन-द्वारा माने हुए संकल्पों को जीव धारण कर बार-बार मन-इन्द्रियों में सत्ता दे उन्हे चालू किये रहता है और सदैव उनकी सुखमानन्दी अत करण में बनाये रहता है॥ १४४॥

नहीं प्रयोजन काहु से, बिना देह प्रारब्धि।
सुख आशा दुखलत लिये, सो भूलहिं की अब्धि॥ १४५॥

टीका—यदि प्रारब्धरूप देह का सघटन न हो तो किसी से कुछ आवश्यकता ही नहीं है। जो जगत मे सुख-भोग की आशा कर रक्खा है वह दुखरूप आदत का ही स्वरूप है। सुख की आशा और दुखपूर्ण आदत तभी तक जीव ग्रहण करता है, जब तक भ्रम-अज्ञान को ग्रहण करता है। जहाँ स्वरूपज्ञान द्वारा अज्ञान नष्ट किया गया वहाँ सुखाशा और दुखपूर्ण आदत छूट जाती है॥ १४५॥

जड जड एका भूत हैं, शक्ति धरम गुण भिन्न।
याही ते संयोग तहँ, कारण कारज तिन्न॥ १४६॥

टीका—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चारो जड है। चारो की जड जाति एक है और उनमे शक्ति, धर्म, गुणो की पृथकता है, इसलिए उनमे स्वाभाविक सयोग-सम्बन्ध बना रहता है। सबो का परस्पर मिलान और जडता की एकता तथा गुणो की पृथकता होने ही से जड तत्वो मे प्रत्यक्ष कारण और कार्य होते रहते है। "वर्षा शिशिर धूप तत्वो से होते। तत्वो मे आसक्त हो जीव रोते" ॥ १४६॥

जड जड एका जीव नहि, दृश्य दृश्य नहि ओउ।
द्रष्टा दृश्य के पार है, यहि ते योग न होउ॥ १४७॥

टीका—जसे चार तत्वो के गुण-धर्म भिन्न-भिन्न होते हुए भी जड जाति मे उनकी एकता है, वसे जीव की जड के जातीय पक्ष मे एकता नहीं है। जसे जड तत्व इन्द्रियो द्वारा दृश्य होते हैं, वसे चेतन जीव इन्द्रियों द्वारा देखने मे नहीं आते, क्योकि दृश्य जड का और तिनके गुण-धर्मो का चेतन जीव देखने वाला, अनुभव करने वाला है, वह सर्व दृश्यो से सर्वांग पार है, पृथक है। इसलिए चेतन जीव और जड तत्वो का सत्य सम्बन्ध नहीं है, मात्र भूल, भ्रम, मानन्दी से सम्बन्ध हो रहा है॥ १४७॥

सो तो स्वय प्रतक्ष है, निकट वस्तु नहि सग।
कोस हजारन की खटक, जाहि स्मरण हंग॥ १४८॥

टीका—चेतन का जड़ देह में मानन्दी मात्र ही सम्बन्ध है यह बात सबको प्रत्यक्ष अनुभव है। समीप वाले प्राणी-पदार्थों में सुख-मानन्दी न हो तो उनके बिगड़ने में कुछ खटक नहीं होती और यदि हजारों कोस पर किसी वस्तु या मनुष्य में सुख-मानन्दी लगी रहती है और वहाँ से उसकी मृत्यु या कोई भी हानि का समाचार सुन पड़े तो शीघ्र ही दुःख दर्द होने लगता है। इससे स्पष्ट हुआ कि मानन्दी न होने से समीप की वस्तु से भी कुछ सम्बन्ध नहीं, और मानन्दी होने से हजारों कोस पर रही वस्तु का सम्बन्ध लिये रहता है। इससे जाना जाता है कि जीव और जड देह का मानन्दी या विषय सुखों की सूक्ष्म सत्ता मात्र ही सम्बन्ध है॥ १४८॥

दृष्टांत—पडोस के दो युवक पुरुष दूर देश में द्रव्य कमाने गये थे। कुछ समय के बाद एक तो मतवाले हाथी से दब कर मर गया। दूसरा खूब द्रव्य कमाकर आने वाला था। इतने में कोई तीसरा मनुष्य वहाँ से आकर उन दोनों के घर में उलटा सन्देश कह दिया। जिसका पुत्र बहुत द्रव्य लेकर आता था उससे कह दिया कि तेरा पुत्र मस्त हाथी के पैर के नीचे दब कर मर गया। इतना सुनते ही उसके माता-पिता, स्त्री, आदि छाती पीट-पीटकर रोने लगे। और जिसका पुत्र मर गया था उससे कह दिया कि तेरा पुत्र खूब धन कमाकर रेलगाड़ी द्वारा आ रहा है। इतना सुनते ही उसके स्त्री-पुत्रादि को बड़ा हर्ष हुआ, रोम-रोम में प्रसन्नता व्याप्त हो गई। अब देखिए! दोनों को मानदी और निश्चय द्वारा ही सुख-दुख हुए। इतने में मृत्यु मानदी वाले का युवक पुत्र धन लेकर आया और दूसरे के मरने का ठीक-ठीक वृत्तान्त कह सुनाया। अतएव जो रोते थे उनको अपार आनन्द हुआ तथा जो हर्षित हो रहे थे वे अपने प्रिय की मृत्यु सुनकर हाय-हाय कर रोने लगे। इस प्रकार जीव का मान्यता मात्र ही सबसे सम्बन्ध है।

> निराधार　कारण　रहे, कारज　ताहि　अधार।
> कारण　कारज　पार　जो, सो　न　देय　केहु　भार॥ १४९॥

टीका—भूतल, सूर्य, वायु आदि कारण तत्त्व अपनी-अपनी अनादि शक्ति से निराधार ठहरे हैं और घर-घडा, बीज-वृक्षादि सम्पूर्ण कार्य कारण से बने हुए हैं, इसलिए अपने कारण के आधार में रहते हैं और जो कारण भी नहीं और कार्य भी नहीं, दोनों का द्रष्टा मात्र ज्ञानस्वरूप है वह किसी को भार नहीं देता। भाव यह है कि अपने ठहरने के लिए चेतन जीव किसी का आधार नहीं लेता॥ १४९॥

> निराधार　यहि　हेतु　से, अविचल　जीव　स्वताह।
> विवश　वासना　भ्रमत　नित, ताहि　तजे　थिति　माँह॥ १५०॥

टीका—कारण-कार्य-रहित होने से चेतन जीव स्वरूप से ही निराधार है, अविचल है, अपने आप स्वयं है। वह मात्र विषय-वासना रख कर भटकता रहता है और वासना को त्याग देवे तो सदा के लिए अपने आप ही स्थित हो रहे॥ १५०॥

> भूत　शक्ति　से　भूत　जस, ठहरि　रहे　त्रय　काल।
> स्वय　शक्ति　से　जीव　सब, निज　निज　देश　रहाल॥ १५१॥

टीका—जैसे तत्त्व अपनी-अपनी अनादि शक्ति से भूत, भविष्य, वर्तमान में ठहरे रहते हैं, उसी प्रकार जीव भी स्वयं शक्ति से अपने-अपने स्वरूप देश में निराधार हैं। "कारण", देश

नित्य तत्वो का। ज्ञान देश अगणित जीवो का"। जैसे जड तत्वो का अनादि नित्य देश (स्वरूप) परमाणु हैं, वैसे अनेक जीवो का देश (स्वरूप) नित्य ज्ञान मात्र है। दोनो अपनी-अपनी शक्ति से ठहरे हुए है॥ १५१ ॥

क्रिया स्वभाविक भूत जड, बिन मानन्दी चाल।
ज्ञान स्वरूप सो जीव हैं, भूल लखे मन टाल॥ १५२॥

टीका—जड तत्वो मे स्वभाव से चाल है। वे हानि-लाभ की मानन्दी ग्रहण करके ज्ञान द्वारा क्रिया नहीं करते। "नफा और नुकसान का है न ज्ञाता। कहीं सूख जाता कहीं बाढ़ आता" निर्म०॥ यह जड़तत्वो की दशा है। जीव तो जड से भिन्न ज्ञानस्वरूप है। सो निज स्वरूप की भूल मे ज्ञान-मानन्दी द्वारा इन्द्रिय साधन लेकर सर्व क्रिया करता है। "इच्छाशक्ति युत क्रिया अनेका। चलब बैठब आदिक देखा॥" जीव जन्म-मरण, गर्भ-वास, बाल, युवा, वृद्ध, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति आदि क्रियाएं भूल-वश देहोपादि द्वारा मानन्दीयुक्त धारण किये हैं। यदि भूल-मानन्दी परख कर त्याग देवे तो मनोनाश के पश्चात शुद्ध स्वरूप रह जाता है॥ १५२॥

ज्ञान धर्म गुण शक्ति है, आ अकार वहि होत।
अन्य भेद होवे नही, जानहिं जान रहोत॥ १५३॥

टीका—जीव मे ज्ञान धर्म, ज्ञान गुण, ज्ञान शक्ति, ज्ञान आकार, ज्ञान रंग, ज्ञान ही स्वरूप है। ऐसे चेतन स्वरूप मे तत्वो के समान गुण-धर्मो के भेदयुक्त[1] स्वाभाविक क्रियादि उपाधि नहीं है। आप सर्व का जनैया केवल जान मात्र है। श्री पूरण साहिब ने कहा है—"जानहि मात्र जीव है सोई। जानते अधिक और नहि कोई"॥ १५३॥

बिन माने सुख भोग मे, नहि जड गुण के साथ।
तन इन्द्री मन साथ नहिं, दुख सुख पार सनाथ॥ १५४॥

टीका—भोगों से सुख निश्चयता और सुख मानन्दी हटा देने से प्रारब्धांत मे जड पाँच विषययुक्त चार तत्वो मे जीव का कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। जब पाँच विषययुक्त चार तत्वो से जीव का सम्बन्ध ही नही, तो देह, इन्द्रिय, मन का वहाँ कहाँ ठिकाना। जहाँ देह, इन्द्रिय और मन नही, वहाँ दुख-सुख कैसे। अत. इन सब विकारो से पार सदा नित्य तृप्त, नित्य शुद्ध चेतनजीव अपने आप ठहर जाता है॥ १५४॥

कहँ मानन्दी कहँ भूल है, कहँ दुख अपन परार।
मिलन बिछोह न ताहि मे, जानि जनावन पार॥ १५५॥

टीका—पूर्वोक्त निर्णय से जब जडतत्व और तन-मन सबमे निराला चेतन जीव सदा शुद्ध स्थिर रह गया, तो फिर मुक्ति-स्थिति मे नाना मानन्दी ओर किसी भी प्रकार की भूल तथा

---

१ जैसे जल मे ठंडकता होना, पिंड बाँध देना, रस गुण होना, बहने की क्रिया होना और अन्य तत्वो से संयोगवान होना इसके भेद है। वैसे अन्य तत्व भी अपने-अपने गुण-धर्म-शक्ति भेदो से युक्त हैं। जैसे इन जड-तत्वो में भेद है वैसे चेतन जीवो मे नहीं। चेतन मात्र ज्ञान स्वरूप है, अत वह कारण-कारज से रहित अखण्ड है।

दुख और अपने-पराये झगडो का लेश भी नही है, मिलने-बिछुडने की उपाधि भी नही है और दृश्य-पदार्थो को मानन्दीयुक्त जानना-जनाना भी नही है। श्री काशी साहिब ने कहा है—

चौपाई

तन अरू जड वस्तु रही अनेका। तिनके साक्षी नर सब देखा॥
विदेह मुक्त हस जब होई। साक्षी भास[1] जड छूटै सोई॥
रवि के पास कभी तम नाही। स्वय प्रकाशी सदा रहाहीं॥
मुक्त चेतन तस अकेला तहिया। परख प्रकाश स्वरूपहि रहिया॥
मुक्ति मे देहोपाधि नशाई। स्वय ज्ञानयुत हस रहाई॥ १५५ ॥

जाहि समय कुछ यादि नहिं, ताहि समय दुख कौन।
मन मानन्दी भार गत, सोई मोक्ष सुख भौन॥ १५६॥

टीका—जिस समय कुछ स्मरण नही होता, उस समय क्या दुख है। थोडा भी जॉच करने से अनुभव हो जायेगा कि स्मरण के बिना कोई भी दुख किसी को मालूम नही होता। दुख का हेतु याद, स्मरण, चिंतन ही है। किसी अग का चीर-फाड करते समय बेहोश कर देने पर स्मरण न होने से उसका किंचित दुख जीव को नही मालूम होता। सुषुप्ति मे भी वही हाल है। अनेक सुखद मानी हुई वस्तुएँ अपने को अप्राप्त हे, उनका स्मरण जब तक सम्मुख नही हे, तब तक उनके बिना कोई दुख-द्वन्द्व नही होता। इससे स्पष्ट हुआ कि दुख-द्वन्द्व का हेतु स्मरण ही है। वह स्मरण मानन्दीयुक्त अत करणरूप साधन-द्वारा होता है। जब सर्व मानन्दियो को परख करके दग्ध-बीज के समान अभाव करते हुए प्रारब्धान्त हो गया, तब शुभाशुभ मन-मानन्दी स्मरण-चिंतनरूप बोझा से रहित होकर चेतन शुद्ध पारखस्वरूप निराधार अचल स्थित हो गया, यही मुक्तिसुख जानना चाहिए। जेसे कोई सिरतोड बोझा लादकर दुखी होता हो। उसे अन्य कोई कह दे कि तू क्यो व्यर्थ बोझ लाद रहा हे। बोझा लादने की कोई आवश्यकता नही। तू सब प्रकार से पूर्ण तृप्त हे। ऐसा सुनते ही उस बोझा को डालकर वह अनन्त सुख को प्राप्त होवे। तद्वत मन-मानन्दी, स्मरणो के बोझा से जीव गरुआ रहा है, दुखी हो रहा है। इतने मे पारखी गुरुदेव से भेट भई। आप कृपा करके सम्पूर्ण बोझा गिरवा दिये। इस प्रकार जीवन्मुक्ति मे दुख छूटने का अनन्त सुख अनुभव करते हुए जीव देहात मे विदेहमुक्त हो जाता हे, तब उसमे दुख का लेश नहीं रह जाता। देहोपाधि दुख छूटने की अपेक्षा वह सुखरूप कहा जाता हे। वस्तुत सुख-दुख हर्ष-शोक आदि उपाधि से रहित अपना स्थिर पारख-स्वरूप रह जाता हे। क्योंकि सुख की प्रतीति दुख की अपेक्षा से होती हे। जहॉ दुख का लेश नही, वहॉ स्वरूपस्थिति ही हे। सुख कोई चीज नही। मात्र स्मरणों मे दुख होता है। उसी को हटाना सुख हे॥ १५६ ॥

सुख आशा जड भाव तजि, देह क्रिया व्यवहार।
पूर भोग प्रारब्धि को, स्व स्वरूप निरुवार॥ १५७॥

---

१ साक्षी भास का अर्थ ह इन्द्रिय, अन्त करण साधन-द्वारा जानने-जनाने का वाह्य [illegible]। [illegible] मे देहोपाधि मानन्दी न होने से वाह्य [illegible] न होकर अपने आप शुद्ध निरुपाधि [illegible]

टीका—इन्द्रिय-विषयों में सुख की कामना स्त्री विषय की सुखासक्ति, तथा देह, गेह, कंचन आदि पदार्थों की प्रियता को त्यागकर खाना-पीना, चलना-फिरना, सोना-जागना, बोलना इत्यादि आवश्यकीय शरीर निर्वाहार्थ क्रिया करके साथ ही जीवन्मुक्ति के जितने कर्तव्य हैं सबों को सदा[1] धारण कर जब प्रारब्ध भोग पूर्ण कर दिया जाता है तब जडग्रन्थि से पृथक सदा के लिए चेतन अपने आप विदेहमुक्ति में निराधार अचल स्थिर रह जाता है। अतः सर्व दुख द्वन्द्व निवृत्ति के लिए अचल स्थिति बनाना चाहिए॥ १५७॥

प्रसंग ११—स्थिति रहस्य

शासन रहित अमान चित, ज्ञान विराग सहन्त।
हित उपदेश बतावहीं, सुख दै दुखहिं दहन्त॥ १५८॥

टीका—स्थितिवान पुरुष किसी पर शासन नहीं करते। वे जोर, जुल्म एवं जबरियन करके किसी से सेवा, पूजा तथा शरीर-सुखों की वांछा नहीं करते। वे अपने को प्रारब्ध दुख के बीच में देखकर तथा अखण्ड स्वरूप के बाद सर्व ऐश्वर्य अलग जानकर अभिमान गलित करते हुए चित्त में निर्मानता धारण करते, जड और चेतन का यथार्थ बोध प्राप्त करते, पंच विषय सुखों के स्नेह रहित वैराग्य गहते, वैर-प्रेम, अनुकूल-प्रतिकूल आदि को क्षमा और वैराग्य ढाल से रोककर सहन कर लेते, उनमें आसक्त होकर अपना मार्ग नहीं छोडते, सबके कल्याण की शिक्षा करते, सबको संतोषजनित सुख देकर उनके दुख रूप तृण को जला देते हैं॥ १५८॥

---

१ जैसे फाँसी के अपराधी को आज चीफकोर्ट से फैसला हो गया कि तुम्हारी फाँसी नहीं होगी, वह अपार सुख अनुभव करते हुए टिकट कटाकर गाडी में बैठ गया। उस समय उसे शहर भर के दुख-सुख का स्मरण तक नहीं होता, अपनी फाँसी से छूटने का ही सुख स्मरण होता रहता है। पश्चात कब घर पहुँचूगा, कब घर पहुँचूगा, ऐसी भावना में डूबते हुए डाकगाडी वेग से आकर अपने शहर के स्टेशन पर खडी हुई। वह बडी प्रसन्नता से अपने घर पहुँचकर अनुपम सुख को प्राप्त हो जाता है। तद्वत जगत-कामना के अपराध से जीव को बार-बार जन्म-मृत्यु, विषयासक्ति की फाँसी हो रही है। इतने में श्री गुरुदेव फाँसी की परीक्षा कराकर उससे छुडा लिये। फाँसी-रहित सतमार्ग सुझा दिये, तब हम मोह रहित शांति डिब्बे में बैठ कर जगत से मुख फेर जीवन्मुक्ति पथ में निर्भय चलते हुए विदेहमुक्ति की दृढ भावना कर रहे हैं। विदेहमुक्त शुद्ध पारखस्वरूप का बारम्बार चिंतन-मनन में दिन बिताते हुए रात्रि को सोते समय राग-द्वेषादि उपाधि का न ख्याल कर मात्र स्वरूप प्राप्त का ख्याल, अनुपम शांति, गुरु उपकारिता का स्मरण करते हुए अन्तिम अवस्था जानकर शांत होना चाहिए। पुनः जब जागृति हो तब निश्चय करे कि मेरा मानो स्वरूपस्थिति, सत्साधन और जीवन्मुक्ति के रहस्य दृढ करने के लिए जन्म हुआ है। यह सद्रहस्य का प्रथम दिन है। इस प्रकार नित नव चाव-चपट धारण कर हम अपनी स्थिति करके सदा के लिए दुख रहित हो जावें। "चेतवा होय तो चेत ले, नहि तो दिवस परतु है धार" ॥ बीजक॥ छन्द—"ज्यो घट उतारे पर भि पूरव वेग चाक घुमन्त है। ज्यों शुष्क पत्ता वायुवेग में देखिये भरमन्त है॥ ज्यो बीज दग्ध अकार लखि तउ अंकुरो तेहि हन्त है। त्यो विवेक विरागयुत प्रारब्ध बुध निवहन्त है॥"

करि सतुष्ट सो ताहि को, तन निर्बाहहिं लेत।
मन बच कर्म सो काहि को, दुख कबहूँ नहिं देत॥ १५९॥

टीका—मनुष्यो को ज्ञान-दान देकर अपने सतोष-नैराश्य आदि सद्-रहस्यो द्वारा उन्हे सुखी करते हुए उनसे शरीर निर्वाह लेते है,[१] मन से, वचन से और अपने आचरण द्वारा किसी भाँति किसी को दुख नही देते॥ १५९॥

दृष्टांत—एक भक्त था। उसके यहाँ सब प्रकार के सत आया करते थे। वह विशेषत विवेकी सतो की ही उपासना करता था। उसे सत और असत की पहिचान थी। एक बार उसके यहा एक भेषधारी साधु आये जो कि बडे ज्ञानी बनने का दावा रखते थे। भक्त ने यथोचित प्रणाम-बन्दगी किया। साधु अपने विशेष पढने और पूर्वाश्रम के ऐश्वर्य और महत्ता को बखानने लगे। भक्त ने मन मे सोचा कि इन महात्मा के सब कथन का भाव यह हुआ कि मेरे को सबसे श्रेष्ठ समझे, परन्तु यथार्थ सत केवल कथन से अपनी श्रेष्ठता नही जनाते, बल्कि अपने श्रेष्ठ रहस्य द्वारा सब से सम्मानित होते हे। अच्छा! आगे देखे कैसा रहस्य है!

इतने मे स्नान का समय आया। साधु ने प्रेरणा की कि मेरे अगो मे खूब तेल मालिश कर, फिर साबुन और गरम जल से मुझे स्नान करा। ऐसी याचना करते ही भक्त को ज्ञान होने लगा कि इनमे स्थितिवान के लक्षण नही है। मै स्थितिवान का पुजारी हूँ, न कि तृष्णालु अविवेकियो का। भक्त ने कहा—आप ही स्नान कर आवे। स्नान के पीछे जब प्रसाद बनाने का समय आया तब उसने आटा-दाल लाकर रख दिया। यह देख साधु ने कहा—तू सतो का सेवक होकर इतना निरादर कर रहा है! इसके साथ शाक और घृत तथा दूध तो है ही नही, इसके बिना मै केसे भोजन ग्रहण कर सकता हूँ। भक्त ने कहा—जो कुछ मेरी श्रद्धा है वह सब आपके सामने हाजिर है। भेषधारी ने मारे क्रोध के आटा-दाल ढकेल दिया।

भक्त ने कहा—चाहे जो कुछ करे, अब आपको आगे कुछ नहीं प्राप्त होगा। भेषधारी ने कहा—तू जानता हे मै कितना विद्वान और विवेकवान हूँ? जो तू प्रश्न करे वह उत्तर देने मे मैं समर्थ हूँ। भक्त ने कहा—बताओ, वैराग्य के क्या लक्षण होते हैं? उसने कहा—चल-चले बगुला भगत! मैंने तेरी सेवकाई देख ली। भक्त ने कहा—जैसा आपने मुझको देख लिया वेसा मैंने आपको भी देख लिया। हम और आप दोनो बराबर हो गये। साखी—"साहेब-साहेब सब कहे, मोहि अँदेशा और। साहेब से परिचय नही, बैठोगे केहि ठौर॥" आप शरीराध्यास से बिलकुल जकडे हे, आपको जरा भी सतोष नहीं है, आपका पढना-लिखना सब कसबिन के समान है। "ज्यों वेश्या निज कसबै ठानै। औरन ते वैराग्य बखाने।" ऐसे ही आपकी दशा है। आप पूजने योग्य नहीं, वाक्य मात्र से भी सम्मान के योग्य नही है। भेषधारी ने कहा—मे अमुक-अमुक जगह गया था, विशेष-विशेष पूजा पाया था, अब तुझ जेसे प्रेमी से क्या कहूँ। भक्त ने कहा—ठीक ह, आपके न कहने मे ही भलाई हे, आपका आगमन मेरे शोक-सताप का हेतु हो रहा है। अत आप यहाँ से शीघ्र पयान करे तो मेरा भाग्य खुले। आप जैसे वचक-

---

१ ज्ञानवान का निश्चय हे—दोहा

श्रद्धा की मकुनी भली, जो परमै चितलाय। परसत मन मैला कर, सो मेदा जरि जाय॥
विन माँगे मो दूध बरोबर, माँगे मिले सो पानी। कहें कवीर सो रक्त वरोवर, जामे ऐंचातानी॥

दम्भी भेषधारियो ने ही सच्चे विरक्तों के पूज्यभाव मे कलक लगाया है। विरक्तो के ये सब लक्षण नहीं ह। वे शरीर सुख के हेतु किसी से दूध, घृत, साबुन, तेल आदि उत्तम पदार्थों के लिए रगडा-झगडा नही करते। उन्हे सतोषयुक्त यथाप्राप्ति में प्रसन्नता होती हे। सच्चे वैराग्यवान अपनी विशेषता भी प्रगट नहीं करते। इन बातो को सुनकर बनावटी भेषधारी चला गया। ऐसे आचरण स्थितिवान सत कभी नही धारण करते। इसी से वे सब प्रकार से पूज्य होते ह। सज्जनवर्ग अपने कल्याण के लिए रहनी सपन्न सतो की अपने प्राण के समान सेवा करके कृतार्थ होते हे।

वेर करत नहिं काहु से, वन्धन प्रीति को तोडि।
ततपर रहत विराग के, जग भोगन मुख मोडि॥ १६०॥

टीका—कोई उनकी हानि करे, उन्हे सतावे, कटु बात कहे, तो वे उसके साथ वेसा नहीं करते, वे सदा शत्रु का भी हित ही चाहते ह। मनुष्य तो मनुष्य ही हे, वे अन्य सर्प-बीछी आदि घातक जन्तुओं के भी विनाश की भावना नही रखते। जो उनसे प्रीति करते ह, वे उनकी प्रीति के वश होकर बेभान नही होते। प्रेमियो के मोह मे ही सर्व बन्धन खडे हो जाते हें। प्रेमियो के मोहरूप रस्सी से बधा हुआ ससार प्रत्यक्ष जन्ममरण के पाश मे पडा हुआ हे। इसमे मोह-बन्धन को तोडकर स्थितिवान सबसे निर्बन्ध रहते ह। वे वराग्य के रहस्य पालन ही मे तत्परता के साथ प्रयत्नवान रहते ह, जगत के सुख भोगों से मुख मोडे रहते ह, उधर मन नहीं जाने देते॥ १६०॥

प्रीति वैर यमजाल हे, तेहि वश जीव बेहाल।
ताहि जीति गुरुबुद्धि ल, सुखिया साधु सुचाल॥ १६१॥

टीका—राग आर द्वेष दोनो यमजाल ह, जगत के सर्व दुखों मे फँसाने के ताना-बाना हें। इन्ही राग-द्वेष के ताना-बाना मे फँसकर सब जीव कष्टित हो रहे ह। सत गुरुज्ञान से राग-द्वेष का छेदन कर सत्कर्तव्य, सतोष, समता आदि शुद्ध व्यवहार द्वारा सदा सुखी रहते ह॥ १६१॥

अन्धकार मन मोह तजि, चहत न मन मे मान।
मान चाह दुख मूल हे, छूटि स्ववशता जान॥ १६२॥

टीका—दास-दासी, नर-नारी, कुल-कुटुम्बादि प्रेमियो आर धन-जमीनादि नश्वर पदार्थों का मोह घोर अँधेरी रात्रि के समान ह। मोह मे पडकर स्वरूपज्ञान और रक्षक सतोषादि की धारणा नहीं सूझती। अत. वे बन्धनमूल मोह को त्याग देते ह आर सासारिक मान-बडाई की इच्छा नही करते। जगत्पूज्यता या बडाई की इच्छा दुख हेतु हे। जहाँ चाहना हुई वहाँ स्वतत्रता गई। मान-चाह मे लोक-रिझाने की फिक्र, उसमे व्यवहार की वृद्धि, व्यवहारवृद्धि से राग-द्वेष वृद्धि, उससे प्रमाद, प्रमाद मे सत्सग, विचार, गुरुदेव की उपासना मे कमी, उससे विषयासक्ति, फिर तो अध:पतन। इस प्रकार आपत्ति हेतु मान-बडाई की इच्छा ही हे, उसे सतजन त्यागकर निर्मानता मे स्वतत्र जीवन बिताते ह॥ १६२॥

जेहि त्यागन पहिले कियो, किह्यो न तेहि को ख्याल।
परलोभन के फन्द परि, तलफि रह्यो जिमि बाल॥ १६३॥

टीका—जिस जगत की मान-बडाई त्यागकर स्वरूपस्थिति के लिए विरक्त हुए थे उसका आगे चल कर होश न रहा। जेमे बालक सर्प-बीछी पकड या अग्नि मे हाथ डालकर तडफडाता है, वेसे विरक्त बनकर मायावी पदार्थो के लोभ-वश सुख और सेवा तथा जगत्पूज्यता के लिए नाना उपाधि से गॅसकर शोक-सताप मे जलने लगे॥ १६३॥

थिरता बुद्धि सुधीरता, मन उद्वेगन टाल।
लखत चलै निज मार्ग को, इत उत लक्ष्य सॅभाल॥ १६४॥

टीका—सतजन स्थिर बुद्धि रखते, धैर्य धारण करते तथा मन-इन्द्रियो के उठे हुए उद्वेगो को त्यागते है-"उद्वेगन ओ मनन तजि, ठहरे शान्त स्वरूप॥" इधर-उधर की दृष्टि चपलता छोडकर नम्रतायुक्त मार्ग को देखते हुए चलते है। साथ ही सत अपने लक्ष्य को प्रपच से रोक कर गुरु-विचार मे निमग्न रहते, वे विवेकयुक्त वैराग्यमार्ग को ही देखते हुए वैराग्यपथ पर चलते-चलते अपनी स्थिति कर लेते है॥ १६४॥

नही सहायक साधु को, गुरु तजि जग मे और।
तेहि ते सब उनमाद तजि, सजग रहै सब ठौर॥ १६५॥

टीका—सद्रहस्ययुक्त सद्गुरुदेव ही केवल साधु के रक्षक है और जगत के सकामी नर-नारी कोई भी सहायक नही। उलटे जगत के लोग जीव को वैर और मोह के बडे जाल मे डालकर फॅसाने वाले हे। उनमें द्वेषी से बढकर प्रेमीजन का बन्धन है। प्रेमरूप बन्धन से कोई विरला ही उबर पाता है। इसलिए सब अहकार और गाफिली छोडकर हर जगह सावधानता से बर्तना चाहिए। जिससे आगे कोई बन्धन न खडा हो जाय, वही उपाय करते रहना चाहिए॥ १६५॥

नही सतावे काहु को, निज तन रक्षा लागि।
करत रहै निज काज को, नहिं ताके कछु खॉगि॥ १६६॥

टीका—अपनी शरीर-रक्षा के लिए किसी को कष्ट नही देना चाहिए। अपने गुरुमार्ग के कार्य-सत्सग, सद्ग्रथ मनन-चिन्तन, सन्तोष ओर समता को गहते रहने से किसी चीज की कमी नही पडती। क्योकि सन्तोष का प्रताप ही ऐसा है कि वह शरीरयात्रा मे कमी नहीं पडने देता। कमी हो तो भी सन्तोषवान को कष्ट नही होता॥ १६६॥

डसत रहत नित सर्प जग, सब जीवन तन बीच।
बचत रहै तेहि साधु कोइ, तन मन इन्द्रिन खीच॥ १६७॥

टीका—इन्द्रियो के विषय चेष्टारूप सर्प सब जीवो के शरीरों में रहा हुआ नित्य उन्हे डसता रहता हे। कोई विरले सतजन इन्द्रिय और मन को घुमाकर सत्साधन और बोध के द्वारा उसके विष से बचते रहते हे॥ १६७॥

अजर अमर अमृत पिये, बोलत सोई बैन।
श्रवणद्वार जो पान करि, जीवित सोई सुचैन॥ १६८॥

टीका—मे अजर-अमर, नित्य-सत्य, ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसी दृढ निश्चयता रूप अमृत पानकर आप सतजन सदा सुखी और वही निर्णयरूप वचन भी बोलते रहते ह। उस सुधा

वचन को कानों के द्वारा जो पान करते हैं वे विषयरूप सर्प के विष से बचकर स्वरूप में जीवित हो जाते हैं और सदा चैन से उनके दिन कटते हैं ॥ १६८ ॥

शिक्षक के उपदेश मे, निज शिक्षा मति भाखि।
की वक्ता प्रतिकूल ह्वै, की समाज मन माखि॥ १६९॥

टीका—जब कोई शिक्षक शिक्षा करता हो, तब उसके बीच मे तुम अपने उपदेश मत झाडो। अन्यथा शिक्षा करने वाला असतुष्ट होगा, अथवा समाज खिन्न होकर तुम्हारे वचन का निरादर करेगा॥ १६९ ॥

मान भग नहिं कीजिये, हँसी बात कहि काहु।
लज्जा वश दुख पावई, निज मन मे अनखाहु॥ १७०॥

टीका—किसी की हँसी उडाकर मान भग न करना चाहिए। ऐसा करने से सबके बीच में वह लज्जित होकर कष्टित हो जायेगा, फिर अपने मन में दुख मानकर आपमे अश्रद्धालु बन जायेगा॥ १७० ॥

सतसंगति में बैठि कै, हित की बात विचारि।
श्रवण करै मन लाय के, चंचलता सब टारि॥ १७१॥

टीका—साधु-गुरु की सत्सग-वार्ता में बैठकर अपने कल्याण की बात का विचार करना चाहिए और उनके वचनो को सब प्रकार मन लगाकर सुनना चाहिए। जीभ, नेत्र तथा मन मे चचलता और निद्रा त्यागकर विचार की बातें सुनने से ही ज्ञान पुष्ट होता है। कहा भी है—

दोहा—*मन राखे बाजार में, तन राखे सत्सग।*
कैसे फल सो पाइहै, औंध घडा जल संग॥ १७१ ॥

सत्सग मे बैठकर उपदेश कैसे सुनना चाहिए

दृष्टात—एक लक्षाधिपति लक्ष्मीचन्द सेठ के लाखों रुपयो का लेन-देन व्यवहार था। उस व्यवहार के हिसाब को अन्य कुटुम्बी नहीं जानते थे। इतने में एकाएकी सेठजी को प्राणघातक बीमारी ने पकड लिया, साँस बन्द हो गई, एक बात भी बोल नहीं पाये, घर के भाई-बन्धु-पुत्रादि सब दुखी होने लगे। एक तो गृहरक्षक सेठजी सदा के लिए जा रहे है, साथ ही सम्पत्ति भी विदा हो रही है। सबके मन मे यही था कि किसी प्रकार सेठ जी का वाक्य खुल जाय। इतने मे एक वैद्य ने आकर दवाई दी। उससे सेठजी कुछ-कुछ बोलने लगे। ऐसा देखते ही सब हर्षित हो गये। परिवार के लोग शोर-गुल बन्द कर एकाग्रचित्त से सेठजी के वाक्य सुनने लगे और अति आवश्यकीय लेन-देन का हिसाब पूछने लगे। सेठ जी जैसे-जैसे कहते गये घर वाले वैसे-वैसे उसे ध्यान से सुनकर लिखते गये। क्योंकि सबको यह निश्चय था कि ये वचन पुन. न निकलेंगे।

इसी प्रकार अनुभवी वैराग्यवान सद्गुरुदेव के निर्णय वाक्य दुर्लभ और अनमोल अन्तिम वाणी के समान जानकर एकाग्रचित करके ध्यान से श्रवण करना चाहिए। उस समय निद्रा, आलस्य, चचलता आदि को हटाकर सावधानता से श्रवण करे। क्या पता ऐसे सद्रहस्ययुक्त शिक्षक सत फिर मिले या न मिले। इस क्षण हमारे अनंत दुख छेदक सद्गुरु के मुख से दुर्लभ

अनमोल अनुभव वाक्य निकल रहे है, अनंत विघ्नो के कारण दूसरे क्षण न निकले या हमारी ही सत्सग की रुचि न रहे तो निर्णय वाक्य सुनकर भी हमे चेत न होगा या सुनने की मन मे इच्छा होते हुए भी रोग, व्याधि से घिर जाने या अनन्त विघ्नो से छुट्टी न मिलने इत्यादि कई कारणो से सद्शिक्षक के मुखारविन्द से निकली हुई एक बात सुनना दुस्तर हो जायेगा। ये सब बातें समझकर सेठ के वाक्य सुनने वत एकाग्रचित्त से श्रवण करके ग्रहण करना चाहिए, जिससे कि स्वरूपस्थिति अनन्त, अचल, अखण्ड धन की प्राप्ति होवे। इसी प्रकार सद्ग्रन्थ के वाक्यो को भी सादर ग्रहण करना चाहिए। यह स्मरण रहे—

गजल

करै सत्सग सन्तो का वही वर भाग्य वाला है।
उसी के द्वन्द्व दुख नाशैं कुसंगत जो कि टाला है॥ टेक॥
सुकृत सुमति सुनीत सुचि, सकल सुमगल मूल।
शुद्ध स्वरूप सुजान शुभ, साधु हरत त्रय शूल॥
करै इमि जानि सत्सगति, लहै सुख शाति चाला है॥ १॥
सृष्टि मनोमय तरुण निशि, दुर्गुण बन के माय।
भटकत दुखिया जीव कहँ, लखि नित शरण लगाय॥
करै परकाश साधूजन, नशै अज्ञान जाला है॥ २॥
तृष्णा अग्नि प्रचण्ड है, ज्यों ज्यो भोगै भोग।
धन सुत तिय युत जलन उर, मिटै न आशा शोग॥
सुधा सन्तोष की वर्षा, करैं साधू निहाला है॥ ३॥
शम दम सेवा ज्ञान शुचि, प्रेम नेम बल देतु।
शील गहन तामस हरण, क्षमा अमिय सुख सेतु॥
करौ पुरुषार्थ फल पाओ, ये हिम्मत देनेवाला है॥ ४॥
आप रहत व्यवहार सब, तबू न जानत आप।
आप भूल वश जीव यह, सहत सदा सन्ताप॥
लखाते आप अपने को, दे पूरण कोष माला है॥ ५॥
जडाध्यास भव पाश दुख, करत मोह भ्रम अन्त।
धीर वीर पद थीर करि, श्रेष्ठ पारखी सन्त॥
गहै भक्ती जो सन्तों की, उसे खावै न काला है॥ ६॥
जो सेवै यह तीर्थ शुचि, साधु सग अनुराग।
मुद मगल कल्याण लहि, दृश्य पार पद पाग॥
लहे पारख अटल स्थिति, गुरूपद जो विशाला है॥ ७॥

प्रसंग १२—गुरुदेव का इष्टभाव-उपकार

गुरु हमारे इष्ट है, तन मन धन से रक्ष।
निज स्वरूप को बोध दै, कीन्ह्यो जीवहिं स्वच्छ॥ १७२॥

टीका—गुरुदेव ही मेरे परम पूज्य सिरमोर है, क्योंकि तन के विकार—इन्द्रियों के भोगों मे आसक्त होना, मन के विकार—सर्व कल्पित सुखमानन्दी दृढ भावना, धन के विकार—नाशवान वस्तुओं का प्रमाद लेकर अधर्म आचरण करना, ऐसे तन, मन तथा धन के दुरुपयोगमय विकारो से गुरुदेव ही छुडा कर रक्षा करने वाले है। आप गुरुदेव चेतन्य स्वरूप का बोध देकर जडमति हरण करके जीव को शुद्ध कर दिये॥ १७२॥

खानि बानि दुइ जाल के, दियो भेद सब खोलि।
भरमि रहा बहु काल से, समुझि मिली नहि झोलि॥ १७३॥

टीका—काया और काया सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, घर, धन, वर्ण, आश्रम आदि सम्पूर्ण स्थूल खानी-जाल आर स्वस्वरूप से पृथक जहाँ लो नाना अक्षरो के जाल यत्र, मन्त्र, तन्त्र, भूत, प्रेत, परोक्ष कर्ता, बहु देव, बहु भावना करके जीव अधिक-अधिक बन्धन मे उलझ जाता है, जो यथार्थ नहीं, ऐसी कल्पित बानी को बानीजाल कहते है, दोनो की सधि को गुरुदेव निर्णय करके लखा दिये कि ये दो जाल जीव को बन्धन रूप है। यद्यपि अनादिकाल से इन्हीं दोनो जालो मे सुख मानकर भटक रहा था, पर गुरु के बिना आज तक खानि-बानी को धोखारूप न समझ सका॥ १७३॥

उपकारिन मे उपकार गुरु, दानिन मे गुरु दान।
रक्षक मे रक्षक गुरु, गुरु सम अन्य न आन॥ १७४॥

टीका—जलती अग्नि से, धारा मे डूबने से, फाँसी पर चढने से, गरीबी से, रास्ता में भटकने से, रोग व्याधि पीडा से, प्राण सकट आदि दुखो से बचाकर सहायता करने वाले उपकारी कहे जाते हैं। इन सबका उपकार एक स्थूल शरीर को ही सुख देने वाला होने से गुरुदेव के उपकार के आगे अति अल्प है। क्योंकि गुरु की कृपा से अविनाशी जीव की अज्ञानरूप फाँसी कट कर अनत काल के लिए मुक्ति हो जाती है। इसलिए सब उपकारियों से बढकर महान उपकारकर्ता सद्गुरुदेव हैं। अन्न, वस्त्र, धन से सब जीवो की यथायोग्य रक्षा करने वाले दानी कहे जाते हैं। वे दान भी अल्प सुख देकर क्षीण होने वाले है, परतु गुरुदेव जिस ज्ञान का दान देते हैं उसे पाकर जीव की अनादि कालीन दीनता नष्ट हो जाती है। गुरु की दया से अखड अनत कोष जीव पा जाते हैं। इसलिए गुरुदेव सब दानियों से श्रेष्ठ उत्तम दानवीर हैं। पिता, भ्राता, राजा बहुत से बहुत स्थूल शरीर तथा भोतिक वस्तुओ के रक्षक हैं, पर सब की रक्षा स्वार्थपूर्ण और स्थूल तक ही है। इसमें बारम्बार रक्षा की आवश्यकता भी लगी रहती है ओर उनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह पुष्ट होकर रक्षा ही अरक्षा हो जाती है, परतु गुरुदेव तो अनाथ अनाश्रय मन वश जीव को आश्रय देकर सन्तोष छाया के नीचे बैठाकर सदाचरण और स्वरूपज्ञान से ऐसी रक्षा किये कि फिर कभी जीव दीनता को न प्राप्त हो, इसलिए सब रक्षको से बढकर गुरुदेव परम रक्षक हैं। धन्य-धन्य गुरुदेव! आपके समान और कोई नहीं है॥ १७४॥

अनुभव विद्या देय कै, सब सो कीन्ह उदास।
निजहीं दीन्ह निवास गुरु, तोडि अन्य की आश॥ १७५॥

टीका—जिसमें सशय, कसर तथा विकार न हो, जो वाक्यजाल से पार हो, जो पारख कसौटी मे यथार्थ सत्य ही ठहरे, पुन जो जेसा पदार्थ हो कल्पित-अकल्पित ठीक वेसा ही

जानने मे आ जावे, उसको अनुभव विद्या कहते है। स्वरूपस्थिति रहस्य का ठीक-ठीक ज्ञान होना ही अनुभव विद्या जानना चाहिए। सो अनुभव विद्या रूप स्वरूपज्ञान देकर गुरुदेव जडसृष्टि, मनोमयसृष्टि सबसे निराश कर दिये। जगत के लोग तो दृश्य-खानि-बानी मे मिलने को कहते है, जिससे फिर बिछुडना पडता है, पर गुरुदेव तो अपने अपरोक्ष स्वरूप मे ही स्थिति बताकर अपने आप ही मे तृप्त कर दिये। अपने आप से जो कुछ भिन्न भासे वह सब चल-विचल दृश्य जड है। "जो भासे सो मोर स्वरूपा। यह बधन अँधियारी कूपा॥" निर्णयसार॥ सो सब भिन्न की आशा-बन्धन को गुरुदेव तोड दिये॥ १७५॥

ताते गुरुवर देव को, बार बार हिय हेरि।
अन्य प्रेम सब छोडि कै, गुरू प्रेम को टेरि॥ १७६॥

टीका—इसलिए गुरु सब देवो से बढकर श्रेष्ठ देव है। मै ऐसे परम पूज्य गुरुदेव का बारम्बार अत.करण की वृत्ति को समेट कर ध्यान करूँगा और जगत का सब मोह छोडकर गुरुदेव ही मे प्रेम करके गुरुदेव की ही निरन्तर वदना करूँगा। ससार के भाव और आश्रय छोडकर मन, वचन, कर्म से गुरुदेव का ही आश्रय रक्खूँगा॥ १७६॥

बन्दौं ध्यावौ पूजि गुरु, जहँ तक मोसे होय।
गुरु सम हितू न और कोइ, देखा सबहिं टटोय॥ १७७॥

टीका—गुरुदेव की मै वन्दना करूँगा, गुरुपद का ही नित्य ध्यान धरूँगा, गुरुपद की ही नित्य पूजा करूँगा। जहॉ तक मुझसे हो सकेगा वहॉ तक गुरुपद स्नेह के लिए ही कार्य करूँगा। क्योकि श्री गुरुदेव के समान हितैषी कोई नही है। सबकी[१] अच्छी तरह परीक्षा करके देख लिया। सब विषय वासना मे ही गिरानेवाले है। एक गुरुदेव ही विषयो से छुडाकर निर्विषय करनेवाले है। इसलिए गुरुदेव से बढकर कोई हितैषी नहीं॥ १७७॥

ज्ञान ध्यान गुरु को भलो, नाम स्मरण सग।
योग यज्ञ ब्रत तप यही, और अभाग्य कुढंग॥ १७८॥

---

१ राजस-तामस युक्त सब प्राणी तो नीचे ही ढकेलते हैं, परन्तु जिन्हे देवता मानते है उनका भी हाल सुनिए। तुलसीदासजी ने अनुमान किया है—

चौपाई—इन्द्रिन द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहि विषय बयारी। ते हठि देहि कपाट उघारी॥
इन्द्रिन सुरन न ज्ञान सुहाई। विषय भोग पर प्रीति सदाई॥ रामायण॥

गोबिन्द के बारे मे भी कहा है—

चापाई—विश्व विशेष विदित प्रभुताई। गोबिन्द से गुरू की है भाई॥
गाबिन्द के माया वश प्रानी। दुख भुगतैं चोरासी खानी॥
गुरू कृपा भव मूल विनाशै। विमल बुद्धि ह्वै ज्ञान प्रकाशै॥ गुरू० ॥

अतएव गुरुदेव से बढकर न कोई देवता है न परमात्मा ही है।

दोहा—ईश्वर से गुरु मे अधिक, धारे भक्ति सुजान।
विन गुरुभक्ति प्रवीण हूँ, लहै न आतमज्ञान॥ विचारसागर॥

टीका—सब ज्ञानो से बढकर गुरुदेव का ज्ञान ह और सब ध्यानो से बढकर गुरु का ध्यान हे, अत गुरु के ज्ञान-ध्यान मे ही जीव की भलाई हे। गुरु ऐसा पवित्र नाम और बारम्बार गुरु-गुरु ऐसा पवित्र स्मरण तथा गुरु का समागम ही परम श्रेष्ठ हे। इस गुरु प्रेम-नेम को ही परम योग, परम यज्ञ, परम जप, व्रत तथा परम तप जानना चाहिए। गुरु पद के अलावा जो कुछ मान के कर्तव्य किया जाय या प्राप्त किया जाय वह सब बन्धन हेतु और आवागमन का कारण होने से अभाग्य और कुढग जानना चाहिए। अभाग्य हे जिससे दुख-दीनता न मिटे। जिस युक्ति से यथार्थ कार्य की सिद्धि न हो, उलटे अकाज हो जाय, उस उपाय को कुढंग कहते ह। सो गुरुपद बिना सब अभाग्य और कुढग ही हे॥ १७८॥

सन्त सहॉयक जीव के, सन्तहिं पार लगाय।
ओरन से यह होय नहि, जो भ्रम भूल भगाय॥ १७९॥

टीका—सद्बोध और सदरहस्ययुक्त जो स्वरूप मे शात हे, उन्हे सन्त कहते हैं। वे ही जब दूसरे को बोध देते हैं तब गुरु कहे जाते ह, अत सन्त और गुरु मे कोई भेद नहीं है। साधु-गुरु ही जीव को सहायता देने वाले हैं। वे ससार सागर के विघ्नसमूह मे पार कराने वाले ह। बाकी जगत के इष्ट-मित्र, बाधवजन से यह कार्य नही सध सकता कि जीव की जिस आतरिक विपरीत समझ और विपरीत भासरूप भूल-भ्रम से सब दुख होता है उसका निवारण कर सके। क्योंकि वे सब आप ही भूले-भटके ह, तो भूला-भटका हुआ अधिक भटकायेगा कि भटकना छुडायेगा। यह तो सन्तजन के ही कृपाकटाक्ष से भूल-भ्रम दूर होते हैं॥ १७९॥

साधु हितू सब भाति से, तृष्णा आशा मेटि।
सुखी रहे तन भोग मे, मन को राखि समेटि॥ १८०॥

टीका—प्राणियो के सब प्रकार कल्याण करनेवाले सन्तजन ही हैं, क्योकि जगत-भोगो की तृष्णा और सुखाशा ये दोनो ही जीव का अहित करनेवाली हे। आशा-तृष्णा दोनो को सतजन शिक्षा देकर मिटा देते हैं। उनकी शिक्षा ग्रहण करके आसक्ति रहित केवल प्रारब्धभोग निर्वाह मात्र मे जीव सुखी हो रहते हैं और सन्तो की शिक्षा के प्रताप से ही भोगों मे दौडते हुए मन को भली प्रकार रोक के स्ववश कर लेते है॥ १८०॥

वेराग बिना नहिं जाय दुख, राग दुखन को रूप।
राव रंक सब मनुष्य को, यही हितू शिर भूप॥ १८१॥

टीका—जगत का राग छोडे बिना सुख नहीं हो सकता, क्योकि जहाँ राग है वहॉ काम ह, जहॉ काम ह वहॉ क्रोध हे और जहॉ क्रोध हे वहॉ हिसा-उत्पात, लोभ-मोह आदि सपूर्ण दुर्गुण आ बसते ह। जहॉ ये सब राक्षस हे वहॉ दुखो की कोन कमी। अतएव सब दुखो का कारण राग ह। राग को छोडकर भली प्रकार जगत से वैराग्य धारण किये बिना दुख नहीं छूट सकता। यह बात क्या अमीर-क्या गरीब, क्या राजा-क्या प्रजा, सबके लिए हितकारी ह। दुख छुडाने के सर्व उपायों से बढकर एक वैराग्य ही सर्व श्रेष्ठ साधन होने से हृदयगम करने योग्य ह। यथा—"बिन वेराग्य न मुक्ति हे, बिन वराग्य न ज्ञान। बिन वराग्य न भक्ति हे, बिन वेराग्य न शान॥ ताते मुख्य प्रधान हे, सबको यह वेराग्य। गुरु कृपा जा पर भई, ते पावत बडभाग" (वराग्य शतक)॥ १८१॥

जानन योग्य जनावते, खेंचि अयोग्य से लेत।
इत उत भटकन देत नहिं, ऐसे गुरू सचेत॥ १८२॥

टीका—जिससे जीव का सदा के लिए हित हो वही बात जानने योग्य है। उसे गुरुदेव जना देते हैं। जिससे अकल्याण हो वह अयोग्य है, उससे जीव को खींच लेते हे और जिससे अपने मार्ग मे भुलावा पड जाय, धोखे या किसी झगडे मे पड जाय, उन जालो में जीव को चक्कर काटने नहीं देते, ऐसे गुरुदेव सावधान ओर परम प्रवीण है॥ १८२॥

स्व स्वरूप सिद्धान्त जस, तैसहि प्रेरक जीव।
नहि बिचलै जग मध्य मे, करत उपाय सदीव॥ १८३॥

टीका—भास, अध्यास, अनुमान, कल्पना और परोक्ष-प्रत्यक्ष आदि सब विषयो से पृथक अपना स्वरूप सर्व का परीक्षक है। जैसा सर्व का परीक्षक अपरोक्ष एकरस नित्य तृप्त स्वरूप है वेसा ही ठहर रहने के लिए गुरुदेव ज्ञान, भक्ति, वैराग्य की सदैव प्रेरणा करते हैं, जिससे कि जगत-जालो मे न धँसे और स्वरूपस्थिति से विचलित न हो॥ १८३॥

मात पिता गुरु सन्त हे, जहाँ सन्त करतूति।
तिन बिन रक्षक कौन है, निर्मल दया अकूति॥ १८४॥

टीका—बोध प्रकट करनेवाले मातारूप, सद्रहस्य से पालन करने वाले पिता रूप और अज्ञान—तम का नाश कर ज्ञानप्रकाश करने वाले गुरुरूप सत ही है। जो सतरहस्य से पूर्ण है, ऐसे सत के बिना भला जीव की रक्षा करने वाला और कोन है। सत की निर्मल कृपा जीवो पर अनन्त है॥ १८४॥

वाक्य मात्त से जीव की, विपति अनेकन टाल।
जो धारै उपकार तिन, होवे सोई निहाल॥ १८५॥

टीका—संतजन शिक्षा करके अपने वचन मात्त से जीव के भूल-भ्रमजनित आई हुई अनन्त आपदाओ को हटा देते हैं। सुबुद्धि प्रेरक सतजन जो शिक्षा देते हे यही उनकी अनन्त उपकारता है। उनके उपकाररूप सद्शिक्षा को जो ग्रहण करते हें वे सुखी हो जाते हैं॥ १८५॥

दुख छूटन हित साधु ही, ज्ञान प्रगट करि दीन।
धर्म रच्यो जग साधु ही, रक्षा धर्म कि कीन॥ १८६॥

टीका—सतजनो ने ही जन्म-मरण, गर्भवास आदि त्रिविधि दुख छूटने के लिए ओर मन-स्वभाव, आसक्ति, भूल-भ्रम नाश करने के लिए यथार्थ स्वरूपज्ञान प्रगट किया। शुद्ध व्यवहारयुक्त शरीर का निर्वाह, उसके साथ ही परमार्थस्थिति की रीतियो का सतजनो ने ही विधान किया। इस राजस-तामसयुक्त जगत-सागर से पार होने के लिए धर्माचारण रूप पुल सतजनो ने ही निर्माण किया और धर्म की रक्षा भी किया व करते है। धर्म का विस्तार "सो गुरु गुरु गुरु ने धरम सिखाय" इसकी टीका मे देखिए॥ १८६॥

सहनशील समता गहे, जग सुख से मन फेरि।
रहत आप मे आप थिर, बन्धन सकल निवेरि॥ १८७॥

टीका—सत जन दुख-सुख, हानि-लाभ को सहते हुए सन्मार्ग मे लीन रहते हैं और शील-स्वभाव धारण किये हुए समता को नहीं छोडते। वे जगत के सौन्दर्य, वनिता, स्वाद, सुचारु गन्ध, कोमल स्पर्श इन इन्द्रिय-सुखों से मन को घुमा लेते हे। वन्धनदायक खानि-वानी विषय भवमार्ग सम्वन्धी सर्व वन्धनों का नाश करते हुए अपने आप स्वरूपस्थिति में विराजते रहते हैं, ये सव सत के रहस्य है॥ १८७॥

विनय

पारख धीर कबीर गुरु, सत्यबोध परचार।
भर्म निवार्‌यो जीव के, दीन्ह अक्षय पद सार॥ १८८॥

टीका—अचल पारख स्वरूप मे स्थित सद्‌गुरु कवीर साहिव ने यथार्थ पारख सिद्धात का विस्तार किया। जीवों के ऊपर जगत-व्रह्म कल्पितकर्ता या विषयासक्ति का वोझ जो भूल-भ्रम करके लदा था, आप ही ने उस भ्रमरूप अन्धकार का पारख प्रकाश द्वारा नाश करके अक्षय अनादि सत्य स्वरूप का वोध प्रदान किया॥ १८८॥

स्वतन्त्र राज्य सब जीव को, दिये कृपा करि आप।
जो चाहे सो लेय तेहि, ऐसा गुरू प्रताप॥ १८९॥

टीका—आपने मव जीवो को स्वतन्त्र स्ववश स्वराज्य अर्थात स्वरूपवोध स्थिति रहस्य कृपा करके दिया। नर-नारी नीच-ऊँच जो चाहे उस स्वरूप ज्ञान को ग्रहण कर स्वतत्र हो जावे। हम भूल-वश निरा परतन्त्र हो रहे थे, मन की धारा में वहते हुए कहीं ठीक-ठेकाना नहीं लग रहा था, श्रीगुरुदेव सहज ही पारख वोध देकर ठीक-ठिकाना लगा दिये। ऐसा गुरुदेव का सामर्थ्य ह॥ १८९॥

अनन्त काल से भूलि निज, सब सब के आधीन।
गजि केशरी भूल अरि, कीन्ह जीव स्वाधीन॥ १९०॥

टीका—कितने समय वीत गये इसकी थाह नहीं, अनंत काल से आप अपनपो एव स्वरूप धन को भूलकर सव जीव सवके परवश हो रहे ह। जेसे हर्ष से चकई खेल मे हाथ से हाथ पकड कर सव लडके घूम-घूमकर एक दूसरे पर गिरते-पडते, फिर झगडा-झझट करके रोते अथवा जसे समुद्र में जहाज टूट जाय, सब मनुष्य डूबने लगें, पुन॰ अपने-अपने बचाव के लिए एक दूसरे पर लदने लगे, डूबे-डुवावे, तद्वत मन-प्रवाह के वीच में पडे सव जीवो की दशा ह। मजाल नहीं कि इस भूल से जीव स्वय निकल सके। स्वरूप-भूल मानो केशरी-सिंह के समान सव जीवों को वार-वार मृत्यु के मुख मे डाल रही है। ऐसे भूलरूप शत्रु केशरी का गुरुदेव स्वय पारखवोध मे सहार करते हुए जीव को स्ववश कर दिये॥ १९०॥

विषय व्याल सव जीव को, काटि कीन्ह वेहाल।
फिरि फिरि ताहि डसावते, मानि सुवुद्धि सुकाल॥ १९१॥

टीका—विषय भोगरूप भयकर सर्प ने सव जीवों को काटकर दुखी कर दिया ह। आसक्तिरूप नशे मे मतवाले होकर सव जीव फिर-फिर भोगरूप सर्प को पकडकर स्वय को

कटवाते हैं। इतनी मूढता के काम करते हुए भी आश्चर्य ह कि अपने-अपने को सब जीव बडा चतुर गिनते ह। विषय-विलास की सामग्री इकट्ठा कर उसके भोगने में अपना सुकाल-सुदिन और सौभाग्य मानते हैं। अपने मन मे समझते हैं कि "बार पार किहे देय" अर्थात हमारे ममान कोन है।॥ १९१ ॥

छिन छिन चैन न ताहि मे, विकल रहै दिन राति।
जलत जलावत सब सबे, नयन अन्ध कुशलाति॥ १९२॥

टीका—भला सर्प से डसाने मे कहॉ चेन। छिन-छिन विषय की लहर पर लहर आकर पटक रही हे। विषयरूप सर्प को ग्रहण करते-करते आदत पड जाती ह। कामना पर कामनारूप लहर आकर जीव को जहॉ-तहॉ वहा ले जाती ह। वह ऐसी दुर्दशारूप खदक में डाल देती है कि पडे-पडे सिवा दिन-रात हाय-हाय करके दुख भोगने के ओर कोई युक्ति नही चलती। इस प्रकार ये जीव कामाग्नि द्वारा स्वय जलते ही ह, साथ ही अपने साथियो को भी जलाते हैं। मोह-उन्माद से स्वरूपदृष्टि पर पर्दा डालकर अध-असूझ बने भटकने मे ही अपना कल्याण मान रहे है॥ १९२॥

सब सब के अरि है जहॉ, कौन सुनै केहि शोर।
भूल बिवश निज काल सब, जीव त्रास अति घोर॥ १९३॥

टीका—जहॉ सब-सवको स्वार्थ ओर मनोमय के दॉतो से चवाने ही में मुख निश्चय किये ह, सब एक-एक के वैरी बन रहे है, वहॉ भला कोन किसके दुख-दर्द की हाय-हाय सुने। जिसे दुख-दर्द सुनाने जाओ, वही चवाये लेता है। अहो भूल-अज्ञान वश इस ससार बाजार मे सव सब के काल हो रहे हे। मोह-माया, खानि-बानी जाल मे फॅसा-फॅसा कर अपने ओर दूसरे को बारम्बार जन्म-मृत्यु के हेतु हो रहे है। ऐसे ससारी जीवो को विकराल कष्ट की प्राप्ति हो रही हे॥ १९३॥

प्रसंग—दर्शन

स्वरूप बोध निर्णय सरल, जड से चेतन भिन्न।
विविध युक्ति से जानिये, विवश वासना खिन्न॥ १९४॥

टीका—'अपना बोध' मे सरलता से स्वरूपबोध निर्णय करते हुए जड से चेतन को पृथक करने के लिये अनेको युक्तियो से सृष्टिगत गुण, लक्षण, शक्ति का वर्णन किया गया है। यह जीव वासना के वशीभूत होकर अगणित दुख जिस प्रकार भोग रहा है, उसकी विस्तृत व्याख्या की गयी है॥ १९४॥

आवागमन ओ कर्म फल, भोग सुखहिं दुख रूप।
ताहि स्ववश करि मुक्ति लहि, तजि मानन्दी कूप॥ १९५॥

टीका—जीवो का पुनर्जन्म कैसे होता है, उन्हे कर्मफल कैसे प्राप्त होते हैं, पॉचो विषयो के ग्रहण मे सुख दीखते हुए भी वे कैसे दुसह दुख रूप है, उनसे मन को स्ववश करने के लिए क्या-क्या साधन चाहिये, स्ववश साधन ग्रहण कर जीवन्मुक्ति दशा की प्राप्ति के श्रेष्ठ

आचरण क्या हैं, जड मानन्दी रूप कूप मे न पतन हो, वे कोन से रहस्य बोध हैं, इन सवो का सम्यक विचार किया गया हे ॥ १९५ ॥

मुक्ति माहिं केसे रहत, केहि हित मुक्ती होत।
बाह्य ज्ञान तहँ क्यो नही, कस प्रारब्धि बितोत ॥ १९६ ॥

टीका—विदेहमुक्त जीव केमे कहाँ निवास करता हे, मुक्त होने मे क्या हेतु हे, मन-इन्द्रिय सम्बन्धी बाहरी ज्ञान रहता हे या नहीं, जीवन्मुक्ति मे देह का प्रारब्ध भोग कसे व्यतीत करके विदेहमुक्त हुआ जाता हे ॥ १९६ ॥

विधिवत ये निर्णय सरल, साधु रहस्य प्रसग।
गुरु उपकार ओ बन्दना, जीव स्ववश तजि तंग ॥ १९७ ॥

टीका—पूर्वोक्त आवश्यकीय विषयो पर विधि पूर्वक सरलता से स्पष्ट निर्णय किया गया हे। सतो के वरिष्ठ चरित्रो का भी खूब इसमे अध्ययन कराया गया ह। गुरुदेव के उपकार का विशद वर्णन करते हुए भली प्रकार वन्दन निवेदन किया गया हे, जिमके नित्य-नित्य मनन-ग्रहण मे चेतन जीव स्ववश स्वतत्र पद प्राप्त करके समस्त दुखो से पार हो जायेगा ॥ १९७ ॥

अपना बोध की उत्कृष्टता

ये अपना बोध अनोखा है। भ्रम भूल भगाता धोखा हे ॥ टेक ॥
सद्भाव तीनो काल निज चेतन्य दु:ख नहि चाहता।
प्राणी विषय सुख भोग सब सुख हेतु सब कुछ लाहता ॥
सुख भोग में जब छल लखे तो दूर से तजि भागता।
और की तो बात क्या स्मर्ण तक वह त्यागता ॥
रहि त्यागक सत्य स्व चोखा हे ॥ १ ॥
निज को बनाना हे नहीं लेना व देना कुछ नहीं।
बनना बिगडना कार्य-कारण जीव मे नहि कुछ कहीं ॥
अज्ञान तम पट तोडि के निजरूप आपे हे सही।
नित्य तृप्त अनादि स्थित एकरस सो पद अही ॥
अस अभय परख पद पोपा हे ॥ २ ॥
काम क्रोध व लोभ मद इर्ष्या कमल वन के लिये।
निज बोध तीव्र तुपार अति निर्मूल तेहि को कर दिये ॥
शील सत सतोप धीरज शात बीज उगा हिये।
सद्विवेक विराग स्थिति वाटिका विकसित किये ॥
ये हितकर सुहद अदोपा हैं ॥ ३ ॥
नित मनन चिंतन ग्रहण अपना बोध जो ये लायगा।
ऐसा निशाना हो अचुक अरि दल विभजि मिटायेगा ॥
लक्ष्य जब यकरस हुआ तृष्णा निवृत्ति स्व पायगा।
यह विशाल विचार धार के प्रेम भव तर जायगा ॥
ज्यो का त्यो ही जोखा हैं ॥ ४ ॥

चौपाई

अमिय मूरि निज वाक्य श्रवण से। पान कराय तेहि जहेर हरण से॥
बिमल दृष्टि करि जीवन केरी। सब उनमाद अँधेर निबेरी॥

टीका—ऊपर के कथनानुसार हम सब जीवो को मनोमय चक्र मे अति पीडित देखकर सद्गुरुदेव अपने निर्णयरूप वचनामृत बूटी को श्रवण द्वारा पिलाकर सुखाध्यासरूप जहर को हर लिये, विषयासक्ति मोह-माया छुडा दिये। स्वरूप से पृथक सर्व वस्तु तुच्छ क्षणिक है, फिर किस चीज का प्रमाद किया जावे। पारख प्रकाशरूप ऐसी दिव्य दृष्टि हम दासो को देकर गुरुदेव ने सब उन्माद तथा मिथ्या अभिमानरूप अन्धकार का विनाश कर दिया।

बिषय ब्याल से कियो अभावा। नहिं चाहत पुनि ताहि डसावा॥
कियो स्वमत परकाश जहाना। जीव हिये दलि भरम के थाना॥

टीका—आप गुरुदेव ने इस दास को पच भोग सर्प से उदास कर दिया। अब उस विषयरूप सर्प से फिर डसाने की कामना नही रह गई। प्राप्त विषयो का त्याग और अप्राप्ति की कामना रहित होकर नित्य प्राप्त स्वरूप-विवेकरूप अमृत पान मे सुखमय जीवन व्यतीत हो रहा है, यह सब गुरु की दया का फल है। गुरुदेव, आपने अपना पारख सिद्धान्त इस ससार मे प्रकाश कर जीवो के हृदय-स्थान मे डेरा किये हुए भूल, भ्रम, अनुमान, कल्पना, सुखाध्यास रूप अधकार को परखाकर नष्ट कर दिया।

अबहूँ जो तेहि मारग आवै। सब भ्रम सशय दूरि बहावै॥
होय सुखी सो निजपद पाई। अंधाधुन्ध को देश नशाई॥

टीका—अब भी जो जीव आपके निर्णय पारख सिद्धांत को ग्रहण करे तो रत्ती-रत्ती अपने भ्रम सन्देह को नष्ट कर डाले। फिर वह सदा सुखी होकर अपने आप निराधार अचल भूमिका पारख को प्रास हो जावेगा और उसकी मनोमयसृष्टि[१] नष्ट हो जायगी और वह मुक्त हो रहेगा।

---

१ असत सिद्धात, जडासक्ति, जडभावना, विपयानद, कल्पना, जड-चेतन अभिन्नवाद, कर्तारआश, जगततृष्णा, भ्रमिक-भामिन की भावना, स्थूल-सूक्ष्म, कारण, महाकारण, कैवल्य आदि की कल्पना, अविद्या, प्रकृतिवाद, पचकोश इत्यादि जहाँ तक स्वरूप से भिन्न परखने मे आवे सो सब भास, अध्यास, अनुमान, कल्पना, जन्म-मृत्यु के हेतु होने से अधाधुन्ध का देश सम्पूर्ण कल्पित मनोमयसृष्टि है, तिसे गुरु पारख द्वारा त्याग करके यह जीव स्वय स्वतन्त्र मुक्त हो जाता है।

पचकोश वर्णन

इन्द्रिय प्रकृति समुदाय मिलकर स्थूल देह सोई अन्नमय कोश। चित्त, मन, बुद्धि, अहकार ये चतुष्टय और पचप्राण ये सूक्ष्मदेह सोई प्राणमय कोश, चतुष्टय का लीन होना, सुषुप्ति या योग द्वारा जाग्रत स्वप्न लीन होना यह कारण देह मनोमय कोश। एक ब्रह्म व्यास म हूँ, स्वाश्रय माया जगत उत्पत्ति हेतु है, ऐसा मानना महाकारण देह ज्ञानमय कोश और न माया न जीव न जगत दूसरा कोई नही, ज्यो का त्यो ब्रह्म यह कैवल्य देह विज्ञानमय कोश इत्यादि पचदेह, पचकोश का निर्णय हे अथवा पच विषय वहीं पच कोश। तिनमे स्थूल-सूक्ष्म दो देह छोडकर और देह सब कल्पित है। अपना चेतन स्वरूप इन सब से भिन्न तथा शुद्ध हे।

स्वच्छ दृष्टि तेहि सब लखि परही। अभय भये भय देश न चरही॥
जो तिन सयन समुझि कोइ पावे। सोऊ सुखी ह्वै दुखहिं गँवावै॥
यह पारख गुरु केर निदेशा। गहै लहे सो सुखी हमेशा॥

टीका—सद्गुरु की शरण मे आनेवाले की निर्मल पारख दृष्टि हो जाती हे। उसे सव ठीक-ठीक दिखाई पडने लगता हे। वह जड़-चेतन को अलग-अलग कर देता हे। वह निर्भय स्वरूपज्ञान से निर्भय गुरुमार्ग मे चलता है। फिर वह विपयासक्ति और मोहक चीजों को दूर से त्यागकर कभी भय-देश मे नहीं घूमता। जिसमे खिंचाव होकर देह धरने का फिर वीज पड जाय वह जडदृश्य भयदेश हे। मोहक सग, वहु इन्द्रिय सुख की इच्छा, यह सव भयदेश को त्यागकर जीव सव छिन ज्ञान-वराग्य निर्भय गुरुमार्ग मे चलते हुए अटल गुरुपद को प्राप्त हो जाता हैं। जिन के वोध से जीव अभय हो जाता है, उन गुरुदेव ओर गुरुपद प्राप्त सन्तो के वाक्य इशारा कोई भी समझ के ग्रहण करे तो वह भी वैराग्य पूर्ण सन्तोप सुखो से सुखी होकर अपने अनादि भूलरूप मटके को सिर से पटककर दुख-द्वन्द्वो का नाश कर डालेगा, ऐसा पारखी गुरु का उपदेश हे। जो कोई आपकी शिक्षा को धारण करेगा वह नि.सन्देह नित्य जीवन्मुक्ति मे सतोष से पूर्ण होकर स्थित हो जायेगा।

जग कोइ स्ववश न आप मे, सो कस अन्य छोडाय।
पारख गुरु स्वतन्त्र हे, जीवन स्ववश कराय॥ १९८॥

टीका—जगत के जीव स्ववश नहीं हैं, वे निज स्वतन्त्र स्वरूप मे स्थित नहीं हे। फिर जो आप ही वेडी पहिने हे वह दूसरे का कैसे वन्दीमोचन हो बन्ध छुडा सकता हे। एक पारखी सद्गुरुदेव ही स्वतन्त्र स्वरूप मे सद्रहस्ययुक्त स्थित हे। वे ही जीवो को अपना पारखवोध देकर स्ववश स्वतन्त्र करने मे समर्थ सरकार हे। अत पारखी सद्गुरुदेव की सर्वोपरि धन्यता है। वाक्य, लेखनी और उपमा सवका अत होने से गुरुदेव अनुपम पारख स्वरूप अपने समान आप हें॥ १९८॥

पारख गुरु स्मरण छन्द

श्री पारखी गुरुदेव दीनानाथ सव सुखकारणम्।
जगत व्रह्म उपाधि ससृति गजि सव दुख हारणम्॥
हरण इन्द्री द्वन्द्व फन्द विमोह कोह विदारणम्।
शुचि सन्त भेष विवेक रवि निर्णय प्रकाश प्रसारणम्॥ १॥
भक्ति ज्ञान विराग सत साधन सदोचित धारणम्।
अविकार शुचि निर्धार मन भव पार पारख तारणम्॥
निजरूप सत्य अनूप स्थित सत्य गुरुपद भासिकम्।
जड राग त्याग अमान दान उदार करुणा रासिकम्॥ २॥
भवयान करि निर्माण शुचि भावार्थ सत्य सु वीजकम्।
करि करि श्रवण पुनि पुनि मनन ते पार भवभयधीरकम्॥
जोरि कर दोउ दास किकर प्रेम नम्र विनीतकम्।
श्री कवीर विशाल गुरुपद सन्त उर मम हीतकम्॥ ३॥

चौपाई

जो यह पढै सुनै गुनि अर्थै। है उछाह निज काज समर्थै॥
भक्ति बिराग बिबेक यथारथ। बिफल क्रिया तजि गहै हितारथ॥
जसका तसहिं जानि सब पावै। मोक्ष बन्ध दोउ सनमुख तावै॥
होय अभय मन जाल से न्यारा। आपै आप रहै निरधारा॥

टीका—जो इस प्रकरण को पढेगा, सुनेगा, साथ ही मन लगाकर मनन करेगा, उसे अपने सुमार्ग मे परम उत्साह की प्राप्ति होगी। निज कल्याणकृत कार्य करने मे वह शक्तिमान हो जायेगा। भक्ति, विवेक, वैराग्यरूप यथार्थ रत्न की उसे प्राप्ति होगी। वह भोग व्यापारादि व्यर्थ क्रिया त्यागकर सत्सगादि साधन, हितकारी पुरुषार्थ को प्राप्त होगा। पुन· उसे हर बात की ठीक-ठीक परीक्षा मिल जायेगी। मुक्ति और बध दोनो के लाभ और हानि उसको हस्तगत ऑवला वत प्रत्यक्ष सम्मुख झलकने लगेगे। वह निर्भय होकर मन-मानन्दियो के भुलावे से पृथक हो जायेगा और अपने आप पारख स्वरूप सदा के लिए निराधार ठहर रहेगा।

सद्ग्रन्थ भवयान सटीक, षष्टम प्रकरण—साखीसुधा समाप्त

जड़-चेतन-निर्णय

हेतु छन्द

जड देह के सम्बन्ध मे भ्रमि जीव यह परतन्त्र है।
यह दुःखमय ग्रन्थी छुटै यहि हेतु दे सद् मन्त्र है॥
भाषा सरल अमृत भरल कहि सार शब्द स्वतन्त्र है।
नित नित पठन यह ही करो मन पार हेतु सुयन्त्र है॥

साखी

सशय रहित अछेद बच, जड चेतन को हाल।
सो वाणी मो उर बसै, हरण त्रिदोष कराल॥

सद्गुरवे नम

भवयान

सप्तम प्रकरण : जड़-चेतन-निर्णय

वन्दना

सोरठा

ज्ञान देव गुरु देव, जड चेतन निर्णय लखै।
बहुति जीव भ्रम सेव, परै न तिनके फन्द मे॥ १॥

टीका—हे देवो के देव पारखरूप सद्गुरुदेव! आप मुझे यथार्थ पारख दीजिए, जिस पारख से हम जड और चेतन के यथार्थ गुण-लक्षणो को जाने, क्योकि बहुत से जगज्जीव भ्रमजाल मे पडे हुए भूलजनित मार्ग का ही सेवन करते है और दूसरे को भी उसी भूलमार्ग मे डालने का प्रयत्न कर रहे है, इसलिए आपकी कृपा से मुझे ऐसा दृढज्ञान पुष्ट हो कि जिससे हम इन भूले मनुष्यो के असत सिद्धान्त मे न फँसे॥ १॥

तुमही एक दिखान, यह भवसिन्धु से पार हित।
बूडत सकल जहान, करौ कृपा जेहि तम फटै॥ २॥

टीका—हे सद्गुरुदेव! एक आप ही ऐसे देखने मे आते है कि जो इस असार ससार से पार है और दूसरे को भी पार करके उसका कल्याण करने वाले है। और तो क्या पण्डित, क्या मूर्ख, सम्पूर्ण जगज्जीव अविवेक-सिन्धु मे डूब रहे हैं। अब आप ही दया करे, ज्ञान दे, जिससे हमारे हृदय का अज्ञान-तम फट जाय॥ २॥

हिम्मति देव कठोर, शैल सुमेरु न अँडि सकै।
अचल अखण्डित जोर, प्राण जाय चहु प्रण रहै॥ ३॥

टीका—कल्याण-मार्ग के साधन-बोध ग्रहण करने मे मुझे ऐसी कठोर हिम्मत तथा कार्यतत्परता दीजिए कि मेरे अडिगपना के आगे सुमेरुगिरि भी न अडे। अडिग सुमेरु पहाड भले डिग जाय,पर मै किसी विघ्न-बाधा के आने पर अपने हित साधन से न हटूँ। मुझे इतनी अचल अखण्ड एकरस ज्ञान की शक्ति प्राप्त हो कि प्राण भले ही जाय पर मेरा स्वरूपलीनता

का प्रण न टले ॥ ३ ॥

यह विनती गुरु मोरि, पूर करा मम माँगिवो।
करो प्रणाम वहोरि, वार वार शिशु शिर धुने ॥ ४ ॥

टीका—हे पूज्य गुरुदेव! आप से मेरी यही अर्जी ह कि आप मेरे माँगन को पूर्ण कीजिए। मे आपको सिर झुकाकर सादर वन्दगी करता हूँ और वारम्वार वालक के समान आपके आगे सिर पटककर रोता हूँ, विनय करता हूँ, रक्षा कीजिए॥ ४॥

चापाई

सतगुरु नमो चरण शिर तुम्हरे। दे निज ज्ञान कुमति हरो हमरे॥
नहिं उपकार सरिस कोइ तुम्हरे। जिनकी कृपा गहत जिव ठवरे॥

टीका—हे सद्गुरुदेव! आपके चारणो मे सिर धरकर साहेव वन्दगी आर साष्टाग दण्डवत करता हूँ। आप अपना मत्यज्ञान देकर मेरे विपरीत निश्चय को हर लीजिए! आपके उपकार के ममान हम किसका उपकार माने! आप गुरुवर की सद्शिक्षा गहते ही जीव का ससार-सागर से उद्धार हो जाता हे। अत. आप सद्गुरु मे वढकर कोई भी श्रेष्ठ नहीं है।

प्रसंग १—जीव और जड़तत्व जानने की विधि

कवित्त

प्रकाश के सवन्ध माहिं पृथ्वी को ज्ञान होत, जाना याहि धारि रही कारज अनन्त को।
महि की अपेक्षा लखि अनल प्रकाश माहिं, जाना जात वारि यह कारज डुवन्त को॥
कोइ कोइ नाहिं डूव कारज वहत जात, ठहर न याहि माहिं महि के समन्त को।
याहि हेत तन को वचाय लेत डूवने से, भीजने न देत वस्तु शोषने योगन्त को॥

टीका—प्रकाश के सम्वन्ध से ही पृथ्वी का ज्ञान होता ह। प्रकाश मे ही देखकर जाना जाता ह कि यह पृथ्वी ह जो कि वेलि, वृक्ष, पहाड, घर, समग्र कार्य पदार्थो आर चेतन जीवो की देहो को प्रत्यक्ष धारण कर रही ह। पृथ्वी की ही अपेक्षा रहने से अग्नि के प्रकाश मे जाना जाता ह कि यह समुद्र तथा नदियो मे वहता हुआ जल ह। जल मे वहुत से कार्य-पदार्थ डूव जाते हें आर कोई-कोई कार्य-पदार्थ नहीं डूवते, तो भी पृथ्वी पर की वस्तुओ के समान स्थिर न रह कर वहते रहते हें। जमे पृथ्वी पर मव कार्य-पदार्थ ठहरे रहते हे वसे जल पर नहीं, या तो डूव जायेगे, या जल के ऊपर वहते हुए तेरा करेगे। यदि उन पर भी डुवा देने वाली वस्तुओ का भार अधिक हो जावे, तो तेरती हुई वस्तुएँ भी डूव जाती ह। पृथ्वी से जल को अलग जानकर ही मनुष्यादि देहधारी जीव पृथ्वी पर चलने के समान निधडक हो जल पर नहीं चलने लगते। सवको निश्चय हे कि जो हम जल पर चलेगे तो डूव जायेगे। ऐसा जानकर ही अपने शरीर को सव प्राणी समुद्र, नदी, कूपादि मे डूवने से वचा लेते हें। साथ ही पोथी, कपडा, दाना-चवेना आदिक जिन वस्तुओ के भीजने से नुकसान हो जाता ह उन्हे जल मे भीजने मे वचाकर रक्षा करते रहते हें। इम प्रकार के होने से पृथ्वी का ज्ञान आर पृथ्वी के ज्ञान

से प्रकाश के साथ ही जल तत्व को जाना जाता है॥ १॥

तीनि से उडत नाहि कारज उड़त हालि, देखे जाना बायु काहि भिन्न ही सयोग से।
तीनि मे प्रकाश नाहिं देखा तब माना यह, अनल प्रकाशमान अन्य ही के योग से॥
पक्षी जन्तु उडत पतग जात देखिये, गुब्बारहूँ उड़त जात बायुयान योग से।
जल माहिं तैरत मनुष्य औ जहाज देखि, याहि से तो जाने वह बायु केहि योग से॥

टीका—पृथ्वी, जल और अग्नि ये तीन तत्वो से तृण, पत्ते, धूल, पताका, वस्त्रादि उडते-हिलते नही देखे गये, इसलिए जाना गया कि इन तीनो से भिन्न, वस्तुओ को उडाने-हिलाने वाला चौथा वायु तत्व है। इस प्रकार वायु का ज्ञान अन्य तीन तत्वो के सम्बन्ध से ही होता है। पृथ्वी, जल और वायु मे प्रकाश न देखकर ही निश्चय किया गया कि इन तीनो से भिन्न तीनो का प्रकाशक अग्नि तत्व प्रकाशरूप है। इस प्रकार अग्नि का भी ज्ञान अन्य पृथ्वी, जल और वायु की ही अपेक्षा से होता है। ऊपर वातावरण मे बहुत से पक्षी उडते है, पतग उडते देखा जाता हे, गुब्बारा, वायुयान और बादल आदि ऊपर उडते चले जाते हैं और इधर जल मे तैरते हुए मनुष्य और नाव तथा जहाज आदि देखे जाते है। इससे जाना गया कि जहाँ पृथ्वी, जल, अग्नि तत्व नही है वहाँ ऊपर वातावरण मे विशेष वायु ही समुद्र-जलवत भरा हुआ है। यही कारण है कि जैसे जल मे मनुष्य और जहाज आदि तैरते है, वेसे पक्षी तथा वायुयान आदि ऊपर वायु के ही आधार से उडते रहते हे। इस प्रकार अन्य तत्वो की अपेक्षा से वायु का ज्ञान होता है॥ २॥

शीत उष्ण कठिन न कोमल को ज्ञान होय, जब लग अन्य से सबन्ध नाहिं होयता।
स्वभाविक सयोग मेल से ही हे विरोधी धर्म, तत्त्वन को ज्ञान होय भिन्न भिन्न जोयता॥
तन के परश या तो अन्य बस्तु ठडी देखि, जाना जाता बारि माहिं शीत धर्म होयता।
अग्नि के प्रकाश माहिं दरशे पदार्थ सब, नेत्र से ग्रहण रूप सग माहिं होयता॥

टीका—जल का शीत, अग्नि का उष्ण, पृथ्वी का कठिन और वायु का कोमल इन सबो का ज्ञान तब तक नही हो सकता जब तक एक दूसरे का सबध न हो। अनादिकाल से स्वाभाविक चार तत्वो का परस्पर सयोग सबध रहा हुआ है। कम-विशेष परमाणुओ का सयोग सबध रहते हुए भी वे सब एक से एक विरोधी धर्म वाले हैं, जिससे अलग-अलग रहे हुए तत्वो का, एक दूसरे की अपेक्षा से अलग-अलग ज्ञान होता है। देह मे ठडक लगने से या जल के सयुक्त अन्य चीजे ठडी देखकर जान लिया गया कि जल मे शीत धर्म है या जल शीत का स्वरूप है और अग्निरूप सूर्य के प्रकाश मे सब पदार्थ दिखाई देते है, प्रकाश मे ही सब वस्तुओ के रूप-रगो का नेत्र द्वारा ग्रहण होता है। प्रकाश न हो तो रूप-रगवाली वस्तुएँ रहते हुए भी अन्धकार मे दिखाई ही नही देतीं, अत प्रकाश धर्म से ही विविध रूप-रग देखे जाते हैं॥ ३॥

बस्तु के जलायवे से तन के तपायबे से, यों ही योग परि परि दाह को लखानता।
त्वक मे कठोर योग परश सयोग मेल, याही ते कठोर धर्म महि मे ही भानता॥
महि मे कठिन पर्श प्रथमहि ज्ञान जब, त्वक से परश बायु कोमल को ज्ञानता।
यो ही योग परि-परि सबही को ज्ञान होय, मेल ही मे जाने गये तत्त्व न हटानता॥

टीका—काष्ठ, वस्त्र, छप्पर आदि वस्तुओं को जलाने और देह मे घाम आदि ताप लगने से जाना गया कि अग्नि जलाने वाली है। अर्थात अग्नि दाहक और प्रकाश का स्वरूप है। जव कहीं पृथ्वी पर कोई गिर जावे या ढेले आदि से कोई मार दिया या वायु के सयोग द्वारा ककड छर्रे उडकर शरीर मे लग गये या पृथ्वी पर सो जाने से देह मे कठिनता मालूम होने लगती है, इससे जाना गया कि पृथ्वी मे कठोर धर्म है। इस प्रकार पृथ्वी मे कठोर धर्म का जव पहिले ज्ञान रहा तव त्वचा मे मंद-मद वायु लगने पर कठोरता न लगने मे कोमल स्पर्श द्वारा जाना गया कि कोमल धर्म वायु का है। इस प्रकार इन्द्रियो से चारो तत्वो का सम्वन्ध हो-होकर ज्ञान होता है। वे चारो एक दूसरे की अपेक्षा रहने से ही जाने जाते हैं। अग्नि के प्रकाश से पृथ्वी, जल ओर वायु का ज्ञान तथा इन तीनो से अग्नि का ज्ञान ओर जल की अपेक्षा पृथ्वी, पृथ्वी की अपेक्षा से जल का ज्ञान होता है। इस प्रकार एक दूसरे के आधार से ही सव तत्व जाने जाते हैं। तो भी कोई जड तत्व असिद्ध-अवस्तु कहने से असिद्ध-अवस्तु नहीं होता। जैसे सव तत्वो के गुण-धर्मों की अपेक्षा से ही सव तत्वो का निश्चय हुआ, वेसे जीव भी देहो के सम्वन्ध से रहा हुआ जड गुण-धर्मों से पृथक ज्ञान-धर्मवाला ज्ञानस्वरूप जाना जाता है। जेसे मेल में जाने गये जडतत्व कभी असत्य नहीं होते, वेसे जड की अपेक्षा से चेतन अपरोक्षरूप से जाना गया, सो चेतन कभी असत्य नहीं होता, अर्थात चेतन सदा सत्य शुद्ध अपने आप है॥ ४॥

कारण ओर कारज मे जहाँ जहाँ देखि रहो, साथ ही मे जानि जानि माना सव तत्त्व का।
तत्त्वतत्त्व मेल से ही भिन्न भिन्न जानि लेही, एक एक की अपेक्षा राखि सव तत्त्व ठान का॥
यह महि वारि यह पावक पवन जानि, भिन्न भिन्न जानि मानि गुन ही पदार्थ का।
गुण धर्म छोडि ना पदार्थ कछु होय सके, नेत्र त्वक श्रवण व घ्राण जिह्वा द्वार का॥

टीका—कारणरूप चार तत्वो का विस्तार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और उनसे वने हुए नाना कार्य जहाँ तक देख-देखकर जान लिया जाता है, वह सवके सम्वन्ध ही मे जानकर सव तत्वो के गुण-लक्षण द्वारा सव का निश्चय किया गया हे। एक तत्त्व दूसरे तत्व के सम्वन्ध से ही भिन्न-भिन्न जान लिये जाते हैं। अग्नि प्रकाश की अपेक्षा थल को और थल की अपेक्षा से जल, जल की अपेक्षा से वायु तथा वायु, जल, थल की अपेक्षा से अग्नि को, इस प्रकार परस्पर अपेक्षा से ही सव तत्वो को जाना, माना, निश्चय किया गया है। यह सवको धारनेवाली पृथ्वी हे, यह वहने-डुवानेवाला दृश्य जल है, यह जलानेवाली प्रकाशरूप अग्नि हे, यह वस्तुओ को उडाने-हिलाने वाला वायु हे। इस प्रकार अलग-अलग गुण-धर्मो को जान-मानकर सव तत्वो के कार्यो को देहधारी जीव जानते-मानते ओर गुनते हें। अतएव गुण-धर्मो को छोडकर पदार्थो की न तो सत्ता रह सकती है और न उसका कभी ज्ञान ही हो सकता। पदार्थो का जव ज्ञान होगा तव गुण-धर्मो के लक्षणो से ही होगा। अतः गुण-धर्म छोडकर पदार्थ ओर कुछ भी नहीं है। तत्वो के गुण-धर्मो को आँख, त्वचा, कान, नाक और जिह्वा इन्द्रियो-द्वारा नित्य चेतन जीव जानते रहते हें॥ ५॥

कहूँ खाय कहूँ सूँघि कहूँ पर्श श्रवणन, लेखा से ही जानि देखि गुनत पदार्थ हे।
जान ने ही देखा सुना सूँघा पर्शा खाय करि, जाने ही से सिद्धि सव तत्त्व ये गुनार्थ है॥
जान ही ने आगि जाना जान ही ने जल जाना, जान ही ने वायु जाना जानता थलार्थ है।
जाहि विना सिद्धि नाहिं होय सके कोई वस्तु, ताहि छोडि अन्य राखै लखत मदार्थ है॥

टीका—कहीं तो किसिम-किसिम की चीजे खाकर स्वाद को, कहीं तरह-तरह की चीजे सूँघकर गध को, कहीं त्वचा से छूकर स्पर्श को और कहीं कान से सुनकर शब्द को, इस प्रकार पॉचो ज्ञानेन्द्रियो द्वारा ग्रहणकर, फिर भीतर उसका भिन्न-भिन्न हिसाब लगाकर सब पदार्थो को चेतन जीव ही निश्चय करता है। जिस प्रकार गुण-धर्मो को इन्द्रियो द्वारा देखा, उसी प्रकार पदार्थो का मनन करता है। जानने वाले जीव ही ने अपने से अलग नेत्रो द्वारा रूप देखा, कानो द्वारा शब्द सुना, नाक द्वारा गध लिया, त्वचा द्वारा स्पर्श तथा जिह्वा द्वारा रस को ग्रहण किया, सब इन्द्रिय और इन्द्रियो के विषयो को भी जानकर सबको अलग-अलग निश्चय करके मनन करने वाला यह जीव ही है। जीव ही से सब जड तत्वो की सिद्धि होती है। जनैया जीव ही आग को जानता है, जीव ही पानी को जानता है, जीव ही वायु को जानता है तथा जीव ही पृथ्वी को भी जानता है। जीव के बिना ये जड तत्व अपने-पराए को जान नहीं सकते। तब अपना होना, न होना भी वे कैसे कह सकते है। सम्पूर्ण जड तत्वो का ब्रह्माण्ड किस काम का। किसके प्रयोजन आवे जब जीव ही नही, तो आग, पृथ्वी, वायु हो तो क्या, न हो तो क्या। चेतनजीव ही हानि-लाभ, सुख-दुख, अपन-परार जडतत्वो से मानकर जडतत्वो का उपयोग करता है। जिस चेतन जीव के रहे बिना सम्पूर्ण जड तत्वोयुक्त कारण-कार्य जड़ पदार्थो की सिद्धि नही हो सकती है, उस चेतन जीव को न मानना, न निश्चय करना और स्वरूप से पृथक जड धोखा को सत्य मानकर उसी को सिद्ध करना, यह भ्रम तथा उन्माद नहीं तो क्या है। ॥ ६ ॥

दृष्टांत—एक मनुष्य जौहरी था। वह पन्ना, पोखराज, नीलम आदि रत्नो का परीक्षक था। पर उसे भॉग खाने की लत थी। एक दिन वह भॉग के नशे मे था। किसी सेठ ने आकर कहा—मुझे असली पॉच रत्न चाहिए। जौहरी ने नशे मे कहा—उन्ही पॉचो से पूछ लीजिए। सेठ ने कहा—वे तो जड हैं। वे अपनी कीमत और गुण-दोष कैसे कह सकते है? नशाधर जौहरी ने कहा—आप कैसे मूढ हैं। जब उनकी विशेष कीमत है, तो वे अपने गुण-दोष का निर्णय आप ही कर देगे। सेठ ने कहा—हम तो मूढ है, आप बड़े चतुर है। उनकी कम-विशेष कीमत आप ही ठहराते है। आपके बिना वे जड रत्न कौडी मोल के भी तो नही है। हम आप उसे कम-विशेष गुण-दोष देखकर कम-ज्यादा मोल करते तथा काम में लाते हे। इसलिए हम-आप ऐसे चैतन्य जीव से ही रत्नो की विशेषता है अन्यथा उनको कौन पूछने वाला है। इतने मे भॅगेडी जौहरी बकने लगा—"हम नही, हमारे मे कुछ विशेषता नही, हमारे मे कुछ विशेषता नही, जो कुछ हैं सो ये रत्न ही है, हमसे बढ़कर रत्नो की कीमत है।" सेठ ने क्रोध मे आकर कहा—यदि तुम कुछ नही हो तो कूप मे गिर जाओ। देखे तुम्हे ये जड रत्न निकाल सकते है या नही। ऐसा सुनते ही जौहरी अपने नशे के जोश मे उठा और पॉच रत्नो को कमर मे बॉधकर कूप मे घम से कूद पडा और पानी मे गिर कर डूबने लगा। कभी-कभी हाथ-पैर फटफटाकर पानी के ऊपर होवे, तो उन रत्नो से कहे—क्यो रे। तुझ रत्नो की लाख-लाख कीमत है, फिर मुझे डूबने से बचने की युक्ति क्यो नहीं बताते। भला। वे जड रत्न कैसे युक्ति बतावे। इस प्रकार बार-बार डूबने से बहुत पानी पी गया और मरने को ही था कि इतने मे कई मनुष्य दौडकर उसे युक्ति से पकड कर निकाल लिए। उसके एक मित कृपानाथ ने यह सब अवदशा देखी और नशा-निवारक औषध खिलाई, जिसे खाते ही जौहरी की बुद्धि ठेकाने आ गई । जब उसका नशा उतरा तब वह अपनी बेवकूफी पर पछतावा करने लगा। मित कृपानाथ

को धन्यवाद दिया और उस दिन से नशा खाना छोड दिया।

इसी प्रकार चेतन जीव सब जड तत्वो का जाहरी पारखी है। पच विषययुक्त जड त
के गुण-धर्मो को जानकर उनमे हानि-लाभ जानने-मानने वाला आप ही है। पर यह वि
सेवनरूप भाँग खाता है। इसे जड देह-गेह, पिण्ड-ब्रह्माण्ड की ममता हो गई है। इसलिए
नश्वर विषयो का प्रमादी बनकर जड़ तत्वो को ही मुख्य मान रहा हे। पर जडतत्वो ही
मान्यता एव आसक्ति जीव के ऊपर आवरण करके जन्म-मरण कूप मे डाल रही है।
जीव जिन जड तत्वो के विषयो मे चक्कर काट रहा ह, उन्हीं से अपना कल्याण मानता
कही शब्द, कहीं रूप, तेज, कहीं विविध रस, कहीं स्पर्श, कहीं गन्धवत अपना स्व
मानकर जडाध्यासी बन गया हे। इसी मे इसका दिन-प्रतिदिन बधन बढता जा रहा है।
कृपानाथ सद्गुरुदेव जीव को कृपा करके जड-चेतन को पृथक-पृथक करने की विवेकदृ
देते हैं तभी वह अपने स्वरूप को जड विषयो मे न्यारा कर सुखी होता हे।

सुना सो तो सुना नाहीं जब लगि जाना नाहीं, देखा सो तो देखा नाहीं जब नाहीं जानिये
पर्श करि जाना जौन जाने बिन माना नाहिं, माना तब जानि करि जाने बिन नाहिं ये
खाया तब कहि सकै जानि लिया जब ताहि, जाने बिनु खाया न प्रसिद्धि होत मानिये
सूँघा नाहिं जानौ तब जब लगि ज्ञान नाहिं, जानि लिये गंध को कहत तब ठानिये

टीका—कानो मे आवाज भले पडा करे, पर यदि जीव का उधर लक्ष्य न हो, उन श
की तरफ ध्यान न दे, तो सुना हुआ न सुनने के समान हो जाता है। इससे जनैया के जाने वि
सुना भी नहीं सुना ह। इसी प्रकार नेत्र के सामने होकर अपना शत्रु या मित्र चला जाय, य
जीव का लक्ष्य अन्य ठौर हो तो उनका ज्ञान नहीं कर सकता। इस प्रकार जनैया के जाने वि
देखा हुआ भी न देखने के समान ही हे। ऐसे ही स्पर्श करके जब जाना गया तबही उस
माना गया कि मुझे ठड या गरम स्पर्श हुआ। जान ही करके स्पर्श होना सिद्ध हुआ। जाने वि
मानना नहीं होता। इसी प्रकार गध, स्वाद आदि के बारे मे भी समझिए। जेसे चोर के ऊ
वारट हो, पकडे जाने की आशका तथा फाँसी की नौबत हो, वह बहुत घबडाया हो ओ
उसका लक्ष्य भय मे प्रवृत्त हो, उस समय यदि चोर को कोई मेवा-मिष्टान्न खिलावे ओ
पृथक-पृथक उससे स्वाद पूछे तो वह कुछ नहीं कह सकता। अतः खा करके जब स्वादो
लक्ष्य पूर्वक जाना गया, तभी कहा जाता है कि मैंने अमुक-अमुक भोजन खाया। यदि खाने
ज्ञान न हो तो मैंने अमुक-अमुक भोजन खाया, यह कभी कहते नहीं बन सकता। ऐसे ही त
तक सुगध या दुर्गंध नहीं कहा जा सकता जब तक नाक द्वारा सुगंध या दुर्गंध का ज्ञान जनैया
न हो। गध को जान लेने पर ही गध मैंने लिया, इस प्रकार कहा जाता है।

सारांश—जिस वस्तु का गुण-लक्षण द्वारा यथार्थ ज्ञान हो जाय, बस मानो उसको दे
चुके, क्योंकि देखने-सुनने आदि की भी सिद्धि जान-जान कर ही होती है॥ ७॥

सवैया

शीतल वारि कहे जस भिन्नहिं उष्ण प्रकाश को भिन्न बताई।
कोमल वायु को भिन्न लखै जस तीनो से भिन्न मही कठिनाई॥

तैसहिं भिन्न है आपको आपहिं जाहि बिना को लखै तिनकाई।
इन्द्रिन ज्ञान करे वो जहॉ लगि सो सब भिन्न जडै तम आई॥ १॥

टीका—जल शीतलतायुक्त है, उससे पृथक धर्म अग्नि की उष्णता और प्रकाश देखकर कहा गया कि जल से अग्नि अलग है और जल शीतल है तथा अग्नि उष्ण और प्रकाशयुक्त है, दोनो का भेद प्रत्यक्ष है। वायु का कोमल धर्म त्वचा से जानकर अनुभव हुआ कि जल और अग्नि से अलग तीसरा वायु तत्व है। इन तीनो से पृथक पृथ्वी को कठोरता युक्त देखकर चौथा पृथ्वी तत्व का निश्चय हुआ। तो जैसे ये तत्व पृथक-पृथक गुण-धर्मो द्वारा पृथक-पृथक जाने गये वैसे ही सर्व जड तत्वो का जनैया जीव अपने आप सर्व जड तत्वो से न्यारा है, क्योकि अपने आप न्यारा रहे बिना जड तत्वो को कौन जान-मानकर कथन कर सकता है। दुखी-सुखी होकर दुख मिटाने का यत्न कौन कर सकता है। स्वय चेतन अपने से भिन्न इन्द्रियो-द्वारा जहॉ तक ज्ञान करता है वहॉ तक सब पिण्ड-ब्रह्माण्ड दृश्य जडतम चेतनता रहित है॥ १॥

इन्द्रिन पार बसै खुद चेतन जानि सबै निज जानि रहाई।
इन्द्रिन द्वार से ज्ञान करै पर ही परत्यक्ष लख्यो तिनकाई॥
स्वय प्रत्यक्ष है आपको आपहि सोई स्वय रहि जानि जनाई।
आपको आप प्रत्यक्ष त्रिकाल जो दृश्य प्रत्यक्ष कि कौनि बडाई॥ २॥

टीका—स्वय जीव जड इन्द्रियो का ज्ञाता, इन्द्रियो से भिन्न अपने आप है। स्वय चेतन जीव ही जड इन्द्रिय साधन[१] द्वारा अपने से भिन्न सब वस्तुओ को जानता है। इन्द्रियो द्वारा जिन जड तत्वो का ज्ञान करता है वे पर-प्रत्यक्ष है। जडदृश्य दूसरे के द्वारा जाने जाते हैं। स्वय उनमे जानने-जनाने की शक्ति नहीं है। दृश्य जड से भिन्न चेतन जीव ही जड को जानता और ठहराता है, इसलिए जड तत्व पर-प्रत्यक्ष है और जड तत्वो का देखने वाला स्वत चैतन्य रहने से स्वय-प्रत्यक्ष हैं। वही स्वय जनैया सबको जानता और जनाता है। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनो काल मे अपने अस्तित्व का सबको स्वय प्रत्यक्ष है। मै नही हूँ, ऐसा किसी भी चेतन को किसी समय प्रतीति नही होती। इस प्रकार त्रिकाल अपनी सत्ता के आगे पर-प्रत्यक्ष दृश्य जड तत्त्वो की कोई विशेषता नही है॥ २॥

जागृत स्वप्न सुषोपति दृश्य है सन्मुख नित्य परै तेहि गाई।
जागृत माहिं रहैं जस भूत रहै तस स्वप्न सुषोपति माई॥
सुषोपति माहिं न दृश्य रहै वह जागृत सन्मुख देत दिखाई।
जानि मिलैं उनही सब सन्मुख बारहिं बार अनन्तन ताई॥ ३॥

टीका—जीव के सामने ही तीनो अवस्थाएँ दृश्य होती है। जाग्रत का अर्थ है पॉच ज्ञान इन्द्रियो द्वारा सावधानी से पदार्थो को देखना-सुनना तथा त्याग-ग्रहण की क्रिया करना। जाग्रत की करी-धरी-वासनाए टिककर सोते समय उनका विकृत रूप मे दिखाई देना, तथा मनोमय मात्र दृश्य होना स्वप्नावस्था है। घोर निद्रा मे होकर वासनाओ का बीजरूप मे सिमिट जाना और कुछ भी याद न रहना इसका नाम सुषुप्ति अवस्था है। ये तीन अवस्थाएँ सिनेमा दृश्य के

---

१ जैसे मनुष्य कुल्हाडी आदि साधन से लकडी काटता है वैसे जीव इन्द्रिय साधन से बाह्य वस्तुओ का ज्ञान करता है तथा इन्द्रिय सम्बन्ध रहित शुद्ध ज्ञान मात्र है।

समान इस जीव के सामने नित्य दर्शित होती रहती हैं। जैसे जाग्रत में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और कारण-कार्य की स्थिति है, वैसे सुषुप्ति मे भी इन तत्वो की स्थिति है, परन्तु सुषुप्ति मे इन अनादि प्रवाहरूप रहे हुए जडतत्वो का भान नहीं रहता, अर्थात जडतत्त्व पूर्व की तरह रहते हुए भी सुषुप्ति मे जीव को उनके रहने का ज्ञान नही रहता। इससे वे क्या नहीं रह जाते? रहते अवश्य है, क्योकि जागकर फिर वे कारण-कार्यरूप तत्व दृष्टिगोचर होते है। कारण जडतत्वो से असख्य कार्य बनते तथा मिट-मिटकर कारण मे मिलते है। इस प्रकार घूम-घूमकर बार-बार वे जडतत्व ही अनन्त प्रकार से द्रष्टा जीव के सामने पडा करते है॥ ३॥

जाने सुषोपति होत रहे नित सोई अनन्त सुषोप्ति रहाई।
बारमबार लखे न लखे स्मर्ण अनन्तन आइ हेराई॥
जागृत स्वप्न लखौ सब ऐसहिं द्रष्टा औ दृश्य सदाहि जनाई।
जन्म औ मृत्यु लहे यहि भाँति मे देह अनन्त बने मिटि जाई॥
आप सदा वह एकरसै रह द्रष्टा स्वरूप सो जानहु ताई॥ ४॥

टीका—जनया जीव ही जाग्रत-स्वप्न का बीज लेकर सुषुप्ति मे रहता है, क्योकि जागकर सुषुप्ति मे जगत के अभाव का ज्ञान करके कहता है—मै इतना सो गया कि मुझे कुछ खबर ही नहीं रही। इस प्रकार सुषुप्ति के भाव को जाग्रत मे विदित करता है। अत्यन्त जड-आवरणरूप वही सुषुप्ति असख्य बार होती है और मिटती रहती है। जाग्रत अवस्था में आई हुई भावनाओ को देखकर स्मरण रक्खे या भूल जाय, परन्तु दिन-रात मे असंख्य स्मरण जीव के सामने उठ-उठकर लुप्त होते रहते हैं। स्वप्न मे भी यही हाल है। स्वप्न के उद्वेग जाग्रत मे याद रहे या न रहे, पर वे सब स्मरण अवस्थानुसार जीव के सम्मुख ही होकर उठते और बिलाते रहते है। इससे यह नहीं कि जिसकी एक समय याद न हो तो वह कोई वस्तु ही नहीं, बल्कि गुण लक्षण द्वारा जो सावधानी से भावरूप यथार्थ जाना जाता है वह पदार्थ अवश्य है। इस प्रकार दृश्य जड तत्व तथा उनका जानने वाला द्रष्टा चेतन जीव, दोनो गुण-धर्मयुक्त उत्पत्ति-प्रलय रहित नित्य एव अनादि है, परन्तु द्रष्टा चेतन जीव इस दृश्य जड मे उलझकर जाग्रत मे कर्म सस्कार ग्रहण करता है, स्वप्न में पुन. अनुभव करता है, और सुषुप्ति मे सर्व वासनाओ का बीज रखता है, फिर जागकर वही-वही कार्य आरम्भ करता है, पुन. स्वप्न सुषुप्ति मे समाता है। इस प्रकार अखण्ड जीव के सम्मुख देहोपाधि द्वारा अनन्त बार तीनो अवस्थाएँ हुई और मिटीं तथा मिटती रहती है, पर अनुभवकर्ता जीव वही का वही रहता है। इसी प्रकार कर्म वासना अनुसार जीव के सम्मुख अनन्त देहे बनती और मिटती रहती हैं। जीव उन देहो का द्रष्टा एकरस ज्ञानरूप सदोदित रहता है॥ ४॥

प्रसंग २—स्वयं सत्य देहधारी जीव और जड़तत्वों का विभेद

शब्द—३

भरम तजि जीव यथारथ देश॥ टेक॥
तत्त्व योग परमाणुन घट बढ, कारज बनै हमेश।
कोन प्रमाणु कहाँ केहि कारज, तेहि तुम कहौ निदेश॥ १॥

वायु तत्त्व जो दृष्टि अगोचर, होते दृष्टि न वेश।
वस्तु झिकोरे मनुप ढकेलै, कौन कहे नहिं लेश॥ २॥
जड तत्त्वन मे वस्तु असंख्यन, कारज बनै सो पेश।
बहुत किसिम के गुणन भेद बहु, जडता तजत न देश॥ ३॥
कारण तत्त्व एकमेकै है, जल थल वायु दिनेश।
गुण धर्मन औ शक्ति भेद से, न्यारा करत यथेश॥ ४॥

टीका—विपरीत समझ छोडकर देखा जाय तो जीव ही सत्य स्वरूप है। सुख-मानन्दी माल ही जड देह और जीव का सम्बन्ध है, उसे परीक्षा करके छोड देने से शुद्धस्वरूप स्वयं अपने आप रहना चेतन का स्वदेश है॥ टेक॥ कारण तत्वो के कम-अधिक परमाणुओ से सब कार्य सदा बनते रहते है। उन तत्वो के असख्य अखड परमाणुओ के समूह जल, वायु, पृथ्वी और तेज नाम से कहे जाते है। उन जड तत्वो मे से किस तत्व का कौन परमाणु किस कार्य और उसके किस हिस्से मे लगा है, इसे भिन्न-भिन्न निर्णय करके समझाइए। यदि उसका विवेचन न हो सके तब क्या वे तत्व-परमाणु नही ह। हे तो अवश्य ही क्योकि अखण्ड असख्य परमाणुओ के समूह कारण से ही तो अनत बीज-वृक्षादि बढते मोटाते है। इस शाखा मे लगे हुए परमाणु पचास वर्ष पूर्व कहॉ पर थे, कब कैसे कौन परमाणु कहॉ किस ठौर की शाखा फूल-फल मे लगे है, दस वर्ष के बाद ये कहॉ पर जायेगे, क्या कोई भौतिक ज्ञानी-विज्ञानी इनका शोध लगाकर बता सकता है। इन बातों का न शोध लगने पर भी परमाणुओ से बीज-वृक्षादि अनन्त कार्य निश्चय ही बनते हुए प्रत्यक्ष है वैसे पूर्व जन्म मे जीव कहॉ था आगे कहॉ जायेगा ऐसा न बता पाने पर भी ज्ञान गुण से सर्वज्ञाता गुणी चेतन द्रव्य स्वय सत्य है। जैसे कारण कार्यरूप जड तत्व शक्ति, धर्म, गुण से सबको इन्द्रियो द्वारा दृश्य हो रहे है, वैसे जड तत्वो के शक्ति, धर्म, गुण से सर्वदा पृथक सुख-दुख, त्याग-ग्रहण, हानि-लाभ, कारग-कार्य जड तत्वो को मै जानता हूँ, ऐसा भिन्न-भिन्न निश्चय करने वाला मैं ज्ञानस्वरूप चेतन स्वय प्रत्यक्ष हूँ। जो कहो चेतन जीव नेत्र से दृश्यमान नही होता, तो क्या वायु तत्व दृष्टिगोचर होता है॥ १॥ जैसे अन्य तत्व दृष्टिगोचर है वैसे वायु तत्व का स्वरूप नेत्र द्वारा दृश्य नही होता, बल्कि डालियॉ, पत्ते, वृक्ष आदि अन्य वस्तुओ को झकोरता-हिलाता है, देह का स्पर्श करके ढकेलता है, कोमलता तथा बलयुक्त अपने से पृथक वस्तु को हिलाने से सबको प्रत्यक्ष ही है, तो फिर वायु तत्व नही है ऐसा कौन बुद्धिमान कह सकता है। क्योकि गुण-धर्मयुक्त सबको वह प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार जीव नेत्रगोचर न होते हुए भी वायु का भी ज्ञाता वायु से पृथक है॥ २॥ कारण तत्वो मे अगणित वस्तुएँ बनती रहती हे सो प्रत्यक्ष हे। वे बहुत प्रकार की है पर उनका स्वरूप जो जड है वह कही भी लुप्त नही होता। जैसे भिन्न-भिन्न गुणवाली औषधियॉ होती हे, तद्वत कार्य पदार्थों के गुण जानिए, परन्तु वे सब ज्ञान रहित जड के जड ही है॥ ३॥ सब कार्यो के मूल जड तत्व हैं। एक-एक तत्व मे अन्य तत्व मिले हैं। ऐसा सब सब मे जानिए, जो कि जल, पृथ्वी, पवन और अग्नि नाम से कहे जाते हैं। वे मिले तो सबमे सब है, परतु सबके जानने मे वही तत्व आते हे जिनका मूल मे नाम कहा जाता हे। विशेष अश अपने-अपने कारण का ही है, सामान्य अश अन्य तत्वों का हे। जेसे पृथ्वी मे विशेष अश पृथ्वी का, सामान्य अश अन्य तत्वो का मिश्रण है। तद्वत जल, अग्नि, वायु मे अपना-अपना

भाग विशेष हे ओर अन्य का सामान्य हे। इस प्रकार एक-एक मे मिलते हुए भी वे अपने-अपने शक्ति, धर्म, गुण से भिन्न ही रहते हे। उसी के अनुसार विवेक करके भिन्न-भिन्न समझे जाते ह। इसी प्रकार जड देह मे रहते हुए भी कारण कार्य जडतत्वो से भिन्न स्वतन्त्र ज्ञान गुण वाला ज्ञानस्वरूप जीव चेतन हे। उसे विवेक युक्त जानना चाहिये। विवेक बिना जव मिलेजुले जड तत्व नहीं जाने जा सकते, तो अदृश्य चेतन कैसे जाना जा सकता ह॥ ४॥

पावक खास प्रमाणुन लेके, कारज जब जो बनेश।
तत्त्व कई नहिं तव एके है, यह सुनि गुनो सदेश॥ ५॥
हर्ष शोक नहिं चिंता व्यापै, यश अपयश नहिं एस।
ज्ञान कला जड मे नहि देखौ, कहाँ वासना द्वेष॥ ६॥
भय निद्रा सुख दुख नहि व्यापै, काम मोह नहि तेस।
लोभ क्रोध नहिं आशा तृष्णा, उक्ति युक्ति नहिं लेश॥ ७॥
मन चिन्तन नहिं बुद्धि जहाँ है, अहंकार लवलेश।
इन्द्री थूल प्राण नहिं श्वासा, त्रिगुण चाल जिसमेस॥ ८॥

टीका—निराला करके एक अग्नि तत्व के परमाणुओ के समूह से दस-चार-दो या एक भी कार्य वनता दिखाई देवे तव तो उससे भिन्न अन्य तत्व नही कहना वन सकता है। केवल अग्नि[१] से कोई कार्य नहीं वनता, अत· अन्य तत्व भी गुण-लक्षणयुक्त सवको प्रसिद्ध ही ह। इस बात को श्रवण करके विचारो। इससे यह भाव लेना चाहिए कि जसे जड तत्व गुण-लक्षणयुक्त सब पृथक-पृथक हे, वेसे उनसे सर्वदा भिन्न ज्ञान धर्मयुक्त चेतनस्वरूप को पहिचानना चाहिए॥ ५॥ जड तत्वो मे न तो कोई हर्प होता है आर न तो किसी प्रकार का शोक होता हे। यश-अपयश का भी ज्ञान जड मे नहीं हे। ज्ञानस्वरूप जीवो के जितने लक्षण हैं, वे जड कारण-कार्यो मे नहीं देखे जाते। वासनाएँ भी वे नहीं टिकाते ओर उनमे वेरभाव भी नहीं देखा जाता॥ ६॥ किसी से डरना, नींद लेना, सुख आर दुख भी जड मे नहीं होते। काम और मोह भी उन जड तत्वो मे नही पाये जाते, न तो उनमे द्रव्य सग्रहरूप लोभ ही है, न वे प्रतिकूलता मे क्रोध ही करते, न उनमे आगे की सुख-आशा हे, न कुछ तृष्णा ही हे। उक्ति (तजवीज) युक्ति (तरकीव) जड तत्वो मे लेश मात्र भी नहीं हे॥ ७॥ सव चीजो को दृढ मानना रूप मन.सकल्प, पूर्व और आगे या अव के सस्कारो को धारण करके चिंतन करना भी

---

१ विना अन्य तत्व के मिले किमी एक ही तत्व से कोई वस्तु वनना या अन्य तत्वो की उत्पत्ति कहना सर्वथा असम्भव हे, क्योकि जिस एक तत्व से उत्पत्ति मानी जायेगी उसमे रही हुई शक्ति सामर्थ के अलावा दूसरी शक्ति सामर्थ युक्त वस्तु कसे होगी? प्रत्यक्ष देखो। वीज-वृक्षादि कार्य वस्तुएँ विना अन्य तत्वो के सयोग भये एक ही तत्व से कभी नहीं वनतीं। दूसरी वात, कोई ऐसा पदार्थ व तत्व नहीं हे कि जिसमे अलग से आकर दूसरे तत्व का विलकुल सम्वन्ध न हो ओर फिर वह पदार्थ अधिक होता दीखे या वडा होकर एक से अन्य हो जावे। तीसरी बात, अग्नि से विरोधी धर्मवाले शीतलता युक्त जलादिक की उत्पत्ति असम्भव हे। इन कारणो से किमी एक तत्व मे अनेक तत्वो की उत्पत्ति कहना अघटित हे, अत. जड ओर चेतन दोनो अनादि हैं।

जड मे नही है। हरेक चीज की निश्चयतारूप बुद्धि भी उनमे नही है और सब चीजो मे फूलना, मैं या मेरी कहनारूप अहकार का लेश भी जड तत्वो मे नही है। उनमे मानन्दी सहित राजस-ठाट, श्रृगार, बहु भोगादि और हिंसा, घात, चोरी, व्यभिचार, तथा दया, शील, सन्तोष, परोपकार आदि भी नहीं देखे जाते॥ ८॥

कृषी बनिज बेपार न होते, गमनागमन बिदेश।
चारि बरण नहिं आश्रम चारी, धर्माधर्म मनेस॥ ९॥
मत मजहेब नहिं हिंसा त्यागै, नही आसुरी भेष।
ईश ब्रह्म नहिं तत्त्व क ज्ञाता, हिन्दू मुस्लिम लेश॥ १०॥
जड़ खानिन सब तत्त्वन देखौ, बिन जड़ता नहिं तेस।
रहत स्वभाविक क्रिया जहाँ है, हानि लाभ नहिं रेस॥ ११॥
चारि खानि मे ज्ञान अधिक कम, सब जीवन मे हेस।
मनुष खानि मे ज्ञान अधिक है, करम भेद से एस॥ १२॥

टीका—देहरक्षा निमित्त किसानी, व्यवसाय आदि भी जड मे नहीं है। ये जड तत्व अनावश्यक व आवश्यक मानकर देश-परदेश मे जाना-आना भी नही करते। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास ये चार आश्रमो के मानन्दीयुक्त कर्तव्य भी जड मे नही हे। धर्म और अधर्म की मानन्दी भी जड मे नहीं है॥ ९॥ किसी प्रकार का मत-पन्थ, सम्प्रदाय भी उनमे नही है। हिसा का त्याग अथवा राक्षसीवृत्ति भी वे नही धारण करते। ईश्वरवाद, ब्रह्मवाद, तत्वजडवाद या किसी भी सिद्धात का ज्ञान करना और हिन्दू-मुसलमान की मानन्दी जड मे कुछ भी नही है॥ १०॥ कहाँ तक कहा जाय, कोई भी ज्ञान जड खानियो मे नही है। बीज-वृक्ष, ककड-पत्थर, पहाड-पानी ये जब जड तत्वरूप ही है। विवेक करके प्रत्यक्ष देखो, इनकी कोई भी क्रिया जडता से भिन्न नही है। पदार्थो का वनना, पुष्ट होना पुन. बिगडना, ये सब उन जड तत्वो के अनादि स्वभाव के अनुसार हुआ करते हे। कुछ हानि और लाभ सोच-विचारकर क्रोधादि मानदी को धारण करके कोई भी कार्य जड तत्व नहीं करते॥ ११॥ मनुष्य, पशु, अण्डज और उष्मज ये चार खानियो मे बाह्यवृत्ति का ज्ञान कम-विशेष देखने मे आता है और मनुष्य खानि मे ज्ञान की अधिकता है, यह सब कर्माधीन देहोपाधिरूप चश्मा के घट-बढ से कम-विशेष ज्ञान जानना चाहिए॥ १२॥

स्व स्वरूप मे सदा एक सम, घट बढ रहित हमेश।
साधन भेद उपाधि से घट बढ, बाह्य लक्ष्य लखि लेश॥ १३॥
ज्ञान भानु जो सदा एक सम, परखि बासना देश।
द्रष्टा दृश्य बिलग ह्वै देखै, लक्षण शक्ति सबेस॥ १४॥
मोक्ष माहिं जेहि देखन चहते, करौ बिचार हृदेश।
बन्धमाहिं तेहि देख न सकते, लखि कस मोक्ष सुदेश॥ १५॥
द्रष्टा दृश्य माहिं कस आवत, जो देखत जड देश।
जड में शक्ति कहाँ तेहि देखन, करो बिचार हितेश॥ १६॥

टीका—जो अनन्त जीवों का स्वय स्वरूप है वह सदा से अखड-एकरस घट-बढ रहित केवल ज्ञान मात्र है। वे सजाति भाव से एक ही तरह के ज्ञानरूप और स्वरूप से सब पृथक-पृथक अगणित हैं। सब जीवो का स्वरूप अजर, अमर, अविनाशी, सदैव एकरस है, पर जड-ग्रन्थि में अनादि से पडे हुए भिन्न-भिन्न साधन-इन्द्रिय, अवस्था, खानियो के भेदरूप उपाधि से बाहरी पदार्थो का ज्ञान उन्हे घट-बढ हुआ करता है। अर्थात जीवो की बाह्य वृत्ति मे घट-बढ हुआ करती है, खास जीव में नही। जेसे सूर्य के ऊपर बादल होने से बाहरी प्रकाश का मध्यम होना मालूम पडता है पर भीतर सूर्य ज्यों का त्यों है, या जैसे चश्मा भेद से दर्शन-शक्ति घट-बढ़ होती है, वैसे बहुत प्रकार के देहोपाधियुक्त जीव दिखते है। यथा- "स्वरूपज्ञान चेतन का, सदा एकरस जोय। देहोपाधि सु ज्ञान मे, घट बढ भासै सोय"॥ ज० चे०॥ १३॥ सूर्य के समान जो अज्ञान तम से पार केवल ज्ञान वर्ण है वह चेतन जीव सदा एकरस है, घट-बढ रहित हें। वह वासना की परीक्षा करता रहता है। इस प्रकार जड देह और दृश्य वासनाओ का द्रष्टा चेतन अपने आप है। द्रष्टा को दृश्य से पृथक करके देखो-परीक्षा करो। द्रष्टा स्वय चेतन और दृश्य जड वस्तुएँ, इन दोनों को भिन्न-भिन्न लक्षण और शक्तियो के सयुक्त समझो॥ १४॥ जिस चेतन स्वरूप को मुक्ति मे देखने की इच्छा करते हो, अपने हृदय मे विचार करो कि जब उसे बधन में रहते हुए इन्द्रियों द्वारा नहीं देख सकते हो तो देह-रहित मुक्ति मे किस प्रकार देख सकोगे!॥ १५॥ क्योकि यह नियम है कि जो देखने वाला है वह देखने में नहीं आ सकता। जो द्रष्टा दृश्य मे आ जाय तो द्रष्टा कैसे रहे! जो द्रष्टा जड तत्वो को देखता-जानता है, उसको और कोन देख सकता है! जड तत्वो मे कुछ ज्ञान ही नही कि वे चेतन को जान सके। जड तत्वो की बनी स्थूल-सूक्ष्म इन्द्रियाँ भी जड ही हैं, वे भी जीव को कैसे देख सकती हैं! इस प्रकार हे हित चाहने वाले! अपना विचार करो॥ १६॥

स्वत. आप तुम समुझि बिचारो, करत जो संशय एस।
सो है कौन कहाँ जो कहिता, निरखि परखि जो शेष॥ १७॥
रहित बिवाद जो हिते बिचारौ, निज कर शिर न हतेश।
हानि नही कुछ और कि यामें, निज को करत दुखेस॥ १८॥
जग दुख देखि मानसिक देखो, 'बारम्बार बिशेष।
करौ बिराग सॉच हित धरि कै, श्रद्धा सन्त गुरेश॥ १९॥
एक अवस्था रहत सदा नहिं, जीवन आयु भरेस।
अन्य अवस्था भेद लखे बिनु, समुझि अवस्था केस॥ २०॥

टीका—स्वय तुम इस बात को समझो और विचार करो कि जो इस प्रकार का सशय करता है वह कोन है, केसा है! जो सब प्रकार की बाते कर रहा है उसका स्वरूप क्या है! जो सबकी निरख-परख करके सबसे अलग रह जाता है, उसका विचार करो॥ १७॥ हठ, पक्ष, शठता, वाचालता, कुतर्क, दुराग्रह, प्रमाद छोडकर अपने हित का विवेक करो। विवाद करके अपने हाथो से अपना सिर न फोडो, इसमे दूसरे की हानि न समझो, केवल यथार्थ न समझने वाले की हानि होती हे। अरे! तुम अपने सत्य स्वरूप को जड विषयो मे मिश्रित करके आप अपने ही को दुखी कर रहे हो॥ १८॥ सत्य स्वरूप परमदेव को समझने के लिए सम्पूर्ण जगत

को दुखरूप देखो। सब पदार्थ क्षणभगुर हैं। मानसिक रोगो से अपने को घिरा समझो। मन से उत्पन्न अनेक कामना, अनेक चिंता, अनेक हानि, शोक और मोह जीव को सताते ही रहते हैं। इसका बारम्बार विशेष विचार करो, तब विषयो से उपराम होकर जगत से वैराग्य होगा। उस वैराग्य को धारण करो। विवेकशील पारखी सत और सद्शिक्षा के स्रोत पारखी गुरुदेव मे सच्ची श्रद्धा रखो। तब सत्यस्वरूप की पारख दृढ होकर बध-मोक्ष का भेद जानने मे आयेगा। पारखी साधु-गुरु मे श्रद्धा के बिना किसी को यथार्थ समझ नहीं प्राप्त हो सकती। चाहे विद्वान चतुर, विज्ञानी, राजा-बादशाह भले हो, परन्तु स्वरूपज्ञान के लिए गुरुदेव मे श्रद्धा आवश्यक है। जगत मे दुख देखकर तिस दुख के छूटने की गर्ज से श्रद्धा बनती है, अत· जगत को दुखपूर्ण जानना चाहिए॥ १९ ॥ उक्त रहस्यों को धारण करके विचारो, जितने घटधारी चेतन प्राणी है उनमें जिन्दगी भर एक ही अवस्था नही देखी जाती। सब चेतन खानियो मे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाएँ अनुभव हो रही हैं। जाग्रत और स्वप्न, ये दो अवस्थाएँ जिसमें कभी न देखा हो, उसको कैसे कहा जाय कि यह सदा काल सुषुप्ति मे है। फिर बीज-वृक्ष, ककड-पत्थरों मे बिना जाग्रत और स्वप्न को देखे सुषुप्ति होना किस विचार से कहा जा सकता है। जहॉ जीव रहता है वहॉ तीनो अवस्थाऍ होती रहती है, अत अन्य अवस्था न देखकर जीवन पर्यन्त वृक्षादिकों में सुषुप्ति अवस्था कहना युक्तिविरोध तथा असम्भव है॥ २० ॥

कारण कारज माहिं न दरशै, ज्ञान समान बिशेष।
स्वयं स्वरूप रहे तुम आपै, भरम ते सहत कलेश॥ २१ ॥
उष्मज अण्डज पिण्डज मानुष, छोडि कै लखौ जहेस।
ज्ञान कला जड में नहिं देखौ, करौ बिचार सदेस॥ २२ ॥
जड़ता शक्ति धर्म गुण जल थल, अग्नि वायु में ठेस।
प्रत्यक्ष ज्ञान यह होय कौन को, स्वयं प्रत्यक्ष करेस॥ २३ ॥
स्वतः प्रकाश एकरस निशदिन, निराधार नहि लेश।
सनमुख नृत्य बासना कारी, रीझि खीझि रहि शेष॥ २४॥
देखत भिन्न आप को आपहि, जेहि घट बिषय निरेश।
देह स्वभाव बिबश बिषयारत, हम हम रटत इछेश॥ २५॥

टीका—कारण जड तत्व और उनसे बने हुए झाड, पहाड, बादल, अगार, ककडादि यावत कार्य पदार्थो मे कहीं भी चेतन खानियो के समान कम-विशेष ज्ञान नहीं पाया जाता। इसलिए जड से सर्वथा भिन्न स्वतत्र चेतन अपने आप नित्य सत्य है। परन्तु जीव अपने आप सत्य स्वरूप को भूलकर तथा भ्रम-वश जड तत्वों के शरीर का अह मानकर दुख सह रहा है॥ २१ ॥ उष्मज, अण्डज, पिण्डज तथा कर्मभूमि मनुष्य खानि को छोडकर बीज-वृक्षादि कार्यों में जहॉ कही भी देखो चेतन जीव का कोई भी लक्षण नही है। इच्छा करना, दुख-सुख मानना, तीन अवस्थाऍ होना, मानन्दी द्वारा हानि-लाभ गुनना, राग-द्वेष करना, इन्द्रियो का सम्बन्ध रहना, इनमे का कोई भी लक्षण जड में नहीं है, अत· जड तत्व कारण-कार्ययुक्त ज्ञान गुण रहित सर्वथा जड ही है, यह प्रत्यक्ष अनुभव है। इस प्रकार सर्वदा गुण-लक्षण द्वारा पृथक-पृथक जड और चेतन का विचार करो॥ २२॥ वे जड तत्व अपने-अपने जडता, शक्ति,

धर्म, गुण, क्रियाओं से ठोस हैं। जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु मे जडता शक्ति पूर्ण होने से उनकी स्वाभाविक क्रिया द्वारा अमित कार्य बनते-विगडते रहते हैं, पर उनमे ज्ञाता जीव नहीं है। चेतन जीव के विना जड तत्वो का ज्ञान किसको हो रहा है। वाहरी जड तत्वों में ज्ञान तो है नहीं। देह-इन्द्रिय आदि भी जीव की सत्ता विना मुर्दा हैं, फिर जो इन जड तत्वों को प्रत्यक्ष करने के साथ ही अपने को भी स्वय प्रत्यक्ष कर रहा है, में सव जड वस्तुओं को जानता, मानता, देखता हूँ, इस प्रकार अपने को प्रत्यक्ष करते हुए न्यायक होकर जड तत्वो की सत्ता को जो प्रगट करता ह उसका विचार करो। अरे! तुम्हीं शुद्ध स्वरूप चेतन्य हो। तुम चैतन्य ही जड़ वस्तुओं को जानते हो। इसलिए जड पदार्थ प्रत्यक्ष कहे गये और चैतन्य अपने को आप ही जानता हे, इसलिए जीव स्वय प्रत्यक्ष हे॥ २३॥ चैतन्य मे ज्ञान का स्वतः स्वाभाविक प्रकाश धर्म, रात-दिन भूत भविष्य वर्तमान हर समय एकरस रहने वाला निराधार अखण्ड स्वरूप है, जिसमे जड का लेश मात्र सम्वन्ध नहीं हे, जिसके सम्मुख असख्य वासनाओं का नाच हो रहा है, वह चेतनरूप राजा किसी वासना में रीझता और किसी वासना से दुखी होकर उससे हटता हे। दोनो प्रकार से वासनाओं को जान-मानकर उनसे भिन्न जनेया शेप वच जाता ह, वही अपने आप है॥ २४॥ जिस महापुरुष की विषयासक्ति निर्मूल हो गई है वे तो सम्पूर्ण जड वासनाओ का द्रष्टा होकर उन से भिन्न अपने को आप ही सत्य स्वरूप से देखते-जानते हैं तथा जो देह-स्वभाव, इन्द्रियभोगों मे लोलुप विपयासक्त ह वे भी सम्मुख प्रत्येक वस्तु को मे या मेरी कह-कह कर अपनी सत्यता का प्रकाश कर रहे हैं। मेरी यह-यह इच्छा हे, इस प्रकार इच्छा करने वाला जीव इच्छा मे भिन्न रहते हुए अपनी सत्यता को सदेव प्रगट कर रहा है। उपरोक्त विवेक करके भ्रम को छोडने पर जड से भिन्न आप ही जीव सत्यस्वरूप हे, ऐसा अकाट्य सिद्धात निश्चय करके स्वरूपस्थिति रहस्य ग्रहण करना चाहिए॥ २५॥

प्रसंग ३—जीव स्थावर देह नहीं धरते

शव्द-४

चेतन भेद जनावें निज शकती॥ टेक॥

राग द्वेप नहि इच्छा होवै, जागत सोय न उकती।
रहत स्वभाविक क्रिया जहाँ है, हानि लाभ नहिं गुनती॥ १॥
हर्प शोक भय चिन्ता होवे, लोभ मोह भ्रम मनती।
काम क्रोध इर्षा मद व्यापे, थूल देखि ममता उर सनती॥ २॥
स्वप्न भयानक जव जेहि होवै, जाग्रत ह्वै तव कम्पित उठती।
ये सव लक्षण होय न कवहूँ, चेतन शक्ति जानि नहि रुठती॥ ३॥
शव्द स्पर्श रूप रस ज्ञाता, त्याग ग्रहण जहँ होय न सकती।
भोगन केरि उपाय न करही, मन वशि कवहुँ करत नहिं जसती॥ ४॥
चेप्टा करि करि जानि जनावे, मन वशि प्रगट ज्ञान की शकती।
मन की होय थकावट जवहीं, सुपुपति आय छिपत तव तकती॥ ५॥

मन बशि रहत जीव जहँ इन्द्री, घट बढ खानि बासना बनती।
लहि बासना जो तन निरमावै, कस न जनावै अपनि वह तकती॥ ६॥
बिन पुरुषारथ रहै न कबहूँ, जहाँ देह इन्द्री मन बनती।
एक अवस्था हेतु नहीं कोइ, बीज बृक्ष जस होय सो उगती॥ ७॥
कारण कारज लखि जड तत्त्वन, यह सब लक्षण ढूँढि न मिलती।
तेहि ते पृथक द्रब्य यह जड से, सत्य न्याय से खोज सो लगती॥ ८॥
देखे सुने भोग बिन इन्द्री, यादि कछू नहि उठती।
बिन स्मरण होय नहि किरिया, देह निर्बाह कौनि बिधि चलती॥ ९॥
जाग्रत है अध्यास न जिनके, सुषुपति करम न बनती।
देह अवस्था सुषुपति तिनकी, कौन भास से जनती॥ १०॥

टीका—चेतन जड से पृथक अपनी चेतना शक्ति द्वारा अपने आप को विदित करता है, ऐसे ही जड की शक्ति भी चेतन से अलग जाहिर हो रही है। अर्थात चेतन और जड, दोनो अनादि अपने-अपने भिन्न धर्मो से भिन्न ही है॥ टेक॥ स्नेह-वैर आदि नाना प्रकार की इच्छा उठाना, जागना, सोना और उपायों का सोचना, जडतत्वो में नहीं है। हाँ! उनमे ज्ञान-रहित स्वाभाविक क्रिया होती रहती है, पर वे किसी प्रकार की हानि ओर लाभ मनन नहीं कर सकते॥ १॥ किसी अनुकूलता को देख या सुनकर खुश हो जाना, प्रतिकूलता देख, सुन या यादकर दुखी हो जाना, भयभीत हो जाना, आगे-पीछे की हानि को यादकर चिंतित हो जाना, सुख-वस्तु का सग्रह तथा लोभ करना, स्नेहियो और पदार्थो में मोह करना, भूल-वश होना और अनेक मानन्दी करना, ये सब देहधारी जीवों मे जड से भिन्न लक्षण पाये जाते हैं। काम, क्रोध, ईर्ष्या, अहकार आदि सर्व दुर्गुण जीवों में धारण हो रहे है। जीव अपनी जड स्थूल देह को देखकर हृदय मे ममता धारण करता है॥ २॥ जब जिसे भयानक स्वप्न होता है तब वह उस से कष्ट पाकर काँपने लगता है और काँपते ही काँपते जागकर उठ बैठता है और बार-बार भयभीत होकर सोचता है कि यह क्या हुआ! ऐसे देहधारी जीवों के एक भी लक्षण जड तत्वो के कारण-कार्य मे नहीं होते। मानन्दीयुक्त हानि-लाभ जान-जान कर तथा अपने से विपरीत देखकर दूसरे से चेतन प्राणी नाखुश हो जाते हैं ये सब लक्षण जड मे नहीं है॥ ३॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध का ज्ञान होना, हानि जानकर किसी विषय का त्याग, लाभ जानकर किसी का ग्रहण, यह शक्ति जड में नही दिखती। विविध प्रकार से भोग भोगने की युक्ति करना, जैसे कि चेतन खानियो के जीव करते और मन के वश होकर किसी से जबर्दस्ती करना, यह भी जड खानियो मे नहीं है॥ ४॥ भावना द्वारा सबको जानना, हँसना, रोना, भयभीत होना इत्यादि क्रिया से जीव अपनी सत्ता को विदित करता है। इस प्रकार मानन्दी-वश होकर जीव अपने आप ज्ञानस्वरूप चेतन की शक्ति प्रगट करता है। देहधारी जीवो को मानन्दी-वश जब जाग्रत में थकावट होती है तब उससे तथा अन्न-जल की गर्मी से मूर्च्छावत सुषुप्ति अवस्था हो जाती है तब जीव का ज्ञान अतःकरण मे छिप जाता है। अर्थात बाह्य साधन न मिलने से जीव की ज्ञानवृत्ति दब जाती है, परन्तु फिर जागते ही पूर्व ज्ञान होने लगता है॥ ५॥

जहाँ-जहाँ देहों मे जीवों ने बासा किया है, वहाँ-वहाँ मानन्दी वश ही जीव रहता है।

जहाँ मन होता है वहाँ इन्द्रियाँ अवश्य होती हैं। जहाँ-जहाँ इन्द्रिय और मनयुक्त चेतन खानियाँ हैं, उनमे खानि के अनुसार घट-बढ वासनाएँ पुष्ट होती रहती है। अन्य खानियो मे मनुष्य के समान विशेष कर्म वासना नहीं पुष्ट होती, तो भी अपनी-अपनी खानियों के स्वभावानुसार घटाध्यास पुष्ट होते ही रहते हैं। जसी खानि है वसी देह-इन्द्रियाँ, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनो अवस्था सहित जहाँ-जहाँ जीवों की देहे होती हैं वहाँ-वहाँ वही सस्कार दृढ रहता है। पशु, पक्षी, कीडे आदि सर्व देहधारी जीव वासनायुक्त सब कार्य कर ही रहे हैं, सो सब को प्रत्यक्ष ही है। फिर कर्म भूमिका मनुष्य देह को जब जीव प्राप्त होते हैं तब वहाँ भी सब खानियो की घटाध्यासरूप वासनाएँ ज्यों की त्यों रहती है। कर्मभूमि मनुष्य देह में जिन-जिन देहो के कर्मभोग बनते हैं, पुन. उनके सस्कार और पूर्व सचित घटाध्यास के सस्कार ये दोनों देहान्त मे उदय होकर सब जीव सब खानियो को सयोगाधीन प्राप्त होते रहते हैं। अब विचारिए कि जीव तीनो अवस्था सयुक्त वासना बनाकर फिर शरीर धारण करता रहता है। वह वासना अगली देहों मे अपनी शक्ति क्यों न जनायेगी। भाव यह कि जड इन्द्रिय और तीनो अवस्था सहित जीव सस्काररूप बीज पुष्ट करता है और फिर उसी संस्कार से शरीर रचता है, तो उस सस्कार-बीज से भला तीन अवस्था रहित और सर्वथा इन्द्रिय रहित देह कैसे बन सकेगी। क्योंकि बीज के अनुसार ही वृक्ष होता है। अत· तीन अवस्था के वासना-बीज मे तीन अवस्था-रहित देह कभी नहीं बन सकती॥ ६॥ जहाँ देह, इन्द्रिय, मन के सयुक्त जीव की देह बनती है वहाँ स्थूल निर्वाहिक क्रिया के बिना जीव रह ही नहीं सकता। उसी थकान को मिटाने के लिए सोया जाता है। सोने पर भी स्वप्नवेग से परिश्रम होकर अन्त मे सुषुप्ति हो जाती है। सुषुप्ति में थकावट निवृत्त होने से पूर्व अध्यास-वश फिर जाग्रत हो जाता है। इस प्रकार तीनो अवस्थाएँ देहधारी जीवो की होती रहती है। वही तीनों अवस्थाओं के अध्यास सयुक्त पुन. देह धर कर जीव तीन अवस्था को भोगता है, क्योंकि यह नियम है कि जैसा बीज होता है उसी के अनुसार वृक्ष भी होता है। तीनो अवस्था के सहित कर्म-बीज, तो उसका कर्म-भोग भी तीनो अवस्थायुक्त होता रहता है, अत. जीवों मे सदा एक अवस्था रहने की कोई कर्म-वासना ही नहीं है, इसलिए अकुरज या तत्वो के अन्य कार्यो मे जीव मानना बिलकुल विषम है॥ ७॥ कारण और उनके बीज-वृक्षादि कार्यो में विवेक करके देखने से पूर्वोक्त देहधारी चतन्य के लक्षण खोजने पर भी नहीं मिलते, इसी से यह चेतन जीव जडतत्वो से न्यारा पदार्थ है। इस चेतन को सत्य विवेक द्वारा ही जाना जाता है। अर्थात सत्यन्यायी सन्तों के सत्सग द्वारा यथार्थ निर्णय ग्रहण करने पर ही चेतन स्वरूप का बोध होता है॥ ८॥ इन्द्रियो से देखे, सुने, भोगे बिना कुछ भी सस्कार टिक नहीं सकता, संस्कार के बिना याद ही क्या होगा। कुछ याद के बिना क्रिया भी कसे होगी! क्रिया के बिना देह का निर्वाह भी कैसे होगा। भाव यह कि जहाँ देहधारी जीव है वहाँ पूर्वोक्त सब सामग्री होती हैं॥ ९॥ जिनमें जाग्रत का अध्यास पुष्ट न होगा उनसे केवल सुषुप्ति ही सुषुप्ति के भोग वाले कर्म बन ही नहीं सकते, क्योंकि जाग्रत ही सुषुप्ति का मुख्य अधिष्ठान है। फिर स्थावर या अकुरज खानियों की कल्पित देह या उनमे सुषुप्ति अवस्था किस भास-अध्यास मे उत्पन्न हुई या होती है। जो चेतन खानियों के अध्यास से कहो तो सम्पूर्ण देहधारी चेतन जीव तीनों अवस्था सयुक्त कर्म-वासना टिकाते और तीन अवस्थायुक्त भोग भी करते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। बीज-वृक्षों

मे तीन अवस्थाएँ और इन्द्रियाँ है नही, अत. जड बीज-वृक्षों मे जीवो का बासा नहीं। वे न कर्मो के कर्ता है, न भोक्ता॥ १०॥

प्रसंग ४–स्थावर में जीव नहीं है

शब्द-५

लखत जो सब का सोई हेरान॥ टेक॥

कोइ कहै सुषुपति सरिस है चेतन, जड अकूरज खान।
तीनि अवस्था निश्चय तिसमें, भिन्न भिन्न किमि जान॥ १॥
जागृत स्वप्न सुषोपति लक्षण, भिन्न भिन्न सब करौ बिलगान।
इन्द्रिन भेद सबन्ध दिखाओ, सबन्ध बिना तेहि कस पहिचान॥ २॥
आप आप वह आपै जानत, की तुम किह्यो पिछान।
वहि के जाने काज न सरिहै, कस तुम करौ बखान॥ ३॥
बिन जाने कस हमहिं जनाओ, केहि बिधि हम सो करैं परमान।
मनुष खानि मे पढै सिखावै, बिद्या बेद लहै बहु ज्ञान॥ ४॥

टीका—जो सबको देखने वाला परीक्षक तथा न्यायक हे वही दृश्यों में छिप रहा है। नाना प्रकार के खानि-बानी जाल आप ही कल्पि के बनाया उसमे आप ही भूल रहा है॥ टेक॥ कोई कहता है कि जड अकुरज आदि कार्यो मे भी चेतन खानियो के समान सदा सुषुप्तिवत चेतन है और यह भी कहता है कि उनमे तीन अवस्थाएँ भी होती है। प्रथम तो इसमे यही विरोध है कि जब सदा एक ही अवस्था है तो उसके विरोधी तीन अवस्थाएँ कैसे। यदि तीनो है तो सदा एक कैसे। यदि तीन अवस्थाएँ जंड अकुरो मे है तो उनमे अलग-अलग अवस्थाएँ किन लक्षणो से पहिचाना गया?॥ १॥ जड खानियों में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के चिह्न अलग-अलग परीक्षा कराना चाहिए और उनमे भिन्न-भिन्न इन्द्रियो के लक्षण, वासना-युक्त जीव से स्थूल का सम्बन्ध दिखना चाहिए क्योंकि वासना-युक्त इन्द्रियो के सम्बन्ध बिना किस प्रकार पारख हो सकेगी कि इनमें जीव का निवास है? प्रत्यक्ष देखो। ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो से भेद और वासनायुक्त चेतन का जड से संबध तथा मानदीयुक्त चेतन की जड स्थूल पर क्रिया जाहिर होना, ये सब चेतन खानि के लक्षण है। कोई भी ऐसी चेतन खानि नही हें कि जिसमे इन्द्रियो का विभेद न दिखता हो। जहाँ देहधारी जीव हैं वहाँ वासनायुक्त जड देहो से सबध है। जो इन्द्रियों द्वारा सुख मानकर देखा, सुना, भोगा गया, राग-द्वेष माना गया, उन सबों के सस्कार अत करण मे जीवो ने टिका रक्खे है। वे ही प्रत्येक कार्य के पहिले स्मरण मे आते रहते हैं। जाग्रत अवस्था मे दुख जानकर त्याग, सुख-लाभ जानकर वस्तुओ का ग्रहण तथा पूर्व देखे-सुने का आज स्मरण, एव पूर्व का सस्कारज्ञान, स्मृतिज्ञान, प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञान और भिन्न-भिन्न इन्द्रियो का ज्ञान, पूर्व बाह्य पदार्थो से दुख-सुख का ज्ञान, तीनो अवस्थाओं मे अपनी सत्ता का ज्ञान और इन्द्रियो को हानि, लाभ, मानन्दी द्वारा चलाना, रोकना भीतर अत करण मे हर्ष-शोक की मानन्दी करके उनके भाव स्थूल पर प्रगट कर देना ये सब भिन्न-भिन्न लक्षण अकुरज मे कहाँ पर है, उसे दर्शाना चाहिए॥ २॥ जड स्थावर खानियो मे जो जीव है तो वे अपने आप

ही आपको जानते हैं या उनसे अतिरिक्त मनुष्य उनको जानते हैं, कि उनमें जीव है? उन्हीं के जान लेने से तो काम चलेगा नहीं। यदि वे ही अपने को जानते हैं, तुम नहीं जानते कि इनमें जीव है, तो उनका निरूपण तुम कैसे कर सकते हो? ॥ ३ ॥ विना जाने किस लक्षण से हमें उनका ज्ञान करा सकते हो? जब चेतन का कोई लक्षण जड खानियो में तुम नहीं दिखा सकते तो हम कैसे निश्चय कर ले कि तीन अवस्था और वासना युक्त चेतन जीव से इन्द्रियों का सम्बन्ध जड अकुरज में भी है? जो यह कहो कि मनुष्य खानि में लोग पढते हैं एक दूसरे को विद्या-वेद की शिक्षा दे-लेकर विशेष ज्ञान की प्राप्ति करते हैं ॥ ४ ॥

पशु खानिन में ज्ञान पढाये, नहिं कहुँ उपजत जान।
तस चेतन अकूरज मानत, सुपुपति सरिस वखान॥ ५ ॥
जस चेतन मानुप औ पशु मे, पूरव लक्षित ज्ञान।
तीनि अवस्था चारि खानि मे, सो सव प्रगट देखान॥ ६ ॥
विना ज्ञान पूरव मे निश्चय, नहिं यह वनत प्रमान।
सव खानिन मे ज्ञान देखि के, तव तुम किह्यो वखान॥ ७ ॥
उत्तम मध्यम भेद कहो तस, जड़ अंकूरज खान।
हर्प शोक भय सुख दुख व्यापे, तीनि अवस्था तिनमे ज्ञान॥ ८ ॥

टीका—और पशु कीटादि खानियो को पढाने और सिखाने से विशेष ज्ञान नहीं उत्पन्न होता, जसे मनुष्य आर पशु मे जीव होते ह, परन्तु एक पढ-सिख वहुत ज्ञान कर लेता है, दूसरा नहीं। इमी प्रकार जड खानि भी जीव के सहित ह, पर एक में तीन अवस्थाएँ, इन्द्रियो का सम्वन्ध, दूसरे जड़ खानियो में केवल सुपुप्ति वत जीव है, ऐमा कहो तो सुनो॥ ५ ॥ जैसे मनुष्य और पशु योनियो मे पहिले ही ज्ञान होने के चिह्न देखे गये, मनुष्य पढ सकते हैं आर पशु नही, पर चेतनता दोनो मे ह, पुनः मनुष्य, पशु, अण्डज, ऊष्मज इन खानियो मे तीन अवस्थादि चेतनता के सव चिह्न प्रत्यक्ष सवको दर्शित हो रहे हैं॥ ६ ॥ पहिले ही से मनुष्य, पशु, कीटादि मे चेतन जीव का होना निश्चय न हो तो यह कोई प्रमाण ही नहीं दे सकता कि मनुष्य पढाये से पढ जाता है, पशु नहीं। जब चारो खानियो मे ज्ञान युक्त चेतन के लक्षण तुमने देखा तव पीछे से दृष्टान्त वनाकर कहने लगे कि मनुष्य पढाये पढ जाता और पशु नहीं पढता॥ ७ ॥ जैसे विशेष ज्ञानयुक्त मनुष्य खानि आर कम ज्ञानयुक्त पशु खानि है, पर चेतनता दोनो मे ह वैसे जड अकुरज खानि में भी किमी मे विशेष ज्ञान किसी मे कम ज्ञान दिखाओ? पुन. विचार करो। चेतन खानियों मे हर्प, शोक, भय, सुख-दुख होते रहते ह आर तीन अवस्थाओं के सहित तिनमे ज्ञान भी होना प्रत्यक्ष है॥ ८ ॥

इच्छा करि करि वाहर चेष्टा, इन्द्रिन जीव सम्वन्ध देखान।
यह सव लक्षण प्रथम देखे, जव नहिं विद्या पढत वखान॥ ९ ॥
तव तो कहत पढत नहिं पशु है, मानुष विद्या सिखये ज्ञान।
जो नहिं पूरव यह सव दरशत, तव कस वनत प्रमान॥ १० ॥
कहो सो लक्षण जड खानिन में, जस यह तुमहिं देखान।
वाद मे सुपुपति सरिस वखाना, तीनि अवस्था फिरि विलछान॥ ११ ॥

स्वतः स्वरूप चेतन जड़ गबड़े, राग द्वेष तृष्णा बढि मान।
बिन लक्षण चेतन के दरशे, नही अवस्था ज्ञान॥ १२॥

टीका—और वे जीव इच्छा कर-कर के बाहर शरीर पर भी हर्ष-शोक की चेष्टा प्रगट करते है, जिससे उनमे इन्द्रियो के सम्बन्धयुक्त जीव का बासा प्रत्यक्ष जाना जाता है। जीव निकल जाने के बाद जड स्थूल पर चेतन की चेष्टा न देखकर ही लोग उसे बाहर डाल आते है। इससे जीव जब तक देहो मे रहते हैं तब तक हर्ष-शोकादि के चिह्न स्थूल पर प्रगट करते है। इन लक्षणोयुक्त मनुष्य और पशु आदि योनि चेतनायुक्त विद्या पठन के पहिले ही देखे गये॥ ९॥ तब तो कहते बना कि पशु नही पढ सकता और मनुष्य वेद-विद्या पढ लेता है। जो दोनो मे जीव होने का पहिले ही से निश्चय न होता तो भला यह प्रमाण ही कैसे कह सकते थे।॥ १०॥ जैसा तुम्हे पठन-पाठन की चर्चा के पहिले ही मनुष्य और पशु आदि मे जीव के लक्षण दिखाई दिये वैसा जड खानियो में प्रत्यक्ष दिखाओ। फिर बाद मे कहो कि सुषुप्ति के समान ये सोते है और सोने के बाद जाग्रत तथा स्वप्न होना ऐसा बारम्बार तीन अवस्थाओ के अलग-अलग चिह्न इनमे बताओ।॥ ११॥ जीव स्वत चेतन है, वह जड स्थूल से सम्बन्ध किये है, इसीलिए उसमे राग, द्वेष, तृष्णा, मनोमय का विस्तार तथा जड-चेतन के सम्बन्ध ही मे पूर्व सब लक्षण दिखाई दे रहे है। जहाँ चेतन के लक्षण दुख-सुखादि ही नही दिखाई देते और तीन अवस्थाओं का भी जहाँ ज्ञान नही होता वहाँ पर जीव का बासा नहीं है॥ १२॥

कहत सुषोपति किसकी कैसे, यह तौ भरम महान।
ज्ञान शुन्य तत्त्वन जड शक्ती, उनके धर्म गुनान॥ १३॥
सोई स्वरूप प्रत्यक्ष में लक्षित, कहत अवस्था बिन सहिदान।
सुषुपति रहत अवस्था जबहूँ, जागृत तहाँ मिलान॥ १४॥
सपरस भये से जागृत तुरतै, शब्द पाय सोइ करत बयान।
जौनि खानि की जागृत जैसे, तैसे तहाँ देखान॥ १५॥
याते बोध अवस्था सबका, निश्चय करत सुजान।
बिना प्रत्यक्ष भेद के पाये, है सब झूठ दिखान॥ १६॥

टीका—जहाँ पर जीव ही नही वहाँ सुषुप्ति किसकी और कैसे होगी। जीव सहित जाग्रत के बिना स्वप्न भी कैसे, और स्वप्न के बिना सुषप्ति भी कैसी तथा किसकी कही जाय। यह तो महा भूल दिखाई देती हे जो जीव के बिना सुषुप्ति कहते हे। अत इस महा भूल को त्यागकर ज्ञान-धर्म-रहित कारण तत्वों को जडशक्ति के और जड धर्मो के चिह्न जड खानियो मे देखकर तिन्हे जड ही समझना चाहिए॥ १३॥ घटना, बढना, सूख जाना, हरा-भरा होना इत्यादि जड गुण, धर्म, क्रिया के सहित जड का स्वरूप ही जड कार्यो मे प्रत्यक्ष लक्षणो से देखा जाता है। अत. उनमे तीन अवस्थाएँ लक्षण के देखे बिना ही भ्रम से कहते रहते है, क्योकि जहाँ देहधारी जीवो में सुषुप्ति अवस्था होती है वहाँ जाग्रत अवस्था का भी सम्बन्ध रहता है॥ १४॥ इसका प्रमाण यह है कि गाढी से गाढी निद्रा मे सोने वाले के शरीर मे किसी चीज का धक्का लग जाय तो वह शीघ्र जाग जाता हे। किसी के पुकारने से जागकर वह कहने लगता है कि मै अचेत सो गया था। मनुष्य, पशु, सर्प, कीटादि जिस खानि के जाग्रत में जैसी

चेष्टा होती है वैसी ही सुपुप्ति से जागकर वह फिर चेष्टा दिखाने लगता है। अत. सुषुप्ति मे जाग्रत का मेल रहता हे॥ १५॥ उपरोक्त लक्षणो को देखकर या जानकर सव चेतन खानियो मे तीन अवस्थाओं के होने का नि.सदेह सवको निश्चय होता है। इधर जड अकुरो में जीवो के लक्षण प्रत्यक्ष अनुभव किये विना ही केवल सुपुप्ति या तीन अवस्थाएँ कहना मिथ्या कल्पना माल ही जानने मे आता हे॥ १६॥

जागृत सदा परिश्रम घेरे, तेहि को मिटव सुयोपति जान।
विन जागृत कोइ हेतु नहीं है, सुपुपति केर तहान॥ १७॥
जड चेतन के लक्षण भिन्नहिं, होत अवस्था तीनि जहान।
करौ विभेद यहाँ पर वेसहिं, जहाँ अवस्था एक मनान॥ १८॥
नहिं तौ सकल कल्पना छाँड़ौ, जो कलपै तेहि करि पहिचान।
सव में भरती होत न तुम्हरी, तुमतौ स्वत अकारण जान॥ १९॥
जागृत देखि सुपोपति देखे, फिरि जागृत में रहा ठेकान।
पुन पुनः जागृत औ सुपुपति, तव जागृत से सुपुपति ज्ञान॥ २०॥

टीका—जाग्रत मे सदेव इन्द्रियो से कुछ न कुछ क्रिया करने का परिश्रम होता ही रहता है। यहाँ तक कि मनुष्य बैठे-वैठे देखते-सुनते हुए भी श्रमित होकर थक जाते हे। उसी थकावट से ही घोर निद्रा रूप सुपुप्ति हो जाती हे। पुनः थकावट मिटकर फिर जाग्रत होता ह। इससे यह सिद्ध हुआ कि जाग्रत न हो तो परिश्रम क्या हो, परिश्रम न हो तो उसके मिटाने के लिए सुपुप्ति कसे हो। इसलिए जड कारण-कार्यो मे जाग्रत के विना सुपुप्ति होने या रहने का कोई हेतु ही नहीं पाया जाता॥ १७॥ जड ओर देहधारी चेतन के गुण-लक्षण न्यारे-न्यारे दीखते हैं। देहधारी चेतन खानियो मे तीन अवस्थाएँ होती रहती हैं। उन्हीं तीन अवस्थाओं के लक्षण यहाँ जड खानियो मे दिखाओ कि जहाँ तुम एक ही सुपुप्ति अवस्था प्रतिपादन करते हो॥ १८॥ यदि तीन अवस्थाएँ नहीं दिखा सकते हो तो सव मिथ्या कल्पना छोडो ओर जो सवकी कल्पना करने वाला स्वय चेतन हे उसकी पहचान करो। सवकी कल्पना करने वाले तुम सवसे पृथक हो। इसी से तुम्हारे चेतन स्वरूप की सर्व जड पंच विषयो मे भरती नहीं होती, क्योकि तुम चेतन स्वतन्त्र जड कारण-कार्य से रहित नित्य ज्ञान माल अविनाशी हो॥ १९॥ चेतन देहधारियो में पहिले जाग्रत देखा गया, तव सुपुप्ति, पुनः सुपुप्ति के वाद फिर जाग्रत मे जीव की स्थिति रहती है। इस प्रकार वारवार जाग्रत और सुपुप्ति देखकर जाग्रत ही में सुपुप्ति का निश्चय होता है॥ २०॥

सुपुपति से जागृत जव निरखे, पूरव जागृत वस्तु लखान।
कहन लग्यो लोगन से तवहीं, तीनि अवस्था को प्रगटान॥ २१॥
तीनि अवस्थन आपुहि रहि रहि, सवका द्रष्टा होत सुजान।
रहै अवस्था एक जहाँ पर, तहँ लखि क्यों नहिं करत वयान॥ २२॥
करन विधान सकल तेहि चहिए, जस तुम फिरि फिरि तेहि निरमान।
नहिं तो सकल वार्ता झूठी, हे परिशर्म अकारथ जान॥ २३॥

,बाग लगावत मनुष को देखे, बागै देखि बनत अनुमान।
आरण्य लगावत कबहुँ न देखे, तेहिते स्वतः उगत तेहि जान॥ २४॥

टीका—मनुष्य जब घोर निद्रा से आप जाग गया और पहिले की जाग्रत सबंधी वस्तुओ को फिर देखा, तब कहने लगा कि मै घोर निद्रा मे गाफिल हो गया था, जिससे इन वस्तुओ का ज्ञान न रहा, अब जागकर मुझे ज्ञान हुआ है। इस प्रकार अन्य लोगो से तीन अवस्थाओं का हाल स्वय कहा जाता है॥ २१॥ उपरोक्त तीन अवस्थाओ मे आप ही चेतन रह-रह कर उनका द्रष्टा होता रहता है। इस प्रकार जहॉ एक अवस्था मानते हो वहाँ भी तीनो अवस्थाओ मे रह कर, पुन. द्रष्टा होकर चेतनता के चिह्न वाणी द्वारा या चेष्टा द्वारा वे क्यो नही प्रकट करते? ॥ २२॥ उन्हे भी चेतन वत अपनी चैतन्यता के सब चिह्न अवश्य दिखाना चाहिए, जैसा कि तुम देहधारी चेतन अपनी तीन अवस्थाओ का फिर-फिर निर्णय करते हो। अन्य पशु-पक्षी आदि, चेतन खानियॉ बैखरी द्वारा निर्णय नहीं करते तो भी तीनो अवस्थाओं की चेष्टाए हर्ष-शोकादि अपने स्थूल पर प्रगट करते ही है, वैसे जड खानियो को भी स्वय निर्णय करना चाहिये। स्वय निर्णय न कर सके तो तीनो अवस्थाओ की चेष्टा ही उनमे दिखना चाहिए। यदि स्वत· या अन्य के द्वारा उनमे कोई भी चेतन के लक्षण प्रत्यक्ष पाये नही जाते, तो उनमे चेतन सिद्ध करने की तुम्हारी सब बातें मिथ्या है। इसके लिए अनुमान कल्पनारूप परिश्रम करना भी तुम्हारा निष्फल है, क्योकि अनुभव के बाहर अनुमान भी सत्य नहीं होता॥ २३॥ जब कहीं पहिले मनुष्यो को बगीचा लगाते देखा जाता है तब बाद मे अन्य जगह बगीचा देखकर अनुमान होता है कि यह किसी मनुष्य ने लगाया है और जगल लगाते किसी मनुष्य को देखा नहीं, तब कही अन्य जगह घोर जगल देखकर किसी मनुष्य ने लगाया होगा, ऐसा अनुमान न करके कहा जायेगा कि यह स्वाभाविक है। जगल स्वत· उगते रहते हे॥ २४॥

सब अनुमान प्रत्यक्ष के अन्दर, जस यह पूरब लख्यो प्रमान।
यहि को समुझि यथारथ देखौ, हित अनहित को करि पहिचान॥ २५॥
यह लखि मन में समुझि बिचारो, सत्यासत्य करौ बिलछान।
जो अनुमान प्रत्यक्ष के अन्दर, सोई है परत्यक्ष जनान॥ २६॥
जो अनुमान प्रत्यक्ष मे नाहीं, सो सबही लखि झूठ देखान।
यहिते सिद्धि जडै सब ठहरा, जेहि हित जीव कल्पना तान॥ २७॥
याते ठहरि यथारथ देखौ, तुमही सबका करत निदान।
जड चेतन परत्यक्ष बिजाती, है यह देखौं भेद महान॥ २८॥

टीका—इसी प्रकार जितने अनुमान है सब प्रत्यक्ष अनुभव के अन्दर ही है और जो प्रत्यक्ष के अन्दर न हो वह अनुमान मिथ्या है। देखो। जो जैसा है वैसा यथार्थ जानने से हित होता है और यथायोग्य न समझने से अहित होता है। इस वास्ते अपना ही नफा और नुकसान समझ कर यथार्थ समझने पर ध्यान देना चाहिए॥ २५॥ इस बात को समझ कर विचार करो, सत्य और असत्य का, चेतन और जड का अलग-अलग निर्णय करो। जो अनुमान प्रत्यक्ष अनुभव के अन्दर है वही यथार्थ है॥ २६॥ जो अनुमान प्रत्यक्ष अनुभव के बिना किया जाता है वह शशाशृगवत या बन्ध्यापुत्र वत मिथ्या ही है। इस विचार से जड खानि मे प्रत्यक्ष चेतन के

लक्षण तीन अवस्थादि न दिखने से वह जड का जड ही ठहरता है। जिस जड़ को चेतन सिद्ध करने के लिए जीव नाना मिथ्या अनुमान-कल्पना कर-करके ऐंचातानी में पड़ा है वह प्रत्यक्ष अनुभव और विचार से विजाति जड ही है॥ २७॥ अतएव स्थिर होकर जो जैसा हो उसकी वैसी ही गुण-लक्षणो द्वारा परीक्षा करो। तुम ही सबकी परीक्षा करके निर्णय करने वाले हो। देखो। जड और चेतन अनादि काल से गुण-लक्षणो द्वारा प्रत्यक्ष भिन्नधर्मी हैं। दोनों में महान अतर है॥ २८॥

साखी—६

सुपुपति अवस्था है सदा, चेतन बिना सिनाक।
कहै बाँझ मम पुत्र जग, मेरे उदर बनाक॥ १॥
पुत्रवती के पेट है, मेरे उदर दिखाय।
कौन कहै नहिं पुत्र तव, यह कैसे कहि जाय॥ २॥

टीका—जड़-कार्यों मे सदा ही सुषुप्ति वत चेतन है, यह बात चेतन के लक्षण देखे बिना ही कहना वैसे हे जैसे वन्ध्या स्त्री कहे कि सम्पूर्ण जगत के मनुष्य मेरे पेट से पैदा हुए हैं॥ १॥ क्योंकि पुत्र जनने वाली स्त्री के भी पेट है और मेरे भी पेट है, तब कौन कह सकता है कि जगत के सारे लोग मेरे पुत्र नहीं हैं। बस इसी प्रकार मिथ्या अनुमान से बिना लक्षण देखे ही कह दिये कि जैसे मनुष्य, पशु, कीटादि मे सुषुप्ति होती है वैसे पत्थर, ककड़, वृक्षादि में भी है॥ २॥

होय आवरण ज्ञान पर, बनत मिटत दरशाय।
जड चेतन सम्बन्ध है, विचलित होत रहाय॥ ३॥
जहाँ अवस्था एक कहि, तहाँ न चेतन होय।
जड़ का खास स्वरूप है, उपजत मिटत सदोय॥ ४॥
सदा विजाती पक्ष है, चेतन मिलै न ढूँढ़ि।
जेहि का जहाँ निवास नहिं, कहाँ मिलै तेहि सूँढि॥ ५॥

टीका—ज्ञान स्वरूप जीव के ऊपर तीनो अवस्थाओं का पर्दा होता रहता है। जहाँ ज्ञान ही नहीं वहाँ खास जड मे क्या आवरण होगा? जैसे सूर्य पर बादल पर्दा करता है, वैसे चेतन पर तीनो अवस्थाओं के पर्दे होते रहते हैं। अवस्थाए बनती और मिटती देखी जाती हैं। जड और चेतन का सम्बन्ध ह, जिससे जीवों को एक अवस्था न रहकर तीनों अवस्थाएँ आया-जाया करती हैं॥ ३॥ जड स्थावर मे हमेशा सुषुप्ति ही अवस्था कहते हैं, उनमे चेतन का वासा नहीं। वे केवल जड के ही कार्य है आर वे जड मे ही हमेशा बनते और बिगड कर उसी मे लीन होते रहते हैं॥ ४॥ चेतन से पृथक जड़ विजाति पक्ष है। जहाँ तक कारण-कार्य है वहाँ तक जड का ही स्वरूप ह। उसमे खोज करने पर भी चेतन के लक्षण नहीं मिल सकते। भला, जिसका जहाँ रहना नहीं होता, जहाँ जिसका मुकाम नहीं, वहाँ उसके लक्षण कैसे मिल सकते हैं।॥ ५॥

सोरठा

प्रथम अवस्था बाल, और बढै तब तरुण कहि।
चलै बहुति जब साल, कहन लग्यो तेहि वृद्ध तब॥ ६॥
यहि बिधि जागृत होय, जो है सब को अधिपती।
ताहि भास लहि जोय, स्वप्न वाहि निश्चय करैं॥ ७॥
जहाँ राखि सब बीज, जागृत स्वप्न को खींच करि।
है सुषुपति सोई चीज, जेहिते फिरि जागृत बनै॥ ८॥

टीका—जन्म से लेकर आगे बढते हुए का नाम प्रथम बाल्यावस्था है। लडकपन से आगे बढकर युवावस्था कही जाती है। युवावस्था के आगे चलकर जब बहुत वर्ष हो जाते हैं अर्थात सत्तर या अस्सी वर्ष में वृद्धावस्था आ गई ऐसा कहने लगते है ॥ ६ ॥ जैसे शरीर के ये तीन पन हैं, वैसे प्रथम जागृत अवस्था होती है जो स्वप्न और सुषुप्ति का आधार होने से दोनो का अधिष्ठान है। मनुष्य जाग्रत मे देखे, सुने, भोगे के फोटोवत सस्कार लेकर जब सो जाता है तब मानसिक सृष्टि का अनुभव करने लगता है उसी को लोग स्वप्न अवस्था कहते है ॥ ७ ॥ जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओ के भासरूप सस्कार बीज गुप्तरूप से जहाँ छिपे रहते है, उसी का नाम सुषुप्ति अवस्था है। जहाँ पर जाग्रत अवस्था का व्यवहार और स्वप्न अवस्था का आभास नही रहता, उस घोर निद्रा को सुषुप्ति कहते है। सुषुप्ति से फिर जाग्रत अवस्था होती है ॥ ८ ॥

जहाँ न जागृत होय, बिना भास के स्वप्न कहाँ।
जहाँ रहै यह दोय, ताहि सुषोपति सब कहै॥ ९॥
जहाँ न जाग्रत देखि, कौन कहै तेहि सोवता।
यह तौ बडी अलेखि, बिन जाग्रत के सुषुपती॥ १०॥

टीका—मुख्य जाग्रत की इन्द्रियो द्वारा देखे, सुने, भोगे का ही अनुभव करके भास-अध्यासरूप सस्कार टिकते हैं। जहाँ जाग्रत अवस्था ही नही होगी, वहाँ कुछ भी सस्कार न टिकने से स्वप्न भी कैसे होगा! क्योकि जहाँ पर जाग्रत-स्वप्न ये दोनो अवस्थाएँ सिमिट कर बीजरूप से रहती है उसी को सब कोई घोर निद्रा या सुषुप्ति अवस्था कहते है ॥ ९ ॥ जिसको आँख, कान, हाथ, पैर आदि स्थूल इन्द्रिय सयुक्त जाग्रत मे ज्ञान करते नही देखा जाता, उसको कोई नही कह सकता कि यह सोता है। ककड, पत्थर, दीवाल, बीज, वृक्ष अब सो रहे है, थोडी देर मे जागेंगे, ऐसा कोई भी समझदार नहीं कहता। हा! जहाँ जागते देखा जाता है वहाँ ही कहा जाता है कि अमुक जतु सो गया है। इस प्रकार पहिले जाग्रत के देखे बिना फिर उसे सोना कहना बडी उलटी बात है। जो जाग्रत अवस्था छोडकर केवल सुषप्ति कहते हे, उनकी बात असभव ही जानिए॥ १०॥

साखी

ज्ञान कला आबरण लखि, फिरि फिरि ज्ञान देखाय।
जहाँ ज्ञान आबरण नहि, तहाँ सुषोपति गाय॥ ११॥

टीका—जहाँ वार-वार जाग्रत अवस्था मे ज्ञान का प्रकाश देखने मे आता हे वहाँ फिर-फिर आवरणरूप स्वप्न ओर सुपुप्ति होती रहती ह आर फिर-फिर जाग्रत होता रहता ह, ये ही लक्षण देहधारी जीवो के हैं। जहाँ ज्ञानकला का प्रकाश, जाग्रत और स्वप्न ये कुछ नहीं, वहाँ केवल सुपुप्ति कहना गलत ह ॥ ११ ॥

सोरठा

कहूँ न चेतन लोप, चारि खानि चैतन्य मे।
दरशत ज्ञान तहोप, उत्तम मध्यम खानि जहँ॥ १२ ॥
जहाँ न लक्षण होय, दरशित कोइ चैतन्य के।
तहाँ रहत जड़ सोय, लक्षण सव जड के जहाँ॥ १३ ॥

टीका—अण्डज, पिण्डज, उप्मज और मनुष्य चार खानियो मे कहीं भी चेतन लक्षण का दुराव नहीं ह। चाहे उत्तम मनुष्य खानि हो या मध्यम पशु, पक्षी, उप्मज खानि हो, सव देहधारी जीवो म मानन्दीयुक्त ज्ञान होना दिखाई दे रहा हे। मनुष्य खानि मे वन्ध-मोक्ष, पाप-पुण्य आदि का विचार, राग-वेराग्य का विशेप ज्ञान ह। पशु आदि खानियो मे देहोपाधि से पट पशु धर्मयुक्त राग-द्वेप भोगासक्ति का सामान्य ज्ञान ह, पर ऐसी कोई चतन्य खानि नहीं है जहाँ पर कुछ ज्ञान न हो ॥ १२ ॥ अत जहाँ पर इच्छा, राग-द्वेप, शारीरिक क्रिया, तीन अवस्था सहित चतन्य के लक्षण देखने मे नहीं आवे वहाँ जड तत्व ही कारण-कार्यरूप रहते ह, क्योकि उनमे घटना-वढना, सूखना-मोटाना, हरे-भरे रहना, वनना-विगड़ना आदि सव जड तत्वो के लक्षण पाये जाते ह ॥ १३ ॥

प्रसंग ५—अंकुरज में इन्द्रिय, मन और जीव नहीं होते

चौपाई—७

जड़ मे शक्ति विविधि विधि देखो। गुण धर्मन औ रूप विशेखो॥
हे संयोग वियोग सो उनमे। कारज वनत स्वभाविक तिनमे॥

टीका—जड तत्वो मे ज्ञान को छोडकर शेप सव शक्तियाँ हैं, वे अनेक प्रकार की दिखाई दे रही ह। शव्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध, ये मुख्य गुण और शीत, उष्ण, कोमल तथा कठोरता ये मुख्य धर्म तथा किसिम-किसिम के रूप-रग की अधिकता, ये सव तत्वो के स्वरूप ही ह। उन्हीं से नाना गुण-धर्म सहित अमित कार्य वनते-विगडते रहते ह। वे सव कारण के मध्य ही होते ह। पुन॰ जड तत्वो के परस्पर परमाणुओ का जुट जाना और फिर छिन्न-भिन्न होकर अलग-अलग हो जाना ऐसी रफ्तार चालू रहती हैं, जिससे उनमे स्वभाव से असख्य प्रकार के कार्य वनते रहते ह।

शक्ति विविधि विधि वहुत प्रकारा। जेहि ते उपजत यह संसारा॥
ज्ञान शुन्य सव वृक्ष वनसपति। रसन भेद अव रूप तिनहिं अति॥

टीका—उन जड तत्वों मे अनेक प्रकार के काय वनने की शक्तियाँ भरी ह। उनसे ज्ञान-शून्य जड-सृष्टिरूप वाह्य ससार होता रहता हे। सुख-दुख तथा तीन अवस्थाओ के ज्ञान-रहित

जितने वृक्ष और वनस्पति है उनमे विविध प्रकार के खट्टे, मीठे, पटरस, भाँति-भाँति के रग, सुन्दरता तथा भाँति-भाँति गन्धादि और जितनी शक्तियाँ हैं, वे सब कारण तत्वो में विद्यमान हैं।

परशत वृक्ष न ताहि जनावै। तेहि ते त्वचा न तिनमे गावै॥
देखत नेत्र न उनमें जानौ। धरि धरि पाणि ताहि पहिचानौ॥

टीका—वृक्ष किसी के छूने का ज्ञान नहीं करते। जहाँ पर जीव होता हे, वह किसी के स्पर्श करने पर उसे जान लेता है और तुरन्त ही सुख-दुख, हर्ष-शोक के चिह्नो को शरीर पर जाहिर करता है। यह लक्षण वृक्षो मे न होने से उनमे त्वचा नहीं हे। वे किसी चीज को देख भी नही सकते। इसलिये उनमे आँखे भी नहीं हे। हाथ धर-धर कर वृक्षो को देखो, टटोलो कि इनकी आँखे कहाँ पर है?

देखि देखि कोइ काज न करही। नहिं भयदायक जानि पछरही॥
नेत्र केर कोइ चिह्न न लक्षण। याते नयन न लखहु बिचक्षण॥

टीका—वृक्षादि स्थावर खानि नेत्रो से देख-देख कर कोई कार्य नही करते। वे अपने घातको से डरकर हटते भी नहीं। जिसके नेत्र होते हैं वह दूर से अपने घातक को आते देखकर पिछड जाता है, भाग जाता या थर्रा उठता है। ये भी बाते उनमे नहीं है। चेतन खानियो मे नेत्र के आकार-गोलक होते हैं, वैसे जड खानियो मे गोलक भी नहीं दीखते है, अत: हे समझदार! समझो कि इनमे नेत्र नहीं है।

बिना त्वचा कोइ श्रवण न देखे। यहि ते करण न तिनमे लेखे॥
जहाँ त्वचा तहँ सपरस होई। परै कठोर सहत नहिं कोई॥
दुखित होय मन देह झकोरै। तेहि ते त्वचा कहत नहिं कोरै॥
बीज से अंकुर उपजि रहावै। यहि बिधि वृक्ष असख्यन भावै॥

टीका—बिना त्वचा के किसी भी जन्तु मे कान नही होते, और त्वचा इन्द्रिय वृक्षादिको मे है नहीं, इससे उनमे कान नहीं हैं, क्योकि जहाँ मनुष्यादि जन्तुओ के त्वचा सम्बन्धी कान होते है, उनके श्रवणो के अन्दर जब खुजली होने लगती है तब तृण या डठल इत्यादि खुजलाने पर थोडी कठोरता सहन नहीं होती। इसलिए सहन रहित होने से मन मे दुखी होकर वे देहो को झिकोर देते हे। बरबस धीरज रहित होकर एक प्रकार की उन्हे थर्राहट हो जाती हे। यह सब चिह्न देखकर देहधारी जीवो की देहो मे त्वचा नही हे ऐसा कोई समझदार मनुष्य नहीं कह सकता, बल्कि त्वचा सम्बन्धी स्पर्श ज्ञान देखकर सब कहेगे कि देहधारी जीवो के त्वचा अवश्य है। पूर्वोक्त स्पर्श का ज्ञान जड कार्य-वृक्षादि अकुरज मे न होने से इनमे त्वचा और कान नही होते। हाँ! जड बीजो से जड अंकुरज उत्पन्न होते और माटी, पानी, प्रकाश, पवन की साधक शक्तियो से अगणित बीज-वृक्षो की स्थिति रहती है।

साखी—बहुत किसिम के वृक्ष से, डार काटि लगाय।
पौधा लता औ पत्र ले, पृथ्वी खोदि धराय॥ १॥

टीका—अनेक प्रकार के वृक्ष होते ह, जिनकी शाखाएँ काटकर लगा देने से लग जाते हैं, जेसे बरगद-पाकर आदि और कितनेक पौधे जो छोटे-छोटे वृक्ष होते हें, जसे गेदा, चमेली,

गुलाव आदि की डालियाँ ओर अजूवा आदि के पत्ते धरती मे खोद कर लगा देते हं ॥ १ ॥

उगत वही नहिं वार लगावैं। कोइ कोइ वृक्ष के पत्र जमावे ॥
तेहि ते जीभ न तिनमे जानौ। सवै देह रसना कस मानो ॥

टीका—वे सव वृक्षरूप मे उत्पन्न हो जाते हैं, उनके उत्पन्न होने मे देर नहीं लगती। किसी-किसी वृक्ष के पत्ते ही काटकर लगा देने से वे पेदा हो जाते हें। इससे स्पष्ट हो जाता ह कि वृक्षो मे जिह्वा-इन्द्रिय नहीं हे। भला सम्पूर्ण देह जिह्वा कैसे मानी जा सकती है!

मुख रसना विन कोइ कोइ देही। यहौ कहत नहिं वनत लखेही ॥
कोइ कोइ मुख रसना ते खावें। कोइ कोइ ऐसहिं उपजि रहाव ॥

टीका—क्या कोई-कोई देहो मे मुख ओर जिह्वा नहीं हे ऐसा हो सकता हे। ऐमा कहना भी उचित नहीं है, न ऐसा कही देखने ही मे आता हे। कोई-कोई तो मुख सहित जिह्वा से खावे-पीवे ओर किसी-किमी की मुख ओर जिह्वा रहित ऐसे ही उत्पत्ति वृद्धि होवे। ये दोनो विरोधी वाते कसे वन सकती हें। इस वात से यही जाना जाता हे कि स्थावर मे मुख-जिह्वादि इन्द्रियो की कल्पना ही कल्पना है।

पाय दुर्गन्ध न तेहि मन मैला। परत सुगन्ध न होय हरैला ॥
हाथ गहत नहिं वाक्य प्रकाश। पाँव चलत नहिं मल की त्रासे ॥

टीका—यदि नासिका इन्द्रिय वृक्षादिको मे होवे तो प्रतिकूल गध पाने पर मानन्दी युक्त दुखी ओर अनुकूल गध पाने पर मानन्दीयुक्त सुखी होना चाहिए। ये दोनो वाते न होने से नासिका भी नहीं हे, क्योकि देहधारी जीवो मे जो-जो इन्द्रियाँ होती हैं उन-उन इन्द्रियो के विपय का ज्ञान उसे अवश्य होता है। ज्ञान होने पर उसी के अनुसार ही मन युक्त वाह्य चेप्टा होकर सवको विदित होने लगता ह, सो कोई भी चेप्टा वृक्षादि मे नहीं दिखाई देती, अतः उनमे कोई भी नासिकादि इन्द्रिय नहीं। हाथ से वे किसी चीज को पकडते भी नहीं, वचन से वे भीतर की कोई आशा नहीं प्रगट करते, पाँवो से वे चलते नहीं और दिशा-मैदान की भी उन मे आशका नहीं लगती।

लघुशका हित कहूँ न धावै। नहिं मल मूत्र को त्याग दिखावें ॥
दस इन्द्रिन में कोइ नहिं तिनमे। श्वाँसा केर पता नहिं जिनमे ॥

टीका—लघुशंका करने के लिए वृक्षादि कहीं चलते नहीं, मल और मूत्र त्याग करते हुए या त्याग किये हुए मल-मूत्र जड खानि मे कहीं नहीं देखे जाते। जव उनमे इन्द्रियाँ हों तो इन्द्रिय सम्वन्धी क्रिया होवे, जव इन्द्रियाँ ही नहीं तो तत्सम्वन्धी क्रिया कैसे। यहाँ तक कि दसो इन्द्रियो मे कोई भी इन्द्रिय जड खानि मे नहीं ह। जैसा श्वास लेने-छोड़ने की क्रिया देहधारी जीवो मे है, वेसा वृक्षो मे निशानी तक नहीं ह। हाँ। उनमे स्वाभाविक चारो जड तत्वो की क्रिया होने से वायु का भी सम्वन्ध हे, पर ज्ञान मानन्दी युक्त चेतनवत उनकी क्रिया नहीं, दीप-तेलवत स्वाभाविक जड की क्रिया है।

प्राण पवन नहिं आवत जाई। खाद्य को पाचन नाहिं लखाई ॥
यहि ते इन्द्री लखौ न इनमे। विन इन्द्री कस मन लखि तिनमे ॥

टीका—चैतन्यवत प्राणवायु को छोडना-पकडना और खाये हुए अन्न का जठराग्नि द्वारा पाचन होना ये कुछ भी जड खानि मे नहीं है। प्राण और जठराग्नि के न होने से इन्द्रियो के गोलक चिह्न और उनकी क्रियाएँ भी नही हैं। जहाँ इन्द्रियाँ न होगी वहाँ मन कहाँ! इन्द्रियो द्वारा देखे, सुने और अनुभव किये हुए का ही मन बनता है। जब उनमे इन्द्रियाँ नहीं तो उनके सम्बन्धी अनेक मानना सकल्परूप मन भी नही है।

जीव रहै कस सोचौ अब तुम। बिन मन के नहिं जीव सुने हम॥
कस मानौ यह जड को चेतन। जीव छोडि फिरि बनो जड़े तन॥

टीका—अब आप ही विचार कीजिए कि मानन्दी के बिना स्थूल मे जीव कैसे टिक सकता है! अत. मन और जीव रहित अकुरज जड ही है। फिर लोग उनमे चेतन जीव कैसे मान लेते है। यदि मान लेते है तो जड और चेतन के भिन्न-भिन्न लक्षणो का उन्हे बोध ही नही हुआ। यही कारण है कि जड से त्रिकाल भिन्न अपने आप चेतन जीव होते हुए भी भूलकर जड देह ही को अपना स्वरूप मान लिए।

साखी—चेतन जड से अलग है, न्याय दृष्टि से जोय।
बिना लखे निज बोध के, भरमत जड में सोय॥ २॥

टीका—विवेकदृष्टि से निर्णय करके देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चेतन जीव ज्ञाता होने से हमेशा जड से पृथक है, परन्तु सद्‌गुरु के सत्सग द्वारा अपने स्वरूप को जाने बिना जड पॉचो विषय देह-गेह ही को मै या मेरा मानकर यह जीव भटकता रहता है॥ २॥

बिन इन्द्री कस तीनि अवस्था। यहौ कहत नहि बनै ब्यवस्था॥
बिन चेतन केहि होय सुषोपति। लखौ जडहिं तेहि खास सरूपति॥

टीका—इन्द्रिय जहाँ न हो, वहाँ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ भी किस आधार से कैसे हो सकती है? इन्द्रियो के बिना तीन अवस्थाओ के होने की व्यवस्था सिद्ध करना असम्भव ही है। जब इन्द्रिय, अवस्थाएँ नहीं, तो चेतन का वहाँ बासा ही नही। फिर चेतन के बिना गाढ निद्रारूप सुषुप्ति किसके ऊपर आवरण करेगी? अत बीज-वृक्षादि जड खानियो मे सुषुप्तिवत चेतन नही है। उनमे बढ़ना-मोटाना, हरे-भरे रहना तथा सूख जाना, ये सब पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु, चारो कारण जड के ही गुण-धर्म से जानना चाहिए, अत· वे जडरूप ही है।

बिन चेतन के जागत कौना। करौ बिचार समुझि मन तौना॥
स्वप्न अवस्था जेहि की होई। कष्टित स्वप्न सो देह झकोई॥

टीका—जब जड स्थावर मे चेतन ही नही तो जागेगा कौन, हे मन! उसे विचार से समझो। देखो! देहधारी जीवो मे जो जागता है वही सोता है। सोने की हालत मे जब उसे भयानक स्वप्न हो जाता है, जैसे बाघ-भालू मिलते या नदी मे डूबने लगता है, तो मारे दुख के वह देह को कँपा देता या चौक उठता है, यह बात जड मे नहीं होती।

सुषोप्ति अवस्था चेतन जोई। परश कठोर सो जाग्रत होई॥
तीनि अवस्था न चेतन ताही। पुन· लखाय कहे तुम पाही॥

टीका—देहधारी जीवो की जव सुषुप्ति अवस्था होती है, वहाँ जोर से किसी चीज का धक्का लग जाय या कोई चीज ऊपर गिर पडे अथवा जोर से कोई आवाज दे तो वह जाग जाता हे, ऐसी बात जड स्थावर मे कहीं नहीं है। इससे स्पष्ट हुआ कि जहाँ तीनो अवस्थाएँ होती रहती हैं वहाँ ही चेतन जीव का वासा हे ओर जहाँ तीन अवस्थाएँ नही होतीं वहाँ चेतन नहीं रहता। यह वात पुन बतायी गई।

सब जीवन के थूलन देखो। तिनकी इन्द्री छिपी न लेखौ॥
इनकी इन्द्री देखि पंर नहिं। गुप्त रहैं केहि ठांर मिलै नहिं॥

टीका—जितने जीव ह उनके स्थूल शरीर हम और आप प्रत्यक्ष देख रहे हे। ठनकी इन्द्रियाँ गुप्त नहीं, वल्कि सवको प्रगट हैं। इस प्रकार जड वृक्ष पत्थरादि स्थावर की इन्द्रियाँ, क्यो नहीं दिखाई देतीं? क्यो छिपी हं? वृक्षो के किस भाग मे ओर कोन सी इन्द्रिय हे? वह शोधन करके देखने पर भी क्यो नहीं मिलती?

साखी—बडे बडे वृक्षन सब लखे, इन्द्री परे न देखि।
कहाँ छिपाये वै रहे, करो बिचार तिसेखि॥ ३॥

टीका—वडे से बडे वरगद-पीपलादि वृक्ष सव आँखो से देख रहे हैं पर उनकी इन्द्रियाँ नहीं दिखाई देती, वे इन्द्रियो को कहाँ छिपाये रक्खे हें? क्या स्थूल शरीर से इन्द्रियाँ अलग रह सकती हैं? इसका विवेक करो॥ ३॥

छोटी से छोटी खानि की, इन्द्री परत लखाय।
अकूरज मे नहिं कोइ लखे, जो तेहि देत देखाय॥ ४॥

टीका—मच्छर, भुनगे, चीटे इत्यादि छोटे से छोटे देहधारी जीवो की त्वचा आदि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष देखने मे आती हे और अकुरज मे तो हमे क्या किसी को भी इन्द्रियाँ नही दिखाई देती हें। छोटे-वडे अकुरज को सब कोई देखते हे, पर उनमे इन्द्रियाँ हो तव तो दिखाई देवे, जव इन्द्रियाँ ही नहीं तो किस प्रकार देखने मे आवें। यदि त्वचा आदि इन्द्रियाँ होतीं, तो अकुरज शीत, उष्ण, चोट आदि लगने का ज्ञान करते आर प्रत्यक्ष अपने स्थूल पर जाहिर करके सवको चेतन्यता का प्रत्यक्ष कर देते। ऐसा न दीखने से अकुरज मे कोई भी इन्द्रिय नही है॥ ४॥

याते अहे कल्पना मन की। हे यकतर्फी बात जनन की॥
नहिं कोइ देत इशारा उनमे। मानि लेत जस आवे मनमे॥

टीका—इसलिए अकुरज मे इन्द्रिययुक्त जीव मानना मन-कल्पित मिथ्या है। यह मनुष्यो की एकतर्फी अपने ही मन की बात है। जड कार्यो मे कही भी इन्द्रिय सहित जीव चेष्टा करके चतन्यता के लक्षणो को प्रगट नहीं करते। मनुष्य ही की सव कल्पना ह, जैसा जिसके मन मे आया वेसा मान लिया। इस पर एक दृष्टांत मनन कीजिए।

अभिमान-वश अज्ञान मे मिथ्या कल्पना होती हे

दृष्टात—एक जोलाहा जो कि नित्य बाजार जाया करता था, बाजार से लोटते समय रास्ते मे एक गन्ने का खेत पडता। जोलाहा गन्ने की तरफ देखकर कहता—"घुक्क मियाँ सलाम।

पॉच गन्ने तोड लेन? घुक्क मियॉ सलाम। पाँच गन्ने तोड लेन?'' उधर से जड गन्ना क्या बोले। फिर आप ही वह कह लेवे—''हाँ मियाँ। पॉच गन्ने तोड लेव—हॉ मियाँ। पाँच गन्ने तोड लेव।'' इसी प्रकार एकतर्फी बाते करके वह नित्य पॉच गन्ने तोडा करे। एक दिन खेत का मालिक सबेरे से छिपकर अपने खेत मे बैठा इस बात को जानने के लिए कि नित्य गन्ना तोड कर कौन ले जाता है। इधर नित्य के आदती मियॉजी सूर्यास्त के समय बाजार से घर आ रहे थे। खेत के पास आते ही इधर-उधर थोडी निगाह कर किसी को न देख गन्ने से बोले—''घुक्क मियॉ सलाम। पॉच गन्ने तोड लेन? घुक्क मियॉ सलाम। पॉच गन्ने तोड लेन?'' गन्ने की तरफ से तो कुछ आवाज आई नही। आप ही मियाँ जी बोले—''हॉ मियॉ। पाँच गन्ने तोड लेव। हॉ मियॉ। पॉच गन्ने तोड लेव।'' बस, मियॉ जी लगे चटाचट तोडने। यह बात सुन और देखकर किसान खेत से निकला और मारे क्रोध के मियॉ की दाढी ओर सिर के बाल पकडकर पास ही के पकी अलसी वाले खेत मे लगा घसीटने और पीटने। किसान उसे घसीटते जाय और कहते जाय—क्यो बे। घुक्क मियॉ का खेत है या मेरा या तेरा? इस प्रकार कह-कह कर घसीटते-घसीटते मियॉ जी की देह लोहू-लुहान हो गई। अन्त मे बहुत कहने-सुनने पर किसान ने उसे छोड दिया। वह घर को आया। उसकी देह की सब अवदशा देखकर उसकी बीवी हाय-हाय करके रोने लगी। मियॉ जी फिर बात बनाकर बोले—तू कम अक्ल क्यो रोती है, रोवे वह जिसकी ''बारह बीघे अलसी गई।''

सिद्धात—इस प्रकार जड कारण-कार्यों की तरफ से तो कोई भी चैतन्य के लक्षण नहीं मिलते। पर उस जोलाहे मियॉ के समान एकतर्फी न्याय करके जीव निज स्वरूप को जड मे मिलाकर त्रिविध दुख का भागी बनता रहता है। उसे उचित है कि यथार्थ विचार करके ठीक-ठीक जड-चेतन को पृथक करके कल्याण करे।

चहै पवन को धरा बतावैं। घूँटि अनल से प्यास बुझावै॥
चेतन खानी बिना बताये। सबके लक्षण सबहिं देखाये॥

टीका—चाहे वायु को पृथ्वी कह दे या अग्नि को पीकर प्यास बुझाने की कल्पना करे, यह मनुष्य के मन की बात है, पर उनमे जो धर्म गुण है, वे ही रहेगे। वायु वायु ही रहेगा, पृथ्वी पृथ्वी ही रहेगी, अग्नि अग्नि ही और जल जल ही रहेगा। उनको उलटा मान लेने से उनमे वैसा कुछ न होगा, वेसे जड कारण-कार्य जड ही रहेगे और चेतन चेतन ही रहेगे, क्योकि जितनी चेतन खानियॉ है, उनमे बिना जीव सिद्ध किये ही हर्ष-शोक भय, दुख-सुख ज्ञान, त्रिविध अवस्थादि ये सब चेतनता के लक्षण सबको दिखाई दे रहे हैं।

लखि अंकूरज पृथक जो उनको। नहिं अस कोई ज्ञान नहिं जिनको॥
मन भावै तेहि करे बचावा। नहिं तो हठ करि ताहि नशावा॥

टीका—अकुरज खानि और चेतन खानि के लक्षण न्यारे-न्यारे ही अनुभव कर रहे हैं। कोई ऐसा नही है जिसे यह ज्ञान न हो कि इसमे जीव है और इसमे नही है। सब कोई दुख-सुख आदि का ज्ञान देखकर जानते है कि यह जीव हे, पर उनके मन की बात है, जीव दया पर कुछ भाव रहा, तब तो जीवो को मन, वच, कर्म से घात न कर उनकी रक्षा ही करते हे और यदि अज्ञान विशेष हुआ तो लोभ-मोह-वश जीव जानते हुए भी हठ करके उन्हे मारकर पाप के भागी बनते हे।

विलग विलग यह ज्ञान न छूटै। चहै भूलावै तवहुँ अटूटै॥
विना त्वचा कस लखिये आनन। मुख विहीन रसना कस मानन॥
जर मे मुख कहुँ दृष्टि न आवै। एक छिद्र से खाद्य जो खावै॥

टीका—दुख-सुख का ज्ञाता देहधारी जीव है, इससे भिन्न दुख-सुख-रहित अंकुरज जड है, ऐसा भिन्न-भिन्न ज्ञान किसी को नहीं भूलता। यदि वे मोह-वश भुलाने की कोशिश भी करें, तो भी जड कार्यो ओर देहधारी जीवो का भिन्न-भिन्न ज्ञान होना निश्चित है। वह भूल नही सकता। चमडी के विना मुख कहीं देखने मे आता ही नहीं। मुख न हो ओर उसके जिह्वा हो, यह भी केसे माना जा सकता ह। वृक्षों की जडो मे कहीं भी मुख नजर नहीं आता है। देहधारी जीवो के समान वे मुख के एक गोलक रूप छिद्र से भोजन ग्रहण करते हो, ऐसा उनमे नहीं है।

साखी—सव जन्तुन मुख छिद्र इक, जेहि ते खाद्य को खाँय।
वृक्षन मूल में नहिं लखे, जस तिन माहिं दिखाय॥ ५॥

टीका—सव देहधारी जीवो का एक गोलकरूप मुख का वडा छिद्र होता है, जिसके द्वारा वे भोजन ग्रहण करते हें, ऐसा वृक्षो की जड मे नहीं देखा जाता जैसा चेतन खानि मे हे॥ ५॥

अनन्त छिद्र सव वृक्ष माहिं जस। तेहिते भिन्न न मूल माहिं तस॥
तेहि ते मुख नहिं तिनमें होई। परमाणुन केरि क्रिया तहँ जोई॥

टीका—चार तत्वोयुक्त अनन्त परमाणुओ से वने हुए वृक्षो मे चलनी वत जो अनन्त छिद्र ह, उनसे भिन्न वृक्ष की जड मे मुख-गोलक के समान एक वडा छिद्र नहीं होता। अत: उनमे मुख इन्द्रिय हे ही नहीं, केवल जड तत्वो के परमाणुओं की क्रिया द्वारा दीपक मे तेल चढने वत उनकी स्थिति हे। देहधारी चेतन के समान उनमे मुख से खाकर उनकी स्थिति नहीं ह।

जौन वृक्ष की जस है किरिया। तेहि विधि शक्ति ग्रहण तहँ हिरिया॥
कोइ कोइ मूल से शक्ति को लेवें। कोइ कोइ सर्व अंग से सेवै॥

टीका—जिस वृक्ष की जेसी क्रिया द्वारा स्थिति हे, उसमे वैसे ही शक्ति साधक ओर सयोग द्वारा ग्रहण होती रहती हें, ऐसा देखा जाता है। कोई-कोई वृक्ष तो विशेप जड ही से शक्ति ग्रहण करते ओर कोई-कोई जड, शाखा, पत्ते आदि सव जगहो से ग्रहण करते हैं।

डार काटि जेहि वृक्ष लगावें। तिनमे शक्ति तह तहँ पाव॥
याते सरवांग ग्रहण की शक्ती। नहिं तो वहु वृक्षन कस भरती॥

टीका—जिसकी डाले आर पत्ते काटकर लगा देने से लग जाते ह, वे जहाँ से काट के लगा दिये जाते ह, वहाँ ही से शक्तियाँ ग्रहण कर लेते हें। अत: उनमे सव अगो से ग्रहण करने की शक्ति हे। यदि ऐसी शक्ति उनमे न होती तो शाखा काट-काट कर लगा देने से वहुत मे वृक्ष शक्तिमान वनकर क्यो उपज जाते।

जर को मुख करि मानै उनमे। शाखा काटि लगावे क्षिति मे॥
जर रही मुख कहो कस उनमे। कहँ-कहँ मुख मानै हम तिस मे॥

टीका—यदि केवल वृक्ष की जड को ही मुख मान लिया जाय तो जब तिनकी शाखाएँ काटकर जमीन मे लगा देते ह ओर वे लग जाते हैं, तव केवल जड ही उसका मुख है यह बात कहाॅ सिद्ध हुई? जब वे सब अगो से शक्ति ग्रहण कर लेते हें तो उनमे कहाँ-कहाॅ मुख माना जाय?

साखी—सब तन मुख का रूप हे, सब अगन जर मूल।
केहि का मुख अब है कहाॅ, कौन काहि को थूल॥ ६॥

टीका—सब शरीर तो उसका मुख ही सिद्ध भया और सब अग शाखाएॅ—जड रूप हुए, तो अब विचारो किसका मुख है? वह मुख भी एक कहाॅ पर है? ओर उस मुख से भिन्न स्थूल देह कौन सी हे? जेसे कि जीवो की देहों मे मुख तथा अन्य-अन्य अगो के लक्षण न्यारे-न्यारे होते हे, वैसा उनमे कहाॅ है?॥ ६॥

जेहि हित खाय तौन है कहवाॅ। मुखहिं स्वरूप भयो जब वहवाॅ॥
सबकी देह मुख भिन्न दिखावै। नहिं अस देह जो मुखहिं लखावै॥

टीका—जिस शरीर-रक्षा के लिए वे खाते हे वह शरीर मुख के भिन्न आकार वाला जैसा कि जीवो की देहो मे है वैसा वृक्षो मे कहाॅ पर है? जब जड-पेड तथा शाखा सब अग मुख ही हो गये तो किस देह के पालनार्थ वे मुख से खाते ह? सब जीवो की देह आर मुख अलग-अलग देखे जाते हैं, जीवो की ऐसी कोई भी देह नहीं है कि उसमे सारा शरीर मुख ही मुख हो।

चेतन खानिन नहिं अस देखे। जस यह बात भई बिन लेखे॥
अस तौ देह सुनी नहिं देखी। भयो विपर्जय बात अलेखी॥
बिना परन कै पक्षी उडिगै। जैसहिं बात रही यह विलगै॥

टीका—जेसी विपरीत बात यह है कि जिसमे मुख ही मुख हो, चेतन खानियो मे ऐसा शरीर न देखा गया न सुना ही गया। यह बात बिलकुल उलटी और असम्भव है। यह तो बात ऐसी है, जैसे कोई कहे कि पक्षी के पख नही हैं और वह बिना पख के ही उड गया, वेसे ही यह बात असम्भव देखने मे आती है।

एक वृक्ष के खण्ड अनेका। देत लगाय होत वहुतेका॥
जन्तुन माहिं खण्ड जो करही। एके रहब होत दुस्तरही॥
एक जन्तु के बहुत खण्ड करि। उतपति होय न कबहुँ देह धरि॥

टीका—एक वृक्ष के अनेक टुकडे करके लगा देने से सब के सब लगकर वहुत वृक्ष हो जाते हैं। किसी भी देहधारी जीव की देह यदि टुकडा करके लगाना चाहे तो अनेक होना कौन कहे एक ही देह रहना असम्भव है। एक चेतन प्राणी को काटकर वहुत टुकडा करके लगाने से कभी अन्य देह की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

चेतन शक्ति से तहाॅ अभावै। जडता शक्ति बहुत दरशावै॥
जड चेतन मे भेद बहूता। अधकार ओ रवि सम हूता॥

टीका—दुख-सुख, हानि-लाभ के ज्ञान रहित वृक्षो मे चेतना शक्ति नहीं है। हाँ, उनमे जड गुण-धर्मयुत जडशक्ति वहुत प्रकार की देखी जाती ह। जड आर चेतन मे अत्यन्त भिन्नता ह, दोनो की भिन्नता अधकार और सूर्य के समान ह।

वहुत इशारे से छुये लजारू। नहि मकुचत करि लाज विचारू॥
नेत्र नहीं तुम उनमे देखहु। नहि तव सकुचत देखि ममीपहु॥

टीका—छुई-मुई के वृक्षो को यदि धक्का-रहित छुआ जावे तो वे लज्जा मानकर कभी नहीं मकुचते आर उनमे नेत्र भी नही देखे जाते। जो उनमे नेत्र होते तो अँगुली को समीप ले जाने पर दूर ही मे देखकर उन्हे लज्जा होती। जेसे कोई लज्जावान मनुष्य दूर ही मे लजा देने वाले को देखकर लजा जाता ह।

वारम्वार छुवत तेहि कोई। तेहि उदवेग वहुत विधि होई॥
रिस वशि वहुत तड़फड़ सोई। भय वशि रहत एकरस ओई॥
वारम्वार जो ठोकर होई। सकुचि रहे फैलै पुनि मोई॥

टीका—लज्जा मानने वाले के प्रति यदि कोई लजाने की क्रिया वारम्वार करे तो वह कष्टित होकर क्रोधित होने लगता ह। मारे क्रोध के उसके अग भी थीर नहीं रहते, मो भी इनमे नहीं ह। यदि लजारू वृक्ष भयभीत हो जाते होवें, तो वहुत देर तक चुप्पी साधना चाहिए, सो यह वात भी नहीं। हॉ! जो कोई उनको कम या विशेप जमी चोट देता है, उसके अनुमार ही कम-अधिक सकुचित हो-होकर फलते ह, कुछ जानवूझ कर नहीं।

साखी—भय वशि रहत सकोचि नहिं, वहुत समय तक मोय।
ठोकर के अनुसार ही, सकुचि फैलि वह होय॥ ७॥
पवन झिकोर से मिमिटि मोड, जात वहुत मुरझाय।
तेहि ते ज्ञान न तिनहिं मे, वीज शक्ति दरशाय॥ ८॥

टीका—वे डर मानकर वहुत देर तक लज्जा नहीं करते, वल्कि कम-विशेप ठोकर के अनुमार मुरझा जाते आर फिर फल जाते है। इसमे यह वात नहीं कि वे मनुष्य से लजाते हो॥ ७॥ यदि उनको किमी भी चीज की चोट लग जावे तो मुरझा जावेंगे, जोर से वायु का धक्का लग जावे तो वे अधिक मुरझाकर गिर पडते ह, अतः उनमे ज्ञान-शक्ति नहीं हे। यह वीज की ही स्वाभाविक शक्ति ह॥ ८॥

रवि प्रकाश विन सिमिटि रहावे। लाज नहीं यह वीज स्वभावे॥
रैनि समय जो सकुचि रहावै। कोन छुवे तेहि खोजि वतावै॥

टीका—मूर्यास्त के वाद रात्रि होने पर तो लजारू तथा और भी कोई-कोई वृक्ष के पत्ते सिमिट जाते हें तव उम समय किसके छूने से वे लजाते हें, इस वात को शोधकर कोई वतावे तो सही!

कौन लजावत केहि ते सकुच। यह तुम कहो होय जस निशच॥
याते कारण तत्त्व ममुझि मन। प्रत्यक्ष वात यह लेहु समुझि मन॥

टीका—जिन वृक्षो के पत्ते प्रकाश के बिना रात्रि को सिमिट रहते है उनको कौन लजवाता और वे किससे लजाते हे, इसके बारे ने जैसा निश्चय हो वैसा कहिए। अधकार मे लजवाना और लजाना दोनो अयुक्त ही है, अत: हे मन! विचार कर देखो! कारण जड तत्वो के गुण तथा शक्ति ही इन कार्यो मे है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभव है, इसे समझकर देखो तो सही।

तत्वन के गुण धर्म रहावै। ज्ञान बिहीन सो सबहिं दिखावै॥
याते लाज न समुझौ इनमे। घट बढ रहत तत्त्व के गुण में॥

टीका—कारण तत्वो मे जो कोमलतादि धर्म, रूप, रस, गधादि गुण हैं, वे ही घट-बढ परमाणुओ के सयोग द्वारा रूपान्तर होकर कार्य पदार्थो मे बनते दिखते है। कारण औग तिनके विविध कार्य सबही सुख-दुखादि ज्ञान रहित सबको दिखाई दे रहे है। अत लजारू वृक्षो मे ज्ञान-मानन्दीयुक्त लज्जा नही है, बल्कि ये तो जड तत्वो के स्वभाव के अन्दर ही मे परमाणुओ के घट-बढ से विविध गुण-धर्म-शक्ति युत कार्य होते रहते है। किसी मे कोमलता अधिक, तो किसी मे कठोरता अधिक तथा किसी मे उष्णता अधिक, कुछ भी हो पर सब जड के जड ही रहते हे।

पावक पवन विरोध के कारन। तेहि ते बृक्ष अंग तहँ मारन॥
जेहि ते उतपति तेहि के खामै। कस नहिं दबै अग तेहि तामै॥

टीका—वृक्ष जो किसी तरफ बढते, फेलते और किसी तरफ नही, उसका कारण यह है कि प्रकाश और पवन का किसी दिवाल या वृक्ष या किसी वजह से जिस तरफ रुकावट हो जाती है उस तरफ शाखाएँ नही बढती, यदि उधर बढती भी है तो उसकी शाखाएँ कमजोर ही रहती है। जिस प्रकाश और पवन की शक्ति से शाखाएँ या बौडियॉ उत्पन्न होती, बढती तथा फैलती है, उनके न मिलने पर उधर की शाखाएँ क्यो न कमजोर हो जायेगी।

कोई कोई बृक्ष मूल से कमती। तेहि ते ताहि सजोरहिं रुकती॥
छाया अन्दर बृक्ष रहे जब। प्रकाश पवन बिन शक्ति घटै तब॥

टीका—कोई-कोई वृक्ष पहिले ही से कम शक्तिमान होते हे, इसका कारण प्रकाश और पवन का न मिलना ही हे। इसी से वे फैलने, मोटाने, बढने से रुक जाते है, क्योकि घर या किसी छाया के मध्य यदि वृक्ष लगा दिया जाता है तो उसे बाहर का प्रकाश और पवन न मिलने से उसकी शक्ति कमजोर पड जाती है।

साखी—सब शाखन से शक्ति लै, होय बृक्ष के अंग।
परै बिरोध जो ताहि मे, होय अग तेहि भंग॥ ९॥

टीका—पूर्वोक्त बातो से अनुभव होता है कि वृक्ष सब अगो से शक्ति ग्रहण करते हुए उनकी सब शाखाएँ हरी भरी रहती है और जब किसी तरफ किसी दिवाल या अन्य कारणो से प्रकाश पवनादि की रुकावट हो जाती है, तब उस तरफ की शाखाएँ कमजोर पड जाती या नष्ट हो जाती हैं॥ ९॥

प्रसंग ६—कारण-कार्य जड़ तत्वों में जीव नहीं होते

चौपाई—८

है जड तत्त्वन चारि अकारा। कोमल कठिन शीत उजियारा॥

वारि मही अरु पवन अनल है। कठिनपना मे धारण महि है॥

टीका—जड तत्वो मे चार स्वरूप ह—कोमल, कठोर, शीत और प्रकाश। जल, पृथ्वी, वायु आर अग्नि ये चारो के नाम हैं। कठोरता से पूर्ण पृथ्वी प्रत्यक्ष देखी जाती है।

वारि रसायन अनल जलाव। मारुत अपनी शक्ति दिखावै॥
शव्द स्पर्श रूप रम तिनमे। ज्ञान विहीन गध गुण जिनमे॥

टीका—प्रत्येक चीज का पिण्ड वाँध देना यह जल मे शक्ति ह, अग्नि उष्णतायुक्त सव पदार्थो को जलाती है, वायु मव पदार्थो का स्पर्श करता, उन्हे उडाता तथा ढकेलता है। इन जड तत्वो मे शव्द, स्पर्श, रूप, रम तथा गन्ध गुण हं। वे सव अपने-पर के जानने-जनाने से रहित जडरूप ह।

क्रियावान सयोग रहे ह। मिलन वियोग होत तिनहे है॥
नेत्र से देख त्वचा से जाने। यहि विधि तिनके रूप पिछाने॥

टीका—सव तत्व स्वभाव मे क्रियावान ह। वे परस्पर मिले हुए हैं। चारो तत्वों के परमाणुओ मे सयोग-वियोग स्वाभाविक लगा ही रहता ह। स्थूल कारणरूप पृथ्वी, जल और सूर्यरूप अग्नि को तो नेत्र से देखा जाता ह तथा वायु और अन्य तत्वो के सूक्ष्म परमाणुआ का त्वचा के स्पर्श द्वारा ज्ञान होता ह। जो वायु मे गर्म प्रतीत होता है वह अग्नि का स्वरूप, ठडा जल का स्वरूप, जो वायु के साथ चोट लगती ह वह कठोरपन पृथ्वी का स्वरूप, इन तीनो से रहित जव विशेप कोमलता वायु मे प्रतीत होती ह तो वह खास वायु का स्वरूप त्वचा द्वारा जाना जाता ह, इस प्रकार गुण-धर्म शक्ति युत चार तत्वो के स्वरूप का त्वचा तथा नेत्र द्वारा मनुष्य जानते ह।

तिनकी शक्ति वहुत सव विदित। जिनको जीव रहत नित लखितै॥
सव तो लखे ज्ञान नहि देखै। धर्म शक्ति गुण रूप विशेपे॥

टीका—उन चार तत्वो की अमित शक्तियाँ सवको प्रत्यक्ष ह। ठंडी, गर्मी, वर्पा, वीज, वृक्ष, जगल-पहाड आदि जितने कार्य पदार्थ हैं वे सव जड तत्वो की शक्ति है, जिनको जीव सर्वदा प्रत्यक्ष देख रहे हैं। शीतादिक धर्म, रूपादिक विपय, रसायन आदि शक्ति सव कारण तत्वो के सामर्थ्य कार्यो मे पूर्णरूप से नजर आते हैं, पर उनमे ज्ञान धर्म कहीं नहीं ह।

पावक पवन भूमि जल जोई। हानि लाभ तेहि ज्ञान न कोई॥
सुना कहत कुछ करतव्य इनकै। एक एक नाशत घटि वढिके॥
वाढत जल जव कृपी डुवावै। वहुत जन्तु की देह नशाव॥

टीका—अग्नि, वायु, पृथ्वी और जल इन दृश्य जड तत्वो को घाटा-मुनाफा, सुख-दुख का कुछ भी ज्ञान नही ह, न वे हानि-लाभ सोचकर कोई क्रिया ही करते हैं। इन जड तत्वो की क्रियाओ का सक्षेप मे वर्णन किया जाता है, ध्यानपूर्वक श्रवण कीजिए। जव एक तत्व पवल हो जाता ह तव वह दूसरे तत्त्व के गुण को दाव देता ह। जव जल तत्व वढ जाता ह तव तमाम खेती को डुवा देता और वहुत से गाँव वहाकर जीवो की देहो का नाश कर देता है।

साखी—ह्वै आश्रित तेहि शरण लै, जो कोइ करै पुकार।
करै सहॉय न ताहि को, आश्रित दुखहि निहार॥ १०॥

टीका—जल मे डूबते समय मनुष्यप्राणी जल का सहारा पकडकर यदि कहने लगें कि मै आपकी शरण हूँ, मुझे आप बचा ले, तो भी जल अपने आश्रयी को दुखी देखकर कृपा नही करता, उसे डूबने से नही बचाता है॥ १०॥

बहुत प्रबल जब मारुत चलई। दुखत जीव बहु वृक्ष सॅघरई॥
शरण शरण करि कोइ गोहरावै। तबहुॅ न मेहर ताहिके आवै॥

टीका—जब बडे जोरो से वायु चलता है, ऑधी या बौडर से अनेकानेक जीव दुखी हो जाते हैं, उनके प्रिय बाग-बगीचे सब उखड जाते हैं तब कोई वायु से विनय करे या कोई-कोई वायु को देवता मानकर कहते है कि हे पवन देव! मै आपकी शरण हूॅ—शरण हूॅ, मेरी रक्षा कीजिए, ऐसे दुखी स्वर को भी सुनकर वह दया नही करता।

लागै अग्नि जो ताही समई। देत जलाय जो पूजत रहई॥
दया धरम कहुॅ छुइ नहिं जावै। बैर प्रीति को तहॉ अभावै॥

टीका—वायु की प्रबलता से अग्नि की चिनगारी उडकर यदि कही छप्पर आदि मे लग जावे, तो जो अग्नि को नित्य पूजता-हवन करता है, यदि उसी के मकान, वस्त्र या अग पर पड जावे तो भी वह उसे जला देती है। अत· जड तत्वो मे दया धर्म का लेश भी नही है तथा वैर-प्रेम, राग-द्वेष भी नहीं है।

भै भूकम्प जहॉ पर कबहूॅ। राखब बस्तु जन्तु दुस्तरहूॅ॥
चहै महि को कोइ पूजन करही। चहै बसन्दर पावक डरही॥

टीका—जहॉ कही पर किसी समय भूकम्प हो जाता है वहॉ उपयोगी पदार्थ और जीवो का बचाव होना कठिन हो जाता है। चाहे कोई पृथ्वी का नित्य पूजन ही क्यो न करता रहा पर उसे भी वह भूकम्प के विघ्नो से बचा नही सकती। भले ही कोई घी-मेवे डालकर अग्नि मे नित्य हवन करे, तो भी अग्नि उस पर करुणा नहीं कर सकती।

चहै कोइ पवन को भजन अराधै। चहै कोइ शुभ करमन को साधै॥
चहै कोइ उनसे बैर बढावै। चहै कोइ पूजा पाठ सुनावै॥

टीका—चाहे कोई वायु को देवता मानकर जपा करे अथवा कोई शीलादि अच्छे-अच्छे कर्मो को करे या उनसे द्वेष ही कोई क्यो न करे, या कोई उन जड तत्वो को पूजा पाठ सुनावे।

चहै राक्षसी धर्म से चलई। चहै कोइ हरि सुमिरन नित करई॥
तत्त्वन क्रिया हानि रहै सब कै। लाभ होय तहुॅ ज्ञान न तब कै॥

टीका—कोई मास मदिरा ग्रहण परनिदादि राक्षसी वृत्ति धारण करे या कोई दिन-रात हरिॐ परमात्मा आदि नाम ही क्यो न स्मरण किया करे, अर्थात कुछ भी कोई करे, पर जड तत्वो की क्रिया हानिकारी होगी तो सबके लिए या सयोग से किसी का लाभ भी हो जाय तो उसे इस बात का ज्ञान नही है कि हमने इसका लाभ किया है, क्योकि उन जड तत्वो मे ज्ञान

धर्मवाला जीव ह ही नहीं।

साखी—जन्तुन माहिं न अस दिखै, वैर प्रीति विन कोय।
निज निज मति सव समुझि करि, राग द्वेष तहँ होय॥ ११॥

टीका—कोई ऐसे देहधारी जीव नहीं हैं जो प्रतिकूल-अनुकूल वैर-प्रीति से खाली होवे। सर्व चेतन प्राणी अपने-अपने घट बुद्धि चश्मा के अनुसार सुख-दुख, हानि-लाभ, जान-जान, समझ-समझकर परस्पर राग और द्वेष करते रहते है॥ ११॥

जडै क्रिया जड़ै शक्ति तहाँ है। जड अकार गुण धर्म जहाँ है॥
जड़ै दृश्य औ शब्द परश सव। कारण कारज जडै रहे सव॥
जड विन नहिं कुछु तत्त्वन माहीं। जो कुछ है सो जडै दिखाहीं॥

टीका—जड तत्व जडगुण, जडधर्म, जडशक्ति और जडक्रिया, सर्वांग जडता से ही पूर्ण ह। जो कुछ नेत्रो से दृश्य देखा जा रहा है, जो कुछ आवाज सुनी जा रही है, जो कुछ स्पर्श, गध, रस आदि लिए जा रहे ह, वे सव जड ही हैं। कारण तत्व आर उनके कार्य वन-वनकर विगडते रहते ह। अत. कारण-कार्य ज्ञान रहित जड ही हैं। जड के विना तत्वो मे और कुछ नहीं हे। उनमे जो कुछ शक्तियाँ ह वे सव जड क अन्दर ही है।

अनंत वस्तु तिन मध्य प्रगट है। नाशि होय फिरि उतपति अवहै॥
मनुष ज्ञान करि जानि जनावै। हानि लाभ तिनमे दरशावै॥

टीका—इन जड तत्वो से अगणित वस्तुएँ वनती और नष्ट होती हैं, फिर उत्पन्न होती हें। यह सव वर्तमान मे ही सवको अनुभव होता है। इसी प्रकार प्रवाहरूप अनादिकाल से यह धारा चली आ रही हे। मनुष्य स्वयं आप ही उन जड तत्वो को जानता आर दूसरे देहधारी चेतन को भी उन तत्वो के गुण, धर्म, लक्षण वतलाता हैं तथा उनमे यह हानि यह लाभ भी जीव ही कहता हैं। विष खाने से हानि होगी, पानी से प्यास वुझेगी, लोहा से इस प्रकार की वस्तुएँ वनाई जाती हं, इस प्रकार सोने-चाँदी का मोल, घुँघुची का तौल इत्यादि ये सव कार्यो मे हानि आर लाभ नित्य चेतन ही सिद्ध करता-कराता है।

वस्तुन लै लै काम करे सव। जो कुछ मन मे जानि परे जव॥
नहिं तो शून्य अहै संसारा। जस विनु भानु रहे अँधियारा॥

टीका—जड तत्वो से वस्तुएँ ले-लेकर उनका उपयोग देहधारी चेतन जीव ही करते ह। मिट्टी से मकान, लोहे, चाँदी, सोने से नाना पात्र, आभूषण, औजार, मशीनादि, रुई से वस्त्रादि जव जिस प्रकार उनके मन मे जिस वस्तु से लाभ देखने में आता है तव तिस जड वस्तु को युक्ति-प्रयुक्ति से काम मे लाते तथा हानि-लाभ जानने पर उन वस्तुओ का त्याग-ग्रहण भी करते हैं। यदि चेतन न हो तो सव कारण-कार्य ज्ञानशून्य होने से निरर्थक हैं। जसे सूर्य के विना सव देश अन्धकारमय, वैसे चेतन को छोडकर सव अन्धकार-अज्ञात जडरूप है।

चन्द्र सूर्य तारागण जेते। सिन्धु मही भूधर विन हेते॥
कारण तत्त्वन ज्ञान अभावा। तैसहिं कारज को लखि पावा॥

टीका—चन्द्र, सूर्य, तारागण, समुद्र, पृथ्वी ये हो तो भी क्या, न हो तो क्या। चेतन के रहे बिना जड की कोई आवश्यकता नही। कारणरूप चार तत्वो मे हानि-लाभ, सुख-दुखादि जानने का कुछ भी ज्ञान नही है। उसी प्रकार उनसे बने हुए बीज-वृक्षादि सब कार्यो मे भी ज्ञान-गुण का अभाव देखने मे आ रहा है।

साखी—कारण कारज जडहिं है, तत्त्वन केर स्वरूप।
शक्ति महान सो ताहि में, है बिजाति तम कूप॥ १२॥
जीव मानि बधन सोई, भरमत भूलि अचेत।
भूल मिटै निर्द्वन्द्व तब, जड से भिन्न सचेत॥ १३॥
आपै सब को जानि कै, तजत गहत यह जीव।
रोकि सकै कोउ नाहिं यहि, जो बिचार दृढ कीव॥ १४॥

टीका—कारण और कार्य सब जडरूप ही है। जड तत्वों का स्वरूप कारण-कार्य छोडकर और कुछ नही है। उनमे शक्ति तो बहुत है पर चेतन स्वरूप से सब पृथक विजाति भिन्न धर्मी अन्धकारमय है। अन्धकार का अर्थ चेतनतारहित तत्व जडरूप है॥ १२॥ उन्ही जड तत्वो से बने देह-गेह और विविध पदार्थो को मै-मेरा मान-मानकर सुखासक्ति दृढ कर लेना बधन का स्वरूप है। इसी से जीव निज स्वरूप को भूल अज्ञानी बनकर भटक रहा है। यदि जड-भोगो की आसक्ति मिट जाय, तो यह चेतन जीव दुख-द्वन्द्व से पृथक होकर जड सम्बन्ध रहित अपने आप ज्ञान स्वरूप स्थित हो जावे॥ १३॥ अपना स्वय चेतन ही सबको जान-मानकर छोडता-पकडता रहता है। इसे कोई भी जड कारण-कार्य रोकने मे समर्थ नही है। सबको प्रत्यक्ष है कि जो जिसमे लाभ का पक्का निश्चय कर लेता है वह उसे करता रहता है। इससे स्पष्ट हो गया कि जीव यदि जड बन्धनो से पृथक होकर मुक्त होना चाहे, तो नि सदेह मुक्त हो सकता है, क्योकि जीव स्वरूप से ही स्वतत्न है, सर्व द्वन्द्वो से पृथक है, मात्न अज्ञान मिटने की देरी है॥ १४॥

लावनी—९

करत भ्रमण वह वायू देखौ घट बढ है रफ्तार जिसे॥
डार हलावै बृक्ष गिरावै पत्ते. धूल बहान दिसे॥
मनुष बसन ओ छर्रे ककड बहुतक बस्तु उडान तिसे॥
यह सब लक्षण वायू जड के सपरश त्वचा करान जिसे॥
हानि लाभ को अहे न ज्ञाता चेतन हीन देखान हिंसे[1]॥ १॥
नेत्रन द्वार प्रकाश दिखावे बस्तु धरी जहँ होय मिलै॥
दाहक सदा जलावै तन को आपनि शक्ति दिखाय भलै॥
बसन काष्ठ सब घास सुखावै अन्न पकावै बर्फ गलै॥
चेतन शक्ति न लक्षण इनमे जो कुछ निर्णय करै अलै॥ २॥

१　हृदय।

शीत बर्फ ह्वै देह सिझावै प्यास बुझावै जलन टलै॥
ईख माहिं जो रस उपजावै नाले सरिता वारि [१]रलै॥
करि स्नान सुखहिं पहुँचावै बद्दल ह्वै सोइ बरसि जलै॥
चेतन शक्ति न तिनमे देखौ याते नहीं विचार [२]सलै॥ ३॥
कठिन धरम पृथ्वी को देखौ सपरश त्वचा को धँसा[३] धरी॥
पत्थर शैल लोह औ चाँदी ताँवा कंचन रहा भरी॥
विविधि वस्तु कारज सब वहिसे जगत प्रसिद्धि न टारे टरी॥
चेतन शक्ति को तहाँ अभावै जस यह लक्षण प्रगट करी॥ ४॥
ओबी माहिं पुरुष जो बैठे वायु पकरि वहाव नहीं॥
जल बरसे नर घर को भागे तिनको पकरि भिजावै नहीं॥
अगिनि को तापै मनुष्य बैठि जब तिनको पकरि जलावै नहीं॥
महि के ऊपर सोय रहे सब तिनको पकरि छिपावे नही॥
पानी माहि जो काम करे नर जबरन पकरि डुबावे नहीं॥ ५॥
मनुष रिझाये वह नहिं रीझै नहि डेरुवाये डेराय रहै॥
नहीं बिगारै काज किसी को नाहीं कोइक बनाय रहै॥
ज्ञान कला तिनमे नहिं देखौ जडता शक्ति महान रहै॥
सब विधि तहँ निरताय रहौ तुम चेतन शक्ति अभाव तहैं॥
इन्द्रिन मन सम्बन्ध नहीं जहँ चेतन नहीं रहाय तहैं॥ ६॥
नहि देखै नहिं सुनै कछू वह नहिं सूघै अरु नहिं खावै॥
सपरश विषय को ज्ञान नहीं तहँ नहीं चेपटा दरशावै॥
पच विषय को रूप सदा वह केहि भोगे अरु को भोगे॥
चेतन शक्ति तहाँ नहिं देखौ जडता तत्त्व रहा संयोगे॥ ७॥
गंध गुणहि पृथ्वी दिखलावे रस गुण जल का रूप रहा॥
सपरश पवन स्वरूप शब्द हे रूप विषय सोइ अग्नि रहा॥
पाँच गुणन युत चार तत्त्व ये जल थल वायू अनल रहा॥
चेतन शक्ति को भयो अभावे केहि भोगे को भोगि रहा॥ ८॥
चेतन शक्ति से हे वह शुन्यहिं सकल कल्पना चेतन की॥
नाम धरे अरु क्रिया बतावे शक्ति भेद गुण रूपन की॥
बिन चेतन को जानि जनावे निर्णय कवन करै जड की॥
ज्ञान शून्य वह जड़हिं रहा है अहे कल्पना जीवन की॥ ९॥

अर्थ स्पष्ट है—

---

१ वहना।

२ विचार नहीं भावित होता।

३ त्वचा में घुमना।

प्रसंग ७—विषयासक्ति वश जीव कुछ और का और ही कहते हैं

सवैया—१०

भूलि रह्यो निज रूप को चेतन मानि कहे जड को सुखदाई।
इन्द्रिन के सग बास रहै नित ताहि समान चहै य सदाई॥
तेहि हेतु कहै कुछु और को औरहि नाहि यथारथ देत देखाई।
शुद्ध स्वरूप स्वतन्त्र जो आप है कारण कारज से बिलगाई॥ १॥

टीका—चेतन अपने सत्य स्वरूप को भूल रहा हे। वह जड स्थूल इन्द्रिय और सूक्ष्म अन्त करणादि को ही अपना स्वरूप मानकर जड-विषयो को ही सुखरूप कहता है। जड तत्वो की बनी दस इन्द्रियो के साथ मे यह अनन्त काल से रहते आया है। जैसा सग वेसा रग के अनुसार यह इन्द्रिय-विषयो के समान ही होना चाहता है। इन्द्रिय-विषयो से मिलकर एकमेक हो जाने की इच्छा करता है। इसी जडासक्ति के कारण जड को चेतन, चेतन को जड उलटा ही कहा करता है। उलटा-पलटा कहने का हेतु यह है कि विषयावरण से उसे ज्यो का त्यो सूझ नहीं पडता। अपना स्वरूप तो शुद्ध स्वतन्त्र है। जैसे अग्नि के गुण-धर्म जल मे नही है, पृथ्वी के गुण-धर्म वायु मे तथा वायु के गुण-धर्म पृथ्वी मे नही है और अपने-अपने मे अपने-अपने गुण-धर्म का भाव है। इससे जाना गया कि चारो तत्व अपने-अपने गुण-शक्तियुक्त अनादि काल से स्वन्त्र भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं। वैसे जीव के गुण-धर्म जड तत्वो में नही हैं और जड के गुण-धर्म जीव में नही हैं। जड मे जड के गुण-धर्म का भाव है तथा चेतन मे चेतन के गुण-धर्म का भाव है। इस कारण जड से चेतन नही, चेतन से जड नही, बल्कि दोनो स्वतन्त्र अनादि हे। जड अनादि होते हुए भी जड है और जड का जनैया नित्य चेतन जड से भिन्न अपने आप है। पुन· जड अनादि होते हुए भी कारण और कार्यरूप है, छिन्न-भिन्न, चल-विचल हैं तथा जीव कारण-कार्यो के जड गुण-धर्मो को जाननहार उनसे सर्वथा भिन्न केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप अचल है॥ १॥

लक्ष्य भ्रमै जड माहिं सदा तेहि भास के पास रह्यो अरुझाई।
भोग बिषय वहि होन को धावत ज्ञान स्वरूप तबौ बिलगाई॥
देखत रूप सुनै विष शब्दहु पर्श बिषय हित जीव बिकाई।
लै रसना रस माहिं भ्रमै नित घ्राण से गन्ध सुगन्ध लखाई॥ २॥

टीका—जीव की ज्ञानवृत्ति जड पॉचों विषयो मे ही अनादि काल से घूमा करती है, इसलिए भूलजन्य सुख-मानन्दी की धारा तथा सुखाभास की फासी मे यह जीव फॅस रहा है। पॉच इन्द्रियो द्वारा पॉचो विषयों को भोगते-भोंगते इतना आसक्त हो गया है कि वह इन जड विषयो का स्वरूप ही होना चाहता है। इसके लिए जीव रात-दिन खूब विषयो को भोगता है, परन्तु जो वस्तु सर्वथा विजाति धर्मयुक्त अलग है वह कैसे दूसरे का रूप हो सकती है। इस प्रकार विषयो के आसक्ति-वश यह जीव उन्हे अपना रूप सिद्ध करते हुए भी अलग का अलग ही रह जाता है, क्योकि वह अलग ही रह कर नेत्रो से रूप को देखता है, कानो से शब्द को सुनता है, अलग से ही स्पर्श विषय के लिए नर-नारी के घटो मे बिक रहा है। पुन अलग ही

रह कर जिह्वा के द्वारा स्वाद मे हमेशा भटका खा रहा हे और अलग ही रह कर नासिका से दुर्गन्ध-सुगन्ध को जानता हे ॥ २ ॥

पॉच को प्रेरक आप रहै नित भोगत भोग न भोगि अघाई।
लागि हे आगि घरे विच जीवन जात जले यक एक जलाई॥
ताहि बुझावन जोर कियो वहु बाढि कै अग्नि विक्षिप्त वनाई।
पारख होय तजे सवही भ्रम पाय स्वतः पद तृप्ति रहाई॥ ३॥

टीका—इस प्रकार से जीव पॉचो ज्ञानेन्द्रियो द्वारा पाँचो विषयो की इच्छा करके इन्द्रिय आर मन का प्रेरक बना रहता हे। हमेशा भोगो को भोगता तो हे, पर तृप्त नही होता। यह भोगने की चेष्टा क्रिया तो जीव के लिए ऐसे ही हुई कि जसे घर मे आग लगी हो, सब जल-वल रहे हो, उसके बुझाने के लिए घर का मालिक उसमे घी डालता जावे, तद्वत कामाग्नि में भोग-विलास का तृण डालकर सब जीव जल रहे ह। अपना तो विषयाग्नि मे जलते ही ह, साथ ही दूसरो को भी जलाने से चूकते नहीं। इस प्रकार त्रिविध तापो की हरानी से व्यथित सब जीव भोग-द्वारा कामाग्नि को जोर लगाकर मिटाने लगे। जिन भोगो से कामाग्नि लगी थी, उन्हीं को पुन -पुन· भोगने से कामाग्नि बढ गई, जिससे जीव अत्यन्त विक्षिप्त होकर करने को कुछ और तो करते कुछ और ही ह। यदि इस जीव को गुरु के सत्सग मे पारखपद की प्राप्ति हो जाय तो अपने से पृथक सर्व खानि-वानी को अपनी मिथ्या-कल्पना जानकर तथा उसे त्यागकर सर्व का परीक्षक अपने आप नित्य तृप्त स्थित हो जावे। अत प्रयत्न करके गुरु-पारख को प्राप्त करना चाहिए जिससे सर्व भूल-भ्रम की परीक्षा मिले॥ ३॥

प्रसंग ८—देह में रहने वाला जीव देह से न्यारा है

शब्द-११

अविषय जीव पृथक खुद तन मे।

पच विषय जड देह ग्ही है, वढत घटत चल वालापन मे॥ टेक॥
तरुण वृद्ध जर-जर ह्वै जावै, देह विजाति नाशि कुछ दिन मे॥
पंच विषय जड देह को ज्ञाता, रहत एकरस भिन में॥ १॥
इन्द्रिय त्रिगुण दृश्य तुम देखत, सनमुख एक और नहि रन में॥
शक्ति दिहे विन क्रिया न करते, जो वल पाय वली वह सव मे॥ २॥
गहत तजत सो पृथक श्वास से, शून्य अभाव अवस्तु कथन मे॥
संयोग वियोग न शक्ति कोई तहँ, नाम अपेक्ष मुनेव तुम भरमे॥ ३॥
तेज वायु औ रुधिर वीर्य जड़, क्रियावान न थिर यक पल मे॥
दृश्य रहे ये तिनहिं लखे तुम, कारण कार्य न ज्ञान सवन में॥ ४॥

टीका—जीव का स्वरूप पाँच ज्ञानेन्द्रियो से नहीं जाना जाता हे। वह तो इन्द्रियो आर इन्द्रियो द्वारा जानने योग्य पॉच विषय, देह, मन, बुद्धि आदि का जानने वाला देह मे रहते हुए

भी देह से न्यारा हे, अपने आप है। पॉच विषययुक्त यह स्थूल देह जड है, इसमे लडकपन ही से घटना-बढना लगा रहता है, इसी से यह देह क्षणिक, परिणामी, बदलते हुए चल-विचल है॥ टेक॥ लडकपन से बढते-बढते जवानी होती है। जवानी से फिर क्षीण होते-होते शक्तिहत होकर वृद्धावस्था प्राप्त होती है। कुछ दिन बीते अन्त मे यह विजाति जड देह नष्ट ही हो जाती है। यह पच विपययुक्त देह की हालत हुई। जीव के लक्षण इस स्थूल देह से भिन्न हे। जीव पच विषययुक्त जड स्थूल का जानने वाला उससे भिन्न तीनो पन मे एकरस है, घटने-बढने से रहित अविनाशी है। इस प्रकार जड स्थूल से भिन्न जीव का स्वरूप है॥ १॥

जीव की नित्यता के सात प्रमाण

१ यह वर्तमान शरीर पहिले तो था ही नही। इस जीव के पूर्व कर्म सस्काराधीन माता-पिता के सम्बन्ध् से माता के गर्भ में इसका बीज पडा, फिर दिनोदिन परिवर्तन होते हुए देह बनना आरम्भ हुआ, क्रम-क्रम बढते-बढते आठ-नौ महीने मे पूरा शरीर बन कर जननीजठर से बाहर आया। बालकरूप मे छोटा शरीर दृश्य हुआ। फिर क्षण-क्षण मे आगे और बढने लगा। जैसे नख-केश पहिले के कटते जाते हैं और नये-नये आते जाते हैं, वैसे प्रारब्धकृत एक ही शरीर मे क्षण-क्षण परिवर्तन हुआ करता है, क्षण-क्षण बदलती हुई अवस्था पहिले मालूम नही होती। जब पूरी अवस्था बदल जाती है तब मालूम होने लगती। बाल्यावस्था मे जो शरीर कोमल था और उसके अग छोटे थे तथा वह कम वजन का था, वही शरीर परिवर्तन होते-होते जवानी अवस्था आने पर पहिले से कठोर तथा कद लम्बी हो जाती है, वजन बढ जाता हैं। पुरुप को दाढी-मूछे आ जाती है। युवावस्था के अन्दर भी दो अवस्थाए हैं। बढती हुई अवस्था युवा और बढकर स्थिरतावाली अवस्था मध्यम अथवा अधेड कहलाती है। चालीस वर्ष से लेकर पचास वर्ष की अवस्था अधेड कही जाती है। इसके बाद वृद्धावस्था, दूसरी अति वृद्धावस्था। गर्भ से युवा तक शरीर के अवयव बढते रहते है। मध्यम अवस्था मे धातु आदिक स्थिर रहते है। युवावस्था के बाद फिर शरीर के अवयव ओर धातु आदि क्षीण होते चले जाते है। वृद्ध दशा मे शरीर की सुन्दरता नष्ट हो जाती है, दृष्टि मद पड जाती है, कान-वाकादि सब इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती है। इस प्रकार उपजना, बढ़ना, बालक, युवा और वृद्ध, फिर मृत्यु, ये इस शरीर के षट विकार कहे गये हे। यही प्रत्येक जन्म के शरीरों की दशा है। जो पूर्व जन्म मे शरीर था वह इस जन्म में नही है। जो इस जन्म मे है वह आगे नहीं। शरीर इतना बदल जाता है कि बालपन मे देखे हुए किसी मनुष्य को युवा या वृद्धावस्था मे देखकर सहसा पहिचानना कठिन हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि इस शरीर ही में जन्म-मरण के समान कितनी बार अवस्थाएँ बदलती रहती है। जवानी मे बाल्यावस्था का कहाँ पता है, बुढापे मे युवा के शरीर का अत्यन्त परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार शरीर का बदलाव होने पर भी चेतन जीव नही बदलता। यदि चेतन जीव बदलता हो तो आज से पचास वर्ष पहिले की बाते जो कि जीव ने किया-धरा था उसका स्मरण नही होता, क्योकि अन्य के अनुभव किये हुए दुख-सुख का स्मरण किसी अन्य को नहीं होता। खाय कोई, तथा स्वाद का अनुभव उसके अतिरिक्त दूसरा करे, यह बात असम्भव है। इससे जाना गया कि जो अनुभव करता है वही दूसरे समय मे स्मरण करता है। किसी को दूसरे का अनुभव किया हुआ दुख-सुख स्मरण नहीं होता। इसी प्रकार जीव बदल गया होता तो उसे अपने इसी जीवन मे अनुभव

की हुई बाते पचास वर्ष के वाद स्मरण नहीं रहती, परन्तु दस-वीस या पचास वर्ष की वाते आज स्मरण होती हैं और अब की बाते दस-बीस या पचास वर्ष के वाद भी जब तक शरीर रहेगा तव तक इसी प्रकार स्मरण होती रहेगी, यह सबको अनुभव ह। इससे मालूम हुआ कि पूर्व वातो का अनुभव करके फिर आज अथवा आगे स्मरण करने वाला अन्य नही हे, बल्कि वही अखण्ड जीव हे जो कि पचास वर्ष पहिले अपने द्वारा किये गये कर्तव्यो को आज ज्यों का त्यों स्मरण कर रहा है। इस प्रकार शरीर मे बाल, जवानी, वृद्धादि का परिवर्तन होने पर भी जीव नही बदलता। उसी प्रकार मरने के वाद भी दूसरा शरीर मिलने पर भी यह जीव नही वदलता, इससे जीव की नित्यता स्पष्ट हे।

२ जेसे इसी जन्म की अनेक बाते भूल जाती ह, बल्कि कल का सपना या कल की अनेक बाते आज ही विस्मृत हो जाती ह, पर उस अज्ञानवृत्ति को भी जानने वाला दूसरे समय मे स्मरण करके कहता ह कि पहिले की बातें मे भूल गया या कल का स्वप्न म भूल गया। इससे स्पष्ट हो गया कि जो म पहिले न होता तो पहिले के भूलने की वात भी अब ज्ञान करके केसे कह सकता था। अत में पहिले भी आज के सरीखा था, परन्तु अवस्था ओर काल भेद से मुझे पूर्व की बातों का स्मरण न रहा। इसी प्रकार पूर्व जन्म की बाते शरीरान्तर भेद, देश-काल भेद होने से आज नहीं याद ह। जैसे कल या आज ही की स्वप्नावस्था की बाते स्मरण न होते हुए भी जीव कल से आज तक हे वैसे पूर्व जन्म की वातें याद न होते हुए भी पूर्व जन्म मे रहा, आगे जन्मो मे भी रहेगा, क्योकि जीव के विना पूर्व, अब, आगे भाव-अभाव का ज्ञान करना क्षणिकवर्त्ती जड तत्वो मे कही नही हो सकता हे। इसलिए तीनो काल मे भावाभाव वृत्तियो का ज्ञाता चेतन्य एकरस अखण्ड हे। इस प्रकार से चेतन को एकरस अखण्ड जानना चाहिए।

३ में देखता, सुनता तथा भोगता हूँ, इस प्रकार जागृति मे अपनी सत्ता की प्रतीति है ही ओर स्वप्न मे भी नाना स्वप्न का अनुभव होकर अपनी सत्ता की प्रतीति हे तथा सुषुप्ति के भी जगत का अभाव आर स्थिर वृत्ति का भाव, ये दोनो ज्ञान की स्मृति जागृति मे मनुष्य को बनी रहती हे। "मुझे कुछ ज्ञान न रहा, में सुख से सो गया" इस प्रकार जाने बिना केसे कह सकता हे। अत सुपुप्ति अवस्था मे भी ज्ञानयुक्त जीव का स्वय एकरस अस्तित्व है, क्योकि जो वासना-वीज लेकर अचेत होता हे वही वासना लेकर फिर जागता है। ऐसा न हो तो घोर निद्रा मे सोने वाले को जोर से आवाज देने पर वह केसे जाग जावे, और जागकर पूर्ववत सब किये गये सस्कारो को केसे धारण करे। अत॰ सुषुप्ति मे पूर्व जागृति वाला अखण्ड जीव ही विश्राम करके फिर जाग्रत होता हे। इस प्रकार सेकडो बार जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति होने पर भी ज्ञाता जीव वही रहता हे। पूर्वोक्त अपने होने की तीनो काल में प्रतीति होती है। मैं नहीं हूँ ऐसा देहधारी जीवों को कभी नहीं प्रतीत होता। इसी कारण वर्तमान और पूर्व की अनत देहें तथा भविष्य मे भी, अर्थात तीनो काल में रहनहार सदा के लिए चेतन जीव अजर, अमर, अविनाशी और कार्य रहित नित्य हे।

४ बालक जन्मते ही रोने लगता है। जन्मने के बाद कभी हंसता तो कभी रोने लगता हे। माता के स्तन से दूध खीच लेता है, धमकाने या जोर से आवाज सुनकर भयभीत होने लगता हे। स्पर्श से उसकी शिश्नेन्द्रिय जाग्रत होने लगती है, ये सब बातें इस जन्म मे तो उसने सीखी

ही नहीं, देहधारियो मे देखे, सुने अनुभव किये विना हर्ष-शोकादि की क्रिया किमी को नहीं होती। इससे हमे पूर्व जन्म मे जीवो के रहने का ज्ञान होता हे। पूर्व जन्म के अभ्यास से ही ये सब बातें उसमे सहज ही होने लगती हे।

५ कोई रजोगुणी, कोई तमोगुणी और कोई सतोगुणी, ऐसे-ऐसे भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले दरिद्र, धनवान, मन्दबुद्धि, तेजबुद्धि, रागी-विरागी अनेक प्रकार के गुण-स्वभाव, दुख-सुख, भिन्न-भिन्न खानियाँ ऐसे कर्मों के भेद देखकर जाना जाता हैं कि पूर्व मे जेसे कर्म देहधारी जीवो ने किये, वेसी प्रारब्धदेह वन कर वे अव भोग रहे ह और अव जेसे-जेसे कर्म करते हैं, वैसे-वेसे सस्कार दृढ होने से आगे भी सूक्ष्म देहयुक्त स्थूल देह धरकर फल भोगेंगे। इस हेतु भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीनो काल मे जीव नित्य अमर चेतन स्वरूप एकरस हे।

६ जेसे एक दृश्य जड परमाणु को अग्नि आदि से जलाकर या किसी शस्त्र तथा तीर-तलवार से काट-पीटकर उसे नष्ट नहीं कर सकते। प्रत्यक्ष देखा जाता हे कि तालावो का जल सूखकर लुप्त होता रहता हे। असख्य कार्य पदार्थ उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हैं। यदि उनकी सामग्री फिर नहीं रह जाती तो आज तक जड तत्वों के ब्रह्माण्ड का चिह्न तक न रह जाता। जड तत्वो का ब्रह्माण्ड तो ज्यो का त्यों प्रत्यक्ष है, इसलिए शोध करने से जड तत्वो के परमाणु वैसे के वेसे ही वने रहते हें। जब कारण-कार्यरूप जड-तत्वो के परमाणुओ का नाश नहीं होता, तो भला जो जड को देखने वाला है, द्रष्टा हे, एकरस हे, उसका केसे नाश होगा। अत· चेतन अखण्ड तथा अनादि हे।

७ यावत कार्य हैं वे सब कारण भूतों के गुण-धर्म के स्वरूप हे आर जीव उनसे विरोधी ज्ञान धर्मवाला ज्ञान स्वरूप चैतन्य है। जीव किसी का अश नहीं हे। जड तत्वों के समान स्वाभाविक क्रिया जीवो मे नही दीखती है, वल्कि हानि-लाभ जान-मानकर मानन्दीयुक्त ही त्याग और ग्रहण जीव करता है। मानन्दी का द्रष्टा होकर ठहर रहने से अनुभव होता है कि जीव स्वय अचल हे, क्योकि मानन्दी न उठने पर जीव मे कोई क्रिया नही होती है। जड तत्व दृश्य, पर-प्रत्यक्ष तथा इन्द्रियगोचर हं और जीव इन्द्रिय ओर वाहरी पदार्थो को जान-मानकर अपने को आप ही प्रत्यक्ष करता है। कारण-कार्यरूप जड तत्वों और ज्ञान-गुण वाले जीवो से किसी प्रकार का मिलान न होने से जीव जड तत्वों का कार्य अथवा कारण नहीं है। जो किसी का कार्य ओर कारण नही होता उसमे घटना-वढना चल-विचल होना भी नहीं वनता। इससे स्पष्ट हुआ कि जीव स्वत , स्वतंत, नित्य, अनादि, एकरस तथा ज्ञान स्वरूप हैं। इस प्रकार अपने स्वरूप को जड तत्वों से पृथक करके जडासक्ति का सर्वथा त्यागकर मुक्त हो जाना चाहिए।

यह आँख, यह कान, यह नाक आदि इस तरह जड इन्द्रियो ओर राजस, तामस, सातस वृत्तियो को तुम अपने से भिन्न प्रत्यक्ष देख रहे हो। जीव के सामने लडने के लिए एक ही वृत्ति आया करती हे॥ २॥

भाव—इन्द्रियों के विपयरूप तीन गुणो की वृत्तियाँ जो जीव के मामने स्मरणरूप से आया करती हं वे वासनाएँ काम, क्रोध, लोभ, मोह की वृत्ति रूप मे एक ही एक करके आती रहती ह। वे एक-एक सामने आकर जीव को चचल करके दुख देती हें। इमसे वे जड वृत्तियाँ

जीव के लिए शत्रु के समान हुई जिनके आते ही जीव घबराकर उनको हटाने के लिए समझ अनुसार प्रयत्न करता रहता है, यही सम्मुख वासना मे जीव का समर हुई जानिए। इसलिए कहा गया ह कि "सनमुख एक आर नहि रन मे"। जीव के सत्ता दिये विना न तो कोई इन्द्रिय क्रिया कर सकती और न कोई अन्तरवृत्ति ही चल सकती हे। जिस वृत्ति मे जीव विशेप वल देता है वह अन्य वृत्तियो से विशेप पुष्ट होकर वलवान हो जाती हे। पूर्व की वृत्तियाँ सामान्यरूप से खच करती हें ओर जिसमें विशेप आदत वना लिया वह वलवान वृत्ति विशेप खेंच करती हे। इमसे यह सार निकला कि जीव स्थूल देह ओर मूक्ष्म मन का प्रेरक होने से स्थूल ओर मूक्ष्म देह से अलग द्रष्टा पारख स्वरूप शुद्ध हे।

लोहार-भाथीवत श्वास को लेने ओर छोडने वाला उससे न्यारा हे। नियम हे कि अपने से अलग वस्तु को छोडते व पकडते वन सकता हे, अपने आपको नहीं। श्वास का त्याग-ग्रहण करने मे जीव श्वास नहीं[१] ह। शून्य तो अभाव का नाम है, जिमे अवस्तु कहते ह। जेसे सत्पुत्र की अपेक्षा वध्यापुत्र के नाम का कथन। जेसे कहा जाता ह कि "यहाँ तो कुछ नहीं ह" दूसरे शव्दो मे उसी "कुछ नहीं" को कहा जाता हे कि यहाँ तो "शून्य" ह, भाई यहाँ क्या ढूँढते हो। इससे आकाश शून्य कुछ वस्तु नहीं। आकाश मे न तो कोई गुण-शक्ति हे आर न तो अन्य तत्वों के परमाणुओ के समान आकारयुक्त मयोग-वियोग ही है, मात्र साकार तत्वों की अपेक्षा से आकाश,[२] अवकाश, शून्य, अवस्तु कहा जाता हे। शून्य का नाम सुनकर भ्रम वश तुम उसी को अपना स्वरूप कह रहे हो। शून्य सर्वथा गुण-शक्ति रहित होने मे कभी ज्ञान गुणवाला जीव

---

१ श्वास तो सोते ममय विशेष आते-जाते हुए भी वह चोगदि का ज्ञान तथा शव्द, गन्ध, स्पर्शादि का वाह्य ज्ञान नहीं कर सकता। अत श्वास ज्ञान धर्मवाला जीव नहीं ह।

२ शून्यहि जाने शून्य न होई। जाननहार जीव है सोई॥ निर्ण०॥
ना चीज आकाश का ह न मीमा। चीजो की मीमा हे माकार ही मा॥
साकार वायू अगिन जल औ माटी। इनमे क्रिया गुण भरे हें न घाटी॥
पचम आतमा जो कि सव को पिछाने। देहो के द्वारे सव जक्त जाने॥
अगर देहधारी निराकार होता। तो आकाश के तौर आसीम होता॥
तीनो अवस्थों के परदे न पडते। आते न जाते जनमते न मरते॥
साकार माकार मयोग वनता। निराकार साकार का क्या नियन्ता॥
(निर्मल मत्यज्ञान प्रभाकर)

यदि कहो आकाश कोई वस्तु न हो तो मव रहे कहाँ, इसका उत्तर यह है कि यदि आकाश कोई गुण-धर्मयुक्त स्थूल या ठोम पदार्थ होता तव उसी मे मव जगह घिर जाती, फिर भी वही शका वनी रही कि यदि आकाश कोई चीज है तो मव वस्तुएँ कहाँ रहती हैं। इससे सिद्ध हुआ कि आकाश कोई चीज नहीं ह, सिर्फ खाली जगह है। इमसे मव चीजे खाली जगह में रह लेती हैं। जैसे घडा मे कोई चीज नहीं भरी हे तो कहते है कि घडा खाली है, इसमे कुछ नहीं ह, इसमे अमुक वस्तु धर दो। इमसे स्पष्ट ह कि खाली जगह अवस्तु कोई चीज नहीं है, अत काशी साहिव ने कहा है—

निराकार आकाश का, कछु परिणाम न होय।
प्रतिविम्व तासु अमम्भव, नहीं शव्द ध्वनि कोय॥
(जड चेतन भेद प्रकाश)

नहीं हो सकता॥ ३॥ अग्नि-उष्ण और प्राण, अपान, समान, उदान, व्यानादि वायु तथा खून, वीर्य्र ये सब जड हैं और क्रियावान हैं, एक क्षण भी ये स्थिर नही रहते। द्रष्टा जीव के सामने देह और देह इन्द्रिय द्वारा जाने गये सब कार्य दिखाई दे रहे हैं, फिर देखने वाला देखने मे आई हुई वस्तु कैसे हो सकता है। "घट द्रष्टा ज्यो घट से न्यारा। त्यो सब द्रष्टा सबसे न्यारा"। बाहर के सब कारण-कार्य तत्वो मे कहीं भी ज्ञान धर्म न होने से वे जड है। उसी जड का भाग खून-वीर्यादि होने से वे भी सब जड ही हैं, अत. इन जड वस्तुओ का ज्ञाता जीव उनसे भिन्न है॥ ४॥

प्राण शक्ति बल दृश्य रहे जड़, बिचलत सोई भखन मे।
मन बुधि चित अहंकार को प्रेरक, दै निज शक्ति चलै उन बशि मे॥ ५॥
मनन चितवन निश्चय सवही, अहधार पुनि जिसमे।
भूलदृष्टि मानन्दी जैसी, तैसहिं क्रिया होय इन सबमे॥ ६॥
अन्त करण दृश्य जड़ रहते, दृश्य बासना जड ही।
लक्ष्य वृत्ति को द्रष्टा रहि कै, वृत्ति क्रिया को धरही॥ ७॥
है मानन्दी बशि मे यह भी, साधन देह से धरही।
ज्ञेय भास ये फॉस सबहिं है, ज्ञाता पृथक स्वत. ही॥ ८॥

टीका—जिस वायु का नाभि से कण्ठ तक गमनागमन हुआ करता है उसका नाम प्राण है, वह प्राण-शक्ति और शरीर का बल जीव से भिन्न हैं। इसलिए वे दृश्य जड है। जड होने से प्राण तथा बल आदि परिवर्तित हुआ करते है। कम-विशेष अन्न-जल के ग्रहण करने से प्राणबल और शारीरिकबल कम-विशेष हुआ करते है। सबको पता है कि देह की युवावस्था मे ठीक-ठीक भोजनादि पाचन होने से शरीर की शक्ति बढ जाती है। वृद्धावस्था मे या युवावस्था ही मे मन्दाग्नि होने से भोजन पाचन न होकर शरीर की शक्ति कम पड जाती है। ताकत रहने पर आरोग्यदशा में प्राणशक्ति भी ठीक-ठीक चलती है। रोगी या निर्बल अवस्था मे विशेष हप्फन आने लगती है। इस प्रकार प्राण-बल अन्नमयकोश के आधार में रहने वाला तथा घटने-बढने वाला जड ही है और जीव उसका जाननहार सदा एकसम न्यारा है। मन, बुद्धि, चित्त और अहकार मे हानि-लाभ जानकर उन्हे चलाने और रोक देने वाला जीव झूलावेग न्याय आप ही मन आदि मे शक्ति देकर आप ही उनके वश मे चलित होता रहता है॥ ५॥ सारा मनन, सारा चिंतन, सर्व परिश्रम, सारा निश्चय और पुन. सब प्रकार का अहकार जिस जीव मे धारण होता है वह स्वरूप के भूल से विषयो में सुख-दुख, अच्छे-खराब की जैसी-जैसी मानन्दी निश्चय कर लिया है उस-उस भाति से मन, बुद्धि, चित्तादि मे बल देकर उनसे क्रिया कराता है। भाव यह कि सब मनोमय कोश की सिद्धि जीव के मानने से ही होती है। यदि जीव मन आदि को न माने, न बल दे, तो वे कुछ नहीं है, अत· मनोमय कोश भी जीव नही है॥ ६॥ मनोमय उठने-ठहरने के साधन का नाम अन्त.करण है। जब हर्ष-शोक की वासनाएँ उठती हे या जोर लगाकर जब जीव अन्त करण में वासनाओं को रोकता या उनको प्रेरणा करता है, तो उस समय अत करण मे चोट लगती है। इस प्रकार अन्त.करण भी द्रष्टा चैतन्यजीव के सामने दृश्य होने से जड स्वरूप ही है। अन्त करण मे ठहरी हुई सब

वासनाएँ भी जीव के छोडने और पकडने मे आने से दृश्य जड ही हैं। मेरी वासनाए या मेरा लक्ष्य या मेरी सुरत अमुक-अमुक जगह गई या जाती है, इस प्रकार जिसे वृत्ति या सुरत कहते हैं, उन सवों को भी जीव पहिचानता है। अर्थात जीव वृत्ति को देख-देखकर तथा वृत्ति को पकड कर क्रिया करता रहता है, अत: जीव उससे भिन्न है॥ ७॥ वृत्ति या लक्ष्य का वनना भी मानन्दी के आधार मे है और देह-इन्द्रिय रूप साधन आजार से देख-सुन भोगकर सव मानन्दी टिकती है। मानन्दी टिकने से उधर ही वृत्ति चलती। अत. मानन्दीयुक्त इन्द्रिय सहित वृत्ति को जीव धारण कर रहा, अत: सव मानन्दी, लक्ष्य, वृत्ति ज्ञेय है, भास हैं और वही जीव का वधन है। जीव उन सवो का ज्ञाता स्वय स्वतन्त्र है॥ ८॥

स्पष्ट—जो ज्ञाता के सामने पडे वह ज्ञेय है। जेसे वाहर कमडलु वस्तु या घट रक्खे हैं वे इन्द्रियो द्वारा जीव के जानने मे आने से ज्ञेय हैं, परन्तु जो इन्द्रिय साधन से देख-सुनकर वाह्य पदार्थों की मानदी न टिकी हो तो वाह्य पदार्थ होते हुए भी जीव के सम्मुख किसी चीज की मानदी न होने से किसी भी चीज का जीव को ज्ञान नहीं हो सकता। इससे कोई भी पदार्थ जानने के लिए जीव के समीप पहले मानदी ही पडती है। कोई भी कार्य करने या कोई वस्तु को छोडने और पकडने के प्रथम उसका स्मरण-मनन होता है, स्मरणो के रोकने-पकडने के साधन को अत:करण या लक्ष्य अथवा वृत्ति कहते हैं। सो सब जीव के सामने खिचाव करने से भास होकर जीव को नाना वधन उत्पन्न करते हे। अत. ये सव ज्ञेय दृश्य जड हैं और इन सवो का ज्ञान करेया अपने आप अखण्ड स्वतन्त्र है।

पच विपय जड़ ठाठ देह है, महिजल अनल समिरही।
वश मानन्दी ताहि चलावत, रहत सो जीव पृथक ही॥ ९॥
विवश वासना चचल होवे, तेहि विन रहत अचल ही।
तेहि ते कप्टित होत हमेशा, खोजत ज्यों का त्यवही॥ १०॥
निज स्वरूपके भूल से चक्कर, सनमुख भासत जड ही।
पच विपय आधार को लै ले, मानत ताहि अचल ही॥ ११॥
दुक्ख निवृत्ति वाहि से मानत, सुक्ख भास तेहि पर ही।
सव चंचलता यहि ते ह्वे है, छोडि रहा निज पद ही॥ १२॥

टीका—शव्द, स्पर्श, रूप, रस, गध आदि पंच विषययुक्त जड तत्वो की पुतली यह देह ह। इसमे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, इन जड तत्वो की सामग्री लगी है। जीव इस जड देह को म या मेरी ऐसी निश्चयता द्वारा सुख मान-मान कर अपनी चेतन्य सत्ता देकर मानदी वश मोटरवान या रथवान के समान जड देह और अतर्वृत्तियों को चलाता रहता हे तथा आप उन सवो से न्यारा रहता है॥ ९॥ जड देह से पृथक रहने वाला जीव वामना वश चलायमान होता रहता है। यदि वासना मामने न आवे तो जीव मे कोई भी क्रिया नहीं होती, यह सवको अनुभव हे। अत· वासना से चचल आर वासना रहित जीव स्वत. अचल शुद्ध स्वरूप है। यही कारण हे कि अपने स्वरूप से पृथक जड देह-गेह, पच विपयो के वासना-वश क्रिया करके दुखी होता रहता हे। वासना-वश भूलते हुए भी यह जीव जेसा स्वरूप से अचल ह वेसा ही अचलपद ढूँढ रहा ह॥ १०॥ अचल तो आप अपना ही हे पर अपने चेतन स्वरूप को न

जानकर इसे भुलावा हो गया हे। इसी से अपनी अचलता जड विषयो मे ढूँढ रहा ह। जीव के सामने हमेशा पच विषय ही देखने मे आते ह, इसलिए उनमे सुख का सहारा पकड कर चचल विषयों को ही अचल मानता रहता हे, यही भुलावा हे॥ ११ ॥ यह जीव जड विषयो के भोगने ही से अपने चचल दुख का छुटकारा मानता रहता है। इसलिए इसे भ्रम से विषय सुखरूप प्रतीत होते हे या सुख कोई वस्तु हे, ऐसा निश्चय होता हे। विषयो मे सुख की निश्चयता से विषयक्रिया, विषयक्रिया से फिर कामना पुष्ट होती हे, कामना पुष्टि से फिर खिंचाव होता हे। इस तरह सब प्रकार की चचलता इन्हीं भोगों से बढ़कर अपनी स्वत भूमिका छूट जाती है या जीव इस सुखभासरूप चचलता मे पडकर अपनी स्वत. स्वरूपस्थिति से विचलित हो रहा है॥ १ ॥

याते सुख कछु बस्तु नही हे, भूल भास भ्रम जनही।
यही फॉस जीवन के लागी, बनि स्वरूप जिव ठगही॥ १३ ॥
यह कर्त्तव्य अनादी चालू, बोवत लूनत धरही।
निज स्वरूप गुरुपद मे ठहरै, छूटै भूल न चलही॥ १४॥

टीका—पूर्व कथन से सुख कोई स्वतन्त्र वस्तु नही हे, मात्र सत्य स्वरूप की भूल से भ्रमकर विषयो को अपनाने से सुख-भ्रम उत्पन्न होता है। भूल से भ्रम, भ्रम से सुख मानन्दी, सुख मानन्दी से नाना लत-आदत बन कर वही सुख निश्चयता जीव के गले की फॉसी हो गई है। सुखमानन्दी जीव का हितू या उसका स्वरूप ही बन कर उसको नित्य ठगा करती ह॥ १३॥ भूल-भ्रम-सुख निश्चय से कर्म-बीज बो-बोकर बार-बार त्रिविध तापरूप फल शरीर धर-धर कर चखता रहता है। साथ ही पुन -पुन अध्यास-बीज धारण करता रहता है। यह खेती अनत काल से चली आ रही है। कर्म-वासना की खेती मे जीव को कभी विश्राम नही मिलता, सिवा भटकने के। सम्पूर्ण भूल, भ्रम तथा अध्यास को त्यागकर शुद्ध स्वरूप पारख गुरुपद-स्थिर पद है, ऐसा समझकर गुरु रहस्ययुक्त सत्सग, साधन, सर्वाग कल्याण की सामग्री लेकर अपने आप गुरुपद मे ठहर रहे तो सर्वदा के लिए अचलपद प्राप्त हो जावे॥ १४॥ जीव को कैसे सुखासक्ति ठगती है और जीव श्री गुरु कृपा से केसे अचलपद पा जाता है, इसके लिए एक उदाहरण स्मरण कीजिए—

दृष्टात—एक राजपुत्र कुछ दूर शहर की एक वेश्या मे सुख मान कर आसक्त हो गया। दिन भर वहॉ रहे शाम होने पर घर आवे। उस वेश्या ने इसे विवाह की सख्त मनाही कर रक्खी थी, अत. पिता, माता, मन्त्री आदि के कहने पर भी सानुरागसिंह नामक वह राजकुमार विवाह से इनकार ही करता रहता। उसके पिता और मन्त्री ने विचार किया कि यदि वेश्या से सानुरागसिंह को न छुडाया जायेगा तो राज-समाज नष्ट हो जायेगा ओर इसके लोक-परलोक भी नष्ट हो जायेगे। अत. उन्होंने अनेक सुदरी कुमारियो के चित्र उसके कमरे मे टॅगवा दिये। सानुरागसिंह का हृदय कामुक था ही, अत वह जब अपने महल मे जाता तो उन चित्रो को निहारने लगता। एक दिन मन्त्री उसके पास जाकर बोला—प्रिय सानुरागसिंह, देखो। इनमे तुम्हे कौन सी बाला प्रिय है? सानुरागसिंह ने एक विचित्र मोहक स्त्री के चित्र पर हाथ धर कर बोला—यह मुझे प्रिय हे। मन्त्री ने कहा—इसी के साथ आपका लग्न हो जाय तो अच्छा हे न? सानुराग बोला—अच्छा तो है पर मे अपनी प्रथम प्रियतमा को नही छोड़ूँगा। मन्त्री ने

कहा—उसके लिए हमारा कुछ नहीं कहना हे, आपकी जेसी इच्छा हो वेसा ही करना। यदि इच्छा हो तो इस सुन्दरी के साथ आपका लग्न रचा जावे। सानुराग ने मजूर कर लिया। जिसकी वह कुमारी थी वह सम्पत्तिवान क्षत्रिय था। विवाह तय हो गया। सानुरागसिंह को लग्न का हल्दी महित टीका लगाया गया। वह टीका लगाये हुए वेश्या के यहाँ चला गया। वेश्या उसके मस्तक मे लग्न का तिलक देखते ही जान गई कि अव यह मेरे हाथ से चला जायेगा, ऐसा सोचकर वोली—यह आप मस्तक मे तिलक केसा लगाये हें? सानुराग ने कहा—हे प्रिय। एक सान्दर्य की खानि क्षत्रिय कुमारी मे मेरा लग्न पिता ओर मन्त्री ने निश्चय किया हैं आर मुझे भी वही निश्चय ह अव वहुत शीघ्र ही वरात जाने वाली ह। छलकारिणी वेश्या ने कहा—मुझे भी आप ले चलोगे? मानुराग ने कहा—अवश्य। तेरी ही तो वहॉ शोभा ह। विवाह के दिन वरात मे सानुराग के हुक्म से मजधज कर साथ वेश्या की भी डोली गई। वहाँ नियत स्थान पर दूल्हा सहित वरात टिक गई। वेश्या भी साथियो महित टिकाई गई। वेश्या ने भेष वदल मालिन वन राजमहल मे जाकर देखा तो गसवत्ती ओर विजलियो की जगमगाहट में भॉति-भाँति के वस्त्राभूषणो से सुसज्जित रत्नजटित सिंहासन पर वठी हुई सचमुच में वह राजकुमारी मादर्य की खानि दिख रही हे। वेश्या राजकुमारी के सादर्य के मामने मारे सकोच मे भय खाकर गिर गई। उसे लोग धिक्कार देकर उठाये। वह जेमे-कसे उठकर वीच मार्ग मे दुर्गन्धयुक्त-फटे पुराने कपडे पहनकर सानुराग के मामने प्रकट हुई। सानुराग ने कहा—अरी, यह तू केसी हो गई? वेश्या ने कहा—रूप लावण्य की खानि जिसे कुमारी कहते हो वह इसी तरह की ह। मानुराग ने कहा—फिर क्या किया जाय? अव तो विवाह का समय निकट हे। वेश्या वोली—आप नेत्रों मे दर्द का वहाना कर आखो मे पट्टी वाँध लें, उसको कभी न देखें, नही तो निश्चय ह कि आप पागल हो जायेंगे। अत निवेदन ह कि आप यहॉ से चल कर घर पर भी कभी उसका सम्वन्ध न होने दे। जव कभी आप घर को जावें तो आँखों मे पट्टी वाँध ले, जिससे कि इस कुरूपा राक्षसी का दर्शन न हो। वेश्या मे प्रियता होने से उसकी वात सानुराग को वहुत जल्द ग्रहण हो गई। सानुराग ने शीघ्र आँखों मे प्रवल दर्द का वहाना करके उनमे हरी पट्टी कस कर वाँध ली। रूप-लावण्य की खानि राजकुमारी की ओर वह तनिक भी दृष्टि न दिया। लोकरीति अनुसार विवाह हो गया। विवाह के पश्चात राजकुमारी विदा करा लाई गई। सानुराग घर आकर शीघ्र वेश्या के यहाँ ही चला गया। वेश्या ने उसे अच्छी तरह पाठ पढा दिया कि जव आप घर जावे तो आखों मे पट्टी अवश्य चढा लेवे। कोई पूछे तो कह देना कि हाय। नेत्रों में वहुत दर्द हे। उसकी स्त्री करुणावती ने सव हाल सानुराग की माता से पूछा—क्या कारण ह कि स्वामी के नेत्रों मे चिरकाल से दर्द हुआ करता ह। आप लोग दवा क्यो नही करते? माता ने मव वाते ममझाकर वता दी कि इमकी ऑख आर नाक कुछ नहीं दर्द करती ह इमने ढोग कर रखा हे। सानुराग एक वेश्या मे आशिक हे इसलिए वह न तो कहा सुने, न कुछ स्वय विचारे। करुणावती ने कहा—अच्छा, आपकी आज्ञा हो तो अभी में स्वामी को उम जारिनि के फदे से छुडा लूँ। माता वोली—इससे वढकर आर क्या होगा?

दूसरे दिन दोपहर मे सानुराग वेश्या के यहॉ गया। करुणावती ग्वालिन का भेष रचकर दही का मलवा ले वहॉ ही जाकर निकली जिस घेरे के अन्दर उसका पुरुष वठा था। इस अनुपम कांति मनोहारिणी स्त्री को देखते ही मानुराग विमुग्ध हो गया ओर वोला—लाओ। दही म लूँगा, ऐसा कहते हुए प्रियता मे उसे देखते-देखते एकटक हो गया। इतने मे वेश्या

डाटकर बोली—रे। तू यहाँ कहाँ से आ गई? चल-चल दही-मही का यहाँ काम नही हे। सानुराग ने कहा—हे वाले। तू कहाँ रहती हे? वह ग्वालिन चुपके से वाहर निकल आई। ऐसा देखकर सानुराग भी वाहर निकल आया आर ग्वालिन फिर मिली। सानुराग ने फिर पूछा, ऐ हृद-हारिणी। तू कहाँ रहती हे? वह बोली—मे पैतानेपुर की वासिनी हूँ, आप जव चाहे तव मेरे पुर में आ सकते हे। ऐसा कह कर वह चली आई। दूसरे दिन करुणावती पुरुष का सुन्दर भेप बना घोडे पर सवार होकर वहाँ ही पहुँची जहाँ कि इसका पुरुष था। घोडा एक किनारे बाँधकर वह बनावटी पुरुष टहलने लगा। इतने मे सानुराग वेश्या से मिलकर चार बजे अपने घर जाने की तैयारी मे निकला। इस सवार की चमडी की चमक देखते ही आकर्षित होकर बोला—आप कौन हे, और कहाँ रहते ह। वह बोला—मे पेतानेपुर मे रहता हूँ। इतना सुनते ही सानुराग बोला—वहाँ मुझे भी चलना है, आप ले जा सकते हैं? सवार ने कहा—अवश्य। दोनो अपने-अपने घोडे पर सवार हुए। घोडा दौडाते हुए दोनो एक जगल मे घुस गये। आगे झाली-काँटो का समुदाय घोर जगल होने से वहाँ सम्मुख एक बाघ दिख पडा। दूसरे सवार ने कहा—घोडा घुमा लो, नही तो खेरियत नही हैं। शीघ्र सानुराग ने दूसरी तरफ घोडा दौडा दिया, जिससे वे दोनों बच गये। कुछ दूर चल कर दोनो घोडे से उतर कर पैदल चलने लगे। सानुराग ने कहा—मित। आपकी कृपा से मै बाघ से बच आया हूँ, अत गले का सुवर्ण-हार आपको देता हूँ। सुवर्ण-हार उसके गले मे डाल दिया। दोनों हर्ष पूर्वक वार्ता करते चले जाते थे कि इतने मे दूसरे सवार के पैर मे काँटा चुभ गया। वह इतनी जोर से चुभा कि खुनियाखून हो गया। सानुराग दौडकर उसके पग के काँटे को खींच लिया और पग के खून को अपने साफा से कुछ कपडा फाड कर पोछ लिया और पट्‌टी भी बाँध दी। सानुराग ने उस सवार से पूछा कि पैतानेपुर कितनी दूर हे? बने सवार ने कहा—समीप मे ही है। ऐसा कहते हुए दूसरा सवार घोडे पर शीघ्र बेठ 'मे जरा दूसरी तरफ से हो आऊँ' इतना कहकर घोडा बढाया और शीघ्र अपने घर को आकर करुणावती अपनी पोशाक पहिन स्थिर हो गई। इतने मे सानुराग जगह-जगह पैतानेपुर जाँच करते-करते कही पता न लगा, अन्त मे बडी कठिनता से रात्रि को घर पहुँचा। तुरन्त आँखो मे पट्टी बाँधकर कुछ खा-पी कमरे मे लेटकर "हाय"। मेरी आँख बहुत दर्द कर रही है" ऐसा कहने लगा। इतने मे करुणावती उसके सामने आकर बोली—स्वामिन। आप अपने नेत्र खोले तो सही। देखे आपके नेत्रो मे कैसी बीमारी है? सानुराग ने कहा—तू भाग-भाग हट जा, तेरी बाते सुनते ही मेरी आँखो मे और असह वेदना होने लगी हे। जो तू छू लेगी तो मेरे नेत्र गये ही जानो। करुणावती ने कहा—

पद

जिस ग्वालिन के दर्शन हेतू आप दिवाने वन बन मे।
जिस सवार के पग मे से तुम काँट निकारे क्षन क्षन मे॥
खून पाग से पोछे थे जब तव जो आप के नैनो मे।
नहि विकार कुछ भी था प्यारे अब कस हो बेचैनो मे॥

इतना सुनते ही सानुराग ने पट्टी खोलकर फेक दी आर करुणावती की तरफ सादर देखते ही गले मे सुवर्णहार का चिह्न पाया और उसे हृदय से मिला लिया। शीघ्र ही उस छलकारिणी वेश्या को बुलवाकर सानुराग बोला—री दुष्टा। तेरे मे इतना कपट, अवश्य तृ सर्व

सहारकारिणी है। अहो! यदि तू रह जायेगी तो फिर किसी न किसी तरह घात ही करेगी। ऐसा कहते हुए उसे प्राण दण्ड दे दिया। सानुराग से एक दिन करुणावती ने कहा—स्वामिन! आप साधु गुरु के सत्सग मे लगिए, मात इस देह के चर्म-चमक मे मत भूलिए—

रोगी दोषी घट वढ उतपति मलिन विकारी चचल है।
वाल युवा वृद्धा पुनि अतहु धूल खाक हो पल पल है॥
कई जोडयुत मास त्वचा मल महा कृतघ्न जु जल वल है।
दृश्य असत लखि बुध नहि भूलत नरक दण्ड लखि मन छल है॥

सानुराग ने कहा—भला! और फिर कौन सुखकारी है? करुणावती ने कहा—इस प्रश्न का उत्तर आपको वैराग्यवान सद्गुरुदेव से ग्रहण होगा। करुणावती की प्रेरणा से सद्गुरु सत्सग मे जाकर नम्रतायुक्त सानुराग ने पूर्व प्रश्न किया। अधिकारी देखकर सद्गुरु इस प्रकार निर्णय किये—

सुन लो दु:ख रहित पद निर्मल जो अविनाशी भारी है।
जिसमे घट वढ जन्म नहीं पुनि मृत्यु रहित अविकारी है॥
वाल युवा वृद्धापन नाहीं जाड जोड नहि सारी है।
सकल दृश्य को द्रष्टा अनुपम कान्ति ज्ञान गुणकारी है॥
जिसकी सत्ता कठपुतली इव नचे देह ससारी है।
विवशहुँ थिर हो जड मे क्षण भर विषयानन्द करारी है॥
जो परमातम ईश्वर माने मन कृत ध्यान लगाय लिया।
नाम रूप का निश्चयकर्ता स्वत: प्रकाश रहाय लिया॥
हृदिधाम मे भासिक सवका सर्व भास विलगाय दिया।
उसे आप पहिचानो अपना आप आप अपनाय लिया॥

दोहा—अन्तरमुख वृत्ती विना, आप आप नहि ज्ञान। अन्तरमुख कैसे वनै, सो सुनिये परमान॥ परम विरागी सन्त जो, तिनको इष्ट वनाय। पूजे सेव ध्यान धरि, उर के मैल नशाय॥ ब्रह्मचर्य गहि नेम युत, इन्द्रिन सुख से घूमि। सदा विचारै परखपद, पावै अविचल भूमि॥ वेश्या सम वहुरूपिणी, वहिरवृत्ति दुखरूप। तिसे शीघ्र शम कीजिए, पावो सव सुख भूप॥ वहिर्वृत्ति कैसे टले, सुनि-गुनि मनन करेहु। है 'भवयान' प्रत्यक्ष यह, कथा श्रवण मन देहु॥ रोग औषधी जानि स्रक, यतन करहु लौ लाय। अमित सयुक्तिक वचन सुनि, सानुराग जगि जाय॥ करन लग्यो साधन विविध, सतसगति अनुराग। नित नव साहस जीति मन, अचल भयो वड भाग॥

सिद्धान्त—जीव विषयो मे अनुराग करने से सानुराग है। इसे विषयवृत्ति रूप वेश्या ही प्रिय है। उसने साक्षी चैतन्य को विषयो मे सुख भास कराय के जडाध्यासरूप पट्टी चढा दिया है, जिससे जीव की स्थिति, स्वरूपनिश्चयरूप सद्बुद्धि-सुभामिनि दिखाई नहीं देती, जो कि अनन्त सुखदायिनि है। कुछ सत्सग से संतो-द्वारा ज्ञानमार्ग की झलक पडी तो भी फिर सूक्ष्म अहकार-सुखाध्यास और बाहर के वचक, भामिनि नर-नारी आदि मिल कर हर प्रकार से पुन:-पुन: आँखो पर पट्टी चढवा देते हैं, जिससे फिर जीव विवेक मार्ग से अधा वन जाता है।

सुबुद्धि प्रेरक साधु-गुरु की तरफ से भी पट्टी चढा लेता है। पुनः पितारूप विवेक और मंत्रीरूप दुख दर्शन से जब ससार मे् न्याय-धर्म आचरण का उपयोग निरतर करता है और साधु-गुरु की सेवा, भक्ति, आज्ञापालन करते हुए इसकी निष्कामवृत्ति हो जाती है तब ससार की सुख-प्रियतारूप पट्टी उतर जाती है और साधक ठीक-ठीक परमार्थ मार्ग पर चलकर पूर्ण रूप से कामवेग को त्यागकर वेश्यारूप विषय-वृत्तियो का सर्वथा विनाश कर शुद्ध ब्रह्मचर्य द्वारा एकरस सद्बुद्धियुक्त धारणा बना करके पारख स्वरूप मे स्थित हो सद्गुरुदेव का गुणानुवाद गाते हुए कृतकृत्य हो जाता है।

शब्द मधुरता युवति रूपता औ सुवासता आदि जहै।
तू स्मरण करै नहि इनको तो क्या इनमे तेज अहै॥
सब जड छिन्न भिन्न परिणामी क्षण क्षण मे कुछ और भहै।
आखिर जड स्मरण करै तू क्षणिक मोद फिर शोक सहै॥
इससे तू निज रूप याद कर चितन मनन स्वध्यान लहै।
मिलब के ठौर हटब तू गहि ले यही ध्येय निज काज अहै॥
परखि परखि मन गति को ठेले मुक्ति यही पुरुषार्थ लहै।
नित्य अनन्तो सुक्ख मिलै तोहि नित्य तृप्त तू आप रहै॥

शब्द—१२

यह जड देह जीव के सनमुख॥ टेक॥

नाडी चाम हॉड कच मॉसू, मल क्षिति 'कार्य लखन जुख।
रुधिर पसीना मूत्र बिन्द जो, लार कखार नाक जल लखनुख॥ १॥
भूॅख प्यास आलस जमुहाई, निद्रा पित जठराग्नि रुख।
चल बल पसर सकोचनि बोलब, नाडिन चाल बायु की जनतुख॥ २॥
प्राण अपान समान उदानहिं, ब्यान बायु ये पिड की भनकुख।
कूर्म नाग किकिरा धनञ्जय, देवदत्त ये ब्रह्माण्ड की कह खुख॥ ३॥
हाथ पॉव मुख शिशिन गुदा जो, इन्द्री कर्म करत नित रहनुख।
श्रवण चक्षु नासा त्वक जिह्वा, इन्द्री ज्ञान से विषय ग्रहण भुख॥ ४॥

टीका—नख से शिखा तक यह काया जड है, जीव के सामने और इससे भिन्न दिखाई दे रही है। छन्द—"बड प्रमाद है जाहि। फूलता मन माहिं॥ सो दृश्य घटजड आहि। गुरुदेव तेहि परखाहिं॥ ज्यो नेत्र सम्मुख गेह। त्यो जीव सम्मुख देह॥ परख जु ताहि सनेह। ह्वै जन्म मृत्यु क्षेह"॥ टेक॥ शरीर की तमाम नाडियॉ, खाल, हड्डियॉ, बाल, मास, मल आदि, पृथ्वी के कार्य विशेष दिखाई दे रहे है। खून-पसीना, मूत्र-वीर्य, लार-खखार और नाक का पानी ये सब जल तत्त्व के कार्य विशेष जानने मे आते हे॥ १॥ भूख, तृषा, आलस, जमुहाई, निद्रा, पित्त तथा जठराग्नि, ये सब विशेष अग्नि के अश होते हे। चलना, बल करना, पसारना, सकोचन,

बोलना और नाडियो को चलाना, ये सब वायु की कलाएँ जानने मे आती हैं ॥ ३ ॥ प्राण[१] अपान, समान, उदान और व्यान, ये पिण्ड के वायु कहे गये ह तथा कूर्म, नाग, कृकिल धनजय और देवदत्त, ये पॉच ब्रह्माण्ड के वायु[२] कहे जाते हैं। हाथ, पाँव, मुख, उपस्थ, गुदा, इनसे जीव विविध क्रिया करता रहता है। ये क्रिया के साधन होने से कर्म इन्द्रियाँ कही जाती हैं। कान, आँख, नाक, खाल, जीभ, इनसे पाँचो विपयो का ज्ञान होता हे, इससे इन्हे पच ज्ञानेन्द्रिय कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियो से विपय चाहना जीव को सताती ही रहती है ॥ ४ ॥

शव्द स्पर्श रूप रस गंधहि, ग्रहण अध्यास से दुखहि समझि सुख।
लोभ मोह भय काम क्रोध रिपु, उत्पत्ति वृद्धि करि कष्ट महत युख ॥ ५ ॥
जागृति स्वप्न सुषोपति होती, तीनि अवस्था ये देह की रहछुख।
साक्षी रहत एकरस तिनको, दुख सुख मानि सु सहत सदा उख ॥ ६ ॥
निज को भूलि मोहि जड गुन में, चल को मानि अचल चुख।
चित मन बुधि अहंकार चतुष्टय, अत करण सामान्य पवन हुख ॥ ७ ॥
प्रेरक होत मानि सुख तिनको, भोग वासना मन लुख।
ये सब दृश्य साज तम रूपहिं, कारण कार्य को जडहिं स्वरूपुख ॥ ८ ॥

टीका—जीव ने कानों से शव्द, त्वचा से स्पर्श, नेत्र से रूप, जिह्वा से रस, नाक से गध ग्रहण करके अत.करण मे अध्यास-वासनाओ को टिका रक्खा हे। यद्यपि इन विपयो की वासनाओ से जीव को हमेशा चचलता व कामनारूप दुख ही होता है, पर अध्यास से दुखरूप विजाति विषयो को सुखरूप मान लिया हे। द्रव्य सग्रहरूप लोभ, प्राणियो का स्नेहरूप मोह, प्रिय विछोहरूप भय, स्त्री प्रसंगरूप काम और प्रतिकूलता मे जलनरूप क्रोध, ये पच रिपुओ को आप ही कल्पना से उत्पन्न करके फिर तिन्हे भोगो से पुष्टकर आदत वश अनत कष्ट सहता रहता हे ॥ ५ ॥ जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ देह की होती रहती ह। इन तीनो अवस्थाओ का साक्षी चेतन जीव तीनो अवस्थाओ मे एकरस रहता है। केवल देहोपाधि से जीव की वाह्य ज्ञानवृत्ति मे घट-वढ़ प्रतीत होता हे। यह अनुभव है कि जाग्रत मे म देखता हूँ, सुनता हूँ, इस प्रकार अपनी सत्ता को जीव विदित करता ह। स्वप्न को देखते हुए उससे अपने को पृथक ही अनुभव करता हे। पुन॰ जागकर अमुक-अमुक स्वप्न देखता भया, ऐसा कहता हे

---

१ (१) प्राण वायु फेफडे मे, इसका काम ह श्वसन-क्रिया। (२) अपान वायु गुदा स्थान मे रहता है, इसका कर्म मल त्याग करना हे। (३) समान वायु नाभि मे, जिसकी क्रिया अन्न-जल को औटाय सर्व शरीर मे नाडियो द्वारा रस पहुँचाना। (४) उदान वायु कठ मे, यह अन्न-जल का विभाग करने वाला ह। (५) व्यान वायु सारे शरीर मे रहने वाला सव जोडों को घुमाता ह।

२ (१) तेज तत्वयुक्त कूर्म वायु से दोनो पलके खुलती और ढकती हैं। (२) जल तत्व अश सहित नाग वायु से उद्गार या डकार आती हे। (३) चचल वायु का अश कृकिल से छींक आती हे। (४) सामान्य वायु से मृत्यु के वाद देह फूलती है। (५) विशेप पृथ्वी तत्वाश देवदत्त वायु से जमुहाई आती हे । इस प्रकार पिण्ड-ब्रह्माण्ड के सर्व वायु देह के अपने-अपने स्थान मे रहकर चेतन्य जीव की सत्ता मे व्यवहार कर रहे हैं। इस जीव के विना ये सव मुरदा हैं।

और सुषुप्ति से भी जागकर कहता है—आज मै ऐसा सोया कि मुझे कुछ होश न रहा। इस प्रकार जगत को न जानने का ज्ञान और हॉक देने से तुरन्त जाग जाता है सो अपनी सत्ता का ज्ञान करने वाला सुषुप्ति से भिन्न जीव अपने को जाग्रत मे विदित करता है। पूर्वोक्त तीनो अवस्थाओ मे जीव एकरस रहता है "साक्षी यथारथ देखता है एकसा निशि बार मे" है तो जीव सत्य एकरस, परन्तु तीन अवस्थाओ मे मिलकर दुख-सुख मानन्दी करके सदैव देहोपाधिकृत तन-मन के दुखो को सहता रहता है ॥ ६ ॥ अपने यथार्थ स्वरूप को बिसार कर विजाति जड तत्वो के गुण-धर्म तथा पॉचो विषयो मे मोहित हो रहा है। जड स्थूल के भोग पच विषय जो कि हमेशा चलायमान है, पल भर भी जिनकी थिरता नही है, उन्ही को अचल एकरस मानकर तथा उनकी चाहना कर आप भी चलित होता रहता है। चित्त, मन, बुद्धि, अहकार जिनको चतुष्टय कहते हैं, सो सामान्य वायु के सहारे से टिकने के कारण सामान्य वायु की कला कहे जाते है ॥ ७ ॥ जीव उनमे सुख मानकर मोटर-ड्राइवरवत मानन्दी द्वारा अत·करण मे प्रेरणा देकर चित्त-चतुष्टय को रोकता और चलाता रहता है तथा भोगो की सुखाध्यासरूप वासना टिकाकर समग्र मनोमय रचता है। सम्पूर्ण मनोमय की राशि चतुष्टय अत करण है। भीतरी ज्ञान के साधन को अत.करण कहते हैं। बाहर के देखे-सुने सब विषयो का सस्कार जहॉ पर ठहरता है उसका नाम अत:करण है। ये सब सूक्ष्म और स्थूल देह अन्धकारमय जड है। इसका भाव यह है कि स्थूल-सूक्ष्म मानन्दी विजाति दृश्य जड कल्पित है, क्योकि कारणकार्य तत्वो का स्वरूप चेतनता-रहित जड सबको अनुभव है। जड इन्द्रियॉ, अन्त·करणादि कब चैतन्य हो सकते है। इससे स्थूल-सूक्ष्म दोनो देह जीव के स्वरूप से पृथक जड है और मानन्दियॉ भी कल्पित दृश्य भास मात्र है ॥ ८ ॥

द्रष्टा स्वतः भिन्न है यहि से, लेश न जहॅ भूतन रुख।
कार्य बिलक्षण जहॅ तक दरशै, लक्षण सब करण के रह मुख ॥ ९ ॥
जान मात्र सो स्वयं प्रकाशी, निर अधार सो अचल पार दुख।
बिन ठहरै तहॅ जानि मिलै कस, सदास्मरण निश्चय बिष झुख ॥ १० ॥
कथन धारणा एक मे लावै, तब ही अटल न टल घुख।
पारख थीर सो आप बिराजै, जसका तस लखि भरम न ढुख ॥ ११ ॥

टीका—स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप सुषुप्ति तथा चित्त चतुष्टय आदि इन सर्व दृश्य जड का द्रष्टा चेतन जीव सबो से न्यारा है। चेतन के स्वरूप मे ज्ञान धर्म के अलावा जड गुण-धर्मादि का लेश भी नही है। जडत्व धर्म का चेतन स्वरूप मे अत्यन्त अभाव है, क्योकि जीव स्वरूप से सर्व ज्ञाता चेतन है और जड तत्व अपने तथा पर के जानने से रहित जड है। जहॉ तक तत्वो के आधार मे भॉति-भॉति के कार्य दिखाई दे रहे हे, उनमे पॉच विषय और कठिन-कोमलादि चार धर्म ये मुख्य कारण जडतत्वो के गुण-धर्म है। इससे वे कारण-कार्य सब प्रत्यक्ष जड ही हैं ॥ ९ ॥ जीव जड तत्वो से भिन्न केवल जानमात्र हे, स्वय प्रकाशी है, निराधार, अचल है और सर्व कामना-दुख से पार है। [इसका विस्तार वैराग्य वित्त के 'स्वत अकेल जीव अविनाशी' और 'परखु निज रूपहि शोध लगाय' टीका मे देखिए।] स्थिर होकर स्वरूप का शोध लगाये बिना और विवेकवृत्ति को पुष्ट किये बिना अपना स्वरूप जानने मे नही आ सकता, क्योकि

सदोदित जीव के सामने जड़-विषयो मे सुख का स्मरण और निश्चय-द्वारा उधर ही झुकाव रहता है। दिन-रात तो भोगरूप दाद खुजलाने मे जाता है, फिर इसे स्वरूप-शोध लगाने का अवसर कब मिले॥ १०॥ इसलिए जैसा पारख से निर्णय किया जाता है और जैसा बन्धननिवृत्ति की यथार्थ परीक्षा, सत्संग, सद्ग्रन्थ, स्वानुभव से अपने देख मे आवे, वैसा रहस्य बनावे या जेसा स्वरूप की लक्षणा शोध मे हे वेसा स्वतन्त्र निराधार रहस्य बनावे, तब जीव सदा के लिए अपने स्वरूप मे थीर हो जावे। यह बात तभी होगी जब चलायमान पिण्ड-ब्रह्माण्ड, खानि-वानी की कल्पना न करे। जो सबकी परीक्षा कर-करके सब बन्धनो को त्याग-त्यागकर पारख मे थीर रहेगा, नित्य के लिये इसकी एक धारणा बना लेगा, वही सदा जीवन्मुक्त होकर विवेकयुक्त स्वरूपस्थिति मे विराजमान रहेगा और वही ज्यो का त्यो जड चेतन की अलग-अलग परीक्षा करके झूठी माया, काया, कल्पना, भ्रमरूप वानी, वचक, प्रमदा, बडाई, विषयासक्ति और हर्ष-शोक मे न धंसेगा और न तो उसकी कभी भ्रमजन्य जगदानन्द-व्यापकानन्द की आशा ही जगेगी, वह परम पारखी पारख मे ही रह जावेगा॥ ११॥

प्रसंग ९—तत्वों के गुण-धर्मों का विभेद

सवैया—१३

वायु हे कोमल वस्तु उड़ावत ह्वै स्नेह बलै दरशावै।
अग्नि प्रकाशक वस्तु देखावत दाहक शक्ति से कार्य जलावै।
रूप मे मुख्य प्रधान है पावक रग विरंग वही दरशावै।
शीत स्वरूप रहै जल द्रावित[1] पिण्ड बँधाय प्रफुल्ल[2] देखावै॥
शीत औ उष्ण प्रकाश तजे महि कोमल छाँडि कठोर रहावै॥ १॥

टीका—अर्थ स्पष्ट है।

शब्द—१४

धरम गुण शक्ति लखौ जड़ केर॥ टेक॥
कारण भूत स्वरूप वही है, उलट पलट कर फेर।
हे सयोग मेल क्रिय देखौ, सब कारज मे हेर॥ १॥
कठिन धरम पृथ्वी मे लखिये, धारण शक्ति रहेर।
मेल क्रिया स्थूल अकारं, गध गुणो लखि तेर॥ २॥
शक्ति रसायन जल मे पूरण, शीत धरम जेहि मेर।
हे सयोग मेल क्रिय तामे, थूल रसौ गुण ढेर॥ ३॥
दाहक शक्ति प्रकाश धरम है, योग मेल अगिनेर।
सुक्षमकार औ क्रिया रहे हे, रूप गुणा लखि एर॥ ४॥

---

१ वहनेवाला। २ हराभरा।

वायू कोमलकार सुक्षमै, शक्ति सनेह तिसेर।
क्रियावान सयोग किहे है, शब्द परश लखि लेर॥ ५॥
ज्ञान स्वरूप जीव तेहि द्रष्टा, जड तम अलग धरेर।
जानि मानि सुख आशा धारै, स्वत सो आप ठहेर॥ ६॥

टीका—जड तत्वो के धर्म, गुण, शक्ति आदि को विचार करके देखो। ॥ टेक॥ जितने बीज-वृक्षादि कार्य पच ज्ञानेन्द्रियो के सामने पड रहे है वे सब कारण चार तत्वों के ही स्वरूप हैं। भेद इतना ही है कि अनन्त परमाणु-समूह कारण विस्तार रूप से है और उन चारो तत्वो के विस्तार मे से कुछ परमाणु-समूह निकलकर तथा अनेक तरह से जुडकर भॉति-भॉति के कार्य बनते रहते हैं, इस प्रकार कारण और कार्य मे कोई भेद नही, दोनो जड तत्वो के स्वरूप ही है। सब कार्यो मे शोधन करके देखो तो परस्पर तत्वो का सयोग है और क्रिया है॥ १ ॥ पृथ्वी मे कठोर धर्म है, धारणा शक्ति है (स्वय रुके रहना तथा अन्य को रोकने की शक्ति का नाम धारणा शक्ति है) पृथ्वी मे अन्य तत्वो का सयोग सम्बन्ध है और पृथ्वी को खोदने से जल निकलता ही है तथा पृथ्वी पर कोई वजनदार चीज देर तक रखने से वह पसीज जाती है, यह अनादि पृथ्वी मे अनादि जल तत्व का सयोग सम्बन्ध है। पृथ्वी को खोदकर ओबी या कुछ जगह बनाकर उसके अन्दर कोई अन्न आदि धर के बिलकुल बन्द कर दिया जावे तो उसमे उष्णता भरती है, उसको कुछ कालान्तर मे खोला जाय तो अधिक गर्मी पाई जाती है, यह अनादि पृथ्वी मे अनादि अग्नि का सयोग रहा है और अनादि पृथ्वी के सूक्ष्म रजो के बीच मे रही हुई सधियो मे वायु है ही, नलो या पम्पो मे वायु है ही, नलो या पम्पो मे वायु के द्वारा ही नीचे का जल ऊपर आ जाता है, यह पृथ्वी मे वायु का अनादि से मिलाप है। इस प्रकार अन्य तत्वो से पृथ्वी सयोगवान है। पृथ्वी के अनन्त त्रसरेणु स्वाभाविक क्रियाशील हे। परमाणुओ की क्रिया ही से बीज अकुरित हो बढकर मोटे रूप मे वृक्ष होते हैं तथा ककड, पत्थर और अष्टधातु बढती, ये सब पृथ्वी की क्रिया से ही होते हे। इस प्रकार पृथ्वी मे अन्य तत्वो का सयोग तथा क्रिया-युक्त प्रत्यक्ष भूगोल स्थूलाकार दर्शित हो रही है। पृथ्वी के कार्य पुष्प आदिको मे गध या प्रथमारम्भ की बारिश मे जल गिरने पर सारी पृथ्वी से गध निकलती है इससे पृथ्वी का गध विषय है[1]॥ २॥ रसायन शक्ति[2] जल मे है, तत्वो के हरएक कार्य का पिण्ड बॉधना जल ही की शक्ति है। जल का शीत धर्म है। जल छूने से ठडक लगती है, पीने आदि से गर्मी को शात करता है और जल से अन्य तत्वो का भी मिलान है। जल औटाकर रख दीजिए तो कुछ देर बाद उस जल मे नीचे पृथ्वी के रज इकट्ठा हुए दिखाई देगे या किसी

---

१ धूपकाल के ताप से पृथ्वी तप्त हो जाती है, तब तक पृथ्वी का गुण गन्ध छिपा रहता है। फिर जल की वृष्टि रूप योग्यता (सहायक) पाने से उसके गन्ध गुण का उभाड हो जाता है, इस कारण पहिली वर्षा (दोगरा) द्वारा पृथ्वी से गन्ध निकलना बताया गया है।

२ 'रसायन' जड-पदार्थों की वह शक्ति है जो उन्हे एक से दूसरे रूप मे बदलती रहती है, जैसे दूध से दही। ग्रथकार का रसायनशक्ति से यहा उपर्युक्त भाव नहीं है। उनका भाव है कि जल रस रूप एव द्रव रूप है, जिससे उसके द्वारा जड-पदार्थो के पिड बंधते हैं। इस अर्थ मे प्रस्तुत ग्रथ मे रसायन शक्ति शब्द का प्रयोग कई जगह हुआ है।

स्वच्छ पात्र पर एक बूंद डाल दीजिए तो जल सूखने के बाद मिट्टी का दाग पड जायेगा। यह अनादि जल मे अनादि पृथ्वी का मिलाप हे। जल मे जो उष्णता है या ठडी मे जो उष्णता से भाप निकलता ह वह जल मे अनादि अग्नि का मिलाप ह। जलजन्तु जल के अन्दर श्वास लेते ह, तहाँ जलतत्व के अनन्त अणु-समूहो के बीच-बीच मे छिद्र होने से स्वाभाविक वायु तत्व रहा हे। इस प्रकार अनादि जल मे अनादि वायु का सयोग सम्बन्ध हे। ऐसे अन्य तत्वों मे सयोगवान अनत अणुओ की ढेरी जल तत्व नदी-समुद्रादिरूप दृश्य प्रत्यक्ष स्थूलाकार है। उसमे बहने आर उष्णतायुक्त उडने आदि की क्रिया देख ही रहे हे तथा रस गुण की खानि जल तत्व ही ह॥ ३॥ अग्नि मे जला देने की शक्ति है। प्रकाश करना धर्म है। उस सूक्ष्म अग्नि मे अन्य तत्वो का सयोग सम्बन्ध ह। मुख्य अग्नि सूर्य का गोला अन्य तत्वो मे युक्त आर विशेष अग्नि के सूक्ष्म परमाणु ब्रह्माण्ड मे क्रियाशील हैं। अग्नि तत्व मे भी तत्वो का मिलाप हे, जो अगार या दीप आदि ज्योति मे धुआँ निकला करता ह वह अग्नि मे जल का मिलाप ह। अग्नि के कार्य या दीपक आदि जो पृथ्वी तत्वयुक्त दीपवाती या लक्कड आदिको के सम्बन्ध से प्रज्वलित रूप मे दीखती ह वह अग्नि में पृथ्वी का मिलाप है तथा अग्नि के अनन्त परमाणु-समूह के बीच-बीच मे छिद्र होने से वायु तत्व रहता ही ह, वह अग्नि मे वायु तत्व का मिलाप ह। इस प्रकार अग्नि से अन्य तत्वा का संयोग सम्बन्ध है, काष्ठ, पत्थर, दीवाल आदिकों मे सूक्ष्मरूप मे रही हुई सूक्ष्माकार अग्नि ह। जहाँ अग्नि जलाई जाती ह, वहाँ ला उठती ह, इससे अग्नि मे क्रिया है आर उस अग्नि मे दृश्य रूपगुण ह॥ ४॥ वायु का कोमल धर्म ह। वह अदृश्य सूक्ष्माकार हे। उसमें खिचाव की शक्ति ह। यहा सब तत्वो के परमाणुओं को घसीटने से स्नेह शक्ति कहा गया ह। आँधी-वाडर होने, सदैव सामान्य-विशेष गतिमान रहने से वायु क्रियाशील हैं। अन्य तत्वो का वायु में मिलाप हे—वायु मे गर्म भाग अग्नि का, ठड भाग जल का, कठोर भाग पृथ्वी का यह स्पर्श से जाना जाता हे। इस प्रकार अनादि वायु तत्व मे अन्य तत्वों का संयोग सम्बन्ध रहा ह तथा अन्य तत्वयुक्त स्पर्श गुणवाला क्रियावान वायु पदार्थो को धक्का देकर सामान्य-विशेष शब्दो को उत्पन्न करता रहता ह।[१] प्रत्यक्ष अन्य तत्वयुक्त वायु के मेल मे सब प्रकार के अदृश्य शब्द बनते ओर चलते हैं, इससे विशेष वायु के गुण शब्द तथा स्पर्श दिखाई दे रहे हैं॥ ५॥ चेतन जीव ज्ञान स्वरूप हे, जड तत्वो का द्रष्टा हे ओर ये जड तत्व ज्ञानधर्म रहित अलग दर्शित होते हैं। चतन ही अपने मे भिन्न जड को जान-जानकर उसे मानता हे ओर फिर उसमे सुख पाने की आशा पकडता ह। चेतन अपने आप ही रहता ह। जसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये जड तत्व भिन्न-भिन्न अनादि ह, वसे जड तत्वो का जाननहार उनसे सर्वदा भिन्न स्वतन्त्र ज्ञान धर्मयुक्त चेतन जीव अजर, अमर, अखण्ड, अनादि स्वत: तथा निराधार हे॥ ६॥

---

१ गतिवान वायु विशेष समाना। शब्द तासु गुण तसा जाना॥
अनहद ध्वनि यह समान पवन का। वर्ण ध्वनि शब्द वायु विशेष का॥
वायु सु धक्के परमाणुन मे। लगि सुनि परत शब्द कानन मे॥
ऊँची भूमि सो शब्द रुकि जावै। प्रतिध्वनि ह्व फिर पीछे आवै॥
दोहा—वायु तत्व मे स्पर्श गुण, रूप तेज गुण जान।
जल रस पृथ्वी गन्ध सो, विषय वही गुण जान॥ जड-चेतन भेद प्रकाश॥

प्रसंग १०—यावत कार्य जड़ पंच विषयों के स्वरूप हैं

शब्द—१५

कारज बिलग बिषय से नाही॥ टेक॥

सकल अवाज सो शब्द बिषय है, श्रवण द्वार लखि ताही।
यहि के पार शब्द कोइ नाहीं, हित अनहित जोइ आही॥ १॥
शीत उष्ण कोमल कठिनाई, जहँ तक परश दिखाही।
तन रक्षा को धारण करिकै, सपरश अन्य तजाही॥ २॥
रग जहाँ तक रूप तहाँ है, रूप बिषय कहि वाही।
रूप के पार रंग नहिं पावै, ढूँढत ढूँढ थकाही॥ ३॥
जहँ तक स्वाद रसना से जाने, षटरस व्यजन का ही।
रस से पृथक होय रस नाही, तन पोषत चहै आसक्ति धराही॥ ४॥
सकल सुगध कुगंध जहाँ लौ, घ्राण ग्रहण करि धाही।
जड रचना सब यहि के अन्दर, पच बिषय जड याही॥ ५॥
शक्ति धरम गुण कारण कारज, भिन्न कछू रहि नाही।
यह सब जड को ठाठ ठठा है, ज्ञान शून्य दिखलाही॥ ६॥
जड के पार अगोचर ज्ञाता, ज्ञान स्वरूप सदाही।
गहै यथारथ पारख जब वह, काटि फाँस छुटि जाही॥ ७॥

टीका—विवेक करके देखिए तो कारण तत्वो के गुण—शब्द, रूप, रस, गध और स्पर्श ये विषय या गुणो से पृथक कोई कार्य पदार्थ नहीं है॥ टेक॥ स्वर ध्वनि या वर्ण ध्वनि अथवा ठोकर जनित जहाँ तक आवाज हो, वे शब्द विषय है। जिस शब्द विषय को कान द्वारा जाना जाता है, आवाज के अन्दर आ जाता है, आवाज से पृथक कोई शब्द नहीं है, चाहे हितकर शब्द हो या अहितकर। जैसे काँटा से काँटा निकालते है, वैसे अहितकर शब्द छोडकर हितैषी सार शब्द ग्रहण करना चाहिए॥ १॥ समग्र जड पदार्थो मे किसी न किसी प्रकार का स्पर्श होता ही है। शीतत्व, उष्णत्व, कोमलत्व, कठिनत्व जहाँ तक त्वचा से स्पर्श होकर ज्ञान होता है वह सब स्पर्श विषय है, उसमे से शरीर-रक्षा मात्र के योग्य स्पर्श लेकर बाकी सुख कामना के लिए अन्य जो स्पर्श हो उन्हे छोड देना चाहिए॥ २॥ भाँति-भाँति के लाल, पीले, हरे पदार्थ जहाँ तक रग देखने मे आते है वे नेत्र के विषय होने से रूप है, रग ही को रूप विषय कहा जाता है। खोजते-खोजते भले थक जाय, परन्तु रूप बिषय से अलग रग नही मिल सकता॥ ३॥ जहाँ तक जिह्वा से चीखकर स्वाद जानने मे आवे, वे सब खट्टे-मीठे आदि षटरस व्यजन रस विषय के स्वरूप है। अनेक प्रकार के स्वाद रस-विषय से अलग नहीं हो सकते। शरीर के पोषण मात्र आसक्तिरहित भोजन ग्रहण करे या सुख मान कर आसक्ति वश रस ग्रहण करे। आसक्ति वश ग्रहण करने से बन्धन होता और आसक्ति-रहित औषधवत ग्रहण करने से शरीर यात्रा विवेक पूर्वक निपट कर वैराग्य द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है॥ ४॥ खराब गध हो

या अच्छी गध हो, सव गध विषय हैं, उन्हे नाक द्वारा जीव ग्रहण करता हे। सम्पूर्ण जड की रचना इन पॉचो के अन्दर ही ह, इन्हीं का नाम पच विषय जड हे ॥ ५ ॥ कारण जड तत्वो की शक्ति, धर्म, गुण, विपय सम्पूर्ण कार्यो मे हें, इसलिए कारण-कार्य कुछ अलग नहीं हें। यह सम्पूर्ण व्रह्माण्ड कारण-कार्य जड की रचना, जड की ही सामग्री हे। वे सव अपने-पर के ज्ञान रहित होने से सम्पूर्ण तत्व जड दिखाई देते हें ॥ ६ ॥ पच विषय रूप जड कारण-कार्य से पृथक उनका जानने वाला इन्द्रिय-दर्शन रहित, इन्द्रियो का भी द्रष्टा चेतन जीव ज्ञानस्वरूप सनातन नित्य हे। ज्ञानस्वरूप जीव यह ठीक-ठीक जड-चेतन की परीक्षा कर ले तो जडाध्यास तथा जड़ासक्तिरूप दृढ वन्धन काटकर तथा जड ग्रन्थि से छूटकर सदा के लिए स्वरूप मे स्थित हो जावे। फिर इसका पुनः-पुनः जन्म-मरण का रहट भी मिट जावे ॥ ७ ॥

शव्द—१६

कारज सकल विलग नहिं जड से ॥ टेक ॥

सकल सुगध कुगंध जहॉ लो, गन्ध पृथक नहिं जड़ से।
गन्ध विलक्षण जड से नाही, जडहिं स्वरूप ठसे ॥ १ ॥
सकल स्वाद जडता से पूरण, रहे न विलक्षण जड से।
खट्टा खार ओ कटुता मीठा, पार न कोई रसे ॥ २ ॥
जड स्वरूप सव रूप रहा है, जहॅ तक रग गसे।
होय विलक्षण जड से नाही, कवहूँ रूप विपे ॥ ३ ॥
परश सबै जड रूप रहे हैं, ज्ञान होय त्वक से।
परश विलक्षण जड़ से नाहीं, शीतोष्ण कठोर लसे ॥ ४ ॥
जड स्वरूप सव शव्द रहे है, पीटि फूँकि रेतव से।
शव्द विलक्षण होय न जड से, कारण कार्य मसे ॥ ५ ॥
कारण कारज जड को ज्ञाता, चेतन अलग वसे।
द्रप्टा आप स्वत अविनाशी, मन नहिं जानै उसे ॥ ६ ॥

टीका—विपयो से अलग कोई कार्य नहीं हे, यह दिखाया गया। अव उसी को स्पष्ट किया जाता है कि सम्पूर्ण कार्य विपयो के रूप होते हुए जड से अलग नही हैं। वे सर्व विपययुक्त कारण-कार्य जडरूप ही हैं ॥ टेक ॥ जहाँ तक सुगंध-दुर्गन्ध ह गध विषय जड से अलग नहीं। भॉति-भाँति के गध भले हो पर वे जड से विलक्षण नहीं हो सकते, वे जडरूप ही हें। गध गध को या अन्य किसी को कभी नहीं जान सकती ॥ १ ॥ जहाँ तक स्वाद विषय हैं वे सव जडत्त्व भाव से पूर्ण हें। वे जड से कभी न्यारा नहीं हो सकते। खट्टा, खारा, कड़ू तथा मीठा, ये सम्पूर्ण रस रम का ज्ञान नही कर सकते। अत॰ रस विषय जड से अलग नहीं हे ॥ २ ॥ सम्पूर्ण दृष्टिगोचर रूप विषय सव जड ही हें। जहाँ तक रग हें वे सव रूप के अन्दर आ जाते हैं। उनसे अगणित किसिम के रग वाले पदार्थ भले ही हो जायँ, पर वे जड से न्यारा नहीं हो सकते। रूप अपने-पर के ज्ञान रहित होने से सम्पूर्ण रूप-विपय जड स्वरूप ही हें ॥ ३ ॥ सव प्रकार के स्पर्श जड ह, जिनका ज्ञान त्वचा से होता हे, वे स्पर्श विपय जड़ से अलग नहीं हें।

ठंड, गर्म, कोमल, कठोर सब स्पर्श जनित चीजें अपने-पर के ज्ञान रहित जड ही है ॥ ४॥ सम्पूर्ण शब्द भी जड हैं,-तबला ढोलक आदि के शब्द पीटने से, वशी-तुमडी आदि के शब्द फूँकने से, चिकारा-सरगी आदि के शब्द रेतने से, बाकी सब ध्वन्यात्मक-वर्णात्मक शब्द जड से अलग नही हैं, जहाँ तक कारण अथवा कार्य मे से शब्द होते हैं, वे सब अपने-पर के ज्ञान रहित होने से जड हैं ॥ ५ ॥ पूर्वोक्त कारण और कार्य, पाँच विषयरूप सब जड है और चेतन उनका जाननहार जड कारण-कार्य से सर्वदा न्यारा है। वह जड तत्वो को देखने वाला होने से द्रष्टा स्वरूप है, अपने आप है, स्वतः अविनाशी है, मन और इन्द्रियाँ उसे जान नहीं सकती है, वही मन-इन्द्रियो को जानता है ॥ ६ ॥

शब्द—१७

लखौ मन पंच बिषय रफ्तार॥ टेक॥

गंध मेल से गधहिं होवै, रस के मेल रसारि।
रंग जहाँ तहँ रूपहिं होवै, अन्य न कबहुँ निहारि॥ १ ॥
एक बस्तु में पाँच बिषय है, पाँचों बदलन वारि।
अन्य बिषय से अन्य न होवै, ज्ञान से लेव सिहारि॥ २ ॥
कारण कवन मूल नहिं छोडत, तिसको लेव बिचारि।
वही वहाँ पर रही जानिये, कहँ से अन्य निकारि॥ ३ ॥
बिषयन कारज बिषय रहे है, जड के जडहिं पसारि।
जड़ कारण से कारज जड ही, बिषयन बिष बिसतारि॥ ४ ॥
जड औ बिषय को रूप एक ही, पाँचौ लखौ तहारि।
कारण बिलग जो कारज कोई, नहिं वह जडता धारि॥ ५ ॥
एक एक मे भेद होय जो, जानत इन्द्रिन तारि।
पाँच ज्ञान इन्द्रिन के द्वारे, पाँचौ बिषय लहारि॥ ६ ॥
जड ओ बिषय को चेतन द्रष्टा, इनसे बिलग रहारि।
निरख परख जो करत हमेशा, आप स्वत. निरधारि॥ ७ ॥

टीका—हे मानदी वश भ्रमित जीव! पच विषयो की स्वाभाविक क्रिया की परीक्षा करो॥ टेक॥ गध से गध, रस से रस और जहाँ तक दृष्टिगोचर रग आता है सो सब रूप है, उस रूप से रूप ही होता है, अन्य विषय से अन्य विषय होते नही दीखते॥ १ ॥ कोई भी कार्य वस्तु मे पाँचों विषय है। पाँच विषय के जो-जो पदार्थ है, जैसे गध, रस, रग, शब्द, स्पर्श जो जिस विषय के पदार्थ है उस-उस विषय के पदार्थ मिलने से जो-जो पदार्थ बनते हैं सो वही विषय के स्वरूप होते हैं कि जिसके मिलने से वे बनते हैं। चाहे कारण जड रूप मूल मे हो या कार्य पदार्थ के मिलने से होते हो ऐसा प्रत्यक्ष विवेक से दृश्य है। इस प्रकार एक कार्य वस्तु मे पाँचों रहते हैं आर पाँचों घट-बढ परमाणुओ के सयोग से कम-विशेप बदलते रहते हैं। जितने शब्द ह वे शब्द कम-विशेष चाहे जो हो जाय, रहेगे शब्द के शब्द ही! ऐसे ही रस कम-विशेष अन्य के सम्बन्ध से चाहे जो हो जाय, पर रहेगा रस के अन्दर ही। ऐसे स्पर्श, गन्ध, रूप

भी परस्पर सबमे से घट-बढ़ चाहे जो हो जाय पर वे रहेगे रूप, रस, स्पर्श के अन्दर ही। इस प्रकार पाँचों विषय अमित प्रकार से बदलते हुए भी वही के वही रहते ह, दूसरे कभी नहीं होते। इसका यथार्थ पारख द्वारा भली प्रकार शोधन कर लो॥ २॥ इसका क्या हेतु है कि सब कार्य अपने गुण को कभी नहीं छोडते। अर्थात अन्य विषय से अन्य विषय नही होते। इसका विवेक से पता लगाओ। तब ज्ञान हो जायेगा कि जो विषय या गुण जिस कारण तत्व मे अनादि से स्वभाव सिद्ध रहा हुआ हैं वह ठसका स्वरूप ही है, जैसे जल शीतल धर्मयुक्त सर्वदा रसमय ओर अग्नि प्रकाश धर्मयुक्त रूपमय वेसे अन्य तत्व गुणी अपने-अपने गुण के रूप ही हें। वे उससे भिन्न नही। इसलिए जो गुण जहाँ है वहाँ से प्रकट हो सकता है, ओर जो गुण जिसमे हे ही नहीं वह उसमे से केसे निकलेगा। अभाव से भाव की उत्पत्ति कहना तो सूर्य से अधकार की उत्पत्ति कहने के समान मिथ्या हे॥ ३॥ इससे जाना गया कि भावरूप पाँचों विपयो की जो ण तत्वो मे पृथकता हे वही कार्यों में भी अनेक प्रकार की पृथकता देख पडती हे ओर तारूप मे सब तत्व बराबर हें, इसलिए ठनसे विविध भाँति कार्य होते हुए भी सब जड़ ही हें। कारण तत्व जडरूप होने से उनसे बने हुए सर्व कार्य जड़ ही होते हैं और उन कारण तत्वो मे पॉचो विपयो के विभेद होने मे उनके कार्यो मे विविध प्रकार के पाँचों विपयो का भिन्न-भिन्न फेलाव होता रहता हे॥ ४॥ जड तत्वों ही के गुण पच विपय हे ओर पॉचो विपय ही जड के रूप हें, कारण या कार्य चाहे जहाँ देखो वहॉ यही पाँच विषय मिलेगे। यदि कारण के जड विपयो से पृथक कोई कार्य बने या बनता हो तो उसमे जड़पना न होना चाहिए। जडपना तो सब कार्य में प्रत्यक्ष हे, अत जडपना के अन्दर जब सर्व कार्य आ जाते हे तो वे पॉच विपय मे न्यारे नहीं ह॥ ५॥ प्रत्येक कार्य मे जो विषय विभेदता हे ठनको इन्द्रियो द्वारा ही जाना जाता ह। पॉच ज्ञानेन्द्रियो से ही पॉचो विपयो को जीव ग्रहण करता हे। इससे पाँचों विपयो के बाहर कोई भी तत्व का पदार्थ नहीं ह। वे सब पच ज्ञानेन्द्रियो मे आ जाते हैं॥ ६॥ जड तत्व तथा विपयो को देखने वाला चेतन जीव जड और विषय से सर्वदा पृथक हे। जो जड ओर विपयो को देखता हे, उनके गुण-धर्म को परखता हे, वह उनसे भिन्न स्वतन्त्र सत्य निराधार अपने आप हे॥ ७॥

लावनी—१८

ज्ञान शून्य सब तत्त्वन देखौ जडता सबकी एक रही।
विपय विभेद सो तिनमे देखौ लक्षण सबके भिन्न सही॥
यहि ते कारज होत विलक्षण जस कारण तस कार्य वही।
वस्तु मुताबिक योग्य प्रमाणू मिलि मिलि बनते कार्य तही॥
रहत शक्ति सब तत्त्वन माहीं कारण विपय जो पॉच लही।
यह सब लक्षण जड के देखो चेतन मे ये एक नहीं॥ १॥

टीका—सुख-दुख, हानि-लाभ, ज्ञान-मानन्दी से रहित सब तत्वो को देखते ही हो। वे सब के सब जड भाव में तो एक ही हे, पर उन कारण तत्वो मे विपयो की भिन्नता ह, जिससे सबके गुण-धर्म अलग-अलग ह, इसी हेतु उनसे कार्य भी अनेक प्रकार के होते हें। जेसा कारण वेसा कार्य। कार्य वस्तु के गुण-शक्ति अनुसार कारण से साधक परमाणु खिंच-खिंचकर

कार्य बनते रहते है, सो सब तत्वो के परमाणुओ मे जडता शक्ति है ही और पाँचों विषय भी कारण मे अनुभव होते है। वैसे ही तिनके कार्य भी हैं। ये सब जड तत्वो के लक्षण प्रत्यक्ष है और उन जड तत्वो से पृथक जनैया चेतन जीव मे जड विषयो का कोई भी लक्षण नहीं है॥ १॥

बारि बिलक्षण तृषा बुझावै अगिनि बिलक्षण भस्म करै।
नीर बिलक्षण मनुष डुबावै पृथ्वी तहाँ सहाय करै॥
बायु बिलक्षण बस्तु उडावै धरती तहाँ रुकाव करै।
सबै बिलक्षण एक होय किमि धरम शक्ति गुण बिलग करै॥ २॥

टीका—जल अन्य तत्वो से पृथक है। वह शीतलतायुक्त है ओर प्यास बुझाता है। अग्नि जल के उलटे धर्म वाली है वह जला देती है। पानी मनुष्य आदि को डुबा देता है तथा पृथ्वी डूबने आदि से रोक लेती है। इन तीनो से पृथक धर्मवाला वायु वस्तुओ को हिलाता और उडा ले जाता। वायु से विपरीत पृथ्वी उडती हुई सर्व चीज को रोक लेती हे। इस प्रकार चारो तत्व अन्य-अन्य प्रकार के है। अब विचार कीजिए कि सब तत्व भिन्न-भिन्न गुण-धर्मयुक्त एक कैसे हो सकते हैं। उनके धर्म, शक्ति और गुण की भिन्नता ही उन्हे अलग-अलग विदित करती है॥ २॥

यही भेद बिन जाने इनको एकहिं रूप प्रतीति भया।
एक एक से प्रगट नही कोइ जडता सबकी एक ठया॥
भिन्न के कारज भिन्नहिं रहते जडता एक दिखाय दिया।
बिबिधि बिलक्षण तदपि बिषय जड खास स्वरूप सो वाहि लिया॥ ३॥

टीका—पूर्वोक्त गुण-धर्मो के भेद जाने बिना अज्ञानी को एक ही तत्व या शक्ति प्रतीति होती है, पर वे अनादि से भिन्न-भिन्न धर्मयुक्त एक दूसरे से उत्पन्न नही हुए। सब भिन्न-भिन्न गुण-धर्मयुक्त होते हुए भी चेतनता रहित है, इसलिए जडता सब तत्वो मे बराबर है। भिन्न-भिन्न विषय गुणयुक्त चार तत्व है इससे उनके अनन्त परमाणुओ के सयोग मे भिन्न-भिन्न कार्य बनते रहते है और जडता चारो तत्वो मे बराबर है, इससे सब कार्य भिन्न-भिन्न होते हुए भी जड है। अगणित कार्य एक से एक भिन्न-भिन्न गुण-धर्म वाले दीखते है, पर सम्पूर्ण विलक्षण चार तत्व खास कारण के विषय और जडता सहित ही होते रहते है॥ ३॥

प्रसंग ११—स्वतन्त्र ज्ञान स्वरूप जीव वासना वश अपने किये गये कर्मो के फल भोगते हैं

लावनी—१९

चेतन द्रष्टा स्वतः रहा है कारण कारज नही तहाँ।
कारण कारज तत्त्व सबैं जड तिनका है आभाव यहाँ॥
इन्द्रियगोचर होय सदा वह कारण कारज रूप जहाँ।
इन्द्रिन पार अगोचर ज्ञाता स्वयं प्रत्यक्ष सो आप रहा॥ १॥

टीका—चेतन जीव तिन जड तत्वो का द्रष्टा है। वह स्वत: स्वतन्त्र पदार्थ है। उसमे पूर्वोक्त कारण-कार्य नहीं हे। क्योकि कारण और कार्यरूप तत्व जड़ हैं। उनकी जडता का चेतन में अत्यन्त अभाव है तथा जड विषय तो छिन्न-भिन्न कारण-कार्यरूप हैं। जिनका कारण-कार्य होता हे, उनका इन्द्रियो द्वारा अवश्य ग्रहण होता है। जड तत्व और उनके विषय इन्द्रियो द्वारा देखे जाते ह और चेतन जीव इन्द्रियो का प्रेरक होने से इन्द्रियो का जानने वाला, इन्द्रियो की देख मे नहीं आता, क्योकि वह इन्द्रिय और इन्द्रियो के विषयो का ज्ञाता हे। अत: जड विषयो से चेतन पृथक हे। वह ज्ञाता अपने आप को स्वयं प्रत्यक्ष करता है। क्योकि अपनी सत्यता ही को लेकर वह सबकी सत्ता सिद्ध करता हे॥ १॥

विवश वासना क्रिया करे वह हानि लाभ को मानि धँरै।
सुख आशा से क्रिया करै सव सस्कार वश भोग भँरै॥
जड जड का संयोग स्वभाविक चेतन समझि के पार चलै।
होय परीक्षा जिसको जेसी तेसी परख से कर्म बले॥ २॥

टीका—चेतन जीव ने अपने स्वरूप को भूलकर तथा जड विषयो को देख, सुन, भोग कर पूर्व ओर अव की फोटूवत वासनाएँ टिका रक्खा है। उन्हीं वासनाओ के वश रहा हुआ जीव किसी मे हानि देखकर उसे त्यागता है ओर किसी मे लाभ देखकर उसे ग्रहण करता है तथा सुख पाने की आशा रखकर ही हर ममय सव कर्मो को करता रहता हे और उन पाप-पुण्य क्रियाओ के सस्कार के वश होकर अव ओर आगे जन्मो मे कर्मो का फल भोगता रहता हे। जीव से पृथक जड वस्तुओ मे तो स्वाभाविक हानि-लाभ के ज्ञान मानन्दी रहित परस्पर जड-जड का सयोग सम्वन्ध होता रहता ह। चेतन जीव जड पदार्थों को समझ-बूझ कर हानि-लाभ ओर सुख-दुख मान-मानकर क्रिया करता रहता हे। जिसको जिसमे हानि-लाभ की जैसी परीक्षा होती ह वसे ही निश्चय के अनुसार भिन्न-भिन्न जान-जानकर चेतन जीव ज्ञान मानन्दीयुक्त इन्द्रियो मे बल देकर वही-वही पुरुषार्थ करता रहता है, ऐसा विवेक से जाने॥ २॥

सुखाध्यास वश सदा रहे वह तेहि ते तेहि को त्नष्ट सलै।
भूल भरम तेहि कारण होवै ह्वै अज्ञात न ज्ञात भले॥
कारण कारज जड मे होवे ह्वै सयोगन कार्य जिसे।
हे अविनाशी चेतन देखो कारण कारज नाहिं तिसे॥ ३॥

टीका—यह जीव अनादिकाल से इन्द्रियो के द्वारा भोगो को भोग-भोंगकर टिके हुए सुखाध्यासो के वश देह धरते-छोडते चला आया ह। इससे इसको विरोधी जड तत्वो के सवंध मे सिवा कप्ट मिलने के ओर कुछ लाभ नहीं मिलता। अपने स्वरूप के भूल-भ्रम होने मे सुखाध्यास ही कारण है। विषय सुखाशा मे अज्ञानी वन कर अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप को नहीं जानता। कारण-कार्य तो जड मे होते हें, क्योकि जड तत्वो के अनन्त परमाणुओ का परस्पर सयोग सम्वन्ध हे। इसी से जड मे कार्य वनते रहते हें। जीव आर जड का सयोग सम्वन्ध ही नहीं। चेतन का तो मानन्दी वासनायुक्त ही जड से सम्वन्ध हे। इसलिए जीव कारण-कार्य-रहित अविनाशी चेतन हे। उसका कभी कारण-कार्य नहीं हो सकता॥ ३॥

कर्म करै तस धरै बासना सोइ अध्यास मे जाय पिसे।
है प्रत्यक्ष सो अनुभव सब के लेहु बिचारि सो ताहि इसे॥
होय स्वप्न सोइ सुषुपति ठहरै जागृत माहिं प्रकाश करै।
बनि प्रारब्धि जीव भुगतावै ऊँच नीच लै देह धरै॥
प्रत्यक्ष भयो यह सनमुख देखौ करम भोग सब जीव करै॥ ४॥

टीका—यह नित्य चेतन जैसा-जैसा कर्म करता है वैसा-वैसा सस्कार गुप्तरूप से हृदय मे दृढ हो जाता है। उस गुप्त अध्यास के वश अब और आगे भी गर्भवास मे जाता है। फिर बाहर आकर त्रिविध तापरूप चक्की में पीसा जाता है, या जिसकी जो आदत-आसक्ति पड गई है वह वर्तमान मे भी उसी आदत-अध्यास मे पीसा जाता है, दुसह दुख पाता रहता है। फिर शरीर छोडकर भी वही आदत जीव को चौरासी चक्कर भोगाती रहती है। यह बात सबको प्रत्यक्ष अनुभव ही है। इस बात को अच्छी तरह विचार करके सत्य को हमेशा धारण करो, क्योकि जागृति मे जो जैसी क्रिया करता है उसी का स्वप्न भी उसे होता है और वही वासना सुषुप्ति मे लीन होकर अचेत करती है। फिर सुषुप्ति से जाग कर जागृति मे मनुष्य कहता है कि मैने अमुक-अमुक स्वप्न देखे या अब भूल गया तथा सुषुप्ति मे इतना सो गया कि मुझे कुछ खबर ही न रही। इस प्रकार जागृति मे सुषुप्ति की सत्ता को विदित करता है। जैसा जीव अब क्रियमान कर्म करता है वैसा स्वप्नवत सस्कार बीज दृढ होकर आगे के लिए प्रारब्धभोग बन जाता है। अर्थात अब के किये हुए समग्र कर्म बीज सचय होकर तथा अन्त करण-कोश मे इकट्ठा होकर फिर उन्हीं से भोग हेतु सम्मुख भये कर्म प्रारब्धरूप शरीर निर्माण करके पाप का फल त्रिविध दुख और पुण्य का फल सुख भोग कराते है। तामस प्रधान कर्म करने वाले नीच से नीच योनि कीट, पतग, सर्प, बीछी आदि को, राजस प्रधान कर्म वाले, बैल, घोडा, गधा आदि मध्यम खानियो को और सातस प्रधान कर्म करने वाले उत्तम ज्ञान-भक्ति योग्य मनुष्य-देहों मे उत्तम श्रेणी को प्राप्त है तथा पूर्व के राजसी-तामसी जीव चौरासी चक्र घूमकर मनुष्य देह मे आये हुए मध्यम भूमिका मे जन्म धारण करते है। इस प्रकार नीची-ऊँची योनियो के देहधारी जीव प्रत्यक्ष तीन अवस्थाओवत कर्मो का फल भोगते हुए दिखाई दे रहे हे, क्योकि प्रत्येक अविनाशी जीव जड स्थूल-सूक्ष्म देहों को प्रेरणा देकर भिन्न-भिन्न कर्म करते और कर्मो का अभिमान तथा वासना धारण करके इधर शरीर छोडते और उधर नित-नित जन्म धारण करते, विवशता से प्रारब्ध भोग-भोगते सब सबको दिखाई दे रहे है। ससार मे नित्य जन्म-मरण, कर्मो का करना और भोगना चालू है। इसलिए जीव जैसा करता वैसा भोगता है, यह बात आपके सामने ही है। इसे विचार करके दृढ कीजिए और उत्तम कर्म करके अन्त करण शुद्धि द्वारा परम पद के भागी बनिये॥ ४॥

प्रसंग १२—सर्वाग चिह्नों से कारण-कार्य का मिलाप, उनसे न्यारा जीव

शब्द—२०

चेतन आप सो जड सेनी न्यारा॥ टेक॥
कारज सकल बिलक्षण देखो, एक से एक निहारा।
जडता रूप से पूरण सबही, नहिं कोई अश बचारा॥ १॥

चेतन जान-जानकर मानन्दी द्वारा क्रिया करता है और जड मे अजानरूप से हानि-लाभ आदि मानन्दी रहित स्वाभाविक क्रिया हो रही है। इसलिए चेतन के गुण-धर्म न जड मे है और न जड के गुण-धर्म चेतन मे है। यह जड-चेतन की अधकार और प्रकाश के समान अत्यन्त भिन्नता है। वायु और पृथ्वी एक नही होते, अग्नि और जल भिन्न धर्मी होने से एक नही होते, फिर भी उनमें जडता भाव से मिलान है और चेतन मे तो चेतनत्व शक्ति होने से वे जड़ तत्वो के किसी भी अश में नहीं मिलते। उनका जड से सर्वथा पृथक स्वतन्त्र स्वरूप है। जड चेतन से अलग और चेतन जड से अलग है। चेतन अपने ज्ञान मानन्दी युक्त क्रिया करके कर्म फल-बध-मोक्ष का अनुभव करता रहता है और जड में जडत्व क्रिया-गर्मी, बरसात, सर्दी, दिन-रात स्वाभाविक होते रहते है। इस प्रकार जड अपने जडत्व रफ्तार से क्रियावान है और अनन्त देहधारी जीव दुख-सुख मान-मानकर स्वतन्त्रता से चलते-फिरते, घूमते, सोते-जागते विविध क्रिया करते रहते हैं। इस प्रकार चेतन जीव अपने ज्ञान मानन्दी के आधार से देहोपाधि सहित क्रिया करते हैं। अत. जड-चेतन पृथक-पृथक गुण-धर्मो से पृथक-पृथक ही रहते है ॥ ७ ॥ चेतन जीव अजर-अमर नित्य है, क्योकि वे कारण-कार्य के द्रष्टा, जड से पृथक हे। सम्पूर्ण पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु सम्बन्धी दिन-रात, झाड, पहाड, सूर्य, चन्द्र, तारागण, बिजली, बादल, नदी, समुद्र, रत्न, हीरा आदि चेतन जीवो को जानने मे समर्थ नही है ॥ ८ ॥ चेतन जीव अपने आप ही सब जड-तत्वो का द्रष्टा रहता है, अतएव वह स्वय द्रष्टा सम्पूर्ण दृश्य भास दर्शन से पृथक है। सद्गुरु की बडी कृपा भई जिससे स्वरूप को सत्य जानकर उसके बाद सम्पूर्ण खानि-बानी का भ्रम भाग गया और भूलरूप महा अँधेरी रात मिट गई, इसी जीवन में परम विश्राम मिला ॥ ९ ॥ गुरुदेव की कृपा से कैसे भूल-भ्रम मिट जाते है, इस पर एक कथा स्मरण कीजिए—

सुकृत संचय

दृष्टान्त—*रह्यो भक्त इक सुकृत सचय। सद्गुरु मे तेहि निष्ठा अतिशय॥*
सत्सगति नित नेह बढाई। भक्ति सहित सत असत मुझाई॥
चलन लग्यो गुरु मारग ऐसे। गिरि सुमेरु इव अडिग अभैसे॥

दोहा—*इक दिन तेहि के ग्राम में, दुइ दल भयो विशेष।*
मोह विवश सब लडत भो, मारन मरन सुझेस॥ १ ॥
सचय सुकृत को दोउ दल, खेंचत निज निज ओर।
सबको सो समझावतो, चहिय न घात करोर॥ २ ॥

सुनहु सबन मिलि बुद्धिवरो नर। वेरी बनिय न कोइ काहू कर॥
हानि लाभ सुख दुख बपु धर्मा। होत जात सपना जस कर्मा॥
बोधवान तहँ नहिं निज सानै। पूर्व भोग प्रारब्धि पिछानै॥
यत्न करत हूँ लखहु जो भोगा। दुखहुँ हारि क्षय हानि वियोगा॥
अन्तर परम रिपू तेहि मारौ। काम क्रोध मद लोभ सहारौ॥
स्ववश काज मन जीति रहाओ। विवश काज जग सुख नहि धाओ॥
मार काट हिसादि विनाशा। भूलि न करहु चहै बपु नाशा॥

दोहा—*और अनेकन बचन सुनि, दोउ दल कछुक विचार।*
सो परन्तु जग मद पिये, भ्रम वश मोह अपार॥ ३ ॥

ठेलि वचन तेहि दोउ दलो, कर सग्राम विशेष।
जुझे जुझाये वीस जन, भगदर मची अशेष॥ ४॥
सरकारी पुनि न्याय भो, पकरि पकरि द दण्ड।
चार पॉच दस वरस को, जेल ठेल परचण्ड॥ ५॥

सचय सुकृत लखत जग रीती। अहो! मोह वश घातक नीति॥
मानि मानि आपन सव लरई। अतहु दीप पॉखि है जरई॥
धन्य धन्य जो यहि मन रिपु से। श्री गुरुदेव वचाव भव से॥

दोहा—एक वार सुकृत नगर, हजा रोग विशेष।
मरन लग्यो दस वीस जन, नित प्रति वढत कलेश॥ ६॥

सव मिलि अस अनुमान करें तहँ। देवी देव प्रकोप भये जहँ॥
खेलन लगे निकर नर नारी। भूत भवानी सिरे सँभारी॥
वकरा मुर्गा सूकर भॅसा। मॉगन लग्यो अभक्ष अनसा॥
चन्दा लग्यो ग्राम के माहीं। करिहैं वलि जतुन कहँ जाहीं॥
सचय सुकृत सवहि समुझायो। देव प्रकोप न ममुझो भायो॥

"अण्ड न पिण्ड न प्राण न देही। कोटि कोटि जिव कातुक देही॥
वकरी मुर्गी कीन्हेउ छेवा। आगल जन्म उन आसर लेवा॥ वी० ॥

माखी—जीव मति मारो वापुरा, मव का एक प्रान।
हत्या कवहुँ न छूटिहैं, जो कोटिन मुनो पुगन॥" वीजक॥

नर पशु अण्डज उप्मज खानी। ताहि छोडि कछु अन्य न जानी॥
अथवा जो सव कर कहु माता। सो किमि चहत जीव कर घाता॥
वहुत भॉति इमि किह्यो प्रवोधा। विरले जगि पर अपर न वोधा॥

दोहा—सव मिलि हिंसा करत हू, मरन जाहि मरि जाय।
देखहु सव जग भूल करि, जीव घात सुख चाय॥ ७॥

देव दत्य सद्रहनि कुरहनी। देवी शुद्ध वृत्ति जो गहनी॥
सो प्रत्यक्ष तजि अन्य कुसपना। देखत रहत वृथा जिय कपना॥
सुकृतें मच जग जाल वचाई। रहत सिमिटि नहि मिलत जु भाई॥

दोहा—एक वार तेहि गेह पर, आये शिक्षक तीन।
थूलानन्द ईश्वर निरत, व्रह्मानन्द प्रवीन॥ ८॥

तीनो निज निज ज्ञान प्रचारे। द्वत[१] अद्वत[२] प्रकृति[३] सचारे॥
सचय सुकृत कह्यो प्रिय वना। अस सन्देह होत तव सना॥

---

१ ईश्वर-जीव या इश्वर, जीव, प्रकृति।
२ कचन-भूपण, जल तरग न्याय एक व्रह्म।
३ देहवाद-प्रकृति से भिन्न कुछ न ममझना।

छन्द—कचन व भूषण एक है या पात्र मिट्टी एक है।
त्यो ब्रह्म जग अग एक है, अद्वैत की यो टेक है॥
तो फिर भला चैतन्य जड मे, भिन्नता कैसे रही।
सम्बन्ध दोनों का नहीं तो स्वप्न भ्रम कैसे सही॥ १॥
अवकाश वत व्यापक यदी वह एक ही चैतन्य है।
फिर शून्य मे क्यो शून्य कहि, को बध मोक्ष न अन्य है॥
प्रेरक गया तन छोड कर फिर क्यो न शव में ज्ञान हो।
जो ज्ञान साधन सत्व गुण तो फिर असग न ठान हो॥ २॥
होकर असगी जानता तो सर्व ठौर मे ज्ञान हो।
यदि सर्व ठौर मे ज्ञान नहि तो इक असग न आत्म हो॥
सर्व साक्षी आप ही तो अन्य कि परमात्म हो।
एक से नाना हुआ तो रोग नाहि समाप्त हो॥ ३॥
जड देह गेह रु पिण्ड सब ब्रह्माण्ड भी जड दृश्य है।
चैतन्य कैसे जड भला नहि अग्नि जल सादृश्य है॥
जानक व मानक देह का यह जीव ही चैतन्य है।
स्व स्व स्वजाति अनन्त है इन दो परे नहि अन्य है॥ ४॥
मन इन्द्रियो को प्रेरि के सब करत निज निज कर्म हैं।
सो प्रत्यक्षहि देख लो सब भिन्न भिन्न स्व धर्म है॥
अविनाशि अजरामर स्वत· नित प्राप्त भूलत भर्म हे।
चैतन्य जड अरु साक्ष्य साक्षी एक नहि दो पर्म हैं॥ ५॥

दोहा—सुनत बैन तीनों गये, निज निज मार्ग विशेष।
सुकृत सच गुरु परख बल, अडिग न शका लेश॥ ९॥
एते महँ विचरण करत, आयो श्री गुरुदेव।
परख निष्ठ पारख प्रभू, साधु रूप भ्रम क्षेव॥ १०॥
श्री गुरुवर को देखि के, सुकृत सच निधि पाय।
दौडि चरण पडि लाय कै, आसन रुचिर बनाय॥ ११॥
चरण धोय जलपान करि, सकल तीर्थ जनु लोटि।
नम्र सहित सेवा सकल, करत प्रेम रस घोटि॥ १२॥
अमल अचल तब सद्गुरु, शिष्य परीक्षा अर्थ।
एते दिन सत्सग से, क्या तैं लह्यो बदर्थ॥ १३॥

छन्द—बध कि कूपा, का तव रूपा, काहि ग्रहण तन प्रेरै।
स्थिति कैसे, ठहरै जैसे, मुख्य प्रश्न कहु हेरै॥
सुनि गुरु बानी, प्रियता सानी, शिष्य उभय कर जोरे।
प्रभु तव दाया, मोहि सहाया, निज निश्चय कहुँ थोरे॥ ६॥

दोहा—निज स्वरूप के भूल वश, बन्ध रूप त्रय कर्म।
क्रियामान सचित कहे, प्रारब्धिहुँ ये मर्म॥ १४॥

कर्म करं सुख मानि जो, खानि वानि व्यापार।
सोइ आगामी जानिए, पाप पुण्य सव कार॥ १५॥
भोग हेतु जो पूर्व कृत, शेष कर्म रहि जात।
सोई सचित जानिए, सुखासक्ति दरशात॥ १६॥
भोग हेतु सचित उदय, सम्मुख वपु प्रारव्धि।
नहि चाहत भोगन पडत, देह रुजादिक लव्धि॥ १७॥
यहि विधि उरजहि क्षेत्र मे, वीज कर्म अनगन्य।
कर्ता धर्ता जीव यह, भोगत देह धरन्य॥ १८॥
वोध रहनि के तेज से, आगामी हो दग्ध।
आगामी जल भूमि विनु, सचितहूँ हो दग्ध॥ १९॥
प्रारव्धिकर्म वेराग्य युत, सह विवेक भोगन्त।
यहि विधि तीनो कर्म दहि, मुक्ति लहत हैं सन्त॥ २०॥

छन्द—मम रूप की उपमा मे ये जड दृश्य नहि कछु टिक सकें।
रवि चन्द्र तारा सिन्धु गिरि तरु वायु जड़ सव दुर थकें॥
गो मन प्रकृति स्थूल सूक्षम या गगन वत नहि वने।
सर्व का ज्ञाता परीक्षक एकरस पारख ठने॥ ७॥

दोहा—स्वय प्रकाशी परख मम, अस स्वरूप निर्धार।
देहोपाधि से भूल 'वश, त्रिविधि कर्म के धार॥ २१॥
प्रेरत तन स्मरण गहि, अन्त.करण स्मर्ण।
स्मरणहि कुंजी गहै, कूकत मन वश कर्ण॥ २२॥
सुखै मानि प्रेरत तनै, मानि-मानि तन भोग।
गुरु कृपा पारख लहै, भिन्न जानि सव शोग॥ २३॥
सो सव 'अपना वोध' मे, कहे रहनि विस्तार।
वही मुक्ति को हेतु है, प्रेरक घूमि स्व सार॥ २४॥
दया तुम्हारी सद्गुरु, निश्चय यहि में कीन।
वहत धार आधार दे, मो वचाय अव लीन॥ २५॥

सोरठा—जो गुरु वोयो वीज, सो सन्तन विस्तार करि।
आहि तुम्हारो चीज, पारख पायो दास यह॥ २६॥

दोहा—वहु स्तुति विस्तार करि, लीजे शरण में दास।
सुनि गुरुवर कहते भये, नि.सशय पद खास॥ २७॥
जो कुछ निश्चय तें कियो, पारख वल आधार।
सो यथार्थ शुचि मग यही, गहि के हो भव पार॥ २८॥
श्री गुरु शरण लगाय के, ताहि दियो आधार।
सुकृत सचय वेराग्य गहि, तज्यो कठिन भव भार॥ २९॥
जेहि स्वरूप अतिशय विमल, साक्षी परख प्रकाश।
सतत वृत्ति लखि वृत्ति तजि, सम्मुख तजि जड भास॥ ३०॥

नि सशय थिर पद यही, प्रकृति पार निज होय।
साहस रखि गुरु मग लहै, पार होहु जिव सोय॥ ३१॥
सुकृत सचय की कथा, सुनि गुनि करै विचार।
सो पावै निज अचल पद, गुरु मग सरल सुसार॥ ३२॥

प्रसंग १३—पंच विषयों से भिन्न ज्ञाता जीव स्वतन्त्र अपने आप है

शब्द—२१

बिषयन पार बसत जीव अपना॥ टेक॥

शब्द अवाज सो चेतन नाही, मानि जानि तेहि तजना।
परश बिषय सो जीव नही है, शीत कठिन कोमल दव लखना॥ १॥
रूप बिषय परकाश को ज्ञाता, रूप बिलग सोइ रहना।
रसना से रस को पहिचानत, सब रस ब्यजन कथना॥ २॥
गन्ध दुर्गध को घ्राण से जानत, त्याग ग्रहण करि मनना।
पंच विषय मे आप सो नाही, दुख सुख मानि सो धरना॥ ३॥
कोमल परश सो वायु जनावै, अगिनि प्रकाश उष्ण ह्वै मिलना।
शीत स्वरूप सो बारि रहा है, शीतहिं रूप से वह लखि परना॥ ४॥
तीन तत्व के त्यागि धरम को, धरणी धर्म कठोरहिं लगना।
जेहि जड तत्व धरम गुण जैसहिं, वाहि रूप रहि वह मिलना॥ ५॥
ठोस अकार जडहिं जेहि धर्मन, त्वकहिं ग्रहण तेहि करना।
जड तत्वन की बनी इन्द्रियाँ, तत्त्व विषय जड धरना॥ ६॥
त्वचा परश से जानि मिलै यह, नहिं जड भाव धरम गुण तजना।
ज्ञान स्वरूप जीव को जानहु, ज्ञानहिं रूप से निज लखि रहना॥ ७॥
द्रष्टा आप दृश्य में नाहीं, वह जड दृश्य को लखना।
बिबश बासना रहत जीव नित, बिषयन· मानि पकडना॥ ८॥
भूल भरम मानन्दी करि करि, सुख आशा तन गहना।
तन मन इन्द्रिन शक्ति देत वह, ज्ञाता ज्ञान स्वरूपहिं अपना॥ ९॥
अचल स्वरूप बिचल वह मन से, भूल मिटै तब स्वत न चलना।
सकल दृश्य जड भास हटावै, निजहिं स्वरूप सँभरना॥ १०॥
रहत अजाद पृथक इन सब से, मोह बिबश अध्यास न तरना।
गुरु की कृपा परखि जब पावै, भास आस सब डरना॥ ११॥

टीका—अपने आप शुद्ध चेतन जीव जड पच विषयो से न्यारा है। वह जड पच विषय नही है, इसका विभेद आगे कहा जाता है॥ टेक॥ जहाँ तक शब्द, आवाज, स्वर और ध्वनि सुनाई देते हैं, चाहे बाहर के शब्द हों या कान बन्द करके भीतर अनाहत नाद की कल्पना हो,

वे सव चेतन जीव के स्वरूप नहीं ह, क्योकि चेतन जीव ही अलग रहकर जड शव्द को सुनता और लाभ देखकर मानता तथा हानि जानकर त्याग भी देता हे। अत: शव्दी जीव कभी शव्द नहीं हो सकता।[१] स्पर्श विपय का स्वरूप भी जीव नहीं है, क्योंकि शीत, उष्ण, कठिन, कोमल आदि स्पर्शो को अलग करके जीव उन्हे जानने वाला हैं॥ १॥ सर्व रूप, रग और प्रकाश का जो ज्ञान करने वाला चेतन जीव है, वह रूप और प्रकाश से अलग ही रहता हें। वाहर ज्योति, विजली ओर मुद्रा द्वारा चम-चम, चिम-चिम मोतियो की झडी समान तथा भीतर व्रह्माण्ड मे श्वासा चढाकर या ऐसे ही जो अग्नि के समान ज्योतिरूप भगवद्दर्शनादि होता है वह सव जड तत्वो का भास कल्पित निज स्वरूप मे पृथक हे। जीव जिह्वा-द्वारा सव रसो को पिछानकर कडू, कपेला, मीठा, चर्फरा आदि सव व्यजनो के स्वादों को जान-जान उन स्वादो का कथन करता हे, इसलिए रसो का कथन करने वाला कभी रस नहीं हो सकता। चाहे वाहरी रस हो या योग साधन-द्वारा लार जिह्वा से चाटकर स्वाद लिया जाय, सर्व स्वाद जड़ ह॥ २॥ नाक द्वारा गन्ध-दुर्गन्ध को चेतन जीव जानता ह ओर उसका त्याग ओर ग्रहण करके मनन करता ह, अत वह कभी गधरूप नहीं होता। इस प्रकार पच विपयों मे चेतन जीव नहीं आता, क्योकि वह पच विपयो से निराला रह कर ही उन्हे जानता ह, सुख मान कर पकडता तथा दुख जान कर त्याग भी देता ह।॥ ३॥ अव तत्वो का ज्ञान कैसे होता ह, उसे वताते हें—कोमल म्पर्श से वायु को जाना जाता है। प्रकाश ओर उष्णता के लक्षण से अग्नि को जाना जाता ह। शीत स्वरूप जल हे, वह शीत लक्षण से ही जाना जाता ह॥ ४॥ कोमल, उष्ण, शीत, तीनो तत्वो के लक्षण जिसमें नहीं हें वह पृथ्वी तत्व कठोरता धर्म से पूर्ण ह। पृथ्वी कठोरतायुक्त ही त्वचा मे लगती हे। पृथ्वी का कठोर धर्म त्वचा द्वारा जीव जानता ह। इन वातो से अनुभव हुआ कि जिन तत्वो के जेसे गुण-धर्म हें वेसे ही उनकी मत्ता जानी जाती हे॥ ५॥ अपने-अपने जड-धर्मो मे धर्मी जड तत्व पूर्ण हें। जड ही उनके आकार तथा स्वरूप ह। उनके जड धर्मो को त्वचा इन्द्रिय ग्रहण करती हे। जड तत्वो की इन्द्रियाँ जीव की सत्ता से वनी हुई हें। इमलिए साधन रूप जड इन्द्रियो मे जड तत्वो के विपयो का ही ग्रहण होता ह। विशेप जिस तत्व की जो इन्द्रिय हे उस तत्व के विपय को वही इन्द्रिय ग्रहण करती ह॥ ६॥ कठोर, शीत, उष्ण, कोमलता से ठोस चारो तत्वो का ज्ञान त्वचा में लगकर होता ह। वे जड तत्व अपने जड स्वभाव गुण, धर्म, शक्ति मे कभी अलग नहीं होते तथा गुण-धर्म मे ही वे जीव के मम्मुख होते ह। जीव सवका ज्ञाता होने से ज्ञान स्वरूप ह। इसलिए वह ज्ञान ही के लक्षणो से लक्षित होकर अपने आप म्वय प्रत्यक्ष होता है। जैसे मव जड तत्व अपने-अपने धर्मो से ही धर्मी स्वरूप को विदित करते हें वसे जीव भी ज्ञान धर्मवाला ज्ञान-द्वारा अपने ज्ञान स्वरूप को अपने आप ही विवेकयुक्त प्रत्यक्ष करता हे॥ ७॥

---

१ में तोहि पूछौं पण्डिता, शव्द वडा की जीव।
ॐकार आदि जो जानें, लिख के मेंटे ताहि मो मान।
ॐकार कह मव कोई, जिन यह लखा मो विरला होई॥

ॐकार को जो लिखकर मिटा डाले वही ॐकार का उत्पन्न कर्ता चेतन जीव ॐकार से श्रेष्ठ ह। यद्यपि ॐ-ॐ मव कहते ह पर ॐकार का आदि हस जीव, ऐसा जानने वाला कोई विरला ही हैं। वीजक त्रिज्या॥

स्पष्ट—जैसे इन्द्रिय-द्वारा नि सदेह तत्वो का ज्ञान होता हे, वेसे नि सदेह सबका ज्ञान करने वाला अपने आप रहता हें। अपने बारे मे तो आस्तिक-नास्तिक, पशु-पक्षी किसी को सन्देह नही उठता कि मे हूँ या नही हूँ। वर्तमान के हानि-लाभ के समान ही भविष्य मे अपने हानि-लाभ, कला-कौशल विद्यादि, खेती, बनियई, गृहादि रचना सब कार्यो को सर्व चेतन प्राणी करते रहते हे। इस प्रकार अपनी नित्यता का ज्ञान सब जीवो को स्वाभाविक ही है। परन्तु अज्ञानी मे भेद इतना है कि वह अपने स्वरूप की भूल से सम्मुख जड विषयो की आई हुई वृत्तियो मे मिलकर वही-वही अपना रूप मानता हे, जसे दर्पण मे मेला के प्रतिबिम्ब को देख-देख कर कोई भूल से कहे कि यह सब म ही हूँ। बहिर्वृत्ति त्यागकर आतरिक विवेक द्वारा ज्ञानस्वरूप को जाना जाता है। अपने आप ज्ञाता रह कर बाकी सर्व वृत्तियो को हटाकर ज्ञान करने वाले ज्ञाता की पहिचान होती है। सर्व जड वृत्तियो का द्रष्टा होकर अपने आप जो रहता है, वही ज्ञाता है, ऐसा दृढ निश्चय होना ही ज्ञाता की पहिचान करना है।

बाहरी सब तत्व, स्थूल देह तथा मानन्दीरूप मन का जो देखने वाला ह, वह दृष्टि में कैसे आवे? क्योकि वही तो सामने की वस्तुओ से पृथक रहकर उनको देखता है। इसलिए सब का देखने वाला देखने मे नही आता। वह द्रष्टा ही सदैव वासना-मानन्दी के वश रहा हुआ है और जड विषयो मे सुख मानकर मानन्दी द्वारा ही विषयो को ग्रहण करता रहता हे ॥ ८ ॥ निज स्वरूप की सत्यता, तृप्तता के भाव को भूलकर भ्रम वश जड विषयो मे सत्यता-तृप्तता मान-मानकर सुख आशा के वश शरीर धारण करता रहता है। सुखाध्यास ओर मानन्दी को लेकर ही जड शरीर से चेतन जीव सम्बन्ध किये है, क्योकि स्थूल बाह्य इन्द्रिय और भीतर अन्त करणरूप सूक्ष्म साधन-द्वारा जीव ही सुखाध्यास वश सत्ता देकर तन-मन को चलाता रहता हे। बिना कुछ स्मरण भये कोई भी क्रिया जीव से होती ही नहीं। स्मरण का ज्ञान करने वाला चेतन ही है। इसलिए सर्व ज्ञान स्वरूप अपने आप हे ॥ ९ ॥ इस प्रकार चेतन जीव स्वरूप से अचल, अक्रिय, नित्यतृप्त, निराधार तथा स्वतन्त्र है, पर वह मानन्दी के वश चलायमान और अतृप्त हो रहा है। यदि जड-विषयो में सुखप्रियता की मान्यतारूप भूल दृढ पारखदृष्टि द्वारा त्याग हो जावे तो चेतन जेसा स्वत , अचल तथा निराधार है वैसे रह जावे। जो कुछ पिण्ड-ब्रह्माण्ड-पचविषयरूप जड तत्वो का भास-अध्यास दृढ मानना है, उन सबो को अपने से अलग जानकर उनकी वृत्तियो को हटाता रहे और अपने सत्य स्वरूप का एकरस सर्वदा स्मरण कर सावधान हो रहे, तो जानो अपने स्वरूप की स्थिति करके अपना काज बना लिया। यदि ऐसा न किया तो वह गाफिल जड-ग्रन्थि मे बँधा हुआ दुख-समुद्र मे डूबा ही करेगा ॥ १० ॥ इन सब स्मरणो ओर स्मरणो में आई हुई जड वस्तुओ से जीव पृथक आजाद है।[१] पर जैसे राजा सुखसेज पर सोते हुए भी स्वप्नपुरी की नदी में डूबने लगे तो किसका दोष। ऐसे ही चेतन स्वतन्त्र स्वरूप होते हुए भी अपने को भूलकर जड विषयो मे मोह-ममत्व करके जडाध्यास वश स्वय दुखी बन रहा है। जब आप ही अपने हाथों से गले मे रस्सी बॉधकर लटक-लटक

---

१ जीव आजाद इसमे है कि जीव ही जड मे सुख मानकर पकडता आर दुख जानकर छोडता है, जड इसे न पकडता हे न छोडता है।

तुही सबको देखै नही देख पडता। तुही सबको छोड पुन तू पकडता॥
खुशी से अपाने जहॉ मोज करता। वहॉ आप जाता त्रिविध ताप जरता॥ न्यायनामा॥

कर दुखी होता हे तब क्या उपाय! जब इस भूले जीव को विवेकी पारखी श्री सद्गुरुदेव मिले आर उनकी शरणागत होकर यह चेतन अपने से पृथक सर्व जालो को परख लेवे तो सर्व भास दृश्य जड मे सुख मानना त्यागकर स्थिर हो जावे, तो चिंता, व्यर्थ परिश्रम तथा गुलामी से रहित होकर सदा सुखी हो रहे ॥ ११ ॥

साखी—पंच विषय जड़ से परे, स्व स्व जीव अनन्त।
ज्ञान स्वरूप अखण्ड सोइ, आपहि आप रहन्त ॥ १ ॥
जड चेतन दोउ भिन्न है, तिनकी शक्ति देखात।
दिल में धरि के न्याय सोइ, तजे कल्पना घात ॥ २ ॥
करत प्रेरणा जीव जस, तन मन तसहि चाल।
ज्ञानयुक्त तन की क्रिया, भिन्न लखो जड टाल ॥ ३ ॥
परखत सबको जीव है, जानमात्र सो आप।
दृष्टि रहत जड पर सदा, मानि मानि सन्ताप ॥ ४ ॥

टीका—पाँचों विषयरूप जड तत्वो से चेतन जीव न्यारे ह। वे अपने-अपने स्वरूप से भिन्न-भिन्न ह। सब जीवो का ज्ञान स्वरूप अखण्ड ह ओर वे अपने आप ही रहते हैं। वे किसी से न उत्पन्न होते, न किसी मे मिलते हैं ॥ १ ॥ पच विषय जड और इनका ज्ञाता चेतन, ये दोनो अलग-अलग ह। इनके न्यारे-न्यारे गुण, शक्ति, धर्म दिखाई दे रहे हे। पृथक-पृथक गुण-धर्मयुक्त जड-चेतन की विवेकरूप न्यायदृष्टि हृदय मे ग्रहण करके जड की ममता, अहता आर विपरीत निश्चय जो कि जीव के लिए घातक है, उन्हे त्याग देना चाहिए॥ २ ॥ जीव जेसी प्रेरणा करता हे, वेसी ही इन्द्रिय आर मन मे क्रिया होती हे। उठने की इच्छा हुई तो झट स्थूल उठ पडता ह, बेठने की इच्छा हुई बस बेठ गया, लेटने की इच्छा से लेट जाता हे, दोडने-लडने, हाथ-पॉव फलाने, ऑख खोलने-मूँदने इत्यादि मे चेतन जीव सुख मानकर अंतःकरण युक्त इन्द्रियो में जिधर जैसी-जसी सत्ता देता ह वही-वही क्रिया तन-मन से होने लगती ह। शरीर की क्रियाएँ बाहरी जड तत्वोवत स्वाभाविक नही होतीं, बल्कि ज्ञान-मानन्दीयुक्त जीव की सत्ता से ही होती रहती हें। अन्नादि का पचना, रस-खून आदि का नाडियो मे दोडना, नख-केश निकलना ये सब पूर्व-पूर्व मानन्दीयुक्त प्रारब्धिक शक्ति से क्रियाए होती रहती हं। जब तक देहों मे इच्छाशक्तियुक्त जीव सत्ता देता है तभी तक प्रारब्धिक क्रियाएँ होती रहती हैं ओर त्याग-ग्रहण आदि सारी क्रियाएँ चेतन जीव के ज्ञानयुक्त प्रेरणा से ही होती हें। इस प्रकार जड-चेतन सम्बन्ध मे ही तन-मन की क्रिया होना प्रत्यक्ष अनुभव हे। इससे सार यह निकला कि दृश्य भाग सब जड ह आर सर्व जड-भास का द्रष्टा चेतन स्वरूप हे ॥ ३ ॥ सबका परीक्षक जीव ही हे। जो जान मात्र या ज्ञान मात्र हे। उसकी दृष्टि जड देह, गेह, पच विषयों की तरफ रहती ह, इससे विषयो मे सुख मानकर सदा त्रिविध दुख सहा करता ह। स्वरूप को जाने विना शोक-मोह, तृष्णा, मिलन-वियोग, राग-द्वेष, तन-मन के सताप मे जलता रहता हे। अत. इस त्रिविध ज्वाला से उबरने के लिए पूर्वोक्त यथार्थ स्वरूप को जड से काट-छाँटकर अलग करके अलग ही ठहराव का विवेक-वैराग्ययुक्त अभ्यास कर मुक्त होना चाहिए ॥ ४ ॥

अपने को कुछ और मान लेने से बन्धन हे

दृष्टात—एक किसान जगल के सन्निकट अपने पके हुए खेत को मजदूरों से कटवा रहा था। जब थोडा सा दिन बाकी रह गया, तव किसान ने मजदूरो से कहा कि जल्दी-जल्दी काटो, ऐसा न हो कि सध्या हो जाय। जितना डर हमको सध्या का है उतना डर सिंह का भी नहीं है। यह बात एक अरहर के खेत मे बैठा हुआ सिंह सुन रहा था। सिंह ने जाना कि सध्या कोई हमसे भी बली जानवर है जिससे किसान हमारा तो डर नही मानता, संध्या का वडा डर मानता है। इतने मे दिन अस्त हो गया, किसान और मजदूर सव अपने-अपने घर चले गये। उसी ग्राम के धोबी का एक गधा कही भाग गया था। अँधेरी रात मे धोबी उसे खोजता हुआ जब उस खेत मे आया जहॉ पर सिंह बैठा था, उमने समझा कि यह मेरा गधा ही छिपकर बैठा है। धोवी ने दो लाठी सिह की कमर मे मारी ओर गले मे रस्सी बॉधकर आगे पकड लिया। सिंह ने समझा कि यह वही सध्या आ गई है जिसकी चर्चा किसान दिन मे कर रहा था। मारे डर के सिह धोवी के साथ चल पडा। धोवी ने घर मे ले जाकर उसे खूँटा मे बॉध दिया। जब एक पहर रात बाकी रही तब धोवी ने सिह पर खूब वजन लादी लाद दिया और नदी की ओर चल पडा। आगे मार्ग मे एक और सिह खडा था। उसने लादी वाले सिंह को देखा और मन मे सोचा कि यह सिह होकर धोबी की लादियो को उठाये हुए चला आता है, इसका क्या कारण है। भला सिंह से पूछे तो सही, ऐसा सोचकर उससे पूछा—तुम इसका बोझा ढोने वाले क्यो बने हो? उसने कहा—बोलो मत, यह सध्या बडी बलवती है, हमको इसने अपना गधा बना लिया है। यदि तुम बोलोगे तो सध्या पीछे-पीछे चली आती हे वह तुमको भी पकडकर अपना गधा वना लेगी। तुम जल्दी यहॉ से भाग जाओ। उस सिंह ने कहा—अरे! तू बडा मूर्ख हे, सध्या कौन चीज है, अधेरे का नाम सध्या है। सध्या कोई तुमसे बली जानवर नही है, तुम्हारे सकल्प का रचा हुआ वह जानवर है। तुम इस सकल्प को दूर कर अपने स्वरूप का स्मरण करो। तुम तो सिंह हो, ये तो सब तुम्हारे खाद्य हैं, तुम्हारी आवाज को सुनकर ये सब भाग जायेगे। सिह को उसके कहने से अपने स्वरूप का स्मरण हो आया। ज्यों ही लादी को फेककर वह गर्जा त्यो ही धोबी घर की तरफ भागा ओर सिंह बन में चला गया।

सिद्धांत—सिह जीव है। वह जड स्थूल, सूक्ष्म, कारणादि देहो के ममता-अहता वश गधा बन गया है। धोबीरूप स्वार्थी विषयी नर-नारी आर भ्रम-ग्रसित अगुआ जन इसको सध्यारूप अन्य कर्ता-धर्ता, देवी-देव, विषयासक्तिरूप वाणी सुनाकर दीन कर दिये। जिससे जीव अपने को किसी का अश या कार्य अथवा जड तत्वो को अपना स्वरूप मान अज्ञान की लादी लादकर दुखी हो रहा हे। जब इसको स्वतत्र सिंहरूप पारखी सद्गुरु मिलकर कहते हे कि तुम शुद्ध चेतन्य अखण्ड सबके परीक्षक परम पारखी पारख स्वरूप हो, तव जीव अपने सत्य स्वरूप का स्मरण कर तथा भास-अध्यास बानी जाल की, और काम-क्रोधादि खानि जाल की सभी लादी डालकर अत्यन्त सुख को प्राप्त हो जाता है॥

शब्द—२२

लखौ निज ज्ञान जीव भ्रम हारी॥ टेक॥

जो जो विषय नेत्र का होवे, सोई रूप कहारी।
रगो दृष्टि सामने आवे, याते एक विचारी॥ १॥
कारण तत्व के रग से उपजत, कारज सकल पसारी।
काह विलक्षण यामे देखो, जल महि अनल निहारी॥ २॥
मिलि मिलि रग एक ह्वै जावे, एकमेक मिलि सारी।
पृथक रग जो दृष्टि मे आवे, सो तो वहे सिधारी॥ ३॥
नशा जहेर जेहि नाम धरा हे, सो आवरण दिखारी।
जीव वासना वशि मे ह्वै क, देह के संग नहारी॥ ४॥

टीका—अपने स्वरूप का ज्ञान करो, जो जीव के सम्पूर्ण भ्रम को हरने वाला है॥ टेक॥ नेत्रो से जो कुछ देखने मे आता ह उस को रूप विषय कहते ह आर नेत्र के सम्मुख रग भी देखने मे आता हे, इसलिए रग ओर रूप विचार से एक ही हैं॥ १॥ कारण तत्वो मे जो रूप-रग ह, उन्ही से उत्पन्न होते हुए रगयुक्त सव कार्य विस्तरित हो रहे ह, फिर कार्यो मे कारण से क्या भिन्नता हुई? देखो। विचारो।। जल, पृथ्वी ओर अग्नि तीनो रूप-रग युक्त कारणरूप से दृश्य हो रहे हें इससे उन्हीं का रग सव कार्यो मे जानिए॥ २॥ परस्पर दो रग एक मे मिल जाने से एक अन्य प्रकार का तीसरा रग हो जाता हे। इसी प्रकार एक दूसरे मे मिलकर सव प्रकार के रग हो जाते ह। आर जितने न्यारे-न्यारे रग देखने मे आते हें वे जिनसे उत्पन्न होते हे उधर ही खिंच जाते ह, क्योकि रग से ही रग होता हे, अन्य से नही। "रगहि से रग ऊपज, सव रग देखा एक"॥ वी०॥ इसका भेद यह है कि जिनके आधार से रग होते हें वे भी नेत्र के विषय होने से रूप हें आर जो रग उत्पन्न होते ह वे भी नेत्र के विषय होने से रूप के अन्तर्गत हें। अत कारण जड तत्व रूप विषय मे कोई भी रग अलग नहीं ह॥ ३॥ नशा या जहर जिसे विलक्षण शक्ति मानते ह वह भी जड तत्वो से विलक्षण नहीं। वह जीव के ऊपर आवरण करन से जहर या नशा कहा जाता है। जीव वासना के वश होकर देह के सग मे जुटा हुआ हे॥ ४॥

उष्ण जहेर विचलित परमाणुन, इन्द्रिन विकल करारी।
तेहि के सग विकल जिव होवे, भरमित वुद्धि दुखारी॥ ५॥
शीत कठिन कोमल स्नेही, अधिकं देह दहारी।
नशा वही परमाणुन किरिया, योग वियोग लहारी॥ ६॥
काह विलक्षण समझत याको, यह जड शक्ति प्रचारी।
कटक कठिन सुमन वे कोमल, परमाणुन रूप रहारी॥ ७॥
पक्ष विजाति मिटत नहिं कवहूँ, सव परमाण झुठारी।
जड को जीव कहत भ्रम धारे, निज सिर हाथ पछारी॥ ८॥

टीका—जहर का स्वरूप उष्ण ह। उसे पाकर इन्द्रियो को शक्ति देने वाले परमाणु विचलित हो जाते हें। इसलिए इन्द्रियाँ विह्वल हो जाती हे। उसी के साथ ही मानन्दी वश जीव भी व्याकुल हो जाता ह। इस प्रकार नशा के जोश से जीव की वुद्धि मे भ्रम का पर्दा पड जाने मे वह दुखी हो जाता हे॥ ५॥ शीतलता, कठिनता और कोमलता भी यदि अधिक मात्रा

मे सेवन किया जाय तो देह को अधिक कष्ट पहुँचा कर वहाँ भी नशा सदृश मूर्छा होने लगती है। इससे यह स्पष्ट हुआ कि नशा और कुछ नहीं है, वह केवल परमाणुओ के घट-बढ की क्रिया ही है। जड परमाणुओ मे सयोग-वियोग लगा ही रहता है, इसलिए नशा या जहर भी जड तत्वो से विलक्षण शक्ति नहीं॥ ६॥ रूप-रग, नशा या जहर इन्हे जड तत्वों से पृथक शक्ति क्यो समझते हो? ये तो जड तत्वो की शक्तियां प्रत्यक्ष विदित हो रही हैं। कॉटा और फूल भी कारण जड से विलक्षण नहीं। कॉटा मे कठोरपन है और पुष्पादि में कोमलता-सुन्दरता है। यह सब तत्वो के जड परमाणुओ के ही स्वरूप है, क्योकि पृथ्वी मे कठोरपन, जल मे शीतपन, अग्नि में उष्णपन और वायु मे कोमलता स्वाभाविक देखी जाती है, अत. कॉटा की कठोरता और पुष्प की कोमलता, सुन्दरता तथा ककड, पत्थर, रेहू आदि जड परमाणुओं के ही स्वरूप हैं॥ ७॥ कारण जड तत्वो के भिन्न-भिन्न गुण, धर्म, शक्तियों के सयुक्त जो स्वाभाविक लक्षण है वे कार्यों मे भी कभी मिटते नहीं, क्योकि उन्ही गुण, धर्म, शक्तियो के सयुक्त सब कार्य देखने मे आते है। इसलिए सब कार्य पदार्थ कारण के गुण-धर्मो से भिन्न न होने से वे कारण के स्वरूप ही है, और जीव चेतन जड कारण कार्य के गुण, धर्म, शक्तियो से विजाति, सर्वदा न्यारा विरोधी ज्ञान धर्मवाला है। ऐसा न जान कर जड कार्य और ज्ञान स्वरूप जीव की एकता की बात करना भूल है। जो लोग अपने स्वरूप की भूल से विषय चेष्टा तथा सुखाध्यास वश विपरीत निश्चय से अपने को जड तत्वो का कार्य मान लेते हैं, उनका यथार्थ स्वरूप विचार छूटकर भ्रम ही को निश्चय कर वे अपने हाथ ही से अपनी गर्दन मार रहे है, धोखे मे पड रहे है। वे देह ही सत्य मानकर पुनर्जन्म, कर्मफल निश्चय न होने से घोर हिसादि अनीति पापाचरण करके अब और आगे जन्मो मे दुसह दुख भोगते रहते हैं॥ ८॥

> क्षणिक जीव होते चलि जावै, परगट होत नयारी।
> पिता मात बचपन के बिछुडे, अब के यादि दुखारी॥ ९॥
> स्वजाति प्रमाणु न कारज बनते, जड मे ज्ञान कहॉरी।
> परमाणुन मिलि परकाश बनै जड, मूल अहै परकाश रुपारी॥ १०॥
> शुन्य परमाणु विज्ञान को परगट, बन्ध्या सुवन कहारी।
> पच बिषय को ज्ञान साथ नहिं, ज्योति प्रकाश होत सब वारी॥ ११॥

टीका—क्षण-क्षण मे जीव उत्पन्न होते ओर पुन नष्ट होकर नये-नये उत्पन्न होते रहते हे, ऐसा कहना भ्रम है, क्योंकि किसी के बचपन ही में माता-पिता की मृत्यु हो गई है, वह बालक मृत्यु के समय रोता-तडफडाता है। अब आज उनके मरे पचासो वर्ष बीत गये और वह बालक भी जवान होकर पुन वृद्ध हो रहा ह, फिर भी अपने माता-पिता का आज स्मरण कर या स्वप्नावस्था मे माता-पिता के स्मरण द्वारा पूर्ववत ज्यों का त्यों दुखी हो रहा है, ऐसा क्यो होना चाहिए! क्योंकि पूर्वपक्षी के मत से जीव क्षणिक होने से क्षण मे ही बदल गया था, पचासो वर्ष मे तो असख्य जीव बदल गये, फिर वह लडकपन के बिछुडे माता-पिता को याद कर आज क्यों रो रहा है? यदि रो रहा है तो इससे वही जीव आज भी है जिसने लडकपन मे माता-पिता की मृत्यु का अनुभव किया था। उसी को पूर्ववत आज स्मरण होता हे, दूसरे को नहीं। "देखे-सुने कोई अन्य और अनुभव होवे कोई अन्य को" ऐसा असम्भव है। इसलिए देह

की कई अवस्थाएँ बदलते हुए भी ज्ञाता जीव नहीं बदलता। जेसे इस वर्तमान देह मे पचास, साठ, सा वर्ष तक ज्ञाता जीव एकरस रहता हे, वसे अनंत जन्मो में चेतन जीव का बदलाव नहीं होता। जीव सदा अखण्ड एकरस रहता है॥ ९॥ यदि कोई ज्ञान की एक जाति के परमाणु मानकर उनके सयोग-वियोग द्वारा जीवरूप कार्य मानता हो तो एक जाति या एक ही तत्व के परमाणु से कोई कार्य वन नहीं सकता। यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि मात्र पृथ्वी के परमाणु मिलकर कोई भी कार्य नहीं वनता। ऐसे ही जल-जल या अग्नि-अग्नि या वायु-वायु के तथा कोई भी एक जाति के परमाणु मिलकर कोई कार्य वनते व विगड़ते नहीं देख पडता। सामान्य-विशेष चारो तत्वो के संयोग से ही कार्यों का प्रवाह चालू है। अत: ज्ञान-ज्ञान एक जाति के परमाणुओं से जीवरूप कार्य मानना विलकुल अयुक्त है। यदि जड तत्वो के परमाणुओ से ज्ञान होना कहो तो—"जड में ज्ञान कहाँरी?" अर्थात जड़ तत्वो के कारण-कार्य मे कहीं भी ज्ञान धर्म देखा जाता नहीं। इसलिए उनसे ज्ञान स्वरूप जीव को मानना अधकार को प्रकाश मानने के समान निरा विपरीत हे। जो दीप-प्रकाशवत जीव को मानते हो तो सामान्यरूप मे अन्य तत्वयुक्त विशेष अग्नि तत्व के अनेक परमाणु मिलकर कार्यरूप दीपक प्रकाशित हुआ सर्वदा जड ही रहता ह ओर उस दीपकरूप कार्य मे भिन्न उसके मूल कारण मे भी प्रकाश और जडता धर्म स्वाभाविक देखा जाता ह। ऐसे ही इस चेतन से भिन्न जड तत्वो मे चेतनपना कहीं देखा जाता नहीं। दूसरे जड तत्वो के कार्य सदृश जीवों का जड मे स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं हैं। चेतन तो हानि-लाभ जान-जान मान-मानकर सबसे सम्बन्ध करता है और सम्बन्ध करते हुए भी सदेव चेतन ही रहता ह। वह देह आर देह सम्बन्धी सर्व जड पदार्थों को देखते हुए सबसे भिन्न ही रहता ह। ऐसे भिन्न चेतन को जडवत कारण-कार्य कहना महान भूल है॥ १०॥ शून्य के परमाणुओ मे या शून्य को ही परमाणु मानकर जो विज्ञान अर्थात सब चीजो के ज्ञान होने की एक धारा मानते ह, तो वह मूल में ही वध्यापुत्रवत ह ही नहीं। सबको अनुभव हे कि शून्य नाम अभाव का है, तब उस शून्य में ज्ञान या शून्य के परमाणु कहना वध्यापुत्र ने मकान वनाया या किसी प्रकार न्याय-निर्णय किया, ऐसा कहने के समान असम्भव दोषयुक्त ह। फिर क्षणिक विज्ञान मे दीपक-ज्योति दृष्टात अत्यन्त अयुक्त ह। दीप-ज्योति का प्रकाश तो एक समय मे चारों तरफ फेलता ह आर देहधारी जीवों को ज्योति-प्रकाशवत पाँचों विषयों का ज्ञान एक समय मे नहीं होता। एक समय में एक ही विषय का ज्ञान जीवो को मानन्दीयुक्त होता है। दीपक सदैव हानि-लाभ के ज्ञान रहित जड ह, छिन्न-भिन्न ह और जीव सर्वदा हानि-लाभ को जानने वाला चेतन अखण्ड-अजर-अमर है। इसलिए शून्यवाद या क्षणिक विज्ञान वध्यापुत्रवत मिथ्या हे॥ ११॥

विवरण—दीप-ज्योति के समान विज्ञान की धारा की कल्पना अघटित हे। ज्योति मे वनने-विगडने का प्रवाह प्रत्यक्ष हैं। दीपक के प्रकाश मे परमाणुओ की जो धारा हे प्रकाशधर्म उनका स्वरूप ही है। इसलिए जो परमाणु उससे निकलते ह, वे प्रकाश स्वरूप होने से प्रकाश करते चले जाते हैं और पीछे से अन्य आते रहत ह, इसलिए दीप-प्रकाश की धारा चालू रहती हे। जीवो के विषय मे ज्ञान-स्वरूप परमाणु आते-जाते माना जाय तो प्रकाश के समान ज्ञान आता-जाता रहेगा। ऐसी दशा मे पदार्थो के मिलन-वियोग, मनुष्यों के दुख-सुख तथा हानि-लाभ के ज्ञान तो विज्ञान मे वनेगे ही नहीं, तत्वो के परमाणुओ के समान वे तो ज्ञान के ज्ञान ही चले जावेगे। परन्तु जीव तो इन्द्रिय-गोचर पदार्थो मे जैसे विपरीत अथवा यथार्थ निश्चय

मानन्दी कर लिए है वैसे ही इन्द्रियो द्वारा नित्य पंच विषयो को भोगते हैं। जिस देहधारी जीव की जिसमें आसक्ति होती है, उसके सस्कार पुष्ट होते है, सो मानन्दी संबंध घट-बढरूप अनादि काल से उसी जीव के सबंध मे चालू है। इसी से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनो काल के हानि-लाभ, सुख-दुख, मिलन-वियोग, अपन-परार जैसा एक जीव ने माना है वैसे अवस्थाओ के भेद से और घट-भेद से संस्कारों का परिवर्तन और स्मृति-ज्ञान मानन्दी वश उसे होते रहते है। इसी से पूर्व के बिछुडे प्रिय का स्मरण हो जाने से शोक होता है। इसी प्रकार देह-अवस्थाभेद से भूत, भविष्य, वर्तमान तीनो काल का ज्ञान देहयुक्त अखड जीवो को समय-समय पर होता रहता है। ऐसा होना तो उस विज्ञानधारा मे असम्भव ही दीखता है, क्योकि प्रत्येक विज्ञान मे इन्द्रियाँ, देह और मन पाये नही जाते, तब बाहरी पदार्थो और मनुष्यो के सम्बन्धित जो दुख-सुख का ज्ञान हुआ सो अपना ज्ञान दूसरे को कैसे बता सकते हैं, जिससे तीनो काल का ज्ञान सब परमाणुओ को होता रहेगा, क्योकि अनन्त क्षणिक विज्ञान में बिना इन्द्रिय सम्बन्ध बाहरी पदार्थो की मानन्दी असम्भव ही है। "इन्द्रिय बिना जगत का ज्ञान कैसे, मुझको वता दो हुआ ज्ञान जैसे" पुन. भविष्य में सुख के लिए प्रत्येक मनुष्य स्वाभाविक प्रयत्न करते रहते हैं। जैसे हम विद्या पढ ले तो आगे नौकरी करेगे या विद्या से अन्य काम चलाकर सुखी होवेगे। हम कला-कारीगरी हुनर सीख ले जिससे आगे हमारा काम चलेगा। हम अच्छा पक्का मकान बना ले जिससे आगे मुझे कष्ट न हो, अथवा हम तीर्थ-व्रत, वेद-शास्त्रादि कथित जप-तप करे तिससे हमको आगे सुख होगा। जाति, वर्ण, आश्रमो की मर्यादा, राजनीति, कुलनीति, साधुनीति, प्रेम-व्यवहार, त्याग-ग्रहण करना इत्यादि सर्व कार्य अपनी-अपनी समझ के अनुसार आगे के लिए मनुष्य करते रहते हे। यदि सब मनुष्य यह समझे कि मै दूसरे क्षण मे न रह जाऊँगा तो कोई भी कोई कार्य आरम्भ ही न करे। जो-जो पदार्थ हानिकारी देखने मे आते हैं या पहिले भूल वश कोई हानि वाला कार्य अपने से हो जाता है तो उसका पश्चाताप अपने ही को होता हैं, आगे के लिए उसका आप ही त्याग कर देता है। जैसे कोई चीज खाने से पेट में शूल हुआ है तो आगे के लिए फिर शूल न हो ऐसा सोचकर शूलवाली चीजो से सर्वदा परहेज किया जाता है। मनुष्य सर्प-बीछी इत्यादि से हमेशा डरते रहते हैं। ऐसा काम करूँगा तो आगे मेरा अपमान होगा, ऐसा सग करूँगा तो लाभ होगा, इत्यादि बाते सब जीवो को स्वाभाविक अनुभव है। जिससे जीव स्वय सब कार्य और सर्व व्यवहार तीनो काल मे दुख निवृत्ति के लिए करते रहते है। इंससे जीव भूत, भविष्य, वर्तमान मे अपने आप सदा एकरस है। आज से पूर्व के देखे-सुने हुए का स्मरण होना स्मृतिज्ञान है। सत्यासत्य तौल करके जानना सो अनुभव ज्ञान और पूर्व जन्म के सस्कारवेग से कार्यो मे कम-विशेष रुचि सो सस्कार ज्ञान है। ये चारो ज्ञान क्षणिकवर्ती जीव मे बन ही नहीं सकते, क्योकि वर्तमान मे जो देखता, सुनता, भोगता है वही सस्कार टिकाता हे और पूर्व तथा वर्तमान में जो कुछ जिसने देखा, सुना, भोगा है वही पीछे से स्मरण करके स्मृति ज्ञान करता रहता है। जिसने पहिले और अब इन्द्रियो द्वारा कुछ बाह्य ज्ञान किया है वही वर्तमान मे सत्यासत्य के तौल द्वारा अनुभव ज्ञान करता है। पूर्व शरीर में कर्मो का सस्कार टिकाकर अब शरीर धारण किया। प्रारब्ध अन्तः-करण उपाधि से कार्यो मे कम-विशेष रुचि होने मे पूर्व सस्कार सहायता देते रहते हैं, क्योकि एक दर्जे का पुरुषार्थ करते हुए अनेक मनुष्यो की कम-विशेष रुचि होती है। इस प्रकार जीव नित्य अखण्ड रहे विना पूर्वोक्त ज्ञान नहीं हो सकता और पूर्वोक्त चारों ज्ञान सब देहधारी जीवो

को हैं, इसलिए क्षणिक जीव मानना वन्ध्यापुत्रवत मिथ्या है।

चूहा श्रवण वहुत लघु देख्यो, मनुष श्रवण लखि भारी।
सूप सरिस हस्ती को गायो, लम्वे श्रवण अजारी॥ १२॥
सवके श्रवण भिन्न जव देख्यो, जातिउ भिन्न अकारी।
कहन लग्यो चेतन तस भिन्नहिं, सवको एक समारी॥ १३॥
एकपना को नाम एक लखि, सवको एक कहारी।
श्रवण श्रवण की समता करि के, जड़ जड़ एक लहारी॥ १४॥
ऐसहिं सव दृष्टांत तुम्हारी, कहत विलक्षण सारी।
गाफिल जीव भरम के फन्दे, निज को दुख मे डारी॥ १५॥
कारण रंग को वदलत देख्यो, कारज माहिं जहाँरी।
कहन लग्यो चेतन को तेसहिं, भरमित वुद्धि महारी॥ १६॥

टीका—जसे चूहे के कान मनुष्य के कान की अपेक्षा वहुत छोटे देखे, मनुष्य के कान उनसे वडे देखे, हाथी के कान सूप के समान वडे देखे और वकरी के कान लम्वे देखे॥ १२॥ इस प्रकार सवके कान अलग ही अलग प्रकार के देखे। चूहा, मनुष्य, हाथी और वकरी की जाति, आकार तथा खानियो के स्वभाव, खान-पान, गुण-शक्ति भी सव अलग ही अलग देखे, पुन· देखने वाले ने सोचा—सव भिन्न ही भिन्न ह तो भी श्रवण सवके हें ओर श्रवण-श्रवण नाम की एकता होती हे, अतः चारो एक ही हें। तो देखो। उसने कान-कान की एकता से सवको एक कह दिया, परन्तु उनकी भिन्नता का कुछ विवेक न किया। क्या श्रवण-श्रवण के नाम से वे चारो एक हो जायेगे। इस असम्भव कथन के सदृश यह भी कथन हे कि कारण से जो कार्य प्रगट होते हें वे कारण से विलक्षण देखने मे आते हे, पर ह जड ही। इसी प्रकार चेतन भी जड से भिन्न देखने में आते ह, पर दोनो एक ही हैं। जेसे पूर्व मे कोई कान-कान का नाम लेकर हाथी, चूहा, मनुष्य, वकरी को एक मान लिया तो भला नाम मात्र की एकता से कहाँ एकता हुई? वकरी, हाथी, चूहा, मनुष्य तो भिन्न ही भिन्न रहे। उनकी शक्ति, गुण, धर्म, भेद, क्रिया सव कुछ भिन्न ही भिन्न रहे। सव कुछ भिन्न देखते हुए भी नाम से एकता कर देने वाले जेसे महा अज्ञानी हे, वैसे जड तत्वो के कार्य-कारण को एक कह कर इसी प्रकार जीवों को भी विलग मानकर फिर जड में मिला देना महा अज्ञान ह, क्योंकि कारण से जो कार्य होते हैं, वे सव कारण जड तत्वों के आकार, गुण, धर्म, शक्ति व पाँचों विषय जडत्वपना के स्वरूप ही होते हैं। इसलिए कारण-कार्य विलग नहीं हें, परतु जड से विरोधी धर्मवाला ज्ञान स्वरूप जीव है, जिसमें ज्ञान ही की शक्ति तथा ज्ञान ही गुण हे। चेतन मे जड गुण कारण-कार्य का लेश भी नहीं ह। अत चतन को कार्य के समान कहना अयुक्त हे। कहाँ जड मे स्वाभाविक क्रिया, ज्ञान-शून्यता आर कहाँ चेतन ज्ञानस्वरूप अखण्ड, अत जड कार्य के समान जीव कभी नहीं हो सकता॥ १३॥ एक प्रकार के श्रवण नाम मे यदि सवकी एकता होती हो तो जड तत्व पृथ्वी, जल, अग्नि आर वायु को एक मानना होगा। अर्थात जड-जड नाम की एकता होने से तुम्हारे कथन प्रमाण से चारों जड तत्व एक हो जाना चाहिए॥ १४॥ विलक्षण शव्द की एकता करने मे मव दृष्टात विपरीत हैं, पर ये जीव अपने स्वरूप को भूलकर गाफिली वश मिथ्या

कल्पना के फॉस मे फॅसकर अपने को दुख की खदक मे डाल रहे है॥ १५॥ पृथ्वी, जल और अग्नि इन कारणरूप जड तत्वो के रगो को विविध कार्यो मे बदलते हुए देखकर उसी प्रकार चेतन को भी मान लिया कि जैसे रगो के कारण से कार्य मे विलक्षणता है वैसे जीव भी देखने मे आते हैं। ऐसा मानने वालों की बुद्धि महा विपरीत है, क्योकि रग तो कारण और कार्य मे ही रहते है, सो रूप विषय के स्वरूप ही है, अतः कारण-कार्य रगो की वास्तविक कोई भिन्नता नही। नियम यह है कि अन्य विषय से अन्य विषय नही होते, कारण-कार्य के गुण, धर्म, शक्ति न्याय से कारण-कार्य एक ही हे। कारण-कार्य की रीति चेतन मे कभी लागू नही होती। क्योकि चेतन तो जड से अति विरोधी हे, ज्ञानधर्म, ज्ञानगुण और ज्ञानस्वरूप ही है, सर्वाग जड से पार है। अत उसमें जडवत कारण-कार्य की समता सर्वथा अघटित है॥ १६॥

बदलपना को एका समझत, चेतन को जड मानि रहारी।
जड़ जड एका जब तुम समझौ, पृथ्वी जल अग्नि न वायु रहारी॥ १७॥
तत्त्वन भिन्न जहॉ सब मानौ, चेतन भिन्न तहॉरी।
सत्य सुधा लखि करौ बिबेचन, हठ से दुक्ख सहारी॥ १८॥
करौ बिबेक न्याय कुछ समझौ, देखौ दृष्टि सम्हारी।
उष्ण कठिन शीतल स्पर्शत, स्वतः स्व भिन्न लखारी॥ १९॥
पृथ्वी अधिक वजन है जल से, पावक पवन नही गरुवारी।
पृथ्वी कठिन शीत सोइ जल है, अग्नि को उष्ण लहारी॥ २०॥

टीका—कारण से कार्य भिन्न प्रकार दिखते है परतु दोनो अतत· एक ही है, वैसे चेतन जड से विलक्षण दिखते हुए अतत जड़ ही हे ऐसा मानने वाले यह विचार न किये कि जड तत्वो के विविध कार्य बदलते हुए भी जड गुण-लक्षणो से कारण जड पच विषयो के स्वरूप ही हे। इसलिए वे कारण से भिन्न दिखते हुए भी भिन्न नही है और कारण-कार्य को जानने वाले चेतन जड के गुण-धर्म से सर्वदा पृथक है। चेतन जड कार्य के समान कभी नही हो सकते, पर जब शब्द मात्र के मिलान से चेतन-जड को एक समझते हो तो जड-जड नाम चारो तत्वो के हैं, फिर तुम्हारे कहने से चारो तत्व एक हो जाना चाहिए। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के गुण-धर्म भिन्न-भिन्न न होना चाहिए। जब तुम भिन्न-भिन्न गुण-धर्म का विचारकर भिन्न-भिन्न वस्तु न मानोगे और केवल नाम की एकता से एकता करोगे तो तुम्हे चारो जड को एकी तत्व मानना पडेगा और वैसे ही बर्ताव करके दिखाना होगा। पृथ्वी-जल की जगह अग्नि को ही ग्रहण करना होगा॥ १७॥ जो गुण-शक्ति के लक्षण से चारो को भिन्न-भिन्न मानोगे तो चेतन को भी जड से भिन्न मानमा पडेगा। क्योकि जड के गुण-धर्मो से चेतन के गुण-धर्म सर्वदा विरोधी है। कहॉ जड कारण-कार्य पच विषय इन्द्रियगोचर पदार्थ पर प्रत्यक्ष और कहॉ चेतन अखण्ड पच विषय कारण-कार्य से पार इन्द्रिय-मन का द्रष्टा स्वय प्रत्यक्ष, ये दोनो सर्वदा भिन्न ही भिन्न है, यह यथार्थ सत्य निर्णय ही अमृत है, इसका बार-बार विचार करो। याद रक्खो। हठतारूप विष को ग्रहणकर दुख ही दुख सहना पडता है॥ १८॥ जड और चेतन का विवेक करो, न बहुत, तो थोडा भी सत्य न्याय को समझो। लक्ष्य सम्हाल कर देखो। एक तत्व उष्ण है, दूसरा कठोर है, तीसरा शीतलतायुक्त है, चौथा कोमल-स्पर्शयुक्त है। इस प्रकार क्रम

से अग्नि, पृथ्वी, जल और वायु स्वत. अनादि भिन्न-भिन्न विरोधी शक्ति-धर्म के सहित देखे जाते हैं॥ १९॥ पृथ्वी में अधिक वजन है, उसकी अपेक्षा जल में कम वजन है, अग्नि और वायु में गरुवापन नहीं।[1] पृथ्वी तो कठोरता से पूर्ण है, जल शीत धर्म से पूर्ण है और अग्नि उष्णरूप है॥ २०॥

वायू कोमल वस्तु झिकोर, सब विपरीत महारी।
शक्ति विरोध विजाति रहत सब, कारज मिटत बनारी॥ २१॥
जल जल से कोइ कार्य न बनते, पृथ्वी अग्नि न वायु जहारी।
नारि नारि से नारि न उगती, पुरुष पुरुष नहिं होत रहारी॥ २२॥
पृथ्वी जल औ अग्नि वायु जो, सबके लक्षण न्यारी।
भयो न उतपति कोइ काहू से, सबके भिन्न अकारी॥ २३॥
चेतन स्वत भिन्न तम देखै, कहत कौन धनहारी।
भिन्न भिन्न निर्णय करि सबको, जेहि बिन जड को कौन कहारी॥ २४॥

टीका—वायु तत्व कोमल है, वस्तुओं को उडाता, हिलाता, झिकोरता है। सब तत्व एक दूसरे से विरोधी हैं। विरोधी जड तत्व अनादि से रहे हैं। इसी से कार्यों के बनने-बिगडने का प्रवाह चल रहा है। यदि एक ही तत्व या एक ही गुण-धर्म हो तो कार्य पदार्थ न कभी बने और न बिगडे॥ २१॥ देखो! यदि पृथ्वी, अग्नि, वायु न हो, केवल जल ही जल हो, तो कोई कार्य नहीं बन सकता। ऐसे ही अग्नि-अग्नि या पृथ्वी-पृथ्वी या वायु-वायु, एक ही तत्व हो तो भी किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जैसे स्त्री ही स्त्री से स्त्री की उत्पत्ति नहीं हो सकती या पुरुष-पुरुष ही से पुरुष की उत्पत्ति नहीं हो सकती। स्त्री-पुरुषयुक्त ही दोनों की उत्पत्ति होती है॥ २२॥ पृथ्वी, जल अग्नि तथा वायु के गुण-धर्म पृथक-पृथक है। परस्पर विरोधी धर्मयुक्त तत्व किसी से उत्पन्न नहीं हुए। ये भिन्न-भिन्न आकारयुक्त गुण-धर्म, शक्ति सहित उत्पत्ति रहित अनादि अनुभव होते है॥ २३॥ ऐसे ही चेतन भी चेतनता लक्षणयुक्त हैं, अत स्वत चेतन जड गुण-धर्म, कारण-कार्य से भिन्न है, उत्पत्ति रहित अखण्ड-अनादि हैं, ऐसा निर्णययुक्त करने से तुम्हारा कौन धन जाता है? कौन सी हानि होती है? जो सदा सत्य शुद्ध चेतन स्वय प्रकाश है तथा जो अलग-अलग सबका निर्णय करता है, वह न्यायक चेतन स्वय सिद्ध अपरोक्ष प्रसिद्ध है। उस चेतन को छोडकर भला जड पंच विषय देह-गेह, पिण्ड-ब्रह्माण्ड का कौन विवेचन कर सकता है? तात्पर्य यह है कि सर्व का स्थापक और न्यायक ही सबसे श्रेष्ठ है। उसी स्वय चेतन स्वरूप के जानने-मानने से सदा विश्राम मिलेगा॥ २४॥

साखी—२३

पंच विषय जड से पृथक, जाहि विषय को ज्ञान।
इन्द्रिन से नहिं लखि मिलत, स्वय आपको जान॥ १॥
ह सानन्दी के विवश, जस जानत निज काहि।
तेहि विधि औरहिं को लखत, जानि सजाती ताहि॥ २॥

---

१ अग्नि और वायु में पृथ्वी तथा जल की अपेक्षा कम वजन है।

यहि बिधि चेतन जीव सब इन्द्रिन से नहिं देखि।
इन्द्रिन से जानत जडहिं, पंच बिषय को पेखि॥ ३॥
जड औ निज को भिन्न लखि, जहाँ यथारथ बोध।
बिपय आबरण छोडि कै, नब होवै निज शोध॥ ४॥

टीका—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध, इन जड पच विपयो का जिसको ज्ञान होता है, जो जड विपयो को जानता है, वह इन जड विषयो से पृथक हे। वह इन्द्रियों द्वारा नही जाना जाता, बल्कि स्वय सबको जान-जानकर अपने को भी आप ही जानता हे॥ १॥ यह जीव मानन्दी के वश मे ह। जैसे अपने को सबसे भिन्न करके स्वय जान मात्र जानता हे वैसे ओर जीवो को भी विवेक करके देखता है। स्वय विवेक से जाना जाता हे कि मैं जैसे इन्द्रियों तथा विषयो का ज्ञाता हूँ, इन्द्रियो के विषय मे नही आता और वासना के वश इन्द्रिय-मन का प्रेरक रहता हूँ, वैसे ही अन्य जीव भी हे, वे अपनी-अपनी देह और विषयों के ज्ञाता सबसे भिन्न ज्ञान स्वरूप हे॥ २॥ इस प्रकार स्वय और अन्य देहधारी चेतन जीवों के स्वरूप इन्द्रियो से नही जाने जाते। इन्द्रिय साधन से तो जड पच विषयो की जीव ही परीक्षा करते हैं और आप उनसे भिन्न रहते है॥ ३॥ इन्द्रिय और इन्द्रियों द्वारा पच विषय कारण-कार्य ओर स्थूल-सूक्ष्म जो कुछ देखने मे आया सो सव जड है और आप उन सबो का ज्ञाता उन सबो से भिन्न ज्ञान स्वरूप है। इस प्रकार विवेक करने से जो जड से पृथक अपने आप को चेतन स्वरूप देखता है उसे ही यथार्थ बोध हुआ जानिए। जब पच विषयो की आसक्ति का पर्दा दूर किया जाय तभी अपने स्वरूप का शोध लग सकता हे, नहीं तो जड विषय ही हाथ आवेगे। जिसका परिणाम अज्ञान-वश दुख का भागी बन जाना है। जिसे इन दुखो से छूटने की इच्छा हो वे विषयो मे सुख मानना त्यागकर और अपने स्वरूप को शोधकर अमृत स्वरूप मे ठहर रहे॥ ४॥

सोरठा

यथा बारि मे भेद, गन्दा स्वच्छ ओ हिमि बनै।
लखे अनल थल खेद, को पीवै को महिफल लहै॥ ५॥

टीका—जैसे जल मे भिन्नता है, कही तो शुद्ध जल, कही दुर्गन्ध युक्त हे, कही बर्फरूप। इस विभेद को देखकर कोई यह कहे कि जल मे जैसे भेद होते हुए जल-जल एक हे, वैसे जल से अग्नि ओर अग्नि से पृथ्वी अलग दीखती हुई भी जल, पृथ्वी, अग्नि सव एक ही हे। तो भला ऐसा मानकर अग्नि को कौन पीवेगा? और जल को पृथ्वी मानकर जल पर चलना, घर उठाना आदि क्रिया कौन कर सकेगा? कोई नहीं। यदि उलटा-पलटा मान ले तो उसे दुख ही की प्राप्ति होगी। अग्नि को जल के समान ग्रहण करने से भस्म हो जायेगा और जल को पृथ्वी मानकर जल-प्रवाह मे चलने से डूब जायेगा। जो जल मे विभेद होते दिखाई देते हे सो उनमें पृथ्वी, अग्नि, वायु मिलने से दिखते है। नही तो जल विभेद-युक्त दूसरे प्रकार का हो ही नही सकता। इसलिए जल के भेदोवत कारणरूप पृथ्वी और अग्नि तत्व को तथा वायु को एक मान लेना महा भूल है, ऐसा होना तीन काल मे असम्भव है॥ ५॥

कारण पृथक जो कार्य, मानि धरै कोई तस रहा।
लखिये बुद्धि अनार्य, कारण जड गुण जाय कहँ॥ ६॥

टीका—कारण के गुण-धर्मां से जो कार्यों को भिन्न मान लेवे तो ऊपर कहे प्रमाण की विपरीतता हे तथा उसकी वुद्धि यथार्थ नहीं ह, क्योकि कारण के गुण-विषय आर जडत्वपन उनका स्वरूप होने से उन्हे छोडकर वे कहाँ रह सकते हे अर्थात जड विषय अपने कारण मे रहते हें फिर उन्हीं कारणो से वने हुए कार्यों मे विषय जडत्वपना क्यो न रहेगा? क्योकि वे उन्ही जड विषयो के स्वरूप ही ह ॥ ६ ॥

लावे समता जीव, तजि अमृत फल जहेर लहि।
होवे मृतक लखीव, अमर खोय फल मृत्यु है॥ ७॥

टीका—पूर्वोक्त गन्दा, स्वच्छ और हिम-जल के समान अग्नि, वायु, पृथ्वी को मान लेने से जेसे वे तीनो तत्व जल नही हुए, वे ज्यो के त्यो अपने-अपने गुण-धर्मों से युक्त भिन्न ही भिन्न रहे, तद्वत जीव को मान लेने से वे कभी कार्य नहीं होते, पर जो कोई कार्य के समान जीव को हठ पक्ष वश माने तो उसकी दशा ऐसे ही है कि जसे कोई अमृत ओषधि को छोडकर विष ग्रहण करके मृत्यु को प्राप्त हो रहे। अमृत चेतन स्वरूप के वोध का फल जड से भिन्न अजर अमर निराधार पद की प्राप्ति हे उसे भूलकर अपने को केवल जडवत कारण-कार्य मानकर विषयविष मे धँसने वाले एक वार नही प्रत्युत अनन्त वार जन्म-मृत्यु के कष्टो का अनुभव करते रहते हें॥ ७॥

साखी—क्षिति मे उपजत कार्य सव, क्षिति न होय सव वोय।
अनल वारि तहँ पवन है, इन विन कार्य न कोय॥ ८॥
शक्ति गुणन से भिन्न सव, रहत एक मे सानि।
एक न कवहूँ ह्वै सकत, भिन्नहिं भिन्न रहानि॥ ९॥
ज्ञान स्वरूप सो जीव तस, आप आप को भूलि।
जड मे किहे निवास सो, रहा सो भवनिधि झूलि॥ १०॥

टीका—पृथ्वी मे तमाम वीज-वृक्षादि कार्य होने रहते हं, परन्तु वे सव केवल पृथ्वी मे ही नही हो जाते। उन कार्यो मे अग्नि, पानी, पवन तीनो मिले हुए हैं, क्योकि चारो तत्वो के परस्पर सयोग विना कोई कार्य वन ही नहीं मकता, यह प्रत्यक्ष अनुभव हे॥ ८॥ चारो तत्व भिन्न-भिन्न शक्ति आर गुणयुक्त भिन्न-भिन्न हं, परन्तु सूक्ष्म रूप से कारणो में मिले हं और कार्यों मे भी मिले हैं, तो क्या वे एक मे मिलने से चारो एक हो गये? अग्नि, जल आदि अलग-अलग ही रहते हैं॥ ९॥ इसी प्रकार जड से विरोधी धर्म वाला मर्व ज्ञाता ज्ञान स्वरूप चेतन अपने आप ह। आप अपने को भूलकर वासना-वश जड तत्वों के शरीर मे वसेरा किया है, इससे क्या वह जड देह हो सकता ह? जेसे चारो तत्व परस्पर मिले हुए भी एक नहीं होते, विवेक द्वारा गुण-धर्मो से अलग ही अलग दर्शते हें, फिर भी जड मे जडता भाव से सव तत्वों की परस्पर समानता हे, इसलिए उनमे सयोग सम्वन्ध से विविध कार्य वनते-विगडते रहते हैं, आर जीव तो चेतन स्वरूप है, इसलिए वह जड तत्वो मे किसी अश से भी नहीं मिलता, अपितु देह मे रहते हुए ज्ञान स्वरूप सदैव जड देह से पृथक ही रहता हे। वह अपने चेतन स्वरूप को न जानने के कारण ही मानन्दी वश ससार मे वारम्वार डूवता रहता है॥ १०॥

शैर-छन्द—२४

जड़ में शंक्ति बिबिध बिधि देखौ शब्दौ कई प्रकारा ता।
भिन्न भिन्न ह्वै सपरश दरशै रसहूँ भेद पसारा ता॥ टेक॥
गन्धहुँ कई किसिम के होते नही मुख्य से पारा ता।
पंच बिषय से पार न जाते खाते कार्य पछारा ता॥
पंच बिषय हैं कारण जड़ मे कारज सबहिं पसारा ता।
घट बढ़ ह्वै ह्वै अंश मिलैं तिन कारज बिबिध बनारा ता॥ १॥

टीका—जड तत्वो मे असख्य कार्य दिखाई दे रहे हैं, उनमे ठोकर जनित बहुत-बहुत प्रकार के शब्द और अनेक प्रकार के कठिन-कोमलादि स्पर्श तथा अनेक प्रकार के रस होते हैं॥ टेक॥ तत्वों से गन्ध भी किसिम-किसिम की होती हैं, परन्तु पॉच विषयो से कार्य पृथक नही है। चाहे जितने किसिम के कार्य बने, पर वे पच विषय से अलग नही हो सकते। पॉच विषय के अन्दर ही सब कार्य लौट आते हैं अर्थात पॉच विषय के पॉच विषय ही रह जाते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन कारणो के गुण पॉच विषय हैं, इन गुणी तत्वो से बने हुए कार्य भी पच विषयरूप रहते हैं। तत्वो के परमाणुओ के घट-बढ मिलने से अमित किसिम के कार्य बनते रहते हैं॥ १॥

सबल बिषय सब सब में मिलि मिलि कारज बृद्धि लखारा ता।
खास सरूप न छोडत कबहूँ पच बिषय दिखलारा ता॥
कारण जड है दीर्घ समिष्टी कारज गनत न पारा ता।
कारण कारज रूप एक ही होय न कबहूँ न्यारा ता॥ २॥

टीका—परस्पर चारो तत्वो के साधक परमाणु अनेक विधि से सयोगवान हो-होकर अनन्त प्रकार के कार्य कारणो से भी बलिष्ट होते हुए दिखाई देते हैं। जो खास[१] उसका स्वरूप

१　　अन्य विषय से अन्य नही होते इसका प्रमाण

जैसे यह पृथ्वी षट भेदो से युक्त है, वैसे अन्य पृथ्वी नही है, यदि इन भेदो युक्त इससे अतिरिक्त कही पृथ्वी होवै तो इसके लक्षणयुक्त होने से यही है। ऐसे ही जल, अग्नि और वायु के बारे में भी समझिए। इन चारो के गुण, धर्म, शक्ति षट लक्षणयुक्त इनसे अतिरिक्त कोई तत्व भिन्न हो तब तो शून्य को छोड कर चारो तत्वोवत इनके अलावा और तत्व हो जाना चाहिए। ऐसे तो तीन काल मे असम्भव है। क्योकि पूर्वोक्त पृथ्वी के समान अन्य पृथ्वी हो सकती नहीं, ऐसे ही चारो भूतो मे जानिए। एक के समान दूसरा नहीं, यदि कोई मानता हो तो बिना प्रत्यक्ष हुए कल्पना ही है। इसी प्रकार सर्व तत्वो के गुण व विषय एक के समान दूसरा नहीं है। क्योकि एक विषय मे जितने कार्यों के विभाग होते है सो उसी के अन्दर ही रहते है, उससे पृथक कभी होते नहीं, इसलिए एक विषय से दूसरा विषय नहीं होता। जैसे कारण समूहरूप वायु तत्व नेत्रो को दृश्य नहीं, होता वैसे उससे बने कार्य समान विशेष वायु कहीं भी नेत्रगोचर नहीं होता, सो प्रत्यक्ष ही है। हॉ। ऑधी बौडर आदि मे पृथ्वी-जल के कण, धूल, धुऑ आदि भले दृष्टि से देख पडे, परन्तु वायु कारण-कार्य दोनो प्रकार से कभी नेत्रगोचर नहीं होता। इससे यह अनुभव हुआ कि जो नेत्र का विषय नही है वह कभी नेत्रगोचर नहीं हो सकता। बस, इसी प्रकार रस गुण से गन्ध नहीं होता, गन्ध गुण से रस व स्पर्श नहीं होता। इस प्रकार विवेक से स्पष्ट विदित हो गया कि एक विषय से दूसरा विषय नहीं होता। एक से दूसरा विषय होता तो जैसे कार्यों की

पंच विषय है उसे छोडकर कार्य नहीं बन सकते, क्योकि प्रत्यक्ष उनमे पॉच विषय ही कार्यो के रूप हैं। कारणरूप से वे चारो जड़ तत्व विस्तार युक्त और समूहरूप अपनी-अपनी हद मे हैं और उनसे बनते हुए कार्य अमित हैं, जिनको गिनकर पार नहीं मिलता। पर वे विस्ताररूप कारण की सीमा में ही रहते हैं। इससे कारण और कार्य जड़ तत्व एक रूप ही हैं, वे कभी भिन्न नहीं होते॥ २॥

सब भूतन को रूप लखौ यह पच विषय जड धारा ता।
यही हाल बिन जाने इनको होत न भरम संहारा ता॥
नहीं भेद कुछ रंचक इनमे जड का रूप सवारा ता।
पच विषय से ओर न निकसे लेव जो इनको झारा ता॥ ३॥

टीका—पच विषयरूप कार्य वनने की धारा ही तत्वो का रूप हे। जैसे नदी मे जल की धारा चलती हे, उसी तरह पच विषययुक्त अनन्त कार्य पदार्थो के बनने-विगडने की जड तत्वो मे धारा हे। यह भेद जाने विना जडमूल से सशयो का नाश नहीं होता। कारण-कार्यो मे कुछ भेद नहीं है, सब जड के रूप हं। इन तत्वो का जो भली प्रकार निर्णय करके देखो तो इनमे शव्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के अलावा और कुछ नहीं हे॥ ३॥

पंच विषय जड कारज सवही चेतन इनसे पारा ता।
कारण कारज रहित अखण्डित जीव स्वतः निरधारा ता॥
द्रष्टा चेतन दृश्य में नाहीं मन इन्द्रिन से न्यारा ता।
पृथक पृथक है जड और चेतन ज्ञान दृष्टि निरुवारा ता॥ ४॥

टीका—वही पच विपय ओर जडपना उनके कार्यों मे भी है। इन सवका जानने वाला चेतन जीव इन सवो से न्यारा ह। वह कारण कार्य रहित अखण्ड है, चेतन है, अपने आप हे, निराधार है। वल्कि अपनी ही सत्ता देकर वायुयानवत शरीर को चलाता, उठाता, वेठाता रहता हे। प्रकट हे कि जीव निकल गये वाद जड शरीर गिर पडता है, इससे जीव स्वय निराधार हे, अपनी ही भूल से मानदी का आधार बनाया है। यह जीव द्रष्टा चेतन हे, वह दृश्य के समान देखने मे नहीं आता, क्योकि मन इन्द्रियो से पार हे। जो वस्तुएँ सम्मुख देखी जाती हैं, वे मन-इन्द्रियों द्वारा ही द्रष्टा जीव के सामने होती हे और मन-इन्द्रियो को भी जीव देखता हे, इसलिए जीव द्रष्टा स्वरूप हे, वह दृश्य भास मे कभी नहीं आता, क्योकि जीव ही सवका भासिक है। इस प्रकार जड ओर चेतन न्यारे-न्यारे हें, यह ज्ञान यथार्थ पारखदृष्टि करके ही होता हे॥ ४॥

हद नहीं ह वमे विपयो की भी मिति नहीं होनी चाहिए, परन्तु ये पाँच के कभी छ नहीं होते। पाँच इन्द्रियो मे आये ये विपय पाँच के पाँच ही रहते ह। इस वास्ते मुख्य पॉच विपय सव कार्यो के कारणरूप ह, वे ही घट-वढ एक दूसरे मे मिल-मिल कर वनते हुए अनन्त कार्य कारणो के गुणो से वलवान और अनन्तरूप से वन-वन कर विगडते रहते ह। मुख्य कारण रूप वे पाँच के पाँच ही हें। जैसे गुणी रूप पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु भिन्न धर्मी स्वरूप से अनादि हें, वेमे उनके पाँच विपय व गुण भी अनादि हें। इसलिए एक विपय से दूसरे विपय नहीं होते औग वे खास अपने-अपने गुण-धर्म को कभी नहीं छोडते।

ज्ञान दृष्टि से स्वरूप की पहिचान और पूर्ण विजय

दृष्टांत—एक राजा दूसरे राजा को जीतकर फौज सहित बडे सज-धज के साथ आ रहा था। सिपाहीजन 'हटो-हटो' करके आगे रास्ता साफ कर रहे थे। उसी रास्ते मे एक वैराग्यवान सत धीमी चाल से चल रहे थे। सिपाहियो ने कहा—हट जाओ, सवारी आ रही है। सत बोले—किसकी सवारी? सिपाही बोले—विजयी राजा-साहब की। संत बोले—आप इतना झूठ क्यो बोलते है? सिपाही—सच है। सत—क्या सच है? विजयी और फिर राजा कैसे? जहाँ रजोगुण काम-क्रोध का सम्बन्ध है वहाँ विजय कैसी? राजा होकर विजयी नहीं हो सकता। ये बाते राजा से सिपाही ने जाकर कह दी और यह भी बता दिया कि वे साधु मार्ग से हटते नहीं है। इतना सुनते ही राजा मान-भग से क्रोधमूर्ति रक्तवर्ण हो गया। वह तुरत तलवार लेकर सवारी छोड कर आगे बढा। साधु को देखकर बोला—रे भिक्षुक! तू मेरी विजय के बदले हार बतलाकर मान भग कर रहा है और रास्ते से भी नही हट रहा है! हे अभिमानी! इसका हेतु बतला, नही तो अभी तेरा सिर काट लूँगा। सत धैर्य धर कर बोले—हे राजन्! तू अपनी और ससार की दृष्टि मे विजयी अवश्य है पर घर के शत्रु तेरे ऊपर हैं, उन्हे मै अपने दिव्यचक्षु से देखता हूँ। तेरी हानि न हो, तू सजग हो जा, इसलिए मैंने थोडी बात कह दी है। यदि तू मेरा सिर काटकर अपनी भलाई चाहता है तो तेरे आगे है, पर याद रख! तू विनाश की ओर ही जा रहा है। राजा साधु के ऐसे निर्भय वाक्य से संकुचित हो गया। राजा बोले—अच्छा महाराज! आप सत श्रेष्ठ है, कृपया बताइए मेरे घर के शत्रु कौन है? सत ने कहा—तुझे देर हो रही है, अपनी सवारी पर चढकर भवन को जा। राजा—कृपया आप मेरे शत्रु को बता दीजिये, देर नही है। चलते-चलते संत बोले—वे शत्रु तेरे मित्र बन गये है, तूने भी उन्हे मित्र मान लिया है। जब तक उनसे तुझे हानि देखने में न आवे तब तक तू उन्हे शत्रु कैसे समझेगा? यदि तू मेरी बाते ध्यान से सुने तो तेरे भीतर के विवेक-विचार रूप नेत्र खुले जिनसे तू घर के दुश्मनो को देख सकता है। पहिले तो तुझे अपना घर ही नही मालूम। राजा—वह घर कौन है?

सत—दोहा—*जड तत्वन दस इन्द्रियुत, प्रकृति पचीस समूह।*
प्राणादिक अन्त.करण, घरै ठाठ ये जूह॥

प्रश्नोत्तर { *इसमे रहता कौन है? तू अपने को जान।*
मेरो कौन स्वरूप है? जो है शेष निदान॥

प्रश्नोत्तर { *शेष कौन विधि जानिये? थिर ह्वै करो विचार।*
मन गोचर जहँ लो लखो, डारहु भिन्न असार॥

प्रश्नोत्तर { *डारि दियो सब दृश्य तो, जो डारै सो कौन?*
मैं डार्‌यों फिर शेष क्या? तुही सत्य चिद जौन॥

प्रश्नोत्तर { *अहो सत्य चिद रूप मम, केहि विधि यह सब भास?*
सो अनादि सम्बन्ध से, भूलि स्वत खुद खास॥

प्रश्नोत्तर { *भूल को कारण कौन है? जड सम्बन्ध दिखात।*
जड सम्बन्ध है भूल से, भूलै अरि तव तात॥

राग द्वेष कामादि मन, शत्रु मित्र भव रोग।
भोगेच्छा चचल भरमि, शत्रु देत दुख शोग॥
इन्द्रिन सुख के हेतु से, रज तम गहत विशेख।
काम क्रोध मद लोभ वश, शत्रु शत्रु सव देख॥
जव लौं इच्छा शेष है, तव लों हारहि हार।
भूप प्रजा झूला उलटि, नाचहु धरि अवतार॥
तृष्णा अग्नि समान ह, सव जग तृण दे भोग।
लपकत वढत हहात जग, निशदिन दुख-दुख शोग॥
रण मे लडे से शूर नहि, शूर दले मन वेग।
जो मन सवको दिक करे, ताहि हने वुध तेग॥
साधु वेन वहु भाँति इमि, सुनत भूप गौ जागि।
क्षमा करावत भूल निज, पुनि पुनि पग में लागि॥

प्रार्थना

क्षमहु साधु हे भूल हमारी॥ टेक॥

पिये मोहमदिरा नहि सूझत, गिरत मलिन सुधि टारी।
स्ववश स्वभाव नहीं कुछ अपने, ह अभिमान करारी॥ १॥
लहि अभिमान वृथा जड तन को, धन सुत भोगत नारी।
भग होत मनसा में जवहीं, अतिशय क्रोध प्रचारी॥ २॥
कोटिन जीव वद्ध करि चाहत, सुख भोगन हों अनारी।
तेहि पर जीत कहत में अपनी, मन रिपु के वश ख्वारी॥ ३॥
चहत वुझावन काम अग्नि को, भोगाहुति घृत डारी।
यह सव पाप कियो में अव तक, खोय दियो वय सारी॥ ४॥
अव मोहि ज्ञान दान दै राखहु, चरण शरण पद वारी।
सोई यतन मोहि कीजे स्वामी, इच्छा मन को मारी॥ ५॥
नित्य एकरस शत्रु रहित पद, पाय प्रेम वलिहारी।
काल कर्म तयताप विमोचन, अभय करहु टकसारी॥ ६॥

प्रसंग १४–अनादि ज़ड़ तत्त्वों के कारण–कार्य होने में हेतु और नित्य स्वतन्त्र जीवों के कारण–कार्य से रहित होने का भेद वर्णन और मानन्दी अध्यास वश देह सम्बन्ध

साखी—२५

शीत उष्ण कोमल कठिन, शब्द रूप रस गध।
मेल परसपर है तिन्हें, परश शक्ति क्रिय अध॥ १॥

कारण जड को रूप ये, कारज यही निवास।
कारज एक को हाल जस, तस सब कारज तास॥ २॥
सब कारज मे लखि रहौ, पंच बिषय चव धर्म।
मेल शक्ति क्रिय है तहाँ, यह सब जड को मर्म॥ ३॥

टीका—शीत, उष्ण, कोमल, कठिन, ये चार स्पर्श और शब्द, रूप, रस, गध, स्पर्श, ये पॉच विषय तथा परस्पर चारो तत्वो के परमाणुओ का सयोग, धारणादि शक्ति और क्रिया ये सब ज्ञान रहित जड है, यही जड तत्वो का स्वरूप है॥ १॥ ऊपर कहे गये यही कारण चारों तत्वो का स्वरूप है, यही कार्यो मे भी है। जैसे एक कार्य चार तत्वयुक्त है वैसे सर्व कार्य कम-विशेष चार तत्वयुक्त इन्ही गुण-लक्षणो के अन्दर है॥ २॥ पॉच विषय और कोमल-कठोरतादि चार धर्म तथा परस्पर सयोग सम्बन्ध रसायन आदि शक्ति और इधर-उधर हटने की क्रिया ये सब कार्यो मे है, सोई कारण जड तत्वो के भी लक्षण हैं। अत· कारण-कार्य जड के ही लक्षण जानना चाहिए॥ ३॥

जो जो लक्षण एक मे, सो सो सब में होय।
सब तत्त्वन को मेल है, कारज भिन्न न कोय॥ ४॥

टीका—जैसा एक कार्य का हाल हे वैसे सब कार्यो को जानिए, क्योकि सब कार्यो मे कम-विशेष चारो तत्वो की सामग्री लगी है। चारो तत्व कारण मे भी सयोगवान है, वैसे कार्यो मे भी कम-विशेष सयोगवान है। इसलिए कोई भी कार्य जड तत्वो से न्यारा नही है॥ ४॥

हानि लाभ सुख दुख नही, बैर प्रीति को ज्ञान।
ग्रहण त्याग तिनमे नहीं, नहिं मानन्दी जान॥ ५॥
सब तत्त्वन की शक्ति है, सब कारज में देखि।
जीवन लक्षण एक नहिं, कोइ कारज मे लेखि॥ ६॥
मेल क्रिया जड रूप मे, याते कारज सोत।
क्रिया मेल जीवन नही, याते कार्य न होत॥ ७॥
जिनमे कारण कारज रहै, तिनको सबमे चिन्ह।
जिनमे कारण कारज नही, वै सबहिन ते भिन्न॥ ८॥

टीका—कारण-कार्य जड तत्वो में कही भी हानि-लाभ, सुख-दुख का ज्ञान तथा वैर और प्रेम का ज्ञान, फिर मानन्दीयुक्त ग्रहण करना ओर छोडना इत्यादि कोई भी प्रकार का ज्ञान नहीं है॥ ५॥ चारो तत्वो के गुण, शक्ति, धर्म चारो तत्व मिश्रित सब कार्यो मे घट-बढ प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। परन्तु पूर्वोक्त चेतनपना का एक भी लक्षण किसी कारण-कार्य मे नहीं देखा जाता और न जीव मे जड कारणो के लक्षण देखे जाते। अत जीव तत्वो के कारण-कार्य नही है॥ ६॥ कारण तत्वों मे स्वाभाविक क्रिया सहित सब तत्वों का सयोग सम्बन्ध है। इसलिए भिन्न-भिन्न धर्मयुक्त अनन्त परमाणुओ का विशेष रूप से सम्बन्ध और क्रिया होने की भूमिका जानिये और इसके उलटे जीवो मे स्मरण के बिना कोई क्रिया ही नही होती। जीव सब स्मरणो का द्रष्टा है उसने इन्द्रिय सम्बन्ध और भूल से सर्व स्मरण पुष्ट कर लिया है। अत

परीक्षा करके मर्व स्मरणो को छोड़ देने से अक्रिय रह जाता हे, क्योंकि जीव के म्वरूप मे क्रिया नहीं हे आर न तो जड तत्वोवत स्वाभाविक सयोग सम्वन्ध ही ह। प्रत्यक्ष हे कि मानन्दी द्वारा ही मब मे जीव सम्वन्ध करता हे, स्वाभाविक नही। इस प्रकार क्रिया ओर स्वाभाविक सयोग सवध न होने से जीव न तो कारण ह आर न किसी का कार्य ही हे॥ ७॥ सव कारण के चिह्न सव कार्यो में आर सव कार्या के चिह्न सव कारणो मे हैं ओर एक कार्य के चिह्न सव कार्यों मे तथा मव कार्यों के चिह्न एक कार्य मे ऐसा विवेक से जाना जाता हैं। चार तत्वयुक्त मव कारण ओर कार्य अनुभव होते ह। इससे खुलासा हो जाता हे कि यदि जीव जड तत्व होता तो अवश्य जड तत्वो के कारण आर कार्यों मे पचीकरणरूप से दिखाई देता। कारण-कार्य सर्व जड तत्व भी ज्ञान धर्म वाले होते, सो जीव के लक्षण जड मे न मिलने से कभी जीव जड के समान कारण-कार्य नहीं है॥ ८॥

वैर प्रीति इच्छा धरे, त्याग ग्रहण ओर ज्ञान।
हानि लाभ परयत्न दुख, सुख मानन्दी जान॥ ९॥
ये सब लक्षण जीव के, जड़ मे पृथक देखात।
बिन जाने यहि भेद को, जड लहि धोखा खात॥ १०॥
याते लक्षण जीव के, कारण कार्य से पार।
अखण्ड स्वरूप सो ताहि को, वशि मानन्दी धार॥ ११॥
पच विपय जड तत्त्व ह, यहि तनु मध्य निवास।
शीत उष्ण कोमल कठिन, शक्ति मेल क्रिय तास॥ १२॥

टीका—देहधारी चेतन जीव किसी से वेर करता, किमी से प्रेम मानता तथा नाना प्रकार की पूर्व ओर अव तथा आगे की इच्छाएँ धारण करता ह। वह वस्तुओ को छोडता आर पकडता ह तथा ज्ञान से ही सव क्रिया करता हे। हानि-लाभ का ज्ञान, सुख-दुख का ज्ञान, देह-निर्वाह आदि वन्ध-मोक्ष का पुरुपार्थ ओर विविध मानन्दी को धारण करना आदि, इस प्रकार वेर-प्रेम, इच्छा-धारण, त्याग-ग्रहण, ज्ञान, हानि-लाभ, प्रयत्न, दुख-सुख, मानन्दी, ये मव देहधारी जीवो के लक्षण हें॥ ९॥ जीवो के ये सव लक्षण जड से भिन्न ही सबको दिखाई दे रहे हें, फिर भी इन चेतन जीवो के यथार्थ लक्षण जाने विना जड ही को चेतन जीव मान धोखाधार मे वह कर मनुष्य दुखी होते रहते हें॥ १०॥ पूर्वोक्त प्रमाणो से देहधारी जीवों मे ज्ञानयुक्त सव लक्षण देखे जाते हें, अत वे चेतन जीव जड पच विपय कारण-कार्य से भिन्न लक्षण वाले प्रत्यक्ष ही हें, क्योंकि जीवों का स्वरूप अखण्ड नित्य ह आर यह मानन्दी के वश रहा हुआ मानन्दी को धारण करने वाला हे॥ ११॥ पच विपय ही जड तत्वो का स्वरूप हे। उन्हीं तत्वो का ही यह शरीर वना हुआ हे। इस शरीर मे भी शीत, उष्ण, कोमल, कठिन, शक्ति और चार तत्वो का परस्पर सयोग तथा खून आदि की गतिरूप क्रिया जडरूप ही जानना चाहिए॥ १२॥

शक्ति मेल क्रिय जड रहे, चेतन भिन्न जनात।
जान मात्र खुद जीव है, वशि मानन्दी गात॥ १३॥
ज्ञान स्वरूप सो जीव हे, प्रेरक तन को जान।
क्रिया करावत ताहि से, वशि मानन्दी ठान॥ १४॥

टीका—चारो तत्वो के परमाणुओ से बने हुए रज, वीर्य, हड्डी, मास, रक्त आदि तथा उनकी क्रियादि और अन्न-जल के सेवन से बने वल आदि सम्पूर्ण स्थूल के भाग जड है। अत· स्थूल-सूक्ष्म देह दृश्य जड हे ओर जनेया चेतन जीव इन सबो से न्यारा है। वह जान मात्र अपने आप है। मानन्दी अध्याम के वश ही इस जड़ देह को जीव धारण करता रहता है॥ १३॥ जीव ज्ञान का ही स्वरूप है। वह ज्ञान हो करके मानन्दी-द्वारा जड स्थूल को वल देकर चलाता है। इच्छा को आप ही पुष्ट कर-कर आप ही इच्छाशक्ति के वश हो शरीर से क्रिया कराता रहता है। शरीर को इच्छा पूर्वक चलाता-डोलाता इत्यादि क्रिया कराता है। यही हेतु है कि जहॉ-जहॉ जीवो का निवास है वहॉ-वहॉ वह जड स्थूल की क्रिया अपने अनुसार करके बाहरी जड क्रियाओ से दूसरे प्रकार की क्रिया कराता रहता हे। जीव अपने ज्ञान-मानन्दी द्वारा देह को स्वतत्रता से इधर-उधर घुमाता, उठाता तथा वैठाता है। ऐसा केवल जड सृष्टि मे नहीं है, क्योकि हानि-लाभ की मानन्दी-वश जीव शरीर मे प्रेरणा करता है॥ १४॥

नेत्र द्वार से रूप को, ज्ञान करत दिन रैन।
सपरश चमडी से लखत, मानि धरत दुख चैन॥ १५॥

टीका—जीव रात-दिन नेत्रो से किसिम-किसिम के रूप-रगो को जानता रहता है और चमडी से हर प्रकार के स्पर्श का ज्ञान करता है। उसका अह-मम मान कर दुखी-सुखी होता रहता है॥ १५॥

रसना से रस को लखत, भिन्न भिन्न पहिचान।
नासा द्वारे गन्ध लखि, करत ताहि विलगान॥ १६॥

टीका—जिह्वा से सब प्रकार के स्वादो को अलग-अलग पहिचानता हे और घ्राण द्वारा हर प्रकार के गध का ज्ञान कर अपने से अलग गध को पहिचानता रहता है॥ १६॥

श्रवण द्वार से शब्द को, सुनि सुनि लेवै जान।
पॉचो इन्द्रिन लखि धरत, मुख से करत बखान॥ १७॥

टीका—कानो द्वारा सब प्रकार के शब्दो को सुन-सुनकर परीक्षा कर लेता है। इस प्रकार पॉच ज्ञानेन्द्रियो से पॉचो विषयो का ज्ञान करके हृदय मे उसकी वासनाए टिकाकर फिर उन वासनाओ का मुख के द्वारा कथन भी करता रहता है। इस प्रकार नख-शिख जड स्थूल और मन-वासनाओ से जीव पृथक है॥ १७॥

सवैया—२६

धरती बयारि औ पावक नीर है देखि परै सब कारज माहीं।
कारण कारज होय जहॉ तहँ एकहु छोड़ि के कारज नाही॥
जीव के लक्षण देखि परै नहिं याते है जीव को कारण नाही।
कारण कारज पार अखण्डित जीव स्वरूप स्वतन्त्र रहाही॥ १॥

टीका—सब कार्यों मे चारो तत्व दर्शित होते हें। जहॉ कारण से कार्य और कार्य से कारण होते रहते हैं, वहॉ एक तत्व से नहीं, किन्तु चारो तत्वो से होते है उनमे यदि एक भी

तत्व कमी हो तो कभी कार्य नही वन सकते। कार्यो मे प्रत्यक्ष स्थूल कठोर अश पृथ्वी का हे, उनका आपस मे वॅधे रहना या रस भाग जल का हे। उनमे उष्ण भाग अग्नि का हे, उनमे वायु का गमनागमन वना ही रहता है, सो वायु का अश है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य मे चारो तत्वो के अंश दिखाई दे रहे हैं, पर चेतन के लक्षण सुख-दुखादि का ज्ञान कही भी दर्शित नहीं होता। यदि जीव तत्वो का कार्य होता तो जेसे सव तत्व सव कार्यो मे दर्शित होते हें वैसे चेतन के लक्षण—सुख-दुखादि का ज्ञान भी सव कार्यो मे दर्शित होता। सो वात जड मे कहीं भी नहीं हे। इससे साक्षात अनुभव हो गया कि सव जीव कारण व कार्यो से रहित अखण्ड स्वतत अनादि नित्य हैं॥ १॥

छन्द—२७

गुण धर्म शक्ति अकार एक न भेद जिसमें अन्य हे।
सम्वन्ध ना जड़ तत्त्व जिव सम्वन्ध ना जीवन्य हे॥
सम्वन्ध गत नाहीं क्रिया यहि हेतु ना कारन्य हे।
कारज नहीं यहि से वहे जो चिन्ह सवही भन्य है॥ १॥
जान जानै सो स्वत वह मानि फन्दा ठन्य हैं।
कार्य सवही जहॅ वने सम्वन्ध ही क्रिय जन्य हे॥
कारण विना इनके नहीं गुण धर्म हूॅ भेदन्य है।
तजि ज्ञान धर्महि जड सोई शक्ती रही तहॅ अन्य है॥ २॥

टीका—चेतन्य जीव के गुण, धर्म, शक्ति, आकार मे भेद नहीं है, अर्थात ज्ञान गुण, ज्ञान धर्म, ज्ञान शक्ति, ज्ञान आकार, माल ज्ञान ही चेतन का स्वरूप हे तथा जड तत्व और जीव से अध्यास मानन्दी के अलावा खास कोई सम्वन्ध नही ह। पुन. अन्य जीवो से भी अन्य जीवो की मानन्दी छोड़कर सयोग सम्बन्ध नही हे। इस प्रकार सम्वन्ध रहित चेतन है। चेतन के स्वरूप मे स्वाभाविक क्रिया भी नहीं हे। इन हेतुओ से वह किसी का कारण नहीं हे। तथा स्वाभाविक सम्वन्ध ओर क्रिया न होने से वह किसी का कार्य भी नहीं हे, क्योकि कारण-कार्य होने मे क्रिया ओर सम्वन्ध ही मुख्य लक्षण ऊपर कहे गये हैं॥ १॥ चेतन जीव का स्वरूप जान माल ही हे। उसने देहोपाधि से दृश्यो मे सुख मान-मान कर सर्व खानि-वानी का फन्दा निर्माण किया ह। कार्य तो वहाॅ वनता हे, जहाॅ पर तत्वो के भेद सहित और सवो का स्वभाव से सम्वन्ध तथा स्वाभाविक क्रिया होवे। जो जिसका स्वरूप ही हो उसको स्वाभाविक या स्वभाव से ही कहा जाता हे। इस प्रकार कारणरूप चार तत्वो मे गुणधर्मों का भेद तथा सयोग सम्वन्ध ओर स्वाभाविक क्रिया, इन्हीं हेतुओ से तत्वो में कारण-कार्य होते हैं। वे जड़ तत्व ज्ञान धर्म से रहित ह, जड में ज्ञान छोडकर वाकी ओर सव जडत्व शक्तियाँ भरी हैं॥ २॥

सवेया—२८

शीत न उष्ण कठोर न कोमल गंध रसौ गुण नाहिं जहाँ है।
इन्द्रिय गोचर दृश्य नहीं वह रूप न पर्श न शव्द रहा है॥

कारण कारज में सबही यह है लखिये जडभूत रहा है।
इन पार है ज्ञान स्वरूप अनूप सो द्रष्टा सबै जड़ केर रहा है॥ १ ॥

टीका—जीव के स्वरूप में ठडपन नही, गर्म नहीं, कठोरता और कोमलता भी नही, गंध और रस भी नही, तथा भाँति-भाँति के रूप, रग और सब प्रकार के स्पर्श तथा सब प्रकार के शब्द भी नही हैं। इस प्रकार चेतन जीव इन्द्रियों के आगे दृश्य नही होता। दृश्य तो कारण कार्य जड तत्व होते रहते है। पूर्व कहे जिन जड तत्वो के कारण-कार्यों मे शब्दादि पच विषय और पूर्वोक्त कोमलादि धर्म भरे हैं, वे ही जड तत्व इन्द्रियों से दृश्य भी होत। है। जीव तो इन सबो से पृथक ज्ञान धर्मवाला किसी जड उपमा से रहित स्वय जड पदार्थो को पहिचानने वाला उनसे भिन्न है॥ १॥

ना मन जानत बुद्धि न जानत चित्त अहं नहिं जानि सकैते।
प्रेरक है सबको वह दै निज शक्ति चलाय सदाहि अलै ते॥
देखै सुनै व गुनै वह वैसहिं जो कुछ मानि के ज्ञान भलै ते।
भिन्न रहै न मिलै सबमे वह द्रष्टा स्वरूप स्वताहि बलै ते॥ २॥

टीका—उसे मन नही जान सकता, बुद्धि और चित्त तथा अहकार आदि वृत्तियॉ जड होने से जीव को नही जान सकती हैं। बल्कि जीव ही इन सबो को जान-मान ओर गढ कर तथा झूला वेगवत आप ही अलग रहकर सबको चलाता रहता है। यह अपने आप चेतन जीव कुछ ज्ञान द्वारा अच्छा-बुरा मान कर अध्यास बना रक्खा है, उसी के अनुसार ऑखो से देखता, कानो से सुनता, शब्द और रूप का मनन करता, इस प्रकार यह प्रेरक जीव ड्राइवर के समान सबसे भिन्न रहते हुए सब मे मिलता नहीं, अर्थात सबका स्वरूप नही होता, क्योकि सबको अलग से जान-जानकर तथा स्वय वृत्तियो मे बल देकर उन्हे चलाता रहता हे॥ २॥

देखै सुनै व गुनै मन मध्य मे, इन्द्रिन द्वार से जानि परा जो।
हानि औ लाभ को सोच करै नित जानि जहाँ जस शक्ति भरा जो॥
नहिं देखत घूमि के आप मै कोन हूँ याहि ते भार मॅजूर करा जो।
जाहि बिना नहिं होय कछू यह मानस सृष्टि सो शुन्य घरा जो॥ ३॥

टीका—यह आप चेतन जीव इन्द्रिय द्वारा विषयो को देख, सुन, भोग कर जहॉ तक जाना वही मन मे गुनावन करता हैं। अमुक कार्य मे हानि है, इससे पूर्व मे हानि हुई थी या आगे होगी तथा अमुक कार्य मे लाभ है, पूर्व मे भी लाभ हुआ था, भविष्य मे भी लाभ होगा, इस प्रकार हानि-लाभ सोच-विचार कर जहॉ जैसा समझता है वहॉ वसा वल देकर इन्द्रिय आर मन से क्रिया कराता हे। यह चेतन अपने स्वरूप का घूम कर विचार नही करता कि मैं कौन हूँ। मेरी सत्ता-सामर्थ से ही इन्द्रिय और मन शक्तिमान हो रहे है, तो मैं क्यों इनके वश मे होकर दीन हो रहा हूँ। क्यों विषयासक्ति वश दुखी हो रहा हूँ। मेरे स्वरूप मे तो तनिक भी दुख-दरिद्रता नही है, मे अखण्ड एकरस शुद्ध नित्य तृप्त हूँ, ऐसा जाने बिना अपनी कल्पित खानि-बानी का बोझा खुशी से मजूर कर रहा हे। अरे। जिस स्वत चेतन जीव के विना नाना कला-कौशल-वेद, विद्या आदि नाना चतुराई तथा इन्द्रियों की चाल सिद्ध नहीं हो सकती और

जिस चेतन के हट जाने से मम्पूर्ण मनोमय भीतरी स्मरण आर चारो खानियो का खेल शून्यमहलवत मिथ्या हो जाता हे, सो आप चेतन जीव मर्वोपरि ह, परम श्रेष्ठ, ईश्वर, ब्रह्म, खुदा आदि सव का कल्पना कर्ता ज्ञान स्वरूप है। यही अपनी खुशी से दरजी, सोनार या कुम्हारवत मन से सव वन्धन, सव कल्पना, सव भ्रम गढ-गढकर वना रक्खा ह। इसकी इच्छा हो तो आज ही इसी क्षण मे स्वरूपज्ञान द्वारा सर्व वन्धन शोक-मोह को जलाकर निर्द्वन्द्व हो रहे। प्रत्यक्ष सव को म्वय अनुभव ह कि प्रत्येक जीव की सत्ता से ही अपने-अपने घट सम्वन्धी सर्व जड इन्द्रिय तथा मन के व्यापार चल रहे हैं। जीव सत्ता न दे तो मनोमय व्यापार कुछ नहीं है, अत. जीव से वढकर कोई नही ह॥ ३॥

कारण कारज नाहिं रहे जहाँ नेत्र न ताहि को देखि सकइया।
श्रोत्र सुनं कवहूँ जेहि नाहिन ना चमडी तेहि पर्श करइया॥
म्वाद न लेय सके रसना जेहि घ्राण न ताहि को गध लहइया।
जो इनकी करतूति को जानत प्रेरक है जो विपय को भोगइया॥ ४॥

टीका—चेतन जीव म कारण-कार्य नहीं हें। नेत्र उसे देख नही मकते। कान उसको कभी ग्रहण नहीं कर मकते। चमडी भी उसका स्पर्श नहीं कर सकती। जिह्वा भी उमको चीख नहीं सकती। घ्राण उम चेतन को सूँघ नहीं सकती। क्योकि पॉचों ज्ञान इन्द्रिय आर तिनके भिन्न-भिन्न विपयो को आप अकेले जानता हे। वह चेतन इनमे प्रेरणा करके फिर विपयो को ग्रहण करता रहता हे॥ ४॥

सोई हे जीव जो पार ह पॉचो के भूलि के आप को फन्द रचइया।
पारख होय तजे सव भासको खानी आ वानी को जाल तजइया॥
जानि क दु ख तजे सवको वह शोक ओ मोह के फन्द छोडइया।
जड तम रोकि सके कवहूँ नहिं जो निज रूप में जानि रहइया॥ ५॥

टीका—वही जीव ह जो मम्पूर्ण इन्द्रिय आर पाँचों विपयों से न्यारा हे। वह अपने को भूलकर ही मव फन्दा, मव वन्धन, शोक-मोह ओर परतन्त्रता को आप ही गढता रहता ह। जसे छोटे-छोटे लडके अपनी खुशी से आप ही वेल या घोडे वन कर आप ही गला आर हाथ-पग में रस्मी वॉधकर अन्य लडकों को पकडाकर कहते हें कि मुझे खींचो, में वल या घोडा हूँ। जव कोई लडका जोर से खींचकर गिरा देता ह तो वह फिर रोने लगता हे, इसमे किसका दोष, किसकी भूल आर किसका अपराध। सव उस लडके का ही तो खेल ह। वस इसी प्रकार यह जीव नित्य तृप्त स्वरूप को न जानकर खुशी से आप ही सव विपयो मे सुख मान-मान सव प्रकार की व्यर्थ आदतें डालकर मवकी दीनता मजूर करके दुखी होता रहता हे, इसमे इसी की भूल हे। यह जितना ही सुख-भोग की तृष्णा द्वारा आगे वढेगा उतना ही इसकी हेरानी वढ़ती जावेगी, क्योकि मुख-शाति-स्थिति तो अपने स्वरूप की तरफ है। उसे भूलकर भिन्न जड प्रकृति या परोक्ष वानी-जाल में मिलने से दुसह दुख के अलावा आर क्या प्राप्त होगा। अपने सव दुखो का कारण अपनी भूल ही हे, ऐसा जानकर हे जीव। अपने मत्य स्वरूप को मवसे श्रेष्ठ परम प्रिय पूज्य गम्भीर जाने और अपने अलावा मव भास आदते दुखपूर्ण जानकर त्यागे। खानि—स्त्री, पुत्र, शरीर, धन आदि की सुख-प्रियता तथा वानी—परोक्ष कर्ता-धर्ता,

मिश्रित शून्यभास, देवी-देव, नाना मत-मजहबो की कल्पित सुख-प्रियता को तुच्छ समझ इन दोनो जालो को शीघ्र त्यागकर स्थिर हो रहे, क्योकि तू ही समझ-बूझकर खानि-बानी जाल छोडने वाला है। निज सत्य स्वरूप के बाद सर्व प्रपच को दुखपूर्ण जान प्रपच का अभाव करके सर्व शोक-मोह जनित फन्दा को तू ही त्यागकर सदा सुखी हो सकता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, समुद्रादि, झाड, पहाड तथा कल्पित शक्तिमान कर्तार आदि कोई भी तेरी स्वरूपस्थिति के मार्ग को रोकने मे समर्थ नही है, केवल अपने सत्य स्वरूप को तू जान तो सही। सम्पूर्ण पिण्ड-ब्रह्माण्ड तेरे सम्मुख जड है, विजाति है, छिन्न-भिन्न है, तेरी चेतनशक्ति के आगे ये सब तुच्छ अधकारमय जडरूप है। तुच्छ चीजो का ध्यान छोडकर तू अपने शुद्धस्वरूप का दृढभाव करके जीवन्मुक्त हो जा ॥ ५ ॥

साखी—जड चेतन निर्णय सकल, गुरूज्ञान से चीन्ह।
जड मानन्दी से पृथक, जीव स्वत स्वाधीन ॥ १ ॥

टीका—इस प्रकार यथायोग्य जड और चेतन की परीक्षा गुरुदेव की दिव्यदृष्टि से जानने में आ गई और निश्चय हो गया कि सर्व जड मानन्दियो से पृथक अपने आप स्वय शुद्ध अखण्ड स्वतन्त्र स्वरूप है ॥ १ ॥

स्वरूपस्थिति की विशेषता

दृष्टात—एक सन्त अपने शिष्य के सहित शहर के नजदीक रहते थे और एक दूसरे सत तथा उनके शिष्य शहर से दूर जगल मे निवास करते थे। शहर वाले साधु का शिष्य रजोगुणी था। जो कुछ वह और गुरु दोनो भिक्षा करके लावे, वह सब शिष्य उडा देवे और जब-तब देह का खूब ठाट बना कर घूमता है। वनवासी सत का शिष्य यह देख अपने गुरु से बोला—हे गुरुदेव! आप और हम दोनो बहुत गरीब है। देखिए! उस शहरवासी सत का शिष्य बहुत धनी हे। अच्छा-अच्छा पहनता और खाता है। सत ने कहा—हे शिष्य! तुझसे वह लक्ष अंश मे एक अश भी धनी नही है। वह तो उधर शौक-शृगार राजस मार्ग में जलता है, वैराग्य रूप धन का मर्म नही जानता है। तुझे कभी निर्वाह में तो त्रुटि हुई नही, साथ ही तुझे हम बाहरी राजस शृगार नहीं करने देते जिससे तेरा कल्याण-मार्ग मे प्रवेश हो। अहो! तुझे अनन्त धन ज्ञात नही है। ऐसा कहते हुए गुरुजी ने उसे चमकता हुआ परम तेजस्वी एक हीरा दिया। हीरा नाम से परिचय न देकर गुरुदेव ने शिष्य से कहा—हे वत्स! जा, बाजार में शाक-भाजी बेचने वाले शाक-बणिकों के यहाँ इसे दिखाना और उनसे पूछना कि इसका कितना मोल है। इसके बदले मे कितना शाक दोगे, फिर लौटा लाना। शिष्य ने शाक-बणिकों से उस हीरा को दिखाकर कहा—इसका कितना मोल है, ओर इससे कितना शाक दोगे! कुँजडे ने शीघ्र ही उस चमकते जवाहरात को हाथ मे लेकर उधर डाल दिया और उस साधु से बोला—कहो तो आपको सत जानकर ऐसे ही थोडा शाक दे देवे और यह पत्थर तो एक कौडी का भी नही है। शिष्य ने उस रत्न को उठाकर मन मे कहा—गुरुमहाराज ने नाहक मुझे इस पत्थर को दिया। शिष्य लौट आया। फिर गुरु ने कहा—अच्छा जाओ, परचून वाले दूकानदार को इसी प्रकार दिखाना। इसका मोल-तोल कराना और पूछना कि इसके बदले कितना नमक-धनियाँ दोगे। परन्तु इसको फिर लौटा लाना। शिष्य ले गया, एक परचूनवाले बडे दूकानदार को देकर कहा—इसकी

कितनी कीमत लगाते हो, और इसके बदले में कितना नमक-धनियाँ दोगे। साह ने कहा—अरे भोलेभाले साधु महाराज! ये तो निरानिर पत्थर है, हम इसको लेकर क्या करेंगे! कहो तो ऐसे ही थोडा नमक-धनियॉ दे देवे! आप साधु ह न! शिष्य घूमकर फिर गुरु से सब हाल कह सुनाया। गुरु ने कहा—अच्छा! फिर इसे अबकी बार शहर के बडो-बडो के पास ले जा, मोल-तोल करा कर लौटा लाना। हीरे को लेकर फिर श्रद्धालु शिष्य घूमते हुए बडे-बडे हलवाई और बडे-बडे कपडा के दृकानदारो के यहाँ ले गया। वे सब भी वही बात कहे। इसी प्रकार अंग्रेजीदाँ, सस्कृतज्ञ, वैज्ञानिक, बडे-बडे विद्वान पण्डित और कवियो के पास भटका। कोई उसे दो-चार बात उलटी-पलटी भी कह दिया। वह सबसे फटकारा गया तब अनेक तर्कनाएँ करने लगा—क्या गुरुदेव मुझे भटकाने के लिए ही भेजे हैं, नहीं-नहीं! ऐसा कैसे हो सकता है। जब गुरुदेव मेरे सदा प्रतिपालक हं, तो ऐसा कराने मे कुछ गुरु को मेरा अवश्य कल्याण ही दीखता होगा। मुझे तो आज्ञानुसार वर्तना ही धर्म है। ऐसा विचार कर गुरु के सम्मुख होकर प्रणाम करते हुए उनसे वहाँ की सब बाते बताई और कहा—स्वामिन! यह तो एक काडी का भी नहीं है। गुरुदेव ने कहा—अच्छा! फिर अब की बार आर जाओ, अमुक जगह एक रत्नो का परीक्षक जाहरी रहता ह। उसके पास जाना, उसे देकर मोल कराना ओर लौटा लाना। प्रेमी शिष्य फिर उस जोहरी के पास जाकर उसके हाथ पर ज्यो ही हीरा रक्खा त्यो ही उसने कहा—संत भगवान! यह तो रत्न ह। सत ने कहा—इसकी कितनी कीमत है? उसने कहा—एक लाख ले लीजिए ओर इस हीरा को मुझे दे दीजिए। सत ने हीरा लेकर कहा—नही, अभी नहीं देगे। गुरुदेव से पूछकर बेचेगे। यहाँ मात मोल तोल कराने लाये थे। ऐसा कहकर आश्चर्य मानते हुए शिष्य जल्दी मे लोट चला, पुनः जौहरी ने पुकारकर कहा—अच्छा स्वामी! लाख रुपया से चार-छ हजार आर विशेष ले लेना पर मेरे यहाँ ही यह रत्न लाकर बेचना, क्योंकि यह रत्न बेशकीमती ह। शिष्य अतिशय प्रसन्न होता हुआ गुरुदेव से जाकर बोला—हे श्री सद्‌गुरुदेव! इसकी कीमत तो सौ नहीं, सहस्र नहीं, दस सहस्र नहीं, शत सहस्र अर्थात एक लाख रुपया है। बल्कि उससे भी विशेष देने को कहा है। तब गुरुदेव ने कहा—अच्छा! आज विश्राम कर। कल राज जौहरी के यहाँ जाकर इसे ही दिखाना। दूसरे दिन शिष्य ने राज दरबार के जौहरी के पास ले जाकर दिखाया ओर दाम पूछा, राजजाहरी बडे प्रेम से उस असली हीरा को लेकर प्रसन्न होकर बोला—यह इतना महत्वपूर्ण ह कि सम्पूर्ण राज्य सम्पत्ति दे दिया जावे तो भी इसकी कीमत पूरी नहीं पड सकती। हाँ! यदि आप सात-आठ करोड रुपयो पर सतुष्ट हो; तो अवश्य यह अमूल्य रत्न हमे दे दीजिए। सत्य शिष्य ने कहा—अच्छा! गुरुदेव से पूछकर मे बेचूँगा। जौहरी ने हाथ जोडकर कहा—हे श्रेष्ठ सत! कृपया यह हीरा हमारे ही यहाँ लाना। शिष्य आकर श्री गुरुदेव के चरणो में पड गया और हाथ जोडकर बोला—सचमुच में आप जैसे सद्‌गुरु को पाकर अनन्त धनवान हूँ। अब मुझे ज्ञात हो गया। फिर गुरुदेव ने कहा—देखो! ऐसे-ऐसे रत्न जहाँ तुम स्थित रहते हो वहाँ तमाम ह, ऐसा कहकर पुन गुरुदेव ने शिष्य को अपना अमूल्य रत्नकोष दिखाया और कहा—देखो! एक-एक रत्न इसमे ऐसे ह कि जिनके सम्मुख त्रयलोक की सम्पत्ति काडी भर ह। अपना अक्षय कोष जाने बिना ही तुम अपने को दुखी दरिद्र मान रहे थे। अतः सावधानी से इसकी रक्षा करो आर सुखी होओ।

सिद्धांत—ससारी मनुष्य कुँजडे वत इन्द्रियासक्त है। वे स्वरूप और स्वरूपस्थिति दया-क्षमादि अमूल्य रत्न की कीमत नही जानते। आगे नाना तीर्थ-मूर्ति-उपासक, कर्मकाण्डी, श्वास चढाकर तत्वो की ज्योति प्रकाशवत भास देखने वाले योगी, परोक्ष ईश्वर मानकर यज्ञादि कर्म करने वाले, चराचर अपना रूप मानने वाले, ये सब अपने-अपने सिद्धात मे अनेक प्रकार से एक से एक श्रेष्ठ कुशल होते हुए भी यथार्थ पारख स्वरूप की पहिचान न होने से बणिकवत ही है। इनके पास जाकर जिज्ञासु को पूरीतौर स्थिति नही मिलती। यद्यपि अपना चेतन स्वरूप ही नित्य तृप्त निरंतर स्वय प्रकाशी सत्य है, परन्तु जीव उसे भूलकर खानि-बानी विषयो के लिए दीन हो रहा है। अन्य भी उसी दीनता को बढाने वाले है। जब सयोग-वश गुरु पारखी के पास दीन जीव पहुँच जाता है और उस को गुरुदेव कृपाकर अनमोल सत्य स्वरूप की परीक्षा कराकर सद् रहस्ययुक्त स्थित कर देते हे तब सारी दीनता मिटकर जीव को वैराग्ययुक्त अपने आप ही मे अमृतस्थिति मिल जाती है। उस स्वरूपस्थिति के आगे सर्व भास कृत सुख मिथ्या हो जाते हैं और फिर जीव कभी अपनी नित्य स्थिति से नहीं डिगता।

छन्द—जो मान का भूखा रहै तो मान सब मिल जायँगे।
निज तृप्ति का भूखा रहै तो तृप्ति सब ही धायँगे॥
छुट्टी सदा तू चाहता छुट्टी हि छुट्टी आयँगे।
सब लाभ तू है चाहता सो लाभ सब कुछ पायँगे॥ १॥
जो आप तू क्षण वृत्ति मे थिर जगत सुख सब चाहता।
नित वह निरंतर आप आपमें थिर करे ठहरावता॥
तो फिर भला तुझको कमी क्या सुख मिलैं सब धाय कर।
फिर तो विषय सुख तुच्छ कटक हो न वे कभि खैंच कर॥ २॥
हर वस्तु राग क बोझ है तिसमे सकल हैं आपदा।
पुनि राग बोझ को डाल दे तो फिर मिलै सब सम्पदा॥
जड गन्धता सौन्दर्यता सब स्वादता सब पर्शता।
सबही सुरस रस इक तरफ पुनि याद कर निज सुक्खता॥ ३॥
जब सर्व वृत्ती देखकर द्रष्टा स्वत· रह जाय है।
जब वृत्तियाँ नहि खैंच सक वह स्थिती नित पाय है॥
तब तो भला उस शाति सुख सम्मुख मे जग सुख किमि टिकै।
ज्यो अति तृषातुर शुद्ध जल पी क्यो भला रवि जल झुकै॥ ४॥
अति श्रमित को ज्यो पुष्पशय्या भिक्षु जनु राजा भयो।
जैसे अकथ हो मोद त्योही पाय अपना पद ठयो॥
अस जानि आप में तुष्ट हो अपनेहि पारख ऐन मे।
निर्णय विवेक रु स्थिती युत हो रहे तू चैन मे॥ ५॥

प्रसंग १५—मुक्ति का निश्चय और उसका कर्त्तब्य

छन्द—२९

सम्बन्ध क्रिय जड़ जाति यक धर्मो बिरोधी तहँ रहै।
यक एक में है भेद कइ यह साज तिन रूपै रहै॥

कार्य कारण हेतु यहि भूतन लखा बनता रहै।
नहिं हानि लाभहिं दुख तहाँ मानव परीक्षा नहि रहे॥ १॥

टीका—दृश्य जड तत्वो मे सयोग सम्बन्ध है, स्वभाव मे क्रिया ह। चारो की जडता-रूप से जाति एक ह, जडतारूप मे एकता होने पर भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु मे एक से एक विरोधी धर्म ह और एक-एक तत्व मे कई भेद अर्थात मुख्य पट भेद ह। यह सब सामग्री जड तत्वो का स्वरूप ही हे। इसी हेतु से तत्वो में कारण-कार्य भाव स्वाभाविक ह। प्रत्यक्ष देखो। पृथ्वी आदि चार जड कारणो से ही अनन्त कार्य बनते और लुप्त होते रहते ह पर उनमे घाटा-मुनाफा, दुख-सुख तथा नाना प्रकार की मानन्दी का ज्ञान और किसी प्रकार की परीक्षा नहीं हे॥ १॥

छूटब बँधब यहि से नही धारा यही जड का रह।
साक्षी परीक्षा धर्म ज्ञानै जीव मे एके रहै॥
जड से परे ज्ञाता रहा मानव न मानव जहँ रहै।
निज भूल से तन साथ ह जडध्यास गहि ममता रह॥ २॥

टीका—जब जड मे ज्ञान ही नहीं तो मानन्दी युक्त बँध जाना और छूट जाना, वहाँ ह ही नही। जड गुण-धर्मयुक्त स्वाभाविक कारण-कार्य होना ही जड की स्वाभाविक क्रिया देखने मे आती ह। इन कारण-कार्यो मे सर्वदा भिन्न जीवो मे सब चीजों का ज्ञान होना साक्षी और पारखधर्म ये दोनो एक ही लक्षण हें अर्थात तत्वों के समान इनमे क्रिया और छ भेद नहीं हें। ज्ञानाकार, ज्ञानधर्म, ज्ञानगर, ज्ञानस्वरूप, ज्ञानगुण, ये सब गुणी जीव से भिन्न नहीं। देहोपाधि मे चेतन जीव को साक्षी नाम से कहा जाता ह और देहोपाधि-रहित उसे स्वय प्रकाशी पारख नाम से कहा जाता ह। चेतन सदव जड तत्वो मे न्यारा ज्ञान करने वाला होने से ज्ञाता हैं। ज्ञाता ही देहोपाधियुक्त किसी चीज को मानता ह और किसी चीज को नहीं मानता, किसी में दुख मानता किसी में सुख इत्यादि। ये दोनो बातें देहधारी जनया जीव ही मे ह। अपने स्वरूप को भूलकर ही चेतन जीव इस जडदेह का साथ करते आया ह और देखे, सुने, भोगे हुए पच विषयो का जडाध्यास ग्रहण करके उनकी ममता अत करण मे टिका रखा हे।

स्पष्ट—देहोपाधियुक्त मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियो से बाहरी पच विषयो के जानने का ज्ञान और भीतर मानन्दी युक्त स्मरणो का ज्ञान करने वाला जीव ही ह। विजाति जड का पर प्रत्यक्ष ज्ञान, अपने स्वरूप का स्वय प्रत्यक्ष ज्ञान करने वाला भी आप चेतन जीव ही ह। इसलिए चेतन जीवो का ज्ञान धर्म नित्य हे। स्वरूपज्ञान सहित स्वरूपस्थिति द्वारा सर्व जडाध्यास का विनाश करके सर्व देहोपाधियुक्त मानन्दी सहित दुख-सुख, हानि-लाभ, दिन-रात, अपन-पराए, तीन अवस्था, जन्म-मरण, नर-नारी घट आदि सर्वसोपाधि परोक्ष-ज्ञान प्रारब्धात मे छूटने वाले ह, क्योंकि देहसघात, मानन्दीयुक्त अत.करण साधन-सम्बन्ध न रहने से विदेहमुक्ति मे सर्व देहोपाधि रहित स्वय प्रकाशी निराधार निरुपाधि ज्ञानमात्र पारख स्वरूप अपरोक्ष अपने आप जीव रह जाता ह। वहाँ दृश्य स्मरण अंधकार का लेश नहीं, ऐसा विवेकयुक्त जानना चाहिए।

सम्बन्ध भूलहिं से किये आसक्ति ले ममता रहै।
यक तज गढि लेत अन्यहिं क्षणिक तन छुटता रहे॥

थिरता कहाँ क्रियवान सँग मानब लिहे पचता रहे।
त्यागब गहब दुख सुख लहब अभ्यास क्रिय मनता रहै॥ ३॥

टीका—जीव भूल ही से सुखाशा करके जड देहो का साथ कर रहा है। प्रत्यक्ष देखो! आसक्ति वश चारो खानियो मे यह जीव देह धारण करता रहता है। एक शरीर छोड देता हे फिर इसी के अध्यास से दूसरा शरीर रचता है। यह शरीर क्षणिकवर्ती जड तत्वो का होने से बार-बार नाश होता रहता है। "अटपट कुम्हरा करै कुम्हैरैया, चमरा गॉव न बाँचै हो।" कबीर साहिब कहते है कि अटपट कुम्हरा मनयुक्त जीव सुखाध्य रूप चाक पर नाना क्रिया करके अनन्तो देह रचता है। एक तरफ वह चर्मदेह रचता ही जाता है और दूसरी तरफ यह नष्ट होती रहती है। इस प्रकार चल-विचल जड तत्वो की देह ओर जड पदार्थो की प्रियता करके जीव की कहॉ स्थिरता हे। जड विषयो मे सुख मान-मान देह धारण कर त्रिविध ताप मे पचता तथा दुख उठाता रहता है। किसी मे दुख जानकर छोड देना, किसी मे सुख जानकर पकड लेना, दुखी-मुखी होते रहना तथा सुख मन्तव्य क्रिया करने का रफ्तार चालू रखना और मानन्दीयुक्त अहन्ता रखना कि हम करते है, ऐसी दृढ अहन्ता-ममता मानन्दीवश चेतन जीव प्रत्यक्ष धारण कर रहे है॥ ३॥

यह ज्ञात सबही स्वानुभव जो ध्यान नित लेखा रहै।
त्रयकालदर्शी साज तन जागृत अवस्था नर रहै॥
सुख आश दुख तजता रहे यह ध्येय नहिं भूली रहै।
तजि हानि लाभहिं खोज करि ठनि राग द्वेषहिं गढि रहै॥ ४॥

टीका—यह तो सब मनुष्यो को स्वत ज्ञान द्वारा नित्य का अनुभव है कि दुख-सुख, त्याग-ग्रहण स्वय हम चेतन जीव ही कर रहे हैं। परन्तु इस बात को जो विचार करके ध्यान रखता है, उसी के ठीक-ठीक जानने मे यह बात आती है। मनुष्य देह मे त्रिकालदर्शी होने की सब सामग्री सबको प्राप्त है, इसलिए मनुष्य की जागृति अवस्था मे जीव त्रिकालदर्शी हे। तीनो काल मे हमे सुख ही सुख हो, दुख न हो, यह ध्येय कोई भी मनुष्य नही भूलता। प्रत्येक मनुष्य हानि वाले दुखप्रद कर्मो को छोड-छोडकर विशेष-विशेष लाभ की खोज करते ही रहते है। सुख-लाभ साधक मे राग करते और प्रतिकूलता मे द्वेष बनाते रहते हैं। इस प्रकार मनुष्य राग और द्वेष अपनी समझ के अनुसार रचा करते हैं॥ ४॥

मुख्य बातन यादि रखि वृश्चिक भुवग तजता रहे।
ब्याघ्र भालू लखि दुखद नर शक्ति भर टलता रहै॥
जो सतावै अति जिसे नहिं जन्म भरि भुलता रहे।
मुख्य समयन यादि करि सब साज जहँ मिलता रहै॥ ५॥

टीका—मुख्य-मुख्य सब बातो को मनुष्य स्मरण रखता है। वह दुख पाने के भय से बीछी और सर्प का त्याग करता है। मनुष्य बाघ-भालू आदि दुखदायी जतुओ से जहॉ तक उपाय चलता है वहॉ तक मिलता ही नहीं, अचानक मिल जाने पर उनसे बचने की युक्ति-प्रयुक्ति करता है। जो जिसको जबरन अति कष्ट देता है उसको वह जन्म भर नहीं भूलता।

टीका—(५) "गहि धीर" अर्थात धीरता धारण करते हुए कल्याण-मार्ग के पुरुपार्थ मे लगना ही मुक्ति समझकर गजराज के समान मस्त एक वृत्ति से गुरुमार्ग पर चलते रहना और कुत्ता भूकने के समान ससारियो के राग-द्वेप जनित कर्तव्यो मे न पडना अथवा मन-इन्द्रियों के आये हुए वेगों-को.सहन करने ही में अनन्त सुख जानकर उन्हे सह लेना, उनके वेगो मे न वहना, एव धीरता ग्रहण करना। (६) "तजि अधीरहि" अर्थात सब प्रकार की अधीरता त्यागकर शूरवीरवत सुखाध्यास रिपु से सग्राम करते रहना। इसी समय हमारा मन विना प्रयत्न ही शीघ्र वश हो जाय या इसी क्षण एकाएकी सम्पूर्ण ज्ञान हो जाय या इसी दम पूर्ण वैराग्य या अचल स्थिति मिल जाय, जो इसी क्षण यह कार्य नहीं होता तो आगे कैसे हमसे मधेगा, यह सब अधीरता ओर कायरता का फल है। परिश्रम कुछ न पडे ओर लाभ सबसे विशेप मिले ऐसा मानना कायरता है। जिस समय विद्या पढने, पथ चलने, खेत बोने, व्यापार करने, या कोई शब्द याद करने, कोई भी हुनर सीखने का निश्चय करके कार्य आरम्भ किये जाते हे, क्या उसी समय सर्व कार्य पूर्ण हो जाते हैं ! सबमें धीरतायुक्त यथार्थ पुरुपार्थ करते-करते तब उसका फल प्राप्त होता ह। वस, यही समझ अनादि अज्ञान आसक्ति को समूल नष्ट करने के वारे में विवेकवान समझते ह। वे प्रसन्नतापूर्वक सत्सग, भक्ति, विविध साधना करते रहते ह। ऐसे पुरुप के सब कमी अग शीघ्र पूर्ण हो जाते ह। इस प्रकार विरले विवेकवान धैर्ययुक्त वीरता धारण कर कामादि शत्रुओं का क्षण-क्षण नाश करते रहते हैं। (७) "जौन जेमहि" जिस प्रकार से बधन और जिस-जिस प्रकार से बधनो का निरुवार होता है ओर जैसा-जेसा जड ओर चेतन का भेद ह सो सब यथायोग्य जान कर परमार्थ मार्ग ही मे आरूढ रहे, उसमें रद्दोवदल कभी न करे। 'आज ओर कल आर' ऐसा छिनभगी स्वभाव का परित्याग करना। मन, स्वभाव, लवरी वानी, नर-नारी समाज, शत्रु-मित्रों की हलचलो मे न वहना। अपना सत्य सिद्धान्त न छोडना। (८) "सुखभावना परखे भले" अर्थात विपयों मे सुख स्मरण को मिथ्या-धोखा समझ कर भली प्रकार उसके आदि, मध्य, अत तीनो काल मे दुख की परीक्षा करते रहना। "नहिं माथ तेहि टलता रहै" विपयो मे सुख भावना को अत्यन्त वेरी छलकारिणी जानकर न डिगना, परख-परखकर उससे न्यारे होते रहना। पूर्वोक्त अगो को धारण करते हुए विरले-विरले वैराग्यवान अवश्य वासना विजयी हो जाते हैं। (९) "सत पक्ष गहि" अर्थात विवेकवान सत सिद्धान्त का पक्ष धारण करते हैं। जो-जो अन्त करण मे सुख भावनाए ओर वाहर इन्द्रियों के प्रलोभन सम्मुख होते रहते हे, उन सबो को पारख दृष्टि से त्यागते रहते ह। जसे श्रीपूरणसाहिव कहते ह—

दोहा—"देह जगत ओ ब्रह्म लौं, जेते अहैं विकार।
इनमे आसक्त न होइए, यह विचार ततसार"॥ ७॥

करिकै सतत पुरुपार्थ यहि दृढ आप आपे मे रहै।
स्वच्छ अविचल स्व स्वरूपहिं याद यह निज का रहै॥
मुक्त को ही मुक्तकर विपरीति नहिं करता रहे।
यह तो विपर्यय कोइ नहीं जसका तसे रखता रहे॥ ८॥

टीका—(१०) "करिक सतत पुरुपार्थ" अर्थात हरदम तत्परता के साथ ऊपर कहे हुए कल्याणमार्ग के अगो मे परिश्रम करते हुए दृढता से अपने पारख 'स्वरूप मे कायम रहना।

(११) "स्वच्छ अविचल" अर्थात अपना पारख स्वरूप शुद्ध है, सर्व कामनारूप मल रहित जड से पृथक केवल जान मात्र ज्ञानस्वरूप अचल है। इस प्रकार अपने आपका स्मरण करते हुए स्थिर रहना। (१२) "मुक्त को ही मुक्त कर" अर्थात यह निश्चय है कि चेतन का स्वरूप ही मुक्त स्वरूप है उसी को मुक्त करना है। चेतन मुक्त स्वरूप इससे है कि उसके स्वरूप में कोई बन्धन की सामग्री नही है। वह मात्र अनादि देहोपाधि से अध्यास वश भूल रहा है, उस भूल को त्यागकर स्वय मुक्त स्वरूप ही है॥ ८॥

स्पष्ट—इस प्रकार विचार करना चाहिए कि यदि तत्वों मे स्वभाव से क्रिया न हो तो परस्पर चारो का सम्बन्ध ही नही बन सकता। यदि अन्य तत्व का सम्बन्ध न हो तो अकेले पृथ्वी या जलादि किसी भी तत्व से कार्य नही बन सकते। यदि परस्पर चारो तत्वो मे शीतत्व, उष्णत्व, कठिनत्व और कोमलत्व शक्ति-धर्मो का और पाचो विषयो का विभेद न हो तो भी किसिम-किसिम के विभेदयुक्त कार्य न बन सके। यदि चारो तत्वो की जड जाति एक न हो तो सब कार्य जड न हो सके। जैसे एक घडा या कोई कार्य बनाने मे इन सबो की आवश्यकता होती है। ये सब तत्वो के विभेद न हो तो घटादि कोई कार्य नहीं बन सकता। पूर्वोक्त भेद ही जड कारण-कार्य के होने मे हेतु है। जड के उलटे चैतन्य मे उपरोक्त बातें है नही, न तो उसमे स्वभाव से क्रिया है, न स्वभाव से सम्बन्ध ही है, न जड तत्वों के समान अपने ही मे गुण-धर्मों की विभेदता ही है, न जड के समान इन्द्रियगोचर आकार ही है। चेतन की जड से किसी प्रकार सादृशता नही है। चेतन इन सबो का द्रष्टा केवल ज्ञान मात्र है। अत॰ यही हेतु है कि चैतन्य स्वरूप से नित्य मुक्त है, मात्र भूल वासना से बँधा है। भूल वासना को त्यागकर नित्य स्थिर निराधार ही है, वही बनाना चाहिए।

दोहा—*"मुक्ति मुक्ति सब कोइ कहै, मुक्ति न जानै कोय।*
पच विषय सुख आश तजि, मुक्त आप ही सोय।"

इस प्रकार मुक्ति विचार, मुक्ति रहस्य के घेरे से कभी विवेकवान बाहर नहीं जाते और इसके उलटे जगदासक्ति वाले कार्यो को कभी आरम्भ नही करते। यह उलटी चाल नही बल्कि मुक्ति की सीधी-पक्की सडक है। क्योकि जैसा हो उसको वैसा रखना ही सत्य शुद्ध मार्ग के लक्षण है। आप ही ज्ञानस्वरूप है, अविनाशी शुद्ध मुक्त नित्य तृप्त है, ऐसा समझ और ऐसा ही ठहराव बनाना तथा सम्पूर्ण विजाति आसक्तियो का त्याग करना ही जैसा का तैसा सत्य मार्ग है। हाॅ। यदि इसके उलटे अपने मुक्त स्वरूप को भूल कर जड विषयो से सुख-आशा करके सकाम कर्म द्वारा खानि-बानी मे जकडते जावे तो यही उलटा मार्ग है और यही सर्व दुख का हेतु भी है। इसलिए उलटे मार्ग को त्याग कर ज्यो का त्यो मुक्तरूप रहने के लिए पूर्वोक्त विवेकवान के रहस्यो को लेते हुए भ्रम-भूल-आसक्तियों को भली प्रकार त्याग देना चाहिए।

गढि गढि चहै जड में सुखन जो नहिं तहाॅ ठनता रहै।
तब आप आपहि सत्य जो कस ताहि नहिं रहता रहै॥
भ्रम भूल संशय शूल दलि सुखध्यास तजि निज का रहै।
तजि पराई भास जड पारख स्वत रखता रहै॥ ९॥

टीका—जहाँ मुख नहीं हे वहाँ कल्पना कर-कर जड़ विपयों मे सुख कायम करता रहता है, तो भला जव अपना आप स्वय सत्य नित्य तृप्त अमृतस्वरूप है तो उसको ज्यों का त्यों क्यो नहीं रख सकता हे। अवश्य रख सकता है। इसलिए भ्रम, भूल, सन्देह, मुख भावना तथा सुख सस्कार जनित जो मानसिक कष्ट हैं उन सबो को त्यागकर अपने अमृत स्वरूप के वोध भाव मे ठहरना चाहिए। विजाति जड़ तत्वों के भासरूप दृढ मानना त्यागकर जिससे सवकी परीक्षा हो उसी स्वत: पारख में ठहर कर थीर हो जाना चाहिए॥ ९॥

स्पष्ट—इन छन्दो मे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यह वताया गया कि प्रयत्न द्वारा मनुष्य अवश्य मुक्तिपद प्राप्त कर सकता ह, क्योकि वह मुक्तरूप ही ह। जीव जड कारण-कार्य मे सर्वथा भिन्न है, केवल अलग से जड विपय कृत भूल भ्रम अध्याम आमक्ति वोझ लादकर वन्धनों मे दीन-दुखी हो रहा है। उसे यदि आज भी यथार्थ पारख मिल जाय तो वह शीघ्र अपनी स्थिति कर लेगा। उसके लिए त्रिकालदर्शी होने का प्रमाण दिया गया है, पर जव तक यथार्थ निश्चय ही में सन्देह हे तव तक भला उस पर अटलरूप मे कायम कैसे हो सकते है। अत: पारखी गुरु के सत्संग द्वारा मुक्तस्वरूप की परीक्षा कर ली जाय तो दिनोदिन मावधानता से मन, इन्द्रिय, सुख भ्रम से एकरस सावधानी प्राप्त हो जावे आर मुक्तस्वरूप में ठहरने के सर्व रहस्यों में अतिशय प्रेम उत्पन्न हो जावे। तव भूत, भविष्य, वर्तमान काल के सर्व उपाधि का परीक्षक वन कर नि सन्देह मुक्त ही रहेगा। मनुष्यो मे अज्ञान-वश जागृत अवस्था मे वन्धन की सामग्री एकत्र करने मे जसे एकरस त्रिकालदर्शीपना देखा जाता है, वैसे वोध द्वारा मुक्ति माज एकत्र करके त्रिकालदर्शी होकर एकरस ठहरने में भी मनुष्य शक्तिमान हे। जो जिसका स्वरूप ही है उसको उसी प्रकार रहने मे क्या विघ्न-वाधा है। जो कुछ परम पद की प्राप्ति मे विघ्न-वाधा-विलम्व हे सो सव नासमझी तक ही। "पूर्णपारख प्राप्त भई, कि नासमझी गई" पूर्णपारख की सव सामग्री मनुष्यदेह मे सुलभता से प्राप्त है। अत· हे प्रिय। पूर्णपारख करने मे देरी न करिये। आलस्य, मोह, पक्ष, प्रमाद, मनोरजन, मुख, भ्रम, दुचित्तता, चचलता त्यागकर यथार्थ विवेक करने में परिश्रम करते रहिये। फिर तो स्वरूपज्ञान का यथार्थ निश्चय होते ही इसी दम मुक्तरूप में आप ठहर रहेंगे, फिर आपको कभी गुरुपद छोडने को कौन कहे छोडने का स्मरण तक न होगा। यथा—

दृष्टांत—एक मनुष्य को मार्ग चलते हुए वहुत भूख लगी। वह एक ग्राम मे होकर निकला। इतने में एक मनुष्य मित्र वनकर प्रणाम करके प्रिय वचनो से वोला—हे मित्र। आप क्यो उदासीन हं? पन्थी ने कहा—मे वहुत भूखा हूँ। मित्र ने कहा—हमारे यहाँ चलिए। वहुत सुन्दर सरस तरह तरह के खासे पकवान वनाये गये हें। क्षुधित मनुष्य साथ ही चला गया। हाथ-पग धुला करके पीढे पर पन्थी को वैठाया और एक सुन्दर थाली मे पूडी, कचोडी, जलेवी आदि किसिम-किसिम की मिठाइयाँ-खटाइयाँ रखकर वह वोला—आप जीमिए। पर याद रखिए। इसमे प्राणहारक थोडा सा जहर मिलाया गया है। वह पन्थी तुरन्त उठ खड़ा हुआ आर कहा—क्या मुझे आप मार डालना चाहते हैं? मित्र ने कहा—स्वाद-मुख तो मिलेगा। उसने कहा—क्षण भर के इस सुख को लेकर अपना सर्वस्व नाश करूँ? वह किसी दूसरे परम मित्र के यहाँ गया, वहाँ विष रहित भोजन से तृप्त होकर लाटा आ रहा था कि फिर वही मनुष्य मिला और कहा—भाई। जहर मिश्रित स्वादिष्ट लड्डू को जीम लेना हो तो

जीम लीजिये। उसने कहा—अब तो मै तृप्त हो चुका हूँ, क्यो जीमूँ, आपके जहरयुक्त पकवान वही जीमे जिसमे बाहर-भीतर की दृष्टि न हो। ठीक ऐसे ही जीवरूप पन्थी पच विषय स्नेहरूप जहर से सने हुए भोग ग्रहणकर अनन्त बार जन्मता-मरता रहता है, और बार-बार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर इन छः वैरियो द्वारा सताया जाता है, पर जब श्री गुरुदेव मिलकर ज्ञान-विचार दे देते है और ठीक-ठीक जगत-जाल जहरवत निश्चय हो जाता है तथा पॉच विषयरूप जहर से भिन्न द्रष्टा अमृत स्वरूप की परीक्षा हो जाती है ओर विषय वासना की निवृत्ति करते-करते ही अक्षय सुख-शाति मिल जाती है तब कौन ऐसा होगा कि इन विषयो का सेवन करेगा। समझदार मनुष्य स्मरणो और जगजीवो के लोभ सुख दिखाने पर भी उन्हे पूर्ण घातक जानकर जगत-प्रपच मे नही फॅसते। अतएव पूर्ण पारखी गुरु के सत्सग और पारख-ज्ञान के ग्रन्थो का भली प्रकार मनन करते रहना चाहिए जिससे एकरस पारख दृष्टि ग्रहण होकर नित्य स्वरूप मे दृढ स्थिति बन जावे और विष-विषय का त्याग हो जावे।

कवित्त

एक मग जग ओर भोग को प्रवाहचले, रात दिन वाहि लक्ष्य वाहि कारबार है।
पॉखि मीन मृग श्वान शूकर से भोग भोगि, गनत चतुर आप-आप सरदार है॥
राज महराज सेठ प्रमुख बडो महात्म, चर्म[१] क्षार,[२] कौडी,[३] हेतु सिर तक वार है।
वासना से जग मग शोभत सकल खानि, तीन ताप जन्म मृत्यु शोक मोह धार है॥ १॥
दूजो मग गुरु ओर ज्ञान को प्रवाह चले, रात दिन पारख परख टकसार जू।
षट धर्म शुद्ध करि मनरोग जानकर, सयम विविध गहि पाप ताप क्षार जू॥
इन्द्रिय मनादि दृश्य जहँ लगि अग्र भास, दूरि करि आश ताहि ग्रन्थि निरुवार जू।
सकल परीक्षक स्वरूप थिर पावन जो, प्रेम भाव भक्ति युक्त ताहि बलिहार जू॥ २॥
परो धन मिलि जाय हर्ष से उठाय लेत, कहत न काहू से जुगति कर राखिये।
सुन्दरी सुमुखि अनुकूल यदि मन मिले, बडोहि छिपाव गुरु मित्र से न भाखिये॥
आसन अशन मान सनमान भॉति-भॉति, जहॉ लो उपाय चलै आप सुख चाखिये।
यामे बाट जोहत न औरन कू जीव यह, सुख भाव दृढता को चिह्न जग साखिये॥ ३॥
ऐसो भाव गुरुमग माहि यदि लागि जाय, तब तो कृतार्थ होन मे न कुछ देर है।
छिन-छिन साधन विचार करि हर्ष युत, त्यागि सुख भोग रोग स्थिति सबेर है॥
अपनोहि दुख भूल शूल के मिटावने मे, रात दिन सावधान शोध बेर-बेर है।
देह मानि बन्ध होत जीव जानि मोक्ष होत, जीव को रहस्य देव गुरुपद टेर है॥ ४॥

प्रसंग १६—मेल से बने हुए कार्यो के भ्रम का शमन

छन्द—३०

जो हो गया सयोग से तब चह जिसे सयोग कर।
होवै वही जो वह भया पुनि ना तु है वा बस्तु कर॥

---

१ काम-भोग के लिए। २ जमीन के लिए। ३ धन के लिए।

संयोग तो कोइ चीज ना सयोग हे सब तत्त्व कर।
जो वस्तु मे वह नहि रहा तव शून्य ने जग वृक्ष कर॥
यदि वस्तु मे हे वह भरा तव तो विलक्षण क्या भया।
जड तत्त्व मं है जडपना जो कुछ वना जड पूर्णया॥
द्वै वस्तु के सयोग मे हो वस्तु की उतपति जहाँ।
वह वस्तु ह जड रूप दिखती इसलिए तेहि में तहाँ॥
विपय वही सम्वन्ध जिसका यहि हेतु वह उसमें रहा।
जड तत्त्व के सम्वन्ध में करि वास जहँ चेतन रहा॥
सो तो उलटे ज्ञान करता जड तत्त्व से अलगं रहा॥ १॥

टीका—जो वस्तु का गुण-धर्म न मानकर केवल सयोग मात्र मे भाँति-भाँति की वस्तुएँ वन जाने की वात मानी जाती हे, यह उचित नहीं ह, क्योंकि तव तो चाहे जो कुछ पदार्थ चाहे जिसमे मिला कर वस्तु उत्पन्न कर लेना चाहिए। कज्जल-कपूर मिलाकर लाली और वालू पेरकर मीठारस या तेल तथा पानी मथ कर घी, हाथ और दिवाल का स्पर्श करके आम-कटहल आदि वृक्ष उत्पन्न कर लेना चाहिए। इस प्रकार अन्य-अन्य अयोग्य वस्तु के मिलाने मे यदि वही वस्तु हो जाय जो यथायोग्य वस्तु के मिलाने मे होती हे, तव तो सयोग मात्र मे तीसरी वस्तु वन सकती ह। यदि कहो जिस-जिसके सयोग से जो वस्तु होने वाली ह या जो पूर्व मे हो रही ह वही-वही योग्यता से उस-उस की उत्पत्ति होगी, अयोग्य के संवध मे नहीं, तो इससे सहज ही सिद्ध हो गया कि मात्र सयोग से किसी भी वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती। वल्कि दो वस्तु के मिलाने से जो तीसरी वस्तु होती हे वह उन्ही दो वस्तु के गुण-धर्म के अन्दर ही भावरूप वर्तमान ह। क्योंकि गुण-धर्मयुक्त वस्तु छोडकर तीसरा सयोग नामक कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही ह। सयोग का अर्थ है परस्पर वस्तुओ का यथायोग्य मिलना। मिलना परस्पर गुण-धर्मयुक्त वस्तु-वस्तु का ही होता हे। दो वस्तुओं को त्यागकर सयोग किसका होगा। अत. सयोग कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं। यदि कहो, तीसरी वस्तु जो उत्पन्न होती ह वह जिसके मिलाने मे होती हे उस वस्तु के गुण-धर्म उसमे नहीं हे केवल मिला देने से वह विलक्षण वस्तु हो गई, तो तुम्हारे कहने मे अभाव से भाव की उत्पत्ति हो गई। यदि अभाव मे ही भाव की उत्पत्ति होती हो तो शून्य मे सव वस्तुओं के गुण-धर्म का अभाव हैं, फिर सयोग करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। शून्य मात्र से अनन्त वृक्ष ओर स्त्री-पुरुप तथा जो-जो तुम्हे आवश्यकता लगे वह सव उत्पन्न कर लेना चाहिए, फिर तुम्हारा सव पुरुपार्थ ही यहा निष्फल हो गया। यदि शून्य मे कोई चीज नहीं होती, यथायोग्य वस्तु-वस्तु के मिलान से ही वस्तुओ की उत्पत्ति होती हैं, तो सयोगवाद उन्माद कथन के समान मिथ्या ह। यदि होने योग्य गुण-धर्म वस्तुओं मे ही ह तो फिर सयोग मात्र मे विलक्षण वस्तु की उत्पत्ति कहा हुई। इससे देखो, विचार करो। जितने जड तत्व ह उनके गुण-धर्म जडता से पूर्ण ह, अत उनके सयोग से जितनी वस्तुएँ वनेंगी व वन रही ह वे सव गुण, धर्म, शक्ति जड भाव मे सर्वांग पूर्ण होती रहती ह। दीपक-ज्योति, फल-फूल, जहर-मीठा, ककड-पत्थर, रूप-रग, वादल आदि और भी अमित वस्तुएँ सव जडरूप ही हैं। दो वस्तु के सयोग मे जहाँ तीसरी वस्तु उत्पन्न होते दृश्यमान हो रही ह वहाँ पहिले मे जो मिलाई गई या स्वभाव मे मिली वस्तुएँ ह

वे भी जडरूप ही हे और जो रूप, रस, स्वाद, स्पर्श वाली भॉति-भॉति की वस्तुऍ हुई वे ज्ञान धर्म रहित जडरूप ही प्रत्यक्ष नजर आती हैं। इसलिए जड की शक्ति भावरूप उन जड तत्वो ही मे विद्यमान है, अत: जड-जड के सयोग से जड कार्य वस्तुऍ होती रहती है। पच विषयो से जो वस्तुऍ उत्पन्न होती हे वे भी पॉच विषय के स्वरूप ही होती हे। इससे साफ-साफ अनुभव हो गया कि पच विषययुक्त जड से बने हुए जितने पदार्थ है वे भी पच विषययुक्त जड भाव से पूर्ण है, वे उनसे न्यारे नहीं है, इसलिए वस्तु के गुण-धर्म त्यागकर सयोग मात्र से कोई चीज नही होती। जड विषयो के सयोग से जड विषय ही होते रहते हे। परतु जहॉ-जहॉ जड देहो मे चेतन जीवो का निवास देखा जाता है वहॉ-वहॉ वे कर्म वासना, मानन्दी के अधीन मोटर-ड्राईवरवत या गृह मे मनुष्य रहने वत है। जड तत्वो से विरोधी धर्मवाले चेतन जीव जड कारण-कार्यों से सर्वदा पृथक स्वतन्त्र अपने आप है, क्योकि पूर्व मे निर्णय हो गया कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती नही। जड कारण-कार्य मे चेतनता का प्रत्यक्ष अभाव है, अत: उनसे कभी चैतन्य नही हो सकता, किन्तु जड से विपरीत जडधर्मो को छोड कर ज्ञान धर्मवाले सर्व चेतन जीव अजर-अमर, स्व-स्व देहों के प्रेरक कर्मवासना से भिन्न-भिन्न देह धरने वाले अनन्त, अविनाशी हैं, ऐसा जानना चाहिए॥ १ ॥

चौपाई—३१

काठयोग मिलि अग्नि प्रकाशै। बाधक जल मिलि ताहि बिनाशै॥
शीत योग मिलि ओला आरा। उष्ण कुयोग से बिनशनहारा॥

टीका—काष्ठ के सयोग से अग्नि धधकती है, इससे अग्नि के प्रगट होने मे काष्ठ साधक है। यदि उसी जलते काष्ठ पर जल छोड दिया जाय तो वह बुझ जाती है, इससे जल अग्नि का बाधक हुआ। ऐसे ही विशेष ठडी के साधक-सयोग से बर्फ बन जाती और पाला जम जाता है। वे पाला-पत्थर और बर्फ सूर्य की गर्मी पाने से नष्ट हो जाते है, इससे पाला-पत्थर आदि का बाधक गर्मी है।

साधक पाय सो उतपति कारज। बाध्य कुयोग बस्तु संघारज॥
यहि विधि रग शब्द रस सपरश। योग्य योग्य मिलि होवै सब तस॥

टीका—इस प्रकार साधक-साधक परमाणुओं के सयोग द्वारा सब कार्य उत्पन्न होते हैं और बाधक परमाणुओ के द्वारा उन वस्तुओ का नाश होता रहता है। इसी प्रकार अनेक रग, अनेक शब्द, अनेक रस, स्पर्शादि पॉचो विषय जैसे-जैसे योग्य साधक साध्य परमाणुओ के सयोग होते हे, वैसे-वैसे पच विषययुक्त सब वस्तुऍ होती रहती है।

स्पष्ट—अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी सूक्ष्म कारणरूप से यद्यपि न्यूनाधिक्य जहॉ-तहॉ सर्वत्र सयोगवान स्थित है, तथापि जहॉ उनके प्रगट होने की योग्यता होती है वहॉ ही प्रगट होकर जिस इन्द्रिय से जो प्रत्यक्ष होने वाला है उसी इन्द्रिय से वह प्रत्यक्ष होता है। जैसे कि काष्ठ और चकमक-पथरी, दियासलाई इत्यादि। जहा उनके प्रगट होने की योग्यता पडती है और जिस-जिस सम्बन्ध से वे प्रगट होने वाले है उसी से प्रगट होते है, नहीं तो प्रगट नही होते। जैसे शीत धर्मवाला जल है तो भी वायु, अग्नि, पृथ्वी इन सबो की योग्यता जितनी-जितनी चाहिए उतनी मिल जाने से पाला,' ओला बर्फ इत्यादि बनने मे कारण है। अर्थात उतने-उतने

ही मिलकर वे बन जाते हें, नहीं तो नहीं बनते। इस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये तत्वो के मुख्य गुण अपनी-अपनी योग्यता पाकर कार्यरूप से प्रगट हो जाते ह। विना योग्यता के वे प्रगट नहीं होते। प्रकाशपना, शीतपना तथा कठिनपना, ये सब मूल कारण तत्वो के धर्म हं। यदि कार्य प्रगट होने के प्रथम से ही धर्म मूल में न होते तो वे कदापि सयोग द्वारा प्रगट न होते। इसी हेतु वे अपने योग्यतानुसार परस्पर एक-एक के साधक-वाधक होते रहते हैं, पर जो-जो उनमे गुण-धर्मादि ह वे ही होते रहते हं। पाँच विपय चार धर्मों के अलावा गुण-धर्मादि कारण-कार्यो मे कहीं भी देखने मे नहीं आते। तत्वो के कार्यों की सख्या नहीं होती, परन्तु कारण तत्वों के मुख्य गुण-धर्म अपने सख्यायुक्त ही रहते ह। तत्व साधक-वाधक होने से अनेक प्रकार के कार्य होते ओर मिटते रहते हे, पर अपनी मर्यादा कभी नहीं छोडते। इससे जाना जाता हे कि जो है वही सयोग पाकर प्रगट होता हे ओर विना उसकी सत्ता हुए वह कभी प्रगट नही होता। मिट्टी मे जल मिलाकर ईट पाथ देते हे; धूप से सूख जाने पर वे ही ईंटे मिट्टी से कहीं अधिक कठोर हो जाती हें और फिर उन्हीं ईंटो को अग्नि-काष्ठ-सयोग द्वारा भट्ठा मे लगा देने से पक जाने के वाद और भी कठोर हो जाती हें। कही-कहीं अधिक अग्नि हो जाने से पिघल कर एक मे एक मिलकर ईटे झावॉ-खझड रूप मे अति कठिन हो जाती हे। इससे जाना जाता ह कि जल, वायु ओर अनल मिट्टी को भिगाकर, सुखाकर औंर तपाकर पृथ्वी के कठिन धर्म को वलवान कर देते ह। ऐसे ही ककड, पत्थर, लोहा इत्यादि के विशेष कठिन हो जाने मे यही हेतु जाना जाता हे। जो कार्य जिस तत्व का है उसमे वही विशेष देखने मे आता हे आर जिसके सयोग से कार्य अधिक कठिन, कोमल, रूपवान या विशेष शब्द वाले हो जाते हे, वहॉ-वहॉ उनमे अन्य-अन्य साधक तत्वो का सयोग होना ही कारण ह। पर उनमे अन्य तत्व वैसे ही देखने मे नहीं आते जेसे तपाये हुए जल मे अग्नि अदृश्य हे, परतु उससे मनुष्यो के अग जल जाते आर फोले भी पड जाते हें। अधिक तपाये जल मे अग्नि के प्रकाशरूप गुण दृश्य न होते हुए भी दाहक शक्ति इतनी अधिक हो जाती हे, जो कि जल के शीत धर्म को लोप जेसा कर देती ह। इस प्रकार सब तत्वो के प्रत्येक कार्य मे साधक-वाधक क्रिया द्वारा गुप्त-प्रगटरूप से सब गुण धर्म कम-विशेप होते रहते हैं, पर यावत कार्य कारण तत्व सामग्री के स्वरूप ही रहते हें। ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है।

पाय कुयोग वो कारण में ले। यहि विधि उतपति सव की यालै॥
घट वढ परमाणु वस्तु कइ किसमें। योग्य योग विन होय न तिसमैं॥

टीका—वाधक परमाणुओ का सम्वन्ध पाकर कार्य विषय अपने कारण मे छिप जाते हें। इस प्रकार सब कार्यो की उत्पत्ति और नाश होता रहता है। घट-वढ परमाणुओ के संयोग से कई भॉति की वस्तुएँ होती रहती हैं। योग्य-योग्य साधक परमाणुओ का सयोग न हो तो कोई भी कार्य नहीं हो सकता।

नेमित्त क्रिया सव तत्त्वन केरी। तैसे कारज हद्द वनेरी॥
जाहि योग से उतपति जिसकी। कारण वही वहॉ हे तिसकी॥

टीका—कारण तत्वो की सव क्रिया उनके स्वभाव के अन्दर ही ह। जेसे अनादि से सभी कारण तत्व और तिनके गुण-धर्म स्वाभाविक हैं, वसे ही तिनके कार्य भी उन्हीं गुण-

धर्मों के अन्दर बनते रहते हैं। जिसके सयोग से जिसकी उत्पत्ति होती है, वही उसका कारण जानिए। भाव यह है कि जैसे अनादि सभी समूहरूप कारण तत्व और उनकी क्रिया नियमबद्ध है, वैसे ही उनके कार्य भी हद तक ही बनते रहते, हद के बाहर नही।

कारण होत जाहि को जहवाँ। उतपति होय ताहि की तहवाँ॥
कारण भयो तो कार्य वही है। कारण बिना व होत नही है॥

टीका—जिस कार्य का जहाँ कारण होता है, बनने की योग्यता होती है, वहाँ ही से उसकी उत्पत्ति होती है। जिसकी जिसमे से उत्पत्ति है वही उसका कारण है। जब कारण है तो उसका कार्य भी वही है, जो कि उससे उत्पन्न हुआ है, क्योकि कारण के बिना कार्य होता नही।

कारण बिना जो उतपति कहई। योग्य योग मिलि होन न चहई॥
होय कुयोग्य ग्योग दोनों बिधि। नहिं तहँ अग्रह योग्य योग सिधि॥

टीका—यदि कारण के बिना ही वस्तुओ की उत्पत्ति हो, तो मात्र साधक-साधक परमाणुओ के सयोग से वस्तु की उत्पत्ति न होना चाहिए, परन्तु चाहे जो चीज मिलाकर या ऐसे ही शून्य से भी सब वस्तुएँ हो जाना चाहिए। यदि बाधक और साधक दोनो प्रकार से उत्पत्ति माने तो फिर यह आग्रह न होना चाहिए कि साधक-साधक वस्तुओ से ही योग्य वस्तु की उत्पत्ति होती है, बाधक से नही। दो प्रकार के नियम न होने चाहिए। बाधक का भी सयोग करके यथायोग्य वस्तु उत्पन्न होना चाहिए तथा पानी से वृक्ष सींचने के बदले अगार डालकर वृक्ष उगाना या दाल, चावल, आटा के बदले पत्थर-कोयला आदि अग्नि मे डालकर दाल-चावल ही का गुण उत्पन्न कर लेना चाहिए । क्या ऐसा हो सकता है? कभी नही हो सकता। अत· जब नियम है कि योग्य-योग्य के बिना कभी योग्य वस्तु नही हो सकती, तब अकारण वस्तु की उत्पत्ति कहना शून्य से दूध दुहने के समान मिथ्या है तथा इस दृष्टान्त के समान सर्वथा असम्भव है।

दृष्टान्त—एक राजा के यहाँ एक बार एक पण्डित जी कहीं से पधारे। राजा ने पण्डित जी से पूछा—महाराज! इस समय हमारी एक घोडी और एक गाय दोनो गर्भिणी है, आप बतावे कि दोनो क्या जनेगी? यदि आपका कहना ठीक निकले तो इनाम मिलेगा। पण्डित ने उत्तर दिया—महाराज! गाय बछडा और घोडी बछेडा जनेगी। पण्डित उन बच्चो के उत्पन्न होने के समय तक राजा के यहाँ ठहरे रहे। जिस समय वे दोनो जनी, राजा के कर्मचारियो ने घोडी के बच्चे को उठाकर गौ के नीचे और गौ के बच्चे को उठाकर घोडी के नीचे रख दिया और राजा साहब को खबर दी—महाराज देख ले। राजा ने जाकर देखा तो गाय के नीचे बछेडा और घोडी के नीचे बछडा था। राजा ने पण्डितजी से कहा—पण्डितजी! आप तो कहते थे कि गाय बछडा और घोडी बछेडा जनेगी, किन्तु यहाँ तो उलटा हुआ, अत आपको एक कौडी भी न दी जायेगी, और आप अब हमारे राज्य से निकल जाइए। पण्डितजी ने सोचा कि आखिर तो अब हम राज्य से जाते ही हैं, लाओ हमारे कपडे बहुत मैले हो गये है, उन्हे तो धुला ले। ऐसा सोचकर उन्होने अपने कपडे धुलवाने के लिए धोबी के यहाँ दिया और धोबी से सब हाल कहा। धोबी ने कुछ सोचकर वे कपडे कई दिन तक देने ही न आया। जब पण्डितजी

उस धोवी के यहाँ अपने कपडे मॉगने गये तो उसने कहा—"महाराज। वे कपडे तो मैं नदी मे धोने गया था, सो पानी मे आग लगने से जल गये।" यह सुनकर पण्डितजी ने राजा के यहाँ फरियाद किया। राजा ने धोवी को वुलाकर कहा—क्यो रे। तू पण्डित के कपडे क्यो नहीं देता। धोवी ने कहा—सरकार। मं पण्डिजी के कपडे नदी मे धोने गया था, सो नदी के पानी में आग लगने के कारण कपडे जल गये। राजा ने कहा—क्यों रे। कहीं पानी मे आग लगती है? तव धोवी ने कहा—महाराज! अगर घोडी वछडा आर गौ वछेडा दे सकती हे तो नदी मे भी आग लगने मे क्या सन्देह? वस राजा ने समझकर पण्डित को प्रतिष्ठापूर्वक विदाई दिया और धोवी ने भी उनके कपडे दे दिये। जिस प्रकार गाय के वछेडा और घोडी के वछडा पैदा होना तथा पानी मे आग लगना ये सव सर्वथा असम्भव ह, इसी प्रकार योग्य योग्य से ही योग्य की उत्पत्ति होती हे, अयोग्य मे नही। जिसमे जो ह और जो होने वाला है वही होता हे अन्य का अन्य नहीं।

परमाणुन घट वढ कारज होई। नेमित शक्ति के पार न सोई॥
उतपति ह्वै कारण ते आई। नाशत कारण माहिं समाई॥

टीका—अनन्त परमाणुओं के कम-विशेप सयोग द्वारा अनेक कार्य होते ह, पर वे अपने कारण के नियमित शक्ति के पार नही जाते, क्योंकि वे अपने कारण मे ही उत्पन्न होते आर पुन कारण ही मे लय हो जाते हैं।

साखी—सव तत्त्वन मे अश मिलि, वस्तु विविध विधि होय।
किसिम किस्मिम के योग्य से, गुणन भेद तहँ सोय॥

टीका—सव तत्वो के यथायोग्य परमाणुओ के मेल मे ही तमाम वस्तुएँ होती रहती ह। विविध वस्तुओ के होने का कारण यही ह कि अनेक प्रकार से जड तत्वो का कम-विशेप मिलना तथा किसिम-किसिम के जहर नशा, मीठा आदि गुणोंयुत कार्यो की भिन्नता होने मे भी तत्वो के कम-विशेप अश मिलना ही प्रधान हेतु ह।

सोरठा—३२

यथा देह मे अग, होत कई तेहि मध्य मे।
ताहि छोडि के भग, रहि न सक तेहि के विना॥ १॥

टीका—जमे नख से शिखा तक एक ही देह हे पर उनमे हाथ, पॉव, नेत्रादि कई रग रहते हैं, कई अग रहते हुए भी वे देह से वाहर नहीं होते, किन्तु देह के देह ही रहते ह और देह छोडकर किसी अग का ठहराव भी नहीं हो सकता॥ १॥

विपय पॉच तस जान, कार्य न कोइ तेहि विन रहै।
होय न कवहूँ आन, भिन्न रहे गुण शक्ति तहूँ॥ २॥

टीका—वेमे एक स्थूल के ममान पाँच विपय जानिए। मो पॉच विपय को छोडकर कोई भी कार्य न्याग नही होता। भिन्न-भिन्न अगो के समान भिन्न-भिन्न गुण, शक्ति, धर्मयुक्त कार्य होते हुए भी जड पॉच विपय के रूप ही होते हैं, कभी अन्य कुछ नहीं हो जाता॥ २॥

नही तजे जड धर्म, प्रगट किसिम बहु कार्य जो।
कारण शक्ति गुनर्म, मिले सबै उन बस्तु मे ॥ ३ ॥

टीका—भाँति-भाँति के कार्य जो उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष हो रहे है वे जड के गुण, धर्म और जडता स्वभाव को नहीं छोडते, क्योकि कारण जड तत्वो की शक्ति और गुण उन कार्यो मे प्रत्यक्ष दिखाई देते है॥ ३ ॥

जेहि बिन कबहुँ न होय, जाहि बिना वह नहिं रहै।
होय अबस्तु न सोय, लै सामग्री जो भयो॥ ४॥

टीका—जिस कारण के बिना जो कार्य कभी उत्पन्न नही होता और फिर जिस कारण को छोडकर वह कार्य रह नहीं सकता तब वह कार्य अवस्तु (नाचीज) कभी नहीं हो सकता, क्योकि वह कार्य उसी कारण का अश लेकर ही उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

नहिं तत्वन मे ज्ञान, कारण कारज में कहूँ।
पच बिषय जड खान, तिनको रूप प्रत्यक्ष है॥ ५॥

टीका—तत्वो के कारण और कार्यो मे कही भी अपने और पर के जानने का ज्ञान नही है, पॉचों विषययुक्त जडता की खानि सब तत्व प्रत्यक्ष इन्द्रिय गोचर ही हैं॥ ५ ॥

शून्य माहिं नहिं होय, सीचत जल से वृक्ष कोइ।
पच बिषय तजि कोय, कार्य न जड मे रहि सकै॥ ६ ॥

टीका—जैसे आकाश को जल से सीचने पर कभी वृक्ष उत्पन्न नही हो सकता, वैसे जिन गुण-धर्मो का कारण मे अत्यन्त अभाव होगा वे गुण-धर्म उनके कार्यो मे कभी नही आ सकते। पॉच विषय छोड कर जड मे कोई भी कार्य नही होता, अत पॉच विषययुक्त कारण-कार्य सब जड हैं॥ ६ ॥

छन्द—३३

अधकार औ सादृश्यता परकाश है सामान्य से।
नेत्र में हो तिमिर जिसके औ दुरत्व के दोष से॥
ये पच दोष एकात्र हो जहँ बस्तु के है योग से।
हो भर्म तबही बस्तु मे तब दीखता है और से॥ १ ॥
इनके बिना नहिं भर्म होवे तब यथारथ दृष्टि है।
अधकार का है लेश ना परकाश जब बहु शुद्ध है॥
तब भर्म कहना नहिं बने जब इन्द्रिन लखे कह तत्व है।
तब बस्तु केसे भर्म हो जब इन्द्रियॉ निर्दोष है॥ २ ॥

टीका—कुछ अन्धकर हो, सादृश्यता हो, साधारण प्रकाश हो, नेत्र मे दोष हो तथा कुछ दूरी हो जहॉ तक नेत्र की दृष्टि बराबर न जा सके, जब ये पच दोष एकत्र होवे तब भ्रम की उत्पत्ति होती है और वस्तु अन्य प्रकार की दीख पडती है॥ १ ॥ कम-विशेष इन पॉचो के अन्तर्गत ही भ्रान्ति होती रहती है। ठूठ मे चोर या रस्सी मे सर्पादि की भ्रान्ति जब होगी तब

ही कम विशेष जितनी योग्यता से होने वाला है वे दोष पाँच के अन्तर्गत ही आ जायेंगे। इन पाँच दोषों के विना ठीक-ठीक दृष्टि कही जाती है। जहाँ अधकार का लेश न हो, शुद्ध प्रकाश हो, दूरत्व दोष न हो तथा इन्द्रियों मे कोई दोष न हो, तव भ्रम किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। जव इन्द्रियो से तत्वों का भ्रान्ति रहित ज्ञान करते हैं, तव कारण-कार्य रूप तत्त्वों को भ्रान्ति मात्न कहना नहीं वन सकता॥ २॥

स्वरूप-शोधन

प्रसंग १—पंच विषयों के लक्षण और उनसे न्यारा चेतन जीव का स्वरूप

साखी—३४

जहँ जेहि किसिम सुगंध है, औ दुर्गन्ध जो कोय।
सो सव गध स्वरूप है, गहत नासिका सोय॥ १॥

टीका—चाहे जहाँ जिस तरह की सुगध मालूम हो या कोई भी दुर्गंध जानने मे आवे, सव गध विपय का स्वरूप ह इसे नाक ग्रहण करती हे॥ १॥

पटरस व्यजन फल नशा, रस औ कुरस कहाय।
ये सवहीं रस रूप हे, रसना से लखि जाय॥ २॥

टीका—खट्टे, मीठे, कड़ू, कपैले, तीते, चर्फरे आदि किसिम-किसिम के व्यंजन, फल या नशीली चीजे जहाँ तक अच्छे स्वाद आर खराव स्वाद ह सव रस के स्वरूप हे, इसे जिह्वा के द्वारा मालूम किया जाता हे॥ २॥

रंग जहाँ तक रूप सोई, नेत्र द्वार से ज्ञान।
रूप विपय सोइ जानिये, कारज सकल देखान॥ ३॥

टीका—हरा, लाल, काला, पीला आदि जहाँ तक रग देखा जाय उसी का नाम रूप विपय ह, रूप का नेत्र के द्वारा ज्ञान होता है, नेत्रगोचर रग ही को रूप विपय जानिए। भाँति-भाँति रूपवाले सव कार्य दिखाई दे रहे हैं॥ ३॥

शीत उष्ण कोमल कठिन, तिय सपरस कोइ अंग।
ये सव परस स्वरूप हे, विपय त्वचा परसग॥ ४॥

टीका—ठड, गर्म, कोमल आर कठोर, ये चार स्पर्श आर स्त्री-पुरुपो का स्पर्श तथा आर भी कोई इन्द्रिय या शरीर मर्दन आदिक किसी भी प्रकार से त्वचा द्वारा मालूम हुआ स्पर्श का स्वरूप ह। जहाँ तक त्वचा के सम्वन्ध से छूकर ज्ञान होवे, सो सव स्पर्श विपय जानिए॥ ४॥

सकल अवाज सो शब्द हे, विपय श्रवण को जान।
स्वर ध्वनि ताहि स्वरूप है, जहँ तक मनुप वयान॥ ५॥

टीका—चाहे जो आवाज हो सव शब्द विपय है, वह कान द्वारा जाना जाता है। स्वर

और धुनि सब शब्द ही है, मनुष्य जहाँ तक आवाज की विधि करता हो सो सब शब्द विषय है॥ ५॥

पच विषय ये दृश्य सब, कहत विलक्षण जाहि।
इनसे पृथक न जड रहै, कारण कारज माहिं॥ ६॥

टीका—बस ये ही पॉच विषय पॉचो ज्ञान इन्द्रियो द्वारा दृश्य होते है, सामने पडते है। विविध भॉति के कार्य जो विलक्षण कहे जाते है वे सब पाच विषय के अन्दर ही हैं। इन पॉचो विषयो से जड तत्व अलग नहीं हो सकते, सो कारण और कार्य दोनो मे जडता और पच विषय पाये जाते हैं। जड तत्व ही पच विषय के स्वरूप है, इन्हे समूहरूप से जड कहो या पॉचों विषय कहो, एकी बात है, इससे स्वय अनुभव हो गया कि जो कुछ कारण जड तत्वो मे नही है सो कार्यो मे कभी नहीं हो सकता॥ ६॥

कारण कारज तत्व जड, पच बिषय यहि होय।
चेतन इनसे भिन्न है, जानत जड को सोय॥ ७॥

टीका—कारणरूप पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और उनके कार्य—बीज, वृक्ष, ककड-पत्थरादि भी सब जड है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध भी इन्ही जड तत्वो के विषय है, इसलिए जहाँ तक कारण-कार्य ज्ञानेन्द्रियो से अनुभव होते है सो सब पॉच विषय युक्त जड तत्व ही विविधरूप से दिखाई देते है। जो चेतन जीव है वह इन कारण-कार्य जड पच विषयो से सदैव न्यारा है, क्योकि चेतन जीव ही दृश्य जड को जानता रहता है, अत —"सबको जाने सब नहि होई। जाननहार जीव है सोई॥" नि०॥ ७॥

जड के पार सो जीव है, ज्ञान स्वरूप स्वतंत्त।
जेहि के प्रेरक शक्ति से, तन इन्द्री परतत्त॥ ८॥

टीका—वह जनैया जड विषयो से पार है, ज्ञान स्वरूप है, कारण-कार्य से रहित है, जड से भिन्न है। जीव जड तत्त्वो मे से नहीं बना, न जीव से जड तत्त्व बने, न बन सकते है। जीव की प्रेरणा से मन-इन्द्रियॉ चलती है, क्योकि स्वय जड इन्द्रियॉ कुछ करने को समर्थ नही हो सकती। जीव ही के माने से मन होता है, जीव ही के उठाये-चलाये इन्द्रियॉ चैतन्य सी चलती-फिरती है। इसलिये जीव की प्रेरणाशक्ति के अन्दर रहने वाली इन्द्रियॉ और मन परतत्त है, जीव के अधीन है। और जीव स्वय मन-इन्द्रियो का सचालक और जाननहार उनसे भिन्न स्वतन्त्त अपने आप है॥ ८॥

सबको निर्णय जो करै, मन इन्द्रिन को मानि।
जानत आपको आप सो, जड तेहि सकै न जानि॥ ९॥

टीका—मन-इन्द्रियो को जान-मानकर सब वस्तुओं का जो निर्णय करता है, वह सबसे भिन्न जनैया जीव है। वह जड कारण-कार्य, पॉच विषय, आदि सबको स्वय जानता है और स्वय 'मै' जनैया होने से जानमात्त हूँ, इस प्रकार अपने आपको भी जानता है। उसे जड तत्त्व कैसे जान सके। बाहर के जड तत्व तथा तत्वो की इन्द्रियॉ आदि और मन, ये सब जड दृश्य होने से जीव को जानने मे समर्थ नहीं, चेतन जीव ही इन सबो का ज्ञाता है॥ ९॥

विवश वासना जीव हे, मानि मानि जड सग।
तदपि सो न्यारा रहत नित, चेतन आप अभंग॥ १०॥

टीका—प्रत्यक्ष अनुभव ह कि वासना उठने पर ही मव जीव क्रिया करते ह, अत. जीव वासना के वश ह, वे भूल से जड मे सुख मान-मान कर जड देहो के साथ रहते आये ह। मानन्दी के विना जड से जीव का कोई सम्बन्ध नहीं ह। मानन्दीयुक्त जड देह के मग मे रहते हुए भी चेतन अलग ही रहता हे। चेतन जीव ही स्थूल-सूक्ष्म मुर्दा जड देहो को प्रेरित करके उन्हे चलाने वाला होने से उनसे भिन्न अपने आप अविनाशी हे॥ १०॥

अविनाशी स्वरूप मे स्थिति की शिक्षा

छन्द—*नित जीव मे सन्तुष्ट रहि अरु जीव का सुविचार ह।*
नित जीव स्थिति मे लगन गहि जीव ही निर्धार हे॥
नित जीव ही अमृत अहे अरु जीव ही अविकार हो।
नित जीव ही हे मुक्तपद अस ध्येय वेडा पार हो॥ १॥
पुनि क्षुध मिटं आलस न हो नित सूक्ष्म भोजन कीजिये।
वहुवाद मे अवसर न छीज नींद ना वहु लीजिये॥
सव भाँति पर्श कि लत तजे कहुँ भूलि वीर्य न ख्वार हो।
कधि इन्द्रियो के रस न ले मन जीति वेडा पार हो॥ २॥
नहि काहु को वेरी लखे पुनि मीत मे न वँधाइये।
जग वस्तुओ की फिक्र तजि निजरूप मे ठहराइये॥
जस है निरालो स्ववश निज तेसे रहस्य सुधार हो।
निश्चल रहे तृष्णा तजे गुरु शरण वेडा पार हो॥ ३॥
जग मान्य वहु ससारियो के सुख न रचक लीजिये।
भूल से जो सुख उजासे ज्ञान खड्ग से छीजिये॥
सुखदृष्टि ग्रन्थी मूल हे दुखदृष्टि ग्रन्थि निवार हो।
आदत व लत उच्छेद सव स्वच्छन्द वेडा पार हो॥ ४॥
नित स्वाँग भीड तमाश नारी जूथ से दृष्टी हटे।
चुपचाप अन्तरदृष्टि करि गुरु ध्यान मे वृत्ती डटे॥
चलते व फिरते वेठते द्रष्टा तु दृश्य निवार हो।
मन से हि सव सम्वन्ध ह मन देखि वेडा पार हो॥ ५॥
जो काम क्रोध रु लोभ मद सुख दर्श ओ सम्वन्धता।
ये पट रिपू हें जीव के तेहि त्याग हो निर्वन्धता॥
पुनि शील साहस सत्य समता मुक्ति ध्येय सम्हार हो।
जग से सजग हरदम रहे यहि भाति वेडा पार हो॥ ६॥
स्मरण को नित देखि के तेहि डालना ही काम हे।
स्मरण जव खींचे नहीं यहि स्थिती विश्राम ह॥

स्मरण शान्त समान हो पुनि तब नहीं ससार हो।
इसके लिये गुरुयत्न सब गहि शीघ्र बेडा पार हो॥७॥
काम तो पूरा हि हो कुछ देर या तो सबेर हो।
करते हि करते सब बने अरु बिन किये क्या हेर हो॥
करतव्य मे जुट जाइये ब्रस तब तुम्हीं सरदार हो।
अब ऊब डूब न मग बिषे तब प्रेम बेडा पार हो॥८॥

प्रसंग २—षट चिह्नों से कारण-कार्य की एकता, उनसे न्यारा जीवों का स्वरूप

है षट भेद सो तत्व मे, कारण रूप के माहिं।
तब कारज सयोग से, उत्पति होत देखाहिं॥ ११॥

टीका—आकार, गुण, धर्म, क्रिया, शक्ति और परस्पर सयोग सम्बन्ध, ये छ· भेद कारण तत्वो मे स्वाभाविक है। जो जिसका स्वरूप होता है वह उसमे स्वाभाविक होता है। छ भेद कारण जड तत्वो मे रहते है, तभी तो परस्पर सयोग से सब कार्यो की उत्पत्ति होती रहती है। यदि एकी तत्व या एकी गुण-धर्म हो, तो कभी कार्य बन नही सकते थे॥ ११॥

षट लक्षण कारण बिषे, सब कारज मे तौन।
गुप्त प्रगट सब तहँ रहे, साधक बाधक जौन॥ १२॥

टीका—छ भेद कारण जड तत्वो मे है, वे ही उनके सब कार्यो मे भी है। उनमे कुछ अग बाधक तत्व की योग्यता पाकर छिपे रहते है, और साधक तत्व की योग्यता पाकर कुछ अग प्रकट रूप से दिखाई देते है। जड गुण-धर्मो के गुप्त और प्रगट होने मे कारण बाधक और साधक जड तत्वो का सम्बन्ध ही है॥ १२॥

स्पष्ट—तत्वो का कोई भी कार्य ले लीजिए, उनमे जड कारण के ही गुण मिलेगे। पुष्प, कागज, मिट्टी, फल या वृक्ष किसी चीज पर विचार करते है तो उनमे कारण से भिन्नता कुछ नही पाई जाती। जैसे वृक्ष कार्य पदार्थ है, इसमे मोटा आकार जल तथा पृथ्वी का और सूक्ष्म आकार वायु तथा तेज का है। इसमे बढने-मोटाने की क्रिया हो रही है तथा कुछ न कुछ इसमे रग-रूप दिखाई दे रहा है। इसमे के अणु परस्पर बँधे हुए है। इसके फल-फूल के किसी अश के चखने पर कुछ न कुछ स्वाद मिलेगा। एक तत्व नही, इसमे चारो तत्व अनुभव हो रहे है। वृक्ष के छूने पर नरम, गरम, कठोर कुछ न कुछ स्पर्श विदित ही होगा। वृक्ष पर कुछ न कुछ तृणादि की रुकावट हो ही जाती है। इस प्रकार विवेक करने से मोटा-महीन आकार। शीत, प्रकाश, कोमल, कठिन धर्म। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गध विषय या गुण। धारण, रसायन, स्नेह, गुरुत्व ये शक्ति। परस्पर सयोग सम्बन्ध, इन्ही के अन्दर वृक्ष या सब कार्यो की स्थिति पाई जाती है। अब यही बात कारणो मे भी देखिए। पृथ्वी ओर जल का मोटा आकार, अग्नि तथा वायु का सूक्ष्म आकार, यही कारण का आकार कार्य पदार्थो मे भी देखा जाता है। जल मे शीत, अग्नि मे प्रकाश, वायु मे कोमल ओर पृथ्वी मे कठिन धर्म है। पृथ्वी मे गध, जल मे रस, अग्नि मे रूप, वायु मे स्पर्श और शब्द यही पाँचों विषय है। ये सब कारण के भेद कार्य

पदार्थों में भी देखे जाते हैं। पृथ्वी मे विशेष, जल मे कम, अग्नि और वायु मे साधारण धारणा शक्ति तथा जल मे पिंड बाधने आर अग्नि में दाहक, तथा वायु मे खिंचाव की शक्ति कार्यो मे भी देखी जाती है। पृथ्वी मे सूक्ष्मरूप से जल, अग्नि और वायु का मिलान। जल मे भी अन्य तत्वो का सयोग। अग्नि मे अन्य तत्वो का मिलान आर वायु मे भी अन्य तत्वो का सम्बन्ध। इस प्रकार सबो का परस्पर सयोग सम्बन्ध कारण का ही कार्य पदार्थो मे देखा जाता है। इतने लक्षण संयुक्त कारणरूप चारो जड तत्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्यक्ष अनुभव होते हैं। इन्हीं के घट-वढ़ परस्पर संयोग से जितने कार्य वने या वन रहे हैं या वनेंगे, फिर इनसे वे विलक्षण कहाँ मे होंगे। क्योंकि ये इन्हीं के अश से वने ह। अतएव जो कारण में सो कार्य मे, जो कार्य मे सो कारण मे। कहीं तो सब अग प्रत्यक्ष होते हे, कहीं कुछ अंग छिपे रहते हैं। जेसे जल का मुख्य कार्य वादल, उससे वर्षे हुए पानी को पीकर प्यास वुझ जाती है। वर्फ छूकर या पीकर थोडी देर शीतलता हो जाती ह आर अग्नि के मुख्य कार्य अगार से अग जल जाते हैं, दीपक से उजाला हो जाता ह। इनमें अन्य तत्वो का भी मिलाप ह, पर अन्य तत्वों के गुण-धर्म इनमे वाधक परमाणुओ से ऐसे ही दवे हं, जसे विशेष ठण्डी समय मे वरसात-गर्मी होते हुए भी वाधक शीतादिको मे दवे रहते ह। कभी साधक योग्यता पाकर प्रगट भी होते रहते हं। इस प्रकार साधक-वाधक परमाणुओ के सयोग-वियोग से कारण के गुणो का कार्यो मे छिपाव और प्रकटाव होता रहता ह।

रंग विना नहिं रग सव, रग को रूप अधार।
कारण रंग को रूप ह, देखो दृश्य विहार॥ १३॥

टीका—रग के विना वहुत किसिम के रग नही हो सकते। विविध रग का आधार रूप ही ह। अनेक प्रकार के रग हो जाने का हेतु रूप-विषय ही हे। जो कुछ नेत्र से किसिम-किसिम के रगवाले पदार्थ जहाँ तक मुख मानन्दी करके देखते हो सो सव रूप विषय मे ही आ जाते ह। अन्य विषय से अन्य नहीं हो सकते, इससे रंग का आधार रूप ही है॥ १३॥

घट वढ़ परमाणुन मिले, होत रहत वहु रंग।
नेमित शक्ति के पार नहि, हद्द वहाँ ही अंग॥ १४॥

टीका—रूप विषययुक्त तत्वो के कम-विशेष परमाणुओ के सम्वन्ध से अनेक रग हो जाते हैं, पर वे अपने कारण की नियमित शक्ति के भीतर ही रहते हैं। रगो की हद रूप ही विषय तक है। चाहे जो रग हो रूप विषय से न्यारा नहीं हो सकता। ऐसे ही शब्द, स्पर्श, रस और गध का भी हाल ह॥ १४॥

स्पष्ट—जसे रूप-रग जिन तत्वो का विषय है उनमें जहाँ तक घट-वढ परमाणुओं के मेल से होने योग्य कार्य वने वे सव रंग के वाहर नहीं होते, रगो की हद रूप के अतर्गत ही हे, ऐसे ही अन्य विषयों मे भी जितने विभेद होते या होना सम्भव ह उतना ही होकर आगे उनके विभेद की रुकावट हो जाती ह। रस की हद रस ही तक ह। गन्ध आर स्पर्श की हद गंध तथा स्पर्श तक ही ह। साराश यह कि अपने-अपने विषय मे ही अमित कार्यो की हद है। इसका विशेष विस्तार इसी प्रकरण के पंद्रहवे शब्द "कारज विलग विषय से नाहीं" की टीका में देखिए।

कारण तत्व सो दृश्य हैं, जडता शक्ति समेत।
रूप बिषय कारण जहॉ, कारज रग को हेत॥ १५॥

टीका—इन्द्रियो द्वारा कारण तत्व अनुभव हो रहे हैं। वे जडता पूर्ण पॉच विषय के स्वरूप ही है। पृथ्वी, जल और अग्नि कारणरूप तत्व ही सब रगो के हेतु है॥ १५॥

शब्द स्पर्श रूप रस, गंध जानिये पॉच।
गुणन द्वार जड़ तत्व के, तिन धर्मन को जॉच॥ १६॥

टीका—शब्दादि पॉच विषय गुणो के द्वारा सर्वगुणी तत्वो के आकार धर्मादि भेद जाने जाते हैं, अर्थात ऑखो से देख-देख, त्वचा से स्पर्श कर-कर, नाक से गध ले-लेकर, कानो से शब्द सुन-सुनकर और जिह्वा से रस ले-लेकर पंच गुणो से पच ज्ञान-इन्द्रियो द्वारा चार तत्वो के आकार, गुण, धर्मादि सर्व भेदो की परीक्षा होती है॥ १६॥

दाह रसायन धारण रहै, स्नेह शक्ति तिन माहिं।
शीत कठिन परकाश है, कोमल धर्म लखाहिं॥ १७॥

टीका—अग्नि मे दाहक, जल मे रसायन, पृथ्वी मे विशेष धारण तथा अन्य तत्व और वायु मे विशेष स्नेह ये चार शक्तियॉ है। तथा शीतत्व, कठिनत्व, प्रकाशत्व, कोमलत्व ये धर्म क्रम से जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु मे अनुभव होते है॥ १७॥

एक तत्व के धर्म को, अन्य करै बलवान।
गुणन शक्ति तैसहिं लखौ, कारज भेद महान॥ १८॥

टीका—जैसे जल मे शीत धर्म है उसमे वायु, पृथ्वी और अग्नि का यथायोग्य सयोग होकर जब वातावरण मे बर्फ या पाला, ओला बन जाते है तब जल के शीत धर्म को इतना बलिष्ठ कर देते है कि उसे छूते ही हाथ बिलकुल ठडे पड जाते है। पृथ्वी की कठोरता, अग्नि का प्रकाश और वायु का कोमल तथा तिनके गुण शक्तियो को भी एक दूसरे मे वे ही तत्व मिल-मिलकर बलिष्ठ और कई किसिम के कर देते है, सो सब कार्य विविध प्रकार के दृश्य हो रहे हैं॥ १८॥

क्रिया माहिं ऐसहिं रहत, घट बढ़ करि उतपात।
साधक बाध बिरोधता, कारज बनत नशात॥ १९॥

टीका—चाल मे भी यही हेतु है कि तत्वो की क्रियाएँ एक दूसरे के सम्बन्ध से अधिक वेगवान हो जाती है। जैसे गर्मी मे वायु का अधिक वेगवान होना या विद्युत आदि की क्रिया सो घट-बढ, कम-विशेष, तत्वो के मिश्रण से अन्य-अन्य प्रकार के कार्य दृश्य हो रहे है, उनमे साधक-साधक तत्व के सयोग ही गुण-धर्मो को विकसित कर देते है और बाधक-बाधक तत्व उनके गुण-धर्म को दबाते रहते हैं। अत. कार्यो के बनने-बिगडने मे तत्वो के साधक-बाधकपना ही मुख्य हेतु हैं॥ १९॥

स्नेह शक्ति साधक लहै, योग्य योग्य बल खैचि।
दाह आदि शक्ती मिले, कार्य बनावत ऐचि॥ २०॥

टीका—तत्वो की स्नेह-शक्ति सव तत्वो मे योग्य महायता पाकर उन्हीं तत्वो के धर्म, गुण, उष्णादि शक्तियो का आकर्षणकर भाँति-भाँति के कार्यों को पुष्ट ओर वलवान तथा अनन्त प्रकार के वनाने में हेतु है॥ २०॥

सम्वन्ध अनादी जानिये, कारण कारज माहिं।
छूटि मिलत रफ्तार तिन, योग्यायोग्य रहाहिं॥ २१॥

टीका—अनादि काल से कारण-कार्य मे परम्पर तत्वो का स्वाभाविक मेल है, मो स्वभाव से ही मिलते ओर विछुडते रहते हैं, कहीं साधकरूप से, कहीं वाधकरूप से सयोग-वियोग स्वभाव से सम-विपम प्रवाहित होते रहते हैं॥ २१॥

विविध वस्तु आश्चर्य सी, विन जाने तिन केर।
गुण धर्मन औ शक्तियन, तनिक कग्त नहिं फेर॥ २२॥

टीका—तत्वो के गुण, धर्म, शक्ति-मामर्थ्य से वने एक से एक विचित्त पदार्थ देखकर आश्चर्य प्रतीत होने लगता हे, पर यह आश्चर्य तत्वो का भेद जाने विना ही लगता है, क्योकि वे सव कार्य वस्तुएँ कारण तत्वो के पाँच विपय, क्रिया, शक्ति, आकार, सम्वन्ध, ओर धर्म से यत्किंचित भी अन्य नहीं हें॥ २२॥

नाना विधि ह्वै ह्वै मिलै, अपने कारण माहिं।
कारण जौन समूह है, यकरस कतहूँ नाहिं॥ २३॥

टीका—अनत कार्य वनते ओर अपने कारण मे मिलते चले आ रहे हैं ओर पुन पुन. वही धारा अनादि से प्रवाहित हो रही है, क्योकि समूहरूप पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्यक्ष क्रियावान हें, वेसे उनके कार्य भी क्रियावान होने से स्थिर नहीं रहते, यही मव तत्वो का भेद जानिए॥ २३॥

पंच विपय कारण रहे, कारज में दरशाय।
जडता सबको रूप ह, कारण कारज ताय॥ २४॥

टीका—शव्दादि पाँच विषय कारण तत्वो मे विद्यमान होने से कार्य मे भी दिखते हें। कारण हो या कार्य, सव जडतापूर्ण हें॥ २४॥

शीत उष्ण परकाश है, कोमल कठिन सदाय।
स्नेह रसायन शक्ति है, संयोग क्रिया समुदाय॥ २५॥

टीका—शीत, उष्ण, प्रकाश, कोमल, कठिन, स्नेह, रसायन तथा मंयोग सम्वन्ध ओर क्रिया ये सव जड तत्वो के लक्षण हें॥ २५॥

जल पृथ्वी स्थूल हे, आकार जो तिनके माहिं।
अनल वायु सुक्षम रहे, त्वचा द्वार लखि ताहिं॥ २६॥

टीका—पृथ्वी ओर जल स्थूल आकार के तत्व हे ओर अग्नि तथा वायु सूक्ष्मतत्त्व हैं। ये त्वचा से जाने जाते हैं॥ २६॥

गुप्त प्रगट के भेद से, लक्षण तत्वन केरि।
बाधक ताहि छिपाय करि, साधक परगट हेरि॥ २७॥

टीका—तत्वो के गुण, धर्म, शक्तियाँ, क्रियाएँ, परस्पर सम्बन्ध और आकार, ये छः भेद कहे गये हैं। वे कही गुप्तरूप से, कहीं प्रकटरूप से जड मे पाये जाते हैं। बाधक अग गुणो को छिपा देते हैं और साधक अगो से गुण प्रगट हो जाते हैं॥ २७॥

षट षट लक्षण सबन के, एक कार्य में जोय।
कारण कारज एक है, कछु न बिलक्षण होय॥ २८॥

टीका—धर्म, गुण, शक्ति, क्रिया, आकार और सबो का सम्बन्ध, सब तत्वो मे पाये जाते हैं। चार जड तत्वो के छः-छः लक्षण उनसे बने हुए बीज-वृक्ष, ककड-पत्थर आदि कार्य पदार्थो मे भी दृश्यमान हैं। इस प्रकार कारण-कार्यों मे कुछ विलक्षण नहीं है॥ २८॥

सो षट भेद कारज रहे, पंच विषय के माहि।
चेतन इनसे पृथक है, स्वयं प्रत्यक्ष सदाहिं॥ २९॥

टीका—उपरोक्त छः भेदो सहित सब कार्य बनते हुए पच विषय के बीच ही मे होते रहते है। चेतन इन छ. भेदो और पच विषयो युक्त अनन्त कार्यो से सर्वथा भिन्न है, वह सदैव स्वय प्रत्यक्ष है। अपने को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे किसी अन्य साक्षी की आवश्यकता नहीं, क्योकि वही सबको साक्षी-गवाही देकर सिद्ध करता हुआ स्वय सिद्ध है—"सबका जानक सबका निश्चय करता है। चेतन अपना आप जनैया जड से भिन्न सम्हरता है"॥ २९॥

ज्ञान कला से शून्य जड, चेतन उनमें नाहिं।
चेतन आप स्वतंत्र है, द्रष्टा रूप सदाहि॥ ३०॥

टीका—जडतत्व इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख, मानन्दी आदि से सर्वथा रहित है। उन जड तत्वो मे चेतन नहीं है, न उनसे कभी चेतन की उत्पत्ति हो सकती है। चेतन अपने आप स्वतन्त्र है, सदैव स्वय सबका साक्षी सबको देखनेवाला केवल ज्ञान स्वरूप है॥ ३०॥

आप आप चेतन सदा, खोजि चहत कछु और।
कष्ट छोडि कछु नहिं मिलै, जहाँ जाय तजि ठौर॥ ३१॥

टीका—चेतन तो जड से भिन्न सदा अपने आप ही है। पर अपने को भूलकर कुछ और ही खोजता फिरता है। अपने अलावा खानि-बानी पच विषयो को ही रात-दिन चाहता है, इसलिए इसको सिवा दुख के और कुछ नहीं मिलता है॥ ३१॥

सर्व कल्पना चेतन जीव ही की है

दृष्टात—एक मनुष्य ने अपनी लडकी का विवाह करने के लिए विचार किया और सोचने लगा कि एक ही प्राणप्रिय पुत्री है, अत जो सबसे शक्तिमान और बडा हो उसी से पुत्री का लग्न करूँ। उसके मन मे हुआ कि सबसे श्रेष्ठ प्रत्यक्ष ज्योतिरूप सूर्य है, किसी प्रकार सूर्य से ही पुत्री का लग्न करूँ तो अच्छा है। ऐसा सोचते-सोचते ही उनके मन मे चिंतन हो उठा कि नही जी, सूर्य बडा नहीं, सूर्य को जो आच्छादित कर ले उसका नाम है बादल। वाह!

वादल तो प्रत्यक्ष शीतलमय सूर्य से भी वडा सिद्ध हुआ, अतः मैं वादल के साथ ही पुत्री का लग्न करूँ। इतने में फिर विचार हुआ कि नहीं जी, वादल से भी वडा वह जो वादल को पल मात्र मे छिन्न-भिन्न कर डालता हे उसका नाम हे पवन, अतः मैं वायु के साथ ही प्रिय पुत्री का लग्न करूँगा। ऐसा सोचते ही उसे फिर तर्कना हो उठी कि अरे! पवन से वडा तो प्रत्यक्ष स्थूलाकार पहाड है, जो कि चाहे जितना वायु चले कभी डिग नहीं सकता, अतः पहाड के साथ ही प्रिय पुत्री की शादी करूँ। इतने मे फिर उसे यह याद हो आया कि पहाड से वडा तो जो पहाड़ फोड कर उसके सिर पर विराजता है, उसका नाम है कुश, इससे कुश ही वडा है। फिर चिंतन हो उठा—नहीं जी, कुश केसे वडा, कुश से वडा तो चूहा है जो उसकी जडो को काट कर विल वना लेता हे या कुशादि की चटाइयो को कुतर डालता है, तो क्या चूहा ही सवसे वडा हे! ये सव अनुसधान करते-करते ही उसे अपनी जाति का स्मरण हो आया। वह लोनिया था, अत· उसे विचार हुआ कि अहो! म कहाँ भटकता हूँ! "सवसे वडा चूहा तो उससे वडा लोनिया का पूत" जो उसे मार डालता ह। इससे मेरी सारी कल्पनाएँ मिथ्या है, अपनी विरादरी मे ही प्रिय पुत्री का विवाह ठीक है।

सिद्धान्त—चेतन जीव ही स्वयं अजर, अमर, अमृत स्वरूप होने से सर्व शिरोमणि है, परन्तु यह देहोपाधि से अपने सत्य स्वरूप को भूल कर पच विपययुक्त पाथर, पानी, पहाड, सूर्य, चन्द्र, ज्योति, वायु आदि जड तत्वो को ही श्रेष्ठदेव-परमात्मा या व्रह्म विराट का रूप या उसकी माया मानकर या उसको अपना स्वरूप निश्चयकर वृथा कल्पना मे पीडित हो रहा हे। इतने मे श्री पारख गुरुदेव मिलकर कहते हें—अरे जीव! जो तू न हो तो समस्त खानि-वानी जड पच विपयादि को कान जाने, कोन माने! अत· तू सर्व निश्चयकर्ता सर्व न्यायक सर्व से श्रेष्ठ हे। ऐसे गुरुदेव के अमृतमय वचन सुनकर जीव का ठोर-ठेकाना लग जाता है। सव भ्रान्तियाँ मिट जाती ह। फिर तो जीव सवका द्रष्टा सवसे भिन्न परम शुद्ध स्वरूप मे स्थिर हो जाता। यह सव पारखी गुरुदेव की शरण मे लगने का फल हे, अतः गुरु पारख की शरण जाओ।

चेतन आप स्वतंत्र है, कारण और न तेस।
इन्द्री जाहि न गहि सकत, भिन्न स्वत· जो शेप॥ ३२॥

टीका—जेसे भिन्न धर्मी पृथक-पृथक जड पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु कारण-कार्यरूप स्वतन्त्र-अनादि हं, वेसे जीव जड से पृथक ज्ञान धर्म वाला कारण-कार्य रहित अपने आप स्वतन्त्र-अनादि हे। इस स्वतन्त्र चेतन का अन्य जड तत्व या कल्पित ईश्वर, व्रह्म कोई भी कारण नहीं हे। क्योकि जितने कारण-कार्य होते ह वे सव पाँच विपय और जडता के अन्दर पाँचों ज्ञानेन्द्रियो मे आ जाते हैं और जीव तो इन्द्रियो को जान-मानकर उनका प्रेरक होने से उसे जड इन्द्रियाँ ग्रहण नही कर सकतीं। वह तो इन्द्रिय, विपय, मन आदि सर्व को जानता ह। जानी हुई सव दृश्य वस्तुओ को हटाकर जो जानने वाला शेप रह जाता ह, वही अपने आप स्वतत्र है॥ ३२॥

शिक्षा—हरिगीत छन्द

अपरोक्ष पारख भूप तू क्यो दास वनि दुख पावता॥ टेक॥

मन इन्द्रियाँ पाँचो विषय ये भास जड दिखलाय है।
ये मर्म क्या जाने तेरा तूही इन्हे बतलाय है॥
इस दृश्य का ज्ञाता तुहीं द्रष्टा न दृश्य मे आवता।
अपरोक्ष पारख भूप तू क्यो दास बनि दुख पावता॥ १॥

तेरीहि सत्ता से मनोमय सृष्टि यह चालू रहे।
जो चार खानी चार बानी नाद विन्द को तू गहे॥
तुझमे विपुल है शक्ति सद् समता न अन्य लखावता।
अपरोक्ष पारख भूप तू क्यो दास बनि दुख पावता॥ २॥

इस दृश्य जग को देखकर निज भूल से दुख पाय जब।
कर्त्ता व धर्त्ता अन्य है ईश्वर खुदा बद तूहि तब॥
परमात्म देव अनत कहि तूही परोक्ष मे धावता।
अपरोक्ष पारख भूप तू क्यो दास बनि दुख पावता॥ ३॥

जड दृश्य से न्यारा सदा चैतन्य ज्ञानाकार हो।
अपरोक्ष स्थिति त्यागकर तू बन रहा निरकार हो॥
पोल मे तू पोल बनि क्यो शून्य मे जहँड़ावता।
अपरोक्ष पारख भूप तू क्यो दास बनि दुख पावता॥ ४॥

ये जक्त के कारण हमीं हम ब्रह्म रूप अनूप हैं।
ब्रह्माब्धि मे जग बुदबुदा सब आत्म अद्वय रूप हैं॥
इस भाँति केवल ब्रह्म बनि जग वृक्ष क्यो उपजावता।
अपरोक्ष पारख भूप तू क्यो दास बनि दुख पावता॥ ५॥

श्रुति शास्त्र काव्य पुराण घन कानून बानी जाल सब।
नित इन सबो का कौन थापक शोध दिल मे शीघ्र अब॥
तूहीं व तेरे सम मनुज सब कल्पना करि गावता।
अपरोक्ष पारख भूप तू क्यो दास बनि दुख पावता॥ ६ ।

ये वायुयान औ रेडियो जो जो कला विस्तार है।
पुनि शैव शाक्त रु यवन जैनी यीशु पन्थि अपार हैं॥
सिद्धान्तवाद अनत कल्पित जीव तू ठहरावता।
अपरोक्ष पारख भूप तू क्यो दास बनि दुख पावता॥ ७॥

कर जो परीक्षा सर्व की वह तू परीक्षक आप हैं।
जो आप अपना पाय धन फिर क्यो सहैं सन्ताप है॥
सताप कारण कामना क्यो चित्त तहँ भटकावता।
अपरोक्ष पारख भूप तू क्यो दास बनि दुख पावता॥ ८॥

तू एकरस अविकार है अविनाशि शुद्ध स्वरूप है।
तब क्षणिक स्थिति मात से प्रतिभास सुख भ्रम कूप है॥
प्रतिभास हता डालकर हो स्वस्थ शात समावता।
अपरोक्ष पारख भूप तू क्यो दास बनि दुख पावता॥ ९॥

सुख आश हता से मनोमय सृष्टि यह विस्तार हे।
दृढ परखदृष्टि सुधार कर मोहादि कर दे क्षार हे॥
स्वच्छन्द हो विश्राम ले तू प्रेम क्यो भय पावता।
अपरोक्ष पारख भूप तू क्यो दास वनि दुख पावता॥ १०॥

प्रसंग ३—संयोग सम्बन्ध वाले कारण जड़ तत्व भिन्न गुण-धर्मी हैं, इसी से उनके सब कार्य विभेदयुक्त होते रहते हैं, उनसे न्यारा ज्ञान गुण-धर्म वाले जीवों का परिचय

कार्य विलक्षण इसलिये, स्वय विलक्षण तत्व।
तेहि ते कारज विविध विधि, जडता सबहिं समत्व॥ ३३॥

टीका—भाँति-भाँति के विलक्षण कार्य पदार्थ इसलिए देखे जाते ह कि स्वय जड तत्वो मे अनादि गुणयुक्त भिन्नता हे। मूल मे वे चार रूप हे, पर जडता जाति सवकी वरावर है। चाहे जिस किस्म की जड चीजे वनी हो या वन जायं पर सव जड के जड ही देखी जाती हं॥ ३३॥

घट वढ तिनके अंश ते, कारज किसिम वहूत।
होत विलक्षण रहत नित, जडता विपय सवूत॥ ३४॥

टीका—कारण की जडता ओर विपयो की विभिन्नता जो कार्यो मे देखी जाती ह वही कारण-कार्य एकता का अकाट्य प्रमाण हे, ओर अर्थ स्पप्ट हे॥ ३४॥

शीत उष्ण कोमल कठिन, सव कारज के माहिं।
कारण यहे स्वरूप है, कारज मे दरशाहिं॥ ३५॥

टीका—सभी जड-कार्य पदार्थो मे शीत, उष्ण, कोमल, तथा कठिन स्वभाव देखे जाते हें। यही उनके कारण तत्वो मे भी ह॥ ३५॥

लक्षण उनके भिन्न हैं, एक एक से मेल।
तेहि ते कारज विविध विधि, निज मे निजहिं रहेल॥ ३६॥

टीका—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु कारणरूप तत्वो के गुण-धर्म भिन्न-भिन्न ह। भिन्न-भिन्न होते हुए भी वे एक दूमरे मे अनादि से सयोगवान हे, इमीलिए अनत किसिम के कार्य वनते हुए भी अपने-अपने कारण के गुण-धर्मो के अन्दर ही हैं॥ ३६॥

ह उरझे परमाणु सव, विविधि किसिम से मेल।
तेहि ते कारज भिन्न सव, नेमित जाति सकेल॥ ३७॥

टीका—परस्पर तत्वो के परमाणु एक दूसरे से गॅसे हुए हे। उनमे भाँति-भाँति के संयोग हैं, इसीलिए उनमें सव कार्य एक दूसरे से पृथक-पृथक गुणयुक्त वन जाते ह। उन कार्यों के वनने मे योग्यता के अनुसार यथावत परमाणु खिंच जाते हैं॥ ३७॥

यामें अरुझे जीव है, जानि न पावत फेर।
याते भरमि बेहोश सब, पर्‌यो चक्र मन घेर॥ ३८॥

टीका—इन्ही जड तत्वो के का'ण-कार्य में सब जीव भूल वश फँसे पडे है। अमित प्रकार के कार्य देख पडते हुए भी सब कारण के गुण, विषय और जडत्व शक्ति के अन्दर ही हैं। इस भेद को जीव जान नहीं पाते। इसीलिए जड विषयो मे भ्रमित होकर निज स्वरूप से गाफिल बन, विपरीत समझ द्वारा विविध प्रकार के माननारूप चक्कर मे कष्ट उठा रहे है॥ ३८॥

कार्य बिलक्षण देखि कै, कारण नहीं बिचार।
भिन्न भिन्न सब तत्व है, सोई मिलि पुनि न्यार॥ ३९॥

टीका—तत्वो की विभिन्न कार्य वस्तुएँ देखकर उनके कारण का नहीं विचार किये कि कारण के ही गुण, शक्ति और धर्म कार्य में आ जाते हैं। उनके भिन्न-भिन्न होने में हेतु यही है कि उन कार्यो के चार कारण मे भी गुण, धर्म, शक्ति भिन्न-भिन्न हैं, वे ही भिन्न-भिन्न तत्वो के परमाणु अमित प्रकार से मिल-मिलकर अनेक कार्य होते हुए भी कारण-रूप से पृथक-पृथक ही रहते है॥ ३९॥

बिषयरूप जड तत्व सब, महि जल अगिनि बयार।
ज्ञान कला चैतन्य है, स्वतः बिषय के पार॥ ४०॥

टीका—सारे जडतत्व पच विषय रूप हे, वे तत्व पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु नाम से प्रसिद्ध है और जीव तो ज्ञान कला के सहित स्वतः अपने आप जड विषयो से पृथक है॥ ४०॥

विषयरूप सब तत्व है, चेतन द्रष्टा होय।
शब्द स्पर्श रूप रस, इन्द्रिन से लखि सोय॥ ४१॥

टीका—सब तत्व जड़ पाँचों विषयो के स्वरूप है, ज्ञान से रहित है, इन जड तत्वो का द्रष्टा चेतन है, वह जड से न्यारा है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध ये विषय इन्द्रियो से देखे जाते हैं। इससे सहज ही इन्द्रिय साधन और इन्द्रियो के विषय जड दृश्य अलग है, और जीव इन सबका जनैया इनसे भिन्न अपने आप स्वतः रहता है॥ ४१॥

सबै कार्य है एक सम, जड स्वरूप के माहिं।
चेतन तिनसे भिन्न है, ज्ञान स्वरूप सदाहि॥ ४२॥

टीका—तत्वो के जितने कार्य है सब इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, दुख-सुख और ज्ञान रहित जड है, इसलिए सब कार्य जडता भाव से एक ही समान रहते हैं और चेतन तो जड को जानता है, अत जड से भिन्न चेतन सदोदित ज्ञान स्वरूप है॥ ४२॥

गीतिका छन्द

शिक्षा—*चव तत्व कारण हैं अनादी, कार्य नाना दिख रहे।*
मन सृष्टि का कर्ता भि चेतन सोउ सदा ही नित रहे॥
पाँचों विषय सब दृश्य है द्रष्टा स्वयं स्व रहन्त है।
उत्पति प्रलय नहि दोय की यह ही परम सिद्धांत है॥ १॥

नर पशु व अण्डज उष्मजी सब देह धारी जीव हैं।
वे कर्म करते भोगते सब वासना वश तीव हैं॥
ह बोध भूमि मनुष्य तन सत्सग से ठहरन्त है।
निज रूप अमृत स्थिती यह ही परम सिद्धात है॥ २॥
परत्यक्ष विनु अनुमान नहि वध्या सुवन शश शृगवत।
गुण धर्म सह परत्यक्ष दोउ तीसर सकल ह स्वप्नवत॥
उपमान आ अनुमान ओ शव्दादि जीव वदन्त है।
नित जीव ही सिरमोर पद यह ही परम सिद्धात है॥ ३॥
ऐश्वर्य सह ईश्वर अहे अरु विश्वमद ब्रह्मन्य है।
चंतन्य जड को छोड़ के स्वर्गादि कहँ परमन्य है॥
यह सव मनुज की कल्पना है खानि वानि गढन्त है।
हे खानि वानी तुच्छ भ्रम यह ही परम सिद्धांत है॥ ४॥
मानन्दियाँ सम्वन्ध से सव वाह्य ज्ञान प्रकाश है।
मानन्दियाँ सव परख तज तो आप ज्ञानहि खास है॥
जो आप-आप अखण्ड निज अविचल परमपद कन्त है।
सो भास दर्शन से रहित यह ही परम सिद्धात है॥ ५॥
अनुभव विवेक विराग मे नित वहु प्रयत्न सु कीजिये।
जिज्ञासु वनि गुरु शरण मे जाकर सकल दुख छीजिये॥
निश्चय हि सव का मूल है इक झूठ इक सत मंत है।
नित सत्य पारख थीरपद यह ही परम सिद्धात है॥ ६॥
पुनि जव तलक निज ज्ञान नहिं हो तव तलक कुछ भी करो।
मुक्ती न होगी कहि कभी सव स्वप्न सम जन्मो मरो॥
तुम आप अपना जान लो सवका परीक्षक वत ह।
निज स्थिती करतव्य इक यह ही परम सिद्धात है॥ ७॥
सम्पूर्ण विपयासक्ति को त्यागे विना नहि सिद्ध हो।
स्पर्श सवसे है भयावन त्याग कारज सिद्ध हो॥
सयम व गुरु को नेम व्रत सव राखि के अभिपन्त है।
करु प्रेम शीघ्र सुसत से यह ही परम सिद्धांत है॥ ८॥

प्रसंग ४—पंच ज्ञान-इन्द्रियों से जाने गये यावत कार्य सब जड़ और पंच विषय के स्वरूप हैं उनसे न्यारा चेतन जीवों के गुण-लक्षणों का वर्णन

जड स्वरूप सव कार्य है, पंच विषय तिन माहिं।
नहिं कोई तत्त्वन कार्य अस, जहाँ होय ये नाहिं॥ ४३॥

टीका—सारे कार्य पदार्थ जड़ है और पच विषय के स्वरूप है। जड तत्वो का कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो विषय रहित हो॥ ४३॥

होय बिलक्षण तेहि सरिस, जड स्वरूप तिन काहि।
पंच बिषय के रूप सब, बिषय पार नहिं जाहि॥ ४४॥

टीका—भिन्न-भिन्न तत्वो से जो विलक्षण कार्य होते रहते हैं वे सब उन्ही पॉचो विषय और जडता के स्वरूप हैं, क्योकि वे जड विषय के पार नहीं होते॥ ४४॥

बिषय बिलक्षण छोडि कै, जड़ स्वरूप तजि जाय।
होय जो तत्वन कार्य अस, तब दृष्टांत लखाय॥ ४५॥

टीका—विभिन्न प्रकार के कार्य जो पॉचों विषय के स्वरूप है, इसी का नाम विषय विलक्षणता है। यदि तत्वो का कोई ऐसा कार्य होवे जैसे गन्ना, गेहूँ, पुष्प, कपास, बर्फ, कमल, असख्य वृक्ष, शरीर, श्वास, धुआ, घडी, इजन, वस्त्र, लाल-पीले रग, खट्टी-मिट्ठी वस्तुये आदि कि जिसमे पॉचो विषय न हो और जडता भी न हो, तब तो चेतन के बारे मे दृष्टात बने॥ ४५॥

जब नहिं तत्वन कार्य अस, होत रहत कहुँ देखि।
तब कैसे चेतन कहै, उतपत्ति जड से लेखि॥ ४६॥

टीका—जब जड तत्वो का कोई भी कार्य विषय और जडता से भिन्न कहीं भी होते नहीं देखा जाता, तब जड-जड के सयोग से चेतन की उत्पत्ति कहना सर्वथा असम्भव है, क्योकि जड-जड के सयोग से सर्व कार्य जड ही होते है, चेतन नही। चेतन तो जड विषयो का ज्ञाता, जड विषयों के चिह्नों से सर्वदा पृथक है। जो जिसमे का होता है उसके चिह्न उसमे अवश्य होते हैं, अत· जड के चिह्न चेतन मे न होने से चेतन सर्वथा जड से पृथक है॥ ४६॥

कार्य बिलक्षण देखि जो, इन्द्रिन द्वार से जान।
पंच बिषय से भिन्न कस, कहौ ताहि सहिदान॥ ४७॥

टीका—जहॉ तक तत्वो के विलक्षण कार्य देखे जाते है वे सब पॉच ज्ञानेन्द्रियो द्वारा जानने मे आ जाते है, तब वे पच विषय से न्यारे कैसे हुए। यदि पच विषय से कार्य कोई अलग हो तो उसका कोई चिह्न कहो॥ ४७॥

एक एक इन्द्रिन लखत, पॉच बिषय को ज्ञान।
बिषय बिलक्षण षष्ट जो, केहि इन्द्री से जान॥ ४८॥

टीका—एक-एक इन्द्रिय से भिन्न-भिन्न पॉचो विषयो का ज्ञान जीव को होता है, इसलिए पॉच ही विषय हुए। यदि इन पॉचो विषयो से न्यारा जड तत्वो मे कोई छठॉ विलक्षण विषय उत्पन्न कहे तो उसे बताओ किस इन्द्रिय से जाना जा सकता है? उसके जानने के लिए फिर छठी इन्द्रिय चाहिए। कारण से जो कार्य विलक्षण हो तो उन कारण तत्वो के अतिरिक्त एक विषय हो जाता, बिना अतिरिक्त भये विलक्षण कार्य किसी हालत से सिद्ध नही हो सकता और कार्य को विलक्षण कहना है तो किस इन्द्रिय से विलक्षण का ज्ञान किया जाता है

सो कहिये। पाँचों ज्ञान इन्द्रियों से जाना गया सो तो कारणरूप पाँच विषय जड तत्वो के अन्दर ही है, फिर कारण गुण-धर्म के अतिरिक्त विलक्षण कार्य कहना मिथ्या ही है ॥ ४८ ॥

पंच विषय के माहिं जो, कहच विलक्षण झूठ।
घात करत निज आपको, वात न कोइ अटूट॥ ४९ ॥

टीका—छठीं इन्द्रिय तो ह नही, अत. पच इन्द्रियो से जाने गये जड तत्व कारण-कार्यरूप पच विपय से भिन्न कोई छठा कार्य कहना असत्य हे। जो कोई जड तत्वो मे विलक्षण कार्य मानकर जड़ मे जीव को मिलाते हैं वे अपना घात आप ही कर रहे हे। उनकी कोई भी वात युक्तियुक्त नहीं हे, क्योंकि कार्यो की अनित्य भिन्नता अपने-अपने कारणो की नित्य भिन्नता मे लीन हो जाती हे और कारणो के गुण-धर्मो की नित्य भिन्नता एक होती नहीं तथा जीवो के ज्ञान धर्म जड कारणों मे नही, अतः जेसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु मे अनादि गुण-धर्मयुक्त नित्य भिन्नता ह, वेसे जड धर्मों से सर्वांग पृथक जीव की नित्य भिन्नता ह। ऐसा विवेक न कर जड देह ही को सत्य मान कर विषयासक्ति-वश अनन्त पाप कर्म कर अपने लिए अनन्त दुख का वीज वोते हें। अस्तु, वे अपना घात करते हें ओर उनकी वाते भी सव कल्पित ह ॥ ४९ ॥

जेहि का जो सिद्धात हो, ताहि पृथक दृष्टांत।
विना पृथक दृष्टांत के, तुलना काहि करांत॥ ५० ॥

टीका—जिसका जो सिद्धान्त होता हे उससे पृथक दृष्टात होता हे। उपमा अलग हुए विना किसकी तुलना किससे करके उपमेय समझा-समझाया जा सकता हे। चार खानियो के अनन्त देहधारी चेतन जीव तो सिद्धाती का सिद्धात ही ह। पूर्वपक्षी द्वारा इन चार खानियो के चेतन जीवो से पृथक कोई उपमा होना चाहिए। यदि ऐसा होना असम्भव है तो जड का दृष्टात चेतन पर देना निरी भूल हे ॥ ५० ॥

पृथक रहे विन वॉट के, तालत काहि ते काहि।
वस्तु वस्तु से तोलि जो, साधि वॉट से ताहि॥ ५१ ॥

टीका—जसे अन्न या कोई चीज तौलने के लिए वॉट उसमे पृथक होते ह। वाँट अलग भये विना किसके द्वारा किसका वजन करेगा? जो कहो वस्तु से भी वस्तु की वजनई कर सकते हैं, तो उस वस्तु की भी वजनई करने को प्रथम वाँट से ही साधा जाता हैं। इससे अनुभव है कि जिस चीज को तोलना होता हे उसके लिए वाँट अवश्य भिन्न रहते हैं, तव अन्न या किसी वस्तु की वजनई की जाती ह। वसे वस्तु की जगह पर ज्ञानकलायुक्त चारो खानियो के अनन्त देहधारी जीवों को जानिए, वॉट की जगह पर केवल जड कारण-कार्यो को समझिये, जो जड़ कारण-कार्यो में कहीं भी ज्ञान का चिह्न देखा जाय तव तो उस दृष्टात से कह सकते हे कि इसी प्रकार जड से चेतन हो जाता हे, और जव जड़ तत्वो के कारण-कार्य ऐसे नहीं हैं जिसमे जडता आर विषय न हो, फिर उनसे चेतन कहने का कोई दृष्टात नहीं रह जाता। दृष्टात के विना अनुभव रहित सिद्धात की सिद्धि नही होती। अत. जड का जनेया सदव जड से भिन्न ह। इससे निर्णय हुआ कि चार खानियो के देहधारी जीव जड गुण-धर्मो से पृथक ओर निज-निज जड ो के प्रकाशक अनन्त अविनाशी प्रत्यक्ष अनुभव हो रहे ह। उनकी देहे कर्म-वासना तथा

खानि के अनुसार बनती-बिगडती रहती हैं, पर वे देह के साथ उत्पन्न और नष्ट नही होते॥ ५१ ॥

अहै स्वजाती जीव सब, एक जाति के जान।
एक बस्तु उपमेय सो, उपमा बॉट लखान॥ ५२॥

टीका—जितने चार खानियो के देहधारी जीव है वे सब अजर-अमर एक जाति के ज्ञानस्वरूप ही हैं। सजाति भाव से असख्य जीवो की ज्ञान स्वरूप मे समानता है। इनसे अलग जड तत्वो के कार्यो मे पच विषय जडपना छोड कर कोई दृष्टात होना चाहिए॥ ५२॥

बिधिवत परमाणुन मिले, कारज पुष्ट अनन्त।
अन्य को मेल समान्य लै, कारण चारि रहन्त॥ ५३॥

टीका—चारो तत्वो के यथायोग्य परमाणु मिलकर अनेक कार्य होते और कारण के गुण-धर्म कार्य मे बलिष्ट हो जाते हैं और कार्य असख्य प्रकार के भी हो जाते है तथा समूह कारण तत्वो मे अपना-अपना भाग विशेष और अन्य तीन तत्वो का थोडा-थोडा भाग मिश्रित होकर कारण समूहरूप से चार ही तत्व नित्य रहते हे॥ ५३॥

स्पष्ट—पृथ्वी मे अन्य तत्वो के सामान्य अश से मिलान होते हुए अपना विशेष अश है। ऐसे ही जलराशि समुद्रादि में अन्य तत्व सामान्य है और अपना जल विशेष है। अग्निरूप सूर्य मे अपना अग्नि अश विशेष है और अन्य तीनो तत्वो के सामान्य अश हैं तथा वायु मण्डल भी जहाँ पृथ्वी, जल, अग्नि स्थूलरूप नहीं हैं वहाँ पर वायुभाग विशेष है, उसमे अन्य तीन तत्व सामान्य और वायु विशेष है। इस प्रकार कारणो मे अन्य तत्व सामान्य अश से सयोगवान और अपना-अपना तत्व विशेष रहा है। यह भूगोलरूप पृथ्वी, समुद्ररूप जल, सूर्यरूप अग्नि तथा वातावरण मे विशेष वायुमण्डल, ये चारो तत्व मुख्य कारणरूप अनादि नित्य रहते हे। इनसे अमित कार्य प्रवाहरूप अनादि से बनते-बिगडते चले आ रहे हैं।

यथायोग्य के मेल से, गुणन होत बलवान।
बहुत किसिम के भेद ह्वै, कारज प्रगट देखान॥ ५४॥

टीका—साधक परमाणुओ के यथायोग्य मिलने से कार्यो के गुण कारण से बलिष्ठ हो जाते हैं, जैसे गन्ना, आम, मेवा आदि मे रस की विशेषता और बेला, चमेली इत्यादि में गध की विशेषता, बादलो मे भिन्न तत्वो के मिलने से शब्द की विशेषता इत्यादि सो सब पॉचो विषयों मे भॉति-भॉति के गुणयुक्त कार्य प्रत्यक्ष देखे जाते है॥ ५४॥

कारण माहिं सो सम रहै, शब्द रूप रस गध।
कारज माहिं प्रचण्ड सोइ, निज निज पाय सबन्ध॥ ५५॥

टीका—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गध अपने-अपने कारण तत्वो में सामान्यभाव से रहते है, पर वे ही कार्य मे अपने-अपने साधक परमाणुओ का सम्बन्ध पाने से बलवान हो जाते है। एक जड तत्व मे अन्य तीन तत्व मिलकर उसके कार्यों के गुण-धर्म आदि को बलवान कर देते है। इस तरह चारों तत्व परस्पर मिलकर कार्य भाव मे सब सबका साधक-बाधक हो-होकर उत्पत्ति तथा नाश भी करते रहते है। बस यही तत्वों की साधकता-बाधकता

की वजह से ही कार्य विलक्षण प्रतीत होते हैं ॥ ५५ ॥

एक एक में भेद कई, रहत आपने माहिं।
कारण कारज भेद जो, लखौ ज्ञान से ताहि ॥ ५६ ॥

टीका—इस प्रकार चारो में चारो मिलकर अनेक भेद से उत्पन्न होते हुए भी अपने-अपने कारण के गुण-धर्मों के अन्दर ही रहते हैं। वस यही कारण-कार्य मे भेद है, इसे विवेक से समझो ॥ ५६ ॥

पंच विषय जड नहिं तजै, होय विविध विधि कोटि।
एरि फेरि उनहीं रह, एक एक की ओटि ॥ ५७ ॥

टीका—जड कार्य पच विषय से वाहर नहीं जाते चाहे कितने ही विलक्षण हो। उलट-पलट कर सारे जड पदार्थ एक दूसरे के आधार मे रहते हुए जडतत्व ही हैं ॥ ५७ ॥

द्रष्टा जड़ से पृथक है, आप स्वत· शिरताज।
निर्णय करत सो जीव है, मुर्दा जड को साज ॥ ५८ ॥

टीका—जो इन जड विषयो का देखने वाला है, वह द्रष्टा चेतन जड विषयो से न्यारा है, अपने आप स्वतत्र हे, विजाति जड विषयो से श्रेष्ठ परम पुनीत हे। जो दूसरे और अपने का निर्णय करता हे, जानता हे, उसी का नाम जीव हे। वह जीव ही चेतन हे और जहाँ तक जड की सामग्री हे, सव अपने-पर के ज्ञान रहित हे ॥ ५८ ॥

शक्ति न जड मे ज्ञान की, छोडत पकडत नाहि।
विवश वासना जीव है, वॅधत रहत तिन माहि ॥ ५९ ॥

टीका—जड तत्वो में ज्ञानशक्ति नहीं हे, अतएव वे जान-मानकर न किसी को छोड सकते हैं, न किसी को पकड ही सकते हैं। जीव ही जड को जान-मानकर अमित काल की सुख-वासना धारणकर वासना वश जड विषयो में आसक्त होता रहता हे ॥ ५९ ॥

सवहिं स्वरूप से तत्व जड़, सवहिं स्वरूप से न्यार।
कारज विविध प्रकार के, जडहिं कला विस्तार ॥ ६० ॥

टीका—सभी तत्व स्वरूप से जड तथा पृथक-पृथक हैं। उनसे बने हुए विविध प्रकार के कार्य पदार्थ जड-कला का विस्तार हे ॥ ६० ॥

होते कारज से जीव तिन, रहत जडहिं के रूप।
होत विलक्षण ताहि सम, पंच विषय अनुरूप ॥ ६१ ॥

टीका—यदि जीव भी उन्ही जड तत्वो का अश या कार्य होता तो जड ही होता। अनन्त जड कार्यो क समान एक कार्य जीव भी ज्ञान मानदी रहित होता। जैसे पच विषय स्वाभाविक कारण-कार्य मे हें, वैसे पच विषय जडरूप जीव भी होता ॥ ६१ ॥

यहि ते उलटे जीव सव, द्रष्टा तत्वन केरि।
कारण कारज से परे, गहत तजत लखि तेरि ॥ ६२ ॥

टीका—पूर्वोक्त जड गुण-धर्मो से उलटे जीवो मे तो ज्ञान धर्म है। वे ज्ञानरूप जीव जड तत्वो के द्रष्टा है। अत वे जड कारण और कार्य से भिन्न है। वे लाभ मानकर जड़ विषयो को पकडते और हानि देखकर छोड देते हे॥ ६२॥

बिबश बासना रहत नित, हानि लाभ को मानि।
त्याग ग्रहण नित करत वह, मन इन्द्रिन बश जानि॥ ६३॥

टीका—जीव सदैव सुखाध्यास के वश रहते है, किसी मे हानि और किसी मे लाभ मानते है। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल मे हानि-लाभ सोचकर ही अपने से भिन्न सब जड वस्तुओ को त्यागते और पकडते रहते है। जानने वाला चेतन जीव ही मन और इन्द्रियो के वश में होकर त्याग-ग्रहण करते आये हे॥ ६३॥

बिना स्वतन्त्र स्वरूप के, त्याग ग्रहण नहिं होय।
पकडत छोडत नहिं बनै, जानि जानि करि सोय॥ ६४॥

टीका—पूर्वोक्त जड विषयो से सर्वथा पृथक स्वतन्त्र चैतन्य सत्य न हो तो जड विषयो को जान-मानकर त्याग और ग्रहण नही कर सकता। यह अनुभव है कि अपने आपको आप ही जान-जान कर पकडना और छोडना अकेले मे नही बनता। जब तक दूसरा न हो तब तक किसको जाने, किसको छोडे और किसको पकडे? इसलिए पच जड विषयो को जानने-मानने वाला और उनका त्याग-ग्रहण करने वाला चेतन जीव उनसे भिन्न तथा स्वतन्त्र है॥ ६४॥

यहि ते रहत सो भिन्न वह, आप भूलि गहि लेत।
बस्तु छोडि निज को लखै, जानि दुखहि तजि देत॥ ६५॥

टीका—त्याग-ग्रहण करने वाला चेतन जीव कारण-कार्यो से पृथक है, अपनी पृथकता को भूलकर ही जड वस्तुओ में सुखभास करके उन्हे ग्रहण करता रहता ह। जीव पॉच विषय और उनके कार्यो को अलग करके उनसे भिन्न ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को जान ले तो जड विषयो को दुखरूप जानकर उनकी आसक्ति त्याग कर देता है। इससे जीव की पृथकता स्पष्ट हो जाती है॥ ६५॥

निज में दुख कहुँ है नही, जानि मिलै जब येह।
लक्ष्य बिबश तब नहिं भ्रमै, छूटै सकल सनेह॥ ६६॥

टीका—अपने स्वरूप में दुख सम्बन्धी माया, काया, भोग, चाह, आसक्ति, सुख मानना, इच्छा, भावना, सम्बन्ध ओर विषयासक्ति, ये सब दुख नही है। मात्र भूल से ही जीव को सब कल्पना धारण हो गई है। भूल और आसक्ति त्यागकर दुख-रहित आप ही है। इस प्रकार सत्सग से जब जीव की परीक्षा हो जावे तब सुख लक्ष्य के वश जो इधर-उधर भटका करता हे वह भटकना भी मिट जावे और विजाति माया-काया के सकल स्नेह की रस्पी भी टूट जावे॥ ६६॥

शुद्ध स्वरूप सो आप है, जहॉ न बन्धन कोय।
आप आप मे आप तब, चलित होत नहिं सोय॥ ६७॥

टीका—पूर्वोक्त निर्णय में ज्ञात हो गया कि अपना चेतन स्वरूप शुद्ध है। शुद्ध इसलिए है कि स्वरूप में कोई भी बन्धन नही है। ऐसा जानकर अपने स्वरूप मे विवेक-वैराग्ययुक्त सन्तुष्ट हो रहे, तब जीव कभी चचल नहीं हो सकता॥ ६७॥

शिक्षा—स्वरूपस्थिति की रहनी छोड़ने वाला अवश्य नष्ट हो जाता है—

छन्द—ये बन्ध मोक्ष कि भूमिका, द्वय भाँति निर्णय कीजिये।
दोनो विरोधी कुपथ सयम चाह जो मन दीजिये॥
मान सुख धन धाम वहु पुनि युवति सग मे चेष्ट हो।
आरामतलबी देह की कसे भला नहिं नष्ट हो॥ १॥
ये मन स्वभाव को पलटि के नित तृप्त रहना काम है।
तेहि साध्य हेतु विराग दृढ सत्सग निर्णय ठाम है॥
जो पाय सत्य स्वरूप को साधन से थिरपद पुष्ट हो।
अपना तिहद्दा छोड यदि कैसे भला नहि नष्ट हो॥ २॥
सकल्प उठने मे प्रयोजन मुख्य हेतु सवध है।
वस्तु देश गो प्राणि सगत पूर्व ससृत सन्ध है॥
भ्रम कृत यथारथ हेतु दुइ संकल्प सर्व उजेष्ट हो।
हस-लक्ष्य विवेक विन कैसे भला नहिं नष्ट हो॥ ३॥
यक एक में मिश्रित सकल रक्षक व भक्षक गुण मिले।
अन्तःकरण वहु पट सम सव लीक एकहि इक मिले॥
नित जो सजगता धीरता ओ वीरता नहि श्रेष्ठ हो।
तज दे परीक्षा कार्य तो कैसे भला नहि नष्ट हो॥ ४॥
भ्रम कृत प्रयोजन पुष्टि मन सव है विजाती कामना।
जग मान्य विद्या भोग वस्तु दोष से सव भावना॥
निज मोक्ष ध्येय विचार तजि भव वस्तु हित करि कष्ट हो।
जो त्याग सुख अनुराग नहि कैसे भला नहिं नष्ट हो॥ ५॥
सग दोष से होय चिन्तन चित कर दृढ भाव को।
दृढ़ भाव माहिं स्वभाव जगि आसक्ति उठि भव चाव को॥
आसक्ति वश भ्रमदृष्टि करि सुखदृष्टि भव सग पुष्ट हो॥
करि कुसगत परिग्रही कैसे भला नहिं नष्ट हो॥ ६॥
विद्या व वुधि धन ज्ञान मद से गाफिली जव आय है।
वासना वश जानि नहि सँग-दोष मे वह धाय है॥
जग वस्तु भोग प्रभाव से परमार्थ ध्येय जु भ्रष्ट हो।
ध्येय धीरज छुट गया कसे भला नहि नष्ट हो॥ ७॥
सद्बोध को जो पाय कर गुरु युक्ति मे ठहर नहीं।
आर आगे ज्ञान हित भ्रम पन्थ मे भटके कहीं॥

करतल से पारख त्याग वह जग कार्य कौडी कष्ट हो।
आशा कि फॉसी बॉधि गल कैसे भला नहि नष्ट हो॥ ८॥
अविनाशि जो नित तृप्त वस्तू को न कुछ भी चाहिए।
पुरुषार्थ इसके ही लिए सत्सग निर्णय लाहिए॥
निर्णय व द्रष्टा थीर तखा पे योग्य गुण गहि श्रेष्ठ हो।
विश्राम पारख धाम तिन कैसे भला तब नष्ट हो॥ ९॥
आसक्ति मन के वेग राग जु तहँ विराग बिठाइये।
निर्द्वन्द्व हो निष्काम हो यकदम यहॉ जुट जाइये॥
धीरज तिहद्दा ऐन रखि हिम्मत सदा ही पुष्ट हो।
गुरु की कृपा निज परख बल कैसे भला तब नष्ट हो॥ १०॥

प्रसंग ५—जड़ तत्वों के धर्मो से भिन्न ज्ञान धर्म वाले जीव जड़ाध्यास वश जड़ तत्वों की ही देह धरने का विधान

सब भूतन के धर्म तजि, जीव धर्म है और।
सुखाध्यास बश ताहि के, तेहि तन धरि धरि दौर॥ ६८॥

टीका—तत्वो के शीत, प्रकाश, कोमल, कठोर धर्म तथा जडत्व स्वभाव छोडकर इनसे अलग जीव का ज्ञान धर्म है। पृथक रहे हुए जड तत्वो को जान-जानकर चेतन जीव अनादि से सुख मान लिया है, जिससे उन्ही के सुखासक्ति वश जड तत्वो की देहे धारण कर अनेक योनियो मे भ्रमण करता रहता है॥ ६८॥

सो न लखे निज भूल बशि, तन उतपति लखि ताहि।
मात पितन स्पर्श कहुँ, रज बीरज तन माहिं॥ ६९॥

टीका—जीव अपने सत्य स्वरूप के भूल-वश उपरोक्त यथार्थ बात नही जानते, जड तत्वयुक्त जड़ शरीरो की ही उत्पत्ति होती है, जीव की नही। जड शरीर जीव के अध्यास-वश कही तो माता-पिता के स्पर्श द्वारा रज-वीर्य की देह बन जाती है॥ ६९॥

तन धारिन अगन बिषे, कहुँ बिकार से देह।
धरि धरि तन छोडत सोई, बिन जाने निज गेह॥ ७०॥

टीका—और कही तो जीव शरीरधारियो के बालयुक्त सिर मे या पेट के अन्दर मल-मूत्रादि मे कृमिरूप से और अगो के विकार पसीना आदि से देह धर-धर कर बार-बार छोडते रहते हैं। जड तत्वो से अलग अपना घर सत्य स्वरूप की स्थिति न जानने ही से बार-बार जन्मना-मरना होता है॥ ७०॥

नर पशु अण्डज योनि मे, रज बीरज की देह।
उष्मज मे रस गध से, जड तत्वन की नेह॥ ७१॥

टीका—मनुष्य, बैल-ऊँट आदि पशु, पक्षी-जलचर आदि अण्डज ये तीन खानियो की

देहे स्त्री-पुरुषो के स्पर्श द्वारा रज-वीर्य मे उत्पन्न होती है और उष्मज खानियो की देहे रस-गधादि द्वारा जड तत्वो मे होती रहती ह। यथा—श्री काशी साहिब ने भी कहा है—"नर पशु अण्डज खानी योनिज। उष्मज माँ-बाप रहित अयोनिज"॥ ७१ ॥

कहूँ उष्ण कहुँ गंध रस, पवन साध्य तन हेत।
चार तत्त्व यहि भाँति से, जड देहन को खेत॥ ७२॥

टीका—कहीं विशेष उष्णता से, जैसे घूर (खाद का ढेर) या अन्नादि मे विशेष गर्मी से जीवो की देहे बन जाती ह। कही पृथ्वी तत्वयुक्त गोबर, मल-मूत्र आदि गध से और कहीं जल तत्वयुक्त रस-विषय फल-फूलादि मे और कहीं पूर्वा पवन आदि से विकृत हुए बेलि, चोडी, वृक्षादि के पत्तो पर इस प्रकार चारो तत्वो की सहायता से जीवो की वासना अधीन यथायोग्य जड देहे बन जाती हे। अत पच विषय-सुखाध्यास सहित जीवो की जड देहो के बनने की चारो तत्व सामग्री व क्षेत्र ह॥ ७२॥

बनत मिटन इमि देह सब, वह न बने नहि नाश।
याते उतपति होय नहिं, जड भूतन से तास॥ ७३॥

टीका—पूर्वोक्त प्रकार मे जड तत्वो के क्षेत में जड तत्वो की देहे जीव के कर्म सस्कार से बन-बन कर मिटती रहती ह और जीव जड देह के साथ न बनता है और न तो कभी विनष्ट होता ह, बल्कि मोटरवान के समान देह को बना कर उसमे निवास करता रहता ह। देह छूटने के बाद देह के अध्यास से फिर-फिर देह बना कर उसी मे वास करता रहता है, इसलिए जड तत्वों से जीवो की उत्पत्ति नहीं होती॥ ७३ ॥

जड देहन के चिह्न सब, जड भूतन मे लीन।
जहँ तक जीवन चिह्न ह, सो तिन पार अलीन॥ ७४॥

टीका—जड देह के लक्षण कफ, पित, वात या हड्डी, चर्म, माँस, खून, प्राणादि जितने अग ह वे तत्वों के परमाणुओ के बाहर नही हैं। बाहर के जड तत्व भी परिवर्तित हुआ करते ह। देह भी जीव के प्रयत्न करते रहने पर भी बालक, जवान, वृद्ध आदि होकर अत मे नष्ट हो जाती हे। शीत, उष्ण, कोमल, कठिन या पच विषयरूप सब कारण-कार्य हैं, वसे देहों मे भी वे ही लक्षण ह। हाँ! देहों मे जीवो के मानन्दीयुक्त सत्तानुसार प्रेरक शक्ति मे क्रिया हुआ करती ह। बाहरी जड कारण-कार्य से भिन्न इसम की विशेष क्रिया जीव के अधीन होती रहती हे, पर जड देह जड की होने मे जड के स्वाभाविक धर्म को नहीं छोड़ती। जीव के वासनानुसार जोर देने मे देह इधर-उधर क्रिया करती है, पर क्षण-क्षण मे परिवर्तन ही होता रहता हे। परिवर्तन होना ही मुख्य जड का लक्षण हे। इस प्रकार जड देहो के चिह्न जड तत्वो से मिल जाते हैं। इससे प्रत्यक्ष ह कि जड देहो की उत्पत्ति के खेत जड तत्व ही हैं और इन जड देहो में रहे हुए जो चेतन जीव हे उनके लक्षण जड देहों से सर्वथा पृथक हे। जीव म केवल ज्ञान-धर्म, ज्ञान-शक्ति एकरस हे। देहोपाधि द्वारा मान-मान कर वह सब क्रिया करता रहता हे। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुख, पूर्व के सस्कारो का ज्ञान, वर्तमान ज्ञान, आगे के लिए सोच-समझकर सुख के वास्ते सब कर्तव्य करना, हानि जान लेने पर त्याग, लाभ जानने पर ग्रहण, वासनाओ का द्रष्टा होकर स्थिति कर लेना, इन्द्रियों को रोक लेना, भय वश तन-मन

साध लेना, हर्ष से शरीर प्रफुल्लित कर देना इत्यादि देहधारी जीवों के ज्ञान-मानन्दीयुक्त लक्षण जड तत्वो ओर जड़ तत्वो की देहो से सर्वथा अलग है। इसलिए जड तत्वों से विरोधी धर्मवाला चेतन अनादि अखण्ड नित्य अविनाशी है। वह कभी जड़ तत्वो से नहीं होता, क्योकि चेतन जड देहो का परीक्षक सर्वदा जड देहो से अलग है॥ ७४॥

मन इन्द्रिन भोगत बिषय, तिन स्मरण प्रबाह।
रहत परीक्षक जीव तेहि, सब देहन के मॉह॥ ७५॥

टीका—जीव मन-इन्द्रियो के द्वारा जड विषयो को भोगता रहता है। इन्हीं जड विषयो की आसक्तिरूप स्मरण की धारा अत करण मे उठा करती है। अपनी-अपनी खानि के अनुसार इन्द्रिय-साधन द्वारा टिके हुए सुख-दुख, हानि-लाभ आदि निज-निज स्मरणो को अपनी-अपनी खानियों मे जीव जानते रहते है, क्योकि वे सब चेतन जीव वासनानुसार देह धारणकर खानि अनुसार स्मरणो द्वारा सबके ज्ञान करने वाले ही दिखाई दे रहे है। प्रत्यक्ष अनुभव है कि सब जीव दुख-सुख, हानि-लाभ, त्याग-ग्रहण मानकर जड देहो को मोटरवत चलाते-फिराते, उठाते-बैठाते रहते है, इससे स्पष्ट हो गया कि सर्व खानियो के जीव अपनी-अपनी जड देहो से पृथक मन स्मरण को जानने वाले ज्ञान स्वरूप नित्य हैं॥ ७५॥

त्याग ग्रहण नर देह में, जहॉ करम की भूमि।
भरमि रहा सब देह में, पथी जीव लखूमि॥ ७६॥

टीका—विषयो का त्याग-ग्रहण और नाना प्रकार के साधन इस मनुष्य-देह में ही होते है, क्योंकि यहॉ कर्म करने के सर्व साधन होने से नर-देह कर्म-भूमिका है। नर-देह ही में सकाम-निष्काम कर्मो का ग्रहण-त्याग होता है। यहा की गई कर्म वासना से ही सब खानियो में जीव भ्रमण कर रहा है। यह जीव वासना वश बटोही के समान देखने मे आता है। जैसे राही धर्मशाला मे विश्राम करके आगे बढते हुए फिर दूसरी धर्मशाला में विश्राम करता है वैसे जीव सब खानियो की जड देहों मे विश्राम मानकर पथिक वत देह धरते-छोडते सुख-दुख भोगते रहते है॥ ७६॥

बिन जाने यहि भेद को, तन से न्यारा जीव।
जिनसे होती देह लखि, तिनसे मानत तीव॥ ७७॥

टीका—जड देहों का जनैया जीव जड देहों से सर्वथा न्यारा है, ऐसी पूर्ण परीक्षा न होने ही से उलटा निश्चय हो जाता है। वे जिन जड तत्वो से जड देहों की उत्पत्ति होते देखते हे, उन्ही से देह में रहने वाले चैतन्य जीवो की भी उत्पत्ति मान लेते हे। यह तो बात ऐसे ही उलटी हुई कि पृथ्वी पर जल या अग्नि देखकर पृथ्वी ही को कोई जल मानकर पीने लगे और अग्नि मानकर अग्नि की जगह काम मे लाना चाहे तो उससे उलटा ही परिणाम निकलेगा॥ ७७॥

तेहि कर फल दुख अन्त नहि, फिरै जीव उनमाद।
तेहि ते गहौ सुधर्म को, लखि निजको दुख बाद॥ ७८॥

टीका—पूर्वोक्त उलटी समझ का फल अनन्त दुखो की प्राप्ति ह। जीव को जड देह

ही मान लेने से जन्मान्तर मे कर्मों के भोग और वासना त्यागकर मुक्ति का निश्चय न होने से जीव पागल के समान मनमाने कर्म करके उसी अध्यास वश तन धर-धर कर ऐसे-ऐसे कष्ट भोगते हैं कि जो "न रोते सिराय न भोगते"। इसलिए हे मनुष्यो! श्रेष्ठ धर्म क्षमा, दया, शील, सतोष, सत्सगादि धारण कर अपने स्वरूप को जड से पृथक जानो, जिससे तुम्हारे सब दुखो का अन्त हो जायेगा, क्योकि अनन्त काल के दुख छुडाने का अवसर यही है, अत यह स्मरण रहे ॥ ७८ ॥

शिक्षा—गजल

मीत जाग मीत जाग मीत जाग रे। भोर भयो आँख खोल देख जाग रे॥ टेक॥
सुकृत सुबुद्धि मिले बैठिये सुसग। साधन ले सयम ले ज्ञान हूँ अभग॥
दुनिया दुरगी क मोह त्याग रे॥ १॥

जवानी दिवानी मे मीठी मीठी नींद। खौफ नहीं तुझको न आगे उमीद॥
पडा जग जालो मे स्वप्न लाग रे॥ २॥

क्षण भर सुपास ले सुधर्म न करान। छुट्टी भल छुट्टी जब जावे शमशान॥
तृष्णा के वश नित दव लाग रे॥ ३॥

अजहूँ विकार छोड पर्ख टकसार। कर ले तु जड अरु जीव निरुवार॥
संतों की सगत मे लाग पाग रे॥ ४॥

प्रसंग ६—परिणामज्ञान रहित होने का हेतु जड़ासक्ति और उसके वश दुख का नमूना

विप से विप इन्द्री परश, तेहि को सुख मन मान।
करत क्रिया विभ्रान्त ह्वै, तजि परिणाम को ज्ञान॥ ७९॥

टीका—सब विषो से बढकर महाविप इन्द्रिय स्पर्श भोग की क्रिया है, उसी मे मन ने सुख निश्चय कर लिया है। उसी सुख निश्चय से स्पर्श-क्रिया कर-कर यह जीव स्वरूप को भूलकर हिताहित ज्ञानरहित पागल बन गया है। इस क्रिया के फल मे सुख होगा या दुख, इसका विचार छोडकर परिणाम ज्ञानरहित हो गया॥ ७९ ॥

नेत्र अंध मन दौड़ता, मग सन्ताप न जान।
सरि गिरि कूप तडाग वन, खन्धक अनल लहान॥ ८०॥

टीका—परिणाम-ज्ञानरहित मनुष्य अधा के समान बन जाता है। जेसे कोई पागल अधा भी होवे, वह दोडने में सुख माने और मार्ग के कष्टो को न जाने, नदी, पहाड, कूप, तालाब, जगल, खन्दक, अग्नि आदि भयकर जगहो मे कूदे॥ ८०॥

सरित बहे गिरि ते गिरे, बूडे कूप तडाग।
अनल दहे खन्धक परै, अहि वृश्चिक तन लाग॥ ८१॥

टीका—और वह असूझ, अबुध नदी मे बह जावे, पहाड पर दोडते हुए गिरकर चूर्ण हो जावे, गम्भीर तालाब मे अथवा कूप मे डूब मरे, जलती-धधकती अग्नि मे कूदकर जला

करे, भयकर खन्दक मे पडने से सॉप और बिच्छू उसके अग में लिपटकर डँसने लगे॥ ८१॥

नरपिशाच दुख देयॅ तहॅ, मस्त मिलै गजराज।
केहरि भालू भेडिया, यह अपदा बन साज॥ ८२॥

टीका—चोर, डाकू और जगल में हिसकी मनुष्य मिलकर मारने-काटने लगे तथा मदमस्त हाथी, बाघ, भालू, भेडिया आदि सर्व दुर्दशामय बन की सामग्री उसे प्राप्त हो जावे और वह विभ्रांत अध मनुष्य उसी मे दुख पाया करे॥ ८२॥

मग असूझ कंटक चुभै, ब्याकुल क्षुधा पिपास।
यह सब समता तेहि नही, बिषय बिबश जो त्रास॥ ८३॥

टीका—वह अध मनुष्य रास्ता भूलकर जगल मे भटकने लगे, पग मे कॉटे गडे, पानी-अन्न रहित भूख और प्यास से असह्य दुख पावे। परतु यह सब कष्ट विषयासक्ति जन्य दुख के आगे सोलह आने मे एक पैसा भर भी नहीं है। प्रत्यक्ष सर्व देहधारियो के सम्पूर्ण शारीरिक-मानसिक दुख इसी आसक्ति का फल ही जानिए। अत इस महा विष से उपराम होकर स्वरूपस्थिति बनाना चाहिए॥ ८३॥

स्पर्शादि विषयो मे सुख निश्चयवालों की अवदशा

दृष्टांत—जगदाकार ग्राम मे गर्जीराम नामक एक युवक मनुष्य था। वह पहिले कुछ अच्छा था, पर बीच मे कुसग के कारण उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई। परमार्थ के ज्ञान रहित वह अधिक-अधिक विषयो मे सुख निश्चय वाला अन्य विहार-सामग्री के साथ नित नवतरुणी सयोग की इच्छा रखता था। इसे एक 'कुलक्षिका' नाम की स्त्री प्राप्त हुई। वह देखने मे अधिक रूपवती थी। चढती जवानी में अत्यन्त कामुक भेदकारिणी, दभी, मिथ्यावादिनी तथा विषयरूपिणी थी। वह जितना ही भीतर से विकारपूर्ण थी, उतना ही ऊपर से सरलता सूचित करके गर्जीराम को अपने हाव, भाव, कटाक्ष से बिलकुल स्वाधीन कर रक्खी थी। थोडे ही दिनो में अपने और स्त्री के ऐश-विलास मे गर्जीराम का सब धन समाप्त हो गया। नही बहुत तो खाने-कपडे को तो धन चाहिए ही, ऐसा सोचकर गर्जीराम ने कहा—हे प्रियवादिनि! मैं परदेश जाकर धन कमा लाऊँ। स्त्री बोली—पतिदेव! मै आपके बिना कैसे रह सकती हूँ? मेरे आधार एकमात्र आप ही है, आपसे बढकर और कोई नही है। गर्जीराम फूलते हुए बोले—परदेश में तुम्हे पहिले कुछ कष्ट होगा। स्त्री बोली—इसकी परवाह आप न करे, जहॉ आप कष्ट सहेगे वहॉ आपके कष्ट को बॅटा कर आपके चरणों के साथ मुझे दुख मे भी सुख दरशेगा, अत· आप अपने साथ अवश्य ले चले। दोनों में अनेक तरह की बाते होकर दोनो चल दिये। चलते-चलते बहुत दूर जाकर दोनो एक बाग में कूप-तडाग-मदिर देखकर थोडी देर विश्राम के लिए ठहर गये। इतने मे एक राही आया जो कि नवयुवक रूप और द्रव्य सम्पन्न था। वह सामने नवतरुणी को देखकर मोहान्ध हो बिलकुल परिणामज्ञान रहित हो एकटक देखने लगा। धर्म-ज्ञान-रहित स्त्री भी उधर आकर्षित होने लगी। जब उस स्त्री का पुरुष टट्टी गया तब दोनों बाते करने लगे। पथिक पुरुष ने उसे कुछ द्रव्य देकर कहा—अधिक सुख-सम्पत्ति मेरे घर मे पूर्ण है, तू मेरे यहॉ चल। स्त्री अत्यन्त प्रेम भाव सूचित करते हुए राजी हो

गई। पथिक पुरुष ने कहा—फिर तेरा स्वामी आयेगा तो? स्त्री बोली—मेरे स्वामी आप हैं जो मुझे हर प्रकार से सुख देने को तैयार हे। उसकी आप परवाह न कीजिए, जरा ठहर जाइए। थोड़ी देर मे उसका पुरुष टट्टी होकर आया, ज्योंहि वह पानी भरने के लिए झुककर लोटा लटकाया कि त्यो ही स्त्री ने उसे धक्का दे दिया, वस वह धडाम से कुआँ मे गिर पडा। वह विचारा वहुत गिडगिडाया, पर स्त्री पथिक के साथ चल पडी। दोनो चलते-चलते एक शहर के किनारे एक मुसलमान साई के यहाँ ठहरे। रात्रि के समय मे साईं ने उसे वहुत से रुपये देकर प्रलोभन दिया ओर कहा कि मैं तुझे वहुत सा द्रव्य तथा आभूषण दूँगा, तू मेरे पास रह। स्त्री वोली—वाह! इससे वढकर ओर कौन सुख होगा! न मालूम यह दरिद्री कहाँ ले जावे। ऐसा कहकर रात मे सोते हुए उस पथिक-पुरुष का सिर दोनो ने मिलकर तलवार से काट डाला, फिर उस लाश को गुप्त करके दोनो रहने लगे। वहाँ पर धीरे-धीरे उस शहर के कई व्यभिचारी पुरुष आने लगे। अव मुमलमान साई के यहाँ से भी वह स्त्री निकलकर भड़ुहो के साथ मे वेश्या होकर नाचने गाने लगी। उसका रूप ओर गाना देख-सुनकर कोन ऐसा सकामी मनुष्य था कि जो न मोह जाता! धीरे-धीरे वह वेश्या वडे-वडे सेठो और लक्षाधिपतियो के यहाँ नृत्य करने लगी। यह वात उस शहर के राजा के यहाँ तक पहुँची। राजा ने उसे वुलाया। जिस दिन वह वुलाई गई, उस दिन शहर मे ढिढोरा पीटा गया कि आज 'दिलेजान' नाम की वेश्या का नृत्य होगा। अधिक सख्या मे लोग आये। इधर सयोगवश उसका प्रथम पुरुष जिसे कुलटा ने कुए में ढकेल दिया था, कोई अन्य पथिक द्वारा निकाला गया, उसके प्राण वच गये थे। वह घूमते-घूमते स्त्री का पता लगाते-लगाते उसी शहर में संयोगवश सवके साथ 'दिलेजान' का नृत्य देखने गया। वेश्या ने आपने हाव-भाव-कटाक्ष आर गानों द्वारा राजा-प्रजा सवके मन को हरण कर लिया। सव सकामी लोग कहने लगे—वाह! वाह!! दिलेजान! राजा भी प्रसन्न होकर वोला—दिलेजान! तू क्या चाहती हे? दिलेजान नाचती हुई चोतरफ नेत्रो को घुमाती हुई अपने प्राचीन पुरुष को देखकर पहिचान गई थी। उसकी इच्छा उस भोले पुरुष को मार डालने की थी। वह राजा से वोली कि राजन! (उस पुरुष की ओर इशारा करके) "यह पुरुष मुझे मार डालने के विचार मे रहा करता हे, यदि आप प्रसन्न हैं तो इसकी आँखे मेरे सामने निकलवा करके मुझे दे दीजिए ओर इसे शूली पर लटका दीजिए।" राजा ने कहा—इसे जन्मजेल दे दिया जाय तो? वेश्या वोली—फिर आप हमारे ऊपर क्या आशिक हें? यदि आप सच्चे आशिक हैं तो वही कीजिए जो म कहती हूँ। राज्यमद भी तो वीस वोतल शराव के नशे से कम नहीं ह, अत: मदाध राजा वेश्या के कहे अनुसार विना कुछ पूछे-जाँचे ही उस विचारे की आँखे निकलवाकर फजीहत महित शूली पर चढवा दिया। यह सव हाल वह कुलटा हँसते-हँसते देख रही थी। वह वेश्या राजा के यहाँ रानी रूप मे रहने लगी। राजा का छोटा भाई भी उम पर आशिक हुआ, निदान दोनो भाइयो मे झगडा हो गया। छोटे भाई ने वेश्या को वडे की तरफ झुकती हुई देखकर समय पाकर उसको वडी दुर्दशा करके जान से मार डाला। फिर तो दोनों भाइयों मे घोर युद्ध हुआ। निदान दोनो लड मरे। इस प्रकार विषय भोग मे सुख निश्चय से परिणाम का ज्ञान न रहकर सव दुर्दशा होती रहती हे। एक ही तरह से सव की दुर्दशा हो ऐसा नहीं हे। इसमे अनेक प्रकार से दुसह दुख भोगना पडता ह।

(१) अयोग्य वोल वोलते रहना। (२) लोक निन्दित दुराचरण की तरफ खिंचते रहना। (३) अपने दुर्गुण ओर आसक्तियो के त्यागने का यत्न न करना, उलटे अन्य के दुर्गुण-

आसक्तियो का निरर्थक उभाड करते हुए अपने को दाम्भिक भाव से श्रेष्ठ दर्शाने के लिए प्रयत्नवान रहना। (४) वृथा राग और द्वेष बढाकर अपने समाज मे फोड-तोड वैर-विरोध द्वारा अपने और अन्य के अत करण मे उलझन डालते रहना। (५) गुप्त रूप से खोटी भावना और कुकृत्य करते हुए फिर यह प्रमाद करना कि कोई जान न पायेगा। (६) लोभ-मोह के वश धर्म मर्यादा की परवाह न करना, असख्य कष्टदायक दुर्गुण, दुर्भावनाओ का ग्रहण होना तथा परिणाम तथा नीति-रीति का ज्ञान न रह जाना—ये सब दुख जानकर विषयो मे सुख निश्चय और उसमें प्रधान काम-भोग की आसक्ति प्रयत्न पूर्वक त्यागकर गुरुपद मे लगना चाहिए। इसके लिए नित्य सत्सग, सद्ग्रथ, सद्विचार आदि शुभ रहनी-आचरण का आधार रखना चाहिए। साथ ही यह अखण्ड निश्चय रखना चाहिए कि पूर्ववेग कृत मानसिक खिंचाव सोतरहित तालाब-जल के समान एक दिन अवश्य नि शेष हो जायेगा और परमपद का पुरुषार्थ सोत सहित कूप-जलके समान कभी घट नही सकता। अत: गुरुपद का पुरुषार्थ करते हुए हम अवश्य मानसिक वेगो का विनाशकर स्थिति में ठहरेगे।

शिक्षा—छन्द

निज सत्य चिद् के भूल से, भव चाहनाये रोग है।
आदत व इच्छा वासना, खटका करे उर शोग है॥
हैजा समान ये भोग सुख, चहते हि गहते शूल है।
चाहना तज चैन कर, वैराग्य ही सुखमूल है॥ १॥

नाम रूप पदार्थ बाहर, इन्द्रियॉ सयोग से।
इच्छा अनन्तो वेग धारा, है न थिरता भोग से॥
क्षण भग भास अनित्य जड, सुख मानना भ्रम भूल है।
साक्षी स्वय ठहराव कर, वैराग्य ही सुखमूल है॥ २॥

पॉचों विषय ही के लिए, दिन रैनि सब है दौडते।
ज्यो ज्यो भुगे तृष्णा बढै, परिशर्म ही में खौलते॥
बहु विघ्न तृष्णा सब परिश्रम, तीन भव मद धूल है।
दृष्टी घुमा भव भोग से, वैराग्य ही सुखमूल है॥ ३॥

शत्रु मित्र रु हानि लाभ, जो बन्ध मन के ऐन हैं।
निज मनोमय शुद्ध यदि तो, नित्य शात सुचैन है॥
परख कर उर वेग सपना, डार दे भ्रम धूल है।
द्रष्टापना अभ्यास कर, वैराग्य ही सुखमूल है॥ ४॥

हो जिस तरह वैराग्य सुख की, प्राप्ति वह कर्तव्य है।
जग राग सग्रह भोग दल दल, मे सकल कलकव्य है॥
झझट प्रपच को त्याग कर, एकात उपशम कूल है।
उपरामता दृढ होय तो, वैराग्य ही सुखमूल है॥ ५॥
काय वच मन से भले, वैराग्य लक्ष्य मे चाहिए।
वैराग्य दृढता के लिये, गुरु सत सेवा चाहिए॥

गुरु साधु सेवा में मिले, मेवा सुधा ही मूल है।
सत्सग साधन हर्ष से, वैराग्य ही सुखमूल है॥ ६॥
निज अमर पद की स्थिती से, वाद जड अति दूर है।
है काम क्या क्षण भग से, अविनाशि निज पद पूर है॥
निज तख्त ही सुख धाम जेहि, हंसा रहनि अनुकूल है।
चोरी व वनिता झूठ तजि, वराग्य ही सुखमूल है॥ ७॥
नित सत्य वृत्ती शूर शुचि, सग्राम में विश्राम है।
तन मन वचन सव उलटि के, निज ध्येय आठो याम है॥
जव कामना कुछ भूख नहिं, तव ग्रंथि निश्चय खूल है।
भव पूर्ववेग सुखांश तज, वराग्य ही सुखमूल है॥ ८॥
वासना वश जानि निज को, हर समय में हो सजग।
परिणामदर्शी शात चित, लवलीन हो परमार्थ मग॥
जव लक्ष्य मे सुख भास वृत्ती, प्रेम नित प्रतिकूल है।
तव मोक्ष जीव स्वतन्त्र हो, वराग्य ही सुखमूल ह॥ ९॥

दोहा—*प्रथमं भक्ती सुदृढ करि, सत गुरू पद सेव।*
ज्ञान मिले वैराग्य तव, तीनो गहि दुख छेव॥

प्रसंग ७—इन कार्यो के ये कारण हैं ऐसे चिह्न युक्त कारण से कार्य होते हुए देखकर भिन्न या विलक्षण कार्य कहने का कोई हेतु नहीं, जड़ से न्यारा ज्ञान गुण वाले जीव

कारण जड में प्रथम जव, पंच विपय को देखि।
कारज तिन से जानि तव, पंच विपय जड लेखि॥ ८४॥
कारण कारज एक सम, जव होवे यह ज्ञान।
रहा विलक्षण[१] कौन विधि, जव लेवें पहिचान॥ ८५॥
पंच विपय जड की रहीं, इन्द्री[२] तन मे राज।
तेहि इन्द्रिन से जो लख, सो सव कारण साज॥ ८६॥
याते वाहर[३] होत नहिं, कारण के कोइ वस्तु[४]।
कारण से जो पृथक ह्वै, लखैं न इन्द्रिन तस्तु[५]॥ ८७॥

टीका—(१) जव पच विपययुक्त सव कार्य जड़ जानने में आ जाते ह तो वे कारण से विलक्षण कसे कहे जा सकते ह। (२) जड तत्वों मे वनी हुई इन्द्रियॉ विराजमान हे, इससे इन्द्रियो द्वारा जो कुछ देखा जाय वह कारण जड़ तत्वो की ही सामग्री ह। (३) अलग। (४) कार्य पदार्थ। (५) मत्य चैतन्य जड इन्द्रियो से नहीं जाना जाता। ओर अर्थ स्पष्ट है॥ ८४-८५-८६-८७॥

अहै अगोचर जो लखै, कारण कारज जाल।
रहत सो जड के पार है, कारण कारज टाल॥ ८८॥

टीका—जो कारण और कार्य को इन्द्रियो द्वारा देखता है, वह देखने वाला इन्द्रियो का द्रष्टा होने से उनमे नही आता। अत· वह इन्द्रिय-दर्शन रहित है। कारण और कार्य जीव के फॅसने का जाल है। सर्व ज्ञाता तो आप ही है। अपने आप को देखूॅ यह इच्छा भ्रान्ति है। यह भ्रान्ति जब त्याग होगी तब अपना बोध स्वरूप द्रष्टा रह जायेगा। स्वय चेतन जड कारण-कार्य से परे स्वय प्रकाशी है ॥ ८८ ॥

सब कारण कारज रहे, लक्षण एक मे लाग।
द्रष्टा पृथक सो दृश्य से, ज्ञान स्वरूप बेलाग॥ ८९ ॥

टीका—सम्पूर्ण कारण और कार्य और उनके गुण-धर्म सबके सब में मिले-जुले है और जो कारण-कार्य को देखने वाला है, उसमे कारण-कार्य के लक्षण न मिलने से वह दृश्य जड से पृथक है, ज्ञानस्वरूप है और जड से सदोदित परे है॥ ८९ ॥

द्रष्टा दृश्य में आवै नहीं, जाहि लखै तेहि दूर।
पृथक रहे बिन ताहि के, लखत न कोई कछूर॥ ९० ॥

टीका—देखने वाला देखने मे नही आता। जिसे वह देखता है, उससे अलग ही रहता है। नियम है कि दृश्य से अलग रहे बिना देखने वाला कुछ देख ही नही सकता॥ ९० ॥

द्रष्टा दृश्य न नाम तब, जब न बिलग रहि ताहि।
जो कुछ सनमुख मे पडै, सो सब जड ही आहि॥ ९१ ॥

टीका—देखने वाला द्रष्टा कहा जाता है और सामने देखने में आई हुई तन-मन और तन-मन के आगे की सर्व चीजे, दृश्य कही जाती है। जब कि दोनो भिन्न न हों तो दोनों के लक्षणयुक्त नाम भी न पडे। जो कुछ द्रष्टा के सामने पड रहा है, जिनको द्रष्टा देहयुक्त ज्ञान कर रहा है, वे सब वस्तुएँ जडरूप हे, और देहरूप साधन भी उन्ही जडतत्वो के कार्य हैं। देहरूप घर को जीव निरतर जानता रहता है। अत· देहादिक सम्पूर्ण जड से पृथक चेतन जीव अपने आप है॥ ९१ ॥

कारण कारज भोग जो, सबको जाननहार।
करै प्रेम परतीति तहँ, मानि मानि आधार॥ ९२ ॥

टीका—कारण-कार्य जहॉ तक इन्द्रिय गोचर भोग पदार्थ है उन सबको जीव जानने वाला है। जनैया सबसे भिन्न रहते हुए भी अपने से भिन्न जड वस्तुओ मे प्रीति करके सुख निश्चय कर रक्खा है। जड वस्तुओ को अह-मम मान-मान कर जड तत्वो की देहो का आधार ले रहा है, यह भूल की महिमा है, नहीं तो कहॉ आप स्वय चैतन्य और कहॉ जड भोग। अत इस भूल को त्यागकर स्वरूपस्थिति करना चाहिए॥ ९२ ॥

पच बिषय सनमुख रहे, रहि अधार निज भूल।
ज्ञान अज्ञान है लक्ष्य में, सहत भरम को शूल॥ ९३ ॥

टीका—जड पॉचो विषय अनादि से जीव के सामने रहे हुए हैं, अत. इन्ही जड विषयो मे सुख-स्वाद मान कर तथा उनका आधार पकडकर अपने स्वरूप को भूल गया है। उस भूल

ही के वश जीव के लक्ष्य मे ज्ञान-अज्ञान सुख-दुख निश्चय हुआ करते हैं। ज्ञानस्वरूप जीव के अज्ञान द्वारा ढके जाने ही से उसे भ्रमजन्य अनत शूल, पीडा तथा दुर्दशा महना पडता ह ॥ ९३ ॥

निजहि अचलता भास जड, मानि विषय सुख झूल।
जस जस इच्छा शान्ति हित, भोगत विषय समूल ॥ ९४ ॥
त्यों त्यों बाढ़त अनल मम, होत जात प्रतिकूल।
भूल शूल दुख दलन हित, गहु विवेक हित मूल ॥ ९५ ॥

टीका—अपना स्वरूप कामनारहित अचल है, वही अचलता का भास जड में करके विषय सुखो मे भूलकर चचल हो रहा हे। इस इच्छा-जनित चचलता की शान्ति के लिए ज्यो-ज्यो विषयो को भोगता ह ॥ ९४ ॥ त्यों-त्यों अग्नि आहुति डालने के समान विशेष-विशेष इच्छा रूप ज्वाला वढती जाती हे। वे इच्छाएँ जीव के विपरीत होकर तथा चचलता वढा कर हमेशा दुख दिया करती ह। इन भूलजनित दुखो से छूटने के लिए जड-चतन का विवेक प्राप्त करो। जड-चेतन को अलग-अलग करके स्वरूप मे स्थित होओ। यह जड और चेतन का विवेक ही कल्याण का मूल मत ह। इसीलिए इन साखियों में फिर-फिर जड-चेतन का निर्णय कई अगों से पुष्ट किया गया ह, जिससे जिज्ञासुओ की विवेकवृत्ति अत्यन्त पुष्ट हो जावे ॥ ९५ ॥

शिक्षा—ज्ञान गारी—१

जागु जागु री सुबुधि सुहागिन, सोवत देर भई रे भई, रसना सत भजो ॥ टेक ॥
साधु स्वामि हितकर तव द्वारे, टेरत टेर भई रे भई, रसना सत भजो ॥
मात उदर मे सोय अचेतहि, बाहेर आय गई रे गई, रसना सत भजो ॥
धूल खेल मे बाल भुलाने, दाडत शाम भई रे भई, रसना संत भजो ॥
बहुरि जवानी देह सवाँर्यो, वाढ्यो जोश नई रे नई, रसना सत भजो ॥
काम क्रोध मद लोभ की धारा, दुख रचि मदन लई रे लई, रसना सत भजो ॥
आय गयो वृद्धापन रोवत, प्यारी निठुर भई रे भई, रसना सत भजो ॥
ताहि ताहि करि देहिया छूटी, यम मन पकरि जई रे जई, रसना सत भजो ॥
पुन. देह धरि भोगि दुसह दुख, विलपत याम क्षई रे क्षई, रसना सत भजो ॥
यहि विधि अमित काल से सोवत, भटकत जीव गली रे गली, रसना सत भजो ॥
अजहुँ चेत तें नींद से जागो, छिन मे दुःख टली रे टली, रसना सत भजो ॥
करि सत्संग गहा मन इन्द्री, बोध विराग लई रे लई, रसना सत भजो ॥
यहि मा कादर नाहिं वना तुम, नाहिं तो छाति जली रे जली, रसना सत भजो ॥
प्रेम दास गहि ज्ञान कि गारी, सव दुख द्वन्द्व नशी रे नशी, रसना सत भजो ॥

ज्ञान गारी—२

कोनी गली भूल्यो कहाँ तुम भटका, काहे दुखित रहा रे रहा, चित चेत करो ॥ टेक ॥
पुरुष पुरान सनातन साँचो, काहे नारि वना रे वना, चित चेत करो ॥
खानि वानि की सकल कल्पना, करता कवन गुना रे गुना, चित चेत करो ॥
सवकर खसम जीव तुम जाना, नाहक आर थपा रे थपो, चित चेत करो ॥

सो पद भूलि लबार बनौ तुम, भर्ता बहुत भनौ रे भनौ, चित चेत करौ॥
माटी पानी बिरवा पूजत, चेतन छोड भुलौ रे भुलौ, चित चेत करौ॥
अमृत ज्ञान विचार को तजिकै, क्यो जडवादि बनौ रे बनो, चित चेत करौ॥
पृथक देखात तत्व जड सम्मुख, तेहि मद काहे लहौ रे लहौ, चित चेत करौ॥
कारण कारज तत्व विषय मह, ज्ञान कहाँ सो लखौ रे लखौ, चित चेत करौ॥
द्रष्टा दृश्य बिलग करि देखौ, देह से बिलग करौ रे करौ, चित चेत करौ॥
पारख प्रभु से भेट करौ तुम, कारज तोर बनो रे बनो, चित चेत करौ॥
यादि करौ निज रूप अखण्डित, ज्ञान प्रकाश रहौ रे रहौ, चित चेत करौ॥
पच विषय क्षणभग विजाती, तासे प्रेम दुरौ रे दुरौ, चित चेत करौ॥
दिल की तपनि मिटाय छिनहि मे, साहिब कबीर मिलौ रे मिलौ, चित चेत करो॥

प्रसंग ८–सब जड़ कार्यो की अनित्य पृथकता और उनके कारणों की अनादि नित्य पृथकता, इन जड़तत्त्वों से भिन्न गुण-धर्मी जीवों की स्वत: स्वतन्त्र नित्य अनादि पृथकता का भेद वर्णन

नित्य पृथक कारण रहे, अनित्य पृथकता कार्य।
कारज नाशत जात है, कारण सदा बिराज॥ ९६॥

टीका—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु पृथक-पृथक गुण-धर्मयुक्त कारण होने से इनकी पृथकता अनादि नित्य है और इन्हीं से बने हुए अनन्त कार्यो की भिन्नता अनित्य है। एक तरफ कारणो से कार्य उत्पन्न होते रहते हैं और दूसरी तरफ अपने कारणो मे लीन होते रहते है। इस प्रकार कार्य पदार्थ कारणों के अन्दर ही मिलते रहते है, और कारण भिन्न-भिन्न धर्मयुक्त नित्य भिन्न ही बने रहते है॥ ९६॥

तस जीव पृथकता नित्य है, कारण जड के पार।
सकल बिलक्षण कार्य जो, बनि मिटि मूल मझार॥ ९७॥

टीका—जैसे कारण की पृथकता अनादि नित्य है, वैसे जड कारणो के गुण-धर्म से पार भिन्न ज्ञान गुणवाले जीवों की जड से भिन्नता भी अनादि, अखण्ड तथा नित्य है। क्योकि जितने जड के भिन्न-भिन्न कार्य हे, वे तो बन-बनकर अपने कारणो के अन्दर रहते हैं और जड कारणों मे ज्ञान धर्म है नही, अत जड से भिन्न जीवो का स्वरूपज्ञान मात्र अनादि नित्य स्वतन्त्र है॥ ९७॥

अनल पृथक जो नीर है, महि से पृथक समीर।
पृथक पृथक ये सब रहै, शक्ति धरम गुण तीर॥ ९८॥

टीका—पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु अपने-अपने गुण-धर्मो से सम्पन्न परस्पर पृथक-पृथक हैं॥ ९८॥

कार्य पृथक कारण रहे, जिनका जिनमे मेल।
कारण पृथक सो पृथक है, सबसे सब अनमेल॥ ९९॥

ज्ञान स्वरूप सो जीव तस, जड़ भूतन के पार।
भूतन के जहँ धर्म नहिं, गुण क्रिय शक्ति अकार॥ १००॥

टीका—अग्नि से जल पृथक है, जल से पृथ्वी पृथक है, पृथ्वी से वायु पृथक और वायु से पृथ्वी पृथक है। इन्हीं तत्वों के संयोग सम्बन्ध से बने हुए पृथक-पृथक जो सब कार्य पदार्थ हे, उनमें उन्हीं चारों तत्वो के धर्म-गुण, शक्ति है, इसलिए अपने-अपने कारण से पृथक यावत असख्य प्रकार के कार्य पदार्थ ह, उन सबो का विभाग करके विवेक युक्त देखने से चारो की शक्ति, धर्म, गुण चारो मे ही पाये जाते ह। अर्थात तत्वो मे बने हुए कार्यों मे अपने-अपने कारणो मे पृथक कोई चिह्न नही है। इस प्रकार पृथक-पृथक रहे हुए अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी चारों जडतत्व कारण-कार्यरूप अनादि और सब-सबमे अनमिल-भिन्न-भिन्न हैं॥ ९९॥ इसी प्रकार जीव जड तत्वों से सर्वथा पृथक ज्ञानस्वरूप हे। उसमे जड तत्वो के धर्म, गुण, क्रिया, शक्ति, आकार आदि नहीं ह। वह ज्ञान मात्र है॥ १००॥

कार्य पृथकता है नही, कारण छोडि कै अन्य।
याते पृथक न उपमा भई, कारज कोई लखन्य॥ १०१॥

टीका—कारण तत्वो के गुण-धर्मो को छोडकर कार्य की भिन्न स्थिति नहीं है। जब कारणो के धर्म से कार्य बाहर नहीं हुए तो कार्य पृथकता की उपमा ही नहीं रही, ऐसा विवेक मे जानने मे आता है॥ १०१॥

पृथक पृथक दो शब्द को, एक पदारथ कीन।
शक्ति धरम गुण वस्तु तजि, शब्दहि शब्द को लीन॥ १०२॥

टीका—कारण तत्वों से कार्यो की विलक्षणता नहीं हुई, तब किस चीज की उपमा किस पर देते हैं। ज्ञानगुण सम्पन्न चेतन्य जीवो की जड से पृथकता अनादि नित्य है, वहाँ पर अनित्य कार्यों की उपमा लागू भई नहीं। वे कारण मे पृथक कार्य-पदार्थो को मानते हैं इसी मे उनका कथन शब्द ही शब्द रह गया। जसे तत्वो के कार्य विलक्षण ह, वैसे जीवो को भ्रम-वश मानकर विलक्षण-विलक्षण शब्द मात्र की एकता करके धोखे मे उलझ रहे हैं। कारणो के गुण-धर्म से भिन्न गुण-धर्मवाले कार्य पदार्थ तो हुए नहीं और कारण तत्वो के गुण-धर्म से जीव का ज्ञान धर्म न्यारा ही ह। इस प्रकार विवेकयुक्त देखने मे अनुभव होता है कि कार्य तो कारण जड के रूप ही ह और ज्ञान धर्मवाला जीव कारण-कार्य तत्वो से पार है। अत· इन दोनो को छोडकर विलक्षण शब्द ही शब्द उनके हाथ आया॥ १०२॥

बिना भये उपमा कहे, जो हठ करि करि कोय।
तौ घटना कारण गई, जस जीवहि कह सोय॥ १०३॥

टीका—कारण के गुण-धर्मो से पृथक कार्य न होते हुए भी जो हठ करके कारण मे पृथक कार्यो को कहते हैं, तो जब कार्य पदार्थ ह और नष्ट हो जाते हैं, तो उनमे पृथक अन्य ● जड तत्व ह वे भी पृथक हैं। जब कार्य पृथक होने से नष्ट हो गये तब इसी प्रकार उनमे पृथक कारण जड तत्व भी उन्ही के कहने मे नष्ट हो जाना चाहिए, क्योंकि जब पृथक वस्तु नष्ट हो गई तब कार्य मे पृथक कारण रूप जड तत्व क्यो नहीं नष्ट होंगे। उनके कहे प्रमाण

अवश्य उनका नाश[१] मानना चाहिए। यदि वे कहे कि ये कार्य है इससे नष्ट हो जाते है और जो कारण हैं वे कैसे नष्ट होंगे, तो कारण-कार्य के गुण-धर्म एक ही हैं, तब कार्य पृथक काहे के। जब कोई भी कार्य मूलतः कारण से पृथक नही है, तब उनके पृथक होने की उपमा जीवो पर कहना मिथ्या कल्पना ही है।

स्पष्ट—इस प्रकार कारण से कार्य पृथक न होते हुए भी हठ करके कारण से पृथक कार्यो को मानकर और वही उपमा देकर जो जड तत्वो से पृथक नित्य गुण-धर्म वाले जीवो को जड कार्यवत नाशवान मानते है, उनसे कहना है कि जब गुण-धर्म के सहित जीव नित्य पृथक होते हुए भी अनित्य कार्यो की उपमा देकर तुम उसके नाश होने की कल्पना करते हो तो उसी प्रकार कारण तत्व नित्य पृथक-पृथक होते हुए भी उन्हे नाशवान मानना पडेगा। यदि कारणो का नाश नहीं है तो जीव का भी कभी नाश नही हो सकता॥ १०३॥

अनन्त बिलक्षण कार्य सम, नाशि चारि की कीन।
वह कारण वह कार्य है, अधाधुन्ध परबीन॥ १०४॥

टीका—उपरोक्त अनन्त कार्यो की नश्वरता के न्याय से उनके कथन प्रमाण चार तत्वों का भी अभाव हो गया। परन्तु जड तत्व तो मूल कारण है और उनसे उत्पन्न हुए सब जड पदार्थ कार्य है अतएव कारण-कार्य की मूलत पृथकता हे नही, पर नित्य-अनित्य का विवेक न करते हुए पृथक-पृथक दो शब्दो का पक्ष लेना न्याय काहे का। ऐसा करना अन्याय मे निपुण होना है॥ १०४॥

जो अनीति तजि न्याय लखि, पृथक तौ जीव स्वयं।
कारण कारज एक ही, तत्त्व सो चारि ह्वयं॥ १०५॥

टीका—अनीति पक्ष छोडकर यथार्थ न्याय से देखा जाय तो जीव जड तत्वो से पृथक ज्ञान धर्म वाले स्वतत अखण्ड अनादि नित्य है। रह गये विलग विजाति चार जड तत्व, सो तो उनके गुण-धर्मो के अन्दर सब कार्य होने से कारण-कार्य एक ही है। इसका पूर्व में भली प्रकार निर्णय हुआ है। इसलिए मुख्य चार जड तत्व अनादि हे और उनसे भिन्न चेतन जीव भी अनादि हे, बस यही यथार्थ न्याय है॥ १०५॥

कार्य बिलक्षण थिर नही, कारण पृथक न धर्म।
कारज नश्वर अन्य नहिं, कारण छोडि कै मर्म॥ १०६॥

१　यहाॅ पर यह वात जनाई जाती हे कि जैसे कार्यो की उपमा देकर जो वे नित्य जीवों का नाश कहते ह तो उन्ही के कथन अनुसार कहा जाता है कि जो भिन्न कार्य नष्ट होते है तो वैसे ही नित्य कारण तत्व भी नष्ट हो जाना चाहिए। यदि वे चार कारण न मानकर एक या दो तथा कुछ भी नित्य कारण माने तो उसी कथनानुसार तिन कारणो का नाश मानना पडेगा। यदि सब कारणो का सर्वथा अभाव मानें तो वालवचन के समान विभ्रान्त कथन है क्योकि अभाव से कभी भावरूप वस्तुओ की उत्पत्ति होती नहीं। जड-चेतन दोनो भावरूप भिन्न-भिन्न गुण-धर्मयुक्त प्रत्यक्ष अनुभव हो रहे हे, अत जड-चेतन दोनो भिन्न-भिन्न अनादि ह।

टीका—कारणों से बने हुए सब कार्य उत्पत्ति और नाश वाले क्षणभगुर हैं और कारणो से कार्यों का धर्म पृथक नहीं है, इसी से वे सब कार्य नश्वर हैं, क्योकि कारणों से पृथक कार्यों के चिह्न नहीं हैं ॥ १०६ ॥

दोऊ विलक्षण एक सम, यहि ते होवै नाहिं।
कारण नित्य अनादि है, कार्य अनित्य सदाहि ॥ १०७ ॥

टीका—इसीलिए मूल चार कारणो की विभिन्नता और कार्यों की विलक्षणता बराबर नही है, कारण तो हमेशा-हमेशा रहने वाले नित्य हैं और कार्य उत्पन्न-नाश होने वाले अनित्य ह ॥ १०७ ॥

पृथक पृथक सब तत्त्व हैं, जड स्वरूप मे एक।
चेतन ज्ञान स्वरूप है, सर्वाग पार की टेक ॥ १०८ ॥
कार्य विलक्षण लीन है, कारण तत्त्व के बीच।
लक्षण कारण कार्य के, एक एक मेंह्‌ खीच ॥ १०९ ॥

टीका—चार तत्वो के गुण-धर्म ओर जडपना आदि सब चिह्नो से चेतन जीव पृथक ज्ञान धर्म वाले हैं ॥ १०८ ॥ सब कार्यो के लक्षण अपने-अपने कारण में खिंच जाते हैं। अर्थात कारण के अन्दर ही कार्य रहते हैं, आर अर्थ स्पष्ट है ॥ १०९ ॥

पाँच विलक्षण से पृथक, चैतन स्वत अनन्त।
शब्द रूप रस गंध नहिं, सपरश जड़हि तजंत ॥ ११० ॥

टीका—कार्यो की अनित्य विलक्षणता और चार कारणो की नित्य विलक्षणता, ये पाँचों विलक्षणता से अथवा पच विषय विलक्षणता से सर्वथा भिन्न चेतन जीव स्वतत्र अनन्त हैं। जीव न तो शब्द ह, न रूप हं, न गध हैं, न स्पर्श ह, न रस ह। इन पाँचों जड विषयो के जनैया उनसे भिन्न, स्वरूप से सर्वदा स्वतत्र हैं ॥ ११० ॥

कारण कारज तत्त्व जड, पट भेदन को रूप।
पटहुँ भेद सह जड तजे, चेतन स्वत स्वरूप ॥ १११ ॥

टीका—जिनके अन्दर जडतायुक्त छह भेद नहीं हैं, वे चेतन स्वत. स्वतत्र स्वरूप हैं। *अन्य अर्थ स्पष्ट ह ॥ १११ ॥*

जड स्वरूप पटभेद जहँ, कारण कारज मोय।
ये सब जहाँ न रहि सकै, तहाँ न कारज कोय ॥ ११२ ॥

टीका—जडतत्त्वा मे छह भेदयुक्त कारण ओर कार्य होते रहते हैं। जहाँ जडता आर पटभेद नहीं ह, वहाँ कारण आर कार्य नहीं बन सकते। अत· चेतन में जड़ता आर पटभेद न होने मे कारण-कार्य रहित वे अखण्ड अनादि नित्य ह ॥ ११२ ॥

यहि ते कारण कारज रहित, ज्ञान स्वरूप सो जीव।
जड का जहाँ न लेश कोइ, ज्ञाता तहाँ सदीव ॥ ११३ ॥

टीका—इसलिए चेतन जीव कारण और कार्य से रहित ज्ञानस्वरूप हे। उनमें जड तत्वों का कोई चिह्न नही है। चेतन सर्व का ज्ञाता तथा नित्य है॥ ११३॥

नेत्रन देखत रूप सब, श्रवणन शब्द को ज्ञान।
परश त्वचा से ज्ञान है, गध नाक से जान॥ ११४॥

रसना से रस को लखत, पॉच मे कार्य तुलान।
शब्द को ज्ञान न नेत्र से, श्रवण से रूप न जान॥ ११५॥

जिह्वा से नहि गध लहि, चर्म से नहिं रसज्ञान।
नासा छोडि न गध लहि, अन्य द्वार पहिचान॥ ११६॥

इन्द्रीगोचर दृश्य जड, द्रष्टा तेहि के पार।
इन्द्रिन को प्रेरक वहै, इन्द्रिय ताहि न धार॥ ११७॥

जेहि इन्द्री का जो विषय, मुख्य ताहि ते ज्ञान।
अन्य से ज्ञान न अन्य को, यहि ते पॉचहि मान॥ ११८॥

टीका—(१) पॉच ज्ञान इन्द्रियो में आये हुए सब दृश्य कार्य पॉचो विषयो मे ही समाविष्ट हो जाते है। (२) अन्य इन्द्रियो से अन्य विषयो का ज्ञान नहीं होता है, इसलिए पॉच विषय ही मुख्य जानना चाहिए। बाकी अर्थ स्पष्ट है॥ ११४ से ११८॥

जल से पावक होय नहि, अनल से होय न बारि।
जड साकार से शून्य नहिं, कहूँ भूमिका टारि॥ ११९॥

टीका—एक जगह से हटकर दूसरी जगह मे जल का आग व आग का पानी नही हो जाता है, और जड साकार तत्व कही भी हटकर शून्य नहीं हो जाते॥ ११९॥

नही भूमिका भेद से, पृथ्वी बायू होय।
कारण कारज मे लखौ, सकल भरम को खोय॥ १२०॥

टीका—भूमिका भेद से पृथ्वी कभी वायु नही हो सकती और वायु कभी पृथ्वी नहीं हो सकता। यही बात सब कारण-कार्यो मे विचारिए। जो सम्भव होगा, वही भूमिका भेद से भी होगा, असम्भव कभी नहीं हो सकता। मिट्टी से घडा, घर आदि चाहे जो बनाया जाय, पर वह जल या अग्नि तथा वायु नही हो सकती। ऐसे ही जल, अग्नि, वायु कार्यरूप मे परिणित होते हुए भी वे अन्य के अन्य नहीं होते, ऐसा सर्व भ्रम को छोडकर विचार करो॥ २०॥

इनके जड कारज लखौ, पंच विषय चव धर्म।
मेल परस्पर है तहॉ, शक्ति क्रिया जड मर्म॥ १२१॥

टीका—पॉच विषय, चार धर्म, परस्पर तत्वो का सयोग, परमाणुओं में क्रिया और शक्ति ये सब जड तत्वो के लक्षण हे। इन्ही लक्षणयुक्त सब कार्य जडरूप होते हैं॥ १२१॥

ज्ञान शून्य ये भूत सब, कारण कारज हेरि।
शक्ति मेल गुण धर्म तिन, क्रिया जडहि तिन केरि॥ १२२॥

टीका—भूत अर्थात तत्व। अन्य अर्थ स्पष्ट है॥ १२२॥

ज्ञान स्वरूप द्रष्टा रहा, कारण कारज पार।
विन जाने सो आपको, भटकि रहा भ्रम धार॥ १२३॥

टीका—जड दृश्य का जानने वाला जीव ज्ञान स्वरूप द्रष्टा है, कारण-कार्य से न्यारा है। परन्तु स्वरूप की पारख किये विना भूल-भ्रम की धारा मे वह रहा है, जड देह ही को सत्य मानकर सव आपदाएँ सह रहा है। अतएव इस दुख से छूटने अर्थ गुरु शिक्षा पर ध्यान देना चाहिए॥ १२३॥

गजल

इतना तो कर लो प्यारे, इस वर्तमान ही में।
गुरुपद को नित्य धारो, इस वर्तमान ही मे॥ टेक॥
जड देह का जो प्रेरक, साक्षी स्वय जो अनुपम।
अस जानि थीर होओ, इस वर्तमान ही मे॥ १॥
चतन्य जड अनादी, दोनों के भेद न्यारे।
करिके विवेक भ्रम तजि, इस वर्तमान ही मे॥ २॥
मनवेग दुक्ख दारुण, पुरुपार्थ करके हट जा।
द्रष्टा परख परख तू, इस वर्तमान ही मे॥ ३॥
आगे की आश माहीं, वरु विघ्न रोक दीखे।
अस जानि ध्येय दृढ कर, इस वर्तमान ही मे॥ ४॥
जितना महन व निश्चय, जग के लिए कर तू।
उतना हि दृढ गुरू मग, इस वर्तमान ही मे॥ ५॥
जिससे न देह आगे, जाव न गर्भ कूपा।
वह सव प्रयत्न साजे, इस वर्तमान ही मे॥ ६॥
दुख हानि शोक निशदिन, स्वारथ कि भीर जग मे।
पारख मे प्रेम अविचल, इस वर्तमान ही में॥ ७॥

दोहा—सव ओर से खेचि चित, गुरुमग लागा मीत।
सशयगत या देह मे, ठहरा सदा अभीत॥

विनय

जड प्रियता वन्धन सकल, विपय भोग को जाल।
सो परखाय अभाव करि, गुरुवर दीन दयाल॥ १२४॥

टीका—जहाँ तक जड़ वस्तुओं मे सुख मानकर प्रेम किया जाता है वहाँ तक सव वन्धन आवागमन तथा त्रिविध दुख का हेतु है और वही देह, गेह, युवतीघट, धन, वानी और आनन्द आदि जड प्रियतारूप पाँचों विपयो के भोगो का चारो तरफ जाल फैला हुआ है। उसी मे हम सव जीव वन्धन को प्राप्त हो रहे थे। दीनों पर दया करने वाले सद्गुरुदेव ने वन्धनरूप जडप्रियता और विपय भोगो के जाल को दुखरूप परीक्षा कराकर उनका मेरे दिल से त्याग करा

दिया, सब जालो से उपराम करा दिया॥ १२४॥

सुख मानन्दी जीव को, बन्धन बडो कराल।
करि निर्णय सो टारि भ्रम, स्वत स्वरूप निकाल॥ १२५॥

टीका—जीव को जो यह निश्चय है कि विषय-भोगों मे सुख है, यही कठिन बन्धन का स्वरूप है। जड-चेतन का यथार्थ विवेक-प्रकाश कराकर श्रीगुरुदेव ने सुख निश्चयरूप महा भूल-तम को हटा दिया और अपने स्वत स्वरूप चेतन को न्यारा लखा दिया॥ १२५॥

श्री गुरु रघुबर की कृपा, भयो दास निष्काम।
गर्ज मिटी जग भोग की, लह्यो जीव निजधाम॥ १२६॥

टीका—वैराग्य विभूषित श्री सद्गुरु रघुबर साहिब की दया ही से यह दास जगत की सम्पूर्ण कामनाए त्यागकर निष्कामी हो गया। जगत के सम्पूर्ण सुख-भोगो की चाहनाएँ मिट गई। यह जीव अपने धाम अचल पारख को प्राप्त हो गया॥ १२६॥

सबै सहायक सन्त मम, जे जे पारख रूप।
जिनके निर्णय को लखे, भयो भिखारी भूप॥ १२७॥

टीका—श्री रघुबर साहिब की अपार दया इस दास पर तो रही ही, और भी जितने सत सद्रहस्ययुक्त पारख भूमिका पर स्थित हुए, वे सब हमारे सहायक हैं, हित करने वाले हे। उन्हे भी मै अपना सिरमौर मानता हूँ, क्योकि उन पारखी सतो की निर्णयचर्चा को सुनते, समझते, देखते ही यह दर-दर का भिक्षु जीव पूर्ण स्वरूपस्थिति का सम्राट हो गया॥ १२७॥

बन्दौ तिनके पद कमल, सदा जोरि कर दोउ।
तव उपकार महान है, हिय में जानत सोउ॥ १२८॥

टीका—सब पारखी सतो के चरणकमलो की दोनो हाथ जोडकर वन्दना-सादर त्रिविध बन्दगी करता हूँ। आप गुरु सतो का उपकार तथा सहायता इतनी विशेष है कि वाणी द्वारा कह नही सकता। उस अनन्त उपकार को हृदय मे ही जानते बनता है॥ १२॥

गरीब निवाज कबीर गुरु, दीन जीव रछपाल।
किह्यो कृतारथ दास को, दै निज बोध बिशाल॥ १२९॥

टीका—खानि-बानी की दीनता तथा गरीबी का निवारण करने वाले पारख प्रचारक आप श्री सद्गुरु कबीर साहिब ही है। आप दीनदुखित गिरे-भूले हुए जीवो को पारखज्ञान देकर रक्षा करने वाले हुए। तमाम दीन-दुखियो मे इस दास को भी अपना श्रेष्ठ पारख बोध देकर कृतार्थ कर दिये। अथवा मुझ "विशाल दास" दीन दुखी जीव को आप श्री कबीर साहिब अपना सत्य सिद्धात पारख ज्ञान देकर भव-बन्धन छुडाये-कल्याण कर दिये॥ १२९॥

देह भोग प्रारब्धि मे, दया दृष्टि तव पालि।
रहै एकरस बृत्ति मम, मन उपाधि को टालि॥ १३०॥

टीका—आप पारख प्रकाशी "कबीरसाहेब" और सर्व पारखी सत तथा 'सद्गुरु रघुबर साहेब' की कृपा से जिस पारखबोध की प्राप्ति भई वही हमारे ऊपर दया-दृष्टि है। प्रारब्ध

भोग, जिमे भोगना अवश्य ह, नेराश्यता मे विवेकपूर्वक गुजारते हुए हम पारख वोध की यथायोग्य रक्षा करते रहे आर एकरस हमारी वृत्ति पारख स्वरूप में टिकी रहे। मन की उपाधि-काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि को त्यागकर हम सदा सत्स्वरूप मे स्थिर रहे, यही आप पारखी सद्गुरु संतो से दास का अन्तिम निवेदन हे ॥ १३० ॥

शिष्य-विनय-गजल

जव ज्ञान क जल वरसाय दिया, इन सत परखपद वालो ने।
त्रयताप क दु ख हटाय दिया, इन संत परखपद वालो ने॥ टेक॥
अज्ञान निशा मे सोते थे, हम खानि व वानि मे रोते थे।
सोते से सव को जगा दिया, इन सत परखपद वालो ने॥ १ ॥
इह भोग पच त्रय जालों मे, अरु वाक्य जाल के भालों में।
वह काल कल्पना छुडा दिया, इन सत परखपद वाला ने॥ २ ॥
सद् निर्णय उत्तम वाक्य कहा, पुनि निर्भय पद अति श्रेय लहा।
गुरुवों के फन्दे छुडा दिया, इन सत परखपद वालो ने॥ ३ ॥
सव जड का ध्येय छुडाय दिया, अरु चेतन इष्ट दृढ़ाय दिया।
पुनि मन गति को परखाय दिया, इन सत परखपद वालो ने॥ ४ ॥
सद् चेतन जीव निराला है, खुद सव का जानन वाला हे।
तहँ स्थिति स्वय कराय दिया, इन सत परखपद वालो ने॥ ५ ॥
तन मन वच वलिदान करूँ, गुरुदेव क क्षण-क्षण ध्यान धरूँ।
प्रेम के द्वे दुख नशा दिया, इन संत परखपद वालों ने॥ ६ ॥

सामूहिक-प्रसंग

लावनी—३५

आँधी वाड़र कार्य वायु के, चारि दिशा से चारि कला।
अधोगवन ओ उर्धगवन हो, कारज वनते वायु वला॥
अग्रेय नैऋत्य ईशान दिशा से, वायव्य पवन के कार्य भला।
खण्ड मण्ड ह्वै कार्य वनै सव, सुगंध दुर्गन्धिहिं खेंचि चला॥ १ ॥

टीका—ऑधी-वॉडर आना, पूर्व-पश्चिमादि चारो दिशाओ का वायु चार गुणो युक्त होकर वहना तथा नीचे-ऊँचे चलना ये सव कार्य वायु की ही शक्ति है। पूर्व-दक्षिण कोण आग्नेय, दक्षिण-पश्चिम कोण नैऋत्य, पश्चिम-उत्तर कोण वायव्य, उत्तर-पूर्व कोण ईशान, इन चारो उपदिशाओं से वायु का भिन्न-भिन्न गुण युक्त वहना, खण्ड-मण्ड कार्यो का वनना-विगडना, सुगंध-दुर्गंध को आकर्षण करके उडाना॥ १ ॥

गुव्वारा वुज्जा मुर्दा फूलै, विविध भाँति के हो चक्कर।
विजुली गेस चिराग मसालहु, कारज अनल जो अन्य प्रकर॥

कोहिरा ओस बरफ औ पाला, ओला बद्दल बुन्द लखर।
तरंग बुदबुदा कारज जल के, बनि बिगड़त परवाह लकर॥
धरम शक्ति गुण क्रिया परस्पर, मेल अकारौ कारण कर।
ज्यों का त्यों ही कारण कारज, सुक्षम दृष्टि से लखौ तिकर॥ २॥

टीका—गुब्बारो, बुदबुदो तथा मुरदो को फुलाना अनेक प्रकार से चक्राकार भँौर पडना इत्यादि वायु की शक्ति प्रत्यक्ष है। बिजली, गैस, चिराग, मशाल, अगारादि और भी तेज युक्त अग्नि के अनेक कार्य होते हैं। कोहिरा, ओस, बर्फ, पाला, ओलादि बद्दल बुन्द जो दीखते हैं और भी तरग बुदबुदे सब जल के कार्य प्रवाह रूप बनते-बिगडते रहते है। प्रत्येक तत्त्व में धर्म, गुण, शक्ति, क्रिया, परस्पर संयोग तथा आकार ये सब कारण के लक्षण कार्यो में रहने से विवेकयुक्त देखो तो दोनो अभेद रूप ही हैं॥ २॥

धर्म शक्ति गुण सबके सब में, कारण के सो कार्य रहै।
नहिं तौ जानि मिलैं कस कारज, ये बायु अनल जल भू के अहै॥
क्रिया परस्पर मेल बिछोहै, तीनि काल यकतार लहै।
होत बिलक्षण लक्षण अन्दर, यहि ते बिषय न षष्ट अहै॥ ३॥

टीका—सब कारणो के धर्म, गुण तथा शक्ति सब कार्यो में रहते हैं, परतु एक विशेष रहता है। यदि कारण विशेष के चिह्न कार्यों मे न हों तो ये वायु के कार्य, ये जल के कार्य, ये अग्नि या पृथ्वी के कार्य ऐसा भिन्न-भिन्न पहिचान कैसे मिले। सब मे क्रिया होने से सब तत्वों के परमाणुओ को आपस में मिलना-बिछुडना तीनों काल में एक समान प्रवाहित रहता है। जितने भॉति-भॉति के कार्य हैं सो सब कारण के लक्षण अतर्गत ही रहते हैं, अत: छठा विषय कदापि नहीं होता॥ ३॥

कार्य बिलक्षण कारण से तहँ, लक्षण कारण केहि रहे।
महि मे ककड पत्थर होते, पारा सोरा नमक अहे॥
कोयला गन्धक लोहा तॉबा, जस्ता कॉसा फूल जहे।
कंचन चाँदी रत्न जहॉ पर, अन्य पदारथ जौनि महे॥
वेली तृण औ पुष्प कन्द है, भॉति भॉति फल मूल ठहे॥ ४॥

टीका—कारण से जो अन्य प्रकार के कार्य दीखते हैं वहाँ प्रत्यक्ष कारण ही के लक्षण पाये जाते हैं। देखो, पृथ्वी मे ककड, पत्थर, पारा, सोरा, नमक, गन्धक, लोहा, ताँबा, जस्ता, काँसा, फूल, सोना, चॉदी, रत्न, बौडियॉ, तृण, फूल, कन्द, नाना प्रकार के फल, मूल आदि बनते रहते है॥ ४॥

भाँति भाँति के बृक्ष जहॉ तक, बनस्पती आरण्य भये।
किसिम किसिम के अन्न जानिये, औरौ जो कुछ क्षितिहिं लये॥
कठिन धरम औ धारण सब मे, मेल परस्पर क्रिया तये।
शब्द गंध गुण बिदित लखावत, ऐसहि या तौ धूम भये॥ ५॥

टीका—अनेक प्रकार के वृक्ष और जहाँ तक वनस्पतियों की उत्पत्ति तथा बडे-बडे जंगल, अनेक प्रकार के अन्न और भी जो कुछ पृथ्वी से बने हुए हैं, सब उसी के कार्य हैं। उन सब कार्यों मे कठिनता, कुछ न कुछ धारणपना, अन्य तत्वों से सयोग, क्रियाशीलता, शब्द तथा गध प्रगट रूप से दिख रहे ह। गध यो ही प्रकट होती अथवा वस्तु जलाने पर धूम द्वारा उसकी प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

जल वायू के लक्षण इसमें, कारण माहिं जो देखि लई।
शीतल कोमल परश जनावे, शक्ति रसाय जो वस्तु भई॥
स्नेह शक्ति औ परश शब्द गुण, मेल परस्पर क्रिया तई।
रस गुण देखि तहाँ पर रहिये, जल थल थूल अकार वई॥ ६॥

टीका—जल और वायु के लक्षण भी कार्यों में विद्यमान हैं। वे छूने पर शीतल तथा कोमल विदित होते, रसायन शक्ति युक्त सर्व कार्य उत्पन्न होते हैं॥ परस्पर परमाणुओं का खिंचना स्नेह शक्ति है[१]। चखने पर कुछ न कुछ स्वाद तथा जल, पृथ्वी के स्थूलाकार ये सब कार्य पदार्थों मे मूल के ही लक्षण हैं॥ ६॥

धर्म प्रकाश प्रगट जहँ साधक, बाधक पाय तो रहै छिपे।
दाहक ऐसहिं समुझौ तिसमे, जो जिसमे सो रह तपे॥
क्रिया शब्द औ लखौ रूप गुण, मेल परस्पर सबै थपे।
अनल पवन आकार सुक्षमै, कारण लक्षण कार्य अपे॥ ७॥

टीका—प्रत्यक्ष अग्नि का प्रकाश धर्म है, किन्तु कार्यो में कहीं वह साधक योग्यता से प्रकट होता ह, कहीं बाधक पाकर छिप जाता, जेसे दियासलाई की अग्नि आदि। यही हाल अग्नि मे दाहक शक्ति के बारे मे समझो। जो जिसका मुख्य गुण शक्ति हे वह उसमें मूल से ही सदेव स्थित रहता, फिर भी साधक-बाधक तत्व ही गुणों के गुप्त-प्रगट होने के हेतु हे॥ मूलतत्वों में क्रिया ह, शब्द ह, रूप हे, सर्वो का परस्पर सयोग हे। अग्नि, वायु सूक्ष्माकार हैं। यही सब कारणो के लक्षण कार्यों मे भी स्थित रहते हैं॥ ७॥

जहँ तक लक्षण कारण माहीं, कारज मे सब देखि परे।
कहत बिलक्षण सो सब लक्षण, लक्षण कारण कार्य धरे॥
सब भूतन के मिलि परमाणू, आवश्यक घट बढ कार्य करे।
यहि ते किसिम किसिम के कारज, कारण आँगन नाचि खरे॥ ८॥

टीका—जितने गुण लक्षण मूल द्रव्यों मे हैं, वे सब विभिन्न कार्यो मे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। जिसे विलक्षण कार्य कहा जाता हे, सो सब जड पच विषय लक्षणान्तर्गत हैं। पूर्वोक्त कारण के लक्षण ही कार्यों मे होते हैं, अन्य नहीं। चारो तत्वों के घट-बढ परमाणु मिलकर आवश्यक सब कार्य पदार्थ योग्यतानुसार निर्मित होते रहते हे। इसलिए अनेक प्रकार के कार्य पदार्थ

---

१ स्नेह का अर्थ चिकनाहट ह, परतु इस ग्रथ मे ग्रथकार ने वायु का स्नेह शक्ति खिचाव अर्थ मे लिया हे।

कारणों के गुण-धर्मों के अन्दर ही निर्मित होकर कारण शक्ति मे लीन होते रहते हैं ॥ ८ ॥

बाहेर जाय कि शक्ति कहाँ है, बिन कारण के होने से।
जो कुछ कारण माहिं रहा है, कारज वही बनोने से।
कारण कारज साथ न छोड़त, जड के जड ही होने से।
कारण कारज भूतन लक्षण, चेतन में न लखोने से॥ ९ ॥

टीका—चार कारण तत्वो के लक्षण के बाहर बनने की शक्ति कार्यो मे कहाँ से आ जायेगी। क्योंकि मूल सामग्री के बिना उनका निर्माण ही कैसे हो सकेगा। अतः जो कुछ मूल कारण की शक्ति है वही कार्य रूप मे ढलती रहती। कारण-कार्य दोनो का सम्बन्ध नहीं छूट सकता। जड कारण मूल द्रव्यो से अनन्त कार्य होते रहते हैं। कारण-कार्य होना ही जड तत्वों के गुण-लक्षण हैं। ये सब जड के चिह्न चेतन स्वरूप मे नहीं पाये जाते॥ ९ ॥

यहि ते रहत पार सो जड के, द्रष्टा चेतन रूप सदा।
दृष्टि में आवत जड ही तेहि के, मोह मानि तहँ भूलि फँदा॥
तन सम्बन्ध इन्द्रियाँ संघट, भरम बिबश मानन्दि लदा।
भूल भरम मानन्दी मात्रहि, जड़ चेतन सम्बन्ध सदा॥
निज स्वरूप को ज्ञान होय जब, उलटि दृश्य से आप अदा॥ १० ॥

टीका—इसीलिए जड तत्वो से द्रष्टा जीव सदा उनसे पार है। द्रष्टा चेतन के लक्ष्य के सम्मुख जड विषय सदैव पडते रहते है। वह उसमें मोह और सुख मानन्दी बनाकर और अपने को भूल कर बन्धनो मे हठात गिरता है। अनादि काल से देह-इन्द्रियो के सम्बन्ध मे निजस्वरूप के भूल-वश सर्व मानन्दियों की अहंता ग्रहण कर लिया है। सदा से भूल, भ्रम तथा मानन्दी मात्र ही जड चेतन का सम्बन्ध है। 'मै चेतन शुद्ध स्थित हूँ' जब ऐसा निज स्वरूप का बोध ग्रहण करेगा तब भास से लक्ष्य उलट कर स्वरूप में सदा के लिए अचल स्थित हो जावेगा॥ १० ॥

लावनी—३६

पंच बिषय से बिषय बिलक्षण, तीनिकाल नहिं दीखत है।
शब्द बिलक्षण शब्दहि रहते, पर्श बिलक्षण पर्शहि है।
रसहूँ रसहि रहत सब बिधि से, रूप रंग सब रूपहि है॥
गंध बिलक्षण गंधहि होते, अन्य न कबहूँ होत अहै।
पाँच बिषय के पाँचहि दीसत, षष्टम कहाँ सो आय रहै॥ १ ॥

टीका—शब्दादि पाँचो विषयों से पृथक छठां विषय तीनो काल मे कही दिखाई नही देता। चाहे जितने प्रकार के शब्द हों वे रहेगे शब्द ही। न्यारे-न्यारे स्पर्श, स्पर्श के अन्दर ही है। भाँति-भाँति के रस भी रस ही है, तरह-तरह के रूप-रग भी रूप ही विषय के अन्तर्गत हैं। अनेक गध भी गध विषयान्तर्गत ही हैं, अतः वे कभी दूसरे नहीं होते। पाँच के पाँच ही विषय अनन्त कार्यो मे व्यक्त होते है, फिर छठा न्यारा विषय कहाँ से हो सकता है॥ १ ॥

जड़ के जड़हिं भूत ये देखी, कारण कारज वही अहै।
मनुष सयाने समुझैं यहि को, छलवल जीवन बहुत दहै॥
कठिन बिबिधि बिधि कठिनहिं रहते, शीत बहुत बिधि शीतहि है।
किसिम किसिम परकाश जहाँ तक, परकाश के बाहर नहीं वहै॥ २॥

टीका—ये जड तत्व सदैव जड के जड ही रहते हैं। कारण व नाना कार्य सव ही जड हैं। विचारवान इन वातों को भली प्रकार परखते हैं कि जड से चेतन कभी नहीं हो सकता। जो चालाकी से जड़वाद सिद्ध करते हैं, उन्हे ठनकी चालाकी ही सर्व दुराचरणों में जलाती है। अव भी सूक्ष्म दृष्टि करके ध्यान दो। अनेक प्रकार के कठिन स्पर्श, वहुत प्रकार के शीत तथा भाँति-भाँति के प्रकाश से चाहे जहाँ कार्य वने सो सव अपने-अपने में ही सीमित हैं। विविध शीत से शीत तथा भाँति-भाँति प्रकाश से प्रकाश वाह्य नहीं हो सकते॥ २॥

कोमल भेद जहाँ तक होते, कोमल छोडि न अन्य लहै।
मेल परस्पर सवसे सवका, मेल स्वभाविक भूत जहै॥
स्नेह रसायन धारण शक्ती, दाहक शक्ति सो जाय कहै।
कारण कारज ज्यो के त्यो ही, हद्द के बाहर नहीं भहै॥ ३॥

टीका—भाँति-भाँति कोमल पदार्थों का जहाँ तक पसारा हे वे सव कोमलपना छोडकर अन्य धर्म नही ग्रहण कर सकते। गुण-धर्मयुक्त सर्व तत्वो का परस्पर मिश्रण है। तत्वो में संयोग सम्वन्ध होना स्वाभाविक धर्म है। स्नेहादि चारो शक्ति शक्तिमान चार जड तत्वों से पृथक केसे हो सकते हैं। मूल भूत और तिन से वने कार्य ज्यो के त्यो जड गुण, धर्म, शक्ति के रूप ही रहते, वे अपनी सीमा के वाहर कभी नहीं होते॥ ३॥

क्रियावान ये दृश्य विराजैं, चंचल छोड़ि न अचल तहै।
मिलि मिलि भेद होय जो पंचक, विपय भवन जड़ घेर ठहै॥
पाँच के पाँचहि जड के जड़ ही, अन्य विपय जड कहाँ गहै।
पष्ट विपय हित पष्ट इन्द्रियाँ, नही भई कस जानि वहै॥ ४॥

टीका—ये सव गतिशील तत्व स्वाभाविक इन्द्रिय गोचर है। ये कभी एकरस अचल नहीं रहते। सव तत्वो के परमाणु मिल-मिलकर जो अनन्त भिन्न-भिन्न कार्य उत्पन्न होते हैं वे सव पाँच विपय के अन्दर जडता से ठोस रहते हैं। कारण मूल मे जड पाँच विपय हे। वे ही कार्यो में पाँच जड से जड वन जाते हें। इनसे भिन्न अन्य 'विपय' जड प्रदार्थों मे कहाँ होता है? उस छठा विपय के ज्ञान करने हेतु छठीं इंद्रिय कहां हे? फिर छठा विपय का कैसे ज्ञान कर सकते हो?॥ ४॥

जड़ चेतन दोउ भिन्नहिं रहते, टसमस कवहूँ नहीं चहै।
मिथ्या वाद प्रपंचहि दीसत, वायू जल थल एक न है॥
अनल प्रकाश प्रकाशत अन्यहि, सोऊ प्रत्यक्ष न एक अहै।
तनधारी चेतन सव जितने, जान मान विन कहूँ न है॥ ५॥

टीका—अतएव जड चेतन पृथक ही पृथक रहते है। वे कभी निज निज गुण-धर्मो से किंचित चलित नही होते है। अत· जड से जीवो की उत्पत्ति की सिद्धि करने की सारी बातें नितान्त झूठी हैं। देखो! कभी वायु, जल और पृथ्वी तत्व एक हो सकते हैं? अग्नि अपने से पृथक पदार्थ ही को अपने प्रकाश द्वारा दर्शाती है। सो भी तीनो तत्वों से प्रत्यक्ष पृथक है। एवं देहधारी चेतन जीव ज्ञान कला युक्त मानन्दी सहित रहते, ज्ञान मानन्दी रहित वे किसी खानि में नहीं दीखते॥ ५॥

भासिक भास एक नहिं होते, द्रष्टा दृश्य न एक महै।
गोचर और अगोचर न्यारा, जस का तसहिं न कहत कहै॥
बिषयासक्ति अर्थ यहि माही, भूलि भरम कस जड़हिं गहै।
यथायोग्य निर्णय की बातै, धारण करि कल्याण लहै॥ ६॥

टीका—प्रत्यक्ष युक्तियो द्वारा तीनो काल मे द्रष्टा और दृश्य कभी एक नहीं हो सकते। इन्द्रियगोचर जड और इन्द्रियातीत चेतन सदैव पृथक ही रहते है। भूतवाद का लक्ष्य केवल दुखपूर्ण पंच विषयो का उपभोग ही है। अहो! नित्य चेतन् स्वरूप भूलकर सुख-भ्रमवश नश्वर दुखद जड पदार्थों का क्यो पक्ष ग्रहण कर रहे हो? यथार्थ सत्यन्याय की बाते ग्रहण करते ही, हे जीव! तुम शीघ्र दुख द्वन्द्वो से रहित हो जाओगे॥ ६॥

छन्द—३७

चेतन पृथक ज्ञान को ज्ञानै॥ टेक॥

कारण से जो कार्य बिलक्षण, जड़ के जडहिं देखानै।
कारण लक्षण सहित बिलक्षण, कारज सब उतपानै॥ १॥
शब्द स्पर्श रूप रस गंधौ, कारज मे प्रगटानै।
तिनके मूल माहिं सोइ देखौ, भिन्न अभिन्न लखानै॥ २॥
महि कठोर शीतल जल दरशत, अनल प्रकाश रहानै।
बायू कोमल परश त्वचा से, चारौ भिन्न लखानै॥ ३॥
धारण शक्ति रसायन मिलि कै, दाहक शक्ति रहानै।
स्नेह शक्ति मिलि चारि एकलै, इन बिन कार्य न भानै॥ ४॥
एक एक के साधक ह्वै कै, सब ते सब बलवानै।
यहि ते देखि बिलक्षण पड़ते, एक में बिबिधि लखानै॥ ५॥
बिबिधि भये पर पाँच के अन्दर, यहि ते वही प्रमानै।
कारण आनि न कबहूँ राखै, तिन तजि कार्य जो आनै॥ ६॥
मेल परस्पर सब से सब का, क्रिया शक्ति बिलगानै।
योग्य योग्य मिलि कार्य में बँधते, नेमित शक्ति तहानै॥ ७॥
पर रफ्तार न छोडत कबहूँ, सम अरु बिषम लहानै।
जड के जडहिं रहत सब बिधि से, भूतन केरि निशानै॥ ८॥

गुण धरमन अरु शक्ति से भिन्नहिं, क्रियाकार विलगाने।
जड में रहे एकता तिनकी, जेहि जड तत्त्व वखाने॥ ९॥
भिन्न भिन्न लक्षण जड चेतन, विलग विलग पहिचाने।
द्रष्टा दृश्य के पार सदा है, निज को भूलिके जडहिं लोभाने॥ १०॥

टीका—जड तत्वो से पृथक ज्ञाता सदैव ज्ञान मात्र ही रहता है। वह कभी जड तम स्वरूप नहीं होता॥ टेक॥ मूल भूतों से वने जो चित्र-विचित्र कार्य हैं, वे जड के जड ही होते दिखाई दे रहे ह। मूल कारणो के लक्षण गुण-धर्म को लिए हुए ही भाँति-भाँति के सर्व विलक्षण कार्य उत्पन्न होते रहते ह॥ १॥ पाँच विषय ही कार्यो मे प्रत्यक्ष हैं। सोई उनके मूल कारणो मे भी रहने से दोनों पृथक दिखते हुए भी एक ही दर्शित होते हे॥ २॥ पृथ्वी कठोर, जल शीतल, अग्नि प्रकाश, वायु कोमलतायुक्त चारों पृथक ही पृथक अनुभव होते हैं॥ ३॥ धारण, रसायन, दाहक, स्नेह ये सव क्रम से पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु की शक्तियाँ, मिलकर घर, घडा, वृक्षादि कार्य होते हं, इन चारों के विना कोई भी कार्य नहीं उत्पन्न हो सकता॥ ४॥ कारण में स्थित सव शक्तियाँ एक दूसरे का सहायक हो-होकर बलिष्ट हो जाती हं। इसलिये अनन्त कार्य भिन्न-भिन्न ओर एक-एक मूल से अनेक कार्य उत्पन्न दृश्य हो रहे है॥ ५॥ विविध प्रकार से कार्य होने पर भी पाँच विषय के मध्य रहने से कारण रूप ही प्रमाणित होते हैं। जो कारण के गुण छोडकर कार्य वन जाते तो वे कारण की मर्यादा गुण-शक्ति कभी नहीं रखते॥ ६॥ सव तत्वों का परस्पर सम्मिश्रण ह, उनमे क्रिया ओर शक्ति पृथक-पृथक हैं। वे सव योग्यतानुसार आकर्षित हो होकर कार्य रूप मे समुचित पुष्ट होते हुए नाना विधि से अपने नियमित शक्ति-गुण के अन्दर ही निर्मित होते रहते ह जेसे सोना, चाँदी, वृक्षादि॥ ७॥ साधक-वाधकता को प्राप्त हो नाना कार्यों मे रूपान्तर होते हुए भी जड तत्व अपनी रफ्तार एव गुण-धर्म नही छोडते। चाहे कारण हो चाहे कार्य, सर्व जड के जड ही रहते, यही जड भूतो के लक्षण हे॥ ८॥ चारो के गुण, धर्म, शक्ति, क्रिया तथा आकार पृथक ही पृथक हैं। ज्ञानशून्य जडत्व भाव में समानता हे, इन्हीं को जड तत्व कहा जाता हे॥ ९॥ जड-चेतन गुण-धर्म युक्त पृथक हैं। विचारवान उनकी पृथक-पृथक परीक्षा कर लेते हैं। देखो। सर्व द्रष्टा चेतन सदोदित जड दृश्य मे परे हे। वह अपने यथार्थ स्वरूप की परीक्षा न पाने से ही भूल वश विषयो मे सुख सत्य मानकर दुखी हो रहा हे॥ १०॥

शव्द—३८

विरोधी गुण जीव है जड के पार॥ टेक॥

शव्द स्पर्श रूप रस गंधहि, जड़ गुण को विस्तार।
कारज सकलौ तेहि के अन्दर, पृथक न कतहुँ लहार॥ १॥
शीत उष्ण कोमल कठिनाई, परश त्वचा से धार।
श्रवण नासिका रसना चक्षु से, चारि विषय लखि न्यार॥ २॥
जीव ज्ञान गुण अचल स्वरूपहिं, अजर अमर अविकार।
मानि अधार कार्य जड़ तत्त्वन, कल्पित भास मँझार॥ ३॥

ज्ञान शक्ति औ ज्ञान धरम है, ज्ञानै से काज पसार।
हलचल किहे प्रमाणु सृष्टि मे, स्वबश कला बिसतार॥ ४॥
पर नहिं लखत आप को जब तक, काटि न संशय जार।
बिबश बासना दुख ही भोगत, दै-दै शक्ति तहार॥ ५॥
रचि-रचि जाल जीव सब भूले, ह्वै मानन्दि शिकार।
स्वादी परे स्वाद के गालहिं, करि अभिमान असार॥ ६॥
जड गुण से नहिं भूत पृथक कोइ, देखौ भले निहार।
तेहि के पार जीव अबिनाशी, ज्ञान स्वरूप रहार॥ ७॥
पारख साक्षी जान जीव ही, जीवहि ज्ञान गुनार।
अन्ते खोजि मिलै वह कैसे, आपुहि खोजनहार॥ ८॥
द्रष्टा दृश्य भाव तजि सुखिया, आपहि आप सम्हार।
बिरला जानि आप मे ठहरै, तुच्छ बिषय जग टार॥ ९॥

टीका—जड से विरोधी ज्ञान धर्म वाला चेतन जीव जडतत्वो से पृथक है॥ टेक॥ विस्तृत रूप से पच विषय ही जड तत्वो के गुण है, सम्पूर्ण कार्य पच गुणो के भीतर उत्पन्न होते हैं, कही भी कोई कार्य भिन्न नही देखने मे आता॥ १॥ त्वचा से शीत-उष्णादि स्पर्श का ज्ञान होता है, और कान, नासिका, जिह्वा तथा नेत्र से शेष शब्द, गध, रस, रूप पृथक-पृथक देखे जाते है॥ २॥ जीव ज्ञान गुण-धर्म वाला स्वरूप से शुद्ध, अचल, अजर, अमर तथा सर्व विकार-विहीन है। वह देह-गेहादि जड पदार्थो मे सुख सहारा मानकर कल्पित भास अध्यास के बीच भूल रहा है॥ ३॥ जीव मे केवल ज्ञानशक्ति, ज्ञान धर्म और ज्ञान युक्त ही सारा कला-कौशल का फैलावा है। चेतन जीव ही निज ज्ञान शक्ति से नाना विद्युत यत्र कला निर्माण कर जल थल वायु मण्डल परमाणु ससार मे खलबली मचा रक्खा है॥ ४॥ परन्तु जब तक निज स्वरूप को जड से भिन्न न समझेगा तब तक जाल रूप नाना सदेहो को काट नहीं सकता। उलटे तन-मन मे शक्ति दे-देकर कामना वश दुख ही दुख पाया करेगा॥ ५॥ समग्र देहधारी जीव खानि-बानी यत्रादि कर्तादि विषय जाल रच-रच कर तथा निजस्वरूप को भूलकर मानन्दियो का शिकार हो रहे है। देखिये! जो सब स्वाद का अनुभवकर्ता चेतन है, वही मिथ्याभिमान लेकर नश्वर दुखप्रद स्वाद-अध्यास मे चबाया जा रहा है॥ ६॥ अच्छी प्रकार परीक्षा करके देखिये! जड लक्षणो से कोई भी तत्व पृथक नही है। इसके परे जनैया जीव अविनाशी ज्ञान स्वरूप स्वय स्थित है॥ ७॥ जीव ही पारख, साक्षी, जान-ज्ञान गुण वाला चेतन है। निज से पृथक खोजने पर पृथक जड भास ही प्राप्त होगा। स्वय ही तो सर्व चेष्टाओ को वेगवान बना-बनाकर ईश, ब्रह्म, देव, भूतादि भोग सुखो को खोजने वाला है। सर्व खोजक स्वय को सत्य समझता नही, निज को विस्मृत कर निज सत्यदेव अन्यत्र कैसे प्राप्त हो सकता है!॥ ८॥ अत हे द्रष्टा जीव! सर्व दृश्य का प्रेम छोडकर सुखी हो जा। तू स्वत· चैतन्य के बोध बल को सभाल ले। इस महान स्वबोध मे कोई विवेकवान ही एकरस स्थिर रहते हैं, वे निरर्थक विषयासक्ति तथा जगत-ममता हटा कर स्वय स्वरूप मे सदा के लिए शात हो जाते हैं॥ ९॥

शब्द—३९

जनइया जीव सबका जानै न आपु॥ टेक॥

देह मे बशि कै आप को भूला, मानि विपय सुख सहे सतापु।
आँखिन देखत देह की सूरति, मानि अह मम ताहि मिलापु॥ १॥
औरहुँ रूप देखि तहँ विलमे, श्रवण शब्द सुनि फहम न आपु।
बिविधि कल्पना मनसे करिके, पैरि पार नहिं थाह लहापु॥ २॥
कहूँ कहे जड़ देह को हम है, करि अभिमानहिं निजहिं हेरापु।
बिना मनन प्रेरन किहे जिसके, पग भर चलत न कतहुँ लखापु॥ ३॥
रस हित दया धरम दिल तजि के, रसना सुख गुनि क्रूर वनापु।
जीव घात मद माँसहि भक्षण, विविधि अमल करि थिर न लहापु॥ ४॥
मनन मात्र सबंध सवन से, गध सुखहिं गहि विविध कलापु।
त्वचा परशि निज कालहिं अंधे, लोलुप मन नहिं स्ववश कदापु॥ ५॥
तन वल हीन विवश ह्वै सबके, भाररूप तन ढोय रहापु।
यह सब भास अध्यास लिहे खुद, बरबस करि वह झूला झुलापु॥ ६॥
मुर्दा देह रोग मय जानो, दृश्य बिजाति देय नित तापु।
मुख्य कुसंग लोभि तन मन मे, मानव वंध रचापु॥ ७॥
जो मानै सो पृथक सदा है, मानन्दी दृश्य बँधापु।
परखि परखि सब तेहि को छोड़े, स्ववश राखि रहि जापु॥ ८॥
अनुभव दृश्य होय मन मानब, अनुभविता नित पृथक सदापु।
हमहम कहि नित दुख से पछरत, सहत न जहँ तक चलत चलापु॥ ९॥
कहे कबीर भली समुझाई, जीवहि खबरि लखापु।
समझि - समझि तू सबसे यारा, जानहि जान शोधापु॥ १०॥

टीका—सब का जानने-समझने वाला जीव सब से पृथक शुद्ध ज्ञान मात्र है, फिर भी अपने यथेष्ठ स्वरूप को नहीं समझता, इसका कारण सुनिए॥ टेक॥ अनादि प्रवाह युक्त देहोपाधि मे टिक कर अपने स्वरूप को भूलते हुए जड विषयो मे सुख की कल्पना कर विविध दुख भोगता है, नेत्रो से जड देह को देख-देख सब अगो को मैं-मेरा मान अहंकार लेकर एकमेक हो रहा है॥ १॥ युवती आदि रूपो को देखकर आसक्त हो गया, कानो से नाना शब्द सुनकर अपने स्वरूप का विचार ही न रहा। अनुमानकृत जड-चेतन अभिन्नवाद, ईश्वरवाद, जडवाद एव अनेको कल्पनाकृत नदी से तैर कर पार नहीं पाया, सत्य का पता ही नहीं लगा सका॥ २॥ कहीं जड देह ही को अपना स्वरूप मान अहंता लेकर निज को भुला दिया, उसे यह नहीं विवेक होता कि मैं स्वय चेतन जड देह का स्मरण कर उसे प्रेरणा न करूँ तो एक पग भी वह चलती हुई नहीं दीखती। अतः मैं चेतन स्वतः शुद्ध स्वरूप हूँ, जड देह नहीं॥ ३॥ स्वाद के लिए दया धरम छोड कर जिह्वा-सुख का चिंतन कर इतना कठोर बन

गया कि देहधारी जीवो का हनन कर मास खाता, मदिरा पीता, तथा गॉजा-तम्बाकू आदि नशा सेवन करके क्षण मात्र शाति को नहीं प्राप्त होता,''निर्जिव आगे सर्जिव थापे लोचन किछउ न सूझे''॥ ४॥ समस्त विषयो तथा प्राणियो का मनन कर-कर जीव ने उनसे सम्बन्ध जोड लिया है। मनन ही से इत्र आदि गध-सुख ग्रहण कर अनेक प्रकार जलता है। चमडी-स्पर्श हेतु तो अध हो अपना काल ही बन बैठा, अत्यत कामासक्त होकर कभी मन पर स्ववशता नहीं रख सका॥ ५॥ चमडी-स्पर्श मे बल-वीर्य क्षीणकर पराधीन हुआ शरीर बोझा लेते हुए कार्तिक के कुत्तावत दुख-शोक मय जीवन व्यतीत करता है। ये सब सुख-भास द्वारा सारा अध्यास जीव स्वय धारण कर हठात देह धरना-छोडना रूप झूला झूलता है॥ ६॥ देह तो मुर्दा, जड रूप, व्याधि मय, दृश्य, विजातीय है, द्रष्टा से पृथक सदैव त्रिविध ताप मे जलाने वाली है, अतएव तन-मन स्थूल-सूक्ष्म का सग ही मुख्य कुसग है, उन्ही मे लोभ कर तथा मान-मान कर मनोमय रूप सर्व बन्धन की रचना कर लिया है॥ ७॥ मोक्ष पाने के लिए विचारो, जीव ने जो कुछ विषयसुख, कर्ताभास मनोमय माना उनसे वह सदोदित पृथक है। जो मानन्दी उठ-उठ कर दृश्य होती है, उसी मे जीव बन्धमान है। अतएव मानन्दी धारा को परख-परख कर त्यागते हुए मन के खिचावरहित निज को स्ववश, शात रक्खो। इसी साधन का जप करो। एक क्षण भी न भूले॥ ८॥ जहॉ तक मन की मान्यता है वह दृश्य आभास हे, उसका अनुभव करने वाला चेतन उससे सदैव भिन्न है। अपनी परम सत्यता मे यह और भी अकाट्य लक्षण दिख रहा है, कि इनका ज्ञाता जीव मे हूँ, मुझे दुख न चाहिये न चाहिये इस प्रकार रट लगाता हुआ दुखमय स्मरण, कर्तव्य तथा पदार्थो से जीव हटता रहता है, इससे स्पष्ट है कि जड तन, मन, भास, अध्यास जीव का स्वभाव नही है। जीव शक्ति भर दुख सह नही सकता न तो किचित दुख लेना चाहता॥ ९॥ गुरुदेव कहते हे, यह सत्य सिद्धात अच्छी तरह प्रत्यक्ष युक्ति द्वारा समझा दिया गया, जिससे जीव को अपनी स्वरूपस्थिति की दृढ समझ-बूझ हो। इस प्रबन्ध को बारम्बार समझ कर मै चेतन सब से न्यारा हूँ, इस प्रकार जनैया जान मात्र बोध द्वारा जडहन्ता त्यागकर स्थिर हो रहो॥ १०॥

शब्द—४०

नहिं दुख जाय कदरता को गहि कै॥ टेक॥

मनसिज शत्रु रयनि दिन झगरै, आदि अत मध्यहुँ दुख दहि कै॥ १॥
सुख आशा दुख भुलवन हेतुक, भय असमजसहुँ दुख लहि कै॥ २॥
बढ़त जाय सबही दुख प्रतिदिन, जड बुधिहोय असक्ति को चहि कै॥ ३॥
निर्दय कुटिल कठोर रहम तजि, तोष क्षमा धीरज तजि बहि कै॥ ४॥
दया शील समता नहिं राखै, सत्यब्रत अमिय हरै बिष गहि कै॥ ५॥
सदपुरुषार्थ भुलाय छोडावै, समय अमूल्य हरत गफिलहि कै॥ ६॥
राक्षस क्रोध बसै जेहि उर मे, शाति बिबेक हरै दिल दहि कै॥ ७॥
लखि प्रतिकूल सहन नहिं राखै, वाक्य बिबेक असत सत ढहि कै॥ ८॥
तनमन स्वबश न राखै इन्द्रिन, ह्वै निजकाल कुमति लहि गढि कै॥ ९॥
वाक्य घात तन घातक बनिकै, निज हित नाशि दुखाय सबहि कै॥ १०॥

टीका—मन-रिपु जीतने के लिये सत्य साधनो मे कायरता, ढिलाई तथा भद्दापन ग्रहण करने से दुखो का अन्त नहीं हो सकता॥ टेक॥ काम-शत्रु रात-दिन खींचातानी करेगा, भोग-सकल्प, भोग-प्रवृत्ति, भोगात तत्काल चाहना ज्वाला मे जलायेगा॥ १॥ सकल्प दुख भुलाने के लिये जो भोग मे सुख की आशा लग रही है, उसी मे से भय, असमजस तथा चिन्ता रूप दुख ही दुख मिलते रहेगे॥ २॥ वहाँ पराधीनता के सर्व दुख बढते ही जायेगे। यह कान नही देखता है कि कामासक्ति से बुद्धि भ्रात हो जाती है॥ ३॥ तब निर्दय कुटिल कठोरपना धारण कर दया, सतोष, क्षमा, धैर्य आदि से रहित भव-धार मे प्राणी बह जाता है॥ ४॥ वह परस्पर दया, शील, समता नही रखता, अमृत रूप सत्यता छोडकर विष रूप विषय ही ग्रहण करता है॥ ५॥ काम-राग सतमार्ग के सर्व पुरुषार्थ भुला कर छुडा देता है तथा स्वरूपस्थिति योग्य अमूल्य अवसर को अज्ञानी बना कर नष्ट कर देता ह॥ ६॥ काम के पीछे क्रोध राक्षस अन्तस मे आ टिकता है। वह विवेकबुद्धि आर शाति का हरण कर सदा हृदय जलाया ही करता है॥ ७॥ मन के उलटे देख सहन न कर वाक्य बोलने न बोलने के विचार रहित झूठ तथा अपशब्द बडबडाता ओर सत्य का तो वह विध्वस ही कर देता ह॥ ८॥ वह क्रोधावेश मे तन, मन, इन्द्रियो को स्ववश न रख दुर्बुद्धि बना कर अपना आप ही काल बन जाता है॥ ९॥ कठोर वाक्य बोलकर तथा मार-काट कर घातकी बन सब प्राणियो को दुख दे-दे सुख-शान्तिदायक पुण्य मार्ग का नाश कर डालता ह॥ १०॥

शब्द—४१

करिये न मोह परे दुख आगे॥ टेक॥

ममता किहे परै जग चक्कर, जगे भवन के रागे।
सबके सरिस पर दुख तेहि का, नहिं एको रहि खाँगे॥ १॥
प्रेम मान सेवा की ख्वाहिश, मन अनुकूल अभागे।
खुशी से मानत आपन करिके, निज निज बाजी लागे॥ २॥
लाभ लेवेया चतुर खेलारी, दुख न चह मन नागे।
तीनिहु काल गहे यह आशा, चतुर चलाँकी दागे॥ ३॥
मन भावन उपकार मानि तहँ, खोय विवेक विरागे।
वैराग्य दशा उपकार न जानत, करि अपकारहिं ठागे॥ ४॥
जन्म जन्म तुम पचि पचि हारे, कबहूँ सुफल न माँगे।
अब तो जानि बचौ यहि जग से, सबहिं कामना त्यागे॥ ५॥
और उपाय रही कुछ नाही, निज ही निज मे जागे।
लालच छोडि होहु यकतर्फी, साधु साधु मग पागे॥ ६॥
सब की समता करो न कबहूँ, कारज ध्यान अदागे।
पूरण काम सफलता तबहीं, छुटै गुलामी बागे॥ ७॥
कोष दिये गुरु अक्षय बचावो, खेदि दरिद्रहिं कागे।
श्वान समान न भटकौ कबहूँ, शाहन्शाह सुभागे॥ ८॥

टीका—प्राणी-पदार्थो मे मोह मत कीजिये, नहीं तो सदा सामने दुख ही दुख प्राप्त होते रहेगे॥ टेक॥ ममता करने से जग बन्धनो मे पड कर नर-नारियो के मोह मे जलते रहोगे। फिर जैसे अज्ञानी लोग प्रपच तथा कुटुम्बासक्ति से नाना दुख भोग रहे है वैसे तुम्हे भी कष्ट मिलेगा, दुखो मे एक भी कमी न रहेगी॥ १॥ प्रेम और मेवा लेने, मान-बडाई पाने और सबको मनानुसार रखने के लिए हे दुर्भागी जीव! हर्षपूर्वक जिसे अपना मान कर फूलता है, स्मरण रख! वे अपने-अपने स्वार्थ हेतु तेरे से प्रेम करते हैं॥ २॥ इधर मोहासक्त मन सुख-लाभ लेने वाला बडा चालाक व खेलाडी है। यह नीच मन दुख नही चाहता। तीनो काल मे दुख न पडे ऐसी आशा करके इन्द्रिय-सुख-स्वाद हेतु नाना कपट व चालाकी के मैल से लिपट रहा है॥ ३॥ इस प्रकार इस जीव ने मनोकामना के वश समाज-उपकार के प्रलोभन में पडकर विवेक और वैराग्य को नष्ट कर डाला। हे जीव, अब भी सोच! वैराग्य रहस्य युक्त रहने मे ही स्व-पर की भलाई है। इसे न जानकर मोह-वश स्व-पर राग-प्रपच करते हुए ठगता-ठगाता है॥ ४॥ मन के फन्दे मे पडकर तुम अनन्त जन्मो से रच पच कर सर्वस्व खो बैठे, कभी तुम्हारी इच्छाओ की पूर्ति न हुई। आज भी कुछ सोच-समझ कर तथा अपूर्ण ससार की सारी कामनाये त्याग कर छली जगत से बचाव करो॥ ५॥ सर्व दुखो से छूटने के लिए जगत की विद्या-अविद्या कृत समस्त क्रियाये कुछ काम न देगी, एकमात्र उपाय यही है कि सर्वोपर अपना आप चेतन निज स्वरूप स्मरण कर सदा सावधान रहो, और समस्त प्राणी-प्रदार्थ एव मान सुख का प्रलोभन छोडकर गुरुमग की तरफ ही एक चित्त से हो रहो। हे सतो! सतमार्ग ही मे सद्‌रहस्य हेतु निछावर हो जाओ॥ ६॥ इधर जगत जीवो की देखा-देखी दुर्गुण कभी मत धारण करो, मात्र वासना-रहित शुद्ध स्थिति के लिए खूब ध्यान करके पुरुषार्थ करो। तभी स्थिति अभ्यस्त होकर सफलता मिलेगी और जगत-गुलामी की बागडोर कट जायेगी॥ ७॥ गुरुदेव जो पारखबोधपूर्ण खजाना प्रदान किये है उसकी रक्षा कर तृष्णा रूपी दरिद्रता त्यागते हुए दुर्वासना रूप काग को उडा दो। हे सौभाग्यशाली चैतन्य रूप सम्राट! अब से तुम चेत करो, कुत्ता के समान विषय-वश कभी दीन होकर मत दौडो, सयमित सतोषी जीवन व्यतीत करो। सिमिट के वैराग्यपूर्वक रहो, चचलता छोडो, स्थिरता पकडो॥ ८॥

कुण्डलिया—४२

दुख सुख मानामान जो, हानि लाभ को त्यागि।
निर्भय रहै उदाम है, निज स्वरूप मे लागि॥
निज स्वरूप मे लागि, तजै सब जग की चिन्ता।
सब से परे सो आप, जानि निर्भय तजि हिन्ता॥
हर्ष शोक मे बूडि, छुटै निज पद की लिन्ता।
तजि विश्रान्ति की लाभ, लाभ दुख की लहि मिन्ता॥
याते रहो सम्हारि कै, मन माया तजि कोष।
नहिं तडफौ तजि हेतु को, जीवन दुखमय जोश॥

टीका—देह सम्बन्धी दुख-सुख, हानि-लाभ, मान-अपमान सदा जीव को चचल करते ह। इन्हे मिथ्या जान कर छोडते रहो। भय-रहित विषय-राग से उपराम होकर शुद्ध चेतन

विचार ही मे तत्पर रहो। निजस्वरूप बोध के साधन मे अनुरक्त होते हुए विश्व की सर्व व्यर्थ चिंतना छोड दो। सब प्राणी-पदार्थों से अपने को पृथक समझ कर निर्भयता पूर्वक झूठे विषय सुख की सारी दीनता त्याग कर दो। देहोपाधि प्रापचिक हानि-लाभ, सुख-दुख, स्तुति-निन्दा, कम-विशेष ऐसे हर्ष-शोक के सिन्धु मे डूबे रहने से स्वरूपस्थिति दूर हो जाती है। स्वरूपस्थिति रूपी विश्राम का सर्वोत्तम लाभ छोड कर जगत सम्बन्धी मान, धन, प्रेमीवर्ग बढने आदि लाभ मे रुचि करने से हे मित्र! दुख ही का लाभ मिलेगा। अत सर्व वासना मनोमय ही माया है। इसका घेरा कुसग-कुचाल छोडकर सदा सावधान रहो। देखो! कभी स्व-स्थिति ध्येय रूप पुरुषार्थ छोडकर नश्वर मान-सुख के लिये छटपटाना नही, अन्यथा सारा जीवन असह्य दुख मे बीतेगा।

सवैया—४३

शीतल बारि हे उष्ण निवारक श्वेतहि दृश्य द्रवे महि धारा।
अग्नि प्रकाश प्रकाशत वस्तुन तप्त पदारथ लाल देखारा॥
रूप विहून हे कोमल वायु सो धाय परश वह वस्तु मॅझारा।
धारत भार डिगे कबहूॅ नहिं गन्ध कठोर मही बिसतारा॥ १॥

टीका—एक तो जल ठण्डा, गर्मी को हटाने वाला, श्वेत रग पृथ्वी पर धारा रूप से बहने वाला ह। दूसरा अग्नि तत्व सूर्य रूप से प्रकाश द्वारा समस्त विश्व की वस्तुओ को प्रकाशित करता हे। वह पदार्थों को गर्म करने वाला समूह रूप से लालरग दीखता है। तीसरा वायु तत्व रूप रग रहित कोमलता युक्त वेगवान होकर वृक्षादि पदार्थों मे स्पर्श करता। चौथा यह पृथ्वी तत्व सबके भार को अडिग रूप मे धारण कर गन्ध गुण और कठोरता पूर्ण विस्तृत रूप से दृश्यमान ह॥ १॥

भिन्नहि भिन्न प्रत्यक्ष हे भूत न उतपति एक से एक लखारा।
अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष के अन्दर छोडि प्रत्यक्ष न ताहि अधारा॥
ये सब लक्षण हे जड के तम कारण कारज रूप निहारा।
ज्ञान स्वरूप हैं जीव अगोचर द्रष्टा सबे जडकेर रहारा॥ २॥

टीका—ऐसे चारो जड तत्व पृथक ही पृथक प्रत्यक्ष हैं। ये कोई किसी से उत्पन्न नहीं होते। यदि इनकी उत्पत्ति का अनुमान करो तो सारा अनुमान प्रत्यक्ष ही का होता हे। प्रत्यक्ष के बिना अनुमान की सत्यता का कोई आश्रय ही नहीं। जेसे शून्य पुष्प, वन्ध्या पुत्र प्रत्यक्ष नहीं उसका अनुमान भी मिथ्या ह। सारी कल्पना जगत के मध्य रहकर ही नर जीव करते है इस हेतु मे किसी कर्ता या सूर्यादि से क्रमश जगत का विकास या एक बार ही उत्पत्ति कहना दोनो बातें भ्रांति मात्र ह। सारा जगत बदलते हुए रहा हे, रहेगा। फिर इसमे अन्य कल्पना की क्या आवश्यकता! मुक्तिद्वार जगत अनादि शतक मे इसकी बडी व्याख्या हुई है। अनादि जड तत्वो के यही सब लक्षण ह, वे सब जडता से पूर्ण कारण-कार्य के रूप देखने मे आते हैं। इन सबो का ज्ञाता चेतन ज्ञान स्वरूप ह, इन्द्रिय दर्शन व भास रहित सर्व जड तत्वो को देखने वाला ह॥ २॥

द्रष्टा ओ दृश्य अगोचर गोचर चेतन सो जड पार रहा हे।
निश्चय तालुक चाल क्रिया तेहि मानव छोडि न चाल रहा है॥
भूल बिवश लहि जीव क्रिया लखि स्वभाव क्रिया जड माहिं रहा है।
भूल मिटै न क्रिया कबहूँ तेहि भूत क्रिया कहँ जाय रहा है॥ ३॥

टीका—अन्त प्रदेश मे इन्द्रिय भास रहित चेतन ही द्रष्टा रूप है। वह दृश्य गोचर जड तत्वो से सर्वथा भिन्न है। निज निश्चयानुसार मन-द्वारा चेतन मे क्रिया होना प्रत्यक्ष ही है। मानन्दियो तथा स्मरणो के विना जीव मे कोई क्रिया एव चचलता नही अनुभव होती है यह भी सम्मुख है। भूल तथा मानन्दी वश ही चेतन जीव मे क्रिया देखी जाती हे। इस हेतु जीव पारख द्वारा भूल सम्बन्धी मनोमय नष्ट कर दे तो वह अक्रिय सदा शात स्थित हो जावेगा। इस सिद्धान्त मे कोई सन्देह नही। जड मे हानि-लाभ के ज्ञान-रहित स्वाभाविक क्रिया देखने में आ रही है। फिर जड की स्वाभाविक क्रिया कैसे रुक सकती है। अर्थात नही रुक सकती॥ ३॥

कवित्त—४४

कारण सयोग मेल क्रियावान तत्त्व सब, कारज बनत सब नाश क्रिया जो रही।
कारण की शक्ति औ सयोग बिना कारज, बनत नाहिं देखे कहुं जहाँ-जहाॅ जो रही॥
कारण के धर्म जोन कारज रहत तोन, कहूॅ शीत कहूँ उष्ण कोमल कठोर ही।
धारण सनेह ओ रसाय शक्ति दाहक हे, पच विषय पचिकर्ण कारज वो जो रही॥

टीका—कारण चार तत्वो के परमाणु परस्पर सयोगवान और क्रियाशील हैं। इसी से सम्पूर्ण कार्य बनते-बिगडते रहते है। कारण तत्वो की शक्ति और परमाणुओ के मेल बिना कोई भी कार्य पदार्थ बनते नही देखा गया। मूल कारण के जो कुछ धर्म हे वे ही कहीं शीत कहीं उष्ण तथा कठिन कोमल रूप से कार्यो मे दर्शित होते है। धारणादि चार शक्ति और पॉच विषय सम्मिलित पचीकरण ही कार्यो मे रहते ह॥ १॥

कारज बिलक्षण हे कारण समेत सब, जड के जडहि जड जड से न भिन्न हे।
शब्द स्पर्श रूप रस गध गुण सब, गुणन स्वरूप जड गुण से न भिन्न है॥
गुणन पृथक कोइ तत्त्व न दिखाय सके, इन्द्रिन से जानि मानि ताहि माहि खिन्न है।
कारण ओ कारज के चिह्न से पृथक रह, ज्ञान ही स्वरूप जीव स्वत स्वभिन्न ह॥

टीका—अनेक प्रकार के जो कार्य होते हे, वे सब कारण जड़ मूल द्रव्य से जड ही होते है। शब्दादि पच गुण या विषय के रूप ही जड तत्व हैं, गुण से जड तत्व पृथक नहीं। पच गुणो से पृथक कोई तत्वो को दिखा नहीं सकता, इन्द्रियो से गुणो को जानकर सुख मान भोगासक्त हो जीव दुखी हो रहा है। जड कारण-कार्य लक्षणो से पृथक ज्ञान स्वरूप जीव स्वतन्त्र सत्य है॥ २॥

जैसे नर बैठि के सवारी पर चला जात, चले विना चालू करि हेतु के अधीन से।
माने विन काज कोइ चलत कबहुँ नाहि, देह अग ठीक सब समय स्वाधीन से॥

जसे हे सवारी भिन्न तैसे भिन्न देह निज, प्रेरणा से चल अग प्रेरक निजीन से।
याही से पृथक जीव अचल स्वतन्त्र आप, वासना के वशि दीन रहत सदीन से॥

टीका—जैसे मनुष्य मोटर आदि सवारी पर बैठकर विना चले चला जाता है और चलने के प्रयोजन से सवारी को हॉकता है, वैसे ही देहोपाधि मे आरूढ हुए लक्ष्य वश चेतन क्रिया करता है। लक्ष्य एव मानन्दी के विना रच मात्र कोई व्यापार नहीं करता। इसमे मन युक्त आरोग्य देह और समय साधक होते हैं। जैसे मनुष्य से मोटर आदि भिन्न ह वैसे ही देह भी जीव से पृथक है। निज चैतन्य की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ चलती हे। इसी से स्वय जीव जड से पृथक अचल स्वतन्त्र है, मात्र वासना-वश लाचार हो सदैव चलित रहता है॥ ३॥

स्वभाव से सम्बन्ध नाहि सुख मानि गहे ताहि, दुख देखि छोड़ि चल सुख ही के ध्यान मे।
सुख है पदार्थ नाहि भूलि भर्म ताहि चाह, याहि हेत थिर नाहिं वासना कि तान मे॥
गहत तजत जात दुख ही मिटावन मे, बढत रहत दुख सुख ही चहान मे।
वोध होय निज को असक्ति मेटि थिर रह, वासना की हानि करि चल न दिखान मे॥

टीका—देह से स्वाभाविक सम्बन्ध नही, सुख ही मानकर सम्बन्ध कर रहा है। सुख-इच्छुक दुख मानते ही प्रिय पदार्थो को भी त्याग देता ह। सुख कोई गुण-धर्मयुक्त पदार्थ नहीं है। निज स्वरूप की भूल से चाहना उठती ह। वासना के खिंचाव मे जीव कभी स्थिर नहीं होता। दुख मिटाने के लिए किसी को पकडता तथा किसी को छोडता है। सुख चाहना से ही दुख की वृद्धि हो रही हैं। निज स्वरूप का ज्ञान हो जाय तो विषयासक्ति ध्वसकर अचल पद पा जाय। वासना त्याग करते ही स्वरूप मे कोई चचलता नहीं रह जाती, यह विवेकी का अनुभव ह॥ ४॥

मूरछा समाधि सुपुपति मे न गौर कछु, शम करि साधन एकाग्रवृत्ति ठान मे।
गौर ह मन्तव्य वशि मानि कै विजाति भास, भास छोडि गौर न प्रत्यक्ष ही लखान मे॥
गौर हीन चेतन अचल सदा याही हेत, क्रिय को लखत रहे क्रिया न रहान मे।
ज्ञान ही अकार ताहि जीवन स्वरूप याहि, जड़ का न लेश तहाँ आपही लखान मे॥

टीका—मुर्छा, समाधि, सुपुप्ति और एकाग्रवृत्ति युक्त ध्यान करने पर स्मरण नही उठते। विजातीय जड भास में सुख मानने से निश्चयाधीन चिन्तन उठता है। मनोभास शात कर देने पर कुछ भी चिन्तन नहीं होता, यह सब सम्मुख बर्तने मे आ रहा है। स्मरण को समूल शात करते ही चेतन सदैव अचल स्थित रहता है। यह भी सदा सत्य है कि तन-मन की चाल को परखने वाला क्रिया रूप नहीं होता। जीवो का स्वरूप ज्ञान मात्र ह। वहाँ जड परमाणुओ का किंचित सम्बन्ध नहीं ह। मात्र आपही सर्व पारखी पारखरूप स्थित ह॥ ५॥

शब्द—४५

जनैया जीव जानहिं जान रह॥ ४५॥

वोध भये इन्द्रिन सम्बन्ध मे, बन्धन परखि दहे।
गुरु पद पारख शुद्ध स्वरूपहिं, परखि के जीव लहै॥ १॥

साधन रहित गहे नहिं त्यागे, शुद्ध स्वरूप वहै।
आप आप मे अचल हमेशा, नहिं तम लेश तहै॥ २॥
आवै न जाय अचल पद आपे, धर्मी धर्म महै।
घट बढ रहित अकेल अकेला, सदा स्वतन्त्र जहै॥ ३॥
पूरण तृप्त भया सो तृप्तहिं, परिश्रम अन्त भहै।
जस वह आप बिराजत तैसहिं, समता ताहि न है॥ ४॥

टीका—जीव सर्व का जनैया केवल जान स्वरूप है॥ टेक॥ वह इन्द्रियो के सम्बन्ध ही मे अवोध युक्त प्रथम से ही रहा है। गुरु संग से परीक्षा वल ले अबोध को नष्ट कर जिज्ञासु जन कामनाबीज भस्म कर देते है। उसी समय से वे पारख दृष्टि को विवेक द्वारा बलिष्ट बनाकर गुरुपद रूप अपने आप को प्राप्त कर लेते हे॥ १॥ ग्रहण-त्याग इन्द्रिय अत.करण साधन से ही होता हे। जव जगत लक्ष्य से हटकर वासना-बीज नष्ट कर दिया तव स्वबोध शात-काल मे देह त्याग कर जीव विदेहमुक्त हो जाता है। वह इन्द्रिय अत.करण शस्त्र रहित होने से न तो कुछ ग्रहण करता है न त्याग। वह सदैव के लिए अपने आप मे अविचल स्थित हो जाता है। वहॉ कभी लेशमात्र अज्ञान तथा जडदेश नही है॥ २॥ वहॉ अब आवागमन की गन्ध कहॉ। अपने आप पारख सत्य मई स्वभावत· स्थिरज्ञान धर्म और धर्मी जीव एक ही रूप अग्नि उष्णतावत निर्विकार है। भला अखण्ड चेतन स्वरूप मे कम-विशेष घट-बढ बन ही कैसे सकता है। जहाँ नि·सम्बन्ध स्वत· ही हे, फिर वहॉ दूसरी उपाधि का कहॉ दर्शन। सदा एकरस स्वतत्र भूमिका स्थिर ह॥ ३॥ पूर्ण तृप्त रूप जेसा निज रूप है वेसा ही सर्व कामना भूख रहित शात हो रहा। आप जैसा हे वेसा ही सदा विराजमान रहता है। उसके समस्त परिश्रमो, क्रियाओ तथा चिन्तनो का अन्त हो गया। ज्यो का त्यो शुद्ध चैतन्य स्वस्थल ध्रुव सुशोभित हे। उस मुक्त दशा की परम प्रकाश तेजोमय स्थिति से जड अधकार शीत, उष्ण, प्रकाश किसी की तुलना नही हो सकती। अनुपम सर्वोपर स्थिति धन्य-धन्य॥ ४॥

मुक्त हस गुरु पद लहे, पारख स्वय प्रकाश।
जन्म मरण व्यापार तजि, सदा स्वरूप रहास॥ १॥

टीका—विदेहमुक्त जीव अपने अविचल स्वरूप मे स्थित हो जाता है जो स्वय ज्ञानस्वरूप है। उसका सदैव के लिए जन्म-मरण का धधा मिट जाता हे। वह सदा अपने स्वरूप मे स्थित रहता हे॥ १॥ त्रिविध कर्म का ध्वस भा, जीव मुक्त निज देश। सफल भयो पुरुषार्थ सव, जो गुरु बोध सदेश॥ (मुक्तिद्वार, निवृत्ति सा० श० ९०) सर्व शक्ति लगाकर यह मोक्ष पद प्राप्त करना परम कर्तव्य है। जिससे सर्व दुखो की समूल समाप्ति हो जाय।

स्वरूप देश का महत्व

ऐसा देश हमारा साधो ऐसा देश हमारा रे।
भूमि अनल जल वायु दृश्य जड, नहि दिन रात पसारा रे॥ टेक॥
पॉच पचीस द्वन्द्व कछु नाही, मनहुँ को देखन हारा रे।
जागृत स्वप्न सुषोपति तुरिया, सबका परखन वारा रे॥ १॥

नर नारी चव खानि कि रचना, भूल से जाहि अधारा रे।
नाम रूप गुण खानि वानि सव, सवका थापन हारा रे॥ २॥
समुझि हिसाव लगावत सब कुछ, सोइ चेतन सरकारा रे।
गुरु पारख से भूल मिटत ही, स्थिर ज्ञानाकारा रे॥ ३॥
सद्गुरु कृपा अमोलिक हीरा, अचल अभय अविकारा रे।
पारख गुरु को नमो नमो वहु, वनि गयो कारज सारा रे॥ ४॥
गुरु पद पकज प्रेम अक्षय फल, धन्य प्राप्त टकसारा रे।
सो कबीर पद परख प्रकाशी, गुरुपद निज पद सारा रे॥ ५॥

शब्द—४६

गुरूजी हमका डगर वताय दिया॥ टेक॥
भव बन्धन के काटि देन को, युक्ति अमित दरशाय दिया॥ १॥
जहँ जहँ वन्धन सनमुख आवै, तिनसे हमे छोडाय दिया॥ २॥
सब पुरुपन के भेद वताओ, मारग अमित भ्रमाय दिया॥ ३॥
सव अवलन के जाल लखायो, इन्द्रिन बाँधि सताय दिया॥ ४॥
तन से मन से वचन विलासे, सपरस जहेर चढाय दिया॥ ५॥
मंत्र सुनायो जहेर हटाओ, वन्दीछोर कहाय दिया॥ ६॥
नहिं भूले उपकार कवौ अव, निज मे ज्ञान उगाय दिया॥ ७॥
जगत मनुप की वातै सुनि सुनि, तिनके पेंच लखाय दिया॥ ८॥
भूत भवानी भैंरो जालिम, ये सव भरम मिटाय दिया॥ ९॥
मन अवलम्व जहाँ तक लेवै, सो सव तूरि वहाय दिया॥ १०॥
अव तौ निराधार करि अपने, सकल अधार मिटाय दिया॥ ११॥
जन्म मरण की चिता छूटी, सव घट दुःख नशाय दिया॥ १२॥
वन्दों चरण सदा गुरु तुम्हरे, जीवन मुक्त कराय दिया॥ १३॥
नहिं कछु वाकी रहा करन को, आप मे आप जगाय दिया॥ १४॥

टीका—हम जिस मार्ग मे अनादि काल से दुखी होकर भटक रहे थे, सो भूल थी, श्रीगुरुदेव ने उससे हटाकर सत्सग, शुभाचरण, स्वरूपवोधरूप हितैपी सरल मार्ग दिखा दिया॥ टेक॥ हम भूल से उत्पन्न मनोमय सृष्टि तथा जड़चेतन की ग्रन्थिरूप वन्धनों मे परवश थे, गुरुदेव ने उसका नाश करने के लिए भाँति-भाँति की युक्तियाँ वता दीं॥ १॥ सन्मार्ग मे चलते हुए जहाँ-जहाँ अन्तर ओर वाहर से जो-जो कुभावना, कुसग और प्रलोभन रूप वन्धन हमारे सामने आ-आकर खिंचाव करने लगते हैं, गुरुदेव ने उन सव की कसरो को दिखाते हुए पारखयुक्ति द्वारा इस दास को वन्धनो से छुड़ा दिया॥ २॥ जगत मे जितने पुरुप हैं, उन सवके भेद को भी गुरुजी वता दिये, वे सर्व पुरुप नाना भ्रमरूप मत-पथो मे जीवो को भटकाने वाले हैं॥ ३॥

दृष्टांत—एक भूलनलाल नामक मनुष्य था। उसमे यथा नाम तथा गुण थे। वह परदेश मे रहता था। कुछ दिन के बाद उसे परदेश मे बहुत क्लेश मिला, इसलिए वह घर को चलने की तैयारी मे था कि उसे कुछ शरीर मे कमजोरी मालूम हुई। उसने किसी वैद्य से रोग निवृत्ति की युक्ति पूछी। वैद्य ने उसे बादी की शिकायत बताया और कहा कि दो-तीन दिन खिचडी खाकर कोई जुलाब ले लेना, बस अच्छे हो जाओगे। उसे घर जाना आवश्यक था। नाम न भूल जाय, इसलिए चलते हुए खिचडी-खिचडी करके रटने लगा। रटते-रटते वह खिचडी शब्द को भूलकर उसकी जगह 'खाचिडी-खाचिडी' शब्द जोरो से कहते हुए एक किसान के मध्य खेत से होकर निकला। किसान बहुत देर से चिडियो को उडाते-उडाते कायल हो गया था। रखवार बहुत तामसी था। जब इसके मुख से "खाचिडी-खाचिडी" शब्द उसने सुना, तो गुस्सा से भरा हुआ दौडा और कहा—अरे मूढ। हम तो चिडियो को उडाते-उडाते हैरान हैं, तू हमारी नकले करता है। बस ऐसा कहकर दो-चार डडे जमा दिया। भूलनलाल हाथ जोडकर बोला—फिर मैं क्या कहूँ। किसान ने कहा—तुझे कहना ही है तो "हुर्रफुर्र-हुर्रफुर्र" रट। बस यही गान करते-करते वह आगे बढा। सबेरे से दोपहर तक एक शिकारी जाल लगाये बैठा था। चिडियो को जाल मे देखकर जाल को बटोरने वाला ही था कि हुर्र-फुर्र की आवाज सुनकर सब चिडियाँ भर्र से उड़ गई। शिकारी उसकी सूरत से अनाडी जान पकड कर खूब पीटा ओर दो-चार बाते कही। भूलनलाल ने पूछा—फिर क्या कहूँ? शिकारी बोला—कहना हो तो मेरे शकुन की बात कह, वह यह कि "आवत जाव फॅस-फॅस जाव, आवत जाव फॅस-फॅस जाव"। बस वह यही धुन लगाते चला। आगे चोर मिले। चोरो ने यह बात सुनकर भूलनलाल को पकडकर उसकी खूब मरम्मत की। भूलनलाल रोता हुआ बोला—फिर क्या कहूँ? चोरो ने कहा—मेरा मगल मना, वह यह कि "लै-लै आओ, धै-धै जाओ, लै-लै आओ, धै-धै जाओ" फिर वह यह रट लगाते चला। आगे श्मशान की तरफ सेठ के मरे जवान पुत्र की लाश को दाह करने के लिए बहुत लोग लिये रोते-रोते चले जाते थे। इतने मे "लै-लै आओ, धै-धै जाओ, लै-लै आओ, धै-धै जाओ" बात सुनकर उन लोगो को बहुत उलटा जान पडा। उन लोगो ने मारे क्रोध के उसे पकड कर खूब पीटा और कहा—अरे। एक पुत्र था सो तो मर गया, अब तू क्या सबको मारना चाहता है। वह बोला—फिर क्या कहूँ? लोगो ने कहा "राम करे अस दिन कबहुँ न होय, राम करे अस दिन कबहुँ न होय" यही कहते जाओ। वह यही रटते-रटते चला। आगे एक सेठ के पुत्र का बडी सजधज से विवाह होने जा रहा था। उन लोगो ने "अस दिन कबहुँ न होय, अस दिन कबहुँ न होय" की बात सुनकर उसके पैर पकडकर घसीट-घसीट उसकी खूब कूटम्मस की। उसके बहुत विनययुक्त पूछने पर कि मै क्या कहूँ, उन लोगो ने कहा—"राम करे अस दिन सब दिन होय, राम करे अस दिन सब दिन होय" यही कहो। वह यही रटते-रटते चला। आगे ग्राम मे आग लगी थी। लोगो के घर किसी-किसी के बैलादि, पुत्र, स्त्रियाँ जल-बल रहे थे। त्राहि-त्राहि मची थी। "राम करे अस दिन सब दिन होय, राम करे अस दिन सब दिन होय" ऐसी भयानक आवाज सुनकर एक मनुष्य उसके कान उचाडते हुए हाथ पकडकर कहा कि इस अग्नि मे तुझे डाल दूँ? रे पामर पापी। एक दिन की अग्नि मे तो यह दशा हुई, प्रतिदिन हो तो क्या हो? भूलनलाल ने कहा—फिर मे क्या कहूँ? लोगो ने कहा—कहना क्या है, जहाँ कही अग्नि लगी देखे, अथवा धुआँ निकलता देखे, वहाँ पर पानी और मिट्टी झोंक दिया करे। वह यही बात मन मे

रखकर आगे बढा। एक गँजेड़ी गाजा पीकर मुख से धुआँ निकाला, उसे देखकर भूलनलाल ने समझा कि इसके पेट मे आग लग गई हे। वह तुरन्त अंजुली भर धूल उठाकर उसके मुख मे झोक दिया। उसने भी अति क्रोध मे उसे खूव दण्ड दिया। मार खाते-खाते उसके सारे अग टूटकर निर्वल हो गये थे।

यह हाल वहाँ एक सन्त देख रहे थे। उन्होने उस मनुष्य को भूल से दुखी और शरीर से निर्वल जानकर एक अपने भक्त से कहा—इसे उठाकर मेरे आश्रम पर डाल दो। भक्त ने ऐसा ही किया। संत ने उसकी सेवा की। उसके स्वस्थ होने के वाद उससे सव वृत्तात पूछा। उसने खिचडी से धूल झोकने तक की सव राम कहानी सुनाई। उसने कहा कि मुझे निश्चय था कि सब मनुष्य मेरे कल्याण की ही वात कह रहे हें, इसीलिए म इस दुर्दशा को प्राप्त हुआ हूँ। यदि आप न मिलते तो मेरी मृत्यु ही थी। सन्त वोले—अरे भूलनलाल! तू भूल का रूप ही हो रहा हे। वे लोग तो अपने-अपने स्वार्थ के ही वचन कहते थे।

सिद्धान्त—स्व स्वरूप से पृथक जड देह का सम्वन्ध ही परदेश है। इसमे काम-क्रोधादि और विषय इच्छाओ से जीव दुखी है। इनसे मुक्त होकर वह अपने अखण्ड नित्य तृप्त स्वरूप मे निवास करना चाहता हे, परतु नाशवान शरीर को सत्य समझने वाले देहासक्त लोग पाँचों विषयो के भोगने से पूर्णतृप्ति वताते हैं। उसे ग्रहण करते-करते जीव की तृष्णा और वढ गई। वह आगे वढ़कर नाना तीर्थ-व्रतादि कर्मकाण्ड के दण्ड सहा। फिर आगे सूर्य, शक्ति, परोक्ष कर्ता-धर्ता आदि उपासना काण्ड का दण्ड सहा। पुनः हठयोग आदि का दुसह दुख पाया। उससे भी पूर्ण सन्तुष्टि न देखकर सवका अधिष्ठान वनते हुए जगतब्रह्म एक कर पूर्ववत फिर जगदाकार वन चार खानियो मे तीन तापो का दण्ड सहा।

१—जीव शरीर सम्वन्ध द्वारा हानि-लाभ जान-मानकर पृथक वस्तुओ का त्याग-ग्रहण कर रहे हैं, फिर भी भूल से स्वभावसिद्ध वन्धन मानकर विषयासक्तिरूप भूसा कूटनेवत शाति के वदले वार-वार शोक-मोह ही मे पडे रहते हैं। २—प्रथम तो शून्य अवकाश मे वेसा ही दूसरा कर्तादि विशेष कहना शून्य मे शून्य कहने के समान असम्भव है, क्योकि सम-सम दो वस्तुए एक ही जगह मे नहीं रहती। दूसरे अन्य कर्तादि माने भी तो उसकी सृष्टि मे ईश्वर की माया के विवश रहने से या ईश्वर से जीव पृथक रहने से पूर्ण अचल स्थिति कहाँ हे? ३—जव "सर्व खल्विद ब्रह्म" जलतरग न्याय, सुवर्ण-भूषण न्याय जड-चेतन एक हो गया तव फिर क्या विवेक? क्या मुक्ति? "विश्वरूप भगवान भयो तव चौरासी केहि ठाई" फिर तो जगत रूप होने से वही दुख-द्वन्द्व चालू रहता हे। १—इस भाँति तीनो प्रकार के मनुष्यो के मानन्दीयुक्त कर्म से स्थूल विषय शुभाशुभ कर्म, २—सूक्ष्म जड की उपासना, ३—कारण हठ योगादि, ४—महाकारण ज्ञान सव में भरा हुआ तथा ५—केवल्य तुरियातीत एक ब्रह्म। इन सवके आचार्य भास, अध्यास, अनुमान कल्पना वश जगतमय हो रहे हें। परन्तु विषयासक्ति आदि मलिन कर्मो को त्याग कर जो शुद्ध कर्म-उपासना, योग, ज्ञानादि मार्ग मे आरूढ हें वे विषयासक्त मनुष्यो से अति श्रेष्ठ ह, श्रेष्ठ होते हुए भी जगतवीजरूप ईश-ब्रह्म भास मे स्थिति मानने से उनकी शुद्ध स्थिति नही रही। ऐसे अनन्त काल के कठिन जालो से सद्गुरुदेव छुडाकर भूलनलाल से चेतनलाल करके दुखरहित कर दिए, क्योकि कर्तव्य से कर्तव्यकर्ता सर्वदा श्रेष्ठ होता है, सो सव खानि-वानीरूप कर्तव्यो को जानने-मानने धारनेवाला कर्ता चेतन

जीव ही श्रेष्ठ है, ऐसा बताकर शुद्ध धारणा सहित मोक्षरूप घर मे मुझे एकरस स्थिर कर दिए। धन्य-धन्य श्रीगुरुदेव।

बनिता जिस प्रकार जाल रच कर परमार्थ से पतित कर देती है, उसके सब जाल पेचो को श्रीगुरुदेव परखा दिए। वह किस तरह बन्धन मे डाल देती है।

सर्व अग प्रिय भास कराई। मन मे मन ह्वै के मिल जाई॥
उत्तम मध्यम भाव कनिष्ठा। अग क्रिया सब वैसहि चेष्टा॥
रूपहुँ से ठनि कै छबि मूला। बोलिहुँ से बनि कै अनुकूला॥

साखी—*अनुकूल छुडावै साधु पद, अनुकूल गुरू दरबार।*
अनुकूल छुडावै मोक्षपद, अनुकूल परा ससार॥
यद्यपि सो प्रतिकूल नित, क्षणक्षण देवत शूल।
तद्यपि सुख प्रिय मानि मन, बँधत कठिन यह भूल॥

वह अपनी इन्द्रियो की विषयचेष्टा और क्रियाओ के इशारे से ममता पैदाकर तथा पुरुष की इन्द्रियो को आकर्षित कर उसे कष्ट देती रहती है॥ ४॥ वह शरीर, मन तथा वाक्य द्वारा भोग विलास मे आनन्द दर्शाकर मैथुन स्मृतिरूप प्रबल नशा चढा देती है। जब विषय रूप जहर का नशा सवार हो जाता है, तब जीव अन्ध तथा आतुर बन हिताहित, धर्माधर्म, मान-अपमान की कुछ परवाह न कर बन्धनप्रद कर्तव्यो को हर्ष से मजूर कर उसी मे पचने लगता है॥ ५॥ गुरुदेव ने अपना सारशब्द रूप यथार्थ मत्र सुनाकर प्रमदा के रूप, गति, चेष्टा, शब्द, स्पर्श मे दृढ दोषदर्शन करा मैथुनरूप जहर का निवारण कर दिया। मन-कर्म से किंचित भी युवती घट की सुख-प्रियता तथा किसी प्रकार स्पर्श की आसक्ति ही स्त्री के गर्भ मे ले जानेवाली है और वर्तमान मे भी विरक्ति-सुख को धूल मे मिला देनेवाली है, ऐसा समझाकर मन, वच, कर्म से उसके भाव को छुड़ाकर गुरुदेव तदासक्ति रहित कर दिये। इसी से बन्दी-मोचन-बन्दीछोर आपका नाम प्रसिद्ध है॥ ६॥

अब से आपका किया हुआ अनन्त उपकार नही भूलूँगा। आप गुरुदेव हमारे मे ज्ञानरूप सूर्य उदय कर दिये। "ज्यों अध लहि निज नैन। त्यो पाय पारख चैन"॥ ७॥ जगदासक्त मनुष्यो की छल-बल भरी हुई बाते सुन-सुन कर मैं भूल मे पडा था, उनके सब पेच, पर्दा, भेद श्री गुरुदेव परखा दिये॥ ८॥ भूत, प्रेत, बटुक, भैरो, काली, देवी, देवादि नाना वाणी सुनकर मे बलिविधान से हिसादिक जीव-बधरूप घोर पाप कर रहा था, श्री गुरुदेव ने वह सब कल्पना तथा अत्याचार मेरे हृदय से दूर कर दिया॥ ९॥ हमारा मन जहाँ-जहाँ सुख मानकर विद्या-अविद्या माया मे अरुझ रहा था, सो सब सुख भासरूप तृण को आपने अपने स्वत: ज्ञानबल से तोड कर बहा दिया॥ १०॥ अब तो आपने मुझे निराधार स्वत: अविनाशीपद मे स्थिर कर दिया। मैं विषयवासना तथा मन-सुख का आश्रय पकड रहा था, आप गुरुदेव मन के जाल परखाकर सबका मोह हरण कर लिये॥ ११॥ विजाति सम्बन्ध-सस्कारो को गुरुदेव की कृपा से दग्ध करने के कारण मुझे जन्मने-मरने का भय छूट गया। चार खानियो मे आसक्ति-वश देह धर-धर कर परवशता से रोग-शोग भोगजनित अपार कष्ट भोगता रहा, उन सब दुखों को ज्ञान देकर दयालु गुरुदेव ने नष्ट कर दिया। अथवा स्त्री-पुरुष, कुटुम्बादि, शत्रु-मित्र के राग-द्वेष की धारा मे बहता हुआ मे अनत दुख भोगता था, उस दुख को हे गुरुदेव।

आप स्वरूपवोध ओर साधनपथ मे स्थिर करके मिटा दिये॥ १२॥ हे वन्दीछोर गुरुदेव! आपके चरणकमलो की मं निरन्तर वन्दना करता हूँ। आप ने अपने स्वत. वल से ही अनन्त दया-दृष्टि द्वारा सब आसक्तिरूप वन्धन नष्ट करके मुझे जीते जी मुक्तिपथ में वैठा दिया॥ १३॥ गरीव से अमीर, यहाँ तक कि मन वशवर्ती सम्राटो को भी असतोप वना रहता है। नित्य और-और धन, विषय, वडाई, भोगादि पाने की तृष्णा लगी ही रहती है, हे सद्गुरुदेव! आपकी कृपा मात्र से मेरी इच्छाएँ मिट गई। जव विजाति सुख की तृष्णा ही मिट गई तो अव सव परिश्रम का भी अत हुआ। अव में पूर्ण सतुष्ट, नित्य, निराधार, निश्चलपद को प्राप्त हुआ हूँ। आप ने वहुत दया करके अजर-अमर, अपरोक्ष स्वरूपस्थिति को प्राप्त कराकर जगत-मोहरूप स्वप्न से मुझ दास को जगा लिया। इस प्रकार हे मन्मार्ग-रक्षक गुरुदेव! आपका अनन्त उपकार मेरे हृदय मे सदा स्मरण रहे, यही आप से वारम्वार विनय करता हूँ॥ १४॥

शव्द—४७

धनि गुरुदेव भरम दुख नाश्यो॥ टेक॥

भूत प्रेत सुनि शव्द मात्र गुनि, जो संशय मोहिं गाँस्यो।
सो परखाय मिटायो सवही, विमल वचन उजियास्यो॥ १॥
देवी देवता धर्म जीव को, नारसिह भ्रम भास्यो।
व्रह्म राक्षस ओ जिन्द सवै भ्रम, नट वहु वीर निकास्यो॥ २॥
नारि पुरुप घट मोह मिटायो, विपय को रोग लखास्यो।
अलग अलग करि देह जीव को, सत शिक्षा परकाश्यो॥ ३॥
जड़ चेतन का निर्णय करिकै, मंशय एक न राख्यो।
पंच विपय जडरूप वतायो, ज्ञान स्वरूप जीव को भाख्यो॥ ४॥
पच विपय की सुख मानन्दी, भूलदृष्टि अभिलाप्यो।
सो सुख भरम लखायो विधिवत, जीवन वन्ध विनाश्यो॥ ५॥
जड चेतन गुण धर्म से पूरण, निज निज शक्ति विकाश्यो।
सुखमानन्दी कलह कल्पना, आदति चचल नाख्यो॥ ६॥

टीका—आप वोधकर्ता गुरुदेव धन्य हं! श्रेष्ठ हैं!! स्वप्न मं डूवनेवत मेरे भूल-भ्रम कृत दुखो को आप विध्वस कर मुझे जाग्रत कर दिये॥ टेक॥ भूत-प्रेतादि के विषय मे वाणी मात्र सुन कर मेरे सिर पर मदेह सवार था, आप वोधदायक निर्मल दृष्टि दे परीक्षा कराकर सव भ्रान्तियाँ विध्वस कर दिये॥ १॥ आप महा पृज्यवर श्री गुरु ने देवी, देवता नारसिंह, व्रह्म-राक्षस, जिन्द, नटवीर, कर्ता तथा लोक-लोकान्तर की सारी मिथ्या मानन्दी परखा कर नष्ट कर दिये॥ २॥ स्त्री-पुरुप घट में जो मेरी ममता थी, आप यथार्थ वक्ता गुरुदेव ने उसे भ्रम मात्र दर्शा कर हर लिया। पाँचों विपयो के भोग वासना वर्द्धक होने से वे महा रोग हें, ऐसी दिव्य दृप्टि आपने दी। देह ओर जीव को पृथक-पृथक कर आप सद्गुरुदेव ने निज सत्य शिक्षा का प्रकाश किया॥ ३॥ आप जीवन्मुक्त महात्मा देव ने जड-चेतन का यथार्थ निर्णय देकर अनुमान ओर भातिकपक्ष सम्वन्धी सारे सन्देहो को निर्मूल कर दिया। आपने भली प्रकार निर्णय किया कि पच विपय रूप सम्पूर्ण कारण-कार्य जड पसारा ज्ञान शून्य ह ओर दूसरी ओर

मनमानन्दी युक्त सर्व देहो के प्रेरक जीव ज्ञान स्वरूप हैं ॥ ४ ॥ जीव भूल वश जड पाँचों विषयो की सुख अभिलाषा करता है उमे भ्रान्ति मात्र बताकर जीव का बन्धन विनष्ट कर दिये ॥ ५ ॥ आपने यथार्थ युक्तियो द्वारा यह नि.सन्देह ज्ञान दिया कि जड़ चेतन दो पदार्थ अनादि हैं। उनमे गुण-धर्म सम्पन्न अपनी-अपनी शक्तियों का प्रकाश हो रहा है। आप गुरुदेव ही ने जो भ्रान्ति मात्र सुख मानन्दी, राग, द्वेष, कल्पना, आदत, नशेबाजी, फेसनबाजी, विषयानन्द की चचलतादि थीं, उन्हे छुडाकर स्वरूपदेश मे स्थिर करा दिये। आपके तुल्य कौन उपकारी है। आपकी उपकार-स्मृति मेरे हृदय से जा नहीं सकती ॥ ६ ॥

कीर्तन

हृदय शात करके जपाकर जपाकर, गुरू जी गुरु जी गुरु जी गुरू ॥ टेक ॥
गुरू जी लखाये जगत ये अनादी, उभय धर्म शक्ती अनादी बतादी।
सकल भ्रान्ति तरु को कृपा कर ढहादी, जपा कर जपा कर गुरू ॥ १ ॥
गुरू जी बताये जो तू सर्व ज्ञाता, ये जड देह से भिन्न साक्षी जनाता।
है भासिक सबो पर वो ज्ञाता व ध्याता, जपा कर जपा कर गुरू.. ॥ २ ॥
गुरू की प्रसादी गहै सद्गुणो को, अहैं शील सत्यादि रक्षक सबो को।
जो निर्मानि निर्चाह पावे पदो को, जपा कर जपा कर गुरू ॥ ३ ॥
सत्सग सद्ग्रन्थ एकान्त साधन, निश्चय व साहस से होगा स्ववश मन।
गुरूभक्ति पथ के लगन में मगन मन, जपा कर जपा कर गुरू ॥ ४ ॥
गुरू की कृपा बल सकल आश पूरी, रहा प्रेम गुरुपद स्वत: जो हजूरी।
जय जय परख प्रभु सदा सत्य मूरी, जपा कर जपा कर गुरू ॥ ५ ॥

शब्द—४८

धनि धनि धन्य कबीर भरम हर्‌यो जी की ॥ टेक ॥
महिमा अमित जानि को पाव, बिनु परिचय तेहि धीर।
निज निज समझ सराहत सबही, मानत नीकि फकीर ॥
जेहि पारख सोइ ही की ॥ १ ॥

सत्य धरम स्थापन कीन्ह्यो, क्षमा तोष मे वीर।
ग्रन्थ पथ सब शोधन करिके, मोक्ष बध लखि तीर ॥
संशय रहित सो लीकी ॥ २ ॥

तन मन वधन काटि ढहायो, निज पर मेटी पीर।
धरि के देह करन जो चहिए, सोई कियो तदवीर ॥
हरे सब ताप सदी की ॥ ३ ॥

महा आरण्य विषय जड काट्यो, नशि मानन्दी भीर।
जस स्वरूप तेसहि ठहरायो, चक्रित शक्ति लखीर ॥
प्राप्ति तो भाग्य बडी की ॥ ४ ॥

पारख धन जीवन दरशायो, बीजक सयन दईर।
जो जो जानि ताहि अपनायो, दरिद्र अनादि तजीर॥
जग की भूख नशी की॥ ५॥

देव दनुज मनुज सब प्रगटे, एक से एक महीर।
निज स्वरूप करि प्राप्ति सके नहि, खोजि कोई बन धीर॥
नहिं जड भास हटी की॥ ६॥

दास विशाल को काज बनायो, प्राप्ति स्वतः गम्भीर।
दाता भिक्षुक कीन्ह एक सम, एके आप कबीर॥
का उपकार कही की॥ ७॥

टीका—हे सद्गुरु कबीरसाहेब! आप परम पूज्य सबसे श्रेष्ठ वन्दनीय है। आप जीव के अनादि हृदगत संदेह को परखा के हरण कर लिए॥ टेक॥ आपकी महिमा, बड़ाई, धन्यता अपरिमित है, सबके सिरे है, क्योंकि आप सबसे श्रेष्ठ पारख सत्य सिद्धांत के आदि प्रवर्तक हो गये हैं। परन्तु आपकी परम श्रेष्ठता तभी समझ में आ सकती है जब निष्पक्ष भाव से पारखी सद्गुरु का सत्संग करें और पारखज्ञान के ग्रन्थ पढ़े। वैसे आपकी महिमा किसी से छिपी नहीं है। सर्व मनुष्य अपनी-अपनी समझ के अनुसार आपकी प्रशंसा ही करते हैं। सभी कहते हैं कि कबीर साहेब अच्छे संत हो गये हैं। साथ ही आपके बनाये अनमोल निर्भय स्पष्ट साखी शब्दरूप अमृत वचनों को सभी सम्प्रदाय के मनुष्य रत्नवत संग्रह करते हैं और समय-समय पर उन्हें काम में लाकर निहाल होते रहते हैं। जिसे पारखी संतों के सत्संग में आपके पारखज्ञान की प्राप्ति हो गई है उसके तो हृदय ही में आप पारख भाव से बसते हैं, जैसे 'पारख पायो परख समाना, तहाँ न भास अध्यास अनुमाना''॥ १॥ यों तो लौकिक-वैदिक धर्म पहिले से चले ही आते थे, पर आप सद्गुरुदेव पक्की सड़क के समान स्पष्ट रूप से पारख सिद्धान्त तथा सत्य, क्षमादि धर्म का स्थापन किये। आप क्षमा और संतोष में वीर थे। आप समग्र ग्रन्थ और पंथ के सिद्धान्तों को पारख कसौटी पर कस कर तथा सर्व भास, अध्यास, अनुमान आदि कचरा निकाल कर बहा दिये और सबका परीक्षक पारख स्वरूप सर्वश्रेष्ठ सिद्धांत प्रकाशित कर गये। आपने बन्धन और मोक्ष की परीक्षा कराकर पार लगा दिया। जैसे नाना बंधन बना-बनाकर जीव भ्रमण करने में समर्थ है, उसी प्रकार सर्व बंधनों को त्यागकर सदा के लिये मुक्त हो जाने की भी इसमें शक्ति है। मात्र भूल अध्यास से बंधन में पड़ते चला आया है, और बंधनों को पूर्ण दुख रूप परीक्षा करके अवश्य जीव अचल स्थित हो रहेगा।

कवित्त

तत्ववाद ब्रह्मवाद और वाद वाद जेते, सबको वदत जीव आप अवशेष ही।
जड के संबन्ध माहि भूलि निज रूप जीव, मानि-मानि बंधन में मोह से विशेष ही॥
बन्धन विजाति भूल छोड़े जो परख कर, होय के स्वच्छन्द शुचि दुख को न लेश ही।
हंस की रहनि गहि ऐसे उपदेश दिये, सोई है कबीर गुरु पारख स्वदेश ही॥

इस प्रकार आप सर्व सदेह तथा कल्पना-रहित पारख प्रदर्शक पवित्र मार्ग चलाये ॥ २ ॥ आपने शरीराभिमान और मन-मानन्दी बधन रूप गढ की नीव को पारख युक्ति से खोदकर ढहा दिया। आप ने अपने अनादि अविद्याकृत दुख का तो नाश किया ही साथ ही अन्य जीवो को उनके अविद्याकृत दुसह दुखो का भी छेदन करने की सब युक्ति दी। मनुष्य देह धारण कर जो कार्य करना चाहिए, आप ने वह साधन विचार स्वय धारण कर हम जीवो के भी अनन्त काल के मनकृत दुसह दुःखो को हरण कर लिया॥ ३ ॥ घोर जगल विषय-वासना है, जिसमे जीव भटक रहा है। विषय-वासना की जड भूल, भ्रम एव सुख मानन्दी है, आपने उसकी परीक्षा करा कर उसका त्याग करा दिया। सबका जनैया, सब से न्यारा जैसा अपना शुद्ध स्वरूप है वैसा ही आपने रहस्य बताकर जीव को स्थिर कर दिया। आपकी बधनिवारक शक्ति, रहस्य, कथन तथा धारणा देखकर सब आश्चर्यित हो रहे है। आप के द्वारा दिये हुए ज्ञान को पाने वाला महान भाग्यशाली है॥ ४॥ आपने जीवो को अपना पारख अखण्ड धन दिया। जिसकी प्रेरणा बीजक ग्रथ मे मिलती है।

साखी—"*बस्तू अन्तै खोजै अन्तै, क्यो कर आवै हाथ।*
सज्जन सोई सराहिये, जो पारख राखै साथ॥
नग पषाण जग सकल है, पारख बिरला कोय।
नग ते उत्तम पारखी, जग मे बिरला होय॥" बीजक॥

जो सद्ग्रन्थ बीजक के इशारे को नम्रता पूर्वक सत्सग से जान लिये वे पारखधन को अपना लिये, और उनकी अनादिकाल की दरिद्रता विषय-कामना मिट गई। वे परमधनी साहु, पारखरूप हुए। उनकी सारी सासारिक कामनाए मिट गई॥ ५ ॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि देव, कस, रावणादि राक्षस, कर्ण, बलि, युधिष्ठिर आदि धार्मिक मनुष्य अथवा सतोगुणी देव, तमोगुणी राक्षस, राजसी सामान्य मनुष्य, ये सबके सब इसी धरणी पर प्रगट हुए। उनकी बल, धन, विद्या, दानादि मे एक से एक बढकर महिमा प्रसिद्ध है। उनमे से कोई मानन्दीकृत खानि-बानी सघन वन मे छिपे हुए निज स्वरूप अक्षय धन का शोधन न कर सका। वे सब ही जगत-ब्रह्म भ्रमबानीकृत जडभास को ही सत्य मान लिए। फिर वे दूसरे का भास-अध्यास कैसे छुडा सकते हैं।॥ ६ ॥ स्वत॰ स्वरूप को प्राप्त गभीर कबीर देव ने, मुझ विशालदास का कल्याण कर दिया और दाता तथा भिक्षु को एक समान बना दिया। जैसे कोई पूर्ण दानवीर भिक्षु को दान देकर अपने समान ही बना लेवे, वैसे आप भी मुझ भिक्षु दीन को स्वरूपबोध देकर अपने समान ही पारख रूप निराधार कर दिये। हे पारख प्रकाशक कबीर साहिब। एक आप ही का अनत उपकार ऐसा है कि सब दर के भिखारी जीव को बोध-राज्य देकर चक्रवर्ती बना दिये, सब कमी ही मिटा दिये। आपने ऐसा अनत उपकार जो इस दास के प्रति किया उसका कथन करके हम कैसे पार पा सकते है। वाक्य, लेखनी, उपमा सबका अत है, आप तो अनत काल की भूल को नष्ट करके अविनाशी स्वरूपस्थिति करा दिये। अत हे सद्गुरु 'कबीरसाहिब'। आप और आपके पारखबोध मे स्थित आपके समान साधुगुरु का मै सदा कृतज्ञ हूँ॥ ७॥

परम वैराग्यवान पारखनिष्ठ श्री सद्गुरु विशाल साहिब-कृत सप्तम प्रकरण-जड-चेतन-निर्णय सहित सद्ग्रन्थ भवयान सटीक समाप्त।

फल रूप-छन्द

चैतन्य साक्षी है परीक्षक ज्ञानरूप अनूप है।
पॉचो विषय जड भास नश्वर दु.ख सुख भ्रम कूप है॥
नित्य धन को दे गुरू जय जीव पारख रूप है।
सोइ गुरु विवेक पियूष पीकर सार शब्द से भूप है॥

चौपाई

जाहि लहे कृतकृत्य सयाने। जाहि जानि दुरभास नसाने॥
जाहि मनन करि थीर सुजाने। सोइ फल लहै पढै नित माने॥

भवयान मनन

सवैया

जो भवयान को पाठ करै नित, सो भवसागर से होय पारा।
पूर्ण मनोरथ हों क्षण में सब, सर्व कमी मिटि जाय सम्हारा॥
भूल मिटै तेहि जन्महुँ जन्म कि, फेरि धरै नहि देह असारा।
नित्य अनादि स्वस्थिर शान्त हो, मुक्त स्वरूप सदा निरधारा॥

बोध पश्चात सुखासक्ति त्याग के साधन दृढ़ निश्चय वीर भाव

१ काम बन जाय परिश्रम चाहे जितना हो, कार्य पूर्ण होते ही परिश्रम की कीमत पूरी हो जायेगी। अत सत्साधन-निर्णय-मनन मे आलस्य न करे, तब जीवन्मुक्ति होती है। २ कभी-कभी मनोद्वेग की प्रबलता मे परमार्थबुद्धि विचलित होकर भ्रान्ति होती है, क्या मनोद्वेग स्ववश नही होगे, क्या मै इनसे हार जाऊँगा, क्या ये हमारे ऊपर स्वभावत. या जबरन आ जाते ह! इत्यादि। किन्तु जब धीरता-वीरता और साहस पूर्वक परमार्थ भूमिका पर डटा रहा, निश्चयता प्रबल रक्खा, परमार्थ घेरा से पृथक न हुआ, तब पीछे से फिर दिव्य अनुभव की प्रबलता होती है। ये सब भोगासक्ति रूप दुर्गुण हमारे स्वरूप मे नहीं, न इनमे बलात्कार करने की ही उक्ति-युक्ति है, न ये मुझे जीतने मे शक्तिमान हे, किन्तु मै चेतन ही अत:करण उपाधि से पूर्व की निश्चयवृत्ति मे मिलकर निजस्वरूप के गुण, लक्षण, शक्ति तथा स्थिति को भूल जाता हूँ, जिससे मे झूला-वेगन्याय उन वासनाओ मे झूलने के लिए सत्ता देता हूँ। परतु गुरु-सत-सत्सग-द्वारा समझ पाकर स्वरूप से मै नित्य शुद्ध चेतन होने के कारण मेरी भूल मुझे ही दृष्टि मे आती रहती है। बुद्धि-विचारानुसार सावधानी सहित सयम करके उन प्रबल वासनाओ को मे जीत लेता हूँ। यह प्रथम काल साधन की दशा है। आगे प्रयत्न करते-करते तो मुझे एक महान प्रबलाग्नि के समान अनुभव ज्ञान हुआ कि मै अब एक क्षण भी उससे अपने को अलग रखना नही चाहता। गुरु भक्ति, ग्रन्थ-पठन, सहन, मनोद्रष्टा, निर्णय, पाठ-अर्थ, एकान्त मे ध्यान, विचार, शाति आदि मे तल्लीन होकर मन-बुद्धि की सारी अह वृत्तियो का प्रलयकर अब मै निर्वासनिक भूमि पर स्थित रहता हूँ। यही मेरा निश्चय, यही दृढ ध्येय, यही आचरण रहस्य, जै-जे श्री गुरु सत की बलिहारी! धन्य दयामय! आपके प्रबल पारख सिद्धात को पाकर न कुछ शका रह गई है, न कुछ आश्चर्य, न कुछ अप्राप्ति, न कुछ नवीन प्राप्ति की अभिलाषा रह गई है, न कुछ कमी, न विशेष, न शोक-मोह, न कोई आसक्ति रह गई है, मात्र सदा स्वय प्रकाशी निराधार निर्विकार पारख।

दोहा—*वहि कबीर वहि सत गुरु, वहि निज बोध प्रकाश।*
वहि विवेक अभ्यास नित, कटे अनादी फॉस॥

बोध-मनन

ज्ञान विराग कि बहिया आई, जय जय गुरुजी तव शरणम्॥ टेक॥
काम विषय के किला जो टूटे, क्रोध की फोज डुबाये हैं।
माह मदो के वृक्ष ढहे सब, जय जय गुरुजी तव शरणम्॥ १॥
सुख खिचाव के ताप न रचक, राग द्वेष की आग बुझी।
अनुभव भॅवर गॅभीर चले हे, जय जय गुरुजी तव शरणम्॥ २॥
जब देखों तब सजग सुमग सत, मारग मे मन मोर लगे।
निज स्वरूप चल शात सुधामय, जय जय गुरुजी तव शरणम्॥ ३॥

स्थिति रहनी याद कही भी, रचक कुछ अरु मोह नहीं।
गुरु वल परख स्ववश नित प्रेमी, जय जय गुरुजी तव शरणम्॥ ४॥

सद्गुरु श्री कबीरदेव के बीजक वचनामृत-सिद्धांत का संग्रह

१. प्रश्न—सिद्धात विशेष कोन हे? उत्तर—सब ज्ञाता जीव सिद्धात, आपके वाक्य-साखी—वीजक वित्त वतावै, जो वित्त गुप्ता होय। ऐसे शब्द वतावे जीव को, वूझे विरला कोय॥ रमनी साखी ३७॥

२. प्रश्न—जीव की अचल स्थिति केसे हो? उ०—पारखवोध मे स्थिरता वनाने से। आप द्वारा यह निर्णय देखा जा रहा हे—साखी—पारस रुपी जीव हे, लोह रूप ससार। पारस ते पारस भया, परख भया टकसार॥ वीजक, साखी ५७॥

३. प्र०—समाधि एव शान्ति इच्छुक का क्या कर्तव्य है? उ०—विवेक युक्त सदा पच विषयासक्ति का त्याग ओर स्वरूप विचार एव स्थिति का सेवन करते रहना। इस पर आप प्रकाश दे रहे ह, "भँवरजाल वगुजाल है, वूडे वहुत अचेत। कहहि कवीर ते वाँचि हैं, जाके हृदय विवेक॥ वीजक, साखी ९२॥

४. प्र०—किसकी शरण जाना योग्य ह? उ०—पारख निष्ठ सद्गुरु सत की। आपके वचनामृत हे—गुरु सिकलीगर कीजिए, मनहि मस्कला देय। शब्द छोलना छोलिके, चित दर्पण करि लेय॥ वीजक, साखी १६०॥

५ प्र०—ग्रहण-त्याग क्या हे? उ०—सदा सत्सग सद्भाव का ग्रहण ओर कुसग कुभाव का त्याग, इसमें आपकी शिक्षा हे—सगति से सुख ऊपजे, कुसंगति से दुख होय। कहहि कवीर तहाँ जाइये, जहाँ अपनी सगति होय॥ वीजक, साखी २०८॥

६. प्र०—सार शव्द क्या है? उ०—सर्व सशयछेदक, स्वरूपज्ञान प्रकाशक सत्य निर्णय सार शव्द ह। गुरुदेव श्री मुख से कह रहे है—साखी—वोल तो अमोल है, जो कोई वोले जान। हिये तराजू तालिके, तव मुख वाहर आन॥ वीजक, साखी २७६॥

७ प्र०—मानव मात्र के उद्धार का क्या यत्न ह? उ०—दुर्वुद्धि दुराचरणो का त्याग ओर सद्वुद्धि सद्गुणो का ग्रहण। इस पर आपके द्वारा यह मूल मत्र उच्चारण हुआ है—साखी—सकलो दुर्मति दूर करु, अच्छा जनम वनाव। काग गोन गति छाडि के, हस गोन चलि आव॥ वीजक, साखी २५६॥

८. प्र०—जगत से क्या सम्वन्ध ह? उ०—भ्रम मात्र। आप वन्दीमोचन द्वारा निर्णय पाया गया ह—साखी—भरम वढा तिहुँलोक मे, भरम मण्डा सव ठॉव। कहहि कवीर पुकारि के, तुम वसेउ भरम के गाँव॥ वीजक, साखी २५९॥

९. प्र०—भ्रान्तियो को त्याग कर मोक्ष केसे हो? उ०—पारख वोध जिय प्रिय होकर प्रपच की आशा त्याग निराश निरीच्छा निर्दोप रहस्य ग्रहण। आप पारख प्रकाशी प्रवल प्रकाश दे रहे हे—साखी—साहु चोर चीन्है नहीं, अन्धा मति का हीन। पारख विना विनाश है, कर विचार होहु भीन॥ वीजक, साखी १५९॥ जो तू चाहे मूझको, छाँड सकल की आस। मुझ ही ऐसा होय रहो, सव सुख तेरे पास॥ वीजक, साखी २९८॥

इसी सिद्धान्त का पूर्ण मूल बीजक—पारखोक्त टीका मे विस्तृत मनन पाइयेगा। ओर इस नवधा प्रश्नोत्तर बीज का विस्तार इस ग्रन्थ भवयान मे भी पूर्ण है। बीजक विचार जो कि सत्य-निष्ठा टीका के आदि मे लगा हुआ है वहाँ भी विस्तार से मनन किया गया है। सद्ग्रन्थ सत्साधन से सिद्धान्त पुष्ट कर रहस्य युक्त मुक्त हो रहिए। "जैसी कहै करे जो तैसी, राग द्वेष निरुवारे। तामे घटै बढै रतियो नहि, यहि विधि आपु सँवारे"॥ बीजक, साखी २५७॥

महान लाभ-परमार्थ चिन्तन

साखी—लाभ महान मनुष्य को, सत संग गहि ज्ञान। होय स्ववश मन आपना, भक्ति धरम पहिचान॥ मु० निवृ० ६२॥

२ जीवन्मुक्ति रहस्य—"राग द्वेष भय फिक्र तजि, छोडि कामना भागु। आप आपमे प्रेम करि, छोडि और अनुरागु॥ सद्बुद्धी गुण ग्राह्यता, देखै अपनी ओर। क्या क्या दिल घर काम हो, स्ववश बिबश का जोर"॥ मु० शा० १९, ४३॥

३ विदेह मोक्ष होने मे प्रबल हेतु—"सब मानन्दी भूल से, पारख पाय नशाय। आवागवन को हेतु नाहिं, जो निजही टिकि जाय॥ सचित औ क्रियमान गत, प्रारब्धी सो दूर। बरबस परी बेगारि जो, ताहि भोग करि पूर"॥ मु० शा० ५४-५५॥

४ पारख की सर्वोत्तमता, सद्गुरु कबीर देव की धन्यता, सर्व श्रेयता आपही द्वारा यह वचनामृत पाया गया है—"जग परताप कबीर का, जो पारख सिद्धात। निराधार पद प्राप्ति करि, जहाँ न ससृत भ्रात" ॥ मु० शा० १२५॥

५ पारख समाधिका अमृत पान—"मन साक्षी मनसे परे, परखि परखि मन छोड। अनमिल पारख आप रहि, तोडि मनोमय गोड"॥ शा० ७॥ पारख अटल समाधि है, देह भिन्न सब काल। देह रहे या ना रहे, यकसम जानि निहाल"॥ मु० नि० १३५॥

६ जड चेतन दोनो पृथक स्वतन्त्र है—"चेतन की उतपति नहीं, ना जड उतपति होय। दोनो रहे अनादि है, भिन्न-भिन्न लखु सोय॥ स० नि० १२४॥ मन सम्बन्ध चैतन्य तन, धरत तजत परबाह। जड कारण कारज सदा, कबहुँ न एकरस राह"॥

७ पारख रहस्ययुक्त गुरु-सत से प्रेम ही उद्धार हेतु है—"साधु मिले तो गुरु मिले, गुरू मिले तो साधु। दोनो का फल एक ही, जहाँ होय भ्रम बाधु"॥ स० गुरु नि० १३॥

८ जड कार्य कारण से चेतन जीव पृथक होने की प्रत्यक्ष युक्ति—"कारण पृथक न गुण धरम, सकलौ कारज माहि। जीवन मे जो ज्ञान गुण, कारण पार देखाहिं"॥ स० नि० ११॥

९ वैराग्य रहस्य—"मोह बाद और फिक्र तजि, शिक्षत सज्जन भक्त। रमत अवनि तन मन परखि, त्यागि उपाधी जक्त"॥ सत्य० नि०५॥ विशेष अर्थ ज्ञान के लिये इसकी टीका पढे या सत्सग निर्णय से जाने।

१० सत्यता पूर्वक पारमार्थिक पुरुषार्थ कभी विफल नही होता—"पुरुषार्थ न खाली जात है, जहाँ दृश्य स्मर्ण। अदृश्य न सन्मुख होत है, तिनको वैसहि भर्ण"॥ मु० नि०॥ तीनो काल में जड सयोग से चेतन की उत्पत्ति नही होती, यह आप द्वारा इस प्रकार प्रकाशित हुआ है—"गुण धर्मन के अन्दरे, सब भूतन के कार्य। पेट चीर पपीलका, सूरज बच्चा नार्य॥ मु० जगत अ०॥

११ तीनो काल में जगत के भातिक सुखो से शाति नहीं मिल सकती—"जग सुख सव जेहि को मिले, तवहुँ न इच्छा पूर। जेहि उतपति तेहि से भई, ताहि मिले कस दूर"॥ मु० शा०॥

१२ पारख सिद्धात की महानता—"कल्पक सव अनुमान को, कर तत्व परत्यक्ष। तिन दोनों से रहित जिव, स्थित सदा सो अक्ष"॥ मु०॥ "इसको मनन कर जो नित्त। परमारथ मे तद्गत चित्त॥" वस, इतना चुनित सग्रह सज्ञा मात्र दे दिया गया है जिसमे वुद्धि विपयक थोडे ही मनन से सिद्धात पुष्टि मे वल, साहस प्रोढता प्राप्त हो। विशेप मुक्तिद्वार, मत्यनिप्ठा मे मनन होता रहेगा। ये सव वचनामृत मुक्तिद्वार, मत्यनिप्ठा के ही हं।

निर्णय स्नेही सत सज्जनो की धन्यता एव उदारता

दृष्टात—एक सत भ्रमण करते हुए एक नगर मे पहुँचे। दो प्रेमियों ने शिष्य होने के लिए सत से प्रार्थना की। सत ने कहा—दो चने में देता हूँ, इनको मुरक्षित रखना। मं घूम कर आऊगा तव वुद्धि देखकर शिष्य वनाऊँगा। कुछ वर्ष के वाद जव गुरुदेव पुन आ पहुँचे, पश्चात दोनों प्रेमियों को वुलाकर अपने चने को माँगा। उसमें एक तो सोने की डिव्वी में वन्द करके रख छोडा था। वह दोडकर शीघ्र ही गुरुदेव को दे दिया। डिव्वी खोलते ही कई वर्पो में चना सड-गल गया था। गुरुदेव ने कहा—तू प्रेमी अवश्य हं, पर वीज-रक्षा की तुझे युक्ति नहीं मालूम हं। कहीं सोने की डिविया में रखने से वीज सुरक्षित रह सकता हं। पश्चात दूसरे अनुभवी शिष्य ने कहा—महाराज आपके दिये हुए एक चना को खेत मे वोते-वोते वारह वर्प मे इतना विस्तार हुआ ह कि सव गरीवो का उसी से पालन भी हो रहा ह और कई वखारियाँ भरी पडी हं जो हम ला नहीं सकते। आप का वीज नितनव सुरक्षित ह। गुरुदेव ने जाकर देखा, देखते ही वहुत प्रसन्न होकर कहा ठीक ह। अनुभव युक्त सिद्धात रक्षा के लिए ऐसा ही होना चाहिये "हरि हीरा जन जोहरी, सवन पमारी हाट। जव आवे जन जोहरी, तव हीरो की साट"॥ वीजक, साखी १६९॥ "नग ते उत्तम पारखी, जग मे विरला होय"॥ वीजक, माखी २९०॥ इस प्रमाण से वे सत-महात्मा धन्य हं जिनसे विमल अकाट्य युक्तियुक्त महान पारख सिद्धात का प्रकाश होता ह।

श्री विशाल शिक्षामृत सार संग्रह समाप्त

जिज्ञासु वचन

सोरठा—*परख स्वरूपी सत, मम उर मे विश्राम करि।*
कियो सकल भ्रम अत, निराधार भौ आप वल॥

कवित्त

अजर अमर जान्यो वासना के वशि जान्यो, दुख सुख भोग जान्यो त्रिविध जु कर्म से।
उभय सम्वन्ध जान्यो भूल का स्वरूप जान्यो, भूल तजि सार जान्यों सतसग मर्म से॥
रक्षक सुअग जान्यो भक्षक को रूप जान्यो, पतन को हेतु जान्यो वचन स्वधर्म से।
गरुपद शब्द जान्यो नेम क्षेम प्रेम जान्यो, स्वत. सुशक्ति जान्यो नमो नमों पर्म से॥ १॥

नमो नमो क्षमासिधु दीनबन्धु कारुणीक, नमों नमो सकल परीक्षक सुहावने।
नमों नमों तापहारी साधुगुरु बन्दीछोर, नमो नमो साधन स्वशक्ति को बढावने॥
नमो नमो मनगति जानक सजगरूप, नमो नमो जीवन को काल से छुडावने।
नमो नमों एकरस टिके जु निराश पद, नमो नमो दासन को शरण लगावने॥ २॥

सवैया— दया सत्यसागर कीन्हजु साहेब सत्य कबीर को ध्येय सुनायो।
आहि प्रभाकर दास सदा तव जोरि दोऊ कर शीश झुकायो॥
या भवयान मे भौ रुचि नव नित खानि व बानी को भास हटायो।
पारख सत गुरूपद आप के ऐन में नित्य अभय पद पायो॥

दोहा— श्री गुरु शरण तुम्हार हूँ, हरण त्रिविध जजाल।
सदा एकरस बुद्धि दै, करत रह्यो प्रतिपाल॥ १॥
श्री कबीर लखि दुखित जन, बीजक बोध बिशेष।
सो बिशाल बिस्तार करि, लखु भवयान अशेष॥ २॥
परम बिरागी देव प्रभु, अनुभव बच्चन रसाल।
स्थिति स्थित करन गुरु, जय गुरुदेव बिशाल॥ ३॥

आरती—१

जय पूज्य इष्ट कबी' गुरु की आरती हो आरती॥
जो सर्व बाधा विघ्न को नित टारती हो टारती॥ टेक॥
शील सत्य क्षमादि दाया सर्व शुभ गुण युक्त हो।
मद मोह लोभ मनोज माया से सदा प्रभु मुक्त हो॥
चैतन्य जड ये दोउ अनादी बदत युक्ती युक्त हो।
है बध मूल कुवासना तेहि को तजे सुविरक्त हो॥
शुचि सत रूप सुजान की अब आरती हो आरती॥ १॥ जय०
बपु वर्ण वर विद्यादि मद तजि नम्र होकर आपके।
जब तक न हम चरणों पडे तब तक न छूटैं ताप के॥
बनि ब्रह्म से ये जगत पुनि पुनि जगत ही सोइ ब्रह्म के।
कहुँ देहमय है भोग मे समुदाय भ्रम मत ग्रन्थ के॥
सब बध नाशनहार की अब आरती हो आरती॥ २॥ जय०
नारद शुकादि वशिष्ठ विधि हर वेद-भेद न पावहीं।
दोउ दीन झगरत अध गजवत नेति नेति मनावहीं॥
सो सर्व के सिद्धात भेद कृपालु नित्य प्रखावहीं।
जासे सकल पारख मिले सोइ शेष पर्ख रहावहीं॥
बीजक विधाता देव की अब आरती हो आरती॥ ३॥ जय०
सौभाग्य अतिशय दास की जो दर्श ज्ञान तमारि से।
अब हृदि कमल विकसित हुआ सादर नमो त्रय वार से॥

करि चूर धूर समूल मनभव तव दया बचि धार से।
श्रद्धा सहित सदभाव गहि हे सत प्रिय बलिहार से॥
हे वन्दिमोचन आपकी अब आरती हो आरती॥ ४॥ जय०

जो आरती यह प्रेम से नित गाइके पुनि ध्याइ हें।
सोइ सत्यबोध सुज्योति में कामादि पाँखि जलाइ हैं।
दारुण प्रपचासक्ति दलि निश्चय परमपद पाइ हें।
दिन दिन सजग आरूढ सतमग स्थिती ठहराइ हैं॥
पारख प्रकाशी धीर की अब आरती हो आरती॥ ५॥ जय०

आरती—२

जय जय भवयान निर्माता॥ टेक॥

जय भवयान निर्माता, साहेब निज बोध विधाता,
प्रभु निज बोध विधाता। सत शिरोमणि भ्राजत,
सन्त शिरोमणि भ्राजत, जस के तस ज्ञाता॥ १॥ जय०
श्रीगुरु कबीर मगलीन कमर कौपीन, अचल अचला बाँधे,
प्रभु अचल अचला बाँधे। दया चिन्ह उर हीरा,
दया चिन्ह उर हीरा, विचरत मन साधे॥ २॥ जय०
महा मोह तजि धीर सदा, गुरु मुक्ती के दाता,
प्रभु मुक्ती के दाता। पग पग सन्धि प्रखावत,
पग पग सन्धि प्रखावत, जन रक्षक त्राता॥ ३॥ जय०
सरल अमल अनुभविता, गुरु भाग्य उदय जो पाओ,
प्रभु भाग्य उदय जो पाओ। गुण गति मति कुछ नाहीं,
गुण गति मति कुछ नाही, केहि भाँति रिझाओ॥ ४॥ जय०
तन सुख मान पियार लगे, पुनि भ्रम स्वारथ जैसे,
प्रभु भ्रम स्वारथ जैसे। जिय प्रिय गुरुवर लागो,
जिय प्रिय गुरुवर लागो, निज मन प्रिय तैसे॥ ५॥ जय०
मन वशि जानि बाल लखि, अपनी ओर निबाहो,
प्रभु अपनी ओर निवाहो। गुरु समरथ सब जानौ,
गुरु समरथ सब जानो, लीजे जस चाहौ॥ ६॥ जय०
खानि बानि दुइ भूल शूल लखि, मन सम्भव टारे,
प्रभु मन सम्भव टारे। सदा सजग तजि आशा,
सदा सजग तजि आशा, गुरु आप तरे तारे॥ ७॥ जय०
विनय विधान भक्ति भरण, इच्छा पारख भाख्यो,
प्रभु इच्छा पारख भाख्यो। जगत जहर परखायो,
जगत जहर परखायो, जग दुख को नाख्यो॥ ८॥ जय०
पुनि वैराग्यवित्त साखी कहि, जड चेतन निर्णय,
प्रभु जड चेतन निर्णय। सातो मुक्ति के ऐना,
सातों मुक्ति के ऐना, दायक पद निर्भय॥ ९॥ जय०

सात द्वार सह यह जहाज, जेहि को प्रिय लागै,
प्रभु जेहि को प्रिय लागै। पाप ताप तेहि भागै,
पाप ताप तेहि भागै, सो कौहट से जागै॥ १०॥ जय०
जस विशाल भवसिंधु महा, भवधार डुबावै,
प्रभु भवधार डुबावै। तस गुरु विशाल कृत याना,
तस गुरु विशाल कृत याना। भवपार लगावै॥ ११॥ जय०
दोष कलक हरै क्षण में, सत सिद्धान्त प्रकाशै,
प्रभु सत सिद्धान्त प्रकाशै। प्रेम सहित जो गावै,
प्रेम सहित जो गावै, आरति यह खासै॥ १२॥ जय०

दोहा—कृपा सदन आरत हरन, करन मोह भ्रम अन्त।
परख प्रकाश कबीर गुरु, नमो पारखी सन्त॥

प्रार्थना

गुरु सन्त नमों गुरु सन्त नमों॥ टेक॥
गुरुदेव कबीर जु भाषत हैं, शुभ सत सोई जु प्रकाशत हैं।
निज बुद्धि सु बोध उजासत हैं, गुरु सन्त नमो गुरु॥ १॥
जब यत्न गुलामि पडै करनो, जब कोई न कोई क है सहनो।
तब तौ गुरु मार्गहिं मे रहनो, गुरु सन्त नमों गुरु॥ २॥
निज जीवहि के हित सर्व करै, तब तो निज आपहि सत्य वरै।
निज पर्ख सदा शुभ आप धरै, गुरु सन्त नमों गुरु॥ ३॥
गुरुज्ञान क जो निरणय सगरे, सुनि के अति प्रेम सुमोद भरे।
निज बोधक देव के शर्ण तरे, गुरु सन्त नमों गुरु॥ ४॥

दोहा—निर्णय सन्तन मध्य इक, गुरु विशाल वर सन्त।
गुरु पद आश्रित प्रेम यह, गुरु मग हर्ष चलंत॥

गजल

दिये पारख दया करके, दयानिधि सत सुखदाई।
तुम्हीं सद्गुरु, तुम्हीं बोधक, नमों हे सत! सुखदाई॥ टेक॥
अहै अनादि जड चेतन, जु द्रष्टा दृश्य दोउ न्यारे।
अहै भ्रम भूल से बन्धन, परखि छोडै तो छुटि जाई॥ १॥
अनन्तो काल थे बीते, भटकते खानि बानी मे।
मिला है पूर्ण पारख अब, सकल बन्धन परख ढाई॥ २॥
सदा अविकार अविनाशी, स्वय पारख स्व परकाशी।
भये नित तृप्त गुरु दाया, न किंचित भर्म की काई॥ ३॥
सदा सद्बोध के रक्षक, सकल है सन्त की रहनी।
सुने भवयान से सद्गुण, जो बन्दीछोर समझाई॥ ४॥

मेरी विपरीतता क्षमि के, किये जो वोध गुरु साहिव।
सदा अनुचर कृतज्ञी हूँ, करु केहि भाँति समताई॥ ५॥
यही अव एक अभिलाषा, कि दिन-दिन ध्येय पुष्टी हो।
इसी निश्चय के वल से ही, सदा जय जीव! जय पाई॥ ६॥
रहेगे काय वच मन से, गुरूपद के हि घेरा मे।
मिटें सव विघ्न वाधाये, अचल निरधार ह्वै जाई॥ ७॥
कभी भवयान भवतारक, न भूलें आप गुरु दिल से।
हुआ वस काम पूरण हे, करूँ दृढ प्रेम सेवकाई॥ ८॥

विनय दृढ प्रतिज्ञा

जो कुछ शिक्षा दिये दयानिधि, उसे नहीं विसरायेगे।
सव दिन ग्रहण करेंगे सद्गुण, दुर्गुण दूर भगायेंगे॥ टेक॥
नाशमान तन छूटेगा ही, धन जन प्राण रहेगा नाहीं।
फिर क्यो कादर होऊँ मग मे, वलि वलि धर्म कमायेंगे॥ १॥
जो कुछ विघ्न सामने आवैं, धर धीरज हम ताहि हटावें।
सव सकट को तृणवत लख के, रंच न हम घवडायेंगे॥ २॥
हिसा कुटिल कठोर तजेंगे, गुरु जन का सत सग करेंगे।
ब्रह्मचर्य व्रत पालन मे हम, अतिशय भाव वढायेगे॥ ३॥
अविनाशी मग लाभ वढ़ावें, सत्य शब्द का मनन टिकावें।
निश्चय प्रेम अभय पद पावें, धन्य गुरू गुण गायेंगे॥ ४॥

विनय

यह सेवक का नित भाव रहे, गुरुभक्ति मिले गुरुभक्ति मिलै।
जो ससृत सिन्धु को नाव अहै, गुरुभक्ति मिले गुरुभक्ति मिले॥ टेक॥
हैं विष्णु महेश गणेश जिते, वहु देव रुची अनुसार तिते।
गुरुदेव विना अन्धेर सवै, गुरुभक्ति मिलै गुरुभक्ति मिले॥ १॥
जप योग तपादिक नेम जिते, षट शास्त्र रु वेद ह खेद तिते।
गुरुदेव विना भटकें वन मे, गुरुभक्ति मिले गुरुभक्ति मिले॥ २॥
धन धाम रु वाम सुतो सगरे, सुख हो अनुकूल सवै जगरे।
गुरुदेव विना सव शोक भरे, गुरुभक्ति मिले गुरुभक्ति मिले॥ ३॥
यदि उत्तम वर्ण रु रूप मिले, कुल कीर्ति सुधा शिरमोर भले।
गुरुदेव विना वन फूल झरे, गुरुभक्ति मिलै गुरुभक्ति मिलै॥ ४॥
रण माहि जुरे सव जीत लिये, वहु विद्या पढे मन मान किये।
गुरुदेव विना सव हार गये, गुरुभक्ति मिले गुरुभक्ति मिले॥ ५॥
पुनि जो मनका जिव दास भया, जग भोग किया वह पोखि भया।
गुरुदेव विना जलते ही रहे, गुरुभक्ति मिले गुरुभक्ति मिलै॥ ६॥

श्रम शोक रु ताप दई तृष्णा, जग जाल मे बाढ़ि रही इषणा।
गुरुदेव बिना आधार नहीं, गुरुभक्ति मिलै गुरुभक्ति मिलै॥ ७॥
अज्ञान बिनाशक बोधभरे, गुरु साधु स्वरूप नमामि हरे।
नहि चाहत प्रेम ये और कछू, गुरुभक्ति मिलै गुरुभक्ति मिलै॥ ८॥

प्रार्थना

आप गुरुवर किये प्रेरणा जिस तरह,
दास टीका लिखा चित मे होके मगन।
आप पारख प्रकाशी हो साहेब सदा,
बोधदायक सुधामय तुम्हारे वचन॥
जो त्रुटी रह गई हो मेरी भूल है,
क्योकि सुनने में रक्खी कसर बालपन।
आप सद्गुरु सकल सत जन हस हैं,
नित्य मुझको लगाये रहेगे चरन॥ १॥

मोक्ष

ग्रन्थकार के पारख सिद्धान्तोक्त सूत्र

१.. अहिंसा।
२. ब्रह्मचर्य।
३. सद्गुरु उपासना।
४. शुद्धाचार।
५. जड़-चैतन्य दो पदार्थ अनादि बोध।
६. सद्भावना।
७. वासनायुक्त पुनर्जन्म-कर्मफल होना निश्चय।
८. गुणग्राहीपना।
९. दृढ़विवेक।
१०. व्याप्य-व्यापक वर्जित स्वरूपस्थिति से वासना-क्षय।
११. संयम।
१२. वैराग्य।
१३. जड़हन्ता दमन।
१४. द्रष्टापना का अभ्यास।
१५. मनोद्वेग शान्त।
१६. निर्वासना-स्थिति।
१७. जीवन्मुक्त।
१८. विदेहमुक्त।

*